हि० ग्रं० अ० प्रभाग ग्रथांक–281

एशिया:
उद्भव एवं विकास

लेखक
के० के० कौल
पीएच.डी;डि.लिट्ट
पाश्चात्य इतिहास विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ



"कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥"

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
(हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन हिन्दी भवन
महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ–226001

प्रकाशक–
मधुकर द्विवेदी
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,
लखनऊ

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ योजना के अंतर्गत हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग, उत्तर हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित।

पुनरीक्षक–
स्वामी कार्तिकेय पाण्डेय
53, खुर्शेद बाग,
लखनऊ

प्रथम संस्करण : 1988
प्रतियाँ : 2200

मूल्य : रु. 108–00

मुद्रक–
गर्ग प्रिन्टर्स
257/2, सिसेंडी हाउस, शंकर दयाल रोड,
ऐशबाग, लखनऊ
फोन : 45201

प्रस्तावना

डॉ० कोठारी जी की अध्यक्षता में शिक्षा आयोग ने जो संस्तुतियां की थी, उनके आधार पर भारत सरकार ने शिक्षा-संबंधी अपनी नीति घोषित की थी, और 18 जनवरी, सन 1966 ई० को भारतीय संसद ने उस संबन्ध में एक संकल्प भी पारित किया था। उस संकल्प के अनुपालन में भारत सरकार के शिक्षा एवं युवा सेवा मंत्रालय ने (जिसे कुछ समय पहले मानव संसाधन विकास मंत्रालय के नाम से पुर्नगठित किया गया है) भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा की व्यवस्था करने के लिये विश्वविद्यालय-स्तर की पाठ्य पुस्तकों के निर्माण का एक व्यवस्थित कार्यक्रम सुनिश्चित किया था। उस कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत सरकार की शत-प्रतिशत सहायता से भारत के प्रत्येक राज्य में एक ग्रन्थ अकादमी की स्थापना की गयी थी। उसी क्रम में उत्तर प्रदेश में भी विश्वविद्यालय-स्तर की पाठ्य पुस्तकें तैयार करा के प्रकाशित करने के लिए एक हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की स्थापना 7 जनवरी, सन 1970 ई० को लखनऊ में की गयी थी।

तब से लेकर सन 1976 ई० के अन्त तक वह अकादमी विश्वविद्यालय स्तर की पाठ्य पुस्तकों को विदेशी भाषाओं से हिन्दी में अनूदित कराती रही और कतिपय मौलिक ग्रंथों की रचना भी उसके द्वारा कराई गई। ग्रंथों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली का ही प्रयोग किया गया था। पर 1 जनवरी, सन 1977 ई० को वह हिन्दी ग्रन्थ अकादमी इस हिन्दी संस्थान में विलीन कर दी गयी, और तब से यह संस्थान ही उस उत्तरदायित्व का निर्वहन कर रहा है।

उपर्युक्त योजना के अन्तर्गत वे पाण्डुलिपियां भी मुद्रित करायी जाती रही हैं, जो भारत सरकार की मानक-ग्रन्थ योजना के अन्तर्गत इस राज्य में स्थापित विभिन्न अभिकरणों द्वारा तैयार की गई थीं।

यह पुस्तक–"एशिया : उद्भव एवं विकास"–भी उपरोक्त योजना के अन्तर्गत ही इस संस्थान के द्वारा प्रकाशित की जा रही है। इस पुस्तक के लेखक लखनऊ विश्वविद्यालय में पाश्चात्य इतिहास के प्राध्यापक डॉ० के० के० कौल हैं। उन्होंने अपने विस्तृत अध्ययन और परिश्रम के फलस्वरूप इस ग्रन्थ को तैयार किया है, अतः इस कार्य के लिये यह संस्थान उनका आभारी है। विश्वास है कि यह ग्रंथ खूब लोकप्रिय सिद्ध होगा।

भक्त दर्शन
कार्यकारी उपाध्यक्ष
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

लखनऊ
4 नवम्बर, सन 1987 ई०

आमुख

आधुनिक विश्व राजनीति के विश्लेषणात्मक, क्रमबद्ध एवं तथ्यिक इतिहास के मानस दर्शन द्वारा स्पष्ट हो जाता हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय परिधि में एशिया का सदैव एक विशिष्ट, महत्त्वपूर्ण तथा अन्यतम स्थान रहा है। एशिया के इतिहास अध्ययन पर अनेक पाश्चात्य, एशियाई तथा भारतीय इतिहासकारों एवं 'एशियाई दृष्टाओं' (Asia Watchers) ने लेखन रचना कार्य किये हैं, किन्तु राष्ट्र-भाषा में एशिया पर कोई ऐसी पुस्तक उपलब्ध नहीं है, जिसके अन्तर्गत एशियाई राष्ट्रवाद एवं इस महाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों के इतिहास का समीक्षात्मक निरूपण एक स्थान पर संग्रहीत करने की चेष्टा की गई हो। पुस्तक की उपयोगिता में वृद्धि हेतु प्रत्येक अध्याय के अन्त में ज्ञानप्रद ग्रन्थ निर्देश सूची तथा प्रत्येक क्षेत्रीय भाग के अन्त में तिथिपत्र संलग्न किया गया है जिससे विद्यार्थियों, इतिहास के शोध छात्रों तथा अन्य सामान्य जिज्ञासुओं को, जो एशिया के इतिहास में रुचि रखते हैं, सम्भावित पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो सके।

इस संदर्भ में यह कहना आवश्यक है कि एशिया के इतिहास के अविकल स्वरूप को लेखन बद्ध करना सरल कार्य नहीं है, परन्तु उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के सहयोग से इस कार्य को साकार रूप देना संभव हो सका। लेखक के इस प्रयास में जो त्रुटि रह गई हो, उसे सुझाव के रूप में प्रेषित कर प्रोत्साहित करने का आग्रह है।

अन्त में लेखक उन शुभचिन्तकों के प्रति कृतज्ञ है, जिन्होंने किसी न किसी रूप में पुस्तक लेखन के मध्य अपना सहयोग प्रदान किया है। लेखक अपने मुद्रक श्री गर्ग के प्रति आभारी हैं, जिन्होंने पुस्तक को संवारने में लेखक को पूर्ण सहयोग दिया है।

—लेखक

गुरू, विद्वान एवं विद्यानुरागी

प्रो० कृष्णचन्द्र श्रीवास्तव

(भैय्या जी)

को

सादर समर्पित

विषय-प्रवेश

यूनान के कवि 'पिन्दार'[1] ने दो हजार पांच सौ वर्ष पूर्व 'एशिया' एवं 'योरोपा' नामक दो महिलाओं का उल्लेख किया है। 'हैरोडोटस'[2] को स्वयं आश्चर्य था कि किस प्रकार इन दोनों महिलाओं के नाम महाद्वीपों में सम्मिलित हो गये। निस्संदेह प्रचीन समय से ही एशिया का अपना महत्व रहा है यह विडम्बना ही है, कि समकालीन विश्व ने एशिया को राजनैतिक आर्थिक, एवं सामरिक नीतियों की प्रयोगशाला के रूप में प्रयोग करने की सदैव चेष्टा की है। इससे पूर्व एशिया बीसवीं शताब्दी के अर्ध तक उपनिवेशवाद का अहेर रहा है, और स्वतन्त्रता पश्चात विकासशील प्रगति की ओर अग्रसर भी हुआ, तो पारस्परिक संघर्षों एवं आर्थिक अनुबद्धता के कारण नव उपनिवेशवाद की परिधि में अवगुण्ठित हुआ।

इसके उपरान्त भी विश्व के इस महत्वपूर्ण महाद्वीप एशिया के क्षेत्रों का अपना प्राचीन इतिहास रहा है। यद्यपि द्वितीय विश्व युद्धोपरान्त एशिया को सुविधानुसार चार भागों: पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया में विभक्त कर दिया गया, परन्तु क्षेत्रीय इतिहास का परिचय आवश्यक है।

चीनी दन्तकथाओं के अनुसार पहला मानव पान-कू था, जो 18 हजार वर्षों तक जीवित रहा और उसने अपना जीवन धरती और आकाश बनाने में लगा दिया। तत्पश्चात चीन में शासक सम्राटों की वंशावलि प्रारम्भ हो गई। सर्वप्रथम ह्वसिया राजवंश (2205–1766 B. C.) ने उत्तरी चीन पर अपना शासन आरम्भ किया, तत्पश्चात यैलो नदी संस्कृति के अन्तर्गत शाङ्ग राजवंश (1766–1122 B C.) काल में चीनी लिपि का विकास हुआ। चाऊ राजवंश (1122–256 B C.) के काल में चीनी सामाजिक, प्रशासनिक, दार्शनिक एवं धार्मिक विचारों में नये अध्याय का समन्वय

---

1. यूनान के कवि 522–443 B. C.
2. यूनानी इतिहासकार एवं इतिहास के जनक 484–425 B. C.

हुआ। इसी युग में कन्फ्यूशनवाद[1] एवं ताओवाद[2] ने जन्म लिया। तत्पश्चात सम्राट चिन शी हुआङ्ग ति ने चिन राजवंश (221–206 B.C.) की नीव रख चीन के इतिहास में एक नवीन युग का सूत्रपात किया। चीन की दीवार का निर्माण भी चिन द्वारा ही हुआ। हांन राजवंश (206 B.C.–220 A D.) के समय सस्कृति, साहित्य एवं इतिहास लेखन का विकास हुआ और इसी युग में बौद्धवाद का भी प्रवेश हुआ। हान राजवंश के पतन के पश्चात लगभग तीन शताब्दियों से अधिक राजनैतिक रक्तपात एव अस्थिरता का वातावरण रहा। छह राजवंशों के इस शासन काल (222–581 A.D.) के पश्चात सुई राजवंश (589–618 A. D) तथा तांग राजवश (618–890 A. D.) में पुनः चीन की संस्कृति की पुनरावृत्ति हुई। तत्पश्चात सुगं राजवंश (960–1279 A.D.) में आर्थिक, साहित्यिक, धार्मिक एवं कला का विकास हुआ। कुबलई खाँ के 1224 में देहान्त के पश्चात मंगोल शक्ति का ह्रास होने लगा और मिङ्ग राजवंश (1368–1644) का आरम्भ हुआ। इसके शासक यांङ्ग-लो के शासन (1403–1424) में मंगोलों पर चीन ने विजय प्राप्त की। इस मिङ्ग युग में साहित्य का विकास हुआ और योरोप के साथ चीन के व्यापार का आरम्भ हुआ।

पूर्वी एशिया में जापान ऐसा देश है जिसका पूर्व इतिहास काफी स्पष्ट है। जापान का प्रथम लिखित इतिहास विवरण 57 A.D. में 'उत्तर कालीन हॉन इतिहास' से प्राप्त होता है। तत्पश्चात (265-369) में यामाटो क्षेत्र में एक संगठित राज्य स्थापित हुआ। जापान में विदेशी प्रभाव (552-570 AD..) में 'बुद्धवाद' द्वारा हुआ, जापान में सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध से 12वीं शताब्दी तक (645-1100) तक 'फ़ूजीवारा काल' रहा। इस काल में (794 A.D.) क्योटो को जापान की राजधानी बनाया गया जो मेइजी पुर्नस्थापन तक रही। तत्पश्चात 1156-1185 तायरा रीजेन्सी का युग रहा और 1185-1333 तक कामाकूरा शोगनेट तथा हो जो रीजेन्सी का युग रहा। शोगनेट का संस्थापना मिनामोटो योरीटोमो ने किया। यद्यपि 1603 से 1868

---

1. चाऊ युग के महानतम दार्शनिक कन्फ्यूश्स (551–479 B. C.) ने मानवीय मूल्यों को धार्मिक नियमों से अधिक महत्व दिया।

2 इस युग के एक अन्य महान दार्शनिक लाओ दुज़ू (605–) ने मानसिक शान्ति एवं एक अच्छे जीवन का पाठ दिया।



कन्फ्यूशियस (551–479 ई०पू०)
महान चीनी दार्शनिक
चाऊ राजवंश (1122–256 ई०पू०)



हुँग त्स्यु–युआँ (ताइपिंग नेता)

17वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में चीन में चिङ्ग राजवंश (1644–1911) का उदय हुआ और इस युग को 'माँचू काल' भी कहा जाता है। इस युग में ताइपिंग विद्रोह, (1850–1864) बॉक्सर विद्रोह (1899) तथा डा॰सुनयात सेन के राष्ट्रवादी आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ।

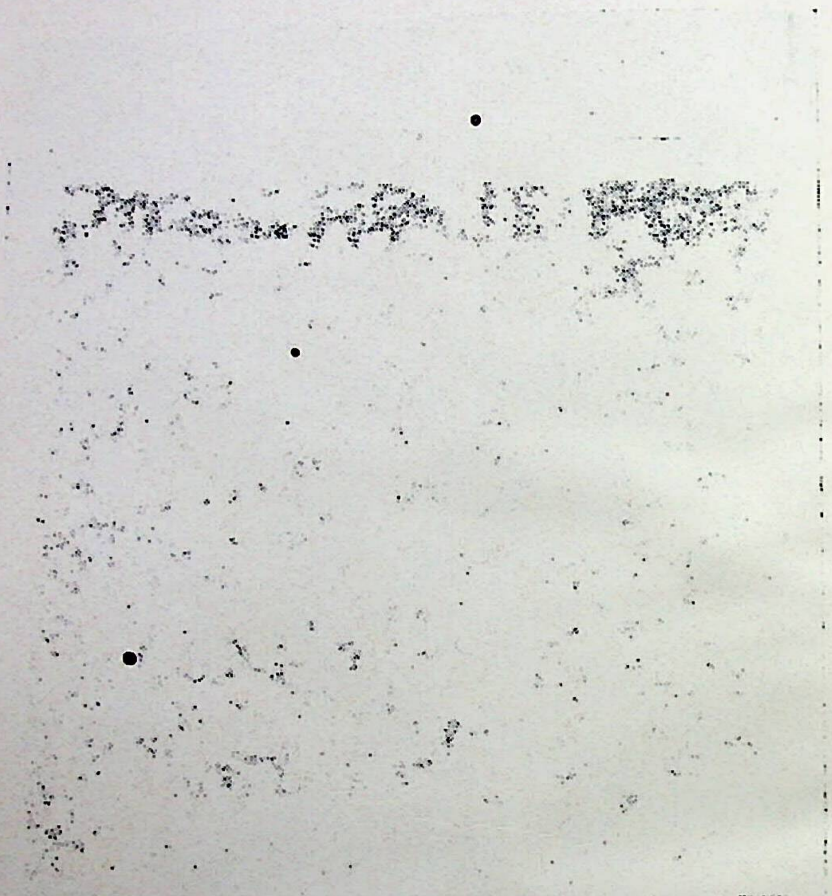


चिन शी ह्वाङ्ग ती (259-210 ई० पू०)
जिन्होंने चीन का एकीकरण किया।



मिनामोटो योरीटोमो शोगुनेट के संस्थापक थे ।

इसी मध्य 1274 और 1281 में मंगोलों ने जापान पर आक्रमण करने की चेष्टा की, परन्तु दोनों वार श्रेष्ठ युद्ध अस्त्रों द्वारा नहीं, अपितु दैवीय तूफ़ानों के द्वारा मंगोलों को वापस जाना पड़ा। जापान में सामन्तवाद का युग 1353–1868 तक रहा। इसी मध्य 1336 से 1568 आशीकागा शोगुनेट का युग तथा 1568 से 1603 तक नोब्यूआङ्गा हिदायोशी तथा आयासू का युग रहा।

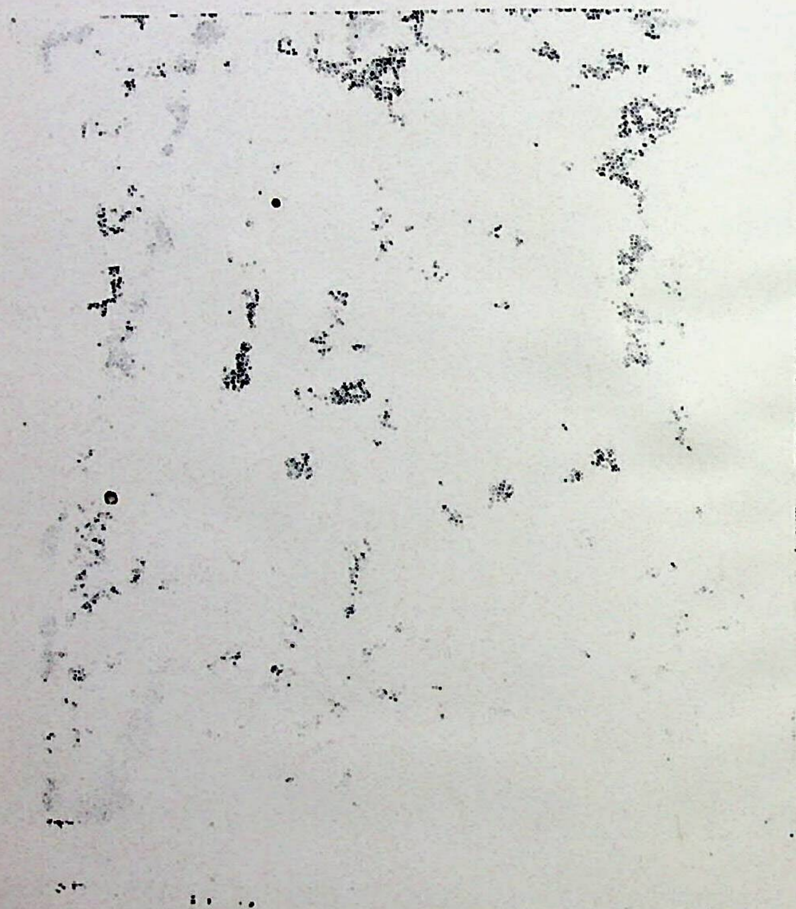




नुरहृचु (1559–1626)
जिसने माँचूओं का उत्तरी जंगलों से चीन में नेतृत्व कर
चिङ्ग राजवंश का स्थापन किया ।



कुबलई खाँ (1216-1294) (चंगेज खाँ का पौत्र) तथा
युआन राजवंश का संस्थापक
कुबलई खाँ के अभूतपूर्व धन-वैभव ने विदेशी साहसी यात्रियों को आर्कषित किया, उनमें प्रमुख मार्कोपोलो था।





यॉंग-लो (1403–1424)
जिसने मिंग राज्य परिधि को मंगोलिया से अनाम तक विस्तृत किया।

तक टोकूगावा शोगुनेट का काल रहा, इस युग में बासवर्थ[1] के युद्ध की भाँति सेकीगहारा युद्ध से गृह युद्धों का अन्त कर एक नये युग का सूत्रपात हुआ। इसी युग में 1853-1860 तक कामोडोर पैरी का आगमन, व्यापारिक समझौते और उनकी प्रतिक्रिया तथा सुधारों का प्रयास किया गया।

आधुनिक जापान का युग मेइजी पुर्नस्थापन 1868 से प्रारम्भ हुआ और शताब्दी के अन्त तक जापान में सामाजिक, आर्थिक, प्रशासनिक, शैक्षिक एवं अन्य क्षेत्रों को नवरूप प्रदान किया गया। पश्चिमी एशिया अंचल के विचाराधीन नाम उतने ही विवादास्पद हैं जितनी इस क्षेत्र की समस्यायें एवं संघर्ष। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व तक इसके अत्यधिक प्रदेश आटोमन साम्राज्य के अन्तर्गत थे एवं उनको 'निकट पूर्व' एशिया के नाम से जाना जाता था। इस संज्ञा द्वारा लेवान्त अर्थात् वर्तमान राष्ट्र लेबनान, सीरिया, इसराएल, जॉडन, ईराक, सऊदी अरब, कुवैत, कातार, ओमान, मस्कत, अदन, यमन, मिस्र, सूडान एवं तुर्की के सम्मिलित क्षेत्रों का बोध होता था। ईरान, अफ़गानिस्तान और कभी भारत को भी 'मध्य-पूर्व' एशिया के नाम से एवं एशिया के शेष प्रदेशों को 'सुदूर-पूर्व' एशिया के नाम से जाना जाता था। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् नये स्वतन्त्र राष्ट्रों की उत्पत्ति के साथ ही 'निकट-पूर्व' का प्रयोग समाप्त हो गया तथा इसके स्थान पर 'मध्य-पूर्व' का प्रयोग किया जाने लगा। आधुनिक काल में विशेषकर द्वितीय विश्व युद्धोपरान्त इतिहासकारों ने उपर्युक्त क्षेत्र को 'पश्चिमी एशिया' की संज्ञा प्रदान की है। विस्तृत विवरण के लिये देखें लेखक की पुस्तक 'पश्चिमी एशिया'।

भारत के पूर्व से महान हिमालय उत्तर की ओर दो हज़ार मील की लम्बी श्रृङ्खलाओं में सागर में विलीन होता हुआ पुनः द्वीपीय श्रृङ्खलाओं के रूप में चीन की ओर 3,400 मील तक विस्तृत है। यह पूर्ण क्षेत्र मुख्य प्रायद्वीप को लेकर दस हजार से अधिक द्वीपों की श्रृङ्खलाओं में वितरित है– यह है दक्षिण पूर्व एशिया। दक्षिण पूर्व एशिया में बर्मा, कम्पूचिया, लाओस, हिन्देशिया, मलेशिया, 'हिन्दचीन, व वियतनाम, थाइलैण्ड, फिलीपीन्स व सिंगापुर क्षेत्र आते हैं।

दक्षिण एशिया में भारत, पाकिस्तान, बंगला देश, श्रीलंका इत्यादि आते हैं जिनका विस्तृत विवरण पुस्तक में दृष्टव्य है।

---

1. बासवर्थ का युद्ध 1895 में रिचर्ड III और भावी हैनरी VII के मध्य हुआ।

विषय–सूची

भाग : 2 दक्षिण–पूर्व एशिया

पूर्वी एशिया

CHINA

Heilungkiang
Kirin
Mongolia
Inner Mongolia Autonomous
Liaoning
North Korea
South Korea
Sinkiang Uighur Autonomous
Kansu
Ningsia
Hopei
Shansi
Shantung
Yellow Sea
Tsinghai
Shensi
Honan
Kiangsu
Anhwei
Tibet Autonomous
Szechwan
Hupeh
Chekiang
East China Sea
Hunan
Kweichow
Kiangsi
Fukien
Formosa St
Taiwan
Yunnan
Kwangsi Chuang
Kwantung
Hainan

● BEIJING
• TIENTSIN
MUNICIPAL AREA

चीन

अध्याय 1

नव चेतना

चीन में राष्ट्रवाद

एशिया के समस्त राष्ट्रों में चीन बाह्य लोगों के लिये एक कठिन समस्या है जिसको समझना सरल नहीं है। वर्तमान चीन एक पारम्परिक हृदय, आधुनिक राष्ट्रवादी मस्तिष्क एवं साम्यवादी मुखौटे का स्वामी है। अतः इसको तीनों स्तरों पर समझने की आवश्यकता है।

चीन का इतिहास 'चेलो नदी' के डेल्टा से प्रारम्भ होकर आस पास तक विस्तृत है। 'हान' जाति इसका मुख्य अंग है। पूर्व की ओर सागरीय अवरोध ने चीन के विस्तार को सीमित कर दिया है, और पश्चिमी ओर पर्वत शृंखलाओं तथा मरूस्थल ने सीमित किया है।

चार सौ वर्ष व इससे अधिक पूर्व जब युरोपियन व्यपारियों एवं धर्म प्रचारकों (मिश्नरियों) ने चीन के द्वार भेदन की चेष्टा की तो चीन ने स्वयं को आधुनिक सभ्यता का प्रतीक एवं संरक्षक समझा।

चीन की सभ्यता की मुख्य विशेषता यह रही है कि यद्यपि इसका विकास पश्चिमी जगत की ही तुलना में रहा है, परन्तु चीन ने स्वयं को पार्थक्यता में निहित रखा है। चीन का नामकरण लगभग ईसा से तीन शताब्दी पूर्व (221 बी. सी.) 'चिन राज्यवंश' के द्वारा हुआ, जिसने 'चाऊ राजवंश' को सिंहासनाविमुख किया।

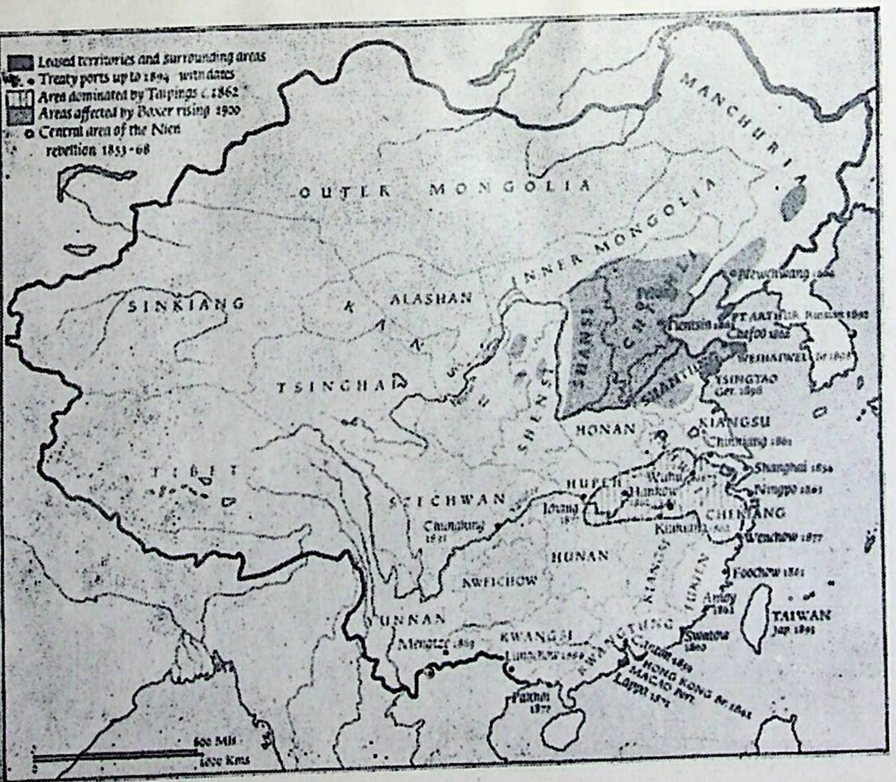
वस्तुतः चीन में राष्ट्रवाद के विषय पर कुछ कहना इतना सरल नहीं हैं। लगभग बीस शताब्दियों तक चीन एक अखण्ड राज्य के रूप में स्थापित रहा। इस तथ्य को राष्ट्रवाद के आधार रूप में स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु इसी के साथ इस तथ्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता, कि चीन ने राष्ट्रत्व की धारणा को विकसित होने के अवसर प्रदान नहीं किया। सामान्यतः इतिहासवेत्ता चीनी-साम्राज्य, 'चीनी विश्व संघ' 'अथवा चीनी कन्फ्यूशियन'

राज्य का ही उल्लेख करते रहे है यद्यपि राज्य निर्माण की प्रक्रिया के साथ-साथ एक जन-संस्कृति, एक इतिहास तथा एक भौगोलिक-सीमा चीन में रही है, परन्तु इसने राष्ट्रत्व की धारणा को प्रतिपादित नहीं किया। इसके विपरीत नागरिकों के भौतिक एकात्मकता की अमूर्त भावना तथा चीनी सभ्यता की समाविष्टकारी प्रकृति को उन्होंने स्वीकार किया। कन्फ्यूशियनवाद के रूपांतरित स्वरूप में इसे विस्तृत रूप से स्वीकार किया गया। इसके अनुसार प्रत्येक मानव में भ्रातृत्व निहित था तथा यह विश्व विभिन्न प्रकार के मानवों द्वारा निर्मित था, परन्तु सभी व्यक्ति समान प्रकार के प्राकृतिक, अखिल, सामाजिक तथा नैतिक नियमों के अन्तर्गत थे। चीन में यह बात स्पष्ट नहीं थी कि यह विश्व कितना बड़ा है, परन्तु उन्हें यह पूर्ण विश्वास था कि उनकी सभ्यता सम्पूर्ण विश्व की केन्द्रीभूत सभ्यता थी तथा सर्वाधिक उच्चतम थी। शताब्दियों तक उनमें इस विषय पर मतैक्य रहा और उन्नीसवीं सदी तक इस विचार को गम्भीरता से चुनौती नहीं दी जा सकी थी। यही कारण है कि उन्होंने निकट-भूत तक इस बात को स्वीकार नहीं किया कि चीन केवल एक राष्ट्र है, तथा अन्य लोग दूसरे परन्तु समान राष्ट्रों के निवासी हैं। उन्नीसवीं सदी में उनकी इस भावना में, परिवर्तन स्पष्टतया लक्षित होने लगा। इसका मुख्य कारण चीन का पश्चिमी शक्तियों के सम्पर्क में आना था। विभिन्न पश्चिमी देशों द्वारा चीन से स्वतन्त्र तथा समान सम्बन्धों के विकास ने चीन को अपने राजनैतिक धारणाओं तथा संस्थाओं पर पुर्नविचार करने पर विवश कर दिया।

प्रारम्भ में यह एक बहुत ही साधारण सी बात थी क्योंकि केवल कुछ यूरोपीय व्यापारियों ने व्यापार में छूट की माँग की थी। परन्तु धीरे-धीरे जब विभिन्न यूरोपीय राज्यों के व्यापारियों ने यह माँग रखनी शुरू कर दी, तो समस्या गम्भीर होने लगी। व्यापार के इच्छुक राज्यों में अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हो गई जिसके कारण चिंग अथवा मान्चू साम्राज्य का मान-मर्दन अवश्यम्भावी हो गया। 1842 की नानकिंग की संधि, 1856 से 1860 तक के विदेशी आक्रमणों तथा असामान्य सन्धियों, 1884-85 में फ्रांसिसीयों द्वारा प्राप्त छूटों, तथा 1895 में जापान द्वारा पराजय एवं अन्ततोगत्वा चीन द्वारा 1900 में बाक्सर विद्रोह के साथ विदेशियों के निष्कासन के लिये किये गये असफल प्रयासों ने उन्हें विदेशियों के सामने आत्मसमर्पण पर विवश कर दिया। विदेशियों के विरुद्ध उत्पन्न यह क्रोध अन्त में मान्चू साम्राज्य के विरुद्ध राष्ट्रीयवाद के रूप में विकसित होने लगा क्योंकि चिंग वंशावली के मान्चू शासक विदेशियों के निष्कासन में पूर्णतया असफल सिद्ध हुये थे।



मंगोल शासक कुबलई खाँ जिसने आधुनिक बेजिंग को राजधानी बनाया। चीन में एक नये अध्याय का आरम्भ मंगोल विजय और मंगोल साम्राज्य (1269–1368) से प्रारम्भ हुआ।



व्यापार संधि ताइपिंग, बॉक्सर विद्रोह का रेखाचित्र



वास्तव में विदेशियों के विरुद्ध चीन की इस असफलता का समस्त उत्तरदायित्व मान्चू शासकों पर नहीं जाता है। इसके मुख्य कारणों में मान्चू की असथर्मता के साथ चीन की प्राचीन सामाजिक तथा राजनैतिक तथा शासक वर्ग की रूढ़िवादिता का भी पर्याप्त योगदान था। परन्तु चीन के निवासियों ने समस्त दोष मान्चू शासकों को ही दिया। यह अपेक्षाकृत आसान था क्योंकि मान्चूओं की उत्पत्ति चीनी नहीं थी। अतएव सर्वप्रथम पश्चिम के विरुद्ध उत्पन्न विद्रोह ने विदेशी विरोध का स्वरूप प्राप्त कर लिया। चीन में इसी भावना ने राष्ट्रीयता के स्वरूप को प्राप्त किया। यह एक प्रकार से राष्ट्रवाद का नकारात्मक रूप था। इसका आधार किसी भी स्पष्ट राष्ट्रीय लक्ष्यों पर आधारित न होकर विदेशी आक्रमणों तथा मान्चू साम्राज्य की असफलताओं के विरुद्ध उत्पन्न प्रतिक्रिया पर विकसित हुआ था।

चीन के निवासियों को नवीन चेतना से ओत-प्रोत करने में बहुत से उन शिक्षित चीनी युवकों का भी हाथ था, जिन्होंने पश्चिम में शिक्षा प्राप्त की थी। उन्होंने जन साधारण को इस तथ्य से अवगत कराया कि उनका विदेशियों तथा मान्चू शासकों से विरोध वस्तुतः राष्ट्रवादी तथ्य के विकास की प्रारम्भिक घटना थी। इसका प्रमुख श्रेय 'सुन यात-सेन' को जाता है, जिन्होंने राष्ट्र-राज्य तथा राष्ट्रवाद के पश्चिमी अवधारणाओं को चीन तक पहुँचाया। सुन यात-सेन ने यह भी स्पष्ट किया कि राष्ट्रवाद केवल एक नकारात्मक अवधारणा नहीं है, अपितु यह देशवासियों को सकारात्मक मूल्यों के लिये संगठित करनेवाली शक्ति भी बन सकती है। सुन यात-सेन ने यह भी स्पष्ट किया, कि चीन की पारस्परिक सामाजिक व्यवस्था मुख्यतः ग्रामीण कृषक समुदायों पर आधारित थी। इन समुदायों के मध्य किसी भी प्रकार के संचार का अभाव था। जिन वर्गों को संचार की सुविधा प्राप्त थी, वे सभी अधिकारी अथवा व्यापारी वर्ग के लोग थे। अतएव जब भी उन्होंने चीन के सम्बन्ध में बात की तो वास्तव में वे एक बड़े स्वछन्द-व्यवस्थित ग्रामीण समुदायों का ही प्रतिनिधित्व करते थे, जो एक छोटे विशिष्ट वर्ग द्वारा शासित थे। अन्त में सुन यात-सेन ने यह स्पष्ट किया, कि चीन की एकता के लिये, जनता में भ्रातृत्व की भावना के लिये तथा उनके समान लक्ष्य के लिये, राष्ट्रवाद एक आवश्यक तत्व था। इस प्रकार शनैः शनैः राष्ट्रीयता की भावना ने चीन की जनता में नवीन चेतना को जागृत करना प्रारम्भ कर दिया। इस जागृति के फलस्वरूप उनकी स्थानीय ग्रामीण केन्द्रित निष्ठा, वृहद् राष्ट्रीय निष्ठा में परिवर्तित होने लगी।

गणतंत्र काल में राष्ट्रवाद

1894 से 1911 तक का चीनी इतिहास घटनाओं की निरन्तरता से परिपूर्ण रहा है। इस काल में विभिन्न नवीन क्रान्तिकारियों ने चीन की तत्कालिक परिस्थितियों को प्रभावित किया। इन क्रान्तिकारियों में प्रमुखत: विद्यार्थी, अधिकारी तथा व्यापारी रहे जो चीन में अपेक्षाकृत आधुनिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। इनके साथ-साथ जापान तथा अन्य देशों में रहने वाले अप्रवासियों ने भी तत्कालीन घटनाओं को पर्याप्त प्रभावित किया। जापान में ही सुन यात-सेन ने 1905 में 'तुग मेंग हुई' (क्रान्तिकारी मैत्री) नामक संस्था की स्थापना कर तत्पश्चात् क्वोमिनताँग (कुओमिनताँग) को जन्म दिया। टोकियो में ही मिन-पाओ, (जनता) नामक पत्रिका ने गणतंत्र तथा क्रान्ति के सिद्धान्तों का पक्ष उजागर किया। मान्चू अधिनायकवाद के विरोधियों के लिये जापान सर्वश्रेष्ठ शरणस्थल था। इन सबके अतिरिक्त जापान ने चीन के क्रान्तिकारियों को धन, अस्त्र तथा परामर्शों से भी सहायता की।

अक्टूबर, 1911 को विभिन्न प्रयासों की असफलताओं के पश्चात मान्चू साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रवादी गणतन्त्रवाद की विजय हो गयी। उस समय सुन्‌ यात-सेन डेनवर (कोलराडो) में थे और उन्होंने जनवरी 1, 1912 को नानकिंग में चीनी गणतंत्र के प्रथम राष्ट्रपति का कार्यभार सम्भाला। यद्यपि 1911 की क्रान्ति ने साम्राज्यवाद पर विजय पायी, परन्तु वास्तव में चीन की सामाजिक व्यवस्था में कोई भी मौलिक परिवर्तन नहीं हो सका। वस्तुत: क्रान्ति की सफलता के समय साम्राज्यवाद के विरुद्ध, शासक वर्ग, उच्च वर्ग तथा परम्परावादियों ने क्रान्तिकारियों को सहयोग देना प्रारम्भ कर दिया था। तथा इसी वर्ग ने सत्ता पर अपना अधिकार भी तदनुसार बरकरार रखा। फलस्वरूप क्रान्ति का पथ खुला ही रहा। इस प्रकार चीन का राष्ट्रवाद पूर्णतया नकारात्मक था तथा वह केवल विदेशी शक्तियों से विरोध का स्वरूप ही प्राप्त कर सका। इसका अन्तिम लक्ष्य केवल 'साम्राज्यवाद से संघर्ष' ही रह गया। यह चीन में राष्ट्रवाद के विकास का प्रथम चरण था। क्रान्ति के पश्चात भी सामाजिक सुधार की अनुपस्थिति के कारण चीन के राष्ट्रवादियों के लिये यह आवश्यक हो गया था, कि वे राष्ट्रीय समस्याओं से संघर्ष प्रारम्भ करें परन्तु यह निर्विरोध सत्य है कि 1911 की क्रान्ति के केन्द्र में राष्ट्रवाद की भावना ने प्रमुख भूमिका प्रस्तुत की। इसी राष्ट्रवाद की भावना ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध चीन के विभिन्न वर्गों में एकता का दीप जलाया था।



डा० सुनयात सेन (1867–1925)
महान चीनी राष्ट्रवादी

चीन में राष्ट्रवाद के इस प्रथम चरण का काल अत्यन्त छोटा था। 1911 के पश्चात चीन का इतिहास आन्तरिक अन्तर्विरोधों से परिपूर्ण है। लगभग तीन दशकों तक विभिन्न सैनिक-दलों ने आपसी संघर्ष से राष्ट्रवाद की धारणाओं के विपरीत उदाहरण प्रस्तुत किया। साम्यवादियों, समाजवादियों, संविधान वादियों, अराजकतावादियों, फाशीवादियों तथा सैन्यवादियों में इस बात पर संघर्ष होता रहा कि चीन का भविष्य कैसा होगा ? इन संघर्षों ने यह सिद्ध कर दिया कि सुन यात-सेन को चीन की आवश्यकताओं का आंशिक ज्ञान था, तथा इसके राष्ट्रीय एकता की धारणा असामायिक थी।

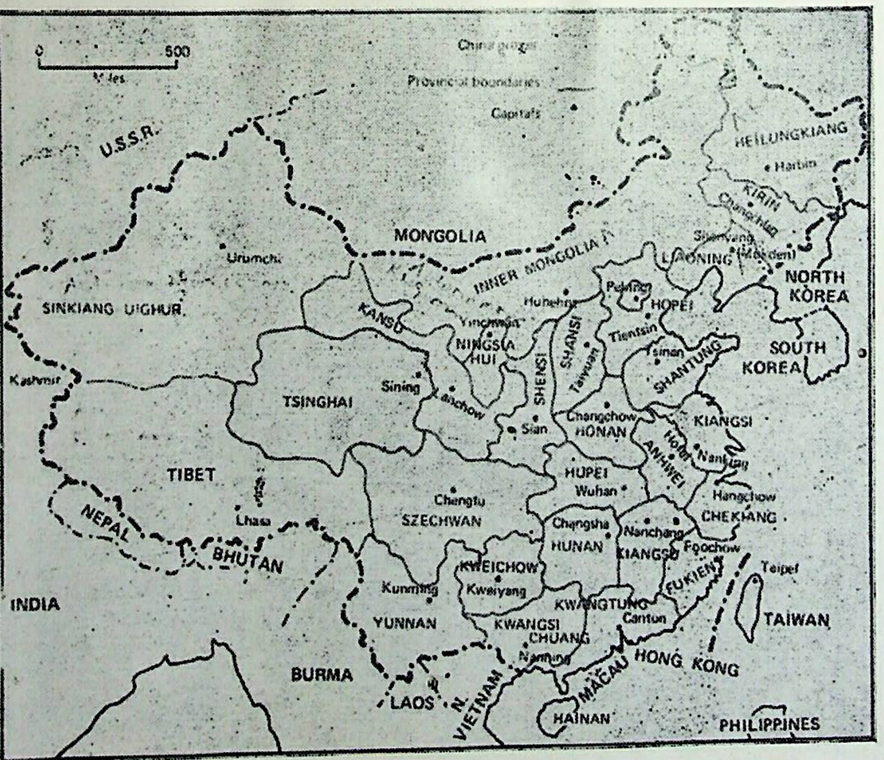
कुछ ही वर्षों में परम्परावादी युग के एक उच्चाधिकारी ने क्रान्ति कीं बागडोर स्वयं संभाल ली तथा साम्राज्यवाद को पुर्नस्थापित कर राष्ट्रवाद की सम्भावनाओं पर एक प्रश्नचिन्ह लगा दिया। चीन के शक्तिशाली पुरुष के रूप में प्रतिस्थापित 'युआन शीह-काई' नामक यह अधिकारी किंचित भी क्रान्तिकारी नहीं था। सम्भवतया 1898 के सुधार आन्दोलन को सर्वाधिक हानि पहुँचाने वाला युआन ही था। युआन ने सुधारवादी शक्तियों तथा युवा सम्राट के विरुद्ध साम्रागी डोआगर के पक्ष में अपनी तथा अपने सैनिकों की सेवायें अर्पित कर दी थीं। 1911 में युआन ने अपनी आधुनिक सेना की सहायता से मान्चू साम्राज्य को पदस्थ कर गणतंत्र के राष्ट्रपति पद तक स्वयं जा पहुँचा। उसके इस अभियान में चीन के सैनिक-अधिकारियों ने पूर्ण समर्थन प्रदान किया। चीन के तात्कालिक क्रान्तिकारियों ने भी युआन का समर्थन किया, क्योंकि उन्हें यह अच्छी तरह ज्ञात था, कि वे अल्पमत में थे और उनके पास पर्याप्त आर्थिक स्रोत नहीं है। परिणामस्वरूप सुन यात-सेन ने फरवरी 13, 1912 को युआन के समर्थन में त्यागपत्र दे दिया।

1913, में पुनः गणतंत्रवादियों ने द्वितीय क्रान्ति का प्रयास किया। परन्तु तब तक युआन ने अपनी शक्तियों को पर्याप्त ठोस बना लिया था। गणतंत्रवादियों के असन्तोष का मुख्य कारण युआन द्वारा क्वोमिनताँग के एक प्रमुख नेता की हत्या कराना था। परन्तु युआन ने गणतंत्रवादियों को तथा उनके प्रयास को सेना की सहायता से असफल कर दिया। क्वोमिनतांग का संसदीय विरोध 1913 के पश्चात समाप्त हो गया। युआन का अधिनायकतत्व सम्भवतया अधिक काल तक प्रभावी रहता, यदि उसने 1815 में एक नवीन वंशावली की स्थापना का प्रयास नहीं किया होता। इस बार 1913 की तुलना में अधिक विस्तृत तथा शक्तिशाली विरोध उभर कर सामने आया। दक्षिण तथा पश्चिम चीन के आठ प्रान्तों ने विरोध की घोषणा कर दी। परन्तु जून 6, 1916 को युआन के निधन के साथ ही यह चरण भी समाप्त हो गया। युआन

का यह प्रयास भी लगभग वैसा ही था, जैसा मान्चू साम्राज्य का। युआन यद्यपि चीनी परम्परा का प्रतिनिधि नहीं था, परन्तु उसकी आधुनिक विचारधारा भी पर्याप्त संकीर्ण थी। मुख्यतया वह एक शक्तिशाली प्रशासक था, जो उसी वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रहा था, जिसके विरुद्ध गणतंत्रवादियों ने संघर्ष प्रारम्भ किया था। उच्च वर्ग तथा शासक वर्ग ने व्यक्तिगत शक्तियों के स्थायित्व के लिये युआन के साथ मिलकर साम्राज्य के विघटन में सहयोग दिया था परन्तु युआन के विरुद्ध भी उठ खड़े हुये संघर्षों ने पुनः यह सिद्ध कर दिया कि किसी भी प्रकार के साम्राज्य के विरुद्ध राष्ट्रवाद की जड़े सशक्त होने लगी थीं।

युआन के पश्चात चीन में नेतृत्व की समस्या उठ खड़ी हुई। उस समय चीन में कोई भी ऐसा राजनैतिक व्यक्तित्व नहीं था जिसे जनता तथा सेना दोनों में पर्याप्त समर्थन प्राप्त हो। गणतंत्र का अस्तित्व केवल नाम मात्र रह गया था। चुनाव पैसों द्वारा क्रय किये गये संसदीय मतों पर आधारित हो गया। इसके पश्चात भी शासन के अधिकार पर्याप्त सीमित हो गये थे। चीन की राजनीति में प्रान्तीयवाद पर आधारित नवीन शासन पद्धति प्रारम्भ हो गयी थी। केन्द्रीय सरकार के अधिकार की सीमायें उसके कुछ पड़ोसी प्रान्तों तक सीमित होकर रह गयी थी। इस प्रान्तीयवाद ने विभिन्न संघर्षों, सन्धियों तथा ध्रुवीकरण को जन्म दिया। दस वर्षों से कम समय में भी चीन का गणतंत्र असफल हो गया। गणतंत्र तथा साम्राज्य में मुख्यतः राजनीति के इस क्षेत्रीयवाद का ही अन्तर था। वास्तव में यह केन्द्रीय सरकार का ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र की असफलता थी। कुछ मतों के अनुसार चीन को संघों में विभाजित कर प्रान्तीय स्वतंत्रता के आधार पर राष्ट्रीय एकता को नियमित करना आवश्यक समझा गया, यद्यपि संघवाद से प्रभावित चीन का यह वर्ग अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक था परन्तु इसका कोई अक्षुण्ण प्रभाव शेष नहीं रहा, परन्तु इसने आधुनिक चीन के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

चीन के इस संकटकालीन युग में यद्यपि राष्ट्र को आन्तरिक अन्तविरोधों से पूर्णतया ग्रस्त कर लिया था परन्तु इसी युग ने आधुनिक चीन को जन्म भी दिया, नया चीन कन्फ्यूशियन साम्राज्य से उत्पन्न हुआ। युआन की मृत्यु के पश्चात दो प्रमुख प्रभावी क्रान्तिकारी विचारधारायें उत्पन्न हुई, पहली चीन की वह सांस्कृतिक क्रान्ति थी जो "4 मई आन्दोलन" के नाम से प्रसिद्ध हुई तथा पीकिंग में 4मई, 1919 को छात्र प्रदर्शन से प्रारम्भ हुई। द्वितीय, प्रथम विचार धारा की ही एक भिन्न शाखा थी जिसने राजनैतिक जीवन में अत्यधिक उग्रवाद को जन्म दिया। इसी धारा के अन्तर्गत चीन ने राष्ट्रवादी राजनैतिक क्रान्ति के स्थान पर सामाजिक क्रान्ति को प्राथमिकता दी।


0
500
Provincial boundaries
Capitals
U.S.S.R.
MONGOLIA
INNER MONGOLIA
HEILUNGKIANG
Harbin
KIRIN
LIAONING
NORTH KOREA
SOUTH KOREA
SINKIANG UIGHUR
Urumchi
Kashmir
KANSU
Yinchwan
NINGSIA HUI
Huhehot
SHANSI
Taiyuan
SHENSI
Sian
Peking
HOPEI
Tientsin
Tsinan
SHANTUNG
TSINGHAI
Sining
Lanchow
Changchow
HONAN
KIANGSI
ANHWEI
HUPEI
Wuhan
Hangchow
CHEKIANG
TIBET
Lhasa
NEPAL
BHUTAN
Chengtu
SZECHWAN
Changsha
HUNAN
Nanchang
KIANGSI
Foochow
FUKIEN
Taipei
TAIWAN
KWEICHOW
Kweiyang
Kunming
YUNNAN
KWANGTUNG
Canton
KWANGSI CHUANG
Nanning
HONG KONG
MACAU
HAINAN
PHILIPPINES
INDIA
BURMA
LAOS
N. VIETNAM

चीन

अध्याय 2
क्रान्ति युग

क्रान्तिवाद का जन्म

'युआन शीह काई' की मृत्यु के पश्चात राष्ट्रवाद ने क्रान्तिवाद में रूपांतरण किया। युआन की मृत्यु से यदि एक युग का अन्त होता है, तो मई 4 के आन्दोलन से नये युग का सूत्रपात होता है। चीन के साम्यवादी इतिहास-कार भी 1911 के स्थान पर 1919 को ही आधुनिक चीन का प्रारम्भ मानते हैं।

वास्तव में 4 मई का आन्दोलन चीन में पुर्नजागरण का द्योतक था, इस आन्दोलन ने चीन के सर्वाधिक परम्परावादी कन्फ्यूशियनवाद को चुनौती दी। फलस्वरूप 1911, से अधिक महत्वपूर्ण 1919 हो गया, क्योंकि इसने न केवल साम्राज्य को बल्कि सम्पूर्ण वैचारिक धारणाओं, सिद्धान्तों एवं सामाजिक मान्यताओं को भी चेतना भूत किया जो शताब्दियों से चीन में वंशानुगत परिवर्तनों के पश्चात भी स्थापित थी। 4 मई के आन्दोलन ने सम्पूर्ण चीनी समाज को सचेतता दी अर्थात् यह पश्चिमी सभ्यता द्वारा चीन के सांस्कृतिक मूल्यों को चुनौती देने के समान था। 4 मई का यह आन्दोलन वस्तुतः बुद्धिजीवियों का आन्दोलन था जो पूर्णतया शिक्षित अल्पमतों द्वारा संचालित था। इसने समस्त शक्ति विद्यार्थियों तथा अध्यापकों द्वारा प्राप्त की थी।

4 मई, 1919 को पीकिंग (वेजिंग) के विद्यार्थियों ने पेरिस शांति सम्मेलन के निर्णयों के विरोध में एक प्रदर्शन किया। यद्यपि संकीर्ण दृष्टिकोण से यह प्रदर्शन 'शान्तुंग प्रान्त' पर जापान के नवीन अधिकारों के विरुद्ध था। परन्तु वृहद अर्थों में इस आन्दोलन ने एक सांस्कृतिक, नवचेतना तथा क्रान्तिकारी अभियान को जन्म दिया जो वास्तव में 1919 के काफी पूर्व प्रारम्भ हो चुका था और 1919 के पर्याप्त समय पश्चात् समाप्त हुआ था। इस आन्दोलन का महत्वपूर्ण पक्ष लेखकों और युवकों द्वारा की गई साहित्यिक क्रान्ति थी, इस आन्दोलन की सफलता के लिये अपनाये गये दो मुख्य कार्यों में, एक बुद्धिजीवियों

के हेतु पत्रिका का प्रकाशन था, और दूसरा पीकिंग विश्वविद्यालय का पुर्नगठन जनवरी, 1917 में हू शीह नामक एक 26 वर्षीय युवक ने अपने शोध कार्य को पूर्ण करने के तत्काल पश्चात चीन के लेखकों के सामने यह प्रस्ताव रखा कि वे साहित्यिक भाषा 'वेन मेन' के स्थान पर जन भाषा 'पाई-हुआ' का प्रयोग करें। यह साहित्यिक क्रान्ति की मूल आत्मा थी।

यद्यपि इस प्रस्ताव में क्रान्ति की कोई भी धारणा स्पष्ट नहीं थी परन्तु अपरोक्ष रूप में इसमें एक महत्वपूर्ण भावना छिपी हुई थी। अब तक के लेखकों द्वारा प्रयुक्त भाषा केवल चुने हुये वर्ग द्वारा समझी जाती थी जब कि जन भाषा से सामान्य जनता तक अपनी बात पहुँचाने की सम्भावनायें बढ़ गयी हू शीह ने इस तथ्य पर भी जोर दिया, कि साहित्य सामान्य जनता के निकट पहुँचना चाहिये। 1920 तक लगभग सभी लेखक 'पाई-हुआ' का प्रयोग प्रारम्भ कर चुके थे। 4 मई युग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण पत्रिका 'शिन चिंग-नाई' थी। इसी पत्रिका में हू शीह का क्रान्तिकारी प्रस्ताव प्रकाशित हुआ। इस पत्रिका का सम्पादक चेन टू-श्यू आधुनिक चीनी इतिहास का एक महत्वपूर्ण व्यक्ति था। वह उग्रवाद का प्रबल समर्थक था। अपनी विचारधाराओं के कारण ही उन्होंने न तो सुन यात-सेन को ही समर्थन दिया और न हीं 'युआन शीह-काई' को। उनके अनुसार एक अत्याधिक राष्ट्रवादी था, तथा दूसरा घोर साम्राज्यवादी। 1913 की दूसरी असफलता के पश्चात वह जापान चले गये, और सितम्बर, 1915 में वापस आने के पश्चात उन्होंने पत्रिका का सम्पादन प्रारम्भ किया। यद्यपि प्रेस की संकीर्ण स्वतंत्रता, अधिकारियों के हस्तक्षेप तथा अर्थाभाव के कारण पत्रिका का प्रकाशन बार-बार अवरुद्ध हुआ परन्तु सेन में युवकों तथा विद्यार्थियों के विश्वास एवं आस्था पर यह आन्दोलन तदनुसार गतिमय रहा। इस युग का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष पीकिंग विश्वविद्यालय का सुधार था। इस कार्य का सम्पूर्ण श्रेय त्साई युआन पे को है। वह चीनी एवं पश्चिमी दोनों सभ्यताओं की उपज तथा चीन के पुर्नजागरण का जन्मदाता था।

त्साई युआन पे दो सभ्यताओं का सम्मिश्रण था। उन्होंने पश्चिमीं शिक्षा का ज्ञान फ्रांस तथा जर्मनी में प्राप्त किया और इससे साथ वह चीनी भाषा एवं साहित्य के भी विद्वान थे। उन्हें 'क्याँगनांन (अवर यांगत्से के तीन प्रांतों)' का 'प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति घोषित किया गया था। 4 मई आन्दोलन ने युवकों का आह्वान किया तथा परम्पराओं पर चोट करना प्रारम्भ किया। चेन ने प्राचीन रूढ़िवादी एवं परम्परागत मान्यताओं को त्याग कर नवीन स्वच्छ तथा उपयोगी अवधारणाओं को स्वीकार करने की वकालत की। उन्होंने युवकों को स्वतंत्र, प्रगतिशील, र्बहिमुखी, सर्वभौम व्यवहारिक तथा

वैज्ञानिक होने की प्रेरणा दी। इसके साथ-साथ उन्होंने आधीनता, रूढ़िवादिता अर्न्तमुखित्री, संकीर्णता, औपचारिकता तथा कल्पनाशीलता को त्यागने का आग्रह किया। चेन के इन सिद्धान्तों ने 'कन्फ्यूशियन नैतिकता' को पूर्णतया अस्वीकार कर दिया। कन्फ्यूशियनवाद प्राचीन संस्कृति, परम्पराओं, विश्वासों आस्थाओं एवं आज्ञाकारिता में विश्वास रखता था। कन्फ्यूशियनवाद की तीन प्रमुख मान्यतायें, सम्राट में जनता की, पिता में पुत्र की तथा पति में पत्नी की आस्था को सामाजिक संगठन का प्रमुख आधार मानती थी। 4 मई आन्दोलन ने इनको परिवार तथा राज्य के अधिनायकवाद के आधार पर अस्वीकार कर दिया। इस आन्दोलन की प्रमुख माँग स्त्री की स्वतंत्रता, यौन की समानता, प्रेम का अधिकार, पीढ़ी संघर्ष में निहित थी।

4 मई के पश्चात् का युग इन मूल्यों पर आधारित साहित्य से भरा हुआ था। परम्पराओं तथा कन्फ्यूशियनवाद के विरोध के रूप में यह आन्दोलन परिवर्तन का एक नकारात्मक स्वरूप था, परन्तु प्रगति, लोकतंत्र, विज्ञान तथा विवेक में विश्वास के रूप में इसने एक सकारात्मक स्वरूप भी प्राप्त किया। चीनी मूल्यों की अस्वीकृति तथा पाश्चात्य मूल्यों की स्वीकृति इस आन्दोलन के मूलभूत आधार थे। 'चेन टू-श्यू' ने अपने लेखन में कन्फ्यूशियन-वाद के विरोध तथा पश्चिमी विचारधारा के समर्थन के आपसी सम्बन्ध को अपनी पत्रिका के जनवरी, 1919 के अंक में स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि "श्रीमान लोकतंत्र तथा श्रीमान् विज्ञान' को यदि समर्थन देना है तो कन्फ्यू-शियनवाद पवित्र अनुष्ठानों, स्त्री का संयत अनुशासन, परम्परावादी नैतिकता, कला, धर्म, प्राचीन साहित्य तथा रूढ़िवादी राजनीति को त्यागना होगा। फल-स्वरूप चीन की संस्कृति के विरुद्ध '4 मई के आन्दोलन की क्रान्ति' आधुनिक चीन के बौद्धिक विकास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

1911 की क्रान्ति के कुछ ही वर्षों के पश्चात चीन संस्कृतिवाद से राष्ट्रवाद के नवीन चरण में प्रविष्ट हो गया। मान्चू साम्राज्य तथा विदेशियों के विरुद्ध प्रारम्भ हुआ विदेश विरोधी राष्ट्रवाद इस चरण में पाश्चात्यवादी संस्कृति-वाद में परिवर्तित होने के पश्चात भी मूलभूत रूप में राष्ट्रीय था। क्योंकि इस आन्दोलन ने चीन के विभिन्न सामाजिक वर्गों को एक मंच पर ला दिया था। इस आन्दोलन को राष्ट्रवादी दल क्वोमिनतांग तथा साम्यवादी चीन दोनों का वैधानिक जन्मदाता भी कहा जा सकता हैं, क्योंकि इसमें एक राष्ट्र के जीने की लालसा स्पष्ट परिलक्षित थी।

इस आन्दोलन की सफलता तीव्रगामी, सम्पूर्ण तथा प्रभावी सिद्ध हुई। मई 4, आन्दोलन ने चीन के समस्त बुद्धिजीवियों को एक नवीन दिशा प्रदान

की। उन्होंने प्रजातन्त्र, वैज्ञानिकता, उदारवाद, मानवता तथा विवेक को मान्यता प्रदान की। विभिन्न साहित्कार संस्थाओं, पत्रिकाओं तथा विचारधाराओं के जन्म का श्रेय मई चार आन्दोलन को जाता है। इस आन्दोलन की तीव्रता के कारण विचारों में मतभेद अवश्यम्भावी था। हू शीह ने वाद आस्था का विरोध किया परन्तु चेन टू-श्यू ने साम्यवाद को समर्थन प्रदान किया। फलस्वरूप 1920 में चीन की मुख्य विचारधारा दो भागों में विभाजित हो गयी। चेन टू-श्यू ने 1921 में चीनी साम्यवादी दल की स्थापना की। इस दल की स्थापना के मात्र 28 वर्षो पश्चात ही साम्यवादियों ने चीन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

1921-1927 :

अपनी स्थापना के प्रारम्भिक छह वर्षों तक साम्यवादी दल प्रमुखतया श्रमिक दल रहा। इस दल ने सर्वहारा वर्ग को अपना आधार बनाकर चीन में क्रान्ति का प्रयास किया। हड़तालों तथा नागरिक विद्रोहों को अस्त्र का स्वरूप दिया। प्रारम्भ में दल के क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों में पर्याप्त मतभेद रहा। उनके विचारों में प्रौढ़ता का भी अभाव था। दल में क्रान्तिकारी अराजकतावादियों की संख्या भी मार्क्सवादियों से कम नहीं थी। शंघाई में उपस्थिति 12 सदस्यों वाली केन्द्रीय समिति का अध्यक्ष चेन टू-श्यू को बनाया गया। दल की स्थापना के वर्ष कुछ सदस्यों की संख्या केवल 57 थीं, तथा इसे किसी भी प्रकार का महत्व प्राप्त नहीं था। यहाँ तक कि जब 1923 में सुन यात-सेन ने सोवियत संघ की सहायता प्राप्त करने के लिये उसके प्रतिनिधि एडॉल्फ जोफ से सन्धि की तो उसने इस दल से किसी भी प्रकार की सहायता प्राप्त करने हेतु ध्यान नहीं दिया। परन्तु जनवरी, 1924 में क्वोमिनतांग के साथ विलय के पश्चात, साम्यवादियों ने अपनी शक्ति अभूतपूर्व रूप से बढ़ायी। क्वोमिनताँग की सदस्यया के साथ-साथ हड़तालों, विद्रोहों की नीति ने इस दल की सदस्यता 1925 में 10,000 तक बढ़ा दी। इस लोकप्रियता का मुख्य कारण साम्य-वादियों द्वारा आयोजित 1925 की 30 मई का आन्दोलन था। वास्तव में 30 मई का आन्दोलन ही चीन में क्रान्तिकारी युग का सूत्रपात था। 1925 से 1927 के वर्षों में चीन ने प्रथम साम्यवादी क्रान्ति के दर्शन किये। 1927 तक उनकी सदस्यता 58,000 तक पहुँच गयी थी।

साम्यवादी दल की सदस्यता शक्ति जनता को प्रभावित करने वाली थी। 1926 में च्याँग की क्रान्तिकारी सेना ने जब आह्वान किया तो अकेले साम्यवादियों ने 1,200,000 मजदूरों तथा 8,00,000 किसानों को एकत्रित

किया था जबकि वास्तव में कुओमिनतांग (क्वोमिनताँग) श्रमिकों तथा किसानों का प्रतिनिधित्व करती थी। 21 मार्च, 1927 को साम्य-वादियों ने शंघाई में मजदूरों का प्रदर्शन तथा विद्रोह कराकर शहर को स्वतंत्र करा लिया था। यह साम्यवादियों की दूसरी सफलता थी। दूसरे ही दिन च्यांग काई-शेक ने क्रान्तिकारी सेना के सर्वोच्च सेनापति के रूप में शंघाई पर अधिकार कर लिया। 1927 की इसी सफलता के पश्चात चीन के क्रान्ति-कारी इतिहास ने दूसरे चरण में प्रवेश किया। यद्यपि मार्च के जन-हड़ताल में क्रान्तिकारी सेना को किसी भी प्रकार का संघर्ष नहीं करना पड़ा, परन्तु इसके तत्काल पश्चात् हुई वृहद हिंसा ने चीन के इतिहास को एक नया मोड़ दे दिया। साम्यवादियों की शक्ति तथा जनता पर प्रभाव की सीमायें स्पष्ट हो जाने के पश्चात च्याँग ने 1927 की सफलता का समस्त श्रेय तत्काल साम्य-वादियों को दमन कर स्वयं ले लेने का प्रयास किया। 12 अप्रैल, 1927 को च्याँग की सेना ने शंघाई के मजदूर संगठनों पर आक्रमण कर उनके हथि-यारों को छीन लिया। हजारों की संख्या में मजदूरों की हत्या की गयी तथा महीनों तक आतंक का साम्राज्य व्याप्त रहा। साम्यवादी दल को भूमिगत होना पड़ा और इस प्रकार चीन की यह प्रथम क्रान्ति समाप्त हो गई।

अप्रैल, 1927 में समाप्त हुये इस प्रथम चरण का मुख्य चरित्र इसकी रूढ़िवादिता थी। साम्यवादियों ने केवल सर्वहारावर्ग को आधार बनाकर क्रान्ति का प्रयास किया, जिसकी असफलता मार्क्सवाद के रूढ़िवादी अवधारणा की पराजय थी। यद्यपि साम्यवादियों ने बुर्जुआ कुओमिनतांग (क्वोमिनताँग) से सहयोग कर रूढ़िवाद से थोड़ा अलग हुये थे, परन्तु इस असफलता का सैद्धांतिक पक्ष फिर भी दुविधाजनक रहा। क्योंकि इस सहयोग का परामर्श स्वयं सोवियत संघ ने दिया था। यह मार्क्सवाद के रूढ़िवादिता के साथ-साथ सोवियत संघ की भी असफलता थी। चीन के साम्यवादी दल को कुओमिनतांग के साथ सहयोग करने के लिये सोवियत संघ ने न केवल परामर्श ही दिया, वरन् उन पर दबाव भी डाला था। परोक्ष रूप से इस प्रकार का सहयोग असैद्धांतिक नहीं था। स्वयं लेनिन की उपस्थिति में 1920 की द्वितीय कोमिनर्टन कांग्रेस ने यह विचार प्रतिपादित किया था, कि क्रान्ति के प्रथम साम्राज्य विरोधी चरण में, राष्ट्रीय बुर्जुआ किसी भी उपनिवेश अथवा अर्द्ध-उपनिवेश में स्वयं क्रान्तिकारी होती है। इसी आधार पर जून, 1922 में साम्यवादियों ने अपने प्रथम घोषणा-पत्र में लोकतांत्रिक दल अथवा कुओमिनतांग से सहयोग का आह्वान किया था, परन्तु सोवियत संघ के मत में कुओमिनतांग केवल एक बुजुर्आ दल नहीं था। उसके अनुसार कुओमिनतांग चार प्रमुख वर्गों, बुजुर्आ, पेटि-बुजुर्आ,

मजदूरों तथा किसानों का दल था। इस आधार पर साम्यवादियों को न केवल उसके कार्यक्रमों में सहयोग देना था, वरन् उसे कुओमिनतांग के साथ विलय भी कर लेना था क्योंकि वह भी सर्वहारा की प्रतिनिधि संगठन था। जून, 1923 में साम्यवादियों के तृतीय कांग्रेस ने इस विचार को स्वीकार कर लिया और यह मान भी लिया, कि राष्ट्रीय क्रान्ति की केन्द्रीय-शक्ति कुओमिनतांग थी।

प्रथम क्रान्ति के इस युग में दो आत्मघाती पक्ष थे। च्यांग काई-शेक से सम्भावित संकट तथा किसानों की सम्मिलित शक्ति दोनों का मूल्यांकन उचित प्रकार से नहीं किया जा सका था। अप्रैल, 1927 में साम्यवादियों पर यह आक्रमण करने के एक वर्ष पूर्व ही च्यांग ने इसकी सम्भावनायें स्पष्ट कर दी थी। 20 मार्च, 1926 को च्यांग ने कैन्टन में 'क्रान्तिकारी नौ-सैनिक टुकड़ी' पर आक्रमण कर अपने विरोधियों को समाप्त कर दिया। इस टुकड़ी का नेतृत्व साम्यवादियों के हाथ में था। इससे सम्बन्धित सभी परामर्शदाताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। यहाँ तक की सोवियत राजनैतिक परामर्शदाताओं को भी नहीं छोड़ा गया। चीन के क्रान्तिकारी केन्द्र कैन्टन को च्यांग ने पूर्ण अधिकार में ले लिया।

यद्यपि च्यांग ने कुओमिनतांग पर अपने अधिनायकवाद को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया था, फिर भी सोवियत संघ के प्रतिनिधियों ने साम्यवादी दल को च्यांग से अलग होने का परामर्श नहीं दिया। इसके विपरीत कोमिनर्टन ने च्यांग के निर्देशानुसार सोवियत परामर्शदाताओं को भी वापिस बुला लिया। सोवियत संघ की यह नीति तब तक परिवर्तित नहीं हुई, जब तक कुओमिनतांग के एक वामपन्थी वांग चिंग-वी ने वूहान में एक क्रान्तिकारी सरकार गठित कर ली। परन्तु वूहान शासन में भी किसानों के विद्रोह को समर्थन नहीं दिया गया। क्रान्तिकारी सेना के सामन्तवादी अधिकारियों द्वारा किसानों के सामन्त-विरोधी गतिविधियों, विरोधों तथा विद्रोहों को समर्थन नहीं मिलना था। इस नीलि के कारण किसानों द्वारा प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता भी बन्द हो गयी, जिसने वूहान युग के आर्थिक आधार को पर्याप्त अशक्त कर दिया। वास्तव में चीन की क्रान्ति का दिशा-निर्देश सोवियत संघ की दूरी से सम्भव भी नहीं था। सोवियत संघ को चीन की वास्तविक स्थिति स्पष्ट नहीं थी, और वह केवल मार्क्सवाद के रूढ़िवादी पद्धति पर क्रान्ति को निर्देशित कर रहा था। इसके अतिरिक्त कोमिनर्टन की आन्तरिक स्थित भी पर्याप्त अस्पष्ट थी। स्टालिन द्वारा इस प्रकार अदूरदर्शी निर्णयों के पीछे यह कारण भी था कि उनका विरोधी ट्राटस्की उन नीतियाँ का कड़ा विरोध कर रहा था। स्टालिन के लिये ट्राटस्की की आलोजनाओं का प्रत्युत्तर चीन की क्रान्ति से था।

1927-1935 :

1927 में चीन के साम्यवादियों ने एक नवीन प्रयोग किया जो प्रत्येक दृष्टिकोण से अभूतपूर्व था। इस दल ने शहरी-मजदूरों, सर्वहारा तथा शहरों को त्याग कर पर्वतीय गांवों में शरण ले ली। चीन के दक्षिणी क्यॉगसी (ज्यॉगसी) क्षेत्र को मुख्यालय वनाकर साम्यवादियों ने अपनी कार्यवाहियों को प्रारम्भ किया। इन अविकसित, दुर्गम तथा पहाड़ी क्षेत्रों में साम्यवादियों ने किसानों तथा बुद्धिजीवियों की सहायता से क्रान्ति का प्रयास प्रारम्भ किया। हड़तालों तथा विद्रोहों के स्थान पर गुरिल्ला-संघर्षों को क्रान्ति का अस्त्र बनाया गया। ताईपिंग विद्रोहों के समय भी 'नीयन विद्रोहियों ने यही नीति अपनाई थी। इस प्रकार चीन की क्रान्ति का केन्द्रस्थल नगरों से हटकर दूरगामी बीहड़ ग्रामों तक जा पहुंचा।

साम्यवादियों द्वारा इस नीति परिवर्तत के पीछे दो तथ्यों नें मुख्य कार्य किया। माओं के क्रान्तिकारी चित्रपटल पर उभरने के पूर्व ही 'पेंग पाई' नामक एक अमीर सामन्त के पुत्र ने 'क्वांग तुंग' (ग्वानडुंग) प्रान्त में कृषक संस्था स्थापित कर हिंसक-कार्यवाहियां प्रारम्भ कर दीं थीं। 1927-28 में ही उन्होंने हाईफेंग तथा लूफेंग में सोवियत प्रभाव स्थापित कर लिया था। तैंतीस वर्षों की अल्पायु में ही वह कुओमिनतांग द्वारा गिरफ्तार कर मार डाला गया। दूसरी महत्वपूर्ण प्रेरणा 1926-27 के हूनान आन्दोलन से प्राप्त हुई। यह आन्दोलन 'हैल फेंग' (हाईफेंग तथा लूफेंग) आन्दोलनों' से अधिक प्रभावशाली तथा विस्तृत थी। इसके सदस्यों की संख्या भी 1926 के अन्त तक 20 लाख पहुँच चुकी थी। विशेषतया यह आन्दोलन पेंग पाई जैसे सामन्त द्वारा संचालित न होने से अधिक लोकप्रिय हुआ। हूनान का यह आन्दोलन पूर्णतया एक कृषक विद्रोह था। इस आन्दोलन की हिंसक प्रवृति तथा उग्रवादिता ने समस्त प्रान्त के सामन्तों को भयभीत कर दिया।

साम्यवादी दल के कृषक समिति का सदस्य माओ त्से-तुंग (माओ दजु-डूंग) इन आन्दोलनों से प्रभावित था। वह साम्यवादी दल के निर्देश पर इस आन्दोलन का अध्ययन करने के लिये हूनान गये। उन्होंने मार्च 1927 में एक रिपोर्ट भी बनाई। माओ की यह रिपोर्ट चीन के इतिहास का एक क्रान्तिकारी प्रलेख है। सम्भवतया यह माओ का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य था, जो उन्होंने अपने क्रान्तिकारी जीवन के प्रारम्भ में लिखा। इस दस्तावेज में उन्होंने ग्रामीण क्रान्ति के महत्व को स्पष्ट किया और यह भी कहा, कि चीन की क्रान्ति का अर्थ ही है--एक ग्रामीण क्रान्ति। उनके अनुसार क्रान्तिकारी आन्दोलन की

सर्वाधिक वास्तविक शक्ति वहाँ के गरीब किसानों में निहित थी। माओ की इस परिकल्पना ने साम्यवाद के रूढ़िवादी सिद्धान्तों को चीन के लिये अयोग्य सिद्ध कर दिया। इस आधार पर जिसने भी ग्रामीणों के महत्व को चुनौती देने का प्रयास किया, उसे प्रति क्रान्तिकारी समझा गया। चीन के साम्यवादी दल ने इस रिपोर्ट के प्रस्तावों को मान्यता नहीं दी, परन्तु इस रिपोर्ट के लेखक ने उनके निर्णयों का इन्तजार नहीं किया। उन्होंने सितम्बर, 1927 में पुनः वापस लौटकर कृषकों, खनिज मजदूरों तथा सैनिकों की सहायता से चाँग्सा नगर में एक विद्रोह को नेतृत्व प्रदान किया। इस विद्रोह को एक सप्ताह में ही दमन कर माओ को बन्दी बना लिया गया। उनको मृत्युदण्ड दिया गया परन्तु किसी प्रकार उन्होंने क्षमा, क्रय कर ली। च्याँग काई-शेक के आतंक काल के इस पत्र में क्रान्ति की समस्त सम्भावनायें समाप्त हो गई थी। विशेषतया हूनान में तो किसानों का नरसंहार ही हुआ था।

अक्टूबर, 1927 में माओ ने हूनान तथा क्यांग्सी प्रान्तों की सीमा पर 'चिगकाँगशान पर्वत' श्रेणियों में प्रथम 'ग्रामीण क्रान्तिकारी केन्द्र' की स्थापना की। कुछ महीनों के पश्चात हजारों पराजित सैनिक कुओमिनतांग के विद्रोही सैनिक, तथा अन्य क्रान्तिकारियों ने, माओ के साथ मिलकर लाल सेना का गठन किया। ये सभी साम्यवादी विचारधाराओं के प्रति समर्पित थे, और कुछ ही वर्षों में विश्व की सबसे बड़ी जनसंख्या को साम्यवाद से प्रभावित करने वाले थे। माओ द्वारा स्थापित यह क्रान्तिकारी केन्द्र चीन में कृषक क्रान्ति का प्रारम्भ था। इस क्रान्ति को नेतृत्व देने वाले साम्यवादियों ने कृषकों, ग्रामीण प्रशासकों तथा ग्रामीण-सैनिकों का कार्य करते हुये किसानों का विश्वास प्राप्त किया। धीरे-धीरे इन साम्यवादियों ने एक वृहद क्षेत्र पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। 1929 तक दक्षिण से उत्तर तक साम्यवादियों, लाल सैनिकों तथा माओ का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होने लगा।



अध्याय 3

क्रन्ति युग का द्वितीय चरण

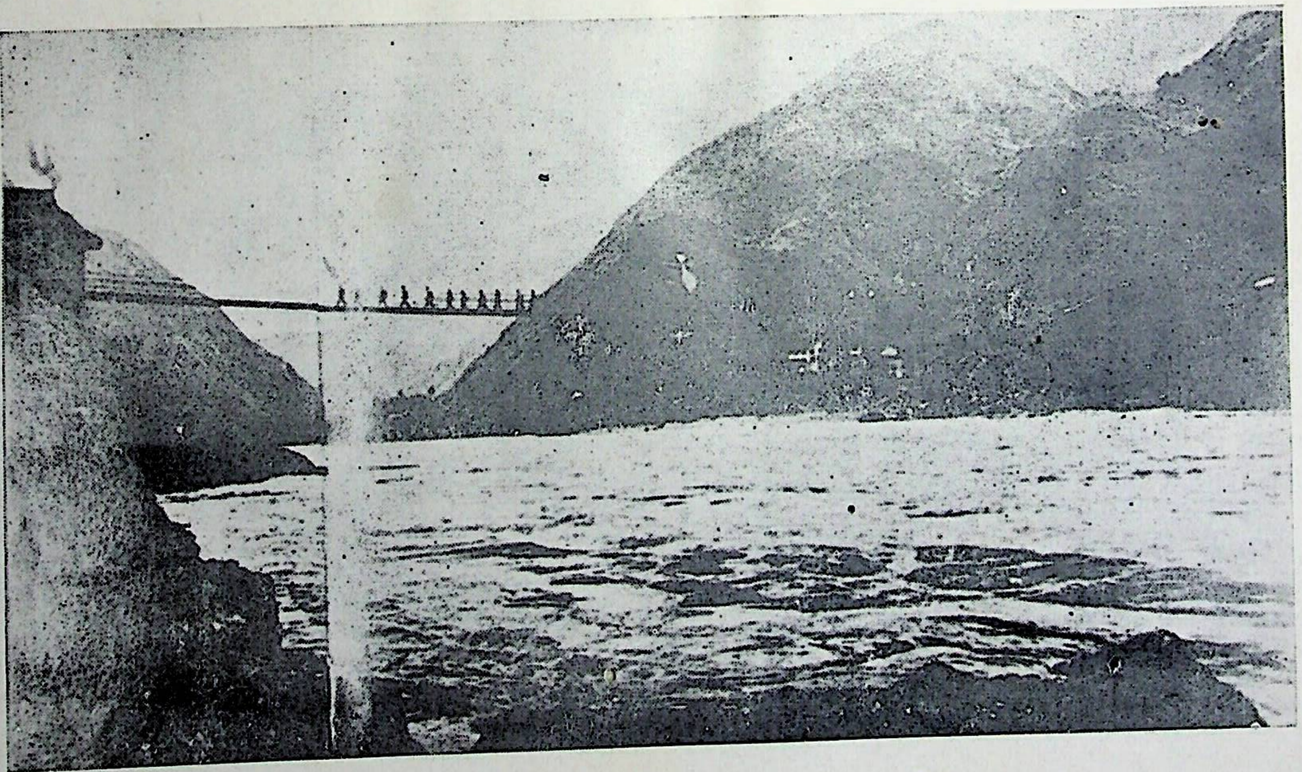
दीर्घ प्रयाण

चीन के क्रान्तिकारी इतिहास ने नवम्बर, 1931 में एक नवीन अध्याय में प्रवेश किया। माओ ने दक्षिणी क्यांग्सी के 'जूचिन' नगर को अपने नव-स्थापित 'चीनी सोवियत गणतन्त्र' की राजधानी घोषित कर दिया। वह स्वयं इस गणतन्त्र का संस्थापक अध्यक्ष था। इस समय साम्यवादी यांग्त्से प्रान्त में लगभग पन्द्रह अन्य क्रान्तिकारी केन्द्रों की स्थापना कर चुके थे। इस क्रान्तिकारी केन्द्रों के मुख्यालयों पर राष्ट्रवादियों ने पांच आक्रमण किये। प्रथम चार आक्रमणों को साम्यवादियों ने असफल कर दिया, परन्तु पांचवा आक्रमण अपेक्षाकृत अधिक सुनियोजित तथा शक्तिशाली था। इस आक्रमण ने राष्ट्रवादियों की सेना तथा शस्त्रास्त्र दोनों साम्यवादियों से कहीं बहुत अधिक थे। इस बार राष्ट्रवादियों ने अपनी नीतियाँ बदल दी थी। पूरे क्षेत्र को राष्ट्रवादी सेना ने चारों तरफ से घेर लिया था। उन्होंने साम्यवादियों की गतिशीलता तथा आर्थिक सहायता के सभी श्रोतों को बन्द कर दिया। इसी आक्रमण के फलस्वरूप चीन के 'इतिहास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना 'दीर्घ प्रयाण' का सूत्रपात हुआ। अक्टूबर 1933 के इस आक्रमण के ठीक एक वर्ष बाद 15 अक्टूबर 1934 को यह लम्बी यात्रा प्रारम्भ हुई जो 20 अक्टूबर 1935 को ठीक एक वर्ष पश्चात् समाप्त हुई।

वास्तव में साम्यवादियों के पास केवल दो रास्ते शेष रह गये थे। प्रथम, वहीं रुक कर राष्ट्रवादियों का सामना करना अथवा वहाँ से किसी प्रकार बचकर भाग निकलना। साम्यवादियों ने पहले सामना किया फिर भाग निकलने की नीति अपनायी। इस प्रकार यह दीर्घ प्रयाण एक प्रकार से पराजय तथा वापस लौटने की यात्रा थी। जब यह स्पष्ट हो गया कि वहीं रुककर राष्ट्रवादियों का सामना करने का अर्थ आत्महुति देना होगा—उन्होंने 15 अक्टूबर 1934 को अपनी सेना को दों भागों में विभक्त कर दिया। एक छोटे दल ने

राष्ट्रवादियों का सामना करना प्रारम्भ किया तथा उसी मध्य मुख्य दल ने अपेक्षाकृत कमजोर घेरे वाले क्षेत्र से निकलना प्रारम्भ कर दिया। यह यात्रा दक्षिण-पूर्वी क्षेत्रों से प्रारम्भ होकर पश्चिम उत्तरी क्षेत्रों में समाप्त हुई। जूचिन से प्रारम्भ यह यात्रा 10,000 कि० म० की यात्रा के पश्चात क्वेचाऊ-यूनान में समाप्त हुई। इस मध्य साम्यवादियों ने बड़ी-बड़ी नदियों को पार किया, पर्वत–श्रेणियों को विजित किया। हजारों की संख्या में लोग बीमारी, ठण्ड, भूख प्यास तथा संघर्षों में मारे गये। उन्हें न केवल कुओमिनतांग की सेना से संघर्ष करना पड़ा अपितु उन्हें स्थान-स्थान पर स्थानीय सामन्तों तथा भय-जनित कबीलों से भी लड़ना पड़ा। कुछ कबीलों ने इन्हें आक्रमणकारी समझ विषयुक्त तीरों का आहेर बनाया। प्रत्येक दूसरे दिन इन्हें कोई न कोई संघर्ष करना ही पड़ता था। इन 370 दिनों में 90,000 और 100,000 में से केवल 7,000–8,000 लोगों ने इस दीर्घ प्रयाण को पूर्ण किया। उत्तरी शेन्सी के अविकसित क्षेत्रों तक पहुंचने के तत्काल पश्चात नवीन सोवियत की स्थापना के साथ क्रान्तिकारी इतिहास का नया अध्याय प्रारम्भ हो गया।

इस पूरे क्याँगसी काल का महत्व केवल साम्यवादी कृषक सामरिक नीति में निहित नहीं था, परन्तु वास्तव में जो सामरिक अनुभव चीन के साम्यवादियों ने इस युग से प्राप्त किया, वहीं भविष्य में न केवल चीन बल्कि पूरे साम्यवादी विश्व के क्रान्तिकारी इतिहास का नीति निर्देशक तत्व बन गया। इसके अतिरिक्त साम्यवादियों का नितान्त व्यक्तिगत तथा स्वेच्छाचारी अनुभव भी उनके साथ था। उन्होंने न तो कोमिनर्टन से न ही साम्यवादी दल से निर्देश प्राप्त किये थे, वास्तव में माओ नवम्बर 1927 के हूनान विद्रोह के तत्काल पश्चात साम्यवादी दल के केन्द्रीय-समिति से निष्कासित किये जा चुके थे। इस मध्य साम्यवादी दल की शक्ति पर्याप्त क्षीण हो चुकी थी। 1927 की घटना के लिये चेन दू-श्यू को उत्तरदायी समझा गया। अगस्त 1, 1927 में कुओमिनतांग के वामपन्थियों ने नॉन-चाँग में एक असफल विद्रोह का प्रयास भी किया। दिसम्बर, 1927 में भी सोवियत संघ के निर्देश पर कैन्टन में एक विद्रोह का प्रयास भी किया गया, परन्तु वह भी असफल सिद्ध हुआ। इसी प्रकार 1930 में वामपन्थियों ने चाँग-शा (हूनान) नगर पर आक्रमण किया, परन्तु उनका यह प्रयास भी असफल सिद्ध हुआ था। फलस्वरूप 1932 तक केन्द्रीय समिति के लगभग सभी सदस्य जूचिन में चीनी सोवियत गणतन्त्र में सम्मिलित हो गये थे। सोवियत संघ की लगभग सभी नीतियां चीन में असफल सिद्ध हो गयी थीं। इसके विपरीत माओ ने अपनी सफलता सिद्ध कर, ग्रामीण क्रान्ति के अपने सिद्धान्त को, स्थापित कर लिया था। लम्बी यात्रा की समाप्ति के पश्चात माओ का



तातू सेतु : दीर्घ प्रयाण की महान सफलता का प्रतीक

साम्यवादी दल, सोवियत संघ के पश्चात् विश्व का द्वितीय वृहद साम्यवादी दल बन गया। इसके साथ ही साथ माओ न केवल चीन वरन् विश्व के एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति तथा साम्यवादी नेता बन गये। यद्यपि चीन के साम्यवादी दल की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो चुकी थी, इसका भविष्य माओ की सफलता व असफलता पर निर्भर करने लगा था। सफलता पर ही यह निर्भर था कि वह केवल कृषकों के नेता थे अथवा नागरिक श्रमिकों तथा सर्वहारा वर्ग का सहयोग भी उनको प्राप्त था? अपनी दीर्घ प्रयाण को प्रारम्भ करने तक माओ ने दोहरी स्थिति बनाये रखी। उन्होंने चाऊ इन-लाई (जो इन-लाई) तथा मास्को से लौटे युवा क्रान्तिकारी साम्यवादियों के विरोध को स्पष्ट चुनौती नहीं दी, परन्तु दीर्घ प्रयाण की समाप्ति के पश्चात यह स्थिति पूर्णतया स्पष्ट हो गयी। अतः माओ चीन के साम्यवादियों के एक मात्र नेता हो गये।

क्याँग्सी काल के पश्चात भी चीन का साम्यवादी दल पर्याप्त प्रभावशाली रहा इसका मुख्य कारण यही रहा कि क्याँग्सी के पश्चात द्वितीय विश्वयुद्ध में साम्यवादियों ने महत्वपूर्ण उपलब्धियां प्राप्त की। इन उपलब्धियों के साथ भी साम्यवादियों ने ग्रामीण जनता का शोषण तदनुसार निरन्तर बनाये रखा। साथ ही उन्होंने सामाजिक क्रान्ति के स्थान पर राष्ट्रवाद को प्रमुखता प्रदान की। 1927 में राष्ट्रवादियों तथा साम्यवादियों में विभाजन के पश्चात राष्ट्रवादी साम्राज्य विरोधियों तथा साम्यवादी साम्राज्य विरोधियों में जनता के नेतृत्व के लिये संघर्ष प्रारम्भ हो गया था। दोनों दल साम्राज्यवाद के विरोध में जनता का समर्थन प्राप्त करना चाहते थे, परन्तु दोनों के लक्ष्य पूर्णतया विरोधी थे। च्याँग काई-शेक के नेतृत्व में, राष्ट्रवादियों में पश्चिमी-शक्तियों के विरुद्ध चीन की ऐतिहासिक महानता, निरन्तरता तथा एकता के आधार पर, चीन की जनता का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास किया। वाह्य संकटों में चीन को सर्वाधिक भय जापान से था। 1920-1930 तथा 1931 के जापानी आक्रमणों की दृष्टि से राष्ट्रवादियों का दृष्टिकोण उचित था, किन्तु फिर भी राष्ट्रवादी असफल रहे। इसका मुख्य कारण उनके नेतृत्व की असमर्थता तथा श्रमिकों एवं सर्वहारा वर्ग पर राष्ट्रवाद निर्मित करने की चेष्टा थी। इसके विपरीत माओ की सफलता का मुख्य कारण उनका ग्रामीण जनआधार पर आश्रित होना था। माओ ने कृषकों को गुरिल्ला युद्ध में प्रशिक्षित कराया, ग्रामीण भूमि सुधार की दिशा में प्रयत्न किया तथा किसानों के कल्याण के लिये योजनायें बनाई। इस प्रकार के सम्मिलित प्रयासों के कारण जापानी आक्रमणकारियों को माओ के समर्थकों से अधिक हानि हुई, तथा चीन की जनता में माओ के प्रति निरन्तर आस्था में वृद्धि हुई। माओ ने सोवियत संघ के निर्देशन पर तथा

मार्क्स के सिद्धान्त दोनों से अलग हट कर अपनी नीतियां बनायी, तथा उन्हें कार्यरूप में परिणित कर एशिया में नये मार्क्सवाद की नींव रखी।

माओ के नेतृत्व में कृषकों की यह क्रान्ति "तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय" द्वारा सम्पादित की गई। इसके द्वारा चीन के दुर्गम तथा अपरिचित सोवियत क्षेत्रों में सामन्तवाद तथा भू-स्वामियों की समस्या का समाधान प्राप्त हुआ। सोवियत के नाम पर ही यह प्रक्रिया उत्तर तथा पश्चिमी क्षेत्रों में हजारों मील तक जारी रही। मार्क्स, एन्जेल्स, ट्राट्स्की तथा स्टालिन के अनुसार मार्क्सवाद, सिद्धान्त तथा प्रक्रिया दोनों में किसानों का विरोधी था। मार्क्सवाद उनके अनुसार, औद्योगीकरण तथा नागरीयकरण की सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति था। इसके साथ यह भी स्पष्ट हो गया था कि क्रान्ति रूढ़िवादी मार्क्सवाद से नेतृत्व प्राप्त करें अथवा न करें। परन्तु क्रांति निर्धन कृषक वर्ग पर अवश्य आश्रित थी। पूंजीवादी देशों में भी मजदूरों की स्थिति, मार्क्सवाद के सिद्धांतों का, निरूपण नहीं कर रही थी। वहाँ के मजदूर सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं कर रहे थे। उनका मार्ग भी क्रान्ति न होकर सुधार हो गया था. जबकि औद्योगिक पूर्व देशों में कृषकों की मनोवृति पूरी तरह क्रान्तिमय थी। चीनी क्रान्ति में कृषकों की आवश्यकता पर माओ की टिप्पणी तथा ल्यू शाओ-ची की यह टिप्पणी कि माओ ने मार्क्सवादको राष्ट्रीयकृत कर दिया था, इससे भी यही परिलक्षित था। युवा चीनी साम्यवादी इतिहासकारों ने ऐतिहासिक चीनी कृषक क्रांतियों की महिमा का वर्णन प्रारम्भ कर, सामन्तवादी चीन में कृषकों के एकताबद्ध प्रयास का अन्वेषण भी कर लिया था। नवीन विश्लेषण के आधार पर यह कहा गया, कि कृषक ऐतिहासिक आवश्यकताओं के आधार पर सामन्तवादी अथवा क्रान्तिकारी दोनों चरित्र अपना सकते हैं। अतएव मार्क्स का यह सिद्धान्त कि क्रान्ति के पूर्व कृषक वर्ग का समापन आवश्यक है, चीन में धीरे धीरे गलत सिद्ध होता गया।

राष्ट्रवाद और क्रान्ति

चीन की साम्यवादी क्रान्ति के लिये राष्ट्रवाद अर्थ शून्य हो चुका था। यद्यपि चीन का सम्पूर्ण आधुनिक इतिहास साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष का इतिहास रहा है, परन्तु 1949 की क्रान्ति के पश्चात राष्ट्रवाद की अर्थ शून्यता को बार-बार उद्घोषित किया गया। चीन का आधुनिक इतिहास विभिन्न वृहद् संघर्षों के पश्चात एक राष्ट्र निर्माण का इतिहास रहा है। इस प्रक्रिया में चीन-जापान संघर्ष 1937-45 के आठ वर्षों का अपना एक अलग ही

1935–49 के मध्य चीन

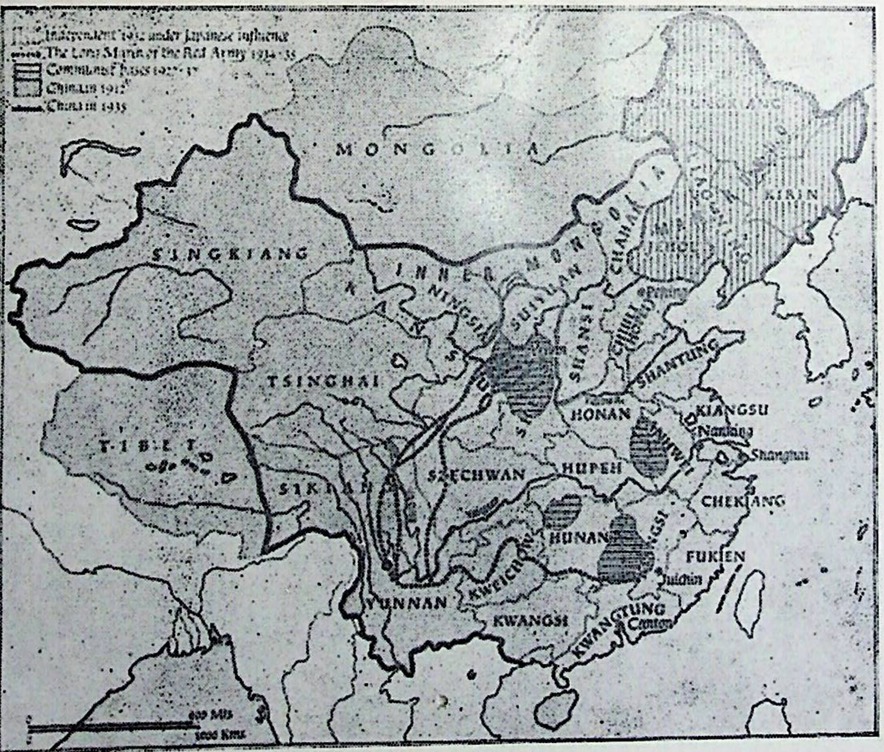
महत्व है। 1937 में जापानी आक्रमण साम्राज्यवाद के बहुत पहले से ही चीन पश्चिमी साम्राज्यवाद का शिकार बन चुका था। साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रवाद संघर्ष का वास्तविक युग 1930 के जापानी आक्रमणों के पश्चात ही स्पष्ट हुआ। वास्तव में निर्णायक अवसर पर चीन के अस्तित्व को पश्चिमी साम्राज्यवाद से नहीं, अपितु एशियाई साम्राज्यवाद से ही मुख्य संकट उत्पन्न हुआ। जापान ने सर्वप्रथम जनवरी, 1915 में युआन शीह-काई के सम्मुख एक इक्कीस सूत्रीय माँग पत्र रखा था।

इसका ध्येय चीन को जापान का अधीनस्थ राज्य बनाना था। इन माँगों के तत्काल पश्चात प्रथम विश्व-युद्ध के अवसर पर, जापान ने चेतावनी भी दी। 1915 के पश्चात जापानी साम्राज्यवाद विभिन्न प्रकारों से प्रकट हुआ। 1919 में शानतुंग पर अधिकार इसी का उदाहरण था। 1921-22 के 'वाशिंगटन सम्मेलन' के पश्चात जापान के साम्राज्यवादी प्रवृति में थोड़ा परिवर्तन आया, परन्तु 1928 के तदुपरांत जापान में पुनः नवीन उत्साह का संचार हुआ। जापानी आक्रमण का भय धीरे-धीरे बढ़ने लगा था। 1931 के पश्चात लगभग प्रत्येक वर्षों में चीन को जापानी आक्रमणों का सामना करना पड़ा। सितम्बर, 18, 1931 में जापान ने मुकदेन पर अधिकार कर जापानी अधीनस्थ राज्य माँचूक्वों को स्थापित कर लिया। जनवरी-मार्च, 1932 के मध्य शंघाई में एक अघोषित युद्ध भी हुआ तथा 1933 से 1935 के मध्य जापान ने माँचूक्वों को केन्द्र बनाकर पश्चिम तथा दक्षिण की तरफ बढ़ना प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि जापान की साम्राज्यवादी सेनायें चीन पर अपना प्रभुत्व बढ़ा रही थी, परन्तु च्यांग-काई-शेक सदैव इस समस्या को स्थगित करता रहा। उसने सीधे संघर्ष करने की अपेक्षा पीछे हटने की नीति को अपनाया। यह वही समय था जिस समय क्यॉंगसी सोवियत उन्मूलन अभियान चल रहा था। उसकी नीति थी कि सर्वप्रथम चीन को एकता के सूत्र में बाँध कर तदुपरान्त विदेशी आक्रमणों का सामना किया जाय। च्यॉंग काई-शेक के इस प्रकार की उपेक्षा पूर्ण नीति का जनता ने पूर्णतया विरोध प्रारम्भ किया। जुलाई 1937 तक जनमत पूरी तरह निर्मित हो चुका था, तथा चीनी राष्ट्र के निर्माण की भावना स्वामित्व प्राप्त कर चुकी थी। यह दोनों प्रक्रियायें एक दूसरे के समानान्तर तथा सापेक्ष विकसित हुई थी। चीनी जनमत का यह रूप मई चार आन्दोलन में स्पष्ट नहीं हुआ था। सैद्धान्तिक धारणाओं ने 1937 में राजनैतिक स्वरूप प्राप्त कर लिया था। चीन की जनता के समक्ष सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न जापान से चीन की राष्ट्रीयता की सुरक्षा करना हो चुका था।

मई चार आन्दोलन के पश्चात जापान का विरोध जापानी वस्तुओं के

बहिष्कार से प्रारम्भ हुआ था। चीन के व्यापारियों ने भी जापानी व्यापार का तिरस्कार किया, यद्यपि यह कार्य उन्होंने छात्रों के भयवश ही किया। जहाँ तक ग्रामीण अंचलों का प्रश्न था, यह भावना अभी वहाँ तक नहीं पहुँच पाई थी। चीनी-छात्रों का आन्दोलन एक राष्ट्रवादी आन्दोलन का रूप ले चुका था। 1931 के उत्तरार्द्ध में छात्रों ने नानकिंग जाने वाली ट्रेनों को रोकना, जापान विरोधी प्रदर्शन करना, राजधानी में सामरिक तैयारियाँ करना तथा जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करना प्रारम्भ कर दिया था। 1934 तक छात्र प्रदर्शनों की शक्ति संचित हो चुकी थी। 1936 के मई महीने में छात्रों ने एक 'राष्ट्रीय मुक्ति संगठन' का निर्माण कर शासन विरोधी तथा राष्ट्र प्रेमी आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया था। इस संस्था की अध्यक्षता सुन यात-सेन की पुत्री के हाथों में थी। चीन के प्रसिद्ध अधिवक्ता, पत्रकार तथा अध्यापक इस संस्था के सदस्य थे। उन्होंने गृह युद्ध बन्द कर जापान का सामना करने की मांग प्रारम्भ कर दी। गृह-युद्ध को बन्द करने का अर्थ था, साम्यवादियों तथा लालसेना के विरुद्ध, संघर्ष को समाप्त करना। इसी संस्था की माँगों के कारण तथा दीर्घ प्रयाण के पश्चात, साम्यवादी दल ने भी राष्ट्र विरोधी शत्रुओं का सामना करने के लिये सम्मिलित प्रयास की अपील की।

चीन के राष्ट्रवाद निर्माण की प्रक्रिया में सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना भी इसी काल में हुई। दिसम्बर 12, 1936 में च्याँग काई-शेक के ही एक सेना अधिकारी ने च्याँग का अपहरण कर लिया। च्याँग उस समय शेन्सी (शेन्शी) प्रान्त के सियान नामक स्थान की यात्रा पर जा रहे थे। इस घटना के महत्वपूर्ण होने का कारण केवल इतना था, कि जनरल च्याँग श्वे-ल्याँग नाम के इस सेनाधिकारी को शेन्सी प्रदेश से लाल सेना के प्रभाव को समाप्त करने के लिये भेजा गया था। च्याँग मंचूरिया का निवासी था, जहाँ जापान ने अधिकार कर रखा था। उसके विचार में जापान से संघर्ष अधिक महत्वपूर्ण था और एक चीनी का दूसरे चीनी से संघर्ष न्यायसंगत नहीं था, चाहे वे साम्यवादी ही क्यों न हो। च्याँग ने आठ माँगें रखी थी, उनमें सात वही थी, जो साम्यवादी दल ने घोषित की थी। अन्त में चाऊ एन-लाई के प्रयासों से च्याँग काई-शेक जब स्वतंत्र हुये, यह स्वीकार कर लिया गया था कि जापान का सम्मिलित सामना किया जायेगा। सियान की इस घटना के पश्चात गृह-युद्ध समाप्त हो गया तथा सितम्बर 1937 से चीनी प्रतिरोधी युद्ध प्रारम्भ हो गया। इस युद्ध के प्रारम्भ हो जाने के पश्चात च्याँग चीन के एक मात्र प्रमुख नेता बन गये। वह चीन के राष्ट्रीय आधार के जीवित प्रतीक के रूप में स्थापित हो गये।



1912 और 1937 के मध्य चीन

इस मानचित्र में जापानी प्रभाव, साम्यवाद और दीर्घ प्रयाण के मार्ग को दर्शाया गया है।

साम्यवाद और राष्ट्रवाद

1937 के इस युद्ध में जापान ने चीन के सभी महत्वपूर्ण स्थानों पर अधिकार कर लिया। परन्तु रूस में नेपोलियन की सेना की भांति जापान ने चीन के किसी भी विजित भाग पर अपना स्थायित्व स्थापित नहीं किया 1938 तक लगभग सभी बड़े बन्दरगाह, व्यापारिक केन्द्र तथा औद्योगिक नगरों पर जापान ने अधिकार कर लिया था परन्तु चीन के पास दो महत्वपूर्ण निधियाँ शेष थी। एक उसकी महान जनसंख्या एवं देश प्रेम की भावना, तथा दूसरी जापान के विरुद्ध विदेशी सहायता। उपरोक्त सहायता के पहुँचने के पूर्व तक चीन को प्रत्येक रूप में आत्मरक्षार्थ युद्धरत रहना अतिआवश्यक था। च्याँग काई-शेक ने इस अन्तराल के महत्व को समझ लिया था। इसी कारण उसने युद्धोमध्य 'समय अर्जन' नीति अपनाई। चीन ने दुर्गम स्थानों पर छिपकर युद्ध जारी रखने की घोषणा कर, अपनी नीति को कार्यरूप देने का प्रयास किया परन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूल 'गुरिल्ला युद्ध नीति' 'का परित्याग था।' वास्तव गुरिल्ला युद्ध का अर्थ ग्रामीणों के समर्थन के बिना असम्भव था। यह समर्थन सामन्तों तथा जमीदारों को नाराज किये बिना नहीं प्राप्त हो सकता था। इसीलिये च्याँग काई-शेक ने गुरिल्ला नीति को नहीं अपनाया। इसी आधार पर साम्यवादियों की नीति को भी समझा जा सकता है। उन्होंने गुरिल्ला युद्ध नीति को अपनाकर शेन्सी, होपी तथा शान्तुंग प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। साम्यवादियों की इस नीति ने उनको सर्वाधिक लाभ, पहुँचाया। जनवरी, 1938 में साम्यवादियों ने 'सीमा क्षेत्र शासन' की स्थापना कर ली। यही कारण था कि जब 1945 में जापानियों ने आत्मसमर्पण किया, तब साम्यवादियों के पास उत्तरी चीन में लगभग' '19 केन्द्रीय साम्यवादी आधार स्थल' थे। 1937 में लाल सेना की संख्या 80,000 थी जबकि 1945 में 9,00,000 सेना तथा 22 लाख सहायक सैनिक हो गये थे। 1937 में साम्यवादी दल को शेन्सी के केवल 15 लाख किसानों का समर्थन प्राप्त था और 1945 में 900 लाख कृषक वर्ग साम्यवादी शासन के अन्तर्गत थे। अतः साम्यवादियों ने सैद्धान्तिक रूप से गृह युद्ध तो जीत ही लिया था।

वास्तव में इस विजय का मुख्य कारण साम्यवादियों की नीतियों में निहित था। सर्वप्रथम, साम्यवादी दल को मान्यता प्राप्त हो चुकी थी, अतएव सम्मिलित प्रयास के आधार पर वह युद्ध जारी रख सकते थे। दूसरे उन्होंने सामाजिक क्रान्ति के अपने ध्येय को भविष्य के लिये छोड़ दिया। तीसरे उन्होंने कृषकों का समर्थन प्राप्त करने के लिये भूमि दर तथा ब्याज की दरों

को न्यून किया। अंत में, उत्तरी चीन में सामन्त वर्ग की संख्या कम होने से भी उनकी नीतियाँ सफल रहीं। कुछ प्रेक्षकों के अनुसार यह क्रांतिवादी नहीं, अपितु एक सुधारवादी नीति थी जिसने कृषकों को आकर्षित किया। माओ ने स्वयं को सुन यात-सेन का उत्तराधिकारी घोषित कर उनकी नीतियों में आस्था व्यक्त की, एवं कृषि क्रान्ति से अधिक 'राष्ट्र प्रेम प्रचार' ने कृषकों को आकर्षित किया। जापानियों की नृशंसता तथा अत्याचार से भी त्रस्त होकर किसानों ने लाल सेना की शरण में जाना अपेक्षाकृत अधिक उचित समझा। गुरिल्ला टुकड़ियों के चले जाने से किसानों के सुरक्षा की सम्भावनायें बढ़ जाती थी। जापानियों के प्रति घृणा ने राष्ट्रीय भावनाओं को आत्यधिक बल प्रदान किया। कुछ इतिहासकारों के अनुसार साम्यवादी क्रान्ति की सफलता का मुख्य कारण केवल किसानों की दुर्दशा ही नहीं थी, अपितु द्वितीय विश्वयुद्ध ने भी उन्हें सफल बनाने में यथासम्भव योगदान प्रदान किया। उनके अनुसार वह क्रान्ति सामाजिक अथवा आर्थिक क्रान्ति न होकर एक राजनैतिक क्रान्ति थी। विश्व युद्ध के कारण राष्ट्रीयता की भावना ने जन्म लिया, और साम्यवादियों ने स्वयं को राष्ट्रवादियों के रूप में प्रस्तुत किया। अतएव युद्ध के समय, साम्यवाद तथा राष्ट्रवाद में, विशेष भिन्नता नहीं रह गयी थी। इसके कारण भी किसानों ने साम्यवादियों का समर्थन किया।

यद्यपि च्याँग काई-शेक जापान के विरुद्ध साम्यवादियों के साथ सहयोग कर रहे थे, परन्तु वास्तव में वह साम्यवादियों के कटु विरोधी थे। इस युद्ध के मध्य ही यह स्पष्ट हो गया था, कि राष्ट्रवादियों तथा साम्यवादियों, में गृह युद्ध अवश्यसम्भावी था। राष्ट्रवादियों के साम्यवादी विरोधी प्रचार ने भी इस कटुता को द्विगुणित किया। जनवरी 1941 की नव चतुर्थ सैनिक दस्ते की घटना ने यह विभाजन पूर्णतया स्पष्ट कर दिया। इस घटना में कुओमिनतांग ने साम्यवादियों के 9000 उन सैनिकों को नष्ट कर दिया जो जापानियों के विरुद्ध लड़ने जा रहे थे। साम्यवादियों तथा राष्ट्रवादियों के इस पारस्पारिक संघर्ष के कारण जापानियों का विरोध अशक्त रहा। इसी कारण जापान ने उत्तरी चीन तथा चीन के अन्य महत्वपूर्ण स्थानों पर सरलता से अधिकार भी कर लिया। जापान के विरुद्ध विदेशी सहायता भी नहीं प्राप्त हो रही थी। ब्रिटेन तथा फ्रांस जर्मनी के साथ युद्ध में व्यस्त थे। अमरीका स्वयं की स्थिति के प्रति निश्चित नहीं कर पाया था, परन्तु 7 दिसम्बर 1941 में जब जापान ने पर्लहार्बर पर आक्रमण कर दिया, अमरींका ने चीन-जापान युद्ध को सहायता प्रदान करना त्वरित कर दिया। अमरीका ने राष्ट्रवादियों को समर्थन प्रदान कर च्याँग की स्थिति को सशक्त कर दिया। अमरीका के समक्ष एक



च्याङ्ग काइ शेक
युवा सैनिक अधिकारी के रूप में

यह भी प्रश्न उन्पन्न हो गया कि क्या वह चीनी साम्यवादियों को भी समर्थन तथा सहायता प्रदान करें ? जनरल स्टिलवेल ने च्याँग सरकार की तीव्र आलोचना की तथा इस बात की वकालत की, कि साम्यवादियों को भी समर्थन तथा सहयोग प्रदान किया जाय। परन्तु अमरीका की सरकार ने केवल च्याँग के राष्ट्रवादियों को ही अपना सहयोग प्रदान किया। यद्यपि पश्चिमी राष्ट्रों तथा विशेषतया अमरीका की सरकार ने च्याँग को समर्थन प्रदान किया परन्तु चीन की जनता में राष्ट्रवाद का प्रतीक माओ तथा साम्यवादी ही बन सके। इसका मुख्य कारण था, कि साम्यवादियों ने जनता का पूर्ण समर्थन एवं सहयोग लेकर, राष्ट्रीय संघर्ष किया था। इसके विपरीत राष्ट्रवादियों ने जनमानस को जोड़ने का कभी प्रयास नहीं किया। राष्ट्रवादियों के विपरीत साम्यवादियों का अनुशासन, त्याग तथा बलिदान कहीं बहुत अधिक महान था। यद्यपि इस विश्व-युद्ध में साम्यवादियों ने गृह-युद्धको लगभग जीत लिया, परन्तु माओ को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में नहीं आमंत्रित किया गया। 1943 के कैरो सम्मेलन में च्याँग ही राष्ट्रपति रुजवेल्ट तथा ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चर्चिल से मिले। 1945 में जापान के आत्म समर्पण के पश्चात स्थिति और भी जटिल हो गयी।

जापान के आत्मसमर्पण के पूर्व से ही साम्यवादियों तथा राष्ट्रवादियों में जापानी अधिकृत भूमि तथा हथियारों पर अधिकार के लिये प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हो गयी थी। जिस दिन जापान ने आत्मसमर्पण किया, उसी दिन मित्र राष्ट्रों के सर्वोच्च्र सेनाधिकारी डगलस मैकार्थर ने च्यांग काई-शेक को जापानी आत्मसमर्पण का अधिकार प्रदान कर दिया। साथ ही साथ 'चीन सोवियत संघ संधि' ने भी राष्ट्रवादी सरकार को मान्यता प्रदान कर दी। आत्मसमर्पण के तीन माह पश्चात चीन के महत्वपूर्ण स्थानों पर विशेषतया पीकिंग से केन्टन के मध्य सभी तटीय क्षेत्रों पर राष्ट्रवादियों का अधिकार हो गया था परन्तु चीन की दीवार के दूसरी ओर जापानियों ने सोवियत संघ की सेनाओं के सामने आत्मसमर्पण कर दिया था। समस्त मंचूरिया पर सोवियत संघ का अधिकार हो चुका था। सोवियत संघ ने लिन पियाओं के गुरिल्लाओं को मंचूरिया पर अधिकार करने से नहीं रोका। मंचूरिया में साम्यवादियों के लगभग 13,000 सैनिकों की उपस्थिति के कारण भी पूर्वोत्तर क्षेत्रों में साम्यवादियों की स्थित अधिक सुदृढ़ थी।

माओ ने तत्कालीन परिस्थतियों में च्याँग के सम्मुख "प्रजातांत्रिक-सम्मिलित सरकार" बनाने का प्रस्ताव रक्खा। वास्तव में माओ के सम्मुख कोई और मार्ग शेष भी नहीं था। वह जानते थे, कि चीन की जनता तत्काल इस शक्ति के विरुद्ध हो जायेगी, जो शान्ति के विरोधी सिद्ध होंगे। कुओमिन-

तांग के नेताओं के सामने भी यही स्थिति थी। उन्हें भी चीन के शान्तिप्रिय जनमत का आभास था। साथ ही अमरीका ने भी च्याँग को यही परामर्श दिया। क्योंकि शीत युद्ध के प्रारम्भ हो जाने के कारण अमरीका को यह भय हो जाना स्वाभाविक था, कि यदि राष्ट्रवादी, साम्यवादियों के प्रस्ताव को नहीं मानेंगे, तो हो सकता था कि सोवियत संघ साम्यवादियों को खुला समर्थन देने लगता। अतएव माओ-च्याँग वार्ता 11 अक्टूबर 1945 को एक सम्मिलित विज्ञप्ति से हो गयी। परन्तु अमरींका गम्भीर विषयों को केवल चीनी निर्णय पर छोड़ने के पक्ष में नहीं था। अतएव दिसम्बर 1945 में जनरल जार्ज सी मार्शल को चीन की समस्या के समाधान हेतु भेजा गया। जनवरी 1946 में परिणाम-स्वरूप एक विराम संधि की घोषणा हो गयी, तथा राष्ट्रवादी, साम्यवादी और अमरीकन प्रतिनिधियों की दो समितियां समस्त समस्याओं के शान्तिपूर्वक निर्धारण के लिये बना दी गयी। परन्तु 1947 तक मार्शल योजना असफल हो गयी। इसका मुख्य कारण अमरीका द्वारा राष्ट्रवादियों को विशेष सहायता प्रदान करना था। साम्यवादियों ने इस अन्तर्विरोध को स्पष्ट करते हुये अमरीकियों से चीन के आन्तरिक समस्याओं में हस्तक्षेप करने से मना कर दिया। इसके साथ ही अमरीका च्याँग काई-शेक को सुधारवादी योजनाओं के लिये प्रेरित कर रहा था, जबकि साम्यवादियों के अनुसार क्रान्तिकारी परिवर्तन आवश्यक थे। इस मतभेद के पीछे दूसरा महत्वपूर्ण कारण राष्ट्रवादियों तथा साम्यवादियों की आपसी कटुता भी उत्तरदायी थी। गृह-युद्ध की सम्भावनायें स्पष्ट हो चुकी थी, और दोनों दल इस बात को जानते थे। तत्कालीन परिस्थितियों में विदेशी साम्राज्यवाद का भय समाप्त हो चुका था। इसके विपरीत राजनैतिक सत्ता का संघर्ष ही मुख्य ध्येय बन गया था। एक दल अपनी सत्ता को बनाये रखना चाहता था, दूसरा सत्ता प्राप्त करना चाहता था। एक दल सुधार का पक्ष-पाती था, दूसरा क्रान्ति का। एक ग्रामों तथा दुर्गम चीनी क्षेत्रों में सामाजिक क्रान्ति का स्वप्न देख रहा था, तो दूसरा इस क्रान्ति से भी चीन को दूर रखना चाहता था।

समझौते की समस्त सम्भावनाओं के समाप्त हो जाने के पश्चात जुलाई, 1946 में साम्यवादियों ने 'पीपूल्स लिबरेशन आर्मी' का संगठन कर, गृह युद्ध को प्रारम्भ कर दिया। प्रारम्भ में राष्ट्रवादियों ने सैद्धांतिक आधार पर प्रारम्भिक विजय प्राप्त कर ली थी, परन्तु वास्तव में यह साम्यवादियों की एक सामरिक नीति थी। साम्यवादियों ने रुककरयुद्धकरने की नीति नहीं अपनायी। उन्होंने धीरे-धीरे नगरों पर अपना अधिकार छोड़कर, दुर्गम ग्रामों में मोर्चा बना लिया। राष्ट्रवादी सेनायें आगे बढ़ते बढ़ते बिखरने लगी, तथा सहायता

केन्द्रों से दूर आ गयी। तत्पश्चात साम्यवादियों ने मध्य 1947 में वास्तविक युद्ध प्रारम्भ किया। साम्यवादियों ने राष्ट्रवादियों के आपसी सामरिक सम्बन्धों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इसके लिये उन्होंने रेल लाइनों तथा अन्य यातायात के साधनों तथा मार्गों पर अधिकार कर लिया। 1947 के अन्त तक साम्यवादियों ने होपीं तथा शेन्सी के प्रान्तों पर पूर्ण अधिकार कर लिया था। माओ के अनुसार चीनी जनता का क्रांतिकारी संघर्ष अपने इतिहास के महत्वपूर्ण मोड़ तक पहुंच चुका था। गृह युद्ध का अन्तिम महत्वपूर्ण युद्ध 1948 में हुआ। गाँवों में बनाये गये युद्ध क्षेत्रों से साम्यवादी सीधे लाभान्वित हुये। अप्रैल में लालसेना ने येनान तथा तत्काल पश्चात होनान, लोयांग तथा काई-फंग पर अधिकार कर लिया। सितम्बर में शातुंग की राजधानी जीनान पर भी अधिकार हो गया। जून के काईफंग युद्ध से यह स्पष्ट हो गया कि साम्य-वादी अन्तिम संघर्ष लड़ने को उत्सुक थे, जिसके कारण उन्होंने बड़े शहरों पर भी आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। सितम्बर 1948 में लिनपियाओ ने मंचूरिया पर आक्रमण कर दो माह में ही पूरे मंचूरिया पर अधिकार कर लिया। इन संवर्षों में लालसेना ने पर्याप्त सैनिकों तथा अस्त्रों पर अधिकार कर लिया था, फिर भी राष्ट्रवादियों की शक्ति अभी कम नहीं हुई थी।

नवम्बर 1948 से जनवरी 1949 के मध्य साम्यवादियों के हवाई अभियान ने राष्ट्रवादियों की अन्तिम आशाओं पर भी तुषारापात कर दिया। यह युद्ध च्याँग का अन्तिम प्रयास था। नानकिंग से 100 मील उत्तर स्थित सूचाऊ नगर के वाह्य मैदान में लड़े गये इस युद्ध में च्याँग ने इक्यावन सैनिक डिविजनों का प्रयोग किया, पर चेन आई-तथा 'एक नेत्रीय ड्रैगन' ल्यू पो-चेन ने राष्ट्रवादियों को पराजित कर दिया। बाद में च्याँग ने 4,60,000 राष्ट्रवादियों तथा अमरीकी शस्त्रों की सहायता से साम्यवादियों को घेरने का प्रयास किया पर राष्ट्रवादी सेनाधिकारी तू यू-मिंग ने आत्मसमर्पण कर दिया। च्याँग ने 1 जनवरी 1949 को ब्रिटेन, फ्रांस, अमरीका तथा सोवियत संघ से सहायता की मांग की, परन्तु चारों ओर से निराश होकर, उन्हें जनवरी 21, 1949 को चीनी गणतन्त्र के राष्ट्रपति पद से त्याग-पत्र देना पड़ा। इस मध्य लालसेना ने 15 जनवरी को टिनस्टिन (त्येनजिन) तथा 23 जनवरी को पीकिंग (त्रेंजिग) पर अधिकार कर लिया था। अन्त में लालसेना ने 23 अप्रैल को नानकिंग पर भी अधिकार कर लिया। च्याँग ने ताईवॉन में शरण प्राप्त की, तथा माओ ने पीकिंग (बेंजिग) में 1 अक्टूबर 1949 को चीन के जनगणतन्त्र की घोषणा कर दी।



8

अध्याय 4

चीन में साम्यवाद

चीन में साम्यवाद

1. अक्तूबर 1949 को माओ त्से-तुंग (माओ दुजे-डूंग) ने पीकिंग (बेजिंग) में 'मेनलैण्ड चायना' की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। यद्यपि अमरीका च्याँग काई-शेक की ताईवाँन (वह द्वीप जिसको पुर्तगाली फारमूसा कहते थे। स्थित शरणार्थी सरकार को स्वीकृति प्रदान करता रहा, साम्यवादी सरकार ने सशक्त 'चीनी जन गणतन्त्र' का संगठन आरम्भ कर दिया।

अक्टूबर, 1949 तक माओ त्से-तुंग के सत्ता में आने तक साम्यवादियों ने चीन के विस्तृत क्षेत्रों तथा वृहद जनसंख्या पर प्रशासन का पूरा अनुभव प्राप्त कर लिया था। लेनिन तथा बॉल्शेविक दल को भी रूस की क्रान्ति के पूर्व यह अनुभव नहीं प्राप्त हुआ था। यद्यपि 1917 की क्रान्ति के कुछ ही वर्षों में सोवियत संघ ने विकान्मुख योजनाओं का क्रियान्वयन कर लिया था। सोवियत संघ की इस उपलब्धि का लाभ भी साम्यवादी चीन ने उठाया। चीन में इस बात की सम्भावनायें भी पर्याप्त शेष थी कि वह सोवियत संघ की असफल नीतियों को प्रयोग में न लाये। कृषि के क्षेत्र में सोवियत संघ की असफलताओं से शिक्षा ग्रहण करने के लिये चीन के पास पर्याप्त समय था। प्रारम्भ में चीन की योजनायें रूसी नीतियों से प्रभावित रहीं, पर बाद में चीन के साम्यवादियों ने चीन की आवश्यकतानुसार नयी नीतियों का प्रयोग तथा विकास किया। आज भी चीन में यह प्रयास जारी है।

क्रान्ति के पश्चात चीन की तत्कालिक समस्या उसके विकास की नहीं वरन् सम्पूर्ण चीन के अस्तित्व की सुरक्षा का प्रश्न था। अठारह वर्षों के संघर्ष, गृह-युद्ध, भ्रष्ट प्रशासन तथा नैतिक मूल्यों के अवमूल्यन ने चीन की स्थिति को दयनीय बना दिया था। सोवियत संघ ने उसके उद्योगों को जड़ मूल से उखाड़ फेका था, वहाँ का आर्थिक जनजीवन नष्ट हो गया था और



माओ दुजे डुङ्ग



महंगाई अपनी चरम सीमा पर थी। सर्वप्रथम साम्यवादियों ने महँगाई पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयास किया। इसके लिये उन्होंने तत्कालीन मुद्रा के स्थान पर नवीन मुद्रा का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे साम्यवादियों ने पुर्न निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी।

1953 में चीन की पंचवर्षीय योजनाओं से चीन में नवयुग का प्रारम्भ हुआ। इसी मध्य सरकार ने देशी तथा विदेशी वैधता प्राप्त करने के लिये भी प्रयास किये। माओ ने चीन के जन-लोकतांत्रिक अधिनायकवाद को नवीन लोकतंत्र के विस्तार की सज्ञा दी। यद्यपि इस नव लोकतन्त्र का नेतृत्व तथा निर्देशन साम्यवादी दल द्वारा निर्देशित था, वास्तविक सरकार तथा मन्त्रालय में जनता के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व निहित था। क्रान्ति का समर्थन करने वालों के साथ-साथ राष्ट्रीय पूंजीपतियों का सहयोग-भी लिया गया। प्रारम्भ में चीन के उन पूंजीपतियों का सहयोग भी लिया गया, जिन्होंने जापान के साम्राज्यवाद तथा कुओमिनतांग का विरोध किया था। क्योंकि उनके पास साम्यवादी प्रशासकों की तुलना में आर्थिक प्रशासन का अधिक अनुभव था। यह तथ्य स्पष्ट था कि अन्तिम आर्थिक स्वरूप समाजवादी ही होगा, परन्तु यह लक्ष्य जापान तथा कुओमिनतांग के विरुद्ध संगठित होने वाले पूंजीपति वर्ग के सहयोग से धीरे-धीरे तथा शांति पूर्ण रूप से प्राप्त किया. जाने की संभावना व्यक्त की गई। प्रारम्भिक प्रशासन जन-मुक्ति सेना के हाथों में ही था। चीनी जनता के राजनैतिक परामर्शदात्री सभाओं ने, जिनमें साम्यवादी दल की संख्या अल्पमत में थी, उसने भी छोटी-छोटी योजनायें बनायी। परिणामस्वरूप सरकार ने जनता में वैधता प्राप्त की। वैधता के लिये चीन की सरकार ने विदेशों की मान्यतायें तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त करने का प्रयास भीं किया।

चीन का साम्यवादी दल चीन के सामाजिक-स्वरूप में मौलिक परिवर्तन के लिये वचनबद्ध था। 1949 की क्रान्ति और 1911 की क्रान्ति में यही मूलभूत अंतर था। परम्परावादी चीन ने कन्फ्यूशियनवाद, के आधार पर परिवारको केन्द्रीय राजनैतिकसत्ता को मान्यतादी। पारम्परिक मूल्योंके अनुसार परिवार का मुखिया महत्वपूर्ण व्यक्ति होता था, क्योंकि वह विवाह, विरासत, शिक्षा, भूमि तथा फसलों की देखरेख के लिये उत्तरदायी होता था। इस कारण वह परिवार के सभीं अन्य सदस्यों को प्रभावित करता था। फलस्वरूप मुखिया गाँव, कुल, वंश तथा परिवार तन्त्रों के आपसी संबंध के कारण सामाजिक अवर स्तर पर महत्वपूर्ण राजनैतिक शक्ति का द्योतक होता था। यद्यपि गणतंत्रकालीन शासन में विवाह, प्रथाओं, तथा परिवारिक संरचनाओं में

परिवर्तन आया था, परन्तु क्रान्ति तथा गृह युद्ध की अराजक स्थिति से पुनः जनता में परिवार, कुल तथा गाँवों के परम्परावादी स्वरूप के प्रति आस्था बढ़ गयी थी।

भूमि सुधार की व्यवस्था ने चीन के परम्परावादी परिवार तन्त्र पर आधारित आर्थिकरूप को छिन्न-भिन्न कर दिया। परिवार के मुखिया को अपनी भूमि अपने परिवार के सदस्यों में विरासत के रूप में बांटने से रोक दिया गया। भूमिविहीन कृषकों के पुत्रों को यह अधिकार प्राप्त हो गया कि वह सामन्तों तथा जमीदारों की भूमि को पाने के लिये आवेदन कर सकें। इस प्रकार भूमिविहीन कृषक भी स्वतंत्र रूप से खेती कर सकें। उन पर पैतृक अधिकार पूर्णतया समाप्त हो गया। इसी प्रकार विवाह अधिनियम भी पर्याप्त क्रान्तिकारी था। विवाह का अधिकार दो परिवारों के पैतृक सीमाओं से निकालकर वैयक्तिक अधिकारों के अन्तर्गत कर दिया गया। विवाह करने के इच्छुक युवक-युवती पारिवारिक तथा कुलजनित बन्धनों से मुक्त होकर स्वंय निर्णय ले सकते थे। सरकार उनका पंजीकरण कर विवाह को मान्यता प्रदान करने लगी। माओं स्वंय इस प्रकार के व्यवस्थित विवाह परम्परा का शिकार हो चुका था। इसीलिये वह विवाह संस्था में सुधारों के लिये कटिबद्ध था। जिस प्रकार भूमि-सुधार अधिनियम ने भूमिहीन कृषकों के भूमि की भूख को समाप्त किया, विवाह अधिनियम ने युवकों तथा युवतियों को व्यक्तिगत स्तर पर निर्णय लेने का अधिकार देकर समाज में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन का सूत्रपात किया।

चीन की भूमि समस्या के लिये साम्यवादी दल केवल भूमि सुधार अधिनियम तक ही सीमित नहीं रहा। साम्यवादियों ने गरीब कृषकों का समर्थन भी प्राप्त किया। इसके साथ ही साथ सामाजिक न्याय की दिशा में भी साम्यवादियों ने यथोचित कदम उठाये। परन्तु समस्या की जटिलता कहीं अधिक गम्भीर थी। वास्तव में जो भूमि, किसानों में बाँटी गयी थी, वह उनकी आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त नहीं थी। भूमि सुधार अधिनियम के पश्चात् भी छोटे और बड़े कृषकों में अन्तर पूरी तरह समाप्त नहीं हो पाया था। केवल वही बड़े किसान अपनी आवश्यकता की पूर्ति तथा शहरों की आवश्यकता के लिये उत्पादन की क्षमता रखते थे, जिनके पास पर्याप्त भूमि थी। इसके विपरीत नयी जमीनों के मालिक लघु कृषक स्वंय अपनी ही आवश्यकता पूर्ण करने में असमर्थ थे। सोवियत संघ ने इस समस्या के समाधान के लिये निजी सम्पत्ति की व्यवस्था समाप्त कर ऐसे भूमि सुधार अधिनियमों को लागू किया था, जिसके कारण भूस्वामियों ने प्रतिक्रान्तिकारी शक्तियों का साथ देना प्रारम्भ कर दिया था। अतएव माओ ने सोवियत नीति को अपनाना

उचित नहीं समझा । फलस्वरूप छोटे किसानों ने, अपनी भूमि बड़े कृषकों को बेचनी प्रारम्भ कर दी । जिसका परिणाम यह हुआ भूस्वामियों तथा लघु कृषकों में अन्तर वृद्धि होती गयी । लघु कृषक पुनः कृषक मजदूर होने लगे । इस प्रकार के परिणाम क्रान्ति के लिये पराजय के समान थे । परन्तु इसके पूर्व ही चीन में लघु कृषकों की सम्पत्ति पर आधारित, चीनी कृषक समाज को, परिवर्तन कर सामाजिक स्वामित्व पर आधारित सामूहिक प्रणाली में परिवर्तन कर दिया गया ।

भूमि सुधार की इस दूसरी प्रणाली ने चीन में कृषक क्रान्ति का सूत्रपात किया । इस प्रणाली के अन्तर्गत सहयोगी समुदायों का विकास हुआ । यह प्रणाली संघर्ष काल में येनान तथा अन्य स्वतंत्र क्षेत्रों में साम्यवादियों द्वारा विकसित सहकारी प्रणाली पर आधारित थी । यद्यपि यह प्रणाली नितान्त नवीन प्रयोग के समान थी परन्तु वास्तव में परम्परावादी चीन में ग्रामीण सहयोग प्रणाली से इसमें काफी सादृश्यता थी । प्रत्येक परिवार के हृष्ट-पुष्ट योग्य कर्मियों को अपने खेतों में काम समाप्त हो जाने के पश्चात् दल बनाकर विभिन्न उत्पादनों तथा रचनात्मक कार्यों के लिये प्रेरित किया गया । उनमें दलीय भावना को विकसित कर ग्रामीण क्षेत्रों के विकास, उत्पादन तथा पैदावार के लिये प्रोत्साहित किया गया । इन कार्यों को श्रमिकों के रूप में न समझकर सामूहिक रूप से करने के लिये कहा गया । चीन के ग्रामीण समाज में परिवर्तन के लिये स्वंय सेवा की भावना ही मुख्य नियम बन गयी । क्योंकि चीन की वृहद जनसंख्या किसी भी अन्य तरीकों तथा आर्थिक प्रणालियों के द्वारा विकसित नहीं हो सकती थी । माओ ने किसी भी सामाजिक परिवर्तन को करने के पूर्व, सर्वप्रथम परिवर्तन को हृदय-मस्तिष्क से स्वीकार करने पर, अधिक जोर दिया । परन्तु यह कार्य उतना आसान नहीं था । चीन की उस वृहद जनसंख्या को स्वंय सेवा, सहकारिता तथा अनुशासन की शिक्षा देने के लिये एक बहुत बड़े संगठन की आवश्यकता थी । इन साम्यवादी दल के सदस्यों में भी अशिक्षित सैनिक कृषकों की बहुलता थी, जो स्वंय राजनैतिक शिक्षा से वंचित थे । 1954 तक प्रयासों के पश्चात् साम्यवादी दल की सदस्यता में सदस्यों की और वृद्धि होने से, इस सामाजिक क्रान्तिकारी परिवर्तन की दर तीव्र होने लगी । सामूहीकरण की इस नीति से शनैः-शनैः चीन का परम्परागत समाज विकास की दिशा में अग्रसारित होने लगा । भूमि, पशुधन तथा अन्य निजी सम्पत्ति स्व स्वामित्व के स्थान पर सामूहिक सम्पत्ति बनते गये । प्रारम्भ में यह सामूहिक सम्पत्ति की सीमा चालीस-चालीस परिवारों की सीमा तक ही सीमित थी ।

इन कृषि उत्पादक सहकारिताओं ने धीरे-धीरे चीन की सम्पूर्ण ग्रामीण समाज को समाविष्ट कर लिया। कृषि जनित भूमि में सहकारी स्तर पर सामूहिक खेती प्रारम्भ हो गयी। एक 'समिति उपज तथा फसलों के सम्बन्ध में निर्णय लेती थी। इस प्रकार की प्रणाली से उत्पादन, आमदनी तथा टैक्स निर्धारण एवं वसूली में भी आसानी होने लगी। व्यक्तिगत स्तर पर किये गये श्रम से उत्पादन का विभाजन करने की व्यवस्था की गयी। इस प्रकार की प्रणाली एक सर्वथा नवीन प्रणालीं थी। सोवियत संघ में भी इस प्रकार की सामूहिक खेती का प्रयास नहीं किया गया था। चीन की इस सामूहिक खेती प्रणाली से खेती के तकनीकीकरण में आसानी हुई, जबकि सोवियतसंघ में तकनीकीकरण, सामूहिकीकरण से पहले प्रयुक्त की गयी थी। चीन में यन्त्रों तथा तकनीक की आपूर्ति सम्भव भी नहीं थी, न ही निकट भविष्य में इसकी कोई सम्भावना ही थी। माओ के अनुसार, केवल सामूहिक श्रम से उत्पन्न अनुशासन तथा जीवन पद्धति से ही, वास्तविक समाजवाद का निकट आगमन सम्भव था।

1958 में कृषि उत्पादक सहकारिताओं ने बड़े-बड़े ग्रामीण जनसमुदायों का रूप ग्रहण कर लिया। ये जन समुदाय स्वयं में पूर्ण स्वावलम्बी बन गये। इन समुदायों ने उद्योग, कृषि, शिक्षा, स्थानीय प्रशासन तथा स्थानीय सुरक्षा दलों को विकसित कर किसानों में साम्यवादी समाज के निर्माण की सम्भावनाओं को बढ़ा दिया। यह आशा कि जाने लगी कि ये जन समुदाय भविष्य में साम्यवादी समाज के मूलभूत आधार रहेंगे। तदुपरान्त समाजवादी समाज का सिद्धांत प्रत्येक व्यक्ति के क्षमतानुसार एवं प्रत्येक व्यक्ति को उसके कार्यानुसार और आवश्यकतानुसार होगा।

सोवियत संघ, शीत-युद्ध एवं चीन की राजनैतिक अर्थ व्यवस्था

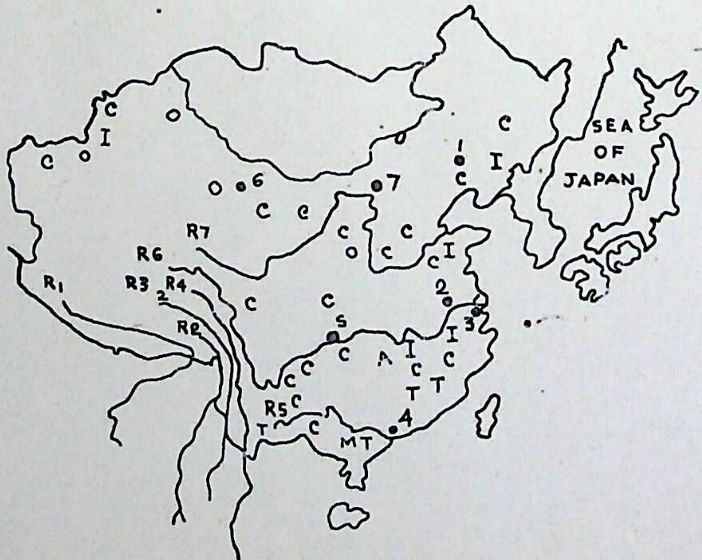
सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के प्रश्न पर साम्यवादी दल के पास अपने अनुभवों की पर्याप्त न्यूनता थी। चीन के पास सोवियत संघ की नीतियों तथा प्रणालियों को मानने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं था। स्टालिन स्वयं भी यही चाहता था कि, विश्व में सभी समाजवादी देश, सोवियत संघ की नीतियों को ही अपनायें। यद्यपि सोवियत संघ का प्रभाव चीन पर इतना स्पष्ट नहीं था, जितना पूर्वी यूरोप के देशों पर, फिर भी चीन की आर्थिक व्यवस्था में सोवियत संघ की आर्थिक व्यवस्था से काफी सादृश्यता थी। सोवियत संघ की तकनीकी तथा आर्थिक सहायताओं से भी चीन की आर्थिक व्यवस्था प्रभावित

MINERAL RESOURCES OF CHINA

R_ RIVER
R1_ BRAHMAPUTRA
R2_ IRRAWADDY
R3_ SALWEEN
R4_ MEKONG
R5_ SI
R6_ YANGTZE
R7_ HWANG HO

MINERALS:

C _ COAL
I _ IRON ORE
O - OIL
T - TIN
C - COPPER
M - MANGANESE



T _ TUNGSTEN
A _ ANTIMONY
o - CITIES
1 - BEIJING
2 - NANKING
3 - SHANGHAI
4 - CANTON
5 - CHUNKING
6 - YUMEN
7 - PAOTOW

थी। साथ ही साथ चीन के योजना आयोग के सदस्य भी सोवियत प्रणाली से प्रर्याप्त प्रभावित थे। काओ-कांग उनमें प्रमुख था। प्रारम्भिक योजनाओं में, लघु उद्योगों तथा कृषि के स्थान पर, बड़े उद्योगों को प्रोत्साहन देने की नीतियां बनायी गयीं। परन्तु यह योजना 1956 तक केवल एक वर्ष ही साम्यवादी दल में माओ के विरोध तथा आलोचना के उपरान्त कार्यान्वित रह सकी। साम्यवादी दल में माओ के विरोध तथा आलोचना के उपरान्त भी उनकी नीतियों के प्रति साम्यवादियों में पर्याप्त निष्ठा थी। जहाँ तक काओ-कांग का प्रश्न था, वह अपने परामर्शदाता सोवियत पुलिस प्रमुख बेरिया के पतन के पश्चात निष्कासित कर दिया गया।

सोवियत तथा देशी नीतियों के समिश्रण से चीन में समाजवाद के विकास की सम्भावनायें अपेक्षाकृत बहुत कम थी। क्योंकि चीन को अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में अपने अस्तित्व को भी बनाये रखना था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा शीत युद्ध ने चीन की आन्तरिक नीतियों को पर्याप्त प्रभावित किया। माओ के अनुसार चीन को केवल एक ही शक्ति पर विश्वास करना होगा। इसका अर्थ था केवल सोवियत संघ पर विश्वास करना होगा। फलस्वरूप 'चीन ने पश्चिमी राष्ट्रों' तथा 'तृतीय विश्वयुद्ध' के राष्ट्रों से सहयोग का कोई प्रयास नहीं किया। 1950 में कोरिया के युद्ध से यह स्थिति और अधिक स्पष्ट हो गयी। इस युद्ध में चीन की भागीदारी, संयुक्त राष्ट्र में उसकी सदस्यता को चुनौती तथा संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा आर्थिक अवरोध, से चीन अधिक से अधिक रूस पर अवलम्बित होता गया। पश्चिमी राष्ट्रों तथा उसको तकनीकी ज्ञान न देने के कारण भी वह तकनीक के क्षेत्र में अधिक स्वालम्बन की दिशा में अग्रसरित हुआ।

शीत युद्ध तथा कोरिया संघर्ष ने चीन की आन्तरिक नीतियों को भी प्रभावित किया। चीन के वह व्यापारी जो चीन से भाग जाने को उत्सुक थे, वहीं रुक कर अपने व्यापार करते रहे। 1949 की क्रान्ति के पश्चात भी चीन की नयी सरकार ने उद्योगों के निजी क्षेत्र को समाप्त करने की दिशा में कोई कार्यवाही नहीं की। इसके विपरीत विदेशी उद्योगों पर अधिकार प्राप्त करने के पश्चात साम्यवादी उनके पुर्ननिर्माण में व्यस्त हो गये। इसके साथ ही साथ बुद्धिजीवियों के अनुसार चीन को उन उद्योगपतियों के अनुभवों की आवश्यकता थी। अतएव नयी सरकार तथा मन्त्रालयों में भी उनको कुछ स्थान प्राप्त हो गये। परन्तु संयुक्त राज्य अमरीका तथा राष्ट्रवादियों के आक्रमणों के सम्भावित संकटों, तथा जापान, फिलीपाइन्स, ताईवॉन, थाईलैंड तथा पूर्वीपाकिस्तान (अब बाँगला देश) के सामरिक केन्द्रों की स्थापना पर साम्यवादियों ने गैर

दलीय लोगों की निष्ठा पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया। फलस्वरूप साम्यवादियों ने भ्रष्टाचार, प्रतिक्रान्तिकारियों, प्रशासकों तथा राष्ट्रीय पूंजीपतियों के विरुद्ध एक तीव्र अभियान प्रारम्भ कर दिया।

कोरिया संघर्ष के पश्चात साम्यवादियों ने आन्तरिक तथा विदेशी दोनों मामलों में अपेक्षाकृत अधिक उग्रवादी दृष्टिकोण अपनाना प्रारम्भ कर दिया। सितम्बर 1954 में क्रान्तिकारी प्रशासन, सैनिक तथा -असैनिक दोनों ने, नागरिक सरकार तथा संवैधानिक अधिकारों की दिशा में प्रगति प्रारम्भ कर दी। सर्वोच्च लोकप्रिय समिति, राष्ट्रीय जन कांग्रेस के चुनाव सम्पादित किये गये। कांग्रेस ने राज्य कार्यकारिणी समिति का संगठन प्रधानमन्त्री चाऊ एन-लाई (जो·एन-लाई)के नेतृत्व में प्रारम्भ कर दिया। प्रान्तीय, नगर तथा जिले स्तर पर भी लोकप्रिय समितियों के चुनाव सम्पन्न कराये गये। सितम्बर 1956 में साम्यवादियों ने स्वयं को पूर्णरूपेण गठित कर लिया।

अब पुनः समाजवाद की दिशा में प्रगति का प्रश्न सम्मुख था। प्रथम पंच वर्षीय योजना अपने लक्ष्यों को लगभग प्राप्त कर चुकी थी। साम्यवादियों के समक्ष फिर एक बार नियन्त्रित सामाजिक परिवर्तन की दिशा में नया पग उठाने लेने का समय आ गया था। साम्यवादियों में आन्तरिक विरोध की समस्या विशेष चिन्तनीय नहीं थी। प्रमुख साम्यवादी नेताओं के अनुसार परनियन्त्रित, योजनाबद्ध विकास के वर्गों के मध्य पारस्परिक वैमनस्य को समाप्त किया जा सकता था। पुनः एक बार सोवियत संघ के विकासोन्मुख प्रणालियों पर ध्यान दिया गया।

परन्तु माओ त्से-तुंग ने पचासवें दशक के मध्य में सोवियत संघ पर अंध विश्वास करना बन्द कर दिया। उसे स्तालिन के उत्तराधिकारियों की क्षमताओं में विश्वास नहीं था। साथ ही साथ वह सोवियत संघ की नीतियों, प्रणालियों, को चीन के लिये उपयुक्त नहीं समझता था। विदेश नीति में मतभेद तथा 1956 के सोवियत संघ साम्यवादी दल के कांग्रेस में स्तालिन की कटु आलोचनाओं के कारण माओ परोक्ष रूप से ख्रुश्चेव का कटु विरोधी हो गया था। उसने कहा कि यद्यपि चीन स्तालिन की गलत नीतियों से परिचित हैं एवं उसको चीन ने स्वयं भुगता भी है, फिर भी चीन, स्तालिन के ऐतिहासिक योगदानों, योग्यताओं तथा उसकी समाजवादी नीतियों को पूर्णतया अस्वीकार नहीं कर सकता। वह एकाएक स्तालित के शक्तिशाली प्रबन्ध व्यवस्था को नर्म करने के पक्ष में नहीं था। हंगरी की क्रान्ति ने भी माओ के सिद्धांतों को दृढ़ किया। साथ ही साथ माओं सोवियत संघ में विकसित होने वाली पूंजीपति प्रवृत्तियों के भी विरुद्ध था वह चीन में इस प्रकार के समाज की संरचना

नहीं करना चाहता था सोवियत संघ तथा चीन की आन्तरिक स्थितियों में भी पर्याप्त अन्तर था। सोवियत संघ एक औद्योगिक राष्ट्र के रूप में प्रतिस्थापित था, चीन में उद्योगीकरण अभी प्रारम्भ भी नहीं हुआ था। दोनों की जनसंख्याओं में भी जमीन आसमान का अंतर था। इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुये माओ ने अप्रैल 1956 में "दस महान सम्बन्धों" पर एक भाषण दिया, जो निम्नलिखित हैं:—

1. बड़े उद्योगों की तुलना में कृषि को वरीयता प्रदान करना।
2. देशीय उद्योगों की अपेक्षा तटीय उद्योगों को विकसित करना।
3. सुरक्षा साधनों की तुलना में रचनात्मक अर्थ व्यवस्था को वरीयता देना।
4. राज्य साधनों की अपेक्षा उत्पादन इकाइयों को अधिक महत्व देना।
5. योजना तंत्र को विकेन्द्रित करना।
6. जातीयताओं तथा अल्पमतों को प्रोत्साहन देना।
7. दलीय प्रशासन को दो तिहाई से न्यून कर देना।
8. प्रति क्रांतिकारियों को पुर्नशिक्षण देने के लिये कृषि सहकारिताओं में प्रेषिण करना।
9. जनता को क्रान्ति के लिये अनुमति देना, विद्रोह का अधिकार देना।
10. चीन की जनता में आत्मविश्वास का वर्धन करना तथा सामन्तवाद की उपेक्षा करना।

माओ ने सर्वप्रथम राष्ट्रीय पूंजी को महत्व प्रदान करते हुये लघु उद्योगों को प्रोत्साहन देना आवश्यक समझा। क्योंकि ये उद्योग कृषि पर निर्भर होते थे। उन्होंने स्थानीय-निकायों, स्थानीय इकाईयों तथा स्थानीय प्रशासन पर भी बल दिया। इन सभी नीतियों ने 1958 में "महान अग्रवर्ती प्लुति (ग्रेट लीप फारवर्ड)" की आर्थिक नीतियों का निर्माण किया। 1958-62 की द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के लिये चीन को पूर्ण आशा थी कि सोवियत संघ अपनी सहायता जारी रखेगा परन्तु सोवियत संघ की नयी मित्रता की नीति ने चीन को यथोचित सहायता से वंचित कर दिया। सोवियत संघ ने भारत, मिस्र तथा हिन्देशिया को आर्थिक सहायता प्रारम्भ कर चीन की आवश्यकता को न्यूनतम महत्व प्रदान किया। फलस्वरूप चीन में एक नवीन आर्थिक नीति की आवश्यकता प्रबल हो गई।



अध्याय 5

महान अग्रवर्ती प्लुति (ग्रेट लीप फारवर्ड)

महान प्लुति (ग्रेट लीप)

बीसवीं शताब्दी के मध्य में हुई कृषि सफलता ने साम्यवादियों को 'समुदाय-संगठन' की ध्वनि से सचेत किया। समुदायों की स्थापना समूहीकरण की अन्योनतम उपलब्धि के समान थी। फलस्वरूप चीन के निवासियों को अधिक श्रम तथा अधिक समय तक कार्य करने के लिये प्रेरित किया गया। इस प्रेरणा का चर्मोत्कर्ष 'महान प्लुति' (ग्रेट लीप) में निहित था एक आधुनिक चीन के निर्माण की दिशा में प्रगति के लिये ही माओ ने यह निर्देश दिया था। माओ ने साम्राज्यवाद, निर्धनता तथा रुग्णता से सुरक्षा के लिये ही इस दूरदर्शी नीति को अपनाया। लाखों की संख्या में नगरों से श्रमिक, सुदूर ग्रामों में समुदायों के संगठन के लिये प्रेषित किये गये। महान् प्लुति की इस नीति द्वारा माओ ने चीन में उपलब्ध श्रम की अधिकता पर बल दिया। माओ के अनुसार क्रांतियुग में चीन को जनता द्वारा दिया गया योगदान, यदि पुनः प्राप्त किया जा सकता, तो इस बात की पूरी सम्भावना थी, कि आने वाले पन्द्रह वर्षों में चीन की आंथिक स्थित ब्रिटेन से भी अधिक सुदृढ़ हो सकती थी। इसी आधार पर 1958-59 में माओ ने "महान प्लुति (ग्रेट लीप)" की आधार शिला रखी। यह एक प्रकार से औद्योगीकरण के शास्त्रीय अवधारणाओं, तथा प्रशासनीकरण के विरुद्ध वामवादी क्रांति की दिशा में प्रथम प्रयास था।

माओ की इस नीति का मुख्य ध्येय उत्पादन में तीव्रता लाना था, परन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उन्होंने गम्भीर वैचारिकता की प्रेरक शक्ति का आश्रय लिया। विकेन्द्रित प्रशासनिक तन्त्र तथा समुदायों की उच्च स्तरीय स्वावलम्बन को माओ ने यन्त्र सदृश प्रयोग किया। मूलरूप से उत्पादन के असीमित वृद्धि को जनता की भागीदारी में व्यापक वृद्धि कर, प्राप्त करने का प्रयास किया गया। इन समस्त नीतियों के लिये आवश्यक था कि

श्रमिकों के आह्वान के साथ-साथ, समुदायों तथा कृषि जनित सहकारिताओं में, बचत को भी अपना लक्ष्य बनाया जाय। इस महान प्लुति (ग्रेटलीप) का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष जन-समुदायों की स्थापना करना था। यद्यपि चीन की अधिकतम भूमि का समूहीकरण प्रारम्भ में ही हो चुका था, परन्तु ये समुदाय प्रारम्भिक सहकारिताओं से भिन्न थे। वास्तव में इन समुदायों में सर्वतोन्मुखी विकास की योजना निहित थी। केवल कृषि में विकास के अतिरिक्त, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन को विकसित करने की, योजना, ही मुख्यतः महान प्लुति की अन्तिम उपलब्धि मानी गयी। ये समुदाय तत्कालीन सहकारिताओं की अपेक्षा बड़े थे। लगभग 2,40,000 सहकारिताओं को मिलाकर केवल 24,000 समुदायों की स्थापना की गयी। यद्यपि प्रारम्भ में समुदाय बहुत अधिक न थे परन्तु बाद में समुदाय छोटे होते गये क्योंकि आरम्भ में इन समुदायों की संख्या लगभग 74,000 तक पहुँच गयी थी, तत्पश्चात् ये केवल 50,000 तक ही सीमित रह गये।

इसके साथ ही साथ महान प्लुति को सफल बनाने के लिये यह आवश्यक था कि श्रम, त्याग तथा कृषि में लागत को महत्व प्रदान किया जाये। यह भी आवश्यक था, कि प्रथम पंचवर्षीय योजना में लागू तकनीयता के विरुद्ध, साम्यवादिता को प्राथमिकता दी जाये। यद्यपि अन्ततोगत्वा महान प्लुति को पश्चिमी राष्ट्रों ने एक असफल नीति घोषित कर दिया, तथापि बिना गूढ़ विश्लेषण किये, इस प्रकार की आलोचना अर्थहीन है। यह आवश्यक है कि इस नीति की उपलब्धियों को निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाये।

अक्टूबर, 1957 से सितम्बर 1958 के मध्य ही सिंचाई तथा बाढ़ नियन्त्रण के क्षेत्र में चीन ने महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त कर ली थीं। एक वर्ष में ही भूमि का एक बृहत भाग सिंचाई की सुविधाओं के कारण खेती के योग्य हो गया। भूमिहीन कृषक श्रमिकों को राज्य ने प्रेरित कर, स्थानीय क्षेत्रों में श्रम करने के योग्य बना दिया। इन समुदायों ने कृषि तथा लघु उद्योगों में अन्यनतम सम्बन्ध स्थापित कर दिया। लघु उद्योगों में कृषि योग्य आवश्यक उपकरणों, खाद, कीटनाशक दवाओं तथा मशीनों के द्वारा कृषि जनित उत्पादन में भी वृद्धि की। इस प्रकार कृषि ने भोज्य पदार्थ तथा कच्चे माल की पूर्ति की। जिन क्षेत्रों में लोहे तथा कोयले की खानें उपलब्ध थी, उन सभी क्षेत्रों ने क्षेत्रीय स्वावलम्बन को प्राप्त कर लिया। इस प्रकार के क्षेत्रीय स्वावलम्बन से यातायात के व्यय में भारी कमी हुई। तदनुसार चीन की आर्थिक प्रगति को एक तीव्र त्वरण मिलने से ग्रामीण क्षेत्रों की जनता को अत्यधिक राहत प्राप्त हुई। इसके कारण नगरों की जनसँख्या में भी उस गति से वृद्धि नहीं हुई जिस गति

से सम्भवतया ग्रामीण जनता के नगरों की ओर पलायन से, हो जाती हैं। लघु उद्योगों के विकास के कारण राज्य का निर्माण व्यय भी अपेक्षाकृत कम हुआ, क्योंकि लघु उद्योगों में कम लागत आती थी। परन्तु इसके विपरीत उत्पादन में कई गुना वृद्धि होने लगी।

यद्यपि इन लाभों से चीन की ग्रामीण जनता अत्यन्त लाभान्वित हुई, परन्तु इन नीतियों में कुछ मूलभूत त्रुटियाँ भी थी। सर्वाधिक महत्वपूर्ण त्रुटि इस सीमा तक श्रमिकों को प्रेरित करना था। दूसरी त्रुटि बिना चीन की भौगोलिकता को ध्यान में रखते हुये, अधिक से अधिक नहरों का निर्माण किया जाना था। 1958 में कोयले तथा लोहे का उत्पादन अत्यधिक था, परन्तु 1959 में ही इस उत्पादन क्षमता में अवरोध उत्पन्न हो गया। 1960 तक उपभोक्ता वस्तुओं, कृषि पदार्थों तथा पूंजीगत वस्तुओं के विकास की दर न्यून हो गयी। 1960 तथा 1961 में प्रतिकूल मौसम के कारण भी कृषि उत्पादन में पर्याप्त कमी आ गयी। धीरे-धीरे यह आर्थिक संकट समस्त नीतियों के संकट का कारण बनती गयी। फलस्वरूप माओ तथा सोवियत समर्थक नेतृत्व वर्ग, के मध्य मतभेद बढ़ने लगे। चीन के तत्कालीन रक्षामन्त्री पेंगते-हुआई और माओ के मध्य मतभेद सर्वाधिक चर्चित मतभेद रहे हैं। इस प्रकार माओ की यह आर्थिक नीति एक पूर्ण असफल नीति सिद्ध हो गयी। यद्यपि इस महान प्लुति के लक्ष्यों को नहीं प्राप्त किया जा सका, परन्तु किसी भी प्रकार से यह नीति पूर्ण असफल नींति नहीं थी वास्तव में इसकी असफलता का मुख्य कारण नीतियों के निर्माण तथा कार्यान्वियन में अधीरता थी। इसके अतिरिक्त इसकी असफलता में प्रतिकूल मौसम का भी मुख्य योगदान था। बाढ़ एवं दुर्भिक्षों के प्रकोप ने चीन की तत्कालीन अंकुरित होती हुई कृषक क्रान्ति को पूर्णतया नष्ट कर दिया। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है, कि कोरिया के युद्ध तथा भोज्य पदार्थों की पूर्ति में अभाव के कारण, छठें दशक का प्रारम्भ ही नैतिक अवमूल्यन से हुआ। साथ ही जहाँ दल तथा पी. एल. ए. (प्यूपिल्स लिबरेशन आर्मी) के उच्चाधिकारियों को महान प्लुति की सफलता व असफलता से विशेष अन्तर नहीं था। इसके विपरीत अवर स्तर के कार्यकर्ताओं के लिये, महान प्लुति के द्वारा अधिक लाभ व सुरक्षा की आशा थी। फलस्वरूप उन कार्यकर्ताओं ने इस नीति की सफलता के लिये जनता पर अनावश्यक बल प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि भय था कि केन्द्रीय सत्ता उन्हीं को कृषि क्रान्ति की असफलता का उत्तरदायी समझेगी। परिणामस्वरूप साम्यवादी दल से लोगों ने पृथक होना प्रारम्भ कर दिया। कृषक बहुल पी.एल.ए. ने इस समस्या का समस्त उत्तरदायित्व केन्द्रीय समिति पर डाल

दिया। समुदाय बिखंडित होने लगे, और लोग पुनः व्यक्तिगत कृषि की ओर आर्कषित होने लगे।

माओ ने अगस्त 1959 में पेंगते-हुआई को पी. एल. ए. की अध्यक्षता से हटाकर लिन पियाओ को अध्यक्ष बना दिया। वास्तव में चीन की तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में वह एकता नहीं उत्पन्न हो पायी थी, जिसकी आशा 1956 में सम्भावित थी। 1957 में माओ ने स्वयं यह स्वीकार किया था कि वर्ग-संघर्ष अभी समाप्त नहीं हुआ है। उनके अनुसार वर्ग संघर्ष का चरित्र विरोधात्मक नहीं रह गया था, एवं उसका समाधान शान्तिपूर्वक रूप से भीं सम्भव था। इसी आधार पर माओ ने "शत पुष्प अभियान" के अन्तर्गत, दल तथा आम जनता के मध्य की दूरी को समाप्त करने के लिये, उन सभी को आर्थिक, प्रशासनिक एवं राजनैतिक सत्ताधारियों की आलोचना करने हेतु स्वतन्त्रता प्रदान कर दी। परिणामस्वरूप बुद्धिजीवियों कीं आलोचना की विषाक्तता ने सामाजिक द्वन्द को स्पष्ट करना प्रारम्भ कर दिया। माओ ने दल के दक्षिणपन्थी तत्वों, तथा विरोधी मतानुयायिओं के उन्मूलन के लिये, एक अभियान प्रारम्भ कर दिया। अतएवं सैद्धान्तिक पक्ष की वृद्धि के साथ-साथ "महान प्लुति" (ग्रेट लीप) का मार्ग प्रशस्त हो सका था। परन्तु जैसा कि हम अवलोकन कर चुके हैं कि बिना बल प्रयोग के "महान प्लुति" की सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन क्षमता अनुपयुक्त सिद्ध हो गयी थी। बुद्धि-जीवियों ने इसे नाटकों, कहानियों तथा लेखों के माध्यम से आलोचित किया। फलस्वरूप माओ ने कुछ राजनैतिक छूटों के द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में 'आंशिक मुक्त बाजार अर्थ व्यवस्था' की आज्ञा पुनः प्रदान कर दी। उत्पादन तथा कृषक सहकारिताओं के लिये इतना करना आवश्यक हो चुका था। चीन पुनः प्रशासकों के हस्तगत हो गया, तथा महान प्लुति की अवधारणायें धूमिल पड़ने लगी। सितम्बर 1962 के केन्द्रिय समिति में माओ ने दल को पुनः सचेत किया, कि वे वर्ग संघर्ष को न भूले। एक समाजवादी शिक्षा अभियान का प्रारम्भ किया गया, जिसका लक्ष्य सोवियत रूस के समान, चीन में भी 'पूंजीवाद वृद्धि' को चुनौती देना था।

चीन के सामाजिक द्वन्द का परावर्तन साम्यवादी दल में स्पष्ट परि-लक्षित होने लगा था। महान प्लुति की नीतियों से चीनी साम्यवादी दल का प्रशासनिक वर्ग अत्यधिक चिंतित था, परन्तु माओ को अपनी नीतियों में अपार विश्वास था। वह इसकी असफलता के लिये "उपक्रम (तैयारी) क्षीणता" को उत्तरदायी समझते थे। प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण की नीति के कारण केन्द्रीय प्रशासकों का स्थानान्तरण सम्भव नहीं हो सका था। उन सभी

ने वर्षों एक ही पद पर कार्य करते हुये असीमित राजकीय अधिकार, तथा नवीन आस्थाओं को प्राप्त कर लिया था। उदाहरण स्वरूप जब एक प्रान्त जखवान के दल अध्यक्ष ली चुंग-युआन को केन्द्र ने एक राजनैतिक अभियान प्रारम्भ करने का निर्देश दिया। इस पर ली ने आलोचनात्मक टिप्पणी करते हुए कहा कि खाद एकत्रित करने का अभियान, राजनैतिक अभियान से अधिक आवश्यक था, तथा फसलें खाद की सहायता से उत्पन्न होंगी न कि राजनीति के द्वारा। माओ को यह विश्वास हो गया था कि दल की उत्तरादायिता पूर्णतया समाप्त हो गयी थी। माओ ने दल के प्रशासनिक वर्ग के विकल्प रूप में पी. एल. ए. पर अधिक ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया। माओ युद्ध के समय ध्वज के मूल्यों का महत्व समझते थे। उनके निर्देशानुसार लिन पियाओ पी. एल. ए. के मनोबल उत्साह वर्धन में लगे गये।

"महान प्लुति" की असफलता के पश्चात 1961 से 1965 के मध्य चीन की आर्थिक नीति को "नवीन आर्थिक नीति" के रूप में जाना जाता है इस नीति के अन्तर्गत चीन की अर्थ व्यवस्था, स्थाईकरण की नीति के प्रभाव में रही। कृषि को प्राथमिकता प्रदान की गई, श्रमिक प्रेरक तथा लाभ की नीति औद्यौगिक योजना में पुनः प्रारम्भ की गयी। इस नीति को सम्बद्ध करने का मुख्य लक्ष्य आर्थिक स्वावलम्बन को प्राप्त करना था। वास्तव में यह नीति, 1960 में सोवियत संघ की सहायता बन्द हो जाने के कारण, निरन्तर सूखा पड़ने के कारण तथा लागत पूँजी की कमी के कारण अपनायी गयी। इस नीति का तत्कालीन प्रभाव खाद्य उत्पादन में वृद्धि, कृषि के लिये आवश्यक आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति, तेल तथा पेट्रोल के उद्योगों में पूर्ण आत्म निर्भरता तथा संतुलित औद्योगिक विकास के रूप में सम्मुख आया। 1963 में कृषि उत्पादन पुनः 1957 के स्तर तक पहुँच गया। 1965 में चीन की राष्ट्रीय आय वृद्धि पुन: 1958 के उच्चतम शिखर तक पहुँच गई। श्रमिक आह्वान तथा औद्योगिक स्वरूप को नवीनीकृत किया गया। लोहे तथा इस्पात के उद्योगों के स्थान पर लघु उद्योगों तथा रासायनिक उर्वरों के उत्पादन पर अधिक ध्यान दिया गया। यद्यपि पूर्ति के लक्ष्यों को तो प्राप्त कर लिया गया, परन्तु नवीन आर्थिक नीति द्वारा प्राप्त की गयी इस उपलब्धि की कीमत वामपन्थ से सैद्धांतिक मतभेद के रूप में प्रदान करनी पड़ी। उद्योगों के क्षेत्र में, अध्यक्ष ल्यूशाओ-ची एक 70 (सत्तर) सूत्रीय घोषणा पत्र को लागू करने में प्रयासरत थे। फलस्वरूप प्रबन्धकों की शक्तियों में पर्याप्त वृद्धि हुई, उद्योगों में लाभ अधिक प्राप्त होने लगा तथा श्रमिकों की मजदूरी, बोनस तथा अन्य लाभों में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी थी। समुदायों में निजी-भूमि पर

स्वामित्व बढ़ने लगा तथा कृषि मूल्यों तथा अन्य मण्डी शक्तियों के कारण कृषि उत्पादन में भी वृद्धि दृष्टिगोचर होने लगी। इस नीति की स्थानीय तथा केन्द्रीय दोनों स्तरों पर आलोचनायें हुई। मनोबल प्रेरणा की प्राथमिकता को अस्थाई रूप से वर्तमान समय के लिये स्थगित कर दिया गया था।

1964 तक इस नवीन नीति पर राजनैतिक मतभेद स्पष्ट होने लगा। 1962 में माओ ने वैसे भी "वर्ग-संघर्ष को कभी न भूलों" का आह्वान किया। माओ ने गांवों में समाजवाद शिक्षण अभियान को प्रारम्भ कर दिया। इसके साथ ही साथ माओ ने 1964 में "उदाहरणों से सीखने", तथा प्रेरणा लेने का आह्वान किया। उनका मुख्य उद्देश्य तसाई ब्रिगेड के कृषकों (समुदाय का एक उप विभाजन) तथा उत्तर पूर्वी चीन के एक तेलकूप के औद्योगिक श्रमिकों की उत्पादन क्षमता से प्रेरणा लेने की ओर था। वास्तव में 1960 से 1965 के मध्य प्रबन्धकीय तकनीकों के विरुद्ध सिद्धांतों के विस्तार के महत्व के प्रश्न का समाधान हो सका था। इन दो अवधारणाओं पर वैचारिक संघर्ष चलता रहा। चीन के प्रमुख राजनैतिक चिन्तकों तथा नीति-निर्धारकों ने भौतिक प्रेरणाओं पर अत्यधिक ध्यान देने का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। उनके मतानुसार अस्थाई आर्थिक स्थायित्व को पुनः प्राप्त कर लेने के पश्चात निजी उपभोग के आधार पर चीनी जनता को बेहतर जीवन प्रदान करने का कोई औचित्य नहीं था। उन्होंने तकनीकियों, प्रशासकों तथा सैद्धांतिकों एवं नीति-निर्देशकों के हाथ में, एक औद्योगिक समाज के विकास की नीति का कड़ा विरोध किया। फलत: नवीन आर्थिक नीति संक्रमणकाल में ही समाप्त कर दी गयी। इस नीति को समाप्त कर किसी समाजवादी आर्थिक व्यवस्था को भी प्रारम्भ नहीं किया गया। 1965 में माओ ने 'सांस्कृतिक क्रांति' की आधारशिला रखकर सिद्धांतों के अतिक्रमण को विकसित होने के पूर्व ही समाप्त कर दिया। एक बार पुनः आर्थिक विकास में मानव तत्व को प्रधानता प्रदान की गयी। तथा आर्थिक नीति-निर्धारण में "भौतिक प्रेरणा" के स्थान पर "मनोबल प्रेरणा" को प्राथमिकता दी गई।

सांस्कृतिक क्रान्ति (1966-69)

1949 में चीन के जनगणतन्त्र की स्थापना के कुछ ही वर्षों पश्चात चीन में एक दूसरी क्रान्ति हुई जिसका महत्व 1949 की क्रान्ति से कुछ भी कम न था। इस क्रान्ति को 'सांस्कृतिक क्रान्ति' कहते हैं। चीन की यह सांस्कृतिक क्रान्ति

माओ त्से-तुग (माओ दुजे-डूंग)तथा उनके एक अभिन्न मित्र ल्यू शाओ-ची के सैद्धांतिक मतभेदों का परिणाम थी। सक्रीयता का द्योतक माओ चीन के प्रशासकीय शासन का कटु आलोचक था। माओ ने प्रशासकों की तुलना उस वर्ग से की जो अपना अधिकाँश समय अध्ययन में लगाते थे, जबकि चीन का निर्धन कृषक राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में श्रम कर रहा होता था। यद्यपि माओ ने 1949 के 'मुक्ति संघर्ष' के पश्चात अवकाश प्राप्त कर लिया था, परन्तु वह चीन के राजनैतिक पटल के निरन्तर गम्भीर दर्शक बने रहे। उन्होंने ल्यू शाओ-ची की तथा उनके मतानुयायियों द्वारा साम्यवाद की प्राप्ति के लिये प्रशासकीय मार्ग अपनाने की पद्धति को अपनी दृष्टि तथा वैचारिकता से कभी ओझल नहीं होने दिया। 1959 से 1962 के मध्य साम्यवादी सरकार को खाद्य पदार्थों के आपूर्ति की समस्याओं तथा संगठनात्मक समस्याओं के संकट से आंशिकत रहना पड़ा। नवीन आर्थिक नीति के अन्तर्गत चीन की सरकार ने स्थायित्व हेतु बोनस तथा विशेष श्रमिक पुरस्कारों का प्रारम्भ कर दिया था। माओ ने प्रशासकों की इस नीति को 'पूँजीवाद के पुर्नस्थापन' तथा पश्चगामी पग की संज्ञा दी। धीरे-धीरे माओ तथा ल्यू के मध्य एक स्पष्ट राजनैतिक मतभेद उभरने लगा।

1965 में अमरीका द्वारा उत्तरी वियतनाम की बम बारी ने चीन को अपनी सीमाओं के प्रति सर्तक किया। परिणाम स्वरूप चीन के साम्यवादी दल में भी आन्तरिक मतभेद और अधिक मुखर एवं तीक्ष्ण हो गया। गांव-गांव में सैनिकों की गतिविधियाँ बढ़ने लगी। चीन के उच्चाधिकारियों ने पारस्परिक "पश्चिमी संकटों से एशिया की सुरक्षा" का नारा एक बार पुनः उद्‌घोषित किया। उन्होंने उत्तरी वियतनाम को तत्काल सहायता देने की मांग प्रेषित की। उपरोक्त उद्‌घोषितकर्ताओं में माओ का पुराना सहयोगी एवं मित्र लिन पियाओ भी था, जिसे माओ ने "महान प्लुति" की असफलता के पश्चात चीन का सुरक्षा मन्त्रालय सौप दिया था। माओ ने लिन पियाओ की नियुक्ति अपने एक कटु आलोचक को पदच्युत करने के पश्चात की थी। लिन पियाओ ने "जनसंघर्ष की विजय दीर्घायु हो" का नारा दिया। उन्होंने बताया कि एक दिन विश्व ग्रामीण क्षेत्र (चीन) नागरिक क्षेत्रों (अमरीका) नष्ट कर देंगे।

वियतनामी युद्ध विवाद ने चीन के नेताओं को एक बार पुनः मतभेदों का अहेर बना दिया। उनमें से अधिकांश का मत था कि चीन अभी युद्ध के के लिये पूर्णतया तैयार नहीं है। परम्परावादी नेतृत्व को विशेषतया यह भय था, कि युद्ध के कारण क्रान्ति की प्रगति रुक सकती थी और चीन पुनः प्राचीन युग में पश्चगामी हो सकता था अतः उन्होंने (अन्तरिक नीति का इस हेतु परीक्षण

प्रारम्भ कर दिया कि जन साधारण साम्यवादी दृष्टिकोण रखते थे अथवा 'सशोधकीय पूंजीवाद' की ओर अग्रसर थे। उत्तरी वियतनाम से वार्तालाप के पश्चात चीन ने अपनी सुरक्षात्मक गतिविधियों में वृद्धि कर, युद्ध के परिणामों का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। यह नीति माओ के उन विचारों का समर्थन करती थी, जिनके अनुसार कोई भी राष्ट्र अपनी सुरक्षा विदेशी सहायता पर निर्भर होने की अपेक्षा, स्वयं अपने स्रोतों पर आधारित होकर अधिक क्षमता से कर सकता था। चीन में साम्यवाद को किस प्रकार से सफलान्वित किया जाय, इसका विवाद अभी शांत नहीं हुआ था।

नवम्बर 1965 में एक लेख में 'हाई जुई का पदच्युत होना', नामक नाटक के लेखक वूहान की कटु आलोचना की गई। इस नाटक में राष्ट्रध्यक्ष माओ की आलोचना करते हुये सरकार की समस्याओं को उभारा गया था।

इस लेख के कारण माओ का ध्यान नाटक की ओर आकर्षित हुआ। इस नाटक में वंश के एक प्रशासन की कहानी थी, जिसे सम्राट की आलोचना के कारण पदच्युत कर दिया गया था। माओ को इस नाटक में स्वयं का एक उदाहरण स्पष्ट हुआ जब स्वयं माओ ने 1959 में अपने एक आलोचक पेंग ते-हुआई को रक्षा मन्त्री के पद से पदच्युत किया था। माओ ने पीकिंग के मेयर पेंग चेन को इस नाटक की जांच का उत्तरदायित्व सौंपा। पेंग ने इस नाटक को हानि रहित घोषित कर दिया। फलस्वरूप माओ को यह पूर्णतया स्पष्ट हो गया कि प्रतिक्रियावादी तत्व उनके विरुद्ध षडयंत्र रचने लगे थे। उन्होंने शंघाई में इस तथ्य की घोषणा भी कर दी। अतः इसके तत्काल पश्चात चीन की महान सांस्कृतिक क्रान्ति प्रारम्भ हो गयी।

माओ ने एक बार पुनः चीन के युवकों तथा विद्यार्थियों का आह्वान करते हुये लिखा कि सर्वहारा क्रान्तिकारियों को एकताबद्ध होकर दल के उन अल्पसख्यक सदस्यों से सत्ता हस्तगत कर लेनी चाहिए जो पूंजीवादी मार्ग पर अग्रसरित हैं। चीन के छात्रों में सदैव प्रेरणा स्रोत के रूप में स्थापित माओ का आह्वान एक क्रान्ति सन्देश था, जिसने अपार संख्या में छात्रों को विद्यालयों तथा कालेजों को त्याग कर, माओ के दिशा निर्देश पर प्रशस्त किया। माओ ने प्रशासकीय व्यवस्था को समूल नष्ट करने की घोषणा कर दी। माओ द्वारा प्रेरित यह छात्र आंदोलन 'लाल सेना' (रेड गार्डस) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस सेना ने चींन में परम्परावाद पर चतुर्मुखी प्रहार आरम्भ-कर दिया। उनके प्रहार का लक्ष्य थे, रूढ़ीवादी विचार, संस्कृति, प्रथा एवं प्रकृति छात्रों ने इन रूढ़िवादी परम्पराओं के प्रत्येक चिह्नों को ध्वस्त करने हेतु मन्दिरों, कलाकृतियों पौराणिक पुस्तकों तथा परम्परावादी विचारों, प्रथाओं

के प्रतिपादक चिन्हों को नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया। पुरानी इमारतों, पीकिंग की दीवार, विवाह समारोहों, अन्तिम संस्कारो, पुराने वस्त्रों, मन्दिरों, मस्जिदो, चर्चों तथा अन्य सभी पुरातन परम्परा वादी संस्कृति के अवशेषों पर छात्रों की लालसेना ने आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। प्राचीनत्व के एकमात्र अवशेष के रूप में माओ की तस्वीरों तथा पोस्टरों एवं मूर्तियों को हर नगर तथा शहर में निर्मित, कर स्थापित तथा प्रदर्शित किया गया। पूँजीपूर्ति संशोधनवाद का मार्ग अवरुद्ध करने के इस उत्साह में, लाल सैनिकों के रूप में छात्रों ने माओ की लाल किताब (रेडबुक) तथा उसके उद्धरणो को स्थान-स्थान पर उद्धरित किया। यहाँ तक कि विदेशी आगन्तुकों को रात-रात में जगाकर लाल किताब पढ़ने पर बाध्य किया गया। इस सांस्कृतिक क्रान्ति का नायक माओ, तथा खलनायक प्रशासक बन गये थे। छात्रों की इस लाल सेना का विरोध लगभग असम्भव हो गया था, छात्रों ने यह बार-बार दोहराया कि रूसियों ने क्रान्ति से समझौता कर लिया है। सोवियत संघ के परामर्शदाताओं के लिये चीन में कार्य करना असम्भव हो गया। लाल सेना ने शंघाई पर अपना अधिकार कर उसे सोवियत प्रभाव से मुक्त करा दिया। इसी प्रकार अन्य नगरों पर भी छात्रों की लालसेना ने अधिकार कर लिया।

लाल सेना ने बुद्धिजीवियों तथा श्रमिक दोनों के प्रति सामाजिक समानता की माँग प्रेषित की। छात्रों तथा प्रशासकों को अपने कार्यों के अतिरिक्त शारीरिक श्रम करना आवश्यक हो गया। सांस्कृतिक क्रान्ति का मूल आधार 'श्रम द्वारा सुधार" घोषित किया गया। हजारों की संख्या में छात्रों ने विद्यालयों को त्याग कर, सुदूर ग्रामों में किसानों के साथ श्रम करने तथा समुदायों को परामर्श देने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। "नंगे पाँव चिकित्सकों (बेयर फुट डॉक्टर्स) का कर्तव्य भी विद्यार्थियों ने निभाना प्रारम्भ कर दिया। विशिष्ट तथा विशेष अधिकारियों को पद-मुक्त कर दिया गया, जिससे वे चावल तथा गेहूँ के उत्पादन के बारे में प्रायोगिक ज्ञान प्राप्त कर सकें। अधिकारियों तथा छात्रों को कृषकों के समान प्रातः उठकर नित्य कर्म तथा पाठ्यक्रमों के पश्चात 1 बजे तक खेतों में कार्य करना पड़ता था। सायंकाल समुदायों (कम्यून) के मनोरंजन, ज्ञान बर्द्धन, तथा अध्ययन के पश्चात् सोने का प्राविधान था। अधिकारियों को कृषकों के साथ कार्य के करने के पूर्व संशोधनवाद के अपराध को जनता में स्वीकार करना पड़ता था। प्रत्येक आत्म स्वीकृति का ध्येय यही सिद्ध करना था, कि उन्होंने अपने अपराधों को समझ लिया था अतः उन्हें अधिक कार्य करना था। यह आत्म स्वीकृति चाऊ-एन-लाई (जो एन-लाई) को भी करनी पड़ी थी।

यद्यपि पदच्युत अधिकारियों की संख्या बहुत अधिक नहीं थी, परन्तु कुछ अधिकारियों की हत्यायें, लाल सेना के उग्रवादी प्रहार के कारण अवश्य हो गई थी। फलस्वरूप माओं को बाध्य होकर छात्रों से अपने हिंसक प्रवृतियों तथा पद्धतियों को त्याग देने का अनुरोध करना पड़ा। कहा जाता है कि माओ छात्रों के इन कृत्यों पर रूदनमय हो गये थे, और छात्रों ने तत्काल उनके अनुरोध का पालन किया। पुनः उन्होंने अपनी कक्षाओं तथा कार्यों में जाना प्रारम्भ कर दिया।

अन्ततोगत्वा माओं ने शांति स्थापना तथा प्रभावशाली सरकार के पुर्न-स्थापन का प्रयास प्रारम्भ कर दिया। यह सिद्ध हो चुका था कि अपेक्षाकृत न्यून प्रशिक्षित लाल सैनिक उपयोगी प्रशासक नहीं सिद्ध हो पाये थे। साथ ही लाल सेना में भी वैचारिक मतभेद अधिक हो गये थें। माओ ने पी. एल. ए. को हस्तक्षेप करने का अधिकार दे दिया। धीरे-धीरे पी.एल.ए. सरकारी मामलों में पूरी तरह शामिल हो गयी। संभवतया यह स्पष्ट होने लगा था कि भविष्य में चीन की आंतरिक समस्याओं में सेना की महत्वपूर्ण भूमिका होगी। माओ को इसका भान था, कि जनता में सेना लोकप्रिय नहीं है। अतः जन-समर्थन प्राप्त करने के लिये उसने सेना से "जल में मछली" के समान कार्य करने का निर्देश दिया। इसका अर्थ यह था कृषकों से सामंजस्य स्थापित होना चाहिये। माओ के प्रचलित इस विनियमनों के अर्न्तगत तीन मुख्य नियमों तथा आठ सूत्रों का प्रचार सम्पूर्ण चीन में वर्षों तक प्रचारित रहा।

तीन प्रमुख नियम :

1. प्रत्येक कार्य में आज्ञाओंका पालन अर्थात दल के अनुशासन में रहना;
2. किसी भी किसान से एक सुई अथवा धागे का एक टुकड़ा भी न लेना अर्थात कृषकों को किसी भी प्रकार का कष्ट न अनुभव होने देना ;
3. अधिकृत वस्तुओं को वापिस सौंप देना।

अन्य आठ सूत्र:

1. नम्र वचन।
2. प्रत्येक क्रय की हुई वस्तु का उचित मूल्य चुकाना।
3. प्रत्येक प्राप्त उधार को वापिस करना।
4. प्रत्येक वस्तु का क्षति मूल्य देना।
5. जनसाधारण पर आघात न करना और न हीं जनता से अभद्र व्यव-हार करना।
6. उपज को हानि न पहुंचाना।

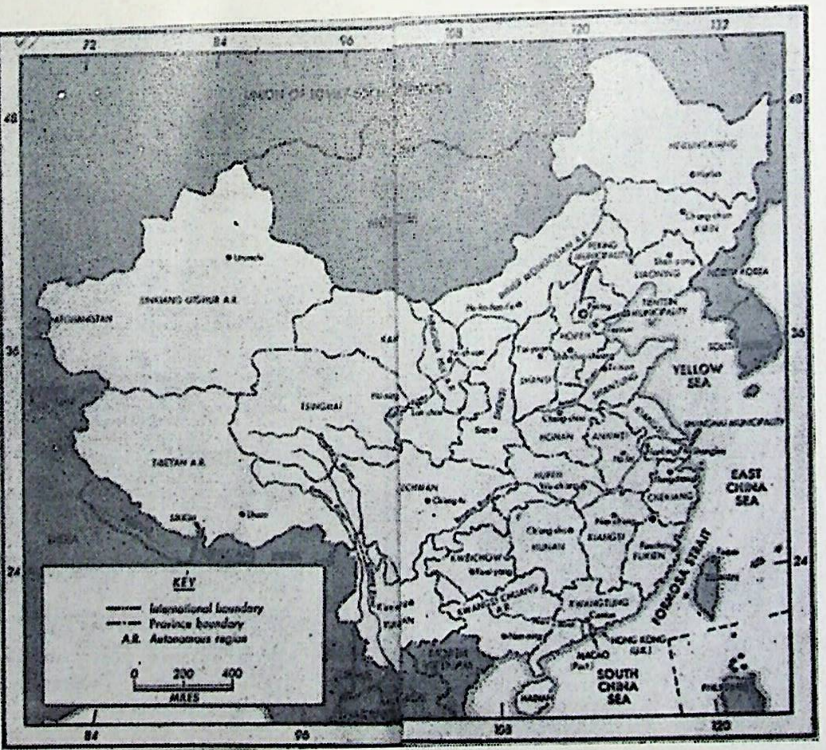
7. स्त्रियों से घृष्टता न करना ।

8. बन्दियों से बुरे बर्ताव न करना ।

गृह युद्ध काल में विकसित, इन नियमों तथा सूत्रों ने सेना तथा कृषकों के एक मध्य मानवीय सम्बन्धों को विकसित किया । यहां तक कि बच्चे भी सैनिकों से भयभीत होने की अपेक्षा, उनका अनुकरण करते थे । तदोपरांत पी. एल. ए. में साम्यवादी दल के समान ही आन्तरिक मतभेद भी थे । कुछ साम्यवादियों का विचार था कि इसका निर्माण सोवियत संघ के अनुसार हुआ था, तथा कुछ अधिकारी बहुत अधिक शक्ति सम्पन्न हो गये थे । 1965 में लिन पियाओ के नेतृत्व में अधिकारियों के मध्य सभी स्तरों, श्रेणियों अथवा रैंकों को समाप्त कर दिया गया । सामान्यतः सैनिक अपनी वर्दियाँ नहीं पहनते थे परन्तु माओ की आशानुकुल वे 'सागर में मीन' सदृश रहते थे । यही कारण था कि माओं ने सांस्कृतिक क्रांति के समय पी. एल. ए. पर आधारित होना अधिक उचित समझा ।

इस काल में एक उग्रवादी नवीन प्रशासनिक सरकार का जन्म हुआ । इन "क्रन्तिकारी समितियों" में किसी प्रकार का दल, अभियान अथवा वर्ग नहीं था । इन "क्रांतिकारी समितियों" को सभी राष्ट्रीय नीतियों पर आधरित कार्यक्रमों को संचालित करना पड़ता था । एकात्मकता से कार्य करने की परम्परा के कारण मत देने की परम्परा लगभग समाप्त हो गयी थी । अपने-अपने नेताओं के नेतृत्व में, इन्हें मजदूरी, औद्योगिक लक्ष्यों, उत्पादन क्षमता, श्रम के नियमों, तथा समुदाय की समस्याओं को सुलझाना पड़ता था । इन समितियों में सामान्यतः साम्यवादी दल तथा मजदूरों एवं विद्यार्थियों के सम्मिलित प्रतिनिधित्व के कारण इनको "एक में तीन का संगठन" कहा गया ।

निश्चय ही सांस्कृतिक क्रांति ने नवीन आर्थिक नीतियो को पूरी तरह परिवर्तित कर दिया । इस क्रांति के युग में माओं की आर्थिक नीतियाँ क्रांतिकारी अवधारणाओं तथा उत्पादन क्षमता में वृद्धि के पारस्परिक सम्बन्धों पर-पुनः स्थापित हो गयी । सांस्कृतिक क्रांति के समर्थकों के अनुसार ल्यू शाओ-ची की नीतियाँ, तथा उनके 70 सूत्रीय घोषणाओं से पूंजीवादी मार्ग की सम्भावनायें बढ़ रही थी, तथा एक समाजवादी मानव निर्माण की प्रक्रिया की गति में मन्दता आ गयी थी । चीनी समाज के मूल्यों तथा क्रांतिकारी युग के विरुद्ध संकट बढ़ने लगा था । वास्तव में सांस्कृतिक क्रान्ति, तकनीकीकरण, व्यावसायिकरण, वर्ग विभाजन तथा सामन्तीकरण के विरुद्ध एक संगठित प्रयास के रूप में सामने आयी । उत्पादन के क्षेत्र में कल्याणकारी श्रमिक नीतियों को अपना कर, बोनस तथा वेतन में विभिन्नताओं को समाप्त कर दिया गया ।



महत्वपूर्ण चीनी क्षेत्रों का मानचित्र

सैद्धांतिक नारों पर आधारित गतिविधियों में तीव्रता आ गयी। सांस्कृतिक क्रान्ति ने यातायात तथा विदेशी व्यापार को पर्याप्त मात्रा में कम कर दिया था। 1967 तथा 1968 में फसलों के उत्पादन में पुनः अत्यधिक वृद्धि हो जाने से अर्थ व्यवस्था पुनः सुदृढ़ हो गई। इस समय तक लगभग पर्याप्त सामाजिक तथा राजनैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति हो चुकी थी। शिक्षिति वर्ग ने माओं की अवधारणाओं के आधार पर साम्यवादी समाज निर्माण की प्रक्रिया में पूरी तरह सहयोग करना प्रारम्भ कर दिया।

माओ चीन की नीतियों को संघर्ष, आलोचना तथा रूपान्तरण के चक्रीय गति पर आधारित मानते थे। इस आधार पर 1969 से 1971 तक का काल रूपान्तरण का काल था। 1969 में माओ ने चीन की कृषि का तकनीकीकरण प्रारम्भ कर दिया। जन स्वास्थ्य के लिये माओं ने कृषकों को आवश्यक शिक्षा प्राप्त कर सूदूर गाँवों में कार्य करने के लिये प्रेरित किया। कुछ क्षेत्रों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये। धीरे-धीरे सांस्कृतिक क्रान्ति के समय निष्कासित वैज्ञानिक, प्रबन्धक, वापिस अपने कार्यों पर आने लगे। उद्योगों में लाभ की दर पुनः विकसित होने लगी। इस नवीन युग में भी यह बात स्पष्ट थी, कि चीन माओ के सिद्धांतों पर ही अग्रसरित होगा।

चीन-माओ और सामाजिक परिवर्तन :-

इस शताब्दी के पूर्वाध में चीन ने उन्नति-अवनति के जिस युग का अनुभव किया है, वह इसके समस्त इतिहास में उपलब्ध नहीं है। क्रान्तियों, युद्ध, विदेशी शासनों तथा आन्तरिक संघर्षों ने चीन की जनता को अपने परम्परावादी मूल्यों के पुर्नमूल्यांकन के लिये विवश कर दिया। साम्राज्यवादी चीन एक परिवार केन्द्रित समाज था। कन्फ्यूशियन सिद्धांतों के अनुसार यह पाँच प्रकार के सम्बन्धों पर आधारित था। शासक-शासित, पिता, पुत्र, बड़ा भाई तथा छोटा भाई, पति-पत्नी, तथा मित्र-मित्र के सम्बन्ध ही समाज के केन्द्रीभूत थे। इसी क्रम में इन सम्बन्धों का महत्व भी निहित था। पति-पत्नी के सम्बन्धों में पिता-पुत्र के सम्बन्ध यदि अधिक महत्वपूर्ण थे, तो पिता-पुत्र से शासक-शासितों का महत्व अधिक था। चीन के इस सामाजिक स्वरूप में श्रेणी क्रमता का विशेष महत्व था। पति-पत्नी के सम्बन्धों के ऊपर पिता-पुत्र के सम्बन्धों को स्थान देने में कन्फ्यूशनवाद की पितृ-भक्ति का महत्व दृष्टिगोचर होता है। परिवार के मुखिया के रूप में पिता का स्थान सर्वोच्च तथा निरंकुश था। वह अपने परिवार के किसी सदस्य को शारीरिक दंड दे सकता

था। यहाँ तक कि वह उन्हें दास के रूप में बेंच भी सकता था।

इसके विपरीत स्त्री का स्थान चीन के परम्परावादी समाज में अत्यन्त दयनीय था। स्त्री शिशु हत्या चीन में अत्यन्त व्यापक थी। यद्यपि पितृ-भक्ति को अनन्यतम महत्व प्राप्त था, परन्तु पुत्री का स्थान परिवार में नगण्य था। पिता के पश्चात् पुत्र ही परिवार का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सदस्य होता था। चीन के तत्कालीन समाज में स्त्री तथा पुत्रों के औचित्य का उदाहरण, वहाँ प्रचलित रखैल अथवा उपपत्नी रखने की मान्यता से और भी स्पष्ट हो जाता है। अमीर व्यक्तियों में तो उपपत्नी रखने की प्रथा प्रचलित थी। इस प्रथा के अन्तर्गत उपपत्नी को वह सुविधा नहीं प्राप्त होती थी, जो मुख्य पत्नी को प्राप्त थी, परन्तु मुख्य पत्नी को पति के दर्शन भी दुलर्भ होते थे। पत्नी के लिये कोई भी अन्य मार्ग शेष नहीं था। तलाक लेने का अधिकारी केवल पति ही था। सम्भवतया स्त्री की सर्वाधिक दुर्दशा की सीमा उसके पांवों के बाँधने में थी। पाँच वर्ष की उम्र से ही चीन की स्त्रियों के पैरों को कपड़ों से बाँध देने की प्रथा थी। इस प्रकार पैरों के बाँधने का अर्थ छोटे पैरों की सुन्दरता को मान्यता देना था। वास्तव में पाँवों को बाँधने में स्त्री की यौन आकांक्षाओं को बढ़ाने की मानसिकता छिपी हुई थी। स्त्री समाज के प्रति इस प्रकार की अप्राकृतिक प्रवृति के प्रति पुरुष प्रधान समाज नितांत चिन्ता मुक्त था। पुरुष प्रधान समाज के इस स्वरूप में केवल व्यवस्थित विवाह ही सम्बद्ध थे। दो परिवारों के मुखिया किसी मध्यस्थ की सहायता से विवाह निश्चित कर लेते थे। लड़के अथवा लड़की की रुचि का ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी।

परिवार का सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति वृद्ध व्यक्ति होता था। उसे सभी प्रकार की सुविधा तथा सर्वाधिक मान सम्मान प्राप्त था परन्तु चीन में सम्भवतया सर्वाधिक समस्या वृद्धों की ही थी, क्योंकि वहाँ औसत आयु 25 वर्ष होने से बहुत ही कम व्यक्ति वृद्धावस्था को प्राप्त होते थे। इसका कदापि अर्थ यह नहीं था, कि चीन में सभी परिवार सुख से वंचित ही थे, परन्तु यह सत्य है कि वहाँ की सामाजिक व्यवस्था अत्यन्त ही कठोर विषाद जनक तथा असह्य थी।

जहाँ तक धार्मिक मान्यताओं का प्रश्न है, चीन का लगभग सम्पूर्ण इतिहास कन्फ्यूशियनवाद से प्रभावित रहा है। कन्फ्यूशियनवाद नैतिक मान्यताओं पर अधारित धर्म था। ये नैतिकताएं पितृ-भक्ति तथा मानवीय-शासन मूल्यों पर आधारित थीं। परन्तु इसके साथ ही साथ उपासना पद्धति भी पर्याप्त प्रचलित रही थी। पूर्वजों के नाम पर जन सामान्य द्वारा दी जाने वाली बलि,

तथा स्वर्ग के नाम पर सम्राट द्वारा दी जाने वाली बलि आदि खूब प्रचलित थी। शिक्षित व्यक्ति कन्फ्यूशनवाद तथा अन्य आस्थाओं में विश्वास रखते थे। धार्मिक जीवन व्यतीत करने के पश्चात ताओवाद अथवा बौद्ध धर्म के विहारों में जीवन समर्पित करते थे। चीन की समान्य जनता में धर्म की स्थिति अत्यन्त रूढ़िवादी थी। 'कन्फ्यूशनवाद,' 'ताओवाद' तथा 'बौद्ध धर्म' की सम्मिलित आस्थाओं में विश्वास रखने का प्रचलन था। वास्तव में चीन के जन साधारण धर्म को 'बीमा पद्धति' के रूप में स्वीकार करते थे। ईश्वर अथवा अनेक ईश्वर में आस्थाओं का अर्थ 'भाग्य लाभ' के रूप में लिया जाता था। चीन का परम्परावादी समाज भाग्यवाद का प्रबल समर्थक तथा इससे अत्यन्त प्रभावित था।

भाग्यवाद के इस प्रबल समर्थन का मुख्य कारण चीन के निम्नवर्गीय जनता की निर्धनता थी। नगरों तथा ग्रामों के निवासी समान रूप से निर्धनता ग्रस्त एवं पीड़ित थे। औद्योगीककरण के न्यूनतम विकास के कारण ही वास्तव में ग्रामीण जनता की कठिनाइयाँ प्रमुखतया वर्णातीत थीं। नगरों में श्रमिकों की संख्या यद्यपि न्यून थी, परन्तु उनकी दशा किसी भी प्रकार संतोषप्रद नहीं थी। श्रमिकों के कार्य करने का समय बहुत अधिक था। उन पर किसी भी प्रकार की कार्य सीमा निश्चित नहीं थी। स्त्रियों का श्रमिक वेतन पुरुषों की अपेक्षा अत्यन्त कम था तथा श्रमिकों के कार्य हेतु किसी प्रकार का आयु बन्धन नहीं था। फलस्वरूप निर्धन श्रमिक अपने छोटे-छोटे बच्चों को भी मिल में कार्य करने हेतु भेज देते थे। श्रमिकों का जीवन स्तर अमानवीय रूप से निम्न स्तरीय था। श्रमिक क्षय रोग के अतिरिक्त अन्य वहुत रोगों से पीड़ित रहते थे। ऋण युक्त होने के कारण बेगार मजदूरी करने वाले श्रमिकों की संख्या में अपार वृद्धि होने लगी। नगरों से अलग ग्रामीण क्षेत्रों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। पश्चिमी चीन के कृषकों की निर्धनता का यह उदाहरण अवलोकनीय है कि यदि वहाँ किसी परिवार में पिता अथवा मुखिया की मृत्यु हो जाय और पत्नी मृत्यु के सन्निकट हो तो तब तक पूर्ववर्ती शव को रखा रहने दिया जाता था, जब तक कि पत्नी की भी मृत्यु न हो जाय। धनाभाव की इस स्थिति में शवों की दुर्दशा अत्यन्त दयनीय एवं हृदय-विदारक थी। दास के रूप में पुत्रों को बेच देना, पुत्रियों को मार डालना तथा दुर्भिक्ष के समयों पर मनुष्यों की बलि देना अत्यन्त प्रचलित था।

यदि २०वीं शताब्दी का पूवार्द्ध कन्फ्यूशनवाद, परम्परावाद गरीबी अस्थिरता तथा अत्याचारों का इतिहास रहा है, तो उत्तरार्ध माओ वाद क्रान्तिकारिता, परिवर्तन अथवा सामाजिक चैतन्यता का युग कहा जायेगा।

यद्यपि माओ के पूर्व ही सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी थी, परन्तु आधुनिक चीन के निर्माता के-रूप में माओ त्से-तुङ्ग को ही जाना जायगा। माओ के पूर्व 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तथा 20वीं शताब्दी के पूवार्ध में कांग यू.-वी. (1858-1927) तथा ल्यांग ची-चाओ (1873-1929) ने परिवार के स्वरूप में परिवर्तन का प्रयास प्रारम्भ कर दिया था। सुनयात-सेन (1866-1925), चेन दू-श्यू (1879-1942) तथा हू शीह (1891-1962) में बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में नव संस्कृति आन्दोलन के रूप में साहित्यिक तथा सामाजिक परिवर्तनों को प्रारम्भ कर दिया। इस आन्दोलन ने सर्वप्रथम चीन के युवा वर्ग को सामाजिक परिवर्तत का आधार माना। 4 मई के आन्दोलन से प्रारम्भ इस नव सांस्कृतिक आन्दोलन ने चीन के परम्परावादी पारिवारिक स्वरूप में परिवर्तन के लिये, 1931 के परिवार अधिनियम तथा 1935 के अपराध-संहिता का मार्ग प्रशस्त किया। इन अधिनियमों ने बाल-विवाह पर प्रतिबन्ध लगाकर प्रेम-विवाह को मान्यता प्रदान कर दी। स्त्रियों के लिये भी तलाक की व्यवस्था कर दी गई। बहु विवाहों, उपपत्नी प्रथा पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। परन्तु राष्ट्रवादियों द्वारा प्रदत्त इन अधिनियमों का चीन के समस्त समाज पर कोई स्थाई प्रभाव नहीं पड़ा। समस्त सामाजिक अधिनियमों की अवहेलना एक सामान्य प्रक्रिया थी। स्त्री की स्थिति के विपरीत सम्पूर्ण परम्परावादी समाज एकमत से अनुबन्धित था।



अध्याय 5

युग पटाक्षेप

माओ त्से-तुङ्ग (माओ दुजे डुंङ्ग) परिचय

चीन के सम्पूर्ण सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन का पूर्ण श्रेय माओ त्से-तुंङ्ग (माओ दुजे-डुंग) को ही है। उनका जन्म शाओशन (हूनान) में 1893 में हुआ था। उनके पिता का नाम माओ शुन-चेंग (माओ शुन-चेङ्ग) तथा माता का नाम वेन ची-मेई था। उनका पिता एक निर्धन कृषक था, जिसने ऋणमुक्त होने के लिये सेना की नौकरी स्वीकार कर ली थी। सेना में नौकरी करने के पश्चात धीरे-धीरे उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होने लगी। आर्थिक सचेतता के उपरान्त उन्होंने सेना से त्यागपत्र दे दिया। गाँव वापस आकर उन्होंने स्वयं को आर्थिक साधनों से युक्त कर लिया।

माओ की प्रवृति आरम्भ से ही विद्रोही थी, और वह अपने पिता के कठोर स्वभाव के कारण स्वावलम्बी तथा स्वतंत्र जीवन के इच्छुक हो गये थे। इसके विपरीत अपनी माता के नम्र स्वभाव के प्रति उनके हृदय में अपार श्रद्धा थी। माओ बाल्यकाल से ही शिक्षा अर्जन के साथ प्रातः तथा सांय चावल की खेती में कार्य करते थे, और शेष दिन वह श्रेष्ठ पुस्तकों का अध्ययन करते थे। उन्होंने 'द वॉटर मार्जिन', 'द मंकी', 'द रोंमाँस ऑफ द थ्री किंग्डम्स,' इत्यादि पुस्तकों का अध्ययन भी किया।

प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर चाङ्शा (चाँगशा) में एक स्कूल में प्रविष्ट हुए। चाङ्शा में उन्होंने 1911 की क्रान्ति की घटनाओं का अवलोकन किया। इसी समय में उन्होंने पश्चिमी साहित्य, इतिहास राजनीति तथा दर्शन का अध्ययन भी किया। माओ ने 'ग्रेट हीरोज ऑफ द वर्ल्ड' नामक पुस्तक में नैपोलियन, कैथरीन, लिंकन, रूसो, मॉन्तेस्क्यू आदि के विषय में ज्ञान अर्जन किया। माओ एक अतृप्त, उत्सुक, अध्ययनशील व्यक्तित्व के स्वामी थे। उनकी यह जिज्ञासा जीवन पर्यन्त बनी रही। चाङ्शा आवास का समय माओ के बौद्धिक विकास की जिज्ञासुता का समय था।

1917 में माओ ने च्याँग-ला (हूनान) में ल्यूशाओ-ची से भेंट की। थी चीनी लोक गणतन्त्र के अध्यक्ष भी रहे, और सांस्कृतिक क्रान्ति में अपमान-जनक रूप से पद्च्युत किये गये। माओ ने 1918 में पीकिंग विश्वविद्यालय में लाइब्रेरी असिस्टेंट के रूप में कार्य किया। इससे पूर्व उन्होंने गंभीर युवकों की एक 'नव नागरिक समिति' निर्मित की। इस समिति का उद्देश्य युवकों में नव विचारधारा का समावेश करना था। माओ और उनके सहयोगियों ने शारीरिक विकास को भी प्राथमिकता प्रदान की क्योंकि उनके विचार में मानसिक तथा शारीरिक विकास का पारस्परिक समन्वय था। 1919 में शंघाई में माओ ने क्रान्तिकारी 'छात्र कार्यकर्ता दल' बनाया। इसी वर्ष उन्होंने याँग काई-होई से विवाह किया। यह माओ की द्वितीय पत्नी थी और विश्वविद्यालय के प्राध्यापक की पुत्री थीं। 1, जुलाई, 1921 में शंघाई में माओ ने अन्य 11 सहयोगियों के साथ मिलकर प्रथम चीनी साम्यवादी दल की स्थापना की। माओ स्वयं हूनान प्रान्त के साम्यवादी दल के सचिव बनाये गये। 1924 में माओ साम्य-वादी केन्द्रीय समिति तथा पॉलिटिकल ब्यूरो के सदस्य बनाये गये। इसी वर्ष उन्होंने राष्ट्रवादी क्वोमिनतांग दल में प्रवेश किया और 1927 में मत भेद उत्पन्न होने तक उसके सदस्य रहे। 1927 में ही एक लोकप्रिय विद्रोह की असफलता के कारण माओ और उनके सहयोगी गुरिल्लाओं ने सिनक्याँग पर्वतों में शरण ली। इसी समय उन्होंने साम्यवादी दल को अपना प्रसिद्ध प्रतिवेदन 'हूनान में कृषक आन्दोलन' प्रेषित किया। इस प्रतिवेदन में उन्होंने चीनी क्रान्ति के कृषक तथा सैनिक दोनों पक्षों की आवश्यकता पर बल दिया। यही वह समय था, जब माओ को अपने भविष्य के संघर्ष के लिये जीवन पर्यन्त सहयोगी कॉमरेड प्राप्त हुआ। उनका नाम था—चाओ एन-लाई (जो एन-लाई) जो 1949 में माओ की 'पीपुल्स चाइना' के प्रधानमन्त्री बने।

1928 में माओ चतुर्थ लाल सेना के पॉलिटिकल कमिसार बनाये गये और यही सेना भविष्य में 'चीनी जन सेना' अर्थात चाइनीज पीपुलस आर्मी' के नाम से प्रसिद्ध हुई। 1930 में माओ ने ह्य त्स्यू-शेन से विवाह किया। उनकी दूसरी पत्नी को राष्ट्रवादियों ने मृत्युदण्ड दे दिया। माओ 1931 में क्याँगसी स्थित 'केन्द्रीय चीन सोवियत स्थाई सरकार' के प्रधानमंत्री नामांकित किये गये। यहाँ मिश्नरी के छद्म वेश में शंघाई से पलायन कर चाओ एन-लाई ने माओ से भेंट की। चाओ को माओ ने स्वयं अपना पॉलटिकल कमिसार नियुक्त किया। 1934 में च्याँग काई-शेक के द्वारा निर्देशित राष्ट्रवादियों ने साम्यवादियों को पराजित किया। तत्पश्चात 1935 में माओ को केन्द्रीय समिति का सचिव तथा सेनाओं का 'सर्वोच्च कमॉन्डर नियुक्त किया गया। 1937-



माओ दुज़े डुङ्ग

1945 के मध्य माओ जापान के विरुद्ध संघर्षरत रहे। इसी समय में उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध लिखन कार्य जापानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध 'संघर्ष पद्धति', 'चीनी क्रान्तिकारी (विकासकारी) संघर्ष में सामरिक समस्यायें', 'चीन का नवलोकतन्त्र' की संरचना की। माओ ने इसी समय में ही अपना अन्तिम विवाह सिने तारिका च्यांग चिंग से किया।

जापान के 1945 में समर्पण के पश्चात माओ की सेना ने मंचूरिया पर अधिकार कर लिया। उन्होंने च्यांग काई-शेक से चाओ एन-लाई के साथ भेंट की, और दो समझौतों पर हस्ताक्षर किये। 1946 में माओ ने इन उपरोक्त समझौतों तथा जोजफ स्टालिन के परामर्श के उपरान्त भी च्यांग काई-शेक के विरुद्ध गृह-युद्ध का आह्वान किया।

माओ राष्ट्राध्यक्ष

1949 में राष्ट्रवादियों का उन्मूलन करने के पश्चात 'चीनी जनगणतन्त्र' की स्थापना की। माओ इस गणतन्त्र के प्रथम राष्ट्रपति हुए और चाओ एन-लाई' प्रथम प्रधानमन्त्री। 1949-50 में माओ त्से-तुंग ने स्टालिन की 70वीं वर्षगाँठ के उत्सव में मॉस्को यात्रा की। यहाँ फरवरी 1950 में उन्होंने स्टालिन के साथ एक मैत्री संधि पर हस्ताक्षर किये। जून 1950 में जब कोरिया युद्ध आरम्भ हो गया, तो अक्टूबर में चीन ने अपने स्वयंसेवकों द्वारा हस्तक्षेप किया। 1951 में माओ ने 'त्रि-विरोधी' (भ्रष्टाचार विरोधी, अपव्यय विरोधी तथा अधिकारीतंत्र विरोधी) अभियान प्रारम्भ किया। प्रथम पंच-वर्षीय योजना जिसने उद्योगी सामूहिकीकरण की आधारशिला रखी, 1953 में आरम्भ हुई। जुलाई, 1953 में पान मुन-जॉम में कोरिया का युद्ध विराम हस्ताक्षरित हुआ।

चीन की प्रथम जनराष्ट्रीय कांग्रेस ने 1954 में नव संविधान घोषित किया। इसके अन्तर्गत माओ त्से-तुंग चीनी गणतन्त्र के राष्ट्रपति निर्वाचित किये गये, और साम्यवाद दल के अध्यक्ष भी बने रहे। इसी वर्ष सोवियत साम्यवादी दल के सचिव निखिता ख्रुश्चेव तथा प्रधानमन्त्री निकोलाई बुल्गॉनिन, ने पीकिंग यात्रा की और चीन को आर्थिक सहायता देने का वचन दिया। पोर्ट आर्थर से रूसी सेनाओं के निष्क्रमण के लिये भी समझौता किया गया।

1955 में प्रथम राजनैतिक शुद्धिकरण आंदोलन के पश्चात 1956 में माओ ने उदारवादी 'शतपुष्प पुष्पित अभियान' आरम्भ किया, जिसमें छात्रों और बुद्धिजीवियों को प्रथम शासन आलोचना के लिये आह्वानित किया गया, और फिर उनका उसी उत्साह से दमन किया गया। 1957 में माओ ने मॉस्को

में साम्यवादी दलों के सम्मेलन में अपने देश का नेतृत्व किया। यह माओ त्से-तुंग की सोवियत रूस की द्वितीय एवं अन्तिम यात्रा थी। 1958 में माओ ने 'महान अग्रवर्ती प्लुति' (ग्रेट लीप फारवर्ड) को आरम्भित किया। इसका ध्येय आर्थिक उत्पादकता की आशातीत वृद्धि करना था, परन्तु अंतिम रूप में इस नीति का अपसरण ही हुआ। इसीं वर्ष लिनपियाओ ने साम्यवादी दल के उपाध्यक्ष का कार्य-भार सँभाला। माओ ने चीन-रूस के सैनिक संधि के प्रारूप को अस्वीकृत कर दिया। दिसम्बर 1958 में माओ ने मैनडेट की समाप्ति पर गणतन्त्र के राष्ट्रपति पद त्यागने का निर्णय लिया।

ल्यू शाओ-ची अप्रैल 1959 में गणतन्त्र के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए, और माओ साम्यवादी दल के अध्यक्ष बने रहे। अगस्त 1959 में मार्शल पेंग ते-हुआई ने महान प्लुति की आलोचना आरम्भ की। केवल चाओ एन-लाई ने माओ का समर्थन किया। सितम्बर में मार्शल पेंग के स्थान पर लिन पियाओ रक्षा मंत्री बने। 1960 में 'लेनिनवाद दीर्घायु हो' का प्रकाशन पीकिंग में हुआ। इसी वर्ष अगस्त में रूस ने चीन से अपने विशेषज्ञों को वापस बुला लिया, और चीन को 'एटम बम' देना भी अस्वीकार कर दिया। 1961 में चाओ एन-लाई ने सोवियत साम्यवादी दल की 22वीं कांग्रेस के मध्य अल्बेनिया के प्रश्न पर सदन त्याग कर दिया। 1962 में भारत चीन युद्ध के पश्चात जून 1963 में चीन में समाजवादी शिक्षा आंदोलन आरम्भ हुआ। इसका ध्येय बुद्धिजीवियों और ग्रामीण जनता में क्रान्तिकारी विचारों का प्रोत्साहन प्रदान करना था। चीन ने अक्टूबर 1964 में अपने 'प्रथम एटमबम' का प्रस्फोट किया।

1965 में सैनिक सुधार किये गये जिसमें सैनिक निस्तरीकरण किया गया। इस वर्ष तथा आगामी वर्षों में सांस्कृतिक क्रान्ति का प्रवाह हुआ। 1971 में मार्शल लिनपियाओ की वायुयान दुर्घटना में मृत्यु हो गयी। माओ ने जुलाई 1972 में लिनपियाओ की दुर्घटना को प्रमाणित किया। 1971 में चीन संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य हुआ तथा 1972 में माओ और अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन की पीकिंग में भेंट वार्ता हुई। 1973 में माओ त्से-तुङ्ग दल की 10वीं बैठक में पुनः अध्यक्ष निर्वाचित हुए। दिसम्बर 4, 1974 को 'लाल पताका' (रेड फ्लैग) ने सांस्कृतिक क्रान्ति की समाप्ति की घोषणा की। जनवरी 8, 1976 में चाओ एन-लाई का देहान्त हो गया, और उनके स्थान पर 'हुआ को-फेंग' प्रधानमन्त्री हुए। 10 सितम्बर, 1976 को आधुनिक चीन के कर्णधार माओ त्से-तुङ्ग का देहावसान हो गया। इस असाधारण गुणों से सम्पन्न व्यक्ति के देहान्त के साथ ही आधुनिक चीन के महान युग का पटाक्षेप हुआ। 1965 में माओ त्से-तुङ्ग ने एडगर स्नो को संभवतः उचित ही कहा था,

'कि आज से सहस्र वर्ष पश्चात हम सभी-मार्क्स, एंजिल्स तथा लेनिन हास्यास्पद ही प्रतीत होंगे । इस शताब्दी में गाँधी और लेनिन के अतिरिक्त कोई भी ऐसा व्यक्तित्व नहीं है, जिसने माओ-त्से-तुङ्ग की भाँति अपना नाम इतिहास में अंकित किया हो, मात्र सफल क्रान्ति ही उनकी उपलब्धि नहीं थी, अपितु चीन को महान शक्ति के रूप में परिवर्तित कर देना, और सोवियत रूस से हटकर विश्व शक्ति के संतुलन में एक नवीन स्थान उत्पन्न करना उनकी महान उपलब्धियों में था ।

क्रान्तिकारी जगत में लेनिन के पश्चात उनका द्वितीय स्थान है, परन्तु माओ की पद्धति साहसी एवं मौलिक थी । माओ से पूर्व किसी मार्क्सवादी नेता व क्रान्तिकारी में कृषक सेना निर्माण का विचार नहीं उत्पन्न हुआ था, और न ही किसी अन्य साम्यवादी नेता ने कार्यरत रहते हुए अधिकारीतंत्र तथा दलीय त्रुटियों को प्रहारित किया । संभवतः माओ के व्यक्तित्व का समाहार उनकी 1965 में लिखित एक कविता में निहित है, जिसका संक्षिप्त सार था, 'मैं मेघों तक पहुँचने का सदैव अभिलाषी रहा हूँ, फिर मैं बहुत दूर से आया हूँ········ ·· · इस विश्व में कुछ भी कठिन नहीं है यदि ऊँचाई पे चढ़ने का साहस किया जाय ।'

अतः चेयरमैन माओ त्से-तुंग (माओ दुजे-डुंग) समकालीन इतिहास के सृजकों में एक थे, और नैपोलियन को भाँति वह यह कह सकते थे, 'कि जब देश मृत्युशय्या पर था, वह उत्पन्न हुए ।' भविष्य में चीनी साम्यवाद किसी भी वर्तन बिन्दु पर विश्राम करें किन्तु माओ का स्थान इतिहास में चीन के निर्माता एवं साम्यवाद नेतृत्वकर्त्ता के रूप में अपने स्थान पर निर्विवाद रूप में सुरक्षित है ।

युग प्रवर्तन

माओ-त्से-तुंग के निधन के पश्चात यद्यपि साम्यवादी दल में उतना संघर्ष नहीं हुआ जितना आपेक्षक था । फिर भी चीन कुछ समय तक अपनी आंतरिक समस्याओं में ग्रस्त रहा । माओ के चीन में 'वर्ग उत्पत्ति' राजनैतिक सम्मानता का परिचायक थी । मार्च 1978 में पाँचवी राष्ट्रीय जनकांग्रेस ने एक नवीन निर्णय लिया, जो 'पीपुल्स डेली' ने घोषित किया । इसके अनुसार क्रान्तिकारी युवकों का परिचय उनके पारिवारिक मूल से न होकर राजनैतिक कार्य चरित्र से निश्चित किया गया । माओ के निधन के अट्ठारह माह पश्चात चीन में माओ के विशाल चित्रों के स्थान 'हुआ-कुआ-फेङ्ग' के चित्रों ने ले लिये । माओ की 'स्थाई क्रान्ति' के स्थान पर 74 वर्षीय तेंग-श्याओ-पिङ्ग की

'समाजवादी लोकतन्त्र' की रूपरेखा को मान्यता दी गई। कुछ 'चीनी दृष्टाओं' के विचारानुसार तेंग चीन के प्रधानमन्त्री होने चाहिये थे, परन्तु हुआ ने दल और प्रशासन दोनों पद संभाल लिये।

मई 1982 में चीन में व्यापक रूप से प्रशासनिक एवं संवैधानिक परिवर्तन हुए, जिन्हें जनराज्य की स्थापना के पश्चात महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। संविधान के संशोधित प्रारूप में मूलभूत सिद्धान्त निर्धारित किये गये जिनके आधार पर चीन का प्रशासकीय मार्ग प्रशस्त करना निश्चित किया गया। इसके अन्तर्गत मार्क्स, लेनिन और माओ के सिद्धान्त चीन के मार्गदृष्टा माने गये और विभिन्न जातियों द्वारा स्थापित चीन को एक बहुजातीय राष्ट्र कहा गया।

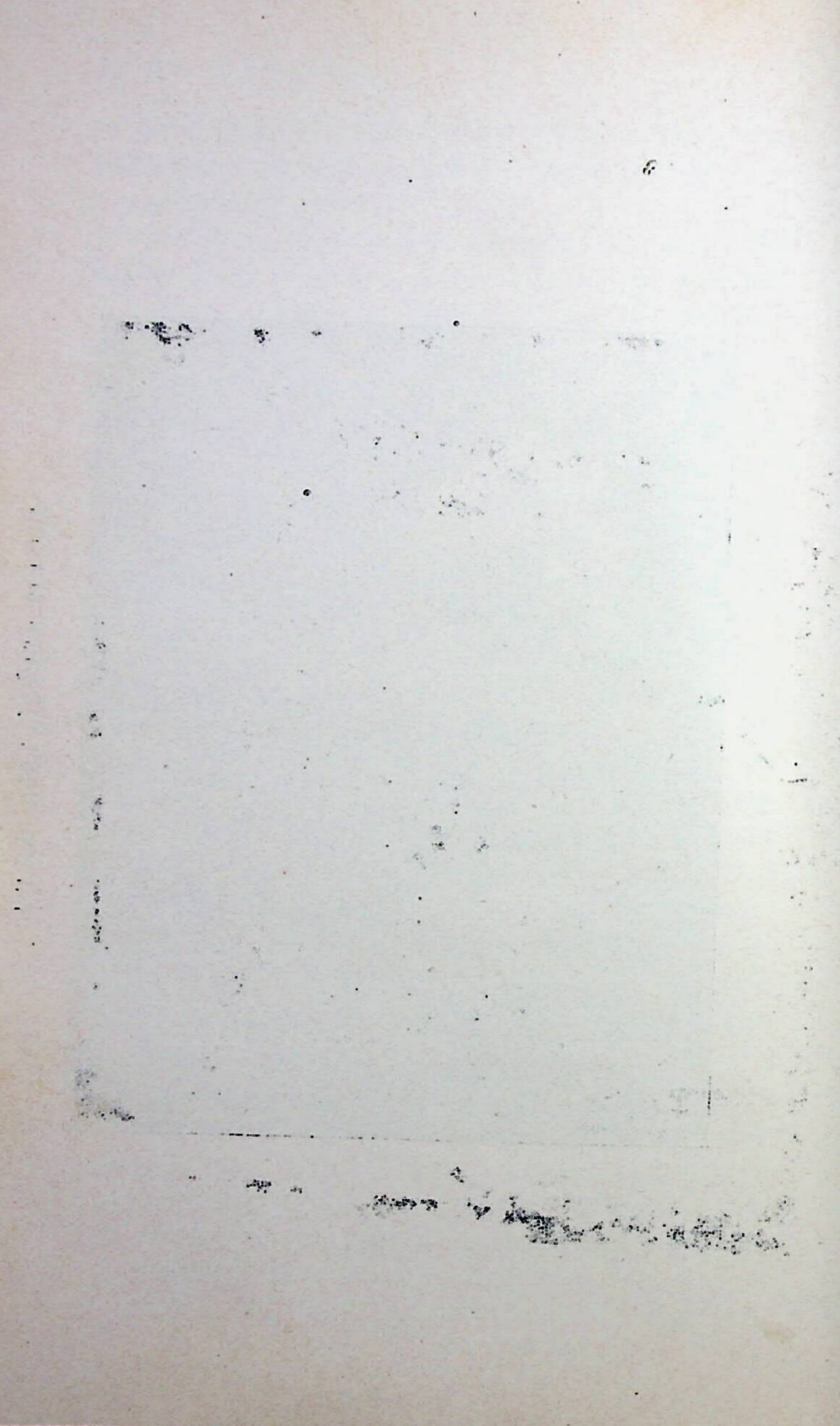
उपरोक्त संशोधित प्रारूप में प्रशासनिक परिवर्तनों का उल्लेख करते हुए चीन की सरकारी समाचार एजेंसी ने घोषणा की कि प्रधानमन्त्री चाओ च्याङ्ग के परामर्श पर यह महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। इस परिवर्तन के अन्तर्गत उपप्रधानमंत्रियों, मंत्रियों की संख्या में कमी की गई और संगठन के नवीन पदों पर अन्य सदस्यों को नियुक्त किया गया। सर्वोच्च परिषद में विदेश मंत्री हुआङ्ग-हुआ तथा आर्थिक विशेषज्ञ ग्यूम्यू को भी स्थान दिया गया।

चीन में इस व्यापक परिवर्तन का अनुमान अपेक्षित था। 'चीनी दृष्टाओं' के अनुसार कि चीन में सत्ता संघर्ष की राजनीति को एक नया मोड़ देने हेतु 'प्रशासन सुधार' का नारा दिया गया। यद्यपि चीन के साम्यवादी दल के दो गुटों के मध्य संघर्ष वृद्धि की आशा की जाती है, परन्तु नीतियों में परिवर्तन में वैदेशिक सम्यकर्ता का द्वारभेदन किया है। सितम्बर 1982 में हुआङ्ग-हुआ को केन्द्रीय समिति से हटाया जाना एक आश्चर्यजनक घटना थी। परन्तु यह देश और विदेश में चीन के युग परिवर्तन का संकेत भी है। मूलतः साम्यवादी दल की 12वीं कांग्रेस से चीन में माओ युग के समापन का आभास इसमें निहित है और नये युग के आरम्भ होने के स्पष्ट संकेत मिल रहे हैं।

●



माओ तथा निक्सन ऐतिहासिक अभिवादन



ग्रन्थ-निर्देश **REFERENCES**

चीन

1. Barnett, A. Doak : 'Communist China and Asia' Vintage book, New York, 1960. An early work on the subject, it analyzes the salient features of the CPR, its domestic and foreign policies, and the impact on Asia. The author sees a Communist China in Asia as a challenge to American policy. pp. 70 ff

2. Clark, Gregory : 'In Fear of China', Lansdowne Press, Melbourne, 1967. Written by an Australian scholar, this book argues forcefully against the thesis that China is an aggressive nation in its foreign policy. pp. 61-65

3. Gittings, J. : 'Survey of the Sino-Soviet Dispute 1963-1967,' Oxford University Press, London, 1968. A scholarly work, with a collection of documents tracing the developments in Sino-

Soviet relations up to 1967, it throws useful light on the subject. pp. 27-30

4. Hinton, Harold C : China's Turbulent Quest, The Macmillan Company, London, 1970. This is a comprehensive account of China's foreign policy from 1949 to 1968. The author is highly critical of the CPR and is provicative in some of his analysis. pp. 30-35

5. Mac Farquhar; Roderick : 'Sino-American Relations, 1949-71, Wren Publishing Pty Ltd, Melbourne, 1972. Contains numerous basic documents on Sino-U.S. relations, together with perceptive introductions by Mac Farquhar. There are also three introductory essays by American scholars. pp. 101 ff

6. Ojha, Ishwer C : 'Chinese Foreign Policy in an Age of Transition : The Diplomacy of Cultural Despair' Beacon Press, Boston, 1969. Takes up general themes in China's foreign policy, relations with the West, with the United States, and the Soviet Union, Concentrates

much more on original analyses, brilliantly put forward and defended, than on well known facts. pp. 71 ff

7. Clubb, O. Edmund : 20th Century China, 2nd edn. Columbia University Press, New York, 1972. A good, readable book, dealing with both the internal and external developments in modern China. pp. 91 ff

8. Fairbank, John King : 'The United States and China' 3rd edn, Harvard University Press, Cambrige Mass, 1971. An indispensable book for anyone with an interest in the perplexing problem of American relations with China. pp. 21-29

9. Fitz Gerald, C. P. : The Birth of Communist China, a Pelican book, Harmondsworth, 1964. An interesting account of modern China from the fall of the Manchus to the rise to power of the Communists, assessing the varying influences of Confuncianism and Christianity, of East and West, and of the Japanese and Russians on the Chinese

revolutionary movement. pp. 81 ff.

10. Hachey e. Thomas Weber e. Ralph : Voices of Revoluition Illinois, 1972 The book in its Part III (Third World contains)a vivid and precise biographlical sketch of Mao Tse-Tung. pp. 333-349.

11. Fraser, Stewart E. (ed) : Education and Communism in China, An Anthology of Commentary and Documents, International Studies Group, Hong Kong, 1969. This book contains articles covering differents aspects of education in China today, some of them being extremely valuable. pp 21 ff

12. Mackerras, Colin and Hunter, Neale : China observed 1964–1967, Sphere Books, London, 1968. A first-hand account based on the years the authors spent as teachers in Peking and Shanghai. pp. 8, 71, 84.

13. Wilson, D : The Long March 1935, Viking, 1971. An excellent and Readable book on all aspects of Long march. pp 80 ff.

14. Issaes, H. R. : The Tragedy of the Chinese Revolution, Stanford University press, 1966 A critical account of the revolution from a different veiw point. pp. 181 ff.

15. Buchanan, K : The Transformation of the Chinese Earth, G. Bell and Sons. London, 1970. A very useful book, with good chapters on key economic sectors; a generally sympathetic approach to the Chinese human experiment. pp 37-41.

16. C. I. A. : The People's Republic of China Atlas, November 1971. An excellent up-to-date atlas, showing factors such as the distribution of agricultural activity, industrial and mining activity, population, and transport routes. pp Introduction.

17. De Crespigny, R. : China the Land and its People, Nelson (Aust.) Ltd, Melbourne, 1971. A useful reference, focusing on the economic and physical features of each major region in China. pp. 4-10, 31-52.

18. Joint economic Committee of the U S Congress People's Republic of China. : An Economic Assessment. US Government Printing Office, Washington, 1972. Exclusively economic but contains very useful up to date statistics pp 11-17.

19. Shabad, T : 'China's Changing Map; National and Regional Developments 1949-71, Praeger, New York, 1972. This is an excellent up-to-date publication, focussing largely on China's regional geography (each province is treated separately). pp 37-52.

20. Tuan Yi-fu : China No. 1 in the series 'The World's Landscapes', Longman, London, 1970. An interesting analysis of China's historical and human geography pp, 19-20.

21. Belden, J. : China shakes the world, monthly review Press, 1970. A good, longer but simple account written from an American view point. pp. 221 ff.

22. Buchanan, Keith : The transformation of the Chinese Earth, G. Bell and Sons, London, 1970. Marxist geographers are rare, and

Keith Buchanan is not only New Zealand's outstanding geographer, but one of the world's best. In this book he stresses the geographical diversity of China and the consequent significance of the province as a centre of social life in modern China. Chapter 5 contrasts Chinese development strategy with the Soviet model and the industrialization path that has been pursued in the west, pp. 81-89.

23. Chao Kuo-chun : Agrarian Policy of the Chinese Communist Party 1921-1959, Asia Publishing House, London, 1960. This book begins with the Yenan period and shows how China's agrarian blueprints took shape in embattled rebel outposts. Excellent section on the land reform 1948-52 and the collectivization drive 1953-56, concluding with an evaluation of the commune movement which swept China in 1958. pp. 107-111.

24. Li Choh-ming (ed.) . Industrial Development in

Communist China, Praeger, New York, 1964. A valuable collection of essays on economic Paliey and Economic growth in China before the Cultural Revolution. Particularly noteworthy is the chapter by Franz Schurmann on the right wing 'New Economic Policy' adopted between 1960. and 1964. pp. 17, 89, 104 ff.

25. Wheelwright, E. L. & McFarlane, Bruce : The Chinese Road to Socialism : Economics of the Cultural Revolution, Monthly Review Press, New York, 1970. This book has been written as a non-technical study of Chinese economic policy. Its main theme is the important role played by ideology and the promotion of the human factor in economic development. pp 17 ff.

26. Wu Yuan-li : The Economiy of Communist China : An Introduction, Praeger, New York, 1965, Very clear and concise, covering all sectors of the econo. my. The author tends to concentrate on showing gaps between proclaimed government objectives and actual

results. Very good sections on regional policy. pp. 34-39

27. Robinson, T. W. ed. : The Cultural Revolution in China, california Universisy Press, 1971 pp. 119 ff, 229 ff.

28. Hsueh, Chun-tu : Revolutionary Leaders of Modern China, London, 1971 This book contains a number of original articles and reprints concerning top leaders of the three revolutions of modern China : the Taiping Rebellion, the Republican Revolition, and the Communist movement pp. 102ff. 321 ff.

29. Chang, John K. : Industrial Development in Pre-Communist China, Edinburgh University Press, Edinburgh, 1969. A straight forward modern economic history of China with a rather academic interpretation. He argues that there was steady, indeed impressive, industrial development under the Nationalists after 1930. pp. 74-79

30. Moore, Barrington : Social Origins of Dictatorship and Democracy, Beacon Press, Boston, 1966, Chapter VI. comparative study of the English, Russian, and Chinese

revolutions. Moore says that all present societies which are stable have had violent revolutions. in the past. Such upheavals are natural and not abnormal in human history. pp. 49–63

31. Myers, Ramon H. : The Chinese Peasant Economy 1890–1949, Oxford University Press. London, 1971. A scholarly study by a Nationalist sympathizer.

32. Perkins, Dwight H. : Agricultural Development in China, 1368–1968, Edinburgh University press, Edinburgh, 1970. Looks at the broad sweep of trends in agricultural output and population. Good section on the 'Malthusian spectres' as they operated in China : famine, rebellion, war. pp. 11–21

33. Tawney, R. H. : Land and Labour in China, Allen and Unwin, London, 1937. A justly famous classic by a leading English Fabian socialist. A brilliant account of China in the 1930s. Tawney is interested in the exploitation of the peasants, corruption of the landlord class, and

the cruel position of the urban masses. pp. 7, 24, 39.

34. Adams, Ruth (ed.), : Contemporary China. Peter Owen, London, 1969. A collection of essays on China's foreign policy and internal politics,social transformation, economy, agriculture, population, science, and education. pp. 12–17

35. Baum, Richard (ed). : China in Ferment : Perspectives on the Cultural Revolution, Prentice-Hall, Englwood Cliffs. 1971. A collection of scholarly articles, abridged from the original, on the origins and nature of the Cultural Revolution. pp. 21–39.

36. Hinton, Harold C. : An Introduction to Chinese Politics, Praeger, New York, 1973. A political analysis of the events and factors that have shaped the Chinese political system since 1949. pp. 71–76.

37. Schurmann, F. and Schell O, (eds). : China Reading 3,Communist China,a Pelican book, Harmondsworth, 1967. This volume describes the nature of the Communist Government and the social, political, and economic changes culminat-

ing in the Cultural Revolution pp. 4–7

38. Townsend, James R : Politics in China, Little, Brown and Company, Boston 1974. Part of a series on comparative politics of various countries, this book analyzes the concrete processes whereby China is governed. pp. 31 ff.

39. Chow Tse-tsung : The May Fourth movement : Intellectual Revolution in Modern China, Harvard University Press, Cambridge Mass, 1960, Standard paperback, 1967. A balanced, soundly informative account of the intellectual revolution in which nationalism played a crucial part. pp 23-39, 82 ff.

40. Fitzgerald, C. P, : The birth of Communist China, a Pelican book, Harmondsworth, 1964. A fluent narrative and an interesting interpretation of the collapse of Kuomintang and the rise to power of the Chinese Communists. pp 39, 71, 102-120.

41. Gray, Jack (ed)' : Modern China's Search for a Political Form, Oxford Uni-

versity Press. London, 1969. A collection of Scholarly essays on twentieth-century China.

42. Johnson, Chalmera A. : Peasant Nationalism and Communist Power : The Emergence of Revolutionary China, 1937-1945, Stanford University Press, Stanford, 1962. A provocative thesis on the nature of Chinese national ism and the ultimate triumph of the Chinese Communist Party during the Sino-Japanese war. pp 49-59

43. Wright, Mary C. (ed.) : China in Revolution : The first Phase, 1900-1913, Yale University Press, New Haven, 1958. A scholarly work with an introduction on the growth of chinese nationalism at the turn of this century. pp 16-19 24-59.

44. Warshaw, Steven & Bromwell, C. David with Tudisco, A. J. : China Emerges, Canfield, 1973. This book is valuable to students seeking an introduction to the China of the past so that they can understand the china of the present. pp. 64, 100 ff.

45. Bianco, Lucien, : Origins of the Chinese Revo-

lution, 1915-1949 Translated from the French by Muriel Bell, London, 1976. This is a comprehensive, critical and balanced study of the pre-communist period. French scholar brings a refreshingly different perspective to the problems of the origin of the Chinese revolution. pp. 13, 33-39, 67, 89 ff.

46, Gombin, Richard : The origins of modern leftism, penguin books, 1975. This clarifies the genesis, thought and influence of modern leftism. p. 4, 18, 18n.

47. Johnson, Chalmers : Revolutionary change. New York. 1966. This book examines the nature, causes, varieties, and strategies of revolution. pp 5981.

48. Smart, Ninian : Mao, Fontana/Collins 1974. The study depicts Mao as a Guerilla commander, an architect of Rovolution, and the meditative poet pp. 17-19, 64 ff.

49. Yefimov, D : World War Two and Asia's Struggle for Independence, Sterling New Delhi, 1975, This book describes the

origins and the course of the Second World War, and its impact on the destinies of of the peoples of the Asian Continent pp. 69, 84-87.

50. Ch'en, Jerome : Map and the Chinese Revolution, London, 1967. It gives an inside account of maosian tactics and his revolutionary methodology pp. 34–52

51. Wilson, Dicks : Asia Awakes, Pelican Book 1972. The author, in a lucid prose, discusses four themes that emerge form the contemporary Asian Drama—The Issues, the actors, the spectators, and the future programme. pp. 109-110, 162-5, 333-40.

52. Mackerras, Colin : China : The Impact of Revolutions, a survey of twentieth century Cnina, edited, Long man, Australia, 1976. An excellent and readable book on all aspects of revolutionary China. pp. 46–50.

53. Snow, Edgar : Redstar over China, London, 1968. A fascinating account of China under Mao-Tse-Tung. pp'129-35

54. Corrigan, Philip : China : Socialist construction as thought reform for intellectuals.' Journal of Contemparary Asia, Vol 4, No 3, 1974, . pp. 275-92. A well written analytical article,

55. Johnson, Chalmers : Peasant Nationalism and Communist power : Emergence of Revolutionary China, 1937-1945, stanford, 1962. An in depth study of Communist party in its formative years. pp. 103–155.

56. Clubb, Oedmund : 'Chiang Kai-Shek's Waterloo,' Pacific Historical review, Vol. XXV, No 4 Nov. 1956. This article contains an apt analysis of the final confrontation between the two armies and the two chinese worlds.

57. Muqiad, Xue : China's Socialist Economy, China knowledge series, foreign language press, Beijing, A description of Five Year Plan in 1953 p. 7.

58. Brandt, Conrad : Stalin's Failure in China, 1924–27 Harvard University Press. 1958. A good account of stalin's role as Secretary General of Communist Party. pp. Chapt. V

59. G, Anthony : The Long march, China Quarterly, No 22, 1968. An analytical study of Long March pp. 89-90.

60. Mclane, Charies B : Soviet Policy and the Chinese Communists, 1931-1946 New York. 1958. An interwoven vivid description of the two communist camps, pp. 29-34,

पत्र एवं पत्रिकायें MAGAZINES & NEWS PAPERS

1. News Week. : Oct. 11, 1971, p. 15
2. Mainstream : No. 10, Nov. 4, 1972, pp 7-9
3. Link : No. 29, Feb. 27, 1972, pp. 10 13.
4. Time : Feb, 21, 1972, pp 25–32.
5. Mainstream : No. 27, March 4, 1972, pp 5-8.
6. Time : Sep. 20, 1976, 'The Helmsman Passes, pp 18-24.
7. On Looker : Sep. 15-30, 1976, 'The man who changed the world, pp. 10-15.
8. The Times Of India : Sep 10. 1076. Editorial.
9. The Hindustan Times : Sep. 10, 1976, Editorial 'Mao Tse-Tung', and 'Legend that grew with long march'.
10. The Statesman : Sep. 10, 1976, Editorial, 'Mao Tse-Tung', & 'Mao & the Chinese Revolution'.
11. The Indian Express : Sep. 10, 1975, Editorial 'A Titan Passes,' and 'Great

			Helmsman of chinese revolution"
12.	The Times of India	:	January 22, 1976, 'China's Search for Balance'.
13.	Sunday	:	Sep. 4 1977, 'Changing China'.
14.	Time	:	Sep. 5, 1977, 'Agreeing to Cisagree' pp 8, 11
15.	Newsweek	:	March 12, 1978, 'China's New Look,' pp 6-9.
16.	The Times of India	·	March 17, 1979, Modernising The'Army'
17	Northen India Patrika,	:	June 19, 1982.
18.	Illustrated Weekly	:	March 28-April 3, 1982.

एशियाई तिथि-पत्र : चीन

1900 : बॉक्सर विद्रोह

1911 : चीन की क्रांति

1912 : माँचू राजवंश के पतन के पश्चात् चीनी गणतंत्र की स्थापना तथा सुनयात-सेन का निर्वाचन ।

1913 : सुनयात-सेन के स्थान पर युआन शीह्-काई का अधिनायकत्व

1915 : जापान में चीन को एक 21 सूत्रीय माँगपत्र प्रेषित किया जिसके फलस्वरूप चीन मूल रूप से जापान के प्रभावाधीन हो जाय । नानकिंग में राष्ट्रवादी ।

1916 : युआन शीह्-काई का स्वयं को सम्राट घोषित करने उपरान्त निधन । राजनैतिक संघर्ष का प्रारम्भ ।

1917 : चीन का मित्र राष्ट्रों के गुट में प्रवेश ।

1919 : वर्साई शान्ति सम्मेलन में चीन और मित्र राष्ट्रों में मतभेद ।

1921 : सुनयात-सेन का क्वागंतुंग में शासकीय नेतृत्व । चीन के साम्य-वादी दल की स्थापना ।

1922 : सुनयात सेन द्वारा क्वोमिनतांग (ग्वोमिनडांग) का पुनंगठन परन्तु क्वागंतुंग को पलायन करने हेतु बाध्य होना पड़ा ।

1923 : सुनयात सेन की वापसी और क्वोमिन्तांग–कोमिन्ट्रन संधि-युग का प्रारम्भ । साम्यवादी दल की तृतीय कांग्रेस ने भी क्वोमिन्तांग को सहयोग का वचन दिया ।

1924 : सुनयात सेन के तीन सिद्धान्त

1925 : सुनयात सेन का निधन । च्यांङ्ग काई-शैक ने क्वोमिन्तांग का नेतृत्व संभाला । चीनी साम्यवादी दल ने सदस्यता विस्तार आरम्भ किया ।

1926 : माओ दुजे-डूंङ्ग तथा पेंग पाई ने क्वांगतुंग में कृषक संगठन आरम्भ किया। च्याङ्ग काई-शैक ने उत्तरी अभियान का नेतृत्व किया।

1927 : शंगाई में च्यांङ्ग के विप्लव द्वारा साम्यवादी आन्दोलन का हनन। माओ के नेतृत्व में हुनान और क्याँगंसी शरत उपज आन्दोलन की असफलता। कैन्टन में कम्यून की समाप्ति। साम्यवादी दल का भूमिगत हो जाना।

1928 : च्याङ्ग काई-शैक के उत्तरी अभियान की चीन संगठन में सफलता 'चू ते' (जू दू) तथा माओं का क्याँगसी में गुरिल्ला अवस्थान की स्थापना।

1929 : जू दू और माओं का ग्रामीण कार्य विस्तार।

1930 : च्याङ्ग का चीनी साम्यवादी दल के विरुद्ध प्रथम दस्यु उन्मूलन अभियान।

1931 : मंचूरिया में जापानी आक्रमण। माओ द्वारा चीनी रूसी गणतंत्र की क्याँगसी में स्थापना।

1932 : क्वोमिन्ताँग द्वारा ब्लू शर्टस का निर्माण। क्याँगसी सोवियत की जापान के प्रति युद्ध घोषणा।

1934 : क्वोमिन्ताँग द्वारा 'नवजीवन आन्दोलन' का आरम्भ। दीर्घ प्रयाण (लांग मार्च)

1935 : दीर्घ प्रयाण के जीवित बचे सदस्यों द्वारा उत्तरी रोन्सी में आस्थान स्थापना।

1936 : सियान (शियान) घटना।

1937 : मार्कोपोलो सेतु घटना द्वारा चीन-जापान युद्ध का प्रारम्भ। क्वोमिन्ताँग और साम्यवादी दल का द्वितीय संयुक्त मोर्चा।

1938 : माओ द्वारा जापान विरोधी युद्ध के प्रति सामरिक नीति का विश्लेषण।

1940 : माओं का 'नव लोकतंत्र' पर लेख।

1941 : क्वोमिन्ताँग (के. एम. टी.) का चीनी साम्यवादी चतुर्थ रूट सेना पर आक्रमण। पर्ल हार्बर के आक्रमण द्वारा अमरीका का जापान के विरुद्ध युद्ध प्रवेश।

1942 : चीनी साम्यवादी दल (सी. सी. पी.) द्वारा संशोधन अभियान। मित्र राष्ट्रों द्वारा चीन को सहायता।

1943 : च्याङ्ग काई-शेक ने 'चायनीज डेस्टनी' का लेखन किया। अमरीका रूस तथा ब्रिटेन ने चीन को मुख्य शक्ति स्वीकार किया। कैरो घोषणा द्वारा चीन को ताईवांन पर पुनः अधिकार सौंप दिया गया।

1944 : के. एम. टी. और सी. सी. पी. की एकता का अमरीका द्वारा प्रयास।

1945 : जापान का आत्मसमंपण। रूस और चीन में मैत्री गठबन्धन की संधि। सी. सी. पी. की सदस्यता दस लाख पहुंच गई।

1946 : सोवियत सेना द्वारा मंचूरिया त्याग। के. एम. टी. और सी. सी. पी. के मध्य गृह युद्ध। जनरल मार्शल का शिष्टमण्डल।

1947 : के. एम. टी. द्वारा ताईवान विद्रोह का दमन। अमरीका द्वारा के. एम. टी. शासन की आलोचना और सहायता में कटौती।

1948 : सी. सी. पी. सेना का उत्तरी चीन विजय और भूमि सुधार कार्य-क्रम आरम्भ करना। अमरीका का के. एम. टी. को सहायता पुनः आरम्भ।

1949 : चीनी लोक गणतंण की स्थापना (सी. पी. आर.)। माओ की संधि एवं सहायता हेतु मास्को यात्रा।

1950 : चीन-सोवियत संधि। भूमि सुधार न्याय पद्धति का संकलन। चीन का कोरिया युद्ध में प्रवेश।

1951 : चीन का तिब्बत पर अधिकार। भ्रष्टाचार उन्मूलन अभियान।

1952 : निजी व्यवसाय पर राष्ट्र नियंत्रण।

1953 : सी. सी. पी. सदस्यता 65 लाख तक पहुंच गई तथा कृषि उत्पादक सहकारी कार्यक्रम का आरम्भ। प्रथम पंचवर्षीय योजना का आरम्भ-परन्तु घोषणा 1955 तक हुई।

1954 : सी· पी. आर. के संविधान की घोषणा। दक्षिण पूर्ण एशिया संधि संघ (सीटों) पर हस्ताक्षर। खुश्चेव की पीकिंग (बेजिंग) यात्रा।

1955 : चाऊ एन-लाई (जो एन-लाई) के पांच सिद्धान्तों का विकासमय स्वरूप। बाडुंग सम्मेलन में शान्तिमय सहचारिता की नीति। माओ द्वारा कृषि सहकारिता का द्रुतगामी कार्यरूप।

1956 : साम्यवादी दल की सोवियत 20 वीं कांग्रेस द्वारा स्तालिनवाद की भर्त्सना। चीन द्वारा स्तालिन आलोचना की अस्वीकृति। माओ का 'शतपुष्प पुष्पित हो (लैट हन्ड्रेड फ्लावरस् ब्लूम)' का भाषण।

1957 : चीन की द्वितीय पंचवर्षीय योजना।
1956 के हंगरी विद्रोह की भर्त्सना।
माओ की आर्थिक विकास की योजना।
माओ की मास्को यात्रा।

1958 : माओ द्वारा 'महान अग्रवर्ती प्लुति' (ग्रेट लीप फारवर्ड) का आरम्भ।
आर्थिक नियंत्रण का विकेन्द्रीकरण।
काम्यून आन्दोलन का आरम्भ।

1959 : खुर्श्चेव की अमरीका यात्रा।
भारत-चीन सीमा घटनायें।
दलाई-लामा का भारत पलायन।

1960 : काम्यून का विकेन्द्रीकरण।

1961 : चाऊ एन-लाई का रूस से मत भेद।

1962 : समाजवादी शिक्षा आन्दोलन का प्रारम्भ।
भारत-चीन युद्ध।
क्यूबा का संकट।

1963 : चीन सोवियत मतभेद में वृद्धि।

1964 : साम्यवादी युवा लीग के द्वारा क्रान्तिकारी प्रशिक्षण प्रारम्भ।
जनता को पी. एल. ए. शिक्षा ग्रहण करने का आदेश।
चीन और फ्रांस के राजदूतिक सम्बन्ध स्थापित करने हेतु स्वीकृति।
चीन का एटम-बम विस्फोट।

1965 : पी. एल. ए. ने सेना पद समाप्त कर दिये।
वेन-युवा ने पेकिंग बुद्धिजीवियों को आक्षेपित किया।

1966 : कल्चरल क्रान्ति और लालसेना का क्रियाशील होना।

1967 : कल्चरल क्रान्ति का उपशमन।

1968 : माओ की पार्टी एकता पर बल देना।
चैकोस्लोवाकिया पर रूसी अधिकार।

1969 : रूस के साथ चीन का सीमा संघर्ष।
संघर्षोपरान्त सीमा वार्ता का आरम्भ।

1970 : चाउएन-लाई के नेतृत्व में केन्द्रीय प्रशासन में सुधार।

1971 : हैनरी किसिंजर की पेकिंग (बेजिंग) यात्रा।
निक्सन की चीन यात्रा की घोषणा।
लिन प्याओ की विमान दुर्घटना में सूचित मृत्यु।

1972 : राष्ट्रपति निक्सन की बेजिंग यात्रा।
जापान के प्रधानमंत्री टनाका की चीन यात्रा।

1973 : चाउएन-लाई का और अधिक राजनैतिक महत्व।
लिन प्याओं और कन्फयूशियस के प्रति आलोचनात्मक अभियान आरम्भ।

1974 : लिन प्याओं और कन्फ्यूशियस के अभियान का जन-आन्दोलन स्वरूप।

1975 : चतुर्थ नेशनल पीपुल्स कांग्रेस का बेजिंग में अधिवेशन।
चांग काई-शैक का निधन।

1976 : 8 जनवरी को चाओ-एन-लाई का देहान्त।
10 सितम्बर माओत्से-तुङ्ग का देहावसान।

1978 : पाँचवीं राष्ट्रीय जन कांग्रेस द्वारा एक नवीन निर्णय लिया जाना।

1982 : हुआङ्ग हुआ को केन्द्रीय समिति से हटाया जाना।

जापान

अध्याय 6

जापान : राष्ट्रीयता की ओर (1890-1905)

अभिलिखित इतिहास में जापान कभी भी विदेशी आक्रमणकारी विजेताओं द्वारा विजित नहीं हुआ। चीन के मगोल सम्राट कुबलई खान (1266-94) जो चगेज खान (जँगिस खान 1162-1227) का पौत्र था, 13वीं शताब्दी में उसने आक्रमण की चेष्टा करनी चाही परन्तु 'दैवी पवन' (कामाकाजी) ने सुरक्षा प्रदान की। तत्पश्चात जब व्यापारी व याजक वर्ग ने जापान में प्रवेश प्रारम्भ किया तो 1638 से लेकर 19वीं शताब्दी के मध्य तक जापान ने 'स्वगृहीत पार्थक्य' में रहना स्वीकार किया। यह पार्थक्य 1853 में अमरीका के कमोडोर पेरी के 'कृष्ण पोतो' (ब्लैक शिप्स) ने भंग किया। इसके कुछ ही समय पश्चात आगामी वर्षों में एक नव शासन ने मेइजी सुधार युग का सूत्रपात किया।

इस विलक्षण इतिहास का एक प्रतिफल जापान कीं सशक्त संमागता एवं निरन्तरता थी। यद्यपि जापान ने कन्फ्यूशियस चीन की अनेक राजनैतिक एवं सामाजिक मान्यताओं को स्वयं में निहित किया, परन्तु जापानियों का सर्वप्रमुख लक्ष्य एवं निष्ठा अपने देश को एक 'वृहद परिवार' के रूप में देखने में निहित रही है।

चीन और जापान में वैषम्य केवल आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं, अपितु राजनीति में भी द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त अमरीकी सुधारों के द्वारा जापान ने लोकतांत्रिक पद्धति को जन्म दिया है।

1854 में अमरीका के साथ जापान की प्रथम संधि ने जापान के वैदेशिक सम्बन्धों का एक नव अध्याय प्रारम्भ किया। जापान में इस समय आन्तरिक उग्रता ने प्राचीन पद्धति के प्रति प्रतिवाद प्रारम्भ कर दिया। जापानी लोग 'टोकूगावा' (1603–1867 तक का राजवंश) व्यवस्था से असन्तुष्ट थे। विद्वतापूर्ण ऐतिहासिक अध्ययन के द्वारा जापानियों का ध्यान नवीन शासन पद्धति की ओर आकृष्ट हो रहा था। टोकूगावा परिवार के

शासन के विरुद्ध जिन सामन्तों ने संघर्ष आरम्भ किया था, उन्हें भी आरम्भ में शासन के अतिरिक्त किसी अन्य व्यवस्था का बोध नहीं था। शनैः शनैः उनके उत्तराधिकारियों ने जिनको समय ज्ञान का वैचारिक बोध था, वे पश्चिमी देशों की ओर ज्ञान लाभ हेतु आकृष्ट हुए। पश्चिमी देशों से सम्पर्क स्थापित का तकनीकी ज्ञान व अन्य विद्याओं का उपयोग करने में ये लोग उतने ही इच्छुक थे जितना कि इनके पूर्वजों ने लगभग सहस्र वर्ष पूर्व इस प्रकार का ज्ञानोपार्जन चीन से किया था। इस प्रयत्न का लक्ष्य 'टोकूगावा' शोगुनेट' को 'केन्द्रित राज्यकीय सरकार' में परिवर्तित करना था।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के अन्तिम दशकों में जापान में विदेशी आक्रमण के भय ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता व एकता की भावना को जन्म दिया। युरोपीय शक्तियों के उपनिवेशवाद ने जब जापान के द्वार पर दस्तक दी तो जापान दासता के भय से भयभीत हो गया। राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक सुधार जो मेइजी पुनरुत्थान के आरम्भ में हुए वह सामन्तवाद, विरोधी, सामाजिक तथा समानता के प्रतीक थे। 1877 में 'सातसूमा विद्रोह' के पश्चात जापान में परिवर्तनशील गतिविधियाँ स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगीं।

पुर्नस्थापन के पश्चात 20 वर्षों में जापान के सामाजिक राजनैतिक तथा आर्थिक सुधारों ने जापानी रूढ़िवादी दृष्टिकोणों में वाह्य विश्व के लिए पर्याप्त परिवर्तन ला दिया था। पश्चिमी नवीन ज्ञान, विज्ञान तथा तकनीकियों के सम्पर्क में आने से एक ओर जापान ने स्वयं को मौलिकता की नवीन दृष्टियों से देखना तथा प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया एवं दूसरी ओर उन्हें अपनी अशक्तता, त्रुटियों तथा पारम्परिक आचार-विचारों का ज्ञान होना प्रारम्भ हो गया था। यही कारण था कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में राष्ट्रवाद तथा सैन्य शक्ति के प्रति एक विशेष आंकर्षण जापान में विकसित होने लगा। अतः जापान उस स्तर समानता की प्राप्ति की ओर अग्रसर हुआ जिस साम्राज्यीय स्तर को प्राप्त करने हेतु जापान लालायित था। इस प्रकार जापान ने अपनी आधुनिक प्रगति के मार्ग को प्रशस्त किया। जापान में राष्ट्रवाद के विकास के लिए अन्य बहुत से कारकों ने भी अपना प्रभाव डाला। सरकार द्वारा राजनैतिक एकीकरण के प्रयास में जन-समर्थन प्राप्त करने के लिए स्थानीय निर्वाचित समितियों तथा सभाओं की स्थापना की गई। उसके अतिरिक्त प्रचार, प्रसार एवं जन-सम्पर्क के लिए नवीन साधनों के प्रयोग के प्रयासों से सर्वसाधारण में एक राष्ट्रीय चेतना उद्वेलित होने

लगी। साथ ही साथ अनिवार्य शिक्षा, समाचार पत्रों, पत्रिकाओं, राजनैतिक उपन्यासों तथा जनप्रिय भाषा के प्रयोग से सामान्य जनता राजनैतिक-विषयों, वाद-विवादों, तथा समस्याओं में रुचि लेने लगी।

मेइजी (प्रबुद्धपूर्ण शान्ति) सरकार ने इस प्रक्रिया पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया, परन्तु समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता पर सरकारी प्रतिबन्ध था। राष्ट्रीय शिक्षा को जन मत में समावेश करने का उद्देश्य मात्र सम्राट को राष्ट्रीय एकता के आधार पर स्वरूप प्रतिस्थापित करने में ही निहित था। इसका मुख्य कारण सरकार द्वारा शिन्तों (शिन्टो) धर्म को मान्यता देना था। वास्तव में शिन्तों धर्म ने ही सम्राट की वैधानिकता को पुर्नस्थापित किया था। यही कारण था कि शिन्तों को 1868–69 के संवैधानिक स्वरूप में एक विशेष सम्मानित स्थान प्रदान किया गया था, जिसके कारण वह एक प्रकार से राज्य संरक्षित धर्म हो गया था। धर्म के साथ ही साथ सेना की भूमिका भी कम प्रभावशाली नहीं थी। शासक के साथ–साथ मुख्य सेनाधिकारी के रूप में सम्राट की प्रतिष्ठा ने भी सम्राट को राष्ट्रीय एकता का प्रतीक बना दिया। विद्यालयों में नैतिकता की शिक्षा, कन्फ्यूशनवाद की पुत्रोचित निष्ठा तथा राष्ट्रभक्ति की दोनों आस्थाओं के मिश्रित प्रभाव तथा सैन्य शिक्षा ने नागरिक कर्तव्यों के प्रति भावी स्वरूप स्पष्ट किया। फरवरी 1889 के संविधान ने सर्वसाधारण का अपने सम्राट के प्रति कर्तव्य को निर्धारित कर रुढ़िवादी सिद्धान्तों को आधुनिक परिवेश धारण करा दिया। इसी प्रकार अक्टूबर 1890 में शिक्षा पर प्रवृत्त साम्राज्जिक राज्यघोषणा ने शिक्षा तथा देशप्रेम को एक दूसरे का पूरक बना दिया।

वास्तव में देश प्रेम सम्राट के प्रति आस्थाओं का ही दूसरा नाम हो गया था। परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य दूसरे अर्थों तथा मान्यताओं ने भी जन्म लेकर देशप्रेम का अर्थ पर्याप्त विस्तृत कर दिया। मेइजी काल के प्रथम दशक में पश्चिमी वेशभूषा, प्रथाओं तथा जीवन शैली ने जापानी जन जीवन को पर्याप्त प्रभावित किया था। राष्ट्रीयता तथा देशप्रेम के नवीन अर्थों के अनुसार पश्चिमी पदचिन्हों का अनुसरण करना राष्ट्रीय मान्यतायें समझीं जाने लगीं। परिणामस्वरूप 1881 में स्थापित एक संस्था ने जापान की परम्परावादी वास्तुकला, चित्रकला, पारम्परिक नाटकों तथा पश्चिमी संगीत में शास्त्रीय विधाओं को विकसित करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार की समस्त भावनाओं ने जन साधारण की रुचि को जापान की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की ओर आकृष्ट किया। यूरोप के साथ सम्पन्न असमान सन्धियों के तत्काल पुर्ननिरीक्षण तथा एशिया में सैनिक कार्यवाहियों की माँग में वृद्धि होने

लगी। स्वयं सरकार में भी इसी प्रकार की भावना किसी न किसी रूप में उपस्थिति थी। परन्तु यह आवश्यक था कि इन लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु सावधानी पूर्वक नीतियाँ बनायी जायँ।

सर्वप्रथम सन्धियों के पुर्ननिरीक्षण हेतु प्रयास प्रारम्भ किए गए। इसके लिए दो मुख्य ध्येयों पर विशेष ध्यान दिया गया। प्रथम अतिसीमान्तवाद को समाप्त कर अथवा पुर्नपरिवर्तित कर जापान में उपस्थित विदेशी नागरिकों को जापान के वैधानिक क्षेत्रों में लाना, तथा द्वितीय जापान में आयातित विदेशी सामग्री पर सीमा शुल्क निर्धारण का अधिकार प्राप्त करना। अधिकतर वस्तुओं पर इस शुल्क की दर पाँच प्रतिशत निर्धारित कर दी गई। इन दोनों लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु 1871 में 'इउवाकुरा शिष्ट मण्डल' (मिशन) ने प्रथम प्रयास किये। आगामी वर्षों में कुछ अन्य अनुभव भी प्राप्त हुये। 1878–79 में सर्वप्रथम अमरीका ने जांपान को सीमा शुल्क स्वायत्तता प्रदान की; परन्तु ब्रिटेन ने इस प्रकार की सुविधा प्रदत्त करना अस्वीकार कर दिया। पुन: 1882 में ब्रिटेन सीमान्तवाद के प्रश्न पर अडिग रहा।

1886 में जापानी तथा विदेशी न्यायाधीशों के एक मिश्रित न्यायालय को स्थापित करने का प्रयास भी सर्वसाधारण की आलोचनाओं के साथ असफल हो गया। 1888 में विदेश मंत्री ओकूमा ने पुन: वार्तालाप प्रारम्भ किया तथा अतिसीमान्तवाद (अपर देशीय) की समाप्ति के लिये वह सामान्य मतैक्य निर्मित करने में सफल रहे। इसके लिये यह आवश्यक समझा गया कि मिश्रित न्यायालयों में अपील की व्यवस्था की जाय। उपरोक्त समाचार समयपूर्व जन प्रसारित हो गया। फलत: टोकियो में विरोध प्रदर्शन आरम्भ हो गये। राष्ट्रीय एकता तथा अखण्डता के प्रश्न पर एक तीव्र प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई। फलस्वरूप एक अतिराष्ट्रवादी ने ओकूमा पर बम फेंककर उनको घायल कर दिया। इस घटना ने वार्तालाप पुन: भंग कर दिये तथा कुरूडा सरकार ने त्यागपत्र दे दिया।

1890 में डाईट (संसद) के प्रारम्भ होते ही उपरोक्त प्रश्न आंतरिक गृह नीति का मुख्य प्रश्न बन गया। विरोधी दलों ने संस्थापित अल्पतंत्रीय वर्ग की महत्ता को समाप्त करने हेतु विदेशी समस्याओं पर सर्वसाधारण की रुचियों को आन्दोलित करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार की स्थिति ने जापान के वैदेशिक सम्बन्धों को स्थायित्व प्रदान किया। संसद में हुए वक्तव्यों ने ग्रेट ब्रिटेन को प्रतिवाद के अवसर प्रदान कर संधि वार्ताओं में बाधा उत्पन्न कर दी। 1893 के ग्रीष्म काल में जापानी विदेश मंत्री ने जब पुन: लंदन में वार्तालाप आरम्भ किया तो यह स्पष्ट रूप से कह दिया गया, कि अपरदेशीय

सीमान्तवाद के उन्मूलन द्वारा ही संधि वार्ता संभव हो सकती थी।

अन्ततोगत्वा वह निश्चित हो गया कि जापान के नवीन नागरिक संहिता के साथ ही अपरदेशीय समस्या का समाधान हो सकेगा। जुलाई 1894 में इस आशय की सहमति पर एक संधि सम्पन्न की गई। इसके तत्पश्चात अन्य विदेशी शक्तियों ने भी ब्रिटेन के उदाहरण को निर्णायक मानकर संधियाँ करने का निश्चय किया।

चीन, मंचूरिया तथा कोरिया

उपरोक्त संधियों तथा उपलब्धियों का प्रभाव सर्वसाधारण पर विशेष रूप से प्रभावी नहीं हुआ। इसका एक मुख्य कारण यह था कि यह उपलब्धियाँ उस समय प्राप्त हुई जब जापान अपने पड़ोसी राज्यों की समस्याओं में ग्रस्त था। जापान बहुत पहले से ही अपने पड़ोसी राज्यों में विशेष रुचि प्रदर्शित कर रहा था, क्योंकि इस पूरी शताब्दी में जापानी लेखकों ने चीन, मंचूरिया तथा कोरिया में जापान के अधिकारों की महत्वाकाँक्षा को महत्व दिया था। योशीदा शोईन जैसे लेखकों ने जापान की उत्तरजीविता हेतु महाद्वीपीय आधार को आवश्यक बताया। योशीदा के जापान अस्तित्व रक्षा अधिकारों का समर्थन उनके छात्रों तथा मेइजी नेताओं ने भी किया।

उपर्युक्त कार्यकर्ताओं को साइगोताकामोरी के कार्यों से समर्थन प्राप्त हुआ। 1881 में साइगोताकामोरी के निधनोंपरांत उनके समर्थकों एवं अनुयायियों ने 'जेनयोशा' नामक एक राष्ट्रभक्त संस्था की स्थापना की। इस संस्था का ध्येय विस्तारवादी विचारों तथा राष्ट्रीयता की भावना का संचार करना था। इन विचारकों एवं देश के प्रतिनिष्ठाधारियों का ध्यान कोरिया में केन्द्रित हो गया। इसमें राजनीतिज्ञों तथा प्रचारकों ने भी सहयोग दिया। परिणामस्वरूप कोरिया एक विवादग्रस्त क्षेत्र बन गया और शनैः शनैः कोरिया में हस्तक्षेप करने की भावना विकसित होने लगी। इस हस्तक्षेप में यह विश्वास निहित था, कि कोरिया को जापानी सुधार तथा आधुनिकीकरण का मार्ग अपनाना चाहिये जिससे कि वह पश्चिमी प्रभाव के विरुद्ध जापान का सहयोगी बन सके। साथ ही साथ एक नवीन भावना का भी प्रदुर्भाव हो रहा था जिसका अभिप्राय था जापान द्वारा पश्चिम विरोधी संघ की स्थापना करना तथा चीन एवं कोरिया को इस संघ में सहायक एवं भागीदार बनाना। इस संघ का उद्देश्य स्वयं अपने तथा पड़ोसी राज्यों की पश्चिमी देशों की 'शोषण नीति' से सुरक्षा करना था।

1876 में कोरिया के प्रति शक्ति-तर्जन का प्रयोग कर जापान ने दो

बंदरगाहों (पत्तनों) के साथ व्यापार स्थापित किया। चीन ने तुरंत चुनौती देकर समस्या को जटिल बना दिया। चीन के अनुसार कोरिया चीन का आधीनस्थ राज्य था एवं उसे स्वतन्त्र रूप से इस प्रकार भी किसी भी संधि का अधिकार नहीं था। इस प्रकार के मतभेद ने चीन तथा जापान के मध्य संघर्ष का रूप धारण कर युद्ध को आमंत्रित किया। 1884 में सोल (साउल) में चीन और जापान में युद्ध आरम्भ हुआ।

यद्यपि हीरोबोमी ईटो तथा लीहुंग-चाँग के सन्धि वार्तालापों के कारण यथास्थिति पर समझौता हो गया, परन्तु कोरिया के स्थानीय विद्रोहों के कारण स्थिति 1894 में और अधिक शोचनीय हो गई। यह विद्रोह कोरिया के एक पाश्चात्य विरोधी स्थानीय संस्था 'ताँङ्ग-हाक' के नेतृत्व में हो रहे थे। परिणामस्वरूप सम्राट ने चीन की सहायता मांगी जो तत्काल प्रदान की गई। परन्तु जापान ने 1885 के सम्मेलन के आधार पर इसका विरोध किया तथा जापानी सैनिकों को कोरिया प्रेषित कर दिया। इसके साथ ही साथ विभिन्न अन्य कारकों ने भी स्थिति को दुरूह बना दिया। चीन में फ्रांसीसी तथा ब्रिटिश हस्तक्षेपों के कारण चीन अपनी सीमाओं के प्रति अधिक चिन्तित हो गया था और जापान अपनी सेना के आकार में विकास तथा उसकी बढ़ती क्षमताओं के कारण निश्चिन्त था। इसके साथ ही साथ कोरिया में किसी भी विदेशी हस्तक्षेप के कारण जापानी व्यापार को क्षति पहुँचा सकती थी, क्योंकि कोरिया के मार्ग से ही जापान एशिया में प्रवेश कर सकता था। अतएव जापान को किसी भी आक्रमण के विरुद्ध कार्यवाही प्रारम्भ कर देनी थी। जापान को चीन तथा रूस दोनों से ही इस प्रकार का संकट उत्पन्न हो सकता था। फलतः जून के अन्त में जापानी सेनाओं को वापस बुलाने के स्थान पर ईटो ने यह घोषणा कर दी, कि जापानी सेनायें कोरिया में तब तक रहेगी जब तक कि कोरिया में बृहद् स्तर पर सुधार न प्रारम्भ हो जाएं। साथ ही साथ इसका ध्येय चीन के प्रभाव के स्थान पर पर जापानी प्रभाव की स्थापना करना था। जुलाई में ईटो ने इसी चीन को यह चेतावनी दी कि वह और अधिक सेना न प्रेषित करे। इसके विपरीत जापानी सेनाओं ने स्वयं कोरिया के राजसी महल पर अधिकार कर लिया। चीन के सामने केवल दो, ही मार्ग शेष थे। प्रथम कि वह जापान के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दे अथवा द्वितीय कि वह युद्ध करे। चीन ने बिना सुरक्षात्मक कार्यवाही किये हुए आत्मसमर्पण करना उचित नही समझा, अतएव युद्ध अवश्यम्भावी था।

चीन-जापान युद्ध (1894–95)

चीन जापान युद्ध की घोषणा अगस्त में हुई, जिसके पश्चात जापान की

विजयों का सिलसिला प्रारम्भ हो गया । वास्तव में चीन का प्रतिरोध अत्यन्त असक्षम तथा निर्बल था। यामागाटा के अनुसार जापान के अधिकारियों को किसी विशेष समस्या का समाधान नहीं करना पड़ा। सितम्बर के अन्त तक जापानी सेनायें लगभग समस्त कोरिया पर तथा जापानी नौसेना सम्पूर्ण 'पीतसागर' (येलो सी) पर अधिकार कर चुकी थीं। अक्टूबर में यामागाटा के नेतृत्व में दो विजित सेनायें दक्षिणी मंचूरिया में प्रवेश कर चुकी थीं। उसी समय ओयामा ने ल्याओतुङ्ग के विरुद्ध अभियान प्रारम्भ कर पोर्टआर्थर पर अधिकार कर लिया, तथा फरवरी 1895 में वेहाईवे (उत्तर पूर्वी शान्तुंग बंदरगाह) पर भीं जापानी सेनाओं ने प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रकार अब पीकिंग (बेंजिग) का मार्ग प्रशस्त हो गया, और चीन को अन्त में सन्धि करने पर विवश होना पड़ा। चीन से ली हुगं-च्याङ्ग को ईटो से वार्तालाप करने के लिये जापान प्रेषित किया गया। अप्रैल 1895 में शिमोनोसेकी से सम्पादित सन्धि ने कोरिया की स्वतन्त्रता को मान्यता देते हुए चीन के प्रभुत्व को समाप्त कर दिया। फारमोसा (ताईवान) तथा ल्याओतुङ्ग (ल्यूडुङ्ग) प्रायद्वीप तथा पोर्ट-आर्थर पर जापानीं अधिकार मान्य हो गया। चीन के चार अन्य नगरों को विदेशी व्यापार के लिये खोल दिया गया, तथा साथ ही साथ चीन को क्षतिपूर्ति भी देनी पड़ी। जापान, जापानी शासन तथा जापानी जनता के लिये यह विजय निश्चय ही अत्यन्त मधुर एवं महत्वपूर्ण थी।

चींन पर जापानी विजय के प्रभाव, जापान तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र दोनों पर स्पष्टतया परिलक्षित हुए। यह स्पष्ट हो गया कि चीन अत्यन्त ही अशक्त हो चुका था। इस विजय से जापान के आधुनिकीकरण की भी पुष्टि हो गई। उसको विजय की प्रतिष्ठा के साथ साथ कोरिया में प्रभुत्व, चीन में व्यापारिक सुविधा तथा फारमोसा में उपनिवेश की प्राप्ति हुई। परन्तु इन उपलब्धियों के साथ ही साथ कुछ नवीन समस्याओं का भी प्रादुर्भाव हो गया जो 'शिमोनोसेकी की सन्धि' के एक सप्ताह के मध्य ही समक्ष आई 23 अप्रैल को रूस, फ्रांस तथा जर्मनी के प्रतिनिधियों ने टोकियो को सूचित कियां कि लियाओंतुङ्ग पर जापानी शासन अवैध था, एवं जापान को चाहिये कि वह तत्काल इसे चीन को वापस लौटा दे। वास्तव में लियाओतुंङ्ग पर जापानी अधिकार चीन के साथ साथ सम्पूर्ण क्षेत्र को अशक्त बना गया था। इसके साथ ही रूस स्वयं साम्राज्यवादी तथा विस्तारवादी महत्वाकांक्षाओ से प्रभावित था, एवं इस क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। फ्रांस दक्षिण में अपने मन्तव्यो की पूर्ति हेतु रूस के समर्थन का इच्छुक था

तथा जर्मनी युरोप से रूस की सन्धियों को स्थानान्तरित करना चाहता था। यद्यपि इन मन्तव्यों से जापान कहीं भी प्रभावित नहीं होता था परन्तु जापान द्वारा चीन के साथ नवीन सम्बन्धों के विकास से तीनों शक्तियों को हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया।

ईटो की सरकार को अधिकृत सूचना प्राप्त थी, कि रूस बिना शक्ति प्रयोग के, अपने क्षेत्र को वापस नहीं करेगा। इसके साथ ही साथ जापान को कहीं से भी स्थाई सहायता प्राप्त होने की आशा नही थी। चीन के साथ युद्ध ने जापान को आर्थिक दृष्टि से भी जर्जर बना दिया था। इन परिस्थितियो में जापानी सरकार को तीनों यूरोपीय राष्ट्रों के हस्तक्षेप के फलस्वरूप आत्मसमर्पण के लिये बाध्य कर दिया गया। मई 5 को ही जापान को लियाओतुंङ्ग पर से अपने अधिकारों को वापस लेना पड़ा। इसके एवज में जापान को अधिक मात्रा में क्षतिपूर्ति प्राप्ति हुई।

यद्यपि लियाओतुंङ्ग की हानि से जापान 'शिमोनोसेकी' की समस्त उपलब्धियों से वंचित नहीं हुआ था, परन्तु उसकी गरिमा को आघात अवश्य ही पहुंचा था। युद्ध ने जापान में एक उत्साह की भावना की लहर प्रेषित कर संसद में सरकार के आलोचकों को मौन कर दिया। तत्पश्चात बिना चेतावनी के जापान को अवमानिता का बोध हुआ, कि अर्ध शताब्दी की उपलब्धियाँ अभी इतनी पर्याप्त नहीं थी, कि जापान किसी शक्तिशाली राष्ट्र की मागों की उपेक्षा कर सके। फलतः जापानी जनता में 'उग्रवादी राष्ट्रवाद' का प्रसार होने लगा। यह माँग होने लगी कि शासन की नीतियाँ ऐसी होनी चाहिए जो राष्ट्र की गरिमा तथा प्रतिष्ठा में वृद्धि कर सकें।

फलस्वरूप जापान की सरकार की तत्कालिक प्रक्रिया सैन्यशक्ति को सशक्त करने की थी। अतः शासन में सैनिकीय उपलब्धियों तथा क्षमताओं की वृद्धि को प्रोत्साहन देना प्रारम्भ कर दिया गया। 1896 में छः नये डिवीजनों का निर्माण कर सेना की शक्ति को लगभग द्विगुणित कर लिया गया। 1893 में अश्वारोही सेना एवं तोपखाने की स्वतन्त्र ब्रिगेडों को संगठित किया गया। इसी मध्य युद्ध सामग्री को अधिकाधिक समकालिक बनाने की चेष्टा की गई। इसके साथ ही साथ सेना के आधुनिकीकरण का प्रयास भी प्रारम्भ हो गया। आधुनिक राइफलों, तीव्र चलित तोपों तथा अन्य इसी प्रकार के शस्त्रों का उत्पादन जापान में ही करने के प्रयास प्रारम्भ हो गये। जापान 1904 तक अपने प्रयासों में सफल हो गया। इसके साथ ही साथ नौसेना तथा नौसैनिकों के अस्त्रों के क्षेत्र में भी जापान स्वावलम्बी हो गया। 1896-97 में एक नौ-

सेना निर्माण योजना प्रारम्भ की गई, जिसके अन्तर्गत चार युद्धपोत, सोलह क्रूजर, तेइस विध्वंसक तथा छः सौ अन्य यानों का निर्माण हुआ। इस प्रकार 1903 तक जापान की नौसेना अत्यन्त शक्तिशाली हो चुकी थी। जापान के उपरोक्त सैन्य विकास में अपार व्यय हुआ। 1893 में सैन्य व्यय 15 मिलियन येन था, और 1896 में यह व्यय 53 मिलियन येन हो गया। नवसेना का व्यय 1895 में 13 मिलियन येन था, 1898 में 50 मिलियन येन हो गया और 1903 में यह घटकर फिर 28 मिलियन येन हो गया। इस व्यय का मुख्य भाग सरकार ने व्यापारिक कर द्वारा, चावल की शराब तथा तम्बाकू और कपूर पर कर योजना द्वारा प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त सरकार को विदेशी और आंतरिक ऋण भी लेने पड़े जिसके कारण राष्ट्रीय ऋण आगामी दशक में द्विगुणित होगया। जापान की सरकार ने युद्ध सामग्री संग्रह के साथ ही भारी उद्योग, कोयले की उत्पत्ति युद्धपोत निर्माण इत्यादि में महत्वपूर्ण प्रगति की। इसके साथ ही जापान ने वैदेशिक एवं आंतरिक नीति का आत्मविश्वास से परिपालन करना आरम्भ किया। 20 वीं शताब्दी के आरम्भ तक जापान अत्यन्त कठिन एवं दुर्गम परिस्थितयों के कारण आत्मजनित एवं निष्ठायुक्त राष्ट्रीयता की चेतना से बोधित होने लगा था। जापान एक ओर चीन और यूरोप के सम्बन्धों की परिवर्तनशीलता के संकट से भी पूर्णरूप से सचेत था। दूसरी ओर चीन की सीमाओं पर उत्तर में रूस तथा दक्षिण में फ्रांस और ब्रिटेन, अपना अपना प्रभाव क्षेत्र स्थापित कर, चीन जापान की समस्या को जटिलता प्रदान कर रहे थे।

चीन पर जापानी विजय के कारण चीन की निर्बलता स्पष्ट हो गई थी। इसके साथ ही यह भय भी उत्पन्न हो गया था कि चीन विदेशी लागतों की सुरक्षा करने में असमर्थ था। अतएव यह आवश्यक था कि पश्चिमी राष्ट्र अपने लागतों की सुरक्षा के लिये स्वयं प्रयास करें। रूस, फ्राँस तथा जर्मनी ने अपने हस्तक्षेपों के कारण अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया। सर्वप्रथम 1896 में रूस ने पूर्वी चीन में रेल पथ के निर्माण का कार्य प्रारम्भ कर व्लादिवोस्तक को पश्चिम से जोड़ने का निर्णय कर लिया। 1897 में जर्मनी ने दो रोमन कैथोलिक पादरियों की हत्या के कारण मार्च, 1898 की सन्धि में केयूचाओ (जेयूजो) में एक नौसैनिक केन्द्र तथा शान्तुङ्ग में आर्थिक व्यापारिक सुविधा प्राप्त कर ली। कुछ ही दिनों पश्चात् रूस ने पुनः पोर्ट आर्थर के लिये अनुबन्धित अधिकार तथा मंचूरिया में विशेष सुविधा प्राप्त कर ली। एक माह पश्चात फ्रांस ने क्वांगचाओ-वान में एक सैनिक केन्द्र यूनान में रेल-पथ निर्माण की सुविधा, यूनान क्वाँगतुङ्ग (ग्वाँङ्ग डुङ्ग) तथा

क्वांग्सी (ग्वांग्सी) पर किसी अन्य शक्ति के अधिकार के विपरीत सुविधाएँ प्राप्त कर ली। इन कारणों से ब्रिटेन अपने सैन्य तथा आर्थिक रुचियों की सुरक्षा के प्रति सजग हो गया। अतएव जुलाई में उसने याग्सी (यांगत्से) खाड़ी, हाँगकांग के पास सीमाओं में वृद्धि तथा वेहाईवे में सैनिक केन्द्र निर्माण की सुविधाएँ प्राप्त कर लीं।

इन सभी घटनाओं ने जापान को उद्वेलित कर दिया। विशेषतया इसका मुख्य कारण जापान की महत्वाकांक्षाओं पर प्रतिबन्ध लगाकर स्वयं अपने प्रभावों में वृद्धि करना ही था। पश्चिमी देश स्वयं वही कार्य कर रहे थे, जिसको जापान द्वारा किये जाने पर शान्ति भंग की आशंका की गयी थी। जापान के लिये यह चिन्ता का विषय था क्योंकि न तो वह पश्चिमी देशों पर अंकुश लगा सकता था, और न ही वह स्वयं इस साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों में भागीदारी ही कर सकता था। जापान ऐसी दशा में केवल परिस्थितियों पर दृष्टि रखते हुये प्रतीक्षा ही कर सकता था और यह आशा ही कर सकता था कि ब्रिटेन और अमरीका ही संभवतया चीन के विघटन को रोकने में समर्थ होंगे।

1898 के अन्त में यामागाटा की सरकार ने कुछ विशेष उपलब्धियाँ प्राप्त की। आगामी वर्ष 1899 में चीन की आन्तरिक स्थिति विस्फोटक रूप धारण कर रही थी क्योंकि विदेशी प्रभावों तथा हस्तक्षेपों के विरुद्ध वहाँ आन्दोलन प्रारम्भ हो गये थे। जापान की सरकार ने इन परिस्थितियों में अत्यन्त सतर्कता तथा बुद्धिमता से निर्णय लिये, एवं उन पर कार्य किया। इन विद्रोहों का नेतृत्व शान्तुंग एवं उत्तर में 'बाक्सर्स नामक संस्था ने किया। उत्तर में यह विद्रोह बहुत अधिक सीमा तक बढ़ गया था। 1900 में बाक्सर्स विद्रोहियों ने पीकिंग की ओर जाने वाले समस्त मार्गों को बन्द कर दिया, तथा सभी विदेशियों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। ऐसी स्थिति में सन्धिबद्ध राष्ट्रों के लिये सैनिक कार्यवाही करना आवश्यक हो गया। परन्तु उन सभी राष्ट्रों में केवल जापान ही ऐसी स्थिति में था, जो सैन्य सहायता प्रदान कर सकता था। जापान ने इस घटना में अपनी भूमिका अत्यन्त ही सफलतापूर्वक निभायी तथा विदेशियों को मुक्त कराने में अकेले उसने ही आधी सेना प्रषित की। परन्तु इन कार्यवाहियों को करते समय वह अत्यन्त सावधान था तथा उसे सन्धिबद्ध राष्ट्रों पर विश्वास नहीं था। इस प्रकार जापान ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी प्रतिष्ठा बना ली एवं 1901 के सन्धि वार्तालापों में उसको भी सम्मिलित किया किया। जापान एक वृहद क्षतिपूर्ति की धनराशि भी चीन से प्राप्त करने में सफल हो गया।

रूस-जापान संघर्ष

इसी मध्य जापान एवं रूस के सम्बन्ध तनावपूर्ण होते जा रहे थे। यद्यपि 1895 के पश्चात उनके सम्बन्धों में वृद्धि हुई थी, क्योंकि रूस चीन तथा मन्चूरिया में व्यस्त था, एवं जापान अपनी स्थिति सुदृढ़ बना रहा था। 1896 में दोनों देश कोरिया में सहयोग करने के विषय पर सहमत हो गये। 1898 में रूस ने कोरिया में जापान को आर्थिक व्यापारिक सुविधा भी प्रदान कर दी थी। इन कारणों से दोनों के मध्य तनावों में कमी आई थी परन्तु मंचूरिया के कारण तनाव पुनः बढ़ गये थे। रूस ने पीकिंग में विदेशियों की सहायता के लिये सेना प्रेषित करने के स्थान पर 'बाक्सर्स विद्रोहियों' को सहायता प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया क्योंकि वह मंचूरिया पर अपना पूर्ण प्रभुत्व चाहता था। रूस ने 1901 में चीन से मंचूरिया एक संरक्षित क्षेत्र के रूप में प्राप्त कर लिया। इसके विरोध में सन्धिबद्ध शक्तियों ने विरोध प्रदर्शन किया, परन्तु जापान का विरोध अपेक्षाकृत अधिक मुखर था।

रूस का खुला विरोध करने के कारण जापान ब्रिटेन के अधिक निकट हो गया क्योंकि दोनों की सन्धियाँ समान थी, दोनों रूस की विस्तारवादी प्रवृतियों के विरुद्ध थे। मंचूरिया पर स्थाई रूसी अधिकार से ब्रिटेन का प्रभाव चीन पर न्यून हो जाता तथा जापान चीन की भूमि एवं कोरिया से पूर्णतया दूर हो जाता। परन्तु ब्रिटेन तथा जापान के मध्य किसी प्रकार का औपचारिक समझौता आसान नहीं था, क्योंकि इससे ब्रिटेन के निरपेक्ष नीति (भव्य पार्थक्य) पर प्रभाव पड़ता, एवं जापान को अपने पड़ोसी देश रूस से स्थाई विरोध का सामना करना पड़ता। यद्यपि 1895 के पश्चात ही दोनों राष्ट्रों में मित्रता के प्रयासों के लिये विचार विमर्श प्रारम्भ हो गये थे, जब ब्रिटेन ने 'त्रिदेशीय हस्तक्षेप' को अस्वीकार कर दिया था। इसका मुख्य कारण ब्रिटेन द्वारा 'शिमोनोसेकी की संधि' के व्यापारिक प्राविधानों को महत्व प्रदान करना था। जापान तथा ब्रिटेन के मध्य सम्बन्धों में वृद्धि का एक कारण यह भी था, कि जापान के आधुनिकीकरण तथा सैन्यीकरण में ब्रिटेन ने सहयोग प्रदान किया था। ब्रिटेन स्वयं को जापान के आधुनिकीकरण का शिक्षक समझता था। ब्रिटेन ने जापान के नौसैनिक अधिकारियों के प्रशिक्षण, छात्रों की शिक्षा तथा अन्य क्षेत्रों में विशेषज्ञों द्वारा सुविधा प्रदान करने के कारण टोकियो में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न कर लिया था, जो जापान तथा ब्रिटेन के घनिष्ठ सम्बन्धों का प्रचारक था। सार्वजनिक रूप से इन प्रचारकों में 'जापान मेल' के कैप्टन फ्रेंक ब्रिकले 'द टाइम्स' के टोकियो स्थित संवाददाता थे। दूसरी ओर लंदन में 'द टेलीग्राफ' के एडविन एर्नाल्ड लंदन में प्रचार प्रभाव को प्रोत्साहन दे रहे थे।

1901 में मंचूरिया के कारण दोनों देशों में अधिकारिक सभा में वार्तालाप प्रारम्भ हुआ। ब्रिटेन के विदेश सचिव लैंसडाउन तथा जापान के मन्त्री हायाशी ने लन्दन में वार्तालाप प्रारम्भ किया। इस वार्तालाप के परिणामों से पूर्व दो कठनाईयाँ समक्ष आई—एक जापान और ब्रिटेन चीन में यथापूर्वक स्थिति के इच्छुक थे तथा दूसरी रूस द्वारा मंचूरिया के प्रदेशों के समामेलन की योजना को निष्क्रिय करना था। इस प्रकार दोनों देशों के व्यक्तिगत स्वार्थों ने स्थिति को जटिल बना दिया। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन कोरिया में जापानी सहयोग कर का रूस-जापान संघर्ष में सीधी भागीदारी नहीं चाहता था। इसके विपरीत जापान भारत की सुरक्षा के लिए ब्रिटेन की सहायता करने के प्रश्न पर सहमत नहीं था। उपरोक्त घटनाचक्र में ईटो के स्थान पर कत्सूरातारो के प्रधानमंत्री बन जाने के कारण क्षणिक विलम्ब हुआ। तारो के प्रधानमंत्री हो जाने के पश्चात भी ईटो अत्यन्त प्रभावशाली थे और रूस से वार्तालाप के अधिक इच्छुक थे। नवम्बर दिसम्बर में ईटो ने रूस के साथ वार्तालाप प्रारम्भ किये, जिसके फलस्वरूप ब्रिटेन चिन्तित होने लगा। रूस जापान वार्तालापों का परिणाम अधिक इच्छानुकूल न होने से भी ब्रिटेन ने तत्काल ईटो के स्थान पर हायाशी पर आगे वार्तालाप के लिए दबाव डालना प्रारम्भ कर दिया और कत्सूरा तारो को हायाशी के समर्थन के लिये आग्रह किया गया। अन्त में जापान तथा ब्रिटेन के मध्य सन्धि सम्भव हो गई। ब्रिटेन ने भारत की सुरक्षा का प्रश्न वापस ले लिया तथा नौसैनिक सन्धि को बाद के लिये छोड़ दिया गया। जनवरी 30, 1902 के समझोते के अनुसार ब्रिटेन में जापान चीन तथा कोरिया की सन्धियों को मान्यता प्रदान की गई। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि यदि जापान रूस के साथ युद्ध प्रारम्भ करता है तो ब्रिटेन जापान की सहायता करेगा। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि यदि इनमें से कोई भी एक यदि एक से अधिक शक्तियों द्वारा आक्रमण किया जाता है तो दूसरा उसकी सहायता करेगा तथा सन्धि का सैन्य अनुच्छेद प्रभावी हो जायगा इस सन्धि के कारण ब्रिटेन सीधे रूस का विरोधी नहीं सिद्ध होता था। और जापान पर भविष्य में तीन राष्ट्रों जैसे हस्तक्षेप की सम्भावनाएँ समाप्त हो गई। इस सन्धि के तत्काल पश्चात जापान का उग्रवादी तत्व आक्रमण प्रवृत्तियों के प्रति निष्ठावान हो गया।

इस समझोते का आशानुकूल परिणाम हुआ। अप्रैल में रूस मंचूरिया से अपनी सेनाएँ वापस बुलाने के लिये तैयार हो गया छः अंतरालों में यह वापसी सम्पन्न होनी थी। प्रथम चरण में रूस ने अक्टूबर में सेनाये वापस बुलाई, यद्यपि वास्तव में उसने केवल सेनाओं का स्थानान्तरण उसी क्षेत्र के एक अन्य स्थान

पर कर दिया था। दूसरा चरण अप्रैल 1903 में सम्पन्न होना था जिसके विपरीत रूस ने पुनः प्रसार की संभावनाएँ प्रदर्शित कर दी। फलस्वरूप जून में जापान ने एक साम्राज्यवादी सम्मेलन बुलाकर रूस के साथ समझौता करने का प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव में चीन तथा कोरिया की सीमाओं को सम्मिलित रूप से सुरक्षित रखने का प्राविधान था, जिसके बदले में रूस के मंचूरिया रेल पथ को मान्यता प्राप्त होती तथा जापान को कोरिया में आर्थिक तथा राजनैतिक सुविधा प्राप्त होती। इसके प्रत्युत्तर में रूस ने अक्टूबर में प्रति प्रस्ताव प्रेषित कर दिया। इस प्रस्ताव में रूस ने केवल कोरिया के सीमाओं की सुरक्षा के प्रति प्राविधान प्रस्तुत किया। चीन तथा मंचूरिया को इस प्रस्ताव की सीमाओं से बाहर ही रखा गया। यह भी प्रस्तावित किया गया कि जापान कोरिया में किसी भी प्रकार की घेराबंदी नहीं करेगा तथा मंचूरिया जापानी प्रभाव क्षेत्र से बाहर होगा। इस प्रकार के प्रति प्रस्ताव से यह स्पष्ट था कि रूस 1902 के आंग्ल-जापानी समझौते को मान्यता नहीं दे रहा था कत्सूरा ने आम जनता की मांगों के अनुरूप इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। उनके विचार में युद्ध संकट उपरोक्त समझौतों की हानि से अधिक व्यवहारिक था। फलस्वरूप जनवरी 1904 में जापान ने अल्प प्रस्तावों के रूप में एक चेतावनी पत्र प्रेषित कर दिया। इस प्रस्ताव के अस्वीकृति के तत्काल पश्चात जापान ने युद्ध की घोषणा कर दी।

यद्यपि यह घोषणा फरवरी 10, 1904 को की गई, परन्तु संघर्ष चार दिन पहले ही प्रारम्भ हो गया था। रूसी सेनाओं ने कोरिया की सीमाओं में प्रवेश कर लिया था तथा जापान ने रूस की एक सेना पर आक्रमण कर दिया था। जापान के लिए आवश्यक था कि वह जलडमरूमध्य पर अपना अधिकार स्थापित रखकर कोरिया में प्रवेश कर सके। यह समस्या अप्रैल 13, को जापान ने पोर्ट आर्थर पर एक रूसी नौसैनिक बेड़े को पराजित कर हल कर ली। तत्पश्चात जापानी सेना के एक दल ने 'यालू नदी' के समानान्तर दक्षिणी मंचूरिया पर तथा दूसरे ने ल्याओतुङ्ग प्रायद्वीप पर आक्रमण कर दिया। कुछ ही दिनों पश्चात जनरल नोगी के तीसरे सैन्यदल ने पोर्ट आर्थर को घेर लिया। दोनों शक्तियों के अन्तिम संघर्ष मार्च 1905 में निर्णायक युद्ध सिद्ध हुये, जिसमें जापान के सोलह डिवीजनों ने मुकडेन नगर को अधिकृत करने के लिए प्रवेश किया। रूस की आशाओं पर अन्तिम तुषारापात हेतु उसके बाल्टिक नौसैन्य बेड़े को भी मई 27, को एडमिरल टोगों ने त्सुशीमा-जलडमरूमध्य में विनष्ट कर दिया।

इन घटनाओं के कारण शक्ति समझौते की सम्भावनाएँ बढ़ गईं, यद्यपि

दोनों शक्तियों के समझौतों के कारण भिन्न थे। रूस यद्यपि यह स्वीकार नहीं कर रहा था कि उसके सैनिक श्रोत समाप्त हो चुके थे परन्तु वह आन्तरिक समस्याओं से भी कठिनाई में पड़ गया था। जापान ने यद्यपि युद्ध में विजय प्राप्त कर ली थी परन्तु वह आर्थिक रूप से नि:शेष हो गया था। अगस्त 1905 में जापान द्वारा अमरीका की मध्यस्थता के परामर्श को समुचित रूप देने हेतु न्यूहैम्पशायर में एक शांति सम्मेलन संयोजित किया गया। जापान की मांगे अत्यन्त जटिल थीं क्योंकि वह अपरोक्ष युद्ध में विजयी हुआ था। वह कोरिया में अपनी सर्वोच्चता को मान्यता, मंचूरिया में रूसी रुचियों को जापान के प्रति स्थानान्तरण, रेलमार्ग तथा बल्याओतुङ्ग पर अधिकार, सखालिन का विलय, एवं युद्ध के क्षतिपूर्ति की मांग कर रहा था। रूस ने अन्तिम दोनों मांगों को एकदम अस्वीकार कर दिया। भविष्य में पुन: युद्ध का भार न वहन कर पाने के भयस्वरूप जापान ने सितम्बर 5 को अन्त में समझौते की स्वीकृत प्रदान कर दी। सितम्बर 5, की 'पोर्टसमाउथ' की यह सन्धि यद्यपि जापान की आम जनता को सन्तुष्ट कर सकी थी, फिर भी यह जापान की महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। आधुनिक इतिहास में पहली बार किसी एशिया के राष्ट्र ने यूरोपीय शक्ति को पराजित किया था। इस कारण अर्न्तराष्ट्रीय क्षेत्र में जापान की प्रतिष्ठा में अत्यन्त वृद्धि हुई, कोरिया दक्षिणी मंचूरिया तथा फारमोसा एवं चीनी व्यापार में हिस्सेदारी का प्राप्त हो जाना कोई छोटी सफलता नहीं थीं। आंग्ल-जापानी सन्धि के कारण जापान ने यदि समानता के स्तर को प्राप्त किया था तो रूस जापान युद्ध से उसकी साम्राज्यवादी-प्रवृत्तियों में वृद्धि प्रारम्भ हो गई थी, जिसके फलस्वरूप वह स्वयं अपना साम्राज्य विस्तार की दिशा में योजनाएँ बनाने लगा।

●

अध्याय 7

जापान : आधुनिकता की ओर (1905-1914)

पैंतालिस वर्षों के परिवर्तनशील जापान का मेइजी शासक जुलाई 30, 1912 को दिवंगत हो गया। इस काल में जापान तथा मेइजी शासक दोनों की प्रतिष्ठाओं में अपार परिवर्तन आया। स्वयं सम्राट की स्थिति एक प्रभावशाली पद से एक उत्साहवर्धक राष्ट्र के अर्ध दैविक सम्राट तक जा पहुंची थी। शताब्दियों से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर निर्बल जापान ने, इस युग में दो महत्वपूर्ण संघर्षों में विजय प्राप्त कर, एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा स्थापित कर ली थी। जापान में साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति तथा साम्राज्यवाद की दिशा में प्रयास इसी काल में प्रारम्भ हुए। सामान्य जापानी जनता ने पूंजी एकत्रित करने की नवीन विधियों को अविष्कृत कर उच्चस्तरीय जीवन शैली में प्रवेश किया। उन्हें प्रथमतः सक्षम शासन, शिक्षा तथा राष्ट्रीय जीवन में सहभागिता का अवसर मिला।

वास्तव में आधुनिकीकरण का प्रथम चरण सफलतापूर्वक सम्पन्न हो चुका था। औद्योगीकरण से राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ साथ अन्य कई प्रभाव परिलक्षित हुए। नगरों तथा ग्रामों, प्रशासकों तथा श्रमिकों, रूढ़िवादियों तथा प्रगतिशीलों के मध्य रुचियों का मतभेद प्रारम्भ हो गया। रूढ़िवादी परिवार तथा कुटुम्बवाद में विश्वास कम हुआ। वास्तव में देशी विदेशी तथा परम्परावादी एवं आधुनिक विचारों के पारस्परिक मतभेदों ने राजनीति, सिद्धान्त, तथा सामाजिक प्रथाओं को प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया था। फलस्वरूप आगामी दो सम्राटों के शासनकाल में एक नवीन प्रकार के संघर्ष ने जन्म लिया जिसने मेइजी शासन काल से भी अधिक सामाजिक परिवर्तन को आमन्त्रित किया।

कोरिया का समामेलन

सितम्बर 1905 में 'पोर्टस्माऊथ की सन्धि' के साथ रूस-जापान युद्ध

समाप्त हो गया। नवम्बर में जापान ने एक समझौते में कोरिया के विदेशी मामलों का उत्तरदायित्व प्राप्त कर, उसे एक संरक्षित राज्य घोषित कर दिया। एक सप्ताह पश्चात चीन ने सभी अधिकृत व्यवस्थाओं को स्वीकृत प्रदान कर दी। फलस्वरूप इस वर्ष के अन्त तक, अन्तंराष्ट्रीय हस्तक्षेप के अधिक भय न रहने के कारण, जापान अपने सभी अर्जित लाभों को प्रयोग करने की स्थिति में आ गया था। सर्वप्रथम 'ईटो' को फरवरी 1906 में कोरिया का रेजीडेन्ट-जनरल नियुक्त कर दिया गया। उनके पास यद्यपि पर्याप्त अधिकार थे, परन्तु वह इतने अधिक नहीं थे कि वह कोरिया को हेग के जून 1907 के सम्मेलन में विरोध करने व कोरिया को अपना पुनरावेदन प्रेषित करने से रोक सकते। फलस्वरूप जुलाई 1907 में राजा को पदच्युत कर जापान ने वैदेशिक नीति के साथ साथ गृह नीतियों पर भी अधिकार कर लिया। अक्टूबर 1909 को हार्बिन में एक कोरियाई उग्रवादी द्वारा ईटो की हत्या के पश्चात जापान ने अगस्त 22, 1910 को कोरिया को समामेलन संधि के लिये बाध्य कर दिया।

इस मध्य मंचूरिया में घटनाक्रम अपेक्षाकृत अधिक सामान्य थे। जून 1906 में जापान ने दक्षिणी मंचूरिया रेल सेवा में आधी से अधिक लागत लगाकर रेल कम्पनी में अपने दो अधिकारियों के नियुक्ति का अधिकार प्राप्त कर लिया। रेल निर्माण के साथ खनिजों के उत्खनन, जापानी वस्तुओं की बिक्री तथा कर प्राप्ति के कार्यों को भी प्रारम्भ कर दिया गया। इसके साथ ही साथ रेल क्षेत्रों के प्रशासन का उत्तरदायित्य भी जापान ने सँभाल लिया। इन सभी प्रयासों की आय का श्रोत न घोषित कर जापानी नीतियों के रूप में प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार जापानी लागतों में तीव्रता से वृद्धि होने लगी। इन समस्त प्रयत्नों को सम्भावित मान्यताओं के रूप में विश्व शक्तियों ने स्वीकार कर लिया। 1907 के फ्रांस तथा रूसी समझौते, 1905 की सन्धि को अमरीका द्वारा प्राप्त मान्यताओं तथा 1908 के 'रूटताकाहीरा प्रस्तावों' द्वारा भी मंचूरिया में जापानी-रुचियों के प्रति अन्तंराष्ट्रीय मौन सम्मति प्रदान की गई। यद्यपि ब्रिटेन की जनता ने विरोध व्यक्त किया, परन्तु इससे 1911 के आंग्ल-जापानी सन्धि समाप्त होने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इस काल में जापान ने चीन में भी पर्याप्त आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त की। इसी समय में चीन में जापान के आर्थिक प्रभाव में वृद्धि होने लगी। चीन जापान युद्ध के समय जापान की समस्त निर्यात 62 मिलियन डालर थी, जिसका 8.4 प्रतिशत चीन के साथ थी। प्रथम विश्वयुद्ध तक समस्त निर्यात 355 मिलियन डॉलर थी, जिसका 13.6 प्रतिशत चीन के साथ थी।

राजनैतिक सामाजिक संस्थायें

उपरोक्त अन्तर्राष्ट्रीय लाभांशों की सुरक्षा तथा उसमें विकास के लिये जापान में सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिरता आवश्यक थी। जापान ने बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशक में इस दिशा में भी सफलतापूर्वक प्रयास किया। इस चालीस वर्षों के अन्तराल में निर्मित संस्थाओं का उद्देश्य एक शासक वर्ग को समाप्त कर अन्य वर्ग को प्रतिष्ठित करना नहीं था। इसके विपरीत राजनैतिक शक्तियों को इसी वर्ग में तथा नवीन तत्त्वों को विभाजित करने की चेष्टा की गयी। अतएव अभिजात्य वर्ग तथा सामन्त वर्ग के प्रतिनिधियों में इस व्यवस्था के प्रति अपेक्षित आक्रोश नहीं उत्पन्न हुआ क्यों कि उन्होंने धन तथा प्रतिष्ठा पर सन्तोष करना प्रारम्भ कर दिया था। इसी प्रकार 'समुराई वर्ग' को भी इस व्यवस्था में सन्तोषजनक स्थान प्राप्त हो गया था। उनमें से कुछ सैनिक तथा कुछ प्रशासक बन गये, शेष आयोगों तथा व्यापारों में संलग्न हो गये। इस प्रकार इस नवीन व्यवस्था में भी अभिजात्य वर्ग तथा समुराई वर्ग को पर्याप्त सुविधाएँ तथा प्रतिष्ठा प्राप्त रही। राज्य सेवा तथा प्रशासकीय सेवा मार्ग से भी जापानी जनता प्रगति तथा प्रतिष्ठा को प्राप्त कर सकती थी। अनुशासन व्यवसायिक क्षमता, व्यक्तिगत व्यवहार तथा योग्यता के आधार पर सभी को आवश्यक प्रतियोगी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के पश्चात् आगे बढ़ने का अधिकार था। शिक्षा में समानता होने के कारण कोई भी परिवार अपने पुत्र को उच्च शिक्षा प्रदान कर उसे राज्य सेवाओं में प्रेषित कर सकता था। निम्न वर्ग को छोड़कर भूमिधरों, बड़े किसानों तथा छोटे व्यापारियों एवं उद्योगपतियों सभी को समान अवसर प्राप्त थे। इससे पूर्व ये पहले किसी भी प्रकार से शासक वर्ग में नहीं पहुंच सकते थे। फलस्वरूप शिक्षा के प्रति जागरूकता में अपार वृद्धि हुई और अनेक शिक्षा संस्थाओं, विश्वविद्यालयों, तथा माध्यमिक विद्यालयों एवं प्राथमिक विद्यालयोंको खोलागया। 1907 में प्राथमिक पाठशालाओं में सात मिलियन शिक्षणयुक्त आयु के छात्रों में 97 प्रतिशत शिक्षा अर्जित कर रहे थे। माध्यमिक पाठशालाओं में भी छात्रों की संख्या में अपार वृद्धि हुई। उच्च शिक्षा में टोकियों में स्थित 3 विश्वविद्यालयों, के अतिरिक्त क्योटो (कीयोटो) विश्वविद्यालय 1903 में, सन्दाई 1907 में, तथा 1910 में फूकूवोका में विश्वविद्यालय स्थापित किये गये। आधुनिक जापान में जन्म के स्थान पर योग्यता प्रगति का द्योतक बन गयी। यद्यपि इसके लिये शिक्षित होना आवश्यक था जिसके लिये थोड़े धन की अवश्यकता अवश्य थी परन्तु सभी इस व्यवस्था से लाभान्वित नहीं हो सकते थे। फलस्वरूप असन्तुष्ट भूमिधरों, किसानों, व्यापारियों, उद्योगपतियों, तथा समुराइयों ने

इस शासन नीति का विरोध भी किया। जापान राजनैतिक दलों के जन्म तथा विकास के पीछे यहीं मुख्य कारण था। इस असन्तुष्ट वर्ग को समाज परिवर्तन अथवा प्रगति में विश्वास होने की अपेक्षा, धन, प्रतिष्ठा तथा राजनैतिक शक्ति में भागीदारों के प्रति अधिक आस्था थी।

इसके साथ ही साथ यह भी वास्तविकता थी कि मात्र योग्यता के आधार पर पदोन्नति सम्भव नहीं थी। सर्वोच्च न्यायालय (प्रीवीं काउन्सिल), अभिजात वर्ग सदन (हाउस आफ पीर्यस), सेना के उच्च पदों, तथा केन्द्रीय प्रशासनिक सेवा के सर्वोच्च पदों पर नियुक्ति का अधिकार सम्राट को ही था। सम्राट इन पदों पर नियुक्ति के लिए उच्च पदों पर आसीन व्यक्तियों सेपरामर्श लेता था। अतएव् इन पदों पर नियुक्ति के लिए क्षमताओं तथा योग्यताओं के साथ साथ यह भी आवश्यक था, कि उनका सम्बन्ध उच्च घरानों तथा प्रभावशाली व्यक्तियों से हो। इस प्रकार के एकाधिकार के विरुद्ध मेइजी शासन के विरोधियों के पास दो उपाय थे—एक, दैनिक पत्रों तथा जन सभाओं द्वारा जनमत उत्पन्न करना तथा दूसरा, अवर सदन में निर्वाचित सदस्य तथा राजनैतिक दलों के द्वारा सरकार की समीक्षा करना। चीन से युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व तक राजनैतिक दलों के आपसी मतभेदों ने संघर्ष का स्वरूप ले लिया था। परन्तु चीन-जापान युद्ध के कारण आपसी मतभेदों का स्थान राष्ट्रप्रेम ने ले लिया। इसके विपरीत कुलीनतंत्र इस बात से पूर्णतया विज्ञ था कि इस प्रकार राजनैतिक मतभेदों तथा संघर्ष से संवैधानिक शासन सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकता। राजनैतिक दलों तथा उच्चवर्ग दोनों क्रान्ति विरोधी सिद्धान्तों के प्रतिपादक थे। फलस्वरूप राष्ट्रीय एकता के नाम पर दलों में भी पारस्परिक सहिष्णुता की भावना का प्रादुर्भाव होने लगा।

इस प्रकार के परिवर्तन का प्रथम उदाहरण 1895 में उस समय सामने आया जब ईटो को उदारवादी दल का समर्थन प्राप्त हो गया। ईटो की सरकार गिरने के पश्चात 1896 में उसके उत्तराधिकारी माट्सूकाटा ने भी ओकूमा के दल से समान आधारों पर समझौता कर लिया, तथापि उपयुक्त कार्य व्यवस्था पारस्परिक अमान्यता तथा यामागाटा की असहमति के द्वारा विशेष सफल नहीं हो सकी। यद्यपि ईटो ने 1898 में पुनः प्रधानमन्त्री बनने के पश्चात यह नीति नहीं अपनाई परन्तु वह बिना निम्न सदन के समर्थन के सरकार नहीं चला सकते थे। फलस्वरूप उन्होंने ओकूमा तथा ईटागाकी के दलों को एक साथ मिलाकर जापान के इतिहास में पहली बार दलगत सरकार बनाने की दिशा में कदम उठाया। ओकूमा ने प्रधानमन्त्री, एवं ईटागाकी ने गृहमन्त्री का पद सम्भाला, तथा उन्हें नव स्थापित संवैधानिक दल का समर्थन

भी मिला जो सम्राट के प्रति आस्थावान थी। ओकूमा एवं ईटागाकी का समझौता अल्पकालिक था, और कर नीति के प्रश्न पर मतभेद स्पष्ट हो गया। इस सरकार को प्रशासन का समर्थन भी नहीं मिला। इस प्रकार ईटो संघर्ष के स्वरूप को बदलने में सफल हो गये। वह नहीं चाहते थे कि संघर्ष मंत्रीमंडल एवं संसद के मध्य हो। वह (मंत्रिमण्डल कैबिनट) का संघर्ष संसद की अपेक्षा कुलीनतंत्र से चाहते थे। अक्टूबर 31 को सरकार गिरने के पश्चात यामागाटा ने सरकार बना ली और आगामी दो वर्षों में उन्होंने राजनैतिक घूसखोरी के माध्यम से सदन में बहुमत प्राप्त कर लिया।

ईटो एवं यामागाटा के मध्य व्यक्तिगत विदेश नीति तथा मेइजी नेतृत्व के प्रशासनिक एवं सैन्य रुचियों पर मतभेद उत्पन्न हो जाने से समस्या पुनः गम्भीर हो गई। सितम्बर 1900 में ईटो ने पुराने उदारवादियों के समर्थन से एक दल 'राजनैतिक मित्र संघ' को निर्माण का प्रयास किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि मंत्रीमंडल स्वतन्त्र होना चाहिये तथा उस पर दल का प्रभुत्व नहीं होना चाहिये। इस आधार पर उन्होंने एक अल्पकालीन सरकार भी बनाई। यामागाटा ने इसका विरोध किया। यामागाटा को उच्च सदन में तथा प्रशासन में समर्थन प्राप्त होने से ईटो उसके विरोध का सामना न कर सका, तथा जून 1901 में एक वर्ष पूर्ण होने से पूर्व ही उन्होंने पुनः त्यागपत्र दे दिया।

आगामी बारह वर्षो तक ईटो एवं यामागाटा अपने-अपने राजनैतिक आश्रितों 'सैंओजी किमोची' तथा 'कत्सूरा तारो' द्वारा राजनैतिक प्रतिनिधित्व किये जाते रहे। यह दोनों क्रमशः बारी-बारी से प्रधानमन्त्री को पद पर आरूढ़ होते रहे। इसके बाद का काल "कत्सूरा-सैंओजी विरामसंधि" के नाम से जाना जाता रहा। वास्तव में दोनों के पास बहुमत का समर्थन था, दोनों एक दूसरे का प्रतिरोध करने की स्थिति में थे। फलस्वरूप उनके मध्य एक अनचाहा मतैक्य बना रहा। इस समझौते का श्रेय 'हाराकेई' (सीयूकाई दल) को प्राप्त था। जिसने इस परिस्थिति में नया मार्ग निकाला। हाराकेई ने दल विहीन सरकारों को समर्थन प्रदान कर कैबिनेट पद प्राप्त करने की नीति अपनाई थी।

1905 से 1915 के मध्य हारा तीन बार गृहमंत्री बने। इस आधार पर उन्होंने प्रशासन तथा स्थानीय सरकारों का समर्थन भी प्राप्त किया। पदोन्नति तथा पदच्युति की शक्तियों का प्रयोग कर उन्होंने केन्द्रीय तथा स्थानीय प्रशासकों का समर्थन अपने दल के लिये प्राप्त किया। रेल निर्माण तथा विकास युक्त योजनाओं का भी उन्होंने अपने दल के समर्थन के लिये प्रयोग

किया । अतएव मेइजी सम्राट के निधन तक उनका दल जापान का एक सशक्त राजनैतिक तंत्र के रूप में परिणित हो चुका था । द्वारा संसद के अवर सदन तथा कुलीन तंत्र दोनों से समर्थन प्राप्त करने में सफल रहे ।

सांस्कृतिक आधुनिकीकरण

अतः जापान राजनैतिक परिवर्तन परिचक्र के साथ आर्थिक परिवर्तन की ओर भी प्रयत्नशील था । जापान न तो उतना विविक्त एवं पार्थक्यपूर्ण ही रहा था जितना कि एक पीढ़ी पूर्व था, न ही उसके मुख्य नगरों का स्वरूप उतना प्राची रह गया था । ओसाका और टोकियो इस परिवर्तन गति के मुख्य उदाहरण थे । इन नगरों में पश्चिमी देशों के नगरों की भांति जलकल (वाटर वर्क्स) विद्युत रेलवे, विद्युत ट्राम, तथा बैंक, इत्यादि की सुविधायें प्राप्त हो रही थी । इस के साथ ही टेलीफोन, टेलीग्राफ एवं विद्युत प्रकाश का भी विकास हो रहा था । टोकियो तथा ओकासा के अतिरिक्त क्योटो, योकोहामा, कोबे इत्यादि नगरों में भी पश्चिमी विकास की प्रक्रिया पूर्णतया परिलक्षित थी । नगरों में ही नहीं वरन ग्रामों में भी विकास के लक्षण स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे थे । उपरोक्त विकासोन्मुखी योजनाओं का लक्ष्य केवल पश्चिमी अनुकरण नहीं था, वरन यह राजनैतिक सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन जापान की आन्तरिक उन्नत इच्छा के द्योतक थे । नगरों की आधुनिकता जापान के राष्ट्रीय जीवन में आधुनिक आर्थिक नीति समावेश की स्पष्ट सूचक थी । नगरों की जनसंख्या में भी अगामी दशकों में वृद्धि होती गई । उदाहरणस्वरूप 1893 में 16 प्रतिशत, 1903 में 21 प्रतिशत तथा 1913 में 28 प्रतिशत वृद्धि हुई । जनसंख्या वृद्धि ने श्रमिकों की संख्या, आयात निर्यात, तथा व्यापार में भी वृद्धि की ।

इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक ने जापान के आर्थिक इतिहास के एक सुनिश्चित चरण की सीमा का निर्धारण किया । यह चरण जापान के लिये उतना ही आवश्यक था जितना उपक्रम से उपलब्धि तक होना चाहिये । यह वाह्य प्रभाव जो नगरों की स्थिति में परिवर्तन ला रहे थे, इन्होंने जन साधारण के जन जीवन में भी परिवर्तनता का समावेश किया । लोगों के खान-पान, रहन-सहन, शिक्षा तथा जीवन के कतिपय प्रत्येक पक्ष को आधुनिकता ने प्रभावित किया । 1880 में टोकियो में प्रथम पश्चिमी संगीत की ध्वनि 'रुक्कुमाईकान भवन' में प्रतिध्वनित हुई । शनैः शनैः पश्चिमी संगीत ने सुशिष्ट उपलब्धि धारण की । 1903 में 'क्रिस्टोफ ग्लुक' का जापानी अनुवादित 'ऑपेरा ऑरफीएस' (आरफीयूस) का प्रदर्शन हुआ । नाटकों में

जापानी परम्परा का ही प्रचलन रहा । इस युग में जापानी पुस्तकों के प्रकाशन ने भी आधुनिक जापान का वर्णन किया ।

जापान की उपरोक्त आधुनिक धारा ने जापान को राजनैतिक, आर्थिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकरूपता का स्वरूप देने का प्रयास कर विश्व शक्ति के रूप में स्थापित किया ।



अध्याय 8

जापान : एक विश्व शक्ति के रूप में (1914-1922)

जापान की सुदूर पूर्व (पूर्वी एशियाई) नीति

अगस्त 1914 में जब यूरोप में प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भ हुआ, जापान अपने अर्ध शतकीय प्रगति के आधार पर प्रथम बार इस स्थिति में पहुँच चुका था कि वह यूरोप की समस्याओं में हस्तक्षेप कर सकता। 1918 में युद्ध समाप्त होने पर वह विश्व शक्ति के रूप में परिणित हो चुका था। जापानी सैन्य तथा नौसैनिक शक्तियों ने उसको अपने अधिकारों को प्राप्त करने हेतु सक्षम बना दिया था। फलस्वरूप वर्साई में जापान के प्रतिनिधि को ब्रिटेन, फ्रांस तथा संयुक्त राज्य अमरीका के पश्चात स्थान प्राप्त था। राष्ट्र संघ परिषद में भी जापान को स्थाई स्थान प्राप्त हुआ। अत: 1922 के वाशिंग्टन सम्मेलन में जापान के कार्यों से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं ने भी उसकी बढ़ती शक्ति तथा प्रभाव पर अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति सिद्ध कर दी थी।

यद्यपि जापान की यह स्थिति 'टोकूगावा' व 'मेइजी नेताओं' के युग से भिन्न थी और जापान विकास की ओर अग्रसर था, परन्तु जापान पाश्चात्य साम्राज्यवाद के विस्तारवाद से अभी भी भयग्रस्त था। इस साम्राज्यवादी प्रसार के विरुद्ध जापान जागरूक तथा विकासोन्मुख था। इस परिस्थिति के साथ-साथ जापान में दो समानान्तर विचारधाराओं से उत्पादित प्रतिक्रियाएँ भी कार्यरत थीं। प्रथम, जापान को पश्चिमी व्यापार, पश्चिमी विचारधाराओं तथा पश्चिमी सन्धियों के लिए खोलकर विश्व स्तरीय मान्यता प्रदान करना, तथा द्वितीय देश से बर्बर विदेशियों को निष्काषित करना। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विचारधारा के लोग भी थे, जो यद्यपि पश्चिम के विरुद्ध किसी स्वतन्त्र युद्ध की बात तो नहीं करते थे परन्तु पश्चिम से पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद कर पूर्वी एशिया में जापान की सर्वोच्चता के प्रति कटिबद्ध थे। उनके विचार से पश्चिमी राष्ट्रों पर आलम्बन को समाप्त करके ही पश्चिमी प्रभुत्व को

समाप्त किया जा सकता था। 1894 के पश्चात दोनों युद्धों की सफलता ने जापान की महत्वाकांक्षाओं को प्रोत्साहित किया था। एक समकालीन विचारक के अनुसार यह पूर्वी एशिया का निर्विवाद-शासक बनने का प्रयास था। 1914 से 1922 के जापानी शासकों की नीतियों ने भी यह सिद्ध कर दिया था। सुदूर पूर्व की जापानी नीतियों को तीन मुख्य भागों में विभक्त किया जा सकता है।

प्रथम कोरिया में सुधारों की माँग का प्रारम्भ होना था। इसका मुख्य उद्देश्य जापान के नेतृत्व में एक शक्तिशाली आधुनिक सुरक्षा संघ का निर्माण कर पश्चिम के प्रभुत्व से सुरक्षा प्राप्त करना था; इसी सिद्धान्त के आधार पर कोरिया का सम्मेलन किया गया। परन्तु चीन में इन्हीं नीतियों पर अन्तं-विरोध था। इस बात की सम्भावना थी कि चीन में जापानी सैन्य तथा वित्तीय सहायता के आधार पर सहयोग प्राप्त किया जा सकता था। परन्तु आधुनिकता के लिये क्रान्तिकारियों का सहयोग देने से यही सम्भावना थी कि पश्चिम के प्रतिरोध के लिये चीन में हस्तक्षेप करने के विरुद्ध भी उग्रवाद विकसित हो सकता था।

द्वितीय, इस सुरक्षा संघ के विकल्प रूप में महाद्वीपीय साम्राज्य की स्थापना के द्वारा भी जापान पश्चिम से सुरक्षा प्राप्त कर सकता था। इसका प्रारम्भ कोरिया, मंचूरिया तथा मंगोलिया को रूस के विरुद्ध सुरक्षात्मक सामरिक रूप में प्रस्तुत करना था। परन्तु 20वीं शताब्दी में निर्मित वस्तुओं के लिये उपर्युक्त बाजार तथा कच्चा माल के श्रोत के रूप में महत्व प्राप्त कर लेने से इस क्षेत्र का एक आर्थिक पक्ष भी समक्ष आया। जिसका परिणाम उत्तरी कोरिया तथा दक्षिणी मंचूरिया का औद्योगीकरण था।

तृतीय, इन्हीं नीतियो का चीन में प्रयोग की सम्भावनाओं से सम्बिन्धित था। इसका प्रमुख ध्येय व्यापार तथा निवेश में निहित था। इस बात की पूरा आशा थी कि जो सम्भावनाएँ ब्रिटेन को भारत में उपलब्ध थी, वही जापान को चीन में उपलब्ध हो जाती, परन्तु इसमें जापान को ब्रिटेन तथा अमरीका से विरोध का सामना करना पड़ता। इस प्रकार आर्थिक विस्तार वाह्य रूप से तो एक शान्त समस्या के रूप में था, परन्तु उसमें आंतरिक रूप से कठिनाइयाँ एवं संकट स्पष्ट थे। इन संकटों को वहन करने में जापानी नेताओं में अधिकांश लोग तत्पर नहीं थे।

अतः जापान के नीति निर्धारक चीन और मंचूरिया की समस्या को जापान के प्रति अत्याधिक आवश्यक समझते थे, किन्तु उत्तेजनाप्रेरक नीति के प्रति सावधान भी रहना चाहते थे। इन नेताओ में सर्वाधिक प्रभावशाली

'यामागाटा, आरीतोमो' थे। उनके विचार में जापान को चीन और मंचूरिया में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना चाहिये था, और साथ ही दो तथ्यों को भी उन्होंने स्पष्ट किया। प्रथम यह कि जापान की ओर से इस प्रकार का कोई कार्य व नीति न अपनाई जाये, जिसके द्वारा पश्चिमी शक्तियों में, उत्तेजना का प्रादुर्भाव हो। द्वितीय यामागाटा के अनुसार, चीन को वास्तविक सहयोग के द्वारा, अपने सन्निकट लाना चाहिये। उनके अनुसार, 'यदि जापान और चीन युद्धोपरांत राजनैतिक एवं आर्थिक रूप से सजीवित रहना चाहते हैं, तो उन्हें पारस्परिक सहयोगिता पर आश्रित रहना होगा।

यामागाटा की इस विचारधारा से अनेक वरिष्ठ सैनिक अधिकारी सहमत थे। इसके अतिरिक्त कुछ अधिकारी व नेता जापान को अपने ही प्रयासों पर निर्भर रखने के पक्ष में थे जैसा कि जापान ने उनके विचार में 1904 में रूस के विरुद्ध किया था। समाचारपत्र दूसरी ओर राष्ट्रवाद की ध्वनि को गुंजित कर रहे थे और जापान की दृढ़ निश्चय नीति के पक्षपाती थे। जापानी नीति के इस उतार चढ़ाव के उपरान्त भी एक परिणाम स्पष्ट परिलक्षित था कि चीन, मंचूरिया, कोरिया तथा निकटवर्ती द्वीपों पर जापान के प्रभुत्व की धारा प्रवाहित थी।

अतएव 1914 में जब यूरोपीय संघर्ष प्रारम्भ हुआ, जापान ऐसी परिस्थिति का लाभ उठाने के लिये पूर्ण तैयार था। मार्च 1914 में 'यामामोटो' की सरकार गिर चुकी थी और 'ओकूमा' ने सरकार बना ली थी। काटोकोमई विदेश मन्त्रालय देख रहे थे। ये दोनों दलीय नेता थे तथा आंग्ल-जापानी समझौते के समर्थक थे, परन्तु साथ ही दोनों चीन में यथास्थिति को बनाये रखने के विरुद्ध थे। दोनों, वास्तव में चीन में जापान की स्थिति को सशक्त बनाने के प्रति कटिबद्ध थे।

जापान : युद्ध की ओर

अगस्त के प्रारम्भ में रूस, फ्रांस तथा ब्रिटेन ने एक के बाद एक जर्मनी पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण ने यह प्रश्न प्रस्तुत कर दिया कि क्या आंग्ल-जापानी समझौते का जापान पर कोई सैन्य उत्तरदायित्व था ? यद्यपि इस समझौते का यूरोप के लिए कोई विशेष औचित्य नहीं था, परन्तु जब ब्रिटेन ने 'वे हाइवे' तथा 'हांगकांग' की सुरक्षा के लिए जापान से सहायता की मांग की तथा जर्मनी के विरुद्ध ब्रिटेन के द्वारा प्रशान्त महासागर में आरम्भ किये गये व्यापारिक आक्रमणों के विरुद्ध जापान से सहायता मांगी गयी तो यह प्रश्न महत्वपूर्ण हो गया। काटो के अनुसार इस प्रकार का सहयोग पूर्णरूपेण

लाभरहित तथा सीमित था। इसके विपरीत युद्ध की घोषणा कर देने से स्वतन्त्र कार्य करने का अवसर अर्थात् जापान स्वतन्त्र नीति अपनाकर स्वयं भी राजनीतिक एवं सामरिक गतिविधियों एवं नीतियों के परिपालन में स्वतंत्र न रहता। काटो ने 8 अगस्त को मंत्रिमण्डल तथा 'जैनरो' (राज्य कार्यों में उत्तरजीवी मेइजी नेताओं द्वारा गठित सम्राट की वरिष्ठ परामर्श-दाता समिति) से समर्थन प्राप्त कर लिया। ब्रिटेन ने इसका विरोध किया तथा यह परामर्श दिया कि जापान चीन की सीमाओं पर स्थिति जर्मन सैन्य केन्द्रों पर आक्रमण न करे। परन्तु अगस्त 15 को जापान ने जर्मनी से यह मांग की कि वह जापान को क्यू चाओ (ज्यूजो) क्षेत्र प्रदान करदे तथा सुदूर पूर्वी सागर से अपने युद्धपोतों को हटा ले। इन माँगों पर कोई ध्यान न देने के कारण जापान ने जर्मनी पर अगस्त 23, को आक्रमण कर युद्ध की घोषणा कर दी। जापान का आक्रमण तीव्र तथा सफल आक्रमण था।

सितम्बर 2,1914 को जापानी सेनायें 'शान्तुंग प्रायद्वीप' पर आ पहुंची तथा 'क्यू चाओ खाड़ी' तथा 'त्सिनताओं' (चिङ्ग दो) की ओर बढ़ने लगी। नवम्बर 7 को 'त्सिनताओं' पर जापानियों ने अधिकार कर लिया। इस प्रकार केवल तीन माह में ही जापानियों ने अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया और चीन की सीमाओं पर स्थिति सभी जर्मन आस्थानों, रेलवे तथा अन्य केन्द्रों पर अधि-कार कर लिया। फलस्वरूप चीन में जापान को हस्तक्षेप करने का अवसर प्राप्त हो गया।

जापान ने 1911 की क्रान्ति 'सुनयात-सेन' तथा 1912 के गणतन्त्र को समर्थन देना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु 'युआन-शीह-काई' के राष्ट्रपति बन जाने से उनकी योजनायें असफल हो गई। फलस्वरूप 1913 के 'युआन' के विरुद्ध विद्रोह में जापान ने सुनयात-सेन को पूर्व समर्थन प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया। इसी मध्य 'च्याँङ्ग-युन' द्वारा नानकिंग में जापानियों की हत्या के कारण जापान ने अक्टूबर में मुआवजे तथा चांग के निष्कासन की माँग की। युआन के सामने इसको मानने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग शेष नहीं था। जापान ने इसके साथ-साथ चीन में नवीन रेल निर्माण सुविधायें भी प्राप्त कर लीं।

21 सूत्रीय माँग पत्र

1914 में ओकूमा की सरकार पर इस बात का दबाव पड़ना प्रारम्भ हो गया कि वह जर्मनी के विरुद्ध संघर्ष को चीन में युआन की सरकार गिराने में प्रयुक्त करे। परन्तु वह और विदेश मन्त्री 'काटो' दोनों इस विचार से सह-मत नहीं थे उन्होंने सरकार गिराने की अपेक्षा वार्तालाप से लाभ उठाने की

नीति अपनाई। उन्होंने सर्वप्रथम चीन की सरकार पर इस बात का दबाव डाला कि वह शान्तुङ्ग में जापानी अधिकार को मान्यता प्रदान कर दे। साथ ही साथ उन्होंने मंचूरिया तथा मंगोलिया में आर्थिक तथा राजनैतिक सुविधाओं की माँग की। जापान ने चीन को इस नीति के अन्तर्गत भी सीमित करना चाहा कि वह अन्य किसी भी शक्ति को तटीय क्षेत्र पर अधिकार प्रदान न करे। यह व्यवस्था विशेषतया 'फूकियन क्षेत्र' के लिए की गई, क्योंकि वह जापान का आर्थिक निवेश था। इस व्यवस्था को बनाये रखने के लिए जापान ने अपने आर्थिक, राजनैतिक, सैन्य परामर्शदाताओं को चीन की सरकार के पास प्रेषित करने का चेतावनीग्रस्त अनुमोदन किया। इसके अतिरिक्त चीन के प्रमुख क्षेत्रों में चीन-जापान सह प्रशासकों की नियुक्ति, जापान से सैन्य-वस्तुओं के निर्यात तथा कुछ चीनी क्षेत्रों में सह-योजनाओं को प्रारम्भ करने की योजना रखी।

संक्षिप्त में 21 सूत्री माँग पत्र के प्रारूप का उद्देश्य जापान द्वारा चीन को राजनैतिक, व्यापारिक, सामरिक, शैक्षिक तथा आर्थिक रूप से अधीनस्थ करना था। युआन शीह-काई ने 1914 में अमरीका के दूत मन्त्री 'डा० पॉल रैन्श' से कहा, "कि जापान इस युद्ध से चीन पर नियन्त्रण करने से लाभान्वित होना चाहता है।"

उपरोक्त मांग पत्र जो पाँच वर्गों में तथा 21 अनुच्छेदों में था, दिसम्बर 1914 में पीकिंग में जापानी दूतमन्त्री को उचित अवसर पर प्रेषित करने हेतु दिया गया। जनवरी 1915 में युआन शीह-काई की युद्ध रद्द करने की घोषणा ने यह अवसर प्रदान कर दिया। इस घोषणा में युआन ने युद्ध को समाप्त करने की मांग कर दी तथा यह निर्देश दिया कि चीन से विदेशी सेनाएँ वापस बुला ली जाएँ। जापान ने इस घोषणा को मित्रता के विरुद्ध माना, और 21 सूत्री मांगों को चीन सरकार के सम्मुख रख दिया। विशेष बात यह थी कि यह मांग पत्र सीधे राजनायिक तरीके से न प्रेषित कर गुप्त रूप से युआन के पास इस धमकी के साथ प्रेषित किया गया था कि यदि वह इन मांगों को नहीं मानेगें तो जापान, चीन में उस दल को सहायता देना प्रारम्भ कर देगा जो 'युआन' के पतन के लिये प्रयत्नशील थे। यद्यपि अमरीका ने इसका विरोध किया परन्तु विदेशमन्त्री 'काटो' पर इसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। मई 1915 के आरम्भ में अनेक असफल वार्ताओं का दौर प्रारम्भ हुआ। मई 25, 1915 को सन्धि सम्पन्न हुई जिसमें जापान को एच्छिक फल की प्राप्ति हुई। इस संधि में यह व्यवस्था भी थी कि चीन, जापान और जर्मनी के मध्य शान्तुङ्ग प्रान्त के लिये मान्य सभी शर्तों को मान्यता प्रदान करेगा और 'कियाओ चाओ' क्षेत्रको

चीन को वापस, कर दिया जायेगा जिसके एवज में चीन बन्दरगाह को विदेशी व्यापार के लिये खोल देगा।

यद्यपि इस सन्धि से जापान को वह सब कुछ मिला, जिसकी दस वर्ष पूर्व वह कल्पना भी नहीं कर सकता था परन्तु टोकियो में यह सन्धि आलोचना रहित न रह सकी। कुछ राजनैतिक दृष्टाओं के अनुसार जापान को और भी अधिक लाभ प्राप्त हो सकता था। अन्य विचारकों के अनुसार जापानी अधिकृत क्षेत्र पर्याप्त बिखरे हुए थे, तथा शेष के अनुमार यह चीन के उग्रवादियों एवं सुधारकों के प्रति विश्वासघात था। यह समस्त आलोचनायें अल्पमत वर्ग की थीं।

इस सन्धि का सबसे महत्वपूर्ण विरोध, "यामागाटा, आरिटोमो" तथा 'सियूकाई', एवं 'हराकाई' ने किया। इन राजनीतिज्ञों के अनुसार सुविधायें प्राप्त करने की जापानी नीति असंगत थी। उनके अनुसार काटो ने चीन तथा अन्य विदेशी शक्तियों से वैमनस्य पैदा कर लिया था। यामागाटा के अनुसार इसका एक मात्र समाधान यही था कि जापान मंचूरिया में अपने साम्राज्य-वादी प्रसार के लिये चीन से अपनी बढ़ती जनसंख्या के एक मात्र विकल्प के रूप में मान्यता प्राप्त कर लेता। इसमें मंचूरिया में रूस के आक्रमण का भय भी समाप्त हो जाता, दूसरा चीन को इस बात के लिये सहमत करना आवश्यक था कि पश्चिमी देशो के साम्राज्यवाद के विरुद्ध चीन व जापान का पारस्परिक सहयोग आवश्यक था।

यद्यपि यामागाटा की यह योजना सफल न हो सकी, परन्तु इसके परि-णामस्वरूप काटो को मंत्रीमण्डल से निष्कासित होना पड़ा। अक्टूबर 1916 में जब नवीन सरकार बनायी गई तो चीन के प्रति उनकी नीतियाँ स्पष्ट थी। नवगठित सरकार ने जापानी आवश्यकताओं के आधार पर नीति निर्माण करने के विपरीत, चीन के नेताओं के सहयोग के आधार पर, सम्बन्धों को विकसित करने का प्रयास किया। फलस्वरूप युआन शीह-काई के उत्तराधिकारी 'तुआन' को लगातार जापान मे सहयोग मिलता रहा। यद्यपि चीन में 'तुआन' की शक्तियाँ 'युआन' के तत्कालीन समर्थकों तथा स्थानीय सामन्तों के कारण पर्याप्त कम हो चुकी थीं, फिर भी जापान ने अधिकारिक शासक तुआन को ही समर्थन दिया। परन्तु तुआन की निर्बल स्थिति के कारण 'जो व्यूमा' ने यूरोपीय समर्थन प्राप्त करने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया। जिसके फलस्वरूप जुलाई 1916 में जापान ने रूस के साथ एक गुप्त सन्धि की जिसका ध्येय रूस तथा जापान के सुदूरपूर्वी व पूर्व एशियाई प्रभाव की सुरक्षा करना था। तत्पश्चात फरवरी 1917 में जर्मनी के विरुद्ध जापान ने ब्रिटेन के साथ एक अन्य गुप्त सन्धि की।

कुछ ही सप्ताहों पश्चात फ्रांस और इटली ने भी जापान से समझौता कर लिया।

अब केवल अमरीका ही एक ऐसा देश था जो चीन के प्रति सहानुभूति रखता था। क्योंकि यूरोप के युद्धरत होने के कारण अमरीका ही ऐसी शक्ति थी जो सुदूरपूर्व व पूर्वी एशिया में कार्यरत हो सकती थी। राष्ट्रपति विल्सन भी सुदूर पूर्व में अपनी रुचि व सहयोग चीन के प्रति रखने के इच्छुक थे। अत: सितम्बर1917 में जापान ने अपने विशेष राजदूत 'ईशी किकोजीरो' को वाशिंग्टन भेजा। ईशी ने अमरीका के राज्य सचिव 'लेनसिंग' के साथ स्पष्ट रूप से सार्व-जनिक 'पत्र विनिमय' किया यद्यपि तत्कालिक प्रत्यारोपों के निदान स्वरूप उपर्युक्त चरण राजनैतिक रूप से अपने स्थान पर उचित था, परन्तु वर्साई शान्ति सम्मेलन ने जापान को एक अन्य अवसर प्रदान किया।

वर्साई सम्मेलन में जापान

वर्साई सम्मेलन में जापान प्रतिनिधि मण्डल का नेतृत्व 'जापानी जेनरो' (ज्येष्ठ राजनीतिज्ञों युक्त जापानी सम्राट की परामर्शदाता सभा) के सबसे कम आयु के चौहत्तर वर्षीय स्याँजी ने किया। स्याँजी को, उनकी आयु, अनुभव एवं सम्बन्धों के कारण क्लेमान्सो, विल्सन तथा लायड जार्ज से समानता का व्यवहार प्राप्त हुआ। इसका एक अन्य कारण जापान की 'सैन्य शक्ति' को भी माना जाता है, जिसके फलस्वरूप विश्व शक्ति केन्द्र के राष्ट्रों ने जापान को यथोचित सम्मान दिया।

सम्मेलन में जापान ने तीन मांगे प्रेषित की (1) जापान ने भूतपूर्व जर्मन द्वीपों को जो उत्तरी प्रशान्त महासागर में स्थित थे सत्तान्तरण करने की माँग रखी। यह द्वीप थे : मरीना, कैरोलीना तथा मार्शल द्वीप समूह, (2) शान्तुङ्ग क्षेत्र में जापान ने अपने अधिकारों की पुष्टि की माँग प्रेषित की। (3) जापान ने राज्यों में जातीयता की समानता की घोषणा को प्रस्तावित राज्य संघ के प्रति मूल सिद्धांत का रूप देने का प्रस्ताव रखा। शान्तुङ्ग का प्रश्न आरम्भ से ही एक मुख्य प्रतिरोधक था और चीन का सशक्त प्रति-निधि मण्डल 1915 की संधियों को अमान्य ठहराने में प्रचारगत था। चीन का मत था कि 1915 की संधियाँ शक्ति तर्जन की बोधक थी। चीन का यह तर्क न्याययुक्त एवं कूटनीतिपूर्ण नहीं था क्योंकि इसके अनुसार चीन की अन्य देशों के साथ हुई संधियों को भी अमान्यता प्रदत्त करनी चाहिए थी। केवल अमरीका की सहानुभूति के कारण 'समझोता चेष्टा' की जा रही थी। जापान दूसरी ओर 1917 की प्रतिश्रुतियों के कारण प्रभावरहित था। जापान ने सर्वप्रथम अमरीका के एक प्रस्ताव को अस्वीकार किया और पुन: ब्रिटेन के

शान्तुङ्ग अधिदेश व्यवस्था को भी अस्वीकृत कर दिया। अन्ततः 30 अप्रैल 1919 को जापान की ही बात को मान्यता दे दी गई, परन्तु चीन ने संधि पर हस्ताक्षर करना स्वीकार नहीं किया। फलस्वरूप जून के अन्त में जब सम्मेलन समाप्त हुआ तो शान्तुङ्ग पर जापान का नियन्त्रण तो था पर जापानी अधिकार को वैध रूप प्राप्त नही था।

प्रशान्त सागरीय द्वीप समूह के प्रश्न पर विशेष वाद विवाद नहीं हुआ। जापान को वे द्वीप प्रदत्त कर दिये गये जो राष्ट्र संघ की अधिदेश पद्धति के अर्न्तगत थे। जापान को जातीयता की समानता के प्रस्ताव पर पराजय का मुख देखना पड़ा। यद्यपि जापान का जनमत जनसंख्या प्रकोप के कारण विदेश में आप्रवास का इच्छुक था, इस कारणवश अपने हितों की रक्षा हेतु राष्ट्र संघ अधिकार पत्र में जातीयता समानता के अनुबन्ध का समावेश करना चाहता था। जापान की इस प्रस्तावित नीति को चीन, चैकोस्लोवाकिया, फ्रांस, ग्रीक, इटली तथा पोलैण्ड ने समर्थन दिया, परन्तु ब्रिटेन और अमरीका के कटु विरोध ने जापान के प्रस्ताव को स्वीकृत नहीं होने दिया। जापान अपनी इस पराजय से काफी क्षुब्ध हुआ।

एक अन्य समस्या जो 'वर्साई सम्मेलन' के सूचीपत्र में निहित नहीं थी, मुख्य रूप से उत्पन्न हो गई। यह 'साइबेरिया समस्या 1917 की रूसी क्रान्ति से उद्‌भूत हुई थी। रूस की क्रान्ति ने रूस के सुदूरपूर्व अधिकार क्षेत्रों में अव्यवस्था का प्रादुर्भाव कर दिया। इस प्रकार के वातावरण ने क्रान्तिकारी सिद्धान्तों के प्रसार का भय उत्पन्न कर दिया। जापान इस भय से सतर्क होकर चीन के उत्तरी सीमाओं पर सैनिक घेराबंदी करने का इच्छुक था। इसके अतिरिक्त साइबेरिया में भी सेना प्रेषित करने का 'विचार प्रस्ताव' रखा गया। जापानी राजनीतिज्ञों तथा सरकारी परामर्शदाताओं में विचारों की भिन्नता के कारण गतिरोध उत्पन्न हो गया था। मार्च 1918 में 'यामागाटा' ने साइबेरिया हस्तक्षेप का विरोध किया, क्योंकि उनके विचार में यह हस्तक्षेप जर्मनी और रूस से पूर्ण संघर्ष का कारण बन सकता था तथा यह तभी संभव था, यदि जापान अपने मित्र राष्ट्रों, विशेषकर अमरीका से, समर्थन प्राप्त कर लेता।

इसी मध्य जापान में राजनीतिज्ञों तथा सेना के अधिकारियों के विचारों में भिन्नता थी। सेना के अधिकारी सुविस्तृत व्यापक अभियान योजनाओं में संलग्न थे। जापान के इस प्रयास में राजवेत्ताओं के प्रयत्नों द्वारा अमरीका, ब्रिटेन तथा फ्रांस कुछ सीमा तक जापानी योजनाओं का समर्थन करने लगे थे। जून और जुलाई 1918 में चैकोस्लोवाकिया की सेनाओं ने 'व्लादिवोस्तक' तथा 'ट्रांस-साइबेरियन रेलवे' के पूर्वी क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। इस स्थिति में

अमरीका ने सीमित हस्तक्षेप का प्रस्ताव रखा।

जापानी सैन्यवाद नीति के समर्थकों ने उपरोक्त स्थिति का लाभ उठा कर भारी संख्या में जापानी सेनायें प्रेषित कर दीं। 1918 के अन्त तक पाँच जापानी सेना डिवीजनें 'आमूर बेसन' में कार्यरत थीं। जापानी सेना अमरीका तथा अन्य मित्र राष्ट्रों की सेना से अधिक थी। जापानी प्रधानमंत्री द्वारा सेना पर नियन्त्रण करने तथा सैनिक निष्क्रमण करने में कठिनाई का अनुभव किया गया। यद्यपि जापानी नीति स्वदेश और विदेश दोनों में अप्रिय हो रही थी क्योंकि जापानी नीति का कोई विशेष योगदान नही था।

जनवरी 1920 में अमरीका की सरकार ने अपनी सेनायें वापस बुलाने की घोषणा कर दी। अमरीका का ही अनुसरण ब्रिटेन, फ्रांस तथा अमरीका ने किया। केवल जापानी सेनाओं ने वहाँ रहने का निर्णय लिया परन्तु 1920 के मध्य तक जापानी योजना की असफलता स्पष्ट हो चुकी थी।

वाशिंग्टन सम्मेलन

प्रशान्त क्षेत्र में साईबेरिया समस्या अनेक समस्याओं में से एक थी जो किसी न किसी भांति जापान से संबंधित थीं। एक ओर चीन किसी भी प्रकार जापान से शान्तुङ्ग पर समझौते का इच्छुक नहीं था। दूसरी ओर साईबेरिया के प्रश्न को लेकर जापान और अमरीका के संबंधों में तनाव उत्पन्न हो चुका था। अनेक देश जापान-अमरीका के राजनैतिक मनोमालिन्य स्थिति से युद्ध संकट की कल्पना कर रहे थे। यह विषम परिस्थिति ब्रिटेन को 'आंग्ल-जापान संधि' के कारण नैतिक बाध्यता से परिपूर्ण प्रतीत हो रही थी। जून 1921 में विशेषकर 'कैनेडा' की प्रेरणा द्वारा' एक बहुपक्षीय समझौते का प्रस्ताव प्रेषित हुआ। इस प्रस्ताव ने प्रशान्तीय समस्या के प्रति उन्मुक्त विचारों के आदान प्रदान की सम्भावनाओं में वृद्धि की आशा का मार्ग प्रशस्त किया। अमरीका ने इस प्रस्ताव का केवल स्वागत ही नहीं किया, वरन उपरोक्त प्रस्तावित बहुपक्षीय सम्मेलन की व्यवस्था आयोजन का भार भी ग्रहण करना स्वीकार कर लिया।

तदनुसार नवम्बर 1921 वाशिंग्टन में ब्रिटेन, जापान, फ्रांस, अमरीका चीन इत्यादि के प्रतिनिधि एकत्रित हुये। इस सम्मेलन का ध्येय प्रशान्त एवं सुदूरपूर्व की समस्याओं का नवीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अन्तंगत समाधान करना था।

चार देशीय समझौता

सर्वप्रथम वाशिंग्टन सम्मेलन के अन्तर्गत दिसम्बर 13, 1921 को एक

'चार देशीय समझौते' की घोषणा की गई। इस समझौते के अन्तर्गत ब्रिटेन, जापान, फ्रांस तथा अमरीका ने पारस्परिक अधिकारों को सम्मान प्रदर्शित करने तथा संकटकालीन अवस्था में पारस्परिक परामर्श करने का संधि समझौता किया। इस समझौते ने एक प्रकार से 'आंग्ल-जापान संधि' का स्थान ग्रहण किया, जिसको अगस्त 1923 में अंततोगत्वा समाप्त होने दिया गया। एक महत्वपूर्ण समस्या नौसैनिक युद्ध सामग्री व शस्त्रीकरण को सीमित करने की थी। अमरीका ने नौसैनिक जलपोतों के टन भार तथा आकार को सीमित करने तथा 5 : 5 : 3 के अनुपात के अन्तर्गत सीमित रहने का प्रस्ताव रखा। जापान ने उपरोक्त सीमितता को 10 : 10 : 7 अनुपात में रखने का तर्क प्रस्तुत किया। परन्तु अमरीका और ब्रिटेन ने इसका विरोध किया। जापान ने ब्रिटेन और अमरीका के विरोध के सम्मुख अपना एक उपमार्गीय परामर्श प्रस्तुत किया, कि जापानी प्रशान्त घेराबंदी को गतिरुद्ध रहने दिया जाय। इस विकल्प को स्वीकार कर लिया गया।

अतः इस संधि ने केवल मुख्य जल पोतो के टनभार को 5:5:3 के अनुपात तक ही सीमित नहीं किया वरन युद्ध पोतो, वायुयान वाहक पोतों तथा नौसैनिक तोपों पर भी सीमित प्रतिबन्ध लगा दिया। उदाहरण स्वरूप युद्ध पोतों को 35,000 टन भार सीमित रखा गया तथा वायुयान वाहक पोतों का टन भार 27,000 निश्चित किया गया। इसके अतिरिक्त नौसैनिक तोपों का व्यास सोलह इन्च सीमित कर दिया गया तथा 'गुआम, हाँगकाँग, मनीला' तथा जापान के समीपवर्ती क्षेत्रों पर किसी पकार की घेराबन्दी न करने का निश्चय लिया गया। उपरोक्त निर्णय ने जापान को पश्चिमी प्रशान्त क्षेत्र में नौसैनिक प्रमुखता प्रदान करने का अवसर दिया।

नौ देशीय संधि

फरवरी 1922 को चीन की समस्या को ले कर एक नौ देशीय समझौता किया गया। इस संधि के हस्ताक्षरित देश थे–ब्रिटेन, अमरीका, फ्राँस, जापान वेल्जियम, इटली नीदरलैण्डस्, पुर्तगाल एवं चीन। इस बहुदेशीय संधि ने चीन को अपने ही सीमा शुल्क राजस्व पर अधिक नियन्त्रण प्रदान किया। संधि युक्त देशों ने चीन की स्वतंत्रता एवं अखण्डता को पूर्ण सम्मान देने, एक दूसरे को विशेष अधिकार प्रदान न करने, तथा चीन के विकास एवं स्थायित्व सरकार स्थापन में हस्तक्षेप न करने का निर्णय लिया। उपरोक्त प्राविधान परोक्ष एवं अपरोक्ष रूप से तो संतोषजनक प्रतीत होते थे, परन्तु इन प्राविधानो के बाध्यकरण व लागू करने हेतु विशेष कार्य तन्त्र का कहीं भी प्राविधान

नहीं था।

अतः दीर्घकालीन स्थिति में चीन के प्रति अन्य शक्तियों के व्यवहार बन्धन का कोई अन्तर्राष्ट्रीय समाधान वाशिंगटन सम्मेलन में प्रयोजित नहीं था। सदूर पूर्व समस्यायों के प्रति निष्ठित देशों को पारस्पारिक सम्बन्ध योजना में, साम्राज्यवादी विगत अनुभव के आधार के कारण, विश्वास नहीं रह गया था। यद्यपि सम्राज्यवाद पूर्णतया मृतासन्न नहीं हुआ था क्यों कि अमरीका की आर्थिक विकास विस्तार नीति स्वयं नव साम्राज्यवाद के स्वजीवित करने में सहायक सिद्ध हो रही थी। इसमें रूस, चीन एवं जापान की नीतियाँ भी निहित थी जिनके कारण साम्राज्यवाद का प्रसामान्यीकरण संभव न हो कर कर अव्यवस्थित रूप में ग्रदर्शित होने लगा।

वस्तुतः वाशिंगटन सम्मेलन की मुख्य उपलब्धियाँ यह थीं। अस्थाई रूप से अन्तर्राष्ट्रीय तनावपूर्ण स्थिति में कमी आ जाना, परन्तु स्थाई रूप से नव शक्ति संतुलन का प्राविधान न करना। फरवरी 4, 1922 को एक द्विपक्षीय समझौते के द्वारा चीन और जापान ने 'शान्तुङ्ग क्षेत्र' की समस्या का समाधान करने की चेष्टा की। चीन को इस क्षेत्र में आधिपत्य प्रदत्त किया गया जबकि जापान की आर्थिक सुविधायें यथापूर्व रहीं। अक्टूबर 1922 में जापान ने अन्ततः साईबेरिया से सेना के निष्क्रमण का निर्णय लिया। आगामी वर्षों में 'शीदिहारा कीजूरो' (जापानी विदेश मंत्री) के प्रयत्नों के कारण जापान की चीन के प्रति नीति सैन्य नीति न होकर पूर्णतया आर्थिक नीति रही। परन्तु शीदिहारा की समझौता नीति, विशेष सफल न रह सकी। इसका मुख्य कारण यह था कि जापान की आंतरिक राजनैतिक संतुलन में अस्थायित्व के कारण समस्यायें पुनः प्रादुर्भूत होने लगीं थीं।



अध्याय 9

जापान में उदारवाद

प्रथम विश्व युद्ध जापान के लिये केवल इसलिये महत्वपूर्ण नहीं रहा कि इसने जापान को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में वृद्धि का अवसर प्रदान किया, परन्तु महान युद्ध ने जापान की अर्थव्यवस्था को भी समृद्धता की ओर अग्रसर किया। युद्ध के पश्चात् जापान एक पूर्णरूपेण औद्योगिक राष्ट्र बन गया। औद्योगिक पूंजी विकास ने एक ओर जापान के राजनैतिक एवं सामाजिक जीवन को प्रभावित किया, तथा दूसरी ओर विकासशील नागरिक सर्वहारा वर्ग में आशान्ति एवं असन्तोष ने नव राजनैतिक एवं सामाजिक समस्याओं को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त जापान के आधुनिकीकरण के नवीन तत्वों ने समाज की रुढ़ीवादिता में, वेतन भोगी लोगों में, श्रमिको में तथा सामाजिक जन-जीवन की धारा में परिवर्तन प्रयत्न कर एक नवीन जन प्रक्रिया को संचारित किया।

औद्योगिक विस्तार

जापान में औद्योगिकीकरण का विकास मेइजी काल में ही प्रारम्भ हो गया था, परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध ने इस विकास को त्वरित किया। युद्ध में यूरोप के देशों की संलग्नता के कारण जापान को आर्थिक एवं कूटनीतिक क्षेत्र में अवसर प्राप्त हो गया। युद्धोमध्य यूरोप के देश सैन्य सामग्रियों के उत्पादन की ओर अधिक ध्यान देने से अन्य समाग्रियों की पूर्ति नहीं कर पा रहे थे; और न ही पूर्ण रूप से माल निर्यात योजना कार्यान्वित हो पा रही थी। फलस्वरूप जापान को यह अवसर प्राप्त हो गया कि वह अन्य समाग्रियों की पूर्ति के लिये तीव्रता से उत्पादन करे, और नये बाजारों में अपने उत्पादनों का विक्रय करे। चीन और अमरीका में तो जापान अपनी वस्तुओं एवं माल का 'निर्यात शोषण' कर ही रहा था, जापान ने भारत तथा दक्षिण पूर्वी एशिया में भी अपने उत्पादन विक्रय के लिये स्थान बना लिया। इसी के साथ-साथ इस युद्ध में थोड़ी रुचि रखने के कारण जापान को यह अवसर भी प्राप्त हुआ कि

वह अपने मित्र देशों के लिये सैन्य समाग्रियों का भी उत्पादन करे। युद्ध में जर्मन 'यू बोट' आक्रमण ने समुद्रीय शक्ति का ह्रास कर, जापान को नौसैनिक युद्ध सामग्री के उत्पादन के विकास को, विस्तारित करने का अवसर दिया। फलस्वरूप कुछ ही वर्षों में जापान की नौसैनिक शक्ति, आर्थिक शक्ति एवं निर्यात शक्ति द्विगुणित हो गयी।

जापान की युद्धोमध्य आय, अन्तर्राष्ट्रीय सूत्रों के आधार पर लगभग तीन हजार मिलियन येन थी। जापान के निर्यातित उत्पादनों में कच्चा सिल्क और कपड़ा उद्योग प्रमुख थे। उसके आयातित वस्तुओं में भोज्य पदार्थ, कोरियाई चावल, फारमूसा की शक्कर और भारत की कपास प्रमुख थीं। वास्तव में जापान का विदेशी व्यापार वहाँ के उत्पादकों की आवश्कताओं की पूर्ति हेतु ही कार्यरत था। यद्यपि युद्ध के पश्चात एक अस्थायी आर्थिक अवनति जापान में आयी थी, परन्तु इसका काल अधिक दिन नहीं रहा। इसका मुख्य-कारण युद्ध के पश्चात योरोपीय देशों का पुनः विदेशी व्यापार में आ जाना था। परन्तु इस कारण केवल छोटे उत्पादकों को ही हानि हुयी बड़े उत्पादन कर्त्ताओं पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसके साथ ही जापान ने भारी उद्योगों में भी प्रगति की। जापान वस्त्रोद्योग, विद्युत यन्त्रों, रेलवे यन्त्रों, बाइसिकलों, तथा जलपोतों का प्रचुर रूप से उत्पादन कर रहा था। जापान का विद्युत उत्पादन 1919 में 1 मिलियन किलोवाट था और 1929 में यह 4 मिलियन किलोवाट हो गया। इस उत्पादन की दो तिहाई विद्युत शक्ति खदानों और उत्पादन निर्माण में व्यय की जाती थी। इस प्रकार जापान भारी उद्योगों के क्षेत्र में भी पीछे न रहा। कोयला और इस्पात के उत्पादन में भी जापान ने भारी प्रगति की।

इस ओद्योगिक विकास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष दो प्रकार के आर्थिक संगठनों का विकास था। पहला लघु उद्योग सामान्यतया जो परिवारों द्वारा संचालित थे और दूसरा बड़े उद्योग। छोटे-छोटे अभियन्त्रण की वस्तुयें परिवारों में व्यक्तिगत स्तर पर निर्मित की जाती थीं। पूंजी के अभाव के विपरीत सस्ती बिजली तथा तकनीकी शिक्षा के प्रचार के ही कारण यह सम्भव था। इन उत्पादनों का प्रयोग निर्यात में न करके देशी भारी उद्योगों में प्रयोग के लिए किया जाता था। 1930 तक पाँच कर्मचारियों तक के लघु उद्योगों की संख्या लगभग 10 लाख तक पहुंच गयी थी। इसमें जापान की 25 लाख जनता कार्यरत थी, और लगभग जापान की 30 प्रतिशत उत्पादन क्षमता लघु उद्योगों द्वारा पूरित की जा रही थी। इसके विपरीत लोहा, इस्पात, सीमेंट, रसायन, भारी अभियन्त्रण यन्त्र तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुयें भारी उद्योगों

द्वारा निर्मित की जाती थीं।

जापान के उद्योगों के इस विकास ने जापान में नगरीकरण की प्रक्रिया को त्वरित किया। वहाँ के निवासियों के रहन सहन और जीवन स्तर में पर्याप्त उन्नति हुयी। मूल्यों में यद्यपि दुगनी वृद्धि हुयी, परन्तु इससे वहाँ के जीवन स्तर में भी दस वर्षों मे पर्याप्त प्रगति हुई। विभिन्न उद्योगों में मजदूरी कीं दरें भिन्न-2 थीं परन्तु सामान्यतया उनकी दर तीन गुना बढ़ गयी।

दलगत राजनीति

इस प्रकार के आर्थिक प्रसार का एक महत्वपूर्ण परिणाम औद्योगिक तथा व्यापारिक मध्यम वर्ग का विकास था। वास्तव में इसका राजनैतिक महत्व था। इस वर्ग के शिक्षित होने तथा सम्पन्न होने के कारण इनमें अपने स्वार्थ की पूर्ति की भावना बढ़ने लगी। पूंजी की शक्ति द्वारा राजनैतिक महत्वाकांक्षा में वृद्धि होने लगी। नयी शिक्षा पद्धति में अपने बच्चों को शिक्षा प्रदान कर केन्द्रीय तथा प्रान्तीय प्रशासन में प्रेषित करने का मार्ग खुल गया था। व्यापारियों ने भी अपने अपने संगठन बनाकर राजनैतिक प्रभाव प्राप्त करना आरम्भ कर दिया था।

मध्यम वर्ग द्वारा राजनीति में पदार्पण के लिए समय भी पर्याप्त उपयुक्त था। जापान इस युग में नेतृत्व के अभाव के दौर से गुजर रहा था मेइजी कूटनीतिज्ञों में ईटो 1909 में स्वर्गवासी हो चुके थे। मत्सुकाता अपनी मृत्यु के पूर्व ही राजनैतिक सन्यास ले चुके थे और यामागाटा प्रर्याप्त वृद्ध हो चुके थे। वह युद्ध समाप्ति के समय 80 वर्ष के थे। ईटागाकी का भी 1919 में देहान्त हो चुका था, और ओकूमा 1922 में स्वर्गवासी हो चुके थे।

इन सभी के उत्तराधिकारियों में वह क्षमता नहीं थी। नयी पीढ़ी के राजनैतिकों में 'शक्ति क्षुधा' की तुलना में राजनैतिक उपलब्धि की भावना नगण्य थी। 1914-16 की ओकूमा सरकार ने यह सिद्ध कर दिया था कि एक अनुभवी प्रधानमंत्री के समय में भी, प्रशासकों तथा कुलीन वर्गीय सुविधाओं को चुनौती देने से, कहीं अधिक आसान डाईट (संसद) के मतों को प्रभावित करना था। यही कारण था कि अप्रैल 1917 के चुनाओं में उनके समर्थित उम्मीदवार काटोकोमाई, केवल यामागाटा के विरोध के कारण पराजित हो गये। तीराउचो मसात्के ने सियूकाई दल के समर्थन से सरकार बनाली, और काटो ने केन्सीकाई नामक नये दल की स्थापना कर ली।

यह स्पष्ट था कि 'सियूकाई दल' शेष दोनों दलों से अधिक शक्तिशाली था। हाराकाई ने पिछले दशक में प्रशासकीय तथा स्थानीय प्रभावशाली

व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त कर अधिकारी तंत्र को सहयोग देने पर बाध्य कर दिया था। मूल्यों में वृदिध के कारण जब तौराऊची के सरकार के लोक सम्मान का ह्रास होने लगा, यामागाटा तथा सेऔंजी ने 1918 में हाराकाई को सरकार बनाने में सहयोग प्रदान किया। इस प्रकार जापान को प्रथम बार एक सामान्य नागरिक वर्ग से प्रधानमंत्री प्राप्त हुआ। इस घटना को उदारवादी तथा लोकतन्त्र की विजय के रूप में सराहा गया, परन्तु आगामी तीन वर्षों के लिए यह आशा धूमिल रही। हारा ने अपने समर्थकों को विभिन्न उन पदों पर नियुक्ति करना प्रारम्भ कर दिया जो पहले केवल प्रशासकों के लिये सुरक्षित थे। इसके साथ ही साथ इसकी स्थिति कुलीन वर्ग तथा 'अभिजात वर्ग सदन पर बहुत कुछ आधारित थी, जिसके कारण उसे संवैधानिक परिवर्तनों में रुचि नहीं थी। यही कारण था कि जब तक वह प्रधानमंत्री रहे, उन्होंने मताधिकार का क्षेत्र विस्तृत करने का प्रत्येक प्रयास अस्वीकार कर दिया। इसी प्रकार जर्मनी एवं रूस की घटनाओं से प्रभावित समाजवादी विचारधारा का भी उन्होंने पूर्णरूपेण दमन किया। भ्रष्टाचार के व्यापक प्रसार की ओर भी उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। इसी प्रकार साइबेरिया में सेना के हस्तक्षेप के विरुद्ध मंत्रीमंडल के निर्देशों को भी मान्यता नहीं दी। वस्तुत: यह नीति संस्थागत निर्बलताओं की सूचक थी, न कि व्यक्तिगत आत्मशक्ति की परिचायक।

नवम्बर 4, 1921 को हारा की हत्या से जापान एक सक्षम राजनीतिज्ञ से वंचित हो गया। हारा ने अपने समर्थकों को एक सूत्र में संगठित कर रखा था। उनके उत्तराधिकारी यह करने में अक्षम रहे। हारा के पश्चात, तत्कालीन विदेशमन्त्री 'ताकाहाशी' प्रधान मन्त्री बने, पर उन्होंने मई 1922 में त्यागपत्र दे दिया। इसके पश्चात अठारह महीनों तक 'सियूकाई दल' बहुमत दल विहीन सरकारों को समर्थन प्रदान करती रहा।

उपरोक्त स्थिति बहुत अधिक दिनों तक स्थिर न रह सकी। काटो द्वारा उत्तरदायी सरकार की मांग को आम जनता का समर्थन प्राप्त हुआ। फलस्वरूप 1924 में वह सियूकाई दल को विभाजित करने में सफल हो गये। परन्तु आगामी चुनावों में संविद सरकार के समर्थन से बनी सरकार पारस्परिक मतभेद से पुनः विखण्डित हो गई। परिणामतः अगस्त 1925 में काटो केवल केन्सीकाई के आधार पर ही सरकार बनाने में सफल हो गये। वह सदन पद्धतियों में विश्वास रखने वाले एक सैद्धान्तिक व्यक्ति थे। उन्होंने 1925 में मताधिकार अधिनियम पारित कर 25 वर्ष से ऊपर सभी नागरिकों को मत का अधिकार प्रदान कर दिया। इस प्रकार मत का अधिकार चार गुने से भी अधिक व्यक्तियों को प्राप्त हो गया। काटो ने प्रशासकों

की संख्या में 20,000 की कटौती कर राष्ट्रीय व्यय में बचत की। सेना में भी चार डिवीजनों को कम कर दिया गया। जनवरी 1926 में काटो की मृत्यु के पश्चात 'वाकात्सूकी' प्रधानमन्त्री बने, परन्तु 1927 की आर्थिक मन्दी के अवसर पर आपातकालीन अधिदेश पारित करने के प्रश्न पर उन्होंने त्याग पत्र दे दिया। अप्रैल 1927 में सियूकाई दल को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया गया। अल्पमतीय दल सियूकाई ने अवर सदन को विघटित कर 1928 में चुनाव करा दिया। इन चुनावों में सियूकाई दल केवल दो स्थानों में ही विजयी हो पाया। परन्तु जून 1928 में ही चीन के च्यांगत्सो-लिन की हत्या में जापानी अधिकारियों पर आरोप के कारण टानाका को त्यागपत्र देना पड़ा। वह इन अधिकारियों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाहियों की वकालत कर रहे थे, परन्तु दल इसके विरुद्ध था। तत्पश्चात जुलाई 1929 में 'हामागूची' प्रधानमन्त्री बने। 1930 में हामागूची ने चुनाव विजय कर अपनी प्रशासकीय पद्धति आरम्भ की। उनकी 'लन्दन नौसैनिक सन्धि' तथा 'प्रशासकों के वेतन में कटौती करने' के कारण टोकियो रेलवे स्टेशन पर उन पर गोली चला कर घायल कर दिया गया। इसके कुछ माह पश्चात उनका निधन हो गया। हामागूची के पश्चात वाकात्सूकी पुनः प्रधान-मन्त्री बने पर उन्हें भी 1931 में मंचूरिया पर आक्रमण करने के कारण त्याग पत्र देना पड़ा। तत्पश्चात सियूकाई दल का अध्यक्ष इनूकाई प्रधानमन्त्री बना, जिसकी मई 1931 में अपने ही सरकारी निवास स्थान पर युवा सैनिक और नौसैनिक अधिकारियों द्वारा हत्या कर दी गयी।

उग्रवाद

शनैः शनैः जापान की राजनीति उग्रवादियों के प्रहार का आहेर बनती गयी। इसका मुख्य कारण बाहरी दबाव के साथ-साथ जापान में राजनैतिक दलों के विकास की विशेष प्रक्रिया थी। जापान के तत्कालीन परिवेश में परिवर्तित मूल्यों से भूमिधरों, व्यापारियों तथा प्रशासकों की पारम्परिक प्रति-ष्ठाओं पर चोट हो रही थी। नीतिगत तथा वैचारिक-संघर्षों की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वार्थ तथा वर्गीकृत रुचियाँ जापान की तत्कालीन राजनैतिक मंच को अधिक प्रभावित कर रही थीं। एक दल दूसरे दल को पराजित करने के लिए प्रत्येक प्रणाली को अपनाने हेतु तैयार था। यहाँ तक कि जापान की राजनीति को उग्रवादी तत्वों तथा हिंसा के आधार पर चलाने का प्रयास प्रारम्भ हो गया। भ्रष्टाचार के बढ़ने का भी यही मुख्य कारण था। राज-नैतिक-दलों तथा व्यापारियों के गठबन्धनों के कारण भ्रष्टाचार को राजनीति

से दूर रखना असम्भव हो चुका था। मतों को क्रय तथा विक्रय करने की प्रवृत्ति के कारण भ्रष्टाचार तथा हिंसा दोनों ने जापानी राजनीति में प्रवेश किया। वास्तव में व्यापारी तथा राजनैतिक दलों के स्वार्थ समान थे, जिसके कारण दोनों ने आपसी सहयोग से सरकार बनाने का प्रयास प्रारम्भ किया। बड़े-बड़े पूंजीपतियों ने भी सदनात्मक पद्धति पर आक्रमण को उदारवाद पर आक्रमण नहीं समझा। इसी प्रकार राजनैतिक दलों ने भी आम जनता में विश्वास न प्राप्त कर सकने के कारण व्यापारिक वर्ग पर विश्वास करना अधिक उचित समझा। इस प्रकार के सहयोग से राजनैतिक दलों की शक्ति तो वृद्धि हुई, पर साथ ही साथ, व्यापारियों की अन्य रुचियों ने जापान के राजनैतिक वातावरण को अशक्त बना दिया। जापान में पुनः वह कुरीतियाँ उत्पन्न हो गई जो समुराई वर्ग के कारण जापान की विगत शताब्दी में थी। आधुनिक शिक्षा तथा आधुनिकीकरण के कारण संवैधानिक परिवर्तन तथा राजनैतिक चेतना में परिवर्तन आया, और शासक वर्ग में भी पर्याप्त परिवर्तन हुए। परन्तु व्यापारिक वर्ग, मध्यम वर्ग, कुलीन वर्ग के नये समीकरणों ने राजनैतिक-भ्रष्टाचार को भी जन्म दिया। जापान के इस काल का उदारवाद सामाजिक परिवर्तन का द्योतक नहीं था। सभी उदारवादी वास्तव में रूढ़िवादी प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। इन्होंने अर्थव्यवस्था, संसद की शक्ति तथा जन-शक्ति के लिए ही प्रयास किये। वास्तव में यह उदारवादी तथा रूढ़िवादी दोनों थे तथा इनको रूढ़िवादियों एवं प्रगतिवादी दोनों वर्गों से चुनौती प्राप्त हुई।

मूल रूप से जापान की इस युग में असफलता का कारण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, सामूहिक लक्ष्य, शिक्षा के प्रभाव, सम्राट केन्द्रित राज्यधर्म, अनिवार्य भर्ती तथा पारम्परिक सत्तावादी पद्धति में निहित था। अन्ततोगत्वा जापान पुनरुद्धार व पुर्नस्थापन के द्वार भेदन के निकट आकर भी आगामी वर्षों में युद्धरत हो गया।

अध्याय 10

राष्ट्रवाद तथा सैन्यवाद (1930-1941)

अतिराष्ट्रवाद

संसदीय लोकतन्त्र की दिशा में सन्तुलित विकास तथा उग्रवादी तत्वों का जन्म ही केवल जापान के दूसरे दशक का चरित्र नहीं था वरन् इस दशक में जापान ने रूढ़िवादी तथा राष्ट्रवादी प्रतिक्रियाओं को भी जन्म दिया। इसका मुख्य स्रोत जापान के परम्परावादी तत्वों द्वारा आधुनिकता का विरोध करने वाली शक्तियाँ थीं। पश्चिमी साम्राज्यवाद, तथा आधुनिक विचारधारा के विरोध ने राष्ट्रवादी चरित्र विकसित किया था। इस विचार धारा का आरम्भ मेइजी शासन के आरम्भिक काल में 'साईगो ताकामोरी' तथा तत्पश्चात 'जेनीओशा' एवं 'कोकुरिऊकाई' जैसी संस्थाओं ने किया। यहीं से एशिया की मुख्य भूमि पर विस्तार विकसित होने, साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों को जन्म देने, तथा जापान को वाह्य-प्रभावों से मुक्त कराने जैसी भावनाओं ने जन्म लिया। इसके लिए यह नितान्त आवश्यक था कि जापान स्वयं में एक शक्तिशाली राष्ट्र हो। सैन्य-शक्ति में अपार वृद्धि के अतिरिक्त राष्ट्र प्रेम, एकता, निष्ठा तथा लक्ष्य बोध की क्षमता में वृद्धि आवश्यक थी। यही कारण था कि जापान का राष्ट्रभावना युक्त वर्ग आर्थिक तथा विदेशी समस्याओं के अतिरिक्त राजनीति शिक्षा तथा नैतिकता के प्रति अधिक सतर्क व चिन्तित था। कोकुरिऊकाई को योजना के अनुसार ···· हम अपने वर्तमान समाज का नवीनीकरण, सागरपार विस्तार पर आधारित विदेश नीति, जनता की समृद्धि के लिए गृह नीतियों का क्रान्तिकरण करेंगे तथा मजदूर एवं पूंजी की समस्याओं के लिए एक सामाजिक नीति का निर्माण करेंगे ···।

फलस्वरूप 1914–1918 के युद्ध के पश्चात विदेशी समस्याओं की तुलनाओं में आन्तरिक समस्याओं पर अधिक जोर दिया गया। जापान में

उद्योगों के विकास से जापान में एक अनुशासित तथा कर्मशील भावना का जन्म हो रहा था। उद्योगों के विकास से सम्भावित लाभों ने इस भावना को विकसित करने में सहयोग दिया। इससे प्राप्त पूंजी को जापानी धनिक वर्ग ने पाश्चात्य आधार पर ही प्रयुक्त किया। परन्तु पूंजी के असमान विभाजन से उत्पन्न विद्रोहात्मक विचारधाराओं भावनाओं ने भी पश्चिमी विचारधाराओं से ही अपना नेतृत्व प्राप्त किया। समाजवाद, शान्तिवाद तथा लोकतन्त्र सब पश्चिम ही की देन थे। जापान में उत्पन्न ग्रामीण-समस्याओं के लिए भी यह आधुनिकीकरण उत्तरदायी था। समाज में ग्रामीण वर्ग जो कि जापानी पारम्परिक चरित्र का द्योतक था, आधुनिकीकरण तथा औद्योगीकरण के कारण ही अशक्त होने लगा। वास्तव में मनोरंजन के विकृत साधन, राजनैतिक-भ्रष्टाचार, वृहद-व्यापार, श्रमिक-संगठन, हड़ताल, ग्रामीण आक्रोश तथा सामाजिक मूल्यों के अवमनन के लिए आयातित-विचारधारा तथा रहन-सहन ही उत्तरदायी था। इन सामाजिक परिवर्तनों ने जापान के एक वर्ग-विशेष को विशेष रूप से आक्रोशित किया। यह वह वर्ग था, जिसकी जापान के परम्परावादी विचारधाराओं, रहन-सहन तथा मूल्यों में आस्था थी। जब आधुनिक विचारधारा, पश्चिमी रहन-सहन तथा औद्योगिक मूल्यों से समाज को प्रत्यक्ष लाभ दृष्टिगोचर नहीं हुआ, इस वर्ग विशेष ने आधुनिकता का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया, एवं 'वर्ग चारित्रीकरण' राष्ट्रवादी होता गया। इसी राष्ट्रवाद ने शक्ति-सम्पन्नता तथा साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं को भी जन्म दिया। इन सभी भावनाओं तथा विचार दर्शनों ने परम्परावाद, राष्ट्रप्रेम, अतिदेशभक्ति, ग्रामीण आदर्शवाद, राज्य-स्वामित्व, सामाजिक क्रान्ति तथा अतिराष्ट्रवाद को जन्म दिया। जापान का तीसरा दशक इस प्रकार आदर्श ग्रामीण विचारधाराओं, रूढ़िवादी जीवनमूल्यों, व्यवसायिक देशभक्तों, तथा अतिराष्ट्रवादी महत्वाकांक्षाओं को प्रदर्शित करने वाला दशक था।

इस दशक को प्रमुख नेतृत्व, 'देशभक्त संस्थाओं' ने ही प्रदान किया। इस प्रकार की संस्थाओं में 'प्रमुख कोकुरिऊकाई' (जापान नेशनल एसेन्स सोसाइटी–1919) 'कोकुहोन्शा' (नेशनल फाउन्डेशन सोसाइटी–1924) 'युजोन्शा' (सोसाइटी फॉर प्रेजंवेशन आफ नेशनल एसेन्स 1921) प्रमुख थे। इन संस्थाओं के लक्ष्य तथा रुचियाँ पर्याप्त रूप से भिन्न थीं। यह सम्भावना नहीं थी कि ये किसी भी प्रकार एक दूसरे से सहयोग कर सकेंगी। इसके अतिरिक्त इनको सीमति सदस्यता तथा आर्थिक समस्याओं ने भी प्रभावी संस्था नहीं बनने दिया। समाज पूंजी विरोधी, पश्चिम-विरोधी भावनाओं

के प्रति जन-समर्थन तथा जनसहयोग के कारण इन भावनाओं से अधिक प्रभावित हुआ ।

नव विचारधारा

इस समकालीन विचारधारा को प्रभावित करने वाले कुछ लेखक तथा संस्थायें थीं । राष्ट्रवादी संस्थाओं के अतिरिक्त उग्रवादी संस्थाओं ने भी मध्यम क्रान्तिकारी सैन्य वर्ग को प्रोत्साहित किया । संस्थाओं के कार्यों के साथ लेखकों एवं विचारकों ने भी अपना योगदान दिया ।

सर्वप्रथम लेखक 'कीटाइकी' ने 1919 में एक पुस्तक 'एन आउटलाइन प्लान फॉर द रिकान्सट्रक्शन ऑफ जापान' में अपने उग्रवादी सामाजिक संशोधन सिद्धान्त को प्रतिपादित किया । यद्यपि जापानी सरकार ने कीटा की पुस्तक के वितरण पर पुलिस प्रतिबन्ध लगाया; परन्तु कीटाइकी के श्रमिक एवं औद्योगिक विचारों ने पूंजीपतियों तथा सम्राट विरोधी धारणा ने स्वयं में एक नवीन विचारधारा को प्रवाहित किया । कीटा के सैनिक विप्लव द्वारा राजनैतिक, आर्थिक एवं अधिकारी तंत्रिक संस्थाओं के शुद्धिकरण ने युवा वर्ग का आकर्षित किया ।

कीटाइकी से भिन्न विचार 'गोंदो सीको' के थे । गोंदो ने भूमिकेन्द्रित राष्ट्रवाद की व्याख्या कर ग्राम को ही राजनैतिक एवं आर्थिक जीवन के केन्द्र की मान्यता दी । गोंदो के विचारों का उद्देश्य साधारण ग्रामीण वर्ग के मूल्यों का समर्थन करना था । उनके विचार में केन्द्रीकरण, अधिकारीतन्त्र तथा पश्चिमीकरण जापानी पारम्परिक मूल्यों के प्रति अभिशाप था । एक अन्य विचारक 'ताशीबाना' कोशाबूरों,ने पंचायती ग्राम की स्थापना की । इसके अतिरिक्त कोशाबूरो ने मीतो के निकट पंचायती ग्राम में एक स्कूल आरम्भ कर थोड़े से छात्रों को कृषि एवं राष्ट्रभक्ति की शिक्षा देना आरम्भ किया ।

सैन्य जागरुकता

उपरोक्त भावना का प्रादुर्भाव सेना के युवा अधिकारियों में मुख्यतः हुआ । यह युवा वर्ग, 1924-25 के सुधारों के पश्चात, लघु व्यापारियों, लघु भूमिधरों तथा लघु अधिकारियों के परिवारों से आया था । इस वर्ग में कुलीन वर्ग वाली उस निष्ठा की कमी थी, जो परम्परावादी समाज की विशेषता थी । यह नवीन वर्ग साम्यवाद अथवा निर्धन ग्रामीणों के प्रति भी निष्ठावान नही था । फलस्वरूप अपने पूर्वाधिकारियों के विपरीत यह अधिकारी दक्षिणपन्थी, उग्रवाद को भी समर्थन देने में अधिक क्रियाशील थे । अपनी व्यक्तिगत

समस्याओं के कारण भी इन्होंने प्रत्येक आर्थिक-समस्या के समय स्वयं को विशेष रूप से प्रभावित प्रतीत किया। जन-अधिकारों तथा राजनैतिक दलों की असैनिक प्रशासन की माँग ने भी सैनिक प्रतिष्ठा को आघातित किया। धनिक तथा सुविधा प्राप्त वर्ग जो नागरिक जीवन-स्तर से स्वयं को कुलीन मानता था, उसने इनकी भावनाओं को आर्थिक हीनता का परिचय दिया। उच्च वर्गीय सम्पन्नता तथा सुविधा ने एक तुलनात्मक-दृष्टिकोण को जन्म देकर 'वर्गीय उग्रवादी चरित्र' को विकसित किया।

परिणामस्वरूप अनेक सैनिक-अधिकारियों ने राष्ट्रवादी आन्दोलनों में रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया। इन्होंने 'कीटाईकी,' 'ओकावा-शुमाई' तथा अन्य इसी प्रकार के लोगों की प्रेरणा से सैन्य-नागरिक अर्थात सेना और जनता से सहयोजित मिश्रित संस्थाओं को जन्म दिया। इनका विचार सेना तथा जनता के सहयोग से सुधार की सम्भावनाओं को विकसित करना था। कुछ ऐसी संस्थाओं का भी निर्माण हुआ जो पूर्णतया सेना तथा नौसेना के सदस्यों द्वारा निर्मित थीं। इस प्रकार की सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्था लेफ्टिनेन्ट-कर्नल हाशीमोटो किंगोरो की साकुराकाई (चैरी सोसाइटी) थीं। इस संस्था की समस्त सदस्यता सेना के अधिकारियों, सैन्य मंत्रालय के लोगों तथा सैनिक प्रशिक्षण स्कूलों द्वारा संचारित थी।

इन अधिकारियों को अपने लक्ष्य एवं उद्देश्य के प्रति यह स्पष्ट नहीं था कि वास्तव में इनको क्या करना था? मुख्यतया अपने वक्तव्यों में यह लोग दो वाक्याशों साम्राज्यवादी मार्ग (केडो) तथा 'शोवा पुर्नस्थापन' का प्रयोग करते थे। शोवा तत्कालीन सम्राट का वंश नाम था जिसका प्रारम्भ 1926 में हुआ। इन दोनों का अर्थ योजनाओं में सम्राट के विशेषाधिकारों से सम्बन्धित था। परन्तु वास्तव में इस योजना का स्वरूप स्वयं इन लोगों को अधिक स्पष्ट नहीं था। नैतिक पुनरुद्धार तथा सैनिक-अधिनायकवाद पर अधिक बल दिया जा रहा था, जिसमें सम्राट मात्र एक 'पवित्र कठपुतली' के समान होता। यद्यपि कोई रचनात्मक नीति का परिपालन स्पष्ट विदित नहीं हो रहा था, परन्तु इतना अवश्य स्पष्ट था कि राजनैतिक दलों एवं वृहद व्यापारियों पर ही प्रथम प्रहार होगा। परिणामस्वरूप उन्होंने जापान को सैद्धान्तिक तथा आर्थिक रूप से युद्ध के लिये तैयार रखने को कहा। यूरोप में इसी समन्वयन का नाम फासीवाद (फाशिज्म) था।

इस प्रकार छोटे अधिकारियों का योगदान महत्वपूर्ण हो गया, क्योंकि इससे उग्रवादियों को हथियार प्रयुक्त करने तथा हिंसक मार्ग अपनाने की दिशा प्राप्त हो गई। इनका प्रयोग हिंसक क्रान्ति में नहीं किया गया, और न

ही किया जा सकता था क्योंकि यह स्पष्ट था कि उन्हें जनमत नहीं प्राप्त हो सकता था। वास्तव में इस प्रकार से यह अशान्ति का वातावरण उत्पन्न कर बड़े अधिकारियों द्वारा आपातकालीन स्थिति, तथा सैन्य शासन की घोषणा करवाने के इच्छुक थे। इस प्रकार के वातावरण निर्मित करने हेतु जापान में आतंकवाद, हिंसात्मक प्रवृत्तियों, हत्या तथा भय के वातावरण का उद्भव हुआ। कभी-कभी अपरोक्ष रूप में यह विद्रोह की सम्भावनायें उत्पन्न कर देता था और कभी यह उन व्यक्तिगत लोगों का विरोध स्पष्ट करता था जो उग्रवाद के विरुद्ध थे। इन प्रयासों को जापान में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। इसके साथ ही साथ जापान में पैम्फलेटों, समाचारपत्रों, विरोधजनक सम्मेलनों तथा प्रदर्शनों द्वारा देशभक्ति की भावना का प्रचार होने लगा। परिणामस्वरूप आन्तरिक समस्याओं में राष्ट्रवादियों के राजनैतिक-स्वार्थों तथा विदेशी नीतियों में साम्राज्यवादी नीतियों का आगमन इस प्रकार हुआ, कि उनका विरोध असम्भव हो गया। 1931 और प्रशान्त युद्ध के मध्य 'कोकुताई' (कोकुताई का अर्थ कुछ कुछ 'राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था' था। यह शब्द अतिराष्ट्रवादियों को सर्वाधिक प्रिय था) के प्रति अनास्था किसी भी जापानी उच्चाधिकारी के आत्म विश्वास को हानि पहुंचाने के लिये प्रर्याप्त थी। नैतिक साहस का यद्यपि प्रदर्शन हुआ परन्तु सिद्धान्तों के प्रति त्याग तथा विवेकपूर्ण विचारधाराओं एवं स्वीकृत व्यक्तिगत विचारों का पर्याप्त अभाव था।

राष्ट्रवाद तथा राजनैतिक हत्या जापान की राजनीति में कोई नव परिधान नहीं था। 1890 के पश्चात राष्ट्रवाद से प्रभावित जनमत ने कई बार हिंसक विद्रोहों को जन्म दिया था। ईटो तथा ओकूबो, दोनों की हत्यायें टोकुगावा तथा मेइजी नेताओं के ही समान की गई थी। इस प्रकार प्रधानमंत्री 'हारा' तथा 'जायबात्सु' के अध्यक्ष यशुदा की हत्या की गयी। परन्तु 1930 के पश्चात अति राष्ट्रवाद केवल भूतकालीन घटनाओं का ही निरन्तर विकास नहीं था। तत्कालीन परिस्थितियों तथा ग्रामीण आक्रोश ने नवीन परिस्थितियों तथा कारणों को जन्म दिया। कृषि तथा उद्योग के सहअस्तित्व एवं समन्वय ने भी नवीन समस्याओं को जन्म दिया, जिन्होंने आर्थिक तथा वैचारिक रूप से असंतोष का प्रादुर्भाव किया। 1927 में चावल की अत्यधिक उपज एवं उसके मूल्यों में कमी के कारण भी रोष की भावना का संचार हुआ। इस का एक अन्य कारण 1929-30 की विश्व आर्थिक मन्दी में भी निहित था जिसने अमरीका की क्रय शक्ति को न्यून कर सिल्क के मूल्यों को कम कर दिया था। 1929 के 151% मूल्य 1931 में केवल 67% रह गये तथा इसी काल में चावल का मूल्य 257% से केवल 114% रह गया। वस्त्रोद्योगके निर्यात-

शक्ति के कम होने से बेरोजगार श्रमिक लड़कियों को वापस अपने गांवों में जाना पड़ गया था। फलस्वरूप गाँवों में व्यापक निर्धनता व्याप्त हो गयी। यह कहा जाता है कि केवल यामानाशी प्रान्त में 22,000 सिल्क लपेटने वाली लड़कियों को महीनों मजदूरी नहीं प्राप्त हुई थी। केवल भोजन तथा निवास की ही सुविधा किसी प्रकार प्राप्त हो पाती थी। मियागी में बिजली का अभाव हो गया था, विभिन्न प्रान्तों में अध्यापकों तथा स्थानीय अधिकारियों को वेतन नहीं प्राप्त हो रहा था। छोटे बच्चों को शिक्षण शुल्क के अभाव में विद्यालय नहीं भेजा जाता था। उत्तरी तथा उत्तर पूर्वी क्षेत्रों में परिस्थितियाँ अधिक शोचनीय थीं। क्योंकि अधिकतर सैनिक लघु अधिकारी इसी क्षेत्र के थे, इसलिये असंतोष की भावना का प्रसार इस क्षेत्र में अधिक था।

सैन्य अधिकारियों की नौसैनिक शक्ति सीमित कर देने के फलस्वरूप भी असंतोष की भावना उत्पन्न हुई। 1930 की 'लन्दन नौसैनिक सन्धि' (1922 के वाशिंग्टन सन्धि का विस्तार) को यद्यपि रक्षामंत्री का पर्याप्त समर्थन प्राप्त था, परन्तु नौसेनाध्यक्ष इसके विरोध में थे। 21 अप्रैल को इस पर हस्ताक्षर होने के पश्चात 'प्रीवीं-काउन्सिल' में इस सन्धि को पारित होने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस सन्धि ने दो प्रकार से सेनाधिकारियों में असंतोष की भावना उत्पन्न की। प्रथम, अधिकारी वर्ग सुदूर पूर्व क्षेत्र एवं प्रशान्त सागर में जापान की शक्ति परिसीमित होने के विरुद्ध थे। उनका विचार था, कि अन्तर्राष्ट्रीय संधियों के द्वारा जापान की स्वतंत्रता पर अंकुश लगाना उचित नहीं था। 5 : 5 : 3 के अनुपात से जापान अपनी सुरक्षा करने में भी असमर्थ था और अमरीका तथा जापान में मतभेद बढ़ते ही जा रहे थे। द्वितीय, इस पक्ष में जिस प्रकार से निर्णय लिया गया उसने भी सवैधानिक प्रश्न उत्पन्न कर दिया। नौसेना की आवश्यकता तथा पूर्ति का पूर्ण उत्तरदायित्व नौसेनाध्यक्षों पर था। ऐसी परिस्थिति में उसके मन्तव्यों नीतियों तथा योजनाओं के एकदम विपरीत मंत्रालय द्वारा निर्णय लिया जाना प्रायोगिक रूप में अप्रासंगिक था। अत: असंतोष का मुख्य कारण यह भी था कि नौसेनाध्यक्ष के विरुद्ध न मात्र सन्धि की गई, अपितु उसे त्यागपत्र देने के लिये भी बाध्य किया गया।

इसका परिणाम 'प्रधानमंत्री हामागुची' पर प्राणघातक प्रहार था, जिसमें उनकी एक वर्ष पश्चात मृत्यु हो गई। परन्तु इसका कोई दूरदर्शी परिणाम नहीं हुआ। क्योंकि यह हत्या किसी बड़ी योजना का भाग नहीं थी और यह केवल एक गुप्त राष्ट्रभक्त संस्था के युवा सदस्य का कार्य था। हामागुची के पश्चात् 'वाकात्सुकी रिजीरों' का आगमन अप्रैल 1931 में हो गया। उनकी नीतियाँ तथा राजनैतिक पृष्ठभूमि भी हामागुची के समान थीं। उस समय में पहले

विद्रोह का आह्वान 1931 में हुआ। इस विद्रोह की योजना लेफ्टिनेंट कर्नल हाशीमोटो के साथियों ने नागरिक उग्रवादियों के साथ जिनका नेतृत्व 'ओकावा शुमाई' कर रहे थे, बनाई गई। इसने विद्रोहों, बम-विस्फोटों, तथा हिंसक कार्यवाहियों द्वारा अपने असंतोष का प्रदर्शन किया। यह विद्रोह असैनिक जनता तथा सैनिकों द्वारा प्रदत्त अस्त्रों द्वारा किया गया। इसके परिणामस्वरूप सैनिक शासन की घोषणा तथा 'जनरल ऊगाकी' के नेतृत्व में सरकार का गठन हुआ। यह निश्चियपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ऊगाकी तथा अन्य सेनाधिकारियों को इसकी पूर्व सूचना थी, अथवा नहीं, क्योंकि उनके सहयोग के बिना यह सम्भव नहीं था। परन्तु मार्च 1931 में उनके द्वारा सैन्य-षडयन्त्र को विफल कर देने से यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है, कि उन्हें षडयन्त्र के कुछ ही समय पूर्व सूचना मिली और उन्होंने अपना सहयोग वापस ले लिया। परन्तु उनकी सहापराधिता के कारण शेष के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जा सकी। इससे यह स्पष्ट हो गया कि भविष्य में किसी भी षडयन्त्र में सेना के नेतृत्व को स्वीकार करने से ही सरकार को गिराया जा सकता था। एक बार पुनः हाशीमोटो तथा ओकावा ने षडयन्त्र की भूमिका बनाई, परन्तु उन्होंने इस बार जनरल 'अराकी सदावा' को पदासीन करना पूर्व निश्चित कर दिया। परन्तु इस षडयन्त्र का ज्ञान भी अक्टूबर में हो गया, और यह प्रयास भी असफल रहा। इस घटना के अभियुक्तों को भी सरकार अधिक दण्डित न कर सकी। इससे स्पष्ट हो गया कि उच्चाधिकारी अनुशासन के प्रति अधिक चिन्तित नहीं थे।

मंचूरिया

इसका मुख्य कारण यह था कि सेना के कुछ बड़े अधिकारी स्वयं इस प्रकार के विद्रोहात्मक स्वरूप के प्रति निष्ठावान थे। विशेषतया क्वांगतुंङ्ग में नियुक्त, सेनाधिकारी मंचूरिया में जापानी प्रवेश के प्रति अधिक उत्सुक थे, परन्तु सरकार की नीतियां इसमें बाधक थी। साथ ही साथ च्यांग-काई-शेक चीन में तेजी से अपनी शक्ति बढ़ा रहा था जिससे मंचूरिया में जापान की उपस्थिति तथा अस्तित्व को खतरा बढ़ता जा रहा था। 1928 में मंचूरिया के च्यांग त्सो-लिन की हत्या के पीछे भी यही उद्देश्य था, सरकार के निरुत्साह से सेना में असंतोष की भावना तीव्र हुई। सेनाधिकारी इस प्रकार की सरकारी नीति के पश्चात भी अपनी महत्वाकांक्षा को संजोय हुए थे।

1931 में उन्हें पुनः अपने मन्तव्यों को सफलीभूत करने का अवसर प्राप्त

हुआ। इस अवसर के प्राप्त होने में भी अनेक कारण थे। चीन यांग्से घाटी में बाढ़ के कारण व्यस्त था। ब्रिटेन तथा अमरीका अपनी आर्थिक समस्याओं में उलझे थे। जापान स्वयं ऐसी परिस्थिति की प्रतीक्षा में था जिसके द्वारा सेना को राजनैतिक-नेताओं के विरुद्ध जनता का समर्थन प्राप्त हो सकता। इसके लिये मंचूरिया पर आधिपत्य सर्वाधिक उचित मार्ग था क्योंकि यही एक ऐसा प्रश्न था जिस पर आन्तरिक राजनीति में मतभेद के उपरान्त भी अधिकांश सैनिक अधिकारियों का मतैक्य था। परिणामस्वरूप दिसम्बर 1931 में टोकियो तथा मंचूरिया के अधिकारी वर्ग ने संघर्षरत होने के लिए तैयारी आरंभ कर दी और जनता में भाषणों तथा पैम्फलेटों द्वारा भावी संघर्ष का प्रचार किया। अत: 15 सितम्बर तक सैनिक तैयारी पूरी कर ली गयी। 18 सितम्बर 1931 को जापान की एक गश्ती सैन्य टुकड़ी को विस्फोटजनित ध्वनि सुनाई पड़ी और तत्काल सैनिक कार्यवाही प्रारम्भ हो गई। दो दिन में ही सेना ने मुकुदेन तथा किरिन पर अधिकार कर लिया। सितम्बर 21 से कोरिया से सैन्य सहायता पहुँचनी प्रारम्भ हो गयी। जिसके द्वारा अगले तीन माह में सम्पूर्ण मंचूरिया क्षेत्रों पर सैनिक कार्यवाही प्रारम्भ हो गयी।

टोकियो में, उपसेनाधिकारी ने यद्यपि प्रत्यक्ष सहयोग नहीं दिया परन्तु उन्हें इस योजना से पूरी सहानुभूति थी। यद्यपि सरकार को इस योजना की सूचना मिल गई थी, और उसने इस आक्रमण को रोकने के लिए एक सन्देश वाहक भी भेजा गया; परन्तु उसने स्वयं इस षड़यन्त्र का एक भागीदार होने के कारण यह सूचना तब तक के लिए गुप्त रक्खी जब तक कि पर्याप्त विलम्ब न हो चुका हो। रक्षा मंत्रालय ने उपरोक्त सैन्य योजना के विरुद्ध निर्देश पारित किये, परन्तु युद्धक्षेत्र के सेनाधिकारियों ने प्रसारित निर्देशों के प्रति किंचित ध्यान नहीं दिया। इसके लिए यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि सैनिक कार्यवाही की नीतियों तथा आवश्यकताओं के अनुसार सेना पर नियन्त्रण करना अभी उचित नहीं था। जनवरी 1932 के अन्त तक चीन-जापान के इस संघर्ष ने एक पूर्ण युद्ध का रूप ग्रहण कर लिया। शंघाई तथा नानकिंग में चीन ने कड़ा प्रतिरोध उत्पन्न किया, परन्तु जापानी सेनाओं ने तब तक सम्पूर्ण मंचूरिया पर अधिकार कर लिया था। जापानियों ने इस क्षेत्र से अपने निष्क्रमण न करने के अपने निर्णय पर मंचूरिया की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। मांयूकुओं नामक इस नवीन राज्य को चीन से स्वतन्त्र घोषित कर ‘पूयी नामक एक भूतपूर्व मान्चू सम्राट को वहाँ शासक बना दिया गया। इस प्रकार वहाँ एक कठपुतली सरकार की स्थापना कर जापानी-सेनाधिकारियों ने तत्कालीन साम्राज्यवादी विचारधाराओं को प्रयोगात्मक स्वरूप

प्रदान कर दिया।

सेना की इस निरंकुश कार्यवाही के परिणामस्वरूप वाकात्सुकी की सरकार दिसम्बर 1931 में स्वयं गिर गई। देशभक्त संस्थाओं ने सेना के कार्यों की मुक्त कण्ठ से सराहना प्रारम्भ कर दी। उनके अनुसार जापान को एक नये सैनिक युग की आवश्यकता थी। तत्कालीन 'प्रधानमंत्री इनुकाई' के लिए कार्य करना असम्भव हो गया। विरोधी दलों के नेताओं ने सेना की आलोचना के विपरीत उनको समर्थन प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार मंत्रालय तथा मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को स्वयं अपने जीवन के प्रति संकट का आभास होने लगा। फरवरी तथा मार्च में मंचूरिया अभियान से सम्बन्धित दो विशिष्ट विरोधियों की हत्या से यह और भी स्पष्ट हो गया।

उपरोक्त हत्याओं के लिए उत्तरदायी अभियुक्तों को दण्डित करने के पश्चात उनका कार्य एक ऐसे दल द्वारा ले लिया गया जो गोन्दो साइकियो के 'ग्रामीण सिद्धान्तों' से प्रभावित था। मई 15, 1932 को टोकियो के एक विद्युत संचार गृह, एक बैंक तथा सियूकाई दल के मुख्यालय पर आक्रमण से इस प्रवृति के विरोध की असफलता स्पष्ट हो गई। अर्थात् यह सारे प्रयास असफल हो गये, परन्तु उन्होंने प्रधानमन्त्री इनुकाई की हत्या कर दलगत सरकार के अस्तित्व को अन्तिम चुनौती प्रदान कर दी। इन अभियुक्तों पर चलाये जाने वाले मुकदमों ने वातावरण को और अधिक संघर्षपूर्ण बना दिया। अभियुक्तों ने अपने सभी कार्यों को देशभक्ति का कार्य बताया। ताचीबाना नामक अभियुक्त ने अपने कटु भाषणों के द्वारा इस प्रसंग में विशेष ख्याति अर्जित की।

जन न्यायालयों ने इन मुकदमों में अभियुक्तों को विशेष कठोर दण्ड नहीं दिया, जिसका परिणाम अन्य देशभक्त संगठनों को उत्साहित करने के लिए पर्याप्त था। इसका परिणाम स्वयं 'सियुकाई दल' के सदस्यों का आत्म-विश्वास गिराने में प्रयुक्त हुआ। फलस्वरूप इस दल के ही सदस्य विघटित होकर अतिराष्ट्रवादियों के सम्पर्क में आने लगे। अन्य सदस्यों ने दल में रहते हुए भी सेना को समर्थन देना प्रारम्भ कर दिया। इसका एकमात्र अपवाद एक नवीन वामपंथी संगठन 'शाकाई तैशुतो' (जन समाजवादी दल) था, जिसकी स्थापना जुलाई 1932 में हुई। यह दल अपने अन्तर्विरोधों के उपरान्त भी पूंजी-विरोधी, साम्यवाद विरोधी, तथा फासीवाद विरोधी वैचारिकता का 1937 के चीन-जापान युद्ध तक एकमात्र पोषक दल था। 1932 के पुलिस-शोधन के पश्चात इस दल को प्राप्त होने वाले समर्थन में वृद्धि हुई। फलतः 1936 के चुनाव में इसको संसद (डाईट) में 18 स्थान तथा

लगभग 5 लाख मत प्राप्त हुए। वामपन्थ के लिए यह अभूतपूर्व विजय थी अर्थात इससे पूर्व वामपन्थियों को इतने अधिक मत कभी प्राप्त नहीं हुए थे। परन्तु जापान के घटनाक्रम को परिवर्तित करने अथवा नवीन दिशा प्रदान करने के लिए यह विजय अपर्याप्त थी।

इस प्रकार संविधान की सुरक्षा का एकमात्र दायित्व सम्राटकीय परिधि के समर्थक राजनीतिज्ञों के पास रह गया था। इनमें अनेक उदारवादी भी थे जो सेना में अनुशासन एवं दलगत मन्त्रिमण्डल के इच्छुक थे। परन्तु उन्हें यह भी अच्छी प्रकार ज्ञात था कि सेना के उग्रवादी तथा अन्य अधिकारी तत्वों को यह नीति स्वीकार नहीं होगी। जापान के अनुशासन, कानून व्यवस्था तथा शान्ति बनाये रखने के किसी भी प्रयास को सेना के उग्रवादी तत्व समर्थन नहीं दे रहे थे। इस प्रकार यह भी सम्भावित था कि सरकार द्वारा किया गया सैन्य इच्छा विरोधी प्रयास सम्राट तथा सरकार विरोधी विद्रोह का कारण बन सकता था। अन्य किसी भी प्रत्यावर्तन की अनुपस्थिति में समझौतापरक नीति ही एकमात्र विकल्प रह गयी थी।

सैन्य संगठन

तत्कालीन जापान एक बार पुनः अपनी पूर्ववत पद्धति पर अग्रसर हुआ। इसके अन्तर्गत बहुमतीय दलों के समन्वय से सरकार के निर्माण तथा दल रहित व्यक्ति के नेतृत्व को प्राथमिकता दी गई। इस आधार पर 'इनुकाई' के पश्चात मई 1932 में 'एडमिरल सैतो' प्रधानमन्त्री बने। तत्पश्चात जुलाई 1934 में 'एडमिरल ओंकाडा किसुकी' प्रधानमंत्री हुए। नौसेना के उच्चाधिकारियों के चयन का मुख्य कारण यह था, कि इन पर नियन्त्रण अपेक्षाकृत अधिक सहज था। तत्कालीन मुख्य समस्या सेना के उग्रवादी दलों में अनुशासन बनाये रखने की थी। इसके लिए आवश्यक था कि सेना में अधिकारियों का सहयोग प्राप्त किया जाता। परिणामस्वरूप उनको सुविधायें प्रदान करना अवश्यम्भावी हो गया। इस सुविधा के अन्तर्गत मंचूरिया का विस्तार, तथा अनुशासनिक कार्यवाहियों का स्थगन मुख्य था। मंचूरिया में जापानी प्रवेश के प्रति सहमति तथा आन्तरिक मामलों में अनुशासनिक कार्यवाहियों के स्थगन के पीछे यही नीति कार्यरत थी। परन्तु 'सुविधा द्वारा नियन्त्रण' की यह नीति अन्ततोगत्वा आत्मघाती ही सिद्ध हुई।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण कठिनाई यह थी कि सेनाधिकारी स्वयं अपनी विचारधाराओं के प्रति एकमत नहीं थे। यद्यपि कोडो संगठन (साम्राज्यकीय मार्ग) में किटाईकी के सिद्धान्तों के प्रति उत्साह था, परन्तु उनका मुख्य

सुझाव नैतिकता तथा निष्ठा के प्रति था। इस दल के मुख्य नेता जनरल आराकी तथा मजाकी थे। इसके विपरीत 'तोसाई संगठन' (नियन्त्रण) आर्थिक एवं राजनैतिक संस्थाओं से अधिक जुड़ा था। ये जापान को पूर्ण युद्ध के प्रति तत्पर रखने के इच्छुक थे। इन्होंने पूंजीवाद तथा लोकतन्त्र पर आक्रमण करने की अपेक्षा तत्कालीन सामाजिक परिवेश में पूंजीवादियों तथा प्रशासकों के सहयोग से कार्य करना आधिक उपयुक्त समझा। उनको अन्य बहुत से वर्गों के समर्थन प्राप्त हुए। इस संगठन का नेतृत्व 'नागाता तेत्सुजान' तथा 'इशिहारा कांजी' के हाथ में रहा परन्तु 'जैबात्सु' (आर्थिक पुंज) नेताओं ने जैसे 'इकिडा शीहिन' ने उद्योग तथा व्यापार पर अधिकार को प्राथमिकता दी। इसी प्रकार अन्य बहुत से वरिष्ठ प्रशासकों ने नवीन प्रशासक संगठन का निर्माण कर जापान की तत्कालीन आवश्यकता की पूर्ति की।

आन्तरिक नीतियों के अतिरिक्त अन्तर्विरोधों का दूसरा मुख्य कारण विदेशी नीतियाँ भी थीं। मंचूरिया में जापानी कार्यवाही के कारण पर्याप्त मतभेद थे। 'कोडो संगठन' के अनुसार सोवियत संघ तथा साम्यवाद से सुरक्षा जापान की प्राथमिक आवश्यकता थी। साम्यवाद के विकास के कारण चीन से भी सुरक्षा का प्रश्न उपस्थित था। इसके विपरीत 'तोशी संगठन' अपेक्षाकृत अधिक उग्र था। उनके विचार में विश्व युद्ध में जापान की सैन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मंचूरिया तथा उत्तरी चीन श्रोतों का प्रयोग आवश्यक था। अतः वहाँ पर जापान का अतिक्रमण न्यायसंगत था। अन्य सेनाधिकारियों के अनुसार मंचूरिया में जापान की उपस्थिति जापान की राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के लिये आवश्यक थी। अतः इन सबने विदेश मंत्रालय की भर्त्सना की। क्योंकि विदेश मंत्रालय चीन को जापान का आकर्षण केन्द्र समझकर महाशक्तियों द्वारा समझौते का इच्छुक था।

उपरोक्त मतभेदों के कारण जापान में 'शक्ति संतुलन' तथा 'शक्ति परीक्षा' के संघर्ष में अराकी तथा उप मुख्य सेनाधिकारी के रूप में मजाकी के कारण कोडो संगठन अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली हो गया, परन्तु मंचूरिया में उनके विरोधियों का प्रभाव ही अधिक था। जनवरी 1934 में आराकी के त्याग-पत्र के पश्चात 'हायाशी सेनजूरों' सत्ता में आये और वह 'नगाता तेत्सुजान' के प्रभाव में थे। इस समय मजाकी सैन्य-शिक्षा के मुख्य निर्देशक थे, परन्तु जुलाई 1935 में मजाकी के निष्कासन के पश्चात समस्या जटिल हो गयी। अगस्त 12 को स्वयं नगाता की हत्या कर दी गई। यह हत्या मजाकी के एक समर्थक लेफ्टिनेंट कर्नल 'अएजावा साबुरो' ने की थी। तोसाई नेताओं ने

अएजावा पर मुकदमा चलाना प्रारम्भ कर दिया तथा शेष उग्रवादियों को मंचूरिया ले जाया गया फलस्वरूप कोडो को एक बार पुनः शक्ति प्रयोग की आवश्यकता महसूस हुई।

कोडो संगठन द्वारा सत्ता पर अधिकार करने का प्रारम्भ फरवरी 26, 1936 को हुआ। लगभग एक हजार 'कोडो' के लघु अधिकारियों ने राजधानी पर अधिकार कर लिया। कुछ ने प्रधानमंत्री का आवास घेर लिया, परन्तु ओकाडा की हत्या नहीं की जा सकी क्योंकि उन्हें पहचाना नहीं जा सका था। परन्तु वित्तमंत्री, सैन्य शिक्षा के महाअधीक्षक (इन्सपेक्टर जनरल) तथा लार्ड प्रीवीसील की हत्या कर दी गई। इसके साथ ही साथ अन्य अधिकारियों पर भी प्रहार किये गये। इस आशय के पर्चे भी बाटे गए कि 'मजाकी' के नेतृत्व में नवीन व्यवस्था की स्थापना की जाये, परन्तु 'मजाकी' तथा 'अराकी' दोनों में से किसी ने भी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। इन उग्रवादियों एवं हिंसक तत्त्वों के दमन हेतु सम्राट ने नौसेना तथा साम्राज्यिक-सेना की सहायता से विद्रोहियों को आत्मसमर्पण के लिये विवश कर दिया।

इस आत्मसमर्पण को अधिक लोकप्रियता नहीं प्राप्त हो सकी क्योंकि अधिकतर मुकदमें तथा सजाओं की कार्यवाही गुप्त रूप से की गई। आईजावा, कीटाईकी तथा अन्य असैनिक विद्रोहियों को मृत्यु दण्ड दे दिया गया। युद्ध मन्त्री के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह सेना का उच्चाधिकारी हो। इसका कारण ऐसे पद पर एक अराजनैतिक व्यक्ति की नियुक्ति था। इसमें साथ ही साथ विभिन्न प्रान्तों तथा विदेशों में सक्रिय युवा उग्रवादी अधिकारियों के संगठन की मांग करने के लिये व्यवस्थाएँ कर ली गई। इस प्रकार परोक्ष रूप में पुनः अनुशासन स्थापित कर लिया गया।

इन घटनाओं के कारण तोशी (तोसाई) दल 1936 के पश्चात सेना पर प्रभाव बनाने में सफल हो गया। फलस्वरूप राष्ट्रीय नीतियों में हस्तक्षेप करने में उन्हें सरलता हो गई। सेना द्वारा पुनः एकता की स्थापना तथा उग्र बादियों से राष्ट्र की रक्षा ने सेना को एक विशेष अवसर प्रदान किया। अब सेना अपनी सैनिक समस्याओं की स्वतन्त्रता में अधिक रुचि लेने लगी। शांति तथा युद्ध में चुनाव, मन्त्रिमण्डल के गठन, तथा संविधानिक स्वतन्त्रता के क्षेत्र में सेना का निर्णय महत्वपूर्ण हो गया। बिना सेना अथवा नौसेनाध्यक्ष के सहयोग के बिना किसी सरकार का गठन सम्भव नहीं था। इस प्रकार सेना के सहयोग के बिना शासन असम्भव हो गया। यही कारण था कि मार्च 1936 में जब 'हिरोता कोकी' प्रधानमंत्री बने उनके द्वारा नियुक्त विदेशमंत्री के

चुनाव पर सेना ने निषेधाधिकार का प्रयोग कर दिया। स्वयं हिरोता को 1937 में सेना का विश्वास न प्राप्त होने के कारण पद त्याग करना पड़ा। हिरोता के पश्चात 'जनरल उगाकी' भी सरकार बनाने में इसी लिये असफल हो गये कि वह युद्ध मन्त्री की नियुक्त के लिये मतैक्य न प्राप्त कर सके। जनरल हयाशी को भी मई में ही त्याग-पत्र देना पड़ा तत्पश्चात 'कोनो फूमीमारो' को प्रधानमंत्री चुना गया। वह एक परम्परावादी कुलीन वर्ग के प्रतिनिधि थे। यह आशा भी थी कि वह सेना को बिना अधिक अधिकार दिये उनका सहयोग भी प्राप्त कर सकेगें। कोनो के पद त्याग के पश्चात जनवरी 1939 में राष्ट्रवादी 'हिरानुमा' प्रधानमन्त्री बने। इस समय तक सेना, प्रर्याप्त प्रभावशाली हो चुकी थी। वह मंत्रिमण्डल के चयन तथा निषेधाधिकारों को प्रयोग करने की स्थिति में पहुँच चुके थे।

इस समय तक जापान के नागरिक राजनीतिज्ञों को यह भी स्पष्ट हो गया था कि उन्होंने एक संकट के स्थान पर दूसरा संकट आमन्त्रित कर लिया था। सम्भवतया कोडो संगठन तथा उग्रवादियों पर अंकुश आसान था। जिससे संविधान तथा समाज दोनों की सुरक्षा सम्भव थी। परन्तु उन्हें इसकें लिए भारी कीमत चुकानी पड़ी। इसका परिणाम यह हुआ कि सेना ने शक्ति संगठित कर राजनीति में हस्तक्षेप करने लगी। अन्त में अपनी यह क्रांति से कम हानिकारक नहीं सिद्ध हुआ। जापान युद्ध निर्माण तथा विदेशों में प्रसार के आधार पर स्वयं को संगठित करने लगा।

युद्ध की तैयारीः-

यद्यपि शाब्दिक रूप से 'युद्ध शब्द' को टालने का प्रयास किया जाता रहा, परन्तु यह स्पष्ट हो चुका था कि युद्ध अवश्यम्भावी था। सर्वप्रथम जापान तथा चीन के मध्य जुलाई 1937 में पीकिंग (बेजिंग) के पास संघर्ष हुआ। इस संघर्ष के विस्तार ने वर्ष के अन्त तक युद्ध का स्वरूप ग्रहण कर लिया। यद्यपि इस युद्ध की कोई सम्भावना नही थी और यह अप्रत्याशित ही था। परन्तु इस युद्ध का जापान की गृह नीतियों पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। एक ओर इस युद्धके कारण अधिकांश सैन्याधिकार राजनीति के स्थान पर सैन्य मामलों में रुचि रखने के लिये विवश हो गये, दूसरी तरफ उच्चाधिकारियों ने देश को भविष्य के संकट से सुरक्षा हेतु तैयार रहने की तैयारियाँ प्रारम्भ कर दी। पूर्ण सैन्यीकरण, भारी उद्योगों के विकास, राज्य-अधिकृत अर्थव्यवस्था, उदारवाद का समापन तथा शिक्षा में सुधार के प्रयास प्रारम्भ हो गये।

1936 में उपरोक्त नीतियाँ हिरोंता के मंत्रिमण्डल में स्वीकृत हुई पर उनको कार्यान्वित जून 1937 में कोनों के प्रधानमन्त्री हो जाने के पश्चात ही किया जा सका। कोंनों ने सरकार गठन करने के तत्काल पश्चात। असैनिक उड़ानों तथा तेल के वितरण पर सरकारी नियन्त्रण प्रारम्भ कर दिया इसी वर्ष अक्टूबर-नवम्बर में एक 'मंत्रिमडल योजना बोर्ड' की स्थापना की गई। इसका ध्येय आर्थिक नीतियों पर नियन्त्रण रखना था। सेना तथा नौसेना में सहयोग की स्थापना के लिये एक साम्राज्यिक मुख्यालय की भी स्थापना की गई। प्रत्येक महत्वपूर्ण निर्णय प्रधानमंत्री एवं सैन्याधिकारियों के मध्य सहयोग से ही लेने की नीति बनाई गई। अन्तिम निर्णय सम्राट की उपस्थिति में ही लिया जा सकता था। मंत्रिमण्डल के अन्य मंत्रियों को आवश्यकता पड़ने पर नियन्त्रित किया जा सकता था फलस्वरूप 1940 के योजना निर्माण के अवसर पर मंत्रिमण्डल उत्तरदायित्व मात्र एक संवैधानिक आवश्यकता ही रह गई। इसी मध्य 1938 में 'एशिया विकास बोर्ड' की स्थापना कर चीन जापान के सम्बन्धों का उत्तरदायित्व उस पर सौंप दिया गया। नवम्बर 1942 में एक 'वृहद् पूर्वी एशिया मंत्रालय' की स्थापना कर अन्य क्षेत्रीय देशों के सम्बन्धों का उत्तरदायित्व उसपर डाल दिया गया। इन सभी नवनिर्मित संस्थाओं में सैनिक अधिकारी महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। सेनाद्वारा नीति निर्धारण का उत्तरदायित्व संभालने के कारण सरकार आर्थिक नीतियों के मामले में स्वतन्त्र हो गई।

1938 के एक अधिनियम के द्वारा सरकार को आपातकालीन अधिकार प्राप्त हो गये। श्रमिकों, कच्चे माल, 'श्रममूल्यों के निर्धारण, मूल्यों पर नियंत्रण, राष्ट्रीय बचत पर नियन्त्रण, तथा अन्य समान प्रकार की नीतियों पर सरकार का एकाधिकार हो गया। इस मध्य 1929-31 के 'महान-आर्थिक संकट' से उत्पन्न कठिनाइयों में भी पर्याप्त न्यूनता आ गई थी। वस्त्रों के निर्यात में तीव्रता से वृद्धि ने अन्य कमियों को भी पूरा कर दिया था। भारी उद्योगों के क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुआ था। लोहा, इस्पात, कोयला तथा पोत निर्माण के क्षेत्र में जापान को पर्याप्त सफलता प्राप्त होने लगी थी। आयात-निर्यात की नीतियों में भी परिवर्तन आ चुका था। अमरीका तथा एशिया से आयात कम कर दिया गया था प्रारम्भ में यह सब आर्थिक संकट से सुरक्षा के लिये किया गया परन्तु बाद में शनैः-शनैः सैनिक आवश्यकताओं के कारण इन नीतियों को विकसित किया गया। 1931 में सेना का व्यय पाँच सौ मिलियनयेन (बजट के तीस प्रतिशत से) वृद्धित होकर 1937-38 में चार हजार मिलियन येन (बजट का सत्तर प्रतिशत)हो गया। सैन्य बजट वृद्धि ने उत्पादन में सार्थक रूप से वृद्धि

की। उदाहरण स्वरूप कारों, वायुयानों, तथा युद्धपोतों के उत्पादन ने भारी उद्योग में 1942 तक तिहत्तर प्रतिशत वृद्धि की। 1938 में 'मंचूरिया औद्योगिक विकास निगम' का स्थापना मांचुकुओ सरकार तथा नवीन पूंजीपतियों की सहायता से की गई। इस धन को कोयला, इस्पात, लोहा, मोटर, तथा वायुयानों के उत्पादन पर प्रयुक्त किया गया। इसी प्रकार उत्तरी चीन में 'उत्तरी चीन विकास निगम' की सहायता से इसी प्रकार के कार्य प्रारम्भ किये गये। नव जैबात्सु (जापान का आर्थिक पुंज) के प्रयासों द्वारा उच्च श्रेणी का कोयला 30 प्रतिशत, कच्चा लोहा, सीमेन्ट, रसायन तथा मशीनरी की पूर्ति भी हुई।

अर्थ व्यवस्था पर नियन्त्रण के साथ-साथ राजनैतिक नियन्त्रण ने भी राष्ट्रीय शक्ति में योगदान प्रदान किया। रेडियो, प्रेस तथा उग्रवादी-आंतकवादी विचारों पर प्रतिबन्ध लग गया। उदारवादियों पर सर्वाधिक आक्षेप किये गये। उदारवादियों द्वारा सरकार की किसी भी नीति की आलोचना असम्भव कर दी गई। प्रोफेसर मिनोबे जो संवैधानिक विधि के विशेषज्ञ थे तथा हाउस ऑफ पीयर्स के सदस्य थे, उन्हें 1934-35 में सम्राट तथा राज्य में सम्बन्ध स्थापित करने के विरोध में गिरफ्तार कर लिया गया। उन्होंने अपने लेखों में सम्राट को 'राज्य अवयव' या अङ्ग बताया। सरकार के अनुसार इससे सम्राट की प्रतिष्ठा पर आघात पहुंचा। इस प्रकार के आरोपों से सुरक्षा प्राप्ति करना एक असम्भव बात थी। इन समान घटनाओं ने जापानी राष्ट्रवाद को एक 'मनोवैज्ञानिक रुग्णता' का रूप दे दिया। केलॉग सन्धि की सफल आलोचना तथा विरोध का एकमात्र कारण यह था, कि उसमें हस्ताक्षरित लोगों ने, इस संधि को जनता के नाम पर स्वीकार किया था इस प्रकार के शब्दों को सरकार के प्रति असम्मान-जनक समझा गया। विदेशी यात्रियों पर जासूसी के आरोप लगाये गये। विदेशी शब्दों, भाषा के प्रयोग पर बन्धन लगा दिया गया। 1935 में विदेश मन्त्रालय ने 'निपन' (नीपॉन) तथा 'पूर्वी एशिया' शब्दों को जापान तथा 'सुदूर पूर्व की तुलना में अधिक महत्व प्रदान किया। इस प्रकार यूरोप केन्द्रित शब्दावली को परिवर्तित कर 'जापान के स्थान पर 'निपेन' लिखने का प्रयास किया गया। निपन (नीपॉन) जापान के लिये जापानी नाम था।

विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में इस अंध देश भक्ति के वातावरण का अधिक प्रभाव पड़ा। बहुत सी विदेशी पुस्तकों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। यहाँ तक कि पाठ्यक्रमों की पुस्तकों को राष्ट्रवादी आधार पर पुनः लिखा गया। 1938 में सैन्य प्रशिक्षण को अनिवार्य बना दिया गया। सैन्याधिकारियों को विद्यालयों से सम्बद्ध कर सैन्य शिक्षा तथा प्रशिक्षण का परिवेक्षण प्रारम्भ कर

दिया गया। शिक्षा मंत्रालय ने 1937 में 'कोकुताई नो होंगी' (राष्ट्रीय नीतिगत सिद्धांत) नामक पुस्तक प्रकाशित कर 'नैतिकता' का आधार निश्चित कर दिया। युवावर्ग को यह शिक्षा दी गई कि क्रान्तिकारी प्रतिपूंजीवादी तथा उदारवाद विरोधी रहे हैं। इसके अतिरिक्त देशभक्ति का अर्थ यह बताया गया 'कि जो कुछ भी बुरा है वह विदेशी है'। राष्ट्रप्रेम की समस्त शिक्षा की केन्द्रीय विचारधारा यही थी, यह कहा गया :

'वर्तमान जापान की वैचारिक तथा सामाजिक कुरीतियाँ मौलिकता को भूल जाने का फल हैं ····· ····।' इसका मुख्य कारण मेइजी काल से ही यूरोप तथा अमेरिका की संस्कृतियों का तीव्रता से आयात है'।

देशभक्त संस्थाओं, सैनिक प्रचार विभाग, प्रेस, रेडियो, विद्यालय तथा विश्व विद्यालयों के सहकारी प्रभार से यह शिक्षा घर-घर तक पहुंचने लगी।

अप्रैल 1937 के चुनावों से यह स्पष्ट हो गया कि जनधारणा सेना द्वारा राजनीति में हस्तक्षेप के विरुद्ध हो चुकी थी। लगभग 10 लाख मत एवं 36 स्थान उदारवादी वामपन्थियों को प्राप्त हो गये थे। परन्तु जुलाई के सघंर्षों के पश्चात राजनैतिक दल एकता की योजना निर्मित करने लगे। शकाई तेशुतो तथा अन्य शेष दलों ने भी राजनैतिक एकता के पक्ष में प्रयास प्रारम्भ कर दिया। फलस्वरूप 1940 में एक संगठित दल की स्थापना हो गई। जिसका ध्येय सेना का विरोध नहीं अपितु सेना के पक्ष में था। इस दल का नाम 'साम्राज्यिक शासन सहायक संस्था (ताईसी योकुसानकाई) था। इस दल ने दलगत राजनीति का प्रतिस्थापन कर उनके सदस्यों का समन्वय कर राष्ट्रीय नीतियों की धारणा के प्रति जनमत को प्रोत्साहन देना आरम्भ किया।

इस विकास को जापान के युद्ध पूर्व तथा युद्धकालीन 'फासीवादी चरित्र' के रूप में वर्णित किया जाता है। वास्तव में इस विषय पर लेखकों एवं विचारकों का मतैक्य समान नहीं रहा है। यूरोप के फासीवादी चरित्र के समान जापानी फासीवाद ने किसी करिश्माजनक नेतृत्व को जन्म नहीं दिया। यद्यपि 'तोजो' का नाम लिया जा सकता है परन्तु वह स्वयं 'हिटलर' तथा 'मुसोलिनी' के समकक्ष नहीं थे उन्हें सेना के समर्थन पर ही निर्भर रहना पड़ा। जनसहयोग के लिये तोजो के पास कोई आधार नहीं था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस युग में जापान में जो कुछ भी हुआ, उसका कारण सेना के तोशीदल (तोसई) द्वारा ऐसी नीतियों की स्थापना करना था, जिससे रूढ़िवादी प्रशासक, संसद (डाईट), तथा व्यापारी वर्ग, एक स्वर में इसका समर्थन प्रारम्भ कर सके। वास्तव में उदारवादियों के दमन हेतु प्रतिबन्धों एवं पुलिस द्वारा दमन कारी नीति के परिपालन की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी।

अतः जापान का फासीवाद यूरोप के फासीवाद की तुलना में अधिक रूढ़िवादी तत्वों का मिश्रण था। उदारवाद, समाजवाद तथा साम्यवाद समाज तथा व्यवस्था के लिये हानिकारक तत्व समझे गये। इसके साथ ही साथ 'व्यवित-वाद' के विरुद्ध जापान में 'सामूहिकवाद' का चलन था। व्यवितवाद एक प्रकार से सैद्धांतिक स्वरूप में विदेशी परिवेश में था और सामूहिकवाद नितान्त स्वदेशी होने के कारण अधिक सजीव था। अन्त में जापान की सांस्कृतिक एवं राज-नीतिक धारणाओं के मिश्रित रूप ने एक 'नवीन व्यवस्था' को जन्म दिया।



अध्याय 11

जापान और द्वितीय विश्व युद्ध 1937-1945

उग्रवादी नीतियाँ

1931 के पश्चात जापानी साम्राज्यवादियों की उग्रवादी नीतियों को पर्याप्त समर्थन प्राप्त हुआ। विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों के इतिहास की शिक्षा ने यह स्पष्ट कर दिया कि उन्नीसवीं शताब्दी से जापान पश्चिमी देशों के स्वार्थों का शिकार बना हुआ था। एक दशक पश्चात ही आस्ट्रेलिया तथा अमरीका ने रंग-भेद की नीति के आधार पर अप्रवास पर प्रतिबन्ध लगा दिया। अखिल विश्व आर्थिक मन्दी के अवसर पर यूरोप के राष्ट्रों ने जापानी व्यापारिक प्रतियोगिता के विरुद्ध विभिन्न अधिनियमों का निर्माण कर जापान की आर्थिक व्यवस्था पर गहरा आघात किया। अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण जापान में पश्चिमी देशों की नीतियों के विरुद्ध वातावरण का निर्माण होने लगा था। साकूरकाई दल के हाशीमोटो किंगोरो ने 'युवको को संदेश' नामक भाषण में लिखा :

'हमने पहले ही कहा है कि जनसंख्या की वृद्धि से निपटने के लिए जापान के पास केवल तीन ही मार्ग शेष हैं······, अप्रवास, विश्व व्यापार में प्रवेश, तथा सीमाओं का विस्तार। प्रथम द्वार व मार्ग अप्रवास है जिस पर विदेशी जापानी विरोधी नीतियों के कारण प्रतिबन्ध लगा है। दूसरे द्वार को जो विश्व व्यापार का मार्ग प्रशस्त करता उसको सीमा शुल्क अवरोध तथा व्यापारिक संधियों के निरसन के कारण बन्द कर दिया गया है। अतः तीन में दो मार्ग अवरुद्ध हो जाने पर जापान के पास अब कौन सा मार्ग शेष बचता है ? फलतः हाशीमोटो अपने देश वासियों के साथ जापान की सीमाओं की महात्वाकाक्षांए विशेषतया, कोरिया, चीन तथा मंचूरिया में इन तर्कों से न्यायसंगत सिद्ध कर रहे थे। अभी भी इस विचारधारा का प्रवाह था, कि पाश्चात्य देशों के विरुद्ध सभी पड़ोसी राष्ट्र एक मत तथा संगठित होकर संघर्ष करें। ऐसी स्थिति में

जापान के अनुसार उससे सहयोग अस्वीकार करना वास्तव में उसके पड़ोसी राष्ट्रों का एक हठ ही था। अन्ततोगत्वा नवम्बर 1938 में 'प्रधानमंत्री कोनो' ने एक रेडियो प्रसारण में 'नवीन व्यवस्था' के सिद्धांत को घोषित किया। इस घोषणा के अनुसार जापान, चीन तथा मान्चूकुओं को सभी राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा सैन्य मामलों में जापान के नेतृत्व में सहयोग करना चाहिए था। इस प्रकार अमरीका तथा यूरोप के प्रभाव को समाप्त किया जा सकता था। इसका परिणाम 21 मांगों के ही समान मुख्य भूमि पर जापान का आधिपत्य, जापान द्वारा नियन्त्रित संचार व्यवस्था, एवं जापान के द्वारा चीन की सेना तथा पुलिस की नियन्त्रण व्यवस्था थी। कुछ ही वर्षों पश्चात एक अन्य महात्वाकांक्षी प्रस्ताव भी प्रस्तावित हुआ। इसके अनुसार 'बृहत पूर्वी एशिया सह-सम्पन्नता' क्षेत्र को दक्षिण पूर्वी एशिया तक बढ़ा दिया गया। इसके द्वारा यह आशा की गई, कि उपनिवेश के विरोध में एशियाई राष्ट्रों का सहयोग तथा आर्थिक क्षेत्र में तेल तथा कच्चे मालों की आवश्यकता की पूर्ति होगी। जापान की इस नीति व आशय को रूढ़िवादी पद्धति युक्त साम्राज्यवाद का नाम देना तर्क संगत नहीं। हाशीमोटो ने स्वयं पाश्चात्य उपनिवेशवाद तथा जापानी प्रसारात्मक नीतियों के अनुसार जापान की पूंजी, तकनीक तथा श्रम के अन्यत्र उपयोग में अन्तर को स्पष्ट किया।

यद्यपि जापान की नीतियाँ तर्कपूर्ण एवं भावना युक्त थी, परन्तु जापान में 'वास्तविक राष्ट्रीय नीति' का विकास एक प्रश्न चिन्ह था। जापानी मन्त्रिमण्डल में सेना, तथा जल सेना और असैनिक मंत्रियों में मतभेद के कारण पारस्परिक सामंजस्य स्थापित न हो सका। आगामी घटनाओं को इस परिप्रेक्ष्य में देखना ऐतिहासिक दृष्टि से उचित होगा। 1931 में मंचूरिया पर आक्रमण के पश्चात अधिकृत क्षेत्र का प्रसार बढ़ाया जाने लगा। अन्त में फरवरी 1932 में 'मांचुकुओं' नामक 'कठपुतली राज्य' की स्थापना कर दी गई। माँचुकुओं में मंचूरिया तथा आन्तरिक मंगोलिया का कुछ भाग था। इस प्रकार क्वांगतुंग सेना ने एक प्रकार से अपना व्यक्तिगत साम्राज्य स्थापित कर लिया। टोकियो मन्त्रिमंडल (कैबिनेट) की नीतियों के विपरीत क्वांगतुंग सेना की आज्ञाओं का ही मुख्यतया पालन किया जाता था। जापान के राजदूतके रूप में सेना के उच्चाधिकारी को मांचूकुओं के सैनिक, असैनिक तथा अन्य अधिकार इतने विस्तृत थे कि एड्मिरल ओकाडा (प्रधानमंत्री 1934-36) ने स्वयं यह कहा कि 'सरकार के पास क्वांगतुंग सेनाओं के कार्यकलापों, योजनाओं तथा नीतियों को जानने का कोई मार्ग शेष नहीं है।'

चीन द्वारा राष्ट्रसंघ में विरोध प्रदर्शित करने पर जापान ने स्पष्ट शब्दों

में अस्वीकार कर दिया कि जापान किसी भी प्रकार की सीमा प्रसार में रुचि रखता था। जापान ने अपनी सेनाओं की वापसी का भी आश्वासन दे दिया। परन्तु यह वापसी तब ही सम्भव थी, जब क्वांगतुंग सेनाओं पर मंत्रिमण्डल का अधिकार पुर्नस्थापित हो जाता। आगामी कई सप्ताह तक स्पष्टीकरण एवं प्रतिस्पष्टीकरण के कारण बिलम्ब हुआ। नवम्बर 1931 में, जापान की सहमति से राष्ट्र संघ ने लार्ड लिटन की अध्यक्षता में एक जाँच आयोग गठित किया। लार्ड लिटन जनवरी 1932 में ही जाँच आयोग के अध्यक्ष मनोनीत हुये। उसी समय मांचूकुओं की स्वतन्त्रता की घोषणा से राष्ट्र संघ का यह प्रस्ताव असफल सिद्ध हो गया। यद्यपि अन्य राष्ट्रों ने क्वागतुंग के अपरोक्ष नेतृत्व वाले इस नये राज्य को मान्यता देना स्वीकार नहीं किया, परन्तु इस क्षेत्र में आगे कुछ भी नहीं किया जा सकता था। जापान ने अन्त में इस समस्या को जिनेवा में विचारार्थ रखा, जापान ने स्वयं को उपरोक्त समस्या पर विचार विमर्श होने से पूर्व ही निर्वतित कर लिया।

चीन से युद्ध

1933 के प्रारम्भ में जब जापान ने पुनः चीन के उत्तरी प्रान्तों पर अधिकार करना प्रारम्भ कर दिया तब भी पाश्चात्य देशों की राजनैतिक सहानुभूति से चीन का कोई लाभ नहीं हुआ। सर्वप्रथम जिहोल (चीनी भाषा में इसको जुहोल और रुहोल भी कहतें हैं।) को मांचूकुओं में मिलाने का प्रयास प्रारम्भ हुआ। मई में 'तांग्कू' की विरोधसंधि में एक विसैन्यीकरण क्षेत्र की स्थापना कर जापान के दक्षिण प्रसारों को सुरक्षित कर दिया गया, और जापान के लिये पुनः साम्राज्यवादी मार्ग खुल गया। जून 1935 में जापान ने 'होपे' (चीनी भाषा में हूवे) तथा, 'चाहार' से चीनी सेनाओं के प्रस्थान की मांग कर दी। इस मांग का यह आधार था कि चीन की सेनाओं की उपस्थिति से जापान इस क्षेत्र में शान्ति की स्थापना नहीं कर पा रहा था। इसके साथ ही साथ जापान ने चीन जापान समर्थित विद्रोहों को समर्थन देना प्रारम्भ कर दिया।

अब तक जापान के चीन में अधिकृत अधिकार लघु स्तर पर आर्वतक एवं स्थानीय थे। इस कारण इन अधिकारों के विरुद्ध कोई अन्तर्राष्ट्रीय समस्या नहीं उत्पन्न हो सकी थी। अप्रैल 1934 में जापान ने यह घोषणा कर दी, कि जापान और चीन के सम्बन्ध संरक्षित राज्यों जैसे सम्बन्ध थे। ये सम्बन्ध दो स्वतन्त्र राज्यों के नहीं थे अतः राष्ट्र-संघ को इन समस्याओं पर हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं था। अट्ठारह महींनों के पश्चात जापान ने एक आम समाधान के रूप में चीन द्वारा मांचूकुओ को मान्यता, चीन में जापान विरोधी

कार्यों के दमन, तथा एक असाम्यवादी चीन-जापान सम्बन्ध का प्रस्ताव प्रस्तुत किया।

अन्ततः जापान यह समझ गया कि इस विस्तार की समस्या का शान्ति पूर्ण हल सम्भव नहीं था। इसी मध्य 'च्यांङ्ग काई-शेक' ने जापान-विरोधी साम्यवादी सन्धि 1936 में कर ली। फरवरी 1936 में टोकियो के सैनिक विद्रोह की असफलता ने युवा अधिकारियों में एक मनोवैज्ञानिक द्वन्द एवं हतोत्साहन की भावना को भी उत्पन्न कर दिया था। इस प्रकार चीन तथा जापान के मध्य संघर्ष अवश्यम्भावी हो चुका था। यह संघर्ष जुलाई 7, 1937 की रात्रि को पीकिंग के निकट 'मार्कोपोलो ब्रिज' की घटना से आरम्भ हुआ। आगामी कुछ सप्ताहों में इस संघर्ष का स्वरूप विस्तृत होने लगा। इसका एक कारण चीन द्वारा जापानी नीतियों का कड़ा प्रतिरोध था, और दूसरा जापान में ऐसे 'सत्ता-प्राधिकार' की अनुपस्थित थी। जिसके द्वारा स्थानीय समझौता व कोई अन्य संधि किये जाने की संभावना थी। मंत्रीमंडल तथा सैन्याधिकारियों के अनुसार चीन में अधिक सैन्य विस्तार उचित नहीं था क्योंकि इससे मंगोलिया तथा मंचूरिया पर रूसी आक्रमण के संकट उत्पन्न हो जाने का भय था। परन्तु टोकियो के शासक वर्ग के द्वारा सेना के स्थानीय कमान्डरों' उनके सहयोगियों तथा सेना के कुछ मुख्य अधिकारियों पर इस प्रकार का सैन्य नियन्त्रण व प्रतिबन्ध लगाना संभव नहीं था।

अतः एक बार युद्ध प्रारम्भ हो जाने पर, टोकियो सरकार के पास, सैनिक सहायता भेजने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं था। युद्ध की निरंतर वृद्धि ने उसी प्रकार की पुनरावृत्ति की थी, जो 6 वर्ष पूर्व मंचूरिया में हुई थी। अगस्त में जापानी सेनाओं ने 'तिनसिन' तथा 'पीकिंग' पर अधिकार कर लिया। टोकियों के लिये सहायता प्रेषित न करना अब और भी संभव नहीं रह गया था। सितम्बर तक 150,000 जापानी सेना युद्धरत हो चुकी थी। संघर्ष का विस्तार दक्षिण में भी हो चुका था, जो शंघाई से लेकर यॉगत्सी तथा नानकिंग तक विस्तृत था। नानकिंग जो कि च्याङ्ग काई-शेक की राजधानी थी, दिसम्बर मध्य तक जापानियों ने उस पर अधिकार कर बर्बरता पूर्ण नृशंस अत्याचार किये। कुछ इतिहासकारों ने इसी युद्ध को जापानी सेना की नृशंसता एवं लिप्सा का ख्याति अर्जन बताया है।

जापानी विजयों ने युद्ध की निरन्तरता को स्पष्ट कर दिया युद्ध के प्रसार ने चीन की सरकार को समझौतावार्ता करने का इच्छुक बना दिया। दूसरी ओर जापानी सरकार ने सामरिक एवं कूटनीतिक दृष्टि से 'क्वोमिनातॉंग' को पूर्णतया अप्रभावित करने की योजना बनाई। फलस्वरूप 1937 के

अन्त तक स्थानीय संघर्षों की नीति का त्याग कर एक पूर्ण युद्ध योजना निर्मित कर ली गई। इस योजना के अन्तर्गत चीन के सागरीय तट की नौसैनिक नाकेबंदी की गई, चीन के नगरों पर बमबारी आरम्भ हो गई तथा सीमाओं पर सैनिक आक्रमण संयोजित रूप में होने लगा। 1938 में युद्ध ने पूर्ण स्वरूप ग्रहण कर कुछ ही माह में अधिकांश सम्पन्न एवं बहुजन संख्यक नगरों पर जापानी अधिकार स्थापित कर लिया।

जापान यद्यपि एक क्लान्त एवं नीरस उपनिवेशिक युद्ध में संलग्न था, परन्तु 1929 में पुर्नविचार हेतु युद्ध की कार्यवाहियाँ स्थगित कर दी गई। इस युद्ध स्थगन के दो मुख्य कारण थे प्रथम जापान आर्थिक रूप से कठिनाई ग्रस्त था और द्वितीय भविष्य में सोवियत रूस से संघर्ष की आशंका थी। जापान ने उपरोक्त तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुये 'राजनैतिक-सामरिक' नीति में परिवर्तन किया। फलस्वरूप सैन्य नीतियों के स्थान पर राजनैतिक नीतियों को प्रयोग करना ठीक समझा गया। इस योजना के प्रथम चरण में जापान ने चीन के समस्त मित्रराष्ट्रों के सम्बन्धों को समाप्त करने हेतु नौसैनिक अवरोध लगा दिया। फरवरी 1939 में 'हेनान' पर अधिकार करके फ्रांस से तथा 'तिनसिन' पर अधिकार कर फ्राँस तथा ब्रिटेन की सुविधाओं पर अवरोध लगा दिया। इसी मध्य द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो जाने के कारण यूरोप के राष्ट्र अन्यत्र व्यस्त हो गये तथा जापानी माँगों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रह गया। एक ही वर्ष में फ्रांस ने हिन्द चीन के द्वारा दक्षिण का मार्ग जापान के लिये खुला छोड़ दिया तथा ब्रिटेन ने वर्मा तथा यूनान के मध्य मार्ग को अवरूद्ध कर दिया। जापान ने चीन में जापान समर्थक संगठनों को उत्साहित किया पर 'वांग चिंग-वी' के क्वोमिनताँग से निकलने के पूर्व तक उसको कोई लाभ नहीं हुआ था। मार्च 1940 में वांग नेनानकिंग में एक 'कठपुतली राज्य' की घोषणा कर दी। परन्तु चियांग तथा साम्यवादी दोनों जापानी अधिकारों के विरुद्ध संघर्ष को बनाये थे।

साम्यवाद विरोधी समझौता (एन्टी कॉमन्ट्रन पैक्ट)

चीन की घटनाओं ने जापान तथा अन्य शक्तियों के सम्बन्धों को पर्याप्त प्रभावित किया। जापान के अधिकारों की वृद्धि से उसके व्यापार को अत्यधिक लाभ हुआ, तथा ब्रिटेन एवं अमरीका की रुचियों को हानि पहुँची। इस प्रयास में बहुत सी अप्रिय घटनाओं के कारण ब्रिटेन एवं अमरीका के सम्बन्ध चीन से सुदृढ़ होते गये। इसके उपरान्त भी दोनों में से कोई भी जापान के विरुद्ध कदम उठाने की स्थिति में नहीं था। इस मध्य जापान को सर्वाधिक संकट का

आभास सोवियत रूस से था। जापान का मन्चूरिया क्षेत्र पर अधिपत्य हो जाने के कारण रूस की पारम्परिक इच्छा को आघात पहुँच रहा था। 1935 में जापान के 'पूर्वी चीन रेल मार्ग' को क्रय कर लेने के पश्चात सोवियत संघ और जापान के मतभेद बढ़ गये। इस रेल मार्ग के कारण जापान तथा सोवियत संघ की सीमाओं की सन्निकटता में भी वृद्धि हुई। फलस्वरूप जुलाई 1938 तथा मई 1939 में दो बार रूप-जापान संघर्ष हुए। जापान इस संघर्ष में अपनी अपेक्षिक असफलता के कारण भी सोवियत संघ से सतंक था।

जापान के भय तथा कूटनीतिक पार्थक्य ने जो कि राष्ट्रसंघ से जापान के प्रत्यावर्तन के द्वारा उत्पन्न हुआ, नव मित्र राष्ट्रों की आवश्यकता महसूस हुई। जापान ने राष्ट्रसंघ से निकलकर मित्र-राष्ट्रों का विश्वास खो दिया था। फलस्वरूप साम्यवादीविरोधी राष्ट्र के रूप में जर्मनी और जापान एकदूसरे के निकट आये। नवम्बर 1936 में जापान ने हिटलर से "साम्यवादी विरोधी समझौता" (एन्टीकॉमन्ट्रन पैक्ट) कर लिया। इसका ध्येय अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद का विरोध करना था। वास्तव में यह एक ओर सोवियत संघ के विरुद्ध सुरक्षात्मक व्यवस्था थी। और दूसरी ओर जापान पूर्णतया चीन के आत्मसमर्पण का इच्छुक था, इस हेतु जापान के प्रतिनिधि जनरल 'ओशीमा हीरोशी' ने बर्लिन में वार्तालाप प्रारम्भ किया। परन्तु हिटलर न तो सोवियत संघ के विरुद्ध खुलकर आना चाहता था' और न ही जापान से व्यापक सार्विक संधि करने के प्रति तत्पर था, अगस्त 1939 में रूस-जर्मनी 'अनाक्रमण सन्धि' के पश्चात यह सम्भावनाएँ औपचारिक रूप से समाप्त हो गई।

त्रिपक्षीय संधि : विश्व युद्ध की ओर

द्वितीय 'कोनो सरकार' के जुलाई 1940 में सत्ता धारण करने के साथ ही सेना द्वारा जर्मनी से संधि करने के लिये दबाव पड़ने लगा। जापान का विदेश मंत्री मत्सुओका (मत्सूका योसूके) को यह भी विश्वास था कि इस संधि का लाभ जापान को ही पहुंचेगा। वह अपनी इस विचारधारा से भी पूर्णतया आश्वस्त थे, कि जर्मनी यूरोप में जीत जाएगा, और यूरोप के राष्ट्र (ब्रिटेन,फ्राँस तथा हॉलैण्ड) एशिया में अपने उपनिवेशों को असुरक्षित छोड़ जाएंगे। फलतः सितम्बर 27,1940 को जापान ने जर्मन तथा इटली के साथ त्रिपक्षीय संधि कर ली। परन्तु यह सभी संभावनाएँ निर्मूल सिद्ध हुई। ब्रिटेन पर जर्मनी का अधिकार न हो सका और जर्मनी ने बिना जापान को सूचित किये सोवियत संघ पर जून 1941 में आक्रमण कर दिया। जबकि इससे पूर्व जापान सोवियत संघ के साथ अप्रैल 1941 में एक तटस्थ सन्धि कर चुका था

इसका परिणाम मत्सुओका के पतन तथा मन्त्रीमण्डल के पुर्नगठन के रूप में समक्ष आया।

अपने कार्यकाल के मध्य ही मत्सुओका ने जापानी महत्वाकांक्षाओं को एक नवीन दिशा प्रदान कर दी थी। उन्होंने दक्षिणपूर्व एशिया में जापान के प्रसार का एक तार्किक पक्ष प्रस्तुत किया था। चीन में अत्यधिक व्यस्तता के कारण जापान तेल, टिन, रबर, बाक्साइट तथा अन्य कच्चे माल की उपलब्धियों की दिशा में कोई कदम नहीं उठा सका था। चीन में असफलता के पश्चात यह सब दक्षिण पूर्व एशिया से प्राप्त करने की दिशा में एक नवीन विचारधारा प्रारम्भ हुई। इसका उपयोग सम्पूर्ण युद्ध में रुचि रखने वालों को आकर्षित करने में भी किया गया।

जापान युद्ध मंच पर

जुलाई 27,1940 को मन्त्रीमण्डल तथा अन्य सैन्याधिकारियों की बैठक में विश्व युद्ध के अवसर का लाभ उठाने के विषय पर निर्णय लिया गया। यूरोप के राष्ट्रों के युद्ध में व्यस्त होने के कारण वियतनाम, सियाम (थाईलैण्ड) बर्मा, मलय तथा हिन्देशिया पर अधिकार करने का अवसर सामने था। यह निर्णय लिया गया और निश्चित किया गया कि सर्वप्रथम सम्भव हो तो कूटनीति से, तत्पश्चात युद्ध द्वारा यह लक्ष्य प्राप्त किया जाए। अपने इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु जहाँ तक सम्भव हो सके अमरीका से संघर्ष न किया जाए।

सर्वप्रथम इन्डोचाइना (हिन्द चीन) में यह नीति प्रारम्भ की गई। सितम्बर 1940 में जापान ने हवाई अड्डों के निर्माण के लिए स्वीकृत प्राप्त कर ली। तत्पश्चात जुलाई 1941 में उसने दक्षिण की ओर बढ़ना प्रारम्भ कर दिया। उसी के पश्चात नीदरलैण्ड इन्डीज (हिन्देशिया) में विशेष आर्थिक तथा राजनैतिक अधिकारों को प्राप्त करने का प्रयत्न विफल हो गया।

जर्मनी द्वारा रूस पर आक्रमण ने जापान के लिये पुन: एक भिन्न समस्या उत्पन्न कर दी थी। अब जापान के लिए दक्षिण के बजाय उत्तर में तथा दक्षिण पूर्व एशिया में प्रभाव क्षेत्र स्थापित करने का मार्ग भी खुला था। दक्षिण की ओर जापान का सैन्य संचालन अमरीका की ओर से प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकता था यह इस पर भी निर्भर था कि अमरीका युद्ध के लिए तैयार था अथवा नहीं। परन्तु राजनैतिक व कूटनीतिक वातावरण से यह निश्चित था कि अमरीका की नीति जापान के अनुकूल नहीं थी जापान द्वारा चीन में विस्तार के ही विरुद्ध अमरीका ने 1939 में 'जापान-अमरीका व्यापारिक सन्धि' का पुर्ननवीनीकरण नहीं किया। इस से जापान को आवश्यक वस्तुओं के आयात के होने के

कारण कठनाई का सामना करना पड़ा। 1941 में अमरीका ने जापान को एक अन्य आघात दिया, जब हिन्दचीन में जापानी विस्तार के विरुद्ध अमरीका ने अपने देश में समस्त जापानी सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया। अप्रैल, मई तथा जून 1941 में जापान और अमरीका अपने मतभेदों पर वाद विवाद करते रहे। अमरीका चाहता था कि जापान अपने पड़ोसी देशों की स्वतन्त्रता एवं 'सीमा निष्ठा' को सम्मान दे जिस में चीन और फिलीपीन भी सम्मलित थे। अमरीका का अभिप्राय था कि जापान शान्तिपूर्ण रूप से अपनी नीतियों को आगे बढ़ाये, तथा अपने अधिकृत क्षेत्रों में सबके लिए आर्थिक समानता का अवसर प्रदान करे। जापान ने इस के प्रत्युत्तर में यह तर्क प्रस्तुत किया कि वह एक शान्ति पूर्ण राष्ट्र था और यदि अमरीका जापान को तेल प्राप्त करने तथा चीन को जापानी शर्तों को स्वीकार के लिए बाध्य करे, तो जापान किसी रूप में संघर्ष नहीं चाहेगा। अमरीका वास्तव में चाहता था कि जापान भी चीन से निष्क्रमण कर दक्षिण पूर्व एशिया में विस्तार योजना का त्याग करे। जापान को यह शर्तें स्वीकार नहीं थीं। प्रधानमन्त्री कोनो ने राष्ट्रपति रुजवेल्ट से सीधे व्यक्तिगत वार्तालाप का प्रयास किया, परन्तु रुजवेल्ट केवल प्राथमिक वार्तालापों में सफलता के पश्चात ही व्यक्तिगत वार्तालाप के लिये तैयार थे। जापान ने एक बार पुन: अपने विशेष दूत 'कुरुसू साबुरो' के द्वारा वाशिंग्टन में वार्ता की चेष्टा का प्रयत्न किया परन्तु विराम स्थिति में कोई परिवर्तन न आ सका।

इस मध्य जापान के सेनाधिकारी युद्ध की योजनाओं को अन्तिम रूप देने की तैयारी कर रहे थे। योजनाओं के सभी पक्षों पर विमर्श किया गया और यह निष्कर्ष निकला कि यदि आक्रमण करना था तो दिसम्बर सर्वाधिक उपयुक्त मास होगा। अत: अक्टूबर तक शान्ति स्थापना के प्रयास तथा युद्ध के अन्तिम निर्णय पर सहमति हो जानी चाहिए। यह निर्णय 'नीति निर्धारण आन्तरिक समिति' को प्रेषित कर दिया गया। अन्त में यही निश्चय हुआ कि जापान किसी भी परिस्थिति में चीन से निष्क्रमण नहीं करेगा, तथा दक्षिण पूर्व एशिया में अपनी प्राथमिकता बनाये रखेगा।

पर्ल हार्बर : एशिया अभियान

अक्टूबर में यह निर्णय हो जाने के पश्चात सैनिक तथा असैनिक मतभेद के कारण प्रधान मन्त्री कोनों ने अक्टूबर 16,1941 को त्याग पत्र दे दिया। कोनों के पश्चात 'जनरल तोजो हिडेकी' प्रधानमंत्री बने। अब तक वह युद्धमंत्री थे, तथा यह विश्वास किया जाता था कि उनको सेना का विश्वास प्राप्त होगा।

तोजों को प्रधानमन्त्री बनाकर असैनिक राजनीतिज्ञों द्वारा सेना पर नियंत्रण करने का प्रयास असफल हो गया और जापान में सेना का निरंकुश अधिनायकवाद प्रारम्भ हो गया। तोजों का उपनाम 'रेजर' स्वयं उनकी सैनिक प्रवृत्ति का द्योतक था।

यह निश्चित था कि दक्षिण पूर्व एशिया पर आक्रमण की स्थिति में अमरीका शांत नहीं बैठेगा। जापान को अमरीका के प्रशान्त महासागर के नौसैनिक-बेड़े का सर्वाधिक भय था। अतएव सर्वप्रथम अमरीका के 'हवाई द्वीप आस्थान की बंदरगाह' पर्लहार्बर पर आक्रमण आवश्यक समझा गया। फलस्वरूप रविवार, दिसम्बर 7, 1941 को प्रातःकाल जापान ने पर्लहार्बर पर आक्रमण कर अमरीका के आठ युद्धपोतों को नष्ट कर दिया। अमरीका की 90 प्रतिशत नौसैनिक तथा सैनिक क्षमता को जापान ने एकदम शिथिल एवं समाप्त कर दिया। साथ ही साथ जापान ने वेक, गुआम, मिड वे, फिलीपाइन्स तथा हाँगकाँग पर सफलता पूर्वक अभियान आरम्भ किए। इसके तत्काल पश्चात ब्रिटेन के एक युद्धपोत तथा एक युद्ध क्रूजर को भी जापान ने सिंगापुर में नष्ट कर दिया।

यह समस्त अभियान योजनायें सतर्कतापूर्ण योजनाबद्ध की गई थी, और इनको बुद्धि कौशल के द्वारा कार्यान्वित किया गया। क्रिसमस के दिन हाँगकाँग, जनवरी 2, 1942 को मनीला तथा सम्पूर्ण फिलीपीन, जनवरी 11 को कुलालमपुर, फरवरी 15 को सिंगापुर, मार्च में हिन्देशिया तथा बर्मा पर जापानी आधिपत्य हो गया। इस प्रकार लगभग सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया पर जापान ने अधिकार कर लिया।

जापान विजय मंच पर

नवम्बर 1941 की युद्ध योजनाओं में ही यह निश्चय कर लिया गया था कि सम्पूर्ण क्षेत्र 'बृहत पूर्वी एशिया सह-सम्पन्नता क्षेत्र' में सम्मिलित कर लिया जायेगा, और इसमें जापान, उत्तरी चीन तथा मान्चूकुओ को औद्योगिक आधार माना जायेगा। जापान को शेष अन्य अधिकृत राष्ट्रों से कच्चा माल प्राप्त करना था, तथा अपने तैयार मालों की वहाँ पर खपत करनी थी। इस प्रकार आर्थिक प्रभुत्व प्राप्त कर पाश्चात्य सम्भावित आक्रमण का सामना करना था। यदि यहाँ तक की योजना सफल हो जाती तो भारत, आस्ट्रेलिया तथा साइबेरिया को भी इसमें सम्मिलित कर लेना था। इस परिणाम तक पहुंचने के लिए यह आवश्यक था कि पश्चिम के प्रभाव को समाप्त कर जापानी प्रभाव की स्थापना की जाती। फलस्वरूप एक सांस्कृतिक विस्तारवादी

नीति के अन्तर्गत जापानी भाषा, शिक्षा में सुधार तथा नवीन राजनैतिक चेतना, के विकास का प्रयास प्रारम्भ हो गया। हिन्द चीन, तथा थाइलैण्ड एवं चीन के साथ 'सहायक सन्धियाँ' कर जापान के लिये विशेष सुविधा प्राप्त कर ली गई। जनवरी 1943 में अधिकृत चीन के वांग चिंग–वी को प्रेरित किया गया कि वह चीन को अमरीका तथा ब्रिटेन के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित कर ले। फलस्वरूप एक औपचारिक समानता की स्थापना चीन तथा जापान के मध्य प्रारम्भ हो गई। मान्चूकुओ अब भी क्वांगतुंग सेना के नियन्त्रण के पश्चात एक स्वतन्त्र राज्य घोषित था। यह परिस्थिति कोरिया के उपनिवेशवादी स्वरूप, की ही भाँति अपरिवर्तनीय थी।

अधिकृत क्षेत्रों में बर्मा में एक कठपुतली नेता 'बा माओ' के रूप में जापान द्वारा सत्तारूढ़ किया गया। बा माओ अगस्त 1, 1942 को जापानी नियन्त्रित बर्मा का शासक घोषित कर दिया गया। वह मात्र शाब्दिक शासक था क्योंकि वास्तविक शक्ति सेनाधिकारियों के हाथों में सुरक्षित थी। जापानी समर्थक नेतृत्व में ही फिलीपीन्स को भी अक्टूबर 1943 में स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई। परन्तु सितम्बर 1944 तक फिलीपीनी सरकार ने मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने में संकोच का प्रदर्शन किया। मलय तथा हिन्देशिया में जापान अपने नियन्त्रण का परित्याग नही करना चाहता था। इसका मुख्य कारण था, कि दोनों आर्थिक रूप से सम्पन्न राष्ट्र थे। दोनों क्षेत्रों पर पूर्ववर्त्ती उपनिवेशक शासन के स्थान पर सेना तथा केन्द्रित प्रशासकों की सहायता से शासन प्रारम्भ कर दिया गया। किसी भी प्रकार के राष्ट्रीय आन्दोलनों को प्रथम दो वर्ष तक प्रोत्साहन नहीं दिया गया। यद्यपि दो वर्षों के पश्चात भीं कोई विशेष सुविधा प्रदत्त नही की गई, परन्तु क्षेत्रीय संस्थाओं के स्थापन तथा स्थानीय लोगों को सरकार में कुछ भागीदारी दी गई। हिन्देशिया में राष्ट्रवादी आन्दोलन विकसित हुआ जिसको जापान ने 1945 में पराजय निश्चित हो जाने के पश्चात मान्यता प्रदान कर दी। जापान के आत्मसमर्पण के तत्काल पश्चात डा० सुकार्णो ने हिन्देशिया की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी।

जापान पराजय की ओर

जापान इन अधिकृत राष्ट्रों को अपने अधीनस्थ क्षेत्रों की भाँति सम्पोषित करने के अतिरिक्त इनके आर्थिक श्रोतों तथा पश्चिम विरोधी भावनाओं को अपनी सुरक्षा हेतु प्रयोग करना चाहता था। जापान अपने इन दोनों ही लक्ष्यों में असफल सिद्ध हुआ। वास्तव में जापान की दमनात्मक नीति के

द्वारा जन समर्थन नहीं प्राप्त किया जा सका। सैनिक दमन के कारण जापान को इन राष्ट्रों में घृणा, असहयोग, असन्तोष तथा प्रतिरोधों का ही सामना करना पड़ा। अन्य प्रशासनिक, तकनीकी तथा भाषाई समस्याओं के कारण भी स्थानीय खनिजों तथा कच्चे मालों का उपयुक्त प्रयोग सम्भव नहीं हो सका। जापान की क्षेत्रीय असफलता का कारण 'वृहत पूर्वी एशिया मंत्रालय' की स्थापना थी जिसमें नियुक्त अधिकारी वर्ग को क्षेत्रीय ज्ञान नही था।

सैन्य असफलताओं के कारण भी उपरोक्त कठिनाइयों में पर्याप्त वृद्धि हुई। युद्ध में अन्य विकासों से जापान अपने प्रयासों में सफल नहीं हो सका। मित्र राष्ट्रों के नौसैनिक आक्रमणों ने जापान को शिथिल कर दिया। युद्ध के प्रसार ने जब मित्र राष्ट्रों के हवाई आक्रमणों का आरम्भ किया, तो जापान का अपने दूरस्थ क्षेत्रों से सम्बन्ध विच्छेद होता गया। जापान की इन असफलताओं ने जापान की सेना तथा नौसेना के मध्य परम्परावादी मतभेदों को भी स्पष्ट किया। जापान की सुरक्षात्मक पद्धति एवं आक्रमणों की तुलना में अमरीका का 'सैन्य भेदन' अधिक तीव्र था। फरवरी 1943 में ही अमरीका ने सॉलोमन द्वीपो पर स्थित 'ग्वाडालकेनाल' पर अधिकार कर लिया, पर इस अभियान ने एक नवीन सामरिक दिशा प्रदान की और युद्ध योजना भी एक नई पद्धति पर प्रारम्भ कर दी गई। नवीन युद्ध स्रोतों से दूर से ही आक्रमण करने के लिये हवाई सुविधाओं ने जापान को पूर्णतया निस्सहाय तथा अनावृत्त सिद्ध कर दिया। अर्थात 'एयर क्राफ्ट कैरियर' से हवाई आक्रमण अमरीका के लिये अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ। इससे अमरीका ने भूमि पर अधिकार करने की नीति त्याग कर केवल 'सैन्य केन्द्रों' पर अधिकार करने की नीति अपनाई। अमरीका की इस नीति को 'द्वीप-प्लुति' (आईलैण्ड हॉपिंग) भी कहते हैं। सेना, हवाई सेना तथा नौसेना के अभूतपूर्व सहयोग से भी जापान की सेनाओं को प्रत्येक युद्ध अभियान में पराजय का सामना करना पड़ा।

जनवरी 1943 में मित्र राष्ट्रों ने कासाब्लाँका में एक सम्मेलन कर युद्ध की गति पर विचार विमर्श किया। इस सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि युद्ध का मुख्य लक्ष्य जापान को ही बनाया जाय। तत्पश्चात अगस्त 1943 में 'क्यूबेक' में सामरिक नीति तथा सेनाध्यक्षों के नाम पर निर्णय लिया गया। इस निर्णयानुसार एडमिरल चेस्टर विलियम निमिट्स ने मार्शल द्वीपों (मध्य प्रशान्त) पर आक्रमण कर दिया। फरवरी 1944 में 'क्वाजीलेन' को भी दस दिवसीय युद्ध के पश्चात अधिकार ग्रस्त कर लिया गया। अर्ध जून तथा जुलाई के आरम्भ में उत्तरी प्रशान्त में 'मारीयाना' द्वीपों के एक द्वीप 'साईपान' पर अधिकार कर लिया। इन अभियानों ने जापानी नौसैनिक

प्रतिरोध को समाप्त कर विजय गति को त्वरित किया। मित्र राष्ट्रों ने अगस्त में 'गुआम' तथा सितम्बर में 'पालू' पर अधिकार कर एक वर्ष के भीतर ही दो हजार मील की सैन्य प्रगति की।

उपरोक्त सैन्य अभियानों के पश्चात मित्र राष्ट्रों ने दक्षिण पश्चिम प्रशान्त की दिशा में अपना ध्यान केन्द्रित किया। इस क्षेत्र का सैन्य संचालन जनरल डगलस मैकार्थर के अधीन था। जनरल मैकार्थर की सेनाओं ने 'लेटी', 'लूजान' तथा 'मनीला' पर अधिकार करने के साथ ही पूर्ण फिलीपीन को पुनः अधीनस्थ किया। मई 1945 में जर्मनी के आत्म समर्पण के पश्चात मित्र राष्ट्रों ने अपना पूर्ण प्रयास जापान की ओर आरम्भ किया।

प्रथम चरण जापान के औद्योगिक केन्द्रों तथा नगरों पर बमबारी से आरम्भ हुआ। मार्च 1945 में 'इवोजीमा द्वीप' पर अधिकार करने के पश्चात 'ओकीनावा द्वीप' से युद्ध प्रसार जापान की ओर अग्रसर हुआ। ग्रीष्म ऋतु तक जापान की घेराबंदी हो चुकी थी, और जापान के औद्योगिक केन्द्रों तथा नागरिक क्षेत्रों को पर्याप्त हानि पहुंच चुकी थी। लगभग दो लाख की संख्या हताहत हो चुकी थी। रेल, यातायात व्यवस्था, बमबारी तथा अनुरक्षणहीनता के कारण भी उत्पादन में भारी कमी आ गई। उपभोज्य वस्तुओं की नितांत कमी थी, खाद्य पदार्थ प्राप्त करना कठिन था, मंहगाई बढ़ रही थी और काला बाजार पनप रहा था। शिक्षा प्रायः समाप्त होकर छात्रों और युवकों को सेना और फैक्टरियों की अनिवार्य भर्ती की ओर बाध्य कर रही थी। बच्चों और स्त्रियों के श्रमिक नियमों का प्रतिबन्ध हटा दिया गया। इस प्रकार जापान की आर्थिक, सामाजिक तथा सैनिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी।

इसके उपरान्त भी जापानी सरकार रेडियो तथा समाचार पत्रों द्वारा जापानी जनता को अन्यतम त्याग के लिये तथा युद्ध विजय के प्रति प्रेरित कर रही थी। सम्भवतया जापान अपने अन्तिम प्रयास की ओर अग्रसर था।

इसमें संशय नहीं, कि इस समय तक जापान के अधिकांश नेताओं को जापान की पराजय के प्रति अधिक भ्रम नहीं रह गया था। उनमें से कुछ जो राजनयिक पृष्ठभूमि के थे, उदाहरण स्वरूप 'योशीदा शीगरू' 'शिगेमित्सु मामरू' इत्यादि 1943 में ही शान्ति समझौते के इच्छुक थे। परन्तु मानसिक रूप से सैन्य प्रवृति के राजनीतिज्ञों ने युद्ध को अनिवार्य समझा। जापान के राजनीतिज्ञों की पारस्परिक अस्थिरता ने तथा प्रधान मन्त्री परिवर्तन चक्र ने जापानी राजनैतिक एवं सैन्य नीति में सामंजस्य नहीं होने दिया। इसी मत-भेद के कारण जापान किसी शान्ति समझौते को कार्यान्वित करने में अस-

फल रहा ।

आत्म समर्पण

इसी मध्य जुलाई 26, 1945 को ब्रिटेन, अमरीका तथा चीन की सम्मिलित सहमति से 'पोर्ट्‌सडैम सम्मेलन' में जापान को बिना शर्त आत्म समर्पण के लिये कहा गया। जुलाई 30 को जापान ने अपने प्रत्यात्तुर में 'पोर्ट्‌सडैम सम्मेलन' की घोषणा को अस्वीकार कर दिया। जबकि एक ओर अति राष्ट्रवादी जापान को युद्धरत रखने को तत्पर थे, तो दूसरी ओर युद्ध समस्या जटिल होती जा रही थी। अंततः अगस्त 6, 1945 को जापानी नगर 'हिरोशिमा' पर एटम बम गिराया गया। इससे पूर्व जुलाई 13 को जापान की सरकार ने सोवियत रूस से मध्यस्थता द्वारा ब्रिटेन और अमरीका से शान्ति के लिये कहा। सोवियत रूस ने अगस्त 8 तक इसका उत्तर न देकर जापान से अपने राजनयिक सम्बन्ध समाप्त करने की घोषणा कर दी। जापान के प्रति रूस की इस तत्कालिक नीति का प्रभाव यह हुआ कि अगस्त 9 को 'नागासाकी' पर दूसरा एटम बम गिरा दिया गया। इसी दिवस रूसी सेनाओं ने मंचूरिया पर आक्रमण कर कोरिया की दो बन्दरगाहों 'राशिन' और 'यूकाई' पर अधिकार कर लिया। अगस्त 12 को इन पत्तनों पर अधिकार करने के पश्चात रूसी सेना ने दक्षिण की ओर (सारवालीन द्वीप का जापानी भाग) प्रस्थान किया। अगस्त 10, 1945 को जापान की सरकार ने पोर्ट्‌सडैम शर्तों को (जिसमें अब रूस भी सम्मिलित था) स्वीकार करने की इच्छा व्यक्त की, यदि जापानी सम्राट के विशेषाधिकारो को हानि रहित रखते हुये शासक मान लिया जाय। अमरीका ने अगस्त 11 को इसके प्रत्युत्तर में कहा, कि जापान की सरकार और सम्राट के राज्य शासन की सत्ता मित्र राष्ट्रों के सर्वोच्च सेनाध्यक्ष (सुप्रीम कमान्डर) के द्वारा निर्धारित होगी। जापान ने अगस्त 14 को यह निबन्धन स्वीकार कर आत्स समर्पण करना स्वीकार किया। यह आत्म समर्पण सितम्बर 2, 1945 को अमरीकी युद्धपोत 'मिसूरी' जो उस समय टोकियो की खाड़ी (टोकियो बे) में था, सम्पन्न हुआ।

अध्याय 12

युद्धोपरान्त जापान

1945

जापान के सम्राट ने जिस भाषा में आत्म समर्पण को अपनी जनता के समक्ष रखा, वह स्वयं में एक पद लोप सम्बन्धी न्यून पदीय चरम सीमा की द्योतक थी। सम्राट ने कहा : 'प्रत्येक के सर्वोत्कृष्ट प्रयासों के पश्चात भी··· युद्ध की परिस्थितियों का विकास अनिवार्य रूप से जापान के पक्ष में नहीं हुआ। अतएव और अधिक रक्तपात तथा सम्पूर्ण मानव संहिता के विनाश की रक्षा हेतु जापान को वह सब सहन करना होगा, जो असहनीय है।' फलस्वरूप जापान ने मित्र राष्ट्रों की शर्तों पर आत्म ससर्पण करने का निर्णय लिया।

अमरीकी आधिपत्य

आत्म समर्पण की वास्तविकता अत्यन्त शीघ्र स्पष्ट होने लगी। मित्र राष्ट्रों की नीतियों में जापान का भविष्य परिलक्षित था। टोकियो में अमरीकी वायुसेना तथा योकोसूका में मित्र राष्ट्रों के नौसैनिक बेड़े के आगमन ने समुद्र पार जापानी सेना को शस्त्र समर्पण करने और जापान में सैनिकों को अपने गाँवों तथा नगरों की ओर प्रस्थान कर देने की आज्ञाओं ने पराजय की साकारता को प्रकट किया।

पराजयोपरान्त नीतियों ने अत्याचारों तथा दमनकारी चक्रों का मार्ग प्रशस्त किया। टोकियो तथा योकोहामा के नागरिक उत्पीड़न के भय तथा इससे संलग्न संभावनाओं के कारण अधिकतर अपने घरों के भीतर ही बन्द रहते थे। देश का प्रशासन आर्थिक व्यवस्था के ही समान अप्रभावी तथा बेकार हो चुका था। युद्ध की समाप्ति के साथ ही मुक्ति की भावना भी उत्पन्न हुई परन्तु इस आकस्मिक परिवर्तन ने जापान की जनता को हतप्रभ कर दिया। जापान के इतिहास में यह एक नया अध्याय प्रारम्भ हो रहा था। युद्ध के काल और इसके पूर्व के अनुभवों के विपरीत जापान को मुक्ति,

राहत व शान्ति के अनुभव के साथ वैदेशिक सत्ता तथा उसकी प्रयोगात्मक नीतियों ने विजेता तथा पराजयी में अन्तर स्पष्ट किया।

सैनिक शासन की एक ओर यदि जापान में अमरीकी नीतियों ने हीन भावना को जन्म दिया, दूसरी ओर युद्धोपरान्त जापान ने अपने सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का पुनर्गठन प्रारम्भ किया तो तात्कालिक अनुभवों ने उसे पुनः अपनी ऐतिहासिकता से जोड़ दिया।

पराराष्ट्रवाद से दबी हुई भावनाएँ, आदर्श तथा सिद्धान्तों ने पुनः जापानी समाज को अपने अनुसार दिशा प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया। जापान पुनः आधुनिक-विश्व के अधिक निकटस्थ आने लगा।

जापान का अभिग्रहण प्रत्येक प्रकार से एक अमरीकी उत्तरदायित्व था। यद्यपि यह भी सत्य है कि उसके साथ-साथ ब्रिटिश-राष्ट्र मण्डल तथा आष्ट्रेलिया की सेनाओं ने भी सहयोग किया था, इसमें भी संशय नही है कि सभी अधिकारिक कार्यवाहियाँ वाशिंगटन में स्थापित 'सुदूर-पूर्व-आयोग' नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था से संचालित थीं। इस संस्थाओं में सभी उन राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व था, जिन्होंने जापान के विरुद्ध मित्र राष्ट्रों को सहयोग प्रदान किया था। वास्तव में सारी नीतियाँ मित्र सेनाओं के सर्वोच्च सेनाधिकारी जनरल डगलस मैकार्थर के द्वारा कार्यान्वित की जाती थीं। उनकी सहायता के लिए जापान के सैनिक तथा असैनिक दोनों प्रकार के प्रशासनिक तन्त्र थे। इनमें से बहुत ही कम अधिकारियों को जापान के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान था। फलस्वरूप बहुत से स्थानों पर जापानी संस्थाओं का पुर्नस्थापन संभव न हो सका। इसका यह कारण नहीं था कि जापानी संस्थाएँ उपयुक्त नही थीं अपितु वास्तव में उन्हें उनके संबन्ध में ज्ञान ही नहीं था। इसके साथ ही साथ अमरीकी अधिकारियों तथा प्रशासकों के पास ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी, जिसकी सहायता से यह ज्ञात हो सके कि सभी निर्णयों का उचित पालन हो रहा था। जापानी सरकार द्वारा कार्य करना तथा मित्र शक्तियों के प्रशिक्षित व्यक्तियों की कमी के कारण लक्ष्य और परिणाम में सामंजस्य नहीं हो सकता था। फलस्वरूप लक्ष्यों तथा उनके ऊपर कार्यवाहियों के मध्य पर्याप्त अन्तर रहा।

विसैन्यीकरण

सर्वाधिक महत्वपूर्ण योजनाओं में जापान का विसैन्यीकरण था। इस ध्येय की पूर्ति के लिए जापानी सेना, तथा सैनिक स्थलों का विध्वंस कर लगभग 20 लाख सैनिकों को उनके घर भेज दिया गया। यह किंवदती भी

उड़ाई गई, कि मित्र राष्ट्र युद्ध की प्रति पूर्ति हेतु जापानी मिलों, उद्योगों से यन्त्रों को निकलवा लेंगे। परन्तु ऐसा कुछ भी नही किया गया। जापान को दण्ड देने के लिये अवश्य कुछ कदम उठाए गए। जापान द्वारा अधिकृत सभी क्षेत्रों को उससे छीन लिया गया। मई 1946 तथा नवम्बर 1948 के मध्य युद्ध बन्दियों पर टोकियो में अन्तर्राष्ट्रीय अधिकरण न्यायालय में अभियोग हुए जिसमें युद्ध के लिए उत्तरदायी पच्चीस सैनिक तथा असैनिक अधिकारियों अथवा नेताओं पर मुकदमें चलाये गए। तोजों के साथ छः अन्यों को फाँसी तथा शेष को कारावास दिया गया। अमानुषिक कार्यवाहियों के लिए प्रशासकों तथा अधिकारियों को व्यक्तिगत आधार पर दण्डित किया गया। इस प्रकार के दण्डों में केवल याकादमा में 700 लोगों को फाँसी तथा 3000 को कारावास का दण्ड दिया गया।

निश्चय ही केवल युद्ध अपराधियों को दण्डित करना ही मित्र राष्ट्रों का ध्येय नहीं था। पोट्सडैम घोषणा के अनुसार जापान में लोकतान्त्रिक माँगों को अवरुद्ध करने वाली सभी शक्तियों को विस्थापित करना भी एक महत्वपूर्ण ध्येय था। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए सर्वप्रथम उन सभी राजनैतिक बन्दियों को जिन्होंने तत्कालीन जापानी-सरकार की नीतियों का विरोध किया था अथवा जो उनसे सहमत नही थे, उनको जेल मुक्त व रिहा कर दिया गया। इनमें वे साम्यवादी, समाजवादी तथा उदारवादी नेता भी थे जो वर्षों से जापानी जेलों में थे, उन्हें राज्यक्षमा प्रदान कर मुक्त कर दिया गया। 'नवीन व्यवस्था' के आगामी चरण में समस्त महत्वपूर्ण स्थानों, शिक्षा, प्रेस, रेडियो, राजनीति, प्रशासन तथा व्यापारों से उन व्यक्तियों को हटा दिया गया जिनसे यह भय था कि वे पुरानी व्यवस्था के पुर्नस्थापन के लिए नवीन व्यवस्था को हानि पहुंचायेंगे। इस नीति जिसे 'परिष्करण व शुद्धिकरण' (पर्ज) कहा जाता था, के कार्यान्वयन में लगभग दो लाख व्यक्ति प्रभावित हुये। परिणामस्वरूप न केवल समाज पर परम्पराओं का नियन्त्रण ही कम हुआ अपितु प्रशासनिक क्षमताओं में भी पर्याप्त न्यूनता आ गई।

राजनीति एवं सुधार

इसी मध्य अमरीका के प्रोत्साहन से ही राजनैतिक दलों के उद्भव द्वारा 'साम्राज्यिक शासन सहायक संस्था' के स्थानापन्न का कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। इनमें से 'उदारवादी तथा प्रगतिवादी दल' पुराने रूढ़िवादी नेतृत्व द्वारा बना था। केन्द्र में समाजवादी, समाजवादी-जनतांत्रिक तथा नर्म दलों का नेताओं का विषमतापूर्ण संयोजन था। इसके साथ कुछ वाम पक्षीय उग्रवादी

दल भी उभर रहे थे। इन सभी में सर्वाधिक लाभ साम्यवादियों को हुआ, क्योंकि 1946 में 'नोसाका सैन्जों के वापस आ जाने के कारण साम्यवादियों का प्रभाव बढ़ने लगा। नोसाका अब तक सोवियत संघ तथा चीन में माओं के साथ साम्यवादी कार्य करते हुए 'निर्वासित जीवन' व्यतीत कर रहे थे। 1949 तक जापान वापस आने के पश्चात 'नोसाका सैन्जों' के 'शान्तिपूर्ण क्रान्ति' तथा 'प्रिय साम्यवादी दल' के नारों ने जापान में 3 मिलियन (तीस लाख) मतदाताओं को अपनी ओर आकृष्ट कर लगभग 10% मतदाताओं को अपने पक्ष में कर लिया—इसके साथ ही सम्पूर्ण जापान में लगभग 300 अन्य राजनैतिक दलों का भी उदभव हुआ। इनमें से बहुत से स्वतन्त्र उम्मीदवारों ने चुनावों में विजय के पश्चात रूढ़िवादी दल (कन्जरवेटिव पार्टी) को समर्थन देना प्रारम्भ कर दिया; फलस्वरूप यह दल जापान के दो तिहाई मतों का अधिकारी हो गया। अप्रैल 1946 के चुनावों में चौबीस प्रतिशत मत उदारवादियों को, उन्नीस प्रतिशत प्रगतिवादियों को प्राप्त हुये। अर्थात उनको 140 तथा 94 स्थान प्राप्त हुए। मई 1946 में योशिदा शिगेरू ने दोनों दलों के समर्थन से सरकार का गठन कर लिया। आगामी वर्ष में प्रगतिवादियों के राजनैतिक मंच से हट जाने के पश्चात 'नर्मदलीय दक्षिण पंथी' पुर्नगठित होकर आशीदा हितोषी के नेतृत्व में सामाजिक लोकतान्त्रिक दल के स्थापक हुए। इसको 1947 के चुनावों में उदारवादियों के ही समान मत प्राप्त हुए। संसदीय दल के रूप में समाजवादी लोकतान्त्रिक दल को अकेले 143 स्थान प्राप्त हुये थे। फलस्वरूप आशीदा ने समाजवादी नेता कातयामा (कातायामा) तेत्सू के अन्तर्गत संयुक्त सरकार बनाई। पुनः मार्च 1948 में उन्होंने स्वयं अपने नेतृत्व में सरकार गठित की, परन्तु उदारवादी तथा समाजवादियों में एकता न होने के कारण उन्हें छः माह पश्चात ही त्याग पत्र देना पड़ गया। तत्पश्चात योशीदा पुनः सत्ता में आ गये और लगभग छः वर्षों तक सत्ताधीन रहे। जनवरी 1949 के चुनावों में उन्हें स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो गया। उन्हें 'अवर सदन' में 264 स्थान प्राप्त हुए, 69 स्थानों के साथ लोकतान्त्रिक दूसरे स्थान पर थे तथा समाजवादी लोकतान्त्रिकों को केवल 48 स्थान प्राप्त हुए। इसका मुख्य कारण उनका लोकतान्त्रिक तथा मार्क्सवादी आधार पर विभाजन था। साम्यवादियों ने 35 स्थानों को प्राप्त कर प्रथम बार जापानी राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया।

नव संविधान

इस समय तक राजनैतिक दल पूर्णतया एक नवीन राजनैतिक और

सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत सक्रिय थे। प्रथम तीन वर्षों के आधिपत्य ने संविधान, स्थानीय शासन, न्यायपालिका, विधि, श्रमिक, भूमि तथा शिक्षा में परिवर्तन किया जो जापानी जन जीवन में क्रान्ति के स्वरूप का द्योतक था। इसके प्रारूप व रूपरेखा का प्रारम्भ मैकार्थर के मुख्यालय में रचित संविधान की घोषणा 6 मार्च 1947 से ही हो गया था। इस संविधान की भाषा और विषय दोनों ने अपने प्रयोजन से विश्वासघात किया। जापान में एवं विदेश में इसका आलोचनात्मक उपहास हुआ। सम्पूर्ण अधिकार शक्ति जापानी संसद [डाइट] में केन्द्रित करने के पश्चात भी नवीन व्यवस्था में ऐसे परिवर्तन कर दिये गये थे, जिनको जापानी स्वयं करने में कठिनाई का अनुभव करते। संसद के दोनों सदनों 'सभासद सदन' तथा 'प्रतिनिधि सदन' [हाऊस आफ काउन्सलर्स और हाऊस आफ रिप्रेजेन्टेटिव] को निर्वाचित होकर आना था। सभासद सदन में 250 सदस्य निर्वाचित होते थे जिनमें से आधे प्रति तीन वर्षों में निर्वाचित होते थे। इनके निर्वाचन में 60 प्रतिशत सदस्य प्रान्तों का प्रतिनिधित्व करते थे तथा शेष 40 प्रतिशत एक राष्ट्रीय मत आधार पर निर्वाचित होते थे। प्रतिनिधि सभा के 467 सदस्य 118 निर्वाचकीय जिलों से निर्वाचित होने निश्चित हुए। ब्रिटेन की ही भांति अवर सदन व प्रतिनिधि सदन सरकार की चुनाव कराने की इच्छा द्वारा भंग हो सकता था, और अमरीका के सीनेट के अनुसार उच्च सदन भंग नहीं किया जा सकता था। तथापि अंतिम निर्णय का आधिकार अवर सदन के पास सुरक्षित था। किसी भी मतभेद के अवसर पर कोई 'वित्तीय प्रस्ताव' प्रतिनिधियों की सभा में पारित होने के 30 दिवस पश्चात तथा अन्य प्रस्ताव सभासद सदन की संस्तुति के पश्चात पुन: प्रतिनिधि सभा द्वारा दो तिहाई मतों से पारित होकर अधिनियम बन सकता था। इसी प्रकार 'प्रतिनिधि सदन' को ही प्रधानमंत्री चुनने का अधिकार प्राप्त था। प्रधानमंत्री का मंत्रिमण्डल केवल नाम मात्र को संसद (डाइट) और वास्तव में प्रतिनिधियों के ही सदन के प्रति उत्तरदायी था। अवर सदन पर केवल एक बन्धन था, जो संविधान के संशोधन से संबंधित था। किसी भी संशोधन के लिए आवश्यक था कि वह प्रत्येक सदन में दो तिहाई मतों से पारित हो तथा राष्ट्रीय जनमत संग्रह में साधारण बहुमत से पारित हो।

इस प्रकार की संवैधानिक-व्यवस्था में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य जापान में एक केन्द्रीय सत्ता के पुनर्स्थापन से सम्बन्धित था। नवीन संविधान ने सम्राट की शक्तियों तथा अधिकारों पर बहुमत का अंकुश लगा दिया। सम्राट द्वारा सर्वोच्च सैनिक तथा असैनिक दोनों शक्तियों के केन्द्रीयकरण को

समाप्त कर उसके निर्णयों के लिए मन्त्रिमण्डल को संस्तुति प्राप्त करना आवश्यक कर दिया गया। अतः सम्राट मात्र राज्य का प्रतीक रह गया और सत्ता जनमत में निहित हो गई। सम्राट की शक्तियों पर अंकुश लगाकर उसके विस्तार को भी सीमाबद्ध कर दिया गया। धीरे-धीरे इस व्यवस्था ने सम्राट के प्रति पुनः निष्ठा को जागृत कर उनकी प्रतिष्ठा को पुर्नस्थापित कर दिया।

आगामी कुछ माह में संवैधानिक परिवर्तनों में मुख्य परिवर्तन स्थानीय शासनों से सम्बन्धित था। गृह-मंत्रालय को समाप्त कर उसकी शक्तियों को विकेन्द्रित कर दिया गया। स्थानीय सरकारों को नगर-प्रशासन तथा प्रशासकों के अन्तर्गत कर निर्वाचित 'राज्यपालों' तथा 'मेयरों' की व्यवस्था प्रारंभ कर दी गई। स्थानीय जनसभाओं के चुनाव की व्यवस्था पहले के ही समान थी परन्तु उनकी शक्तियें व अधिकारों एवं क्षेत्रों को भी पर्याप्त विस्तृत कर दिया गया था। शिक्षा, पुलिस, प्रशासन तथा नागरिक सेवा सभी महत्वपूर्ण विभागों को स्थानीय सरकारों के अन्तर्गत कर लोकतान्त्रिक पद्धति को अधिकाधिक विकसित तथा विस्तृत करने का प्रयास किया गया। परन्तु स्थानीय क्षेत्रों तथा विस्तारों के अति पूर्ण अथवा सीमित होने के कारण आर्थिक समस्याय पुनः उत्पन्न हो गई। यद्यपि इस प्रकार जन सहयोग तथा आम जनता के योगदान में वृद्धि हुई, परन्तु प्रशासन में सुधार की दृष्टि से यह व्यवस्था पर्याप्त सफल नहीं सिद्ध हो सकी।

न्याय व्यवस्था

न्याय व्यवस्था व न्यायपालिका को भी कार्यपालिका से पृथक कर, अमरीका में प्रचिलित विकेन्द्रित प्रशासन द्वारा प्रेरणा प्राप्त की गई। न्यायालयों के प्रशासनिक मामलों को न्याय मन्त्रालय की सीमाओं से अलग कर सर्वोच्च न्यायालय के अन्तर्गत कर दिया गया। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को मनोनीत मन्त्रिमण्डल करता था शेष सभी न्यायाधीशों का चयन सर्वोच्च न्यायालय करती थी। सर्वोच्च न्यायालय को विधियों, अधिनियमों की संवैधानिकता के पुर्नमूल्यांकन का अधिकार प्राप्त था। इस प्रकार संवैधानिक अधिकार के रूप में प्राप्त मानवीधिकारों का अभिभावक तथा संरक्षक सर्वोच्च न्यायालय हो गया। इससे स्त्रियों को भी राजनैतिक तथा वैधानिक समानता प्राप्त हो गई। इस प्रकार लाखों नवीन मतदाताओं की संख्या में वृद्धि ने नवीन व्यवस्था को अपार समर्थन प्राप्त करा दिया।

श्रम विधियाँ एवं सुधार

समान रूप से मजदूर व श्रमिक अधिनियमों का पुर्नमूल्यांकन भी कम

महत्वपूर्ण नहीं था। 1945 के 'मजदूर संगठन अधिनियम', 1946 के 'मजदूर सम्बन्ध अधिनियम' तथा 1947 के 'मजदूर स्तर अधिनियम' ने उन्हें संगठित होने, हड़ताल करने, बेहतर मजदूर परिस्थितियों के अधिकार प्राप्त होने, स्वास्थ्य बीमा व्यवस्था तथा दुर्घटना क्षति पूर्ति प्राप्त करने का अधिकार प्रदत्त कर दिया। 1948 तक 34000 श्रमिक संगठन सगठित किये गए। इनमें 40 प्रतिशत जापानी मजदूरों का प्रतिनिधित्व था। यद्यपि 55 लाख (5.5 मिलियन) सदस्यों की संख्या में 1949-51 में कमी आई परन्तु 1971 तक पुनः 34 प्रतिशत मजदूर संगठित हो गये।

मजदूर संगठनों ने जहाँ नगरों में जापानी राजनीति को उद्वेलित किया, वहीं भूमि सुधार अधिनियमों ने ग्रामीण विद्रोहों तथा आक्रोशों को शान्त किया। नवम्बर 1945 में प्रस्तावित यह प्रस्ताव अक्टूबर 1946 में अधिनियम बन गया। यह अधिनियम संसद (डाइट) में कदापि पारित न हो पाया होता, यदि अमरीका के हस्तक्षेप का भय नहीं होता। इस अधिनियम के अन्तर्गत सभी बेनामी जमींदारों की भूमि खरीद ली गई तथा भूमिधर किसानों की 12 चो (30 एकड़ से कुछ कम) भूमि पर आधिपत्य का अधिकार प्रदान कर दिया गया। भूमि सुधारों द्वारा लाये गये परिवर्तनों ने जापानी गांवों में ग्रामीण मानव व सामाजिक जीवन में उल्लासमय परिवर्तन ला दिया।

शिक्षा

इन सभी सुधारों के साथ-साथ शिक्षा में सुधार ने जापानी विद्यार्थियों को पर्याप्त प्रभावित किया। सन्दिग्ध पुस्तकों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। 1946 में आये एक 'शैक्षिक मिशन' ने जापानी शिक्षा को अमरीकी प्रणाली में प्रारम्भ कर नवीन शिक्षा पद्धति प्रारम्भ की। नौ वर्षों तक की शिक्षा अनिवार्य शिक्षा के अन्तर्गत थी जिसमें प्रथम 6 वर्ष प्राथमिक, शेष माध्यमिक तक सह शिक्षा, जिसमें विद्यार्थी अपने पाठ्यक्रम में रुचिमुसार विषय ले सकते थे। तत्पश्चात तीन वर्षों के वैकल्पिक हाईस्कूल जिसके पश्चात विश्वविद्यालय की शिक्षा में प्रवेश सम्भव था।

प्रारम्भ में विद्यालयों के लिये भवन तथा शिक्षकों की समस्याएँ थी। इसी प्रकार पुस्तकों, नये विषयों तथा विद्यार्थियों की संख्या की समस्याओं ने भी प्रारम्भ में जापानी सरकार को चिन्तित किया। नैतिकता के स्थान पर नागरिकता पर अधिक जोर दिया गया और शिक्षा की वैज्ञानिकता पर ध्यान देना प्रारम्भ किया गया। प्रत्येक प्रान्त में एक विश्वविद्यालय की योजना के कारण जापान में युद्धोपूर्व विश्वविद्यालयों की संख्या जो 70 थी, युद्धोपरान्त

बढ़कर 200 हो गई। 1972 तक शिक्षा एवं आर्थिक विकास योजनाओं के अन्तर्गत 397 चार वर्षीय विश्वविद्यालय, 491 दो वर्षीय जूनियर विद्यालय खुल चुके थे। विश्वविद्यालयों में 15 लाख छात्र थे, जिनमें 19 प्रतिशत महिलाएँ तथा विद्यालयों में 288 000 छात्र थे, जिनमें 84 प्रतिशत महिलाएँ थी। इस प्रकार कुल जापानी युवकों का 21 प्रतिशत विद्यार्थी समुदाय था। यद्यपि इस विकास ने राष्ट्रीय समृद्धि में वृद्धि की, परन्तु यह तर्क भी अपने स्थान पर उचित है, कि समृद्धि विकास अमरीकी आधिपत्य की नीतियों द्वारा ही शुरू हुए।

शान्ति संधि एवं वैदेशिक नीति

इसके अतिरिक्त दूसरी ओर केवल लोकतन्त्र तथा सुधार ही मैकार्थर के अन्तिम लक्ष्य नहीं थे। 1948 के पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कारण समस्याओं में भिन्नता आने लगी। इसका मुख्य कारण रूस-अमरीका सम्बन्धों में मतभेद तथा साम्यवाद का प्रसार था। फलस्वरूप अमरीका सुदूर पूर्व में मित्र रहित हो गया और जापान में सामरिक तथा सैन्य कारण अमरीका के आकर्षण के केन्द्र बनने लगे। इस रुचि का राजनैतिक आधार धीरे-धीरे कम होने लगा। 1949 में चीन की क्रान्ति तथा 1950 में कोरियाई समस्या ने अमरीका को और अधिक चिन्तित कर दिया था। इसका कारण अमरीका कोरिया के विरुद्ध 'सिंग मिन री' के गणतन्त्र को समर्थन दे रहा था तथा उत्तर में अमरीका चीन की आक्रामक नीति का विरोध कर रहा था।

परिस्थितियों के परिवर्तन चक्र ने शासकीय मनोवृत्तियों तथा नीतिगत मामलों को भी परिवर्तन की एक नवीन दिशा प्रदान की। इसका सर्वप्रथम प्रभाव जापान के वामपन्थी आंदोलनों पर पड़ने वाले दबाव से स्पष्ट होना प्रारम्भ हुआ। फरवरी 1947 में ही मजदूरों द्वारा प्रस्तावित हड़ताल पर प्रतिबंध लगाकर मजदूरों के अधिकारों को सीमित किया जाने लगा। यद्यपि यह प्रतिबंध आर्थिक कारणों से लगाया गया परन्तु धीरे-धीरे कारणों में भी परिवर्तन आने लगा। जुलाई 1948 में मित्र राष्ट्रों के सर्वोच्च सेनाधिकारी (सुप्रीम कमांडर फार द एलाइड पावर्स—एस०सी०ए०पी०) के कार्यालय के निर्देश द्वारा प्रशासकों को भी हड़ताल के अधिकार से वंचित हो जाना पड़ा। 1949 में श्रमिक (मजदूर) सगठन अधिनियम का संशोधन कर मजदूरों की राजनैतिक गतिविधियों पर प्रतिबध लगा दिया गया। यह समस्त अधिनियम तथा कार्य साम्यवादियों की गतिविधियों पर प्रतिबंध लगाने के लिये प्रयोग किए गए। 1949 तथा 1950 केवल दो वर्षों में लगभग 20,000 व्यक्ति

सरकारी नौकरियों, शिक्षा संस्थानों, औद्योगिक प्रतिष्ठानों तथा श्रमिक संगठनों से निष्कापित कर दिये गये। 1949 में ही जनरल मैकार्थर ने जापानी सरकार को 1946 और 1947 के 'शुद्धिकरण' (पर्ज) के पुनरीक्षण का अधिकार प्रदान कर दिया। यद्यपि आरम्भ में इस दिशा में कार्य धीमी गति से आरम्भ हुआ, परन्तु जून 1950 के पश्चात गति में त्वरितता आ गई।

पुनः सैन्य गठन

1948 के संविधान में एस० सी० ए० पी० ने यह अनुच्छेद रखा था, कि 'जापानी नागरिक युद्ध का राष्ट्रीय राज्याधिकार के रूप में सदैव के लिये तैयार कर देंगे।' फलस्वरूप जापान को जल, थल तथा वायु सेना रखने से वंचित कर दिया गया। यह सत्य है कि युद्ध के तुरन्त पश्चात एक पराजित शत्रु के रूप में जापान की सैन्य शक्ति पर प्रतिबंध एक सीमा तक उचित था. किन्तु 1950 के पश्चात जापान को 'सम्भावित मित्र' होने के नाते सुविधा प्राप्त होनी चाहिये थी। फलतः जापान को एक 'राष्ट्रीय पुलिस रिजर्व' का गठन करने तथा 75,000 समसैन्य सेना [पैरा मिलिटरी] रखने की आज्ञा मिल गई। इस सेना का ध्येय अमरीका की सेना के पश्चात आन्तरिक सुरक्षा का भार ग्रहण करना था। शनैः शनैः अमरीका के समर्थन तथा दक्षिणपंथी सहयोग ने जापानी सैन्य शक्ति में वृद्धि की। 1960 में 'राष्ट्रीय सुरक्षा सेना' के नामकरण के पश्चात जापान की जल, थल तथा वायुसेना के विस्तार के साथ आधुनिक युद्ध सामग्री भी सैनिक योजना में सम्मिलित की गई।

1972 तक थल सेना की संख्या 155,000 थी जिसमें 500 टैंक तथा 360 वायुयान थे। वायुसेना की संख्या 42,000 पहुंच गई थी, और इसमें 930 वायुयान थे। नौसेना में 37,000 नौसैनिक, 200 युद्धपोत तथा 266 वायुयान थे। यद्यपि 1971 में जापान का 'सैन्य सुरक्षा बजट' 677 000 मिलियन येन तक पहुंच गया था, परंतु यह 'कुल राष्ट्रीय उत्पादन' की तुलना में कम ही था।

तथापि जापान का पुनरस्त्रीकरण [रिआर्मामेंट] प्रारम्भ होते ही जापान ने पुनः अपनी स्वतंत्र स्थिति प्राप्त कर ली। तर्कानुसार अमरीका द्वारा निराकृत विदेशी शासन की अपेक्षा एक स्वतन्त्र जापान, अपनी मैत्रीपूर्ण एवं रूढ़िवादी सरकार के साथ, अमरीका का एक अच्छा सहयोगी सिद्ध हो सकता था। अतः एक अधिकृत शक्ति व शासन अपने प्रारम्भिक वर्षों में जितना लोकतन्त्रीय प्रणाली को प्रोत्साहन दे सकता था, उतना अमरीकी अधिकृत शासन ने दिया। जनरल मैकार्थर ने वस्तुतः 1947 में ही लोकतंत्री-

करण नीति के आधार पर जापान से 'शांति संधि' की योजना वाशिंग्टन प्रेषित की। अमरीका की सरकार ने मैकार्थर की योजना को अधिमूल्यांकन तथा अनावश्यक महत्वपूर्ण बताकर अस्वीकार कर दिया। आगामी तीन वर्षों के अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्धन ने जिसमें 'कोरिया युद्ध' विशेष महत्वपूर्ण था, अमरीका की सरकार को मैकार्थर का तर्क सारगर्भित प्रतीत होने लगा।

परिणामस्वरूप सितम्बर 1951 में 'सेन फ्राँसिसको' में एक संधि संपन्न हुई, जिसमें प्रशांत क्षेत्रीय युद्ध में भाग लेने वाले अनेक देशों ने हस्ताक्षर किए। रूस, भारत और मुख्य क्षेत्रीय चीन ने उपरोक्त संधि को स्वीकार नही किया। क्योंकि इन तीन देशों ने जापान पर प्रशासन करने हेतु परोक्ष रूप से कोई योगदान नहीं दिया था। इसलिए अप्रैल 1952 में संधि स्वीकृति हो जाने के पश्चात जापान में सैनिक प्रशासन समाप्त कर दिया गया। परंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं था, कि जापान से अमरीकी सेनाओं की निष्क्रमण योजना पूर्ण की जाएगी। उपरोक्त संधि के साथ ही एक सुरक्षा समझौते ने जापान में अमरीकी सैन्य आस्थानों की स्वीकृति दे दी। जापान के इस प्रकार अमरीकी मैत्री के कारण रूस तथा तटस्थ एशियाई देशों के साथ जापान के सबंध तनावपूर्ण रहे।

वैदेशिक सम्बन्ध

रूस और जापान के सम्बंधों में सुधार की संभावनाएँ अत्यंत ही कम थी। 'कुरील' तथा 'दक्षिणी साखालीन' द्वीपों पर अधिकार होन के पश्चात रूस ने जापान के उन सभी मार्गों पर नियन्त्रण करना प्रारम्भ कर दिया जो 'ओ कोत्स्क' [ओ खोत्स्क] सागर में जापान के मत्स्य क्षेत्र के स्रोत तक जाते थे। इस प्रकार रूस उपरोक्त मार्गों को समिति व बन्द करने को सामरिक तर्जन के रूप में प्रयोग कर सकता था। रूस को आशा थी, कि जापान यदि विनम्रता का उपयोग करेगा तो 'हॉक काइडो' के निकटतम द्वीपों पर अधिकार कर सकता था। इसके अतिरिक्त रूस को 'संयुक्त राष्ट्र संघ' में निषेधाधिकार [वीटो पावर] प्राप्त होने के कारण जापान को संघ सदस्यता ग्रहण करने में रूस अवरोध उत्पन्न करने की क्षमता रखता था। अपने इस अस्त्र को एक ओर रूस 'कूटनीतिक शक्ति' के रूप में प्रयोग करना चाहता था, दूसरी ओर आर्थिक तथा सैन्य क्षेत्रों में अमरीका पर निर्भर होने के कारण जापान-रूस सम्बन्धों में सुधार की आशा नही की जा सकती थी।

जून 1955 में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के सुविधाजनक हो जाने पर, रूस और जापान के राजदूतों के मध्य लंदन में वार्तालाप आरम्भ करने की चेष्टा

की गई। परन्तु मार्च 1956 को लंदन में राजदूतों के वार्तालाप के मध्य सीमा तथा क्षेत्रीय प्रश्नों को लेकर वार्तालाप गतिरुद्ध हो गया। अक्टूबर 1956 को अवरोधित वार्ता में पुन: जीवन संचार हुआ, और क्षेत्रीय प्रश्नों को छोड़कर सामान्य राजनायिक सम्बन्धी तथा व्यापार सम्बन्धों समझौता किया गया। फलत: दिसम्बर में जापान संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य हुआ, और आगामी वर्ष वह सुरक्षा परिषद का सदस्य भी निर्वाचित हो गया। यद्यपि रूस-जापान सम्बन्धों में वाह्य रूप से 'समझौता वातावरण' निर्मित करने का प्रयास सदैव रहा, किन्तु आंतरिक रूप में रूस-जापान कटुता 'मत्स्य क्षेत्रों' तथा 'कुरील द्वीप' को लेकर अपने स्थान पर बनी रही।

1960 और 1969 में इन्ही प्रश्नों को लेकर मतभेद उत्पन्न हुआ। 1972 में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में सुधार स्वरूप रूस के विदेश मन्त्री ग्रोमिको ने टोकियो यात्रा कर रूस-जापान वार्ता को पुर्नजीवित किया। वर्ष की समाप्ति तक वार्ता में गतिरोध उत्पन्न होना स्पष्ट हो गया।

इसका एक स्पष्ट कारण रूस-चीन मतभेद था। 1951-52 में शान्ति संधि तथा सुरक्षा समझौते के अन्तर्गत जापान को चीन के प्रति अपनी विदेशी तथा व्यापार नीति अमरीका के सम्बन्धों पर निर्धारित रखनी थी। यद्यपि जापानी व्यापारियों को जापान की चीन के प्रतिप्रतिबन्धित नीति पसन्द नहीं थी, किन्तु 1972 में राष्ट्रपति निक्सन की पीकिंग [बेजिंग] यात्रा ने चीन-अमरीका तनाव शैथिल्य को प्रोत्साहित किया। परिणामस्वरूप सितम्बर 1972 में जापान के प्रधानमंत्री 'टनाका काकूई' ने भी राष्ट्रपति निक्सन के उदाहरण का अनुसरण करते हुए चीन यात्रा की। अपनी यात्रा के मध्य राजनायिक सम्बन्धों को सुदृढ़ता प्रदान करते हुए जापानी प्रधानमन्त्री ने चीन के साथ व्यापार का मार्ग प्रशस्त किया। इसका एक तत्कालिक परिणाम यह हुआ कि कुरील द्वीप समूह के प्रति रूस की नीति और कठोर हो गई अर्थात रूस का मन्तव्य था, कि जापान की चीन के प्रति सौहार्द नीति जापान को महाशक्तियों की प्रतिद्वन्दिता का केन्द्र बना सकती है। रूस को एक बार पुन: यह स्पष्ट हो गया कि जापान अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति का अंग बन चुका है। अमरीका की बदलती नीतियो के आधार पर ही जापान की मित्रता अथवा शत्रुता परिभाषित होती थी। अमरीका की मित्रता से जापान को अप्रैल 1968 में बोनिन द्वीप समूह, नवम्बर 1969 में ओकिनावा द्वीप तथा जून 1965 में कोरिया से सम्बन्ध सुधार हुए। यह व्यवस्था भी जापान के लिए कठिनाई रहित नही थी क्योकि अमरीका के सैनिक आस्थानों, कोरिया में मत्स्य क्षेत्रो तथा जापान मे कोरिया के नागरिको से सम्बन्धित समस्याएँ

अपने स्थान पर थीं। तथापि जापान को अपने पड़ोसी देशों से सम्बन्ध सुदृ-ढ़ता का अवसर प्राप्त था।

जापान के शेष राष्ट्रों से सम्बन्धों की व्याख्या का आधार केवल व्यापार ही था। इस कारण इन सम्बन्धों को पूर्नजीवित करने के प्रयासों से पुन: संशय का उत्पन्न होना आश्चर्यजनक नहीं था। जापान ने युद्ध पूर्व व्यापारिक सम्बन्धों के आधार पर ही विस्तार किया था, परन्तु जापान के तत्कालीन नेतृत्व नें धीरे धीरे इन सम्बन्धों में सुधार लाना प्रारम्भ कर दिया।

आन्तरिक स्थिति

शान्ति प्रयासों तथा विदेश नीतियों के अतिरिक्त जापान की आन्तरिक नीतियों में भी परिवर्तन आना प्रारम्भ हो गया। जापानी राजनीति में रुढ़िवादियों के बहुमत से नीतियों में परिवर्तन अवश्यम्भावी हो गया। एक बार पुन: परम्पराओं की दिशा में जापान के कदम बढ़ने प्रारम्भ हुये। यद्यपि यह परिवर्तन पश्चिमी नव-परिवर्तन की सीमाओं के अर्न्तगत ही थे परन्तु जापानी परम्परा इसका केन्द्र थी। इसका सर्वप्रथम प्रयास संविधान के पुर्न-मूल्यांकन की दिशा में वैयक्तिक आधार का निर्माण था। जापान की सैनिक संस्थाओं का वैधानिकीकरण आवश्यक समझा गया। साथ ही प्रशासन के विकेन्द्री करण को भी अप्रभावशाली होने के आधार पर वैचारिक चुनोती प्राप्त होने लगी। शिक्षा तथा अन्य क्षेत्रों में परिवर्तन की बात उठने लगी थी विशेषतया नैतिकता की शिक्षा की आवश्यकता को महत्वपूर्ण समझा गया। चूंकि इन सभी नीतियों के परिणाम स्वरूप वामपन्थी आन्दोलन मजदूरों की स्वतन्त्रता, तथा व्यक्तिगत मौलिक अधिकारों पर प्रतिबन्ध प्राप्त हुआ, तथा रूढ़िवादियों को वामपथी दलों से चुनौती प्राप्त होनी प्रारम्भ हुई। इनके पास बहुमत न होने के कारण यह चुनोती संसद (डाइट) में सम्भव नहीं थी। शान्ति-सन्धियों के कारण उदारवादी योशिदा को अक्टूबर 1952 के चुनावों में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो गया था। साथ ही सुधार दल (भूतपूर्व लोकतान्त्रिक दल) को भी प्रर्याप्त बहुमत प्राप्त हो जाने से रुढ़िवादियों की स्थिति संसद के अवर सदन में शक्तिशाली हो चुकी थी। यह स्थिति अप्रैल 1953 तथा फरवरी 1955 के चुनावों में तद्नुसार बनी रही। परन्तु 1953, में योशिदा की स्थिति को स्वयं उनके दल में 'हातोयामा' द्वारा चुनोती प्राप्त होने से उन्हें दिसम्बर 1954 में त्यागपत्र देना पड़ गया। हातोयामा ने 1955 के चुनावों में बहुमत प्राप्त कर लिया, पर उसे पूरी तरह उदारवादियों पर ही निर्भर रहना था। हातोयामा ने दिसम्बर 1956 में त्याग पत्र देकर

'इशीबाशी तनजान' के लिये मार्ग-बनाया। पर तनजान स्वयं दो माह से अधिक प्रधानमंत्री न रह सके। अन्त में फरवरी 1957 में 'किशी नोबूस्के' ने सरकार का गठन किया, जो जुलाई 1960 में 'इकेडा हायातो' के आने तक बनी रही।

योशिदा के पश्चात यह समस्त सरकारें रुढ़िवादी परम्पराओं की संविधि सरकार का रूप लिये थी। परन्तु इसके बाद भीं उदारवादी लोकतान्त्रिक मई 1958 तथा 1960 के चुनावों में 58 प्रतिशत तथा 290 स्थान प्राप्त करने में सफल हुये थे। इसके विपरीत 'समाजवादियों' की स्थिति अत्यन्त चिन्तनीय हो चुकी थी। शान्ति-सन्धियों ने समाजवादियों को स्वयं दों भागों में विभाजित कर दिया था। 1952 के चुनावों में समाजवादी दो स्वतन्त्र दलों के आधार पर चुनावरत हुये, एक दल (दक्षिण पन्थी समाज वाद) सन्धियों को समर्थन दे रहा था, तो दूसरा (वामपंथी समाजवादी) उसका विरोध कर रहा था। प्रत्येक को लगभग 50 स्थान प्राप्त हुये यह 1949 के परिणामों से कुछ अधिक थे। 1953 के चुनावों में दक्षिण पंथियों को 66 तथा वामपंथियों को 72 तथा 1955 में 67 तथा 89 प्राप्त हुये। अक्टूबर 1955 में यह पुनः संगठित हो गये। फलस्वरूप 'समाजवादी लोकतांत्रिक दल' के रूप में इन्हें किंचित सफलता प्राप्त होनी प्रारम्भ हो गई। 1958 में इन्हें 166 तथा 1960 में 172 स्थान प्राप्त हुए। इसके विपरीत साम्यवादियों की स्थिति कोरिया युद्ध के कारण शोचनीय हो गयी थी। कोरियाई युद्ध के पश्चात इनका प्रतिनिधित्व संसद (डाइट) में नाममात्र को रह गया था। 1952 के चुनावों में इन्हें एक भी स्थान प्राप्त नही हुआ। 1953 में किसी प्रकार साम्यवादी केवल एक स्थान प्राप्त कर सके। इसका एक कारण साम्यवादियों के प्रति 'साम्यवाद शुद्धिकरण' की सरकारी नीति भी थी। इस नीति के द्वारा अनेकों नेताओं के भूमिगत हो जाने से इस दल की सक्रियता को आघात पहुंचा था।

यद्यपि संसद (डाइट) में साम्यवादी तथा समाजवादियों की स्थिति शोचनीय थी, परन्तु रूढ़िवादी परम्परावादी नीतियो को लागू करने में असमर्थ थे। समाजवादियों परन्तु रुढ़िवादियों की सख्या डाइट में सदैव लगभग एक तिहाई होने से, तथा उच्च सदन में बामपन्थियों की स्थिति सुदृढ़ होने से सवैंधानिक परिवर्तन सम्भव नहीं थे। पूर्व सैन्यीकरण के लिये सवैधानिक परिवर्तन आवश्यक था, परन्तु वामपन्थी दबाव से यह सम्भव नहीं था। 1951 में एक बार शिक्षा मंत्री ने शिक्षा में नैतिक्ता को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया था, परन्तु डाइट में इसके अत्यन्त विरोध होने से प्रस्ताव को वापस करना पड़ा। इसी प्रकार पुस्तकों पर लाइसेंस लगाने, पुलिस प्रशासन को पुनंगठित

करने तथा बिना कारण बताये बन्दी बनाने के प्रस्तावों को वापस लेना पड़ा था।

यद्यपि समाजवादियो को स्थिति संसद में सन्तोषजनक नहीं थी, किन्तु उग्रवादी समाजवादी पक्ष जिसे सरकार गठित न कर सकने की अपेक्षा दल के सम्बन्धों का स्वार्थ साधन करने लग गया। अर्थात् उग्रवादी पक्ष ने श्रमिक संगठनों तथा अन्य इसी प्रकार के संगठनों का सहयोग लेकर हड़ताल प्रदर्शन की, तथा निवेदन पत्रों को प्रेषित कर सरकार की नीतियों को प्रभावित करने की चेष्टा की। उदाहरण स्वरूप 1958 के 'पुलिस कर्तव्य विधेयक'[8] के विरुद्ध समाजवादियों ने सार्वजनिक श्रमिक संघ परिषद (सोह्यो) के द्वारा 40 लाख श्रमिकों से सरकार विरोधी प्रदर्शन करवाया। इस प्रकार के प्रदर्शनों ने जनता की मनोभावना को आकृर्षित कर इस 'प्रदर्शन राजनीति' के प्रभाव में वृद्धि की। जापानी जनता को अपने मनोभाव तथा सरकार की आलोचना को जन समक्ष प्रस्तुत करने की यह पद्धति रुचिकर लगी।

सरकार के विरुद्ध समाजवादियों ने विदेश नीतियों की आलोचना को भी अस्त्र के रूप में प्रयुक्त किया। एक ओर अमरीकी गठबन्धन को जनता का एक सक्षम भाग आवश्यक समझता था। इसका कारण अमरीकी प्रशासन के द्वारा मानवतावादी तथा रचनात्मक कार्यों की पूर्ति था। दूसरी ओर जापान के शीत युद्ध में रत हो जाने से एक जन आशंका व्याप्त थी। इसके अतिरिक्त जापान अमरीकी मित्रता से गुट-निरपेक्ष एशिया तथा आन्ध्र के राष्ट्रों के अच्छे सम्बन्ध न विकसित हो पाने, अमरीका द्वारा आणविक परीक्षणों को करने से आणविक परीक्षण विरोधी भावना पर चोट पहुंचने आदि नीतियों को समाजवादियों साम्यवादित तथा पराराष्ट्रवादियों ने सरकार के विरुद्ध प्रयुक्त किया। इसी प्रकार जापान ने अमरीकी-हवाई-केन्द्रों की स्थापना के विरुद्ध भी समाजवादियों, साम्यवादियों तथा छात्रों ने मिल कर प्रदर्शन किये। इन प्रदर्शनों के मध्य काफी संख्या में प्रदर्शनकारी घायल होते थे।

इन प्रदर्शनों तथा विरोधों की तीव्रता का अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि 1960 में जब जापान अमरीकी सम्बन्धों के आधार पर जापान ने अमरीकी केन्द्रो से सम्बन्धित सन्धि पर वाशिंगटन में हस्ताक्षर के पश्चात अमरीकी राष्ट्रपति आइजन हावर के जापान-यात्रा को स्थगित करना पड़ गया। आइजन हावर इस सन्धि की अन्तिम संस्तुति के लिये टोकियो आ रहे थे, परन्तु छात्र विरोधी उपद्रवों, जन निवेदन पत्रों के प्रेषित होने से सरकार को बाध्य होकर उन्हें न आने के लिये याचना करनी पड़ी। यद्यपि यह सन्धि अन्ततोगत्वा जून 23.1960 को स्वीकृत हो गई परन्तु प्रधानमन्त्री किशी को तुरन्त पश्चात त्यागपत्र देना पड़ गया।

जापान में पुनः हिंसक राजनीति ने पदार्पण कर लिया। समाजवादी साम्यवादी, मजदूर संगठन तथा छात्र संगठनों के सम्मिलित विरोध से अन्त में सरकार को 'उपद्रव नियन्त्रण पुलिस' का गठन करना पड़ा। परन्तु यह वामपन्थी सहयोग उत्यन्त अल्प काल तक रहा। साम्यवादी 1966 तक डाइट में प्रतिनिधित्व न कर सके। 1966 में नोसाका ने पीकिंगसे गठबन्धन तोड़ कर लोकतान्त्रिक कार्य पद्धति को अपना लिया। साम्यवादियों का मुख्य 'ऊर्जा हनन' समाजवादियों के विरोध में ही हो जाती थी। समाजवादी भी आपस में वैचारिक आधार पर विभाजित थे। वास्तवमें 1960 में महत्वपूर्ण दल का उद्‌भव हुआ। कोमितो नामक यह दल उग्रवादी बौद्ध संगठन सोकागाकाई से सम्बन्धित था। यह दल वास्तव में नगरों के निम्न मध्यमवर्गीय जनता का प्रतिनिधित्व करता था। 1964 में स्थापित होने के पश्चात दिसम्बर 1969 में ही डाइट में इसको दूसरी महत्वपूर्ण विरोधी दल की स्थिति प्राप्त हो गई। इसके साथ ही साथ साम्यवादियों को 14 स्थान (1967 में 5 थे) तथा समाजवादियों को केवल 90 (1967 में 140 थे ।) प्राप्त हुये। इससे यह स्पष्ट रूप से तर्क संगत था कि जापान के विरोधी दल संगठित व सशक्त होने के स्थान पर विखण्डित व अशक्त हो रहे थे। इसके विपरीत उदारवादी लोकतान्त्रिकों ने अपनी स्थिति को सुदृढ बनाये रखा। किशी के पश्चात इकिडा हायातो प्रधानमन्त्री बने। उन्होंने जापान की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने की नीति स्पष्ट की थी। चार वर्षों पश्चात नवम्बर 1964 में इकिडा ने किशी के भाई 'सातो इसाकु' को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया। सातो आठ वर्षों तक जापान के प्रधानमन्त्री बने रहे। तत्पश्चात जुलाई 1972 में 'टनाका काकुई', एक युवा नेता आन्तरिक विरोधों के फलस्वरूप प्रधानमन्त्री बन गये। टनाका ने पदभार सम्भालने के तुरन्त पश्चात उन्होंने पीकिंग के साथ तथा चीन के साथ जापान के सम्बन्ध समान्य बनाने की चेष्टा की। तत्पश्चात चुनाव कराकर जन समर्थन में वे सफल रहे। टनाका की पार्टी को दिसम्बर 1972 के चुनाव में कुल 491 स्थानों में 271 स्थान प्राप्त हुये।

कुछ सीमा तक इसे राजनैतिक स्थायित्व की परिभाषा दी जा सकती थी। इसका मुख्य कारण आर्थिक विकास था, जिसने जनसाधारण की विचार धारा को भी एक नव परिवर्तन दिया।

जापान के इतिहास का पुनरावलोकन 2 तथ्यों को स्पष्ट करता है— सैन्य संगठन करने का मेइजी निर्णय तथा 20वीं शताब्दी में जापान का आर्थिक विकास। यद्यपि जापान के सैन्यवाद को एकदम विस्मृत नहीं किया

जा सकता, किन्तु जापानी 'आर्थिक चमत्कार' पूर्ण विश्व को अपनी ओर आकर्षित किये है।

जापानी अर्थ व्यवस्था ने द्वितीय युद्धोपरान्त नितान्त संघर्ष किया है। अमरीकी शासन के सुधारों, शुद्धिकरण (पर्ज) तथा आर्थिक पुंज (जइबत्सु) को विघटित करने की नीतियों ने जापान के आर्थिक विकास में अवरोध उत्पन्न करने की चेष्टा की। तथापि जापान के संतुलित निश्चय ने जापान के उत्पादन एवं ओद्योगीकरण के नये मार्ग को प्रशस्त किया। उदाहरण स्वरूप निम्नलिखित तालिका से औद्योगीकरण उत्पादन की समीक्षा की जा सकती है।

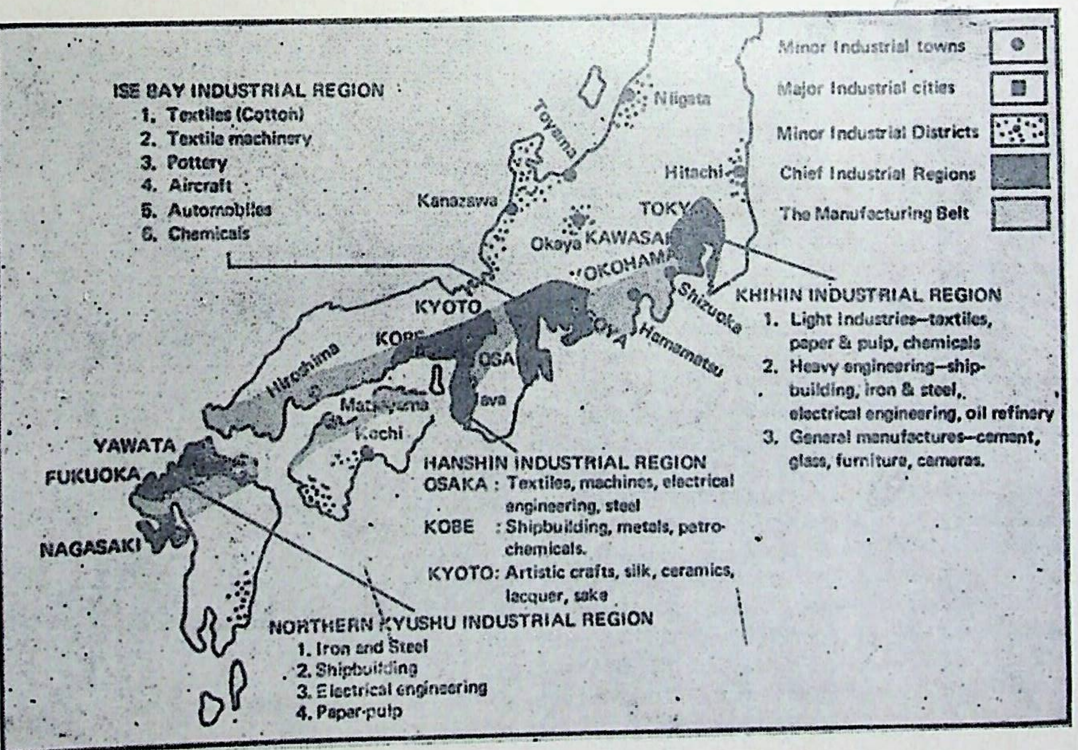
औद्योगिक उत्पादन 1955-70

	1955	1960	1965	1970
कच्चा स्टील (मिलियन मिटरिक टन्स)	9·41	22·14	41·16	93.32
स्टीलपोत मिलियन टन)	0·50	1·76	5·53	12 65
यात्री कारें (हजार)	20	165	696	3,178
गैसोलिन (मिलियन किलो)	2·46	6.12	10·9	20.89
टेलीविजन सेट्स (हजार)	137	3,580	4,190	13,780

(स्रोत : जापानी विदेश मन्त्रालय, स्टेटिस्टीकल सर्वे आफ जापान्स इकोनमी, 1972)

जापान के औद्योगिक विकास ने इसके अतिरिक्त कपड़ा, कच्चा सिल्क. तकनीकी वस्तुयें, रसायन पदार्थ तथा धातु इत्यादि प्रमुख थे। जापान के इस आर्थिक विकास के अनेक मुख्य कारण थे (i) बचत द्वारा पूंजी निवेश, (ii) निम्न कर व्यवस्था, (iii) विश्व व्यापार का सार्विक विस्तार (iv) अमरीका द्वारा आधुनिक औद्योगिक तकनीकी सहायता, (v) सुलभ एवं सस्ती श्रमिक व्यवस्था। अन्तिम कारण का स्रोत प्रारम्भिक वर्षों में तो युद्धोपरान्त बेरोजगारी तथा सैन्य वियोजन था परन्तु कालान्तर में ग्रामों से श्रमिक उपलब्ध होते रहे।

इस आर्थिक विकास में कृषि ने भी कोई कम प्रगति नहीं की। युद्ध के पश्चात अर्थात 1945 के तदोपरान्त मानव शक्ति की वृद्धि (जो कि सैनिकों के वापिस लौट आने तथा युद्ध-क्षत नगरों के कारण हुई) एवं उर्वरक (खाद) उत्पादन के पुनः आरम्भ हो जाने ने भी कृषि को अत्याधिक विकसित होने का अवसर दिया। इसके अतिरिक्त नागरिक जीवन के परिवर्तन एवं आय वृद्धि


ISE BAY INDUSTRIAL REGION
1. Textiles (Cotton)
2. Textile machinery
3. Pottery
4. Aircraft
5. Automobiles
6. Chemicals
Minor Industrial towns
Major Industrial cities
Minor Industrial Districts
Chief Industrial Regions
The Manufacturing Belt
Niigata
Toyama
Hitachi
Kanazawa
Okaya
KAWASAKI
YOKOHAMA
Shizuoka
Hamamatsu
KYOTO
KOBE
OSAKA
Hiroshima
Kochi
YAWATA
FUKUOKA
NAGASAKI
KHIHIN INDUSTRIAL REGION
1. Light industries—textiles, paper & pulp, chemicals
2. Heavy engineering—ship-building, iron & steel, electrical engineering, oil refinery
3. General manufactures—cement, glass, furniture, cameras.
HANSHIN INDUSTRIAL REGION
OSAKA : Textiles, machines, electrical engineering, steel
KOBE : Shipbuilding, metals, petro-chemicals.
KYOTO: Artistic crafts, silk, ceramics, lacquer, sake
NORTHERN KYUSHU INDUSTRIAL REGION
1. Iron and Steel
2. Shipbuilding
3. Electrical engineering
4. Paper-pulp

जापानी उद्योग

ने भी खान-पान की विविधता को जन्म दिया। महगें भोज्य पदार्थों की माँग ने कृषि तथा इससे संलग्न अन्य उत्पादनों में वृद्धि की।

इसी मध्य औद्योगीकरण में श्रम वेतन की वृद्धि के कारण कृषि को आघात पहुँचा। 1960 और 70 के मध्य खेतिहरों की संख्या 6 मिलियन से 5·3 मिलियन रह गई। साथ ही कृषि मजदूरों की कुल संख्या 1955 में 39 प्रतिशत थी, 1962 में 29 प्रतिशत हो गई तथा 1972 में 19 प्रतिशत हो गई। भविष्य में श्रमिकों का स्थान तकनीकी उपकरणों ने ले लिया। 1955 में ट्रैक्टर एवं कृषकों (पॉवर कल्टीवेटर्स) की संख्या 38,000 थी, 1960 में आधा मिलियन (5 लाख), और 1970 में 3·5 मिलियन हो गई। 1980 तक जापान ने उद्योग, कृषि एवं तकनीकी विकास में अभूतपूर्व प्रगति की। जापान के लगभग 98 प्रतिशत लोगों के पास दूरदर्शन उपलब्ध थे। इस उपलब्धि ने जापान की सामाजिक शिक्षा के लिये महत्वपूर्ण मार्ग प्रशस्त किया।

भौगोलिक रूप से जापान की आधुनिक औद्योगिक वस्तुओं के निर्यात ने निर्यात व्यापार में क्रांति उत्पन्न की। जापान के निर्यात का विस्तार अमरीका, पश्चिमी यूरोप तथा दक्षिण पूर्व एशिया में मुख्य था।

उपरोक्त आर्थिक विकास ने जापान के नागरिक गृह आवास को महँगा यातायात को भीड़ युक्त तथा वातावरण को प्रदूषितता प्रदान की। उत्तम आवास-विकास, भोज्य पदार्थ, वस्त्र परिधान, तथा आधुनिक तकनीकी उपभोक्ता वस्तुओं के प्रत्यावर्तन में सामाजिक जीवन का संघर्षमय हो जाना स्वत: आवश्यक था।

निस्संदेह जापान के आधुनिक जीवन के प्रत्येक पक्ष में जापान तथा पश्चिम का सम्मिश्रण स्पष्ट था। यातायात के साधनों, विद्युत फैक्टरी प्रणाली, 'नलकल', संगीत, खेलकूद तथा खानपान एवं साहित्य सभी क्षेत्रों में पश्चिम के आधुनिकीकरण का समन्वय था।

साहित्यिक क्षेत्र में पश्चिमी साहित्य एवं उपन्यासों की जापान के सांस्कृतिक आयात में मुख्य भूमिका थी। इस पश्चिमी साहित्य का जापान के साहित्यकारों पर अपना विशेष प्रभाव था। उदाहरण स्वरूप नोबेल पुरस्कार विजेता 'क्वावाता यासुनारी', 'दजाई ओसामु' 'मिशीमा यूकियों' इत्यादि पर फ्रांसीसी एवं रूसी उपन्यासकारों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित था। इसके अतिरिक्त आधुनिक जापान के बुद्धिजीवियों में प्राय: चायखानों में व अन्य स्थानों पर अपने वाद-विवादों में 'आन्द्रे पोलगीयोम येंद,' 'आंन्डेमालरों' तथा 'याँ पाल सार्त्र'' यह नाम सुनने में आते थे। इसके साथ ही साहित्य विक्रेताओं की खिड़कियों में 'लियो टॉलस्टाय', 'गी डीं मोपासाँ', 'ऑन्टन पावलोविक

चिरवोंफ', 'टी. एस इलियट' तथा अन्य प्रसिद्ध लेखकों की पुस्तकों का जापानी संस्करण देखने को मिलता था। जापानी साहित्यक क्षेत्र ने निस्सदेह नव विचारधाराओं को उत्पन्न किया। यद्यपि लोकतन्त्रीय समाजवादी तथा साम्यवादी विचार धाराओं ने राष्ट्रवादियों तथा अतिराष्ट्रवादियों को प्रभावित किया, किन्तु मार्क्सवाद भी जापान में बहुमतीय स्थायित्व प्राप्त कर सका।

अतः युद्धोपरान्त जापान के आधुनिक परिवेश ने जापान के आर्थिक उन्नयन, सामाजिक परिवर्तन, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक नव विचारधाराओं, तथा कुछ सीमा तक राजनैतिक स्थायित्व ने जापान को एक नवीन रूप प्रदत्त किया।



ग्रन्थ-निर्देश संदर्भिका **References**

जापान

1. The Word 'Japan' : Is a European corruption of the Chinese pronunciation of the ideographs by which the Japanese describe their country (literally they mean 'Sun-origin', Hence 'Land of the Rising Sun'.)The Japanese them selves pronounce these ideographs 'Nihon' or 'Nippon', the latter having slightly more nationalistic connotations.

2, The Word Kokutai : Meaning somthing like 'National Polity' was a favourite with the ultranationalists and came to have strong connotations of Emperor worship, loyalism and Right wing ideas generally.

3. Okuma, S (ed) : Fify years of New Japan, 2vol, London 1910.

4. Reinsch, PS : American diplomat in China, N. Y. 1922.

5. Quale, G. Robina : Eastern civilizations, New Jersey, 1975.

5. Bailey, Jackson H.,ed. : Listening to Japan : A Japanese Anthology. New York : Praeger, 1973.

7. Hall John W., and Richard K. Beardsley eds. : Twelve Doors to Japan. New York : Mc Graw-Hill, 1965.

8. Ishida, Takeshi. : Japanese Society. New York : Random House, 1971.

9. Nakane, Chie : Japanese Sociey. Berkeley : University of California Press, 1970.

10. Singer, Kurt. : Mirror, Sword, and Jewel A Study of Japanese Characteristics. New York : George Braziller, 1973.

11. Varley, H Paul. : Japanese Culture : A short History. New York : Praeger, 1973.

12. Anesaki, Masaharu. : History of Japanese Religion. Rutlad, Vt. : Tuttle, 1971.

13. Bellah, Robert N. : Tokugawa Religion. Glencoe. III. : Free Press, 1957. (Paperback. Boston : Beacon Press.)

14. Boxer, C. R. : The Christian Century in Japan, 1549–1650. Berkeley;

University of California Press, 1967.

Jan Compagnie in Japan, 1600-1811, 2nd rev. ed. New York : Oxford University Press, 1968.

15. Brown, Delmer M. : Money Economy in Medieval Japan. New Haven, Conn. : Yale University Press, 1951.

16. Craig, Albert M., and Donald Shively, eds. : Personality in Japanese History. Berkeley : University of California Press, 1970

17. Dore, Ronald P. : Education in Tokugawa Japan. Berkeley : University of California Press. 1965.

18. Duus, Peter. : Feudalism in Japan. New York : Knopf. 1969.

19. Frederic, Louis. : Daily Life in Japan at the Time of the Samurai. 1185-1603, trans. Eileen M. Lowe. New York : Praeger, 1972.

20. Hall, John W. : Japan : From Prehistory to Modern Times. New York : Delacorte, 1970.

21. Keene, Donald. : Anthology of Japanese Liter. ature from the Earlist Era to the Mid-Nineteenth Century. New York : Grove, 1955.

–The Japanese Discovery of Europe, 1720-1830, rev. ed. Stanford, cal. Stanford University Press, 1969.

–Japanese Literature : An Introduction for Western Readers. London : Murray, 1953. (Paperback· New York Grove.)

22. Kidder, J. E., Jr. : Japan Before Buddhism. London : Thames and Hudson, 1966.

23. Morris, Ivan. : The World of the Shining Prince : Court Life in Ancient Japan. New York : Knopf, 1964. (Paperback, Baltimore : Penguin.)

24. Murasaki, Shikibu. : The Tale of Genji, trans. Arthur Waley, 2 vols. New York : Modern Library, 1960 (Paperback. New York : Doubleday.)

25. Reischauer, Edwin O. : Japan : The Story of a Nation, rev. ed. New York : Knopf, 1970.

26. Sansom, Sir George B. : A History of Japan to 1867, 3 vols. Stanford, Cal. : Stanford University Press, 1958-1963.

–Japan : A Short Cultural

History, rev. ed. New York : Appleton—Century - -Crofts, 1962.

27. Sheldon, Charles D. : The Rise of the Merchant Class in Tokugawa Japan, 1600-1868. Locust Valley, N. Y. : Augustin, 1958.

28. Tsunoda Ryusaku, et al., : comps. Sources of Japanese Tradition. New York : Columbia University Press, 1958.

29. Akita, George. : Foundations of Constitutional Government in Japan, 1868—1900. Cambridge : Harvard University Press. 1967.

30. Allen, George C. : A Short Economic History of Modern Japan, rev. ed. New York : Praeger, 1963.

31. Beardsley, Richard K., et al : Village Japan. Chicago University of Chicago Press, 1969.

32. Beasley, W. G. : The Meiji Resftoration Stanford, Cal,: Stanford University Press, 1972.

–The Modern History of Japan. New York : Praeger, 1966.

33. Borton, Hugh : Japan's Modern Century,

2nd ed. New York : Ronald Press, 1970.

34. Bunce, W. K. : Religions in Japan. Rutland, Vt. : Charles E. Tuttle, 1955.

35. Butow, R. J. C. : Tojo and the Coming of War. Princeton, N. J. : Princeton University Press, 1965. (Paperback. Stanford, Cal.: Stanford University Press.)

36. Craig, Albert M. : Choshu in the Meiji Restoration. Cambridge: Harvard University Press, 1961.

37, Dore, Ronald P. : City Life in Japan. Berkeley University of California Press, 1963.

—, ed. Aspects of Social Change in Modern Japan Princeton, N. J.: Princeton University Press, 1967.

38. Duus, Peter. : Party Rivalry and Political Cnange in Taisho Japan. Cambridge: Harvard University Press. 1968.

39. Feis, Herbert. : Japan Subdued. Princeton, N. J., : Princeton University Press, 1961.

40. Fukuzawa, Yukichi : Autobiography, trans, Eiichi

Kiyooka, authorized rev. ed. New York : Columbia University Press, 1966

41. Hackett, Roger F. : Yamagata Aritomo in the Rise of Modern Japan, 1838-1922. Cambridge: Harvard University Press, 1971.

42. Harootunian, Harry, & Bernard Silberman, eds. : Modern Japanese Leadership. Tucson: University of Arizona Press, 1966.

43. Hirschmeier, Johannes, S.V.D. : The Origins of Enterpreneurship in Meiji Japan.. Cambridge : Harvard University Press, 1964.

44. Ike Nobutaka. : The Beginnings of Political Democracy in Japan. New York : Greenwood Press, 1969.

45. Jansen, Marius B, : The Japanese and Sun Yat-sen. Cambridge : Harvard University Press, 1967. (Paperback. Stanford, Cal. : Stanford University Press.)
—Sakamoto Ryoma and the Meiji Restoration. Princeton, N. J. : Princeton University Press, 1961. (Paperback Stanford, col. : Stanford University Press)

46. Keene, Donald. : Modern Japanese Literature :

An Anthology· New York Grove, 1960. :

47. Lockwood, W. W. : The Economic Development of Japan. Princeton, N. J. Princeton University press, 1954.

48. Marshall, B. K. : Capitalism and Nationalism in Prewar Japan. Stanford, Cal. : Stanford University University press, 1967.

49. Maxan, Yale Candee. : Control of Japanese Foreign Policy. Berkeley : University of California Press, 1957.

50. Morley, James W., ed. : Dilemmas of Growth in Prewar Japan. Princeton, N. J. : Princeton University Press, 1971.

51. Norman, E. H. : Japan's Emergence as a Modern State. New York : Institute of Pacific Relations, 1940.

52 Reischauer Edwin O· : The United States and Japan, 3rd ed: Cambridge : Harvard University Press, (Paperback. New York : Viking.)

53. Sansom, Sir George B. : The Western Word and Japan. New York : Knopf, 1951.

54. Scalapino, Robert A. : Democracy and the Party

Movement in Prewar Japan, Berkeley : University of California press, 1953.

---The Japanese Communist Movement, 1920-1966, Berkeley : University of California Press, 1967.

55. Scheiner, Irwin. ed. : Modern Japan : An interpretive Anthalogy.New York. macmillan, 1974.

56. Shively, Donald H., ed : Tradition and Modernization in Japanese Culture. Princeton, N. J. : Princeton University Press 1971.

57. Silberman, Bernard, : Ministers of Modernization : Elite mobility in the Meiji Restoration 1868-1873. Tutcson : University of Arizona Press, 1964.

58. Smith, Thoms C. : The Agrarian Origins of Modern Japan. New York : Atheneum,1966. (paperbedk. Stanford. Cal : Stanford University Press.)

—Political Change and Industrial Development in Japan : Government Enterprise, 1868-1880. Stanford col. : stanford University Press. 1965.

59. Smith, Warren W. : Confucianism in Modern

Japan. Tokyo: Hokuseido Press, 1959.

60. Storry, Richard. : The Double Patriots. Boston, Houghton Mifflin, 1957.

61. Tanizaki, Junihiro. : The Makioka Sisters, trans. E, G. Seidensticker. New York : Knopf, 1957. (Paperback. New York : Grosset & Dunlap.)

62. Ward, Robert E. : Japan's Political System. Englewood Cliffs, N. J. : Prentice-Hall, 1967.
–, ed, Political Development in modern Japan. Princeton, N. J. : Princeton University Press, 1968.

63. Asahic Shimbun. : The Pacific Rivals. New York and Tokyo : Wealtherhill and Asahi, 1972.

64. Cole, Robert E. : Japanse Blue Collar : The Changing Tradition. Berkeley : University of California Press, 1971.

65. Dore, Ronald P. : British Factory-Japanese Factory. Berkeley : University of California Press, 1973.
—, Land Reform in Japan. London Oxford University Press. 1966.

66. Fukui, Haruhiro. : Party in Power : The Japanese Liberal Democrats and Policy-Making. Berkeley University of California Press, 1970

67. Gibney, Frank. : Five Gentlemen of Japan. New York : Farrar, Straus and Young, 1953.

68. Ike, Nobutaka. : Japanese 'Politics : Patron-Client Democracy, 2nd ed, New York : Knopf, 1972.

69, Kawai, Kazuo. : Japan's American Interlude. Chicago : University of Chicago 1964,

70. Langer, paul F. : Communism in Japan. Stanford. Cal. : Hoover Institu tion press, 1972.

71. Maki, J. M. : Government and Politics in Japan. New York : praeger, 1962.

72. Maruyama, Masao. : Thought and Behavior in Modern Japanese politics, ed. Ivan Morris New York. Oxford University press, 1966.

73. Mcnelly, Theodore: : Politics andGovernment in Japan, 2nd ed. Boston : Houghton Mifflin, 1972.

74. Morris, Ivan. : Nationalism and the Right Wing in Japan : A Study of postwar Trends. New York : Oxford University press, 1960

75. Scalapino, Robert A., & J. Masumi. : Oarties and politics in Contemporary Japan. Berkeley : University of California press, 1962.

76. Vogel, Ezra F. : Japan's New Middle Class, 2nd ed. Berkeley : University of California press, 1971.

77. Weinstein, Martin E. : Japan's postwar Defense policy, 1947-1968. New York : Columbia University Press 1971.

78: White James W. : The Soka-Gakkai and Mass Society. Stanford, Cal. : Stanford University press, 1970.

79. Woodard, William P. : The Allied Occupation of Japan, 1945-1952, and Japanese Religions. Leiden : E. J. Brill, 1972.

Additional suggestions may le found in the following works and in the bibliographies listed therein :

American Univetsities Field Staff. A Select Bibliography :

Asia, Africa, Eartern Europe Latin America. New York : Universities Field Staff, 1960. with supplements 1961. 1963 1965.

80. Gillin, Donald, et., al. : East Asia : A Bibliography for Undergraduate Libraries. Williamsport : Bro-Dart publishing Co., 1970.

81. Hucker, Charles O. : China : A Critical Bibliography. Tucson : University of Arilzona press, 1962.

82. Silberman, Bernard S. : Japan and Korea : A Critiael Bibliography, 2nd ed Tucson: University of Arizona Press 1962.

एशियाई तिथि-पत्र : जापान

1902 : आंग्ल-जापान सन्धि
1905 : पोर्टस्माउथ-सन्धि
1910 : कोरिया पर संरक्षण
1914 : जर्मनी से युद्ध
1917 : जर्मन-उपनिवेशों पर अधिकार
1918 : चावल-विद्रोह
1920 : विद्रोह और हड़ताल
1922 : संसद का भंग होना
—साम्यवादी दल की स्थापना
—वाशिंगटन शान्ति सम्मेलन
1923 : महान भूकम्प
1925 : शान्ति-सुरक्षा अधिनियम
1927 : तनाका प्रधानमन्त्री के रूप में
1928 : शान्तुंग में जापानी सेना का प्रवेश
1930 : लन्दन नौसैनिक सम्मेलन
1933 : मंचूरिया पर जापानी अधिकार
—राष्ट्र संघ से जापानी निष्क्रमण
1936 : सैनिक सत्ता का प्रारम्भ
1937 : चीन पर आक्रमण
1940 : केन्द्रिय सन्धि
1940 : वर्मा पर आक्रमण
1941 : दक्षिणी हिन्द चीन पर अधिकार
—पर्लहार्वर पर आक्रमण
1942 : फिलीपीन पर अधिकार
—जापानी सामुद्रिक अधिकारों में न्यूनता प्रारम्भ

1943 : खाडल केनाल

1944 : दक्षिणी-पूर्वी एशिया में पराजय
–प्रधानमन्त्री तोजों का त्यागपत्र

1945 : परमाणु बम का विस्फोट
–सम्राट द्वारा शान्ति की मांग
–जापान का आत्मसमर्पण

1946 : सम्राट द्वारा दैनिक राजसत्ता का त्याग

1947 : नवीन संविधान

1948 : भूमि, शिक्षा सुधार

1950 : साम्यवादी प्रभाव का अन्त

1951 : अमरीका-जापान सन्धि

1952 : अधिकारों का अन्त

1955 : नये दलों का प्रार्दुभाव

1958 : उत्पापन में कमी ।

1960 : अमरीका विरोधी विद्रोह

1962 : समाजवादी प्रभावों में वृद्धि

1963 : इकिडा का पुर्ननिर्वाचन

1964 : आर्थिक-उत्पादन में वृद्धि
–चीन-जापान व्यापार

1971 : सुरक्षा बजट में वृद्धि

1972 : तनाका की चीन यात्रा

1973 : तनाका की अमरीका यात्रा

1974 : संकटकालीन मुद्रास्फीति

दक्षिण-पूर्व एशिया



SOUTH EAST ASIA

दक्षिण पूर्व एशिया

अध्याय 13

दक्षिण–पूर्व एशिया*

(परिचय एवं राष्ट्रवाद)

परिचय

दक्षिण पूर्व एशिया का नामकरण द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् हुआ। विश्व के इस भाग का क्षेत्रफल 1.5 मिलियन वर्ग मील है। इस क्षेत्र का महत्व यहां की उत्पादन वस्तुओं के कारण सदैव रहा है। इस क्षेत्र ने योरोपीय देशों को अपने वस्तु निर्यात तथा आवश्यक उपभोग के कारण आकर्षित किया। दक्षिण-पूर्व एशिया में रबर, कोको, चाय, तेल, चीनी, मसाले इत्यादि की आर्थिक सम्पदा ने इस क्षेत्र को शताब्दियों तक विवाद-ग्रस्त रखा। दक्षिण-पूर्व एशिया में धर्म, रीति-रिवाज और विभिन्न जातियों के भवंर तुल्य सम्मिश्रण ने इस रीति को एक पृथक ही रूप प्रदत्त किया है। दक्षिण-पूर्व एशिया की प्रमुखता आधुनिक विश्व में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस क्षेत्र के मुख्य देश बर्मा, काम्पूचिया, लाओस, हिन्देशिया, मलेशिया, वियतनाम (भूतपूर्व उत्तरी और दक्षिणी वियतनाम), थाईलैण्ड, फिलीपीन और सिंगापुर का द्वीप नगर राज्य है। इस क्षेत्र के अध्ययन हेतु यहां की धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, एवं आर्थिक स्थितियों का अवलोकन करना आवश्यक है। इस अवलोकन में भूत और वर्तमान पर

---

*दक्षिण-पूर्व एशिया में समास-चिह्न अथवा योजक चिह्न के प्रति तनिक मतभेद है। अमरीकी लेखक यह चिह्न प्रयोग नहीं करते हैं, परन्तु ब्रिटिश जलसेना इसका प्रयोग करती है। द्वितीय विश्व युद्ध के समय दक्षिण-पूर्व एशिया के मध्य इस चिह्न का प्रयोग नहीं किया गया, किन्तु माउन्टबटेन रिपोर्ट ने पुनः योजक चिह्न का प्रयोग किया। अतः यह विद्योचित विषय न होकर स्वयं सुविधा पर आधारित है।

भी दृष्टिपात करना समीचीन होगा।

धर्म

दक्षिण-पूर्व एशिया के आरम्भिक जीवन में वहां के निवासी 'जीववाद' में विश्वास रखते थे। जीववाद से उनका तात्पर्य था कि प्रत्येक का कार्य जीवात्माओं द्वारा कार्यन्वित होता है और यह जीवात्मायें वृक्षों, चट्टानों, पर्वतों, मैदानों, मनुष्यों तथा पशु पक्षियों में निवास करती है। शनैः-शनैः दक्षिण पूर्व एशिया के लोगों ने अन्य धर्मों का भी अपने धर्म में सम्मिश्रण करना आरम्भ किया। इस धार्मिक अवलोकन में अत्याधिक रुचिकर तथ्य यह है कि विभिन्न धर्मों की मान्यता के उपरान्त भी विभिन्न धर्मों के लोग जीववाद में विश्वास रखते हैं। अतः जीववाद के अतिरिक्त वहां प्रचिलित धर्मों की व्याख्या आवश्यक है।

१–बौद्धधर्म

बौद्ध धर्म की उत्पत्ति सिद्वार्थ की शिक्षाओं द्वारा हुई। लगभग ईसा से 483 वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध ने रूढ़िवादी हिन्दू, ब्राह्मणों की कट्टरपंथी भावना को, कि वह जनसाधारण से सामाजिक और आत्मिक रूप से श्रेष्ठ हैं, हनन करते हुये एक नवीन धर्म बौद्ध धर्म की स्थापना की। गौतम बुद्ध ने दुःख, तृष्णा,काम,क्रोध, लोभ एवं मोह के निवृत्त होने में ही निर्वाण का मार्ग बताया। गौतम के विचारों में स्पष्टतः भावनात्मक पुष्टि तथा आत्मिक आकर्षणता के सम्मिश्रण ने ही उन्हें बुद्ध का नाम दिया। बुद्ध का अर्थ है 'प्रबुद्धता प्रदान करने वाला'।

सामाजिक रूप से महात्मा बुद्ध का अत्यन्त महत्वपूर्ण संदेश था–'विश्व प्रेम।' बुद्ध के समक्ष सब प्राणी एक समान थे और ब्राह्मण समाज की भाँति उनमें वर्गीकरण नहीं था। अपने आकर्षण के कारण ही बौद्ध धर्म भारत और तत्पश्चात् अन्य देशों में लोकप्रिय हुआ। बौद्ध धर्म के अहिंसावाद से प्रभावित होकर सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया और अपने बौद्ध भिक्षुओं को उन क्षेत्रों में भेजा जो तत्पश्चात् दक्षिण पूर्व एशिया कहा जाने लगा।

प्रथम शताब्दी में सुधारकों के एक वर्ग ने भारतीय सम्राट को बौद्ध सम्मेलन करने हेतु प्रोत्साहित किया। इस सम्मेलन में धर्म को दो सम्प्रदायों में विभक्त किया गया–महायान और हीनयान। महायान सम्प्रदाय ने बौद्ध शिक्षा की व्याख्या को हीनयान से अधिक व्यक्तिगत कर दिया। महायान शाखा अधिक लोकप्रिय होने लगी और इस कारण हीनयानी दक्षिण भारत और सीलोन (श्रीलंका) में प्रचार करने लगे। अतः यह दो बौद्ध शाखायें उत्तरी

और दक्षिणी कहलाई जाने लगी। महायानी बौद्ध धर्म चीन, कोरिया और जापान में फैल गया। चीन के लोगों ने इस धर्म को वियतनाम में प्रविष्ट किया और वहां कन्फ्यूशनवाद और ताओवाद में इसका सम्मिश्रण हो गया। बर्मा, काम्पूचिया, थाइलैंण्ड और लाओस में हीनयान शाखा विकसित होने लगी। इस क्षेत्र में इसको 'थेरवाद' कहने लगे। थेरवाद का अर्थ है-पूर्वजों की शिक्षा। दक्षिणी पूर्व एशिया में बौद्ध भिक्षु अन्य जनता की अपेक्षा निर्वाण के अधिक निकट समझे जाते है।

२—इस्लाम

13वीं शताब्दी में मुस्लिम व्यापारियों के साथ ही हिन्देशिया और मलेशिया में इस्लाम धर्म का प्रचार होने लगा। दक्षिण-पूर्व एशिया में इस्लाम प्रथम मुस्लिम व्यापारियों के प्रोत्साहन से प्रारम्भ हुआ और तदनन्तर दक्षिण पूर्व एशिया के निवासियों ने इस्लाम को हिन्दू और बौद्ध धर्म में समाकलित कर दिया। हिन्दू और बौद्ध मन्दिरों के निकट ही मस्जिदों का निर्माण हुआ। दक्षिण पूर्व एशिया में हिन्दू धर्म जो अब केवल 'बाली द्वीप' में रह गया है, शताब्दियों तक रामायण और महाभारत के महाकाव्यों द्वारा प्रचिलित था। हिन्दू कहानियों के अनेक चरित्र तथा जीवात्माओं के नाम मुस्लिम धर्म में समाविष्ट हो गये। उदाहरणतया भगवान विष्णु का पवित्र चिह्न गरुण आज भी हिन्देशिया के राष्ट्रीय ध्वज में अंकित है।

मुस्लिम धर्म की स्थापना हजरत मोहम्मद ने छठी शताब्दी में की। मुस्लिम धर्म के अनुसार 'सर्वशक्तिमान अल्लाह है और हजरत मोहम्मद अल्लाह के पैगम्बर हैं।' और उनके द्वारा रचित 'कुरान शरीफ' मुसलमानों का एक पाक ग्रन्थ है। दक्षिण पूर्व एशिया में अधिकतर इस धर्म के अनुयायी मलेशिया और हिन्देशिया में हैं।

३—कनफ्यूशनवाद

कनफ्यूशनवाद चीनी दार्शनिक कनफ्यूशस के द्वारा चीन से प्रवाहित होकर दक्षिण पूर्व एशिया में आया। कनफ्यूशस (551-479 बी० सी०) ने अपने अनुयायियों को सम्बन्धों द्वारा अधिकार और सम्मान देने की शिक्षा दी। उदाहरणस्वरूप परिवार में कनफ्यूशस के अनुसार पिता को परिवार का मुखिया होने के नाते सर्वाधिक सम्मान मिलना चाहिए। इसी पद्धति पर इस दार्शनिक ने समाज को आधारित किया। इसी पद्धति का रूपान्तर सरकारी संरचना में जब हुआ तो सर्वाधिक शिक्षित वर्ग इसका उत्तराधिकारी बन गया यह वर्ग मैन्डरिन कहलाता था। धीरे-धीरे शिक्षा और

सम्पत्ति का सम्मिश्रण कर उपरोक्त वर्ग ने शासक वर्ग का स्थान ग्रहण किया। वियतनाम में कनफ्यूशनवाद का प्रसार हुआ।

४–ताओवाद

ताओवाद दक्षिण पूर्व एशिया का लघु धर्म था। इसके प्रवर्तक 'लाओं-त्सु (604 बी० सी०) ने अपनी पुस्तक लाओ तेचिंग के द्वारा किया। उनके अनुसार प्राकृतिक घटनाओं में निरहस्तक्षेप की नीति का परिपालन था। इस धर्म का संगठन विशेषकर दक्षिणी वियतनाम में है। लाओ-त्सु ने जल की उपमा देकर प्रकृति और धर्म की व्याख्या की। कुछ सीमा तक यह धर्म प्रकृति और आध्यात्मिक आत्माओं के सम्मिश्रण द्वारा प्राचीन जीवात्मा की मान्यताओं के निकट था।

सामाजिक

दक्षिण पूर्व एशिया का सामाजिक जीवन परिवारिक परम्परा पर केन्द्रित है। दक्षिण पूर्व एशिया में दो प्रकार के पारिवारिक स्तर हैं–एक आधुनिक व्यैक्तिक दूसरा संयुक्त परिवार। व्यैक्तिक परिवार में माता पिता अपने बच्चों के साथ पृथक रहते हैं और इस प्रकार के परिवार अधिकतर बर्मा, थाईलैण्ड, काम्पूचिया, लाओस और हिन्देशिया के दो बहुसंख्यक द्वीप जावा और सुमात्रा में अधिक हैं। संयुक्त परिवार अर्थात् सम्मिलित परिवार में जहाँ सब एक साथ रहते हैं अर्थात् एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी के साथ एक ही घर में निवास करती हैं। इस प्रकार के परिवार वियतनाम, मलेशिया, फिलीपीन्स तथा हिन्देशिया के अल्प जनसंख्यक द्वीपों में हैं।

दक्षिण पूर्व एशिया के परिवारिक जीवन में स्त्रियों की स्थिति को लेकर प्रत्येक क्षेत्र में भिन्नता है। दक्षिण पूर्व एशिया में स्त्रियों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति अत्यन्त संतोषजनक है। विवाह माता पिता की अनुमति के द्वारा अपनी सामाजिक, आर्थिक स्थिति के अनुसार सम्पन्न होते हैं। वहाँ व्यक्ति एक से चार तक विवाह कर सकता है किन्तु केवल धनी वर्ग में ही ही एक से अधिक विवाह प्रचिलित है मध्यम वर्ग में अधिकतर एक ही विवाह की प्रमुखता है। दक्षिण पूर्व एशिया में 78% लोग ग्रामीण है और ग्रामों की जनसंख्या 50 से लेकर 3 हजार तक की है।

आर्थिक

दक्षिण पूर्व एशिया में द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् कृषि एवं सिचाई के साधनों में प्रगति हुई। इस क्षेत्र के अधिकांश लोगों का जीवन यापन



मार्को पोलो (1254–1324)
महान अभियान कर्ता

नदियों द्वारा होता है और नदियाँ ऋतुओं पर आधारित हैं। धान की खेती अधिकांश है क्योंकि धान ही उनका मुख्य खाद्य है। यद्यपि दक्षिण पूर्व एशिया में कच्चे माल का बाहुल्य है किन्तु उसके निर्यात हेतु पूर्ण व्यवस्था न होने के कारण वास्तविक आर्थिक लाभ नहीं हो पाता है। आज के युग में पश्चिमी देश और जापान दक्षिण पूर्व एशिया के कच्चे माल के अपेक्षी हैं। जनसंख्या वृद्धि ने दक्षिण पूर्व एशिया की आर्थिक स्थिति को असंतोष जनक बना दिया है।

राजनैतिक

दक्षिण पूर्व एशिया में योरोपीय देशों की अभिरुचि मार्कोपोलो (1254-1323) के लेखों से आरम्भ हुई। और 15 वीं शताब्दी के अन्त तक इन प्रतिविम्बों ने वास्तविकता का रूप धारण करना आरम्भ किया। 1498 में वास्कोडिगामा की भारतीय समुद्री यात्रा ने और अल्फांसोडि अल्बूकर्क (1453-1515) की एशिया में पुर्तगली साम्राज्य की स्थापना के द्वारा उपनिवेशवाद की नींव रखी गयी। पुर्तगालियों को दक्षिण पूर्व एशिया के व्यापार में सफल देखकर स्पेन ने भी दक्षिण पूर्व एशिया में पदार्पण करने का निश्चय किया।

16 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्पेन ने भी दक्षिण पूर्व एशिया में अपना प्रभाव क्षेत्र स्थापित किया। 17वीं शताब्दी में डच लोगों ने दक्षिण पूर्व एशिया पर अपना प्रभाव आरम्भ किया, और 18वीं शताब्दी के अन्त में ग्रेट ब्रिटेन ने दक्षिण पूर्व एशिया में पदार्पण किया।

इस प्रकार योरोपीय देशों के आगमन और शोषण ने दक्षिण पूर्व एशियाई देशों में राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न कर अंततः उपनिवेश के निर्गमन का मार्ग प्रशस्त किया।

राष्ट्रवाद का विकास

राष्ट्रवाद का सिद्धांत देशवासियों की जागृति में सामविष्ट है। राष्ट्रवाद का अर्थ देश की जनता का राष्ट्र के प्रति अनुराग एवं त्याग की भावना में निहित है। डा० सुन यात-सेन ने एशियाई राष्ट्रवाद की उचित व्याख्या की है। उन के अनुसार देशवासियों ने युगों तक केवल परिवार, जाति एवं समुदाय के प्रति निष्ठा व्यक्त की थी क्यों कि 'राष्ट्रवाद' की परिचायिकता का स्वरूप स्पष्ट ही नहीं था। परन्तु जब परिवार तथा समुदाय का त्याग कर देश के प्रति अनुराग उत्पन्न हो जाय, तो देश स्वयं में एक शक्ति बन जाता है। 1924 में डा०सुन यात-सेन का यह कथन अपने स्थान पर नितान्त

सत्य था ।

युरोपीयों के आगमन से पूर्व 'दक्षिण पूर्व एशिया' का राष्ट्रोचित वर्गीकरण न होकर धार्मिक, जातीयता एवं सांस्कृतिक वर्गीकरण था । शासन केवल परिवारों, स्थानीय नेताओं तथा परिषदों तक ही सीमित था । यद्यपि राजतन्त्र ने बृहद जनसंख्याओं को संगठित किया हुआ था, परन्तु यह राजतन्त्र केवल एक जातीय य नृजातीय वर्ग से सम्बन्धित था । दक्षिण पूर्व एशिया के शासकों ने मूल रूप से आत्मनिर्भर जनता, पर ही शासन किया जो स्वयं को राष्ट्र निवासी न समझकर स्थानीय समुदायों का भाग स्वीकार करते रहे ।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में चीन, ज़ापान और भारत ने एशियाई लोगों को नव समाज की कल्पना से उद्बोधित किया । यह उस समाज की कल्पना थी, जिसमें एशियाई निवासी युरोपीय दासता से मुक्त होकर स्वयं अपने समाज की रचना करने में सफल होते । निस्संदेह रूस-जापान युद्ध तथा डा० सुनयात-सेन एवं मोहनदास कर्मचन्द गांधी ने एशिया में राष्ट्रत्व की भावना को प्रतिबद्ध किया । उन्होंने आह्वान किया, कि एशिया के लोग अपना भाग्य निर्धारण स्वयं करेंगे, अपने शासन का चयन एवं समाज का निर्माण उनका अपना अधिकार होगा । इस प्रकार एशिया स्वतन्त्रता, स्वाधीनता तथा स्वशासन के प्रति जागरूक हुआ । दक्षिण पूर्व एशिया में राष्ट्रवाद के उदभव के कारणों को निम्नबद्ध किया जा सकता है :

1—शिक्षा एवं संस्कृति

दक्षिण पूर्व एशिया के प्रसार के साथ ही राष्ट्रीयता की भावना विकसित होने लगी । शिक्षा ही एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा बौद्धिक एवं नैतिक विकास सम्भव है । बौद्धिक विकास ही मानव की मानसिक चेतना में नवीन विचारों के सृजन का द्योतक है । जब भी परम्परावादी और रूढ़िवादी मान्यताओं तथा परम्पराओं को शिक्षा के द्वारा सिंचित किया जाता है नवचेतना, नव विचारधारा तथा नवमार्ग की प्राप्ति होती है । यद्यपि पश्चिमी शिक्षा एवं साहित्य ने दक्षिण पूर्व एशिया के राष्ट्रो में राजनैतिक भावना को जन्म देकर एक नव मार्ग प्रशस्त किया परन्तु इन देशों में शिक्षा का प्रसार अधिक विकसित नहीं हो पाया ।

इसका मुख्य कारण स्थानीय जनता का विदेशियों के धर्म एवं समाज के प्रति विरक्ति तथा उनका स्वयं का पिछड़ापन था । इसके उपरान्त भी नगरों में जहां शिक्षा का वातावरण बना वहां ग्रामीण जनता भी शिक्षा के

माध्यम से अत्यधिक लाभान्वित न हो सकी। इस प्रकार पश्चिमी शिक्षा दक्षिण पूर्व एशिया के देशों में अपना पूर्ण प्रभाव स्थापित किये बिना केवल मध्यमवर्गीय शिक्षित वर्ग को ही प्रेरित कर सकी। इसका एक मुख्य कारण दक्षिण पूर्ण एशिया की भौगोलिक स्थिति थी। विभिन्न देशों की भिन्न-भिन्न प्रशासनीय पद्धति इसका एक दूसरा कारण थी। विदेशी शासन ने अपनी स्व निर्मित पद्धति द्वारा अपने शासित प्रदेशों में शिक्षा एवं आधुनिकता के प्रति कभी कठोर और कभी उदार मापदण्ड रखा। इस प्रकार विदेशी शिक्षा एवं संस्कृति के द्वारा जो राजनैतिक एवं सांस्कृतिक नव चेतना का उदभव दक्षिण पूर्व एशिया में हुआ वह समानता तथा एकता को यथार्थ रूप से धारण न कर सका। तथापि शिक्षा ने स्थानीय नव-युवकों को राष्ट्रीय भावना के विकास में सहायता प्रदान की जिसके द्वारा विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न समयों पर राजनैतिक आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। इसके अतिरिक्त दक्षिण पूर्व एशिया के पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित परिवारों के युवा सदस्य यूरोप में उच्च शिक्षा हेतु गये वे जब स्वदेश आये तो वाल्तेयर रूसो, लॉक, जैफरसन एवं मार्क्स के क्रांतिकारी विचारों से ओत-प्रोत थे। अपने इन विचारों को यथार्थ रूप प्रदत्त करने हेतु वे उत्सुक थे।

शिक्षा के साथ-साथ दक्षिण पूर्व एशिया के इन देशों में विदेशी शासन ने स्थानीय लोगों में उनकी पुरातन संस्कृति एवं सभ्यता को पुनर्जीवित करने की भावना से प्रेरित किया। प्रत्येक देश अपनी पुरातन सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति सदैव जागरूक रहा है। ऐसी दशा में दक्षिण पूर्व एशियाई देशों में विरोधी शासकों ने उनके धर्म, समाज, संस्कृति और सभ्यता में हस्तक्षेप करना आरम्भ किया तो वहां की जनता अपने देश की खोयी हुयी गौरव गरिमा एवं सम्मान को पुनर्जीवित करने का सतत प्रयत्न करने लगी। इन देशों ने अपनी विस्मृत प्रतिष्ठित संस्कृति के आधार पर एवं आधुनिक शिक्षा से प्रेरणा प्राप्त कर अपनी राष्ट्रीयता की भावना को शिक्षा एवं संस्कृति के माध्यम से पल्लवित किया।

2–संचार साधन

यह भी एक विडम्बना थी, कि दक्षिण पूर्व एशिया में 'राष्ट्रत्व की भावना' का बीजारोपण पश्चिमी उपनिवेशवादियों ने किया। इसका अर्थ यह हुआ कि पश्चिमी देशों ने अपने-अपने उपनिवेशों में रेल मार्गों, यातायात के साधनों एवं संचारण सुविधाओं के द्वारा स्थानीय जनता में सह सम्बन्ध की भावना उत्पन्न की। संचार व्यवस्था ने दूरस्थ ग्रामों को भी एक दूसरे से

सम्पर्क स्थापित करने का अवसर प्रदान किया। अतः पारस्परिक सम्पर्क स्थापना ने भी एकता की भावना को प्रस्फुटित किया।

३—आर्थिक

किसी भी देश के शासन की सुदृढ़ता, सबलता एवं सम्पन्नता उस देश की आर्थिक स्थिति पर निर्भर है। इसमें किंचित मात्र भी सन्देह नहीं हैं कि प्रत्येक राष्ट्र को राजनैतिक, सामाजिक, सामरिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक नीति की जीवन रेखा उस देश अथवा राष्ट्र की आर्थिक सम्पन्नता पर निर्भर करती है। दक्षिण पूर्व एशिया में पश्चिमी देशों के प्रशासन ने वहां की जनता को आर्थिक सुविधाओं से वंचित कर वहाँ की अर्थ व्यवस्था का अपनी स्वार्थ-सिद्धि के साधन के रूप में उपयोग किया, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हिन्देशिया में डच सरकार द्वारा वहाँ के लोगों का प्रशासनिक पद्धति द्वारा आर्थिक शोषण था। इसी प्रकार अंग्रेजों ने वर्मा में तथा फ्रान्स ने हिन्द चीन में स्थानीय आर्थिक व्यवस्था को छिन्न भिन्न कर अपने देशों को आर्थिक लाभ पहुंचाया।

यद्यपि दक्षिण एशिया के देशों के साथ योरोपीय देशों के प्राथमिक सम्बन्ध व्यापारिक थे और यह सम्बन्ध पारस्परिक व्यापारिक उन्नति के लिए ही स्थापित हुए थे, परन्तु समय के साथ साथ आर्थिक शोषण और व्यापारिक विश्वासघात के द्वारा विदेशियों ने यहां अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित किया।

दक्षिण पूर्व एशिया के देश व्यापारिक उन्नति के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण थे क्योंकि यह क्षेत्र कच्चे मालों से परिपूर्ण था और यहाँ की उपज की विदेशों में अत्यधिक मांग थी। परन्तु इस क्षेत्र में उद्योग, आधुनिक तकनीकी शिक्षा का नितान्त अभाव था। पश्चिमी देशों ने उपर्युक्त अभाव का सहारा लेकर धीरे-धीरे अपने व्यापारिक साम्राज्य का विस्तार इस क्षेत्र में आरम्भ किया। समय के साथ इस क्षेत्र का पूर्ण व्यापार हस्तगत कर लिया गया। इस प्रकार दक्षिण पूर्व एशिया में व्यापारिक प्रभुत्व की स्थापना के पश्चात् विदेशियों ने अपने व्यापारिक सम्बन्धों को राजनैतिक और सामाजिक रूप में परिवर्तित करना प्रारम्भ कर दिया।

क्षेत्रीय आर्थिक दशा के अव्यवस्थित हो जाने के फलस्वरूप तथा राजनैतिक सत्ता विदेशियों को हस्तान्तरित हो जाने के कारण दक्षिण पूर्व एशिया के लोगों ने वर्षों कठोर यातनायें सहन की, परन्तु भाग्यचक्र परिवर्तन ने स्वयं इन यातनाओं से मुक्ति पाने हेतु विदेशी शिक्षा द्वारा गठित वर्ग विशेष

ने पुन: देशवासियों में स्वदेश स्वशासन एवं स्वराज्य की भावना को पुर्जीवित किया। नि:सन्देह विदेशियों की आर्थिकशोषण की नीति ने स्थानीय जन राष्ट्रीय भावना को स्वनिर्भर करने की प्रेरणा दी।

४–महान आर्थिक मन्दी एवं जनसाख्यँक विस्फोट

1930 की महान आर्थिक मन्दी (अवनति) ने सुधार की मांग को क्रांति की ललकार में परिर्वतित कर दिया। महान आर्थिक अवनति ने दक्षिण पूर्व एशिया के माल की मांग को प्राय: समाप्त कर दिया। रबर, टिन, तेल तथा चावल की अकस्मात कीमतों की गिरावट ने कृषकों एवं श्रमिकों को महान आघात पहुंचाया।

आर्थिक विपत्ति का स्वरूप जनसंख्या की अपार वृद्धि के कारण और अधिक प्रकोपिक हो गया था। दक्षिण-पूर्व एशिया की जनसख्या में औपनिवेशिक शासन के मध्य आकस्मिक रूप से वृद्धि हुई थी। 1830 में सम्पूर्ण क्षेत्र की संख्या 25·8 मिलियन थी, परन्तु 1930 में यह 150 मिलियन हो गई। अन्य एशियाई देशों की तुलना में यह कहीं अधिक थी। निम्नलिखित तालिका से यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है।

क्षेत्र	1830 से 1930 तक की जनसंख्या वृद्धि प्रतिशत में
दक्षिण-पूर्व एशिया	570 प्रतिशत
भारत और जापान	300 प्रतिशत
चीन	200 प्रतिशत

अत: इस प्रकार की स्थिति ने बेरोजगारी, गरीबी, भुखमरी तथा इससे संलग्न सामाजिक कुरीतियों को विकसित किया। इन परिस्थितयों में दक्षिण पूर्व एशिया में शासन परिवर्तन की मांग समयानुकूल थी, परन्तु आर्थिक मन्दी के कारण किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं था। परिणामस्वरूप हड़तालें वहिष्कार, एवं हिंसात्मक उपद्रव होने लगे। वातावरण ने राष्ट्रवादियों को क्रान्तिकारी बना दिया और सोवियत रूस ने इसमें सहयोग दिया। 1917 की रूस की क्रान्ति ने 'कार्ल मार्क्स' तथा 'लेनिन' के सिद्धान्तों

की ओर जनता को आर्कषित किया। लेनिन का कथन था, कि पश्चिमी उपनिवेशवाद सर्वहारा वर्ग था और योरोपीय शासक पूंजीवाद के द्योतक थे। सोवियत रूस ने दक्षिण पूर्व एशियाई क्रान्तिकारियों को पूर्ण रूपेण प्रशिक्षण देने का आवाहन किया।

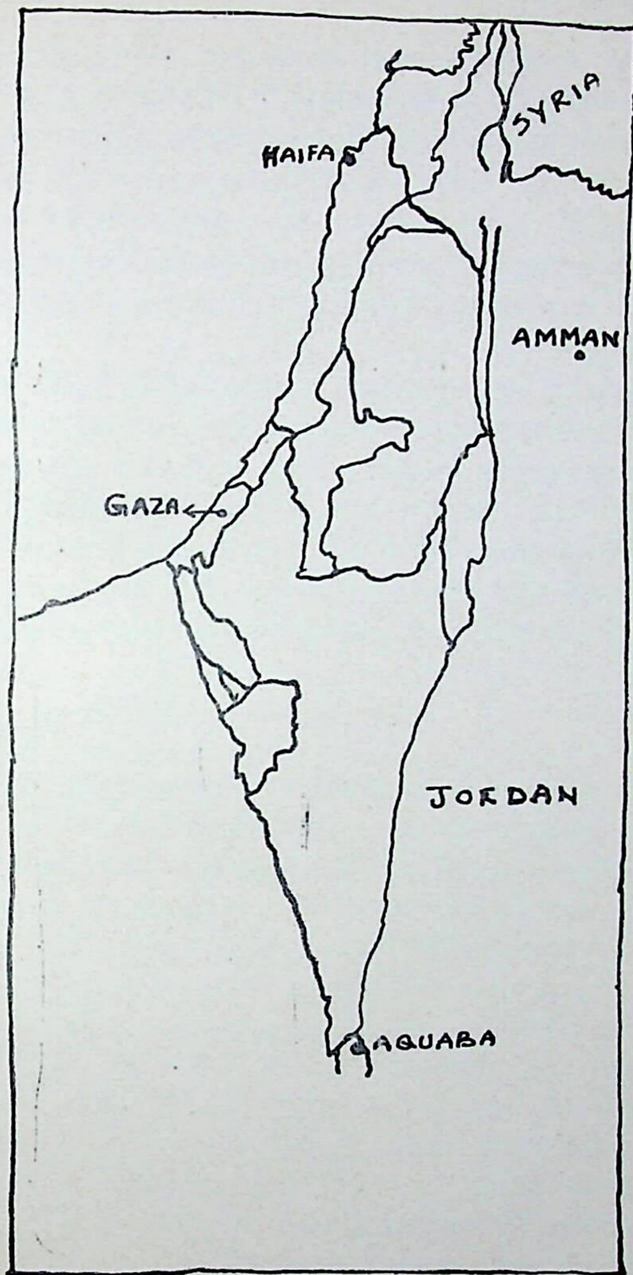
विदेशी प्रभाव

विश्व के अन्यान्य क्षेत्रों की क्रान्ति का प्रभाव तत्काल अथवा शनैः शनैः सदैव निकट एवं सुदूर क्षेत्रों पर पड़ता रहा है। इस प्रकार विश्व में घटित राष्ट्रीय एवं क्रान्तिकारी घटनाओं ने सम्पूर्ण एशिया की राष्ट्रीय भावना को सक्रिय रूप से प्रभावित किया। सर्वप्रथम भारत में 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना एवं 1906 में स्वराज्य की मांग ने दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों को आत्मबल प्रदान किया। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन ने दक्षिण पूर्व एशिया के राष्ट्रवादियों में नवीन विचारधारा तथा कार्यक्रमों का समावेश किया। परन्तु 1904–1905 के रूस जापान युद्ध ने सम्पूर्ण एशिया को सुप्त अवस्था से जागृत कर एशियाई लोगों में एक नये उत्साह, विश्वास और आत्मबल को जन्म दिया। रूस-जापान युद्ध ने एशिया की जनता को इस तथ्य से अवगत कराया, कि संगठन एवं स्वदेशी एकता के द्वारा किसी भी विदेशी शासन का सामना किया जा सकता था। निःसन्देह रूस-जापान युद्ध ने पूर्ण एशिया में नवीन आत्मबल आत्मशक्ति और नवचेतना के अपूर्व समन्वय के द्वारा स्थानीय जनता को प्रोत्साहन प्रदान किया।

इसके अतिरिक्त चीन में घटित घटनाओं ने भी दक्षिण पूर्ण एशिया के राष्ट्रवादियों एवं जनता को अपने देश के कर्त्तव्यों के प्रति सजग किया। डा० सुनयात-सेन के क्रान्तिकारी कार्यों एवं विचारधाराओं ने स्थानीय राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन दिया। 1911 में हुई चीन की क्रान्ति ने दक्षिण पूर्व एशिया में राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक शोषण के विरुद्ध क्रान्ति का सन्देश दिया। इसी प्रकार 1917 की रूसी क्रान्ति ने भी एशिया के इस क्षेत्र के लोगों में अपने देश के प्रति संजगता तथा विदेशी शासन के विरुद्ध क्रान्ति के मार्गको प्रशस्त किया। इन समस्त उपर्युक्त घटनाओं ने दक्षिण पूर्व एशिया के राष्ट्रीय आन्दोलनों को नवीन शक्ति प्रदान की तथा आन्दोलनकारियों में देश के प्रति नवीन विचारधारा का संचार किया।

४–राजनैतिक

दक्षिण पूर्व एशिया में शैक्षिक और आर्थिक विकास ने राष्ट्रीयता की



PALESTINE

फिलीस्तीन

भावना का उद्भव किया परन्तु पश्चिमी शिक्षात्मक राजनैतिक आन्दोलन एवं क्रान्तियों ने स्थानीय लोगों की विचारधाराओं को विशेष सहयोग प्रदान किया। इसमें ब्रिटेन के संवैधानिक आन्दोलन, अमरीका के स्वतन्त्रता संग्राम एवं फ्रान्स की क्रान्ति का महत्वपूर्ण योगदान रहा। उपर्युक्त घटनाओं के अध्ययन ने तथा ब्रिटेन, अमरीका एवं फ्रान्स के क्रान्तिकारी एवं उदारवादी साहित्य के अध्ययन ने न केवल दक्षिण पूर्व एशिया के राष्ट्रवादियों में नवीन विचारधाराओं को जन्म दिया, अपितु राजनैतिक स्वतन्त्रता की भी नींव रखी।

इस प्रकार यूरोप एवं अमरीका के संवैधानिक तथा उत्तरवादी सरकारी तन्त्र की पद्धति से प्रभावित एवं प्रोत्साहित होकर दक्षिण पूर्व एशिया के राजनेताओं ने अपने देश में राजनैतिक सुधारों की मांग की आवाज उठाई। वे यूरोपीय शासन पद्धति की भांति अपने अपने क्षेत्रों में भी उसी प्रकार के उदारवादी शासन के इच्छुक थे। उन्होंने विदेशी शासन से अपने क्षेत्र में सुधार एवं सुविधायें प्रदान करने का आग्रह किया परन्तु उनकी मांगो की असफलता के परिणामस्वरूप स्थानीय राष्ट्रवाद एवं क्रान्ति का जन्म हुआ।

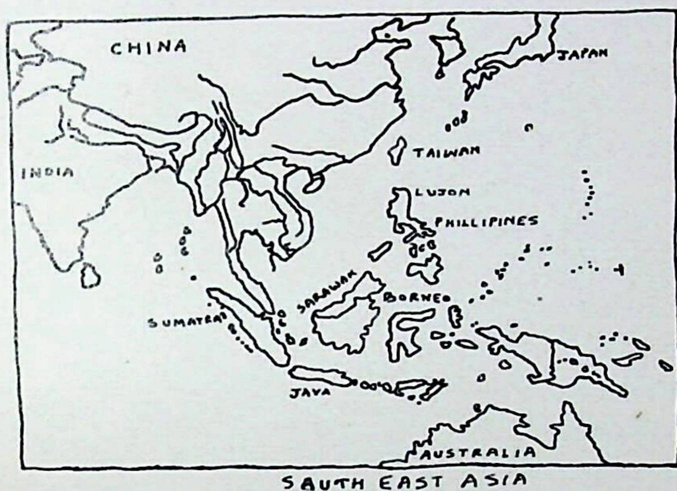
५—साहित्य

दक्षिण पूर्व एशिया के लोगों ने विदेशी साहित्य से परिचय प्राप्त कर अपने राष्ट्रीय आन्दोलन को सक्रिय रूप देकर प्रगति के पथ पर अग्रसरित किया। राष्ट्रवादियों ने 'जान स्टुअर्ट मिल' के साहित्य का अध्ययन किया तो उन्हें स्वतन्त्रता के महत्व का ज्ञान हुआ। इसके अतिरिक्त रूसो, मांटेस्क्यू, वाल्टेयर, टॉलस्टाय, विक्टर ह्यूगो, महात्मा गांधी, अनातोले फ्रान्स, गेटे तथा कार्ल मार्क्स के अध्ययन ने राष्ट्रवादियों को गहन निद्रा से जगाकर तथा अज्ञान के तिमिर का नाश कर उनके ज्ञानचक्षु खोल दिये। इसके अतिरिक्त शेक्सपियर की देशप्रेम की इन भावनात्मक पंक्तियों ने 'कि इंगलैण्ड कदापि किसी गर्वित विजेता के पदों पर नहीं झुका है, और न ही कभी झुकेगा, स्थानीय लोगों में देशप्रेम की भावना को और अधिक त्वरित किया। उपर्युक्त साहित्य ने लोगों का आत्म मन्थन कर राष्ट्रप्रेम की भावना से अभिभूत कर दिया। दक्षिण पूर्व एशिया के निवासियों को प्रथम बार राष्ट्रवाद, स्वतन्त्रता एवं अपने अधिकारों का बोध हुआ। इस प्रकार दक्षिण पूर्व एशिया में राष्ट्रप्रेम से ओत-प्रोत नीतियों के द्वारा गठित राष्ट्रवाद अपने अपने क्षेत्रों में अपने-अपने स्वरूप में व्यक्त हुआ।

दक्षिण पूर्व एशिया में राष्ट्रवाद को उपर्युक्त समस्त तथ्यों ने धवनपथ निर्मित करने का अवसर दिया परन्तु वस्तुतः राष्ट्रीय उड़ान का अन्तिम चरण द्वितीय विश्व युद्ध ने पूर्ण किया। जापानी अधिपत्य ने दक्षिण पूर्व एशिया के राष्ट्रवाद को प्रज्वलित कर अपने निष्क्रमण के साथ ही स्वधीनता की दुंदुभि बजा दी।

पश्चिमी देशों के शासन ने दक्षिण पूर्व एशिया की राष्ट्र भावना के विकास में सक्रिय योगदान दिया। पश्चिमी शासन ने इस क्षेत्र में राष्ट्रीयता से ओतप्रोत क्रान्ति का वातावरण बनाया। इसका यह तात्पर्य नहीं है, कि पश्चिमी शासन ने अपने ही विरुद्ध राष्ट्र कान्ति का ताना बाना बुना। परन्तु पश्चिमी शासन के द्वारा लाये गए राजनैतिक आर्थिक, सामाजिक एवं शैक्षिक प्रगति ने दक्षिण पूर्व एशियाई देशों में राष्ट्रजागरण को उद्वेलित किया। इन देशों के लिए केवल पश्चिमी शासन का विरोध ही एक मात्र ध्येय नहीं था, अपितु पुरातनवादी, परम्परावादी तथा रुढ़िवादी तिमिर का नाश कर आधुनिक शिक्षा के प्रसार को प्रभावित करना ही इन देशों का प्रमुख उद्देश्य था। दक्षिण पूर्व एशिया के निवासी और विशेष कर शिक्षित वर्ग इस तथ्य से भली भांति परिचित थे कि अशिक्षा के वातावरण में क्रान्ति का उपदेश निरर्थक था। निःसन्देह शिक्षा के प्रसार के द्वारा ही वे सुरक्षित, सुसंगठित एवं सशक्त होकर अपने अपने देशों से प्रचलित विदेशीशासन के विरुद्ध कार्य कर सकते थे। यह सत्य है कि किसी भी क्रान्ति के लिए सामाजिक, शैक्षिक अथवा राजनैतिक परिपक्वतता अनिवार्य है।

इस प्रकार दक्षिण पूर्व एशिया के राजनैतिक एवं क्रान्तिकारी नेताओं ने सर्वप्रथम अपने देशवासियों को मध्य युग से आधुनिक युग में लाने का अथक प्रयास किया। उनके इस कार्य में विदेशी शासन ने अप्रत्यक्ष रूप से योगदान दिया। स्थानीय लोगों को एक बार राष्ट्रीयता का मार्ग प्रदर्शित हो जाने के साथ ही दक्षिण पूर्व एशिया अपनी राष्ट्र क्रान्ति के पथ पर अग्रसर हुआ।



SAUTH EAST ASIA

दक्षिण पूर्व एशिया

अध्याय 14

बर्मा

बर्मा जिसका पूर्ण क्षेत्र 261,760 वर्ग मील है, भारत और बंगला देश के पूर्व में और चीन के दक्षिण पश्चिम में स्थित है। बर्मा का सागरीय तट बंगाल की खाड़ी तथा अंडमान सागर की ओर सम्मुखित है।

दसवीं शताब्दी से बर्मा का इतिहास बहुत महत्वपूर्ण है। पगान राज्य-वंश 11वीं शताब्दी से 13वीं शताब्दी तक रहा। इस समय बर्मी शासक 'अनाहवृत' ने बर्मी राज्य को संघटित कर बुद्ध धर्म का समावेश किया। पगान शासनकाल को बर्मा का स्वर्ण युग कहा जाता है। इस समय भारतीय सभ्यता ने बर्मा को प्रभावित किया। 1287 में मंगोल आक्रमणकारियों ने इस राज्यवंश का अन्त कर सैनिक और राजनैतिक शक्ति को ध्वंश कर दिया।

आगामी दो शताब्दियों में 'शान राजवंश' ने अपना साम्राज्य बनाने की चेष्टा की। परन्तु आंतरिक संघर्ष के कारण यह एकता के सूत्र में न बंध सके। 16वीं शताब्दी में 'टुंगू राज्यवंश' ने बर्मा को पुनः एक शासक के अधीन किया। 17वीं शताब्दी में इस राज्यवंश का अन्त हुआ और बर्मा पुनः जातीयता का संघर्ष स्थल बन गया। 18वीं शताब्दी में 'औलांगपाया' बर्मा का तृतीय शासक था जिसने पुनः राज्य का संगठन किया। 19वीं शताब्दी के आरम्भ में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी और बर्मा भारत और अराकान के सीमा विवाद ने तथा असम और मनीपुर में प्रभाव क्षेत्र स्थापित करने हेतु दोनों शक्तियों को युद्ध ग्रस्त कर दिया। अन्ततः 1824 से लेकर तीन आंग्ल-बर्मी युद्धों ने 1885-86 में अंग्रेजी प्रभुत्व को स्थापित किया। अंग्रेजी शासन ने शनै-शनै बर्मा में अपनी उपनिवेशिक नीतियों के द्वारा आक्रोश की भावना को जन्म दिया।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन

बर्मा की सरकार 120 नृजातीय वर्गों को मान्यता देती है। इन वर्गों

में प्रत्येक की अपनी भाषा और स्वयं का एक इतिहास है। बर्मी जनसंख्या का 75% बर्मा का जातीय वर्ग हैं। ये लोग तिब्बत के मूल निवासी थे और इरावदी नदी के डेल्टा पर दसवीं शताब्दी से पूर्व आवास रत हुये। बर्मा के इस वर्ग की सामाजिक संस्था में स्त्रियों का स्थान पुरुषों की अपेक्षा नीचे माना जाता था। इसके उपरान्त भी बर्मा में स्त्रियों को भारत और चीन की स्त्रियों की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त थे। वे विवाह पश्चात् अपना नाम भी रखती थी और सम्बन्ध विच्छेद के पश्चात् माता पिता के घर वापिस आ सकती थीं।

बर्मा के 80 प्रतिशत निवासी ग्राम निवासी हैं और बाँस की परिधि से स्वयं की सुरक्षा का प्रबन्ध करते है। बाढ़ आने के भय के कारण मकानों में अधिक सामान नहीं रहता। बर्मा के मूल निवासी अपने पारिवारिक एवं कुल नाम को अपने नाम के साथ नहीं जोड़ते। इस के स्थान पर 'ऊ' पुरुषों के लिए तथा 'दाओ' स्त्रियों के लिए प्रयोगित सम्मानित शब्द हैं अनौपचारिक रूप से पुरुष स्वयं को 'मांङ्ग' तथा स्त्रियां 'मा' कहलाना पसन्द करती हैं।

बर्मा के नृजातीय एवं जातीय वर्गीकरण में दूसरा स्थान 'करेन' जाति का है। यह मूल जनसंख्या के 11 प्रतिशत हैं। करेन लोग पर्वतीय क्षेत्र के लोग हैं और केवल पिछली शताब्दी से तनेसरम के क्षेत्र में चावल की खेती करने लगे हैं। 19वीं शताब्दी के आरम्भ में करेन्स ने अंग्रेजों को बर्मा पर विजय पाने में सहायता दी। अधिकतर करेन 1951 में स्थापित कौथुले प्रदेश (राज्य) में रहने लगे थे।

बर्मा में दूसरी मुख्य अल्पसंख्यक 'शान' जाति है। यह लोग जनसंख्या के 8 प्रतिशत हैं। 'शान' लोग 13वी शताब्दी में दक्षिण चीन से आये थे और यह थाई लोगों से सम्बन्धित हैं। इनकी भाषा थाई है परन्तु लिपि बर्मी है। अंग्रेजों के आने से पूर्व शान लोग 36 पृथक राज्यों में विभक्त थे। उन्होंने अंग्रेजों की सहायता की थी। जिसके फलस्वरूप अंग्रेजों ने उपनिवेश काल में शान लोगों को अपने छोटे 2 राज्य बनाये रखने की अनुमति दी थी। शान लोगों ने अपनी पैतृक सरकारें 1959 तक बनाये रखी, तत्पश्चात् केन्द्रीय बर्मा सरकार ने उनको भंग कर दिया।

बर्मा की तृतीय मुख्य अल्पसंख्यक जाति 'अराकान' वर्ग है। ये लोग कुल जनसंख्या का तीन प्रतिशत हैं। आराकान लोग उत्तरी पश्चिमी बर्मा के पर्वतीय क्षेत्र में चौथी शताब्दी से रह रहे थे। इन लोगों के भारत और बंगला देश से सशक्त सम्बन्ध थे यद्यपि उनकी भाषा और संस्कृति बर्मी है।

19वीं शताब्दी में बर्मी लोगों ने इस जाति का नरसंहार कर 5 लाख से एक लाख कर दिया। इस नरहत्या के कारण ही अंग्रेजों ने बर्मा पर अपना नियन्त्रण किया था। इन लोगों के आन्तरिक अन्य लघु नृजातीय वर्ग बर्मा में हैं।

बर्मा में चीनी और भारतीय जन समुदाय बड़ी काफी संख्या में थे। द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व भारतीय जनसंख्या दस लाख तक पहुंच गयी, परन्तु युद्ध प्रारम्भ होने के साथ ही भारतीय बर्मा से पलायन करने लगे। शेष पलायक भारतीयों की संख्या लगभग चार लाख थी। चार लाख लोगों को, 1960 में सरकार द्वारा भूमि और व्यापार अधिग्रहण कर निकाल दिया गया। इससे पूर्व अवर (लोअर) बर्मा की लगभग 40 प्रतिशत भूमि और अधिकांश व्यापार दक्षिण भारत की एक वैश्य उपजाति चैटियार के अधीन था। वर्तमान वर्षों में बर्मा ने चीनी मूल वासियों से भी कटुता का व्यवहार किया। आज कल बर्मा में चीनी अल्प संख्यक लोगों की संख्या 4 लाख के आस-पास है जो पहले वर्षों की अपेक्षा सर्वाधिक है। बर्मावासियों ने एतिहासिक रूप से बाहरी देशों के प्रभाव से अपने आपको बचाये रक्खा है यहां के लोग अधिकांश विदेशी लोगों को 'काला' नाम से सम्बोधित करते हैं।

धार्मिक

लगभग 80 प्रतिशत बर्मी लोग थेरवादी बौद्ध हैं। यद्यपि सभी लोग अपने धर्म का नैमित्तिक रूप से पालन नहीं करते, अधिकांश बर्मी घरों में बौद्ध मन्दिर है, और पीत वस्त्रधारी भिक्षुक भी सर्वत्र देखने को मिलते हैं। अधिकांश लोग ईसाइयों के 'सबाथ दिवस' पद्धति की भांति माह में चार बार 'कर्तव्य निर्वाह दिवस' मनाते हैं। पगोडा मन्दिरों के शिखर ग्रामों एवं नगरों में स्पष्ट दिखते हैं। 'पगोडा' त्योहार की धूम धाम गांव और शहरों में काफी रहती है। बर्मा में निर्मित 1753 का सर्वप्रसिद्ध मन्दिर स्वर्ण शिखर का है जिसका नाम श्वेदेगन पगोडा है। इस के चारों ओर रंगून नगर की स्थापना की गई थी।

बर्मा के थेरावादी बौद्धों की कोई केन्द्रीय बौद्ध संघ तथा समान न्याय व्यवस्था नहीं है। जनता अपने धर्म का पालन 8 लाख बौद्ध भिक्षुकों को दान देकर करती थी जो प्रातः काल ही भिक्षाटन करते थे। अधिकतर लोग पगोडा मन्दिरों में ही दान कर देते थे। अधिकांश सार्वजनिक क्रियाओं में बौद्धता का प्रभाव था। अंग्रेजों के आगमन तक, बौद्ध धर्म राष्ट्रीय अधिकारिक धर्म था। समयानुसार इस में परिवर्तन आने

लगा । अंग्रेजी शासन में धर्म और शासन को अलग किया गया और बौद्धिक मातृवाद संघ की स्थापना व्यक्तिगत योगदान हेतु प्रारम्भ की गई । इस क्रिया के कारण उत्तेजित होकर बौद्ध भिक्षुक राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रविष्ट हो गये। बर्मा के नव प्रधान मंत्री 'ऊ नु' यह दिखाना चाहते थे कि बर्मा अन्तराष्ट्रीय बौद्धता का केन्द्र था और 1954-56 में उन्होंने रंगून में 'षष्ठ महाबुद्ध परिषद' का आयोजन किया । 1961 में ऊ नू ने बौद्ध धर्म को राष्ट्रीय धर्म के रूप में पुर्नस्थापित किया । यही कार्य ऊ नू के पतन का मुख्य कारण बना क्योंकि धार्मिक अल्पमतीय लोग इस कदम से क्रोधित हो गये । एक वर्ष पश्चात् ही बर्मा सरकार से बौद्ध धर्म को अलग कर दिया गया ।

अधिकांशतया् प्रत्येक युवा बर्मी तीन माह बौद्ध विहार में रहता था । वह अपने परम्परागत कपड़ो को पीले वस्त्रों से बदलता था सिर मुड़ाता था और "शिन्बू प्रथा" में धर्म के प्रति प्रतिज्ञा करते थे । बौद्धओं कन्याओं हेतु भी यह समान प्रथा थी जिसे "नातविन" कहते थे । जिसमें कर्ण भेदन और भिक्षुकाओं से यह प्रतिज्ञा करायी जाती थी कि वह इसके प्रति आस्था रखेगीं । ईसाई धर्म बर्मा में बहुत सीमित है और मुख्यतया करेन जाति में है। इनमें से 15 प्रतिशत लोगों का अमरीकी याजकीय वर्ग ने उन्नीसवें दशक के अन्त में धर्म परिवर्तन किया । ईसाई धर्म में भी प्राचीन प्रचलनों (प्रकृति पूजा) का व्यापक प्रभाव है । यद्यपि बौद्धवाद शासकीय रूप से इस प्रकृति पूजा का विरोध करता है परन्तु बौद्ध साहित्य में इसका कुछ वर्णन है । इसी प्रकार अराकान पहाड़ियों में रहने वाले मुसलमानों में भी प्रकृति पूजा का प्रभाव है ।

शैक्षिक

लगभग 72 प्रतिशत पुरुष और 22 प्रतिशत बर्मी महिलायें शिक्षित हैं । इस अपेक्षाकृत उन्नव साक्षरता का श्रेय बर्मी मठों को हैं । बौद्ध भिक्षुक अधिकांश जनसंख्या हेतु 1963 तक शिक्षा का प्रबन्ध करते थे । इसके पश्चात् सरकार ने धार्मिक और व्यक्तिगत शिक्षण संस्थाओं का राष्ट्रीयकरण कर दिया ।

विद्यालयों के राष्ट्रीयकरण के कई कारण थे । इनमें सर्वप्रमुख कारण बर्मा में राष्ट्रवाद के प्रति सचेतता लाना था । नवीन सार्वजनिक विद्यालयों के द्वारा सरकार को व्यापक समर्थन भी प्राप्त हुआ । नियमों द्वारा अध्यापकों को विद्यार्थियों से राजनैतिक नारे दोहराने और राष्ट्रीय सरकारीय नीतियों के समर्थन के लिये जोर दिया गया । इन स्कूलों के द्वारा बर्मा से निष्कासित

भारतीय और चीनी तकनीकियों की जगह बर्मा वासियों को रखने का प्रयास किया गया। प्रथम बार एक राष्ट्रीय पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया जिससे यह आशा की गई कि नितान्त आवश्यक तकनीकी एवं प्रशासकीय प्रतिभा को प्रोत्साहन मिलेगा। स्कूलों का राष्ट्रीयकरण अनेक कारणों के द्वारा हुआ, जिसमें सर्वाधिक मुख्य नवीन बर्मा राष्ट्र के प्रति सचेतनता उत्पन्न करना था। नवीन सार्वजनिक स्कूलों के द्वारा शासन को लोकप्रिय सहयोग प्राप्त हुआ। शासकीय नियमों ने अध्यापकों को छात्रों पर राजनैतिक अंकुश रखने का प्राविधान किया। इन शिक्षा संस्थानों में भारतीय और चीनी निपुण अध्यापकों के स्थान पर बर्मी लोगों को लाने का प्रयत्न किया गया।

स्कूलों के राष्ट्रीयकरण ने प्रथम बार बर्मी भाषा के प्रयोग का अवसर दिया। बर्मी भाषा ने पाठशाला में अंग्रेजी तथा अन्य बौद्ध भिक्षुकों द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं को भी बर्मी भाषा के द्वारा परिवर्तित किया। लगभग 75 प्रतिशत लोग बर्मी भाषा समझते हैं और 25 प्रतिशत लोग अपनी भाषा बोलते हैं। नृजातीय वर्गों ने केवल बर्मी भाषा के प्रयोग का विरोध किया; परन्तु एक भाषी प्राविधान ने देश में संचारण की सुविधा प्रदान की। 1966 में सरकार ने आधारभूत शिक्षा अधिनियम पारित किया इसके प्राविधानों द्वारा नवीन विद्यालय प्रणाली को प्राथमिक, माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा से विभाजित किया गया 8 वीं श्रेणी तक की शिक्षा को अनिवार्य घोषित किया गया। 1974 तक इस शिक्षा प्रणाली द्वारा 36 लाख छात्रों का माध्यमिक कक्षा में प्रवेश किया गया और महाविद्यालयों व विश्व विद्यालयों में छात्रों की संख्या 86 हजार तक थी। निःसंदेह सरकार ने शिक्षा के क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति की, परन्तु फिर भी वाह्य व्यक्तियों के लिये इस प्रगति का मापन कठिन कार्य था। राष्ट्र की कुल आय का दो प्रतिशत से कुछ अधिक ही शिक्षा में व्यय किया जाता था। 1960 में बर्मी शिक्षा क्षेत्र में अवनति प्रारम्भ हुई जब इस क्षेत्र से विदेशियों का बहिष्कार किया गया। इसके अतिरिक्त पाठ्यक्रम पुस्तकों तथा अन्य नवीन पुस्तकों का अभाव था और पाठ्यक्रमों में सामान्यतया राजनैतिक विचार प्रतिपादित होते थे। परन्तु फिर भी राष्ट्र की प्रथम सार्वजनिक विद्यालय प्रथा एक बड़ी उपलब्धि थी।

सरकार को यह आशा थी कि शिक्षा संस्थाओं, प्रेस, रेडियों तथा हजारों कमेटियों का नियंत्रण पाकर सरकार जनता को राजनैतिक रूप से और अधिक परिपक्व बना देगी। सर्वत्र सरकार ने बर्मी रीति-रिवाजों का

महत्व प्रतिपादित किया। और अंग्रेजों द्वारा किये गये कार्यों को निम्न ठहराया। इस कार्य को सम्पादित करने हेतु बर्मी कलाकारों और लेखकों का सहयोग प्राप्त किया गया।

उपनिवेशवाद के कुप्रभावों ने बर्मी बुद्धिजीवी वर्ग को उत्तेजित किया। जैसे अंग्रेजों के आने से पूर्व मान्डले का दरबार चित्रकला, संगीत, नृत्य और मूर्तिकला का मुख्य केन्द्र था। भारतीय सिद्धान्तों को ग्रहण करते हुए बर्मा ने अपनी धार्मिक निर्माण कला की स्थापना की। अपनीं एक अलग और अदभूत शैली प्रतिपादित की। स्थापत्य कला की सर्वोच्च पराकाष्ठा पगोडा मन्दिरो द्वारा प्रतिष्ठित हुई, जिसका प्रसार सम्पूर्ण राष्ट्र में हुआ। ये कलात्मक कारीगरी का उत्क्रष्ट नमूना थी। इनमें बौद्ध मूर्तियों की अधिकता थी। जिसके अधिकांश अवशेष अभी भी विद्यमान हैं। परन्तु अन्य काष्ठ निर्मित प्राचीन भवन लगभग नष्टप्राय है। अंग्रेजों ने लकड़ी के प्रयोग को बन्द करवा दिया और रोम की निर्माण शैली को राजकीय भवनों के द्वारा प्रस्तुत किया। जब अंग्रेजों ने अपनी राजशाही का अन्त किया तो अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने बर्मी कला को भी समाप्त किया।

सांस्कृतिक पुर्नजागरण के क्षेत्र में बर्मी लोग संगीत और नृत्य के क्षेत्र में विशेष रूप से बुद्धि सम्पन्न होते हैं। इस कला का समावेश बर्मी लोगों ने थाई लोगों से किया है। बर्मियों के पास अपने पारम्परिक वाद्य यंत्र भी हैं। बर्मी भारतीय महाकाव्य रामायण पर आधारित कठपुतली के दृश्यों का भी आनन्द लेते है, जिसमें भगवान राम, उनकी पत्नी तथा उनके शत्रु व भक्तों का वर्णन है।

उप निवेशिक काल से पूर्व बर्मा अपने रेशम उत्पादन के लिए प्रसिद्ध था जिसका उत्पादन गृह और व्यवसायिक उद्योगों द्वारा किया जाता था। अंग्रेजों के अपने वस्त्र उद्योग के आयात से यह उद्योग भी बन्द हो गया अब बर्मा में कताई रंगाई तथा काष्ठ शिल्प केन्द्रों की स्थापना की गयी है। एक समय वर्मा की काष्ठकला सार्वजनिक भवनों में छाई रहती थी, उपनिवेशिक काल में काष्ठ कलाकार उद्योग की सीमितिता के कारण कार्य विहीन हो गये। वे तांबा, सोना, चाँदी का कार्य भी करते थे। उनके द्वारा निर्मित मूर्ति कला और आभूषणों की संसार भर में प्रशंसा की जाती थी।

राज तंत्र के दिनों में बौद्ध भिक्षुको ने ही बर्मा के समस्त साहित्य की संरचना की। बर्मी लेखकों ने केवल उन्नीसवी सदी के अन्त में ही आधुनिक उपन्यासों की रचना प्रारम्भ की। 1920 में रंगून विश्वविद्यालय की स्थापना की गयी और इसके संकायों में अनुवाद तथा नई कृतियों को बनाने

हेतु प्रोत्साहन दिया गया। समकालीन लेखकों ने पूर्ववर्ती धार्मिक लेखकों के लेखों को सहज बनाना प्रारम्भ किया तथा अंग्रेजी साहित्य को एक आदर्श के रूप में लिया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व बर्मी साहित्य पाश्चात्य देशों के उग्रवादी प्रभाव के कारण अत्यधिक राजनैतिक हो गया था; वर्तमान समय में अधिकांश लोकप्रिय लेखक स्वयं को मार्क्सवादी या साम्यवादी कहते थे।

बर्मा में ब्रिटिश शासन

बर्मा में ब्रिटिश (अंग्रेजों) रुचि बंगाल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के साथ ही प्रारम्भ हुई। 1784 में जब बर्मा नें अराकान को हस्तगत कर लिया तो अराकान निवासियों ने पूर्वी बंगाल की ओर पलायन किया। 1785 से 1824 के मध्य बर्मी सैनिक अभियान प्रायः "अराकान सीमा के भीतर होने लगे। ये अभियान कभी अंग्रेजी कम्पनी के द्वारा स्वीकृति प्राप्त होते थे और कभी बिना स्वीकृति के भी होने लगे। इसके अतिरिक्त 1817 से 1822 के मध्य बर्मा ने असम से उत्तर पूर्वी बंगाल तक विजय प्राप्त कर स्वयं को ब्रिटिश कम्पनी के लिये संकट सूचक बना लिया। अंग्रेजों ने बर्मा के सीमा विस्तार को भविष्य के प्रति संकट चेतावनी समझ कर सीमाबद्ध करने का प्रयास आरम्भ किया।

1824 में प्रथम आंग्ल-बर्मा युद्ध प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भिक चरण में अंग्रेजों ने रंगून पर अधिकार कर इरावदी नदी तक सीमा प्रवेश किया। 1826 तक ब्रिटिश भारतीय सेना ने 'आवा' में बर्मी शासक 'बागदो' को आतंकित कर 'यान्दबू की सन्धि' करने पर विवश कर दिया। इस प्रथम आँग्ल-बर्मा युद्ध की दो बातें उल्लेखनीय हैं।

प्रथम बर्मा के सेनापति 'महा बेण्डूला' (बन्दूला) का साहस, वीरता, त्याग, देश प्रेम एवं बलिदान तथा दूसरा ब्रिटिश भारतीय सेना का अत्यन्त दुष्कर परिस्थितियों में युद्धरत होना।

तथापि 'यान्दबू की संधि' के द्वारा बर्मा को 'अराकान' 'असम' तथा 'तेनसरिम' के क्षेत्र अंग्रेजों को प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त क्षतिपूर्ति धनराशि, व्यापारिक संधि एवं 'आवा' में अंग्रेज (ब्रिटिश) प्रतिनिधि रखने की व्यवस्था निहित थी। 1826 से लेकर 1837 तक आँग्ल-बर्मा संबंध गति परिवर्तन में रहे।

1837 में थारावादी के सिंहासनारूढ़ होने के साथ ही सम्बन्ध ह्रास में प्रगति ही होती रही। इसकी पराकाष्ठा का स्वरूप 'यान्दबू की संधि' के परित्याग तथा 1840 में ब्रिटिश रेजिडेंट के निष्कासन व प्रत्याहार के द्वारा

प्रस्तुत हुआ। तत्पश्चात रंगून में स्थित ब्रिटिश निवासी को संत्रस्त किया जाने लगा और इसकी सूचना कम्पनी को कलकत्ता में व्यापक रूप से पहुँचने लगी। 1845 में थारावादी के पुत्र 'पगान मिन' ने शासन की बागडोर संभाली। पगान के शासन काल में अंग्रेजों के साथ सम्बन्धों की अवनति में प्रगति हुई। इसकी चरमसीमा दो कारणों द्वारा हुई। प्रथम 'पगान मिन' द्वारा नियुक्त 'पेगू' के राज्यपाल 'माँङ्ग ओक' की शोषणकारी नीति, तथा द्वितीय 1851 में दो ब्रिटिश जलपोत कैप्टनों (मोनार्क पोत के कैप्टन शैप्पर्ड तथा चैम्पयिन पोत के कैप्टन लुईस) से मिथ्या आरोपों द्वारा धन प्राप्त करने की अनाधिकार चेष्टा थी।

अत: 1852 में भारतीय महाराज्यपाल लार्ड डलहौजी ने कमाडोर लैम्बर्ट को 'एच० एम० एस० फाक्स' में बर्मा की ओर प्रस्थानित किया। उनकी सहायतार्थ कम्पनी के दो अन्य युद्ध पोत 'प्रासरपीन' तथा 'तेनसरिम' को भी भेजा गया। इन युद्ध पोतों के प्रस्थान के साथ ही जो चेतावनी लार्ड डलहौजी ने 'माङ्ग ओक' को निष्कासित करने हेतु दी थी, उसे बर्मा सरकार ने तुरन्त स्वीकार कर लिया। इस के उपरान्त भी स्थानीय तनाव में कमी नहीं आई। अन्तत: 'दहनशील कमाडोर' जैसा कि लैम्बर्ट के बारे में लार्ड डलहौजी ने कहा गोला बारी कर के युद्धोचित स्थिति को उत्पन्न कर दिया। लार्ड डलहौजी ने सहज गोली चलाने वाले सेनाध्यक्ष को तो प्रताड़ित किया परन्तु युद्ध का परित्याग नहीं किया। लार्ड डलहौजी ने अपने एक मित्र को इस स्थिति की चर्चा करते हुये लिखा, कि अग्नि में इतना घृत पड़ने के पश्चात ·········पूर्व में किसी द्वार को देख कर वापिस आना संभव नहीं था'। तत्पश्चात लार्ड डलहौजी ने एक सशक्त सेना को रंगून की ओर प्रेषित किया और चेतावनी स्वरूप 10 लाख रुपये की मांग की। अप्रेल 1852 को चेतावनी की अवधि समाप्त हो गई और द्वितीय आँग्ल-बर्मा युद्ध का प्रारम्भ हुआ। रिचर्ड काबडन ने अपने प्रसिद्ध पैम्फलेट 'हाऊ वार्स आर गॉट अप इन इण्डिया' में लिखा कि भारत सरकार कि नीति गलत थी। उनके अनुसार कॉमाडोर लैम्बर्ट को वार्ता सन्धि हेतु भेजना तथा इतनी अधिक धनराशि की माँग स्वयं में युद्ध सूचक थी। लार्ड डलहौजी ने अपने 'वार्ता दूत' के चयन की त्रुटि को स्वीकार किया, परन्तु युद्ध को इसका कारण नहीं माना। लार्ड डलहौजी के अनुसार युद्ध अवश्यमभावी था। इस प्रकार 1852 से 1855 तक अंगरेजों ने लोअर बर्मा को अपने अधीन कर वहाँ एक ओर आर्थिक, सचांरण, एवं यातायात को नवीन स्वरूप देकर आधुनिकता का परिचय दिया और दूसरी ओर समाजिक, साँस्कृतिक एवं धार्मिक

मान्यताओ को विकसित नहीं होने दिया। अपर बर्मा व ऊपरी वर्मा में शासकों ने ब्रिटिश विस्तार को सीमाबद्ध करने हेतु अन्य युरोपीय देशों से गठबन्धन करने का प्रयास किया। बर्मा ने अपनी परम्परावादी 'पार्थक्यता की नीति' का त्याग कर सामान्य नीति को स्वीकार करना आरम्भ किया। इस नवनीति के अन्तर्गत छात्रों को उच्च शिक्षा हेतु युरोप भेजा गया, यातायात मार्गों एवं औद्योगीकरण का विस्तार किया गया और 1857 में एक महा बौद्ध धार्मिक सभा का आयोजन किया गया जो दो सहस्र वर्षों के अन्तर्गत नव सर्वमहान सम्मेलन था। परन्तु बर्मा की विकास योजनायें एवं नीति कौशलता किसी भी रूप में ब्रिटिश विस्तार को सीमाबद्ध न कर सकी अथवा अंगरेजों के विस्तार प्रभाव को रोकने में नितान्त असमर्थ रही।

1885 में ब्रिटिश सरकार ने बर्मा के पूर्वी पर्वतीय शृंखला में निर्वासित कारेन जाति के विद्रोह का बहाना लेकर ब्रिटिश, भारतीय एवं कारेन सेना के द्वारा बर्मा राज्य को भारत स्थिति ब्रिटिश महाराज्यपाल (वाइसराय) के अधीन कर दिया।

बर्मा में ब्रिटिश शासन ने एक नवीन प्रशासकीय अध्याय प्रारम्भ किया। ब्रिटिश शासन ने केवल अल्पसंख्यक क्षेत्रों को छोड़कर अन्य सभी क्षेत्रों में स्थानीय प्रशासन का परिवर्तन कर दिया। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत नागरिक सेवाओं को कार्यक्षम बनाने की चेष्टा की गई, करों को कम कर दिया गया तथा रेल मार्गों एवं संचारण व्यवस्था का विस्तार किया गया। संचारण एवं यातायात के विस्तार के साथ 'लोअर बर्मा' तथा 'अपर बर्मा' में व्यापार में वृद्धि होने लगी। व्यापार वृद्धि ने रंगून को एक महत्वपूर्ण बन्दरगाह (पत्तन) बना दिया।

यद्यपि ब्रिटिश शासन ने बर्मा को उन्नत एवं समृद्ध बनाने की चेष्टा की, परन्तु इस शासन की त्रुटियों को नकारात्मक स्वरूप नहीं दिया जा सकता। सर्वप्रथम बर्मा को भारतीय प्रशासन का एक भाग समझकर ब्रिटिश सरकार ने बर्मा की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक भावनाओं की उपेक्षा की। दूसरे ब्रिटिश प्रशासन ने पारस्परिक ग्राम मुखिया के स्थान पर ब्रिटिश प्रशिक्षण प्राप्त नागरिक सेवाओं से युक्त प्रशासन का प्रयोग किया। तीसरे ब्रिटिश प्रशासन ने भारतीय और चीनी लोगों को नागरिक सेवाओं में सम्मिलित कर बर्मा के निवासियों को अवमानना की भावना से युक्त किया। चौथे अंगरेजी प्रशासन ने न्याय प्रणाली में आमूल परिवर्तन कर वहाँ के मूल निवासियों को नवीन 'विधि संहिता' को स्वीकार

करने के लिये बाध्य किया। पांचवां जहाँ एक ओर दक्षिण भारत के 'चेटियार' (महाजन लोग) लोगों ने धनराशि ऋण के रूप में देकर बर्मा को विकास की ओर अग्रसर किया, वहाँ दूसरी ओर चेटियार लोगों के अत्याधिक ऋण ब्याज ने तथा उनके भूस्वामित्व की चेष्टा ने बर्मी लोगों में आक्रोश की भावना को समाविष्ट किया। छठे ब्रिटिश शासन ने बर्मा की प्राचीन संस्कृति विशेषकर 'बुद्धवाद' के उन्मूलन की चेष्टा की। इसके अतिरिक्त नवीन शिक्षा पद्धति ने बर्मा के बौद्ध भिक्षुकों को शिक्षा के कार्य से पृथक किया।

यद्यपि उपरोक्त नकारात्मक ब्रिटिश प्रशासकीय पक्ष में प्रशांसनिक त्रुटियाँ सम्मिलित हैं; परन्तु यातायात, संचारण जनसंख्या वृद्धि, खाद्य पदार्थों में वृद्धि, स्वास्थ्य एवं सफाई अभियान तथा अन्य जनकल्याण सम्बन्धी सुविधाओं के उपरान्त भी राष्ट्रवादियों ने ब्रिटिश शासन के नकारात्मक पक्ष को ही अपना ध्येय समझकर संघर्ष किया। संभवत: ब्रिटिश कवि रूड यार्ड किपलिंग के 'श्वेत मानव भार' (व्हाइट मैन्स बर्डन) के लिखने का तात्पर्य यह था कि पश्चिमी लोग एशिया एवं अफ्रीका के लोगों से श्रेष्ठ थे और उनका उत्तरदायित्व था कि वह अपनी योग्यताओं एवं क्षमताओं में कम सुविधा प्राप्त लोगों को भागीदार बनाये। इसका प्रयोगात्मक स्वरूप बर्मा में अंग्रेजों की नैतिक वरीयता की भावना तथा आर्थिक लाभ के रूप में स्पष्ट हुआ। अंग्रेजों के इस स्वरूप ने तथा बर्मी जनता के विरोध ने बर्मी राष्ट्रवाद को जन्म दिया।

बर्मा में राष्ट्रवाद

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में बर्मा के राष्ट्रवादियों के हृदय में ब्रिटिश शासकों, दक्षिण भारतीय वाणिज्यों तथा चीनी श्रमिकों के प्रति घृणा का भाव पोषित होने लगा। उनके हृदय में यह विचारधारा सदैव विकसित होती रही कि विदेशियों के आगमन से पूर्व बर्मा एक शान्तिप्रिय देश था। बर्मावासियों को इस सुअवसर की प्रतीक्षा थी जबकि वे विदेशियों की दासता के बंधन से मुक्त हो सकें।

बर्मा के राष्ट्रवादियों को प्रथम अवसर तथा प्रेरणा प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् प्राप्त हुई, जब राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने 'स्वनिर्णय के सिद्धान्त' को मान्यता दी। भारतवासियों की निरन्तर सफलता ने बर्मा के राष्ट्रवादियों को अपने उद्देश्य की ओर प्रेरित कर ब्रिटिश शासन के विरुद्ध संगठित किया। 1906 में एक अराजनैतिक धार्मिक वर्ग ने यँग मैन्स बुद्धिस्ट एसोसिये-

शन' द्वारा स्वराज्य की माँग प्रारम्भ कर दी।

1921 में ब्रिटेन ने बर्मा को एक नया संविधान प्रदत्त किया जिसके अन्तर्गत भारत को प्रदानित द्विस्तरीय सरकार की भाँति बर्मा में भी ऐसी सरकार का प्राविधान किया गया। इस सरकार के अन्तर्गत बर्मियों को एक विधान सभा निर्वाचित करने का अधिकार दिया गया जो उपनिवेश प्रशासन की संचालक हो। बाह्य रूप से यह प्रशासनिक परिवर्तन बर्मा के स्वशासित स्वराज्य की ओर एक कदम था, परन्तु अंतरिम रूप से राष्ट्रवादियों को लगा कि नयी सरकार ब्रिटिश साम्राज्य की ओर पहले से अधिक निर्भर हैं क्योंकि पूर्ण साम्राज्य आँग्ल-भारतीय सरकार के अन्तर्गत रक्खा गया था।

ब्रिटिश प्रशासन ने बर्मी राष्ट्रवादियों को अनेक अन्य रूप से भी आक्रोशित किया। उन्होंने बर्मी और अल्प संख्यकों को ऊँचे सरकारी और राज्य पुलिस पदों पर स्वीकृत नहीं किया। बर्मा के लोगों को सामान्य प्रशासनिक सेवाओं में भी सम्मिलित नहीं किया गया जो कि भारतीय, चीनी और करेन लोगों द्वारा संचालित होती थीं। उपनिवेशिक प्रशासन ने इस महत्वपूर्ण समस्या के समाधान हेतु कुछ भी कार्य नहीं किया, जबकि लगातार पूँजीपति वर्ग ने बर्मियों को अपने कृषि फार्मों से खाली कराया। यह दशा और भी तब जटिल हो गयी जब कि प्रथम विश्व युद्ध तक भारतीयों ने अवर बर्मा के चालीस प्रतिशत कृषि भूमि पर अपना अधिकार कर लिया। महान मन्दी के समय जब कि चावल, टिन, रबर तेल के भावों में व्यापक गिरावट आयी, असन्तुष्ट बर्मा वासियों ने अपने भूस्वामियों और ब्रिटेन के विरुद्ध आतंक प्रारम्भ कर दिया और उपनिवेशीय सरकार को कार्यवाही करने के लिये बाध्य किया।

1935 में आँग्ल (ब्रिटेन की) संसद ने भारत तथा बर्मा की सरकार को पृथक कर स्थानीय प्रशासन को विस्तृत करने का निर्णय लिया। बर्मी एक्ट व अधिनियम के अनुसार उपनिवेशिक शासन ने एक बर्मी सीनेट का निर्माण किया तथा बर्मी मण्डलीय मंत्रियों को बर्मा संसद के अधीन रक्खा। इन सभी परिवर्तनों के बाद भी बर्मा के राष्ट्रवादी वास्तविक स्वशासन न होने के कारण आन्दोलन करते रहे। राष्ट्रवादियों का कथन था कि अंग्रेज राज्यपाल के पास निषेधाधिकार होने के कारण शासन पर पूर्णतया उपनिवेशिक नियन्त्रण था। इस के अतिरिक्त राष्ट्रवादियों ने विदेश नीति तथा सुरक्षा सम्बन्धी समस्त समस्यायों पर भी अंग्रेजी नियन्त्रण का विरोध किया।

1930 के दशक में दो महत्वपूर्ण राष्ट्रवादी 'डा० बा माओ' तथा 'ऊ साओ' थे जिन्होंने अगामी वर्षों में बर्मा को राष्ट्रीय नेतृत्व प्रदान किया।

डा० माओ के अनुयायियों ने 1939 तक बर्मी संसद को प्रभावित किया जब कि ऊ-साओ प्रधान मंत्री के पद पर आरूढ़ हुये। अपने दल की पराजय के पश्चात् माओ ने जापानी गुप्त कार्यकर्ताओं के साथ सहयोग करना प्रारम्भ किया जो वर्मा को हस्तगत करने की योजना बना रहे थे। ऊ-साओ भी जापानियों से मिले थे। उन्होंने 'द सन' नामक समाचार पत्र का प्रकाशन किया जो ब्रिटिश प्रशासन के विरुद्ध था ऊ-साओ को अंग्रेजों ने ब्रिटेन की यात्रा के मध्य इस संशय पर बन्दी बना लिया, कि वह पूर्तगाल में जापानी एजेन्टों के साथ गुप्त योजना बना रहे थे। ब्रिटेन की सरकार ने विश्व युद्ध की समाप्ति तक उन्हें अफ्रीका में बन्दी बनाए रखा।

विश्व युद्ध के पूर्व एक महत्वपूर्ण जापानी वर्ग 'रंगून विश्वविद्यालय' के छात्रों द्वारा संगठित था। इस समुदाय के सदस्य स्वयं को 'थाकिन्स' (मास्टर्स) कहते थे। क्यों कि यह सम्बोधन केवल अंग्रेजो के पारस्पारिक प्रयोग हेतु ही सुरक्षित था। द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने से कुछ ही समय पूर्व इस समुदाय के तीस सदस्य 'तीस कामरेड' ऑङ्ग सेन के नेतृत्व में सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करने हेतु जापान गये उनका उद्देश्य जापान में गुरिल्ला प्रणाली का प्रशिक्षण प्राप्त करना था। तत्पश्चात वे थाइलैण्ड गये जहाँ उन्होंने 'बर्मा स्वतन्त्रता सेना' का निर्माण किया। यह सेना गुप्त रूप से जापानियों द्वारा बर्मा से ब्रितानियों अंगरेजों को निकालने में सहायता करती थी। परन्तु 'तीस कामरेड' उतने जापानवादी नहीं थे जितना कि स्वयं को समाजवादी या साम्यवादी मानते थे। बर्मा राष्ट्रवाद में एकता पाने के उद्देश्य से आँग्ल नीति विरोधी युवा बौद्ध भिक्षुकों द्वारा इन 'तीस कमरेडों' को मूल्यवान सहायता दी गयी। कुछ भिक्षुक तो गोरिल्ला बने और कुछ ब्रिटिश विरोधी हड़तालों में सम्मिलित हुए। एक अभियान में इन भिक्षुकों ने अंग्रेजों को पगोडा में प्रवेश करने हेतु जूते उतारने के लिये विवश किया। इससे पूर्व इस प्रकार के धार्मिक विधि विधान को अंग्रेज स्वयं के प्रति अपमान समझते थे।

1930 के अंतराल में बर्मा में पारस्परिक तथा ब्रिटिश विरोधी संघर्ष प्रारम्भ हुआ। इसी समायान्तराल में मुसलमानों, भारतीयों, चीनियों, मजदूरों और छात्र समुदायों में उपद्रव (दंगे) हुये। इतना अन्तरद्वन्द होते हुए भी बर्मा में राष्ट्रवादियों ने स्वतंत्रता प्राप्य प्रयत्न को राजनैतिक रूप से सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की। एक ओर छात्रों और भिक्षुकों ने स्वाधीनता संघर्ष का नेतृत्व किया दूसरी ओर स्वतन्त्रतावादियों ने विभिन्न प्रकार के

वर्गों व श्रेणियों को अपनी ओर आकर्षित किया जिसमें विशेषतया व्यवसायिक एवं निपुण लोग थे ।

1937 में जापान द्वारा मंचूरिया पर आक्रमण के पश्चात बर्मा पश्चिमी देशों द्वारा चीन को दी जाने वाली सहायता हेतु एक आवश्यक माध्यम बन गया । फलस्वरूप 'बर्मा रोड' पर हजारों टन युद्ध सामग्री और खाद्य सामग्री का ढेर लग गया । बर्मा रोड बर्मा से दक्षिण चीन में 'चुङ्ग किंग' तक थी । द्वितीय विश्व युद्ध में इसका प्रयोग किया गया । अमरीका और चीन के एक संगठन 'फ्लाइंग टाईगर्स' ने बर्मा होते हुए उपरोक्त सामग्री को चीन में हवाई मार्ग से पहुंचाने में सहायता की । विस्तृत हिमालय पर्वतों के मध्य इस संकट पूर्ण उड़ान को समस्त विश्व कुहान (हम्प) के रूप में जानता था । अंग्रेजों ने भी अपनी अधिकांश सहायता बर्मा के मार्ग से ही प्रेषित की । द्वितीय विश्व युद्ध ने बर्मा में अत्यधिक आर्थिक और सामाजिक हानि की । निष्क्रमण करती हुई ब्रिटिश सेना ने उस प्रत्येक वस्तु को नष्ट किया जो जापानियों के लिये उपयोगी हो सकती थी । उन्होंने खाद्यानों, तेलकूपों, रेलवे स्टेशनों को या तो जल ग्रस्त कर दिया या डाइनामाइट से उड़ा दिया । राष्ट्र का महानतम पोत या बन्दरगाह भी डाइनामाइट द्वारा ध्वस्त कर दिया गया । युद्ध से पूर्व वाणिज्य और निम्न वर्ग की राजकीय सेवायें लगभग दस लाख भारतीयों द्वारा चलायी जा रही थीं । आधी से अधिक भारतीय जनसंख्या जापानी अतिक्रमण से इतना भयभीत हो गई कि उन्होंने बर्मा से भारत की ओर पलायन किया । इस प्रकार बर्मा में प्रबंधकीय निपुणता का व्यापक ह्रास हुआ ।

युद्ध के प्रारम्भ होते ही छोटे छोटे सामुदायिक झगड़े भी प्रारम्भ हो गये । अंग्रेजों के बर्मा छोड़ने पर राष्ट्रवादियों ने अल्प संख्यकों पर आक्रमण किया, जो बर्मा में ब्रितानी (ब्रिटेन की) उपनिवेशिक सेना के प्रमुख सदस्य थे । बर्मा की स्वतंत्र सेना ने काचिन्स, चिन्स, करेन्स एवं यूरेशियन्स से शस्त्र समर्पण करने को कहा । परन्तु अल्प संख्यकों ने राष्ट्रवादियों का सामना किया और इस युद्ध में हजारों लोग मृत्यु ग्रस्त हुये ।

जापानियों ने भूतपूर्व प्रधानमंत्री 'बा माओ' के अधीन एक कठपुतली सरकार की स्थापना की । उन्होंने आँग-सान को रक्षा मंत्री बनाया, और इस तथ्य को ध्यान में नहीं रखा कि आँग सान का वास्तविक लक्ष्य बर्मा को ब्रिटेन और जापान दोनों से मुक्त कराना था । आँग सान ने फासीवाद विरोधी संगठन का नेतृत्व किया और 1944 में जापानियों के विरुद्ध अंग्रेजो का आह्वान किया । आँग सान के गुरिल्लाओं ने रंगून नगर के युद्ध में

अंग्रेजों का साथ दिया।

युद्ध के उपरान्त आँग सान का संगठन 'फासीवाद (फाशिज्म) विरोधी जन स्वतन्त्रता लीग' (एन्टी फाशिस्ट पीपुलस फ्रीडम लीग) के नाम से जाना गया। इस लीग ने वर्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग की। समाजवादियों, साम्यवादियों और राष्ट्रवादियों का यह संगठन मूल रूप से राजनैतिक और आर्थिक आधार पर मार्क्सवादी विचारों से परिपूर्ण था। इसी करण उन्होंने उपनिवेश वादी ब्रिटेन को रोकने का प्रयत्न किया, यद्यपि ब्रिटेन युद्ध से पूर्व की स्थिति लाने के लिए कटिबद्ध था। 1945-46 में इस स्वाधीनता लीग ने एक लाख सैनिकों की सेना आवश्यकता पड़ने पर अंग्रेजों से लड़ने हेतु तैय्यार की। इस संकट का समाधान तब हो पाता जब कि ग्रेटब्रिटेन में 'समाजवादी श्रमिक पार्टी' को सत्ता प्राप्त होती। वर्तमान 'सोशलिस्ट लेबर पार्टी' की सरकार पूर्ववर्ती (कन्जरवेटिव) सरकार की अपेक्षा उपनेवेशिक राज्यों के प्रति अत्यधिक उदार थी।

1946 में ब्रिटेन के नव प्रधान मंत्री 'क्लीमेन्ट एटली' ने आँग सान को लन्दन सभा में वार्ता हेतु बुलाया। तदनन्तर उन्होंने एक महत्वपूर्ण घोषणा पत्र जारी किया। इस पत्र में कहा गया कि बर्मा को पूर्ण स्वाधीनता और उसके इच्छुक होने पर बर्मा को राष्ट्रमण्डल का सदस्य बनाया जायगा।

आँग सान अत्यधिक महत्वपूर्ण समस्याओं के कारण बर्मा पुनः लौट आये। इस समस्याओं में अनाज की कमी, ऊँचे दाम और राष्ट्र में दस्यु समस्या मुख्य थी। दूसरी और साम्यवादी विरोधी गोरिल्ला दल परस्पर संघर्षरत थे। साथ ही करेन्स, शान और अधिकांश भारतीय तथा चीनी बर्मा द्वारा शासित नहीं होना चाहते थे।

इस अनिश्चय और विस्फोटक स्थिति में अप्रैल 1947 में बर्मा में आम चुनाव कराये गये। आँग सान तथा उनकी पूर्ण स्वतंत्रता की नीति को विशाल बहुमत ने स्वीकार किया। चुनाव विजय उपरान्त आँग सान ने अल्प संख्यकों को संविधान स्वीकार कराने का बहुत प्रयत्न किया। केवल करेन, जनजाति ने अपने पृथक स्वतन्त्र राज्य की मांग करते हुए इसका विरोध किया। परन्तु आँग सान को करेन लोगों की समस्या का समाधान करने का अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ। जुलाई 19,1947 को दो शस्त्र धारियों ने मन्त्रिमण्डल की गोष्ठी में प्रवेश कर आँग सान और सात अन्य सदस्यों की हत्या कर दी। इस अपराध हेतु आँग सान के मुख्य राजनीतिक प्रतिद्वन्दी 'उ साओ' को मृत्यु दण्ड दिया गया। तत्पश्चात आँग सान के अभिन्न मित्र

और थाकिन 'ऊ नू' को प्रधान मन्त्री बनाया गया।

इसी मध्य बर्मा और ब्रिटेन में वार्ता चलती रही और परिणामस्वरूप अक्टूबर 17,1947 को बर्मा को स्वतन्त्र राष्ट्र मान्यता प्रदान करने हेतु ब्रिटेन और बर्मा के प्रतिनिधियों के मध्य लन्दन की संधि पर हस्ताक्षर हुये। नवीन राष्ट्र ने राष्ट्रमण्डल का सदस्य होना स्वीकार नहीं किया। जुलाई 4, 1948 को बर्मा संघ की घोषणा कर दी गई।

राजनैतिक एवं संवैधानिक विकास

जनवरी 1948 में बर्मा की स्वतन्त्रता की घोषणा की गई और 6 माह पश्चात् वहाँ गृह युद्ध प्रारम्भ हो गया। इस गृह युद्ध की स्थिति को दस्यु, साम्यवादी दल, जनजाति, चीन से पलायित सैनिक इत्यादि ने और अधिक जटिल बना दिया।

1949 में जनरल 'नी विन' जो कि 30 कामरेडों में से एक थे, सेनाध्यक्ष बनाया गया। स्वयं की सुचारु योजनानुसार नी विन ने दमनकारी नीतियों के द्वारा करेन तथा साम्यवादियों के दमनार्थ अभियान प्रारम्भ किया। 1951 में नी विन ने नृजातीय व जातीय अशांति को कम करने हेतु बर्मी राज्य में करेन समुदाय को पृथक प्रदेश प्रदान करने की योजना प्रेषित की। नी विन के समझौते के द्वारा गृह समस्या का पूर्ण रूप से समधान नहीं हो सका, क्योंकि कुछ करेन और अन्य अल्पसंख्यक इस समझौते से संतुष्ट नहीं थे। एक अन्य मुख्य समुदाय मुसलमान वर्ग का था, जो नवोदित पाकिस्तान के पक्षपाती थे। पूर्वी पाकिस्तान के द्वारा शस्त्र प्राप्त होने के कारण यह समुदाय 1961 तक बर्मा राज्य से संघर्षरत रहा।

गृह युद्ध से कुछ मुक्ति प्राप्त होने के उपरान्त बर्मा में प्रथम आम चुनाव 1951 में होने निश्चित हुये। इन चुनावों में फाशिस्ट फासीवाद' विरोधीजन स्वतन्त्रा लीग' जो कि एक मुख्य राष्ट्रीय संघटन था उसने पूर्ण बहुमत प्राप्त किया। इसने ऊ नू के प्रधानमंत्रित्व को सशक्त किया, परन्तु बर्मी जनता में बढ़ते हुये असंतोष के कारण स्वाधीनता लीग में मतभेद उत्पन्न हो गया। बर्मी समाजवादियों ने सरकार की पूंजीवादी नीति और कोरिया युद्ध में उत्तर कोरिया को समर्थन न दिये जाने का विरोध किया। अतः समाजवादियों ने स्वतन्त्रता लीग से स्वयं को पृथक कर एक नवीन पार्टी का पुनर्गठन किया और पार्टी की एकता को विघटन से न बचा सकने के कारण ऊ नू ने 1958 में त्याग पत्र दे दिया। परन्तु ऊ नू ने अपने त्याग पत्र को अस्थाई बताते हुए दो वर्ष पश्चात् पुनः पद में आने की घोषणा

करते हुए "कार्यवाहक सरकार" बनाने का सुझाव (निमंत्रण) दिया।

नई सरकार का जनरल नी विन के अधीन गठन किया गया। उन्होंने संसदीय प्रणाली पर अपना अविश्वास व्यक्त किया। उनके विचारानुसार संसदीय प्रणाली अंग्रेजी पद्धति प्रदर्शन था, जो कि बर्मी सिद्धांतों के विरुद्ध था। 1947 के संविधान को पूर्णतया स्थागित करने के पश्चात् उन्होंने अनेको राजनैतिक प्रतिद्वन्दियों को बंदी बनाया और सेना को प्रशासन नियंत्रण सौंप दिया। नी विन ने सार्वजनिक सेवाओं में सुधार किया। 1960 में नागरिक सरकार को सत्ता सौंप देने के पश्चात् नी विन देश के सर्वाधिक सम्मानित एवं मान्यता प्राप्त नेताओं में बने रहे।

पुन: राष्ट्रीय चुनाव हुये और ऊ नू को पुन: सरकार की बागडोर सौंपी गयी। ऊ नू ने अपने चुनाव प्रचारों में कहा था कि बौद्ध धर्म को राज्य धर्म के रूप में पुर्नस्थापित किया जायेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति करना अत्यधिक कठिन था। यद्यपि ऊ नू ने एक वर्ष तक इस हेतु कठिन प्रयास किया, परन्तु 'उनकी इस गतिविधि पर मुस्लिम और इसाई समुदाय ने सार्वजनिक धन का बौद्ध धर्म पर व्यय का विरोध किया। इसी समय अल्प संख्यक जन समुदायों में व्यापक हिंसा की भावना का प्रसार हुआ। जैसे ही राजनैतिक और आर्थिक दशा बिगड़ने लगी नी विन ने पुन: 1962 से सेना की सहायता से सत्ता में वापसी की घोषणा कर दी।

नी विन ने सर्वप्रथम ऊ नू को बन्दी बना दिया तत्पश्चात् रिहा कर दिया। विद्रोहियों के संकट को समाप्त करने हेतु नी विन ने अल्प संख्यकों को पृथक क्षेत्र देने की घोषणा की। इस प्रकार वर्मन, शान, काचिन, करैनी, कारेन और चिन प्रत्येक जाति को अलग अलग क्षेत्र दिया गया जहां वे अपने-अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा कर सके। अल्प सख्यकों के समुदायों को बर्मी संसद के साथ संलग्न किया गया जो राष्ट्रीकता का सदन कहलाया जाता था। परन्तु बर्मा के वास्तविक सत्रह सैनिक शासक अधिकारियों ने एक "क्रान्तिकारी परिषद" नी विन की अध्यक्षता में गठित की। इस परिषद ने उपनिवेश प्रणाली तथा पूंजीवाद को समाप्त कर "मार्क्सवादी उद्देश्यों" की ओर दिशा निर्देशन को लक्षित किया।

बर्मा में 1948 से 1962 तक का युग उपद्रव असंतोष एवं प्रयोगवादी युग था। इस काल में आर्थिक मंदी ने तथा जनसंख्या की वृद्धि ने बर्मा के सामाजिक एवं राजनैतिक तथा आर्थिक विकास को सीमाबद्ध बनाये रक्खा।

अत: इस काल की अपरिपक्व नीतियों ने बर्मा में सैनिक शासन का मार्ग प्रशस्त किया ।

सैनिक शासन १९६२–७२

द्वितीय विश्वयुद्ध से कुछ ही समय पूर्व व्यवस्थित की गई सेना अपने शैशवकाल में थी । नी विन के नेतृत्व में राष्ट्र की एकता को एक स्थान पर सूत्रबद्ध करने वाली प्रमुख शक्ति केवल सेना में ही निहित थी । नी विन की सैनिक सरकार ने शीघ्र ही स्वास्थ्य कल्याण, शिक्षा, यातायात तथा न्याय व्यवस्था के नियंत्रण हेतु विधेयक पारित कर स्थिति में परिवर्तन किया । यद्यपि सैनिक शासन के मध्य अनेक क्षेत्रों में प्रगति हुई परन्तु इस शासन-काल का पूर्ण अवलोकन करना अपेक्षित है ।

बर्मा में सैनिक शासन के प्रथम दशक (1962–72) में नव नेताओं ने उदारवादी संवैधानिक पद्धति को समाप्त कर अधिनायक तंत्र को स्थापित किया । यह नवीन शासन कुछ एक सैनिक अधिकारियों पर निर्भर था जिनका नेतृत्व जनरल नी विन कर रहे थे । इस प्रशासन ने अपने संगठन का नाम "क्रान्तिकारी परिषद" दिया । अपने इस संगठन की विचारधारा एवं सिद्धान्तों को अप्रैल 1962 में अपने सैद्धान्तिक वक्तव्य जिसका शीर्षक "बर्मा में समाजवाद की पद्धति" था, दिया । अपने दस वर्षीय काल में इन प्रशासकीय नीतियों और क्रान्तिकारी परिषद की योजनाओं पर ही उपरोक्त वक्तव्य को आधार माना गया ।

क्रान्तिकारी परिषद ने जनसाधारण को अपने नेतृत्व में समावेश करने हेतु एक नवीन राजनैतिक पार्टी 'बर्मा सोशलिस्ट प्रोग्राम पार्टी' अथवा "लेनजिन" जुलाई 1962 में स्थापित की । शनै:-शनै: इस दल ने अपनी निष्ठा एवं प्रशिक्षण के द्वारा 1971 तक सैनिक शासन के मुख्य संगठन का स्वरूप ले लिया था । इस पार्टी में मुख्यत: सेना के सदस्यों की अधिकता थी । उदाहरण स्वरूप 73,369 सदस्यों में से 41,921 सदस्य सेना के थे । 1971 में अपने प्रथम अधिवेशन अथवा कांग्रेस में जनरल नी विन को औपचारिक रूप से अपना नेता चुना, और 150 सदस्यों की एक समिति सहयोग देने के लिये बनाई गई । इस सम्मेलन में इस पार्टी के ध्येयों का उल्लेख करते हुए कहा गया कि लोकतांत्रिक केन्द्रीयवाद, जनसंगठन तथा समाजवादी लोकतंत्रिक राज्य एवं नव संविधान इसके मुख्य लक्ष्य थे । इस दल ने अपने कार्यों में ग्रामीण कृषकों, सहकारिता तथा ग्रामीण आर्थिक नीति में आमूल परिवर्तन करने चाहे ।

जुलाई 1971 में सैनिक नेताओं ने नवीन संविधान योजना की घोषणा की। यह बर्मा की राजनीति एवं प्रशासकीय परिवर्तन में नव युग का सूत्रपात था। सितम्बर 1971 में 34 सैन्य तथा 63 नागरिक सदस्यों की समिति संविधान निर्मित करने हेतु गठन की गई। संविधान सभा के सदस्यों को इस धारणा से अवगत कराया गया कि बर्मा समाजवादी लोकतन्त्र तथा अर्थ व्यवस्था के लक्ष्य की ओर अग्रसर था। संविधान का प्रथम प्रारूप (पाण्डुलेख) अप्रैल 1972 में पूर्ण कर प्रकाशित किया गया। इस प्रारूप का ध्येय जनता की आलोचनाओं को आकर्षित करना था। जिससे भविष्य में पाण्डुलेखन को सहायता एवं सहयोग प्राप्त हो सके। 1973 तक इस नवीन संविधान के लागू होने की आशा की गयी।

नवीन संविधानवाद के प्रति प्रशासकीय आधार निर्मित करने हेतु अप्रैल 1972 में जनरल नी विन और उसके 20 अन्य वरिष्ठ सेनाधिकारियों ने सेना से अवकाश प्राप्त कर असैनिक नागरिकता स्वीकार कर शासन की बागडोर सँभाली। इसी समय क्रान्तिकारी समिति ने क्रान्तिकारी सरकार के स्थान पर बर्मा संघीय (यूनियन ऑफ बर्मा) सरकार की घोषणा की। इस बर्मा की संघीय सरकार के प्रधानमंत्री 'ऊ नी विन' नियुक्त किये गये और ब्रिगेडियर 'सान-यू' सेनाध्यक्ष, रक्षामंत्री तथा उपप्रधानमंत्री नियुक्त किया गया। प्रधानमंत्री के पश्चात सान-यू सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति ने प्रशासन को जनता के समक्ष लोकप्रिय करने हेतु अनेक प्रशासकीय परिवर्तन किये गये। इस नवीन प्रशासन ने बर्मा के पड़ोसी देशों की नीति में परिवर्तन किया। उदाहरणतः अक्टूबर 1970 में चीन के साथ पुनः सम्बन्ध स्थापित किये। 1948 में बर्मा ने अपनी स्वतन्त्रता के पश्चात गुटनिरपेक्ष नीति का परिपालन किया था। राष्ट्र संघ की नीतियों का समर्थन बर्मा ने किया और राष्ट्र संघ के तीसरे महासचिव 'ऊ थाँट' बर्मा के ही थे। बर्मा ने अपने पड़ोसी देशों के साथ जिनमें भारत, पाकिस्तान चीन और थाईलैण्ड मुख्य थे, मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रक्खा।

बर्मा ने अपनी स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात स्वायत्त शासन एवं स्वाधीनता के अन्तर्गत अनेक राजनैतिक एवं सामाजिक अनुभव किये। अपने इन अनुभवों के द्वारा बर्मा में राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिपक्वता का आधार अवश्य निर्मित हुआ, किन्तु वास्तविक रूप से और राष्ट्रीय आत्मिकता में मूल परिवर्तन विशेष रूप से न हो सका।

आर्थिक सर्वेक्षण–

बर्मा की आर्थिक नीति कृषि एवं वन पर निर्धारित थी । 1964 तक बर्मा विश्व में चावल का सर्वाधिक निर्यातक देश था । द्वितीय विश्वयुद्ध ने बर्मा को भीषण हानि पहुँचाई । बर्मा को द्वितीय विश्व युद्ध के आघात से पुर्नजीवित होने में वर्षों लग गये । उदाहरणत: 1956 में बर्मा 1938-39 के राष्ट्रीय उत्पादन के समतल हो सका था । बर्मा की जनसंख्या अब लगभग 30 मिलियन है जिसकी बढ़ोत्तरी 2.3 प्रतिशत प्रतिवर्ष है ।

1962 में क्रान्तिकारी समिति ने बर्मा की राष्ट्रीय नीति में अभूतपूर्व परिवर्तन किये । इस नीति के अन्तर्गत उद्योग, आयात–निर्यात, संचारण बैंक तथा यातायात का राष्ट्रीकरण कर दिया । बर्मा की आर्थिक जीवन का विशेष आधार कृषि उत्पादन है और चावल मुख्य खेती है । बर्मा के निर्यात में साठ प्रतिशत चावल का निर्यात है ।

बर्मा की कृषि का क्षेत्रफल बर्मा की समस्त भूमि का 13 प्रतिशत है । बर्मा के चावल निर्यात और उत्पादन को देशीय खपत तथा विकासशील देशों के निर्यात ने काफी हानि पहुँचाई । बर्मा की 67 प्रतिशत भूमि वन क्षेत्र है जिससे लकड़ी (टिम्बर, टीक आदि) का अच्छा उत्पादन होता है । इसके अतिरिक्त बर्मा खनिज पदार्थ तथा तेल का भी महत्वपूर्ण उत्पादन क्षेत्र है ।

बर्मा में स्वतन्त्रता प्राप्त के पश्चात और विशेषकर क्रान्तिकारी समिति के शासन के उपरान्त सहकारिता बिजली उत्पादन यातायात के साधनों में विशेष उपलब्धि अर्जित की । 1963 में और उसके पश्चात यातायात के मार्गों का निर्माण हुआ तथा विद्युत ग्रामीण क्षेत्रों तक पहुँचने लगी । वायुयान सेवा में भी बर्मा ने तीव्र वृद्धि की । रंगून बर्मा का अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डा है । इस प्रकार युद्धोपरांत बर्मा ने अपनी सामाजिक सांस्कृतिक उन्नति के साथ-साथ आर्थिक उन्नयन में भी महत्वपूर्ण उपलब्धि प्राप्त की ।

वैदेशिक सम्बन्ध

वैदेशिक नीति में 'अलगाववाद के सिद्धांत' को प्राथमिकता देना बर्मा के इतिहास की एक विशिष्ट प्रवृत्ति रही है । युद्धोपरांत सोवियत रूस, संयुक्त राज्य अमरीका तथा चीनी लोक गणतन्त्र के संघर्षों में बर्मा ने तटस्थ नीति का ही प्रयोग किया । यद्यपि तत्कालीन समय में किसी भी आधुनिक देश के लिये विदेशी समस्याओं से पार्थक्यपूर्ण नीति बनाये रखना संभव नही है । कुछ वर्ष पूर्व बर्मा ने अपने वाह्य सम्बन्ध का पुन: अवलोकन करना प्रारम्भ कर दिया है, और विशेषकर साम्यवादी चीन के साथ बर्मा

ने सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है।

बर्मा से ग्रेट ब्रिटेन के निष्क्रमण के उपरान्त बर्मा ने एशियाई राज्यों साथ नवीन सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास आरम्भ किया है। बर्मा के पड़ोसी देशों में साम्यवादी चीन एक सशक्त राज्य है, जिसके साथ बर्मा का 1300 मील लम्बा सीमाक्षेत्र है। चीन ने यह माँग प्रेषित कर बर्मा को हतप्रभ किया कि 1886 में ब्रिटेन ने चीन का कुछ क्षेत्र अवैध रूप से बर्मा में सम्मिलित कर लिया था। चीन की इस माँग का अर्थ बर्मा ने यह लिया कि संभवत: चीन बर्मा में असंतुष्ट अल्पसंख्यकों को अपनी ओर आकृष्ट कर बर्मा में 'पग प्रवेश' स्थान बनाना चाहता है।

1950 में चीन के तिब्बत हस्तगत करने के उपरान्त बर्मा को विशेष रूप से वैदेशिक भय प्रतीत होने लगा। शीघ्र ही यह ज्ञात हो गया, कि बर्मी साम्यवादी तथा विद्रोही नागा जनजाति को चीन हर प्रकार की सहायता प्रेषित कर रहा था। 1950 के दशक में बर्मा का भय यर्थाथ में परिणित होने लगा। जब बर्मा चीनी गृहयुद्ध में अनैच्छिक भागीदार हो गया। इसका अर्थ था कि दस हजार राष्ट्रवादी चीनी सैनिक साम्यवादी चीन से भागकर बर्मा के उत्तर पूर्वी क्षेत्र में शरणार्थी बन गये। चीन ने उनका पीछा करने की धमकी देकर युद्ध की संभावना को उत्पन्न कर दिया। यह राष्ट्रवादी सैनिकों की समस्या एक प्रश्न बनी रही जब तक कि बर्मा ने ताईवान में स्थापित शरणार्थी सरकार को ये सैनिक वापिस नहीं कर दिये।

इस विवाद के समाप्त होने के पश्चात बर्मा की 'क्रान्तिकारी परिषद' ने चीन और बर्मा के सम्बन्धों में सुधार लाने की पूर्ण चेष्टा की। 1960 के दशक में दोनों देशों के व्यापार में अपार वृद्धि हुई। परन्तु बर्मा और चीन का यह मधुमास काल अधिक दिन तक स्थिर न रह सका। 1967 में चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति ने बर्मा और चीन के सम्बन्धों को संघर्षपूर्ण बना दिया। दो वर्षों के पारस्परिक संघर्ष युक्त वातावरण के पश्चात 'नी विन' ने कटुता और वैमनस्य के चिह्नों को धूमिल करने की नीति अपनाई। उनकी इस इस नीति ने चीन और बर्मा के सम्बन्धों के लिये एक नया मार्ग प्रशस्त किया।

बर्मा के सम्बन्ध अपने अन्य पड़ोसी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण रहे, परन्तु समय-समय पर अपनी आंतरिक नीतियों के कारण 'सम्बन्ध-बाधा उत्पन्न होती रही। यद्यपि भारत के साथ बर्मा के सम्बन्ध 1960 के दशक में तनावपूर्ण रहे। परन्तु 1970 के दशक से दोनों देशों में पुन: व्यापारिक सम्बन्ध

स्थापित हुये। थाईलैण्ड के साथ भी 'ऊ नू' के राजनैतिक आश्रय प्राप्त करने के कारण सम्बन्धों में तनाव आ गया था, परन्तु 1973 में 'नी विन' की थाईलैण्ड यात्रा ने सम्बन्धों में सुधार किया।

रूस और अमरीका के साथ बर्मा के सम्बन्ध तटस्थपूर्ण ही कहे जा सकते हैं केवल अमरीका ने तकनीकी एवं आर्थिक सहायता अवश्य दी है, किन्तु रूस के साथ सम्बन्ध अल्पमात्रा में ही रहे। युद्धोपरान्त बर्मा के सक्रिय सम्बन्ध जापान के साथ रहे हैं। जापान ने बर्मा में आर्थिक तकनीकी एवं औद्योगिक सहायता प्रदान कर बर्मा के आधुनिकीकरण में सक्षम योगदान दिया।

बर्मा

1. Cady, John F : A History of Modern Burma Cornell University Press, 1958.

2. Christian, J. Leroy : Modern Burma, Berkeley, 1942.

3. Hall, D. G. E. : Burma, London, 1956.

4. Tinker, H. : The Union of Burma, London, 1967.

5. Aung, Maung Htin : A History of Burma, Columbia University Press, 1968.

6. Maw, BA : Breakthrough in Burma, New Haven, 1968

7. Woodman, D : The making of Burma, London, 1962.

8. Harvey, G. E. : British rule in Burma, London, 1946.

9. Andrus, J. R. : Burmese Economic life, stan ford, 1948.

10. Furnivall, J. S. : The governance of modern Burma, New York 1960.

11. Hagen. E. E. : The Economic Development of Burma, Washington, 1956.

12. Maung, Maung : Burma and General Ne Win, London, 1969.

13. Maw, FA. : Burma, New York, 1980.

14. Donnison, F. S. V. : Burma, London, 1970.

15. Pye, Lucian W : Politics, Personality and Nation Building. : Burma's Search for Identity, New Haven, 1962.

16. Trager, Frank N. : Burma : from Kingdom to Republic, New York, 1966.

17. Ba Maw : Breakthrough in Burma, memoirs of a revolution 1939-1946, New Haven, 1968.

18. Leach, E. R. : Political future of Burma, Geneva, 1963.

19. Chhibber, H. L. : The Physiography of Burma, London 1933.

20. Christian, J. LE. Roy : Modern Burma, California, 1942.

21. Hall, D. G. E. : A History of South-East Asia, Newyork 1968.

22. Tinker, H : The Union of Burma, Oxford University Press, 1967.

23. Cady, J. F. A. : History of South-East Asia Cornell University Press, 1958.

24. Harvey, G. E. : British rule in Burma, London, 1946.

25. Woodman, D. : Burma, London 1962.

26. Andrus, J. R. : Burmese Economic life, Stanford University Press 1948.

27. Hagen, E. E. : The Economic Development of Burma, Washington 1956.

28. Maung, Maung : Burma and General Ne win London, 1969.

29. Smith, D. E. : Religion and Politics in Burma Princeton University Press, 1965.

30. Leach E. R. : Political Future of Burma, Geneva 1963.

31. Warshaw, Steven : South East Asia Emerges, California, 1975.

32. Hunter, Guy : South-East Asia, London 1966.

33. Tarling, Nicholas : A Concise History of South-East Asia, New York, 1966.

34. Cady, John F. : Thailand, Burma, Laos and Cambodia, Prentice Hall, 1966.

35. Raskin, M. G. : Burma, London, 1980.

36. Butwell, Richard : U Nu of Burma Stanford University Press, 1963.

37. Nash, Manning : The Golden Road to Modernity, University of Chicago Press 1972.

38. Tinker, Hugh : Burma, London 1967.

39. Trager, Frank N. : Burma : from Kingdom to Republic, New York, 1981.

40. Tate, D. J. M. : The Making of Modern South-East Asia, New York, Vol III, 1980.



U Nu, of Burma, Stanford University Press 1963.

The Golden Road to Modernity, University of Chicago Press 1972

Burma, London 1961.

Burma : From Kingdom to Republic, New York, 1961.

The Making of Modern South-East Asia, New York. Vol III, 1980.

36. [illegible] Cornell University Press 1958.

37. Nash Manning [illegible] 1965.

38. [illegible]

[illegible] and University Press [illegible]

[illegible] of Burma [illegible]

Burma and General [illegible] London, 1962.

[illegible] Cady, J. F. [illegible] and [illegible] in Burma, Princeton University Press, 1961.

[illegible] Burma [illegible]

[illegible] South East Asia Emerges, California [illegible]

[illegible] South-East Asia, London 1962.

[illegible] A Concise History of South-East Asia, New York [illegible]

[illegible] Burma [illegible]

[illegible]

हिन्द-चीन व वियतनाम

[illegible]

अध्याय 15

हिन्द-चीन व वियतनाम

(परिचय एवं नव चेतना)

वियतनाम अथवा हिन्दचीन का पूर्ण क्षेत्रफल 128,402 वर्ग मील है और यह दक्षिण चीन सागर के पश्चिमी किनारे पर स्थित है। हिन्दी-चीन के नामकरण के प्रति दो धारणायें हैं–एक भौगोलिक तथा एक ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक। भौगोलिक व्याख्या के अनुसार इस क्षेत्र के हिन्द महासागर और दक्षिण चीन सागर के मध्य में स्थित होने के कारण इस क्षेत्र का नामकरण 'हिन्द चीन' हुआ। दूसरी अर्थ व्याख्या इस पर चम्पा के साम्राज्य के समय हिन्दु संस्कृति के प्रभाव का होना तथा शनैः शनैः चीनी विस्तारवाद के साथ चीनी संस्कृति के सम्मिश्रण ने हिन्द चीन का नामकरण किया।

इस क्षेत्र के वियतनाम नामकरण के प्रति भी दो मान्यतायें हैं–एक प्राचीन समय में "नाम-वियत" नाम के राज्य पर आधारित है और दूसरी बींसवी शताब्दी में "वीट मिन्ह" संस्था को इसका श्रेय प्राप्त है। उपरोक्त दोनों व्याख्याओं के अतिरिक्त एक अन्य ऐतिहासिक पुष्टि 'गिया लॉङ्ग' के समय में होती है। यह शासक के नाम से सम्बन्धित है। पिनियो डि बेहन नामक एक फ्रांसीसी विशप ने नंग्विन परिवार के एक सदस्य को शासक बनाया। 1802 में इस शासक ने अपना नाम 'गिया लॉङ्ग' रखा, जो कि 'साइगॉन' (गिया दिन्ह) तथा 'हनोई' (थान लॉङ्ग) इन दोनों क्षेत्रों के समामेलन का द्योतक था। इस प्रकार गिया लॉङ्ग ने ही प्रथम बार इन सम्मिलित क्षेत्रों को 'वियतनाम की संज्ञा दी।

परिचय

'वियतनाम के प्रति प्रथम ऐतिहासिक तथ्य ईसा से 214 शताब्दी पूर्व प्राप्त होता है जब प्रथम चीनी सम्राट 'चिन-शी-हुआंग-टी' जिसने 'ओ-लाख'

नामक क्षेत्र पर विजय प्राप्त की। इस क्षेत्र की कांस्य युग सभ्यता उस समय की चीन की सभ्यता से पूर्णतया भिन्न थी। इसका ज्ञान 'थान हुआ' क्षेत्र की खुदाई से प्राप्त होता है। औ-लाख क्षेत्र पर चिन-शी का नियन्त्रण अधिक काल तक नहीं रहा, क्योंकि ईसा से 207 शताब्दी पूर्व से लेकर 112 शताब्दी पूर्व तक औ-लाख 'नाम-वीट' राज्य के आधीन था। नाम-वीट क्षेत्र पर ईसा से 112 शताब्दी पूर्व सम्राट हान-वू-टी ने विजय प्राप्त की और इस प्रकार उत्तरी वियतनाम क्षेत्र पर एक हजार साल का चीनी शासन आरम्भ हुआ। उस समय में अनेक विद्रोह वहाँ पर हुये, जिनमें मुख्य 41 शताब्दी में 'ट्रंग-सिस्टर्स और 542 शताब्दी में लाई-वॉन' मुख्य थे। इन विद्रोहों ने चीनी शासन के नियन्त्रण को और अधिक सशक्त किया। 'तांग युग' में (618–907) 'आन-नाम' क्षेत्र पर चीनी अप्रवासी अधिकारियों का आधिपत्य था। धीरे-धीरे इन चीन निवासियों के कारण चीनी, औ-लाख और नाम-वीट की संस्कृतियों का सम्मिश्रण होने लगा। इन क्षेत्रों में चीनी भाषा का प्रयोग आरम्भ किया गया और चीनी धर्मों 'ताओ-वाद' 'कन्फ्यूशन वाद' तथा महायान बौद्ध वाद' ने वहाँ पर अपना गहरा प्रभाव डाला।

जब 10 वीं शताब्दी में तांग साम्राज्य समाप्त हुआ तो दक्षिण चीन 'नान-हान' राज्यवंश के आधीन हुआ जिसने 923 शताब्दी में वियतनाम पर अपना नियन्त्रण किया। परन्तु यह नियन्त्रण अधिक समय तक नहीं चला और 931 और 938 शताब्दी में नान-हान सेना को पराजित कर 'नगो क्वाइन' शासक बना। इसी समय से वियतनामी लोग स्वयं को चीन से स्वतन्त्र होने का काल मानते हैं। 981 शताब्दी में शुंग राजवंश ने पुनः वियतनाम पर चीन का शासन स्थापित करने की चेष्टा की, किन्तु सफलता न मिली। आगामी 4 शताब्दियों में वियतनाम (दाई-वियत) धीरे-धीरे एक सशक्त और केन्द्रीय राज्य में परिवर्तित हो गया। इसकी राजधानी 'हनोई' बनी और इसकी कार्य विधि चीनी पद्धति पर आधारित थी; जबकि वहाँ पर महायान बौद्ध धर्म का काफी प्रभाव था और कन्फ्यूशन वाद का बहुत अधिक महत्व नहीं था। बीसवीं शताब्दी के वियतनामी बुद्धवादी 11वीं और 12वीं शताब्दी को ही अपने धर्म का स्वर्णयुग मानते हैं।

इस प्रकार ली राजवंश (1009–1225) तथा त्रान (1225–1400) राजवंश के आधीन दाई-वियत ने चीनी आक्रमणों के विरुद्ध स्वयं को सशक्त कर लिया था, परन्तु 14 वीं शताब्दी के अन्त और 15 वीं शताब्दी के आरम्भ में इस राज्य को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। 1407 में

चीन के आक्रमण ने इस क्षेत्र पर विजय प्राप्त की परन्तु यह अधिक समय तक स्थाई न रह सकी। बीस वर्ष पश्चात 'ली-ल्वाय' ने चीनियों को पराजित कर 'ली' राजवंश (1428–1789) की स्थापना की।

इसी मध्य केन्द्रीय वियतनाम में चम्पा का वैभवशाली साम्राज्य था जो हिन्दू संस्कृति से प्रभावित था। चम्पा के मन्दिरों के अवशेष जो 9 वीं शताब्दी से लेकर 13वीं शताब्दी तक भारतीय धर्म और कला को सूचित करते हैं। 10वीं शताब्दी के पश्चात चम्पा और वियतनाम के राज्य अधिकतर युद्ध ग्रस्त रहे। इन युद्धों में अधिकतर चम्पा के साम्राज्य को ही विजय श्री हस्तगत हुई। वियननामी साम्राज्य को अपने प्रसार के साथ एकता रखना कठिन हो गया। 15 वीं शताब्दी में ली-थान-टांग के राज्य में (1459–1497) कन्फ्यूशन संस्कृति अपनी चरम सीमा पर थी और इसलिये वियतनाम का यह स्वर्ण युग कहलाता है। 16 वीं शताब्दी के आरम्भ से ही इस राज्य का विघटन होना प्रारम्भ हो गया था, और 17वीं शताब्दी में वियतनाम दो सशक्त राज्य वंशों में विभक्त हो गया उत्तरी वियतनाम में 'त्रन' और दक्षिणी (केन्द्रीय) वियतनाम में 'नैग्विन' यह दो राज्यवंश थे। नैग्विन राज्यवंश ने दक्षिणी विस्तार कर अपने राज्य को विस्तृत किया। यही क्षेत्र वर्तमान समय में दक्षिणी वियतनाम कहलाता है। 18वीं शताब्दी में इस क्षेत्र में गृह युद्ध आरम्भ होकर भयंकर अस्थिरता आ गई। 19वीं शताब्दी के आरम्भ में (1802) में नैग्विन राजवंश के एक व्यक्ति ने स्वयं को सम्राट घोषित किया और उसने स्वयं का नाम 'गिया-लांग' रखा। यह इतिहास में प्रथम समय था जबकि वर्तमान वियतनाम का क्षेत्र एक शासक के आधीन हुआ।

इस प्रकार इस क्षेत्र पर गिया-लांग (1802–1820) से लेकर तीन अन्य शासक हुये–'मिन-मैन्गं, (1820–1841), थ्यू-ट्री' (1841–1847) तथा 'टू-डक' (1847–1883)। यद्यपि गिया-लांग ने अपने अभियानों में 1802 से पूर्व फ्रांसीसी परामर्शदाताओं को साथ रखा, किन्तु उसके पश्चात आने वाले शासकों ने फ्रांसीसियों को 'पश्चिम का असभ्य' की संज्ञा दी और इन शासकों ने ईसाई प्रचारकों के साथ वर्बरता पूर्ण व्यवहार किया। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में फ्रांसीसी हस्तक्षेप आरम्भ हुआ और शताब्दी के अन्त तक फ्रांसीसी शासन स्थापित हो गया। यद्यपि फ्रांस का प्रथम प्रशासनिक प्रयास 1893 में 'डी-लान्से' से आरम्भ हुआ, उसने प्रदेशों में शासन व्यवस्था को सुदृढ़ किया और राजस्व एवं विशेष 'कर नीति' द्वारा आर्थिक स्थिति को सशक्त करने की चेष्टा की। उसकी चार वर्ष की अवधि के मध्य 90 प्रतिशत बढ़ोत्तरी राजस्व में हुई और उसके अवधि

काल में ही प्रथम बार हिन्द चीन पर फ्रांसीसी शासन का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ ।

नवचेतना एवं राष्ट्रीयता का विकास

हिन्द चीन में राष्ट्रीयता का विकास चीनी शासन एवं उनके स्वतंत्रता के लिए संघर्ष के संग्राम से प्रारम्भ हुआ । यद्यपि उनकी सभ्यता एवं संस्कृति चीन से प्रभावित थीं परन्तु उन्होंने अपनी संस्कृति का 'कोचीन चायना' तक विस्तृत रूप से प्रसार किया । 1907 में हनोई विश्व-विद्यालय में फ्रांसीसी शिक्षा का आरम्भ हुआ । युवा छात्र मान्तेस्क्यू तथा रूसो के विचारों से काफी सीमा तक प्रभावित थे ।

1904 में विरोध का नवीन पक्ष प्रकट हुआ जब 'फान बाय चाऊ' और 'फान चाऊ त्रिह्न' ने अन्य सहयोगियों के साथ 'पुनरूद्धार संस्था' की स्थापना की । प्रथम इन्होंने जापान से प्रेरणा प्राप्त करने की चेष्टा की और तत्पश्चात (1911) से चीन द्वारा प्रभावित हुए ।

1905 में रूस के ऊपर जापान की विजय से प्रभावित होकर वियत-नामी क्रान्तिकारी आन्दोलन ने टोकियो से ही अपनी गतिविधियों में तीव्रता आरम्भ की । इनके नेता 'फान बाय चाऊ' तथा 'प्रिंस कुआंग-डो' थे जिन्हें 1910 में जापान से निष्कासित कर दिया गया था । तदनन्तर चीनी क्रान्ति से प्रभावित चाऊ ने 1912 में कैन्टेन में वियतनाम की पुर्नस्थापना के लिए एक संस्था बनाई । इस संस्था द्वारा किये गये विद्रोहों का फ्रांसीसियों ने दमन किया । चाऊ के भूतपूर्व सहयोगी फान चाऊ त्रिह्न ने वियतनाम में क्रान्तिपूर्ण कार्यों के लिये 'अध्ययनदल' स्थापित किया । इस उपलक्ष्य में चाऊ तथा त्रिह्न को सरकार द्वारा बन्दी बना लिया गया और मृत्युदण्ड दिया गया ।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय हिन्द चीन तटस्थ रहा । परन्तु फ्रांसीसियों द्वारा दिये गये आश्वासनों को पूर्ण न किये जाने से वियतनाम के लोग अत्यन्त क्रुद्ध हो गये और 1916 में उन्होंने विद्रोह कर दिया, परन्तु यह विद्रोह असफल रहा ।

फाय क्विह्न नामक पत्रकार द्वारा संचालित टांगकिंता दल ने एक 'परा मर्श दात्री विधान सभा' की चुनाव द्वारा संवैधानिक सुधार का प्रयास किया । फ्रांसीसियों ने एक सलाह देने वाली विधान सभा की स्थापना कर दी परन्तु उसे किसी भी प्रकार का कोई राजनैतिक अधिकार नहीं दिया । इसी प्रकार 'ब्यू क्वैंग च्यू' ने 1923 में फ्रांस जाकर प्रयास किया परन्तु उनके

प्रयत्न को भी असफल कर दिया गया। तदनन्तर 1925 में 'यंग अनाम' नामक दल की स्थापना की गई परन्तु पारस्परिक वैमनस्य के कारण यह दल 1929 में समाप्त हो गया। 1927 में एक वियतनामी राष्ट्रीय दल (बी० एन० क्यू० डी० डी०) की स्थापना हुई। इसका एक मात्र लक्ष्य चीनी कोमिनतांग के सिद्धान्तों पर क्रान्ति कर स्वतंत्र शासन की इच्छा करना था। फरवरी 1930 में विभिन्न स्थानों पर हिंसा पूर्ण गतिविध्रियां आरम्भ हो गई। अत: फ्रांसीसियों ने इनके साथ क्रूरता का व्यवहार प्रारंभ कर दिया और अन्तत: इस दल के विभिन्न नेताओं को बंदी बना लिया गया और दल विसंगठित हो गया।

इस दल के विसंगठित होते ही हिन्द चीन में साम्यवादियों की स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ हो गयी। हिन्द-चीनी साम्यवादी दल के उद्भव के पूर्व तीन साम्यवादी दल वियतनाम में थे। 1930 में हांगकांग में तीन दलों के सम्मिलित सम्मेलन के फलस्वरूप हिन्दचीन में साम्यवादी दल की स्थापना हुई। इस प्रकार वियतनाम में एक ही साम्यवादी दल हो गया। दक्षिण पूर्व एशिया में तीनों साम्यवादी दल के नेता हो-ची-मिह्न थे उन्होंने अपनी 'ली प्रासेस डी लो कालोनीकेशन फेन्केस' में स्वतंत्रता प्राप्ति की आवश्यकता को महत्व दिया परन्तु कुछ समय पश्चात उनकी गतिविधियों को देखकर बन्दी बना लिया गया; किन्तु ब्रिटिश सभा ने उन्हें मुक्त करा दिया और बाद में वह कुछ समय के लिये भूमिगत हो गये।

1932 में 'त्रान-वान-ग्यो' तथा 'ता-थू-थाओ' नामक दो साम्यवादी नेताओं ने कोचीन चायना में कार्य करना प्रारम्भ किया। यह दोनों विदेश से देश लौट कर आये थे। जिस में त्रान मास्को में और थाओ फ्रांस से लौटे थे।

इन दोनों नेताओं ने फ्रांसीसी भाषा में 'ला लूते' नामक पत्रिका का सम्पादन किया जिसने जनख्याति प्राप्त की। यद्यपि साम्यवादी दल नें ग्रामीण समितियों द्वारा जन जागरण किया।

(शेषांश पृष्ठ 311 पर)

अध्याय 16

हिन्देशिया (इन्डोनीसिया)

परिचय

विश्व के प्रत्येक भाग में इतिहास सदैव से स्थान-विशेष के भूगोल से अत्यधिक प्रभावित रहा है, हिन्देशिया का इतिहास भी इस तथ्य से अप्रभावित न रह सका। हिन्देशिया को इसके द्वीप-समूह, शांत और विस्तृत सागर, पर्वतीय शृंखलाओं, भूगर्भ के अंचल में ज्वालामुखियों की बहुलता की भौगोलिक विशिष्टता ने इस क्षेत्र की सभ्यता एवं इतिहास को अत्यधिक प्रभावित किया है। हिन्देशिया के व्यापारिक महत्व ने सदैव विदेशियों को अपनी ओर आर्कषित किया है और बदले में विभिन्न देशों की सभ्यता एवं संस्कृति ने इस क्षेत्र को अत्यधिक प्रभावित किया है। हिन्देशिया की जलवायु उष्ण कटिबन्धी है जहाँ भारी वर्षा होती है जिसके कारण यहाँ घने वन पाये जाते हैं।

यदि प्रचलित अनुमानों को सत्य मान लिया जाये तो इंडोनेसिया में निवासियों की एक बड़ी संख्या दक्षिण-पूर्व एशिया एवं दक्षिण चीन से, ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व इन द्वीपों पर आकर बस गये थे। ईसा के प्रारम्भ में इन्डोनेशिया का समाज नये प्रस्तर युग (स्टोन एज) एवं ताम्र युग के स्तर पर पहुंच चुका था। इस समय तक लौह का प्रयोग भी आरम्भ हो गया था। इन्डोनेशिया में चावल की खेती मुख्य व्यवसाय थी तथा बैल एवं भैंसे की सहायता से कृषि कार्य किया जाता था। इस काल में ही इन्डोनेशिया के वासी समुद्री रास्तों के जानकार होने के कारण अन्तर-एशियाई व्यापार में सक्रिय रूप से लिप्त थे। समुद्री नगरों एवं चावल उत्पादक गांवों में छोटे-छोटे राजवंशों को सत्ता प्राप्त थी।

ईसा के बाद प्रथम शताब्दी में हिन्दू एवं बौद्ध धर्म का प्रभाव इन

टापुओं पर स्पष्टतया दृष्टिगोचर होने लगा । इन धर्मों का प्रभाव किस प्रकार यहाँ प्रारम्भ हुआ, इस विषय में इतिहासकारों में मतभेद है । यह स्पष्ट है कि भारत से हिन्देशिया में कभी भी बड़ी मात्रा में अप्रवास नहीं हुआ, न ही भारत ने कोई राजनैतिक विजय इस द्वीप समूह पर प्राप्त की । वास्तव में इन्डोनेशिया में भारतीय हिन्दू धर्म एवं संस्कृति का प्रभाव उन भारतीय व्यापारियों के माध्यम से पड़ा जो वहाँ के समुद्री नगरों में जाकर बस गये थे । हिन्दू धर्म के प्रभाव-विस्तार में उन भारतीय ब्राह्मणों का प्रमुख योगदान था जिन्हें इन्डोनेशिया के राजाओं ने आमंत्रित करके प्रभावशाली स्थानों पर नियुक्त किया । उन ब्राह्मणों ने धार्मिक अनुष्ठानों की विधि, साहित्य, निर्माणकला, राज्य-संगठन एवं राजकीय शक्तियों के निर्धारण के क्षेत्र को अत्यधिक प्रभावित किया ।

हिन्देशिया में राजनैतिक संगठनों की रूपरेखा प्रकटत: सप्तम, अष्टम एवं नवम् शताब्दियों में दृष्टिगोचर हुई । इस युग में यदाकदा जावा एवं सुमात्रा द्वीपों में प्रभावशाली राज्य स्थापित हुये । ये छोटे-छोटे राज्यों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर उनसे कर वसूल करते थे, किन्तु ये राज्य स्थायित्व ग्रहण करने में असफल रहे । इन राज्यों में सबसे अधिक शक्तिशाली साम्राज्य 18वीं शताब्दी में माजापाहित साम्राज्य था । पूर्वी जावा में स्थित यह द्वीप साम्राज्य था । इस साम्राज्य ने अपनी जल एवं थल सैन्य शक्ति का अत्यधिक विस्तार किया । 16वीं शताब्दी में इस साम्राज्य के पतन के साथ ही हिन्देशिया में इस्लाम का उदय हुआ । यद्यपि अरब देशों एवं भारत के मुसलमान एक लम्बे समय से हिन्देशिया के साथ व्यापाररत थे, परन्तु सोलहवीं शताब्दी में इस्लाम के प्रभाव में वृद्धि के फलस्वरूप यहाँ के निवासियों ने वृहत संख्या में इस्लाम धर्म स्वीकार करना प्रारम्भ किया । उत्तरी सुमात्रा के व्यापारिक समुद्री नगरों में प्रथम सफलता प्राप्त कर लेने के पश्चात इस्लाम शीघ्र ही पूर्व की ओर विस्तृत होने लगा । यद्यपि अधिकांश हिन्देशियाई शासकों ने इस्लाम को राजधर्म की मान्यता प्रदान कर दी थी परन्तु जनता ने इस धर्म को धीरे-धीरे स्वीकार किया । इस्लाम धर्म ने इन्डोनेशिया में विधिसंहिता का प्रचलन किया और आगामी चार शताब्दियों में इन्डोनेशिया की सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक प्रक्रियाओं को अत्यधिक प्रभावित किया ।

16वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही इन्डोनीसिया में योरोपीय शक्तियों ने अपना विस्तार आरम्भ कर दिया । हिन्देशिया में योरोपीय शक्तियों के

रूप में सर्वप्रथम पुर्तगाली लोगों ने पदार्पण किया। पुर्तगालियों ने मलक्का द्वीप के व्यापार पर अपना एकाधिकार स्थापित कर इन्डोनीसिया में कैथोलिक धर्म का प्रसार एवं प्रचार किया और उन्होंने इस्लाम धर्म का विरोध भी आरम्भ कर दिया। यद्यपि प्रमुख इस्लामिक केन्द्र मलक्का पर 1511 में अपना अधिकार स्थापित करने के 70 वर्ष उपरान्त तक पुर्तगाली इन्डोनीसिया में केवल सैनिक कार्यवाहियों में निमग्न रहे, तथापि उन्होंने क्षेत्रीय व्यापार पर एकाधिकार स्थापित करके व्यापार से स्वयं को अत्यधिक लाभान्वित भी किया। सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में डच (हालैण्ड के निवासी) लोगों ने इण्डोनीसिया में पदार्पण किया। प्रारम्भ में उनका मुख्य ध्येय व्यापार ही था। उन्होंने संयुक्त ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की। यह केवल एक व्यापारिक संस्थान थी परन्तु समय के साथ कम्पनी को अपने व्यापारिक साधनों की सुरक्षा हेतु राजनैतिक एवं सैनिक गतिविधियों को सम्मिलित करने पर बाध्य होना पड़ा। परिणामस्वरूप इस संस्था ने पुर्तगालियों के मसाले के व्यापार का एकाधिकार नष्ट कर उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। डच व्यापारिक संस्था ने अपना व्यापार ब्रिटिश, स्पेनिश तथा भारतीय व्यापारियों तक ही सीमित रखा। उन्होंने समुद्री नगरों में दुर्ग निर्माण किये एवं उनमें अपनी सुरक्षा हेतु सैनिक रखे। इसके अतिरिक्त उन्होंने हिन्देशिया के छोटे-छोटे द्वीपों पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित करके वहाँ के उत्पादन पर अपना नियंत्रण स्थापित किया, जिसके द्वारा अधिक भाव पर वस्तुओं का विक्रय कर लाभान्वित होने लगे। 17वीं शताब्दी में संचालकों की इच्छा के विरुद्ध यह कम्पनी इण्डोनेशिया में राजनीतिक एवं सैनिक गतिविधियों में रुचि लेने लगी। 18 वीं शताब्दी में डच कम्पनी ने जावा में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली। इसी मध्य काफी एवं चीनी का उत्पादन प्रारम्भ होने के कारण जावा में चीनी समुदाय का विकास प्रारम्भ हुआ। यद्यपि जावा के वाहर इस कम्पनी का विस्तार नहीं हुआ था, फिर भी सुमात्रा के कुछ छोटे-छोटे राज्य इसके अधीन थे। परन्तु यह कम्पनी सुमात्रा द्वीप पर अधिक प्रभावशाली नहीं थी।

नेपोलियन के युद्ध के पश्चात योरोपीय समझौते एवं क्षेत्रीय पुनर्स्थापना ने हालैण्ड (डच) के साम्राज्य की अवस्था अत्यधिक गम्भीर कर दी। केप कोलोनी एवं श्रीलंका पर ब्रिटिश अधिकार हो जाने के कारण मलक्का जल-मार्ग पर डच आधिपत्य को अत्यधिक संकट उत्पन्न हो गया था। इसके कारण भारत में भी डच व्यापार को समाप्त कर दिया गया। डच सरकार अत्यधिक ऋणग्रस्त थी एवं व्यक्तिगत पूंजी उद्योगीकरण में सहायक नहीं थी।

अत: डच सरकार की आर्थिक स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ ।

इन्डोनीसिया के कुछ बाह्य क्षेत्र आंशिक रूप से डच प्रभुत्व में थे, परन्तु वास्तव में इन क्षेत्रों पर स्थानीय चीन वासियों का आर्थिक नियंत्रण स्थापित हो चुका था । इन क्षेत्रों में बकाद्वीप, रियुद्वीप समूह एवं बोर्नियों के कई सागरतटीय पत्तन प्रमुख थे । पालेमबेंग में मुस्लिम अरब कुलीन तंत्र का राज्य था जबकि सेलिवस एवं जावा में राजनैतिक अशांति का वातावरण था ।

1819 में वान डर केपलान को हिन्देशिया का राज्यपाल (गवर्नर) नियुक्त किया गया जो 1825 तक इस पद पर आसीन रहा । उसने अपनी शासन व्यवस्था को संगठित करना चाहा परन्तु अपनी संदिग्ध एवं अकुशल नीति के कारण वह असफल रहा । उसकी नीति के मुख्य उद्देश्य किसानों को स्वतंत्रता प्रदान करना एवं जनता के कल्याण हेतु कार्य करना था । इससे पूर्व सर स्टैमफोर्ड रैफल ने एक राजस्व प्रणाली की स्थापना की थी जिसके अन्तर्गतभूमि कर मूल्यांकित करके राजस्व प्राप्त किया जाता था । परन्तु डच शासकों का सामन्तवादी नियंत्रण, जिसमें योरोपीय अधिकारी स्थानीय परम्परावादी शासकों पर अंकुश रखते थे, समाप्त कर दिया गया । इन्डोनेसिया के सरकारी कर्मचारियों को व्यापार एवं व्यवसाय में भाग लेने से मना कर दिया गया । राज्यपाल कैपलान इस द्वीप समूह की आर्थिक स्थिति को नियंत्रित करने में असफल रहा । फलस्वरूप कैपलान ने 2 करोड़ गिल्डर कलकत्ता के बैंकों से ऋण लिये और निधि सुरक्षा में इन्डोनिसिया के राजस्व को रखा । इस आर्थिक संकट को समाप्त करने हेतु हालैण्ड के राजा विलियम ने 1824 में 'हालैण्ड व्यापारिक संस्था' की स्थापना की । राजा विलियम ने अपनी व्यक्तिगत धनराशि का एक बृहत् भाग इस संस्था में लगाया और बेल्जियम के औद्योगिक विस्तार एवं जावा के कृषि उत्पादकों के मध्य आर्थिक स्रोत का कार्यक्रम निश्चित किया । परन्तु 1830 में बेल्जियम के स्वतंत्र हो जाने के कारण राजा विलियम का यह कार्यक्रम असफल हो गया । इसी समय जावा में गृह-युद्ध ने शासक की कठिनाइयों को अत्याधिक बढ़ा दिया । बेल्जियम की नई सरकार ने केवल एक चौथाई जनता ऋण की जिम्मेदारी पर सहमति प्रगट की । फलस्वरूप डच सरकार ने स्वयं आर्थिक दशा को स्थिरता प्रदान करने का प्रत्येक सम्भव प्रयास आरम्भ किया ।

जावा में 1825 एवं 1830 के मध्य भयंकर गृह-युद्ध हुआ । इसके निम्नलिखित मुख्य कारण थे ।

(1) स्थानीय जनता कैपलान के विरुद्ध थी, विशेषकर जकार्ता की

जनता कैंपलान के भूमि न्याय की विरोधी थी ।

(2) सरकार द्वारा प्रदेशों में लगाई गई राजस्व नीति के प्रति जनता में आक्रोश था ।

(3) डच सरकार ने द्वीपों निगोरो के स्थान पर दो वर्ष के बालक 'अमांगकू बुवानो पंचम' को जावा का राजा बना दिया था ।

(4) इस्लामिक अति संवेदनशीलता ।

युद्ध के प्रारम्भ में कैंपलान के स्थान पर 'गिसिगनीज' को हिन्देशिया का राज्यपाल बनाकर भेजा गया । इसी समय बेल्जियम ने हालैण्ड के विरुद्ध विद्रोह कर दिया जिसने स्थिति को और अधिक गम्भीर कर दिया । 1830 में बेल्जियम की पृथकता के कुछ माह पूर्व राजा विलियम ने गिसिगनीज के स्थान पर 'वान डेन बॉश' को गवर्नर नियुक्त किया । उसने आते ही स्थिति को सुधारने हेतु वीरोचित उपाय किये ।

सांस्कृतिक पद्धति

1830 में आते ही वान बॉश ने नई आर्थिक पद्धति का प्रारम्भ किया जिसे 'कल्चर पद्धति' के नाम से जाना जाता है । इसके निम्नलिखित सिद्धांत थे :–

(1) कृषकों के साथ इस बात का समझौता किया जाये कि वे अपनी धान-उत्पादक भूमि का कुछ भाग ऐसे उत्पादनों के लिए सुरक्षित रखें जो योरोपीय बाजारों में अधिक बिकते हों ।

(2) ऐसे छोड़ी हुई भूमि कुल क्षेत्र का पाँचवा भाग होनी चाहिये ।

(3) योरोपीय बाजारों हेतु उत्पादित उत्पादनों के श्रमिकों की संख्या धान उत्पादन में रत श्रमिकों की संख्या से अधिक नहीं होनी चाहिये ।

(4) ऐसी भूमि पर कोई भी भूमि कर नहीं लिया जायेगा ।

(5) यदि उपज क्षतिग्रस्त हो जाती है तो उसका उत्तरदायित्व सरकार वहन करेगी ।

(6) स्थानीय जनता अपने मुखिया के नेतृत्व में कार्य करेगी परन्तु सम्पूर्ण नियंत्रण योरोपीय अधिकारियों के हाथ में होगा ।

(7) उत्पादनों को जिला मुख्यालय में जमा करना होगा जहाँ उसका मूल्यांकन होगा ।

(8) श्रमिकों का उचित विभाजन होगा ।

उपर्युक्त व्यवस्था अत्यन्त अनुकूल वातावरण में प्रारम्भ की गई थी

क्योंकि गृह-युद्ध के पश्चात डच सरकार का एक बड़े भू भाग पर प्रभुत्व स्थापित हो गया था। प्रारम्भ में वान बॉश ने केवल नील एवं शकर का ही उत्पादन कराया परन्तु कुछ समय पश्चात इस तालिका में तम्बाकू, चाय काफी, कागज एवं कपास भी सम्मिलित हो गये थे। इस प्रकार डच सरकार ने जावा द्वीप का सुव्यवस्थित रूप से शोषण आरम्भ किया। सरकार ने यद्यपि भूमि के पांचवें भाग पर ही कृषि कराने का निर्णय लिया था, परन्तु अशासकीय प्रणाली के द्वारा सरकारी कृषि दो तिहाई भाग पर होनी प्रारम्भ हो गई। इस पद्धति को प्रयोगात्मक बनाने का प्रयास किया जाता रहा। इसी मध्य बेल्जियम भी हालैण्ड से पृथक् हो गया और हालैण्ड को विशेष आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। इस कारण इस विशिष्ट पद्धति का मुख्य ध्येय परिवर्तित हो गया। वान बॉश कामुख्य ध्येय हालैण्ड सरकार को दिवालिया होने से बचाना था। इस पद्धति के द्वारा शासकों को अत्यन्त लाभ हुआ परन्तु स्वदेशी जनता की दशा शोचनीय हो गई। फलत: जावा वासियों ने इस पद्धति का प्रत्यक्ष रूप से विरोध प्रारम्भ कर दिया। सरकार ने उपर्युक्त व्यवस्था को सुचारु रूप से लागू करने हेतु वान-बॉश को अधिनायकीय शक्तियाँ प्रदान कीं। 1832 के पश्चात जनता कल्चर पद्धति के बोझ से दबती ही चली गई। उर्वर भूमि पर सरकार ने अधिकार कर लिया एवं बंजर भूमि पर किसानों से खेती करने को कहा। फलस्वरूप जावा में खाद्य पदार्थों की कमी हो गई। इसका एक अन्य कारण यह भी था कि सरकार ने चाय, काफी, तम्बाकू, रुई. मिर्च, शक्कर आदि के उत्पादन पर अत्यधिक ध्यान देना प्रारम्भ किया था तथा इस प्रकार स्थानीय जनता को खाद्य पदार्थों कीं खेती करने से वंचित रखा गया। फलत: कृषक वर्ग की आर्थिक दशा अत्यन्त दयनीय हो गयी।

उपर्युक्त व्यवस्था को प्रयोगात्मक रूप देने के कुछ राजनैतिक परिणाम भी हुए। सरकार ग्रामीण क्षेत्र में अपना प्रभाव स्थापित करने को बाध्य हो गयी तथा इस व्यवस्था में उत्पादन एवं वसूली हेतु बड़ी संख्या में योरोपीय अधिकारी नियुक्त किये गये। गांव के पारम्परिक मुखियों को पुन: उनके अधिकार प्रदत्त किये गये, उनके लिए भूमि उत्पादन में एक भाग आरक्षित रखा गया।

इसी समय 1843-1848 में दुर्भिक्ष (अकाल) फैल गया जिसके फलस्वरूप जावा वासियों की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी। ऐसी अवनत परिस्थिति में सुधार लाने हेतु 1848 में हालैण्ड के संविधान को उदार बनाया गया जिसमें उपनिवेश से संबन्धित मामलों को हालैण्ड की संसद के अधीन कर

दिया गया। उदारवादी कार्यक्रम के अन्तर्गत सुधार कार्यक्रम ने जावा के लोगों को कुछ सीमा तक प्रभावित किया। इस योजना के अन्तर्गत स्थानीय समिति को काफी अधिकार प्रदान किये गये। महाराज्यपाल को क्षेत्रीय नीति-निर्धारण के प्रशासकीय अधिकार दिये गये। इसके अतिरिक्त स्थानीय जनता पर अत्याचार न करने तथा उन्हें धान उत्पादन करने हेतु आवश्यक भूमि देने का परामर्श दिया गया। हलैण्ड व्यापार संस्थान का व्यापारिक एकाधिकार समाप्त कर दिया गया, तो भी यह संस्थान 1899 तक कार्य करता रहा।

इस संविधान की धारा 59 के अनुसार हालैण्ड के राजा को उपनिवेशों के शासक के रूप में मान्यता देने के साथ यह प्राविधान रखा गया कि उपनिवेशों को संवैधानिक विधि द्वारा स्थापित किया जाय। डच संसद को उपनिवेशों की मुद्रा एवं अर्थ-व्यवस्था को विधि-संगत बनाने का अधिकार दिया गया। धारा 60 के अनुसार हालैण्ड के राजा को प्रति वर्ष उपनिवेशों के सम्बन्ध में एक विवरण प्रस्तुत करने का प्राविधान भी बनाया गया परन्तु इससे उपनिवेशों पर बहुत ही कम प्रभाव पड़ा। 1854 में संवैधानिक नियम पारित किये गये जिन्हें 1856 में लागू किया गया। उपनिवेशों से सम्बन्धित मुख्य अधिकार गवर्नर जनरल तथा समिति को सौंपे गये। इस प्रकार 1836 में संस्थापित शासन पद्धति का अन्त हो गया तथा समिति केवल परामर्शदाता के रूप में कार्य करने लगी। इसके अतिरिक्त इसने उपनिवेशों में 'कल्चर पद्धति' को समाप्त करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम उठाया।

1860 में हालैण्ड में उदारवादियों ने हिन्देशिया के प्रति सुधारवादी कार्य-क्रमों की अभियाचना की। इन उदारवादी सुधार-समर्थक लोगों में डच संसद के सदस्य भी थे। हालैंड की सरकार ने विचारशील और चिंतनशील लोगों के अभिप्राय को समझ कर सर्वप्रथम दास प्रथा को समाप्त कर दिया। कल्चर पद्धति के विरुद्ध भी पत्र, पत्रिकाएं तथा पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। दो पुस्तकें, जिन्होंने विशेष रूप से लोगों को प्रभावित किया वे थीं एडवर्ड डेक्कर की 'मैक्स हैवलार और आइजक पुटी की 'दि रेगुलेशन आफ शुगर कान्ट्रैक्ट इन जावा'। इन पुस्तकों ने हिन्देशिया और हालैण्ड की जनता को प्रचलित डच नीतियों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए बाध्य किया।

वान डर पुटी के शासन काल (1863-1866) में आर्थिक अत्याचार को समाप्त करने की दशा में कदम उठाये गये। उसके अनुसार बलपूर्वक कल्चर व्यवस्था से प्रत्यक्ष कर व्यवस्था की नीति अधिक उपयुक्त थी और व्यक्तिगत व्यवसाय की कानून तक सीधी एवं सरल पहुँच आवश्यक थी। 1866 में सरकार ने चाय, कॉफी, नील, मसाले पर एकाधिकार एवं कल्चर

व्यवस्था को समाप्त कर दिया। इससे पूर्व 1864 में एक एकाउन्ट अधिनियम के पारित हो जाने से इस दिशा में विशेष प्रगति हुई क्योंकि उपर्युक्त अधिनियम के एक प्राविधान के अनुसार 1867 के पश्चात् इन्डोनेशिया का वार्षिक बजट प्रति वर्ष गृह संसद से पारित किया जाना चाहिए था। 1865 में वनरक्षक जिलों में बेगारी का अन्त कर दिया गया 1870 में 'चीनी कानून' (शूगर लॉ) के पारित हो जाने के फलस्वरूप इस दिशा में अत्यधिक प्रगति की गई। इसके अनुसार 1878 के पश्चात चीनी उत्पादन व्यवस्था का धीरे-धीरे अन्त होना था। इसका मुख्य ध्येय व्यक्तिगत उद्योगपतियों को स्वतंत्रता और सुरक्षा प्रदान करनी थी।

इस कार्यक्रम के प्रभावशाली परिणाम हुए। व्यक्तिगत उद्योगों को 1870-75 के मध्य 660 लाख हालैण्ड मुद्रा का लाभ हुआ। 1869 में स्वेज नहर का खुल जाना औद्योगिक लाभ का एक विशेष कारण था। खाद्य सामग्री के उत्पादन की सुरक्षा हेतु इन्डोनेशिया के वासियों द्वारा गैर-हिन्देशियाई लोगों को भूमि विक्रय करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया। 1870 एवं 1900 के मध्य स्थानीय निर्यात में दोगुने और आयात में चार गुने की वृद्धि हुई।

इन्डोनीसिया के अन्य द्वीपों में उपनिवेश शासन की स्थापना जावा में उपनिवेश शासन की स्थापना के काफी समय उपरान्त हुई। 1870 तक डच सरकार को यह स्पष्ट हो गया था कि यदि वह हिन्देशिया के अन्य भागों पर अपना प्रभाव स्थापित नहीं करेगी तो अन्य योरोपीय शक्तियाँ उसपर अधिकार कर लेंगी। इसके अतिरिक्त डच उद्योग नवीन मंडियों की खोज कर रहे थे जिसके हेतु उन्हें कच्चे माल की आवश्यकता थी जो कि इन द्वीपों से पूर्ण हो सकती थी। अगले दशक में डच सरकार ने सुमात्रा के लिमावा, सुलेवेसी एवं सुन्दा द्वीपों के राजाओं को सन्धि पर हस्ताक्षर करने हेतु बाध्य किया जिसने उन्हें डच सरकार के नियंत्रण में रहने पर विवश कर दिया। 1909 तक सम्पूर्ण हिन्देशिया पर डच शासन की स्थापना हो चुकी थी।

नैतिक नीति (इथिकल पालिसी)

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में आर्थिक प्रस्फूति ने यह स्पष्ट कर दिया कि हिन्देशिया में डच आर्थिक विकास हेतु डच सरकार को नयी दिशा में व्यवसाय प्रदान करने होंगे। इसी समय हालैण्ड में मानवीय आधारों पर हिन्देशिया में जन कल्याण हेतु एक माँग हुई जिसके फलस्वरूप नयी उपनिवेश नीति का जन्म हुआ। इस प्रकार 1901 में नैतिक नीति का प्रादुर्भाव हुआ। इसका मुख्य ध्येय सरकार को सीधे एवं सक्रिय कार्यों

से नये व्यवसायों की उत्पत्ति करना, जनता के लिये कल्याण कार्यक्रमों की रचना करना तथा स्कूलों की स्थापना करना था। इस नीति को अपनानें का एक कारण यह भी था कि इन्डोनेशिया में बड़ी व्यवसायी संस्थायें काफी शक्ति-शाली हो गयी थी जिसके फलस्वरूप जन कल्याण संभव नही था। हालैण्ड वासियों का यह विचार था कि बीसवीं शताब्दी की सुधार भावना से सभी सम्बन्धित जनता को लाभ होना चाहिये। यह आशा व्यक्त की गई कि यदि एक बार इस द्वीप समूह की जनता को स्वयं उत्थान का अवसर प्रदान किया गया तो वह अपनी स्थिति को सुधारने में सफल हो जायेगी।

इस नीति के अन्तर्गत, सर्वेक्षण एवं अन्वेषण के कार्यक्रम को त्वरित किया गया, रेलवे मार्ग तथा स्थल मार्ग का निर्माण किया गया, पोत-परिवहन (जहाजरानी) का विकास किया गया, वनों की रक्षा एवं भूमि-विकास के कार्यक्रम बनाये गये, पशुचिकित्सा में उत्थान का विकास हुआ, कृषि एवं मछली उत्पादन में वृद्धि की गई। इस नीति के अन्तर्गत शिक्षा क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किये गये। इस शिक्षा-विकास के अन्तर्गत 1900 में 1615 विद्यार्थी डच भाषा के प्राथमिक विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। ग्राम प्रशासन एवं डच संस्थाओं में स्थानीय निवासियों की नियुक्ति के लिये सरकार ने गांवों में स्कूलों की स्थापना पर से प्रतिबन्ध हटा लिया। इस प्रकार हिन्देशिया में शीघ्र ही पश्चिमी शिक्षा-प्राप्त वर्ग का उदय हुआ।

सरकार द्वारा नैतिक नीति के अन्तर्गत प्रदत्त जन-कल्याण सेवाओं एवं विश्व के बाजारों में हिन्देशिया के उत्पादनों की बढ़ती हुई मांग ने अमेरिका, ब्रिटेन एवं डच व्यापारियों को इस ओर आकर्षित किया। इन उत्पादनों में शक्कर, काफी, चाय, तम्बाकू, रबर, टिन और तेल मुख्य थे। जावा के बाहर तथा मुख्यतया सुमात्रा के पूर्व एवं दक्षिण भागों में कृषि एवं खदानों का तीव्रता से विकास हुआ। इसके परिणामस्वरूप निर्यात में वृद्धि हुई जिससे उप-निवेश शासन को अत्यधिक लाभ हुआ।

1901 से1924 तक हिन्देशिया का इतिहास नैतिक नीति के विरोधाभासों का इतिहास है। इस नीति ने हिन्देशिया में एक आधुनिक शासन-व्यवस्था का प्रारम्भ किया तथा यहां के निवासियों की सुविधा के लिए कई कल्याण-कार्यक्रम क्रियान्वित किये। इस नीति ने जनसंख्या-वृद्धि के बावजूद प्रति व्यक्ति की आय को घटने नहीं दिया। डच सरकार ने अपनी इस नीति के अंतर्गत ग्राम समाज का विघटन नहीं होने दिया और बड़े भूस्वामी समुदाय को हतोत्साहित किया। इसकी रूढ़िवादिता ने जावा में आर्थिक विकास का

मार्ग प्रशस्त किया अर्थात् सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रगति का केन्द्र नगरों से स्थानान्तरित होकर ग्रामों में आ गया।

नैतिक नीति का विधिवत् प्रारम्भ 1901 में हालैंड की सरकार ने किया जिसमें ईसाई दलों ने सहायता प्रदान की। पुनः विकेन्द्रीकरण एवं स्थानीय जनता के कल्याण हेतु कार्यक्रम आरम्भ किये गये। इसके अन्तर्गत शक्तियों एवं अधिकारों का बृहत् रूप से विकेन्द्रीकरण किया गया। वैधानिक सुधार मुख्यतः श्रमिक एवं कृषि तक ही सीमिति रहे। 1899 के अधिनियम ने स्थानीय उद्योगों को सुरक्षा प्रदान थी। 1903 में इसके अन्तर्गत कृषि का उपनिवेशीकरण हुआ तथा 1904 में श्रमिकों की दशा सुधारने का प्रयत्न किया गया। 1906 में 'ग्राम रेगुलेटिंग अधिनियम' तथा 1901 में 'श्रमिक भर्ती नियन्त्रण अधिनियम' पारित हुआ। तीस वर्ष के अन्दर 14 लाख हेक्टेयर भूमि में सिंचाई सुविधाएं प्रदान करने हेतु सिंचाई परियोजनाओं का निर्माण किया गया। 1901 एवं 1906 में जनता को ऋण देने के कार्यक्रम चलाये गये, जिसके परिणामस्वरूप जनता की चीनी महाजनों से रक्षा की गई। इसके अतिरिक्त खाद्य भण्डार, बीज, ऋण-मुक्ति एवं मकानों के निर्माण के कार्यक्रम निर्मित किये गये।

हिन्देशिया में सत्ता के विकेन्द्रीकरण की प्रत्येक स्तर पर आलोचना एवं विरोध किया गया। वास्तव में डच सरकार ने सीमिति स्वतंत्रता प्रदान की थी जिसका अर्थ स्थानीय अधिकारियों को भी सीमित सुविधाएँ देना था। यूरोपीय अधिकारियों द्वारा प्रदत्त विरोध के कारण यह स्थानीय स्वतंत्रता नष्ट हो गयी थी। डच सरकार द्वारा जनता के कल्याण का यह प्रयास पूर्ण-रूपेण व्यर्थ नहीं हुआ क्योंकि जावा एवं सुमात्रा के दो राज्यों में सामाजिक उन्नति लगभग शून्य थी जहाँ कि डच अधिकारियों का कोई नियंत्रण नहीं था।

इस नीति के अन्तर्गत डच अधिकारियों को हिन्देशिया के सम्बन्ध में अवगत कराया गया। स्थानीय छात्रों का योरोप के बारे में भी ज्ञानवर्धन किया गया। यह कार्यक्रम सफल नहीं हो सका क्योंकि इस कार्यक्रम में धन का अभाव था तथा स्थानीय ग्रामवासियों ने भी इसमें उत्साहपूर्वक भाग नहीं लिया।

हालैण्ड में इस नीति के मुख्य समर्थक डा० अब्राहम केपर थे जो 1901 में हालैण्ड के प्रधान मंत्री बने। उन्होंने अपने लेख "हमारा कार्यक्रम" (ऑन्स प्रोग्राम) में सुझाव दिया कि सरकार को स्थानीय जनता के कल्याण हेतु नैतिक उत्तरदायित्व ग्रहण करना चाहिये एवं इस विचार के साथ ही

उन्होंने 'इथिकल नीति' को साकार रूप किया। इथिकल नीति के एक अन्य समर्थक हालैण्ड के इस्लाम धर्म के विद्वान स्नाक हुर्ग्रोंन थे। इनका विचार था कि हिन्देशिया में डच संस्थाओं में इस्लाम धर्म में शिक्षित व्यक्तियों के सम्मिलित करने की आवश्यकता थी जिससे इस्लाम धर्म के पुनर्जागरण के राजनैतिक पहलू को पृथक रखा जा सके। वे इस तथ्य से सहमत थे कि हिन्देशिया के सामाजिक निर्माण हेतु इस्लाम धर्म आवश्यक स्थायित्व नहीं दे सकता। उन्होंने इस बात का सुझाव दिया कि आर्थिक एवं राजनैतिक सुधार आधुनिक हालैण्ड के प्रशासन द्वारा लाने का प्रयास करना चाहिये।

नैतिक नीति का इन्डोनीसिया के यूरोपीय व्यापारी वर्ग ने अत्यधिक विरोध किया। इस समुदाय की संख्या बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में डच सरकारी कर्मचारियों से अधिक थी। इसके अतिरिक्त इन्डोनेशिया के डच निवासी हालैण्ड की सरकार के अधिकारों को कम करना चाहते थे तथा नीति निर्धारण एवं स्थानीय प्रशासन पर अपना अधिकार जमाना चाहते थे। उन्होंने सामाजिक उत्थान नीति की घोर आलोचना की तथा इसे त्रुटि-पूर्ण एवं व्यर्थ बताया, विशेषकर उन्होंने हिन्देशियाई लोगों को प्रशासन में डच अधिकारी पद देने का सुझाव दिया।

इथिकल नीति ने इन्डोनेसिया में दो नये एवं सक्रिय सामाजिक समुदायों समूहों को जन्म दिया। प्रथम समुदाय पश्चिमी शिक्षा-प्राप्त हिन्देशिया वासियों का था और द्वितीय सुमात्रा तथा सुलाबेसी के अल्प भू-स्वामियों का। इस प्रकार इस नीति ने हिन्देशिया वासियों द्वारा उपनिवेशवाद को स्वीकृति प्रदान करना समाप्त कर दिया। आर्थिक रूप से हालैण्ड अन्य किसी पश्चिमी साम्राज्यवादी देश की अपेक्षा अपने उप-निवेश पर अधिक आधारित था। अतः दोनों समुदायों के मध्य एक तीव्र विरोध आरम्भ हो गया। पश्चिमी शिक्षा में शिक्षित समुदाय ज्यादा शक्तिशाली हो गया था क्योंकि यह जनता में वर्गों के विरुद्ध था जिसके अन्तर्गत यूरोपीय लोग इन्डोनेशियावासियों को स्थायी रूप से तथा उनके प्रशिक्षण के अनुरूप स्तर देने हेतु तैयार नहीं थे।

राष्ट्रीय आंदोलन का उदय

हिन्देशिया में राष्ट्रीय आन्दोलन ने भी अन्य देशों की भाँति ही मार्ग अपनाया जो कि विदेशी सत्ता के विरोध में था। इस समय इन्डोनेशिया के समाज की कुछ विशेषताएँ थीं जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन के स्वरूप को परिवर्तित कर उसे एक विशेष स्थान प्रदान किया। इन्डोनेशिया की जनता

जातिगत भेद-भाव के बंधनों से मुक्त थी तथा लगभग सभी निवासियों का धर्म भी एक ही था। सांस्कृतिक दृष्टि से वे सब एक समान थे। इस समाज में महिलाएँ अन्य एशियाई महिलाओं से अधिक स्वतंत्र थीं। इन्हीं सब कारणों ने इस आंदोलन को बहुत प्रभावपूर्ण बनाया।

इन्डोनेशिया में राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ होने का मुख्य कारण हालैंड की साम्राज्यवादी नीति थी। 19वीं शताब्दी में हालैण्ड सरकार ने जावा एवं अन्य द्वीपों का बड़े पैमाने पर शोषण करना प्रारम्भ कर दिया था जिसके फलस्वरूप वहाँ हिंसात्मक विरोध का जन्म हुआ। इन्डोनेशिया में राष्ट्रीय आंदोलन को प्रारम्भ करने में जितना योगदान इन्डोनेशिया की हालैण्ड के साथ दीर्घकालीन शोषणकारी नीति ने किया, उतना ही हालैण्ड में इन्डोनेसिया की स्वतंत्रता स्थापना हेतु निर्मित संस्थाओं एवं हालैण्ड सरकार द्वारा त्रुटियों को सुधारने के प्रयास ने किया। यदि इन्डोनेशिया में हालैण्ड सरकार की साम्राज्यवादी नीति की तुलना अन्य यूरोपीय देशों की नीति से की जाय तो हालैण्ड का अनुपात नैतिक आधार पर भारी रहेगा। हालैण्ड सरकार की उपनिवेशी नैतिकता का एक उदाहरण उसकी इथिकल नीति थी। इस नीति के अन्तर्गत इन्डोनेशिया की संचार व्यवस्था अत्यधिक सफल हो जाने के कारण हालैण्ड के सरकारी अधिकारियों का नियंत्रण उन पर बढ़ गया था फलस्वरूप जनता में रोष व्याप्त हो गया। इसके अतिरिक्त इस नीति के अन्तर्गत हालैण्ड सरकार द्वारा प्रदत्त शिक्षा सुविधाओं ने इन्डोनेशिया में एक ऐसे वर्ग को उत्पन्न किया जिसने राष्ट्रीय भावना को जागृत करने में सक्रिय कार्य किया। प्रत्येक उपनिवेश में उपनिवेशी शासन द्वारा प्रदत्त सुधार इस शक्ति के विरुद्ध भी जाते है। इन्डोनेशिया भी इससे पृथक न रह सका। वास्तव में इन्डोनेशिया में राष्ट्रीय आन्दोलन का मुख्य कारण हालैण्ड सरकार की त्रुटिपूर्ण नीति न होकर, उसकी सुधारात्मक एवं उदारवादी नीति थी।

इसके अतिरिक्त हालैण्ड सरकार ने हिन्देशिया की जनता पर किसी प्रकार की रंगभेद नीति का पालन नहीं किया, न ही शिक्षित स्थानीय वासियों को डच संस्था से पृथक रखा। इसके उपरान्त भी डच शिक्षित जनता को इन्डोनेशिया की शिक्षित जनता से उत्तम समझा जाता था। इसके अतिरिक्त डच उद्योगों के विकास हेतु उन्हें स्थानीय उद्योगों से प्रतियोगिता से बचाने हेतु कुछ कदम उठाये गये थे। इसके कारण वहाँ के निवासियों में रोष उत्पन्न हुआ।

इस प्रकार इन्डोनेशिया में राष्ट्रवाद डच सरकार के अत्याचारी

शासन का परिणाम नहीं था परन्तु इन्डोनेशिया में सामाजिक परिवर्तन की शक्तियों एवं इसी समय हुए आर्थिक विकास का परिणाम था जो कि डच सरकार की संरक्षण की नीति द्वारा न तो रोका ही जा सकता था, न ही जनकल्याण कार्यक्रमों द्वारा इच्छित दिशा में मोड़ा ही जा सकता था। गाँवों में सामजिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण, परम्परावादी मूल्यों की अवहेलना से इन्डोनेसिया की जनता में एक जागरूकता की भावना का विकास हुआ। इसके अतिरिक्त इन्डोनेशिया की जनता को नये आर्थिक विकास के क्षेत्रों से अवगत कराया गया जो कि उसमें राष्ट्रवाद की भावना को जगाने में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए।

द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व के दशक का राजनैतिक इतिहास हिन्देशिया में राष्ट्रवाद एवं उपनिवेशवाद के मध्य संघर्ष का इतिहास था। हिन्देशिया में राष्ट्रवाद का उदय सर्वप्रथम जागरण एवं पुर्ननिर्माण की माँगों के रूप में हुआ। 1908 में सर्वप्रथम एक राष्ट्रवादी बौद्धिक संस्था 'बूदी ओटोमो' (भव्य प्रयास) की स्थापना की गई। इस संस्था के संस्थापक डा० सोदरा उसादा थे और इस संस्था का मुख्य उद्देश्य जनता का सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक उत्थान था। इसके सदस्य जावा के उच्चकुल के लोग, छात्र एवं सरकारी कर्मचारी थे परन्तु जनता ने इस संस्था में कम रुचि प्रदर्शित की।

चार वर्ष उपरान्त 'सरेकत इस्लाम' (इस्लामिक एसोसियेशन) की स्थापना की गई। यद्यपि प्रारम्भ में यह व्यापारियों तथा पश्चिमी शिक्षित समुदाए को लेकर स्थापित की गई थी, तथापि इसका मुख्य ध्येय चीनियों के वाटिक उद्योग में व्यापारिक हस्तक्षेप को रोकना था। कुछ समय पश्चात ही यह जनता के राजनीतिक दल के रूप में उभरकर सामने आयी। इसका अध्यक्ष उमर सईद जोक्रोमिनोटो था। इसकी शाखाएँ जावा, सुमात्रा, सुलाबेसी में थी। 1916 तक इस दल की सदस्यता लाखों में पहुँच गयी थी। 1917 में इसमें मार्क्सवादी वर्ग भी सम्मिलित था जिससे 1920 में इस समूह ने अपने को साम्यवादी दल(पी०के०आई०)में परिवर्तित कर लिया। साम्यवादी दल तथा इस्लाम दल के मध्य तनाव हो जाने के कारण 1921 में साम्यवादी दल के सदस्यों को सरेकत इस्लाम दल के सदस्य होने पर रोक लगा दी गई। 1926 एवं 1928 में इस साम्यवादी दल के एक समूह ने जावा एवं सुमात्रा में विद्रोह करने की चेष्टा की जिसके फलस्वरूप सरकार ने दमनकारी कार्यवाहियाँ कर इस विद्रोह को कुचल दिया फलतः साम्यवादियों की गतिविधियाँ समाप्त प्राय हो गयीं एवं सरेकत इस्लाम की क्रियाएं भी धीमी हो गयीं।

1926 के मध्य में बांडुग विश्वविद्यालय के स्नातकों के समूह ने इन्डोनेशिया राष्ट्रवादी दल की स्थापना की। इसका नेतृत्व एक नवयुवक अभियन्ता (इंजीनियर) सुकार्णो को सौंपा गया। इस दल ने इन्डोनेशिया की पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग की तथा डच अधिकारियों के साथ असहयोग करने की नीति का सुझाव दिया। 1929 में सरकार ने इस संस्था को अवैध घोषित कर दिया। सुकार्णो एवं अन्य नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। इस दल के सदस्यों ने इन्डोनेशिया पीपुल्स दल (पी.आर.आई) एवं इन्डोनेशियन दल की सदस्यता स्वीकार कर ली। इन दोनों दलों में स्वतंत्रता प्राप्ति की विचारधारा तथा अपनाये गये मार्गों में अन्तर था। इण्डोनेशियन दल ने इन्डोनेशियन राष्ट्रवादी दल की उग्र-नीतियों का पालन किया। इन्हीं नीतियों को लेकर स्वतंत्रता समूह की स्थापना हुई जिसका नाम बाद में 'इन्डोनेशियन राष्ट्रीय शिक्षा क्लब' पड़ा। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य इन्डोनेशिया के राष्ट्रवादियों को राष्ट्रवादी कार्यक्रमों में नेतृत्व हेतु शिक्षित करना था। इसके मुख्य नेता सजाहरिरि एवं हाटा थे। इसके विपरीत इन्डोनेशिया पीपुल्स दल उदारवादी नीतियों का पक्षपाती तथा डच सरकार के साथ सहयोग से राष्ट्रीय स्वतंत्रता की प्राप्ति का समर्थक था। 1935 में 'ग्रेटर इन्डोनेशियन दल' की स्थापना हुई जो इन्डोनेशियन पीपुल्स दल की नीतियों का समर्थक था। उग्रवादी नीतियों के समर्थन में 1936 में इन्डोनेशियन पीपुल्स मूवमेन्ट की स्थापना हुई। 1939 में राष्ट्रवादी आन्दोलन के लिये विभिन्न दलों के मध्य एकता का प्रयास किया गया जिसके फलस्वरूप 'फेडरेशन आफ इन्डोनेशियन पोलिटिकल पार्टीज' का निर्माण हुआ परन्तु इसी समय द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया तथा जर्मनी ने हालैण्ड पर आक्रमण कर दिया जिसके फलस्वरूप इस दल का प्रभाव स्पष्ट न हो सका।

हालैण्ड ने 1981 के पश्चात् इन्डोनेशिया को स्वायत्तता प्रदान करना प्रारम्भ किया। 1918 में सरकार ने लोक परिषद् (पीपुल्स काउन्सिल) के निर्माण पर सहमति प्रकट की। यह एक परामर्शी संस्था थी जिसके कुछ सदस्य नामांकित किये जाते थे और कुछ निर्वाचित होते थे। इन निर्वाचित सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्ष तथा अल्प मताधिकारों द्वारा किया गया था। 1926 में इस समिति को सह-विधायिकीय शक्तियाँ प्रदान की गई परन्तु इसकी क्रियाओं पर गवर्नर जनरल को निषेधाधिकार प्राप्त था। 1931 में सरकार इस बात पर सहमत हो गयी कि इस समिति में एशियन इंडोनेशियन एवं विदेशियों का बहुमत होना चाहिये। परन्तु इसके अतिरिक्त इस दिशा में कोई विकास नहीं हुआ। इस समिति के कार्यकाल में अधिकांश समय तक राष्ट्र-

वादियों ने इसका बहिष्कार किया। 1936 में इस समिति ने एक सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें उस समय हालैण्ड में प्रचलित संविधान की रूपरेखा के अन्तर्गत आगामी वर्षों में हिन्देशिया में स्व-शासन की दिशा में विकास कार्यक्रमों पर विचार विमर्श का प्रस्ताव रखा गया। परन्तु हालैण्ड की सरकार ने इसे अस्वीकार कर दिया। इसी समय जर्मनी ने 1939 में हालैण्ड पर आक्रमण कर दिया तथा युद्ध के मध्य इन्डोनेशिया में संवैधानिक विकास की दिशा अवरुद्ध हो गई।

द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ के पश्चात् 4 नवम्बर, 1939 को हालैण्ड सरकार ने इन्डोनेशिया की तटस्थता की घोषणा कर दी। इससे सुन्दराखाड़ी में मित्र राष्ट्रों के युद्धपोतों को मार्गीय स्वतंत्रता प्राप्त हो गयी। हालैण्ड पर शीघ्र ही जर्मनी का अधिकार हो गया तथा हालैण्ड की निष्कासित सरकार ने इंग्लैण्ड में शरण ली। इन्डोनेशिया में गवर्नर जनरल को संपूर्ण अधिकार प्राप्त हो गये तथा पीपुल्स काउन्सिल ने स्थानीय सरकार के साथ अस्थायी पूर्ण प्रभुसत्ता ग्रहण की। सैकड़ों राष्ट्रवादी नेताओं ने इस समय डच सरकार की सहायता की। इस समय गवर्नर जनरल ने हालैण्ड की रानी विल्हेलिमना की ओर से एक घोषणा प्रकाशित की जिसके मुख्य प्रविधान निम्नलिखित थे:–

(1) युद्ध के पश्चात् इन्डोनेशिया को स्वतंत्र कर दिया जायेगा तथा वह स्वयं अपने संविधान के निर्माण हेतु स्वतंत्र होगा।

(2) डच सरकार एवं इन्डोनेशिया सरकार के मध्य सहयोग का व्यवहार समानता के आधार पर होगा।

(3) किसी भी समिति के निर्माण में हालैण्ड एवं इन्डोनेशिया का प्रतिनिधित्व समान होगा।

किन्तु यह घोषणा इन्डोनेशिया की जनता एवं राष्ट्रवादियों को सन्तुष्ट करने में असफल रही।

20 फरवरी, 1942 को इन्डोनेशिया पर जापान ने आक्रमण कर दिया तथा शीघ्र ही पूर्ण इन्डोनेशिया पर जापान का अधिपत्य स्थापित हो गया। अक्टूबर 1943 में जापान ने केन्द्रीय समिति की स्थापना की जिसमें इन्डोनेशिया के राष्ट्रवादी भी सम्मिलित किये गये तथा उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता का आश्वासन दिया गया। डा० सुकार्णो को, जो कि जेल में बन्द थे, को मुक्त कर इस समिति का अध्यक्ष बनाया गया।

जापानी युग (1942-45)

1942 में जापान ने हालैण्ड को हराकर इन्डोनेशिया पर अधिकार कर

लिया जिससे इन्डोनेशिया के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। जापानियों ने अपने शासन काल में हालैण्ड द्वारा संस्थापित राज्यतंत्र एवं इन्डनेशिया के समाज में अभूतपूर्व परिवर्तन किये। इसके दूरगामी परिणाम हुए।

जापानी आधिपत्य के शीघ्र बाद, इन्डोनेशिया के यूरोपीय निवासियों को शिविरों में रखा गया तथा इन्डोनेशिया की सरकार में उत्पन्न रिक्त स्थानों की पूर्ति हेतु जापानी अधिकारी नियुक्त किये गये। परन्तु संख्या में कम होने के कारण वे यूरोपीय अधिकारियों के रिक्त स्थानों की पूर्ति करने में असफल रहे। इस कारण जापान सरकार इन्डोनेशिया वासियों की इन स्थानों पर नियुक्ति करने को बाध्य हो गयी। इस प्रकार इन्डोनेशिया के निवासियों को उच्च पदों पर नियुक्त किया गया। जापान सरकार ने इन्डोनेशिया के राष्ट्रवादी नेताओं को अपने प्रचार कार्य हेतु प्रयोग किया। जापान सरकार के इस कार्यक्रम में राष्ट्रवादी नेताओं सुकार्णो, हाटा एवं सरेकत इस्लाम के नेताओं तथा अन्य राष्ट्रवादी संगठनो के नेताओं ने पूर्ण सहयोग प्रदत्त किया। इसका मुख्य कारण यह था कि प्रत्येक संगठन अपनी एवं इन्डोनेशिया की स्वतंत्रता हेतु जापान सरकार का समर्थन प्राप्त करना चाहता था।

इन राष्ट्रवादी एवं मुसलमान नेताओं की सहायता से जापान ने इन्डोनेशिया में 4 जन संगठनों की स्थापना की एवं इस्लाम के माध्यम से एकता लाने का प्रयास किया तथा मुहम्मद शाह एवं नहदतुल उलेमाओं को संगठित करके एक संगठन बनाया। राष्ट्रवाद एवं इस्लाम के आधार पर अर्ध सैनिक संगठन बनाये गये जो कि पश्चिमी देशों के विरुद्ध राष्ट्रवाद एवं उग्रवाद की भावना से प्रेरित थे। इसके साथ ही साथ उन्हें अधिनायक तंत्र की शिक्षा दी गई। 1943 में जापानी सैनिक अधिकारियों ने जावा, सुमात्रा, एवं अन्य प्रदेशों में एक सेना की स्थापना की जिसका नेतृत्व इन्डोनेशिया के एक अधिकारी को सौंपा गया। इस प्रकार इन्डोनेशिया के युवा वर्ग को सैनिक सेवाओं में स्थान देकर सैनिक क्षेत्र में अवसर प्रदान किया गया। उन्होंने हिन्देशिया की भाषा के विकास को प्रोत्साहन दिया जिससे राष्ट्रवाद की भावना और दृढ़ हुई।

जापानी शासन केवल अत्याचार पूर्ण ही नहीं अपितु अयोग्य एवं बर्बरतापूर्ण था जिससे हिन्देशिया की जनता जापानियों से अत्यधिक घृणा करने लगी। इसकी अभिव्यक्ति कई स्थानोय विद्रोह के रूप में हुई। परन्तु राष्ट्रवादी नेताओं के माध्यम से जो कि जापानी सरकार को सहयोग दे रहे थे, हिन्देशिया की राष्ट्रवादी भावना में तीव्रता से वृद्धि हुई। जापानी अधि-

कारियों ने नागरिक राष्ट्रवादी नेताओं एवं ग्रामीण जनता के मध्य प्रथम बार संबंध स्थापित किया। 1944 में जापानियों की पराजय प्रारम्भ हो गयी तथा उन्हें दक्षिण प्रशान्त महासागर से पीछे हटने के लिए बाध्य होना पड़ा था। इस समय जापानी अधिकारियों ने हिन्देशिया में राष्ट्रवादी विचारों के प्रचार पर लगे प्रतिबन्ध को हटा लिया। मार्च, 1945 में उन्होंने इन्डोनेशिया की स्वतंत्रता हेतु जाँच आयोग का गठन किया। अगस्त में इन्डोनेशियन स्वाधीनता प्रारम्भिक समिति ने अपना कार्य आरम्भ किया। इस संस्थान के नेता सुकार्णो एवं हाटा थे। उन्होंने हिन्देशिया को स्वतंत्रता-प्राप्ति के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया था

16 अगस्त को जापान ने मित्रराष्ट्रों के समक्ष आत्मसर्पण कर दिया। दो दिन पश्चात् डा० सुकार्णो ने हिन्देशिया में गणतंण की स्थापना की घोषणा कर दी। डा० सुकार्णो इस गणतन्त्र के राष्ट्रपति एवं हाटा उपराष्ट्रपति बनाये गये। एक अर्ध सैनिक पुलिस शक्ति को, जिसका नाम शान्ति रक्षण सेना रखा गया, इस द्वीप समूह की सुरक्षा का भार सौंपा गया। हालैण्ड, अभी इन्डोनेशिया को स्वतंत्रता प्रदान करने के पक्ष में नहीं था, फलस्वरूप उसने मित्र राष्ट्र सैनिकों को हिन्देशिया में भेजने का उपक्रम किया। मित्र राष्ट्र के सैनिकों में ब्रिटिश सैनिक सर्वप्रथम जावा पहुँचे जहाँ उन्होंने हिन्देशियाई प्रशासन को व्यवस्थित होते पाया। हालैण्ड की सरकार ने इसे मान्यता देने में असहमति व्यक्त की। मित्र राष्ट्रों के क्षेत्रीय सैनिक कमांडर ने डा० सुकार्णो को आश्वासन दिया कि ब्रिटिश सरकार इन्डोनेशिया के प्रति तटस्थता की नीति बनाये रखेगी। डा० सुकार्णो ने इंडोनेशिया की स्वतंत्रता को मान्यता प्रदान करने की माँग की परन्तु हालैण्ड की सरकार ने इससे इंकार कर दिया सुकार्णो को देशद्रोही की संज्ञा दी गयी। उनके अदम्य निश्चय के कारण अनेक स्थानों पर युद्ध प्रारम्भ हो गया। हिन्देशिया की गणतांत्रिक सरकार ने संयुक्त राष्ट्रसंघ से मान्यता की माँग की। इसी मध्य संपूर्ण देश में असंतोष की भावना का तीव्रता से विकास हुआ। 18 अक्टूबर 1945 को हिन्देशिया गणतंत्र का प्रथम सम्मेलन बुलाया गया। एक नये संविधान का प्रख्यापन किया गया तथा यह निर्णय लिया गया कि शीघ्र ही आम चुनाव कराये जायें। इसके पश्चात् डा० हाटा ने ब्रिटिश सरकार को एक अभियाचना पत्र प्रस्तुत किया जिसमें निम्नलिखित माँगों का समावेश किया गया था :—

(1) जावा से सभी जापानी सैनिकों का निष्क्रमण।

(2) हिन्देशिया से सभी डच सैनिकों का निष्क्रमण तथा डच सैनिकों के आगमन पर प्रतिबन्ध लगाना।

(3) हिन्देशिया के जन प्रशासन को परिवर्तित न करना।

(4) राजकीय संयुक्त राष्ट्र समिति द्वारा सुकार्णो सरकार को वस्तुतः मान्यता प्रदान करना।

डच सरकार ने उपर्युक्त सभी माँगों को अस्वीकार कर दिया। फलस्वरूप द्वितीय राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया जिसकी सभा 25 नवम्बर, 1945 को हुई तथा इसके समक्ष परिवर्तित स्थिति पर विचार विमर्श का प्रस्ताव रखा गया।

इसी मध्य 1945 के अंतिम तीन महीनों में इन्डोनेशिया में कई परिवर्तन हुए। 14 नवम्बर को डा० सुकर्णो के स्थान पर सुतान सजाहरिर (1945-47) को गणतंत्र का नया प्रधानमंत्री बनाया गया। 14 दिसम्बर को सजाहरिर ने एक घोषणा में कहा कि उनकी सरकार का मुख्य ध्येय डच सरकार से मान्यता प्राप्त करना है। 10 फरवरी को डच सरकार ने स्वनीति की एवं इन्डोनेशिया गणतंत्र ने अपनी नीति की घोषणा कर दी तत्पश्चात इन्डोनेशिया गणतंत्र ने वैध प्रतिनिधि से विचार विमर्श का प्रस्ताव रखा। यह योजना प्रस्तुत की गई कि हिन्देशिया के विभिन्न क्षेत्रों से संयुक्त संघीय आधार पर सरकार का गठन किया जायेगा, इन्डोनेशिया में राष्ट्रमण्डल (कामनवेल्थ) की स्थापना की जायेगी जो कि डच राज्य में भागीदार होगी। सजाहरिर ने फिर से स्पष्ट किया कि डच सरकार से समझौते की बातचीत तभी संभव है जबकि डच सरकार हिन्देशिया गणतंत्र को मान्यता प्रदान कर दे। डच सरकार ने समझौता करने का प्रयास किया परन्तु इन्डोनेशिया ने इसे अस्वीकार कर दिया।

1946 में जून मास में इन्डोनेशिया के साम्यंवादियों ने सजाहरिर को बन्दी बनाकर सरकार को पराभूत कर देने का प्रयास किया परन्तु सुकार्णो ने इस साम्यवादी प्रयास को विफल कर दिया।

जुलाई, 1946 में विभिन्न क्षेत्रों के प्रतिनिधियों की एक सभा डा० वान मूक की अध्यक्षता में सेलिबस में हुई जिसने समस्त हिन्देशिया को चार संघों में संगठित करने का सुझाव दिया—(1) जावा, (2) सुमात्रा, (3) बोर्नियों एवं (4) बृहद पूर्व। इसके पश्चात् डच सरकार एवं गणतंत्र के प्रतिनिधियों के मध्य लिग्यातजती में एक सभा हुई जिसकी अध्यक्षता ब्रिटिश सैनिक कमाण्डर ने की। इस सभा में एक समझौते पर स्वीकृति व्यक्त की गई जिसके अनुसार डच सरकार ने जावा, सुमात्रा एवं मदुरा के क्षेत्रों पर हिन्देशिया सर-

कार की संप्रभुता को वास्तविक मान्यता प्रदान करने की स्वीकृति दे दी। उन्होंने हिन्देशिया में संघीय गणतंत्र की स्थापना करने का निर्णय लिया जिसका नाम संयुक्त राज्य इन्डोनेशिया रखा गया। इस बात पर भी समझौता हुआ कि हिन्देशिया संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता हेतु प्रार्थना पत्र प्रस्तुत करेगा। इस समझौते का अत्यधिक विरोध किया गया, परन्तु दिसम्बर, 1946 में दोनों देशों की संसद द्वारा समझौते को अनुमोदित कर दिया गया तथा 25 मार्च, 1946 को इस पर हस्ताक्षर किये गये।

1947 के मध्य डच सरकार ने हिन्देशिया की सरकार पर लिंग्यातजती समझौते के पालन में असफलता का आरोप लगाकर पुलिस के माध्यम से शांति एवं सुव्यवस्था का प्रयास किया। फलस्वरूप पूर्ण हिन्देशिया में युद्ध की आग धधक उठीं। इसी मध्य संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद ने भारत एवं आस्ट्रेलिया के प्रस्ताव पर 1 अगस्त, 1946 को इन्डोनेशिया में युद्ध विराम का आदेश दिया एवं तीन सदस्यों की समिति का निर्माण किया। इस समिति के अमरीकी अध्यक्ष ने एक समझौते के प्रस्ताव की रूप-रेखा प्रस्तुत की जिसके फलस्वरूप अमरीकी युद्धपोत 'रेनविल' पर दोनों देशों के प्रतिनिधियों की एक सभा हुई जिसमें 17 जनवरी, 1948 को एक समझौते पर दोनों देशों ने स्वीकृति प्रदान की। इसी मध्य सजाहरिर ने प्रधान मंत्री के पद से त्यागपत्र दे दिया तथा उनके स्थान पर साम्यवादी सर्जाफुद्दीन (1947-48) ने 'रेनविल समझौते' पर हस्ताक्षर किये परन्तु शीघ्र ही सर्जाफुद्दीन के मन्त्रिमण्डल का पतन हो गया तथा उनके स्थान पर हाटा ने मास-जूमी व हिन्देशिया राष्ट्रवादी दल' की सहायता से मन्त्रिमंडल की स्थापना की। सितम्बर, 1948 में साम्यवादियों ने सुकार्णो एवं हाटा की सरकार के विरुद्ध पूर्वी जावा में विद्रोह कर दिया।

दिसम्बर 1948 में डच सरकार ने हिन्देशिया के गणतंत्र को समाप्त करने का एक अन्य प्रयास किया। इसके अन्तर्गत राष्ट्रपति सुकार्णो एवं प्रधान मंत्री हाटा को बन्दी बना लिया गया तथा राजधानी पर अधिकार कर लिया गया। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद ने डच सरकार के इस कृत्य का विरोध किया। फलस्वरूप संयुक्त राज्य अमरीका भी हालैण्ड के विरुद्ध हो गया तथा इन्डोनेशिया में गोरिल्ला युद्ध प्रारम्भ हो गया। युद्ध की गतिशीलता के कारण डच सरकार प्रशासन कर सकने में लगभग असमर्थ थी। इसी समय अमरीका ने हालैण्ड को 'मार्शल सहायता' बन्द कर देने की धमकी दी; अत: हालैण्ड को अपनी नीति बदलने हेतु बाध्य होना पड़ा। इस प्रकार 1949 में डच सरकार ने हिन्देशिया को पूर्ण सत्ता हस्तांतरित करने पर

विचार प्रारम्भ किया। अगस्त तथा नवम्बर, 1949 के मध्य हालैण्ड सरकार, हिन्देशिया गणतंत्र एवं डच सरकार द्वारा प्रस्तावित संघीय प्रदेशों के मध्य गोलमेज सभा 'हेग' में हुई। इस सम्मेलन में यह व्यवस्था की गई कि हिन्देशिया में संघीय गणतंत्र की स्थापना हो तथा इस संघ को डच सरकार पूर्ण प्रभुसत्ता हस्तांतरित कर दे।

राजनैतिक विकास

उदार प्रजातंत्र युग (1949-1958)

27 दिसम्बर, 1949 को हिन्देशिया में संघीय गणतंत्र की स्थापना हुई। डा० सुकार्णो इसके राष्ट्रपति हुए तथा मुहम्मद हाटा को प्रधान मंत्री चुना गया। हाटा ने अपने मंत्रिमंडल में मासजूमी एवं हिन्देशिया राष्ट्रवादी दल के सदस्यों के अतिरिक्त कुछ निर्दलीय सदस्यों एवं संघीय राज्यों के पांच सदस्यों को सम्मिलित किया। दिसम्बर 1949 के काल को उदार प्रजातंत्र का युग कहा गया। इस काल में शासन शक्ति राजनीतिक दलों के हाथ में रही। संसद को सीमित शक्तियाँ ही प्रदान की गई थीं तथा इस गणतंत्र के राष्ट्रपति एवं सेना के अधिकारों को प्रभावी ढंग से सीमित रखा गया था। यह कहना अतिशयोक्ति होगा कि इस काल में राजनैतिक नेतृत्व पूर्णतः संवैधानिक प्रजातंत्र के सिद्धान्तों के अन्तर्गत था। यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस काल में राजनैतिक जीवन को संविधान में प्रदत्त नियमों के अन्तर्गत ही नियंत्रित करने का प्रयास किया गया।

1949 के पश्चात् हिन्देशिया में राजनैतिक शक्ति मासजूमी एवं राष्ट्रवादी दल के हाथों में निहित रही क्योंकि संसद में ये ही दोनों दल सबसे बड़े थे। प्रथम दो मंत्रिमण्डलों का नेतृत्व मासजूमी दल ने तथा तत्पश्चात् दो मंत्रिमंडलों का नेतृत्व राष्ट्रवादी दल ने किया। इन दलों के अतिरिक्त सजाहरिर के नेतृत्व में हिन्देशिया समाजवादी दल का भी अच्छा प्रभाव था। 1951 में साम्यवादी दल के विभिन्न नेताओं एवं इसके हजारों सदस्यों एवं समर्थकों को सरकार द्वारा चुन लिये जाने के पश्चात् यह दल अत्यधिक कमजोर हो गया था। 1952 में नदातुलउलमा दल की स्थापना हुई तथा 1955 तक यह दल तीसरे बड़े दल के रूप में प्रगट हुआ।

दिसम्बर, 1949 से मार्च, 1957 तक हिन्देशिया में सात मंत्रिमण्डलों का निर्माण हुआ जिनमें से कोई भी मंत्रिमण्डल दो वर्षों से अधिक स्थिर न रह सका। हाटा एवं उसके तीन उत्तराधिकारियों के मंत्रिमण्डलों ने सरकार परिवर्तन के उपरान्त भी एक ही नीति का अनुसरण किया। इन मंत्रिमण्डलों

का मुख्य उद्देश्य पूर्ण क्रांति संगठन एवं आर्थिक विकास की दिशा में अधिकाधिक कार्य करना था। उपर्युक्त सभी प्रधान मंत्रियों ने मुद्रास्फीति को रोकने का यथासंभव प्रयास किया तथा दूरदर्शिता के साथ हिन्देशियाईकरण का कार्यक्रम प्रारम्भ किया। इसके अन्तर्गत स्वदेशी, चीनी एवं डच व्यापारियों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा से रक्षा की गई। अर्थात् उन्होंने विदेशी संबंधों में मध्य मार्ग अपनाया। एक ओर उन्होंने अमेरिका के साथ गुटबन्दी को अस्वीकार कर दिया, दूसरी ओर देश में पश्चिम-विरोधी भावना का उदय न होने का प्रयास किया। इन उद्देश्यों में वर्तमान मंत्रिमण्डल अन्य मन्त्रिमण्डलों की अपेक्षा अत्यन्त सफल रहा।

1953 में मंत्रिमण्डल के भंग होने के साथ ही उपरोक्त नीतियों के परिपालन एवं प्रशासनिक कार्यक्रमों का कार्यान्वियन लगभग असम्भव हो गया था। 7 अक्टूबर 1952 को सैनिक अधिकारियों के एक दल ने राष्ट्रपति सुकार्णो को तत्कालीन मन्त्रिमण्डल को भंग करने पर बाध्य करने का प्रयास किया जिसने देश में गृह-युद्ध की स्थिति उत्पन्न कर दी। इसी समय राजनैतिक दलों ने चुनाव हेतु दलबन्दी प्रारम्भ की। इसमें मासजूमी समाजवादी एवं दो लघु क्रिस्तीन दलों ने एक गुट बनाया तथा राष्ट्रवादी दल, साम्यवादियों एवं नए छोटे-छोटे दलों ने द्वितीय गुट बनाया।

विलोपो के मंत्रिमण्डल के पतन के पश्चात अली सास्रोमिदजोजो का मंत्रिमण्डल गठित हुआ अली के मंत्रिमण्डल ने हिन्देशियाईकरण की नीति को पूर्ण रूप से प्रारम्भ किया। इस नीति का विशेष प्रभाव आयात, बैंकिंग तथा जहाजरानी के क्षेत्र में हुआ। फलस्वरूप देश में मुद्रास्फीति, भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिला तथा मुद्रा विनिमय की दर निर्यात करने वाले उत्पादकों के पक्ष में हो गयी। पश्चिमी देशों के विरुद्ध विचारों के प्रसार पर सेंसर के स्थान पर अली मंत्रिमण्डल ने इसको एक नव दिशा प्रदान की एवं पश्चिमी एशिया पर अपना प्रभाव स्थापित करने हेतु आन्दोलन प्रारम्भ करने पर बल दिया। शीत युद्ध में हिन्देशिया सैनिक रूप से तटस्थ था तथा विदेशी, संबंधों में इसकी एक महत्वपूर्ण उपलब्धि 'बांडुंग एशियन-अफ्रीकन सम्मेलन' का अप्रैल 1955 में आयोजन था। अली मंत्रिमण्डल ने राजनैतिक दलों को सरकारी सेवाओं में अपनी शक्ति संगठित करने का पूर्ण अवसर प्रदान किया जिससे कि वे आगामी चुनावों में भली भांति चुनाव लड़ सकें।

जून 1955 में सैनिक अधिकारियों ने अली द्वारा नियुक्त सेनाध्यक्ष को मान्यता देने में असहमति व्यक्त की। परिणामस्वरूप अली मंत्रिमण्डल का

पतन हुआ। दो मास पश्चात 'मासजूमी-समाजवादी-नाहदतुलउलमा' दलों की संयुक्त सरकार बुरहानुद्दीन हाराहप के नेतृत्व में स्थापित हुई जिसके फलस्वरूप कई क्षेत्रों में नीतियों को पूर्णतया परिवर्तित कर देना पड़ा। विदेशी व्यापार पर अली मंत्रिमण्डल द्वारा लगाये गये प्रतिबन्ध वापस ले लिये गये। फलत: वस्तुओं के मूल्यों में तथा मुद्रा-विनिमय की दर में भी कमी आई, परन्तु हिन्देशिया के व्यापारियों को पश्चिमी देशों तथा चीन के साथ व्यापार प्रतियोगिता में स्थिर रहना मुश्किल हो गया। नये मंत्रिमण्डल ने पश्चिमी देशों के साथ मधुर सम्बन्ध बनाने का प्रयत्न किया। सरकारी कर्मचारियों का बड़े पैमाने पर स्थानान्तरण किया गया जिससे कि मासजूमी एवं समाजवादी दल की शक्ति को दृढ़ किया जा सके एवं राष्ट्रवादी दलों की शक्तियाँ क्षीण की जा सकें।

1955 में नवीन चुनाव हुए जिसके पश्चात अली सास्त्रोमिदजोजो के नेतृत्व में राष्ट्रवादी एवं गैर साम्यवादी दल की सरकार का निर्माण हुआ। इन चुनावों में मासजूमी एवं उसके समर्थक दलों ने इस्लाम को अपना 'प्रचार आधार' बनाया तथा राष्ट्रवादी एवं इसके समर्थक दलों ने राष्ट्रपति सुकार्णो के पाँच सिद्धान्तों—धार्मिक संस्कार, राष्ट्रवाद, मानवता, जनता की प्रभुसत्ता एवं सामाजिक न्याय—को अपना चुनाव लक्ष्य बताया। अली ने अपने इस मंत्रिमण्डल के शासन काल में राष्ट्रवादी एवं अन्य दलों के मध्य तनाव कम करने का प्रयास किया परन्तु सरकार अयोग्य एवं भ्रष्टाचारयुक्त रही। 1956 के उत्तरार्ध में अली सरकार के प्रभाव को कुछ घटनाओं ने गम्भीर चुनौती दी। प्रथम, सुमात्रा एवं सुलावेसी में सैनिक अधिकारियों ने बड़े पैमाने पर तस्कर व्यापार प्रारम्भ किया। द्वितीय, भूतपूर्व सेनाध्यक्ष ने जकार्ता में सैनिक विद्रोह का प्रयास किया तथा तृतीय, राष्ट्रपति सुकार्णो द्वारा राजनैतिक दल प्रणाली का अन्त करने में प्रजातन्त्र का विकास लगभग असम्भव सा हो गया था क्योंकि हिन्देशिया में अनेक राजनीतिक दल थे जिनके स्वार्थ भिन्न-भिन्न थे। इससे आर्थिक विकास की दिशा भी अवरुद्ध हो गई क्योंकि देश में नये उद्योग शुरू करने हेतु धन की कमी थी तथा चीनी एवं डच व्यापारियों द्वारा स्थापित उद्योगों की ओर लापरवाही बरती गई थी। इसके अतिरिक्त अनुशासित श्रमिकों की न्यूनता के कारण भी उत्पादन अत्यधिक प्रभावित हुआ।

दिसम्बर, 1956 में सुमात्रा के तीन प्रदेशों में अहिंसक क्रान्ति हुई जहाँ कि सत्ता, सैनिक अधिकारियों के नेतृत्व में, क्षेत्रीय समितियों के हाथों में आ गई। उन्होंने अली के मंत्रिमण्डल की सत्ता को मान्यता देना अस्वीकार

कर दिया। मार्च, 1957 में इसी प्रकार की अन्य क्रान्ति ने पूर्वी हिन्देशिया की सत्ता भी, सैनिक अधिकारियों के नेतृत्व में, एक समिति को प्रदान कर दी। इस स्थिति को समाप्त करने हेतु दो प्रस्ताव रखे गये। एक ओर सैनिक क्षेत्रीय समितियों एवं उनके समर्थकों ने यह प्रस्ताव रखा, कि गणतंत्र की एकता बनाये रखने हेतु डा० सुकार्णो एवं हाटा में सामजस्य स्थापित किया जाय अर्थात ऐसी सरकार की स्थापना हो जिसमें सुमात्रा में जन्मे हाटा की प्रभावशाली भूमिका हो। दूसरी ओर राष्ट्रपति सुकार्णो ने फरवरी 1957 में अपने 'निर्देशित प्रजातंत्र' के आदर्श को सामने रखते हुए सुझाव दिया कि एक 'राष्ट्रीय समिति' का निर्माण किया जाय जो कि सलाहकार संस्था के रूप में कार्य करे तथा इस समिति में श्रमिकों, किसानों, व्यापारियों एवं सैनिकों का प्रतिनिधित्व हो। यह समिति सभी दलों के संयुक्त मंत्रिमण्डल के अधीन कार्य करे। राष्ट्रपति के इस कार्यक्रम का राष्ट्रवादी दल एवं साम्यवादियों ने समर्थन किया।

मार्च, 1957 में अली के मंत्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया एवं राष्ट्रपति सुकार्णो के कार्यक्रम को स्वीकृत प्रदान की गई। 14 मार्च को हिन्देशिया में सैनिक शासन की घोषणा की गई तथा सेनाध्यक्ष मेजर जनरल ए० एच० नाशुसन को सैनिक प्रशासन का मुख्य प्रशासक नियुक्त किया गया। राष्ट्रपति सुकार्णो ने स्वयं एक व्यापारिक मंत्रिमण्डल की स्थापना की जिसका अध्यक्ष जुआद को बनाया गया जो कि किसी दल से सम्बन्धित नहीं था। परन्तु इस मन्त्रिमण्डल में साम्यवादियों को प्रतिनिधित्व नहीं प्रदान किया गया। नये प्रधानमंत्री ने जर्काता सरकार एवं क्षेत्रीय सरकारों के मध्य वैचारिक भिन्नता दूर करने हेतु निरर्थक प्रयत्न किया। नवम्बर, 1957 में मुसलमान युवकों के एक समूह ने राष्ट्रपति सुकार्णो की हत्या का प्रयत्न किया जिससे समझौते की आशाएँ धूमिल हो गयी। इसी समय 'पश्चिमी इरियन' के प्रश्न पर संयुक्त राष्ट्रसंघ में इण्डोनेसिया को समर्थन नहीं प्राप्त हुआ। इन घटनाओं के परिणामस्वरूप डच अधिकारियों द्वारा शासित संस्थानों में स्वदेशी अधिकार स्थापित किया गया। इस प्रकार डच जहाजरानी कम्पनी, कारखानों, बैंकों, एवं व्यावसायिक संस्थानों पर हिन्देशिया के कर्मचारियों ने अधिकार कर लिया। 13 दिसम्बर को सैनिक शासन के मुख्य प्रशासक ने एक घोषणा के द्वारा इन संस्थानों पर सैनिक अधिकारियों को अधिकार करने का आदेश दिया। इस प्रकार सम्पूर्ण डच सम्पत्ति हिन्देशिया की सरकार की सम्पत्ति हो गयी। एक वर्ष पश्चात उपर्युक्त सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया।

उपर्युक्त राष्ट्रीयकरण के पश्चात जनवरी में क्षेत्रीय समितियों की एक सभा केन्द्रीय सुमात्रा में हुई। 10 फरवरी को इस सभा ने एक घोषणा की कि यदि पाँच दिनों के अन्दर जुआन्दा मंत्रिमण्डल त्यागपत्र नहीं देगा और हाटा अथवा जोगजगीता के नेतृत्व में मंत्रिमण्डल का निर्माण नहीं किया जायेगा तो वे एक विरोधी सरकार की स्थापना करेंगे। फलस्वरूप 15 फरवरी को हिन्देशिया गणतांत्रिक क्रान्तिकारी सरकार की स्थापना की घोषणा कर दी गई जिसका अध्यक्ष मासजूमीस जाफरुद्दीन को बनाया गया। जर्काता सरकार ने इस सरकार के विरुद्ध सरकारी कार्यवाही प्रारम्भ की तथा सुमात्रा के पूर्वी किनारे पर छाताधारी सैनिक उतार क्रान्तिकारी सरकार के सैनिकों ने कोई प्रतिरोध नहीं किया। फलस्वरूप सुमात्रा में केन्द्रीय सरकार का आधिपत्य स्थापित हो गया। क्रान्तिकारी सरकार ने गुरिल्ला युद्ध का सहारा लिया परन्तु केन्द्रीय सरकार की सेना ने उसे शीघ्रता से दबा दिया।

निर्देशित प्रजातंत्र का युग (1958–1965)

1958 के मध्य तक हिन्देशिया की राष्ट्रीय अखण्डता स्थापित हो चुकी थी और गत दो वर्षों में सैन्य शक्ति में भी अत्याधिक वृद्धि हुई थी। 1958 के उत्तरार्ध में ही जन-नियंत्रण स्थापित हो चुका था। राष्ट्रपति सुकार्णो का प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया था क्योंकि राष्ट्रपति सुकार्णो ने 'डच सम्पत्ति पर अधिकार' के कार्यक्रम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। 1958 में राष्ट्रपति सुकार्णो के 'निर्देशित प्रजातंत्र' के सिद्धान्त का जनता एवं सेना ने जोरदार स्वागत किया। 1958 के अन्त तक 'संसदीय प्रजातंत्र' के विचार का लगभग अन्त हो गया था। राष्ट्रपति सुकार्णो द्वारा नियुक्त राष्ट्रीय समिति एवं सैनिक अधिकारियों ने मेजर जनरल नाशुअन के नेतृत्व में सैनिक शासन सम्मेलनों में संसद के अधिवेशनों का विरोध किया। फलस्वरूप पिछले आठ वर्षों की नीतियों का अन्त कर दिया गया। इसके स्थान पर 'अधिनायकवाद शांति काल' की स्थापना की गई। इस प्रकार प्रत्यक्ष राजनीति काल का समापन हुआ।

1959 के प्रारम्भ में राष्ट्रपति सुकार्णो एवं मंत्रिमण्डल ने 'निर्देशित प्रजातंत्र को एक दृढ़ स्वरूप प्रदान करने का सैनिक प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। उन्होंने 1945 के संविधान के अनुसार राजनैतिक संस्थाओं के पुनर्निर्माण की घोषणा की। राष्ट्रपति सुकार्णों ने उपर्युक्त कार्यक्रम के प्रति संविधान सभा की स्वीकृति प्राप्त करने के पश्चात् 5 जुलाई, 1959 को एक घोषणा द्वारा क्रान्तिकारी संविधान का निर्माण किया तथा पूर्ववर्ती

संविधान सभा को भंग कर दिया। इसके अन्तर्गत इन्डोनेशिया में 'राष्ट्रपति प्रजातंत्र' की स्थापना की गई तथा सुकार्णो इसके प्रथम राष्ट्रपति चुने गये। जुआन्दा इसके प्रथम प्रधान मंत्री बने एवं मेजर जनरल नाशुअन को सुरक्षा एवं प्रतिरक्षा मंत्री बनाया गया। इसके अन्तर्गत राष्ट्रीय समिति का पुनर्गठन हुआ तथा यह समिति 1945 के संविधान के अनुसार 'सर्वोच्च सलाहकार समिति' के रूप में स्थापित की गई। हिन्देशिया में समाजवाद की स्थापना हेतु 'राष्ट्रीय योजना आयोग' का गठन हुआ।

इसके पश्चात् क्षेत्रीय सरकारों का पुनर्गठन किया गया तथा इन्हें और अधिक केन्द्रित एवं अधिनायकीय बनाया गया। जून, 1960 में 'पारस्परिक सहायता संसद' की नियुक्ति की गई नवम्बर-दिसम्बर, 1960 में 'पीपुल्स कन्सलटेटिव ऐसेम्बली' का उद्घाटन किया गया। 1961 में सुमात्रा में विद्रोह का अन्त कर दिया गया। 1962 में हालैण्ड के साथ पश्चिमी इरियन एवं पश्चिमी गुयाना के सम्बन्ध में समझौते पर हस्ताक्षर किये गये। रूस से बड़ी मात्रा में हथियारों की सहायता प्राप्त की गई। इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र की सहायता से 1963 में पश्चिमी गुयाना का प्रशासन भी हिन्देशिया को प्राप्त हो गया।

निर्देशित प्रजातंत्र के काल में राष्ट्रपति सुकार्णो का देशवासियों पर अत्यधिक प्रभाव रहा। इस काल हिन्देशिया की एकता एवं अखण्डता पर बल दिया गया। राष्ट्रपति सुकार्णो ने क्षेत्रीय मतभेदों को दूर कर समाज के प्रत्येक वर्ग में सहयोग की भावना उत्पन्न करने का प्रयास किया।

1965 में हिन्देशिया में एक असफल सैनिक क्रान्ति का प्रयत्न हुआ गया। तत्पश्चात् हुई घटनाओं के कारण डा०सुकार्णो की राजनैतिक शक्ति में कमी आई। साम्यवादियों का बड़े पैमाने पर वध किया गया तथा 1968 में डा० सुकार्णो पदच्युत कर दिये गये।

इस प्रकार उस व्यक्ति के राजनैतिक चरण का अन्त हुआ जो 20 वर्षों तक हिन्देशिया की राष्ट्रीयता एवं स्वतंत्रता का प्रतीक रहा। इसमें संशय नहीं कि सुकार्णो ने अपनी परिष्कृत भाषा एवं जन-सम्मोहक भाव भंगिमा के द्वारा भिन्नता पूर्ण विस्ततृ समुदाय को दो दशकों तक एकबद्ध रखा। अंततः अपनी अनुचित आस्था, सम्मिलित सत्ता अयोग्यता तथा अपनी आर्थिक नीतियों की असफलता के कारण पतनोन्मुख हुये।

डा० सुकार्णो के स्थान पर डा० सुहार्तो राष्ट्रपति बने परन्तु स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। डा० सुहार्तो के पदासीन होने के पश्चात् केवल सरकार वामपक्षी के स्थान पर दक्षिण पंथी हो गयी और देशीय

समस्यायें यथापूर्व बनी रहीं। देश में क्षेत्रीयवाद, आर्थिक स्थिति में गिरावट एवं समाज में असंतोष की भावना में नितान्त वृद्धि हुई। नयी सरकार ने इण्डोनेशिया में विदेशी व्यापारियों को उद्योग धन्धे स्थापित करने हेतु आकर्षित करने के लिये अधिक सुअवसर एवं सहयोग प्रदान करने की चेष्टा की। वर्तमान सरकार ने अपनी विदेश नीति को भी पश्चिमी देशों द्वारा दक्षिण-पूर्व एशिया के प्रति निर्धारित नीति के अनुरूप ही रखा। यही कारण था कि पश्चिमी इरियन के वासियों पर हिन्देशिया प्रशासन की बलपूर्वक स्थापना के पश्चात् भी पश्चिमी देशों में इसके विरुद्ध कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। इस नीति के फलस्वरूप 1967 के पश्चात् पश्चिमी देशों ने, जिसमें जापान भी शामिल था, अनेक सम्मेलन किए जिसमें हिन्देशिया की समस्याओं एवं उनके समाधान के उपायों पर विचार विमर्श हुआ। इस हेतु पश्चिमी देशों ने हिन्देशिया को बड़ी मात्रा में आर्थिक ऋण दिया परन्तु इससे केवल हिन्देशिया पर ऋण की मात्रा बढ़ गयी, आर्थिक विकास संभव न हो सका। 1969 में पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ की गई परन्तु इससे भी कोई लाभ नहीं हुआ। पश्चिमी देशों पर आर्थिक रूप से अत्यधिक आधारित होने से हिन्देशिया की राजनैतिक स्वतंत्रता खतरे में पड़ गयी। यथा कारण नयी सरकार जनता में लोकप्रिय न हो सकी। फलस्वरूप 1970 के मध्य में, भूतपूर्व राष्ट्रपति सुकार्णो की मृत्यु के समय, विशाल जन-प्रदर्शन प्रारम्भ हुए। नयी सरकार ने लगभग एक लाख राजनैतिक प्रदर्शनकारियों को जेल में बन्द कर दिया अथवा यातना शिविरों में भेज दिया।

जुलाई, 1971 में हिन्देशिया में आम चुनाव कराये गये जिसमें कुछ ही राजनैतिक दलों को चुनाव में भाग लेने की अनुमति दी गई। इस आम चुनाव में सरकार ने एक नये संगठन 'सेक्रेटेरियेट आव् फंक्शनल ग्रुप्स' का समर्थन किया। चुनावों में इसी दल ने भारी विजय प्राप्त की। उपर्युक्त दल को संसद में बहुमत प्राप्त हुआ। इस प्रकार सुहार्तो का, अपने प्रशासन को दृढ़ करने हेतु, यह प्रयास सफल हुआ। इसी समय हालैण्ड की रानी जूलियाना ने हिन्देशिया का भ्रमण किया जिससे सुहार्तो की स्थिति और सुदृढ़ हो गयी।

नवम्बर, 1971 में हिन्देशिया एवं मलेशिया ने एक संयुक्त घोषणा की। इसके अनुसार मलक्का की खाड़ी को अन्तरराष्ट्रीय समुद्री मार्ग मानने में असहमति व्यक्त की गई तथा दो लाख टन से अधिक के तेलवाहक जहाजों के आने-जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इस निर्णय से जापान एवं सोवियत रूस व्यापारिक एवं सामरिक रूप से प्रभावित हुए। जून, 1972

में आस्ट्रेलिया ने तीन वर्षों के लिए हिन्देशिया को सुरक्षा एवं आर्थिक क्षेत्र में सहायता देने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

सामाजिक विकास (1949–1962)

1949 में युद्ध समाप्त हो जाने के पश्चात् गणतन्त्र के नेताओं ने पूरे राष्ट्र पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया। समयानुकूल सामाजिक एकता एवं अखण्डता हेतु एक नये संविधान की आवश्यकता महसूस की गई। इस समय शान्ति एवं व्यवस्था की समस्या अत्यधिक जटिल हो चुकी थीं तथा दमनकारी नीतियों के सहारे सामाजिक विकास लगभग असम्भव हो गया था। अत: एक ऐसे संविधान की नींव रखना अवश्यम्भावी हो गया था जिसका जनता सम्मान करे एवं जो जनता के प्रत्येक वर्ग को स्वीकृत हो जिससे कि राष्ट्र में सामाजिक विकास को एक नव दिशा प्रदान की जा सके। सामाजिक एकीकरण में इन्डोनेशिया के राजनैतिक दलों ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। 1949 के पश्चात् गणतन्त्रीय सरकार के लगभग सभी मुख्य नेता पाश्चात्य शिक्षा गृहण किये हुये थे और उनमें डाक्टर, इंजीनियर, पत्रकार, अध्यापक एवं कानूनवेत्ता थे। उनके कथनानुसार आधुनिक सरकार की व्यवस्था उन्हीं लोगों के हाथ में रहनी चाहिए जो कि इस कार्य हेतु प्रशिक्षित हों। इसके अतिरिक्त शिक्षा ने जनता में जन-चेतना का विकास किया जिसके परिणामस्वरूप भौतिक एवं सामाजिक विकास की दिशा में गतिशीलता आई। अत: निरक्षरता विरोधी अभियान चलाये गये तथा रेडियो एवं समाचारपत्रों का विस्तार हुआ। इसके पश्चात् सत्ता ग्रहण करनेवाली सरकारों ने शिक्षा को जनता में लोकप्रिय बनाने एवं उसे जनता के हेतु विकसित करने में सफलता प्राप्त की। फलत: निरक्षरता का प्रतिशत 1940 में 89% से घटकर 1955 में 57% रह गया। इसी काल में प्राथमिक विद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या तीन गुनी हो गयी तथा माध्यमिक विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने हेतु विद्यार्थियों की संख्या में भी भारी वृद्धि हुई। इस प्रकार इन्डोशिया में शिक्षा एक 'स्तर चिह्न' बन गई।

सामाजिक एकता की दिशा में प्रयास करने हेतु हिन्देशिया के राजनैतिक दलों ने भी महत्वपूर्ण प्रयत्न किये। 1953 के पश्चात् इन दलों ने ग्रामों में सक्रिय कार्य करना प्रारम्भ किया क्योंकि वे 1955 के चुनाव में जनता का सहयोग अपने दल हेतु प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे। इस समय में राजनैतिक संगठनों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई तथा संगठनों के

सदस्यों को सम्मानित दृष्टि से देखा जाने लगा। 1955 के चुनावों में चार दलों ने सफलता प्राप्त की–राष्ट्रवादी दल, मासजूमी, नाहदतुलउल्मा एवं साम्यवादी दल। इन दलों ने अपनी दलीय शाखाओं की लगभग सभी ग्रामों एवं शहरों में स्थापना की थी।

शिक्षा विद्यालयों एवं राजनैतिक दलों द्वारा सामाजिक एकता स्थापित करने के प्रयास में कई कठिनाइयाँ सम्मुख आईं। आरम्भ से ही जनता शिक्षा संस्थानों ने एवं राजनैतिक दलों पर अपनी आशाएँ केन्द्रित किये हुये थी जो क्रान्ति के द्वारा जनता में उत्पन्न की गई थीं। परन्तु मन्द आर्थिक प्रगति ने इन आशाओं को धूमिल कर दिया। इसके अतिरिक्त जनता ने अधिक रोजगार अवसरों को प्रदान किये जाने तथा ऐसी राजनैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था की माँग की जिसमें व्यक्तिगत अस्तित्व सुरक्षित हो। इसका तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि जनता में असन्तोष व्याप्त हो गया और विशेषकर माध्यमिक विद्यालयों के स्नातकों के मध्य रोष का अधिक विकास हुआ क्योंकि उनकी शिक्षा के अनुकूल उन्हें रोजगार नहीं मिला। इसके अतिरिक्त कुछ समय पश्चात् राजनैतिक दलों के मध्य पारस्परिक फूट एवं संघर्ष के फलस्वरूप सामाजिक एकीकरण की क्रिया कुप्रभावित हुई। जकार्ता में इस संघर्ष ने राष्ट्रीय चिह्नों एवं संस्थाओं का उन्मूलन कर जनता के मध्य सहयोग को विध्वस्त कर दिया। फलस्वरूप जनता द्वारा एक ऐसी राजनैतिक व्यवस्था की ऐसी बड़े पैमाने पर माँग की गयी जिसमें प्रत्येक नागरिक को 'अपना स्तर' प्राप्त हो और संघर्षों का अन्त हो। परन्तु यह व्यवस्था देश की क्षेत्रीय अखण्डता के लिए घातक थी क्योंकि इसने पारम्परिक भिन्न-भिन्न नैतिक, सामाजिक, एवं धार्मिक समूहों को जन्म दिया। पृथकता के विचारों ने देशवासियों को एक समुदाय की तरह संगठित होकर कार्य करने में अवरोध उत्पन्न किया।

1958 के पश्चात् उपर्युक्त स्थिति में मूलभूत परिवर्तन हुए। शिक्षा की दिशा में तीव्रता से प्रगति हुई। राजनैतिक दलों के कार्यों को सीमित कर दिया गया क्योंकि मुसलमानों एवं समाजवादी दलों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। उदार युग के मध्य विकसित सभी श्रमिक एवं कृषक संघ एवं संस्थाएं सरकार के प्रति आस्था युक्त थीं अतः राजनीतिक दलों की अवनति के साथ सरकार ने समाज को भी अत्यधिक प्रभावित किया। राष्ट्रीय आदर्शों की रूपरेखा बनाने हेतु समुचित कार्य किया गया छात्रों, सरकारी कर्मचारियों, पत्रकारों एवं सरकारी संस्थाओं के प्रशासकों को राष्ट्रपति सुकार्णो के 1959 के घोषणापत्र के अर्थों को भली भांति स्पष्ट किया गया।

उन्हें राष्ट्र एवं राष्ट्रपति के प्रति निष्ठा की शपथ दिलाई गई । श्रमिक संघों की शक्तियों में अत्यन्त कमी आई क्योंकि हड़तालों पर प्रतिबन्ध लगाने के साथ सैनिक शासन के मुख्य प्रशासक को संघों के कार्यों का नियंत्रक बना दिया गया था ।

धार्मिक संगठनों को भी सरकार के आदर्शों को मान्यता देने हेतु बाध्य होना पड़ा । सांस्कृतिक संस्थाओं ने यह घोषणा की कि वे सरकार के नेतृत्व में राष्ट्रीय निर्माण हेतु संघर्ष करेंगी । राजनीतिक घोषणा के विरुद्ध 'कला कला के लिये', 'विज्ञान विज्ञान के लिये' एवं 'खेल खेल के लिये, के विचारों की तीव्र निन्दा की गई । इस प्रकार सरकार ने अपने उद्देश्यों की प्राप्ति पर अत्यधिक बल दिया एवं स्वयं निर्णय लिया कि कौन सी संस्था किस क्षेत्र में उपयुक्त रहेगी ।

1958 के पश्चात् ग्रामों पर सरकारी नियंत्रण में अत्यधिक वृद्धि हुई । अधिकांश क्षेत्रों में ग्रामीणों को कुछ समय के लिए अनिवार्य सैनिक शिक्षा लेने हेतु बाध्य किया गया तथा उनसे विभिन्न सामुदायिक विकास परियोजनाओं में निःशुल्क कार्य लिया गया । इसके अतिरिक्त उन्हें अपने उत्पादनों को सरकारी विक्री संगठनों में कम दामों पर बेचने हेतु विवश किया गया । अतः पुनः त्रुटिपूर्ण सरकारी नीतियों के कारण जनता ने इन नीतियों का प्रतिरोध किया ।

उपर्युक्त स्थिति को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि हिन्देशिया के आधुनिक परिवर्धन में कृत्रिम राजनैतिक व्यक्तित्व की आवश्यकता नही हैं, अपितु हिन्देशियाई समस्याओं को यर्थाथ रूप से निराकरण की आवश्यकता है । यह तभी संभव है जब हिन्देशियाई राजनेता एवं समाज स्वयं की विविधता को विस्मृत कर नव नीति एवं नव चेतना को सारूप्यता प्रदान करें ।

आर्थिक सर्वेक्षण–

हिन्देशिया अपने उत्पादन के कारण पूरे विश्व में विख्यात था, लेकिन 1930 की महान मन्दी के कारण लगभग 40 वर्षों तक हिन्देशिया अपने आर्थिक जीवन में स्थाायित्व प्राप्त न कर सका । आर्थिक ह्रास के अन्य कारणों में द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य जापानी आधिपत्य (1941-45), स्वतन्त्रता संघर्ष (1945-50) तथा साम्यवादी विद्रोहों के कारण हिन्देशिया के सामाजिक आर्थिक कार्यों में विशेष प्रगति न हो सकी । हिन्देशिया की जनसंख्या चीन, भारत, रूस और अमेरिका के पश्चात् पांचवे स्थान पर है । जनसंख्या की सघनता प्रत्येक क्षेत्र में पृथक-पृथक है । और सबसे अधिक जन घनत्व का

क्षेत्र जावा है। जहाँ 600 की जनसंख्या प्रत्येक वर्ग मीटर में है। जबकि पश्चिमी इरियन अत्यन्त अल्पसंख्या में है। यहाँ की संख्या प्रत्येक वर्ग मीटर में 10 है। इस अनियमित जनसंख्या के कारण हिन्देशिया में नियमित रूप से कृषि एवं उद्योग सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त श्रमिकों की बहुसंख्या होने के कारण तथा सशक्त सरकार के अभाव ने राष्ट्रीय उत्पादन एवं आर्थिक लाभ में वृद्धि नहीं होने दी।

हिन्देशिया की कृषि वर्षा ऋतु पर आधारित है और पूरे हिन्देशिया की भूमि क्षेत्र का 7.4 प्रतिशत खेती के प्रयोग में लाया जाता है। हिन्देशिया में दो प्रकार के कृषि वर्ग है। पहला लघु कृषि तथा दूसरा सम्पदावादी भूमिधर।

डच उपनिवेशवाद के काल में यद्यपि हिन्देशिया की कृषि का पूर्णरूपेण बाजारीकरण कर दिया गया था परन्तु इसके उपरान्त भी कृषि पारम्परिक श्रमिकों पर ही आधारित रही। कृषि क्षेत्र में उत्पादन की पश्चिमी इकाइयों की उपस्थिति ने कुछ क्षेत्रों में ग्रामों की आर्थिक व्यवस्था का विकास किया जिसमें जावा के वाह्य क्षेत्र मुख्यतया प्रभावित थे। इन क्षेत्रों के उत्पादकों ने धान की खेती को त्याग कर विश्व-बाजारों हेतु वस्तुएँ उत्पादित करना प्रारम्भ किया जिनमें रबर, कोपरा मुख्य थे। परन्तु जावा में, जहाँ डच आर्थिक प्रभाव अत्याधिक था, कृषि के क्षेत्र में कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ तथा इसके विरुद्ध पारम्परिक कृषि विधियों का और अधिक तीव्रता से विस्तार हुआ। जनसंख्या विकास के साथ ही धान की खेती अधिक विस्तृत हो गयी परन्तु कुछ समय पश्चात् इस विस्तार में कठिनाई महसूस की गई। फलस्वरूप इसके स्थान पर ज्वार, सोयाबीन एवं मूंगफली की खेती प्रारम्भ की गई। परन्तु इसके कारण श्रमिकों का विकास तीव्रता से हुआ। अत: यह तकनीकी, एवं नवीनीकरण के स्थान पर स्थिर विकास एवं निष्क्रियता का कार्यक्रम था। इस कार्यक्रम की उपनिवेश काल का अन्त होने से पूर्व ही व्यर्थता सिद्ध होनी प्रारम्भ हो गयी क्योंकि जावा में जनसंख्या की वृद्धि के कारण प्रति व्यक्ति की आय कम होती जा रही थी। इसके अतिरिक्त जावा में कृषकों को, आन्दोलन न प्रारम्भ होने का एक कारण वहाँ की निर्धनता एवं जमीदारों का न होना था।

हिन्देशिया के आर्थिक विकास में कुछ और कठिनाइयाँ थीं। देश में उत्पादनों की संख्या कम होने के कारण आयात एवं निर्यात अनिवार्य थे। परन्तु हिन्देशिया का निर्यात का लाभ टिन, तेल, रबर इत्यादि तक ही सीमित था तथा इनका मूल्य विश्व-बाजारों में घटता एवं

बढ़ता रहता था। इसके अतिरिक्त मुख्यतया उपर्युक्त निर्यात के माल जावा के बाहर उत्पादित होते थे। खनिज उत्पादन उत्तर एवं दक्षिण सुमात्रा तथा पश्चिमी जावा तक ही सीमित था। रबर तथा कोपरा का उत्पादन सुमात्रा, सुलोवेसी एवं मलक्का में ही होता था। जावा इण्डोनेशिया के बाजारों में खाद्य पदार्थ एवं स्थानीय उत्पादित वस्तुओं का सबसे बड़ा पूरक था तथा देश के प्रतिवर्ष निर्यात का एक चौथाई भाग उत्पादित करता था। अत: निर्यात को प्रोत्साहन देने हेतु सरकार को उच्च विनिमय दर की व्यवस्था करनी चाहिए थी जिससे कि निर्यात उत्पादकों को अधिक लाभ हो परन्तु दूसरी ओर यह नीति आयात करनेवालों जावा निवासियों के विरुद्ध थी जो कपड़ा, मशीनों कच्चे माल, कार, साइकिल, कागज एवं खादों का आयात करते थे।

स्वतन्त्रता के पश्चात इस दिशा में कुछ ही कठिनाइयों पर ध्यान दिया गया। स्वतन्त्रता से पूर्व हिन्देशिया की सम्पत्ति हिन्देशियाइयों की संपत्ति थी जिसमें कार्यरत हिन्देशियाइयों ने बड़ी संख्या में उद्योग एवं अन्य क्षेत्रों में दीक्षा प्राप्त कर ली थी। परन्तु इस वर्ग ने जनता अथवा व्यक्तिगत क्षेत्र में अधिक उन्नति नहीं की। कुछ आयात की वस्तुओं का उत्पादन आरम्भ हुआ जिसमें सीमेंट एवं कपड़ा मुख्य थे परन्तु मुख्यतया यह उद्योग विदेशी कच्चे माल एवं विदेशी धन पर आधारित रहे। जनसंख्या वृद्धि के कारण चावल का आयात प्रारम्भ करना पड़ा जब कि यह मुख्य निर्यात की वस्तु थी। इस प्रकार इन्डोनेशिया में निर्यात उत्पादन तथा निर्यात लाभ में भारी कमी आयी क्योंकि तेल और रबर के उत्पादन पर अत्यधिक ध्यान दिया जाने लगा। इसके कारण विदेशी मुद्रा कोष को सुरक्षित रखने में अत्यधिक कठिनाइयाँ आईं जिसके फलस्वरूप बार-बार आयात पर प्रतिबन्ध लगाया गया। फलत: मुद्रास्फीति तथा शहरों में बेरोजगारी समस्या में वृद्धि हुई। आयात एवं निर्यात स्वार्थों के मध्य संघर्ष के कारण जावा तथा अन्य प्रदेशों में राजनैतिक संघर्ष का वर्चस्व रहा।

जावा में धान उत्पादन के क्षेत्र में 1949 के पश्चात् विकास किया गया तथा 1960 में यहाँ की उपज 1940 की उपज से दस प्रतिशत अधिक बढ़ गया तथा अन्य खाद्य पदार्थों के उत्पादन एवं हथ-करघा के विकास में भी अत्यधिक महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। इसके उपरान्त भी जावा के कृषकों का जीवन-स्तर निम्न ही रहा। परिणामस्वरूप जावा के गाँवों से बड़ी संख्या में जनता ने शहरों की ओर रोजगार पाने हेतु प्रस्थान किया। शहरों में भी उसे उचित रोजगार प्राप्त नहीं हुआ। कुछ लोगों को ही उद्योगों में

काम प्राप्त हो सका। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जनसंख्या में वृद्धि वस्तुओं की माँग बढ़ जाने का एक महत्वपूर्ण कारण थी। हिन्देशिया वासियों में आधुनिक ढंग से जीवन यापन की इच्छा कुछ ही लोगों की पूर्ण हो सकी क्योंकि वहाँ उत्पादक कार्यों हेतु केवल कुछ सुविधाएँ ही उपलब्ध हो सकी थीं।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात् हिन्देशिया की आर्थिक नीतियों को तीन मुख्य चरणों में विभक्त किया जा सकता है।

प्रथम चरण बीसवीं शताब्दी के पंचम दशक में प्रारम्भ हुआ। इस काल में आर्थिक क्षेत्रों का संगठन विश्व मण्डी से पूर्णतया संलग्न था। 1950 एवं 1954 के मध्य प्रति वर्ष कृषि उत्पादनों के निर्यात से उपार्जित विदेशी मुद्रा कुल विदेशी मुद्रा उपार्जन की दो तिहाई थी। यद्यपि इस काल में शासन निरन्तर परिवर्तित होते रहे परन्तु किसी भी सरकार ने ऐसा नीति परिवर्तन नहीं किया जिससे उत्पादन बढ़े, निर्यात को प्रोत्साहन मिले, आर्थिक स्थायित्व एवं विकास के कार्यक्रमों में वृद्धि हो।

द्वितीय चरण का प्रारम्भ 1957 के लगभग आरम्भ हुआ जिसके द्वारा पूर्ववर्ती आर्थिक व्यवस्था में किंचित सुधार किये गये। फलत: 'निर्देशित अर्थ व्यवस्था' का उदय हुआ। इसके अन्तर्गत समाजवाद के सिद्धान्तों को इन्डोनेशिया के सांस्कृतिक वातावरण के अनुकूल बनाने का प्रयास किया गया तथा सरकार ने आर्थिक क्षेत्र में सीधे हस्तक्षेप की नीति अपनायी। इस कार्यक्रम में आर्थिक उदारवाद की व्यवस्था का अन्त कर पश्चिमी सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाओं का उन्मूलन किया गया। विकास योजनायें निर्मित की गई जिनका मुख्य उद्देश्य केवल आर्थिक उन्नति नहीं था। अपितु वे कार्यक्रम आर्थिक विकास के साथ-साथ सामाजिक एवं आध्यात्मिक उत्थान की दिशा में भी निर्देशित थे। प्रथम पंचवर्षीय योजना 1956 से 1960 तक लागू की गई। यद्यपि यह विशेषज्ञों द्वारा तैयार की गई थी, यह राजनैतिक उद्देश्यों से भी प्रभावित थी। इस योजना का कोई परिणाम आने के पूर्व ही राजनीति अभिमुखित समूह को आठ वर्षीय विकास कार्यक्रम के निर्माण का कार्य सौंपा गया। राष्ट्रपति डा० सुकार्णो ने इस तथ्य से प्रभावित होकर कहा कि राष्ट्रीय विकास एवं सम्पन्नता अधिनायकीय शासन पद्धति के अन्तर्गत ही सम्भव हैं तथा उन्होंने 1959 में अधिनायकीय शक्तियाँ प्राप्त कर लीं। परन्तु एक वर्ष के अन्दर ही यह स्पष्ट हो गया कि पश्चिमी संस्थाओं का उन्मूलन करने के कारण देश के उत्पादन में अत्यधिक कमी हुई है। अत: यह चरण किसी सुगठित आर्थिक नीति का चरण नहीं रहा वरन इससे उत्पादन

में गिरावट आयी; मुद्रा-स्फीति, भ्रष्टाचार, एवं वैधानिक नियन्त्रण की असफलता का प्रसार हुआ।

आर्थिक व्यवस्था का तृतीय चरण 1966 में सुकार्णो प्रशासन का अन्त होने के पश्चात प्रारम्भ हुआ। इस चरण में आर्थिक नीति को पुनर्व्यवस्थित किया गया। नयी सरकार ने देश की आर्थिक समस्या पर सर्वप्रथम ध्यान केन्द्रित किया। इस समस्या के समाधान हेतु एक आर्थिक स्थायित्व समिति का निर्माण किया गया। इस दिशा में अनेक कदम उठाये गये। अक्टूबर 1966 में नियमन के अन्तर्गत कठिन मुद्रा नीति, व्यवस्थित बजट, विदेशी ऋणों का पुन: नियमन तथा विदेशी धन को इन्डोनेशिया में आकर्षित करने हेतु नये नियमों का निर्माण हुआ। फरवरी 1967 की 'दर नियमन नीति' के अन्तर्गत मूल्यों का पुन: निर्धारण कर आर्थिक सहायता की नीति का पालन बन्द किया गया। जुलाई 1967 की 'निर्यात नियमन नीति' में निर्यातकों को विदेशी मुद्रा के लाभ में अधिक प्रतिशत भाग तथा कुछ सहायता देने का निर्णय लिया गया। 1966 एवं 1967 के मध्य ठोस मुद्रानीति के परिणामस्वरूप उत्पादन हेतु प्रोत्साहन लगभग बन्द हो गया था। फलत: उत्पादन क्षेत्र में गिरावट आयीं तथा बैंकों ने ऋण देना बन्द कर दिया।

1968 में नयी सरकार ने आर्थिक क्रियाओं में वृद्धि करने हेतु आवश्यक कदम उठाया। जमा धनराशि पर ब्याज की मात्रा बढ़ा दी गई जिसके परिणामस्वरूप सरकार को अधिक धनराशि प्राप्त हुई। विदेशी व्यापार का पुनर्गठन हुआ तथा चीनी, काफी, कोपरा, एवं अन्य वस्तुओं के निर्यात हेतु पहले पहल सिन्डीकेट स्थापित किये गये। 148 वस्तुओं पर आयात कर घटा दिया गया जिससे वे जनसाधारण को दी जा सकें। इन आर्थिक कार्यक्रमों की सफलता में सबसे बड़ा अवरोध इन्डोनेशिया की जनसंख्या बढ़ने की दर थी।

हिन्देशिया की प्रवर्तनशील सरकारें अपनी नीतियों की विविधता के कारण स्वदेशी आर्थिक नीति से देश को लाभान्वित नहीं कर सकीं। निष्कर्ष रूप से हिन्देशिया में शासकीय एवं औद्योगिक व्यवस्था, विद्युतीकरण का अभाव तथा जनसंख्या वृद्धि ने देश की उन्नति के विकास में गतिरोध उत्पन्न किया।

हिन्देशिया (इन्डोनेसिया)

1. Kahin, George, Mcturnan, ed. : Government and Politics of South East Asia, New York, 1964, pp. 183-184.

2. Ibid, p 184.

3. Ibid, p. 186.

4. Ibid, p. 187.

5. Ibid, p. 187.

6. Glamann, Kristof, : Dutch Asiatic Trade (1620-1740), The Hague, 1958.

7. Cady, John, F., South East Asia : Its Historical Development, Mcgraw Hill, 1964, p. 356.

8. Earl, G. W. : The Eastern Seas, London 1837, pp. 140-142.

9. Van Klavern; J. J., : The Dutch Colonial System in the East Indies, The Hague, 1953, pp. 97-107.

10. Fischer, L. : The story of Indonesia, London, 1959.

11. Bro, M. H. : Indonesia-Land of Challenge, London, 1954,

12. Gerbrandy, P. S. : Indonesia, London, 1950.

13. Mcvey, R. T. (ed) : Indonesia, New Haven, 1963

14. Woodman, D, : The Republic of Indonesia, London, 1955.

15. Van der kroef, J. M. : Indonesia in the Modern World, 2 Volumes, Bandung 1975, 1976.

16. Alisjahbana, S. T. : Indonesia : Social and Cultural Revolution, London, 1979.

17. Aziz, M. A. : Japan's Colonialism and Indonesia, the Hague, 1955.

18. Hughes, J' : The End of Sukarno, London, 1968.

19. Kahin, G. Mct. : Nationalism and Revolution in Indonesia, Ithaca, 1952.

20. Palmier, L. H. : Indonesia and the Dutch, London, 1962.

21. Wehl, D. : The Birth .of Indonesia, London, 1948.

22. Mehta, Ashok and Patel, P. : Revolt in indonesia, Bombay, 1946.

23. Dahm, Bernard : History of indonesia in the Twentieth Century. London, 1970.

24. Mossman, J. : Rebels in paradise : Indonesia'a Civil, War London, 1961.

25. Vittachi, Tarzle : The Fall of Sukarno, London, 1967.

26. Bracman Arnold C : Indonesian Communism, New York, 1963.

27. Roeder, O. G. : The Smiling President Suharto of Indonesia, Djakarta, 1976.

28. Vlekke, B. M. H. : Nusantara : A History of Indonesia, Bandung, 1959,

29. Velson, M. : Indonesia in 1976, the Hague, 1978.

30. Higgins, B. : Indonesia's Economic Stabilization and Development, New York, 1967.

31. Hicks, G. L. and Mcnicoll, G. : The Indonesian Economy 1950-67. Yale University Press 1968.

32. Van der Kroef, J. M. : Indonesia and the Modern World 2 Vols, Bandung, 1954, 1956.

33. American political Science Review. : President Sukarno and the Commumtsts, : the politics of Domestication, Vol Lvi, No. 4, December, 1962.

44. Grant, Bruce : Indonesia, Melbourne, 1964.

35. Legge, J. D. : Indonesia Prentice-Hall, 1964.

36. Roff, W. R. : Indonesia Ithaca, 1980.

●

अध्याय 17

मलय–मलेसिया (मलेशिया)

परिचय

मलेशिया राज्य संघ की स्थापना 1963 में पहले से ही स्वतंत्र मलय राज्य संघ के भरसक प्रयत्न के कारण हुई। इस प्रकार के राज्य संघ के संगठित करने का अभिप्राय भूतपूर्व ब्रिटिश आधिपत्य क्षेत्र को एक राजनैतिक सूत्र में बाँधना था। इस राज्य संघ में पश्चिमी मलेशिया जिसमें भूतपूर्व मलय राज्य संघ के ग्यारह राज्य जिनक क्षेत्रफल 50'700 वर्ग मील है और पूर्वी मलेशिया जिसका सम्पूर्ण क्षेत्रफल 77,730 वर्ग मील है। जिसमें भूतपूर्व ब्रिटिश उपनिवेश "सार्वाक" (48,342 वर्ग मील) और 'सबाह' (29,388 वर्ग मील) सम्मिलित हैं। इन सबको मलेशिया नाम से अभिहित किया जाता है। दोनों क्षेत्रों के मध्य एक खुला सागर उपस्थित है। दोनों मलय समान देशान्तर (1° एवं 7° उत्तर भूमध्य रेखा) में स्थित हैं एवं इसकी जलवायु भूमध्य सागरीय है जिसके कारण इस क्षेत्र में उष्णता एवं वर्षा का मौसम सदैव बना रहता है। पश्चिमी मलय में 4 हजार फीट से 7 हजार फीट तक की पर्वत श्रेणियाँ हैं जो उत्तर से दक्षिण की तरफ फैली हुई है। इसका सर्वाधिक विस्तृत क्षेत्र वह है जो संकीर्ण पश्चिमी क्षेत्रीय मैदान को विभाजित कर मलक्का के जलडमरूमध्य तक पहुँचता है और इस पर्वत-श्रेणी का सर्वाधिक बृहत् क्षेत्र दक्षिणी चीन सागर तक विस्तृत है। मलय का पश्चिमी तटीय क्षेत्र अपनी भौगोलिकता के कारण अत्यधिक विकसित है। इस क्षेत्र में टिन, खनिज की बहुतायत है जो मुख्य समुद्र-तटीय मार्ग पर स्थित है। यद्यपि टिन, रबर की अपेक्षा इस क्षेत्र का द्वितीय महत्वपूर्ण उत्पादन है, तथापि रबर सड़कों, रेल मार्गों तथा अन्य प्राकृतिक रूप से विकसित सुविधाओं वाले क्षेत्र में उत्पन्न किया जाता है। पश्चिमी तट की जल-सुविधाओं की तुलना में पूर्वी क्षेत्र अक्टूबर से मार्च के मध्य पूर्वोत्तर मानसून

से अत्यधिक प्रभावित है एवं इस परिस्थिति में उत्पन्न कठिनाइयों के कारण इस महाद्वीप का पूर्वी क्षेत्र औद्योगिक दृष्टि से निष्क्रिय है। अन्य बहुत से विषयों में पूर्वी मलय पूर्वी मलेशिया की आधारभूत भौगोलिकता के समान है। अतएव इसका निम्न क्षेत्र अधिकतर बृहत् लम्बी नदियों, भयानक बाढ़ों से तथा इसका तटीय क्षेत्र पूर्वोत्तर मानसून से प्रभावित है एवं जलयान के लिए और अधिक सुविधाजनक है। इसका भूमध्यसागरीय जंगल अत्यधिक सघन है। पश्चिमी मलय के टिन तथा उच्च श्रेणी के लोहे के खनिजों की तुलना से पूर्वीय मलय के सार्वाक तथा सत्राह क्षेत्र में सोने एवं कोयले के खनिज अपेक्षाकृत कम मात्रा में उपलब्ध हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व सार्वाक के पूर्वोत्तर तटीय क्षेत्र मिटि में पेट्रोलियम उपलब्ध था परन्तु अब यह लगभग पूर्णतया समाप्त हो चुका है और केवल पूर्वी क्षेत्रों में ही उपलब्ध है। यहाँ के कुछ क्षेत्र ज्वालामुखी की उपयोगी मिट्टी द्वारा परिपूर्ण हैं तथापि बृहत् स्तर पर औद्योगिक कृषि का विकास इस क्षेत्र में नहीं हो सका है। यहाँ के क्षेत्र रबर भी पैदा करते हैं परन्तु पश्चिमी मलय की अपेक्षा इसका महत्व कुछ कम है। पश्चिमी मलय का आर्थिक महत्व पूर्वी मलय की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है। 1970 की जनगणना के अनुसार पश्चिमी मलय की जनसंख्या 8,820,000 तथा पूर्वी मलय की केवल 1,632,000 है। पश्चिमी मलय में 53 प्रतिशत मुस्लिम, 35 प्रतिशत चीनी एवं 10 प्रतिशत भारतीय है। पूर्वी मलय में मलयी, तथा मुस्लिम मुख्यत: तटीय क्षेत्रों पर केन्द्रित हैं एवं ईसाई धर्म द्वारा प्रभावित हैं। पूर्वी मलय में 47 प्रतिशत मलयी, 34 प्रतिशत चीनी, 9 प्रतिशत भारतीय, 8.5 प्रतिशत बोर्नियोई तथा 1.2 प्रतिशत अन्य जातियाँ निवास करती हैं। नगरीकरण के विषय में भी दोनों क्षेत्रों में पर्याप्त विभिन्नता है।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन

मलय निवासी कृषि उत्पादक हैं जो स्वयं को भूमि पुत्र (भूमि पुटेरा) कहते हैं। शताब्दियों से यह लोग चावल और नारियल की खेती में संरत हैं मत्स्य (मछली) भी इनका एक मुख्य व्यवसाय है। मलय निवासी मुख्यतया ग्रामीण निवासी हैं और बृहत् पारिवारिक सम्बन्धों में आस्था रखते हैं। मलय निवासियों की देश जनसंख्या में सर्वमुखी नृजातीय वर्ग है जो पूर्ण जनसंख्या का 45 प्रतिशत है। इनके पश्चात् द्वितीय बृहत् नृजातीय वर्ग

(इथिनिक ग्रुप) चीनी लोगों का है जिनकी जनसंख्या लगभग 35 प्रतिशत है। अर्थात जो चीन से आकर इस क्षेत्र में प्रवास करने लगे थे। इसका प्रमुख कारण था ब्रिटिश लोगों का चीनी श्रमिकों को प्रोत्साहन देना था। ब्रिटिश आधिपत्य के मध्य चीनी श्रमिकों को यातायात के मार्ग निर्माण हेतु तथा खदानों में कार्य करने हेतु प्रलोभित किया गया था क्योंकि स्थानीय लोग इन कार्यों के इच्छुक नहीं थे। चीनी श्रमिकों ने जब अपना नियोजित कार्य समाप्त कर लिया तो वे नगरों में आ कर दुकानें स्थापित कर पचास प्रतिशत व्यापार लाभ प्राप्त करने लगे। आज भी मलेशिया के चीनी निवासी स्वदेशी व्यवसाय में अग्रणीय हैं और उनके, धन वैभव तथा सांस्कृतिक प्रबुद्धता की भावना के कारण मलय लोगों में ईर्ष्या की भावना समाविष्ट है। चीनी लोगों ने धन एकत्रित करने के पश्चात् दक्षिण चीन से अपने परिवारों को भी मलय में बुला लिया। अपने वर्ग की बाहुल्य संख्या के साथ ही कन्फ्यूशनवाद, बौद्धवाद एवं ताओवाद की भी सांस्कृतिक एवं धार्मिक विचारधाराओं का सम्मिश्रण होने लगा। अपने समुदाय का पोषण करने हेतु चीनी लोगों ने अपने स्कूल, शिक्षा संस्थान, स्वयंसेवी संस्थाये तथा समीतियाँ आरम्भ कर अपने वर्ग को सुचारु रूप से पूर्ण योगदान देना प्रारम्भ कर दिया जिससे मलय के मूल निवासियों में अमर्ष की भावना का समावेश हुआ।

मलेशिया की 10 प्रतिशत जनसंख्या भारत, पाकिस्तान और बंगलादेश की है जिनको ब्रिटिश अपने साथ खदानों और उद्यानों में कार्य करने हेतु लाये थे। अधिकतर मलेशिया के भारतीय नागरिक तामिलनाडु (दक्षिण भारत) से अप्रवास किये हैं। मलेशिया में ये लोग भारतीय संस्कृति का पालन जातिवाद से रहित होकर करते हैं। 1975 तक इनकी जनसंख्या 453,000 थी। अन्ततः मलेशिया की दस प्रतिशत जनसंख्या वहाँ की जनजाति, थाईलैण्ड, बर्मा, फिलीपीन और अरब देशों से है। सर्वाधिक मुख्य जनजातियाँ सेनोई, जाकुन और इबान हैं। इस प्रकार मलेशिया के नृजातियता वर्गों का आधार मिश्रित जातियों और उन के मूल देशों पर आधारित है।

धर्म

मलय लोग अधिकतर मुस्लिम हैं। इस धर्मबन्धन के कारण वे एक सूत्र में गठित हैं। लगभग 44 प्रतिशत जनसंख्या इस्लाम धर्म को मान्यता देती है। इस्लाम धर्म के संरक्षण एवं उससे सलंग्न संस्थाओं के व्यय हेतु

सरकार मुस्लिम वर्ग से कर वसूलती है। इस्लाम राज्य धर्म है। राजनैतिक और धार्मिक अध्यक्ष (सुल्तान) राज्य के 13 क्षेत्रीय शासकों में से 9 पर अपना शासन करते हैं। सुल्तान मलेशिया की शासन सभा के द्वारा चयन किये जाते हैं। मलेशिया में नृजातियता में विविधता एवं अल्प संख्यकों के कारण धार्मिक स्वतन्त्रता कुछ सीमा तक प्राप्त है। यद्यपि मुस्लिम विधि पुत्र और पुत्री में भेदभाव करता है किन्तु पारम्परिक प्रचलन में माता पिता पुत्र से अधिक पुत्री को स्नेह प्रदान करते हैं क्योंकि उन्हें अपनी वृद्धावस्था में पुत्री से अधिक सेवा की आशा रहती है। सम्पत्ति में भी पुत्र-पुत्री में कोई भेद-भाव नहीं किया जाता।

शिक्षा

शिक्षा के क्षेत्र में जातीय विविधता के कारण अनेक समस्यायें उत्पन्न होती हैं। उदाहरणतया चीनी समुदाय अपनी व्यक्तिगत शिक्षा संस्थाओं को प्रोत्साहन देने के इच्छुक रहते थे जब कि भारतीय सभ्यता से प्रभावित परिवार अपनी भाषा में रुचि रखते थे। ऐसी परिस्थितियों में शिक्षा के क्षेत्र में समरूपता प्रदान करना किंचित दुष्कर कार्य था। 1950 में प्रथम बार पाठ्य पुस्तकों के प्रकाशन में एकरूपता प्रदान कर अधिकृत स्वदेशीय भाषा (भाषा मलेसिया) एवं अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करने की अनुज्ञा दी गई। शनैः-शनैः शासन ने भी शिक्षा बजट में वृद्धि कर शिक्षा को प्रोत्साहन प्रदान किया। सरकारी शिक्षा बजट 1957 में 2.7 प्रतिशत था और 1967 में 4.6 प्रतिशत कर दिया गया। इस प्रकार शिक्षा बजट में भविष्य में भी वृद्धि होती रही। शिक्षा संस्थानों के विस्तार ने साक्षरता में भी प्रगति की। 1947 में पश्चिमी मलेसिया में 38.7 प्रतिशत और पूर्वी मलेसिया में 17 प्रतिशत जनता साक्षर थी। 1975 में 51 प्रतिशत पश्चिमी मलेशिया में और 25 प्रतिशत पूर्वी मलेशिया में साक्षरता हो गई। यद्यपि मलेसिया की सरकार इससे अधिक साक्षरता का अभ्यर्थन करती है परन्तु इसके आकड़े उपलब्ध नहीं हैं। मलेसिया के कलाक्षेत्र में स्वदेशी विशेषता न होकर भारत, चीन, अरब और पश्चिमी कलाओं का सम्मिश्रण है।

राष्ट्रवाद

मलय में राष्ट्रवाद और राष्ट्रत्व की भावना बहुजातीय, बहुभाषी तथा बहुधर्मी समुदायों के कारण प्रथम चरण में अधिक सफलीभूत न हो सकी। 19 वीं शताब्दी में अंग्रेजों के शासन के साथ प्रशासकीय, शैक्षिक तथा आर्थिक नीतियों में भी तीव्र परिवर्तन आया। ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने शिक्षा को

विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया, किन्तु चीनी और मुस्लिम समुदायों ने अपने निजी शिक्षा संस्थानों के द्वारा शिक्षा का प्रसार किया।

ब्रिटिश आर्थिक नीति और शिक्षा ने युवा मुस्लिम वर्ग को पश्चिम से प्रभावित किया। 1930 में युवा मलय संघ क्रियाशील हुआ। इसके सदस्य हिन्देशिया के राष्ट्रवादियों से प्रभावित थे। बुद्धिजीवी वर्ग ने ब्रिटिश उपनिवेश के विरुद्ध जनता का ध्यान आकर्षित किया किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध तक कोई विशेष राष्ट्रवादी आन्दोलन सक्रिय न हो सका। केवल 1939 में प्रथम अखिल मलय सम्मेलन के द्वारा 'युवा मलय संघ' (के०एम०एम०) ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध कार्य आरम्भ किया परन्तु 1940 में शासन की दमनकारी नीति के द्वारा नेताओं को बन्दी बना संगठन के कार्यों को निर्मूल कर दिया।

द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान के दक्षिण पूर्व एशिया के अभियान में फरवरी 1942 में मलय ने शान्तिपूर्वक जापानी आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। जापान का आधिपत्य मलय पर लगभग 3 वर्ष 6 मास रहा। जापान का ध्येय मलय के कच्चे माल का उपयोग करना था। जापानियों का विरोध केवल मलय की 'साम्यवादी पार्टी' (एम० सी० पी०) ने किया। इस साम्यवादी दल के सदस्यों को युद्धोमध्य अंग्रेजों ने गुरिल्ला युद्ध का प्रशिक्षण दिया था। इन्ही सदस्यों ने जंगल में अपना कार्यस्थल स्थापित कर जापान विरोधी अभियान प्रारम्भ किया। ब्रिटिश अधिकारी इस गुरिल्ला सेना को पनडुब्बी अथवा पैराशूट के द्वारा युद्ध सामग्री पहुंचाते रहे। अगस्त 1945 में जापानी आत्मसमर्पण के साथ ही जापान का सैनिक आतंकवाद समाप्त हो गया।

सितम्बर 1945 से लेकर मार्च 31, 1946 तक मलय ब्रिटिश सैनिक शासन के आधीन रहा। इसी मध्य अक्टूबर 1945 को यह घोषणा की गई कि नव मलय राज्यों एवं पेनांग तथा मलक्का को मिलाकर मलय संघ का निर्माण किया जायेगा जिसमें सिंगापुर को पृथक राज्यपाल के आधीन रखा गया। मलय संघ के अन्तर्गत सुल्तानों के अधिकार ब्रिटिश शासन को स्थानान्तरित कर दिये गये।

1948 में एक संघीय विधान परिषद का निर्माण किया गया जो 1948 तक संविधान के अन्तर्गत थी। इस संविधान के अन्तर्गत 14 सदस्यीय प्रशासनिक अधिकारियों की समिति गठित की गई। इसके अतिरिक्त इसमें 9 मलय राज्यों के मुख्यमंत्री और दो व्यवस्थानिक क्षेत्र के प्रतिनिधि भी थे। 50 गैर सरकारी सदस्य श्रम, व्यापार, खाद्यान्न उद्यान तथा अन्य समुदायों आदि को प्रतिनिधित्व करते थे। संघीय कार्यकारिणी परिषद का अध्यक्ष ब्रिटिश उच्चायुक्त था और इसके 14 सदस्यों में से 7 नागरिक सेवा अधि-

कारी और 7 गैर सरकारी सदस्य थे। यद्यपि यह परिषद नीति निर्धारक समझी जाती थी परन्तु इसमें मुख्य निर्णय का अधिकार उच्चायुक्त को था।

मलय के साम्यवादी दल ने इस संघीय शासन को उपनिवेशवाद का दूसरा रूप बनाया। इसके साथ ही साम्यवादी पार्टी ने मलय और सिंगापुर में हिंसावादी एवं क्रान्तिकारी आन्दोलन आरम्भ कर दिये। पश्चिमी इतिहासकारों के अनुसार मलय साम्यवादी दल (एम०सी० पी०) रूस की विश्व राजनीति से प्रभावित था। उनके अनुसार रूस यूरोपीय उपनिवेशवाद को समाप्त करने का इच्छुक था।

साम्यवादी विद्रोह का सामना करने हेतु संघीय शासन ने आपातकालीन स्थिति की घोषणा कर दी। सशस्त्र साम्यवादियों की संख्या 1948 में लगभग 4000 से 5000 थी और 1950 के आरम्भ में 8000 हो गयी। शासन ने इस स्थिति का सामना करने हेतु 40 हज़ार सेना का प्रयोग किया। सेना की सहायतार्थ वायुसेना, तोपखाना एवं नौ सेना का पूर्ण सहयोग प्राप्त था। इसके अतिरिक्त लगभग 70 हज़ार पुलिस और 2 लाख 50 हज़ार होमगार्ड भी इस विद्रोह के दमन हेतु लगा दिये गये।

मलय साम्यवादी दल को लोकप्रियता एवं लोक सहयोग प्राप्त नहीं था इसका कारण साम्प्रदायिकता, हिंसा एवं इस दल का अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद की आज्ञाकारिता था। फलस्वरूप 1950 के पश्चात् मलय में तीव्र राजनैतिक प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई। सितम्बर 1951 में 'दतो आन बिन जाफ़र' ने एक असाम्प्रदायिक दल मलय स्वतन्त्रता (आई० एम० पी०) की स्थापना की। इसका ध्येय मलय में वास्तविक रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन करना था। इसका विरोध अन्तर साम्प्रदायिक गठबन्धन ने किया जो फरवरी 1949 में स्थापित हो चुका था। इस गठबंधन के नेताओं ने चुनाव के लिये जोर दिया।

चुनाव परीक्षण का प्रथम अवसर 1952 में प्राप्त हुआ जब क्वालालुम्पुर की नगरपालिका परिषद का चुनाव हुआ। इसमें गठबंधन ने नौ स्थान प्राप्त किये और दातो आन की पार्टी ने दो। तत्पश्चात 1955 में राज्यसंघ के चुनाव में गठबंधन ने जिसका सहयोग मलय भारतीय कांग्रेस कर रही थी 51 स्थान चुनाव में जीत लिये। एक अन्य स्थान अखिल मलय इस्लामिक पार्टी ने प्राप्त किया। चुनावोपरान्त तुनकू अब्दुल रहमान ने नेतृत्व में मन्त्रिमण्डल बना जिसमें पांच मलय, तीन चीनी और एक भारतीय मन्त्री था।

1956 में मलय को ब्रिटिश सरकार से स्वतन्त्रता प्राप्त करने के

वार्तालाप में सफलता प्राप्त हुई। 1957 में ब्रिटेन ने मलय को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदत्त की और प्रारम्भ में 'रीड आयोग' के आधार पर नवीन संविधान की रचना की गई। इसके अर्न्तगत मलय राज्यों को स्वयं एक राज्य संघ का सर्वोच्च शासक पाँच वर्षों के लिये निर्वाचित करने का अधिकार दिया गया। राज्य संघीय संसद एक सीनेट तथा एक लोकसभा से युक्त थी। मलक्का और पेनांग ब्रिटिश आधिपत्य से मुक्त कर संयोजित राज्य बना लिये गये। सिंगापुर शासित उपनिवेश बना रहा। अपेक्षाकृत अधिक चीनी एवं भारतीयों को नागरिकता प्रदान की गयी और उन्हें वोट का अधिकार दिया गया। नागरिकता के नियमों में भी नवीनीकरण किया गया जिसमें कि और अधिक चीनी तथा भारतीय मत देने के अधिकारी हो सकें। इसके अतिरिक्त संघीय स्वतन्त्रता पश्चात् उत्पन्न सन्तानों को भी नागरिकता प्रदत्त की गई। मलयी को राष्ट्रभाषा तथा अंग्रेजी को द्वितीय भाषा का स्थान दस वर्षों तक के लिये दिया गया। इस्लाम को राज्य धर्म स्वीकार कर लिया गया परन्तु धार्मिक स्वतन्त्रता प्रत्येक जाति को प्रदान की गई। यह स्वीकार किया गया कि 1955 की विधान परिषद 1959 तक मान्य होगी अर्थात जब तक नये चुनाव नवीन संविधान के अन्तर्गत नहीं होते। इस संविधान के साथ ही 31 अगस्त, 1957 को मलय की स्वतन्त्रता घोषित कर दी गई।

मलय राज्यसंघ बर्मा, थाईलैण्ड, हिन्दोशिया और फिलीपीन की भाँति राष्ट्र नहीं था। यह राज्यसंघ नृजातीय वर्गों का गठबंधन था जो उपनिवेशवाद के विरुद्ध संगठित हुये थे। इस राज्य संघ को आधार मुस्लिम धर्म तथा मलय की संस्कृति ने प्रदत्त किया। राज्यसंघ को ग्रेट ब्रिटेन ने सैनिक सुरक्षा एवं राष्ट्रमंडल की सदस्यता प्रदान की।

1960 के मध्य ब्रिटेन को इस बात का आभास होने लगा कि दक्षिण पूर्ण एशिया में उनके दिवस पूर्ण हो गये। ब्रिटेन मलय के साथ सैनिक गठबन्धन करने का इच्छुक था परन्तु सिंगापुर और उत्तरी बोर्नियो पर अपना आर्थिक व्यय करना उचित नहीं समझ रहा था। अतः ब्रिटिश सरकार ने सिंगापुर और उत्तरी बोर्नियों उपनिवेशों को एक नवीन संघीय रूप देकर "मलेसिया" नामकरण करना चाहा।

सिगांपुर और मलय मलेसिया के बनने में इच्छुक नहीं थे। इसकी पृष्ठिभूमि में कई कारण थे। सिगांपुर अपनी आर्थिक नीति तथा शिक्षा पद्धति के कारण सम्मिलित नहीं होना चाहता था।

मलय स्वंय में सिगांपुर को सम्मिलित कर अपनी चीनी जनसंख्या में

वृद्धि नहीं करना चाहता था। उत्तरी बोर्नियो के लोग नवीन देश के गठबंधन के इच्छुक नहीं थे क्योंकि उन्हें हिन्देशिया के आक्रोश का भय था। फिलीपीन ने भी मलेसिया के संघ का विरोध किया। हिन्देशिया और फिलीपीन को मलेसिया से आर्थिक प्रतिस्पर्धा का भय था।

इन उपरोक्त परिस्थतियों का समाधान करने हेतु तीनों देशों के अध्यक्षों ने 1963 में एक सम्मेलन किया। हिन्देशिया और फिलोपीन ने मलेशिया को मान्यता देने का प्रस्ताव मान लिया, परन्तु यह शर्त रखी कि "सर्वाक" और 'सबाह' में संयुक्त राष्ट्र का सर्वेक्षण होना चाहिये। यदि इस सर्वेक्षण में मलेसिया इससे सहमत हो तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। संयुक्त राष्ट्र ने सर्वेक्षण कर इस बात की सूचना दी कि सर्वाक और सबाह के लोग मलेसिया में सम्मिलित होने के अत्यधिक इच्छुक थे। अतः सितम्बर 16,1963 को मलेसिया 'राष्ट्रसंघ' को घोषणा "क्वालालुम्पुर" में की गई। सिंगापुर, सर्वाक और सबाह में भी समारोह मनाये गये। क्वालालुम्पुर के समारोह में फाख्ते छोड़े गये जो शांति के द्योतक थे। परन्तु यह शांति चिरस्थाई न रह सकी। हिन्देशिया के राज्याध्यक्ष एशमद सुकार्णो ने मलेसिया को समाप्त करने हेतु पूर्ण प्रयत्न किया जिसको 1963–66 का "पारस्परिक संघर्ष" कहा जाता है। सुकार्णो अपने प्रयत्न में असफल रहे और मलेसिया अपनी जगह बना रहा। ग्रेट ब्रिटेन इस नये देश को सुरक्षा प्रदत्त करने हेतु वचनवद्ध था और आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड ने इसमें ब्रिटेन का साथ दिया।

मलेसिया के लिये सार्वाधिक मुख्य समस्या चीनी नागरिकों की थी जो कि मलय निवासियों से अधिक वैभवशाली व प्रभावशाली थे। 1960 के दशक में शासन द्वारा दोनों समुद्रायों के सामाजिक और आर्थिक भेद को समाप्त करने की चेष्टा की गई परन्तु यह प्रयत्न सफल न हो सका। अतः 1969 में मलय निवासियों ने चीनी समुदाय के विरुद्ध हिंसात्मक उपद्रव प्रारम्भ कर दिये। इन घटनाओं के कारण सरकार को अपनी नीति में परिवर्तन कर आंतरिक स्थिति को शान्त करना नितान्त आवश्यक हो गया। फलतः शासन ने समयानुकूल मलय समुदाय को सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षिक तथा प्रशासनिक सुविधायें प्रदान कीं।

कुछ गैर मुस्लिम जातियों ने सरकार की नीतियों का विरोध किया परन्तु सरकार ने चीनियों को सीमित नियन्त्रण में रखने की घोषणा कर दी। नवीन संविधान में अल्प संख्यकों को पूर्ण सुरक्षा का वचन दिया गया।

1965 में सिंगापुर के स्वतन्त्र नगर राज्य बन जाने तथा उसके

मलेसिया से पार्थक्य ने राज्य संघ को और अधिक राजनैतिक स्थायित्व प्रदत्त किया। इसका मुख्य कारण सिंगापुर के पृथक्कीकरण से चीनी जनसंख्या का कम हो जाना था। चीनी जन समुदाय की अल्पता मलेसिया राज्य संघ की एक भीषण समस्या का समाधान था।

जैसा कि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है कि मलेसिया का मुख्य राजनैतिक दल 'गठबंधन दल' (अलाइन्स पार्टी) था और तुन्कू-अब्दुल रहमान मलेसिया के प्रथम प्रधानमंत्री हुये। 'श्री तुन्कू' जो कि इसी नाम से लोकप्रिय थे, मलेसिया के इतिहास में सर्वाधिक स्थाई राजनीतिज्ञ थे। वह 'केदाह' के सुल्तान और 'स्यािम' की राजकुमारी के पुत्र थे। उन्होंने इंग्लैण्ड में विधि की शिक्षा प्राप्त कर स्वदेश आने पर राजनीति में भाग लिया।

तुन्कू अब्दुल रहमान ने मलेसिया में अपनी 'गठबन्धन पार्टी' की नीतियों के द्वारा विभिन्न समुद्रायों में शान्ति बनाये रखने की चेष्टा की। 1969 तक उनकी नीति सुचारु रूप से स्थाई रही और उनकी ही नीति ने मलेसिया को कुछ समय के लिये राजनैतिक स्थायात्वि प्रदान किया। इसी वर्ष चुनाव में गठबन्धन दल की अप्रत्याशित पराजय ने पुनः जातीय एवं वर्ग संघर्ष को पुर्नजीवित कर दिया। चुनाव के तुरन्त पश्चात् विजय घोष के उन्माद में चीनी एवं भारतीय मतदाताओं की मलय लोगों से भिडन्त में 200 से अधिक व्यक्ति हताहत हुये। सरकार ने आपात्तकालीन स्थिति, घोषित कर प्रशासकीय अधिकार 'नेशनल ऑपरेईन्स कांऊसिल' को सौंप दिये। इस परिषद् के सदस्यों में प्रधान मंत्री, उप प्रधान मंत्री, सैनिक एवं व्यापारिक प्रतिनिधि थे। अगामी 21 माह तक 'परिषद प्रशासन रहा। अन्ततः 1970 में तुन्कू अब्दुल रहमान ने त्यागपत्र दे दिया और उनके 15 वर्षों के के प्रधानमंत्री काल का समापन हुआ जिस के मध्य उन्होंने राष्ट्र को एक नई दिशा दिखाई। उनके पश्चात् 'तुन अब्दुल रजाक बिन हुसैन' मलेसिया के प्रधानमंत्री बने। वह इससे पूर्व तुनकू अब्दुल रहमान के मन्त्रिमण्डल में उप प्रधानमन्त्री थे। इसी समय केदाह के सुल्तान तुनकू हलीम मुजज्जम को मलेसिया का राष्ट्राध्यक्ष बनाया गया।

इन चक्रानुक्रमिक परिवर्तनों के कारण 'गठबन्धन दल' संसद में अपना बहुमत बनाए रहा और 1974 में तुन अब्दुल रज्जाक को पुनः भारी बहुमत प्राप्त हुआ। इस चुनाव में मुख्य बात यह थी कि कोई भी हिंसक घटना घटित नहीं हुई जो एक समय से चली आ रही जातीय एवं वर्ग संघर्ष की धूमिलता की भी द्योतक थी। अतः मलेसिया का भविष्य इसकी नृजातीय

सहयोग पर पूर्णतया निर्भर है, क्योंकि यदि मलय वासी देश के खाद्य पदार्थों के भागीदार हैं तो चीनी व्यवसायिक एवं व्यापारिक कुशलता के अंश हैं और भारतीय बागानों के मुख्य श्रमिक हैं जहाँ से राजस्व प्राप्त होता है।

आर्थिक सर्वेक्षण

मलेसिया में आधुनिक आर्थिक तन्त्र की नींव ब्रिटिश उपनिवेश के समय में रखी गई। इसका मुख्य ध्येय धनोपार्जन था; न कि एक संतुलित आर्थिक पद्धति का निर्माण करना। इस कारण अंग्रेजों ने टिन की खदानों, रबड़ के बागात की ओर विशेष ध्यान दिया, तथा स्वदेशी उद्योग एवं कृषि की उपेक्षा की। अंग्रेजों ने वन वस्तुओं की ओर भी उपेक्षा की नीति रखी 'जबकि मलेसिया में 70 प्रतिशत वन थे। इसके उपरान्त भी उपनिवेशिक काल में प्रति व्यक्ति आय में प्रचुर वृद्धि हुई।

आप भी मलेसिया में प्रति व्यक्ति आय 500 डॉलर प्रतिवर्ष है जो कि दक्षिण पूर्व एशिया के सर्वाधिक धनी क्षेत्र सिंगापुर और तीसरे धनी क्षेत्र फिलीपीन के मध्य में हैं। 1973 में मलेसिया का निर्यात 1.6 मिलियन डॉलर था। मलेसिया लगभग विश्व की 40 प्रतिशत रबड़ और टिन का उत्पादन करता है एवं 25 प्रतिशत लकड़ी का भी निर्यात मलेसिया के द्वारा होता है।

इसके अतिरिक्त मलेसिया के आर्थिक पुंज को सशक्त करने वाला पदार्थ पेट्रोलियम है। 1973–74 में यहाँ पर दस वृहत तेल और गैस के कुयें खोजे गये, और आशा की गयी कि 1980 तक मलेसिया तेल निर्यात् में एक अग्रगणीय देश होगा। यद्यपि मलेसिया का उद्योग बहुमुखी नहीं है क्योंकि अधिकतर कारखाने टिन और रबड़ के ही उत्पादन के लिये हैं। फिर भी आधुनिक तकनीकी पद्धति पर आधारित संचारण, यातायात एवं पोत निर्माण के द्वारा मलेसिया आधुनिक युग में स्थायित्व प्राप्त कर लेने की चेष्टा में है।

मलय-मलेशिया

1. Allen, R : Malaysia : Prospect and Retrospect, London, 1968.
2. Begbie, P. J. : The Malayan Peninsula, London, 1967.
3. Mckie, R : Malaysia in Focus, Sydney, 1963.
4. Purcell, V : Malaysia, London, 1965.
5. Robequain, C : Malaya, Indonesia, Borneo and the Philippines, London, 1954.
6. Wang, G : Malaysia-A Survey, New York, 1964.
7. Cowan, C. D. : Nineteenth Century Malaya, London, 1961.
8. Miller, H : The Story of Malaysia, Faber & Faber, 1977.
9. Parkinson, C. N. : A Short History of Malay, Singapore, 1954.
10. Kanapathy, V : The Malaysian Economy Singapore, 1970.

11. Shill, R : Malaysia, Kualalumpur, 1980.

12. Roff, W : The Origins of Malay Nationa lism, Yale University Press, 1969.

13. Means, Gordon P. : Malaysian Politics, London, 1970.

14. Kennedy, Joseph : A History of Malaya, New York, 1970.

15. Hanna, Wilard : The Formation of Malaysia, New York, 1964.

16. Wang, Gung-Wu, ed. : Malaysia : A Survey, New York, 1974.

17. Gullick, J. M. Malaysia, London, 1979.

18. Quale, Robina G : Eastern Civilizations, New Jersey, 1975.

19. Third Malaysia Plan 1976-81 : Government Printer, Kuala-Lumpur, 1975.

20. Sarz, T : History of Malay-Malaysia, Singapore. 1981.

अध्याय 18

फिलीपीन

परिचय

दक्षिण पूर्व एशिया में फिलीपीन एक ऐसा देश है जो अपने प्राच्य गौरव, गरिमा एवं ऐतिहासिक प्रतिष्ठा के प्रति विनम्र और निरहंकारी है। इसका मूल कारण इस देश में केन्द्रित सरकार की स्थापना का अभाव तथा आधुनिक सभ्यता एवं संस्कृति के परिपूर्ण विकास से पहले ही पश्चिमी देशों के उपनिवेशवाद का शिकार हो जाना था। इस तथ्य के व्यापक परिणाम हुए जिसने फिलीपीन को दक्षिण-पूर्व एशिया के अन्य देशों से विमुख कर दिया।

फिलीपीन के निवासी अधिकतर अप्रवासी हैं जो अन्य देशों से आकर यहाँ बस गये हैं। ईसा से कुछ शताब्दियों पूर्व इण्डोनेशिया से आनेवाले अप्रवासियों ने फिलीपीन के स्थानीय वासियों को इस द्वीप के सुदूर भागों में जाने हेतु विवश कर दिया तथा उत्तरी द्वीप में धान उत्पादन करने वाले कृषकों की तरह रहने लगे। ईसा से प्रथम एवं द्वितीय शताब्दी पूर्व मलय से कुछ अप्रवासी बोर्नियो होकर केन्द्रीय विस्थान द्वीप में निवास करने लगे। ये अप्रवासी लोहे एवं पत्थर को बर्तनों एवं आयुधों के रूप में प्रयोग करना जानते थे। इसके अतिरिक्त उन्हें पोर्सलीन बनाने की कला का भी ज्ञान था तथा उनका अपना कानून था, एक वर्णमाला थी और कला का भी ज्ञान था। फिलीपीन वासियों ने हिन्दू संस्कृति एवं सभ्यता से काफी कुछ सीखा था तथा धार्मिक क्षेत्र केवल पौराणिक एवं प्राकृतिक देवताओं की पूजा तक ही सीमित था। 14वीं एवं 15 शताब्दी में मलय से आने वाले अप्रवासी समूह ने यहाँ इस्लाम धर्म का प्रचलन प्रारम्भ किया।

फिलीपीन के चीन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध अनुमानतया नवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में प्रारम्भ हुए थे जिसके फलस्वरूप फिलीपीन वासियों को निर्माण कला, बारूद, धातु विज्ञान, चाँदी पर कारीगरी तथा



PHILLIPINES

फिलीपीन

गहने बनाने की कला का ज्ञान हुआ। फिलीपीन के निवासियों पर चीन में प्रचलित धर्म का भी प्रभाव पड़ा। फिलीपीन में चीन में प्राचीन काल से प्रचलित कुछ देवी देवताओं की पूजा के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। इसका यह परिणाम हुआ कि ईसाई धर्म-प्रचारकों (मिशनरियों) को अपने धर्म का प्रचार करने का अवसर प्राप्त हो गया।

फिलीपीन का सांस्कृतिक विकास प्रारम्भिक चरण में ही पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित हो गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि फिलीपीन में दक्षिणपूर्व एशिया के किसी अन्य देश की अपेक्षा पश्चिमी आचार-व्यवस्था का अधिक प्रचलन प्रारम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त पश्चिमी शिक्षा के प्रसार ने फिलीपीन निवासियों को दक्षिण-पूर्व एशिया में राष्ट्रवादी विचारधारा का समर्थक बना दिया परन्तु शांतिपूर्ण ढंग से स्वतंत्रता प्राप्त हो जाने के कारण फिलीपीन वासियों में राष्ट्रवादी भावना का अत्यधिक विकास न हो सका। फलस्वरूप फिलीपीन में डच, फ्रांसीसी एवं ब्रिटिश उपनिवेशों की अपेक्षा स्वतंत्रता-प्राप्ति से सम्बन्धित सामाजिक क्रान्ति की भावना सर्वाधिक अल्प थी।

फिलीपीन में स्पेनिश जाति के आगमन के समय भोलाय जाति के लोगों का वास था। इसमें से कुछ अहेरी (शिकारी) थे, कुछ ऊँचे भागों में कृषि करते थे तथा नीचे भागों के निवासी धान की खेती किया करते थे। इसी समूह के साथ स्पेन वासियों का सबसे अधिक सम्बन्ध रहा। इस समय सबसे बड़ी एवं स्थिर राजनैतिक इकाई 'बैरागां' (Baranga) थी जो कि लगभग एक गांव के बराबर होती थी तथा इसका शासक दातु (Datu) कहलाता था। ये दातू अन्य राजाओं के साथ अधिकतर संघों का निर्माण करते थे परन्तु वियतनाम एवं घाना की भाँति धान की खेती पर संयुक्त अधिकार नहीं रखते थे। दातू अथवा भूस्वामी अपनी भूमि में कार्य करवाने हेतु दास रखते थे। इसके अतिरिक्त एक वर्ग 'कृषक' दासों का था जो उपज का अर्धभाग अपने स्वामी को दिया करते थे तथा विभिन्न उत्सवों पर अपने स्वामी के लिए विभिन्न सेवा कार्य करते थे। उपर्युक्त समुदायों में झगड़ों को निपटाने हेतु दण्ड का कोई विधान नहीं था परन्तु क्षतिग्रस्त दल की क्षति-पूर्ति हेतु न्यायिक प्राविधान था।

दक्षिण-पूर्व एशिया में हिन्देशिया के श्रीविजय एवं भजापहित साम्राज्यों ने फिलीपीन पर अपना कुछ सांस्कृतिक प्रभाव अंकित किया परन्तु चीन एवं भारत की संस्कृति का प्रभाव फिलीपीन पर विशेष महत्वपूर्ण नहीं था। इसका मुख्य कारण फिलीपीन वासियों की हिन्दू अथवा बौद्ध धर्म की ओर

अरुचि था। वास्तव में फिलीपीन वासियों का धर्म ब्रह्मवाद था। 15वीं शताब्दी में इस धर्म के प्रचलन में परिवर्तन आया जबकि मलक्का से इस्लाम धर्म का प्रचार एवं प्रसार फिलीपीन में प्रारम्भ हुआ। इस्लाम का सर्वप्रथम प्रसार भिण्डानों में हुआ। सोलहवीं शताब्दी तक दो सल्तनतों की वहाँ स्थापना हुई मनीला का सरदार भी मुसलमान हो गया था। इसी समय स्पेनवासियों का फिलीपीन में आगमन हुआ। फिलीपीन पर स्पेनी अधिकार का मुख्य ध्येय व्यापारिक नहीं प्रत्युत सैनिक था।

स्पेनिश अधिकार

फिलीपीन द्वीप पर मैगलान (मैजलान) के अभियान की वापसी के पश्चात् सर्वप्रथम 1522 में चार्ल्स पंचम ने अपने अधिकार की घोषणा की। परन्तु 1529 में इस घोषणा को वापस ले लिया गया जबकि अनेक मँहगे अभियानों के पश्चात् भी स्पेनवासी इस क्षेत्र में आधिपत्य स्थापित करने में असफल रहे। 1542 में सर्वप्रथम इस द्वीप का नाम चार्ल्स पंचम के पुत्र फिलिप के नाम के कारण 'फिलिपिनास' रखा गया परन्तु फ़िलिप द्वितीय के शासन काल के प्रारम्भ तक इस दिशामें कोई प्रगति नहीं हुई। 1559 में इस द्वीप पर आधिपत्य के लिए उपक्रम किया जाने लगा। 1564 में पाँच युद्धपोतों ने, जिनमें लगभग चार सौ सैनिक स्पेनिश थे, इस द्वीप की ओर प्रस्थान किया। इस दल के नेता नौसेनापति (एडमिरल) लोपेज़ लेगास्पी थे। इस अभियान का ध्येय अन्वेषण करना, स्थानीय जनता को ईसाई धर्म ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहित करना तथा क्षेत्रीय व्यापार पर प्रभुत्व स्थापित करना था। स्पेन ने 'सीबू द्वीप' पर सर्वप्रथम अपना उपनिवेशिक आवास किया। इस क्षेत्र में भिण्डानों से आयात हेतु केवल दालचीनी ही एकमात्र वस्तु थी जिसका उत्पादन मोरो जाति के विरोध एवं इस द्वीप वासियों की निर्धनता के कारण लगभग समाप्त हो गया था। परन्तु इस द्वीप से चीन के साथ व्यापार के अच्छे अवसर थे। इस द्वीप के वासी लेगास्पी का विरोध करने में असफल रहे। फलस्वरूप उसने एक अन्य स्पेनी आस्थान की नींव रखी। 1571 में मनीला नगर को स्पेनी राजधानी बनाया गया जिसके विरोध स्वरूप मोरो की बाल सेना ने आक्रमण किया। 1574 में चीनी जलसेना ने एक अन्य संकट उत्पन्न किया परन्तु सेना को सहायता आ जाने के कारण सफलता प्राप्त हुई। इसके पश्चात् चीनियों के साथ व्यापार बड़े पैमाने पर प्रारम्भ हो गया क्योंकि चीनी व्यापारियों को अपने बर्तनों के बदले चाँदी मिलने लगी थी। 1582 तक फिलीपीन के समुद्री किनारों पर

स्पेनी अधिकार पूर्ण रूप से हो गया था ।

मेक्सिको में प्रचलित स्पेनी प्रशासनिक पद्धति को फिलीपीन में भी कार्यान्वित किया गया । इस प्रशासन की महान सफलता यह थी कि इससे सहयोगी द्वीपों का एकीकरण कर दिया गया । प्रशासन के अन्तर्गत गवर्नर जनरल, न्यायालय (आडिन्शिया) एवं कोषाधिकारी स्पेन के राजा के प्रतिनिधि थे । आडिन्शिया का मुख्य कार्य फिलीपीन प्रदेशों की याजक वर्ग के अतिक्रमण से रक्षा करना था । प्रदेश के जिले एवं नगरों का प्रशासन स्थानीय अधिकारियों को सौंपा गया जो कि पुलिस एवं सेना के नियंत्रक थे तथा सार्वजनिक निर्माण एवं सड़को के निर्माण-सुधार का भी कार्य उनके आधीन था । वे सीमाओं पर धर्म-प्रचार कार्यक्रमों का समर्थन करते थे । जनता पर प्रशासन हेतु सामन्ती वर्ग की स्थापना की गयी जो कि कर एवं किरायों की वसूली करते तथा न्यायिक निर्णय लिया करते थे । इनकी नियुक्ति स्पेन का राजा करता था ।

प्रथम बीस वर्षों के शासन काल में मुख्यतः खाद्य पदार्थों का अभाव बना रहा परन्तु मनीला में व्यापार एवं उत्पादन-वृद्धि के साथ ही उपर्युक्त कमी की पूर्ति की गयी । 1591 में फिलीपीन में ईसाइयों को दास बनाना अवैध घोषित कर दिया गया परन्तु गैर ईसाइयों से इसके उपरान्त भी बलपूर्वक कार्य लिया जाता था । 1595 एवं 1604 के सुधारों में इन कुप्रथाओं का भी अन्त कर दिया गया । 17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में डच लोगों ने कई बार मनीला पर आक्रमण किया । 1609, 1621 तथा 1648 के डच आक्रमणों के समय फिलीपीन वासियों को बलपूर्वक कार्य करने एवं डच सैनिकों को खाद्य पदार्थ देने हेतु वाध्य किया गया । 1648 में स्पेन एवं हालैण्ड के मध्य 'मन्सटर की सन्धि' हुई जिसके अन्तर्गत स्पेन ने हालैण्ड की स्वतंत्रता को मान्यता प्रदान कर दी । इसके बदले हालैण्ड ने मनीला पर अपने आक्रमण स्थगित कर दिये । फलतः मनीला में स्पेनिश सैनिक दबाव काफी कम हो गया ।

फिलीपीन में स्पेन वासियों के आगमन के पश्चात भी ग्राम-प्रमुख के अधिकारों में ज्यादा कमी नहीं आयी । स्थानीय मुखियाओं को सरकार को कर देने से मुक्ति दे दी गयी तथा उन्हें गाँवों एवं कस्बों का उप प्रशासक बनाया गया । परन्तु यूरोपीयों ने इन ग्राम-प्रधानों को कुछ राजकीय शक्तियों से वंचित कर दिया था । फिर भी गांववासी अपने ग्राम-प्रमुख की फसल काटने, मकान बनाने में सहायता करते थे तथा अपने उत्पादन का एक निश्चित भाग भी उसे भेंट स्वरूप प्रदान करते थे । फलतः फिलीपीन में

एक सामन्तवादी स्थानीय राजाओं के वर्ग का विकास हुआ जो कि स्पेनिश अधिकारियों एवं फिलीपीन की जनता के मध्य सम्पर्क सेतु थे।

याजक वर्ग की बढ़ती हुई शक्ति ने केन्द्र में तथा गाँवों में जन सरकार की शक्तियों को अत्यधिक प्रभावित किया। धार्मिक समुदाय का राजनैतिक प्रभाव 1700 के पश्चात अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुका था। मनीला के गवर्नर के पश्चात पादरी ही सर्वशक्तिपूर्ण अधिकारी होता था। 1725 में एक घोषणा के द्वारा गवर्नर की मृत्यु उपरान्त पादरी को ही अन्तरिम गवर्नर नियुक्त किये जाने का प्राविधान बनाया गया। प्रारम्भ से ही याजक वर्ग गवर्नर के अधिकारों को कम करने की चेष्टा में रत था तथा अपने इस प्रयास में उन्होंने कई बार जनता को उत्तेजित कर सरकारी कर्मचारियों पर आक्रमण हेतु उकसाया जैसा कि 1719 की घटना से स्पष्ट है। स्थानीय अधिकारी भी इस याजक वर्ग के विरोध के शिकार थे। स्थानीय भाषा से परिचित होने के कारण इस याजक वर्ग सरकारी संचार-व्यवस्था में एकाधिकार था। अतः फिलीपीन में वास्तव में स्थानीय शासकों एवं याजक वर्ग का ही नियंत्रण था।

विद्रोह एवं ब्रिटिश आधिपत्य

भाषा में अन्तर होने के कारण एवं भौगोलिक रूप से फिलीपीन की कई सौ द्वीपीय इकाइयों में विस्तृत होने के फलस्वरूप समय-समय पर जनता अपने रोष एवं असंतोष की अभिव्यक्ति स्थानीय विद्रोहों के माध्यम से करती रही। परन्तु इन स्थानीय विद्रोहों का तत्कालिक कारण आर्थिक कठिनाइयाँ थीं, जिसमें ग्राम-प्रधान को जनता द्वारा कर देना, ग्राम-वासियों से वलपूर्वक कार्य करवाना एवं कर न देने की स्थिति में भूमि से वंचित किया जाना, प्रमुख थे। कुछ विद्रोहों का कारण राजनैतिक एवं धार्मिक भी था। लगभग सभी विद्रोहों का नेतृत्व चाहे उसका कारण कुछ भी रहा हो, धार्मिक आधार पर ही हुआ। 1621 में 'बोहोल' और 'लेरी' में इसी प्रकार के विद्रोह हुए। 1649 में लूजॉन में एक विद्रोह हुआ, इसका कारण मनीला पर डच आक्रमण के भय के फलस्वरूप स्पेन सरकार द्वारा, स्थानीय जनता से बल पूर्वक कार्य कराया जाना था। सर्वप्रथम मनीला के बंदरगाह के कर्मचारियों ने विद्रोह किया जो कि शीघ्र ही उनके निवास-द्वीप 'समर' में फैल गया जहाँ लड़ाई के मध्य निवासियों ने मकान छोड़ दिये। एक अन्य विद्रोह लूजॉन केपम्पंगान क्षेत्र में 1660-1661 में हुआ। इसका कारण डच युद्धों के द्वारा उत्पन्न कठिनाइयाँ थीं। यह विद्रोह अन्य द्वीपों तक भी फैल गया जहाँ स्थानीय

शासकों की घोषणा की गयी, चर्च को लूटकर पादरियों को मार डाला गया। परन्तु उपर्युक्त सभी विद्रोहों का कर दमन दिया गया। अठारहवीं शताब्दी में तीन विद्रोहों का उल्लेख किया जा सकता है। प्रथम 1744 में ब्रोहोल द्वीप पर प्रारम्भ हुआ। इस विद्रोह के नेताओं एवं उनके कई हजार अनुयायियों ने पास के पहाड़ों में शरण ली तथा अगले अस्सी वर्षों तक आक्रमणों का प्रतिरोध करते रहे। द्वितीय विद्रोह 1745-46 में टेगालॉग में प्रारम्भ हुआ। इसका मुख्य कारण साम्प्रदायिक भूमि पर पादरियों द्वारा आधिपत्य स्थापित करना था। तीसरा विद्रोह मनीला पर ब्रिटिश भारतीय सैनिकों के आधिपत्य के समय 1762-1763 में प्रारम्भ हुआ। यह ब्रिटिश आधिपत्य, ब्रिटेन एवं स्पेन के मध्य सप्त-वर्षीय युद्ध के अन्तिम काल में स्पेन विरोधी अभियान का परिणाम था। चतुर्थ फिलीपीन विद्रोह लूजॉन के इलोकाने क्षेत्र तक ही सीमित रहा तथा प्रथम बार विद्रोह ने स्पेन के नियन्त्रण को गम्भीर संकट उत्पन्न कर दिया था परन्तु गांव के राजनैतिक एवं मुखिया पम्पंगान एवं पुलिस के सहयोग से इसका दमन कर दिया गया।

मनीला पर ब्रिटिश भारतीय सैनिकों का आधिपत्य बीस मास तक रहा। अक्टूबर 1762 में वह आधिपत्य प्रारम्भ हुआ परन्तु एडमिरल कॉर्निश एवं जनरल ड्रेपर के नेतृत्व में विजयी सेना फिलीपीन वासियों के विरोध के कारण मनीला शहर के बाहर भी अपना नियंत्रण स्थापित करने में असफल रही। फरवरी 1763 में पेरिस की संधि के फलस्वरूप मनीला पर पुनः स्पेन का अधिकार स्थापित हो गया। परन्तु ब्रिटिश सैनिक मनीला से वापसी के समय सभी मूल्यवान वस्तुओं को अपने साथ ले गये और 400 घरों को जला कर राख कर गये। स्पेन की प्रतिष्ठा के आघात के फलस्वरूप दस अन्य द्वीपों में विद्रोह प्रारम्भ हुए परन्तु गवर्नर डि एन्डा ने उन्हें कुचल दिया।

सुधारात्मक प्रयास

इन विद्रोहों की श्रृंखला के कारण स्पेनिश अधिकारियों को सुधार कार्यक्रम अपनाने पर विवश होना पड़ा। इस समय स्पेन का राजा चार्ल्स तृतीय था जो उदारवादी था। तत्कालीन गवर्नर डि ला टोरे ने मनीला में हुई क्षतिपूर्ति का पूर्ण प्रयास किया तथा स्पेन की सरकार को कुछ व्यापक सुधार क्रियान्वित करने का सुझाव दिया। प्रथम सुधार कार्यक्रम स्वतंत्र विचारधारा एवं आर्थिक रूप से प्रभावशाली धार्मिक वर्ग के लिये निर्देशित था। 1768 में जेसुइट सभा को देश से निष्कासित कर दिया गया तथा शीघ्र ही पोप के अधिकारों को समाप्त कर दिया गया। 1770 में सायमन डि एन्डा

फिलीपीन का गवर्नर बना तथा उसने भिक्षुओं के विरुद्ध अपना अभियान प्रारम्भ किया। एन्डा ने भिक्षुओं पर व्यापारिक कार्यों में रुचि लेने, सार्वजनिक मामलों में हस्तक्षेप, आध्यात्मिक कर्तव्यों की उपेक्षा, फीलीपीनों पर अत्याचार एवं स्पेनी भाषा के फिलीपीन में पढ़ाये जाने के विरुद्ध होने का आरोप लगाया। 1774 में भिक्षुओं की सम्पत्ति पर नियंत्रण करने की आज्ञा दी गयी परन्तु राजाज्ञा के उपरान्त भी इसे पूर्णरूपेण क्रियान्वित न किया जा सका। 1776 में सायमन डि एण्डा की मृत्यु हो गयी और इस कार्यक्रम को मध्य में ही समाप्त कर दिया गया। इसके अतिरिक्त चार्ल्स तृतीय ने ग्राम-प्रमुखों की वंशानुगत प्रणाली का अन्त करने का असफल प्रयास किया। उन्होंने एक राजाज्ञा के द्वारा गाँव के मजिस्ट्रेट का चुनाव कराने की घोषणा की तथा कर वसूली को अधिक सफल बनाने का प्रयास किया परन्तु वे असफल रहे।

याजक वर्ग संबंधी उक्त अभियान में असफलता के पश्चात् द्वीप को आर्थिक रूप से स्वावलम्वी बनाने हेतु एक कार्यक्रम निर्मित किया गया। 1778 में डान जोज बॉस्को वरगास फिलीपीन के गवंनर नियुक्त किये गये और उन्होंने आर्थिक स्वावलम्बन हेतु कृषि, उद्योग एवं वाणिज्य में विकास हेतु प्रस्ताव रखे। डान जोज ने रूई, चीनी, तम्बाकू, नील, भाँग, चरस, गाँजा तथा शहतूत के उत्पादन वृद्धि को प्रस्तावित किया तथा खदानों से धातु निकालने एवं पोर्सलीन के उत्पादन को भी प्रोत्साहन प्रदान किया। 1781 में उसने राजकीय सहमति से 'एकोनामिक सोसायटी आफ़ फ्रेन्डस आफ द कन्ट्री' की स्थापना की। यह सभा 1811 तक चलती रही; 1820 में इसका पुर्नर्निर्माण किया गया। 1861 में इस सभा ने मनीला में एक कृषि विद्यालय की स्थापना की तथा इसके प्रयासों से 1881 में मनीला विश्वविद्यालय के कृषि विभाग में एक प्रोफेसर की नियुक्ति की गयी। तम्बाकू उत्पादन क्षेत्र इस कार्यक्रम से सर्वाधिक प्रभावित हुआ। 1780–1782 में तम्बाकू के उत्पादन एवं विक्रय पर सरकारी एकाधिकार की घोषणा की गयी जिससे सरकार को अत्यधिक लाभ हुआ। आगामी वर्ष में फिलीपीन में तम्बाकू का सर्वाधिक उत्पादन होने लगा था परन्तु इससे भी उत्पादकों को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ अन्त में भ्रष्टाचार एवं कुप्रशासन के फलस्वरूप 1881–1882 में सरकार को एकाधिकार समाप्त करने पर बाध्य होना पड़ा। तम्बाकू, बारूद तथा शराब पर सरकार के एकाधिकार का फिलीपीन निवासियों ने अत्यधिक विरोध किया।

वाणिज्य में सुधार हेतु 1769 में नई व्यापार संहिता के अन्तर्गत

व्यापारिक निगम की स्थापना की गयी जिसे विभिन्न व्यापारों के निरीक्षण का कार्य सौंपा गया 1785 में, 'रायल कम्पनी ऑफ फिलीपीन' का संगठन किया गया। इस कम्पनी ने कैन्टन, भारत तथा केप आव् गुड होप के रास्ते से स्पेन के साथ व्यापार को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया। 1789 में मनीला विश्व के अन्य देशों के जहाजों हेतु तथा एशिया के उत्पादनों को लाने और ले जाने के लिए खोल दिया गया। 1810 तक इस कम्पनी के व्यापार का पाँचवाँ भाग भारत के साथ था परन्तु भारतीय वस्तुओं के बदले उन्हें मेक्सिको को चाँदी देनी पड़ती थी। परन्तु 1806 में स्पेन पर नेपोलियन का अधिकार हो जाने के पश्चात् इन सुधारों की शृंखला भंग हो गयी।

स्पेन में अमरीकी साम्राज्य के अन्त के फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी से चाँदी का आगमन पूर्णरूपेण बन्द हो गया। परिणामस्वरूप फिलीपीन को अपना व्यापार यूरोप की दिशा में मोड़ना पड़ा। इसके उपरान्त मनीला के व्यापार में भी भारी गिरावट आई। 1818 में मनीला के बंदरगाह पर 27 अमरीकी एवं ब्रिटिश जहाज आये जबकि केवल बाईस चीनी एवं स्पेन के जहाजों ने मनीला का भ्रमण किया। 1840 में मनीला में लगभग एक दर्जन व्यापारिक संस्थाएँ कार्य कर रही थीं परन्तु 1842 में ब्रिटेन एवं चीन के मध्य 'नानकिंग व्यापारिक संधि' के कारण दक्षिण चीनी सागरीय तट पर पाँच नये बंदरगाह खोल दिये गये। फलस्वरूप चीनी एवं विदेशी जहाजों का मनीला आना जाना स्थगित हो गया। 1850 तक मनीला लगभग दिवालिया हो चुका था। मनीला में यद्यपि कृषि के क्षेत्र में कुछ प्रगति हुई थी तथा तम्बाकू पर भी एकाधिकार स्थापित रहा था किन्तु 1850 तक आर्थिक दशा में तीव्र अवनति हुई।

उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे एवं तीसरे दशकों में याजक वर्ग की गतिविधियाँ त्वरित हो गयी थीं। जेसुइट सोसायटी की पुनः स्थापना हुई तथा यह फिर मिन्डानों में अपने कार्य में लग गयी। 1835 में स्पेन में कई मठों का दमन किया गया फलस्वरूप याजक वर्ग फिलीपीन की ओर अधिक आकर्षित हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि नवीन याजक वर्ग तथा परम्परावादी याजक वर्ग के मध्य स्थिति तनाव पूर्ण हो गई। 1843 में फिलीपीन में स्थानीय याजक वर्ग ने एक विद्रोह का सूत्रपात किया। इस विद्रोह के मुख्य कारण, स्पेनियों द्वारा भेदभाव पूर्ण नीति का परिपालन, शिक्षा के प्रसार में कमी एवं फिलीपीन वासियों हेतु नियुक्तियों के अवसर न प्राप्त होने में निहित थे।

राष्ट्रवाद–

19सवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजनैतिक एवं सामाजिक अशान्ति का वातावरण फिलीपीन के विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त होने लगा था। इसके मुख्य कारण याजक वर्ग में परस्पर मतभेद व्यापार की कमी के कारण उत्पन्न आर्थिक कठिनाइयाँ स्पेन के प्रशासकों का असंतुलित व्यवहार तथा स्थानीय लोगों को रोजगार न देना मुख्य थे। फिलीपीन में राष्ट्रीय चेतना का प्रादुर्भाव विदेश से वापस आये नवयुवा समुदाय ने भी किया। इन बुद्धिजीवियों के प्रचार एवं शिक्षा ने स्थानीय याजक वर्ग तथा जनसाधारण में नव चेतना का संदेश प्रवाहित किया।

1843 में असंतुष्ट याजक वर्ग ने स्पेनी शासकों से अपनी नीति में उदारवाद का पुट लाने की माँग की। दो आलोचनात्मक समाचार पत्रों 'एल मनीला' और 'एल कर्मशियो' ने क्रमश 1848 और 1850 में स्थानीय विचारों को व्यक्त किया। यद्यपि स्थानीय याजक वर्ग धर्म निरपेक्षता की नीति की माँग कर रहा था, स्पेनी प्रशासन दमनकारी नीति के प्रयोग में लगा हुआ था। तीन मुख्य धर्म निरपेक्षवाद के प्रचारक 'फ़ादर जोज़ बर्गास' 'मेरियानो गोमेज' तथा 'फ़ादर ज़मोरा' की गला घोंट कर हत्या की गई। अन्य लोगों को या तो कारावास दिया गया या देश निकाला दिया गया। जिन स्थानीय लोगों ने उपरोक्त पादरियों को मृत्युदंड पाते हुये देखा था, उन्होंने इस बलिदान को हर संभव प्रचारित किया। फलत: राष्ट्रवाद की लहर इस शहादत के फलस्वरूप जन जागरूकता के स्वरूप में परिणित हो गई।

फिलीपीन में 1869 के पश्चात राजनैतिक अशान्ति का वातावरण और त्वरित हो गया। 1882 के पश्चात जागृत राष्ट्रवाद तीन मुख्य नेताओं द्वारा परिलक्षित हुआ। यह थे–'मार्सीलो डेल पाइलर' (1850–96)' 'ग्रेस्यानो लोपेज जेना' (1856–1896) तथा 'जोज रिजाज' (1861–96)। इन राष्ट्रवादियों ने सुधार आन्दोलन आरम्भ किया। यद्यपि लोपेज जेना ने एक पाक्षिक 'ला सौलीदारीयात' (एकात्मता) का प्रकाशन आरम्भ किया परन्तु डेल पाइलर तथा रिज़ाल अधिक प्रभावपूर्ण थे। इन्होंने स्पेन के याजक वर्ग के अन्यायपूर्ण तथा अनैतिक मूल्यों की तीव्र आलोचना की। डेल पाइलट की 'द मंकिश लाइफ इन द फिलीपीन्स' तथा 'मंकिश सॉवरिनटि' तथा रिज़ाल के 'टच मी नॉट (1887) तथा 'रेन ऑफ ग्रीड' (1890) ने जनता को सामाजिक कुरीतियों तथा फिलीपीनी इतिहास से अवगत कराया।

एक ओर सुधारवादी बुद्धिजीवी लेखनी के द्वारा स्पेनी प्रशासन से

परिवर्तन की मांग कर रहे थे दूसरी ओर 'आँद्रे बोनीफ़ेशियो' (1863–97) जैसे जन नेता 'काती पुनान' (धरती के पुत्र) नामक गुप्त संस्था के संचालन में लगे थे। इस संस्था का प्रतिज्ञापत्र सदस्यों के रक्त से लिखा गया था। 1898 में बोनीफेशियो का स्थान 'अमीलियो एग्वीनॉल्डो' ने लिया। एग्वीनॉल्डो ने तुरंत ही हिंसावाद को अपना अस्त्र बताते हुये फिलीपीनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। और 23 जनवरी 1899 को एक लोकतांत्रिक संविधान के अन्तर्गत फिलीपीनी गणतन्त्र की उद्‌घोषणा की गई।

इससे पूर्व 1898 में क्रान्तिकारी सरकार ने चर्च-भूमि का राष्ट्रीयकरण करने की घोषणा की तथा स्पेनी भिक्षुओं को फिलीपीन से चले जाने की आज्ञा दी। यह स्पष्ट है कि इस क्रान्ति के राष्ट्रीय तथा सामाजिक दोनों ही उद्देश्य थे परन्तु दोनों ही उद्देश्य कुछ घटनाओं के कारण असफल हो गये। प्रथम फिलीपीन के अमीर वर्ग ने क्रान्तिकारी गणतंत्र का नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया तथा द्वितीय, फिलीपीन में अमरीकी आधिपत्य स्थापित करने की नीति। स्पेन की पराजय के पश्चात् फिलीपीन पर अमरीकी आधिपत्य स्थापित हो गया। यद्यपि फिलीपीन वासियों ने इसका विरोध किया परन्तु उनके नेताओं के गिरफ्तार हो जाने के पश्चात् यह प्रतिरोध समाप्त हो गया।

इस प्रकार फिलीपीन में गणतंत्र की घोषणा ने दक्षिणपूर्व एशिया में ऐसे प्रथम राष्ट्र का पद प्रदान किया जिसने कि विदेशी उपनिवेशवाद के उन्मूलन का प्रयास किया। राष्ट्रवादी भावनाओं के साथ-साथ फिलीपीन में कुछ राजनैतिक भावनाओं का भी विकास हुआ क्योंकि उन्होंने एक संविधान की भी संरचना की थी जिससे कि यह सिद्ध होता है कि अमरीका एवं अन्य देशों के संविधानों का उन्हें पूर्ण ज्ञान था। इस संविधान के प्राविधानों के अनुसार उन्होंने शासन व्यवस्था की पूर्ण व्यवस्था की थी।

अमरीकी आधिपत्य

मई 1898 में फिलीपीन की राजनैतिक समस्याओं में अमरीकी समुद्री सेना द्वारा अनुचित हस्तक्षेप करने में तीन व्यक्तियों का प्रमुख योगदान था–प्रथम कैप्टन महन, द्वितीय अमरीकी संसद सदस्य हेनरी कैबट लाज एवं तृतीय जलसेना के सहायक सचिव थियोडोर रूजवेल्ट। इन तीनों के समूह ने अमरीका एवं स्पेन के मध्य संघर्ष के सुअवसर का लाभ उठाते हुए दक्षिण-पूर्व एशिया में अपना प्रभुत्व स्थापित करने हेतु एक अड्डे की स्थापना की। इस अमरीकी नीति के निर्णय का एक कारण तत्कालीन विश्व के प्रमुख देशों

के मध्य उपनिवेशवाद प्रतियोगिता भी थी। इसके अतिरिक्त अमरीका के इस निर्णय के प्रति ब्रिटेन ने अत्यधिक सहानुभूति प्रदर्शित की क्योंकि ब्रिटेन अमरीका का जर्मनों एवं रूस के विरुद्ध प्रयोग करना चाहता था। इस समय अमरीका में राष्ट्रभक्तों एवं प्रोटेस्टेन्ट ईसाइयों के मध्य भी उपनिवेश बनाने के प्रति अपार साम्राज्यवादी उत्साह था।

मनीला की खाड़ी में अमरीकी एडमिरल डूई (डयूई) ने 'कातीपुनान' के नेता एग्वीनाल्डो को, जिसको स्पेन की सरकार ने फिलीपीन से निष्कासित कर दिया था, सिंगापुर से हाँगकांग बुलाया तथा फिलीपीन में स्पेन के अधिकार को समाप्त करने हेतु फिलीपीन की जनता का सहयोग प्राप्त करने का प्रयास किया। एग्वीनाल्डो 19 मई को मनीला की खाड़ी पहुँचा तथा एक मास के अंदर ही उसे फिलीपीन क्रान्तिकारी सरकार का प्रमुख बना दिया गया। 13 अगस्त को वाशिंगटन एवं स्पेन के मध्य शांति-संधि हुई जिसके अनुसार स्पेन ने फिलीपीन द्वीपसमूह अमरीका को सौंप दिया तथा स्पेन ने 2 करोड़ डालर की क्षतिपूर्ति देने का भी वायदा किया।

इस युद्ध के मध्य फिलीपीन वासियों ने अमरीकियों को सहयोग प्रदान किया था तथा उन्हें यह आशा थी कि वे अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता हेतु युद्ध कर रहे थे परन्तु जब उन्हें फिलीपीन पर अमरीकी आधिपत्य का निर्णय ज्ञात हुआ, उन्होंने अमरीकी सरकार के विरुद्ध विद्रोहात्मक कार्यवाहियाँ प्रारम्भ कर दीं। साढ़े तीन वर्ष के सैनिक प्रयासों के पश्चात् अमरीकी फिलीपीन में विद्रोही गतिविधियों को रोकने में सफल हुए। 1900 में एग्वीनाल्डो पकड़ा गया तथा उसने अमरीकी सरकार के प्रति वफादार रहने की शपथ खाई। परन्तु उसकी सेना के एक अधिकारी फिलिप साल्वाडोर ने लगभग एक दशक तक गुरिल्ला युद्ध जारी रखा। 1907 तक फिलीपीन में विद्रोही गतिविधियों का लगभग अन्त हो गया था। एग्वीनाल्डो जनप्रिय नेता के रूप में कार्य करता रहा। 1920 में फिलीपीन विधान सभा ने उसे पेंशन प्रदान की तथा इसके पश्चात् भी उसने मैनुअल कुजान के राजनैतिक नेतृत्व को कई बार असफल चुनौती दी। एग्वीनाल्डो अपने देशवासियों के भविष्य को उज्ज्वल बनाना चाहता था तथा वह स्वतंत्रता प्राप्त करने का इच्छुक था।

अमरीकी सरकार ने फिलीपीनी संघर्ष काल में ही कारनेल विश्वविद्यालय के अध्यक्ष डा० शुमान के नेतृत्व में एक पाँच सदस्यीय तथ्योद्घाटक शिष्टमण्डल फिलीपीन भेजा था। इसने राष्ट्रपति मैकिन्ले को विवरण प्रस्तुत किया जिसमें इस तथ्य का समावेश था कि फिलीपीन वासी अंततः

स्वतंत्रता के इच्छुक हैं। परन्तु इस समय तक 1898 की संधि का अमरीकी संसद ने अनुमोदन कर दिया था जिसमें फिलीपीन के समामेलन के प्राविधान भी सम्मिलित थे। कुछ महीनों के पश्चात् विलियम हावर्ड टाफ्ट की अध्यक्षता में दूसरा शिष्टमंडल फिलीपीन भेजा गया और इस शिष्टमंडल के विवरण के आधार पर 1901 में फिलीपीन में सैनिक सरकार के स्थान पर असैनिक सरकार की स्थापना की गई।

भूमि-सुधार

फिलीपीन में अमरीकी शासन का प्रारूप विलियम हावर्ड टाफ्ट ने निर्धारित किया। यह प्रारूप उन्होंने 1901 से 1904 तक फिलीपीन के कमिश्नर के रूप में, इसके पश्चात् राष्ट्रपति रूजवेल्ट के मंत्रिमण्डल में युद्धमंत्री के रूप में, तथा अंतत: 1909 से 1913 तक अमरीका के राष्ट्रपति के रूप में निर्मित किया। टाफ्ट ने सैनिक शासन को समाप्त करके फिलीपीन के नागरिकों को समानता का अधिकार प्रदान किया। उन्होंने चर्च एवं राज्य के मध्य पृथक्करण की स्थापना की घोषणा की। टाफ्ट ने समाचारपत्रों एवं पत्रिकाओं तथा स्थानीय विधान सभा को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की। 1902 में कूपर अधिनियम (ऑरगैनिक एक्ट) के अमरीकी संसद द्वारा पारित होने के पश्चात् विलियम टाफ्ट ने 1903 में प्रथम स्वतंत्र चुनाव किराये जिससे अमरीकी सरकार को म्युनिसिपल एवं ग्रामीण सरकार से संबंधित मामलों में फिलीपीनी जनता के सुझावों से अवगत होने का एक अवसर प्राप्त हुआ। इस दिशा में एक अन्य प्रयास 1907 में किया गया जब कि साक्षर मतदाताओं के आधार पर आम चुनाव कराये गये। 1909 में गवर्नर जनरल की नियुक्ति की गयी तथा विलियम टाफ्ट ने शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति हेतु एक आर्थिक कोष की स्थापना की। विलियम टाफ्ट ने विजित मोरो जनजाति के पारम्परिक नियमों को ध्यान में रखते हुए एक समान विधि-संहिता का निर्माण किया तथा फिलीपीन के न्यायाधीश को इसकी व्याख्या करने की स्वतन्त्रता प्रदान की।

1901 में सर्वप्रथम फिलीपीन वासियों को स्थापित आयोग की सदस्यता प्रदान की गयी थी। 1908 में सर्वप्रथम उन्हें मन्त्रिमण्डल में स्थान दिये गये। इसके पश्चात् न्याय, वित्त एवं श्रम विभाग में फिलीपीनों को उच्च पदों पर नियुक्त किया गया। 1909 के पश्चात् एक अस्थायी राज्य सभा गवर्नर जनरल की सलाहकार समिति के रूप में स्थापित की गयी। इस राज्य सभा में विधायिका के दोनों सदनों के अध्यक्ष तथा बहुमत प्राप्त

दल के नेताओं को भी सम्मिलित किया गया था। मन्त्रिमंडल में जन-प्रशिक्षण को छोड़कर अन्य सभी पद फिलीपीन वासियों को दिये गये परन्तु यह मन्त्रि-मण्डल विधान सभा के स्थान पर गवर्नर जनरल के प्रति उत्तरदायी था।

1907 में निर्वाचित फिलीपीन की विधान सभा को प्रारम्भ से ही गृह विधान के निर्माण, वित्त एवं भूमि नीतियों के नियमन तथा न्यायिक प्रशासन में अत्यधिक शक्ति प्रदान की गई। 1907 में विधान सभा के उद्घाटन के समय ही विलियम टाफ्ट ने फिलीपीन को अंततः पूर्ण स्वतंत्रता की ओर अग्रसर करने का वचन दिया तथा उन्हें सार्वजनिक मामलों को व्यवस्थित करने, न्याय एवं शान्ति की स्थापना करने, गरीबों एवं अमीरों की समान रूप से रक्षा करने हेतु प्रशिक्षित करने की दिशा में कार्य प्रारम्भ किया। 1913 में राष्ट्रपति विलसन के द्वारा नियुक्त गवर्नर जनरल की अधीनता में नियोजित फिलीपीन प्रतिनिधि मण्डल उच्च सदन की भाँति कार्य करता रहा। इस प्रकार फिलीपीन की विधायिका के दोनों सदनों में फिलीपीनों का बहुमत था। 1901 और 1913 के मध्य विलियम टाफ्ट द्वारा प्रतिपादित नीतियों ने यद्यपि फिलीपीनों को सन्तुष्ट नहीं किया परन्तु वे अमरीकी सरकार के साथ सहयोग करने एवं व्यवस्थित प्रगति में संलग्न रहे।

अमरीकी शासन की स्थापना के प्रारम्भिक वर्षों में ही यह स्पष्ट हो गया था कि अमरीकी सरकार को कृषकों का विश्वास प्राप्त करने हेतु याजक वर्ग के राजनीतिक प्रभाव को कम करना तथा भिक्षुओं के भूमि-स्वामित्व को समाप्त करना होगा। इसके अतिरिक्त फिलीपीन निवासी स्थानीय सरकार की विभिन्न गतिविधियों में याजक वर्ग के हस्तक्षेप के भी विरुद्ध थे। उपर्यक्त गतिविधियों में जेलों एवं स्वास्थ्य सिद्धांतों का नियमन तथा पुलिस पर नियंत्रण प्रमुख थे। इसके अतिरिक्त वे भिक्षुओं के, म्यूनिसिपल सरकार के आय एवं व्यय, कर-नीति जन-शिक्षा एवं राजा की भूमि के विभाजन एवं उपयोग पर नियन्त्रण लगाने के विरुद्ध थे। फिलीपीन वासी स्थानीय तंत्र के पुनर्निर्माण, भिक्षुओं के भूमि-स्वामित्व की समाप्ति एवं जन-प्रशिक्षण का धर्म-निरपेक्ष नियंत्रण के अन्तर्गत प्रजातंत्रीय दिशा में निर्देशन की मांग कर रहे थे।

याजक वर्ग (धार्मिक समूह) की शक्तियों को सीमित करने के सरकारी प्रयास में मुख्य पादरी पी० एल० चैंपल (शैपल) ने कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दीं। पी०एल० चैंपल को पोप के विशेष दूत के रूप में 1900 में मनीला भेजा गया था। उन्होंने यह घोषणा की कि अमरीकी सैनिक अधिकारियों को भिक्षुओं की पारम्परिक भूमि पर नियंत्रण हेतु सहायता करनी चाहिये

तथा उनके वैध अधिकारों की रक्षा भी करनी चाहिये। उन्होंने चर्च एवं राज्य के पृथक्करण की नीति को चुनौती दी। चैंपल ने राजा की भूमि पर याजक वर्ग के अधिकार के साथ साथ स्कूलों, अनाथालयों एवं चर्चों पर भी याजकवर्ग के अधिकार की घोषणा की तथा उन्होंने टाफ्ट के उस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया जिसमें भिक्षुओं (याजक वर्ग) की भूमि को सरकार द्वारा खरीदकर स्थानीय जनता में विभाजित करने का सुझाव दिया गया था। भिक्षुओं की भूमि पर नियंत्रण-स्थापना के प्रयत्न के फलस्वरूप फिलीपीन में कृषकों का आन्दोलन तीव्र रूप से प्रारम्भ हुआ। 1902 के कूपर अधिनियम ने अमरीकी शिष्टमंडल को उक्त सम्बन्ध में अधिकार प्रदान किये, जिसमें यह घोषणा की गई थी कि भिक्षुओं की भूमि फिलीपीन सरकार की जन-संपत्ति होगी एवं इसे सरकार द्वारा विक्रय किया अथवा किराये पर दिया जा सकेगा। चैंपल के पश्चात् उनके इटलीवासी उत्तराधिकारी के साथ इस सम्बन्ध में समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत भिक्षुओं की भूमि के एक बड़े भाग को क्रय कर लिया गया।

सरकार को इस भूमि का विक्रय करने में अत्यधिक हानि उठानी पड़ी। एक व्यक्ति को 40 एकड़ एवं एक निगम को 2470 एकड़ भूमि खरीदने के अधिकार का प्राविधान रखा गया। 1916 में बची हुई भूमि को फिलीपीन की विधान सभा के नियंत्रण में हस्तांतरित कर दिया गया।

सामाजिक प्रगति

प्रथम फिलीपीनी आयोग की नियुक्ति के समय ही अमरीकी सरकार ने यह घोषणा की थी कि अमरीका फिलीपीन में जनता की समृद्धि, शान्ति एवं परम्पराओं की रक्षा हेतु शासन करेगा। इस दिशा में सर्वप्रथम स्वास्थ्य के क्षेत्र में प्रगति की दिशा में कार्य किये गये। 1898 में फिलीपीन के कुछ स्थानों पर बच्चों की मृत्यु-दर 80 प्रतिशित तक थी तथा मनीला में मृत्यु-दर प्रति वर्ष 40 से 50 प्रति हजार थी। संक्रामक रोगों से मरनेवालों की संख्या अत्यधिक थी। प्रारम्भ में इस दिशा में ग्रामीणों ने कठिनाइयाँ उत्पन्न की क्योंकि वे चेचक, हैजा एवं प्लेग के टीके को सन्देहास्पद नजरों से देखते थे। जल-वितरण व्यवस्था एवं मल-निर्यास व्यवस्था की प्रगति पर एक बड़ी धनराशि व्यय की गयीं। 40 अस्पताल एवं कुछ हजार चिकित्सालयों की स्थापना की गयी तथा एक दर्जन कोढ़-गृह भी स्थापित हुए। इस प्रकार मृत्यु दर में अत्यधिक कमी आई।

इसी दृढ़ निश्चय के साथ अमरीकी प्रशासन ने नि:शुल्क एवं धर्मनिरपेक्ष शिक्षा का प्राथमिक स्तर पर विकास किया गया। यद्यपि केन्द्रीय-आय

का एक तिहाई भाग शिक्षा के विकास पर आवंटित किया गया तथापि स्कूलों की सुविधाएँ फिलीपीनी जनता की माँग को पूर्ण करने में असमर्थ रहीं। प्रारम्भ में अमरीकी पाठ्य-पुस्तकों की उपयोगिता एवं अंग्रेजी भाषा में शिक्षण प्रदान करने में कठिनाई उत्पन्न हुई। बड़ी संख्या में अमरीकी शिक्षकों को फिलीपीन भेजा गया। 1915 तक अमरीकी शिक्षक प्राइमरी शिक्षकों के कुल योग का दसवाँ भाग थे एवं उच्च शिक्षा में यह अनुपात और अधिक था। 1930 तक शिक्षा के क्षेत्रीय नियंत्रक के पद पर अमरीकी शिक्षक ही कार्यरत थे। कोष आवंटन एवं प्रशिक्षणात्मक नियंत्रण केन्द्रीय प्रशासन के अधीन था। फिलीपीन में 1898 में साक्षरता 20 प्रतिशत थी जो 1940 में बढ़कर 40 प्रतिशत हो चुकी थी। स्पेनिश विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त प्रोटेस्टेन्ट सिलिमान विश्वविद्यालय की ओरियेन्टल नेग्रास प्रदेश में स्थापना हुई। इन सबमें प्रमुख मनीला का सरकारी विश्वविद्यालय था जिसमें दस से अधिक कालेज थे। ये विद्यालय स्वास्थ्य एवं शिक्षा केन्द्रों के रूप में भी कार्य करते थे।

3. आर्थिक विकास

फिलीपीन में अमरीकी शासन की स्थापना के पश्चात प्रथम दशक में आर्थिक क्षेत्र में सीमित विकास हुआ क्योंकि स्पेन के साथ समझौते के अनुसार आगामी दस वर्षों तक अमरीका फिलीपीन में अमरीकी जहाजों के आवागमन अथवा अमरीकी वस्तुओं के विक्रय के सहायतार्थ कोई भी शुल्क नियम नहीं बना सकता था। उपर्युक्त समझौते की अवधि समाप्त हो जाने के पश्चात एक अर्ध-व्यापारिक नीति का निर्माण हुआ। इस नीति के अन्तर्गत अमरीका एवं फिलीपीन के मध्य वस्तुओं के पारस्परिक आदान-प्रदान हेतु स्वतंत्र व्यापार के सिद्धान्त का पालन किया गया, परन्तु फिलीपीन में अन्य देशों की आयातित वस्तुओं पर एक नवीन कर लगाया गया। इस प्रकार अमरीकी व्यापारियों को फिलीपीन में सुरक्षा प्रदान की गई। फलस्वरूप फिलीपीन के व्यापार पर वास्तविक रूप में अमरीकी एकाधिकार की स्थापना हुई जिसके कारण अमरीकी व्यापारिक प्रतिष्ठानों ने चीनी, तम्बाकू, सब्जी, तेल, जूट एव लकड़ी के उत्पादन में वृद्धि का प्रयास किया। निर्यात को प्रोत्साहन प्रदान करने हेतु 1913 में 'अन्डरवुड सिम्मन्स शुल्क अधिनियम' पारित किया गया जिसने निर्यात शुल्क को समाप्त कर दिया गया। अन्ततः 1916 में 'जोन्स अधिनियम' के द्वारा फिलीपीन की विधायिका को किसी भी देश के साथ सीमा शुल्क सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतंत्रता प्रदान कर दी

गई। परन्तु इन सम्बन्धों का राष्ट्रपति द्वारा अनुमोदित होना आवश्यक था।

अमरीकी शासक के द्वितीय दशक के अन्त तक फिलीपीन के व्यापार पर अमरीकी अधिकार अत्यधिक बढ़ गया था। 1930 तक खदानों का विकास तीव्रतम गति से हुआ। इस समय फिलीपीन के निर्यात का लगभग तीन चौथाई भाग अमरीका के ही साथ था तथा आयात का 85 प्रतिशत अमरीका द्वारा किया जाता था। उत्पादन वृद्धि ने फिलीपीन सरकार के राजस्व में भारी वृद्धि की। फलस्वरूप सरकार ने सड़कों के निर्माण, स्वास्थ्य सेवाओं एवं शिक्षा के विकास की दिशा में कार्य किया। परन्तु इस काल में कृषि-सुधार पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। फलत: कृषकों की दशा में कोई प्रगति नहीं हुई। 1906-1907 में कृषि बैंकों की स्थापना की गई जिससे कृषकों को ऋण उचित ब्याज दर पर मिल सके। यह कार्यक्रम भी कुछ कारणों से असफल हो गया। किसानों की दशा खराब होने एवं चीनी महाजनों के अत्यधिक ब्याज पर ऋण देने के कारण चावल का उत्पादन आवश्यकता की पूर्ति करने में असफल रहा।

फिलीपीन में व्यापार एवं निर्माण कार्य में चीनी जनता को प्रमुखता प्राप्त थी। 1904 में 'चायनीज' (चीनी) 'चेम्बर आव कामर्स' की स्थापना हुई। 1932 तक फिलीपीन के थोक व्यापार पर चीनी व्यापारियों का संपूर्ण नियंत्रण स्थापित हो गया तथा तीन चौथाई फुटकर व्यापार चीनियों के हाथ में आ गया। फिलीपीन की तीन चौथाई चावल मिलों पर चीनियों का अधिकार था। उन्होंने फिलीपीनों में शादी करके भूमि क्रय जो विदेशियों के लिये निषिद्ध था, स्वयं के लिये नियमानुकूल बना लिया। परन्तु समयानुसार 1940 के पश्चात चीनी आर्थिक साम्राज्य का ह्रास होना आरम्भ हो गया।

5. फिलीपीनीकरण

1908 में विलियम टाफ्ट ने फिलीपीन वासियों को स्व-शासन हेतु योग्य बनाने के लिये कुछ सुझाव प्रस्तुत किये। टाफ्ट ने कहा कि उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति हेतु अमरीकी नियन्त्रण के अन्तर्गत प्रशासन में स्वस्थ परम्पराओं की स्थापना करनी चाहिये, स्थानीय जनता को सरकार एवं राजनीति में अनुभव प्राप्त करने के अवसर प्रदान किये जायें तथा शिक्षा के क्षेत्र में निर्माणकारी कार्य करने चाहिये। उन्होंने कहा कि प्रदेशीय पृथक्करण को समाप्त करने हेतु रेलवे, सड़कें, स्टीमर सेवा एवं म्यूनिसिपल सुधार आवश्यक हैं। उन्होंने आशा व्यक्त की कि अमरीकी सरकार आंग्ल भाषा को जनभाषा बनाने का प्रयत्न करेगी।

1902 के प्रायोगिक अधिनियम के प्राविधानों के अनुसार विधान सभाओं के चुनाव कराये गये। उपर्युक्त चुनावों में राष्ट्रवादी दल को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। विधानसभा का प्रथम अधिवेशन अक्टूबर 1900 में प्रारम्भ हुआ। 1907 में ही एक उच्च सदन की भी स्थापना की गई जिसमें 8 अमरीकी सदस्यों का बहुमत था। किसी भी विधेयक को अधिनियम बनने से पूर्व दोनों सदनों की स्वीकृत आवश्यक थी। इसके अतिरिक्त 1913 तक उच्च सदन के अमरीकी सदस्यों को फिलीपीन की विधान सभा के प्रस्तावों पर विशेषाधिकार प्राप्त था।

1912 में अमरीकी राष्ट्रपति के चुनाव में प्रजातांत्रिक दल की विजय के फलस्वरूप फीलीपीनीकरण की दिशा में एक नवीन काल का उदय हुआ। राष्ट्रपति विल्सन ने फ्रांसिस बर्टन हैरीसन को फिलीपीन का गवर्नर जनरल नियुक्त किया। हैरीसन ने फिलीपीन को स्वतंत्रता हेतु योग्य बनाने वाले कार्य को तीव्रता से आरम्भ किया। उन्होंने फिलीपीनियों को, सरकारी तंत्र में अधिकाधिक स्थान प्रदान किये। 1916 में 'जोन्स अधिनियम' अमरीकी संसद द्वारा पारित कर दिया गया जिसमें यह घोषणा की गई कि फिलीपीन में स्थायी सरकार की स्थापना के साथ ही अमरीकी कांग्रेस उसे स्वतंत्रता प्रदान कर देगी। यह भी घोषणा की गई कि स्वतंत्रता प्रदान करने हेतु फिलीपीनी जनता को, अमरीकी प्रभुसत्ता के अन्तर्गत, आन्तरिक मामलों में नियंत्रण प्रदान किया जाय। इस अधिनियम में गवर्नर जनरल की कार्यपालिका समिति पर नियंत्रण एवं विशेषाधिकार पुन: स्थापित किया गया। अपने सात वर्षीय कार्यकाल में हैरीसन ने फिलीपीन विधान सभा को 1916 के प्रशासनिक संहिता के निर्माण में सहायता प्रदान की। हैरीसन अधिनियम के मामलों में फिलीपीनों की विचारधारा के समर्थक थे। उनके प्रयत्नों से फिलीपीन सरकारी सेवा में 1913 में रत अमरीकी कर्मचारियों की संख्या 23 प्रतिशत से घटकर 1920 में केवल चार प्रतिशत ही रह गयी। इसके अतिरिक्त शिक्षा, स्वास्थ्य, सार्वजनिक निर्माण, मत्स्य एवं तकनीकी क्षेत्रों में अमरीकियों की संख्या सीमित हो गयी थी। जोन्स अधिनियम का महत्वपूर्ण कार्य यह था कि उच्च सदन में अमरीकी बहुमत समाप्त करके 54 सदस्यीय उच्च सदन का गठन किया गया जिसमें से 11 प्रदेशों द्वारा चुने हुए बाईस सदस्य थे तथा दो सदस्य नामांकित थे। परन्तु अभी भी फिलीपीन की विधान सभा पर अमरीकी राष्ट्रपति एवं संसद का नियंत्रण था क्योंकि विधान सभा द्वारा पारित कोई विधेयक अमरीकी राष्ट्रपति की सहमति के बिना अधिनियम नहीं बन सकता था। अमरीकी संसद को फिली-

पीन के किसी भी कानून को अवैध घोषित करने का अधिकार प्राप्त था। यद्यपि हैरीसन के कार्यकाल (1913-1920) में उपर्युक्त अधिकारों का प्रयोग नहीं किया गया परन्तु उनके उत्तराधिकारियों ने इन अधिकारों का समय-समय पर प्रयोग किया।

इस प्रकार फिलीपीन विधान सभा विधि-निर्मात्री संस्था से अधिक राजनैतिक संस्था के रूप में कार्य करती रही। इस विधान सभा में 1907 से 1921 तक राष्ट्रवादी दल का बहुमत रहा। इस दल का प्रमुख नेता सेरजियो ओसमाँ था। 1922 में उच्च सदन का अध्यक्ष मेनुअल कूजान राष्ट्रवादी दल का नेता हुआ।

1920 में अमरीकी राष्ट्रपति के चुनाव में रिपब्लिकन दल की विजय हुई तथा हार्डिग अमरीका के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। हार्डिग प्रशासन ने जनरल लियोनार्ड वुड तथा फिलीपीन के भूतपूर्व गवर्नर जनरल केमरन फोर्ब्स इस दो सदस्यीय जाँच आयोग को फिलीपीन भेजा। इस आयोग ने अपने विवरण में फिलीपीन में कुप्रशासन, सरकारी अस्थिरता एवं राजनैतिक असन्तोष के अस्तित्व की सूचना राष्ट्रपति को दी। उपर्युक्त स्थिति को समाप्त करने हेतु लियोनार्ड वुड को फिलीपीन का गवर्नर जनरल नियुक्त किया गया। वुड का मत यह था कि फिलीपीन को स्वतंत्रता प्रदान करने के परिणामस्वरूप अमरीका की प्रतिष्ठा एवं प्रभाव में ह्रास होगा, अत: नवीन गवर्नर जनरल फिलीपीन के राष्ट्रवादियों का सहयोग एवं सद्भावना प्राप्त करने में असफल रहे।

गवर्नर जनरल वुड एवं फिलीपीन राष्ट्रवादियों के मध्य तनाव का मुख्य कारण यह था कि राष्ट्रवादी उसके निषेधाधिकार की व्यापकता को सीमित करना चाहते थे तथा वुड उसके विरुद्ध अपने अधिकार को समाप्त करने के पक्ष में नहीं थे। भूतपूर्व गवर्नर जनरल हैरीसन द्वारा पाँच बार के निषेधाकार की तुलना में वुड ने इस अधिकार का प्रयोग 126 बार किया। गर्वनल जनरल वुड एवं राष्ट्रवादियों के मध्य कटिबद्ध संघर्ष का अवसर 1923 में आया।

राजनैतिक उत्तरदायित्व को गवर्नर जनरल के स्थान पर विधान सभा में निहित करने के प्रयास में भूतपूर्व गवर्नर जनरल हैरीसन द्वारा संस्थापित सलाहकार समिति ने त्याग-पत्र दे दिया। गवर्नर जनरल वुड ने त्यागपत्र स्वीकार कर सलाहकार समिति के अधिकारों को विभागीय उपसचिवों में निहित कर दिया तथा सैनिक अधिकारियों की एक सलाहकार समिति का गठन किया। उपर्युक्त कृत्य में अमरीकी प्रशासन ने वुड का समर्थन

किया। इसके अतिरिक्त आर्थिक मामलों पर भी वुड एवं विधान सभा के मध्य तनाव में और वृद्धि हुई, विधान सभा ने मिन्डानो एवं सुलू के क्षेत्रों को अमरीकी रबर उत्पादन के लिए उपलब्ध करने के सुझावों का विरोध किया। गवर्नर जनरल ने हैरीसन द्वारा संस्थापित निगमों पर अपने नियंत्रण की घोषणा की तथा हैरीसन द्वारा संस्थापित नियंत्रण आयोग को, जिसमें दोनों सदनों के अध्यक्ष सदस्य थे, समाप्त कर दिया। राष्ट्रवादियों ने गवर्नर जनरल के कृत्यों के विरुद्ध अमरीकी संसद से हस्तक्षेप का अनुरोध किया। अमरीकी संसद में 1924 तक अनेक सुधार कार्यक्रमों पर विचार किया गया। इसी वर्ष राष्ट्रपति के चुनाव में कॉलेन कूलिज के विजयी होने के पश्चात् उपर्युक्त सुधार कार्यक्रमों की शृंखला का अंत हो गया। 1927 में जनरल वुड की मृत्यु हो गयी और इसके साथ ही फिलीपीन के इतिहास में एक नये अध्याय का प्रारम्भ हुआ।

हेनरी एल० स्टिमसन को वुड का उत्तराधिकारी बनाया गया। स्टिमसन ने विधान सभा और गवर्नर जनरल के मध्य सहयोग स्थापित किया परन्तु इस समय फिलीपीन के राष्ट्रवादी फिलीपीन के आन्तरिक मामलों पर अपना नियंत्रण स्थापित करने को दृढ़प्रतिज्ञ हो चुके थे। गवर्नर जनरल वुड के द्वारा उत्पन्न राजनैतिक आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि धार्मिक नेताओं ने जनप्रिय क्रान्ति का पुन: आरम्भ किया। सन् 1924 के पश्चात् कई स्थानों पर कृषकों ने प्रदर्शन किये। दक्षिणी विस्यास में बुकास ग्रैन्ड ने एक क्रान्ति को जन्म दिया जो कि प्रभावशाली ढंग से दबा दी गयी परन्तु उक्त क्षेत्र में गुप्त संस्थाएँ क्रान्ति की दिशा में कार्य करती रहीं। द्वितीय विद्रोह फ्लोरेन्सियो इन्टरेन्चरेडो के नेतृत्व में हुआ जिसने 1924 से 1927 तक फिलीपीन के स्वघोषित सम्राट् के रूप में कार्य किया। फ्लोरेन्सियो ने अपना राजकीय मुख्यालय स्थापित किया तथा सदस्यों से तीन पीसो (फिलीपीनी मुद्रा) का सदस्यता शुल्क ग्रहण किया। 1927 में फ्लोरेन्सियो को पकड़ लिया गया तथा पागल घोषित कर दिया गया परन्तु उसके अनुयायी सुधारों की माँग करते रहे।

गवर्नर जनरल स्टिमसन ने फिलीपीन विधान सभा के साथ सहयोग की नीति का पालन किया। उन्होंने अपने मंत्रिमंडल का चुनाव बहुमत-प्राप्त दल के नेताओं से विचार विमर्श के पश्चात् उक्त दल के सदस्यों में से किया। उन्होंने राज्य सभा का पुनंगठन किया तथा इसके सदस्यों की संख्या में वृद्धि करके दोनों सदनों के सदस्यों को इसकी सदस्यता में सम्मिलित किया। तत्पश्चात् स्टिमसन को अमरीका का राज्य सचिव नियुक्त किया गया और

वह अमरीका वापस चले गये।

स्वशासन की ओर

1928 एवं 1929 में अमरीका में मंदी के लक्षण उत्पन्न हुए फलस्वरूप अमरीका सरकार ने फिलीपीन पर अपनी प्रभुसत्ता समाप्त करने का निर्णय लिया। फिलीपीन राष्ट्रवादी फिलीपीन की स्वतंत्रता हेतु एक लंबे समय से प्रयत्नशील थे। इसके अतिरिक्त अमरीकी उदारवादियों ने अमरीकी सरकार को 'जोन्स अधिनियम' के अन्तर्गत दिये गये वचनों को पूर्ण करने हेतु सुझाव दिये। मंदी काल में अमरीकी सरकार ने फिलीपीन से चीनी, सब्जी, तेल एवं अन्य पदार्थों के आयात को प्रोत्साहन प्रदान किया, जिसने उपर्युक्त वस्तुओं के अमरीकी उत्पादकों को अत्यधिक कष्टमय स्थिति में डाल दिया। फलस्वरूप अमरीकी उत्पादकों ने इस नीति के अन्त की माँग की। इस प्रकार प्रजातांत्रिक दल के परम्परावादी साम्राज्यवाद-विरोधी सदस्यों को रूढ़िवादी क्षेत्रों से भी समर्थन प्राप्त हो गया। इसी मध्य अमरीका में विश्व-शान्ति तथा स्थिरता की स्थापना से सम्बन्धित उत्तरदायी व्यक्तियों में पृथकतावादी विचारधारा का प्रसार हुआ। वे अमरीका द्वारा अन्य देशों को दिये गये आश्वासनों को समाप्त करना चाहते थे। इसके अलावा अमरीकी श्रमिकों ने फिलीपीन वासियों के अमरीका में आकर बसने का विरोध किया जिसने अमरीका के फिलीपीन को स्वतन्त्रता प्रदान किये जाने का निर्णय करने में योगदान किया।

फलत: अमरीका ने राजनैतिक स्वतंत्रता के स्थान पर फिलीपीन की आर्थिक स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। नयी स्थिति ने फिलीपीन की आर्थिक दशा हेतु एक समस्या उत्पन्न कर दी थी। अनेक अमरीकी अधिकारी इस तथ्य से सहमत थे कि फिलीपीन के प्रशासन में व्यय फिलीपीन से प्राप्त लाभांश से कहीं कम है। 1929 के पश्चात् तीव्रता से घटनाएँ हुई तथा 1932 में अमरीकी संसद ने 'हेयर-होस-कटिंग अधिनियम' पारित कर दिया। इस अधिनियम के विरोध में राष्ट्रपति हूवर ने निषेधाधिकार का प्रयोग किया जिसे 1933 में अमरीकी संसद ने उपेक्षित कर दिया। फिलीपीन को इस अधिनियम की सूचना दे दी गयी तथा इस अधिनियम का फिलीपीन विधान-सभा द्वारा अनुमोदन करने का अनुरोध किया गया, परन्तु फिलीपीन में मैनुअल कूजान एवं उसके अनुयायियों के प्रयास से इस अधिनियम को विधान-सभा ने अक्टूबर, 1933 में अस्वीकृत कर दिया क्योंकि मैनुअल कूज़न अपने राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों को फिलीपीन की स्वतन्त्रता का श्रेय

नहीं देना चाहते थे। उनके इस कार्य ने अधिनियम को राजनैतिक फुटबाल बना दिया। विरोधियों के मुख्य नेता ओसमां, रोक्सास एवं ओसियस थे। फिलीपीन विधान-सभा ने इस अधिनियम को व्यापारिक प्राविधानों, आप्रवास पर प्रतिबन्ध एवं फिलीपीन में अमरीकी सैनिक एवं नौसैनिक अड्डों की स्थापना के विरोध में अस्वीकृत कर दिया।

उपर्युक्त प्राविधानों को समाप्त करने हेतु मैनुअल कूजान एक शिष्ट-मंडल के अध्यक्ष बनकर अमरीका गये। नौ महीनों के प्रयास के पश्चात् अमरीकी सरकार सैनिक प्राविधानों को समाप्त करने पर सहमत हो गयी और 1934 में 'टाईडिंग्स-मैकडफ अधिनियम' अमरीकी संसद ने पारित कर दिया जो पूर्व अधिनियम के लगभग समान ही था। फिलीपीन विधान-सभा ने टाइडिंग्स मैकडफ अधिनियम का अनुमोदन मई, 1934 में कर किया।

टाईडिंग्स-मैकडफ अधिनियम ने आगामी दस वर्षों तक फिलीपीन की रक्षा-व्यवस्था एवं विदेशी-सम्बन्धों पर अमरीकी नियंत्रण स्थापित कर दिया। एक प्रविधान के अन्तर्गत अमरीकी राष्ट्रपति को मुद्रा, आयात एवं निर्यात से सम्बन्धित अधिनियमों अथवा संवैधानिक संशोधनों को स्वीकृत करने का अधिकार प्रदान किया गया। अमरीकी सरकार को संवैधानिक सरकार की स्थापना हेतु फिलीपीन में हस्तक्षेप करने का अधिकार भी दिया गया। उपर्युक्त प्रतिबन्धों के उपरान्त भीं फिलीपीन में पूर्ण आंतरिक स्वयात्तता की स्थापना की गयी। टाइडिंग्स मैकडफ अधिनियम के अनुमोदन के पश्चात् फिलीपीन में संविधान सभा हेतु चुनाव हुए। निर्वाचित सभा को संविधान निर्माण का उत्तरदायित्व दिया गया। संविधान के जनमत द्वारा स्वीकृत हो जाने के उपरांत राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने इसे अनुमोदित कर दिया। इस प्रकार 15 नवम्बर, 1935 को 'फिलीपीन राष्ट्रकुल सरकार' की स्थापना हुई। फिलीपीन के अन्तिम गवर्नर जनरल फ्रैंक मर्फी को प्रथम उच्चायुक्त के रूप में नियुक्त किया गया। मैनुअल कूज़ान को प्रथम राष्ट्रपति तथा ओसमाँ को उप-राष्ट्रपति चुना गया। कूज़ान के शासनकाल में कृषि, शिक्षा एवं सार्वजनिक निर्माण क्षेत्र में कुछ प्रगति हुई पर इस प्रगति की शृंखला को 1941 के जापानी आक्रमण ने ध्वस्त कर दिया।

जापानी आधिपत्य

जापानी अधिकार के विरुद्ध फिलीपीन वासियों की प्रतिक्रिया दक्षिण-पूर्व एशिया के अन्य देशों की अपेक्षा भिन्न थी। लगभग सम्पूर्ण स्थानीय जनता ने जापानी आक्रमणकारियों के विरुद्ध प्रतिरोध की नीति अपनायी जो कि

संपूर्ण आधिपत्य काल में प्रचिलित थी। परन्तु यह निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति थी। बटाविया के पतन के पश्चात् फिलीपीन राष्ट्रवादियों ने गुरिल्ला युद्ध प्रारम्भ किया। केन्द्रीय लुजॉन के मैदानी क्षेत्रों में 'हुकवालाहेप्स' अथवा 'जापान विरोधी जन-सेना' का निर्माण किया गया, जिसका नेतृत्व साम्यवादियों के हाथ में था जिन्हें स्थानीय जमीदारों एवं कृषकों का समर्थन प्राप्त था। इसके अतिरिक्त मलाया के चीनी साम्यवादी दल के सदस्यों ने भी 'हुक' विद्रोहियों को समर्थन दिया। हुक सेना का नेतृत्व लुइस तुरुक के हाथों में था जो कि 1939 से साम्यवादी था। इन विद्रोहियों ने अमरीकी गुप्तचरों एवं निष्कासित व्यक्तियों को शरण दी।

उपर्युक्त विद्रोहियों का दमन करने हेतु जापानी सैनिक अधिकारियों ने भयंकर अत्याचार किये परन्तु इसमें किंचित् मात्र सन्देह नहीं है कि जापानी सैनिक प्रशासन ने सामाजिक ढांचे एवं राजनैतिक संगठन को अधिक हानि नहीं पहुंचायी क्योंकि राजनैतिक समूह के एक बड़े भाग ने जापानी शासकों के साथ सहयोग की नीति अपनाई थी। इनमें उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश जोज लोरेल प्रमुख थे जिन्हें टोकियो विश्वविद्यालय की डिग्री से सम्मानित किया गया था। फिलीपीन के सरकारी अधिकारियों ने भी जापानी अधिकारियों के साथ सहयोग किया तथा 1943 में फिलीपीन गणतंत्र की जापानी नियन्त्रण में स्थापना की गयी। जोज़ लोरेल को गणतन्त्र का अध्यक्ष बनाया गया। राष्ट्रपति की नियुक्ति की गयी, राष्ट्रीय सभा द्वारा पारित अधिनियमों पर पूर्ण निषेधाधिकार प्रदान किया गया तथा यह भी अधिकार दिया गया कि वह राष्ट्रीय सभा की स्वीकृति के बिना किसी भी विदेशी शक्ति के साथ समझौता कर सकता है। प्रत्येक क्षेत्र में ये पदाधिकारी जापानी अधिकारियों के निर्देशों को स्वीकार करने के लिए बाध्य थे।

1944 में राष्ट्रपति कूज़ान की मृत्यु के पश्चात् अमरीका स्थित निष्कासित सरकार के राष्ट्रपति का पद ओसमां ने ग्रहण किया। अक्टूबर, 1944 में अमरीका की फिलीपीन पर विजय के पश्चात् फिलीपीन में पुन: राष्ट्रकुल सरकार की स्थापना हुई जिसका राष्ट्रपति ओसमां था।

युद्ध के पश्चात् फिलीपीन की राष्ट्रकुल (कामनवेल्थ) कांग्रेस का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। उच्च सदन का अध्यक्ष रोक्सास इसका राजनैतिक नेता बनाया गया। 1946 के चुनाव में रोक्सास को राष्ट्रवादी दल के उदारवादी समूह ने राष्ट्रपति पद हेतु उम्मीदवार नामांकित किया। दूसरी ओर राष्ट्रवादी दल के राज्य-भक्तों ने ओसमां को अपना उम्मीदवार बनाया। मार्च के चुनाव में रोक्सास राष्ट्रपतिपद हेतु विजयी हुआ तथा संसद में उदार-

वादी राष्ट्रवादी दल को बहुमत प्राप्त हुआ । 4 जुलाई, 1946 को रोक्सास ने फिलीपीन गणतन्त्र के प्रथम राष्ट्रपति के रूप में सत्ता ग्रहण की ।

रोक्सास प्रशासन का सर्वप्रथम प्रमुख ध्येय 'बेल ट्रेड अधिनियम' का अनुमोदन था। इस अधिनियम के अन्तर्गत अमरीका को 8 वर्ष के लिए स्वतंत्र व्यापार की अनुमति एवं फिलीपीन में अमरीकी निवासियों को 1974 तक प्राकृतिक खनिजों के उपयोग हेतु समान अधिकार प्रदान किये जाने का प्राविधान था । उदारवादी दल में चीनी उत्पादकों से सहानुभूति रखनेवाला समूह उपर्युक्त अधिनियम के अनुमोदन का समर्थक था क्योंकि अमरीका में स्वतन्त्र चीनी व्यापार उनका ध्येय था । फिलीपीन की संसद ने इस अधिनियम को स्वीकृति दे दी क्योंकि अमरीकी सरकार ने फिलीपीन पुनःस्थापन अधिनियम के अन्तर्गत यह प्राविधान रखा था कि जब तक फिलीपीन संसद द्वारा 'बेल ट्रेड विधेयक' को स्वीकृति नहीं प्रदान की जाती तब तक 500 डालर से अधिक की क्षति-पूर्ति का अमरीकी सरकार भुगतान नहीं करेगी । इस अधिनियम को पूर्णतया स्वीकृति प्राप्त होने में अन्तिम अवरोध फिलीपीन सरकार की 13 वीं धारा थी जिसके अनुसार प्राकृतिक खनिज पदार्थों के उपयोग का अधिकार केवल फिलीपीन वासियों को ही था । इस संविधान संशोधन पर 1947 में जनमत संग्रह कराया गया जिसमें जनता ने बड़े बहुमत से संशोधन विधेयक के पक्ष में अपना मत दिया ।

रोक्सास प्रशासन के समक्ष एक अन्य समस्या 'हुक' विद्रोहियों की थी । 1946 में इन विद्रोहियों के साथ एक समझौते का प्रयास किया गया परन्तु यह प्रयास असफल हो गया । फलतः फिलीपीन में 'हुक' विद्रोहियों एवं सरकारी सैनिकों के मध्य युद्ध प्रारम्भ हो गया तथा मार्च 1948 में राष्ट्रपति रोक्सास ने 'हुक' संगठन को अवैध घोषित कर दिया । परन्तु अप्रैल में रोक्सास की हृदय-गति बन्द हो जाने के कारण मृत्यु हो गयी । फलस्वरूप यह समस्या रोक्सास प्रशासन के रहते समाप्त न की जा सकी । 1950 में सरकार ने 'हुक' विद्रोहियों के दमन के प्रयास में 18 अक्टूबर को 'हुक' मुख्यालय पर अधिकार कर लिया । 1953 में 'हुक' नेता लुइस तुरूक ने आत्मसमर्पण कर दिया । इसके पश्चात् 'हुक' विद्रोहियों की गतिविधियाँ लगभग समाप्त प्रायः हो गयीं और 1964 में उनके नेता जेसस लावा को बन्दी बनाये जाने के पश्चात् 'हुक' आन्दोलन नष्ट हो गया । इस हुक दमन में मुख्य योगदान रक्षा सचिव रेगन मेगसेसे का था ।

रोक्सास प्रशासन का एक अन्य मुख्य कार्य अमरीका के साथ एक सैनिक सन्धि पर हस्ताक्षर था । इस सन्धि पर 14 मार्च 1947 को हस्ताक्षर

किये गये जिसके अन्तर्गत संयुक्त राज्य अमरीका को अगामी वर्षों के लिये फिलीपीन में कुछ विशेष स्थानों पर सैनिक अड्डों की स्थापना की अनुमति प्रदान की गयी। इस सन्धि में यह प्राविधान भी था कि सैनिक आवश्यकता के समय अमरीका फिलीपीन के कुछ अन्य सैनिक अड्डों का भी प्रयोग कर सकता है।

बेल व्यापार अधिनियम का 1954 में पुन: निरीक्षण किया गया जब तत्कालीन राष्ट्रपति एलपिडियो क्यूरिनो ने अमरीकी राष्ट्रपति से उपर्युक्त अधिनियम का पुन: निरीक्षण करने का अनुरोध किया। इस अधिनियम पर 15 दिसम्बर 1954 को पुन: हस्ताक्षर किये गये। इस अधिनियम के अन्तर्गत अमरीकी सरकार ने फिलीपीन मुद्रा पर अपने नियंत्रण को समाप्त करके उसपर स्थानीय सरकार के नियन्त्रण की स्थापना की। इसके अतिरिक्त अमरीकी तथा फिलीपीन की जनता को अमरीका तथा फिलीपीन में व्यापार के समान अधिकार प्रदान किये गये तथा फिलीपीन के निर्यात कर पर प्रतिबन्ध को समाप्त कर दिया गया। उपर्युक्त प्राविधानों द्वारा फिलीपीनियों को आर्थिक क्षेत्र में अधिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई।

1951 में फिलीपीन के राष्ट्रपति एलपीडियो क्यूरिनो ने अमरीका के साथ पारस्परिक समझौते पर हस्ताक्षर किये। उक्त समझौते पर कुछ समय बाद आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड ने भी मान्यता दी। इसमें यह घोषणा की गई कि सन्धि के सदस्य देशों पर किसी अन्य शक्ति द्वारा आक्रमण का सभी राष्ट्र मिलकर मुकाबला करेंगे। यह समझौता कुछ समय पश्चात् 'दक्षिण-पूर्व एशिया सन्धि संगठन (सीटो) में परिणत हो गया।

1956 में अमरीकी विदेश मन्त्री जान फास्टर डलेस ने घोषणा की कि फिलीपीन को एशियन आणविक केन्द्र की स्थापना हेतु चुना जा रहा है। यह निर्णय कोलम्बो कार्यक्रम की सलाहकार समिति ने सिंगापुर में 1952 में किया था। इस केन्द्र का मुख्य ध्येय 'एशिया वासियों के कल्याण हेतु आणविक शक्ति के शान्तिपूर्ण प्रयोग पर शोध' घोषित किया गया। इसके अतिरिक्त अमरीका ने फिलीपीन में आणविक शक्ति के विकास हेतु एक समझौते का प्रस्ताव रखा।

1954 में रेमन मैगसेसे को फिलीपीन का राष्ट्रपति चुना गया। रेमन मैगसेसे के कार्य काल में 8 जुलाई 1956 को फिलीपीन के गणतन्त्र की घोषणा के 10 वर्ष पूर्ण हो जाने के फलस्वरूप अमरीका एवं फिलीपीन के मध्य नवीन सम्बन्धों को लेकर राष्ट्रपति एवं सीनेट के सदस्य कार्लो एम० रेक्टो के मध्य तनाव उत्पन्न हो गया। फिलीपीन में अमरीकी सैनिक अड्डों के प्रश्न पर विवाद प्रारम्भ हुआ। अमरीका के एटार्नी जनरल हर्बर्ट ब्राउवेल

ने घोषणा की कि फिलीपीन पर अमरीकी प्रभुसत्ता की समाप्ति के उपरान्त भी अमरीका का फिलीपीन के सैनिक अड्डों पर अधिकार है। इसके विरुद्ध सीनेट सदस्य रेक्टो ने उपर्युक्त अधिकार का खंडन करते हुए कहा कि सैनिक अड्डों की भूमि फिलीपीन सरकार की है जिसको 1947 के समझौते के अन्तर्गत अमरीका को प्रयोग के लिए दिया गया था। फिलीपीन के राष्ट्रवादी उपर्युक्त घोषणा से बहुत क्षुब्ध हुये। इसी मध्य कुछ अन्य घटनाओं ने स्थिति को गम्भीर कर दिया। 3 जुलाई को राष्ट्रपति मैगसेसे एवं उप-राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन ने एक संयुक्त विज्ञप्ति द्वारा सैनिक अड्डों पर फिलीपीन सरकार की प्रभुसत्ता को मान्यता प्रदान की। इसके पश्चात् अमरीकी तम्बाकू के फिलीपीन में आयात के प्रश्न पर भी मतभेद थे जो अन्त में फिलीपीन सरकार द्वारा तम्बाकू के आयात को स्वीकृति दिये जाने के पश्चात् समाप्त हो गये।

मार्च 1957 में राष्ट्रपति मैगसेसे की मृत्यु पश्चात कार्लोस पी०गार्सिया फिलीपीन के राष्ट्रपति चुने गये। गार्सिया के प्रशासन की मुख्य विशेषता आर्थिक एवं राजनैतिक राष्ट्रवाद की पुनः उत्पत्ति थी। इसका मुख्य ध्येय प्रत्येक राष्ट्रीय कार्यक्रम में फीलीपीनों को उच्च स्थान प्रदान करना था। उक्त राष्ट्रवाद ने कार्लो एम०रेक्टो के लेखों से प्रेरणा प्राप्त की थी जिसमें रेक्टो ने क्यूरिनो प्रशासन के अमरीका के साथ सम्बन्धों की आलोचना की थी। मैगसेसे के प्रशासन काल में उपर्युक्त राष्ट्रवाद को अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ क्योंकि मैगसेसे प्रशासन पूर्णतया अमरीकी नीतियों के अनुसार ही था।

राष्ट्रपति गार्सिया की नीति को राष्ट्रवादियों ने पूर्ण समर्थन एव सहयोग प्रदान किया। फिलीपीन के बुद्धिजीवी एवं व्यापारी-वर्ग ने भी उपर्युक्त कार्यक्रम का समर्थन किया परन्तु अन्य प्रशासनों की भाँति ही गार्सिया प्रशासन में भ्रष्टाचार एवं अन्य बुराइयों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। यही 1961 में गार्सिया की पराजय का एकमात्र कारण बना। 1961 के चुनाव में 'दियोसदादो माकापगाल' राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। माकापगाल ने जन-सामान्य के कल्याण एवं आर्थिक स्थायित्व की स्थापना हेतु एक पंचवर्षीय कार्यक्रम का निर्माण किया था। किसानों को शताब्दियों से प्रचलित दासता से मुक्त कर स्वतन्त्र समाज के स्वतन्त्र नागरिक बनाने हेतु एक भूमि-सुधार संहिता का निर्माण किया गया। 8 अगस्त,1963 को माकापगाल ने भूमि-सुधार संहिता को स्वीकृति प्रदान कर दी। इसने कृषकों को जमीन पट्टे लेने का अधिकार प्रदान कर दिया। भूमि-सुधार संहिता ने कृषकों की दशा में अत्यधिक सुधार किया। माकापगाल ने फिलीपीन स्वतन्त्रता दिवस को 4

जुलाई के स्थान पर 12 जून कर दिया जिस दिन एग्वीनाल्डो ने 1898 में फिलीपीन स्वतन्त्रता की घोषणा की थी। परन्तु माकापगाल की लोकप्रियता उसके 4 वर्षीय कार्यकाल के अन्तिम दो वर्षों में अत्यधिक कम हो गयी थी। इसके पाँच मुख्य कारण थे—प्रथम, वस्तुओं के मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि रोकने में सरकार असफल रही; द्वितीय, लाभ-प्रद परिणामों हेतु माकापगाल की अधीरता की कार्य प्रणाली जिससे उच्चतम न्यायालय ने अनेक बार उनके विरुद्ध निर्णय दिये; तृतीय, देश में अशान्ति एवं अव्यवस्था में वृद्धि; चतुर्थ, भ्रष्टाचार एवं घूस में वृद्धि रोकने एवं पंचम, उनकी सरकार की तस्करी को रोकने में असमर्थता।

1965 में उच्च सदन के अध्यक्ष फर्डिनेन्ड मार्कोस को राष्ट्रवादी दल ने राष्ट्रपति पद के लिए नामांकित किया और मार्कोस राष्ट्रपति चुन लिये गये। मार्कोस ने किसानों को प्रोत्साहन देकर एवं सिंचाई व्यवस्था में सुधार कर फिलीपीन के चावल उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि की। फिलीपीन विश्व-विद्यालय में अमरीकी निर्देशित अन्तर्राष्ट्रीय चावल शोध संस्थान की स्थापना की गयी जिसने चावल की नयी किस्में खोजकर फिलीपीन को चावल निर्यात करने वाले देशों की सूची में सम्मिलित कर दिया। इसके अतिरिक्त मार्कोस ने फिलीपीन की सड़कों, पुलों एवं स्कूलों आदि के निर्माण पर भी विशेष ध्यान दिया। यद्यपि मार्कोस ने 'वियतनाम सहायता विधेयक' का 1965 में अत्यधिक विरोध किया तथापि राष्ट्रपति हो जाने के पश्चात् उन्होंने सैनिक, इन्जीनियर बटालियन को दक्षिण वियतनाम भेजने का निर्णय किया। फलस्वरूप देश के प्रत्येक भाग में मार्कोस के उपर्युक्त निर्णय की तीव्र आलोचना की गयी। अपने पुनर्निर्वाचन के पश्चात् मार्कोस ने इन्जीनियरिंग बटालियन को जन-प्रतिरोध से विवश होकर वापस बुला लिया 1969 में मार्कोस राष्ट्रपति पद हेतु पुनः निर्वाचित किये गये। पुनर्निर्वाचन के लगभग 1 मास पश्चात् ही फिलीपीन के छात्रों ने मार्कोस प्रशासन के विरुद्ध प्रदर्शन शुरू कर दिया। यह प्रदर्शन मार्कोस प्रशासन के प्रत्येक मनुष्य को न्याय प्रदान करने में असफलता, न्याय, एवं व्यवस्था की स्थापना में असमर्थता, फिलीपीन से अमरीकी सैनिक अड्डों के उन्मूलन के प्रति लापरवाही तथा साम्राज्यवाद, फ़ासीवाद, सामन्तवाद का सरकार द्वारा समर्थन करने के विरोध में था। इन प्रदर्शनों में कई छात्र मारे गये अथवा गम्भीर रूप से घायल हुए। फलस्वरूप बड़ी मात्रा में कृषकों, श्रमिकों एवं छात्रों ने प्रदर्शन किये तथा बुद्धिजीवियों ने मार्कोस की नीतियों की भर्त्सना की। जब मार्कोस ने कम्बोडिया को सैनिक सहायता देने की घोषणा की

तो प्रदर्शनकारियों ने उग्र रूप धारण कर लिया। परिणामस्वरूप मार्कोस को अपना यह निर्णय वापस लेना पड़ा।

1969 के चुनाव में अत्यधिक व्यय के कारण फरवरी 1970 में मार्कोस को फिलीपीनी मुद्रा का अवमूल्यन करने हेतु बाध्य होना पड़ा। वेतन एवं वस्तुओं के मूल्य में तीव्र वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त देश में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गयी। 22 अगस्त, 1971 को विरोधी उदारवादी दल ने उच्च सदन के उम्मीदवार पर हथगोले का प्रयोग किया जब वे एक जनसभा में भाषण कर रहे थे। फलतः उनकी मृत्यु हो गयी। 22 अगस्त को राष्ट्रपति मार्कोस ने घोषणा की कि देश में साम्यवादी तत्व अराजकता फैलाना चाहते हैं। इसके अन्तर्गत बड़े पैमाने पर लोग बन्दी बनाये गये। इसके विरोध में प्रदर्शन हुये और राष्ट्रपति को जनता की इच्छा के समक्ष झुकना पड़ा और बन्दियों को रिहा करना पड़ा।

1971 ने साम्यवादी गुरिल्लों ने, जो न्यू पीपुल्स आर्मी के नाम से जाने जाते थे, सरकार के विरुद्ध युद्ध प्रारम्भ किया जिसके फलस्वरूप राजनैतिक स्थिति में बहुत अस्थिरता उत्पन्न हो गयी। जून, 1971 में साम्प्रदायिक दंगे प्रारम्भ हुए और ईसाइयों के एक समूह ने मिण्डानों में कुछ मुसलमानों की हत्या कर दी। फलस्वरूप मुसलमानों एवं शान्ति स्थापना के प्रयासों में लगे हुये सरकारी सैनिकों के मध्य संघर्ष प्रारम्भ हो गया और 1972 तक यह आग देश के अन्य भागों में भी फैल गयीं। इसी मध्य जुलाई, 1972 में लूजान, रिजाल, एवं लेगुना प्रदेशों में बाढ़ के प्रकोप से हजारों आदमी मृत्युग्रस्त हुये एवं लाखों बेघरबार हो गये। खाद्य पदार्थों की कमी हो जाने के कारण साम्यवादी गुरिल्लों ने अपनी कार्यवाहियाँ तीव्र कर दीं। फिलीपीन के रक्षामन्त्री की हत्या के प्रयास के परिणामस्वरूप राष्ट्रपति मार्कोस ने 21 सितम्बर, 1972 को सैनिक शासन की घोषणा कर दी। इसके कारणों की व्याख्या करते हुये मार्कोस ने कहा कि सैनिक शासन का ध्येय सरकार उलटने का प्रयास करने वाले तत्वों का दमन करना एवं देश में सुधारों का प्रारम्भ करना था।

इसके पश्चात सीनेटर रोक्सास विरोधी दल के अध्यक्ष सीनेटर आगुनो एवं अन्य राजनीतिज्ञों को बन्दी बना लिया गया। जन-सूचना सचिव फ्रान्सिसको ने एक घोषणा में कहा कि सरकारी कर्मचारियों के व्यवहार तथा कार्यों में सुधार किये जायेंगे। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति मार्कोस ने घोषणा की कि सैनिक एवं पुलिस ही आग्नेय अस्त्रों को धारण करने की अधिकारी है। इसके अतिरिक्त लगभग सभी समाचार-पत्र, दूर-दर्शन एवं प्रसारण केन्द्रों

को बन्द कर दिया गया। मध्य-रात्रि से सुबह 4 बजे तक 'कर्फ्यू आज्ञा' दी गयी तथा मुख्य दूरभाष, बिजली, जल, जहाजरानी एवं हवाई कम्पनियों पर सरकार का अधिकार स्थापित किया गया। सितम्बर 1972 में सभी शिक्षा संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों को अनिश्चित काल के लिये बन्द कर दिया गया। राष्ट्रपति ने विशेष सैनिक न्यायालयों की स्थापना की जिसमें सैनिक शासन के विरुद्ध कार्य करने वाले अभियुक्तों की सुनवाई की गयी। बड़ी संख्या में सरकारी कर्मचारियों को त्याग-पत्र देने हेतु विवश किया गया अथवा उन्हें सेवा-निवृत कर दिया गया।

अक्तूबर, 1972 में 6 सूत्रीय आर्थिक कार्य-क्रम की घोषणा की गयी जिसमें राष्ट्रीय आर्थिक विकास प्राधिकरण की स्थापना, कस्टम एवं सीमा शुल्क की दरों का पुन: निर्धारण, कर-व्यवस्था में सुधार, आवश्यक वस्तुओं के आयात पर सीमा-शुल्क में कमी तथा भोग-विलास की सामग्रियों के आयात पर रोक इत्यादि सम्मिलित थे। इसके अतिरिक्त भूमि-सुधार कार्य-क्रम, प्रेस सलाहकार समिति का गठन तथा फिलीपीन-वासियों की विदेश यात्रा पर प्रतिबन्धों की घोषणा भी कर दी गयी। इस प्रकार मार्कोस ने देश को शान्ति, व्यवस्था एवं स्थायित्व प्रदान करने का प्रयास किया।

आर्थिक सर्वेक्षण

फिलीपीन की स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात 1946 से 1954 तक फिलीपीन और अमरीका के मध्य सीमा शुल्क रहित व्यापार का समझौता हुआ। इस युग में अमरीका के व्यापारियों की मोटर और मशीन के कल-पुर्जों के आयात में फिलीपीन के कारण आशातीत वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त फल-शक्कर, लकड़ी तथा डिब्बे बन्द खाद्य पदार्थों के उद्योग में भी अमरीकी व्यापारियों ने लागत लगाई। अत: नव गणतन्त्र राजनैतिक रूप से स्वतन्त्र होकर भी आर्थिक रूप से परतन्त्र था।

1955 के 'लॉरेल-लैंग्ले समझौते' ने फिलीपीन को आयात शुल्क लगाने की कुछ सुविधा प्रदान की। यह समझौता 1974 तक कार्यान्वित रहा और इस काल में दोनों देशों के व्यापारियों को समान अवसर प्रदान किया गया। मुक्त व्यापार की भाँति इस समझौते ने भी अमरीका के व्यापारियों को फिलीपीन के व्यापारियों की अपेक्षा अधिक लाभान्वित किया।

व्यापार के अतिरिक्त कृषि में भी फिलीपीन ने अधिक उन्नति नहीं की। लगभग 70 प्रतिशत द्वीपीय जनता खेतिहर है परन्तु राष्ट्रीय आय का केवल 42 प्रतिशत ही इससे पूर्ण होता था। आज के फिलीपीन में पिछले

वर्षों की अपेक्षा कृषि के उत्पादन में और तकनीकी ज्ञान में भी वृद्धि हुई है।

फिलीपीन की आर्थिक स्थिति में फिलीपीनी उत्पादनों की विदेश में माँग के कारण काफी सुधार आया है। खनिज पदार्थों के उत्पादन में भी इस द्वीप समूह ने प्रगति की है। सोने के उत्पादन में फिलीपीन विश्व के 10 देशों में से एक है।

देश के प्रति व्यक्ति आय में भी काफी वृद्धि हुई है। 1970 में एक श्रमिक की सामान्य आय 45 डॉलर थी जबकि अब 135 डॉलर है। यद्यपि सामाजिक एवं राजनैतिक विकास ने फिलीपीन के आर्थिक विकास को प्रभावित किया है परन्तु सरकारी तन्त्र एवं जनसंख्या विस्फोट ने फिलीपीन को आशायुक्त आर्थिक उन्नयन प्रदान नहीं किया है।

फिलीपीन

1. Meyer, Milton W. A : A Diplomatic History of the Philippine Republic, Honolulu 1965.

2. Fabella A : An Introduction to Economic Policy, Manila, 1968.

3. Castillo, A : Philippine Economics, Manila, 1968.

4. Corpuz, O : The Philippines, New Jersey, 1965.

5. Blount, J. H : The American Occupation of the Philippines 1898-1912, Malaya Books, Quezon, 1968.

6. Arsong, H : The Philippines, Quezon City, 1980.

7. Dalisay, A. M : Philippines in the Tantrums, New York 1979.

8. Agoncillo, Teodoro A : The Philipplnes Manila 1975.

9. Fabella, A : Modern Philippines, Manila, 1980.

10.	West, R	:	Sketches From Vietnam, London, 1968.
12.	Fairbank, J. K	:	A History of East Asia Boston 1973.
12.	Fall, Bernhard	:	The Two Vietnams A Poiitical and Military Analysis, New York, 1964.
13.	Ho chi minh	:	On Revolution : Selected Writings, 1920-60, New York, 1970.
14.	Browne, Malcolm w	:	The New Fatce of war, Bobbs Merrill, 1965.
15.	Smith, Robert Aura	,	Philippine Freedom 1946-1958, New York, 1958.
16.	Taylor, George E.	:	The Philippines and the United States.
17.	Lachia, Eduar Do	:	Huk : Philippine Agrarian Society In revolt, Manila, 1978.
18.	Ginsburg, Nurton (ed)	:	The pattern of Asia, prentice Hall, 1968.
19,	Herz, M	:	Struggle for Independence; A Story of Philippines, Singapore, 1982.

●

(पृष्ठ 231 का शेष)

किन्तु 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने के साथ ही इस दल के नेताओं को बन्दी बना लिया गया। इसके साथ ही चीनी साम्यवादी दल पुनः वियतनाम के क्रान्तिकारी मंच पर अवतरित हुआ जिसने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1940 में फ्रांस की पराजय के बाद वियतनामी लोगों ने जापान तथा फ्रांस दोनों के विरुद्ध क्रान्तिकारी गतिविधियाँ प्रारम्भ कर दीं, इनका नेतृत्व हो-ची-मिन्ह कर रहे थे। 1941 में हो-ची-मिन्ह ने वियतनाम 'डाक लैप डांग-मिन्ह होई' (वियतनामी स्वतन्त्रता संघ) की स्थापना की जो बाद में व्हीट-मिन्ह के नाम से प्रचिलित हुआ।

द्वितीय विश्वयुद्ध में अपनी पराजय के निकट समय में जापान ने वियतनाम को फ्रांसीसी प्रशासन के स्थान पर स्वायत्त शासन प्रदान किया। यह नया प्रशासन भूतपूर्व अनाम के सम्राट बाओं-दाई के अधीन प्रारम्भ किया गया। जापान की इच्छा थी कि बाओ-दाई वियतनाम की सेना को संगठित कर वापस लौटते मित्र राष्ट्रों की सेना का सामना करें। सम्राट बाओ-दाई ने वियतनामी जनता को उत्प्रेरित करने की चेष्टा की, परन्तु भुखमरी, कुशासन तथा युद्ध के कारण सम्राट की नीति असफल रही। वियतनाम की जनता न तो फ्रांसीसियों को ही चाहती थी और न ही जापानियों को। उत्तरी वियतनाम में यथापूर्व लोगों ने अपने राष्ट्रीय अधिनायक 'हो-ची-मिन्ह' का नेतृत्व स्वीकार कर लिया था। हो का वास्तविक नाम 'नग्विनतात थान' था परन्तु इनको नग्विन 'आई-क्वाक' (नग्विन देश भक्त) भी कहा जाता था। तदुपरान्त चीन से वापस लौटने पर हो-ची-मिन्ह भी कहा जाने लगा। हो-ची-मिह्न का अर्थ है प्रबुद्धता प्रदान करने वाला। यही नाम शीघ्र ही पूरे विश्व में प्रतिध्वनित हो गया।

यद्यपि हो-ची-मिह्न अपने वैचारिक रूप से साम्यवादी थे, परन्तु अमरीका की सहायता से उन्होंने जापानियों के विरुद्ध संघर्ष करने हेतु अपनी सेना संगठित की। इस सेना को हो ने 'वियतनाम स्वाधीनता लीग' अथवा 'व्हीट-मिह्न' के अन्तर्गत विकसित किया। हो ने इस संस्था के अन्तर्गत व्यापक राजनैतिक विचारों का समावेश होने दिया और यह उन्होंने दो कारणों वश किया। प्रथम वह जानते थे कि 5000 साम्यवादियों का 'विचार प्रभाव' 20 मिलियन जनसंख्या पर नहीं हो सकता। दूसरा उन्होंने जापानियों के विरुद्ध संघर्ष हेतु संगठन चीन के राष्ट्रवादी दल की सहायता से निर्मित किया था। 1942 में अपनी साम्यवादी कार्यविधियों के कारण हो चीन में बन्दी बना लिये गये थे। अगले ही वर्ष चीन की सरकार ने जापान के विरुद्ध

संघर्ष करने के लिये सहायता प्रदान की ।

हो-ची-मिह्न ने बाओ-दाई की नव सरकार के साथ सहयोग देने से इन्कार कर दिया । बाओ-दाई के शासन में पश्चिमी आर्थिक सहायता का अपव्यय किया जा रहा था और बाओं-दाई 'नाइटक्लब सम्राट' के नाम से प्रसिद्ध था । ऐसे वातावरण में हो ने टॉन्किन में अपनी सरकार स्थापित की । हो-ची-मिह्न का जंगल में स्थित मुख्य कार्यालय (जो कि हनोई के पश्चिम में था) जापानियों की पहुंच से बाहर था । जापान के आत्मसमर्पण के पश्चात् हो ने वियतनाम के शासन पर अपना अधिकार कर लिया । बाओ दाई ने प्रशासकीय अधित्याग कर राजकीय मोहर हो को प्रदान कर दी ।

सितम्बर 2, 1945 को हो ने फ्रांसीसियों द्वारा बनाये गये तीन भागों को (टॉनंकन, अनाम, तथा कोचीन-चाइना) को एक सूत्र में संगठित कर 'वियतनाम लोकतांत्रिक गणतन्त्र' घोषित किया । तत्पश्चात् व्हीट-मिह्न ने राष्ट्रीय स्वाधीनता सेना (एन० एल० ए०) स्थापित की । इसका एक मात्र ध्येय फ्रांसीसियों की निष्क्रमण चेष्टा को रोकना था । पोट्सडैम (जर्मनी) में मित्र राष्ट्रों के सम्मेलन के पश्चात् यह निश्चित हो गया कि फ्रांसीसी पुन: हिन्द चीन में लौट कर आयेंगे । पोट्सडैम सम्मेलन ने इस बात को मान्यता दी कि जापानी आत्मसमर्पण सोलह समानान्तर के दक्षिण में ब्रिटेन स्वीकार करेगा । और समानान्तर के उत्तर में चीन जापानी आत्मसमर्पण को मान्यता देगा । ब्रिटिश सेना के पदार्पण के दस दिन पश्चात् फ्रांस की सेना ने हिन्द चींन में प्रवेश किया । वियतनाम के लोगों को मित्र राष्ट्रों के 'स्व निर्णय' की घोषणा के कारण उनके प्रति एक आस्था थी, किन्तु युद्धोंपरान्त ब्रिटेन ने जापानियों कीं सहायता से वियतनाम की राष्ट्रभावना का दमन करना चाहा ।

सोलह समानान्तर के उत्तर में चीनी वियतनाम के राष्ट्रवादियों के प्रति सहानुभूति रखते थे । चीन ने हो-ची-मिह्न के साथ सहयोग देना प्रारम्भ किया, जब हो ने साम्यवादी दल को समाप्त कर दिया । हो-ने चीनी अधिकारियों के सहयोग से रिश्वत एवं चाटुकारिता के द्वारा अपने प्रतिद्वन्दियों का उन्मूलन किया । तथापि चीन की राष्ट्रवादी सरकार गुप्त रूप से जापान के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा में थी । इन सम्बन्धों के कारण चीनी सरकार ने फ्रांसीसियों को उत्तर में सेना अवतरण की अनुमति दी ।

फ्रांस ने तत्काल वहां पर अपनी सेना अवतरित नहीं की, अपितु हो के अवतरण आपत्ति से समझौता करने हेतु हो को विश्वास दिलाया कि फ्रांस के वितयतनामी राज्यसंघ के अन्तर्गत हो के लोकतांत्रिक वियतनामी गणतन्त्र

को एक स्वतन्त्र राज्य मान लिया जायगा। फ्रांसीसी सरकार ने दक्षिण में राष्ट्रवादियों के विरुद्ध युद्ध प्रसार रोकने का आश्वासन दिया और राष्ट्रीय चुनाव कराने का सुझाव प्रेषित किया जिसमें वियतनाम के निवासी दोनों वियतनामों के पुनर्गठन पर विचार कर सकते थे।

हो ने फ्रांसीसियों के आश्वासनों को स्वीकार किया और आई हाई-फांग' बंदरगाह पर सेना प्रवेश की अनुमति दी। परन्तु शीघ्र ही फ्रांसीसियों और हो में सम्बन्ध विच्छेद हो गये और हो-ची मिह्न ने पेरिस जाकर फ्रांस की सरकार को समझाने की चेष्टा कीं। 1946 में फ्रांस ने कोचीन-चाइना के गणतंत्र की घोषणा कर हो-ची-मिह्न के वियतनामी एकीकरण की आशाओं पर तुषारापात कर दिया।

पेरिस की असफलता ने फ्रांसीसी और व्हीट-मिह्न की ययुत्सा की भावना को प्रेरित किया। फ्रांस और व्हीट-मिह्न का युद्ध जिसे 'हिंद चीन का युद्ध' (इन्डोचाइना वार) कहा जाता है, 20 नवम्बर 1946 को हाई-फांग में भयानक हिंसात्मक रूप से प्रारम्भ हो गया। इस युद्ध में लड़ाकू विमानों ने बम-बारी कर व्हीट-मिह्न की सेना को जंगल की ओर पीछे हटने के लिए विवश कर दिया। इस युद्ध में फ्रांसीसियों ने 6000 हताहतों की संख्या घोषित की परन्तु हो-ची-मिह्न ने हताहतों की संख्या 20 हजार बतायी।

दिसम्बर 1946 ने फ्रांसीसी सेना में व्हीट-मिह्न की सेना को आत्म समर्पण का आदेश दिया जिसकी प्रतिक्रियास्वरूप 'नग्विन-ग्याप' के निर्देशन में गोरिल्ला युद्ध आरम्भ हो गया। ग्याप की सेनाओं ने रातों को जंगलों में खंदक खाइयों में युद्ध सामग्री और खाद्य सामग्री छुपाकर फ्रांसीसियों से युद्ध करना आरम्भ किया। रात्रि में वह युद्ध करते थे और प्रात: कृषकों के रूप में खेतों में पहुंच जाते थे। फ्रांसीसियों को इस प्रकार तीन स्तरीय गोरिल्ला युद्ध का सामना करना कठिन प्रतीत होने लगा।

1949 में कृषक वर्ग का सहयोग प्राप्त करने हेतु फ्रांस ने भूतपूर्व सम्राट बाओ-दाई के अधीन एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना का निर्णय लिया। इस बीच फ्रांस की सेना वियतनामी गोरिल्ला पद्धति का सामना करने में असमर्थ थी। अमरीका आर्थिक रूप से युद्ध का आधा व्यय उठा रहा था परन्तु फ्रांस की सरकार के लिए इतना व्यय भी घातक था।

यद्यपि फ्रांस के पास शस्त्र सामग्री वियतनामी गोरिल्लाओं की तुलना में कहीं ज्यादा श्रेष्ठ थीं किन्तु ग्याप की गुरिल्ला पद्धति और सैनिकों की देशनिष्ठा ने मार्च 1954 को फ्रांसीसियों को हतोत्साहित कर दिया। अत: मई 1954 में जनेवा सम्मेलन हुआ और जुलाई 54 में वियतनाम का अस्थायी

विभाजन सत्रह समानान्तर से स्वीकृत किया गया। इसके प्राविधानों के अनुसार दोनों क्षेत्रों से सेनाओं के स्थानान्तरण के लिये 300 दिन का समय निर्धारित किया गया। विदेश से सैन्य अधिकारियों तथा सैन्य सामग्री के आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। 300 दिनों तक दोनों क्षेत्रों के नागरिकों को स्वतंत्र विचरण की छूट प्रदान की गयी।

उत्तरी वियतनाम

उत्तरी वियतनाम के लगभग 24 मिलियन लोगों में 85 प्रतिशत से अधिक **संसक्तिशील** जातीय वर्ग वियतनामी कहा जाता है। यह वर्ग 'यौह'लोगों के वंशज माने जाते है जो कि 333 ईसा पूर्व में चीन से स्थानान्तरित किये गये थे। यह लोग 5 फुट या उससे कुछ ऊँचे, ऊँची अस्थि के मुखाकृति वाले, गेहुआ रंग के काली आंखों के और काले बालों से युक्त होते थे।

इनमें मुख्य अल्पसंख्यक वर्ग 'क्यू' है जो लगभग 2 लाख 75 हजार हैं। क्यू लोग 3000 फुट से ऊपर रहते हैं और इनको वहां के लोग 'बन बिलाव' (वाइल्ड कैट) कहते है। उत्तरी वियतनाम में अन्य अल्प संख्यक वर्गों में मुख्य है-- ते, ताई, नुआंग, मान तथा नुंग। यह वर्ग संसजग नहीं है और ये 5 वर्ग लगभग 12 भाषायें बोलते हैं।

उत्तरी वियतनाम की मुख्य धार्मिक मान्यतायें स्थानीय भारत और चीन से प्रेरित हैं। उनके भिन्न-भिन्न नाम है और लगभग 5 से 6 लाख कैथोलिक ईसाइयों को छोड़कर बाकी जनसंख्या बौद्ध धर्म की अनुयायी है। वास्तव में उनका धर्म बुद्धवाद, कन्फ्यूशसवाद तथा अध्यात्मवाद का अनुयायी है। यह अन्ध्यात्मवाद उत्तरी वियतनाम में अन्तर्धारा के रूप में विद्यमान है, और वियतनामी लोग स्वयं को आत्माओं से शासित समझते हैं। साम्यवाद के आने से यद्यपि धर्म को परिवर्तित नहीं किया गया, लेकिन जनसाधारण की विचारधारा में परिवर्तन क्रमशः आया।

उत्तरी वियतनाम में शिक्षा के प्रसार ने जनता में एक नवीन चेतना का भाव उत्पन्न किया। स्कूलों में वियतनामी भाषा का प्रयोग किया जाता है। कन्फ्यूशस और चीन का प्रभाव शिक्षा और संस्कृति पर दृष्टिगोचर होता है। उत्तरी वियतनाम में शिक्षा के प्रसार के कारण साक्षरता 90% है। साम्यवादी सरकार होने के कारण विदेशी प्रेक्षकों के अनुसार वहां पर इतनी साक्षरता नही है किन्तु इस तथ्य से इंकार नही किया जा सकता कि कला, साहित्य और संगीत में उत्तरी वियतनाम ने प्रगति की है। वियतनामी इतिहास के मध्य अधिकतर वहां के लेखकों ने कविता को अपनी व्यक्तिगत अभिव्यक्ति का माध्यम चुना है। वियतनामी भाषा की सर्वाधिक दीर्घ कविता

और श्रेष्ठ कृति 'किम-वान क्यू' मानी जाती है जिसके लेखक ''नॉग्विन यू'' थे। संगीत और कविता वियतनामी जीवन का प्रेरणा स्रोत है।

दक्षिण वियतनाम

दक्षिण वियतनाम की 90 प्रतिशत जनसंख्या नृजातीय रूप से वियत-नामी थी। यह लोग ईसा से 333 शताब्दी पूर्व 'यांङ्ग--से' नदी के दक्षिण में अप्रवास कर गये और उनमें क्रमिक वृद्धि एवं विस्तार होता रहा। उत्तरी वियतनामियों के अनुसार दक्षिणवासी कम संसजग थे क्योंकि उन्होने स्वयं को भारतीय संस्कृति से प्रभावित किया और अपनी मौलिक संस्कृति से दूर होते गये।

दक्षिण वियतनामी बौद्ध धर्म और कन्फ्यूशस धर्म को मान्यता देते हैं। दक्षिण वासी अपने बच्चों को शिष्ट, भद्र एवं विनयशील होने का पाठ देने के साथ साथ आन्तरिक शक्ति और चरित्र को अधिक महत्व देते हैं। दक्षिण वियतनाम में लगभग 80 प्रतिशत बौद्ध अनुयायी निवास करते हैं। बौद्ध धर्म के साथ ही साथ कन्फ्यूशसवाद का भी गंभीर प्रभाव है। इन दोनो धर्मों के अतिरिक्त रोमन कैथोलिक भी दक्षिण वियतनाम में निवास करते हैं। 1954 के जेनेवा समझौते के पश्चात जब उत्तर व दक्षिण वियतनाम में निवास करने का वरणाधिकार प्रदान किया तो लगभग 750,000 रोमन कैथोलिक दक्षिण को ओर अप्रवास कर गये। दक्षिण वितयतनाम के निवासी स्वयं को उत्तर निवासियों की अपेक्षा सामाजिक रूप से अधिक श्रेष्ठ समझते हैं क्योंकि आर्थिक स्थिति की श्रेष्ठता ने उन्हें किंचित 'स्वगर्व' से प्रेरित किया है।

दक्षिण वियतनाम में उन्नीसवीं शताब्दी तक शिक्षा की पद्धति कनफ्यूशिसवाद पर आधारित थी। फ्रांस के उपनिवेशकाल में युवा वर्ग ने कनफ्यूशिसवाद को तिलाजंलि देना आरम्भ कर दिया और फ्रांसीसी (फ्रेंच) भाषा का प्रयोग करने लगे। फ्रांस के शासनकाल में ही शिक्षा का प्रार्दुभाव हुआ। इसका एक कारण फ्रांस से आये अधिकारियों के बच्चों के शिक्षा प्रवन्ध में निहित था। 1927 के पश्चात् शिक्षा अनिवार्य घोषित कर दी गयी, किन्तु फिर भी 1930 तक बीस प्रतिशत से कम बच्चे शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। 1954 के पश्चात् शिक्षा के प्रसार में वृद्धि हुयी और 1955 से 1965 तक प्राथमिक शिक्षा से 300 प्रतिशत वृद्धि हुयी और माध्यमिक शिक्षा में 200 प्रतिशत। वर्तमान समय में वहां लगभग 4 लाख छात्र प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं और लगभग 60 हजार

विद्यार्थी उच्च शिक्षारत हैं। सरकार ने दक्षिण वियतनाम में 5 मुख्य विश्वविद्यालय स्थापित किये जिसमें 'साईगान विश्वविद्यालय' सबसे बड़ा है।

शिक्षा के साथ दक्षिण वियतनामी काव्य साहित्य तथा नाटक आदि में रुचि रखते हैं। इसके अतिरिक्त वास्तुकला और चित्रकला में भी उनकी अभिरुचि है।

स्वाधीनता उपरांत वियतनाम–

हो-ची-मिन्ह की पार्टी का नाम लाओ-डांग (श्रमिक दल) था। आरम्भ में 20 मिलियन जनसंख्या में से पार्टी की सदस्यता केवल 0·5 प्रतिशत थी। परन्तु इस दल का प्रचुर प्रभाव पूर्ण जनता पर था 1930 में स्थापित इस लाओ-डांग दल ने स्त्री और पुरुषों को समान आधार प्रदत्त कर तथा सामाजिक समानता का नारा देकर समाजवाद का वातावरण निर्मित किया। 1960 तक इस दल के सदस्यों की संख्या 5000 से बढ़कर 3 लाख हो चुकी थी। 1965 में यह संख्या 8 लाख तक पहुँच गयी थी।

प्रत्येक चुनाव में हो-ची-मिन्ह तथा उसके दल को 98 प्रतिशत वोटों से कम कभी मत नहीं प्राप्त हुये। इन चुनावों के मध्य वियतनामी फादर लैण्ड फ्रंट जो 1955 में स्थापित हुआ था, हो-ची-मिन्ह का पूर्ण सहयोग करता रहा। वियतनाम के आम चुनाव गुप्त मतदान के द्वारा किये जाते थे और 18 साल से ऊपर प्रत्येक नर नारी वोट का अधिकारी था। चुनावोपरांत 453 सदस्यों की संसद को राष्ट्रपति तथा अन्य शासकीय पदाधिकारी चुनने का अधिकार था। 1959 में 'नेशनल फ्रंट ऑफ लिबरेशन आफ साउथ वियतनाम' (एन० एल० एफ०) की स्थापना के साथ आतंकवादी उपद्रव आरम्भ हो गये। 1961 में अमरीका की सरकार ने दक्षिणी वियतनाम में अपने सैनिक परामर्शदाता प्रेषित करने आरम्भ कर दिये। इसके अतिरिक्त अमेरिकी गुप्तचर विभाग (सी० आई० ए०) ने उत्तरी वियतनाम में गोरिल्ला प्रयत्नों को विफल करना आरम्भ कर दिया। अमरीका ने दक्षिणी वियतनाम में अपनी विशेष रुचि प्रदर्शित कर उत्तरी वियतनाम के विरुद्ध कार्यवाहक सहयोग देना प्रारम्भ किया।

1963 में राष्ट्रपति कैनेडी की हत्या के पश्चात् राष्ट्रपति जानसन ने वियतनाम में अमरीका की शक्ति का प्रयोग अपनी नीति का विशेष अंग माना। अगस्त 1964 में राष्ट्रपति 'लिन्डन बी जानसन' ने अमरीकी कांग्रेस को बताया कि उत्तरी वियतनाम पर आक्रमण करना अमरीका के हित में है। शीघ्र ही अमरीकी विमानों ने बम वर्षा कर उत्तरी वियतनाम के याता-

यात मार्गों, मुख्य प्रस्थापनों तथा शस्त्रागारों को नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया। दक्षिण वियतनाम में 1966 तक 2 लाख अमरीकी सेना हो गयी। अमरीकी वायुसेना द्वारा विध्वंसक कार्य आरम्भ होते ही वियतनाम युद्ध ने हिंसात्मक उग्रवादी रूप धारण कर लिया। 1967 तक अमरीका के 4 लाख 75 हजार सैनिक दक्षिण वियतनाम में थे और अमरीका लगभग 66 मिलियन डालर प्रतिदिन युद्ध पर व्यय कर रहा था। हताहत एवं घायलों की संख्या 1 लाख 50 हजार प्रतिवर्ष थी।

अमरीकी सहायता और दक्षिण वियतनाम की सेना द्वारा आरंभित यह युद्ध शनैः शनैः अमरीका और उत्तरी वियतनाम का युद्ध हो गया। अमरीका और दक्षिण वियतनाम की शस्त्र एवं सेना की वरिष्ठता उत्तरी वियतनाम के लक्ष्य निष्ठित हो-ची-मिन्ह के गोरिल्ला सेना से सामना करने में असमर्थ थी। अमरीकी सेना एवं उनकी सामरिक नीति "वियत-कांग" को समाप्त करने में स्वयं को असहाय पा रही थी। जनरल 'मोशे दयान' जो इजरायल के गोरिल्ला निपुण सेनाध्यक्ष थे उन्होने स्वयं अपनी आत्मकथा में लिखा है कि मैंने गुप्तरूप से सैनिक के भेष में इस युद्ध को भीतर से देखा है। उनके अनुसार अमरीका की सैनिक श्रेष्ठता एवं विपुल धन व्यय मिलकर भी उत्तरी वियतनाम के लोगों (अर्थात्, स्त्री, पुरुष और बच्चों) के प्रेम, निष्ठा एवं आत्मत्याग का सामना करने में असमर्थ थे।

राष्ट्रपति जानसन के पश्चात् राष्ट्रपति निक्सन ने 1969 में वियतनामीकरण की नीति की घोषणा की। इस नीति के द्वारा उनका तात्पर्य था कि केवल दक्षिण वियतनाम ही स्वयं युद्ध में भाग ले परन्तु 1972 में यह अधिक स्पष्ट हो गया कि दक्षिण वियतनाम एक क्षण भी उत्तरी वियतनाम के उग्र आक्रमण का सामना नहीं कर सकता है। तदुपरान्त अमरीकियों ने विशाल वायुसैनिक आक्रमण कर लगभग बम विस्फोटों की वर्षा का वातावरण बना दिया। इसी मध्य दक्षिण वियतनाम के साथ थाई, कोरियन तथा आस्ट्रेलियन सेना ने 1970 में तटस्थ कम्बोडिया पर आक्रमण कर दिया। आक्रमण का ध्येय वियतकाँग की आपूर्ति संग्रह को नष्ट करना था। शीघ्र ही अमरीका को अपनी शक्ति की पराजय के कारण तथा विश्व में निरीह रक्तपात की भर्त्सना के कारण लज्जित होकर अस्थाई युद्ध विराम करना पड़ा। इस समय तक 8 लाख 60 हजार के लगभग उत्तरी वियतनामी और एन० एल० एफ० गोरिल्ला 1 लाख 66 हजार दक्षिण वियतनामी और 55 हजार अमरीकन हताहत हो चुके थे। 13 लाख 80 हजार नागरिक इस युद्ध में खेत हुये और 30 लाख शरणार्थी बने।

अन्ततोगत्वा 1975 में वियतनाम युद्ध की समाप्ति पर दक्षिण-पूर्व एशिया ने शान्ति श्वास लिया। इस नरसंहारी एवं आर्थिक ह्रासकारी युद्ध ने वियतनाम को महाशक्तियों का क्रूर युद्ध स्थल बना कर पूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया को 'संकट सूचना' से त्रस्त किया। यद्यपि विश्वशक्तियों ने दक्षिण एवं उत्तरी वियतनाम के अलगाव को बनाये रखने का अथक प्रयत्न किया; किन्तु कूटनीति एवं विश्व राजनीति का चक्रव्यूह तोड़ कर वियतनाम एक हो गया।

ग्रन्थ निर्देश संदर्भिका **REFERENCES**

वियतनाम

1. Bain, C : Vietnam : Roots of Conflict, New York, 1978.

2. Bator, V : Vietnam : A Diplomatic Tragedy, Origins of U. S. involvement, London, 1967.

3. Buttinger, J : Vietnam : A dragon Embattled, London, 1967.

4. Draper, T : Abuse of Power : From Cuba to Vietnam, London, 1967.

5. Fall, B : The Two Vietnams, New York, 1963.

6. Fall, B and Raskin, M.G. The Vietnam Reader, New York, 1965.

7. Giap, Vonguyen : People's War, People's Army, New York, 1962.

8. Hammer, E. J : The Struggle for Indochina, Stanford, 1966.

9. Honey, P. J : Genesis of a Tragdey : the Historical Background to the Vietnam War, London, 1967.

10. Lacouture, J : Ho chi Minh, London, 1968.

11. Murti, B. S. N. : Vietnam Divided : The Unfinished Struggle, London, 1964.

12. Smith, R : Vietnam and the West, London, 1968.

13. Tan, Nguen Phut : A Modern History of Vietnam, Saigon, 1964.

14. Fisher, C. A : South-East Asia : A Social, Economic and Political Geography London, 1964.

15. Hall, D. G. E : A History of South-East Asia, New York, 1964.

16, Hunter, Guy : South-East Asia, London, 1966.

17. Smith, Harvey H : Area Hand Book For North Vietnam; For South Vietnam, U. S. Government, 1967.

18. Tarling, Nicholas : A Concise History of South East Asia, New York, 1966.

19. Lancastor, Donald : The Emanicipation of French Indo-China, London, 1961.

20. Minh, Ho Chi : Revolution Hanoi, 1968.

एशियाई तिथि पत्र : दक्षिण पूर्व एशिया

1901	:	फिलीपीन पर अमरीका के शासन का प्रारम्भ
1902	:	फिलीपीन में आरगैनेक अधिनियम की घोषणा ।
1908	:	हिन्दोशिया में राष्ट्रवाद का उदय ।
1916	:	फिलीपीन में जोन्स अधिनियम ।
1917	:	स्याम का धुरी राष्ट्रों की ओर से प्रथम विश्व युद्ध प्रवेश ।
1918	:	हिन्देशिया में वाक्सराद (संसद) की स्थापना ।
1920	:	स्याम को लीग आफ नेशन्स की सदस्यता
1921	:	बर्मा में संविधान
1927	:	हिन्देशिया में राष्ट्रवादी दल (पी. एन. आई.) की स्थापना
1934	:	फिलीपीन में टाईडिंग-मैकेडफी अधिनियम ।
1935	:	फिलीपीन संविधान ।
		क्वीजान का निर्वाचन ।
		ब्रिटिश-बर्मा अधिनियम ।
1937	:	बर्मा में बा माऊ और ऊ साओ सत्तारूढ़ ।
1940	:	स्याम का लओस-कम्बोडिया पर आक्रमण ।
		हिन्दचीन पर जापान का आधिपत्य ।
1941	:	जापान का स्याम, मलय, बर्मा, हिन्देशिया तथा फिलीपीन पर आधिपत्य ।
1942	:	सिंगापुर की पराजय ।
		वियतनाम में गुरिल्ला कार्य आरम्भ ।
1945	:	जापान का निष्क्रमण ।
		एशमद सुकार्णो द्वारा 'पाँच सिद्धान्तों' (पांतजा सिला) की घोषणा हिन्देशिया गणतन्त्र की सुकार्णो-हाटा द्वारा घोषणा ।
1946	:	फिलीपीन की स्वतंत्रता और मैनुअल रॉक्सास राष्ट्रपति ।
		बर्मा द्वारा स्वतन्त्रता की माँग ।
		फ्रांस द्वारा पुन: वियतनाम पर अधिकार ।

1947 : बर्मा में चुनाव ।
कम्बोडिया मं संविधान ।
1948 : बर्मा गणतन्त्र और ऊ नू प्रधानमन्त्री ।
वियतनाम विभाजन ।
फिलीपीन में क्वीरीनो राष्ट्रपति ।
1949 : मलयलीग की स्थापना ।
लाओस से फ्रांसीसी निष्क्रमण ।
बर्मा में करेन विद्रोह ।
हेग में गोल मेज सम्मेलन ।
1950-51 : हिन्द चीन युद्ध ।
गुरिल्ला युद्ध की तीव्रता ।
फिलीपीन में साम्यवादी 'हुक' समस्या और अधिक गम्भीर ।
1953 : फिलीपीन में नवीन नागरिक संहिता ।
मैगसेसे नव राष्ट्रपति ।
1954 : फ़ांसीसी आत्म समर्पण ।
कम्बोडिया की स्वतंत्रता ।
दक्षिण-पूर्व एशिया संधि संघ ।
1955 : वियतनाम फादरलैण्ड फ्रन्ट की स्थापना ।
1956 : दक्षिण एवं उत्तरी वियतनाम के एकीकरण का प्रश्न ।
दक्षिण वियतनाम को भारी अमरीकी आर्थिक सहायता ।
1957 : मैगसेसे का देहान्त ।
थाईलैण्ड में चुनाव ।
द्वितीय हिन्द-चीन युद्ध
1959 : थाइलैण्ड में चुनाव ।
1962 : वर्मा में जनरल नी विन द्वारा सैनिक विप्लव ।
1963 : वियतनाम को युद्ध लाभ ।
मलेशिया की स्थापना ।
1964 : हिन्देशिया तथा मलेशिया में तनाव । फिलीपीन में प्रगति ।
बर्मा में राजनैतिक दलों का निषेध ।
1966 : सुकार्णो का निष्कासन और सुहार्तो का आगमन ।
अमरीका की हनोई पर बमबारी ।
जर्काता समझौता । वियतनाम प्रति पेरिस वार्ता ।
1969 : हो चि मिन्ह का देहान्त ।

1970 : नॉरडम राइनाक का निष्कासन ।
कम्बोडिया में अमरीकी सेना ।

1971 : लाओस में अमरीकी सेना ।

1972 : फिलीपीन में सैनिक प्रशासन ।

1973 : हनोई में अमरीकी बमबारी ।
वियतनाम में युद्ध विराम एवं उल्लंघन ।

1974 : कम्बोडिया में युद्ध प्रसार ।

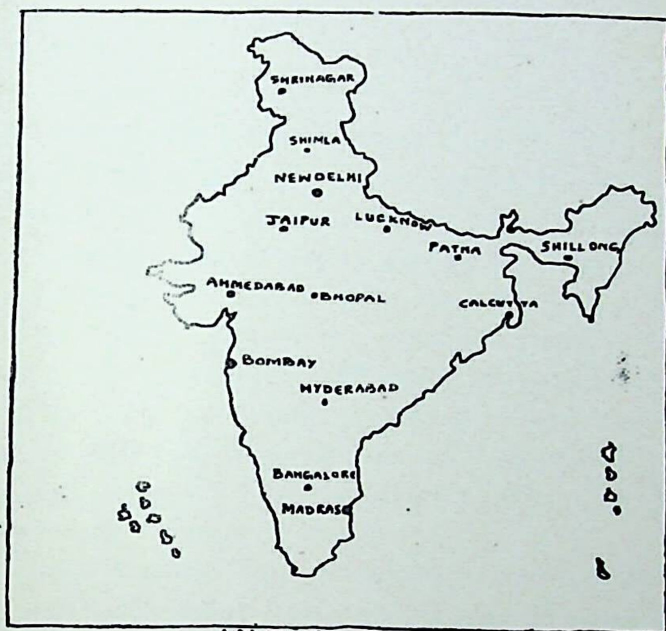
1975 : वियतनाम युद्ध समाप्त ।

1977 : कम्बोडिया-वियतनाम संघर्ष आरम्भ ।
कम्बोडिया के प्रधानमन्त्री की पीकिंग यात्रा ।

1978 : वियतनाम-कम्बोडिया युद्ध ।
वियतनाम के प्रधानमंत्री फामवान डांग का भारत से दृढ़ सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय ।
वियतनाम तथा चीन मतभेद ।

1979 : चीन वियतनाम युद्ध ।

दक्षिण एशिया


SHRINAGAR
SHIMLA
NEWDELHI
JAIPUR
LUCKNOW
PATNA
SHILLONG
AHMEDABAD
BHOPAL
CALCUTTA
BOMBAY
HYDERABAD
BANGALORE
MADRAS

INDIA

भारत

अध्याय 19

भारत

परिचय

पौराणिक ग्रन्थों से प्राप्त विवरण के आधार पर सृष्टि के समापन में प्रलय आ जाती है। सम्पूर्ण स्थल जल मग्न हो जाता है। सब कुछ विनष्ट हो जाता है। पुनः सृष्टि का आरम्भ विष्णु के नाभिकमल से उत्पन्न हुये ब्रहम के द्वारा होता है। सृष्टि का सर्वप्रथम सृष्टा मनु माना जाता है। मनु के 9 पुत्र हुये उसमें जो सबसे बड़ा था वह वृहन्नला जाति का था। अर्धभाग जो नारी का था उससे दो पुत्र एवं तीन पुत्रियाँ हुई। मनु से उत्पन्न होने के कारण 'मानव' नामकरण हुआ। इसी परम्परा में पृथु भी उत्पन्न हुये पृथु से सम्बन्धित होने के कारण 'पृथ्वी' कहा जाता है। समस्त मानव जाति का जन्म मनु और उसके परिवार के द्वारा हुआ। इसी परम्परा में इला भी उत्पन्न हुई। इला से सूर्य वंश और चन्द्रवंश यह दो वंश चलते रहे। सृष्टि का प्रारम्भिक काल इसे ही मानते हैं।

विश्व के सर्वाधिक वृहद एवं महत्वपूर्ण महाद्वीप एशिया अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की प्राचीनता 'कला, 'दर्शन' 'साहित्य' की उच्चता एवं वीरता की पराकाष्ठा के लिये प्रसिद्ध है।

सर्वप्रथम संस्कृति के अवशेष सिन्ध के लरकाना जिले में मोहनजोदड़ों तथा मान्टगोमरी जिले में हड़प्पा की से खुदाई प्राप्त हुये हैं। प्राप्त अवशेषों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि ईसा से 2,500 वर्ष पूर्व भी उच्च सुसंस्कृत सभ्यता विकसित थी। यहां के निवासी पूर्णतया सुशिक्षित थे। यह सभ्यता, मिस्र एवं वेबीलोनिया की सभ्यता के समकालीन ही थी।

भारतीय इतिहास का ज्ञान काल 'वैदिक काल' के नाम से जाना जाता है। विश्व के इतिहास पर विहंगम दृष्टिपात करने से हम इस निष्कर्ष पर बिना किसी सन्देह के पहुँचते हैं कि विश्व में प्राप्त होने वाली समस्त ज्ञान

संस्कृतियों में यदि कोई प्राचीनतम संस्कृति है तो वह वैदिक संस्कृति ही है। संसार के अन्य राष्ट्र जब पशुओं की भाँति अज्ञानान्धकार में निमग्न थे उस समय वैदिक आर्य सम्पूर्ण कला कौशल में विशेषज्ञ थे।

अब प्रश्न यह उठता है कि वैदिक सभ्यता के सृष्टा आर्य भारत के मूल निवासी थे अथवा बाहर से आये थे। इस प्रश्न का उत्तर बहुत विवाद ग्रस्त है। कुछ विद्वानों का मत है कि आर्य गंगा यमुना की घाटी अथवा पंजाब के मूल निवासी थे कुछ अन्य मतों के अनुसार ये मध्य एशिया से आकर भारत में बस गये थे। बाल गंगाधर तिलक इन्हें ध्रुव प्रदेश का मानते हैं।

अभी तक यह निर्णय नहीं हो पाया कि आर्य यहाँ के मूल निवासी थे अथवा बाहर से आकर बस गये थे। ऋग्वेद के अध्ययन से पता चलता है कि सप्तसिन्धु प्रदेश के वैदिक आर्य छोटे-छोटे समूहों में विशेषत: नदियों की घाटी में निवास करते थे। वे लोग देवताओं की पूजा व अर्चना करते थे अग्नि में हवन करते थे तथा सामान्य जीवन व्यतीत करते थे।

वैदिक सभ्यता के नयनोन्मीलन काल में मानव मात्र 2 वर्गों में विभक्त था आर्य एवं अनार्य। आर्य अनार्य संघर्ष या आर्य आर्य संघर्ष के उपरान्त आर्यों के समाज की जो रूप रेखा तैयार हुई, यही उनकी विकसित सामाजिक व्यवस्था थी। आर्यो के सामाजिक जीवन एवं सगठन पर सर्वाधिक प्रभाव आर्य-अनार्य सम्पर्क का ही पड़ा।

वेदकालीन समाज पितृमूलक समाज था। वैदिक आर्य संग्रामप्रिय जाति थी। वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था का भी उल्लेख मिलता है पुरुष सूक्त के 10वें मन्त्र में चारों वर्णों की उत्पत्ति इस क्रम से दी गई है। विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, हाथों से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा पादों से शूद्रों की उत्पत्ति बताई गई है। इसके अतिरिक्त उन्होंने जीवन व्यतीत करने के लिये आश्रम व्यवस्था भी बना रखी थी जो इस क्रम से थी, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास।

वैदिक काल में प्रत्येक जनजाति पर राजा का आधिपत्य होता था। राजसत्ता का प्रादुर्भाव वेद की दृष्टि से युद्धकाल से सम्बन्ध रखता है। अपने कर्तव्य का पालन न करने पर राजा को अपने पद तथा देश से च्युत कर दिया जाता था तथा दोष स्वीकार कर लेने पर वह फिर से चुना जाता था।

आर्यों के धार्मिक ग्रन्थ के रूप में चार वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद) प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त 18 पुराण, दो महाग्रन्थ, 6 शास्त्र

एवं स्मृतियाँ, उपनिषद आदि महत्वपूर्ण उपलब्ध ग्रन्थ है।

शनैः शनैः यह वर्ग विभाजन अत्यन्त दूरूह स्वरूप में हो गया। ब्राह्मणों ने धर्म के नाम पर अनैतिक कार्य करने प्रारम्भ कर दिये। फलतः ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ हो गया और प्रतिक्रिया स्वरूप दो नवीन धर्मों का अभ्युदय हुआ। यह धर्म थे बौद्ध धर्म और जैन धर्म। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध माने जाते हैं। जिनका जन्म 566 ई० पू० लुम्बिनी में हुआ था। इनके बचपन का नाम सिद्धार्थ था। जैसे जैसे यह बड़े होते गये संसार के माया मोह से वैराग्य होता गया। अंततः इन्होंने गृह त्याग कर ज्ञान को प्राप्त किया। इन्होंने आडम्बरों से दूर एक नवीन धर्म बौद्ध धर्म का प्रचार किया।

इस तरह जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर स्वामी को मानते हैं। कुछ का मत है इनसे पूर्व भी जैन धर्म के प्रचारक हो चुके थे किन्तु उनके सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री का अभाव होने से महावीर ही जैन धर्म के प्रवर्तक मानें जाते हैं। महावीर का निर्माण 468 ई० पू० माना जाता है।

इधर भारत में धर्म प्रचार का कार्य चल रहा था उधर भारत पर विदेशी शासकों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये। मक्दूनिया के सम्राट फिलिप के पुत्र सिकन्दर ने 327 ई० पू० में सिन्धु नदी को पार कर झेलम नदी के तट पर पोरस नामक हिन्दू राजा को पराजित किया। परन्तु मगध राज्य से पराजित होने के पश्चात् सिकन्दर को वापस लौटना पड़ा। उसके आक्रमण का भारत पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। हाँ इतना अवश्य हुआ कि भारत की सभ्यता एवं संस्कृति यूनानी संस्कृति से काफी प्रभावित हुई। और यही सभ्यता 'इन्डो ग्रीक कल्चर' के नाम से जानी जाती है। सिकन्दर महान के पश्चात भारत में (321–289 ई० पू०) मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई। इसका संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य को मानते हैं। चाणक्य उसका पथप्रदर्शक एवं गुरू था। चाणक्य को उस काल का सर्वाधिक बुद्धिमान, कूटनीतिज्ञ एवं अर्थ शास्त्र का ज्ञाता मानते हैं। चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की सहायता से यूनानियों को पंजाब से निष्कासित किया। उसने 305 ई० पू० में सैल्यूकस को भी पराजित किया। सैल्यूकस ने मैगास्थनीज नामक यूनानी राजदूत को भारत भेजा जिसने 'इण्डिका' नामक पुस्तक लिखकर तत्कालीन भारत का वर्णन किया।

मौर्य साम्राज्य का सर्वाधिक प्रसिद्ध शासक सम्राट अशोक (268-231 ई० पू०) था। उसने 261 ई० पू० कलिंग विजय की। युद्ध में व्याप्त हिंसक वातावरण ने उसे बौद्ध धर्म का अनुयायी बना दिया। मात्र अनुयायी ही

नहीं, उसने देश विदेश सर्वत्र बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार किया।

तदनन्तर चीन से बहिष्कृत कुषाण राजाओं ने अपना साम्राज्य स्थापित किया। प्रथम शताब्दी में इनका भारत आगमन हुआ। कनिष्क कुषाण वंश का सर्वश्रेष्ठ सम्राट था। वह एक महान विजेता था उसने केन्द्रीय एशिया तथा भारत में साम्राज्य को विस्तृत किया।

320 से 350 तक भारत पर गुप्त वंश का आधिपत्य रहा। गुप्त सम्राटों ने देश को विदेशी शासन से मुक्त कराया। चन्द्रगुप्त प्रथम (320-330 ई० पू०) ने इस शक्तिशाली शासन को स्थापित किया। उसके उत्तराधिकारी समुद्र गुप्त (330-375 ई० पू०) अत्यन्त शक्तिशाली तथा सर्वाधिक योग्य सम्राट था। उसने दक्षिण में भी विजय पताका फहराई। अपने पिता के सदृश ही चन्द्र गुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) (375-415 ई०) एक वीर सम्राट था। उसने मालवा गुजरात तथा काठियावाड़ से शक राज्य का उन्मूलन किया। चन्द्रगुप्त के शासन काल में (405-411) चीनी यात्री फाह्यान का आगमन हुआ। उस समय भारत में साहित्य और कला का चरम सीमा तक विकास हुआ।

महाकवि कालिदास, सुप्रसिद्ध गणितज्ञ एवं ज्योतिषी आर्य भट्ट (476 ई०) तथा बराहमिहिर (जन्म 505 ई०) गणितज्ञ ब्रह्म गुप्त एवं धन्वन्तरी नामक प्रसिद्ध वैद्य आदि उस काल के व्यक्ति थे।

हूणों के आक्रमण ने गुप्त साम्राज्य को विनष्ट कर भारत को विभिन्न छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त कर दिया। 606 से 647 ई० में थानेश्वर के राजा हर्षवधन ने भारत में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की। 630-44 में ह्वेनसाङ्ग नामक एक चीनी यात्री हर्ष के शासनकाल में भारत आया उसने तत्कालीन भारत की स्थिति का वर्णन अपनी पुस्तक में किया है।

हर्ष के समकालिक दक्षिण में चालुक्य साम्राज्य था जिसमें पुलकेशिन द्वितीय (608-692) एक महान शक्तिशाली शासक हुआ, उसने हर्ष को भी एक बार पराजित कर दिया। कांची के पल्लव राजा नरसिंह वर्मन ने पुलकेशिन द्वितीय को पराजित कर दिया। 712 ई० में सर्वप्रथम अरबों ने भारत पर आक्रमण किया। 740 में चालुक्यों ने पल्लवों को पराजित किया और 757 ई० में चालुक्यों को राष्ट्रकूटों ने पराजित किया।

800 ई० में भारत में एक नवीन संस्कृति का उद्भव हुआ जबकि आदि शंकराचार्य ने पुनः वैदिक धर्म के जीर्णोद्धार के लिये नये दर्शन एवं संस्कृति का प्रादुर्भाव किया।

मुहम्मद बिन कासिम से तीन शताब्दियों पश्चात् महमूद गजनवी ने

17 बार भारत पर आक्रमण किया। गजनवी ने पंजाब तथा लाहौर पर भी आक्रमण कर वहाँ के शासकों को पराजित किया। गजनवी ने 1026 ई० में मूर्ति पूजा के विरोध के कारण सोमनाथ के मन्दिर को नष्ट कर उसकी धन सम्पत्ति को लूट लिया।

इधर उत्तरी भारत में वीर राजपूतों ने विभिन्न छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिये थे। यह युग लगभग 500 वर्ष तक रहा। दिल्ली एवं अजमेर में पृथ्वीराज चौहान ने शासन किया। यह अत्यन्त वीर थे। 1192 में पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को तरायन के मैदान में पराजित किया। परन्तु अगले ही वर्ष गोरी ने कूटनीति से उनको पराजित कर उनकी हत्या कर दी।

मुगलों के पूर्व उत्तरी भारत में दासवंश का शासन रहा। इसका संस्थापक कुतुबद्दीन ऐबक था। तदन्तर अलाउद्दीन खिलजी जो कि खिलजी वंश का एक शक्तिशाली सुल्तान था, सुदूर दक्षिण तक उसने अपना राज्य विस्तृत किया। तुगलक वंश में मुहम्मद तुगलक फिरोज तुगलक इत्यादि शासक हुये। मुहम्मद तुगलक के पश्चात् लोदी वंश का शासन रहा। भारतीय इतिहास का यह काल 'सल्तनत काल' के नाम से जाना जाता है। तुगलक के पश्चात् दिल्ली सल्तनत अवनति के गर्त में जाने लगी। फलतः बाह्य शक्तियों को आक्रमण का अवसर मिला।

युद्धों से विश्रान्त मन ने भक्ति भावना का आश्रय लिया। पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी का समय भारत का भक्तिकाल कहा जाता है। इस काल में समाज सुधारकों ने अपने उपदेशों के द्वारा हिन्दुओं और मुस्लिमों की पारस्परिक एकता को बनाने का प्रयास किया। कबीर, गुरुनानक, रामानन्द, रामानुज, नामदेव, रामदास, तुकाराम, चैतन्य महाप्रभु इस काल के प्रमुख सुधारक कवि थे।

1526 में बाबर ने भारत में इब्राहीम लोदी को पराजित कर मुगल साम्राज्य की स्थापना की। जो भारत में अंग्रेजी शासन के आने के पूर्व तक विद्यमान रही। उसका पुत्र हुँमायुँ था। मुगल साम्राज्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रशासक अकबर था। जिसने शासन को पूर्व में कन्धार से लेकर पश्चिम में ढाका तथा उत्तर में श्रीनगर एवं दक्षिण में अहमदनगर तक विस्तृत किया। उसने गृह सरकार की स्थापना की। उसके दरबार में सैनिकों राजनीतिज्ञों एवं विद्वानों तथा संगीतज्ञों की प्रचुरता थी। उसने हिन्दुओं को भी समान स्थान प्रदान कर उनका भी समर्थन प्राप्त किया। अकबर के पुत्र तथा पौत्र जहाँगीर और शाहजहाँ क्रमशः अपने पूर्वजों की परम्परा को

निभाते रहे। शाहजहाँ का पुत्र औरंगजेब था जिसके समय में मुगल वंश अपनी पराकष्ठा पर था, परन्तु हिन्दुओं के प्रति कट्टर नीति ने उसके वंश का पतन आरम्भ कर दिया। उसकी साम्प्रदायिकता पर आधारित नीति ने मराठों के अभ्युदय में सहायता प्रदान की और शिवाजी ने दक्षिण में एक शक्तिशाली हिन्दू साम्राज्य की स्थापना की। प्रसिद्ध पेशवा राजा बाजीराव ने भी अपने साम्राज्य को विस्तृत किया परन्तु 1740 में मृत्यु हो जाने से और उसके निर्बल उत्तराधिकारियों के आगमन से तत्कालीन भारत का सर्वाधिक प्रभावशाली हिन्दू राष्ट्र पानीपत के द्वितीय युद्ध में अहमद शाह अब्दाली के मुस्लिम संगठन से पराजित हो गया। इस पराजय से कोई भी लाभान्वित नहीं हुआ।

पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में महाराजा रणजीत सिंह ने सिक्ख सम्प्रदाय का विस्तार पूरे भारत में किया। उनकी मृत्योपरान्त (27 जून 1839) को अंग्रेजों ने सिक्ख शक्ति को विनष्ट करना प्रारम्भ कर दिया।

भारतीय धन सम्पन्नता और ऐश्वर्य से प्रभावित यूरोपीय शक्तियों ने भारत से व्यापार सम्बन्ध स्थापित करने के लिये सागरीय मार्गों का अन्वेषण प्रारम्भ कर दिया। सर्वप्रथम वास्कोडिगामा नामक एक पुर्तगाली ने भारत के सामुद्रिक मार्ग का अन्नवेषण किया। सर्वप्रथम भारत का व्यापार पुर्तगाल के साथ प्रारम्भ हुआ। तदनन्तर अंग्रेजों का उदय एवं फ्रांसीसियों ने भी व्यापार करना आरम्भ कर दिया। अन्ततः केवल फ्रांसीसी और अंग्रेजों के मध्य सम्पर्क क्षेत्र रह गया। इन विदेशी शक्तियों ने व्यापार के साथ भारत की राजनीति में भी रुचि लेनी आरम्भ कर दी। मुगल सभ्यता का स्थान पाश्चात्य सभ्यता ने ले लिया था।

1938 में फारसी के स्थान में अंग्रेजी राष्ट्रभाषा घोषित हो चुकी थी। भारत में स्त्रियों की स्थिति सुधारने का प्रयत्न प्रारम्भ हो गया और सर्वतोन्मुखी रूप से पाश्चात्य आदर्शों, शिक्षा, दर्शन तथा जीवन स्तर कला एवं संस्कृति को स्वीकार कर लिया गया। सम्पूर्ण भारत पर ब्रिटिश आधिपत्य होने से भारतीय उद्योग को काफी क्षति उठानी पड़ी, तथापि रेल डाक तार संचार व्यवस्था में अवश्य प्रगति हुई।

1600 में ऐलिज़ाबेथ प्रथम के काल में ईस्ट इंडिया कम्पनी भारत में व्यापार हेतु स्थापित हुई थी। 1615 में सूरत में प्रथम फैक्टरी स्थापित हुई जिसने जहाँगीर से आज्ञा प्राप्त कर व्यापार प्रारम्भ किया। शनैः-शनैः ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने व्यापारिक आवरण उतार कर राजनैतिक रूप धारण कर लिया था। फलतः सैनिक प्रयोग एवं अपनी कूटनीति का प्रयोग कर कम्पनी

के राजपालों ने कम्पनी के प्रशासन को देशव्यायी कर दिया। अंततः 1857 के विद्रोह ने कम्पनी के अध्याय को समाप्त कर ब्रिटिश साम्राज्य के शासकीय अध्याय का प्रारम्भ किया। जिसके अन्तर्गत संवैधानिक आन्दोलन संवैधानिक सुविधायें, योजनावद्ध की गई किन्तु राष्ट्रवाद की धारा 19वीं शताब्दी के अन्त में प्रवाहित होने लगा। भारतीय धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन का नव अध्याय उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय पुर्नजागरण से प्रारम्भ हुआ। इस युग में देश ने पारम्परिक रुढ़िवाद का त्याग कर आधुनिक विचार धारा के भानु के प्रकाश को ग्रहण किया। भारतीय पुर्नजागरण ने भारतीयों को स्वविकास की भावना से प्रेरित किया। आधुनिक शिक्षा ने जन मानस की बौद्धिक चेतना एवं विकास के द्वार का मार्ग प्रशस्त किया।

भारत के आधुनिक इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का अपना महत्वपूर्ण योगदान है क्योंकि इस युग में भारत ने अपनी प्रौढ़ता की प्रथम सोपान पे पग रखा। इस समय में भारत को नवीन सृजनात्मक प्रेरणाओं तथा अध्यात्मिक शक्ति से परिचय प्राप्त हुआ। भारतीय पुनर्जागरण सांस्कृतिक जीवन को नवीन योजनावस्था थी जिसने प्राचीन सिद्धान्तों को बिना त्याग किये नवीन वेषभूषा ग्रहण की।

निःसन्देह भारतीय पुनर्जागरण ने धर्म, समाज और संस्कृति में परिवर्तन ला भारतीय आत्मा को स्वयं से परिचित कराया और इस नवचेतना ने मानव जीवन के विभिन्न पक्षों, को महत्वपूर्ण परिवर्तन से लाभन्वित किया। यद्यपि 21वीं शताब्दी का इतिहास भारत के एक नये युग का सूत्रपात करता है, किन्तु इसमें भी संशय नहीं कि 20वीं शताब्दी के भारतीय राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक प्रगति एवं सफलता का रहस्य 19 वीं शताब्दी के पुनजागरण के अधस्थल में निहित हैं।

भारत में अंग्रेजों ने अपनी राजनैतिक और आर्थिक सत्ता के साथ-साथ पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का भी बीजारोपण किया। पश्चिमी संस्कृति तथा विचारों के आदान प्रदान ने न केवल भारतीयों में एक नवीन दृष्टकोण उत्पन्न किया, वरन् पारम्परिक विचारधाराओं का स्थान नवीन विचारधारांओं और शिक्षा ने लिया। फलस्वरूप राष्ट्रव्यापी पुनर्जागरण का मार्ग सुलभ हो गया। जहाँ विदेशी सभ्यता, संस्कृति एवं धर्म ने मानसिक पट के द्वार खोले, वहाँ इस नवीन चेतना ने एक चेतावनी का रूप धारण कर राष्ट्र जागरण तथा स्वदेशी भावना के प्रति जागरुकता उत्पन्न की। विदेशी शिक्षा ने साहित्य दर्शन और विज्ञान का मार्ग प्रेषित कर भारतीय युवा विद्यार्थियों एवं बुद्धिजीवियों के समक्ष नवीन विचारों का संसार खोल दिया। पश्चिमी शिक्षा ने

भारतीयों के मानस क्षितिज पर दो प्रकार से कार्य किया, प्रथम यूरोपीय शिक्षा एवं प्रगति ने भारतीय प्राचीन सभ्यता में आधुनिक संस्कृति का सम्मिश्रण किया क्योंकि एक सभ्यता का दूसरी सभ्यता में परिवर्तन होना असम्भव था किन्तु एक सभ्यता का दूसरी संस्कृति का स्वयं में समावेश कर लेना सम्भव है। दूसरे पश्चिमी शिक्षा ने अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय नवयुवकों तथा शिक्षित वर्ग में राष्ट्रभावना की ज्योति को प्रज्वलित किया।

भारतीय पुनर्जागरण का एक प्रमुख कारण अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव था। लार्ड मेकाले नें अपने निर्णय से भारतीय शिक्षा क्षेत्र में एक क्रांतिकारी परिवर्तन को सफल रूप प्रदान किया। इसके साथ ही सर चार्ल्स वर्ड के प्रेषित पत्र को भारत में अंग्रेजी शिक्षा का महत्वपूर्ण राजकीय आज्ञापत्र बताया गया जिसमें भारतीय शिक्षा को विश्वविद्यालय स्तर पर लाये जाने की व्यवस्था के प्रस्ताव किए गये। इस नई शिक्षा ने लोगों के विचारों और दृष्टिकोण में परिवर्तन किया। इस विशाल मानसिक प्रगति ने युवा विद्यार्थियों के समक्ष नवीन विचारों का संसार खोल दिया। वस्तुत: भारतीय पुनर्जागरण अंग्रेजी साहित्य, आधुनिक दर्शन और विज्ञान के अध्ययन से ही प्रारम्भ होता है। अंग्रेजी शिक्षा ने अपना व्यापक प्रभाव भारतीयों पर डाला और उनका मानसिक क्षितिज पश्चिमी शिक्षा द्वारा विस्तृत हो गया। पश्चिमी शिक्षा ने जहाँ एक ओर युवकों को नवीन ज्योति प्रदान की, वहीं दूसरी ओर इस शिक्षा के द्वारा ही भारतीय नवयुवकों तथा शिक्षित वर्ग में, अपने देश के प्रति राष्ट्रभावना का उद्भव हो रहा था।

नवीन शिक्षा के आधार पर जहाँ पाश्चात्य ज्ञान-विकास की उपलब्धि हुई। वहीं ज्ञान के साथ-साथ ईसाई धर्म-प्रवर्तकों ने हिन्दू धर्म एवं समाज पर धार्मिक आक्रमण किए। उन्होंने ईसाई धर्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित करने की पूर्ण चेष्टा की। परिणामस्वरूप जहाँ शिक्षित वर्ग के हृदय में ईसाई धर्म के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ वहीं दूसरी ओर तीव्र संदेह की भावना भी जागृत हुई। इसके फलस्वरूप ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज,एवं रामकृष्ण मिशन जैसे अनेक धार्मिक आन्दोलन हुए और ये आन्दोलन पुनर्जागरण के प्रमुख अंग थे। ईसाई धर्म के प्रचार से भारतीय पुनर्जागरण को अप्रत्यक्ष रूप से प्रेरणा प्राप्त हुई।

धार्मिक आन्दोलन के द्वारा रुढ़िवादी शृंखलाएँ एक के पश्चात् एक विखंडित होनी प्रारम्भ हो गयी। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस आदि सुधारकों ने हिन्दू धर्म, समाज तथा संस्कृति में सुधार लाने के अनेक प्रयास किये। इन आचार्यों की शिक्षा ने भारतीयों की सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा को नवीन

मार्ग तथा दिशा प्रदान की एवं अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रवादी विचारों को भी प्रोत्साहन दिया।

भारतीय राष्ट्र में एकता और धार्मिक विचारधाराओं में एक विशेष तारतम्य है, क्योंकि धार्मिक सुधारों से ही राष्ट्रीय एकता की भावना को प्रगतिशील बनाया जा सकता है। भारत राष्ट्र की एकता को बनाये रखने में भारतीय धर्म एवं समाज सुधारकों का सर्वदा महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

पाश्चात्य विद्वानों ने अपने ग्रन्थों द्वारा भारत को इसकी सभ्यता संस्कृति और साहित्य से परिचित कराया साथ ही साथ देश की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक दुर्दशा को भी प्रकट किया। शिक्षित वर्ग को अपने देश की इस स्थिति का ज्ञान भारतीय पुनुरुत्थान के लिए वरदान बन गया। इसके अतिरिक्त प्रेस की प्रगति ने विचारों की प्रगति में महान योगदान दिया। किसी भी देश को उत्थान एवं प्रगति के लिए उस देश के साहित्य, पत्रों एवं पत्रिकाओं का अपना महत्वपूर्ण योगदान होता है। अंग्रेजी शिक्षा ने अपने साहित्य के साथ-साथ भारतीयों को भी उनके साहित्य प्रोत्साहन हेतु सहयोग प्रदान किया।

1784 में बंगाल में एशियाटिक-संस्था की स्थापना हुई। इस संस्था के द्वारा प्राचीन ग्रन्थों का यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद कर पश्चिम के विद्वानों ने भारतीय सभ्यता की श्रेष्ठता स्थापित की। इससे भारतीयों को आत्म-बल तथा आत्म-परिचय प्राप्त हुआ। इस संस्था के ही द्वारा भारतीयों को अपने अतीत के गौरव का परिचय मिला और वे अपने देश की महान परम्परा के प्रति अधिक सजग एवं जागरुक हुए।

उपर्युक्त कारणों द्वारा भारत ने अपनी युगों की निद्रा भंग करके उसमें नव चेतना का समावेश किया। इस प्रकार विचारों के आदान-प्रदान से, पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क से, समाज और धर्म सुधारकों के प्रयत्नों द्वारा भारतीयों में नवीन स्फूर्ति का संचार हुआ। धर्म और विश्वास का स्थान विवेक और न्याय ने ले लिया। अंधविश्वास ने विज्ञान को आत्मसमर्पण कर दिया और अज्ञान के क्षेत्र को त्याग नवीन शिक्षा से सुशिक्षित लोग आधुनिक युग के विस्तृत क्षेत्र तक पहुंचने लगे। इस पुनरुत्थान ने भारत में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, बौद्धिक, वैज्ञानिक और आर्थिक क्षेत्रों में जागरण की क्रान्ति उत्पन्न कर दी। प्रत्येक देश में समय-समय पर पुनर्जीवन प्रदान करने हेतु प्राकृतिक विधान के द्वारा उचित नियम के अधीन पुनरुत्थान काल का उद्भव सदैव से होता रहा है और उसी नियम के अधीन भारत में भी 19वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध भारतीय पुनर्जागरण और भारतीय पुनरुत्थान

का काल था।

राजनैतिक क्षेत्र में जो जागृति हुई उसने राष्ट्रीयता की लहर को समस्त देश में व्याप्त कर दिया। अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष एवं विद्रोह की भावना को गोपाल कृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक मदनमोहन मालवीय, महात्मा गाँधी जैसे महापुरुषों ने भारत को फिर से जगाने का पूर्ण प्रयत्न किया, और लोगों को अंग्रेजों से संघर्ष के लिए जागरुक रखा। यद्यपि लार्ड लिटन की अन्यायपूर्ण साम्राज्यवादी नीति के विरुद्ध घोर प्रतिक्रिया हुई। परन्तु कभी-कभी कोई शासक राजनीतिक प्रगति के विकास में सहायक सिद्ध होते है और लार्ड लिटन ने भारतीय शिक्षित सम्प्रदाय में एक ऐसी नवीन जागृति उत्पन्न कर दी जो वर्षों के संघर्ष से भी सम्भव नहीं थी। भारतीयों में अंग्रेजी साम्राज्यवादी एवं प्रतिक्रियावादी नीतियों के विरुद्ध आवाज उठाने की प्रेरणा इसी युग से प्रारम्भ हुई।

सामाजिक क्षेत्र में भारतीय पुनर्जागरण ने देश का कायाकल्प कर दिया। भारत में सती-प्रथा, बाल विवाह, पर्दा-प्रथा, अस्पृश्यता आदि घातक और अनिष्टकारी कुप्रथायें थीं, जिससे देश का पतन होता जा रहा था, नवाभ्युत्थान के कारण निवारण हो गया। इस आन्दोलन के सृष्टा राजा राममोहन राय थे। शिरॉल के अनुसार राजा विश्व-मानवता के विचार के सन्देशवाहक थे और विश्व इतिहास में विश्व-मानवता का दिग्दर्शन करते थे। उन्हें भारतीय पुनर्जागरण का पिता और भारतीय राष्ट्र का प्रवर्तक भी कहा जा सकता है। इस युग में देश की सामाजिक कुरीतियों के प्रति लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ और समाज-सुधारकों ने देश-व्यापी निर्बाध कार्य आरम्भ किया। भारतीय पुनर्जागरण ने साहित्य के क्षेत्र को भी व्यापक रूप से प्रभावित किया। अंग्रेजी साहित्य ने भारतीयों को नवयुग की नव नेचता से परिचित कराया। और स्वदेशी साहित्य ने भी अपना पूर्ण कर्तव्य पालन किया। साहित्य के साथ-साथ पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन ने भी जनसाधारण को आधुनिक ज्ञान के क्षेत्रों से परिचित किया। किसी भी देश की उन्नति के प्रति उस देश के लेखकों का महान उत्तरदायित्व होता है। भारत के पुनर्जागरण काल में भारतीय साहित्य तथा लेखकों ने अपने पूर्ण योगदान द्वारा भारतीय जनता को ज्ञानबोध दिया।

पुनर्जागरण के फलस्वरूप भारतीयों का ध्यान विविध ललित-कलाओं की ओर भी गया। चित्रकला में प्राचीन परम्परा से प्रेरणा पाकर एक नव शैली का विकास हुआ। संगीत और नृत्य की शिक्षा का भी विकास हुआ, और भातखण्डे विद्यालय स्थापित किया गया।

वैज्ञानिक क्षेत्र में जगदीशचन्द्र बसु, प्रफुल्लचन्द्र राय, श्री सी० बी० रमन, रामानुज, मेघनाद साहा जैसे विज्ञान-वेत्ताओं ने भारतीय विज्ञान को नई अवधारणा दी और भारतीय विज्ञान में नई चेतना ला दी। इन लोगों के अनुसंधानों ने भारत को उसके उज्ज्वल भविष्य का सूचक बना दिया।

आर्थिक क्षेत्र में नये उद्योगों का प्रादुर्भाव हुआ, औद्योगीकरण द्वारा भारत के आर्थिक जीवन का स्वरूप ही परिवर्तित हो गया। नये आर्थिक सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाने लगा और व्यापार को नये तरीकों से विस्तृत किया गया।

वास्तव में भारतीय पुनर्जागरण प्रारम्भ में एक बौद्धिक पुनर्जागरण था और उसने साहित्य, शिक्षा, कला और विचार धारा को प्रभावित किया। दूसरी अवस्था में यह नैतिक शक्ति हो गया और समाज और धर्म का सुधार हुआ। तीसरी अवस्था में विज्ञान और आधुनिक दृष्टि से आधुनिकीकरण का प्रयास किया गया। इस युग ने भारत में एक नवीन जीवन-शक्ति का संचार किया जिसने आगे चलकर भारत को उसकी स्वतन्त्रता के लिए प्रेरणा दी। इसी कारण उन्नीसवीं शताब्दी को भारतीय नवजागरण का युग भी कहते हैं। इसी पुनर्जागरण के द्वारा भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात हुआ।

अध्याय 20
पुर्नजागरण के आचार्य

राजा राममोहन राय

राजा राम मोहन राय ने ईसाइयों की उदारतावाद एवं सिद्धान्तों से प्रभावित होकर हिन्दुओं के आचार विचार एवं उनके जीवन की कुरीतियों में आमूल परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया। ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए राजा राममोहन राय बंगाल स्थित राधानगर के निवासी थे। इनके पिता रमाकान्त राय की गणना तत्कालीन उच्च कोटि के जमींदारों में होती थी। उच्चकुलीन होने के नाते अच्छी शिक्षा प्राप्त करते ही कलेक्टरेट, रंगपुर में ईस्ट इण्डिया कम्पनी में नौकरी प्राप्त हो गयी। विकासोन्मुखी प्रतिभा ने ज़िले की दीवानगीरी जैसा महत्वपूर्ण पद स्वतः अर्जित कर लिया। मुख्य देशी भाषाओं और अंग्रेजी का वृहद् अध्ययन उन्होंने नौकरी के पूर्व ही कर लिया था परन्तु ईसाई धर्म, लैटिन, हिब्रू व ग्रीक भाषाओं का ज्ञान उन्होंने नौकरी करते हुए अर्जित किया। ईसाई धर्म ने उन्हें अत्यधिक प्रभावित किया। परिणाम स्वरूप सन् 1814 में अपने उच्च पद से त्याग पत्र देकर जनहित तथा लोकादर्शों की प्राप्ति हेतु उन्होंने कलकत्ता को अपना मुख्य निवास-स्थल बनाया। हिन्दुओं तथा समस्त भारतीयों के विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त समस्याओं और कुरीतियों को दूर करने का संकल्प किया, जिसके फलस्वरूप 1915 में 'आत्मीय सभा' तथा 1918 में 'कलकत्ता यूनीटोरियन कमेटी' का प्रादुर्भाव हुआ। 'आत्मीय सभा' और 'कलकत्ता यूनीटोरियन कमेटी' के कार्यों से राजा राममोहन राय को पूर्ण सन्तुष्टि नहीं मिली और उन्होंने 20 अगस्त, सन् 1828 को 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की। इस 'ब्रह्म समाज' ने धार्मिक, सामाजिक 'शैक्षिक और राजनीतिक क्षेत्रों में राजा राममोहन के नेतृत्व में प्रशंसनीय सुधार तो किये ही, साथ ही न्याय सम्बन्धी सुधारों पर भी बल दिया।

राजा राममोहन राय ने हिन्दू-इस्लाम एवं ईसाई धर्म का गहन अध्ययन किया। इस्लाम धर्म का उन्हें विशेष ज्ञान था क्योंकि राजा राम मोहन राय की प्राथमिक शिक्षा इस्लाम धर्म में हुई जबकि उन्हें नौ अथवा दस साल की आयु में पटना भेजा गया। पटना में अपनी शिक्षा समाप्त कर लेने के पश्चात राजा राममोहन राय की शिक्षा हिन्दू धर्म के अन्तर्गत वाराणसी में हुई। राजा राम मोहन राय अपने बाल्य काल में भी 'भागवत' के कुछेक श्लोकों का उच्चारण किये बिना कुछ भी ग्रहण नहीं करते थे। यद्पि राजा राममोहन राय धर्म के सम्बन्ध में उदारवादी थे परन्तु मूर्ति-पूजा के कट्टर विरोधी थे और इस सम्बन्ध में किसी समझौते पर सहमत नहीं थे। उनके इस विश्वास से उनपर इस्लाम धर्म का प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। 1790 में राजा राम मोहन राय जब घर वापस आये, उस समय तक वे इस तथ्य से पूर्णतया सहमत हो चुके थे कि मूर्ति-पूजा न केवल त्रुटिपूर्ण है वरन् भारतीय धार्मिक ग्रन्थों के द्वारा भी इसे मान्यता नहीं प्राप्त है। अत: मूर्ति-पूजा के स्थान पर उन्होंने ईश्वर उपासना हेतु 'उपदेश पद्धति' अपनाने का परार्मश दिया। राजा राम मोहन राय ने 'ए ब्रिजमेंट आफ दि वेदान्त' के विषय-प्रवेश में लिखा है--

> "मेरा मुख्य ध्येय उन धार्मिक कार्य-कलापों का विरोध करना है जो कि हिन्दू मूर्ति-पूजकों ने समाज में प्रचलित कर दी तथा जो समाज को खोखला कर रही है।"

राजा राम मोहन राय का 'ब्रह्म समाज' 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना पर आधारित था। समस्त धर्मों को एक ही सूत्र में बाँधने की कल्पना उन्होंने की थी। उनका धर्म साम्प्रदायिकता से दूर समस्त धर्मों के लोगों को एक ही ईश्वर की उपासना का सन्देश देता है। मनुष्य जाति के प्रति बन्धुत्व और भेद-भाव दूर करने का संदेश भी उन्होंने दिया। समस्त धार्मिक संस्थाओं, पुस्तकों में प्रेम व विश्वास ही राजा राम मोहन राय का मुख्य लक्ष्य था। सामाजिक कुरीतियों में जातीयता, सती-प्रथा एवं बलि आदि का उन्होंने कट्टर विरोध किया। इतना ही नहीं वे मूर्ति पूजा में भी विश्वास नहीं रखते थे। यही कारण था कि 'ब्रह्म समाज' में मूर्ति-पूजा का भी डटकर विरोध किया गया। प्रोफेसर जकारिया के शब्दों में--

"विगत सौ वर्षों में भारत में होने वाला परिवर्तन और वर्तमान युग के पुनर्जागरण आन्दोलन के मूल स्रोत राजा राम मोहन राय और उनका ब्रह्म समाज स्पष्टतया दृष्टिगत है।"

ईसाई धर्म से प्रभावित होकर उन्होंने 'न्यू टेस्टामेन्ट' के कुछ सिद्धान्तों

को एकत्रित करके 'द प्रेजेंट्स आफ जीसस' नाम से एक पुस्तिका प्रकाशित कर दी तथा इसी श्रृंखला में उन्होंने 'द गाइड टु पीस ऐण्ड हैपीनेस' का भी प्रकाशन किया। वे किसी धर्म का मूल्यांकन उस धर्म का समाज पर पड़ने वाले प्रभाव से करते थे।

1829 में 'रिलीजस इन्स्ट्रक्शन्स फाउन्डेड आन सीक्रेड अथारिटीज' में लिखते हुए राजा राम मोहन राय ने कहा कि 'भगवान की पूजा यह ध्यान में रखकर करनी चाहिए कि इस सृष्टि का निर्माता ही सर्वशक्तिमान परमेश्वर है।" उन्होंने इन्द्रियों पर नियन्त्रण एवं धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन का भी सुझाव दिया।

राजा राम मोहन राय को सभी धर्म के अनुयायी अपने ही धर्म को मानते थे। राम मोहन राय हिन्दू धर्म के कुछ मार्गों के विरुद्ध थे और इसी प्रकार वे इस्लाम एवं इसाई धर्म के भी कुछ मार्गों के विरुद्ध थे। यही कारण था कि मृत्यु के उपरान्त उन्हें जनता ने हिन्दू, मुस्लिम अथवा क्रिस्तीन तीनो ही धर्मों में से किसी भी धर्म का अनुयायी नहीं बताया। वास्तव में उन्हें भगवान् एवं मनुष्यों के मध्य 'मध्यस्थ' की संज्ञा से सुशोभित किया गया।

यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि "आधुनिक समाजिक सुधार" राजा राम मोहन राय और उनके 'ब्रह्म समाज' की ही देन है। उन्होंने समाज में व्याप्त कुरीतियों के विनाश के लिए युद्ध छेड़ा। जातिवाद और कुलीनता के लिए उन्होंने शंखनाद किया। समाज में स्त्रियों को उचित स्तर दिलाने के लिए उन्होंने युद्ध स्तर पर कार्य प्रारम्भ किया तथा उनके हितों की रक्षा के लिए आवाज उठायी। स्त्रियों को निन्दनीय परिस्थितियों में निमग्न कराने के लिए पुरुषों को ही दोषी ठहराया। स्त्रियों के सम्पत्ति-विषयक अधिकार का समर्थन किया गया, तथा अन्तर्जातीय विवाह को भेद-भाव दूर करने का महत्वपूर्ण कदम बताया। विधवाओं की शोचनीय स्थिति पर चिन्ता प्रकट करते हुए उन्होंने उनके प्रति भी सामाजिक न्याय की व्यवस्था की और विधवा विवाह पर बल दिया। भारतवर्ष के प्रत्येक क्षेत्र में कूट-कूट कर भरे हुए अंधविश्वास का एक जीता जागता पैशाचिक उदाहरण सती-प्रथा का व्याप्त होना था। इसके अन्त के लिए उन्होंने सतत प्रयत्न किया और उनका यह प्रयत्न सार्थक हुए बिना नहीं रह सका जिसका परिणाम सती-प्रथा के अन्त में अवतरित हुआ। इस प्रकार उन्होंने सामाजिक सुधार के अवरुद्ध पटों को एक नवीन चेतना की ओर खोला।

राजा राममोहन राय ने आधुनिक समाज-सुधारकों हेतु तीन सिद्धान्तों की स्थापना की :—

प्रथम तर्कवाद, जो उन्नीसवीं शताब्दी के बुद्धिजीवी वर्ग को सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन थी। इसके अनुसार राजा राममोहन राय ने विभिन्न धर्मों के अनुयायी बुद्धिजीवियों से सत्य एवं असत्य के मध्य अन्तर स्पष्ट करने का सुझाव दिया।

द्वितीय मानवतावाद, इसके अन्तर्गत राजा राममोहन राय ने 'मानव-प्रतिष्ठा' की स्थापना का प्रयास किया। इस सिद्धान्त के द्वारा राममोहन राय ने स्त्रियों एवं अनुसूचित जातियों के साथ हो रहे अमानवीय व्यवहार का अन्त करके प्रत्येक मनुष्य के साथ समान व्यवहार का उपदेश दिया जो कि सुधारकों के लिए ब्रह्मवाक्य के रूप में उभर कर सामने आया।

तृतीय अन्तरात्मा का सुधार, जिसके अन्तर्गत उन्होंने पुरानी परम्पराओं एवं पुराने मूल्यों के आधार पर आधुनिक मूल्यों एवं परम्पराओं की स्थापना का सुझाव दिया।

उपरोक्त तीनों सिद्धान्तों के कार्यान्वियन हेतु राजा राममोहन राय ने 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की, जिसका मुख्य ध्येय नवीन धार्मिक-पूजा विधियों का प्रचलन करना था जो राजा राममोहन राय तथा उनके अनुयायियों के मत से भारत में जागरण उत्पन्न करतीं। यद्यपि 'ब्रह्म समाज' सुधारात्मक संस्था नहीं थी परन्तु इसके अनुयायियों ने सदैव ही पूर्वी भारत में धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों हेतु प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त 'ब्रह्म समाज' ने अन्तरराष्ट्रीय जातियों एवं धर्मों के मध्य समन्वय का भी प्रयास किया।

राजा राममोहन राय ने 1828 में 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की। उन्होंने भारतीय सभ्यता का पूर्व और पश्चिम के साथ तारतम्य करने का पूर्ण प्रयोग किया। राजा राममोहन राय ने भारतीय सामाजिक धार्मिक सुधारों के प्रति अपना पूर्ण योगदान दिया। राममोहन राय ने पत्रकारिता की स्वतंत्रता हेतु भी प्रयास किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने 1827 में 'जूरी अधिनियम' के विरुद्ध आवाज उठाई। आर० सी० मजूमदार के अनुसार 'राजा राममोहन राय प्रथम भारतीय थे जिन्होंने ब्रिटिश अधिकारियों के सम्मुख भारतवासियों की कठिनाइयों को रखा।' उन्हें यदि भारतीय राजनैतिक आन्दोलन का स्रष्टा कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। उन्होंने भारत के कृषक समुदाय के भूमि कर की अदायगी के असहनीय दमन चक्र के विरुद्ध घोर संघर्ष किया। इसका उन्होंने घोर विरोध किया और एक स्मृति-पत्र सरकार को लिख भेजा। प्रेस की स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन किया। हिन्दुओं पर कष्टकारक कानूनों की व्यवस्था का विरोध किया और हिन्दू

कानून में आमूल परिवर्तन की मांग की। दीवानी तथा फौजदारी के उलझे हुए कानूनों को क्रमबद्ध करने एवं परिवर्तन के लिए आवाज उठाई। नये कानून के निर्माण में भारतीय वकीलों के परामर्श एवं जूरी द्वारा मुकदमें करने पर जोर दिया गया। न्यायालयों में अंग्रेजी भाषा के प्रयोग और जजों तथा मजिस्ट्रेटों के पृथक-पृथक अस्तित्व पर नवीन विधि-प्रणाली का सुझाव दिया।

शैक्षिक क्षेत्र में राजा राममोहन राय ने भारतीय शिक्षा के प्रसार हेतु पूर्ण प्रयत्न किया क्योंकि उनके विचारानुसार भारत की प्रगति के लिए आधुनिक शिक्षा आवश्यक थी और इस कार्य हेतु अंग्रेजी भाषा का प्रचलन आवश्यक था। राय ने भारतीय जनता को रूढ़िवाद, अंध-विश्वासों एवं धर्मपरायणता से छुटकारा दिलाने की पूर्ण चेष्टा की। राय ने सुधारों के साथ-साथ भारतवासियों को देश-भक्ति का संदेश भी दिया। उन्होंने अपने ओजस्वी भाषणों एवं लेखों के माध्यम से देशवासियों को साहस, दृढ़ निश्चय एवं कर्मठता का संदेश दिया। देश की तत्कालीन वर्तमान अवस्था विकास चाहती थी। अत: यह कार्य भी पाश्चात्य शिक्षा-प्रेमी राजा राममोहन राय ने संभाला। उन्होंने कलकत्ते में अनेक-शिक्षा संस्थाओं को जन्म दिया और उन शिक्षा संस्थाओं का विकास कार्य भी पूर्ण लगन एवं निष्ठा से किया जिसके प्रत्यक्ष उदाहरण हिन्दू कालेज, इंगलिश स्कूल, और वेदान्त कालेज हमारे समक्ष उपस्थित हैं। प्रगतिशीलता के लिए उन्होंने पाश्चात्य विज्ञान का अध्ययन करने को कहा। पत्रकारिता उनमें कूट-कूट कर भरी थी। यही कारण है कि उन्होंने ही सर्वप्रथम 1819 में बँगला साप्ताहिक पत्र का सम्पादन किया जिसका नाम उन्होंने 'संवाद-कौमुदी' रखा। तत्पश्चात् 'मिरा-तुल अखबार' नामक एक, फारसी पत्र भी निकाला। इतना ही नहीं, उन्होंने उर्दू, अरबी, फ़ारसी, बँगला, संस्कृत और अंग्रेजी में अनेक पुस्तकों की रचना एक सफल साहित्यकार के रूप में की इस प्रकार उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में अभूतपूर्व कार्य करके शैक्षिक स्तम्भ को दृढ़ता प्रदान की।

राजनैतिक क्षेत्र में राजा राममोहन राय ने आवश्यक सामाजिक परि-वर्तन हेतु प्राचीन नियमों के व्याख्यानुसार राज्य को हस्तक्षेप करने का अधिकार दिया। उनके अनुसार यह भारतीय राजनीतिक परम्पराओं के अनुकूल था क्योंकि जनता कानून का उत्तरदायित्व राजा को देती थी। भारत में ब्रिटिश शासन को वे भारतीयों की जागृति हेतु एक स्वयं जन शक्ति के रूप में मान्यता प्रदान करते थे। वे अपने समकालीन नेताओं से अधिक ब्रिटिश शासन के समर्थक नहीं थे। भारत में सामाजिक एवं आर्थिक

परिवर्तनों हेतु राजा राममोहन राय सर्वप्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने ब्रिटिश संसद से अनुरोध किया।

राजा राममोहन राय ने अधिनायक तन्त्र का प्रारम्भ से विरोध किया और अत्याचारी शासन की आलोचना की। स्थानीय कर्मचारियों द्वारा शक्ति के दुरुपयोग की शिकायत उन्होंने ब्रिटिश शासन से की। राजा राममोहन राय धर्मनिरपेक्ष राज्य के पक्षपाती थे।

अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शों से युक्त राजनीतिक युगप्रवर्तक राजा राममोहन राय की सर्वतोंन्मुखी राजनीति समस्त जाति एवं धर्मों के लोगों का विकास करने में सक्षम थी। वह तो हर वर्ग को समानता तक पहुंचने के लिए कृत-संकल्प थी, परन्तु साथ ही साथ उसका मार्ग वैधानिक भी था। उदारवादी होने के कारण उन्होंने विदेशी प्रशासन को सहयोग दिया। परन्तु इस सहयोग में भारतीयों की आवश्यकताओं को सर्वोपरि रखा गया जिसका अनुकरण अन्य उदारवादी राष्ट्रनेताओं ने सफलतापूर्वक किया। भारत की जनता की स्थिति के विवरण को पश्चिम तक पहुंचाने में वे निरन्तर प्रयत्न करते रहे और उस प्रयास को एक दिन उन्होंने यथार्थ में परिणत ही कर दिया। सामुद्रिक यात्रा की निषेधाज्ञा का सर्वप्रथम उन्होंने ही उल्लंघन किया और अपने विचारों से भारतवर्ष की स्थिति को स्पष्ट करने हेतु इंगलैण्ड गये जहाँ उन्होंने रेवेन्यू एवं जूडीशियरी में व्याप्त अनियमितताओं और भारतवर्ष की आवश्यकताओं का तुलनात्मक चित्रण वहाँ की पत्र-पत्रिकाओं में किया और भारत की 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से पश्चिम को अवगत कराया। यही कारण है जिससे भारत के लिए पश्चिम जाने का अवरुद्ध मार्ग खुल गया। राजा राम मोहन राय के अन्दर स्वतन्त्रता की लगन एवं राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूटकर भरी थी, तभी तो स्वर्गीय रवींन्द्रनाथ ने कहा था।

'राममोहन राय को ही भारत के आधुनिक युग का उद्घाटन करने का अद्वितीय सम्मान प्राप्त है।'

अतः यह कहना असत्य न होगा कि राजा राममोहन राय ने धर्म, समाज, शिक्षा, राजनीति और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक महान, अतुलनीय सुधारक के रूप में जीवन के अन्तिम वर्षों तक संघर्ष किया। इससे भारत-वासियों में जागृत नवीन चेतना प्रगति-पथ पर चलने को बाध्य हो गयी।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी जीवन-अवधि में भारत के महान आचार्यों से प्रभावित होता रहा। यद्यपि इस युग के महापुरुष अपने धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक विचारधाराओं में भिन्न थे तथापि राष्ट्र के प्रति उनकी आस्था का एक ही स्वरूप था। राजा राममोहन राय एक ऐसे धार्मिक,

सामाजिक बुद्धिवेत्ता थे जिन्होंने सुप्त राष्ट्र को गहन निद्रा से उठाकर क्रियाशील बनाने में योगदान दिया। राजा राम मोहन राय भारतीय जागरण के जनक कहे जाते हैं। उन्हें भारतीय राष्ट्र में एक नवयुग का प्रवर्तक भी कहा जाता है। नन्दलाल चटर्जी के अनुसार वे (राजा राममोहन राय) अमिट भूत तथा नव भविष्य, पुरातन संकीर्णता तथा जातीय सुधार सम्बन्धी प्रतिक्रिया एवं प्रगति के बीच मध्यस्थ थे।

दयानन्द सरस्वती

भारतीय पुनर्जागरण में स्वामी दयानन्द का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने हिन्दू धर्म की कुरीतियों एवं अंधविश्वासों को दूर कर उसे तर्कसंगत एवं बुद्धिमत्ता युक्त बनाया।

स्वामी दयानन्द के दर्शन और धर्म को यदि वेद कह लें तो अन्यथा न होगा क्योंकि वेद ही उनका दर्शन और वेद ही उनका धर्म था। स्वामी दयानन्द ईश्वर की अनेकता में विश्वास नहीं रखते थे। उनके मत के अनुसार ईश्वर एक है, जो सर्वव्यापक और निराकर है। अत: निराकार ईश्वर की मूर्ति बनाकर उसकी पूजा नहीं की जा सकती है। इस प्रकार स्वामी जी की मूर्ति-पूजा-विरोधी भावना स्पष्ट हो जाती है। मन्दिरों की मूर्तियों पर जल और मिष्ठान चढ़ाकर ईश्वर की उपासना निरर्थक है अपितु निराकार ईश्वर की आराधना व उपासना ही सच्चे अर्थों में ईश्वरीय उपासना का वैदिक आधार है। भारत भ्रमण के मध्य उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि हिन्दू धर्म का स्वरूप प्राचीन आर्य धर्म से पूर्णतया भिन्न हो चला था। वैदिक संहिताओं का हिन्दी भाषा में अनुवाद करके वेदों के धार्मिक स्वरूप को जनसाधारण तक पहुंचाने का उनका कार्य अत्यन्त सराहनीय एवं अद्वितीय रहा। धर्मान्धता मनुष्यों में कूट-कूटकर भर चुकी थी। अनेक दुष्कर्मों के पश्चात् भी मनुष्य तीर्थयात्रा, सत्यनारायण कथा आदि करके अपने किये गये पापों से मुक्ति पाना चाहता था, जिसको स्वामी जी ने निरर्थक बताया। साथ ही इन सब कारणों की जड़ चारों ओर व्याप्त पुरोहित था, जो अल्प दक्षिणा में ही सारे कष्टों का निवारण कर देता था। इस तरह के संस्कारों से ग्रसित हिन्दू धर्म का पाठ उन्होंने पढ़ाया जो आडम्बर विहीन था। वेदान्त के सहारे हिन्दू धर्म के आधार पर ही उन्होंने विकृत धार्मिक स्वरूप को सुधारने का सफल प्रयत्न किया। हिन्दू धर्म भी अन्य धर्मों की भाँति दूसरे धर्म के लोगों को अपने में स्वीकार नहीं करता था। स्वामी जी ने आर्य समाज की स्थापना में शुद्धि के द्वारा उसका भी

प्राविधान कर हिन्दू धर्म में एक नवीन द्वार का निर्माण किया, जिस पर आत्म-विश्वास की बातों में आशा के तेल से कभी न बुझने वाले दीपक की लौ प्रज्वलित की ।

सामाजिक शिक्षा

ऋषि दयानन्द वास्तविक अर्थों में सुधारक और संस्कारक थे । वे मनुष्य मात्र में समानता और भ्रातृभाव के प्रचारक थे । उन्होंने सब मनुष्य जाति, जिसमें बाल, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, द्विजाति और शूद्र सम्मिलित थे, को विद्योपार्जन का आदेश दिया । समाज में प्रत्येक मनुष्य को समानता प्रदान करना स्वामी दयानन्द का आधारभूत सिद्धान्त था । समाज की एक ऐसी रचना उनके मष्तिष्क में प्रतिपादित हुई जिसमें अन्धविश्वास, कुप्रचारित रीतियाँ और आडम्बर को कोई भी स्थान न था अपितु नवीन सामाजिक चेतना की रूप रेखा के मध्य विशेष अधिकारों से अछूते एक ऐसे समाज की स्थापना की जो समानता का अधिकार प्रत्येक मनुष्य को दे । उन्होंने एक ऐसा संगठन तैयार किया, जो सामाजिक सुधारों में उत्तरोत्तर प्रगतिशील रहा । इसका नामकरण उन्होंने 'आर्य समाज' किया। स्वामीजी ने समाज की प्रगति और उसके नैतिक उत्थान के लिये सराहनीय चरण अपनाये ।

दयानन्द जी ने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में विभिन्न जातियों, उपजातियों तथा उनके विशेषाधिकारों को देखकर दयानन्द जी ने इसमें परिवर्तन की शीघ्र आवश्यकता अनुभव की । उन्होंने देखा कि उच्च जातियों में कर्महीन, गुणहीन एवं पतित मनुष्यों को उस जाति में उच्च अधिकार प्राप्त हैं, जबकि दलित वर्ग के आदर्श, बुद्धिमान एवं नैतिकता की चरम सीमा प्राप्त मनुष्य को हीन दृष्टि से देखा जाता है । स्वामी जी ने वेदों के अनुसार गुण के आधार कर वर्ण व्यवस्था स्वीकार की और जन्म का आधार निरर्थक बताया । स्वामी जी ने स्पष्ट किया कि कोई भी आदमी कर्म, स्वभाव और गुण के आधार पर वैदिक रीति से वर्ण परिवर्तन कर सकता है । स्वामी जी का मत था मनुष्य जाति से नहीं वरन् कर्मो से उच्च अथवा निम्न होता है ।

जाति व्यवस्था का ही दुष्परिणाम छुआछूत की भावना को जन्म देता था । दलित वर्ग के उत्थान हेतु स्वामी जी ने पूर्ण सघर्ष किया । उनका मत था कि मनुष्य जन्म से नहीं वरन् स्वयं के कर्मों से शूद्र होता है । जन्म से ही मनुष्य को निम्न श्रेणी में रख देने के वे घोर विरोधी थे । अस्पृश्यता की भावना को हिन्दू धर्म से पृथक करने के लिए प्रथम बार स्वामी दयानन्द ने

ही शूद्रों के लिए शिक्षा और वेदों के पठन-पाठन की व्यवस्था कर अछूतोद्धार कार्य की नींव डाली। उनके द्वारा संस्थापित संगठन आर्य समाज आज भी उनकी उपर्युक्त शिक्षा के परिपालन में रत है।

स्वामी जी ने अपने शुद्धि संस्कार में किसी भेदभाव और अस्पृश्यता को स्थान नहीं दिया। उन्होंने दूसरे धर्मों और जातियों के लोगों के लिये वेद-मर्यादा के अनुसार आर्य धर्म के कपाट खोल दिये।

स्त्री उत्थान एवं शिक्षा

स्वामी जी ने स्त्रियों के उत्थान के लिए भी पूर्ण चेष्टा की। उन्होंने स्त्री को पूज्य बताया। स्त्री समाज का आधा अंग है और उसे घर में सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों से पृथक रखकर समाज का उत्थान नहीं किया जा सकता। उस महान आचार्य ने स्त्री-शिक्षा के लिये विशेष आदेश दिया। उन्होंने स्त्री की पवित्रता तथा शिक्षा पर विशेष बल दिया। उन्होंने स्त्री की पर्दा प्रथा का विरोध किया तथा उस के बन्दिनी रूप की कटु भर्त्सना की।

पुरुषों के समान स्त्रियों को भी अधिकार देकर सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में समानता का भागीदार बनाने का अधिकार दिया। उनके अनुसार भारतीय समाज की हीन व्यवस्था का प्रमुख कारण समाज में नारी के सम्मानपूर्ण स्थान का अभाव था। स्त्रियों की उन्नति के लिये स्कूल तथा विद्यालय स्थापित कर शिक्षा व्यवस्था पर जोर दिया गया जिससे स्त्रियों को समाज में एक उचित स्थान प्राप्त हो सके। स्त्रियों के लिए विधवा आश्रमों की भी व्यवस्था स्वामी दयानन्द जी ने की।

स्वामी दयानन्द ने स्त्री जाति के सुधार के लिए प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किये। स्वामी जी स्त्रियों की सामाजिक, शैक्षिक एवं राजनैतिक स्वतंत्रता के प्रतिपालक थे। उस आचार्य ने हिन्दू धर्म में स्त्री के स्थान को पुनः गौरव प्रदान किया।

स्त्रियों के उत्थान के साथ-साथ स्वामी जी ने शिक्षा के विस्तार पर बल दिया तथा उस शिक्षा पद्धति को महत्ता प्रदान की जिसमें ज्ञान, सभ्यता, धार्मिकता, जितेन्द्रियता का समिश्रण हो। विद्वान आचार्य ने विदुषी स्त्रियों की देख-रेख में शिक्षा संस्थानों के संचालन का प्राविधान किया। स्वामी जी ने अनिवार्य शिक्षा के लिये राजनियम और जाति-नियम बनाने का परामर्श दिया। उन्होंने पाठशालाओं में संस्कृत के साथ-साथ अंग्रेजी पठन-पाठन को भी सहमति प्रदान की।

स्वामी दयानन्द जी के जीवन का मुख्य कार्य धर्मप्रचार था, परन्तु

उन्होंने सार्वजनिक हित के लिये भारतीय समाज में प्रचलित विभिन्न कुरीतियों का खण्डन किया। स्वामी जी ने अल्प आयु में विचार और तर्क का तीर सदैव प्रयोग किया। उन्होंने सर्वप्रियता की अपेक्षा सर्वहित को ही सर्वप्रिय माना। तत्कालीन व्याप्त आडम्बरों और कुरीतियों की तीव्र भर्त्सना स्वामी जी ने की। आर्य समाज की विभिन्न व्यवस्थाओं के कारण हिन्दू धर्म एवं समाज को पुनर्जीवन प्राप्त हुआ। स्वामी दयानन्द ने भारतीय समाज में प्रचलित विभिन्न कुरीतियों का खण्डन किया। स्वामी जी ने अल्प आयु में विवाह का विरोध किया और वयस्क विवाह को मान्यता दी। स्वामी जी ने बाल विवाह का घोर विरोध किया और विधवा विवाह पर बल दिया। उनके वचनानुसार युवा विधवा का विवाह न कर समाज में अविवाहित रखना अनेक कुरीतियों को जन्म देने में सहायक था। इसके समाधान हेतु उन्होंने विधवा-विवाह का प्रयोजन निर्धारित किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने अस्पृश्यता, अविद्या तथा वर्ण भेदभाव को अन्याय तथा अधर्म की संज्ञा प्रदान की।

राष्ट्रवाद

स्वामी दयानन्द केवल सुधारक या वेदों के प्रकाण्ड पण्डित ही नहीं थे, अपितु स्वामी जी ने अपने धार्मिक और सामाजिक कार्यों के साथ-साथ स्वदेश, मातृभूमि और आर्यावर्त को भी सर्वोपरि स्थान दिया जो राष्ट्रीयता के नाम से जानी जाती है। स्वामी दयानन्द ने जहाँ एक ओर वैदिक धर्म के परिपालन का परामर्श दिया तो दूसरी ओर उन्होंने भारतीयों को अपनी धार्मिक रक्षा हेतु 'भारत केवल भारतीयों के लिये' का नारा दिया था। इससे स्पष्ट है कि स्वामी जी अपने समय की राजनैतिक स्थिति से अपरिचित नहीं थे। स्वामी दयानन्द की स्वराज्य कल्पना अत्यन्त सुन्दर, उत्कृष्ट और विशुद्ध थी क्योंकि उन्होंने अपने लेखों एवं व्याख्यानों में स्वराज्य, साम्राज्य और अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य की चर्चा की थी। स्वामी जी ने स्पष्ट रूप से सुराज एवं स्वराज्य का अन्तर दर्शाया। उन्होंने सुराज और स्वराज्य की समीक्षा करते हुए कहा कि कोई भी विदेशी शासन कितने ही उत्तम प्रकार का प्रशासन प्रदान करे वह स्वराज्य का स्थान नहीं ले सकता।

1906 के कलकत्ता कांग्रेस के अधिवेशन में दादा भाई नौरोजी ने स्व-शासन की जो माँग की वह पूर्णतया स्वामीजी के विचारों पर आधारित थी। इस महान आचार्य ने प्रथम बार भारत को स्वराज्य का सन्देश दिया और इसके साथ-साथ एक मत, एक हानि-लाभि को देश की उन्नति के लिये

आवश्यक समझा। स्वामी जी ने अपनी पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' में भी स्वतन्त्र निर्णय, आत्म-सम्मानित राष्ट्रीयता की भावना का सन्देश व्यक्त किया।

अपने अनुयायियों का ध्यान उन्होंने भारत के प्राचीन लुप्त गौरव की ओर आकृष्ट कराया जब चक्रवर्ती सम्राटों के राज्य में जनकल्याण की भावना विद्यमान थी और समस्त विश्व में भारत का मान था। आपसी मतभेद ने मुसलमानों, यवनों, शक, हूणों और अंग्रेजों से देश को आक्रान्त कराया। विदेशियों का सुशासन कभी-भी स्वशासन की समानता नहीं कर सकता। अत: अंग्रेजों के राज्य का अन्त कर स्वराज्य की स्थापना की आवाज स्वामी दयानन्द जी ने उठायी। स्वामी जी ने अपने समय के अनुरूप देशवासियों को विदेशी असहयोग एवं साम्यवाद की शिक्षा दी तथा प्रबुद्धता, शिक्षा, धर्म और समानता, एवं स्वतन्त्रता को राजनीति का अंग बताया।

स्वामी दयानन्द प्रथम धार्मिक और सामाजिक आचार्य थे जिन्होंने स्वदेश, स्वधर्म, स्वभाषा को अनिवार्य समझा और इस प्रकार से राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दिया कि केवल हिन्दुत्व से स्वराज्य नहीं मिल सकता। इसके लिये समाज का एकीकरण आवश्यक था। पारस्परिक मतभेद दूर करके समाज में एकता और राष्ट्रीयता की भावना को जागृत करने का कार्य देश में विस्तृत रूप से आर्य समाज की विभिन्न शाखाओं ने किया। वेदों और उपनिषदों के आधार पर स्वामी दयानन्द ने भारतीय समाज को संगठित कर एक नवीन राष्ट्रीय चेतना का संचार किया।

स्वामी जी ने विकृत हिन्दू धर्म की कुरीतियों के मूल में कुठाराघात किया। उन्होंने धार्मिक वर्ण-व्यवस्था को पूर्णत: कर्म और स्वभाव के अनुसार ही व्यवस्थित करने का उपदेश दिया। उन्होंने रूढ़िवादी परम्परा से पृथक होकर जन्मना जाति के भेदभाव को कपोल कल्पित, हानिकारक और अनावश्यक बताया। स्वामी जी ने बताया कि "मनुष्य जन्म एक आकस्मिक घटना है जिस पर किसी का कोई अधिकार नहीं, परन्तु कर्म और स्वभाव का अर्जन करना मनुष्य के अपने हाथ में हैं।" इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि स्वामी दयानन्द ने सम्पूर्ण मनुष्य जाति के लिये समान उन्नति के अवसर का उपदेश देकर साम्यवाद को शुद्ध रूप में प्रस्तुत किया।

स्वामी जी ने राजनैतिक सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए राजा और उसकी सभा को प्रजा के अधीन रहने का ज्ञान दिया। इस महान आचार्य का सिद्धान्त नि:सन्देह प्रजातान्त्रिक राज्य का मूल रूप था। उन्होंने राज्य-व्यवस्था को वेदादि शास्त्रों को जाननेवाले, कुलीन, शूर, वीर, स्वराज्य

और स्वदेश में उत्पन्न हुये एवं भली-भाँति सुशिक्षित चतुर मंत्रियों के अधीन करने के लिये उपदेश दिया।

आर्य समाज को जीवन के उच्च आदर्शों, सर्वगृहीत धार्मिक मान्यताओं और सामाजिक सुधार के नवीन स्रोतों से, जिनमें राष्ट्रीय भावना का संचार हो रहा हो, प्रतिपादित करके स्वामी दयानन्द ने एक नवीन संगठन की रचना की जिसे उनके विचारों के दर्पण के रूप में स्वीकार किया गया। आर्य समाज 19वीं शताब्दी का सर्वाधिक सफल आन्दोलन सिद्ध हुआ जिसने समाज के निर्बल एवं दलित वर्ग को नवजीवनी शक्ति प्रदान की तथा शिक्षा पद्धति में आमूल परिवर्तन कर नवीन सामाजिक मूल्यों को अवतरित किया।

निष्कर्ष रूप में भारत में स्वामी दयानन्द के प्रभाव ने धार्मिक, सामाजिक एवं भौतिक उन्नति के द्वार खोल दिये। स्वामी दयानन्द की शिक्षाओं, दार्शनिक तर्कों ने हिन्दू धर्म को पुनर्जीवित, तर्कसंगत एवं बुद्धि-संगत बनाने की चेष्टा की। उन्होंने आर्य समाज की स्थापना कर हिन्दू धर्म की कुरीतियों, अन्धविश्वासों, आडम्बरों से पृथक् होकर सत्य अर्थों में मानवीय धर्म की ओर रुचि प्रदान करने की चेष्टा की। स्वामी जी के युक्तिसंगत, तर्कसंगत एवं तर्कपूर्ण शास्त्रार्थों से प्रभावित होकर लाला लाजपत राय, महात्मा हंसराज (स्वामीश्रद्धानन्द) और गुरुदत्त विद्यार्थी ने आर्य समाज का व्यापक रूप से कार्य किया। यद्यपि स्वामी दयानन्द ने 1883 में अपना पार्थिव शरीर त्याग दिया, परन्तु उनकी शिक्षाओं तथा यथार्थवादी और वैज्ञानिक अभिरुचि देखकर उस समय के कर्मठ राजनैतिक एवं सामाजिक नेताओं ने आर्य समाज के कार्यों को प्रसारात्मक रूप दिया। अतः स्वामी जी ने देशवासियों को स्वच्छन्दता, गतिशीलता, मौलिकता, विवेकता तथा बौद्धिक प्रबुद्धता के द्वारा शताब्दियों से छाये तिमिर का नाश कर पुनः स्वच्छ और जीवनप्रद प्रकाश को प्रसारित किया।

रामकृष्ण परमहंस

प्रसिद्ध विद्वान मक्समलूर ने अपनी पुस्तक 'रामकृष्ण हिज़ लाइफ़ एण्ड सेइंग्स' में रामकृष्ण को एक 'वास्तविक महात्मा' की संज्ञा से विभूषित किया है। जन सामान्य के लिए वे ज्ञान और दया की प्रतिमूर्ति थे।

ऐसे महान महात्मा स्वामी रामकृष्ण का जन्म 18 फरवरी 1836 ई० को हुगली के एक छोटे से गाँव में हुआ था। यद्यपि दक्षिणेश्वर के इस निर्धन, अशिक्षित, पुरातनपंथी, असंस्कृत, रोगी, प्रेमी, गर्वरहित हिन्दू त्यागमूर्ति की विभिन्न प्रकार से व्याखया की गई तथापि उन्होंने बंगाल की धार्मिक तया

सांस्कृतिक नींव को हिला दिया। उन्होंने अपने कष्टों का आत्मशक्ति के साथ सामना करने तथा आत्मिक सुख एवं प्रसन्नता को प्राप्त करने की शिक्षा प्रदान की। अपनी दयालुता, मानवता तथा आत्मिक अखण्डता के कारण आप सुसंस्कृत मध्यम श्रेणी एवं पाश्चात्यवादी लोगों के भी आकर्षण-केन्द्र बन गए। यही कारण था कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातक नरेन्द्रनाथ दत्त (विवेकानन्द), केशवचन्द्र सेन जैसे व्यक्तियों ने अपने सम्पूर्ण जीवन का उत्सर्ग आपके ध्येय की पूर्ति के लिये करने का निश्चय कर लिया था।

रामकृष्ण एक प्रभु-विक्षिप्त मानव थे, जिन्हें प्रत्येक प्रकार की पूजा में प्रभु-प्रेम के दर्शन सुलभ थे। उनके विचार में विश्व के प्रत्येक धर्म का ध्येय अन्ततोगत्वा एक मात्र एक ही भगवान को प्राप्त करना था एवं जिसकी पूर्ति के लिये प्रत्येक धर्म ने विभिन्न मार्ग अपना रखे थे। अपनी धर्मपरायण वंश परम्परा के कारण ही आप वेदान्तों तथा उपनिषदों से शिक्षा एवं प्रेरणा ग्रहण करते थे। एक मुस्लिम सूफी के कहने पर आपने एक बार इस्लाम धर्म भी स्वीकार कर लिया था। वह सिख गुरुओं की प्रतिष्ठा करते थे तथा ध्यानावस्था में काली, देवी माँ तथा कृष्ण के साथ-साथ ईसा मसीह तथा बुद्ध को भी देखा करते थे। विवेकानन्द के अनुसार वह केवल वाह्य रूप से एक त्यागमूर्ति भक्त ही नही थे, परन्तु आन्तरिक रूप से वह एक पवित्र आत्मा भी थे। उनके अति मानवीय अनुभवों ने भगवान तथा मनुष्यों के देवत्व के निकट उन्हें पहुंचाया। उनके धार्मिक त्याग ने आत्म-ज्ञान के मार्ग में प्रत्येक मनुष्य की प्रतिष्ठा करना एवं मानवता के प्रति प्रेम की शिक्षा दी। मानव जाति की सेवा करते हुए उन्होंने प्राणिमात्र में प्रेम की शिक्षा दी। दुःखों में समानता की प्रतीति हुई तथा उन्होंने यह प्रार्थना की : 'हे माँ मुझे प्राणिमात्र का सेवक बना दो।' उन्होंने दया के स्थान पर सेवा की शिक्षा दी। उनके विचारों में मानव जाति की सेवा प्रभु-सेवा के समान थी। अपनी मृत्युशय्या पर भी वह अपने पास आयी अपार भीड़ को शिक्षा प्रदान करते रहे। उनके विचारों में वह केवल एक मनुष्य की सेवा के लिये बीस हजार शरीरों का त्याग कर सकते थे। एक भी मानव की सेवा करना उनके विचार में उत्कृष्ट कार्य था। ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में रामकृष्ण का कथन था, 'कि जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में तारे नहीं दिखाई देते परन्तु तारों के अस्तित्व में कोई शंका नहीं, उसी प्रकार अज्ञान के अंधकार में अदृश्य ईश्वर भी दृष्टगत नहीं हाता परन्तु उसके अस्तित्व में अनिश्चितता नहीं।' बाल्यकाल से ही उन्हें विश्वास था कि ईश्वर दर्शनीय है जिसकी प्राप्ति के लिये उन्होंने शक्ति तथा साधना में अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित

कर दिया।

इस प्रकार हिन्दू धर्म तथा मानव धर्म के इस महान आचार्य ने 50 वर्ष की आयु में 1889 में पार्थिव शरीर को त्याग दिया। स्वामी जी ने अपने जीवन की पूर्ण शक्ति मानव धर्म, मानव प्रेम तथा मानव सेवा के लिये व्यय कर दी। निःसन्देह इस महान मानव ने अपनी शिक्षा के द्वारा भारत में मानव जीवन के लिए एक नवीन मार्ग का प्रदर्शन किया।

स्वामी विवेकानन्द

परम साधक परमहंस रामकृष्ण द्वारा हिन्दुत्व एवं अपनी शिक्षाओं तथा प्रेरणाओं के अखिल विश्व स्तर पर प्रचार के प्रयोजन हेतु अन्वेषित, पूर्व तथा पश्चिम में भारतीय हिन्दूवाद एवं इसकी अनन्त सत्यता के प्रशिक्षक एवं प्रणेता के रूप में, समान रूप से प्रिय स्वामी विवेकानन्द का जन्म हिन्दू त्योहार मकर संक्रांति के पवित्र दिन सोमवार 12 जनवरी 1863 को सूर्योदय के तत्काल पश्चात् हुआ। इनकी माता भुवनेश्वरी देवी ने वीरेश्वर शिव के आशीर्वाद के रूप में आपको स्वीकार करते हुये, वीरेश्वर की संज्ञा से आपको अलंकृत किया। परिवार के अन्य सदस्यों ने आपका नामकरण 'नरेन्द्रनाथ दत्त' के रूप में किया एवं प्यार से सब आपको 'नरेन' पुकारते थे। कलकत्ता का यह दत्त परिवार अपने प्रभाव, धार्मिकता, विद्वता तथा स्वतन्त्र विचारों के लिए सर्वविदित था। कलकत्ता विश्वविद्यालय से नरेन्द्र ने स्नातक की शिक्षा ग्रहण की। आप स्वयं प्रभावशाली व्यक्तित्व, सुगठित शरीर-सौष्ठव एवं पौरूषेय तेज के स्वामी थे। नरेन्द्र ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि की सहायता से पश्चात्य दर्शन का गहन अध्ययन किया। स्पिनोज़ा, हेगल, कोंत, डार्विन तथा मिल के अध्ययन की सहायता से नरेन ने अपने मस्तिष्क को आलोचनात्मक तथा प्रयोगात्मक रूप में विकसित किया। उत्तर पश्चिम के शिक्षित मुस्लिमों से प्रगाढ़ पारिवारिक सम्बन्ध होने के कारण आप मुस्लिम संस्कृति की ओर भी आकर्षित थे। ब्रह्म समाज की शिक्षा ने भी आपको अपनी तरफ आकर्षित किया परन्तु इनके वैज्ञानिक अध्ययन ने इस वाद में आपका विश्वास भंग कर दिया। बीस वर्ष की अल्पायु में आप रामकृष्ण से परिचित हुए। यही परिचय नरेन्द्रनाथ के जीवन का एक महत्वपूर्ण मोड़ सिद्ध हुआ जिसके पश्चात् आप इस सन्त के प्रमुख शिष्य हो गये एवं आजीवन आपने विवेकानन्द के नाम से उनकी शिक्षाओं का प्रसार सम्पूर्ण विश्व में किया। अपनी प्रणेता की मृत्यु के समय विवेकानन्द की आयु केवल चौबीस वर्ष की थी। यह कहना असम्भव है कि

वास्तव में नरेन ने कब रामकृष्ण को अपने गुरु के रूप में स्वीकार किया। जहाँ तक उनका अपने प्रेरणा-स्त्रोत से आत्मिक सम्बन्ध का प्रश्न है, वह उसी समय स्थापित हो गया था जब प्रथम परिचय के अवसर पर रामकृष्ण ने नरेन को स्पर्श कर सम्मोहित कर लिया था। उन्होंने नरेन को विचारों की स्वतन्त्रता प्रदान की। शनैः शनैः उनके शिष्य ने शंकाओं से मुक्ति तथा मस्तिष्क की स्वस्थता एवं आत्मा की अमरता से स्पष्ट कर दिया। नरेन्द्र के मस्तिष्क की शुद्धता का परिचय निम्न घटना से स्पष्ट हो जाता है। एक बार रामकृष्ण ने नरेन्द्र से पूछा—"यदि तुम मेरी देवी माँ काली पर विश्वास नहीं करते हो तो मेरे पास क्यों आते हो ?"

इसका उत्तर नरेन्द्र ने दिया था—"वाह, यदि मैं आपके पास आता हूँ तो काली को क्यों स्वीकार करूँ ? मैं आपके पास इसलिए आता हूँ क्योंकि मैं आपको प्यार करता हूँ।"

विवेकानन्द के इस उत्तर से प्रसन्न रामकृष्ण के अनुसार—"यह इस युवक के मस्तिष्क की शुद्धता का परिचय था कि वे बिना किसी तथ्य के किसी सत्य को स्वीकार नहीं करते थे।"

रामकृष्ण की मृत्यु के पश्चात् स्वामी विवेकानन्द ने अपना सम्पूर्ण जीवन अपने गुरु की शिक्षाओं के प्रचार हेतु अर्पित कर देने का व्रत लिया। इसके पश्चात् उन्होंने एक अथक संन्यासी की भाँति सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। 6 वर्ष के उनके इस अनुशासित जीवन ने उन्हें वह शक्ति तथा स्थायित्व प्रदान किया जिसके कारण वह भविष्य में अपने जीवन के लक्ष्यों के प्रति क्रियाशील रूप से केन्द्रित रहे एवं सफल हुए। एक साधक की भाँति सम्पूर्ण भारत के दर्शन तथा भ्रमण से उन्हें जनसाधारण के कष्टों, दुःखों तथा अभावों का परिचय प्राप्त हुआ। उन्होंने इन्हीं दरिद्र दुःखी आत्माओं को अपना ईश्वर माना। प्रत्येक जाति, धर्म की अभावग्रस्त तथा दुःखी जनता को ही उन्होंने अपना भगवान, अपना ध्येय अथवा लक्ष्य स्वीकार किया। यह आश्चर्यजनक बात थी कि विवेकानन्द जैसे तार्किक व्यक्ति के विश्वास, वैचारिकता तथा आत्मिक असन्तुष्टि को रामकृष्ण द्वारा वेदान्त पर आधारित प्राचीन भारतीय धर्म की शिक्षाओं तथा व्यवहारों से सन्तुष्टि तथा शान्ति प्राप्त हुई। उन्होंने पाश्चात्य सिद्धान्तों द्वारा उत्पीड़ित प्राचीन भारतीय परम्परा को पुनः स्थापित किया।

उनका मस्तिष्क पूर्व तथा पश्चिम दोनों की ज्ञान-धाराओं का संगम था। उनकी आन्तरिक दृष्टि को यह स्पष्ट हो चुका था कि भारतीय उत्थान का एकमात्र मार्ग प्राच्य हिन्दू धर्म की स्थापना ही था। वह विदेशी आलो-

चकों तथा भारतीय शिष्यों के इस विचार से असहमत थे कि भारत की अवनति का कारण धर्म था। धर्म के नाम पर शोषण, ठगी तथा ढोंग को उन्होंने मुख्य रूप से दोषी ठहराया। उन्होंने स्वयं इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था कि मनुष्य के अन्दर ईश्वर की उपस्थिति का ज्ञान ही उसकी वास्तविक शक्ति है। भारतीय बुराइयों के समाधान हेतु तथा विश्व के सम्मुख भारत को प्रतिष्ठित करने के लिए ही 1893 में स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो में होनेवाले विश्वधर्म सम्मेलन में भाग लेने अमरीका की यात्रा की। उन्होंने अपने सम्बोधन द्वारा भारतीय अमरत्व तथा विस्तृत विचारधारा का परिचय दिया एवं सम्पूर्ण सभा को सम्मोहित कर लिया। उन्होंने बताया कि जिस प्रकार विभिन्न नदियाँ अपने जल को सागर में समर्पित कर देती हैं उसी प्रकार मनुष्य के सभी विभिन्न मार्ग उसे एक ईश्वर तक ले जाते हैं। न्यूयार्क टाइम्स के अनुसार निस्सन्देह विवेकानन्द उस विश्वधर्म सम्मेलन के प्रमुख व्यक्तित्व थे। उनको सुनने के पश्चात् यह ज्ञात होता था कि भारत में धर्म-प्रचारकों को प्रेषित करना कितनी बुद्धिहीनता का कार्य था।

शिकागो सम्मेलन के भाषण पर मत व्यक्त करते हुए स्वामी विवेकानन्द के प्रति सिस्टर निवेदिता का कहना था कि 'स्वामी जी ने वहाँ जब बोलना प्रारम्भ किया तो उन्होंने सर्वप्रथम हिन्दू धर्म के विचारों से अवगत कराया परन्तु भाषण की समाप्ति पर ऐसा प्रतीत हुआ मानों उन्होंने हिन्दू धर्म की सृष्टि ही कर दी हो।'

शिकागो में आयोजित इस धार्मिक विश्व सम्मेलन में व्याख्यान देते हुए स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्तिकत दार्शनिकता की व्याख्या की। उन्होंने परत्मात्मा को प्रेम का स्वरूप बतलाया। स्वामी जी ने हृदय की पवित्रता, विचारों की स्वच्छता एवं निर्भीकता तथा आत्मिक शुद्धि को ही परमात्मा का रूप माना। उन्होंने बहुदेववाद एवं एकवाद से हटकर केवल आत्मशुद्धि से परम पिता की प्रार्थना करने की प्रेरणा दी। उन्होंने कहा कि पाटलपुष्प (गुलाब) को किसी भी नाम से पुकारा जाय परन्तु उसकी भीनी सुगन्ध सदैव बनी रहेगी। उन्होंने कहा कि वृक्ष केवल अपने फल से अंकित किया जाता है और इसी प्रकार मनुष्यत्व का सर्वोच्च स्थान उसकी आत्मा है और आत्मा ही उसका आराध्य स्थल हैं। स्वामी जी ने परमपिता को सर्वव्यापक माना और अपनी आत्मिक तथा हृदय की शुद्धि पर बल दिया। भाषण करते, शिष्य बनाते एवं वेदान्त संस्थाओं की स्थापना करते हुए वह सम्पूर्ण अमरीका का भ्रमण करते रहे। उनके भाषणों का सार तत्व यह था कि 'विश्व का

कोई भी अन्य धर्म मानवता के सिद्धान्त पर हिन्दुत्व की समानता नहीं कर सकता। वहाँ से धर्मप्रचार के उद्देश्य से वह इंग्लैण्ड गये। यद्यपि स्वदेशप्रेमी होने के कारण वह विदेशी शासन की अत्यन्त भर्त्सना करते थे परन्तु मानवता के प्रेमी होने के कारण उन्होंने ब्रिटेन के निवासियों के सम्मुख किसी अपशब्द का प्रयोग नहीं किया। उन्होंने इंग्लैण्ड को वीरों तथा वास्तविक क्षत्रियों का देश कहा। ब्रिटेन के पश्चात सम्पूर्ण यूरोप महाद्वीप का भ्रमण करते हुए वह फ्रांस, स्विटजरलैण्ड तथा जर्मनी गये।

चार वर्षों के विदेश भ्रमण के पश्चात वह जनवरी 15, 1897 को कोलम्बो पहुंचे। केप कैमरिन से कलकत्ता तक की उनकी यात्रा एक अतुलनीय सफल जलूस के रूप में सम्पन्न हुई क्योंकि स्वामी जी वह प्रथम भारतीय थे जिन्होंने पश्चिम की उच्चता को ललकारा था। अपने धर्म के प्रति लज्जित होने के स्थान पर उन्होंने इसकी आध्यात्मिक महानता से विश्व को परिचित कराया तथा आलोचकों से अपने धर्म की रक्षा की थी।

तत्पश्चात उन्होंने भारत में व्याप्त कुप्रथाओं, निर्धनता तथा अन्धविश्वास को दूर करने के लिए युद्ध स्तर पर कार्य प्रारम्भ किया। 1897 में स्वामी विवेकानंद ने अपने गुरु की स्मृति में उनकी प्रेरणाओं, विचारों तथा शिक्षाओं से परिपूर्ण 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की तथा अद्भुत कार्यशीलता से इस मिशन का संगठन किया। उन्होंने कलकत्ता के पास बेलूर एवं अल्मोड़ा के निकट मायापति, दो स्थानों पर मिशन के प्रमुख केन्द्रों की स्थापना की। रामकृष्ण मिशन की सदस्यता ग्रहण करनेवाले युवकों को यहाँ धार्मिक तथा सामाजिक कार्यों के लिये संन्यासी के रूप में प्रशिक्षित किया जाता था। इस प्रकार राष्ट्र स्तर पर जनसाधारण की सेवा के लिये एक प्राचीन पद्धति पर प्रतिष्ठित संस्थान की स्थापना सम्पन्न हुई। इस मिशन के संन्यासी योग, ध्यान तथा समाधि का जीवन व्यतीत करने के साथ-साथ समाज-सेवा, लोक-सेवा, उदाहरणार्थं भूचाल, अकाल, सूखा में सहायता कार्य एवं प्लेग, कालरा, क्षयरोग आदि महामारियों के रोगियों की चिकित्सा एवं अनाथालय की देख-रेख किया करते थे। इस मिशन ने विभिन्न स्कूलों और धार्मिक केन्द्रों की स्थापना देश विदेश में की। मिशन का मुख्य कार्य रामकृष्ण के विचारों को सर्वत्र प्रसारित करना था। इस की स्थापना का मुख्य उद्देश्य पश्चिमी स्वातन्त्र्य, तथा जनतन्त्र के साथ अध्यात्मवाद का संयोग कराना था। यह सर्वधर्म एकता एवं परोपकार के लिए आज भी क्रियाशील है।

1899 में आप पुनः अमरीका तथा यूरोप के देशों के भ्रमण के लिये गये। स्थान-स्थान पर हिन्दू धर्म एवं भारत की प्रतिष्ठा पुनर्स्थापित करते

हुए 39 वर्ष की अल्पायु में शुक्रवार, जुलाई 4, 1902 को आपने अपना पार्थिव शरीर त्याग दिया।

धार्मिक भावना

स्वामी जी ने सब धर्मों को समान माना और पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष तथा वैमनस्य को समाप्त कर नितान्त सन्मार्ग पर चलने के लिये बुद्धि की प्रेरणा दी। उन्होंने विश्व को शिक्षा दी कि धार्मिकता, पवित्रता, प्रेम, सद्भावना और सहचारिता पर किसी एक धर्म, मठ, मन्दिर, गिरजाघर अथवा मस्जिद का अधिकार नहीं है। वह सर्वोच्च गुण, जो मनुष्यता के सब जीव-प्राणियों को प्राप्त हुये हैं, सब धर्मों में समान हैं। इसलिये प्रत्येक प्राणी को परमपिता परमेश्वर से प्राप्त सद्गुणों का सदुपयोग सदैव करते रहना चाहिये।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने कर्मयोग के सिद्धान्त को अनासक्ति से करने पर महत्व दिया। उनके वचनानुसार किसी भी कार्य को बिना आर्थिक तथा भौतिक स्वार्थ के सिद्ध करना चाहिये। यदि मनुष्य इस प्रकार आजीवन प्रयत्न कर सकेगा तो कर्मयोग का सर्वोच्च आदर्श प्राप्त कर लेगा। इसके अतिरिक्त उन्होंने किसी भी विश्वास को बिना विवेक और तर्क के संस्तुति देने से अस्वीकार किया। स्वामी विवेकानन्द उन समस्त धार्मिक मान्यताओं को मानते थे जिनमें पाखण्ड लेशमात्र न था और जो वेदों और उपनिषदों के आधारभूत सिद्धान्तों को अपने में समाहित किये हुए थे। स्वामी विवेकानंद ने ईश्वर की उपासना के सम्बन्ध में कहा कि कार्य के समय तुम एक, हाथ से ईश्वर का पैर पकड़े रहो और दूसरे हाथ से अपने कार्य में रत रहो। यद्यपि उन्होंने हिन्दू धर्म की सर्वश्रेष्ठता से पश्चिम का परिचय कराया एवं पाश्चात्य धर्म तथा सभ्यता से इसकी रक्षा करने को कहा तथापि उनका अर्थ यह नहीं था कि पश्चिम हर क्षेत्र में कृतघ्न है। उनके विचारानुसार कार्य करने की पद्धति और शिक्षा पश्चिम से सीखनी चाहिये। उनकी ओजस्वी वाणी तथा लेखनी ने भारतीयों की हीन भावना को दूर किया। 'विश्व धर्म परिषद्' में उनके भाषण के पश्चात अमरीकावासियों ने उन्हें 'तूफानी-हिन्दू' की संज्ञा से विभूषित किया। स्वामी विवेकानंद जो सच्चे दरिद्रनारायण थ, न एक बार कहा था कि 'भारत में प्राय: प्रत्येक नगर, नदी, पर्वत, पत्थर अथवा पशु की कल्पित मूर्ति बनाकर उसकी प्रतिष्ठा की जाती है। क्या अभी वह समय नहीं आया है कि समस्त मातृ-भूमि देवी रूप समझी जाय......पूजा देश के इन भूखे दरिद्रनारायण और परिश्रम करनेवाले विष्णु की करनी चाहिए।' उन्होंने

'मानवता धर्म की प्रेरणा दी तथा धर्म के उस स्वरूप को माना जो एक विधवा के अश्रु पोंछे और अनाथ के मुँह को रोटी देकर उनका कष्ट निवारण कर सके।

परिस्थिति वश वे धर्म की किसी भी मान्यता का त्याग करने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने हिन्दू धर्म को समग्र रूप में स्वीकार किया था तथा वेदान्त को पुन: प्रतिष्ठित किया था। स्वामी जी ने वेदान्तिक धर्म के सार-तत्व की व्याख्या करते हुए कहा कि मनुष्य में सत्य को सहन करने की शक्ति होनी चाहिए। निर्धनों की सहायता में सदैव तत्पर रहना चाहिये और पाप-पुण्य के भेदभाव से पृथक होकर स्वयं में गुण-अवगुण खोजने चाहिए। इसके अतिरिक्त मनुष्य को दुर्बलता त्याग कर साहसी बनने की प्रेरणा भी इस आचार्य ने दी। उन्होंने ईश्वर का स्वरूप स्वयं में निहित माना। इस प्रकार यदि आत्मा और हृदय ही उस परम-पिता का पूज्य है तो ईर्ष्या, द्वेष, पाप, संघर्ष, सब निर्मूल हैं क्योंकि मनुष्य को सदैव अपने भीतर स्थित ईश्वर का अवलोकन करते रहना चाहिये।

स्वामी जी ने भगवान के स्वरूप की व्याख्या करते हुये कहा कि भगवान को किसी भी रूप में मान लेना बुरा नही क्योंकि प्रभु का अन्तत: रूप वही है जिसकी शिक्षा मनुष्य के बौद्धिक गुणों में सजीवता लाती है। उन्होंने प्रभु के आकार एवं साकार रूप के भ्रम में न जाकर प्रत्येक प्राणी को धर्म, प्रेम निस्वार्थ, साहस, कर्मठता एवं बौद्धिक जागरण की शिक्षा से फलीभूत किया। स्वामी जी ने प्रत्येक प्राणी को अन्य प्राणियों से शिक्षा लेने पर बल दिया क्योंकि यह सत्य है कि प्रत्येक मनुष्य में कुछ गुण और कुछ अवगुण हैं परन्तु वह अपने में सर्वथा पूर्ण नहीं है और उस पूर्णता के गुण को ग्रहण कर लेना ही मनुष्य की आत्मिक और मानसिक उपलब्धि है।

सामाजिक विचार

यद्यपि विवेकानन्द राजनैतिक आन्दोलन के पक्ष में नहीं थे तथापि एक शक्तिसम्पन्न एवं प्रगतिशील राष्ट्र निर्माण के वह प्रबल इच्छुक थे। सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए उन्होंने धार्मिक चेतना पर बल दिया। एक स्वस्थ समाज के लिए भावनात्मक रूप से धर्म की कट्टरता का उन्होंने विरोध किया, इसीलिये उन्होंने असमानता, जाति, अस्पृश्यता, तथा साम्प्रदायिकता के विरुद्ध आवाज उठायी। उनकी दृष्टि में प्रत्येक मनुष्य एक ही ईश्वर का पुत्र है और एक ही दैविक स्वभाव रखता है। वे भारतीयों की दशा से क्षुब्ध थे और मूकदर्शी न रहकर उन्हों उनके कष्टों के निवारण में पूर्ण योगदान दिया।

उनका कहना था कि "जो निर्धन, दुःखी, सताये हुए तथा पतित हैं सब मेरे पास आएँ। रामकृष्ण के नाम से हम सब एक हैं।" भारतीयों की हीनता को देखकर धर्मान्धता, रूढ़िवादिता और मिथ्यावादिता का उन्होंने घोर विरोध किया। उन्होंने कहा——

> "आइए, हम सब पूजा पाठ के सब ढोंग, पाखण्ड, घण्टा बजाना, दीपक जलाना तथा शंख बजाना छोड़ दें····मुक्ति की प्राप्ति के लिये शास्त्रों तथा साधनाओं के अध्ययन का गर्व त्याग दें एवं दीन तथा निर्धन की सेवा में आइये हम सब एक गाँव से दूसरे गांव चले।"

स्वामी जी ने वर्ण-भेद की कटु आलोचना की। उनका विचार था कि आध्यात्मिक जीवन में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होना चाहिये। यह समाज की उन्नति में बाधक है। एक स्थान पर आलोचना करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि संकट यह है कि हमारा धर्म रसोईघर तक पहुंच रहा है। हम न तो वेदान्ती हैं, न पौराणिक अथवा तान्त्रिक ही। हम केवल छुआ-छूत पर विश्वास करने वाले हैं। हमारा धर्म है——हमें मत छुओ, हम पवित्र हैं, यदि यह एक शताब्दी तक चलता रहा तो हममें से प्रत्येक पागलखाने में होगा। अस्पृश्यता निवारण के लिये स्वामी ने यथाशक्ति प्रयत्न किया। उन्होंने समाज के निर्बल वर्ग की उपेक्षा न किये जाने की मन्त्रणा दी। उनके अनुसार——

> "हमारे देश को आवश्यकता है लोहे की पेशियों तथा फौलाद की शिराओं की एवं ऐसी प्रबल मनःशक्ति की जिसे प्रतिबन्धित न किया जा सके। उनका कहना था कि जो भी वस्तु तुम्हें शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक रूप से निर्बल बनाती है उसे विष की भाँति त्याग दो, उसमें कोई सार नहीं, वह कभी सत्य नहीं हो सकता। शुद्धता, शक्ति तथा ज्ञान ही वास्तविक सत्य है। सर्वोपरि सर्वप्रथम शक्तिशाली बनो, पुरुष बनो।"

राष्ट्रीय भावना

स्वामी विवेकानन्द ने राष्ट्रीयता के धार्मिक तथा आध्यात्मिक पक्ष का प्रतिपादन किया। उन्होंने कोई राजनैतिक सन्देश नहीं दिया तथापि उनकी शिक्षाओं ने भारतीय समाज में राष्ट्रीयता को जन्म दिया। वह उस धर्म में विश्वास करते थे जो स्वयं में विश्वास तथा राष्ट्रीय स्वाभिमान उत्पन्न कर सके। हिन्दू धर्म एवं श्रेष्ठता का जो परिचय विश्व को प्राप्त हुआ उससे हिन्दुओं में विश्वास, आत्मगौरव एवं देशप्रेम की भावना उत्पन्न हुई।

विवेकानन्द स्वन्त्रता के प्रेमी थे, उनका कहना था कि विचारों एवं कार्यों की स्वतन्त्रता ही जीवन का वास्तविक प्रतिरूप है। जहाँ पर यह नहीं है वह जाति, वह राष्ट्र अवश्य समाप्त हो जायेंगे। उन्होंने अपने सिद्धान्त को यथार्थ में प्रयोगात्मक स्वरूप प्रदान किया। नवयुवकों को प्रेरित करते हुए उन्होंने कहा—"मै सशरीर भारत हूँ, सारा भारत मेरा शरीर है; कुमारी अन्तरीप मेरा पैर तथा हिमालय मेरा सिर है। पूर्व तथा पश्चिम मेरी दोनों भुजाएँ हैं, जिनको फैलाकर, मै अपने स्वदेश बन्धुओं को गले लगता हूँ।" स्वामी विवेकानन्द ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि भावी पच्चीस वर्षों तक यही हमारा मूल मंत्र होगा कि भारत ही हमारी जननी है। उस समय तक हमारे मस्तिष्क से अन्य देवी देवताओं को हटा देना चाहिए। यह भारत माता ही एक ऐसा ईश्वरीय रूप है जो जाग रहा है, उसके हाथ और कान चारों ओर फैले हुए हैं, उसमें सभी कुछ समाहित है। उनका कहना था कि तुम्हें गर्व होना चाहिए कि तुम भारतीय हो। तुम गर्व से यह उद्घोषित करो कि मैं भारतीय हूँ, समस्त भारतीय मेरे बन्धु हैं, भारत की माटी ही मेरा स्वर्ग है, उसके कल्याण में ही मेरा कल्याण है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यद्यपि स्वामी जी ने प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रभावना का प्रचार नहीं किया परन्तु यह सर्वथा सत्य है कि उन्होंने आत्मविवेचन की शिक्षा के द्वारा एक स्वतंत्र भारत की पृष्ठभूमि तैयार करने की आधार शिला रखी।

शिक्षा

स्वामी जी का कहना था कि शिक्षा से आत्मविश्वास उत्पन्न होता है तथा आत्मविश्वास से ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है एवं मनुष्य वास्तविक ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी हो जाता है। परन्तु जो शिक्षा भारतीय युवकों को प्राप्त हो रही थी वह अनुचित तथा नकारात्मक थी। उस शिक्षा के कारण युवकों में श्रद्धा समाप्त हो रही थी—वह श्रद्धा जो वेदों तथा वेदान्तों का मुख्यांश थी। 'अज्ञाश्चाश्रद्धश्च संशयात्मा विनश्यति' अर्थात् श्रद्धा से विमुख पुरुष अपने अस्तित्व को समाप्त कर देता है। इस प्रकार भारतीय विनाश के कगार पर खड़े थे। शिक्षा का सर्वप्रथम कार्य होना चाहिए स्वज्ञान। परन्तु शिक्षा का अर्थ न तो सांसारिक वचनों को समाप्त करना होना चाहिये और न इसका ध्येय केवल भौतिक सुख को प्राप्त करना ही होना चाहिए। इसका ध्येय स्वतन्त्र विचारधारा, विवेक तथा इच्छाओं को वश में करने के लिए होना चाहिए। इसके अतिरिक्त इसका प्रचार

जनसाधारण में बिना किसी भेदभाव के होना चाहिए। इसके लिए उपर्युक्त प्रकार से शिक्षित पुरुषों को, शिक्षकों को सारे भारत का भ्रमण कर शिक्षा का प्रसार करना चाहिए। प्रत्येक महाप्रान्त (प्रेसीडेन्सी) में शिक्षा केन्द्रों की स्थापना करके तथा निर्धनों को मौखिक शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। कृषि, व्यवसाय तथा कला के लिए विभिन्न संस्थाओं की स्थापना की आवश्यकता थी तथा उनके उत्पादनों को विदेशों में प्रचारित एवं प्रचलित करने के लिए भी सस्थाओं की आवश्यकता थी। पुरुषों की ही भाँति स्त्रियों की शिक्षा पर भी स्वामी जी ने बल दिया। इसके लिए जिस धन की आवश्यकता थी वह पश्चिम से प्राप्त करने के लिए अपने धर्म को योरोप तथा अमरीका में प्रचलित करने की प्रेरणा स्वामी जी ने दी। विज्ञान तथा आधुनिक कलाओं का ज्ञान भी उपार्जित करने की शिक्षा स्वामी जी द्वारा दी गई। इस सबके लिए दिन-रात परिश्रम करने का परामर्श देते हुए स्वामी जी ने जापान का उदाहरण दिया। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने प्रयोजनात्मक शिक्षा पर बल प्रदान करते हुए भारतीयों में उत्थान की चेतना उत्पन्न की।

अमरीका के समाचारपत्रों में

केन्द्रीय बैप्टिस्ट चर्च के डा० एफ० ए० गार्डनर तथा एस० एफ० नाब्स द्वारा जनता तथा धर्म के सम्बन्ध में पूछे गए प्रशन के उत्तर में स्वामी जी ने कहा था कि मिशनरियों के सिद्धान्त तथा विचार अति उत्तम थे, परन्तु उन्होंने जनता के औद्योगिक विकास के लिए कुछ नहीं किया था, उन्हें धर्म के प्रचार के लिए मिशनरी भेजने के स्थान पर औद्योगिक शिक्षा के लिए उन्हें प्रेषित करना चाहिए था।

स्वामी जी के सम्बन्ध में एक अन्य समाचारपत्र ने लिखा कि वह अन्य धर्मों के प्रति अत्यन्त उदार थे तथा अपने विरोधियों के लिए भी उनके पास केवल उदार वचन ही थे।

एक स्थान पर उन्होंने कहा था कि तत्कालीन भारत को पचास वर्ष पूर्व के धर्म के प्रचार की नहीं अपितु सामाजिकता तथा व्यावसायिक विकास के लिए मिशनरियों द्वारा शिक्षित करने की आवश्यकता थी। शिकागो में 23 सितम्बर को विवेकानन्द ने एक उक्ति के उत्तर में कहा था कि :

"मैं शादी क्या करूँ जब मुझे प्रत्येक स्त्री में देवी माँ के दर्शन होते हैं। मैं पुनः जन्म प्राप्त करना नहीं चाहता। अपनी मृत्यु के साथ ही देवत्व में मैं विलीन हो जाना चाहता हूँ—मैं एक बुद्ध बन जाऊँगा।"

इसका अर्थ यह नहीं कि स्वामी जी बुद्धवादी थे। कोई नाम-संज्ञा

स्थान में 1786 में उत्पन्न हुए। उन्होंने सर्वप्रथम दस्यु जीवन अपनाया परन्तु 1816 में देहली के शाह अब्दुल अजीज से उन्होंने शिक्षा ग्रहण की। 1820 में उन्होंने दक्षिण की ओर प्रस्थान कर वहाँ पर आध्यात्मिक शिक्षा का प्रचार किया और पटना में अपना एक केन्द्र स्थापित किया। कलकत्ता में वे सर सैय्यद के अनुयायी बन गये। 1822 में वे हज करने मक्का गये तथा भारत लौटने पर इस्लाम में सुधार और विशुद्ध आदर्शों की स्थापना के लिए वहाबी आन्दोलन की आधारशिला रखी। उन्होंने अपने शिष्यों एवं अनुयाइयों की सहायता से पूर्ण देश की मुस्लिम जनता में द्रुत गति से एक नवीन चेतना का संचार आरम्भ कर दिया। हंटर ने इसकी तीव्र गति देखते हुए इसे भारतीय इतिहास के एक प्रभावशाली धार्मिक पुनर्जागरण की संज्ञा दी। सैय्यद बरेलवी ने संत पूजा का विरोध किया और ईश्वर की एकता पर बल देकर प्रत्येक मुसलमान को इस्लाम की व्याख्या करने का अधिकार दिया। इनका उद्देश्य भारत में पुनः इस्लामी राज्य की स्थापना था। वे भारत को दारुल-इस्लाम (शान्ति का क्षेत्र) न मानकर दारुल हर्ब (युद्ध का क्षेत्र) मानते थे। 1824 में उन्होंने भारत में गैर मुसलमानों के विरुद्ध धर्मयुद्ध की घोषणा कर दी तथा पाश्चात्य शिक्षा एवं संस्थाओं का विरोध किया। राजनीति में वे साम्यवाद के पुजारी थे तथा प्रगतिशीलता की बातों में विश्वास रखते थे। 1830 में उन्होंने स्वयं को खलीफा (धर्मप्रमुख) घोषित कर दिया और 1831 में इनकी हत्या कर दी गई।

शेख करामत अली

शेख करामत अली जौनपुर के रहने वाले थे और उन्होंने मुसलमानों का शासन के विरुद्ध विद्रोह करने के सिद्धान्त को मान्यता नहीं दी क्योंकि मुसलमान विधि के अनुसार राज्य के विरुद्ध विद्रोह मान्य नहीं था। शेख करामत अली और सैय्यद अहमद बरेलवी के विचारों में घोर असमानता और अन्तर था। करामत अली का आन्दोलन विशुद्ध धार्मिक एवं शान्तिपूर्ण था। इस आन्दोलन ने भारतीय मुसलमानों के लिये पाश्चात्य शिक्षा पर बल दिया और मुसलमान वर्ग पाश्चात्य विचारों से प्रभावित हुए विना न रह सका।

सर सैय्यद अहमद खाँ

उपर्युक्त धार्मिक आन्दोलनों से अधिक महत्वपूर्ण तथा क्रियाशील आन्दोलन सर सैय्यद अहमद खाँ नेतृत्व में प्रारम्भ हुआ। सर सैय्यद अहमद

का जन्म देहली में 17 अक्टूबर, 1817 को हुआ। उन्होंने अपना जीवनोपार्जन ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्मचारी के रूप में आरम्भ किया। वे अपनी सरकारी नौकरी के मध्य आगरा (1839–41), मैनपुरी (1841–42), फतेहपुर सीकरी (1842–46), देहली (1846–54) और बिजनौर (1854–58) में रहे।

अलीगढ़ आन्दोलन

अलीगढ़ आन्दोलन के रूप में सर सैय्यद अहमद खाँ ने सामाजिक, शैक्षिक, धार्मिक एवं राजनीतिक आन्दोलन का सूत्रपात किया। सैय्यद अहमद का अलीगढ़ आन्दोलन मुस्लिम वर्ग को पाश्चात्य शिक्षा से परिचित कराने का अभियान था क्योंकि उनका विचार था कि मुसलमानों को आधुनिक शिक्षा से अवगत कराये बिना उनका उत्थान असंभव था। अलीगढ़ विद्यालय का मुख्य ध्येय मुसलमानों को हिन्दुओं की भांति पश्चिमी शिक्षा से सज्जित करना था। अलीगढ़ आन्दोलन ने निम्नलिखित कार्य किये :—

(1) इस आन्दोलन ने मुसलमानों को पश्चिमी शिक्षा से सहमत किया।
(2) इसने मुस्लिम वर्ग को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध विद्रोह न करने का मार्ग निर्देशित किया एवं आंग्ल-मुस्लिम सहयोग पर बल दिया।
(3) इसने ब्रिटिश शासन को पूर्ण मान्यता दी एवं शासन को सशक्त एवं सबल बनाने में सहयोग दिया।
(4) इसने मुसलमानों को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में सम्मिलित होने के लिए निरुत्साहित किया।
(5) इसने मुसलमानों में पृथक् साम्प्रदायिकता का बीजारोपण किया।

शैक्षिक

सर सैय्यद अहमद का मुख्य उद्देश्य अपने समुदाय की शिक्षा में जागृति एवं नवीन चेतना उत्पन्न करना था। सैय्यद अहमद मुस्लिम समुदाय को योरोपीय साहित्य, विज्ञान तथा आधुनिक औद्योगीकरण से परिचित कराने के इच्छुक थे। इसके अतिरिक्त वे कृषि, विज्ञान एवं राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था के नवीनीकरण के भी इच्छुक थे। वे किसी भी प्रकार का सुधार लाने हेतु शिक्षा को अनिवार्य समझते थे। अतः शिक्षा के प्रसार के क्षेत्र में उन्होंने अकथनीय प्रयास किये जो अत्यन्त सराहनीय हैं। 1864 में उन्होंने एक वैज्ञानिक संस्था की स्थापना की जिसका उद्देश्य भारतीय मुसलमानों में पश्चिमी विज्ञान का प्रचार करना था। अपने प्रयत्नों को साकार रूप देने हेतु

उन्होंने 'मोहम्मडन ऐंग्लो ओरिएंटल कॉलेज' की स्थापना अलीगढ़ में की। इसका शिलान्यास 8 जनवरी 1877 को लार्ड लिटन ने किया। 1920 में यही कॉलेज 'अलीगढ़ विश्वविद्यालय' के नाम से विख्यात हुआ। इस विद्यालय के अपने अभिभाषण में सर सैय्यद अहमद ने कहा कि इस विद्यालय का ध्येय पूर्वी और पश्चिमी शिक्षा का गठबन्धन करना तथा मुसलमान समुदाय को अंग्रेजी सरकार की अच्छी प्रजा बनाने का है। सर सैय्यद अहमद ने अलीगढ़ की इस्लामी संस्था को आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज की संज्ञा देने का प्रयत्न किया। परन्तु उन्होंने इस दृष्टिकोण को ध्यान में नहीं रखा कि कोई भी विश्वविद्यालय साम्प्रदायिक जागरूकता तथा बौद्धिक निर्णयों का महत्त्वपूर्ण संवेदनशील बिन्दु होता है, जिसके किंचित परिवर्तन से असीम फल, प्रतिफल प्राप्त हो सकता है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि किसी एक संस्था ने किसी एक समुदाय के लिए उच्चतम शिक्षा तथा संस्कृति में इतना प्रचुर योगदान नहीं दिया जितना इस संस्था ने एकाकी रूप में मुसलमान समुदाय के लिए दिया।

राजनीतिक

सर सैय्यद अहमद इस तथ्य से पूर्णतया अभिज्ञ थे कि कोई भी राष्ट्र अथवा जाति सम्मानित नहीं समझी जा सकती जब तक वह अपने शासकों से समानता का अधिकार नहीं प्राप्त कर लेती और यह तभी संभव था जबकि देशवासियों को उच्च पदों पर आसीन किया जाय। इस तथ्य की प्राप्ति के लिए शासन के साथ सहयोग आवश्यक था तथा उनकी शिक्षा एवं संस्कृति को ग्रहण करना अनिवार्य था। सर सैय्यद अहमद पर अलीगढ़ कालेज के प्रधानचार्य 'थियोडॉर बैक' का पूर्ण प्रभाव था, अत: वे इस प्रभाव के कारण अंग्रेज शासन के समर्थक बने रहे। 1857 के विद्रोह के कारणों की व्याख्या करते हुए सर सैय्यद अहमद ने कहा कि सरकार के प्रति मिथ्या बोध, सरकार के नियमों और अधिनियमों में अनियमितता, सरकार की जनता की स्थिति के प्रति उपेक्षा एवं सेना का अकुशल नेतृत्व ही विद्रोह के मुख्य कारण थे। अपने राजनीतिक जीवन के प्रथमचरण में सर सैय्यद अहमद हिन्दू मुस्लिम एकता के पक्षपाती थे। उनका कहना था कि हिन्दू-मुस्लिम भारत के दो नेत्रों के समान हैं और यदि एक को कष्ट पहुँचेगा तो दूसरे को अवश्य ही कष्ट होगा। उनका विचार था कि हिन्दू-मुस्लिम एकता अनिवार्य है अन्यथा राष्ट्र का पतन अवश्यम्भावी है। परन्तु अलीगढ़ विद्यालय के प्रधानाध्यापक के प्रभाव मे रह कर सैय्यद अहमद खाँ हिन्दू-मुस्लिम एकता से अधिक ब्रिटिश

सरकार के पक्षपाती हो गये थे। सर सैय्यद अहमद खाँ के कांग्रेस विरोध के विषय में दो प्रचलित मत हैं :—एक मत यह है कि सर सैय्यद अहमद पर प्रधानाचार्य थियोडोर वैक का अत्यधिक प्रभाव था तथा दूसरे मत के अनुसार ब्रिटिश सरकार से अनुमोदन, अनुग्रह तथा समर्थन प्राप्त कर सर अहमद अंग्रेजी सरकार के पक्षपाती हो गये थे। परन्तु यह भी सत्य है कि सर सैयद का सर्वप्रथम ध्येय मुसलमान वर्ग के उत्थान में ही निहित था और इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु वे अंग्रेजों के समर्थक बने रहे।

एजुकेशनल कांग्रेस

1886 में सर सैय्यद अहमद ने एक एजुकेशनल कांग्रेस की स्थापना की। यह संस्था भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की समानान्तर संस्था के रूप में स्थापित की गई थी जिसका मुख्य ध्येय यह था कि राजनीति ही नहीं अपितु शिक्षा भी मुसलमानों के उत्थान के लिए आवश्यक थी। इसका एक अन्य उद्देश्य 'अलीगढ़ आन्दोलन' के प्रभाव को पूरे भारत में प्रसारित करना भी था। इस संस्था ने मुसलमानों के लिए पश्चिमी शिक्षा के द्वार खोल दिये और मुस्लिम समुदाय को शिक्षा के क्षेत्र में मूल रूप से परिवर्तन करने के लिये प्रोत्साहित किया।

यूनाइटेड इंडिया पेट्रिऑटिक एसोसियेशन

सर सैय्यद अहमद ने लखनऊ में 28 दिसम्बर, 1887 एवं मेरठ में 16 मार्च, 1888 के अपने ऐतिहासिक भाषणों में कहा कि यदि अंग्रेज भारत छोड़ कर चले जायँ तो राज्य किसको मिलेगा—हिन्दू को अथवा मुसलमान को ? उनके अनुसार दोनों को समान अधिकार प्रदान करके शासन का स्वप्न नितान्त असंभव और अचिन्तनीय था। उन्होंने मुसलमानों की दशा पर दृष्टिपात करते हुए यह व्याख्या बनाई कि शैक्षिक एवं आर्थिक रूप से पिछड़ा मुसलमान प्रजातांत्रिक संविधान में पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पायेगा क्योंकि जब तक मुसलमानों को पृथक् चुनाव सुविधाएँ प्रदान नहीं की जाएँगी तब तक मुस्लिम वर्ग आत्मनिर्भर एवं आत्म-सम्मानित नहीं हो सकता। सर हैनरी काटन ने सर सैय्यद अहमद को राजनैतिक अवसरवादी की संज्ञा प्रदान की एवं अपना विचार प्रकट करते हुए कहा कि सैय्यद अहमद की माँगें जातियों के मध्य संघर्षात्मक रूप ले सकती थीं।

उपर्युक्त उद्देश्यों को लेकर सर सैय्यद अहमद ने 1888 में 'यूनाइटेड इंडिया पेट्रिऑटिक एसोसियेशन' की स्थापना की। इस संस्था में हिन्दू एवं

मुसलमान दोनों ही बराबर के सदस्य थे। इस संस्था का महत्वपूर्ण कार्य यह था कि प्रथम बार उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों के मुसलमानों को इस संस्था का सदस्य बनाया गया। इस संस्था के मुख्य ध्येय निम्नलिखित थे—

(1) ब्रिटिश संसद एवं सरकार को इस बात से अवगत करना कि एक महत्वपूर्ण वर्ग के लोग कांग्रेस के समर्थन में नहीं थे।

(2) हिन्दू-मुस्लिम जो कांग्रेस के विरुद्ध थे उन्हें ब्रिटिश सरकार के साथ सहमत करना तथा कांग्रेस की नीतियों का विरोध करना।

इस संस्था की एक शाखा लन्दन में खोली गई परन्तु यह शाखा अधिक दिनों तक न चल सकी।

मोहम्मडन ऐंग्लो ओरियेन्टल डिफेन्स एसोसियेशन (1893)

इस तथ्य में किंचित् संशय नहीं कि भारत में मुसलमानों के पुनर्जागरण के प्रथम द्रष्टा सर सैय्यद अहमद थे जिन्होंने मुस्लिम वर्ग को नवचेतना, शिक्षा तथा प्रगति का पाठ दिया। परन्तु सर सैय्यद अहमद ने स्वार्थपरक भावना के अधीन हो एवं थियोडोर बैंक से प्रभावित होकर राष्ट्रीय पृथकता की भी शिक्षा दी। इन उपर्युक्त विचारों से प्रेरित होकर उन्होंने 1893 में मोहम्मडन ऐंग्लो ओरिएन्टल डिफेन्स ऐमोसियेशन की स्थापना की जिसमें प्रधानाध्यापक थियोडोर बैंक का महत्त्वपूर्ण योगदान था। इस संस्था के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे—

(1) मुसलमानों के विचारों को अंग्रेजों के समक्ष प्रस्तुत करना।

(2) मुसलमानों में उत्पन्न राजनीतिक अशांति का विमोचन करना।

(3) अंग्रेजी सरकार को सशक्त बनाना।

इसके साथ ही इस संस्था ने राजनीतिक आन्दोलन के प्रति मुसलमानों को हतोत्साहित कर उन्हें कांग्रेस की नीतियों का विरोध करने की प्रेरणा दी।

सामाजिक

सर सैय्यद अहमद खां मुस्लिम समाज की उन्नति में विश्वास रखते थे और उनकी धारणा थी कि मुसलमानों का उत्थान केवल पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता के द्वारा ही सम्भव था। उन्होंने मुस्लिम समाज को अंग्रेजी शिक्षा की ओर आकर्षित कर, मुस्लिम समाज के रीति-रिवाज में परिवर्तन तथा रूढ़िवादी अन्धविश्वास को समाप्त करने की चेष्टा की। उन्होंने 'पर्दा प्रथा' का विरोध किया एवं 'स्त्री-शिक्षा' का समर्थन किया। यद्यपि सर सैय्यद

अहमद ने पृथकता को सदैव मन्यता दी परन्तु सर सैय्यद अहमद ने मुसलमानों को गहन निद्रा से मुक्त कर उन्हें नवीन शैक्षिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रेरणा से अभिभूत किया ।

धार्मिक

सर सैय्यद अहमद खाँ समाज-सुधार के साथ साथ धर्म-सुधार के भी पक्षपाती थे । वे इस्लाम को तर्कसंगत एवं बुद्धियुक्त धर्म बनाना चाहते थे । उनका कहना था कि धर्म अगम्य नहीं है, उसमें समय के साथ-साथ बौद्धिक व्याख्या की जानी चाहिए । इस प्रकार उन्होंने धर्म को लोगों के समक्ष बुद्धि-संगत बनाने का प्रयास किया । सर सैय्यद अहमद ने शिक्षा एवं सामाजिक आधुनिकता की ओर विशेष ध्यान दिया परन्तु धर्म का वैज्ञानिक पाठ्यक्रम कभी नहीं निर्मित किया जिसके फलस्वरूप अलीगढ़ के अंग्रेजी विद्याप्राप्त छात्रों को किंकर्तव्यविमूढ़ता का आभास होने लगा ।

निःसंदेह सर सैय्यद अहमद के कार्यों ने मुस्लिम वर्ग को नवजीवन के संदेश से परिचित किया परन्तु थियोडोर बैंक के प्रभाव में आने के कारण उन्होंने जातिभेद का प्रतिपादन किया । वे एक उदारवादी, सुधारवादी तथा देश-भक्त एवं राष्ट्रवादी थे जिन्होंने भारतीय लोगों के उत्थान हेतु अमित परिश्रम किया । जवाहरलाल नेहरू ने अपनी जीवनी में लिखा है कि सर सैय्यद अहमद का संदेश अपने देश और मुस्लिम वर्ग के प्रति उचित और आवश्यक था ।

इस प्रकार सर सैय्यद अहमद खाँ अंग्रेजों से प्रभावित होकर मुस्लिम लोगों के लिये राजनीति के क्षेत्र में एक पृथक् स्थान निर्मित करने की चेष्टा में संलग्न हो गये थे । 1898 में उनका देहान्त हो जाने के पश्चात भी मुस्लिम लोग उनके द्वारा निर्देशित मार्ग पर अग्रसर होते रहे । सन 1906 में हिज हाइनेस आगा खाँ के नेतृत्व में एक मुसलमान शिष्टमंडल ने महाराज्यपाल (वायसराय) लार्ड मिन्टो से भेंट की एवं मुसलमानों के लिए पृथक राज-नीतिक प्रतिनिधित्व एवं चुनाव पद्धति में सुधार की माँग प्रस्तुत की । वायसराय लार्ड मिन्टो तथा ब्रिटिश सचिव लार्ड मॉर्ले ने मुसलमानों को आश्वासन दिया कि हम मुसलमानों के राजनैतिक अधिकारों की सुरक्षा का पूर्ण प्रबन्ध करेगें । लार्ड मिन्टो के आश्वासन को इस्लामिक अधिकारों का अधिकार पत्र कहा जा सकता है । सन् 1908 में ढाका के नवाब सलीमुल्ला के प्रयास से मुस्लिम लीग की स्थापना हो गयी और 1909 में मार्ले-

मिन्टो सुधारों ने मुस्लिम सम्प्रदाय को राजनीतिक स्थिरता प्रदान की। अत: मुसलमानों ने शैक्षिक जागरण के युग की रेखा को लाँघ कर नवीन राजनैतिक युग में मुस्लिम लीग के द्वारा अपने हितों को अंग्रेजी सरकार से मान्यता प्राप्त करने का संघर्ष आरम्भ किया।

पुनर्जागरण के आचार्य

1. Tagore, Sumendra Nath : Raja Ram Mohan Roy, New Delhi, 1966
2. Sikri, S. L. : Rise and Fulfilment of Indian National Movement, Jullandhar, 1971.
3. Biswas, D. K. and Ganguli, P. C. : The Life and Letters of Raja Ram Mohan Roy, Calcutta, 1962.
4. Ingham, K. : Reformers in India, Cambridge University Press. 1956.
5. Ghose, Aurobindo : Articles in the Arya, 1918.
6. Chakravarti, S. C. (ed). : Commemoration volume of the Rammohan Roy centenary celebrations Calcutta 1935.
7. Majumdar, R. C. : On Ram Mohan Roy. Calcutta, 1972.
8. Joshi, V. C. (ed). : Ram Mohan Roy, Vikas. 1975.

9. Sahai, Yaduvansh : Maharshi Dayanand Allahabad 1971.

10. Sant Ram, : Dayanand, Allahabad, 1930.

11. Vidlyaankar,Satyadev : Rashtravadi Dayanand, New Delhi, 1946.

12. Ghosh, A. : Bankim, Tilak, Dayanand Calcutta, 1940

13. Ramsay, R : Dayanand, London, 1976.

14. Sharda, Hari Bilas : Dayanand Saraswati, 1940.

15. Dayanand, Swami : Satyararhtprakash, Delhi, 1960.

16. Romain, Rolland : The life of Ram Krishna Tr. by Dr. Malcolm Smith, Advaita Ashrama, Almora, 1947.

17. Rama Krishna, Sri : Teachings, Advaita Ashrama Calcutta, 1967.

18. The first discipes of Sri Ram Krishna : The Message of our master, Advaita Ashrama, Calcutta, 1967.

19. The complete works of Swami Vivekanand 8 volumes. : Advaita Ashrama, Calcutta, 1964.

20, Burke, Marie Louise : Swami Vivekanand in America; New discoveries Advaita Ashrama, Calcutta, 1966.

21. Nikhilanand, Swami. : Vivekanand–a biography, Advaita Ashrama, calcutta, 1971.

22. Farquhar, J. N. : Modern Religious Movements in India, London, 1929.

23. Varma, V. P. : 'Dayanand and Indian nationalism', A paper presented in the Indian History Congress, Patna, 1946.

24. Seal, B. N. : An article in Prabuddha Bharat, 1907.

25. Sen, Sachin : The Birth of Partition, Calcutta, 1955.

26. Hamid, Abdul : Muslim Separatism in India Lahore, 1971.

27. Graham, G. F. : Life and works of Sir Syed Ahmed Khan, London, 1909.

28. Pandey, B. N : The Break-up of British India, London, 1969.

29. Ahmad, Aziz : Islamic modernism in India and pakistan, London, 1967.

30. Mehta andPatwardhan : The communal Taiangle in India, Allahabad, 1942.

31. Ram gopal : Indian Muslims; A Political History, Bombay, 1959.

32. Cotton, Sir Henry : New India, London, 1907.

33. Nehru, Jawahar Lal : An Autobiography London, 1939.

34. Jain, M. S. : The Aligarh Movement : its origin and Development, Agra, 1965.

अध्याय 21

राष्ट्रीय आन्दोलन

प्रेरक कारण

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का उन्नयन एवं विकास स्वयं में भारत के आधुनिक इतिहास का एक आकर्षक तथा महत्वपूर्ण अध्याय है। यद्यपि राष्ट्रीय आन्दोलन मुख्य रूप से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वारा सृजित हुआ किन्तु इससे पूर्व राष्ट्रीय भावना के ध्वनपथ को निर्मित करने में अनेक तथ्यों के सम्मिश्रण का इतिहास जानना आवश्यक है। उन मुख्य तथ्यों का उल्लेख जिनके द्वारा भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का उद्भव एवं विकास हुआ निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है :–

1. पाश्चात्य शिक्षा :–पाश्चात्य शिक्षा के उद्भव में भारतीयों की मानसिक प्रगति ने एक नये युग का सूत्रपात किया। नई शिक्षा ने लोगों के मानसपटल व दृष्टिकोण में परिवर्तन किया। पश्चिमी साहित्य दर्शन एवं इतिहास ने युवा विद्यार्थियों के समकक्ष नवीन विचारों का संसार खोल दिया। पाश्चात्य शिक्षा ने विश्व में घटित घटनाओं के द्वारा भारतीय जन मानस पर व्यापक प्रभाव प्रतिपदित किया। इनमें मुख्य इतिहासिक घटनायें अमरीका का स्वतंत्रता संग्राम, फ्रांसीसी क्रान्ति, यूनान के स्वाधीनता संग्राम इत्यादि ने नव चेतना तथा नव विचार धारा का मार्ग प्रदर्शित किया। पश्चिमी शिक्षा ने लॉक, स्पेन्सर, मिल, मैकाले तथा एडमन्ड बर्क के विचारों से भारतीय लोगों को लाभान्वित किया। इन पश्चिमी विचारकों की समानता, क्रान्तिवाद तथा स्वाधीनता के उद्घोष ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की विचारधारा एवं कार्य पद्धति को यथार्थ रूप से प्रभावित किया।

2. धार्मिक जागरण :–नवीन शिक्षा के आधार पर जहाँ भारतीयों की परम्परा वादी एवं रूढ़िवादी मान्यताओं एवं परम्पराओं को शिक्षा के द्वारा सींचा गया, वहीं ज्ञान के साथ साथ भारतीय समाज में अपनी पुरातन धर्म एवं संस्कृति के प्रति एक अनुराग उत्पन्न हुआ। जिसके फलस्वरूप ब्रह्म

समाज, आर्य समाज, राम कृष्ण मिशन जैसे अनेक धार्मिक आन्दोलन हुये। इन आन्दोलनों ने अपने देश धर्म, समाज, संस्कृति एवं सभ्यता को पुर्नजीवित करने का सतत प्रयत्न किया देश वासियों ने अपनी प्रतिष्ठिता संस्कृति के आधार पर एवं आधुनिक शिक्षा से प्रेरणा प्राप्त कर अपने राजनैतिक राष्ट्र-वाद की सृजनात्मक रचना की। राजा राम मोहन राय, स्वामी दयानन्द रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि आचार्यों ने अपनी शिक्षा के द्वारा भारतीयों के सामाजिक, धार्मिक एवं साँस्कृतिक विचारधारा को नवीन मार्ग और शिक्षा दी तथा अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रवादी विचारों को भी प्रोत्साहन दिया। इसके अतिरिक्त ब्रह्म विद्यावादी (थियोसाफी) कर्नल ऑलकाट तथा श्रीमती एनी बेसेन्ट का योगदान भी धार्मिक कुरीतियों का हनन करने में सराहनीय है।

उपरोक्त धार्मिक एवं शैक्षिक जागरण के साथ-साथ भारत में मुस्लिम जागरण का आरम्भ एक महत्वपूर्ण घटना है। यद्यपि मुस्लिम समुदाय में धार्मिक आन्दोलन का आरम्भ अरब के वहाबी आन्दोलन के द्वारा प्रभावित धार्मिक नेताओं द्वारा हुआ परन्तु इसका मुख्य श्रेय सर सैय्यद अहमद खाँ को है, जिन्होंने मुस्लिम समुदाय को सामाजिक, शैक्षिक, धार्मिक एवं राजनैतिक शिक्षा प्रदान की।

3. **ऐतिहासिक गवेषणा** :–धार्मिक एवं सामाजिक सुधारकों तथा आचार्यों को ऐतिहासिक गवेषणाओं एवं शोध कार्यो के द्वारा बहुमूल्य समर्थन प्राप्त हुआ। भारतीय एवं पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय संस्कृति का पुनः अन्वेषण कर जन साधारण को पुरातन तथ्यों से अवगत कराया। मक्समूलर, सर विलियम जोन्स, जेकोब्री, कोलब्रुक तथा राथ इत्यादि विद्वानों ने भारतीय संस्कृति एवं आध्यात्मिकवाद को पुनः स्पष्ट किया। भारतीय शोधकों रानाडे, हर प्रसाद शास्त्री, आर० जी० भंडारकर, राजेन्द्र लाल मित्रा इत्यादि ने भारतीय सभ्यता की गौरव गरिमा को देशवासियों के सम्मुख प्रस्तुत किया।

4. **आर्थिक** :–किसी भी देश के शासन की सुदृढ़ता, सबलता एवं सम्पन्नता उस देश की आर्थिक स्थिति पर निर्भर है। इसमें किंचित संदेह नहीं कि प्रत्येक राष्ट्र की राजनैतिक, सामाजिक, साँस्कृतिक एवं शैक्षिक नीति की जीवन रेखा उस राष्ट्र की आर्थिक सम्पन्नता पर निहित है। भारत में अँग्रेजी साम्राज्यवाद ने अपनी स्वार्थ लिप्सा के कारण भारतीय आर्थिक स्थिति का हनन किया। आर्थिक स्थिति के अस्त-व्यस्त होने के कारण भारतीय उद्योग एवं व्यापार की स्थिति गम्भीर हो गई तथा जनसाधारण

को आर्थिक शोषित नीति से पीड़ित साम्राज्य के प्रति किंचित आस्था नहीं रह गई। इसके अतिरिक्त कुछ ही वर्षों में कई बार अकाल पड़ जाने के कारण लोगों में विदेशी साम्राज्य के प्रति वितृष्णा उत्पन्न हो गई। निःसंदेह अँग्रेजी साम्राज्यवाद के आर्थिक शोषण की नीति ने स्थानीय लोगों में राष्ट्रीयता की भावना को एक नवीन मनोबल प्रदान करने में असीम सहायता प्रदान की।

5. **विदेशी आन्दोलनों का प्रभाव** :–विश्व के अन्यान्य क्षेत्रों की क्रान्ति एवं आन्दोलनों का प्रभाव तत्काल एवं शनैः शनैः सदैव निकट एवं सुदूर क्षेत्रों पर पड़ता रहा। यद्यपि 1776 का अमरीकी राष्ट्रीय संग्राम, 1789 की फ्रांस की क्रान्ति ने विचार परिवर्तन में सहायता दी किन्तु 1830, 1848 की योरोपीय क्रान्तियों ने एवं 1904 के रूस-जापान युद्ध ने सम्पूर्ण एशिया को सुप्त अवस्था से जागृत कर एशियाई लोगों में एक नवीन उत्साह, विश्वास एवं आत्मबल को जन्म दिया। रूस जापान युद्ध ने एशियाई जनता को इस तथ्य से अवगत कराया कि संगठन एवं स्वदेशीय एकता के द्वारा किसी भी विदेशी शासन का सामना किया जा सकता है। इसमें कोई संशय नहीं कि रूस-जापान युद्ध ने राष्ट्रीय नेताओं को एक नवीन चेतना एवं आत्मशक्ति से प्रोत्साहित किया।

इसके अतिरिक्त रूस और चीन में घटित घटनाओं ने भी राष्ट्रवादियों एवं जनता को अपने देश के प्रति कर्तव्यों से सजग किया। डा० सुनयात सेन के क्रान्तिकारी कार्यों एवं उनकी विचारधारा ने स्वाधीनता के प्रति सजग राष्ट्रों को नवीन संदेश दिया। 1911 में हुई चीन की क्रान्ति ने सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक शोषण के विरुद्ध क्रान्ति का वातावरण प्रदान किया। इसी प्रकार 1905, 1917 की रूसी क्रान्तियों ने देश के प्रति सजगता तथा विदेशी शासन के विरुद्ध क्रान्ति के मार्ग को प्रशस्त किया। इन समस्त उपर्युक्त घटनाओं ने राष्ट्रीय आन्दोलनों को नवीन चेतना प्रदान कर आंदोलन कार्यों में देश के प्रति नवीन विचारधारा का संचार किया।

6. **साहित्यिक एवं राजनैतिक प्रभाव** :–एशियाई राष्ट्रवाद की भावना को पश्चिमी साहित्य एवं राजनैतिक आन्दोलनों ने सक्रिय रूप से योगदान प्रदत्त किया। राष्ट्रवादियों ने जान स्टुवर्ड, टॉमसपेन एवं मिल के साहित्य का अध्ययन किया तो उन्हें स्वाधीनता एवं स्वतंत्रता के मूल्यों का ज्ञान हुआ। इसके अतिरिक्त रूसो, मॉन्तेस्क्यू, वाल्तेयर, लियो टालस्टाय, विक्टर ह्यूगो, अनातोले फ्रांस, गेटे, रस्किन, डेविड थोरो तथा कार्ल मार्क्स ने राष्ट्रवादियों को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से समय-समय पर प्रभावित किया।

समय-समय पर हुए ब्रिटेन के संवैधानिक आन्दोलनों तथा इटली, जर्मनी, रूमानिया तथा सर्विया में घटित घटनाओं भी ने भारतीय राष्ट्रवाद को प्रभावित किया। इस प्रकार उपर्युक्त साहित्यकारों एवं विचारकों ने स्थानीय लोगों में देश प्रेम की भावना को और अधिक उद्बुद्ध किया एवं राजनैतिक घटनाओं ने राष्ट्रवादियों को सुप्त अवस्था से जागृत कर अज्ञान के तिमिर का नाश किया।

मुद्रण :—भारत में शिक्षा के वातावरण के द्वारा समाचारपत्रों के मुद्रण में विकास हुआ तथा समाचार पत्र प्रकाशन ने स्वदेशी लोगों को नवीन युगबोध प्रदान किया। उन्नीसवीं शताब्दी से ही समाचार पत्र एवं पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ हो गया था। 19वीं शताब्दी के अन्त तक तथा 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल के लगभग 500 समाचार पत्र भारत में प्रकाशित होने लगे थे। इनमें मुख्य बंगला भाषा में संवाद प्रभाकर, हिन्दू पैट्रियाट, इण्डियन मिरर, अमृतबाजार पत्रिका, बंगाली, सोमप्रकाश, सुलभ समाचार, रईस और रयात, बम्बई से वॉयस आफ इण्डिया, नेटिव ओपिनियन, बाम्बे समाचार, इन्दू प्रकाश, जाम-ए-जमशेद, मराठा तथा केसरी थे। इसके अतिरिक्त मद्रास से हिन्दू स्वदेश मित्रम, बिहार से दि हैराल्ड, लखनऊ से दि एडवोकेट और लाहौर से दि ट्रिब्यून मुख्य थे।

समकालीन साहित्य :—समकालीन स्वदेशी साहित्य ने देशभक्ति की भावना की अन्तरात्मा को प्रभावित कर राष्ट्रीय चेतना के अंकुर को विकसित होने में प्रचुर सहयोग दिया। साहित्य में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करने वाले साहित्यकारों में बंगला भाषा में बन्दे मातरम् के रचयिता बंकिम चंद्र चटर्जी, माइकल मधुसूदन दत्ता, दीनबन्धु मित्रा, रंगलाल बनर्जी, हेमचन्द्र बनर्जी, नवीन चन्द्र सेन तथा रवींद्रनाथ टैगोर आदि प्रमुख थे। हिन्दी भाषा में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, तमिल भाषा में सुब्रह्मण्य भारती तथा मराठी भाषा में जी० एच० देशमुख विष्णुशास्त्री सिपलोंकर, शिवराम महादेव परांजपे इत्यादि थे।

उपरोक्त कारणों ने अपने-अपने क्षेत्र में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की भावना को जागरूकता प्रदान कर आंदोलित करने पर विवश कर दिया।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उदय

भारतीय राष्ट्रीय भावना का उद्भव लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ। राष्ट्रीय भावना का यह विकास मनोविज्ञान एवं भावुकता का समन्वय था। योरोपीय देशों में राष्ट्रीय भावना का विकास वर्ग-संघर्ष

के द्वारा उत्पन्न हुआ था। मध्यम वर्गीय लोगों ने अभिजात वर्ग के विरुद्ध और कृषक वर्ग ने राजतंत्रीय लोगों के विरुद्ध सघर्ष किया; परन्तु एशिया में राष्ट्रीय भावना का विकास विदेशी शासन के प्रति आक्रोश और विरोध की भावना के फलस्वरूप प्रकट हुआ। भारत में भी राष्ट्रीय चेतना के उदय का मूल स्रोत दमनकारी, अत्याचारी, निरंकुश एवं भेदभावपूर्ण विदेशी शासन था। अंग्रेजों की प्रतिक्रियावादी तथा निरंकुशतावादी नीतियों के विरुद्ध भारतीय आक्रोश का प्रथम प्रदर्शन 1857 के विद्रोह के रूप में हुआ। यद्यपि यह विद्रोह सीमित था तथा कुछ कारणोंवश असफल हुआ परन्तु इस विद्रोह का प्रभाव भारत के समस्त जनमानस पर वृहत रूप से दृष्टिगोचर हुआ जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय भावना को विकसित करने हेतु विभिन्न समितियों, सम्मेलनों एवं संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ।

भारत में राजनैतिक जागृति की अभिव्यक्ति राजा राममोहन राय के समय में ही प्रारम्भ हो गई थी। राजा राममोहनराय के कार्यक्रमों को उदारवादियों एवं रूढ़िवादियों दोनों ने ही सतत जारी रखा परन्तु इस कार्यक्रम में धर्मसुधारक अन्य सुधारकों से अधिक सक्रिय थे। 1828 में इन सुधारकों ने शैक्षिक सभाएँ संगठित कीं जो कि धार्मिक एवं नैतिक प्रश्नों के साथ-साथ राजनैतिक एवं सामाजिक समस्याओं पर भी विचार-विमर्श किया करती थीं। 1838 में इन सुधारकों ने 'सामान्य ज्ञान ग्रहण संस्था' (सोसायटी फार ऐक्विजीशन ऑफ़ जनरल नालेज) की स्थापना की जहाँ वे अभिनिर्णायक (जूरी) द्वारा मुकदमों का निर्णय, समाचारपत्रों की स्वतंत्रता; सरकारी विभागों द्वारा बेगार इत्यादि पर विचार-विमर्श करते थे। 1838 में कलकत्ता के भूस्वामियों (जमींदारों) ने अपने अधिकारों की रक्षा हेतु एक संस्था का गठन किया जिसे भूस्वामियों (जमींदार सभा) के नाम से जाना गया। यह संस्था भारतीय एवं अंग्रेजों की संयुक्त सभा थी। यद्यपि इस संस्था को अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई तथापि इस सभा ने भारतीयों को अखिल भारतीय सभा के स्वरूप का बोध कराया। 1842 में श्री द्वारकानाथ टैगोर इंगलैण्ड गये जहाँ उन्होंने जार्ज टॉमसन से भारत भ्रमण हेतु आग्रह किया। जार्ज टॉमसन की यात्रा ने कलकत्ता में बंगाली नवयुवकों को नव जागृति की प्रेरणा से अभिभूत किया। जार्ज टॉममन के भाषणों ने कलकत्ता के शिक्षित वर्ग में नव चेतना, नव बोध, नव क्रान्ति का सन्देश दिया। 'बंगाल हेरल्ड' ने लिखा कि जार्ज टॉमसन से पूर्व किसी भी विदेशी ने स्थानीय लोगों को अपने विचारों द्वारा इतना प्रभावित नहीं किया। जार्ज टॉमसन को उस समय बंगाल की राजनैतिक शिक्षा के प्रणेता की संज्ञा प्रदान की

गई थी।

सक्रिय नव चिंतन

जार्ज टॉमसन के प्रयासों के फलस्वरूप 20 अप्रैल, 1843 को कलकत्ता में 'ब्रिटिश इण्डिया सोसायटी' की स्थापना की गई। इस संस्था का उद्देश्य जनता की स्थिति, न्याय संहिता, देशी संस्थाओं एवं साधनों के विषय में सूचना एकत्रित करके उन्हें प्रचारित करना था, जिससे प्रत्येक वर्ग का कल्याण हो तथा भारत के प्रत्येक वर्ग का विकास सम्भव हो सके। इसी दिशा में बंगाल के नागरिकों द्वारा एक अन्य प्रयास किया गया। 29 अक्टूबर, 1851 को 'ब्रिटिश इण्डिया एसोसियेशन' की स्थापना कलकत्ता में हुई। इसके प्रथम अध्यक्ष राजा राधाकान्त देव और सचिव देवेन्द्रनाथ टैगोर थे। वे इस संस्था के द्वारा शासन और प्रशासन पद्धति में सुधार हेतु कार्य करना चाहते थे तथा ब्रिटिश जनता को ब्रिटिश प्रशासन के सम्बन्ध में भारत की जनता के विचारों से अवगत कराना चाहते थे। इस सभा के संस्थापक संस्था की शाखाओं को भारत के मुख्य नगरों में स्थापित करने के इच्छुक थे। ब्रिटिश इंडिया संस्था की शाखाएँ बम्बई, मद्रास, पूना एवं अन्य स्थानों पर प्रतिष्ठित की गई परन्तु तत्पश्चात इन शाखाओं ने ब्रिटिश इण्डिया एसोसियेशन से सम्बन्ध विच्छेद करके स्वतंत्र रूप से कार्य प्रारम्भ कर दिया। 1852 में ब्रिटिश इण्डिया एसोसियेशन ने ब्रिटिश सरकार के समक्ष एक ज्ञापन प्रस्तुत किया जिसमें भारत में राजनैतिक, सामाजिक आर्थिक एवं धार्मिक सुधारों हेतु सुझाव प्रस्तुत किये। 1852 में ही 'बम्बई एसोशियेशन' ने तदुपरान्त 'मद्रास एशोसियेशन' ने इसी प्रकार के ज्ञापन पत्र प्रस्तुत किये परन्तु कोई लाभ न हुआ।

1852 के पश्चात भारत में राजनैतिक चेतना एवं राष्ट्रीयता की भावना का विकास होने लगा था परन्तु 1857 के विद्रोह के पश्चात भारत में राजनीतिक चेतना एवं राष्ट्रीयता की भावना की परिवृद्धि तीव्र गति से होने लगी। इस काल में पश्चिमी शिक्षा एवं सभ्यता ने भारतीय शिक्षित वर्ग को नव आत्म बोध, नव राजनैतिक प्रेरणा एवं नव विचारधारा की ओर प्रेरित किया। 1857 के विद्रोह के पश्चात अंग्रेजों ने भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन को समाप्त कर भारतीय शासन का उत्तरदायित्व ब्रिटिश ताज को सौंप दिया। इसके साथ ही महारानी विक्टोरिया की घोषणा द्वारा भारतीयों को सामाजिक एवं राजनैतिक सुविधाएँ देने का आश्वासन दिया गया। 1866 में लन्दन में 'ईस्ट इण्डिया एसोसियेशन' की

स्थापना की गई तथा इसकी शाखाओं को भारत के प्रत्येक मुख्य नगर में स्थापित करने का प्रयास किया गया परन्तु इस दिशा में सफलता नहीं मिली। इस प्रकार 1857 के विद्रोह ने इस तथ्य को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया कि भारतीय राष्ट्रीयता के विकास एवं राष्ट्रीय भावना को सक्रिय रूप प्रदान करने हेतु ऐसी सुसंगठित एवं सशक्त संस्था नितान्त आवश्यक है जो भारतीयों का सुचारु रूप से निर्देशन कर सके। इस भावना के अन्तर्गत 1866 में बंगाल के मेदिनीपुर नामक स्थान पर राजनारायण बोस ने 'जाति गौरव सम्पादनी सभा' की स्थापना की। इस संस्था का मुख्य ध्येय बंगाल के शिक्षित वर्ग में राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार करना था। इस संस्था ने राष्ट्र में 'राजनीतिक राष्ट्रीय व्यायामशाला' के अभाव की पूर्ति की। इस संस्था से प्रभावित होकर 1867 में नवगोपाल मित्र ने हिन्दू मेला' नामक संस्था की स्थापना की। नवगोपाल मित्र अपनी राष्ट्रीय भावनाओं के प्रचार के कारण 'राष्ट्रीय नवगोपाल' के नाम से विख्यात हुए। इस 'हिन्दू मेला' का प्रमुख कार्य राष्ट्रीय उन्नति एवं राष्ट्रीय कल्याण था। इसके अतिरिक्त मेला ने साहित्य, ललित कला, संगीत इत्यादि में भी राष्ट्रीयता को प्रधानता प्रदान करने का प्रयत्न किया। 'हिन्दू मेला' एक प्रकार से राष्ट्रीय एकता का इच्छुक था और राष्ट्रीय भावनाओं को जागृत करने का प्रेरक था। उपर्युक्त 'हिन्दू मेला' ने रवीन्द्रनाथ टैगोर को भी प्रभावित किया।

इस काल में मुसलमानों का सहयोग राष्ट्रीयता के विकास में सम्भव न हो सका क्योंकि मुसलमान सम्प्रदाय में शिक्षा एवं प्रगति का अभाव था। मुसलमानों का जागरण 1874 में ही सम्भव हो सका जब कि सर सैयद अहमद खाँ ने अपने सम्प्रदाय की ओर विशेष ध्यान दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन अधिक प्रौढ़ता एवं प्रगति की ओर अग्रसर हुआ। इंगलैंड में 'ईस्ट इण्डिया संस्था' की स्थापना के पश्चात 1870 में दादा भाई नौरोजी ने बाम्बे एसोसियेशन' को पुनः सक्रिय करने का प्रयास किया। 1871 में ईस्ट इण्डिया संस्था की एक शाखा बम्बई में स्थापित की गई जिसने भारतीयों की राजनीतिक चेतना को विकसित करने हेतु प्रयास किये। इसके पूर्व 1867 में 'पूना सार्वजनिक सभा' की स्थापना की गई थी जिसने दक्षिण भारत के भारतीयों में राष्ट्रीय भावना को विकसित करने का प्रयत्न किया था। इस सभा के मुख्य संयोजकों में गोपाल कृष्ण गोखले का कार्य सराहनीय था। 1872 में इंगलैंड में 'भारतीय समाज' नामक संस्था की स्थापना की गई। उपर्युक्त संस्थाओं ने उदारवादी अंग्रेजों की सहायता से भारत में सुधार की

दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। 25 सितम्बर 1875 को कलकत्ता में एक सभा का आयोजन किया गया जिसमें वैधानिक पद्धति पर आधारित प्रशासनिक, आर्थिक, व्यापारिक एवं राजनैतिक सुधारों की माँग करने हेतु एक संस्था की स्थापना का प्रस्ताव रखा गया। इस सभा ने प्रस्ताव को अनुमोदित कर दिया तथा संस्था का नाम 'दि इण्डियन लीग' रखा। शम्भुचन्द्र मुखर्जी को इसका अध्यक्ष, कालीमोहन दास एवं योगेशचन्द्र दत्त को सचिव तथा शिशिर कुमार घोष को इसका उप-सचिव नियुक्त किया गया। अमृतबाजार पत्रिका ने इस लीग को जनता द्वारा स्थापित प्रथम राजनैतिक संस्था बताया, परन्तु 'इंगलिशमैन' एवं 'इण्डियन डेली न्यूज' ने इसे मध्यम वर्ग की संस्था का प्रारूप दिया। यह संस्था दो वर्ष तक जनकल्याण एवं प्रशासनिक सुधारों हेतु कार्य करती रही। इसके उपरान्त भारतीय राष्ट्रीयता के विकास की दिशा में महत्वपूर्ण चरण 26 जुलाई 1876 को 'इण्डियन एसोसियेशन' की स्थापना थी। इस संस्था के संस्थापकों में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का प्रमुख योगदान था। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को भारतीय सिविल सर्विस से तुच्छ आरोप पर निष्कासित कर दिया गया था। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपनी पुस्तक 'ए नेशन इन मेकिंग' में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा कि मेरे साथ जो दुर्व्यवहार, किया गया, वह स्वयं में देशवासियों की मूक असमर्थता का प्रदर्शन था। सुरेन्द्रनाथ ने भारतीयों को स्वनिर्मित अन्धकार को त्याग आधुनिक नवीन ज्योति ग्रहण करने की प्रेरणा दी। उन्होंने भारतीयों का ध्यान अपने अधिकारों की ओर आकर्षित किया। इस संस्था में श्री ए० एम० बोस को सचिव तथा ए० सी० सरकार एवं जे० एन० विद्याभूषण को उप सचिव नियुक्त किया गया।

भारतीय संस्था के निम्नलिखित उद्देश्य थे—

(1) देश में जनमत को प्रोत्साहन देना।
(2) राजनैतिक एकता के आधार पर भारतीय जातियों का गठबन्धन।
(3) हिन्दू-मुस्लिम एकता को सशक्त करना।
(4) जन आन्दोलनों को विशिष्टता देना।

यद्यपि इस संस्था का स्वरूप राष्ट्रीय था परन्तु पश्चिमी उदार राष्ट्रीयता से प्रभावित इस संस्था के संस्थापकों ने पश्चिमी राजनैतिक संस्थाओं का अनुकरण करते हुए भारत में राष्ट्रीय एकता, एवं समानता को प्रोत्साहित करने हेतु अपनी संस्था को अखिल भारतीय बनाने का प्रयास किया। इस प्रयास के अंतर्गत इस संस्था के संस्थापकों ने भारत के अन्य प्रदेशों में योजनाबद्ध रूप से कार्य प्रारम्भ किया एवं 1877 में 'भारतीय सिविल सर्विस' की परीक्षा में 19 वर्ष के स्थान पर 21 वर्ष की आयु तथा

इस परीक्षा के एक केन्द्र को भारत में भी स्थापित करने की अभियाचना की। इस प्रकार सिविल सर्विस आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ। उपर्युक्त माँगों को लेकर अप्रैल 1878 में इन्डियन एशोसियेशन ने लार्ड लिटन के 'देशी भाषा प्रेस अधिनियम' तथा 'शस्त्र अधिनियम' के विरोध में प्रदर्शन किये। इस संस्था ने किसानों के अधिकारों की रक्षा की भी माँग रखी। इसको अखिल भारतीय संस्था बनाने हेतु उत्तर भारत के लगभग प्रत्येक भाग में इस संस्था की शाखाएँ स्थापित की गईं। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी एवं ए० एम० बोस ने भारतीयों में देश-भक्ति की भावना जागृत करने हेतु भाषण दिये एवं लेख प्रकाशित किये। देश के युवकों को जागृत करने हेतु उन्होंने 'छात्र संस्था' की भी स्थापना की। 1880 में इस संस्था ने लालमोहन घोष को इंगलैंड भेजा जिससे कि वे ब्रिटिश आम चुनाव में भारतीय समस्याओं से अंग्रेज निर्वाचकों को अवगत करा सकें। इस संस्था ने अपने मुखपत्र बंगाली के माध्यम से जनता को उदासीनता त्यागने एवं राष्ट्र निर्माण करने का आवाहन किया। इस योजना के अन्तर्गत यह निर्णय लिया गया कि सार्वजनिक सभाओं में भारतीय समस्याओं पर विचार विमर्श किया जाना चाहिए तथा भारतीय समस्याओं के विषय में अधिकारियों को अवगत कराना चाहिए। भारतीय समस्याओं से भारतीय जनता को भी अवगत कराया जाय तथा विभिन्न संस्थाओं को एकता के सूत्र में बाँधकर भारतीय जनता के कल्याण हेतु कार्य प्रारम्भ किये जायँ। इसी समय 'इल्बर्ट विधेयक' प्रस्तावित किया गया जिसके विरुद्ध इन्डियन एसोसियेशन ने भारतीयों को सहयोग दिया। तथापि यह संस्था अधिक सफलता प्राप्त न कर सकी क्योंकि कलकत्तावासी इस संस्था को संदेहात्मक निगाहों से देखते थे।

1883 में कलकत्ता में अखिल भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन की अध्यक्षता रामतनु लहरी ने की तथा इसमें देश के विभिन्न प्रदेशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन ने तकनीकी शिक्षा, सिविल सर्विस, शस्त्र अधिनियम, प्रतिनिधि सरकार एवं राष्ट्रीय कोष से सम्बन्धित प्रस्ताव पारित किये। इस सम्मेलन को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रारूप बताया गया तथा इसको भारतीय संसद का प्रथम अधिवेशन कहा गया।

इसी मध्य देश के विभिन्न भागों में भिन्न भिन्न राजनैतिक संगठनों का जन्म हुआ। 1882 में सूरत में 'प्रजाहितवर्धक सभा', 1883 में कराची में 'सिन्ध सभा' तथा 1884 में मद्रास में महाजन सभा' की स्थापना हुई। 1885 में ए० ओ० ह्यूम, मेहता, तेलंग एवं तैयब जी ने बम्बई में नवीन राजनीतिक संगठन की स्थापना हेतु एक सभा की। इस संगठन का नाम

'बम्बई प्रेसीडेन्सी एसोसियेशन, रखा गया। 1884 में जी० वी० माश्के ने 'दक्षिण एसोसियेशन' की पूना में स्थापना की। 1885 में अखिल भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन की पुनरावृत्ति हुई जिसमें विचारों के आदान प्रदान के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला गया कि एक ऐसी संस्था का गठन होना चाहिए जो कि देशवासियों का नेतृत्व कर सके। इस आधार पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नींव पड़ी।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

भारत में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध भारतीयों को नवीन प्रेरणा से प्रेरित करने का कार्य सर्वप्रथम ए० ओ० ह्यूम ने किया। यद्यपि आरम्भ में कांग्रेस की स्थापना सरकार के साथ सहयोग करने तथा भारतीयों की राजनैतिक चेतना हेतु की गई थी परन्तु शनैः शनैः यह संस्था भारत के लिए स्वायत्त शासन की मांग का हृदय-स्थल बन गई। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना ए०ओ० ह्यूम के अथक प्रयासों का परिणाम थी। ए० ओ० ह्यूम सर्वप्रथम 1849 में भारत में सरकारी कर्मचारी के रूप में आये और तत्पश्चात् उन्होंने भारत को ही अपना घर माना। उनका नारा था 'शान्ति-व्यवस्था एवं भाई चारे के माध्यम से स्वतन्त्रता एवं विकास'। उन्हें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जनक कहा जाता है। अपने कार्यकाल के मध्य ह्यूम को विभिन्न विभागों में कार्य करने का अवसर मिला जिससे उन्हें भारतीयों की यथोचित स्थिति का आभास हुआ।

ह्यूम ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है कि मैं भारतीय जनता के मध्य रहा हूँ, मैं उनकी भाषा, आदतों एवं विचारों से परिचित हूँ। 1882 में अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् ह्यूम ने अपना समस्त समय भारतीय राष्ट्र के जागरण के प्रति समर्पित कर दिया।

1882 में लार्ड रिपन के भारत में स्थानीय स्वशासन की स्थापना के प्रस्ताव में ह्यूम ने अत्यधिक रुचि प्रकट की। ह्यूम ने 20 दिसम्बर, 1882 को लार्ड रिपन को लिखा कि कुछ वर्षों से भारत में असंतोष की भावना में वृद्धि होती जा रही है जिसका कारण कुछ तो सरकारी तंत्र का स्वरूप एवं कुछ अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार में निहित है। इसलिए शीघ्र ही एक भीषण क्रान्ति अवश्यम्भावी है परन्तु आपका प्रस्ताव वास्तव में इस क्रान्ति को रोकने में सार्थक हो सकता है। 1883 को ह्यूम ने कलकता विश्वविद्यालय के छात्रों को एक संस्था बनाने का सुझाव दिया जो संगठित ढंग से कार्य करे। इस संस्था के अनुशासित एवं व्यवस्थित रहने पर उन्होंने अधिक बल दिया तथा

छात्रों से अनुरोध किया कि वे नि:स्वार्थ भावना, नैतिक साहस, आत्मसंयम और सक्रियता से जनकल्याण हेतु कार्य करें। उन्होंने लिखा कि प्रत्येक राष्ट्र को उसकी योग्यता के अनुसार सरकार मिलती है। यदि आप जैसे चुने हुये एवं राष्ट्र के उच्च शिक्षित लोग देश की स्वतन्त्रता हेतु संग्राम न कर सकें तो प्रगति सम्भव नहीं है।"

1884 में ह्यूम ने भारतीय नेताओं के समक्ष भारतीय राष्ट्रीय संघ (इंडियन नैशनल यूनियन) की रूपरेखा प्रस्तुत की जिसका उद्देश्य यह था कि उन समस्त अंग्रेज अधिकारियों का विरोध किया जाय जिनके कार्य भारत सरकार के सिद्धान्तों के विरुद्ध हों, तथा ऐसे नियमों का भी विरोध किया जाय जिन्हें ब्रिटिश संसद पारित कर चुकी हो एवं ब्रिटिश ताज जिन्हें अनुमोदित कर चुका हो। इसी मध्य ए० ओ० ह्यूम ने 1885 में लार्ड डफरिन से मिलकर उनके समक्ष कांग्रेस की रूपरेखा प्रस्तुत की, उन्हें इस तथ्य से भी अवगत कराया कि यदि भारत में योजनाबद्ध रूप से सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक सुधार न किये गये तो क्रान्ति हो सकती थी जिसके लिए कांग्रेस की स्थापना ही एकमात्र विकल्प था। लार्ड डफरिन ने ह्यूम द्वारा प्रस्तावित कांग्रेस में अपनी रुचि प्रदर्शित की। उन्होंने कांग्रेस की स्थापना का स्वागत किया परन्तु यह परामर्श भी व्यक्त किया कि यह संस्था इंग्लैण्ड में स्थित सम्राज्ञी के विरोधी दल के रूप में नहीं होनी चाहिए। ह्यूम ने वायसराय के इस परामर्श को स्वीकार कर लिया क्योंकि उन्हें अपने सहयोगियों का समर्थन भी प्राप्त था।

विभिन्न राजनीतिक संगठनों के प्रतिनिधियों का एक राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने के विचार को सर्वप्रथम 1883 में कार्यरूप दिया गया था जबकि इंडियन ऐसोसियेशन ने 28 दिसम्बर 1883 को इस विषय पर एक सम्मेलन बुलाया था। कांग्रेस की स्थापना की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण चरण था। इसी मध्य लार्ड रिपन ने त्यागपत्र दे दिया तथा वे इंग्लैण्ड वापस लौट गये। ह्यूम ने पूरे देश का भ्रमण करके विभिन्न राजनैतिक संगठनों के नेताओं से विचार विमर्श करने का निर्णय लिया तथा तथाकथित विचार विमर्श के पश्चात् ह्यूम के अथक प्रयासों से 31 जनवरी 1885 को बम्बई में द्वितीय अखिल-भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया। इसी सम्मेलन में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की उत्पत्ति के विषय में कई विचारधाराएँ प्रचलित हैं। एक विचार के अनुसार कांग्रेस की आधारशिला 1877 में देहली दरबार में रखी गई थी। एक अन्य विचारधारा के अनुसार मद्रास में 'ब्राह्मण

समाज सम्मेलन' में इसको वास्तविक रूप देने का प्रयत्न किया गया था। 1866 में थियोसोफिकल सोसाइटी ने अपने को कांग्रेस का जन्मदाता बताया क्योंकि ऑल्काट ने कहा कि थियोसोफिकल सोसाइटी ने ही सर्वप्रथम देश के विभिन्न भागों से प्रनिनिधियों को एक साथ सम्मेलन में बुलाने का सुझाव दिया था। 1888 में रघुनाथ राव एवं 1889 में एन० एन० सेन ने ह्यूम पर कांग्रेस की स्थापना के लिए अपने विचार को चुराने का आरोप लगाया। उन्होंने कहा कि कांग्रेस की वास्तविक उत्पत्ति 1884 में रघुनाथ राव के घर पर आयोजित एक गोष्ठी में हुई थी। परन्तु उपर्युक्त विचारों में कोई तथ्य नहीं है क्योंकि एक तो भारत में विभिन्न राजनैतिक संगठनों के प्रतिनिधियों के मध्य एक सम्मेलन का विचार थियोसोफिकल समाज की स्थापना के पूर्व से ही प्रचलित था। द्वितीय, रघुनाथ राव के घर पर हुई सभा के निर्णयों को कार्यरूप नहीं प्रदान किया गया। तृतीय, 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का संगठन भारत में राजनैतिक चेतना के विकास का परिणाम था तथा यह थियोसोफिकल सोसाइटी से किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं थी। इस प्रकार वास्तव में कांग्रेस के संस्थापक ए० ओ० ह्यूम ही थे। ए० ओ० ह्यूम ने अपने अथक प्रयासों एवं संगठन शक्ति के द्वारा ही कांग्रेस की स्थापना की जो कि उस समय असंभव सा प्रतीत होता था। इस प्रकार बम्बई में प्रथम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन डब्ल्यू० सी० बनर्जी की अध्यक्षता में हुआ। डब्ल्यू० सी० बनर्जी ने प्रथम कांग्रेस के निम्नलिखित उद्देश्य बताये :—

(1) कांग्रेस देश में कार्यरत कार्यकर्ताओं का सहयोग प्राप्त करे एवं कार्यकर्ताओं के मध्य मैत्रीपूर्ण व्यवहार को प्रोत्साहित करे।

(2) किसी प्रकार जातिवाद, प्रान्तीयतावाद और ऊँच-नीच के भेद-भाव को प्रोत्साहन न देकर राष्ट्रीय एकता की भावना को प्रोत्साहित करे।

(3) कांग्रेस भारत के समस्त विचारशील, चिन्तनशील और शिक्षित वर्ग का आह्वान करे कि वे भारत के सामाजिक वातावरण में सुधार हेतु अपने विचार प्रगट करें।

(4) वर्ष में एक बार कांग्रेस का अधिवेशन होना चाहिए जिसमें आगामी वर्ष के कार्यक्रमों हेतु रूपरेखा पर विचार विमर्श हो।

प्रथम कांग्रेस के अधिवेशन में कई प्रस्ताव पारित किये गये। सभी वक्ताओं ने ब्रिटिश शासन में अपनी आस्था व्यक्त की। प्रथम कांग्रेस को 'मध्यम वर्गीय दरबार' के रूप में वर्णित किया। पर्सीवल स्पीयर के अनुसार प्रथम कांग्रेस के सदस्य अंग्रेजों के प्रति अपनी स्वामिभक्ति एवं निष्ठा के प्रदर्शन में

अधिक संलग्न थे परन्तु इन विचारधाराओं के होते हुए भी कांग्रेस का जन्म हो जाना एक महान् घटना थी।

'इंडियन मिरर' ने भी कांग्रेस के जन्म को एक महान् घटना बताते हुए लिखा कि भारत में कांग्रेस का जन्म ब्रिटिश-शासित भारत के इतिहास में एक नवीन अध्याय का प्रारम्भ था और 28 दिसम्बर का दिन भारत के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखा जायेगा तथा वह भारतीयों के लिए गर्व का दिन होगा। लखनऊ के समाचार पत्र 'हिन्दुस्तनी' ने लिखा कि भारतीय इतिहास के लिए 28, 29 तथा 30 दिसम्बर के दिवस अविस्मरणीय रहेंगे जबकि भारत में प्रजनित विभिन्न विचारधाराओं को संगठित कर एक सूत्र में पिरो दिया गया था।

बंगाल विभाजन एवं स्वदेशी आन्दोलन

यद्यपि 1905 में बङ्ग-भंग ने भारतीय जनता को आक्रोश की भावना से युक्त किया किन्तु कुछ लेखकों के अनुसार भारत में अशाँति का वास्तविक कारण जापान की विजय का विद्युतीकरण था। स्वदेशी आन्दोलन ने पूर्ण रूपेण भारतीयों को प्रभावित किया और 1906 में कांग्रेस ने अपने अधिवेशन में इसके समर्थन में प्रस्ताव पारित किये। अपने इसी समर्थन को कांग्रेस ने 1908-10 में पुन: समर्थित किया।

स्वदेशी आन्दोलन स्वयं में पुरिपूर्ण था, जिसने भारतीय देशभक्तों के विचारों और सिद्धान्तों को आन्दोलित किया। भगिनी निवेदिता के अनुसार स्वदेशी आन्दोलन का पाठ भारतीयों ने जापानियों के स्वावलम्बन तथा पौरुष से ग्रहण किया। उन्होंने इस बात का संदेश दिया कि अब भारतीय किसी से न याचना करेंगे न किसी प्रकार का अनुदान एवं सुविधा के लिये प्रार्थना करेंगे।

लाला लाजपत राय ने भी स्वदेशी आन्दोलन का अभिप्राय स्वाभिमान स्वालम्बन, आत्मनिर्भरता तथा आत्मत्याग तक बताया।

19वीं शताब्दी के अन्त में जब भारतीय राष्ट्रीय चेतना नवीन करवट बदल रही थी उस समय 1898 में भारत में लार्ड कर्जन का पदार्पण हुआ; लार्ड कर्ज़न को 1899 में भारत का वायसराय नियुक्त किया गया। लार्ड कर्ज़न ने सर्व प्रथम कांग्रेस के प्रति अपनी प्रतिक्रियावादी नीति के उद्गार प्रकट किये। महाराज्यपाल (वायसराय) ने कहा कि, "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अस्थिरता के कगार पर स्थिति है और मेरी परम इच्छा है कि इसका शान्तिमय निधन मेरे द्वारा कार्यान्वित हो"। इसके अतिरिक्त 1899 का 'म्युनिसिपलटी अधिनियम' तथा 1904 का 'भारतीय विश्वविद्यालय अधि-

नियम' इस बात के द्योतक थे कि लार्ड कर्ज़न अपने निरंकुश एवं प्रतिक्रियावादी नीति के द्वारा भारतीय राजनैतिक स्वच्छन्दता एवं राष्ट्र चेतना के विकास पर अपना प्रशासकीय अंकुश रखना चाहता था। 1904 के अधिनियम के विरुद्ध पूरे देश में आन्दोलन आरम्भ हुआ। 1902 में स्थापित "डॉन सभा" ने भारतीय युवकों को देशभक्ति की भावना से प्रेरित किया तथा 'डॉन' एवं 'न्यू इंडिया' जैसे समाचार पत्रों ने बंगाल में अतिवादी एवं उग्रवादी विचारधारा का प्रसार किया।

लार्ड कर्ज़न जो कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा भारतीय राष्ट्रवादियों की आंक्षाओं का संदलन करना चाहते थे, अपनी इस योजना को कार्यान्वित करने हेतु उनका प्रथम प्रयास बंगाल की अखण्डता को भंग करना था। यद्यपि कुछ समय से बंगाल विभाजन को प्रशासकीय आवश्यकता के आधार पर विभक्त करने पर विचार किया जा रहा था परन्तु वायसराय की निरंकुश अधिनायकता ने बङ्ग विभाजन को भारतीय राष्ट्रीयता के द्रुत वेग में बाधा डालने के अस्त्र रूप में प्रयोग किया। 19 जुलाई, 1905 को लार्ड कर्ज़न ने एक घोषणा के द्वारा बंगाल को दो भागों में विभक्त करने की आज्ञा दे दी। अप्रत्यक्षत: लार्ड कर्ज़न एक मुस्लिम बहुसंख्यक प्रदेश का निर्माण करना चाहते थे जिसमें प्रमुख धर्म इस्लाम हो तथा इस धर्म के बहुसख्यक अनुयायी इस क्षेत्र में हों। इसके अतिरिक्त लार्ड कर्ज़न इस विभाजन के द्वारा मुसलमानों और हिन्दुओं के मध्य पारस्परिक वैमनस्य का बीजारोपण करने के भी इच्छुक थे। बंगाल विभाजन के फलस्वरूप पूर्वी एवं पश्चिमी बंगाल का उदय हुआ जिसने साम्प्रदायिकता की भावना को प्रोत्साहित किया। यह लार्ड कर्ज़न का एक प्रमुख लक्ष्य था। इस विभाजन का एक अन्य उद्देश्य यह भी था कि ब्रिटिश सरकार बंगाली राष्ट्रीयता की भावना में बाधा उत्पन्न करना चाहती थी। इस तथ्य के अन्तंगत यह निर्णय लिया गया कि प्रदेश से पृथक ढाका, चटगांव और राजशाही को असम के साथ मिलाकर एक नये प्रदेश को पूर्व बंगाल और असम नामकरण कर दिया जाय और ढाका को इस प्रदेश की राजधानी मानने का प्रस्ताव किया गया। 20 जुलाई, 1905 को बंगाल विभाजन (बङ्ग भंग) का निर्णय घोषित किया गया और 16 अक्टूबर, 1905 से इस नियम को लागू किया गया। इस निर्णय ने बंगाली राष्ट्रवादियों पर कुठाराघात किया और इसके साथ ही प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से बङ्ग विभाजन ने राष्ट्रवाद के प्रवाह को तीव्र किया। बङ्ग भंग के परिणाम लार्ड कर्ज़न की आशा के प्रतिकूल सिद्ध हुए। भारत के राष्ट्रवादी नेताओं ने लार्ड कर्ज़न के इस कृत्य को हिन्दू एवं मुसल-

मानों के मध्य खाई उत्पन्न करने का प्रयास माना और वे इस विभाजन को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। इनमें 'सुरेन्द्र नाथ बनर्जी एवं लालमोहन घोष' प्रमुख थे। जनता ने लार्ड कर्जन के इस कृत्य को राष्ट्रीय आन्दोलन को दमन करने की विफल संज्ञा समझा। फलस्वरूप ब्रिटिश प्रशासन के विरुद्ध वृहत् रूप से प्रदर्शन किये गये। बाबू गंगाधर तिलक ने यह अनुभव किया कि बङ्ग भंग केवल बंगाल के निवासियों को नहीं अपितु सम्पूर्ण देश के लिये एक चुनौती था। अतः उन्होंने बंगाल विभाजन को "राष्ट्रीय प्रश्न" बनाने का निर्णय लिया। तिलक पहले से ही जनक्रान्ति पर विचार कर चुके थे तथा वे एक सुअवसर की खोज में थे जिससे क्रान्तिकारी शक्ति विचारधारा को एक नवीन दिशा प्रदान की जा सके।

बङ्ग भंग की निर्धारित योजना ने लगभग समस्त देश प्रेमी लोगों में रोष की भावना उत्पन्न की, तथा समाचार पत्रों ने भी प्रतिकूल प्रतिक्रिया व्यक्त की। कृष्णकुमार मित्रा ने अपने 'संजीवनी पत्र' के द्वारा पूरे देश-वासियों का आह्वान किया कि विदेशी वस्तुओं का वहिष्कार कर स्वदेशी वस्तुओं का ही प्रयोग करने का व्रत लें। संभवतः यह स्वदेशी आन्दोलन का प्रथम प्रयास था जो कृष्ण कुमार मित्रा के द्वारा आरम्भ हुआ। इसके अति-रिक्त रवीन्द्र नाथ टैगोर ने 'बङ्ग दर्शन' में लोगों की एकता और निष्ठा में पुनः अभिपुष्टि की। छात्र समुदाय ने प्रतिविभाजन आन्दोलन में पूर्ण रूप से उत्साह पूर्वक भाग लिया। छात्रों ने 'बन्दे मातरम्' को जन आत्म प्रेरणा का द्योतक माना। सुरेन्द्र नाथ वनर्जी ने छात्रों के उत्साह की सराहना करते हुये कहा, कि छात्रों ने समस्त समुदाय को देश-भावना से ओतप्रोत कर दिया।

एक ओर रवीन्द्र नाथ के गीत एवं कविताओं ने देश भक्ति की भाव-नाओं को जनसाधारण में समाविष्ट किया। और दूसरी ओर द्विजेन्द्र लाल राय और रजनीकान्त सेन तथा अन्य लोगों ने भी नाटकों व गीतों के माध्यम से जनसाधारण में राष्ट्रीय भावना का प्रसार किया। इसके अतिरिक्त मुस्लिम समुदाय के नेताओं अब्दुल रसूल गजनवी तथा लियाकत हुसैन ने स्वदेशी विचारधारा और आन्दोलन का समर्थन किया। इस प्रकार बङ्ग भंग आन्दो-लन ने केवल बंगाल में ही नहीं अपितु भारत के अन्य प्रदेशों को भी अपनी ओर आकर्षित किया।

बंगाल में विदेशी वस्तुओं के वहिष्कार एवं स्वदेशी आन्दोलन ने लोक-प्रियता प्राप्त की तथा स्वदेशी विचारधारा के प्रसार में बराती समिति, बन्दे मातरम्, सनातन सम्प्रदाय इत्यादि संस्थाओं ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

निःसंदेह प्रौढ़ जन संस्था राष्ट्रीय चेतना को क्रियाशील बनाने में प्रारम्भ से ही कार्यरत थी। बङ्ग भंग के निर्णय का जनता के प्रत्येक वर्ग ने विरोध किया। बंगाल की जनता के लिये विभाजन एक राष्ट्रीय संकट था जिसने बंगाल में विरोध की आंधी को त्वरित कर दिया। भारतीय जनता में असंतोष पहले से ही व्याप्त था। और इस घटना ने जन असंतोष को राजनैतिक दिशा प्रदान की। 16 अक्टूबर, 1905 के 'विभाजन दिवस' को रवीन्द्र नाथ टैगोर ने 'रक्षाबन्धन दिवस की मान्यता दी। पश्चिमी बंगाल एवं पूर्वी बङ्गाल के निवासियों ने आपस में भाई-चारे के प्रतीक स्वरूप एक दूसरे को राखी बाँधी। बंगाल में पूर्ण हड़ताल रही तथा इसे राष्ट्रीय शोक दिवस के रूप में मनाया गया। रक्षाबन्धन से गुरु रवीन्द्र नाथ टैगोर का तात्पर्य उस अकाट्य भारतीय गठबन्धन से था जो पूर्वी बंगाल और पश्चिमी बंगाल के छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, इसाई तथा हिन्दू-मुस्लिम में शताब्दियों से चला आ रहा था। रवीन्द्र नाथ ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा कि रक्षाबन्धन इस तथ्य का द्योतक है कि किसी भी शासक की तलवार कितनी ही शक्तिशाली क्यों न हो विधाता द्वारा निर्धारित गठबन्धन को काट नहीं सकती। विभाजन के दिवस लोगों ने अपने घर में खाना नहीं बनाया तथा बाजार एवं यातायात सब बन्द रहा। फेडरेशन हॉल में सायंकालीन एक बहुसंख्यक सभा का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता आनन्द मोहन बोस ने की। इसी सभा में हथकरघा उद्योग के विकास हेतु सत्तर हजार रुपया चन्दे के रूप में एकत्रित हुआ। निस्सन्देह उत्सव में दुःख और उत्साह का सम्मिश्रण था। बंगाल निवासियों को एक ओर अपने प्रदेश के विभाजन का दुःख था और दूसरी ओर वे उत्साहित इसलिये थे कि वे सरकार का विरोध करके एक नये काल में पदार्पण कर रहे थे। आनन्दमोहन बोस ने इस सभा में बोलते हुए कहा 'बंगाल निवासियों के विरोध के उपरान्त भी सरकार ने बंगाल का विभाजन कर दिया, 'हम अपने अन्तिम श्वास तक सरकार के इस निर्णय के विरुद्ध युद्धरत रहेंगे।' इस सभा के पश्चात एक विशाल जुलूस ने नगर के उत्तरी भाग में और एक और सभा आयोजित की जिसमें एक भारी धनराशि एकत्रित कर स्वदेशी आन्दोलन का नारा दिया गया।

स्वदेशी आन्दोलन

अगस्त में कलकत्ता के टाउनहाल में एक विशाल जनसभा का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता राजा महेन्द्रनाथ नन्दी ने की। इस सभा में "इन्डियन मिरर" के सम्पादक नरेन्द्रनाथ सेन ने बहिष्कार के प्रसिद्ध प्रस्ताव को उपस्थिति करते हुए कहा कि "ब्रिटिश प्रशासन द्वारा भारतीय समस्याओं के

निर्णय में भारतीयों की उपेक्षा के विरोध में हम ब्रिटिश निर्मित वस्तुओं का तब तक बहिष्कार करेंगे जब तक बंगाल विभाजन का निर्णय वापस नहीं ले लिया जायेगा ।" बाबूगंगाधर तिलक ने "बहिष्कार" एवं "स्वदेशी" का समर्थन करते हुए "केसरी" में लिखा कि जिस प्रकार कमल अपनी कली के हाथों बन्दी नहीं बना रह सकता और इसी प्रकार स्वदेशी आन्दोलन को कोई शक्ति दबा नहीं सकती । तिलक ने "बहिष्कार" एवं स्वदेशी आन्दोलन को प्रमुखता प्रदान की तथा जनता से अनुरोध किया कि वह दृढ़प्रतिज्ञ होकर आन्दोलन करें । उन्होंने बहिष्कार को 'योग' का एक प्रकार बता कर इसे "बहिष्कार योग" की संज्ञा दी ।

तिलक ने लिखा कि "हम ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति नहीं करना चाहते परन्तु क्या हमारे लिये यह सम्भव नहीं कि हम ब्रिटिश निर्मित वस्तुओं के क्रय हेतु जो करोड़ों रुपया व्यय करते हैं, उसे रोक दें ।" और इस प्रकार भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में अद्वितीय स्वदेशी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ ।

स्वदेशी आन्दोलन विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा स्वदेशी वस्तुओं के गृहण करने का सम्मिश्रण था । इस प्रकार विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार नकारात्मक पक्ष था तथा स्वदेशी वस्तुओं का गृहण सकारात्मक पक्ष था । दोनों विचारों के संगम ने राष्ट्रीय संघर्ष को स्वसहायता के उपकरण से सुसज्जित किया । स्वदेशी स्टोर स्वदेशी वस्तुओं की बिक्री के लिए खोले गये । स्वदेशी उद्योग के विकास में तीव्रता आने लगी । राष्ट्र प्रेरणा से प्रेरित लोगों ने मोटे और महंगे स्वदेशी वस्तुओं को उत्तम एवं सस्ती विदेशी वस्तुओं की तुलना में अपनाया । इस आन्दोलन को भिन्न संस्थाओं ने, समाचार पत्रों एवं पत्रिकाओं ने लोकप्रिय बनाने में योगदान दिया । राष्ट्रभक्ति के गीतों, विदेशी वस्तुओं के अग्निदाह तथा राष्ट्रीय नेताओं के ओजपूर्ण भाषाणों ने राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति की भावना को उत्प्रेरित किया । इस प्रकार स्वदेशी आन्दोलन ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को एक महत्वपूर्ण मार्ग प्रदर्शित किया क्योंकि अब प्रश्न केवल विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का नहीं रह गया था वरन इसका मूल ध्येय ब्रिटिश शासन का बहिष्कार था । यह एक ऐसा वातावरण था जिसके अन्तर्गत ब्रिटिश सरकार अपने को नि:सहाय पाकर केवल दमनकारी नीति का प्रयोग कर सकती थी और वह सरकार ने किया । 16 अक्टूबर को असम तथा पूर्वी बंगाल प्रदेशों का निर्माण हुआ एवं सर बैम्पफील्ड फुलर इसके गवर्नर नियुक्त किये गये । सुरेन्द्रनाथ बनर्जी एवं बी० सी० पाल ने विभाजित प्रदेशों का भ्रमण किया

तथा "बहिष्कार" एवं 'स्वदेशी प्रयोग' की प्रतिज्ञा की गयी। "बहिष्कार" तथा 'स्वदेशी' का बंगाल के नवयुवकों का अत्यधिक समर्थन प्राप्त हुआ। स्वदेशी आन्दोलन के दोनों पक्षों ने स्वयं सहायता की भावना का विकास किया। इसके अन्तर्गत भारतीय उद्योगों का विकास हुआ। भारत में कपड़ा मिलें खोली गयीं, राष्ट्रीय बैंकों की स्थापना की गई एवं तम्बाकू, चमड़े रसायनों के उद्योग आरम्भ किये गये तथा बीमा निगमों की स्थापना हुई। स्वदेशी भण्डारों की स्थापना की गई। शीघ्र ही भारतीय बाजार स्वदेशी वस्तुओं से भर गये।

शनैः शनैः आन्दोलन जनता में लोकप्रिय होता चला गया। सर वैम्पफील्ड ने दमनात्मक नीतियों द्वारा इस आन्दोलन को पंगु बनाने का अथक प्रयास किया। सरकार ने स्वदेशी सभाओं पर प्रतिवन्ध लगा दिये। सर वैम्पफील्ड की सरकार ने मार्गों में "वन्दे मातरम्" का उच्चारण करने पर रोक लगा दी। बारीसलं सम्मेलन पर पुलिस ने लाठी चलायी तथा सुरेन्द्र नाथ बनर्जी को बन्दी बना लिया। फलतः आन्दोलन और संघर्षमय हो गया। वैम्पफील्ड की दमनकारी नीतियों की कटु आलोचना की गई। परन्तु वैम्पफील्ड की नीति यहीं तक सीमिति न रही उसने साम्प्रदायिकता की भावना का प्रसार प्रारम्भ किया। मुसलमानों के धार्मिक नेताओं (मुल्ला-मौलवी) ने गाँव गाँव जाकर यह प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया कि ब्रिटिश सरकार हिन्दुओं की हत्या करने एवं सम्पति लूटने में मुसलमानों का साथ देगी। एक लाल रंग की पुस्तिका वितरित की गई जिसमें उपर्युक्त बातों का समावेश था जिसके कारण बंगाल में कई स्थानों पर दंगे हुए और बंगाल का शान्त वातावरण हिंसा एवं उपद्रवों से परिपूर्ण हो गया।

स्वराज्य की मांग

शीघ्र ही बंगाल विभाजन का प्रश्न केवल बंगाल तक ही सीमित न रहकर पूर्ण राष्ट्र में फैल गया। लाला लाजपतराय, श्री अरविंद घोष एवं विपिनचन्द्र पाल ने बाल गंगाधर तिलक को सहयोग देना प्रारम्भ कर दिया। लाला लाजपतराय ने कहा : "कि बंगाल" ने विभाजन के विरुद्ध आन्दोलन का पथ प्रदर्शन किया है। प्रत्येक राज्य को अपने कष्टों के विरुद्ध आन्दोलन करना चाहिए।"

विपिनचन्द्र पाल एवं अरविंद घोष ने पूर्ण स्वराज्य की माँग की तथा वहिष्कार एवं स्वदेशी आन्दोलन को अपना समर्थन दिया। बहुवान्धव उपाध्याय ने एक पुस्तिका "सोनार बागॅला के माध्यम से भारतीय युवाओं एवं छात्रों से ब्रिटिश सरकार को निष्कासित करने का आह्वान किया। उन्होंने

अपनी पुस्तक में लिखा कि बंगाल में "दुर्दिवस का दिन आ गया है। क्या कोई कर्तव्यपरायण पुत्र नहीं है? जन्मभूमि के इस दुर्दिन पर ऐसी शान्ति क्यों? जीवन उत्सर्ग हेतु तत्पर रहो। जो उत्पन्न हुआ है, वह मृत्यु-ग्रस्त होगा। इसलिए किसी प्रकार के भय से साहस का परित्याग मत करो। याद रखो अंग्रेज हमारा रक्तपान कर रहे हैं।"

देश में असंतोष एवं उत्साह की भावना को देखते हुए तिलक ने निर्णय लिया कि इस अवसर का प्रयोग आवश्यक है। उन्होंने कांग्रेस से विनय-अनुनय की नीति का त्याग कर स्वराज्य अथवा स्वतंत्रता की मांग करने का अनुरोध किया। तिलक को अन्य लोगों ने भी समर्थन दिया जिसमें से श्री एन०सी० कालेकर, मराठा के सम्पादक के० पी० कालेकर, केसरी के सहायक सम्पादक गंगाधर राव एवं कर्नाटक के प्रमुख नेता दादा साहब खापड़े आदि प्रमुख व्यक्ति थे। तिलक अपने आन्दोलन को चार मुख्य सिद्धान्तों पर आधारित करना चाहते थे।

1. बहिष्कार
2. स्वदेशी
3. राष्ट्रीय शिक्षा
4. स्वराज्य

बहिष्कार, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा एवं स्वराज्य के नये नारे ने जनता में नव चेतना का संचार किया और इस नारे का सम्पूर्ण राष्ट्र में अत्यधिक उत्साहपूर्वक स्वागत हुआ। ओ० एल० वासवानी ने इस नये नारे की परिभाषा करते हुए कहा कि दीर्घकाल से हम ब्रिटिश सरकारी तंत्र के समक्ष सुधार हेतु याचना करते रहे हैं। और ब्रिटिश तंत्र से यह वस्तु मांगते रहे जो कि कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को नहीं दे सकता, उसे स्वयं ही प्राप्त करना होता है वह है स्वराज्य। तीस वर्ष के पश्चात् हम वास्तविकता से अवगत हो पाये हैं। यही नये आन्दोलन का अर्थ है। यह आन्दोलन भारत के लिये अपनी पुरातन सभ्यता व संस्कृति एवं उस प्राचीन इतिहास के पुनरागमन का आन्दोलन है। लाला लाजपतराय ने कहा : "कि अंग्रेज भिक्षुकों से घृणा करता रहा है अतः यह हमारा कर्तव्य है कि हम अंग्रेजों को इस तथ्य से अवगत करायें कि हम भिक्षुक नहीं हैं बल्कि वह भिक्षुक है जिसकी सम्पत्ति अंग्रेजों द्वारा हस्तगत कर ली गई है और हम अपनी सम्पत्ति लेके रहेंगे।" उन्होंने ब्रिटिश प्रशासन को "निष्क्रिय प्रतिरोध" के द्वारा असफल बनाने का आह्वान किया। श्री अरविंद घोष ने तिलक के चारों सिद्धान्तों को एक "यज्ञ" के रूप में वर्णित किया तथा लिखा कि कोई भी देश राजनीतिक

स्वतन्त्रता के बिना किकास एवं प्रगति नहीं कर सकता। तिलक ने कहा कि स्वदेशी विचारों के प्रचार का मुख्य उद्देश्य यह है कि हम विदेशी वस्तुओं एवं विदेशी विचारों से शनैः-शनैः भारतीय जीवन को दूर रखें। हमारे मस्तिष्क एवं विचार दोनों स्वदेशी होने चाहिए। अतः स्वदेशी आन्दोलन जो कि मात्र विदेशी वस्तुओं के विरुद्ध प्रारम्भ हुआ था, धीरे-धीरे विदेशी राज्य के विरुद्ध भी हो गया। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने विचारों एवं शिक्षा को स्वदेशी बनाने पर जोर दिया। ब्रिटिश सरकार इस बात से पूर्णतया अवगत थी कि स्वदेशी आन्दोलन की लोकप्रियता एवं विस्तार का मुख्य श्रेय छात्र समुदाय को है। छात्रों की गतिविधियों के दमन हेतु सरकार ने शिक्षा संस्थानों को सरकारी परिपत्र प्रेषित किये जिनमें शिक्षा संस्थानों को सरकार विरोधी एवं उदण्ड छात्रों के प्रति कठोर कार्यवाही के लिये कहा गया। इन सरकारी परिपत्रों ने उत्तेजित वातावरण को और अधिक प्रदीप्त किया। इस आलोचनात्मक कटुता में राष्ट्रीय शिक्षा के विचार को जन्म दिया। राष्ट्रीय शिक्षा का अर्थ था कि वह शिक्षा जिसपर सरकारी प्रभाव और नियन्त्रण न हो और शिक्षा राष्ट्रीय परम्परा और आवश्यकता के अनुकूल हो।

सरकारी नीति का तत्कालिक और आक्रमिक परिणाम यह हुआ कि एक प्रति परिपत्र संस्था की स्थापना हुई। इस संस्था का एकमात्र ध्येय छात्रों को एक स्थान पर एकत्रित करना अर्थात संगठन करना तथा धन संचय कर लोगों में देशभक्ति के भाषण एवं गीत सुनाकर जागरुकता उत्पन्न करना था। इसके अतिरिक्त वह सब छात्र जो शासनिक आज्ञा के द्वारा निष्कासित किये गये थे, उनको शिक्षा सुविधाएँ प्रदान करना भी था।

श्री अरविन्द घोष एवं विपिनचन्द्र पाल ने राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना पर बल लिया। उन्होंने कहा कि हमें राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना करनी चाहिए और यदि इससे सरकार रुष्ट होती है तो उसे नहीं होना चाहिए। उन्होंने कहा कि हम लोगों को अपना कर्तव्य पूर्ण करना चाहिए यदि सरकार हमें विवाद से रोके तो क्या हम विवाद नहीं करेंगे। उनके कथानुसार यह मनुष्यत्व का प्रतीक नहीं हैं, तथा वह राष्ट्र कदापि प्रगति नहीं कर सकता जो कठिनाइयों का सामना नहीं कर सकता। सरकार की शिक्षा नीति के विरोध में 1906 में 'राष्ट्रीय शिक्षा समिति' का गठन किया गया। इसका उद्देश्य भारत में साहित्यक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा का विकास था। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण राष्ट्र में राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान खोले गये।

5 नवम्बर 1905 को एकप्रतिवादी सभा का आयोजन किया गया

जिसमें रवीन्द्र नाथ टैगोर, सतीश चन्द्र मुखर्जी, हीरेन्द्र नाथ दत्त इत्यादि ने राष्ट्रीय शिक्षा के स्वरूप को सम्बोधित किया। सुबोध चन्द्र मलिक ने एक लाख रुपये की अनुकरणीय भेंट प्रदान की जिसके फलस्वरूप मेंमन सिंह के जमींदार ने भी इसका अनुकरण किया।

14 अगस्त, 1906 को 'राष्ट्रीय शिक्षा परिषद' (जातीय शिक्षा परिषद्) का औपचारिक रूप से उद्घाटन किया गया। यद्यपि इस परिषद् के अन्तर्गत अनेक शिक्षा संस्थानों का संचालन आरम्भ हुआ परन्तु यह शिक्षा संस्थान अधिक समय तक कार्य न कर सके क्योंकि सरकारी विरोध के अन्तर्गत शिक्षा संस्थानों का संचालन अत्यन्त दुष्कर था। केवल 'जादवपुर इंजीनियरिंग कॉलेज' जो कि इस परिषद् के द्वारा आयोजित किया गया था, उन विषम परिस्थितियों उत्साहपूर्वक कार्यरत में रहा। 1956 में इस संस्था का जादवपुर विश्वविद्यालय में परिवर्तित हो जाना एक स्वार्थरहित सेवा, आदर्शवाद तथा तथा निष्ठा का उत्कृष्ट उदाहरण था।

विदेशी बहिष्कार एवं राष्ट्रीय शिक्षा का मुख्य उद्देश्य स्वराज्य प्राप्ति था। अरविन्द घोष ने कलकत्ता के एक समाचार पत्र "वन्दे मातरम्" में लिखा कि विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, एवं राष्ट्रीय शिक्षा, स्वराज्य के ही विभिन्न अंग हैं। तिलक ने स्वराज्य पर बल देते हुए कहा कि 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, हम इसे प्राप्त करके ही रहेंगे'। विपिनचन्द्र पाल, श्री अरविन्द घोष एवं लाला लाजपतराय ने भी स्वराज्य की प्राप्ति पर अत्याधिक महत्व दिया उन्होंने निष्क्रिय प्रतिरोध के द्वारा स्वराज्य प्राप्त करने को कहा क्योंकि वह अहिंसक आन्दोलन के इच्छुक थे।

इस प्रकार इन राष्ट्रवादियों ने एक नये कार्यक्रम को विकसित किया तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को एक संस्था के रूप में चुना जिसके माध्यम से वह इस कार्यक्रम को क्रियान्वित करना चाहते थे। बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय एवं विपिनचन्द्रपाल ने कांग्रेस के नेताओं से पुरानी अनुरोध की नीति को त्यागने को कहा। ऐसे वातावरण में 1905 में गोपाल कृष्ण गोखले ने अधिवेशन की अध्यक्षता की। उन्होंने अध्यक्षीय भाषण में लार्ड कर्जन की नीतियों की भर्त्सना करते हुये यह मांग की, भारत को भारतीयों की इच्छानुसार ही शासित किया जाय तथा भारत में भी अन्य उपनिवेशों की भांति स्व-शासन की स्थापना की जाय। इस अधिवेशन में तिलक के चार प्रस्तावों में से सिर्फ बहिष्कार का प्रस्ताव पारित हुआ। 1906 में कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ता में हुआ इसके अध्यक्ष दादा भाई नौरोजी थे। उन्होंने स्वराज्य को कांग्रेस के "अन्तिम उद्देश्य" के रूप में ग्रहण किया।

इसके साथ ही स्वदेशी एवं राष्ट्रीय शिक्षा के प्रस्ताव भी पारित कर दिये गये। कांग्रेस ने सम्पूर्ण भारत में बहिष्कार को राजनीतिक अस्त्र के रूप में स्वीकार कर लिया। 1907 में कांग्रेस का अधिवेशन सूरत में हुआ जहाँ तिलक के प्रस्तावों को लेकर कांग्रेस "नर्म दल" और गर्म दल' में विभक्त हो गई। कांग्रेस के लिये यह अवसर अवश्य दुःखदायी था परन्तु कांग्रेस में दो दल हो जाने का लाभ ब्रिटिश सरकार ने उठाया। ब्रिटिश सरकार ने दमनकारी नीतियों का पालन शुरू कर दिया। लाला लाजपत राय और अजीत सिंह को देश से निर्वासित कर दिया गया। इस सरकारी कृत्य ने लगभग सम्पूर्ण राष्ट्र को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध कर दिया। पूरे देश में सभाएँ हुई तथा जुलूस निकाले गये। सरकार ने "बन्दे मातरम्" के प्रकाशक को जेल भेज दिया तथा "युगान्तर एवं 'संध्या' के विरुद्ध भी दमन चक्र चलाया और युगान्तर के सम्पादक को कठोर दण्ड दिया गया। सभाओं पर रोक लगाने हेतु "राजद्रोही सभा अधिनियम" बनाया गया जिसके अनुसार किसी भी सभा के लिये तीन दिन पहले सरकार को बताना आवश्यक कर दिया गया। रासबिहारी घोष ने इस अधिनियम को भारतीयों के राजनैतिक जीवन का अन्त करने वाला बताया। इसके साथ ही विस्फोटक सामग्री अधिनियम तथा समाचार अधिनियम बनाये गये। इन उपर्युक्त अधिनियमों ने सरकार को असीम शक्तियाँ प्रदान कीं। इस प्रकार 1908 का वर्ष दमनात्मक कार्यवाहियों का वर्ष रहा और इसी वर्ष मुज्जफरपुर के न्यायाधीश किंग्सफोर्ड का हत्या का प्रयास किया गया। इस बमकाण्ड में श्री अरविन्द घोष को गिरफ्तार कर लिया गया। इसके कुछ समय पश्चात् बाल गंगाधर तिलक को भी बन्दी बना लिया गया और उन्हें छः वर्ष के कठोर कारावास का दंड दिया गया परन्तु अरविन्द घोष को रिहा कर दिया गया। अरविन्द घोष ने तत्पश्चात् राजनीति से सन्यास ले लिया इस प्रकार 1910 तक राष्ट्रवादियों का दमन पूर्ण रूप से हो गया।

ब्रिटिश सरकार की दमनकारी तथा दण्डकारी नीतियों के उपरान्त भी स्वदेशी आन्दोलन में सभायें, गोष्ठियाँ, राजनीतिक सक्रियता आरम्भ से बनी रही। इस आन्दोलन ने अपने को राष्ट्रीय संघर्ष के प्रवाह में सम्मिलित कर एक नवीन दिशा इंगित की। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने स्वदेशी आन्दोलन के प्रति लिखा, 'कि यह राजनैतिक एवं आर्थिक आन्दोलन नहीं था वरन् राष्ट्रीय जीवन की परिधि में एक व्यापक आन्दोलन था।' गोखले जो कि नर्मदलीय नेता थे उन्होंने भी इस आन्दोलन को राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति एवं विकास में एक युगान्तकारी घटना माना है; क्योंकि उनके विचार में इस

आन्दोलन ने भारतीयों में सौहार्दता की भावना उत्पन्न की। गांधीजी ने भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुये कहा कि भारतीय राष्ट्रीय जागरण यर्थाय रूप से बङ्ग विभाजन के पश्चात् ही आरम्भ हुआ।

इस आन्दोलन ने प्रथमबार भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को केवल उच्च-वर्गीय परिधि से निकालकर मध्य वर्गीय तथा जन-साधारण वर्ग में समाविष्ट किया। जवाहर लाल नेहरू ने उपरोक्त तथ्यों का पूर्णतया समर्थन करते हुये इसकी अभिपुष्टि की और बङ्ग भंग को उस ईंधन की संज्ञा दी जिसने राष्ट्रीय ज्वाला को और अधिक प्रज्वलित किया।

स्वदेशी आन्दोलन शनैः शनैः बंगाल की ही परिधि में स्थित नहीं रहा अपितु उत्तर में पंजाब तक और दक्षिण में केप कैमरन तक इस आन्दोलन का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा। जगन्नाथ पुरी में सौ साधुओं ने स्वदेशी विचारधारा के प्रसाद का व्रत लिया तथा लाहौर और हरिद्वार में अनेक पण्डों ने विदेशी शक्कर के मिष्ठान का देवी देवताओं में चढ़ाने से बहिष्कार किया। नैविनसन के अनुसार स्वदेशी विचारधारा का मद्रास भी केन्द्र था क्योंकि वहाँ समाचार पत्रों में राष्ट्रीय सूती कपड़ों और बन्दे मातरम् सिगरेट का विज्ञापन होता था। महाराष्ट्र में बाल गंगाधर तिलक ने अपने समाचार पत्रों (मराठा एवं केसरी) के द्वारा स्वदेशी वस्तु प्रचारणी सभा में स्वदेशी वस्तुओं का ही क्रय करे ऐसा जनता से वचन लिया। तिलक ने "पैसा कोष" भी स्थापित किया जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति कम से कम एक पैसा सहायतार्थ देकर देश में स्वदेशी उद्योग की पूर्ति में सहायक सिद्ध हो सकता था। इतना ही नहीं तिलक ने पूना में गणपति त्योहार में जापान एवं स्वदेशी आन्दोलन की प्रशंसा में गीत गाने का कार्यक्रम संयोजित किया।

स्वदेशी आन्दोलन के प्रसार ने 1905 के अन्त तक समाचार प्रचार का रूप धारण कर लिया था। जापान की आर्थिक एवं तकनीकी सहायता के साथ उद्योग आरम्भ किये जाने लगे। महाराजा कोल्हापुर तथा मारवाड़ियों ने भी इसमें प्रचुर योगदान दिया। अंग्रेजी सरकार को भारत में जापानी सहायता से संकट का आभास होने लगा था।

इससे भी अधिक ब्रिटिश सरकार को इस बात ने आश्चर्यचकित किया कि स्वदेशी आन्दोलन के उद्भव के पश्चात् भी जापानी वस्तुएं भारत ने प्राप्त की और उन पर किसी प्रकार का बहिष्कार का अंकुश न था।

20 मार्च 1906 को फारमोसन कॉलेज तोकियो के प्रधानाचार्य सकुनूसली मोतादो ने बनारस में व्याख्यान देते हुये कहा कि जापान और भारत पूर्वी देश हैं इसलिए उनमें गठबन्धन हो सकता है। अब उन्होंने भार-

तीयों की स्त्रियों की दशा के उत्थान हेतु भी प्रयत्न किया और कहा, 'कि भारत का मान जापान का मान है और भारत का अपमान जापान का अपमान है।' एक समाचार ने इसका समर्थन करते हुए लिखा कि विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के पश्चात् जापान से ही भारत को गठबन्धन करना चाहिये क्योंकि ऐसी कोई सहायता नहीं जो जापान करने में समर्थ न हो। इस प्रकार स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलन पर जापान का व्यापक प्रभाव पड़ा। क्योंकि उस समय जापान ही ऐसा देश था जिससे विदेशी शासन के विरुद्ध प्रेरणा प्राप्त की जा सकती थी, जापान भी दूसरी ओर एशियाई महत्व में उन्नति करने को आतुर था।

जापान की रूस पर विजय ने भारतीय क्रान्तिकारियों को भी प्रभावित किया, जापानी क्रान्ति की प्रेरणा ने युवकों को अपने देश पर जीवन उत्सर्ग करने का मार्ग प्रदर्शित किया। भारतीय क्रान्तिकारियों ने भी जापान की भांति भारतीय विचार धारा एवं वातावरण में सैनिक परिवर्तन लाने का स्वप्न साकार करने की चेष्टा आरम्भ की। श्री अरविन्द ने भी जापान की ओर इंगित करते हुए भारतीयों को अपने आत्मबल एवं आत्मशक्ति के प्रति आवाहन किया। अतः भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन के नेताओं ने जापान को अपना अग्रज माना, यह स्थिति केवल भारत में ही नहीं थी अपितु सम्पूर्ण एशिया में इसका आन्तरिक प्रभाव था।

शनैः शनैः भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन सशक्त एवं विस्तृत होता गया। क्रान्तिकारियों का उत्साह, उमंग एवं निष्ठा का लक्ष्य भारत में अंग्रेजी शासन का उन्मूलन था, इन क्रान्तिकारियों का स्वरूप कुछ भी रहा हो कार्य प्रणाली भिन्न रही हो किन्तु विदेशी सरकार के प्रति उद्देश्य की पूर्ति हेतु जापान ने अपना पूर्ण समर्थन क्रान्तिकारियों को दिया। भारतीय क्रान्तिकारियों ने जापान जा कर अस्त्र-शस्त्र एवं युद्ध सामग्री के निर्माण का प्रशिक्षण लिया। इसके अतिरिक्त जापान में पत्र पत्रिकाओं ने अंग्रेजी सरकार को चेतावनी देते हुए लेख प्रकाशित किये। अंग्रेजी शासन ने इसके विरुद्ध अपनी दमनकारी नीति का प्रयोग अवश्य किया किन्तु क्रान्तिकारियों के उत्साह एवं जापान के सहयोग के कारण शासन अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सका।

देश भक्ति के इस वातावरण ने इतनी उत्तेजना उत्पन्न कर दी कि हिंसात्मक बम विस्फोट भी पहली भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में हुआ। युवकों के लिये अस्त्र चलाने की शिक्षा संस्थायें, सभायें, समितियां तथा अखाड़ों की स्थापना की गयी। अंग्रेजी शासन के गृह विभाग ने यह सूचना शासन को दी

कि बंगाल में राष्ट्रीय स्वयं सेवक दल की गुप्त स्थापना की गई है जो कि रूस जापान युद्ध का ही एक परिणाम है।

बंगाल में क्रान्तिकारी प्रचार हेतु अनेक पुस्तकों एवं पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ जिनमें मुख्य "भवानी मंदिर, युगान्तर, मुक्ति कौन पाठे" इत्यादि थीं। इन प्रकाशनों ने भारतीयों को मानसिक, भौतिक तथा आत्मिक शक्ति बोध का परिचय दिया। "भवानी मंदिर" में जापान का अनुसरण करने का आग्रह किया गया। जापानी प्रभाव के अन्तर्गत गुप्त रूप से हत्या प्रहारों का कार्यक्रम आरम्भ हुआ जिसमें खुदीराम बोस द्वारा मुजफ्फरपुर बम काण्ड प्रसिद्ध था। हरनाम सिंह के बाजार में यह बम कांड रूस जापान युद्ध से प्रभावित था, क्योंकि जापान की विजय ने राष्ट्रवाद के प्रवाह को तीव्र किया और इस उत्साह से 1908 में प्रथम आतंक वादी घटना घटित हुई। 1909 में अलीपुर बम काण्ड में पुलिस को घटना स्थल पर पकड़े व्यक्तियों के पास रूस जापान युद्ध से सम्बन्धित दस्तावेज प्राप्त हुये। यह भी ज्ञात हुआ कि "जापान जागरण" नामक लेख क्रान्किारियों के मध्य अत्याधिक लोकप्रिय था।

जापान प्रेरणा ने न केवल भारतीयों को उत्साह, उत्तेजना एवं स्वाधीनता का पाठ पढ़ाया अपितु संवैधानिक तथ्यों से भी अवगत कराया। जापान के शासक मिकादो का संवैधानिक सुधार एक महत्वपूर्ण राजनैतिक कार्य था। किसी भी शासक ने इतनी शीघ्र एवं सरलता से जनता की मांग को स्वीकार नहीं किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के दोनों के दलों-नर्मदल तथा उग्र दल को रूस-जापान युद्ध ने प्रभावित किया। दोनों दलों के नेता गोपाल कृष्ण गोखले एवं बाल गंगाधर तिलक ने जापान का अनुसरण करने का परामर्श दिया। निःसन्देह रूस जापान युद्ध ने एशिया के देशों को स्वराज्य का पाठ दिया और स्वाधीनता संग्राम में आने वाले समय के प्रति सजग किया।

राष्ट्रीय आन्दोलन

1. Tarachand ; History of the Freedom Movement in India new Delhi, 1974.
2. Mehrotra, S. R : The Emergence of Indian National Congress, London, 1971.
3. Bengal Harkaru : April 24, 1843. Nov. 18, 1851.
4. Rippon Papers : B, P 7/6 No 13c.
5. Blunt, W. S : India under Rippon-A Private Diary, London, 1919.
6. North Brook Papers : Mss, Eur. C 1441/13.
7. Indian Mirror : January 5, 1886, January 17, 1886.
8. Englishman : September 25, 1875.
9. Shram, T : Indian National Congress, Canberra, 1978.
10. Sahib, S : Birth of Congress, Bombay, 1976.
11. Majumdar, A C : Indian National Evolution, New Delhi, 1974.

12. Campbell, James K : Political Troubles in India, 1907-1917, Delhi, 1973.

13. Frazer, A. L. : India under Curzon and After, London, 1920

14. The Hindoo Patriot : January 1, 1906

15. Nevedita, S : 'The Swadeshi movement, The Indian Review, March 1906.

16. Chaudhury, N. M : 'Historical Back-Ground of the Indian National Movement, the Modern Rrview, November, 1963.

17. Nevinson, H. W. : The New Spirit in India, London 1908.

18. Amrit Bazar Patrika : January 1, 1906; March 23, 1906.

19. Besant. A : How India Wrought for Freedom, New Delhi, 1974.

20. Majumdar, A. C : Indian National Evolution, Madras, 1917.

21. Natesan, G : Swadeshi Movement, 1908,

22. Chirol, Valentine : Indian unrest, London, 1910.

23. Banson, G : Early Indian Movements, London, 1979.

24. Pal, B. C : Swedeshi and Swaraj, Calcutta, 1956.

अध्याय 22

विकसित राष्ट्रवाद

वैदेशिक प्रभाव

रूस-जापान युद्ध

जापान की 1904-05 में रूस पर विजय इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना थी क्योंकि इस घटना ने एशिया के जागरण में अपना विशेष योगदान दिया। इस युद्ध ने भारतीयों को आत्म-निर्णय एवं आत्म निर्भरता का संदेश दिया। जापान की विजय ने भारतीयों को इस विचारधारा के प्रति बाध्य किया कि वह ब्रिटिश साम्राज्य के शोषण को समाप्त कर स्वाधीनता की ओर अग्रसर हो सकें। जापान और रूस के संघर्ष का भारतीयों ने आत्मसत्त होकर अवलोकन किया।

1904 में वर्टन शेडुअल की 'बङ्गाली' नामक समाचारपत्र में प्रकाशित कविता 'डॉन इन द ईस्ट' ने भारतीय उत्साह को व्यक्त किया जिसमें शैडुअल ने एशिया के लोगों को अपनी सुप्त अवस्था से जाग्रत होकर अपने महाद्वीप को सुरक्षित रखने का आह्वान किया।

रूस जापान युद्ध को भारतीय समाचार पत्रों ने विस्तृत रूप से प्रतिपादित किया तथा इस युद्ध की चर्चा का विषय भारतीयों के लिये प्रतिभाजन था। टोकियो से भारतवासी छात्र ने एक जापानी पत्रिका को लिखा कि इस युद्ध में भारतीयों की कितनी रूचि है और जापान के प्रति कितने कृतज्ञ हैं, इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

इस तथ्य की पुष्टि लोकमान्य तिलक के केसरी में इस कथन से होती है जब उन्होंने जापान की वरीयता को एशिया की जनता के लिये एक महान संदेश की संज्ञा दी।

भारतीय शिक्षित वर्ग इस संघर्ष को अत्यन्त रुचिपूर्ण दृष्टिकोण से देख रहा था और जापानी विजय ने भारतीयों के उत्साह का विद्युतीकरण कर दिया।

जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में जापान की विजय की व्याख्या करते हुये कहा कि इस युद्ध के परिणाम केवल मेरे लिये अत्याधिक उत्साह वर्धक ही नहीं वरन् राष्ट्रीयता की विचारधारा ने मेरे मानसपट को घेर लिया है। उन्होंने कहा कि "मैं सदैव यह स्वप्न देखता था कि किस प्रकार तलवार हाथ में लेकर अपने देश की स्वाधीनता के प्रति मैं युद्ध करूँगा।"

इस संदर्भ में सम्पूर्णानन्द ने भी जो कहा है इससे इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि रूस जापान युद्ध ने मध्यम वर्ग को भी प्रभावित किया। सम्पूर्णानन्द ने अपने संस्मरण में लिखा है कि रूस की पराजय और जापान की विजय ने निशचित रूप से एशियाई देशों का मानवर्धन किया। उन्होंने इस युद्ध को अपने व्यक्तिगत परिवार से सम्बन्धित करते हुये इस तथ्य का उल्लेख किया कि जापान विजय ने मेरे पिता और उनके मित्रों, को जो सरकारी नौकर होते हुये भी, उनके मुखमण्डलों पर विजय आभा थी।

जापानी सेना की और नौसेना की सफलता का समारोह 'यंगमैन्स इम्पूर्वमेंट सोसायटी हाल' चादरघाट हैदराबाद दक्षिण में जून 13, 1905 को आयोजित किया गया। इस आयोजन का ध्येय जापान के शासक मिकादों को बधाई देना था। सरोजनी नायडू ने भी इस सभा में व्याख्यान दिया और एक प्रतिनन्दन पत्र (बधाई पत्र) पारित कर 'जापानी सम्राट मिकादो' को, प्रेषित किया गया।

बम्बई में एक अन्य सभा में लोकमान्य तिलक ने भी जापान को बधाई देते हुये जापानी सहायता कोष में लगभग एक हजार रुपये एकत्रित करके भेजे। रवीन्द्र नाथ टैगोर ने कहा "जापान ने अपनी विजय से यह सिद्ध कर दिया है कि पुराने बीज में भी जीव शक्ति थी और केवल इसे नये युग की नयी धरती पर रोपित किया जाना है।"

रूस जापान युद्ध ने संभवतः भारत के प्रत्येक वर्ग की विचारधारा को प्रभावित किया और भारतीय राष्ट्रवादियों ने जापान की ओर प्रशंसात्मक दृष्टि से देखना आरम्भ किया। गोपाल कृष्ण गोखले ने अक्तूबर 9, 1905 को लन्दन में 'फ़ैबियन सोसायटी' को सम्बोधित करते हुये कहा कि भारतीयों को जापान की दृढ़ राष्ट्रीय धारणा से प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए जो कि जापान की सफलता का गुप्त रहस्य है। परिणामस्वरूप भारतीयों ने जापान की देश भक्ति, अनुशासन अनिर्वायशिक्षा तथा राष्ट्रीय भाषा में रुचि लेना आरम्भ किया। इस तथ्य, की पुष्टि पूर्वी बंगाल के उपराज्यपाल बी० फुलर के कथन से होती है कि भारतीय विद्यार्थियों ने जापानी राष्ट्रीय एकता, से स्वत्याग एवं राष्ट्रवाद को गृहण करने हेतु जापानी इतिहास का

अध्ययन अधिक से अधिक करना प्रारम्भ किया।

भारतीयों के आत्मबल एवं दृढ़ निश्चय को जापान ने न केवल प्रोत्साहन दिया अपितु यर्थार्थ पर विचार करने के प्रति बाध्य किया। एक बंगाली समाचार पत्र "श्री श्री विष्णु या प्रिया-ओ-आनन्द बाजार पत्रिका" ने लिखा कि जब चावल खाने वाले जापानी रूसी सैनिकों को पराजित कर सकते हैं तो चावल खाने वाले भारतीय अनुकूल प्रशिक्षण पाने पर अंग्रेजों को क्यों नहीं अपने देश से हटा सकते।

परिणामत: भारतीय छात्र जापानी विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में अध्ययन हेतु जाने लगे। 1905 के अन्त तक लगभग 25 छात्र जापान में अध्ययन लाभ कर रहे थे। जापानी विद्यालयों से शिक्षा प्राप्त कर इन छात्रों में स्वदेश प्रेम की भावना प्रेरणात्मक श्रोत बन गई। 1907, 1908 और 1909 में उन्होंने देशभक्ति की आभा से युक्त स्वदेशी आन्दोलन में पदार्पण किया।

रूसी क्रान्ति 1905

जापान के द्वारा रूस की पराजय में रूसी क्रान्ति का अवक्षेपण किया। 22 जनवरी, 1905 के 'रक्त रंजित रविवार के दिवस इस क्रान्ति का सूत्रपात्र हुआ जब सेन्ट पीटर्स वर्ग में श्रमिकों उनकी पत्नियों, बच्चों के शान्तिमय प्रदर्शन पर ज़ार के सैनिकों ने गोली चलाई। यह नि:शस्त्र जुलूस फादर गेपन के नेतृत्व में ज़ार के समक्ष जनता का 'दुःख निवारक माँगपत्र' प्रस्तुत करने जा रहा था। परन्तु गोली हत्याकांण्ड ने असंतोष एवं उत्तेजना को प्रवाहित किया। तत्पश्चात सम्पूर्ण रूस में प्रदर्शन, हड़तालें तथा शस्त्र विद्रोह आरम्भ हो गये। यद्यपि रूस की प्रथम क्रान्ति असफ़ल रही परन्तु अन्य देशों में इसके स्वाधीनता विकास पर इसका प्रचुर प्रभाव पड़ा। विशेपकर पर्शिया, टर्की, चीन, भारत तथा एशियाई देशों में इसका अधिक प्रभाव दृष्टिगोचर हुआ।

रूसी क्रान्ति ने निस्सन्देह भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को सशक्त रूप से प्रभावित किया। गांधीजी ने इस क्रान्ति को शताब्दी की सबसे महत्वपूर्ण घटना की संज्ञा दी और मानव इतिहास में इसे एक विशिष्ट पाठ के रूप में स्वीकार किया। इस क्रान्ति ने भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं को निरंकुश शासन के विरुद्ध विरोध का पाठ दिया। गांधी जी ने 'इण्डियन ओपीनियन' में लिखा कि हम भी अपने विरुद्ध अत्याचारों के प्रति रूसी उपचार करेंगे। बाल गंगाधर तिलक ने भी आयरलैंड, जापान और रूस का मार्ग अपनाने

के लिये आह्वान किया।

1905 में बङ्ग-भंग के संवैधानिक आन्दोलन की असफलता ने इस विचारधारा को जन्म दिया कि ब्रिटिश शासन ने भी जार शासन की भाँति दमनकारी नीति को अपना लिया है। रास बिहारी घोष ने 1906 के कांग्रेस अधिवेशन में कहा कि रूसी दमनकारी नीति का प्रयोग ब्रिटिश शासन भी करने लगा है। अन्तर केवल यह कि इसी समस्या को लेकर रूस में पारस्परिक संघर्ष है और यहाँ पर हमारा संघर्ष विदेशी शक्ति के साथ है।

इसी अधिवेशन में कांग्रेस अध्यक्ष दादा भाई नौरोजी ने स्वराज्य की माँग को न्यायोचित बताते हुये कहा कि पूर्व में चीन और पश्चिमी एशिया में पर्शिया में जागरूकता के लक्षण प्रतीत हो रहे हैं, जापान इनसे पूर्व ही जागरूक हो चुका है और रूस विमुक्ति के लिये संघर्ष कर रहा है। नौरोजी के कहने का तात्पर्य यह था कि जब इन देशों में निरंकुशता के विरुद्ध जागरूकता आ रही थी तो क्या भारतवर्ष अंग्रेजों के आधीन रह सकता था? रूसी क्रान्ति ने भारतीय क्रान्तिकारियों की विचारधारा में और कार्यप्रणाली में परिवर्तन किया। भारतीय समाचार पत्रों "बंगाली" और "युगांतर" ने भारतीय क्रान्तिकारियों को रूसी पद्धति का अनुसरण करने का आह्वान किया। युगांतर ने देश में गुप्त संस्थाओं तथा युद्ध सामग्री के निर्माण के लिये मार्ग प्रदर्शित किया। इस प्रकार भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में 'बम पिस्तौल पन्न' का समावेश हुआ। 1907 में श्यामजी कृष्ण वर्मा ने अपने पत्र "इण्डियन सोसायेलोजिस्ट" में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध रूसी पद्धति पर आधारित गुप्त संस्थाओं की कार्य प्रणाली का परामर्श दिया। युगांतर ने भी आतंकवादियों को डाकखाने, बैंक तथा शासकीय कोष को लूट कर अपनी आर्थिक सहायता करने का प्रचार किया। लोकमान्य तिलक ने भी उग्रवादियों के प्रोत्साहन हेतु "केसरी समाचार पत्र" में लेख प्रकाशित किये जिसके कारण उनको छः वर्ष का करावास हुआ। तिलक के कारावास ने प्रथम बार श्रमिक जागरुकता को स्पष्ट किया जब समस्त बम्बई में श्रमिकों ने हड़ताल कर दी।

तिलक के मुकदमे के कुछ ही दिनों के पश्चात लेनिन ने भारतीय राजनैतिक परिवृद्धि पर एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने भारतीयों को उपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संघर्ष करने का प्रोत्साहन दिया तथा भारतीय नेताओं की प्रशंसा की और ब्रिटिश सरकार की कठोर आलोचना की।

रूस की क्रान्ति ने भारतीय क्रान्तिकारियों को सैनिक विज्ञान से समबद्ध ज्ञान प्राप्त करने की ओर प्रेरित किया। फलतः क्रान्तिकारियों के

घरों से अंग्रेजी शासन ने सैनिक एवं विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकों, लेखों एवं मानचित्रों को हस्तगत किया। इसके अतिरिक्त पुलिस ने रूस से सम्बद्ध क्रान्तिकारी साहित्य को क्रान्तिकारियों से प्राप्त किया। विनायक दामोदर सावरकर तथा उनके ज्येष्ठ भ्राता गणेश सावरकर ने नासिक में 'अभिनव भारत सोसायटी' की स्थापना रूसी संघर्ष पद्धति पर की। 1909 में गणेश सावरकर के घर से फ्रास्ट की पुस्तक 'सिक्रट सोसायटीज आफ यूरोपीयन रेवोल्यूशन 1776 से 1876' पुलिस ने प्राप्त कर उन्हें गिरफ्तार किया।

इसके अतिरिक्त विदेशों में भी भारतीय क्रान्तिकारियों ने रूसी नाश-वादी एवं समाजवादी कार्यकर्ताओं से अपना सम्बन्ध स्थापित किया। विदेश में भारतीय क्रान्तिकारियों में मुख्य हरदयाल, हेमचन्द्र कानूनगो, श्यामजी कृष्ण वर्मा, मादाम कामा तथा एस० आर० राना थे। श्यामजी कृष्ण वर्मा, मादाम कामा और मैक्सिम गोर्की में काफी घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे और गोर्की श्यामजी कृष्ण वर्मा से प्रभावित थे। गोर्की ने श्याम जी को 'भारतीय मात्सेनी' बताया क्योंकि उनके अनुसार श्याम जी को भारत के इतिहास, समकालिक घटनाओं एवं जनता की इच्छाओं का पूर्ण ज्ञान था।

निःसन्देह रूस की 1905 की लघु असफल क्रान्ति ने भारतीय राष्ट्र-वादियों और विशेषकर भारतीय क्रान्तिकारियों को एक विशेप सन्देश दिया जिसके द्वारा समाजवादी विचारधारा ने जन मानस में अपना मार्ग निर्मित किया।

बॉल्शेविक क्रान्ति

प्रथम विश्व युद्धोपरान्त उपनिवेशिक एवं परतन्त्र राष्ट्रों की आन्तरिक परिस्थितयों में तीव्रता से परिवर्तन आने लगा था। श्रमिक समुदाय की संख्या में वृद्धि के साथ ही साथ पूंजीपति, निम्न तथा मध्यम वर्गों का वर्गी-करण होने लगा। एक ओर साम्राज्यवादी नीति के कारण पूंजीवाद को प्रोत्साहन मिला और दूसरी ओर नेहरू के अनुसार प्रथम बार इतिहास में सर्वहारा वर्ग को देश में मुख्य प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ। रूस की क्रान्ति ने पूंजीवाद से समाजवाद की ओर युग परिवर्तन किया। क्रान्ति के समय भारत के राजनैतिक गर्भ में असन्तोष की भावना व्याप्त थी। देशवासी उस समय राजनैतिक और मुख्यतः आर्थिक स्थिति के कारण अर्तनाद कर रहे थे। इस समय बॉल्शेविक क्रान्ति ने राजनैतिक और आर्थिक स्वतन्तत्रा के लक्ष्यों का नवीन स्वरूप भारतीय राष्ट्रवादियों के समक्ष प्रस्तुत किया।

रूस की क्रान्ति ने भारत के स्वाधीनता आन्दोलन के विकास को त्वरित

किया। पानिकर के अनुसार 'लेनिन-स्टालिन हस्ताक्षर' के द्वारा घोषित रूस की जनता का अधिकार पत्र एशियाई देशों के प्रति नव सन्देशवाहक था। जारवाद की समाप्ति ने भारतीय राष्ट्रवादियों में यह विश्वास उत्पन्न किया कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद को जो कि जारवाद का ही सहोदर था, समाप्त किया जा सकता था। रवीन्द्र नाथ टैगोर ने रूसी क्रान्ति को नवयुग के सूर्योदय की संज्ञा दी अर्थात रूसी क्रान्ति उस प्रभात कालीन नक्षत्र के सदृश थी जो नवयुग के प्रभात का सन्देश लेकर आता है। निस्सन्देह प्रगतिशील भारतीयों ने रूसी क्रान्ति में अपने स्वाधीनता संघर्ष में अपने सहायक और प्रेरक के दर्शन किये। लाला लाजपत राय ने बॉल्शेविक क्रान्ति को यथार्थ और प्रामाणिक विचारधारा की मान्यता दी। बालगंगाधर तिलक के अनुसार बॉल्शेविकवाद के सिद्धान्त और पद्धति की उत्पत्ति गीता एवं शास्त्रों के आधार पर थी।

रूस की क्रान्ति के समाचार भारत में 1918 में प्राप्त होने लगे। साम्राज्यवादियों ने तथा ब्रिटिश पत्रकारों ने रूसी क्रान्ति को अराजकता एवं आतंकवाद का द्योतक बताया, परन्तु धीरे-धीरे क्रान्ति का यथार्थ पक्ष स्पष्ट होने लगा। भारतीय सैनिक जो यूरोपीय युद्ध में भाग लेने हेतु गये थे जब वापिस लौटे तो रूसी क्रान्ति एवं जन परिवर्तन के बारे में भी ज्ञानावलोकन करने लगे। 1918 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मंच से भारत के लिये राष्ट्रीय आत्मनिर्णय की माँग की गई। कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में इस माँग को प्रस्तुत करते हुए मदनमोहन मालवीय ने कहा, कि ब्रिटिश सरकार को भारत की जनता के प्रतिनिधियों के प्रस्ताव को स्वीकार कर भारत में आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को मान्यता देनी चाहिये।

भारतीय राष्ट्रवादियों को लेनिन और मार्क्स की केवल सामान्य जानकारी होने के उपरान्त भी रूसी क्रान्ति ने अपनी राष्ट्रीय मुक्तिकारी भूमिका तथा मानव द्वारा मानव के शोषण एवं सामाजिक व्यवस्था के उद्घोषक के रूप में आकृष्ट किया। सम्भवतः सम्पूर्णानन्द ने ठीक ही कहा है : कि यद्यपि मार्क्सवाद और लेनिनवाद को हम लोग अभी ठीक तरह से प्रारम्भिक रूप से समझ नहीं पाये हैं, फिर भी उन शब्दों और सिद्धान्तों को समझने की चेष्टा कर रहे हैं जिस तत्कालिक विचारधारा ने समकालिक विश्व में लाखों लोगों का भाग्य परिवर्तन कर दिया।'

विपिन चन्द्र पाल ने 1919 में कहा कि बॉल्शेविकवाद का अर्थ है पूंजीपतियों एवं तथाकथित उच्च वर्ग के द्वारा शोषित तथा उत्पीड़ित जनता को स्वतन्त्रता एवं सुरक्षा अधिकार प्रदान करना। लेनिन एवं उनकी क्रान्ति

तत्काल वैचारिक, राजनीतिक एवं संगठनात्मक सभी दृष्टिकोणों से भारत के राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के विकास का कारक बनी ।

रूस की क्रान्ति तथा भारतीय प्रकाशन

भारत में ब्रिटिश सरकार के अधिकारपूर्ण नियन्त्रण के उपरान्त भी लेनिन एवं उनकी क्रान्ति प्रशंसा पुस्तकों और लेखों का प्रकाशन हिन्दी, अंग्रेजी, बंगाली तथा अन्य भारतीय भाषाओं में होने लगा । भारत में रूसी क्रान्ति का प्रथम स्वागत तमिलनाडु के कवि सुब्राह्मणियम भारती ने किया । भारत ने क्रान्ति को 'कृतयुग' का उदय कहा । कृतयुग से उनका अभिप्राय था वह स्वर्ण युग जिममें स्वाधीनता, समानता एवं भ्रातृभाव का समिश्रण हो ।

19 अप्रैल 1918 को 'द बंगाली' ने लिखा कि यह आन्दोलन व्यापक रूप से राष्ट्रीय था और इसकी सफलता का रहस्य जनता और सैनिकों का परस्पर सहयोग था । मार्डन रिव्यू ने मार्च 1918 में कई लेख प्रकाशित किये जिसका तत्व था कि रूसी क्रान्ति ने विवाद ग्रस्त राजनीति को मानविक उत्साह और स्वाधीनता से एक नवीन रूप प्रदान किया है । इस पत्रिका ने आगे लिखा कि रूसी क्रान्ति ने भव्य निर्भीकता के द्वारा पश्चिमी स्वाधीनता की धारणा को पीछे छोड़ दिया था ।

11 जनवरी 1918 को 'बाम्बे क्रानिकल' ने "लेनिन, द मैन एण्ड हिज एम्स" शीर्षक नामक लेख में उन आरोपों का उपहास किया कि लेनिन जर्मनी का गुप्तचर है । इस लेख में रूसी क्रान्ति के महत्व की व्याख्या करते हुए कहा गया कि यह उच्च, मध्यम वर्ग पर सर्वहारा वर्ग की विजय की द्योतक थी ।

1921 में एक पैम्फ़लेट 'गांधी वरसेज लेनिन' डांगे द्वारा प्रकाशित हुआ । इसके अतिरिक्त भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं गांधी, नेहरू, टैगोर, बी०सी० पाल, सुभाषचन्द्र बोस, नरेन्द्रदेव आदि ने रूसी क्रान्ति के प्रति अपने विचार व्यक्त कर लोगों में एक नवीन उत्साह का संचार किया । हिन्दी समाचार पत्रों 'कर्मवीर', 'प्रताप, 'आज' तथा 'वर्तमान' ने भी देशवासियों में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध क्रान्ति का बीजारोपण करने का प्रयत्न किया । इन समाचार पत्रों ने भारतीयों को रूस की क्रांति को अपना पथ दर्शक स्वीकार करने हेतु प्रेरणा दी क्योंकि उनके अनुसार यही एक मार्ग था जो प्रत्येक प्रकार की शोषणता को समाप्त कर सकने में समर्थ था ।

1920 में रमाशंकर अवस्थी ने जो प्रताप पत्र के सह सम्पादक थे,

'रूस की राज्य क्रान्ति नामक पुस्तक की रचना की। 1921 में उन्होंने लेनिन के जीवन पर 'बाल्शेविक जादूगर' नामक एक पुस्तक लिखी जिसके मुखपृष्ठ पर एक कविता अंकित थी।

'यह है लेनिन विश्व विषमता हरने वाला
साम्यवाद का सिंहनाद सा करने वाला।

इसी समय प्रताप के एक अन्य सह सम्पादक देवव्रत शास्त्री ने 'वर्तमान रूस' नामक पुस्तक में दर्शाया कि कैसे रूस की क्रान्ति ने वहाँ की जनता को खुशहाल बना दिया था। 1919 में रामचन्द्र वर्मा ने 'समस्तिवाद' नामक पुस्तक में लेनिन की शिक्षाओं की प्रशंसात्मक व्याख्या की।

एक अन्य हिन्दी पत्रिका 'मर्यादा' ने रूसी क्रान्ति का व्यापक प्रचार किया और लिखा कि रूसी क्रान्ति ने श्रमिक वर्ग तथा कृषक वर्ग को प्रगति का नवीन मार्ग दर्शाया है। गणेशशंकर विद्यार्थी ने 'प्रताप' पत्र में लेनिन एवं रूसी क्रान्ति की प्रशंसा की। 28 मई 1919 के 'प्रताप' में 'किसानों के आर्तनाद' नामक कविता त्रिशूल द्वारा लिखित प्रकाशित की गई। इस कविता की पंक्तियों में शोषण का चित्रण किया गया था।

खून पसीना एक करें हम जोते कड़ी जमीन
उपजायें कुछ भोग न पायें जबर्दस्त ले छीन'

कुछ समकालीन कहानी लेखक भी रूस की सर्वहारा क्रान्ति तथा क्रान्तिकारियों के व्यक्तित्व के प्रभाव से अछूते न रह सके। इनमें मुंशी प्रेमचन्द्र, जयशंकर प्रसाद, सेठ सुदर्शन, बाल चन्द्र शर्मा "नवीन," जैनेन्द्र कुमार, वृन्दावन लाल वर्मा तथा द्विज मुख्य थे। एक ही वर्ष के अन्तर्गत मुंशी प्रेम चन्द्र ने अपना प्रसिद्ध लेख 'महाजनी सभ्यता' प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने शोषणता की पद्धति की कटु आलोचना की और सोवियत रूस की मानवतावादी नव पद्धति का समर्थन किया। मुंशी जी ने अपने उपन्यास कर्मभूमि में देश की स्वाधीनता तथा मिथ्या सिद्धान्त और आदर्शों को उन्मूलन करने हेतु क्रान्ति का मार्ग बताया।

रूस की क्रान्ति का बंगाली साहित्यकारों ने स्वागत किया। बंगाली साहित्य 'बिजाली' ने कहा कि इस क्रान्ति ने आर्थिक असमानता का अन्त कर दिया। एक अन्य बंगाली साप्ताहिक 'आत्मशक्ति' ने लिखा कि रूस और भारत की समस्याओं में काफी साम्यता है इसलिये भारतीयों को इस क्रान्ति से पाठ लेना चाहिये। साम्यवादी सप्ताहिक 'धूमकेतु' ने लिखा कि हमारे स्वराज्य में प्रत्येक प्रकार की समानता होगी अर्थात् कार्लमार्क्स की आर्थिक समानता और समाजवाद, लेनिन का बॉल्शेविक सिद्धान्त इत्यादि

उसमें सम्मिलित होंगे।

अन्य बंगाली पत्रिकाओं ने जैसे मुज़फ्फ़र अहमद द्वारा सम्पादित 'नवयुगम' तथा गुलाम हुसैन द्वारा सम्पादित 'इन्कलाब' ने भी रूसी क्रान्ति को भारतीय राष्ट्रीय चेतना में समाविष्ट किया।

लेनिन स्वयं राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम में रूचि रखते थे। 1921 में लेनिन ने कहा कि ब्रिटिश भारत एशिया के देशों में सबसे आगे है और जिस अनुपात में भारत में औद्योगिक तथा रेलवे सर्वहारा वर्ग की संख्या बढ़ रही है और अंग्रेजों का जघन्य आतंक बढ़ रहा है उसी अनुपात में भारत में क्रान्ति भी जोर पकड़ रही है। लेनिन ने उत्पीड़ित राष्ट्रों और राष्ट्रीय स्वाधीनता से सजग राष्ट्रों को क्रान्तिकारी अवैध, राजनैतिक अपरिपक्वता के विरुद्ध सचेत किया। उन्होंने आग्रह किया कि इस संग्राम के विकास के पथ का तथा तात्कालिक कार्यभार व निर्देशन यर्थाथवादी रूप से एवं भावी संदर्शों को मूल रूप से समझने के पश्चात् ही करना चाहिये।

रूस की अक्तूबर क्रान्ति ने भारतीय क्रान्तिकारियों तथा विदेश में गदर पार्टी और अन्य क्रान्तिकारियों को आकृष्ट किया। रूस की क्रान्ति ने समाजवाद के विरुद्ध आन्दोलन को प्रभावित किया तथा सुधारवादी तथा समाजवादी आन्दोलनों का मार्ग प्रशस्त किया।

कांग्रेस में मतभेद

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को 1885 में कांग्रेस की स्थापना के पश्चात् एक नवीन मार्ग, एक नवीन दिशा प्राप्त हुई। इससे पूर्व भारतीयों के पास कोई ऐसा राजनैतिक मंच नहीं था जिसके द्वारा वह ब्रिटिश सरकार को अपनी माँगों को स्वीकार कराने पर बाध्य कर सकते। 1885 में कांग्रेस की स्थापना ने देशवासियों को एक विश्वास उत्पन्न करा दिया कि इस भारतीय कांग्रेस के द्वारा वह शीघ्रतिशीघ्र अंग्रेज शासन से अपने अधिकारों की सुरक्षा प्राप्त कर सकते हैं। शनैः-शनैः कांग्रेस की नीतियों, उनके नेताओं तथा कार्यप्रणाली को कुछ कांग्रेस सदस्यों ने स्वयं अत्यधिक आत्म समर्पित और विनम्र समझा। उनके विचारों में कांग्रेस को इस प्रकार परवशता तथा आधीनता स्वीकारण का परिचय नहीं देना चाहिए।

इस नवीन प्रकृति एवं विचारधारा का प्रथम परिचय अरविन्दो घोष के लेखों से ज्ञात हुआ। अरविन्दो घोष जिन्होंने इंग्लैण्ड से वापस आने पर बड़ौदा राजकीय सेवा में प्रवेश किया था। 'इन्दू प्रकाशन' नामक समाचार पत्र में इन्होंने प्रौढ़ों के लिये 'नव-ज्योति' शीर्षक से लेखों की एक श्रृंखला

प्रारम्भ की। अपने लेखों में श्री अरविन्दो ने कांग्रेस की आलोचना करते हुये लिखा कि न तो कांग्रेस निर्भीकता पूर्ण ब्रिटिश शासन की आलोचना करती है और न ही देश को आवश्यक एवं निर्धारित नेतृत्व प्राप्त हो रहा है। उन्होंने 'रक्त और ज्वाला' के द्वारा पवित्रीकरण करने का सन्देश दिया। इस सीधी एवं तीखी आलोचना ने कांग्रेस में चिन्ता, उद्विग्नता एवं आक्रोश की भावना को जन्म दिया। पंजाब केसरी लाला लाजपत राय ने कांग्रेस की नरम नीति की आलोचना करते हुये कहा कि राजनैतिक शिक्षा का समय बीत गया और अब हमें सीधी स्वतंतत्रा की बात करनी चाहिये। विपिन चन्द्र पाल ने भी कांग्रेस को ब्रिटिश शासन के प्रति नकारात्मक बताया।

बाल गंगाधर तिलक ने अपनी पत्रिकाओं "मराठा" तथा "केसरी" के के द्वारा जनसाधारण के मानस को नयी दिशा देने की चेष्टा की। उन्होंने 'गणपति' और 'शिवाजी' के उत्सव आरम्भ कर जनसाधारण में एक नयी देशप्रेम की चेतना का प्रवाह किया। तिलक ने भी कांग्रेस को अपनी नमनशील नीति में परिवर्तन लाने को कहा। कुछ सीमा तक तिलक की आलोचनात्मक नीति विवादास्पद है।

उपर्युक्त विचारधारा के उत्पन्न हो जाने के कारण कांग्रेस की मौलिक नीति में दो विचारधारायें उत्पन्न हुई। एक नरमदलीय दूसरी उग्रवादी। नरम दलीय कांग्रेस के मुख्य नेता थे—गोपाल कृष्ण गोखले, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, फिरोज शाह मेहता- शङ्करन् नायर इत्यादि। दूसरी ओर उग्रवादियों का नेतृत्व लाला लाजपत राय, विपिन चन्द्र पाल तथा बाल गंगाधर तिलक कर रहे थे। यह दल 'लाल, बाल तथा पाल' के नाम से प्रसिद्ध था। गोपाल कृष्ण गोखले क्रमशः सुधार एवं सौम्य अनुनय के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे। उन्होंने "सरवेंट्स ऑफ इन्डिया सोसायटी" 1905 में स्थापित की, जिसका ध्येय राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित करना था। उग्रवादी विचारधारा में एक अच्छी सरकार स्वशासन का स्थानापन्न नहीं कर सकती थी। उग्रवादी पक्ष में विपिन चन्द्र पाल और लाला लाजपतराय अत्याधिक कटु थे। लाजपत राय का कथन था: "शासित आधीन प्रजा अपने विदेशी शासन के प्रति किस प्रकार से निष्ठावान हो सकती है?" उन्होंने ने उन भारतीयों को भर्त्सना का पात्र समझा जो साम्राज्य दिवस मना कर भारतीय देश प्रेम पर कीचड़ उछाल रहे थे। लाला जी ने उन भारतीयों की भी निन्दा की जो स्वार्थ लिप्सा में रत ब्रिटिश शासन की सम्मानार्थ उपाधि को अपना सौभाग्य समझते थे। जहाँ नरमदल के नेताओं ने स्थायित्व एवं अराजकता को द्रुत करना चाहा वहाँ लाजपतराय ने अशान्ति एवं अराजकता को प्रगति के

अग्रदूत की संज्ञा दी। उनके विचार में राजनैतिक दासता से उन्मुक्त होने के लिए अशांति के नर्क से होकर जाना आवश्यक था। विपिन चन्द्र पाल ने भी लाला लाजपतराय की भाँति अंग्रेजी शासन से मुक्ति करना प्रथम ध्येय बताया। उनका अभिप्राय था कि भारतीय स्वशासन केवल भारतीयों के हाथ में रहे, इसमें किसी अन्य विदेशी सहायता की आवश्यकता नहीं थी। इस आधार पर उन्होंने स्वराज्य एवं स्वायत्तता की माँग की।

यद्यपि नरम दल के नेताओं का लक्ष्य उपनिवेशिक स्वशासन था किन्तु तिलक ने स्वराज्य का आदर्श सामने रक्खा। तिलक ने स्वराज्य की न तो व्याख्या की और न ही उसका राजनैतिक स्वरूप बताया। क्योंकि उनके अनुसार इस समय शासन के स्वरूप का निश्चय करना कठिन था। इस प्रकार उन्होंने स्वराज्य को न तो अंग्रेजों को निष्कासित करने का माध्यम समझा और न ही अंग्रेज साम्राज्य से सम्बन्ध विच्छेद करने को कहा। तिलक जो भारतीय असंतोष के जनक कहे जाते थे, उन्होंने 1914 में कारावास से मुक्त होने के पश्चात आतंकवाद की भर्त्सना कर ब्रिटिश शासन की उपलब्धियों का ब्यौरा दिया। यहाँ तक कि उन्होंने प्रथम विश्व युद्ध में इंग्लैण्ड को सहयोग एवं समर्थन देने के लिए देशवासियों का आह्वान किया।

दूसरी ओर अरविन्दो घोष ने स्वराज्य की व्याख्या करते हुए इसे स्वाधीनता पर्यायवाचक की संज्ञा दी। अरविन्दों के स्वराज्य में स्वतन्त्रता राष्ट्रीय शासन का सिद्धान्त था जिसमें किसी प्रकार का कोई विदेशी हस्त-क्षेप न हो। प्रवेश एव विधान परिषदों में उदारवादी नीति का परिचालन निरर्थक एवं असंगत था। उनका विचार था कि ब्रिटिश शासन की प्रतिक्रियावादी नीति ही भारत में विद्रोह की स्थिति उत्पन्न कर राष्ट्रीय संकल्प को पूर्ण कर सकती थी। अरविन्दों घोष ने ब्रिटिश शासन के अत्या-चार के विरुद्ध क्रान्ति को आत्म परिक्षण का साधन माना।

अतः नरम दल और उग्र दल की विचारधारा का प्रवाह तीव्र होता गया और कांग्रेस के सूरत अधिवेशन में दोनों धारायें पृथक हो गयी। 1907 के सूरत कांग्रेस अधिवेशन भारतीय स्वाधीनता संघर्ष में एक ऐतिहासिक मोड़ था। जिसने भारतीय जनता को क्रान्ति की विचारधारा से परिचित कराया। यद्यपि आगे चलकर निष्क्रिय विरोध सत्याग्रह एवं सहनशीलता की नीति को कांग्रेस ने साकार रूप दिया, किन्तु उग्रवादियों ने कुछ ही समय में स्वाधीनता संघर्ष के वातावरण को त्वरित कर दिया। 'इंडियन मिरर' ने उग्रवादियों को 'सूक्ष्म दर्शनी' (माइक्रोस्कोपिक) अल्प संख्यक की संज्ञा दी किन्तु इन अल्पसंख्यकों ने अंग्रेजी शासन को उग्रवादियों के विषय पर सोचने

और लिखने के लिए बाध्य कर दिया। भारतीय राजनैतिक मंच पर उग्रवादियों के उदय ने ब्रिटिश शासन और उससे सम्बन्धित अवयवों में अप्रत्यक्ष रूप से उग्रवादी विचारधारा का जनसाधारण में परिपोषण कराया। दूसरी ओर नरम दलीय अपनी समस्त आशायें शासन पर केन्द्रित किए हुये थे क्योंकि उनके अनुसार शासन के सहयोग समर्थन एवं सुधार के द्वारा ही भारतीयों को लाभान्वित किया जा सकता था।

नरम दलीय नेताओं के उपर्युक्त विचारों के कारण अंग्रेज सरकार ने और अधिक इनका समर्थन प्राप्त करना चाहा। इस हेतु सरकार ने 1909 में मार्ले-मिण्टो सुधार अर्थात् 1909 का अधिनियम पारित किया। यह सुधार योजना भारतीय राष्ट्रवाद के तीव्र प्रवाह को नियन्त्रित करने का यथार्थवादी पग था। इस अधिनियम ने साम्प्रदायिकता की नींव रक्खी। उग्रवादी और नरमवादी दल में पारस्परिक सुदूरता उत्पन्न हो गई तथा इसी मतभेद की नीति ने आगे चलकर पाकिस्तान का दर्पण दर्शन कराया।

इस नवीन अधिनियम ने सन्तोषजनक लोकप्रियता प्राप्त नहीं की। नरमदलीय सदस्यों में भी शासन के प्रति आस्था मन्द पड़ने लगी। नये महाराज्यपाल (वायसराय) लार्ड हार्डिंग ने दिसम्बर, 1911 में बंङ्गभग के निर्णय को निरस्त करना चाहा और उनके विचार में इसके द्वारा राष्ट्रवाद की धारा को रोका जा सकता था। महाराज्यपाल पर बम विस्फोट ने इस योजना पर तुषारापात कर दिया। अंग्रेजी शासन की समझ में आ गया कि राष्ट्रीयता की जड़े कितनी गहन और गंभीर है और इसका निवारण सरल नहीं है।

लखनऊ समझौता 1916

1916 का वर्ष भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के इतिहास में राजनैतिक युगान्तरकारी घटना है। इससे पूर्व के दशक में कांग्रेस के मतभेद, तथा कांग्रेस और मुस्लिम लीग के मतभेद के कारण राजनैतिक स्थिरता नहीं आ रही थी। 1908 में ढाका के नवाब सलीमुअल्ला के मुस्लिम लीग की स्थापना के पश्चात कांग्रेस को लीग तथा उग्रवादियों का विरोध प्राप्त हो रहा था। यद्यापि इससे पूर्व शेख रज़ाहुसैन तथा अन्य मुस्लिम नेताओं ने कांग्रेस के साथ मेल मिलाप करना चाहा किन्तु उनके राजनैतिक आचार्य इस प्रकार की किसी भी चेष्टा के विरुद्ध थे।

1916 में लखनऊ में कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने अपने अधिवेशन किए। लखनऊ में दोनों राजनैतिक दलों के नेताओं ने विचार विमर्श

कर स्वशासन के प्रति हिन्दू मुस्लिम एकता को आवश्यक समझा। कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के मध्य लखनऊ समझौता प्राय: दो कारणों से हुआ। प्रथम आटोमन साम्राज्य (टर्की) का मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध प्रथम विश्व युद्ध में युद्धरत होना, और द्वितीय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का मुस्लिम लीग के पृथक निर्वाचन क्षेत्रों की मांग को स्वीकार कर लेना था।

लखनऊ समझौते में अन्य महत्वपूर्ण कार्य नरम दलीय और उग्रवादियों का पुनर्मिलन भी था। इस मतभेद के एकीकरण का श्रेय मुख्यत: श्रीमती ऐनी-बेसेन्ट और लोकमान्य तिलक को है। यह कांग्रेस का पुनर्मिलन अस्थायी सिद्ध हुआ क्योंकि मॉन्टेग्यू चैम्सफ़ोर्ड सुधारों ने पुन: इस कांग्रेस के मिलन को भंग कर दिया। इसका एक और कारण यह भी था कि राष्ट्रीय राजनीति में नरमदलीय गोपाल कृष्ण गोखले और फिरोज शाह मेहता के निधनोपरांत राजनैतिक प्रतिबिम्ब धुधंला पड़ रहा था।

भारत में होमरूल आन्दोलन का आरम्भ तिलक के पश्चात श्रीमती ऐनीबेसेन्ट ने सितम्बर, 1916 में किया। श्रीमती बेसेन्ट थियोसफी आन्दोलन की प्रमुख कार्यकर्ता थीं, और जो अपने समाजिक और शैक्षिक कार्यो के कारण प्रसिद्ध थी। श्रीमती ऐनीबेसेन्ट के होम रूल आन्दोलन के साथ ही लोकमान्य तिलक ने भी अप्रैल 1916 से भारतीय होमरूल लीग की स्थापना की। इन दोनों होम रूल लीगों का पारस्परिक सहयोग था और दोनों का लक्ष्य एवं ध्येय एक था।

होम रूल

1914 में दो प्रमुख घटनायें हुई जिनमें प्रथम इस वर्ष विश्व युद्ध का आरम्भ होना था जिसने सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित किया और फलस्वरूप विश्व के अनेक पराधीन राष्ट्रों को स्वाधीन होने का अवसर प्राप्त हुआ। भारत भी इसके प्रभाव से वंचित न रह सका। द्वितीय, इसी वर्ष बाल गंगाधर तिलक को स्वतंत्र कर दिया गया जिन्हें कि ब्रिटिश सरकार ने मांडले की जेल में छ: वर्ष से बन्दी बनाकर रखा था। लोकमान्य तिलक के छोड़ दिये जाने के परिणामस्वरूप देश के राष्ट्रवादियों में नये जीवन का संचार हुआ।

युद्ध के समय मित्र राष्ट्रों ने अधीनस्थ देशों को नाना प्रकार के प्रलोभनों द्वारा अपने युद्ध कार्य में सम्मिलित करने का पूर्ण प्रयास किया। ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्री एस्क्वीथ ने भारतीयों को वचन दिया कि युद्ध के पश्चात भारतीय राजनैतिक प्रश्न का सहानुभूति पूर्वक अध्ययन किया जायेगा तथा उन्होंने भारतीय जनता को राजभक्ति के पारितोषिक रूप में भारत को स्व-

शासन देने का वचन दिया। उपर्युक्त आश्वासनों के कारण भारत ने ब्रिटेन को विश्वयुद्ध में पूर्ण समर्थन एवं सहयोग प्रदान किया भारतीय नरेशों ने ब्रिटिश सरकार को आर्थिक एवं सैनिक दोनों ही रूपों में सहायता प्रदान की। भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं ने भी भारतीयों से ब्रिटिश सरकार की सहायता हेतु अनुरोध किया। महात्मा गांधी ने कहा, "कि यदि हमें अपने देश की प्रगति हेतु ब्रिटिश सहयोग एवं समर्थन की आवश्यकता होगी तो यह हमारा कर्तव्य है कि हम ब्रिटिश सरकार को उसकी आवश्यकता के समय सहायता दें"। इसी कारण महात्मा गांधी ने इंग्लैण्ड में रहकर "सम्बुलेंस कोर" की स्थापना की और भारत लौटकर भारतीयों को सेना में भर्ती होने के लिए प्रोत्साहित करना आरम्भ किया। गांधी जी इस कठिनाई के अवसर में अंग्रेजों को पूर्ण सहयोग देने के पक्षपाती थे क्योंकि वे इस बात में आस्था रखते थे कि यदि भारतीय जनता कष्ट के समय अंग्रेजों को सहायता प्रदान करेगी तो अंग्रेज सरकार भी भारतीयों के प्रति अपनी नीति में अवश्य परिवर्तन करने को बाध्य होगी। दूसरी ओर लोकमान्य तिलक यद्यपि गांधी जी की उपर्युक्त विचाधारा से सहमत नहीं थे, परन्तु वे जर्मन विजय के परिणामों से भलीभांति अवगत थे और इस कारण विवश होकर उन्होंने भी ब्रिटिश सरकार को समर्थन देने के लिये जनता से अनुरोध किया, परन्तु तिलक ने ब्रिटिश अधिकारियों को आयरिश होम रूल की भांति भारतीयों को भी प्रशासनिक सुधार देने के प्रति सम्बोधित किया। जेल से रिहा होने के पश्चात तिलक ने अपने सहयोगियों की एक सभा की जिसमें खाखडें, देशपांडे, बाबूजी ऐने, डॉ०मोंजो, एम०सी०केलकर०,जे०एस०करूणादिकर, के० पी० खांडिकर, एल० वी० भोटकर एवं एस० के० दामलें सम्मिलित हुए। इन नेताओं ने कांग्रेस के नर्म दल के नेताओं से समझौता करने तथा होम रूल आन्दोलन को प्रारम्भ करने हेतु एक राष्ट्रवादी दल का पुनः संगठन करने का निर्णय किया।

ऐनीबेसन्ट एवं तिलक

होम रूल आन्दोलन की एक अन्य प्रमुख अग्रणी श्रीमती ऐनी बेसेन्ट थी। एक समाजसेविका एवं शिक्षा शास्त्री हाने के कारण ऐनी बेसेन्ट इस बात से सहमत थीं कि बिना राजनैतिक स्वतन्त्रता के किसी भी देश में प्रगति असम्भव है। 1914 में उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लेना आरम्भ किया। उन्होंने भारत में होम रूल की स्थापना के समर्थन में ब्रिटिश जनमत बनाने का प्रयास किया तथा अपने विचारों के प्रचार हेतु 'कामन वाल"

नामक साप्ताहिक पत्र आरम्भ किया। उन्होंने ब्रिटिश संसद में भारतीय दल बनाने का अथक प्रयास किया तथा इंग्लैण्ड में होम रूल लीग की स्थापना की। तत्पश्चात वे भारत आ गयीं और 14 जुलाई, 1915 को 'न्यू इन्डिया' नामक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया और उस पत्र के माध्यम से उन्होंने होम रूल के विचार का प्रचार किया। उन्होंने कहा कि भारत राजनैतिक सुधारों का मुख्य ध्येय ब्रिटिश साम्राज्य के स्वशासित उपनिवेशों की भाँति भारत में भी स्वशासन की स्थापना कराना है। इसके पश्चात ही उन्होंने होम रूल लीगकी स्थापना का निर्णय लिया एवं बम्बई कांग्रेस के अधिवेशन में इस आशय का एक प्रस्ताव भी रखा जिसे कांग्रेस अध्यक्ष ने अस्वीकार कर दिया।

कांग्रेस के नर्म दलीय नेता होम रूल लीग की स्थापना के विरुद्ध थे क्योंकि उनका विचार था कि होम रूल लीग कांग्रेस की शक्ति को क्षीण करेगी। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा, "कि लीग कांग्रेस की पुनः स्थापित एकता को भंग कर देगी।" श्रीमती ऐनीबेसेन्ट ने आरम्भ में गांधी जी को होमरूल लीग में सहयोग देने के लिये कहा, परन्तु गांधी जी ने श्रीमती बेसेन्ट के अनुरोध को अस्वीकार किया। गांधी जी के विचार में प्रथम विश्वयुद्ध के मध्य ब्रिटिश सरकार के कार्य में बाधा उत्पन्न करना उचित नहीं था जबकि ब्रिटिश साम्राज्य जर्मनी के विरुद्ध युद्धरत था। श्रीमती बेसेन्ट ने गांधी जी को कहा, "कि वह अंग्रेजों को उनसे अच्छी तरह पहचानती हैं और यदि भारतीयों के लिये अभी से मंच तैयार न किया गया तो ब्रिटिश सरकार युद्ध में भारतीयों की सेवाओं को बहुत शीघ्र भूल जायेगी।" गाँधी जी ने इसको स्वीकार नहीं किया परन्तु भविष्य में आने वाली घटनाओं ने सिद्ध किया कि श्रीमती ऐनीबेसेन्ट का अनुमान ठीक था।

प्रथम विश्व युद्ध ने कुछ राष्ट्रीय नेताओं की आशा अंग्रेजों पर केन्द्रित की परन्तु होमरूल आन्दोलन के प्रवर्तकों ने प्रथम विश्व युद्ध को अपने आन्दोलन के प्रोत्साहन का आधार समझा। श्रीमती बेसेन्ट ने 1915 में मद्रास के कांग्रेस अधिवेशन में कहा : "कि भारत ब्रिटिश साम्राज्य के 'बाल शिक्षण संस्था' (नर्सरी) में नहीं रहेगा, और हम अपना राष्ट्रीय अधिकार युद्ध के पूर्व माँग चुके हैं, युद्ध के मध्य माँगेंगे और युद्ध के पश्चात माँगेगें। यह माँग या याचना सेवाओं का प्रतिफल नहीं वरन् हमारा राष्ट्रीय अधिकार है।"

राष्ट्रवादियों ने सर्वप्रथम "बम्बई राष्ट्रीय सम्मेलन" को पुर्नजीवित किया तथा 8 मई 1915 को पूना में इस संस्था का सम्मेलन प्रारम्भ

हुआ। इस सभा की अध्यक्षता जोज़फ़ बेपटिस्टा ने की। इस सम्मेलन में तिलक ने सर्वप्रथम होमरूल का प्रस्ताव राष्ट्रवादियों के समक्ष रखा जिसका सम्पूर्ण राष्ट्र ने उत्साहपूर्ण स्वागत किया। इस प्रकार तिलक ने स्वराज्य की माँग को होमरूल द्वारा और अधिक लोकप्रिय बना दिया। लोकमान्य तिलक के अनुसार यह एक सुअवसर था, जबकि भारतीयों को राष्ट्र से सम्बन्धित समस्याओं पर नियंत्रण हेतु अपनी माँग उठानी चाहिये थी। परन्तु उन्होंने इस अभिभावना को भारतीयों के सम्मुख प्रस्तुत करने से पूर्व एक प्रभावकारी संस्थान के निर्माण पर बल दिया तथा यह परामर्श भी दिया कि होमरूल लीग से अधिक उचित अन्य कोई दूसरी संस्था उस स्थिति में सम्भव नहीं हो सकती थी। उन्होंने बम्बई, केन्द्रीय प्रान्त एवं बरार के राष्ट्रवादियों की एक सभा का 23 एवं 24 दिसम्बर 1915 में आयोजन किया। इस आयोजित सभा ने एक समिति का गठन किया और उस समिति को होमरूल आन्दोलन प्रारम्भ करने हेतु संस्था के निर्माण के विषय में विवरण पत्र को बेलगांव में 27 एवं 29 अप्रैल 1916 को सभा के समक्ष प्रस्तुत किया। फलस्वरूप होमरूल लीग के निर्माण का निर्णय लिया गया। होमरूल लीग का मुख्य ध्येय ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत संवैधानिक तरीकों से भारत में होमरूल अथवा स्वशासन की स्थापना करना था। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त उद्देश्य हेतु भारत में जनमत तैयार करना था। इस प्रकार 28 अप्रैल, 1916 को होमरूल लीग की स्थापना हुई जिसके अध्यक्ष जोज़फ़ बैपटिस्टा, उपाध्यक्ष एन० सी० केलकर, तथा सचिव बी० जी० गोखले थे।

होमरूल लीग की स्थापना के पश्चात तिलक ने "केसरी" एवं "मराठा" नामक पत्रों को प्रकाशित करके तथा विभिन्न सभाओं को समय-समय पर सम्बोधित करके होमरूल के ध्येयों तथा लक्ष्यों का पूर्णतया विज्ञापन किया। तिलक का कहना था, "जब आयरलैंण्ड होमरूल की माँग कर सकता था तो भारत क्यों नहीं कर सकता।" वे होमरूल की स्थापना हेतु ब्रिटिश सरकार से निश्चित काल के आश्वासन के इच्छुक थे तथा ब्रिटिश संसद से होमरूल प्रस्ताव करने हेतु प्रयत्नशील थे। अपने भाषणों में उन्होंने कहा कि होमरूल का नियंत्रण पूर्णरूपेण भारतीयों के हाथ में होना चाहिये क्योंकि इसका अप्रत्यक्ष अर्थ स्वराज्य था। उनके अनुसार होमरूल का अर्थ एक ऐसी प्रतिनिधि सरकार की स्थापना था जिसपर जनता का नियंत्रण हो। परन्तु उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बन्ध विच्छेद के लिये माँग नहीं की। तिलक ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तंगत बने रहकर ही स्वराज्य प्राप्त

करने के पक्षपाती थे। उनका मत था कि होमरूल की माँग ब्रिटिश सरकार की प्रभुता को समाप्त करने में नहीं वरन् उसको स्थिर और दृढ़ करने हेतु थी। तिलक का ध्येय ब्रिटिश सरकार द्वारा सुरक्षा प्राप्त करना था। उनका कहना था कि होमरूल आन्दोलन के मुख्य उद्देश्य से भारतीयों को विमुख नहीं होना चाहिये न ही इस तथ्य की उपेक्षा करनी चाहिये कि भारतीयों के हृदय में स्वशासन की भावना को प्रेरित करने वाली अंग्रेजी शिक्षा ही थी। तिलक ने कहा, कि हम ब्रिटिश सरकार का अंग होकर अवश्य रहना चाहते हैं परन्तु एक निर्बल अंग की भाँति कदापि नहीं रहना चाहेंगे जो साम्राज्य पर अपनी निष्क्रियता के कारण एक बोझ बना रहे।" एक अन्य सभा में भाषण करते हुये लोकमान्य ने इस तथ्य की पुनः पुष्टि की और कहा : "होमरूल अथवा स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" उन्होंने भारतीयों को होमरूल आन्दोलन में सक्रिय एवं साहसपूर्वक भाग लेने के लिये प्रेरित किया तथा अपनी नीति पर अडिग रहने का अनुरोध किया। तिलक ने देशवासियों को सम्बोधित करते हुये कहा कि भारत तुम्हारा अपना ही घर है फिर क्यों न इस पर तुम अपना नियंत्रण स्थापित करो ? हम इंग्लैण्ड से प्रथक होना नहीं चाहते परन्तु हम अपने आंतरिक मामलों पर नियंत्रण अवश्य चाहते हैं। वे ब्रिटिश सरकारी तंत्र के विरोधी होते हुये भी लोकप्रिय अधिकारियों को अप्रिय अधिकारियों के स्थान पर पदासीन कराने के पक्षपाती थे। बेलगाँव की एक सभा में बोलते हुए उन्होंने कहा कि स्वराज्य का वास्तविक अर्थ है "कि हमारे मामलों पर किसका नियंत्रण हो? मै ब्रिटिश सरकार को परिवर्तित करना नहीं चाहता परन्तु यह चाहता हूँ कि ब्रिटिश सरकारी तंत्र के स्थान पर आन्तरिक सत्ता भारतीयों को सौंप दी जाय।" सरकारी अधिकारियों के परिवर्तन की मांग कोई राजद्रोह नहीं है क्योंकि इससे ब्रिटिश सरकार अथवा ब्रिटिश शासक प्रभावित नहीं होते हैं। अंग्रेजी सरकार के दमनकारी प्रशासन की निन्दा करते हुए उन्होंने कहा कि ऐसा कोई कारण नहीं था कि भारतीयों को गृह शासन (होमरूल) के योग्य न समझा जाए। उपर्युक्त भाषणों के कारण ब्रिटिश सरकार चिन्तित हो उठी और तिलक को बन्दी बनाने का प्रयत्न करने लगी। इस विरोध के उपरांत भी श्रीमती एनी बेसेन्ट ने सितम्बर 1916 में होमरूल लीग की स्थापना की। कुछ ही समय में इसकी शाखायें कानपुर, मद्रास, अहमदनगर, बनारस कालीकट, मथुरा एवं इलाहाबाद में स्थापित हो गयीं। भारत की थियोसिफिकल समाज की अनेक शाखाओं ने होमरूल लीग के अर्न्तगत कार्य करने पर सहमति प्रकट की।

योगदान

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारत में होमरूल आन्दोलन लोक मान्य तिलक एवं श्रीमती एनीबेसेन्ट की देन था। यद्यपि दोनों ही होमरूल लीग पृथक पृथक संस्थापित हो गयी थीं, और दानों ही संस्थाओं ने पारस्परिक सहयोग से आन्दोलन का प्रारम्भ किया। तिलक की होमरूल लीग बम्बई, केन्द्रीय प्रदेश तथा बरार में सक्रिय थी और श्रीमती बेसेन्ट की होमरूल लीग लगभग पूर्ण भारत में कार्यरत थी। फलतः इस आन्दोलन का शीघ्रता से विकास हुआ तथा जनता में इसका उत्साहपूर्ण स्वागत हुआ। इसी मध्य लखनऊ में कांग्रेस समिति तथा मुस्लिम लीग ने संयुक्त रूप से निर्मित स्वशासन का प्रस्ताव पारित कर दिया। इस प्रस्ताव में प्रदेशीय स्वायत्तता केन्द्र तथा प्रदेशीय विधान सभाओं में सदस्यों का चुनाव, केन्द्रीय, एवं प्रादेशिक परामर्शदाताओं का उत्तरदायित्व, विधान सभाओं द्वारा पारित प्रस्तावों को कार्यकारी बनाने का प्रयास था। गवर्नर जनरल के निषेधाधिकार के प्रयोग के पश्चात भी यदि कोई विधान सभा प्रस्ताव पारित कर देती है तो केन्द्रीय सरकार भी उसे मानने को बाध्य हो।

लखनऊ अधिवेशन के पश्चात बाल गंगाधर तिलक और श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने देश का व्यापक भ्रमण किया जिससे जनसाधारण को कांग्रेस-लीग समझौते के बारे में बताया जा सके। इस आन्दोलन के प्रसार को अवरुद्ध करने हेतु ब्रिटिश प्रशासन ने द्विपक्षीय कूटनीति का आश्रय लिया। एक तरफ उन्होंने भारत में सुधार लाने का परामर्श दिया, दूसरी तरफ अपनी दमनकारी नीति को अपनाया। ब्रिटिश प्रशासन ने शिक्षित वर्ग के द्वारा होमरूल आन्दोलन में भाग लेने का निर्णय लिया। श्रीमती ऐनीबेसेन्ट, तिलक एवं बी०सी०पाल को अपने प्रदेशों में प्रविष्टि पर रोक लगा दी गई। परन्तु इन दमनकारी नीतियों के उपरान्त भी आन्दोलन के प्रसार की गति में अवरोध न उत्पन्न हो सका। 15 जून को श्रीमती बेसेन्ट को बन्दी बना लिया गया जिसके विरोध में सम्पूर्ण राष्ट्र में तनाव उत्पन्न हो गया। श्रीमती बेसेन्ट के स्थान बद्ध हो जाने पर पूर्ण देश में स्वशासन का मूल प्रश्न पुनः जीवित हो गया और होमरूल समर्थकों ने इस प्रश्न को सदैव के लिये हल कर देना चाहा। जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है कि श्रीमती बेसेन्ट की नजरबन्दी ने शिक्षित वर्ग में उत्तेजना उत्पन्न कर होमरूल आन्दोलन को ओजस्विता प्रदत्त की। नेहरू के अनुसार होमरूल आन्दोलन ने केवल उन उग्रवादियों को ही नहीं जो 1907 में कांग्रेस से प्रथक हो गए थे अपितु मध्यम वर्गीय बहुसंख्यकों को भी आकर्षित किया। होमरूल आन्दोलन के देश-

व्यापी स्वरूप ने प्रत्येक वर्ग के नेताओं को अपनी ओर आकृष्ट किया। कांजी द्वारकादास के अनुसार मुहम्मद अली जिन्नाह ने बम्बई में, तेज बहादुर सप्रू, मोतीलाल और सी० वाई० चिन्तामणि ने संयुक्त प्रान्त में, तथा देशबन्धु चितरंजन दास ने कलकत्ता में होमरूल लीग की सदस्यता ग्रहण की एवं निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति के पालन का परामर्श दिया। मुहम्मद अली जिन्नाह ने बम्बई के विधि नेताओं को भी होमरूल में सम्मलित किया।

होमरूल की सदस्यता के साथ ही श्रीमती ऐनी बेसेन्ट को मुक्त कराने के लिये आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। मद्रास के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश, सुब्रह्मणयम् ऐय्यर ने अमरीका के राष्ट्रपति को ब्रिटिश कुशासन के तथा श्रीमती बेसेन्ट की नजरबन्दी पर पत्र भेजा। उन्होंने अपने पत्र में अमरीकी राष्ट्रपति को वर्तमान भारतीय स्थिति की व्याख्या करते हुये ब्रिटिश राज्य की दमनकारी नीति की आलोचना की और बताया कि किस प्रकार अंग्रेजी सरकार भारतीयों का सामाजिक, शैक्षिक, आर्थिक एवं राजनैतिक हनन कर रही थी। उन्होंने पत्र में लिखा कि श्रीमती बेसेन्ट एक कुलीन आयरलैण्ड की महिला हैं जिन्होंने भारतीयों के प्रति अपना कर्तव्य समझकर विश्व कीर्तिमान स्थापित किया है परन्तु ब्रिटिश सरकार ने उन जैसी महिला को भी विधि युक्त संवैधानिक प्रचार करने हेतु स्थानबद्ध कर दिया। होमरूल आन्दोलन ने केवल देशवासियों को ही नहीं विदेशों में प्रवास कर रहे भारतीयों को भी प्रभावित किया। लाल हरदयाल ने स्टॉकहोम से होम लीग में अपनी आस्था व्यक्त की। लाला हरदयाल ने राष्ट्रपति विलसन को एक पत्र के द्वारा भारतीयों का समर्थन करने का आग्रह किया। सुब्रम्हणयम के पत्र का अमेरिका के पत्रों में स्वागत किया गया तथा होमरूल लीग की स्थापना की गई। इस संस्था ने होमरूल आन्दोलन के विचारों का प्रचार एक पत्रिका द्वारा अमेरिका में प्रारम्भ किया। लन्दन में भी होमरूल लीग की स्थापना कर इसके अन्तर्गत राबर्ट स्ट्रीट एवं एडिलफे ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ब्रिटिश समिति से सहयोग करके इस दिशा में कार्य किया। श्रीमती बेसेन्ट ने ब्रिटिश श्रमिकों को सम्बोधित करते हुये एक पत्र में भारतीयों के सहयोग का अनुरोध किया जिसके फलस्वरूप ब्रिटिश सदस्यों की एक समिति का गठन किया गया जो कि भारत में होमरूल की स्थापना के समर्थन में थी। 1918 में बर्किघम में ब्रिटेन के श्रमिक दल के सम्मेलन में एक प्रस्ताव पारित किया गया जिसमें होम रूल का समर्थन किया गया। इस प्रकार उपर्युक्त ब्रिटिश जनमत भी भारत के पक्ष में सहानुभूति अर्जित करने में सफल हुआ। इस आन्दोलन से ब्रिटेन के सरकारी क्षेत्रों में चिन्ता

व्याप्त हो गयी। ब्रिटिश सरकार भारतीय जनता को कष्ट नहीं देना चाहती थी क्योंकि इस समय वह विश्व युद्ध में रत थी। विश्व युद्ध के मध्य मित्र राष्ट्रों द्वारा प्रतिपादित स्व निर्णय एवं प्रजातंत्र के सिद्धान्तों तथा तिलक और श्रीमती ऐनी बेसेन्ट के द्वारा होम रूल के प्रचुर प्रचार नें तत्कालीन भारत सचिव चेम्बरलेन को अपनी नीति में परिवर्तन करने पर बाध्य कर दिया। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट के रिहा होने के तुरन्त पश्चात चेम्बरलेन के स्थान पर मान्टेग्यू भारत सचिव नियुक्त किया गये। भारत सचिव मान्टेग्यू ने 20 अगस्त 1917 को हाउस आफ कॉमन्स में भारत के प्रति ब्रिटिश नीति की घोषणा की। इस घोषणा के अन्तर्गत भारतसचिवने इसबात का उल्लेख किया कि भारतीय राजनैतिक स्थिति का अवलोकन करते हुए भारत के स्वायत्त शासन के विकास में वास्तविक पग उठाने चाहिए। सम्राट का अनुमोदन प्राप्त कर मान्टेग्यू भारत आये और यहाँ आकर उसने कांग्रेस और होम रूल के नेताओं से बात की।

उसके अनुसार प्रशासन में भारतीयों को सम्मलित करने एवं उत्तरदायी सरकार की स्थापना हेतु भारत में स्वशासित प्रतिष्ठानों की स्थापना की घोषणा की गई। यह भी कहा गया कि भारत ब्रिटिश साम्राज्य का अभिन्न अंग रहेगा। तत्पश्चात मान्टेग्यू ने भारत के जनमत से अवगत होने एवं उपर्युक्त विचारधारा क्रियान्वयन हेतु अपनी भारत यात्रा के मध्य भारतीय नेताओं से विचार विमर्श का निश्चय किया।

भारतीय इतिहास में यह प्रथम अवसर था जबकि ब्रिटिश मंत्रि मंडल का महत्वपूर्ण मंत्री भारतीय नेताओं से विचार विमर्श करने हेतु भारत आ रहा था। भारतीय राष्ट्वादियों ने इसका स्वागत किया तथा अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने अपने अग्रिम अधिवेशन में निष्क्रिय प्रतिरोध आन्दोलन के विचार को त्याग दिया और केवल श्रीमती ऐनी बेसेन्ट एवं उनके सहयोगियों की रिहाई की मांग करते रहे। सरकार अन्त में श्रीमती बेसेन्ट को जेल से मुक्त करने पर बाध्य हो गयी।

मांटेग्यू नवम्बर, 1917 में भारत पधारे और यहाँ उनका भव्य स्वागत किया गया। इसी वर्ष कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन में भारत सचिव की भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की घोषणा पर हर्ष व्यक्त किया गया। इस अधिवेशन में एक ऐसे संसदीय विधिकरण की आवश्यकता पर बल दिया गया जिसके द्वारा भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की अवधि निश्चित कर दी जाये। लोकमान्य तिलक ने देश का भ्रमण किया तथा होम रूल के प्रचार हेतु एक प्रतिनिधि मंडल को इंगलैण्ड

भेजने के निमित्त धन एकत्रित किया परन्तु ब्रिटिश सरकार के युद्ध मंत्रिमंडल ने इस प्रतिनिधि मंडल को पारपत्र (पासपोर्ट) नहीं प्रदान किया। तिलक ने सरकार के इस कार्य से निरुत्साहित न होकर देश के युवकों से सेना में भर्ती होने का अनुरोध किया। तिलक ने कहा कि भारत माता की रक्षा के लिये भारतीय नवयुवकों को सेना में भर्ती होना चाहिए। अपनी डायरी में भारत सचिव ने उल्लेख करते हुए लिखा है कि लोकमान्य तिलक और श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने उनको ब्रिटिश राज्य के प्रति कटु सत्य से परिचित कराया। श्रीमती बेसेन्ट ने भारत सचिव को बताया कि कांग्रेस क्रिसमस के निकट एक अधिवेशन करती है, परन्तु अंतराल में निद्रामग्न रहती है। तिलक के प्रति लिखते हुए मान्टेग्यू ने कहा सम्भवत: तिलक भारत का सबसे महत्वपूर्ण और शक्तिशाली व्यक्ति है। मान्टेग्यू ने यहाँ तक कहा कि कांग्रेस पूर्णतया होम रूल के साथ सारूप्य है।

1917 के कांग्रेस अधिवेशन में श्रीमती बेसेन्ट होम रूल आन्दोलन के कारण अध्यक्षा बनाई गई। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा : "भारत स्वशासन दो कारणों से चाहता है प्रथम स्वाधीनता प्रत्येक राष्ट्र का जन्मसिद्ध अधिकार है और द्वितीय भारतीयों का लाभ और अधिकार ब्रिटिश साम्राज्य ने बिना भारतीयों की अनुमति के अपने आधीन कर लिये हैं।" इसलिये श्रीमती बेसेन्ट ने कहा कि हम आत्मसम्मान और भारतीय गौरव-गरिमा के प्रतिष्ठान हेतु स्वशासन चाहते हैं।

भारतीय संवैधानिक सुधारों के प्रति 22 अप्रेल 1917 को मान्टेग्यू-चैम्स-फोर्ड रिपोर्ट जो तत्पश्चात् 1919 के भारत सरकार अधिवेशन में समन्वित की गई, इसने राष्ट्रीय नेताओं के विश्वास को आघात पहुँचाया। यद्यपि नये संविधान ने भारतीय संविधान विकास की ओर एक नवीन प्रकाश दिया। किन्तु राष्ट्रवादियों की उस समय की राजनैतिक माँगों से यह सविधान बहुत दूर था। इसका एक अन्य महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि प्रथम विश्व युद्ध ने राष्ट्रवाद की विचारधारा में महत्वपूर्ण मोड़ ला दिया था और उन्हें अब विदेशी संसद में विश्वास नहीं रह गया था। तिलक ने स्वनिर्णय के सिद्धान्त को लेकर पेरिस शन्ति सम्मेलन को खुला पत्र भी भेज दिया था।

क्रान्तिकारी चेतना

प्रथम विश्व युद्ध ने एक ओर भारतीय राष्ट्रवादी विचारधारा को पोषित किया तथा दूसरी ओर भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन को तीव्रता भी प्रदान की। इस समय के भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन को कहीं-कहीं

आतंकवाद कानाम भी दिया जाता है। कांग्रेस की परिधि से बाहर यह देश भक्तों का वह आन्दोलन था जो राष्ट्र में विश्व की अन्य घटनाओं से प्रेरणा प्राप्त कर देश में विदेशी शासन को समाप्त कर देना चाहते थे। बंगाल से आरम्भ होकर क्रान्तिकारी प्रवृत्ति देश के अन्य भागों में प्रसारित हुई। क्रान्ति कारी कार्यों के अग्रज प्रमथ मित्रा मुख्य थे। वह बंगाल के बैरिस्टर थे और प्रसिद्ध गुप्त संस्था" अनुशीलन समिति" के अध्यक्ष थे। इनको स्वामी श्रद्धानन्द, भगिनी निवेदिता, अरविन्दों घोष एवं देशबन्धु चितरंजन दास का समर्थन प्राप्त था। महाराष्ट्र में गुप्त क्रान्तिकारी संस्था (अभिनव भारत) थी। इस संस्था की स्थापना 1904 में हुई और इस संस्था ने तलवार, नेजेबाजी, पर्वतारोहण, तैराकी और घुड़सवारी की शिक्षा अपने सदस्यों को दी। वीर सावरकर इस संस्था के सक्रिय सदस्य थे। एक अन्य सदस्य पी० एन० बापत को रूसी क्रान्तिकारियों से बम प्रशिक्षण लेने हेतु पेरिस भेजा गया। अभिनव भारत संस्था का पश्चिमी और मध्य भारत की अन्य गुप्त संस्थाओं से भी गठबन्धन था।

समकालीन क्रान्तिकारी प्रचार एवं कार्य भारत से बाहर हिंद चीन, सिंगापुर, स्याम, अफ़गानिस्तान अमरीका और जर्मनी में भी हो रहा था। विदेश में क्रान्तिकारियों के अग्रदूत श्याम जी कृष्ण वर्मा थे। श्याम जी कृष्णा वर्मा ने 1905 मेंलंदन में भारतीय होमरूल संस्था की स्थापना कर "इण्डियन सोसायलोजिस्ट" पत्रिका प्रकाशित करना आरम्भ किया। श्याम जी ने क्रान्तिकारियों के एकत्रित होने तथा गोष्ठियों के लिये लंदन में 'इण्डिया हाउस' भी स्थापित किया। मादाम कामा ने श्याम जी के सहयोग में सुचारु रूप से कार्य किया, मदाम कामा ने यूरोप और अमरीका में क्रान्तिकारी प्रचार किया। अन्य ब्रिटिश क्रान्तिकारियों में थे राजा महेन्द्र प्रताप तथा सरदार सिंह राना इत्यादि। भारत में 'नासिक षडयन्त्र केस' की प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप 1 जुलाई 1909 को इंजीनियरिंग कॉलेज के विद्यार्थी मदन लाल ढ़ींगरा ने सर कर्ज़न विलियम विलि की गोली मारकर हत्या कर दी। ढ़ींगरा ने फाँसी पर जाते हुये कहा, "......भारत के लिये इस समय एक ही पाठ है कि कैसे जीवन दान किया जाय और इसके पाठन का भी एक ही मार्ग है अपना जीवन उत्सर्ग करके......।" विलियम ब्लन्ट ने 'माई डाय-रीज' में लिखा है कि चर्चिल के अनुसार ढ़ींगरा के शब्द देशभक्ति के नाम सर्वाधिक श्रेष्ठ कहे शब्द थे। लाला हरदयाल ने अमरीका में गदर पार्टी स्थापित कर भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन को एक नया मार्ग प्रदत्त किया। भारत में भी रास बिहारी बोस के कार्यों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

निस्संदेह क्रातिकारी आन्दोलन भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के राजनैतिक पट का एक महत्वपूर्ण अध्याय था। परन्तु यह क्रान्तिकारी आन्दोलन अल्पसंख्यक होने के कारण अपने लक्ष्य में विशेष सफल न हो सके। निसशंय इन क्रान्तिकारियों के देश प्रेम और विदेशी शासन के प्रति घोर वितृष्णा ने भारतीय राष्ट्रीय नेताओं को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से पूर्ण सहयोग दिया।

विकसित राष्ट्रवाद

1. Ghose, K. C. : The Roll of Honour, Calcutta, 1965.

2. The Bengalee : April 8, 1904 Wake, Asia, Wake, the red Sunrises Fast. The Sleep of Silent centuries at Last. Is Broken by a Sudden Trumpet Call.

3. Ghosh, Sankar : The Western impact on Indian Politics, Bombay 1967.

4. The Times of India : July 11, 1905.

5. Lawton, L : Empire in the Far East, Vol. II, London, 1912.

6. Karandikar, S. L : Lokmanya Bal Gangadhar Tilak, Bombay, 1957.

7. Nehru, J. L : An Autobiography, London, 1949.

8. Sampuranand : Memories and Reflections, Lucknow, 1961.

9.	The Pioneer	:	July 1, 1905.
10.	Dua, R. D	:	The Impact of the Russo-Japanese War on Indian Politics, New Delhi, 1967.
11.	Cotton, Henry	:	New India, London, 1907.
12.	Gokhale, Gopal Krisna	:	Speeches, Mdras, n. d.
13.	The Indian Review	:	July, 1905.
14.	Fuller, J. F. C	:	India in Revolt, London, 1931.
15.	Cole, G. D. H	:	The Second International (1889-1914), London, 1960.
16.	Lenin, V. I	:	The National Liberation Movement in the East, Moscow, 1970.
17.	Mankind	:	November 1967.
18.	Sedition committee Report	:	Calcutta, 1918
19.	The Bengalee	:	May 25, 1906.
20.	Ghose, B. K	:	Wounded Humanity, Calcutta, 1934.
21.	Yajnik, Indulal	:	Syamji Krishana Varma : Life and Times of an Indian Revolutionary, Bombay, 1950.

गाँधी युग—

1917 में बाल गंगाधर तिलक और एनीबेसेन्ट ने होमरूल आन्दोलन को जनता का हृदय केन्द्र बना दिया और इसकी अनुभूति भारतीय समस्या को एक नवीन दृष्टि से अवलोकन करने

भारत में संवैधानिक विकास को गति प्रदान करना था। इस संदर्भ में तिलक ने कहा कि होम रूल लीग का मुख्य ध्येय जनमत का निर्माण तथा संवैधानिक पद्धति से देश में होम रूल या स्वायत्त शासन की स्थापना की माँग करना था। वे ब्रिटिश सरकार को इस बात पर सहमत करना चाहते थे कि ब्रिटिश संसद भारत में स्वशासन की स्थापना हेतु आयरलैण्ड की भाँति ही एक अधिनियम बनाये। होमरूल आन्दोलन ने जनता की शक्ति को सरकार के सम्मुख स्पष्ट कर दिया। जब सम्पूर्ण देश होमरूल आन्दोलन में व्यस्त था तब भारत के दो स्थानों पर हुई घटनाओं ने आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त किया। प्रथम लखनऊ के कांग्रेस अधिवेशन में गाँधी जी को चम्पारन के नील उत्पन्न करनेवाले किसानों की यूरोपीय जमीदारों द्वारा की जाने वाली दुर्दशा का ज्ञान हुआ। गाँधी जी ने शीघ्र ही इस स्थान का भ्रमण किया तथा उनकी दशा सुधारने हेतु एक जन प्रतिरोध आन्दोलन चलाया जिसमें कृषकों की विजय हुई। इसके अतिरिक्त पश्चिमी प्रदेश के कृषकों ने भी सत्याग्रह का आयोजन कर अपनी माँगे सरकार द्वारा अनुमोदित करवा ली। गाँधी जी ने अहमदाबाद के कारखानों के श्रमिकों की कठिनाईयों की ओर भी अपना ध्यान केन्द्रित किया। एक के पश्चात एक उपर्युक्त घटनाओं ने स्वतंत्रता के लिए युद्ध की भावना को विकसित किया। अभी तक राष्ट्रीय आन्दोलन केवल राजनैतिक उद्देश्य तक ही सीमित था, तथा इसको आर्थिक उद्देश्यों के साथ सम्बन्धित करने का कोई प्रयास नहीं किया गया था। 1918 में प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात दुर्भिक्ष के फलस्वरूप आर्थिक कठिनाइयों ने नये उद्देश्य को स्पष्ट किया जिससे राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वरूप अत्याधिक प्रभावशाली प्रतीत होने लगा।

विश्वयुद्ध ने भी स्वतंत्रता आन्दोलन की गति को तीव्रता प्रदान करने में सहायता की, जिसके परिणामस्वरूप क्रान्तिकारियों ने भारत तथा विदेशों में अपनी गतिविधियों को त्वरित किया। विदेशी शासन के उन्मूलन हेतु वे जर्मनी तथा तुर्की से अस्त्र-शस्त्रों की सहायता प्राप्त करने के लिये प्रयत्नरत

के रूप में हुई। इन मांगो ने भारत में संवैधानिक सुधारों की रूप रेखा प्रस्तुत की। फलस्वरूप लन्दन एवं दिल्ली में कई सुधारात्मक रूपरेखाओं पर विचार विमर्श हुआ और 20 अगस्त 1918 को भारत सचिव मॉन्टेग्यू ने घोषणा कर दी जिसमें भारत में संवैधानिक विकास के उद्देश्य का वर्णन था और जो तत्पश्चात् 1919 के सुधार अधिनियम में परिवर्तित हो गया।

द्वितीय घटना लोकमान्य तिलक एवं श्रीमती ऐनी बेसेन्ट के संयुक्त प्रयासों से होम रूल लीग की स्थापना थी। इस लीग का मुख्य उद्देश्य भारत ने संवैधानिक विकास को गति प्रदात करना था। इस संदर्भ में तिलक ने कहा कि होम रूल लीग का मुख्य ध्येय जनमत का निमार्ण तथा संवैधानिक पद्धति से देश में होम रूल या स्वायत्त शासन की स्थापना की मॉंग करना था। वे ब्रिटिश सरकार को इस बात पर सहमत करना चाहते थे कि ब्रिटिश संसद भारत में स्वशासन की स्थापना हेतु आयरलैण्ड की भाँति ही एक अधिनियम बनाये। होमरूल आन्दोलन ने जनता की शक्ति को सरकार के सम्मुख स्पष्ट कर दिया। जब सम्पूर्ण देश होमरूल आन्दोलन में व्यस्त था तब भारत के दो स्थानों पर हुई घटनाओं ने आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त किया। प्रथम लखनऊ के कांग्रेस अधिवेशन में गाँधी जी को चम्पारन के नील उत्पन्न करनेवाले किसानों की यूरोपीय जमीदारों द्वारा की जाने वाली दुर्दशा का ज्ञान हुआ। गाँधी जी ने शीघ्र ही इस स्थान का भ्रमण किया तथा उनकी दशा सुधारने हेतु एक जन प्रतिरोध आन्दोलन चलाया जिसमें कृषकों की विजय हुई। इसके अतिरिक्त पश्चिमी प्रदेश के कृषकों ने भी सत्याग्रह का आयोजन कर अपनी माँगे सरकार द्वारा अनुमोदित करवा ली। गाँधी जी ने अहमदाबाद के कारखानों के श्रमिकों की कठिनाईयों की ओर भी अपना ध्यान केन्द्रित किया। एक के पश्चात एक उपर्युक्त घटनाओं ने स्वतंत्रता के लिए युद्ध की भावना को विकसित किया। अभी तक राष्ट्रीय आन्दोलन केवल राजनैतिक उद्देश्य तक ही सीमित था, तथा इसको आर्थिक उद्देश्यों के साथ सम्बन्धित करने का कोई प्रयास नहीं किया गया था। 1918 में प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात दुर्भिक्ष के फलस्वरूप आर्थिक कठिनाइयों ने नये उद्देश्य को स्पष्ट किया जिससे राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वरूप अत्याधिक प्रभावशाली प्रतीत होने लगा।

विश्वयुद्ध ने भी स्वतंत्रता आन्दोलन की गति को तीव्रता प्रदान करने में सहायता की, जिसके परिणामस्वरूप क्रान्तिकारियों ने भारत तथा विदेशों में अपनी गतिविधियों को त्वरित किया। विदेशी शासन के उन्मूलन हेतु वे जर्मनी तथा तुर्की से अस्त्र-शस्त्रों की सहायता प्राप्त करने के लिये प्रयत्नरत

हुये । सरकार ने क्रान्तिकारियों की गतिविधियों को रोकने हेतु एक समिति नियुक्ति की जिसमें क्रान्तिकारी गतिविधियों पर प्रतिवन्ध लगाने हेतु परामर्श देने को कहा गया । परिणांमस्वरूप 1919 में राऊलेट अधिनियम का निर्माण हुआ । इसी मध्य कांग्रेस-मुस्लिम लीग ने सर्वैधानिक सुधारों की रूप रेखा प्रस्तुत करते हुये भारत में संरक्षित राज्य की स्थापना तथा भारत के नागरिकों को नागरिकता का अधिकार दिये जाने की माँग की । इसके अन्तर्गत वे विधान परिषदों एवं उनकी संवैधानिक शक्तियों का विस्तार चाहते थे ।

उन्नीस सदस्यों के माँगपत्र के कार्यक्रम में भी इसी प्रकार की माँग की गई जिसमें एक ऐसी सरकार की स्थापना पर बल दिया गया जो वास्तव में जनता के प्रति उत्तरदायी हो । उपर्युक्त दोनों ही दलों ने मताधिकार के विस्तार की माँग को समर्थन दिया । काँग्रेस-लीग के कार्यक्रम में मुसलमानों को विशेष स्तर प्रदान किये जाने की माँग भी सम्मिलित थी ।

अगस्त, 1917 की घोषणा ने ब्रिटिश सरकार की नीति को स्पष्ट कर दिया था । इसमें भारतीयों को प्रशासन के प्रत्येक विभाग में सम्मिलित करने तथाब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत ही भारत में स्व-शासित संस्थाओं के शनैः शनैः विकास का आश्वासन दिया गया था । इसी आधार पर 1919 में मॉन्टेग्यू चैम्सफोर्ड विवरण रिपोर्ट का निर्माण हुआ था । इस विवरण में जनता द्वारा संविधान निर्माण के अधिकारों पर बल नहीं दिया गया और न ही संक्षिप्त राज्य का स्तर प्रदान करने का कोई विचार प्रकट किया गया । नवीन संवैधानिक सुधारों का महात्मा गाँधी, तिलक, श्रीमती बेसेन्ट एवं अन्य नर्मदलीय नेताओं ने स्वागत किया परन्तु वे पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं थे ।

यद्यपि उस समय देश की स्थिति अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण थी क्योंकि युद्ध समाप्त हो जाने के पश्चात देश दुर्भिग्रक्षस्त था तथा सामाजिक क्षेत्र में भी युद्ध ने पुरानी मान्यताओं को परिवर्तनशील बना दिया था । इसके अतिरिक्त राजनीतिक क्षेत्र में भी यह प्रथम अवसर था जबकि देश के श्रमिकों एवं किसानों में राजनैतिक शक्ति का उदय आरम्भ हुआ था । होमरूल आन्दोलन ने निर्धन जनता में राजनैतिक आत्मबोध का प्रसार कर उसे अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध कार्य करने पर बाध्य किया । अरविन्दों घोष एवं तिलक के निष्क्रिय प्रतिरोध एवं स्वावलम्बन के सिद्धान्तों ने जनता की मानसिक चेतना को सुपुप्तावस्था से जागृत अवस्था में परिवर्तित करने में सहायता दी थी । ऐसे वातावरण में 1919 के सुधारकों के नर्मदलीय नेताओं द्वारा स्वागत के उपरान्त भी सफल होने की कम ही आशा थी ।

समय विन्दु-खिलाफत

इसी मध्य दो घटनाओं ने भारतीय जनता एवं सरकारी तंत्र के मध्य विवाद प्रारम्भ कर दिया जिसके फलस्वरूप संवैधानिक सुधारों की क्षीण सी आशा भी समाप्त हो गयी। प्रथम घटना प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात ब्रिटिश सरकार द्वारा तुर्की के साम्राज्य का विघटन था जिसके फलस्वरूप इन विघटित क्षेत्रों पर ब्रिटेन एवं फ्रांस ने 'अधिदेश पद्धति' के अन्तर्गत अपना शासन स्थापित किया। आटोमन सुल्तान का अरब देशों से आध्यात्मिक अधिकार समाप्त हो गया था, जिसने 'इस्लाम क्षेत्र' में उसके 'खलीफा' की स्थिति को गम्भीर रूप से प्रभावित किया। भारतीय मुसलमानों ने ब्रिटिश सरकार की इस नीति को अपने धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार के विरुद्ध तथा ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदत्त आश्वासनों के विपरीत माना। जबकि ब्रिटिश सरकार विश्वयुद्ध में भारतीय मुसलमानों से सहायता की माँग कर रही थी। इस प्रकार खिलाफत आन्दोलन का जन्म हुआ जिसके फलस्वरूप भारत के मुसलमानों को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। मुस्लिम सभा जिनके नेता अधिकतर उलेमा ही थे उन्होंने मुसलमानों को अंग्रेजों के विरुद्ध अपना धार्मिक युद्ध प्रारम्भ करने का आह्वान किया। इस स्थिति में महात्मा गाँधी ने मुसलमानों को अपना सहयोग देना स्वीकार किया तथा खिलाफत सभा को अहिंसक असहयोग आन्दोलन में भी सहयोग देने पर सहमत कर लिया।

गाँधी जी ने इस आन्दोलन के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की क्योंकि वे इस आन्दोलन के माध्यम से हिन्दुओं एवं मुसलमानों के मध्य एकता स्थापित करना चाहते थे। उन्होंने सभी हिन्दुओं से ख़िलाफत आन्दोलन में भाग लेने का अनुरोध किया। 1920 में उन्होंने अखिल भारतीय होमरूल लीग की सदस्यता ग्रहण करने के पश्चात् यह घोषणा कर दी कि उनकी हार्दिक इच्छा है कि होमरूल लीग के सभी सदस्य खिलाफत आन्दोलन के लिए कार्य करें।

महात्मा गांधी इस तथ्य से सहमत थे कि मुसलमानों को अपने प्रभाव में लाने हेतु उन्हें ख़िलाफ़त आन्दोलन का समर्थन करना होगा। उन्होंने शीघ्र ही ख़िलाफ़त आन्दोलन के मुख्य उद्देश्य प्रकाशित करवा दिये एवं 19 मार्च, की हडताल का समर्थन किया। इसके अतिरिक्त एक घोषणा में कहा कि यदि मुसलमानों की माँगों को मान्यता न प्रदान की गई तो असहयोग आन्दोलन ही इसका विकल्प होगा।

14 मार्च को ख़िलाफ़त समिति की एक सभा हुई जिसमें यह निर्णय लिया गया कि यदि ब्रिटिश सरकार ने उनकी माँगों को न माना तो वे ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ करेंगे जो तीन चरणों

में पूर्ण होगा। प्रथम उपाधियों की वापसी, द्वितीय परिषद की सदस्यता से त्यागपत्र, एवं तृतीय करों के भुगतान पर पूर्ण विराम। इसके पश्चात् मेरठ में ख़िलाफ़त सम्मेलन हुआ जिसमें भाषण करते हुये गांधी जी ने कहा कि यदि टर्की के प्रति ब्रिटिश संधि शर्तें अनुकूल नहीं हुई तो ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया जायेगा।

15 मई को टर्की तथा मित्र राष्ट्रों के मध्य प्रस्तावित संधि की शर्तों को प्रकाशित कर दिया गया। सेव्र की संधि द्वारा तुर्की के ऊपर मित्र राष्ट्रों द्वारा आरोपित शर्तों के कारण भारतीय मुसलमानों ने इसका विरोध किया। वे इसे ब्रिटिश प्रधानमन्त्री लायडजार्ज का विश्वासघात मानते थे, क्योंकि जो आश्वासन युद्ध के मध्य भारतीय मुसलमानों को दिये गये थे उनमें तुर्की के सुल्तान की स्थिति को एवं धार्मिक स्थानों पर इसकी प्रभुसत्ता बनाये रखना भी सम्मिलित था। इस पर प्रतिक्रिया स्वरूप फिरंगी महल के उलेमा ने संधि की शर्तों की निन्दा करते हुए असहयोग आन्दोलन को शीघ्र आरम्भ कर देने का सुझाव दिया। गांधी जी ने इन शर्तों को मुसलमानों के धर्म पर कुठाराघात बताते हुए यह घोषणा की कि अन्तिम प्रभावशाली विकल्प केवल असहयोग आन्दोलन ही है। और यह आशा व्यक्त करते हुये कहा कि केन्द्रीय ख़िलाफ़त समिति एक संयुक्त सभा का आयोजन कर इस दिशा में कदम उठाने हेतु निर्णय लेगी।

गाँधी जी के सुझाव पर मुसलमानों ने 22 जून को ब्रिटिश सरकार को चेतावनी देते हुए वायसराय को तुर्की संधि पर पुनः विचार करने अथवा त्यागपत्र दे देने की मांग की। उन्होंने वायसराय को प्रथम अगस्त तक का समय दिया था और ब्रिटिश सरकार द्वारा ख़िलाफ़त समिति की शर्तों को मानने में असमर्थता प्रदर्शित करने के कारण ख़िलाफ़त समिति ने प्रथम अगस्त को असहयोग आन्दोलन का अनुमोदन कर दिया।

द्वितीय घटना राऊलेट विधेयक का ब्रिटिश संसद से पारित हो जाना था जिसने सरकार को क्रान्तिकारियों के विरुद्ध कार्यवाही करने हेतु असीमित शक्तियां प्रदान कर दी थीं। यह अधिनियम राजनीतिक आन्दोलन के विरुद्ध था तथा विधान सभा में निर्वाचित सदस्यों के विरोध के उपरान्त भी स्वीकृत कर लिया गया। राऊलेट अधिनियम चूंकि संघों एवं राजनैतिक संस्थाओं की राजनीतिक स्वतंत्रता के विरुद्ध था, अतः गांधी जी ने यह घोषणा की कि यदि यह विधेयक अधिनियम के रूप में पारित कर दिया जायेगा तो वे सत्याग्रह प्रारम्भ कर देंगे। 18 मार्च, 1919 को गाँधी जी ने कहा कि यदि राऊलेट विधेयक, जो कि भारतीयों की अनुमति,

न्याय, तथा स्वतंत्रता का विरोधी है; पारित होता है तो हम देशवासी तब तक इस अधिनियम का उल्लघंन करेंगे जब तक उस अधिनियम को वापस नहीं ले लिया जायेगा। इस पर भी सरकार ने अपने निर्णय में किंचित परिवर्तन नहीं किया। जिसके फलस्वरूप 6 अप्रैल को सम्पूर्ण-राष्ट्र में हड़ताल का आयोजन किया गया तथा देशवासियों ने व्रत रखा एवं प्रण किया और शपथ ली जिसके परिणामस्वरूप जनप्रतिरोध का प्रादुर्भाव हुआ। इस अधिनियम के विरोध में सम्पूर्ण राष्ट्र में प्रतिक्रियाएँ हुई, हिन्दू तथा मुसलमानों ने साथ साथ इस अधिनियम का विरोध किया। दिल्ली तथा अमृतसर में शान्तिपूर्ण अहिंसक मार्ग अपनाया गया, जिसके फलस्वरूप जलियाँवाला बाग में नृशंसतापूर्ण रक्तपात हुआ। पंजाब में सैनिक शासन (मार्शल ला) लागू कर दिया गया तथा इसके अन्तर्गत पंजाब वासियों पर सरकार ने अत्याचार किए जिससे पूरे देश में असन्तोष की भावना व्याप्त हो गई। इन घटनाओं के कारण सम्पूर्ण भारतीय जनता ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध हो गई।

1919 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में हुआ जिसमें ब्रिटिश सरकार के प्रति रोष की भावना के कारण यह घोषणा की गई कि भारत पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना के योग्य हो गया है तथा संवैधानिक सुधारों को व्यर्थ बताते हुए ब्रिटिश सरकार से यह माँग भी की गई कि "आत्म निर्णय" के सिद्धान्त के अन्तर्गत ब्रिटिश संसद से भारत में पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना हेतु विधेयक पारित किये जायें। एक प्रस्ताव ने मॉटेग्यू-चैम्सफोर्ड संवैधानिक सुधारों के प्रति आभार व्यक्त किया। तथा द्वितीय प्रस्ताव के अनुसार ब्रिटिश सरकार एवं भारतीय जनता द्वारा किये गये हिंसक कार्यों की निन्दा की गई।

इसी समय पंजाब में हुई घटनाओं पर जाँच हेतु नियुक्त हंटर आयोग ने अपनी रिर्पोर्ट प्रकाशित कर दी जिसने सारे राष्ट्र को अमर्ष भावना से परिपूर्ण कर दिया। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने एक विशेष अधिवेशन में असहयोग आन्दोलन के प्रश्न पर विचार विमर्श करने का निर्णय लिया। जून में इलाहाबाद में सम्मेलन हुआ जिसमें असहयोग आन्दोलन के स्वरूप को मान लिया गया और एक समिति को असहयोग आन्दोलन हेतु कार्यक्रम बनाने के लिए नियुक्ति किया गया।

असहयोग आन्दोलन

गांधी जी ने हिन्दू-मुस्लिम समझौते के अन्तर्गत असहयोग आन्दोलन के

सिद्धान्त का घोषणा पत्र प्रेषित किया। असहयोग का सिद्धान्त केन्द्रीय ख़िलाफ़त समिति को भी मान्य था। आन्दोलन औपचारिक रूप से अगस्त 1920 को आरम्भ हुआ। यह दिवस तिलक के निधन के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण था। असहयोग नीति का प्रस्ताव गांधी जी ने कलकत्ता में बुलाये गये विशेष अधिवेशन में रक्खा जिसकी अध्यक्षता लाला लाजपतराय ने की। असहयोग आन्दोलन के प्रारम्भ करने के मुख्य कारण निम्नलिखित थे :

1. पंजाब में ब्रिटिश अत्याचार

जलियाँवाला बाग के नृशंस हत्याकांड ने देशवासियों को तथा राष्ट्रीय नेताओं को सचेत किया कि ब्रिटिश शासन सरलता व सुगमता से भारतीयों की माँग को स्वीकार नहीं करेगा। अत: इस हत्याकांड के अधिकारियों को विशेषकर सर माइकल ओ-डायर को जिसको कि दण्डित करना चाहिये था दोष मुक्त कर दिया गया, इस निर्णय ने भी आक्रोश की भावना को और अधिक तीव्र किया।

2. स्वराज्य की स्थापना

समय की पुकार ने राष्ट्रवादियों को सचेत होने का आह्वान किया। देशवासियों को ब्रिटिश शासन की दमनकारी नीति के विरुद्ध किसी एक मंच पर संगठित होना आवश्यक था। मात्र संगठित होना ही नहीं, अपितु ऐसा कार्य करना आवश्यक था जिससे शासन भविष्य में घोर दमनकारी नीति का परिपालन न कर सके। एवं देशवासी एक सूत्र बद्ध होकर एक नेतृत्व में चल सकें।

3. संघर्ष का नव स्वरूप

असहयोग का एक मापदण्ड यह भी था कि किस प्रकार देशवासियों में अनुशासन, आत्मसम्मान, आत्मनिर्भरता एवं आत्म त्याग की भावना को पोषित किया जा सके। गांधी जी का यह दृढ़ विचार था कि देशवासियों को उपरोक्त शिक्षा के द्वारा ही जाग्रत किया जा सकता है। गांधी जी ने पंजाब के रक्त वर्ण हृदय को तथा ब्रिटिश सरकार की क्रूरता पूर्ण नीति को देखकर शासन के प्रति अपने सहयोग की नीति को परिवर्तित कर दिया।

गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा कि यह आन्दोलन साधारण स्वत्याग पर आधारित है। इस आन्दोलन का सार तत्व निम्न योजनाक्रम में निहित था।

1. 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत चुनाव का बहिष्कार।

2. अवैतनिक पदों तथा उपाधियों का परित्याग।

3. ब्रिटिश सेवा में रत सरकारी भारतीय कर्मचारी किसी सरकारी आयोजित समारोह में भाग न लें।

4. शासकीय अथवा शासकीय अनुदान द्वारा स्थापित शिक्षा संस्थानों का बहिष्कार तथा उनके स्थान पर शिक्षा हेतु राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना।

5. सरकारी न्यायालयों तथा विधान सभाओं का बहिष्कार तथा पारस्परिक विवादों के समाधान हेतु व्यक्तिगत न्यायालयों की स्थापना।

6. मैसोपोटामिया में सेवा करते हेतु सैनिक, क्लर्क एवं श्रमिकों की भरती का बहिष्कार।

7. विदेशी वस्तुओं का वहिष्कार तथा स्वदेशी वस्तुओं का और चर्खा, खद्दर का उपयोग।

8. स्वराज्य कोप की स्थापना।

9. अस्पृश्यता का निर्मूलन।

इसके अतिरिक्त गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन के चार प्रमुख उद्देश्य रखे।

1. स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग,

2. हिन्दू मुस्लिम एकता,

3. शिक्षा माध्यम हेतु भारतीय भाषाओं को मान्यता,

4. भाषा के आधार पर प्रदेशों का पुनः विभाजन।

उनके विचारों में ये उद्देश्य स्वयं ही स्वशासन की ओर निर्देशित थे। कलकत्ता के विशेप अधिवेशन में गांधीजी का अहिंसक असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव पारित हो गया।

असहयोग आन्दोलन ने शनैः शनैः ज्वार भाटा की तरह सम्पूर्ण भारत को अपने अंचल में समेट लिया। इस आन्दोलन ने प्रत्येक वर्ग के लोगों को प्रभावित किया। छात्रों ने शासकीय नियन्त्रित शैक्षिक संस्थानों का बहिष्कार किया। प्रतिष्ठित विधि वेत्ता मोतीलाल नेहरु और देशबन्धु चितरंजन दास वकालत का परित्याग कर इस आन्दोलन में समाविष्ट हो गये। सुभाप चन्द्र बोस ने भारतीय नागरिक सेवा (आई० सी० एस०) से त्याग पत्र देकर राष्ट्रवाद का नारा दिया। अन्य उल्लेखनीय सहयोगियों में मुख्य थे—सी० 'राजगोपालाचारी, गोपबन्धु दास, विट्ठल भाई पटेल, जे० एम० सेन० गुप्ता, हकीम अजमल खाँ, सरोजनी नायडू, अली बन्धु श्री निवास आयं-

गर, अबुल कलाम आजाद, जवाहरलाल नेहरू, लाला लाजपतराय एवं डॉ० अंसारी इत्यादि। उन्होंने संगठित होकर असहयोग आन्दोलन को वृहत स्वरुप प्रदत्त किया। इस आन्दोलन में छात्रों एवं जनता ने स्वेच्छा से गिरफ्तारियाँ दीं, सेठ जमुनालाल बजाज ने वकालत को त्याग देने वाले वकीलों के भरण पोषण हेतु एक लाख रुपया प्रतिवर्ष देने को कहा। इस आन्दोलन में तकली और चर्खा, भारतवासी घरों का एक विशिष्ट अंग हो गया, तथा राष्ट्रीय ध्वज पर भी चर्खे का चिह्न अंकित हुआ जो गाँधी युग का प्रतीक था।

असहयोग आन्दोलन ने ब्रिटिश शासन को संकट सूचना से सचेत किया। शासन ने भारतीयों को पारस्परिक निष्ठा की भावना को जागृत करने हेतु प्रिंस ऑफ वेल्स को भारत में बुलाया। प्रिंस ऑफ वेल्स के भारत आगमन के दिवस (17 नवम्बर, 1921) बम्बई में हड़ताल मनाई गई। ब्रिटिश युवराज के सम्मान में सभी सम्मेलनों और सभाओं का बहिष्कार किया गया तथा निस्सार मार्गों ने युवराज का स्वागत किया। ऐसी स्थिति ने ब्रिटिश शासन में आक्रोश की भी भावना उत्पन्न की, क्योंकि प्रिंस ऑफ वेल्स के आगमन का लक्ष्य पूरा न हो सका। आगामी 5 माह में कांग्रेस और खिलाफत को अवैध घोषित कर लगभग 30 हजार राष्ट्रवादियों को वन्दी बनाया गया।

दिसम्बर 1921 में कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन में असहयोग आन्दोलन का अनुमोदन कर जनता से सविनय अवज्ञा को आयोजित करने का प्रस्ताव रखा गया। गाँधी जी को कांग्रेस ने पूर्ण अधिकार प्रदत्त किये कि वह जिस प्रकार भी चाहें सविनय अवज्ञा आन्दोलन को कार्यान्वित करें। गाँधी जी ने 1 फरवरी 1922 को बारदोली क्षेत्र जो कि बम्बई महाप्रान्त के सूरत जिले मे था उसमें सविनय अवज्ञा आन्दोलन का निर्णय घोषित किया। इस निर्णय ने आशाओं तथा जन आवेश को पल्लवित किया परन्तु गाँधी जी को 'चौरी-चौरा काण्ड' के कारण प्रस्तावित सविनय अवज्ञा निलम्बित करना पड़ा। उत्तर प्रदेश के चौरी-चौरा नामक स्थान में कांग्रेस सदस्यों तथा कृषकों के जनसमूह ने हिंसक होकर पुलिस स्टेशन को आग लगाकर 22 पुलिस वालों को आग में भून डाला। गाँधी जी ने इस घटना से दुखी और हतप्रभ होकर यह कहते हुए आन्दोलन को स्थगित कर दिया, 'कि भारतीय अभी अहिंसावादी संघर्ष के लिए पूर्णतया परिपक्व नहीं हैं।' गाँधी जी के समकालीन सहयोगियों लाला लाजपतराय, सुभाष चन्द बोस इत्यादि ने इस निर्णय की आलोचना की।

इतिहासकारों ने इस आन्दोलन के निलम्बित होने में केवल चौरी-चौरा काण्ड को ही मुख्य कारण नहीं माना। उनके मतानुसार महात्मा गांधी इतने बड़े जनसमुदाय का नेतृत्व करने में असमर्थ थे तथा गांधी जी ने जनता की भावना को जो कि जलियांवाला बाग की मर्मविदारक घटना से हिंसक हो चुकी थी उसको समझने मे भी असमर्थ रहे। इसके अतिरिक्त टर्की में कमाल पाशा की गणतन्त्र की स्थापना के साथ खिलाफत आन्दोलन समाप्त हो चुका था और हिन्दू मुस्लिम एकता का नारा ग्रीष्म गर्जन की भाँति विलीन हो गया।

असहयोग आन्दोलन भारतीय स्वाधीनता संग्राम में एक ऐसी युगान्तकारी घटना है जिसने स्वाधीनता संदेश को जन आन्दोलन के रूप में गांव-गांव में प्रचारित किया। इस आन्दोलन ने असहायता, कुण्ठा एवं विफलीकरण की भावना को समाप्त कर देश प्रेम और स्वाधीनता की भावना को जनता में समाविष्ट कराया। भारतीय नैतिक उत्थान एवं अनुशासन तथा स्वसंगठन इस आन्दोलन की महान अनुभूति थी। यद्यपि आन्दोलन अपने आप में तत्काकालिक सफल न हो सका किन्तु इसने राष्ट्रीय आन्दोलन को अहिंसावादी मार्ग में परिवर्तित करने का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार नवीन अहिंसावादी क्रान्तिकारी तकनीकी के प्रथम चरण का आकस्मिक अन्त हो गया

स्वराज्य पार्टी

गांधी जी के असहयोग आन्दोलन के असफल हो जाने के साथ ही कांग्रेस नेताओं ने गांधी जी की विचारधारा और सिद्धान्तों का विरोध प्रकट किया। देशबन्धु चितरंजन दास और मोती लाल नेहरू ने विधान परिषद के चुनाव में भाग लेने का निर्णय लिया। उनके विचारानुसार प्रशासकीय छिद्रण प्रशासन में भाग लेने से और उस ढांचे के भीतर रहकर सुचारु रूप से किया जा सकता था। देश बन्धु ने गांधी जी के कार्यों को कुप्रबन्ध की संज्ञा दी। कांग्रेस के उन सदस्यों ने जो किसी प्रकार के परिवर्तन के इच्छुक नहीं थे नेहरू-दास परामर्श को स्वीकार नहीं किया।

इस प्रकार कांग्रेस के भीतर दो विचारधारायें उत्पन्न हो गई परिवर्तनशील एवं अपरिवर्तनशील (प्रो० चेंजर और नो चेंजर)। 19 दिसम्बर 1922 के गया कांग्रेस अधिवेशन में कांग्रेस सदस्यों ने अपरिवर्तनशील दल को समर्थन दिया। इस पर परिवर्तनशील दल ने स्वराज्य पार्टी की स्थापना की।

योजना

स्वराज्य पार्टी के नेता गया के अधिवेशन से अपने-अपने क्षेत्रों में

योजनाबद्ध कार्यक्रम कार्यान्वित करने हेतु लौट गये। देशबन्धु चितरंजन दास को बंगाल, केन्द्रीय प्रदेश तथा दक्षिणी भारत के प्रचार का कार्य सौंपा गया। मोतीलाल नेहरू को उत्तरी भारत एवं विठ्ठल भाई पटेल को बम्बई महाप्रान्त में कार्यरत होने को कहा गया। राष्ट्रीय समाचारपत्रों का स्वराज्य विरोधी होने के कारण इस पार्टी के नेताओं का मुख्य कार्य केवल प्रचार पर आधारित था। कलकत्ता में 'बाँगलाकथा' नामक पत्र प्रकाशित किया जाने लगा जिसके सम्पादक सुभाष चन्द्र बोस थे। हिन्दू के सम्पादक रंगास्वामी आयँगर ने भी इसमें सहयोग दिया। उनका तमिल समाचारपत्र 'स्वदेशी मित्रम्' स्वराज्य पार्टी का मुख्य पत्रिकारिता अंग बन गया। कुछ समय पश्चात इसी नाम से एक साप्ताहिक अंग्रेजी में प्रकाशित होने लगा। पूना से प्रकाशित 'केसरी' ने अपना प्रभावशाली कार्य किया और लोकमान्य तिलक के निधन के पश्चात श्री केलकर इसके सम्पादक हुए और उन्होंने भी परम्परा को बनाये रखा।

स्वराज्य पार्टी के प्रारम्भिक प्रचार के बाद प्रथम स्वराज्य सम्मेलन मार्च में इलाहाबाद में मोतीलाल नेहरू के घर पर हुआ। इस सभा में स्वराज्य पार्टी के संविधान एवं आन्दोलन की योजना निर्धारित करने का कार्यक्रम बना। संविधान सम्पादन के समय स्वराज्यपार्टी के लक्ष्य को लेकर विवाद उत्पन्न हुआ जिसका विषय था कि वर्तमान लक्ष्य पूर्ण स्वाधीनता होना चाहिये अथवा स्वतंत्र उपनिवेश अर्थात अधिराज्य की स्थापना ही प्रथम चरण का प्रारम्भ हो।

स्वराज्य सम्मेलन के तुरन्त पश्चात देशबन्धु ने दक्षिणी भारत का भ्रमण किया और निस्सन्देह उन्हें गाँधीवाद के कठिन समर्थन का सामना करना पड़ा। धीरे-धीरे स्वराज्य पार्टी ने अपने प्रभाव एवं सदस्यता में विकास किया। 1923 के परिषदों के चुनाव में स्वराज्य पार्टी का मुख्य लक्ष्य संवैधानिक रूप से अवरुद्धता उत्पन्न कर नवीन एवं उद्यमशील राजनीति का वातावरण तैयार करना था। अर्थात इनका ध्येय ब्रिटिश सरकार को इस तथ्य से अवगत कराना था कि भारतीय अपने हितों के प्रति ध्यान रहित नहीं हैं। इसके अतिरिक्त स्वराज्य नेताओं का मुख्य अभिप्राय था कि बार-बार ब्रिटिश सरकार को भारतीयों की राष्ट्रीय चेतना एवं समस्याओं से अवगत कराया जाय। 1924 में गाँधी-दास समझौते ने स्वराज्य पार्टी की राजनैतिक गतिविधियों को आन्दोलित किया। इस समझौते के अनुसार स्वराज्य पार्टी का क्षेत्र राजनैतिक कार्यों तक सीमित था तथा महात्मा गाँधी को अपने खादी आन्दोलन का सक्रिय कार्य करना था।

स्वराज्य पार्टी की असफलता

निःसन्देह स्वराज्य पार्टी ने ब्रिटिश राज्य निर्मित परिषदों में प्रवेश कर शासन की भारतीयों के प्रति नये कानून निर्मित करने के लिये दबाव डाला। अपने आरम्भिक काल में तो स्वराज्य सदस्यों ने परिषदों में अपने उत्साह एवं कर्मठता का परिचय दिया, परन्तु कुछ ही समय में उन्हें यह ज्ञात होने लगा कि परिषद राजनीति में सफलता ग्रहण करना अत्यन्त दुष्कर कार्य था। इसका मुख्य कारण वायसराय का अधिकार था जिसके द्वारा महा-राज्यपाल परिषद के निर्णयों को अस्वीकार कर सकता था। महाराज्यपाल के इस अधिकार ने स्वराज्यवादियों के कार्य को अत्यन्त कठिन कर दिया। इसके अतिरिक्त 1925 में देश बन्धु चितरंजन दास के निधन ने स्वराज्य पार्टी की शक्ति को क्षीर्ण कर दिया। इसी समय में अन्य भारतीय राजनैतिक दलों का भी उद्भव हुआ जिनमें मुख्यता हिन्दू महासभा एवं भारतीय साम्यवादी दल था। अतः सदन के आगमन और निर्गमन ने स्वराज्जियों को परिश्रमी देशभक्ति एवं संचरण देशभक्ति से युक्त टिप्पणियों से सुशोभित किया। 1927 तक अपने पांच वर्षों के कार्य में पार्टी की राजनैतिक व्यर्थ-तता अवलोकित होने लगी।

निःसन्देह स्वराजवादियों की नीति-योजना की आलोचना उपरान्त भी उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में जो अपना योगदान दिया उसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उस संकटकालीन स्थिति में जब गांधी जी ने अपना असहयोग आन्दोलन निलम्बित कर दिया था, स्वराज्य पार्टी ने देशवासियों का उस असमंजस्य के समय में एक नवीन उत्साह एवं मार्ग दर्शन किया। स्वराज्य पार्टी के ही कार्यों द्वारा संविधान संशोधन हो सका, मुडिमैन समिति का गठन हुआ और साईमन आयोग का समय पूर्व आगमन हुआ।

साइमन आयोग

स्वराज्य पार्टी के राजनैतिक कार्यों ने, मुस्लिम लीग में मोहम्मद अली जिन्नाह के नेतृत्व ने तथा 1923 से साम्प्रदायिकता की विवादपूर्ण स्थिति ने ब्रिटिश सरकार को भारतीय राजनैतिक स्थिति का पुनरावलोकन करने पर बाध्य किया। नवम्बर 1927 को ब्रिटिश सरकार ने भारत में एक आयोग भेजने का निर्णय घोषित किया। इस आयोग का अभिप्राय भारत की राजनैतिक अव्यवस्था के कारणों तथा उनका समाधान करना था।

सात सदस्यी साइमन आयोग का भारत आगमन फरवरी 1928 में

हुआ। इस आयोग के अध्यक्ष थे सर जान साइमन और अन्य सभी सदस्य अंग्रेज थे। भारतीय जनता में इस आयोग की संयोजन व्यवस्था ने आक्रोश की भावना का समावेश किया। देशवासियों का विचार था कि आयोग की सदस्यता के चयन के समय स्वदेशी लोगों को भी अवसर दिया जायगा किन्तु अंग्रेजी सरकार का पूर्णत्व देखकर कांग्रेस, उदारवादियों तथा मुस्लिम वर्ग के एक वृहत भाग ने इस आयोग का बहिष्कार किया। कांग्रेस का कथन था कि स्वराज्य के प्रश्न पर किसी प्रकार के जांच आयोग का निर्णय राजनैतिक रूप से औचित्यपूर्ण नहीं था।

इस प्रकार साइमन आयोग का स्वागत एवं बहिष्कार काले झन्डे तथा 'साइमन वापिस जाओ' के नारों से किया गया। लाला लाजपत राय लाहौर में प्रदर्शन करते हुए पुलिस द्वारा गंभीर रूप से घायल हुए। उनके ही शब्द थे कि मेरे ऊपर प्रत्येक प्रहार की चोट ब्रिटिश साम्राज्य के कफन में एक कील होगी। लखनऊ में गोविन्द वल्लभ पन्त भी गंभीर रूप से घायल हुये और जवाहर लाल नेहरू को भी अपमानजनक स्थित का सामना करना पड़ा। इस बहिष्कृत आयोग ने अपने पूर्ण विरोध के उपरान्त भी द्विभागीय प्रतिवेदन जून 1930 में प्रस्तुत किया। यद्यपि इस आयोग के बहिष्कार के कारण इसके प्रतिवेदन ने किसी भी वर्ग को आकृष्ट नहीं किया, इस पर भी रिपोर्ट एक महत्वपूर्ण प्रलेख माना जाता है। जबकि 'लन्दन स्पैक्टेटर' ने इस रिपोर्ट को कठिनाईयों का पुलिन्दा बताया और अन्य आलोचकों ने रिपोर्ट की विकृतियों को स्वत:जनित कहा। 1935 के संविधान में इस आयोग अथवा रिपोर्ट के परामर्शो का समावेश किया गया। साइमन आगमन ने एक ओर देशवासियों को विक्षुब्ध एवं संतप्त किया, दूसरी ओर राष्ट्रीय नेताओं को पुन: संगठित होने पर बाध्य किया।

नेहरू रिपोर्ट

साइमन आयोग के आगमन का सकारात्मक एवं रचनात्मक पक्ष सर्वदल सम्मेलन था जो लखनऊ में अगस्त 1928 में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन का मुख्य ध्येय संविधान की रचना थी जो कि लार्डबिर्कनहेड (भारत सचिव) की चुनौती का प्रभावी उत्तर था। भारत सचिव के अनुसार भारतीय राजनीतिज्ञों एवं राष्ट्रवादियों के लिये समस्त राष्ट्रीय वर्ग की इच्छाओं का समावेश करते हुये कोई संविधान बनाना असंभव था। इस सम्मेलन ने अपनी एक समिति को संविधान प्रारूप तैयार करने के लिये कहा और इस समिति के अध्यक्ष थे मोतीलाल नेहरू और इसलिए इसको

'नेहरू समिति' भी कहा जाता है और इसकी रिपोर्ट अथवा प्रतिवेदन को 'नेहरू रिपोर्ट' के नाम से भी जाना जाता है। इस प्रतिवेदन में निम्न-लिखित निर्णय लिये गये–

1. स्वतन्त्र उपनिवेश अथवा अधिराज्य (डोमिनियन राज्य) को तत्कालिक आगामी ध्येय माना गया।

2. पृथक चुनाव क्षेत्रों तथा अतिरिक्त सुविधाओं का अंगीकरण (अस्वीकार) कर मुस्लिमों को प्रान्तीय स्वायत्तता की सुरक्षा प्रदत्त की गई।

3. इस सविधान के अन्तर्गत केन्द्रीय और प्रांतीय अधिकारों के अन्तर्गत केन्द्रीय और प्रांतीय अधिकारों का विभाजन किया गया। अवशिष्ट अधिकारों को केन्द्र में ही निहित किया गया।

इस नेहरू रिपोर्ट का मुसलमान समुदाय ने विरोध किया। जनवरी 1929 में मुस्लिम लीग के नेता मुहम्मद अली जिन्नाह ने अखिल भारतीय मुस्लिम सम्मेलन में पृथक चुनाव क्षेत्रों की, अतिरिक्त सुविधाओं की, संघीय संविधान एवं विशिष्ट अधिकारों की प्रांतीय सरकार में समावेश करने की माँग रखी। एक बार पुनः कांग्रेस द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता को आघात पहुंचा। डॉ० एम० ए० अन्सारी ने यद्यपि कांग्रेस समर्थक राष्ट्रवादी मुस्लिम पार्टी स्थापित कर परिस्थितियों को अनुकूल बनाना चाहा किन्तु वह इसमें अधिक सफल न हो सके। इसकी असफलता का मुख्य कारण था पार्टी का मुस्लिम वर्ग का जनसाधारण से सम्पर्क न होना। एक अन्य महत्वपूर्ण कारण हकीम अजमल खाँ का निधन था। उनके विशिष्ट एवं प्रभावी व्यक्तित्व के राजनैतिक मंच से हट जाने पर हिन्दू-मुस्लिम एकता को आघात पहुंचा।

1928 के उदय ने भारतीय राजनैतिक मंच को मध्यमवर्गीय युवक क्रान्तिकारियों, अशांत औद्योगिक श्रमिकों, असतुष्ट कृषक वर्ग तथा श्रमिक संघ (ट्रेड यूनियन) के आन्दोलनों से आन्दोलित किया। इस आन्दोलनों ने खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त कर जनता के प्रति एक उत्साहपूर्ण वातावरण निर्मित किया। सरदार बल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में शासन की राजस्व नीति के विरोध में बारदोली के कृषक वर्ग ने वीरतापूर्ण संघर्ष किया। वस्तुतः राजनैतिक वातावरण विस्फोटजनक एवं आशाजनक प्रतीत होने लगा था।

रैम्जे मैक्डॉनेल्ड घोषणा

1929 में ब्रिटिश लेबर पार्टी सत्ता में आई। साइमन ने प्रधानमंत्री रैम्जे मैक्डॉनेल्ड को एक पत्र में परामर्श दिया कि ब्रिटिश सरकार भारतीय

प्रतिनिधियों से वार्तालाप करें। यह प्रस्ताव 31 अक्तूबर 1929 को स्वीकार किया गया। ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने गोलमेज सम्मेलन की घोषणा की। परन्तु गांधी जी और महाराज्यपाल लार्ड इर्विन के मध्य स्वतन्त्र उपनिवेश की समस्या को लेकर निराशा उत्पन्न हो गई।

अगस्त 1932 में रैमजे मैकडॉनेल्ड ने साम्प्रदायिक घोषणा की जिसके अन्तर्गत मुसलमानों, सिक्खों एवं योरोपीय देशवासियों के लिये पृथक निर्वाचन समूह की व्यवस्था की गई थी। इसमें महिलाओं के लिये स्थान सुरक्षित थे। पिछड़े वर्गों के लिये भी एक प्राविधान था जिसके अनुसार उन्हें पृथक समुदाय के रूप में पृथक निर्वाचन क्षेत्र प्राप्त था। गांधी जी ने हरिजनों के लिए प्रयुक्त पृथक निर्वाचन क्षेत्र का तीव्र विरोध किया। गांधी जी ने इस विरोध में यरवदा जेल में मृत्यु तक उपवास रखने की घोषणा की। पांच दिन पश्चात पूना सम्मेलन में कई परिवर्तन किये गये। पूना समझौते ने गांधी जी को 'सविनय सवज्ञा आन्दोलन' के स्थान पर 'हरिजन आन्दोलन' की ओर अधिक आकृष्ट कर दिया जिसके फलस्वरूप सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भी गतिरोध उत्पन्न हो गया। इस समय तक सविनय अवज्ञा आन्दोलन की भावना का ह्रास काफी सीमा तक हो चुका था, फलस्वरूप मई 1933 में गांधी जी ने इस आन्दोलन को वापस ले लिया।

ग्रन्थ निर्देश संदर्भिका REFERENCES

गाँधी युग

1. Zacharias, H. C. E : Renascent India from Ram Mohan Roy to Mohan Das Gandhi, London, 1933.

2. Tedulkar, D. G : Mahatma, Vol, I. Ahemdabad, 1951.

3. Hamid, Abdul : Muslim Separatism in india, Lahore, 1971.

4. Spear, Percival : The Oxford History of Modern India, 1740-1947, Delhi, 1965.

5. Collected Works of M. K. Gandhi : Vol. XVIII.

6. Young India : June 9, 1920.

7. Amrit Bazar Patrika : Sept. 6, 7, 8, 1920.

8. Independent : Allahabad Sept. 14, 1920.

9. Indian National Congress, 1920-23. : Allahabad, 1924.

10. Gordon, R. A. : Aspects in the History of Indian National Congress

with Reference to the Swarajya Party (1919-21), Unpublished Thesis of D.phill, Oxford, 1970.

11. Chintamani, C. Y : Indian Politics Since Mutiny Bombay, 1936.

12. Brown, J. M. : Gandhiji's Rise to Power In Indian Politics (1915-21), Cambridge, 1972.

13. Ramanrao, M. V. : A Short History of the Indian National Congress, Delhi, 1959.

अध्याय 23

आन्दोलित राष्ट्रवाद

सविनय अवज्ञा आन्दोलन

1928 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ता में हुआ जिसमें यह निर्णय लिया गया कि यदि 31 दिसम्बर, 1928 तक ब्रिटिश सरकार इस रिपोर्ट को स्वीकृति न प्रदान करेगी तो कांग्रेस ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध अहिंसक एवं असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ करेगी। फलस्वरूप 1928 के प्रारम्भ में भारत की औद्योगिक संस्थाओं के कर्मचारियों ने आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस समय औद्योगिक संस्थाओं के कर्मचारियों के मध्य साम्यवाद का तीव्रता से विकास हो रहा था। इसको रोकने हेतु सरकार ने मार्च 1928 में श्रमिक संघ के मुख्य नेताओं एवं साम्यवादी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया तथा मेरठ में उनपर मुकदमे चलाये। गांधी जी के अनुसार इसका मुख्य ध्येय साम्यवाद का दमन नहीं था वरन् जनता में भय व्याप्त करना था।

'मेरठ षड्यन्त्र' के अन्तर्गत भारतीय नेताओं पर चलाये जा रहे मुकदमों के विरोध-प्रदर्शन स्वरूप अप्रैल में विधान सभा भवन में बम फेंके गये। देश के अन्य भागों में भी क्रान्तिकारी कदम उठाए गये।

31 अक्टूबर 1928 को भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड इरविन ने एक घोषणा में कहा कि साइमन कमीशन की रिपोर्ट के प्रकाशन के पश्चात् भारतीय नेताओं के एक सम्मेलन में संवैधानिक सुधारों पर विचार विमर्श किया जायेगा। वायसराय की इस घोषणा का इंग्लैण्ड में अत्यधिक विरोध किया गया। परन्तु भारत में वायसराय की घोषणा पर विचार विमर्श हेतु नवम्बर, 1929 के आरम्भ में दिल्ली में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं की एक सभा बुलाई गई जिसमें महात्मा गांधी, मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, वल्लभ भाई पटेल, एम० ए० अन्सारी, तेज बहादुर सप्रू, मदन,

मोहन मालवीय, श्रीमती ऐनी बेसेन्ट इत्यादि ने भाग लिया। सम्मेलन के अन्त में एक घोषणा की गई जिसे 'दिल्ली घोषणा पत्र' के नाम से जाना जाता है। इसमें वायसराय की घोषणा का स्वागत करते हुए यह कहा गया कि भारतीय नेता, ब्रिटिश सरकार के साथ भारत हेतु 'अधिरक्षित राज्य' की स्थापना तथा इस राज्य हेतु संविधान के निर्माण में ब्रिटिश सरकार का सहयोग करेंगे। इसमें यह भी कहा गया कि वायसराय द्वारा घोषित गोलमेज सभा में इस प्रश्न पर विचार विमर्श नहीं किया जायेगा कि भारत में अधिरक्षित राज्य की कब स्थापना होगी परन्तु भारत के लिए अधिरक्षित संविधान पर विचार विमर्श होगा। उन्होंने गोलमेज सभा की सफलता हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये :—

1. शांति वातावरण की स्थापना हेतु सामान्य समझौते की नीति का पालन किया जायेगा।

2. राजनैतिक बंदियों को रिहा कर दिया जाय।

3. प्रत्येक राजनैतिक संगठन का राज्य सभा में प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

17-18 नवम्बर को कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने 'दिल्ली घोषणा' के प्रति वायसराय का सहयोग प्राप्त करने का प्रयास किया। इस कारण 23 दिसम्बर, 1929 को गांधी जी ने वायसराय से भेंट की एवं वायसराय से पूर्ण अधिरक्षक सरकार की भारत में स्थापना का आश्वासन प्राप्त करने का प्रयास किया परन्तु वे असफल रहे। इसी प्रकार लाहौर कांग्रेस के अधिवेशन के समय जवाहरलाल ने कहा कि हमारा निर्णय सिर्फ आलोचना अथवा विरोध प्रदर्शन तक ही सीमित न रहकर इस दिशा में कुछ कार्य करने का होगा।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन

दिसम्बर, 1928 में इस प्रकार बड़े ही तनावपूर्ण वातावरण में लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमें जवाहरलाल नेहरू को अध्यक्ष चुना गया तथा इसमें 'क्रान्ति जिन्दाबाद' के नारे लगाये गये। इस समय कांग्रेस में वामपंथियों का अधिक प्रभाव था। भारतीय जनता 1919 की घटनाओं को अभी तक भुला नहीं पाई थी। 1928 में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में ब्रिटिश सरकार से यह कहा गया कि एक वर्ष के अन्दर भारत को डोमिनियन (स्वतन्त्र उपनिवेश) के रूप में मान्यता दी जाय जिसका समय लाहौर अधिवेशन तक समाप्त हो चुका था। लाहौर कांग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता के प्रस्ताव को

निर्विरोध स्वीकार किया तथा स्वतंत्रता प्राप्त करने हेतु आवश्यक कार्यों पर भी विचार विमर्श किया गया। कांग्रेस ने गोलमेज सभा में भाग लेना व्यर्थ समझा तथा तथा कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति को 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का अधिकार प्रदान किया गया। जवाहर लाल नेहरू ने 31 दिसम्बर, 1929 के मध्य रात्रि में तिरंगा झंडा फहराया।

कांग्रेस के प्रस्ताव के अनुसरण हेतु विधायिका के बहुत से सदस्यों ने त्यागपत्र दे दिया। 26 जनवरी, 1930 को पूर्ण स्वराज्य दिवस के रूप में मनाया गया तथा सम्पूर्ण राष्ट्र में भारतीयों ने स्वतंत्रता प्राप्त करने की शपथ ली। कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने गांधी जी से सविनय अवज्ञा आन्दोलन का नेतृत्व सँभालने के लिए अनुनय किया। वैरियर एल्विन के अनुसार 'इस समय भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी ऐसी चरम सीमा पर था जिसका विश्व के किसी अन्य देश में उदाहरण नहीं है। सम्पूर्ण राष्ट्र गांधी जी के पदचिह्नों पर चलने के लिए तत्पर था।'

सम्पूर्ण भारतवर्ष में पूर्ण 'स्वतन्त्रता' के प्रस्ताव एवं विधान सभा से 26 सदस्यों के त्यागपत्र का विस्तृत प्रचार किया गया। 25 जनवरी, 1930 को वायसराय ने एक घोषणा में कहा कि देश में कानून और व्यवस्था की स्थापना हेतु हर संभव प्रयत्न किया जायेगा। 30 जनवरी को गांधी जी ने 'यंग इण्डिया' के माध्यम से वायसराय के समक्ष ग्यारह सूत्र रखे और घोषणा की कि वायसराय इन सूत्रों से सहमत हों तो वे सविनय अवज्ञा आन्दोलन समाप्त कर देंगे। ये सूत्र निम्नलिखित थे :—

1. पूर्ण मद्यनिषेध की नीति का पालन।
2. रुपये का पुनर्मूल्यन अनुपात एक शिलिंग चार पेन्स कर दिया जाय।
3. भूमि कर में पचास प्रतिशत की कमी एवं इसके निर्धारण में विधान सभा का नियंत्रण स्थापित किया जाय।
4. नमक-कर को समाप्त किया जाय।
5. सैनिक व्यय को पचास प्रतिशत कम किया जाय।
6. उच्च अधिकारियों के वेतन को आधा कर दिया जाय।
7. विदेशी कपड़े पर संरक्षित कर लगाया जाय।
8. सीमा शुल्क आरक्षण विधेयक को पारित किया जाय।
9. राजनीतिक बंदियों की रिहाई।
10. गुप्तचर विभाग की समाप्ति।
11. स्वयं-रक्षा हेतु आग्नेय शस्त्रों के लिए लाइसेंस दिये जायँ।

परन्तु वायसराय ने इन प्रस्तावों को अस्वीकृत कर दिया। फलस्वरूप गांधी जी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन का प्रारम्भ नमक कानून तोड़ कर प्रारम्भ करने का निश्चय किया। नमक कानून द्वारा सरकार ने नमक के उत्पादन पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया था जिससे भारत का निम्न वर्ग अत्यन्त प्रभावित था। गरीब जनता के ऊपर इस कर को गांधी जी ने अत्याचार प्रतीक मान नमक कानून तोड़ने का निश्चय किया।

ऐतिहासिक सविनय अवज्ञा आन्दोलन का प्रारम्भ गांधी जी ने अपनी डांडी-पदयात्रा से प्रारम्भ किया। डांडी गुजरात में समुद्र के किनारे एक स्थान है। यहाँ पर गाँधी जी ने नमक कानून के विरुद्ध विरोध प्रदर्शन हेतु नमक बनाने का निश्चय किया था। गांधी जी ने 12 मार्च, 1930 को साबरमती आश्रम से अपने 79 अनुयायियों के साथ अपनी पदयात्रा प्रारम्भ की तथा 5 अप्रैल, 1930 को वे अपने सहयोगियों सहित डांडी पहुँचे। सम्पूर्ण देश का ध्यान इसी ओर केन्द्रित था। 6 अप्रैल को गांधी जी ने नमक कानून का उल्लंघन किया तथा यहीं से सविनय अवज्ञा आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ। गांधी जी ने देशवासियों से नमक कानून तोड़ने तथा इस सप्ताह को राष्ट्रीय सप्ताह की तरह मनाने को कहा। इसको क्रान्ति का प्रारम्भिक रूप कहा गया। इसका देश में बड़े पैमाने पर स्वागत किया गया। इस आन्दोलन के अन्तर्गत कानूनों का उल्लंघन किया गया, करों की अदायगी सरकार को रोक दी गई, विदेशी वस्तुओं एवं कपड़ों का बहिष्कार किया गया, जनता ने कार्य बन्द रखा एवं प्रदर्शन किये तथा इन सबने सम्पूर्ण देश को हिला दिया। उत्तर प्रदेश में कर अदायगी की रोक में विशेष सफलता प्राप्त हुई तथा हजारों महिलाएँ गाधी जी के आह्वान पर सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भाग लेने हेतु निकल पड़ीं। तत्कालीन भारत सरकार के गृह सचिव ने वैरियर एल्विन के समक्ष इस तथ्य को स्वीकार किया कि 'भारतीय महिलाओं के मध्य जागृति तथा उनके राजनीति में हिस्सा लेने में उन्हें 'संकट सूचक' अभास से सचेत किया है'। था। इस आन्दोलन का देश के प्रत्येक भाग में विस्तार हुआ। सीमा प्रदेशों में 'सीमान्त गांधी' खान अब्दुल गफ्फार खान ने पठानों का एक अहिंसावादी संगठन बनाया एवं उसका नाम उन्होंने 'खुदाई खिदमतगार' रखा। अब्दुल गफ्फार अपने अनुयायियों को अहिंसक, अनुशासित एवं स्वतंत्रता की लड़ाई में तन-मन-धन अर्पित करने का उपदेश दिया। बाद में यह संगठन कांग्रेस का अंग बन गया।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के विस्तार ने सरकार को आश्चर्यचकित कर दिया। सरकार ने इस आन्दोलन को कुचलने हेतु दमनकारी नीतियों का

पालन किया। जगह-जगह पर पुलिस ने लाठी तथा गोलियाँ चलाईं। हजारों कार्यकर्ताओं को जेल में डाल दिया गया। पुलिस ने क्रूरता पूर्वक इस आन्दोलन को दबाने का प्रयास किया। गांधी जी को जेल में डाल दिया गया। सत्याग्रहियों ने सूरत में धरसाना नामक स्थान पर नमक भण्डार को लूट लिया। सविनय अवज्ञा आन्दोलन के मध्य ही 'साइमन कमीशन' की रिपोर्ट प्रकाशित कर दी गई। राष्ट्रवादियों को इस रिपोर्ट ने और अधिक असंतुष्ट कर दिया। गांधी जी ने अपनी गिरफ्तारी के पश्चात् ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीति को 'गुण्डा राज' कहा तथा देशवासियों से इस गुण्डा राज का विरोध करने का आग्रह किया। गाँधी जी की गिरफ्तारी के पश्चात् भारत में प्रदर्शनों हड़तालों एवं जनसभाओं की एक लहर आयी। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने गांधी जी की गिरफ्तारी के पश्चात् सविनय अवज्ञा आन्दोलन का विस्तार करने का निर्णय लिया तथा देशवासियों से स्वतंत्रता हेतु युद्ध करने के लिए हर संभव त्याग करने की प्रार्थना की। सरोजिनी नायडू के नेतृत्व में धरसाना पर एक बार फिर नमक बनाने हेतु शांतिपूर्ण घावा बोला गया। इस पर सरोजिनी नायडू को गिरफ्तार कर लिया गया। इसके विरुद्ध बम्बई में प्रदर्शन किया गया। कलकत्ता एवं दिल्ली में आन्दोलन का आह्वान किया गया। ब्रिटिश सरकार ने लन्दन में प्रस्तावित 'गोलमेज़ सभा' का का आयोजन किया।

प्रथम गोलमेज सभा 12 नवम्बर 1930 से 19 जनवरी 1931 तक चली कांग्रेस ने इस सभा में भाग नहीं लिया। इस गोल मेज सभा में ब्रिटिश राजनीतिक दलों, भारतीय राज्यों, उदारवादियों, मुस्लिम लीग, पिछड़े वर्ग एवं सिखों ने अपने प्रतिनिधि भेजे। प्रमुख भारतीयों में सर तेज बहादुर सप्रू, श्री जयकर, श्रीनिवास शास्त्री, सी० वाई० चिन्तामणि, सर मोहम्मद शफी, मुहम्मद अली जिन्नाह, मौलाना मोहम्मद अली सर मिर्जा इस्माइल विश्वेश्वर दयाल सेठ इत्यादि ने भी भाग लिया। इस वार्ता ने नौ सप्ताह लिए और अस्पष्ट, अनिश्चित एवं नीरस विचार विमर्श का परिणाम केवल भारतीय साम्प्रदायिकता का अन्तर्राष्ट्रीय विज्ञापन हुआ।

12 नवम्बर को गोलमेज सभा प्रारम्भ हुई। भारत सरकार के संवैधानिक सुधारों के प्रस्ताव भी इसी दिन प्रकाशित किए गए। इसके अनुसार वायसराय की एक्जीक्यूटिव काउन्सिल के कुछ सदस्य विधान सभा से चुने जायँगे परन्तु इस समिति को विधान सभा के प्रति उत्तरदायी बनाने का कोई प्रस्ताव नहीं किया गया। ब्रिटिश संसद से सम्बन्धित सभी विशेष अधिकार वायसराय के हाथ में ही रहने दिये गये। वायसराय को संविधान

को निरस्त करने का अधिकार भी प्रस्तावित किया गया। परन्तु ये प्रस्ताव भारतीय नेताओं को अमान्य थे क्योंकि इस के अर्न्तगत वायसराय को अत्यधिक शक्तियाँ प्राप्त थीं। सम्मेलन में इस बात पर सहमति हुई कि ब्रिटिश भारत और भारतीय राज्य मिलकर एक संघीय सरकार की स्थापना करें। इस सरकार के संविधान पर भी विचार विमर्श हुआ। हरिजन नेता डा० बी० आर० अम्बेडकर ने पिछड़ी जातियों हेतु सुरक्षित स्थानों की माँग की। मुसलमान प्रतिनिधि मंडल ने मुसलमानों की सुरक्षा की माँग रखी। मुसलमानों ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन में अपनी सहानुभूति प्रदर्शित नहीं की और यह कहा कि गाँधी जी का आन्दोलन भारत को स्वतंत्र कराने का आन्दोलन नहीं था वल्कि सात करोड़ मुसलमानों को हिन्दू महासभा के अधीन करने का अन्दोलन था। गोलमेज़ सभा के अन्तिम चरण में तत्कालीन ब्रिटिश प्रधान मंत्री रैमजे मैकडॉनल्ड ने भारतीय जनता से सविनय अवज्ञा आन्दोलन की समाप्ति तथा सरकार के साथ सहयोग की अपील की जिससे एक संविधान की रूपरेखा तैयार की जा सके।

प्रथम गोलमेज सभा का प्रारम्भ अनिश्चय की अवस्था में हुआ था क्योंकि देश के सबसे बड़े दल कांग्रेस ने इस सभा में भाग लेने से इन्कार कर दिया था। कांग्रेस दल में इस समय उग्रवादी नेता अधिक प्रभावशाली थे तथा वे सरकार की दमनकारी नीतियों से अत्यधिक रुष्ट थे। गोलमेज सभा के अन्त में सरकार ने गाँधी जी एवं उनके अनुयायियों को बिना किसी शर्त के रिहा कर दिया। सरकार को यह आशा थी कि इस कृत्य से कांग्रेस नेता गोलमेज सभा के परिणामों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करेंगे। वास्तव में सरकार के इस कृत्य से देश में तनाव के वातावरण में कुछ कमी आयी। गांधी जी ने वायसराय से आमने सामने बात करने की इच्छा प्रगट की।

गांधी इरविन समझौता

17 फरवरी को गांधी जी एवं इरविन के मध्य विचार विमर्श प्रारम्भ हुआ। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने गांधी जी को एक प्रस्ताव के द्वारा इरविन के साथ समझौते का अधिकार प्रदान किया। 5 मार्च को गांधी इरविन समझौते' की विधिवत् घोषणा कर दी गई। 1 मार्च, 1931 को ऐतिहासिक गांधी-इरविन-समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसमें राजनैतिक बन्दियों की रिहाई एवं सविनय अवज्ञा अन्दोलन को निरस्त करने पर दोनों दलों मे सहमति हो गयी। कांग्रेस ने द्वितीय गोलमेज़ सभा में भाग लेना स्वीकार कर लिया। मार्च, 1931 में कांग्रेस ने कराँची अधिवेशन में इस

समझौते का अनुमोदन कर दिया । गांधी-इरविन-समझौते को कांग्रेस ने देश की विजय माना ।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन

सितम्बर 1931 में द्वितीय गोलमेज सभा हुई । गांधी जी कांग्रेस के अकेले प्रतिनिधि बना कर भेजे गए । सरोजिनी नायडू ने भारतीय महिलाओं का प्रतिनिधित्व किया । कांग्रेस ने भारत के लिए डोमिनियन की माँग को पुन: प्रेषित किया । गांधी जी के प्रयत्नों के उपरान्त भी कांग्रेस कोई सफलता न प्राप्त कर सकी । इस सम्मेलन में गांधी जी ने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया, कि कांग्रेस केवल एक राजनैतिक पार्टी नहीं थी वरन् राष्ट्रीय संस्था थी । इसमें सभी वर्गों व जातियों के लोग सम्मिलित थे केवल मुहम्मद अली जिन्नाह की हठधर्मिथा ने सम्मेलन को असफल कर दिया । साम्प्रदायिकता के मामले को लेकर गोलमेज सभा भी भंग होगयी । इस असफलता ने देशवासियों में निराशा की भावना उत्पन्न कर दी ।

गांधी जी जब स्वदेश वापस आये उस समय सरकार का दमनकारी चक्र अपनी पूरी गति से घूम रहा था । सभी प्रमुख नेता बन्द कर दिए गए थे । बंगाल, उत्तर प्रदेश तथा सीमान्त प्रदेशों में क्रान्तिकारी कार्यक्रमों में तीव्रता आ गयी थी । इंगलैण्ड के सम्राट ने गांधी जी को चेतावनी देते हुए कहा, 'कि मेरे साम्राज्य पर आक्रमण नहीं होना चाहिए ।' उत्तर प्रदेश, बंगाल तथा सीमान्त प्रदेशों में सरकार ने दमनकारी चक्र चलाए । सरकार ने कई आर्डिनैंसों के द्वारा आपातकालीन शक्तियाँ ग्रहण कीं जिसने इस आन्दोलन को कुचलने में सहायता प्रदान की । गांधी जी ने इस सम्मेलन से निरुत्साहित होकर पुन: सविनय अवज्ञा आन्दोलन को प्रारम्भ किया और वे 4 जनवरी,1932 को जेल भेज दिये गये ।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को अवैधानिक संस्था घोषित कर दिया गया तथा सरकार ने आन्दोलन को कुचलने हेतु बड़े उपाय किये । जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि गांधी जी आगमन के साथ ही भारत में अशान्ति की सारी आशायें समाप्त हो गयी थीं ।

साम्प्रदायिकता अविनिर्णय पूना समझौता

भारतीय नेताओं की सम्मेलन में असफलता के कारण ब्रिटिश प्रधानमंत्री रेम्जे मैक्डोलनेल्ड ने अपना निर्णय घोषित किया । प्रधानमंत्री ने अपने निर्णय को समयोचित समझा । इस साम्प्रदायिकता अविनियर्ण का ध्येय प्रथक-

वाद था। इसके अन्तर्गत हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, युरोपियनों के पृथक चुनाव क्षेत्रों का परियोजन किया गया। स्त्रियों के लिये पृथक चुनाव क्षेत्र थे, और दलित वर्ग हरिजन को भी पृथक समुदाय माना गया। गांधी जी के अस्पृश्यता निवारण अभियान ने दलित वर्ग के पृथक चुनाव क्षेत्र का घोर विरोध किया। गांधी जी तथा अन्य राष्ट्रवादी नेताओं ने शासन को सर्वण और हरिजन वर्गीकरण के लिये आमरण अनशन प्रारम्भ किया। ब्रिटिश सरकार ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया और गांधी जी की हालत दिन पर दिन गम्भीर होती गई। ब्रिटिश प्रधानमंत्री को पुनरावेदन ने भी शासन को इस ओर ध्यान आकर्षित नहीं कराया। अतः मदनमोहन मालवीय डा० राजेन्द्र प्रसाद, सी० राजगोपालाचारी, डा० अम्बेदकर इत्यादि ने पूना में समझौता सम्पन्न किया। इस समझौते को ब्रिटिश सरकार ने भी स्वीकृत किया परन्तु इसको इतिहासकारों ने खेदजनक महत्व परिवर्तन की संज्ञा दी क्योंकि इसके कारण सविनय अवज्ञा आन्दोलन के मुख्य ध्येय में अंतर आ गया। गांधी जी ने अपना ध्यान हरिजन आन्दोलन की ओर आकृष्ट किया।

तृतीय गोलमेज सम्मेलन

तृतीय गोलमेज सम्मेलन ब्रिटिश प्रधामंत्री के पूना समझौते को मान्यता प्रदान करने के कारण किंचित शान्तिमय वातावरण में हुआ। इस सम्मेलन में न तो कांग्रेस ने और न ही ब्रिटिश लेबर पार्टी ने भाग लिया। इस गोलमेज सम्मेलन का मुख्य परिणाम भारतीय विधेयक था, जो तत्पश्चात 1935 के अधिनियम में परिवर्तित हो गया। यह अधिनियम विन्स्टन चर्चिल के हठधर्मिक रूढ़िवादी विरोध के उपरान्त भी पास हो गया।

1933 का श्वेत पत्र

गोलमेज अधिवेशन की परिचर्चा के आधार पर ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेत पत्र तैयार किया जो 1935 के भारत अधिनियम का सार तत्व था। श्वेत पत्र में उन महत्वपूर्ण प्रस्तावों का समावेश था जो सुधारकों द्वारा प्रेषित किये गये थे। और इनको परीक्षण हेतु संसदीय प्रवर समिति (सैलेक्ट कमेटी) भेजा जाना था। इस श्वेत पत्र में निम्नलिखित प्रस्ताव निहित थे:—

1. प्रान्तों में लगभग स्वायत्त उत्तरदायी सरकारों का निर्माण
2. ब्रिटिश भारत में राज्य प्रांतीय संघ की स्थापना तथा केन्द्रीय द्विसदनीय संघीय विधान मण्डल निर्माण।
3. राज्य संघ एवं प्रांतीय विधानमण्डल के क्षेत्रों का सीमांकन।

4. श्वेत पत्र में राज्य संघीय अदालत, परार्शदाता समिति, रिज़र्व बैंक, राज्य संघीय रेलवे प्राधिकार इत्यादि की स्थापना।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को अवैधानिक संस्था घोषित कर दिया गया तथा सरकार ने आन्दोलन को कुचलने हेतु बड़े उपाय किये। जवाहर-लाल नेहरू ने कहा कि गांधी जी के आगमन के साथ ही भारत मे अशान्ति की सारी आशंकाये समाप्त हो गयी थीं।

बंगाल क्रान्तिकारी गतिविधियों का केन्द्र बन गया जहां सरकार को 'बंगाल आपातकालीन अध्यादेश' की घोषणा पर बाध्य होना पड़ा जिससे सरकार को मार्शल ला के समान शक्तियां मिल गई। अन्य प्रदेश में भी गांधी जी की वापसी से पूर्व ही सुरक्षात्मक कदम उठा लिये गये थे। गांधी जी 28 दिसम्बर 1931 को भारत वापस आये। गांधी जी ने अपने सहयोगियों की गिरफ्तारी को अंग्रेजी गवर्नर की ओर से क्रिसमस की भेंट कहा। भारत आने के पश्चात गांधी जी ने समझौते का एक अन्य प्रयास किया उन्होने वायसराय से भेंट करने का आग्रह किया, परन्तु वायसराय सरकार के दमनकारी कृत्यों पर विचार विमर्श हेतु तैयार नही थे। इसी मध्य कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने अगले कार्यक्रमों पर निर्णय लेने हेतु बम्बई में एक सभा की जिसमें गांधी जी ने भाग लिया। इस समिति ने द्वितीय गोलमेज सभा के परिणामों को असन्तोषजनक घोषित करते हुए बंगाल में क्रान्तिकारी कदमों की तथा सर-कार के भय उत्पन्न करने वाले कृत्यों की आलोचना की, एवं जनता से सविनय अवज्ञा आन्दोलन पुनः प्रारम्भ करने का आह्वान किया। गांधी जी ने पुनः समझौते की बात की परन्तु सरकार ने 4 जनवरी, 1932 को उन्हें पुनः जेल भेज दिया।

भारत सरकार ने 3 जनवरी को चार नये अध्यादेशों की घोषणा की–

1. आपातकालीन अधिकार अध्यादेश जो कि समाचारपत्रों के विरुद्ध था।

2. अवैध प्रेरणा अध्यादेश जो कि कर न जमा करने के आन्दोलन के विरुद्ध था।

3. अवैध संघ अध्यादेश जो कि कांग्रेस के कार्य एवं धन के विरुद्ध था।

4. उत्पीड़न एवं वहिष्कार निवारण अध्यादेश जो कि सरकारी कर्म-चारियों द्वारा वहिष्कार के विरुद्ध थे और जिसमें कांग्रेस को अवैधानिक संस्था घोषित कर दिया गया था।

यह श्वेत पत्र 16 सदस्यों की संयुक्त प्रवर समिति के परीक्षण हेतु प्रेषित किया गया। भारतीय निर्धारक के रूप में सर तेज बहादुर सप्रू तथा

एम० आर० जैकार ने भी विचार-विमर्श में भाग लिया। लार्ड लिनलिथ गो उस समिति के अध्यक्ष थे। समिति ने निम्नलिखित लघु परिवर्तनों का परामर्श दिया।

1. राज्य संघीय सदनों में प्रत्यक्ष चुनावों के स्थान पर अप्रत्यक्ष चुनाव पद्धति।

2. द्विसदनीय विधान मण्डल पद्धति को श्वेत पत्र के अनुसार तीन प्रान्तों के स्थान पर 6 प्रान्तों में करने का सुझाव दिया गया।

3. केन्द्र तथा प्रान्तों में उच्च सदनों को अविसर्जनीय वनाने का सुझाव दिया गया।

इस संयुक्त प्रवर समिति की संस्तुतियों को ब्रिटिश सरकार ने मान्यता देकर हाउस ऑफ कामन्स में फरवरी 1935 में एक विधेयक प्रेषित किया जो तत्पश्चात 1935 का भारत सरकार अधिनियम में परिवर्तित हो गया। यह अधिनियम अगस्त 1947 तक भारत के संविधान का कार्य करता रहा।

20 अगस्त, 1917 की मांटेग्यू घोषणा ने भारत में संवैधानिक विकास को दिशा प्रदान कर दी जो विश्व शासन संस्थाओं की स्थापना की ओर निर्देशित थी परन्तु इस घोषणा के कुछ उद्देश्यों को स्पष्ट नहीं किया गया। इन उद्देश्यों को 1929 में भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड इरविन ने स्पष्ट करते हुए भारतीयों का मुख्य ध्येय भारत के स्वतंत्र उपनिवेशीय शासन की प्राप्ति बताया। 1930-31 को गोलमेज सभा में भारतीय उदारवादियों, भारतीय नरेशों एवं अन्य भारतीयों ने स्वतन्त्र शासन के लिए अभियाचना की। यद्यपि इस समय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पूर्ण स्वराज्य की माँग कर रही थी, परन्तु 1935 एवं 1939 तथा 1942 में भी स्वतन्त्रता उपनिवेश शासन (डोमिनियन) की माँग को स्वीकार करके कांग्रेस को संतुष्ट किया जा सकता था। एम० आर० जैकार के अनुसार यदि ब्रिटिश सरकार गोलमेज सभा में स्वतंत्र उपनिवेश शासन की माँग स्वीकार कर लेती तो स्वतंत्रता की माँग सम्भवतया स्वयमेव समाप्त हो जाती। गाँधी जी ने भी गोलमेज सभा में ब्रिटिश सरकार के साथ समानता के आधार पर प्रशासन में सहभगिता की माँग की थी, परन्तु ब्रिटिश सरकार उपयुक्त माँग को मानने पर सहमत न थी।

इसके पूर्व 1935 का अधिवेशन भारतीय राष्ट्रीय आशाओं को सन्तुष्ट करने में असफल रहा। जबकि ब्रिटिश सरकार का यह मत था कि 1919 के अधिनियम की अपेक्षा 1935 के अधिनियम ने भारत में संवैधानिक विकास

की दिशा में महत्वपूर्ण प्रगति की थी। यह सत्य है कि इस अधिनियम ने संवैधानिक विकास की दिशा में एक महत्वपूर्ण चरण पूर्ण किया परन्तु यह संवैधानिक विकास स्वतन्त्र उपनिवेशी शासन की मांग को सन्तुष्ट करने में असमर्थ था। इस अधिनियम के अन्तर्गत भारतीयों को स्वतन्त्र उपनिवेशीय शासन प्रदान किये जाने की अवधि को ब्रिटिश संसद द्वारा निश्चित करने का अधिकार दिया गया था। उपर्युक्त अधिनियम के पारित होने के चार मुख्य कारण थे–

1. ब्रिटिश सरकार धीरे-धीरे सत्ता स्थानान्तरण के पक्ष में थी।
2. ब्रिटिश सरकार को भारतीयों की योग्यता में विश्वास नहीं था।
3. ब्रिटिश सरकार भारत में अपने व्यापारिक एवं साम्राज्यवादी स्वार्थों की रक्षा करना चाहती थी।

इस अधिनियम की भारत में पूर्ण रूप से अभिपूर्ति संभव न हो सकी क्योंकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, मुस्लिम लीग तथा भारतीय नरेशों ने संघीय सरकार की स्थापना का विरोध किया था।

इसी समय भारत में 17वीं शताब्दी के मुस्लिम जागरण के परिणामस्वरूप मुस्लिम राष्ट्रवाद का उदय हुआ परन्तु यह हिन्दू राष्ट्रवाद से भिन्न था। ब्रिटिश सरकार ने साम्प्रदायिक समूहों के अधिकारों की सुरक्षा का आश्वासन देकर इस राजनैतिक विवाद को एक स्थायी रूप प्रदान किया। 1937-39 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के साथ संयुक्त सरकार निर्माण में असहमति प्रकट की तथा इस प्रकार उसने भारतीय मुसलमानों को अपने विरुद्ध कर लिया। इस कारण से हिन्दू-मुस्लिम भावना को प्रोत्साहन मिला और मोहम्मद अली जिन्नाह ने 22 दिसम्बर, 1939 को कांग्रेस मन्त्रि-मंडलों द्वारा त्यागपत्र दिये जाने की घोषणा का स्वागत किया। 1940 और 1943 के चुनाव परिणामों से सिद्ध हो गया था कि मुसलमानों ने कांग्रेस को वोट न देकर मुस्लिम लीग को वोट दिया था। 1943 में वायसराय ने यह घोषणा की कि भारत में संवैधानिक विकास मुस्लिम लीग की स्वीकृति के बिना नहीं किया जायेगा। मुस्लिम लीग ने इसका स्वागत किया। 1940 में जिन्नाह ने सर्वप्रथम पाकिस्तान के सृजन का प्रश्न प्रस्तुत किया तथा 1940 के लाहौर अधिवेशन में मुस्लिम लीग ने पृथक पाकिस्तान की मांग की।

क्रिप्स-मिशन

1942 के आरम्भ ब्रिटिश सरकार को यह भली-भांति अवगत होने लगा था कि भारतीयों की समस्याओं की अब अधिक देर अवहेलना नहीं की जा

सकती है। विश्व युद्ध के प्रसार तथा अन्य कारणों ने स्थिति को विस्फोटक बना दिया था अत: मार्च 11, 1942 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री विन्स्टन चर्चिल ने हाउस ऑफ कामन्स में यह घोषणा कर सर स्टेफर्ड क्रिप्स के शिष्ट मंडल को भारत भेजा। उसके भारत आने के निम्नलिखित कारण थे:--

1. जापान द्वारा भारत पर आक्रमण का संकट। इसके स्पष्टीकरण में चर्चिल ने क्रिप्स मिशन को भारत भेजने का कारण बताते हुए कहा था कि वे सभी भारतीय शक्तियों को आक्रामक देश के विरुद्ध अपनी रक्षा हेतु एकत्रित करना चाहते हैं।

2. अमरीका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट एवं चीन के मार्शल च्यांग काई-शेक ने ब्रिटेन पर इस संबंध में राजनैतिक दबाव डाला। अमरीकी राष्ट्रपति ने भारतीयों को सुझाव दिया कि यदि ब्रिटिश सरकार उन्हें स्वतंत्रता प्रदान करने का आश्वासन प्रदान करें तो भारतीयों को जापान के विरुद्ध युद्ध में ब्रिटिश सरकार का सहयोग करना चाहिये। आस्ट्रेलियन विदेश एविट ने भी भारतीयों की मांग को न्यायोचित बताया। राष्ट्रपति रुजवेल्ट ने चर्चिल की विचारधारा के विरुद्ध 1942 में यह घोषणा की कि 'अटलांटिक चार्टर' पूरे विश्व के लिये लागू था।

3. च्यांग काई-शेक ने ब्रिटिश सरकार से भारत को यर्थाथ रूप से राजनीतिक शक्ति प्रदान करने का अनुरोध किया क्योंकि उनके विचार में यदि भारत स्वयमेव युद्ध में स्वेच्छा से भाग न ले तो वह अपनी यथाविधि हार्दिक सहायता नहीं कर पायेगा। उससे सहायता प्राप्त करने हेतु हमें गहन विचार करना चाहिये।

4. जापान की विजयों के कारण भारतीय लोग असंतुष्ट होने लगे थे। इसी समय सुभाषचन्द्र बोस ने बर्लिन रेडियो से ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध प्रचार प्रारम्भ कर दिया था जिसने अत्याधिक संख्या में भारतीयों को आकर्षित किया। इसके अतिरिक्त कई भारतीय समूहों ने प्रधानमंत्री चर्चिल के सम्मुख भी समझौते का प्रस्ताव रखा था।

5. ब्रिटिश संसद में कई सदस्य इस तथ्य से सहमत थे कि भारत में राष्ट्रीय सरकार के निर्माण हेतु ब्रिटिश जनता भी भारत की समस्याओं के समाधान के पक्ष में थी। 8 मार्च 1842 को रंगून पराजय ने तथा जापानी आधिपत्य ने ब्रिटिश नीति में परिवर्तन किया। चर्चिल ने स्वयं अपने संस्मरणों में लिखा है कि रंगून में जापानी सैनिकों के प्रवेश के साथ ही यह आवश्यक हो गया कि भारतीय राजनैतिक गतिरोध को समाप्त करने का उपाय ढूंढना चाहिये।

(क) भारत को स्वतंत्र उपनिवेशी शासन (डोमिनयन राज्य) दिया जाये तथा ब्रिटिश राष्ट्र मंडल (कामनवेल्थ) से संबंध विच्छेदन का अधिकार भी भारत को प्रदत्त किया जाये।

(ख) युद्ध के समाप्त होते ही एक संविधान सभा गठित की जाये जिसमें प्रदेशीय विधान सभाओं एवं नरेशों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों।

6. पर्ल हार्बर पर जापान के आक्रमण ने ब्रिटेन पर मित्र राष्ट्रों के प्रभाव को तीन कारणों से दृढीभूत किया। इस युद्ध का सीधा उत्तरदायित्व अमरीका पर आ पड़ा था। चीन भी मुख्य शक्तियों द्वारा स्वीकृत किया जा रहा था तीसरा पूर्वी क्षेत्र में द्वितीय विश्व युद्ध के प्रसार ने भारत को अत्यन्त महत्वपूर्ण कर दिया था।

इस प्रकार उपर्युक्त कारणों के फलस्वरूप भारत में क्रिप्स मिशन का भारत में आगमन हुआ।

(ग) जो प्रदेश नये संविधान में भाग न लेने के इच्छुक हों उन्हें पृथक संविधान निर्माण का अधिकार दिया जाय।

(घ) ब्रिटिश सरकार और संविधान सभा के मध्य एक संधि हो जो कि इस बात का आश्वासन दें कि संविधान में विभिन्न जातियों एवं अल्पसंख्यकों का विशेष ध्यान रखा जायेगा।

(ङ) भारत की सुरक्षा का अधिकार ब्रिटिश सरकार में निहित रहेगा।

भारत के विभिन्न राजनीतिक समूहों ने पृथक-पृथक कारणों से क्रिप्स के सुझावों से असहमति प्रकट की। मुस्लिम लीग इन सुझावों से इसलिये असहमत थी क्योंकि वह पृथक पाकिस्तान के निर्माण की पक्षपाती थी। अखिल भारतीय सभा तथा सिखों ने प्रदेशों को विभाजन के अधिकार प्रदान के प्रस्ताव पर असहमति व्यक्त की। गांधी जी जो पाकिस्तान निर्माण के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने क्रिप्स शिष्ट मंडल से भारत से वापस जाने का अनुरोध किया। इसी मध्य क्रिप्स एवं कांग्रेस के नेताओं में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना तथा रक्षा विभाग के नियन्त्रण पर मतभेद हो गये। परिणामस्वरूप क्रिप्स प्रतिनिधि मंडल भारत में असफल हो गया। गांधी जी ने क्रिप्स सुझावों को असत्यता पर आधारित वताया। बी० पी० मैनन के अनुसार इस असफलता का कारण वायसराय तथा क्रिप्स के मध्य मतभेद था। गांधी जी ने भी इन प्रस्तावों को 'दिवालिया बैंक का उत्तर दिनांकित चैक' की संज्ञा देकर सफलता को न्यूनतम कर दिया।

शिष्टमंडल की असफलता

सर स्टैफर्ड क्रिप्स ब्रिटेन के समाजवादी नेता होने के कारण भारतीय

स्थिति नियन्त्रण करने हेतु एक आदर्श चुनाव थे। उनको स्वयं भी विश्वास था कि वह वार्तालाप में सफल होगें। उनकी असफलता का मुख्य कारण प्रस्तावों की अपर्याप्तता थी। भारतीय दृष्टिकोण से अन्तरिम तथा दीर्घ कालीन समझौते असंतोषजनक थे क्योंकि युद्ध पश्चात समझौतों का आश्वासन विश्वसनीय नहीं था जिसे मौलाना आजाद ने कहा, कि युद्ध के स्वरूप एवं परिणाम से वर्तमान स्थिति में अवगत होना कठिन था।

इस शिष्ट मंडल की असफलता का एक अन्य कारण ब्रिटिश सरकार का अपूर्ण सहयोग था। क्रिप्स ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चर्चिल से पूर्व सहयोग न प्राप्त कर सके। भारतीय महाराजपाल लार्ड लिनलिथ गो तथा अन्य अधिकारियों ने भी आंतरिक रूप से सहायता नहीं दी।

संक्षेपतः कांग्रेस की राजनैतिक हठधर्मिता, युद्धकालीन वातावरण, मुस्लिम लीग की राजनीति तथा अमरीका में अंग्रेजी राजदूत लार्ड हैलीफेक्स के भाषण (7 अप्रैल 1942) ने भारतीयों में आक्रोश उत्पन्न किया।

भारत छोड़ो आन्दोलन

क्रिप्स मिशन की असफलता ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एवं ब्रिटिश सरकार के मध्य सहयोग एवं समझौते की आशा समाप्त कर दी। भारत पर जापानी आक्रमण का डर अभी भी विद्यमान था। गाँधी जी ने अंग्रेजों को भारत से निष्कासित करने हेतु बाध्य करने के लिये एक अभियान शुरू किया। उनके अनुसार भारत में अंग्रेजों की उपस्थिति जापान के लिये भारत पर आक्रमण हेतु निमन्त्रण था।

दूसरा कारण ब्रिटिश सरकार को सिंगापुर एवं बर्मा में जापान के हाथों पराजय थी। गाँधी जी को भारत में भी ब्रिटिश सरकार का यही परिणाम दृष्टिगोचर हो रहा था। तीसरा कारण धुरी राष्ट्रों का मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध प्रचार था। जो सरकार की नीतियों के विरुद्ध भड़का रहे थे। गाँधी जी का यह विश्वास था कि ब्रिटिश सरकार भारत की जापानी आक्रमण से रक्षा न कर सकेगी। चौथा कारण यह था कि गाँधी जी बर्मा में युद्ध के मध्य ब्रिटिश जातिभेद की नीतियों से अत्यन्त अप्रसन्न थे क्योंकि भारतीयों एवं अन्य यूरोपीयों को बर्मा के विभिन्न भागों से जातिभेद के आधार पर हटाया जाता था। पाँचवाँ कारण गाँधी जी का ब्रिटिश सरकार द्वारा बंगाल के नागरिकों से निवास हेतु उनके घरों को खाली कराने का विरोध था गाँधी जी की नवीन नीति का लगभग सभी नेताओं ने समर्थन किया परन्तु राजगोपालचारी ने जो कि क्रिप्स मिशन के प्रस्तावों एवं पाकिस्तान निर्माण

के समर्थक थे गाँधी जी की नीति का विरोध किया और कहा कि अंग्रेजों के भारत छोड़ने से भारत जापानी आक्रमणकारियों की दया पर निर्भर हो जाएगा। उन्होंने तथा उनके साथियों ने इसी बात पर काँग्रेस से त्यागपत्र दे दिया।

14 जुलाई, 1942 को वर्धा में काँग्रेस कार्यकारिणी समिति ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्त की तत्काल मांग की गई। यह प्रस्ताव 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्रस्ताव के अनुसार भारत में अंग्रेजों के शासन की समाप्ति केवल भारत के पक्ष में ही नहीं थी अपितु यह विश्व सुरक्षा हेतु भी आवश्यक थी क्योंकि ब्रिटिश शासन समाप्ति 'नाजीवाद, फासीवाद, सैनिकवाद एवं साम्राज्यवाद की शक्तियों को शिथिल करने में सहायक सिद्ध होगी एवं पारस्परिक आक्रमणों को रोकने में समर्थ होगी। प्रस्ताव में ब्रिटिश प्रशासन की समाप्ति के बाद एक अस्थायी सरकार की स्थापना एवं संविधान सभा को बुलाने का प्राविधान सम्मिलित था जिसके द्वारा एक नवीन संविधान की रचना की जा सके। काँग्रेस ने ब्रिटेन अथवा मित्र राष्ट्रों का साथ देने अथवा धुरी राष्ट्रों द्वारा भारत पर आक्रमण के प्रति कोई सहानुभूति नहीं व्यक्त की। काँग्रेस इस बात पर सहमत थी कि यदि मित्र राष्ट्र आवश्यक समझें तो भारत पर किसी अन्य राष्ट्र के सैनिक आक्रमण की संभावना को समाप्त करने अथवा उसका प्रतिरोध करने हेतु सैनिकों को भारत में तैनात कर सकते थे। यदि ब्रिटिश सरकार कांग्रेस के इस प्रस्ताव से सहमत नहीं होती तो कांग्रेस अपना अहिंसक आन्दोलन पुनः प्रारम्भ करेगी। इस आन्दोलन को गाँधी जी का नेतृत्व प्राप्त था।

दूसरी ओर ब्रिटिश सरकार के अनुसार इस प्रकार का कोई विचार अथवा कार्यक्रम ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध विद्रोह था। ब्रिटिश सरकार ने काँग्रेस के साथ इस प्रस्ताव पर विचार-विमर्श पर असहमति व्यक्त की। अगस्त 1942 को अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी की एक सभा में गहन विचार-विमर्श के पश्चात् एक प्रस्ताव पारित किया गया जिसके अन्तर्गत गाँधी जी ने अपने भाषण में कहा, 'कि हम भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता दिलाकर रहेंगे अन्यथा इसके लिये प्रयास करते हुये प्राणोत्सर्ग कर देगें।

आन्दोलन का स्वरुप

नेहरू जी के अनुसार प्रारम्भ में इस आन्दोलन का स्वरूप असहयोग आन्दोलन की भांति ही था। गांधी जी ने भी प्रस्तावित समझौते की

असफलता के पश्चात् पूरे राष्ट्र में एक दिन की हड़ताल का आह्वान करने का निश्चय किया। वर्धा तथा बम्बई-कांग्रेस के अधिवेशन में इस प्रस्ताव को अधिक महत्ता न प्रदान कर कुछ ही शब्दों में वर्णित किया गया था। सर्वप्रथम 8 मई, को गांधी जी ने अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के समक्ष आन्दोलन का स्वरूप स्पष्ट किया गया था। इसके अनुसार गांधी जी ने आन्दोलन को अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन का स्वरूप प्रदान किया। इसके विपरीत ब्रिटिश सरकार के श्वेत पत्रों में यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया कि गांधीजी वास्तव में हिंसा चाहते थे। परन्तु यह आरोप निराधार था क्योंकि गांधी जी ने स्पष्ट शब्दों में हिंसा का खण्डन किया था। इसके अतिरिक्त वर्धा तथा बम्बई के प्रस्तावों में भी आन्दोलन के अहिंसक रूप की चर्चा की गई थी तथा गांधी जी ने प्रकट गतिविधियों का समर्थन किया एवं गुप्त गतिविधियों का विरोध किया था। इससे पूर्व हुए आन्दोलनों में खुली तथा गुप्त दोनों ही प्रकार की गतिविधियां सम्मिलित थीं। इसके अतिरिक्त अन्य आन्दोलनों की भांति इस आन्दोलन को केवल कांग्रेस के सदस्यों तक ही समिति न रखकर जन आन्दोलन बनाया गया। गांधी जी ने मुसलमानों, सिखों एवं पारसियों को इस आन्दोलन में भाग लेने हेतु आमन्त्रित किया। गांधी जी ने ब्रिटिश सरकार की आधारशिला राजा महाराजाओं को भी इस आन्दोलन में भाग लेने हेतु आमन्त्रित किया। गांधी जी ने छात्रों एवं अध्यापकों को स्कूल एवं कॉलेज छोड़कर आन्दोलन में भाग लेने का आह्वान किया। इसी प्रकार कृषक एवं श्रमिक भी इस आन्दोलन में भाग लेने हेतु आमन्त्रित किये गए। गांधी जी ने सरकारी कर्मचारियों का भी इस आन्दोलन में आह्वान किया। भारतीय सैनिकों से भारतीयों को गोली मारने की आज्ञा का पालन न करने का अनुरोध किया गया।

इस प्रकार गांधी जी समाज के प्रत्येक वर्ग एवं मनुष्य को स्वतंत्रता की भावना से भरकर उनका ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध प्रयोग करना चाहते थे। वे चाहते थे कि प्रत्येक भारतवासी आजादी का मन्त्र पढ़े।

अन्य आन्दोलनों के विपरीत यह आन्दोलन केवल जेल जाने के कार्यक्रम तक ही समिति नहीं था। इसमें अन्य कार्यक्रम भी सम्मिलित थे। इसमें कर जमा न करना, सरकार की आज्ञाओं को न मानना तथा सरकारी कार्य न करना भी सम्मिलित थे। इस आन्दोलन में जन सम्पत्ति का नुकसान करने का कहीं भी नाम नहीं था वे इस आन्दोलन को सक्षम तथा प्रभावशाली बनाना चाहते थे।

इस आन्दोलन को गांधी जी के दो सन्देशों ने प्रेरणा प्रदान की–प्रथम

गांधी जी का अखिल भारतीय कांग्रेस समिति में भाषण तथा द्वितीय गांधी जी का गिरफ्तार होने से पूर्व बम्बई कांग्रेस समिति के कार्यालय में दिया गया सन्देश । इन दोनों सन्देशों में गांधी जी ने देशवासियों से अहिंसापूर्वक आन्दोलन करने का आग्रह किया था ।

गाँधीजी के शब्दों में ही यह आन्दोलन बिना हथियार की क्रान्ति था। चूँकि यह आन्दोलन पूर्ण राष्ट्र में एक साथ ही प्रारम्भ किया जाना था अत: सरकारी तन्त्र के ठप्प हो जाने की आशा की गई थी । विदेशी सैनिक भी इस आन्दोलन को कुचलने में सफल न हो सकते, क्योंकि कोई भी भारत-वासी उन्हें सहयोग न देता ।

आन्दोलन की चार अवस्थाएँ

भारत छोड़ो आन्दोलन को चार विभिन्न अवस्थाओं में बाँट सकते हैं। भारत छोड़ो आन्दोलन 9 अगस्त, 1942 से 5 मई, 1944 तक चला । प्रथम अवस्था में गाँधी जी, नेहरू तथा अन्य नेताओं की गिरफ्तारी के साथ प्रारम्भ हुई एवं दो अथवा तीन दिन तक रही । इस काल में इन नेताओं की गिरफ्तारी के विरोध में हड़तालें हुई, सभाएँ की गई, जुलूस निकाले गये पर यह गतिविधियाँ नगरों एव औद्योगिक क्षेत्रों तक ही सीमित रहीं । सरकार ने इन विरोध प्रदर्शनों को अधिक महत्व नहीं दिया । भारत के सभी मुख्य नगरों में हड़तालें और प्रदर्शन हुए । इस काल की मुख्य विशेषता यह थी कि मिलों एवं कारखानों में श्रमिकों की हड़ताल ने पूरे देश को अत्याधिक हानि पहुंचाई । परन्तु साम्यवादियों से प्रभावित श्रमिकों ने इसमें भाग नहीं लिया ।

जो क्रान्तिकारी श्रमिक हड़ताल पर थे, उन्होंने इस आन्दोलन को भारत के गाँव-गाँव में पहुंचाया जिसमें छात्रों ने अत्याधिक सहयोग दिया । इस आन्दोलन का द्वितीय चरण यहीं से प्रारम्भ हुआ जबकि आन्दोलन भारत के गाँवों में भी विस्तृत होने लगा । पर यह आन्दोलन अहिंसा से हिंसात्मक रूप धारण करने लगा था । इस परिवर्तन के मुख्य कारण निम्नलिखित थे । (1) पुलिस एवं सेना की दमनात्मक कार्यवाही (2) इस आन्दोलन का नेतृत्व युवा वर्ग, छात्रों एवं श्रमिक नेताओं के हाथ में आना था । इस चरण के प्रारम्भ होने से पूर्व बम्बई में ग्यारह अगस्त को पुलिस ने अनेक बार गोली चलाई जिससे जनता में रोष की भावना जागृत हुई और परिणामस्वरूप जनता हिंसक कार्यक्रम में रुचि लेने लगी । इसके अतिरिक्त पुलिस ने व्यापक रूप से निर्दोष व्यक्तियों को बन्दी बनाना प्रारम्भ किया । इस प्रकार 11

अगस्त से इस आन्दोलन ने हिंसात्मक रूप धारण कर लिया। इसकी एक प्रमुख विशेषता यह थी कि आन्दोलनकारियों के आक्रमण सरकारी एवं नगर-पालिका की म्युनिस्पल सम्पत्ति पर हुये। भवनों में रेलवे स्टेशन, पुलिस स्टेशन एवं डाकघर प्रमुख थे परन्तु भीड़ ने बस, ट्राम, कारें, पत्र पेटिका इत्यादि को भी हानि पहुंचाई। इसके अतिरिक्त संचार व्यवस्था को भंग करने हेतु रेलवे लाइन, टेलीफोन लाइन इत्यादि को नष्ट करने का प्रयत्न किया गया। कुछ स्थानों पर पृथक सरकारें भी स्थापित की गई। इस चरण की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह भी थी कि क्रान्तिकारियों ने सरकारी कचहरी कार्यालयों पर भी अधिकार कर लिया। इसमें बिहार बम्बई तथा संयुक्त प्रदेश का नाम प्रमुख था। इन प्रदेशों में सरकारी खजाने को लूट लिया गया तथा सरकारी पत्रों को जला दिया गया। इस चरण में जेलों को तोड़ने का प्रयास भी किया गया। अगस्त के अन्त में यह अनुभव होना प्रारम्भ हो गया था कि पुलिस एव सैनिक दमन के कारण आन्दोलन मन्द होता जा रहा था।

सितम्बर में आन्दोलन तृतीय चरण में प्रविष्ट हुआ जबकि सरकारी कार्यालयों, सम्पत्ति तथा संचार व्यवस्था पर आन्दोलनकारियों ने शस्त्रों से आक्रमण प्रारम्भ किये। इसमें बंगाल तथा मद्रास की घटनाएँ प्रमुख थी। कई स्थानों पर सरकारी कार्यालयों पर बम फेंकने की घटनायें भी हुई।

यह आन्दोलन वास्तव में फरवरी, 1943 तक प्राय: समाप्त हो गया था, परन्तु यह गाँधी जी को जेल से छोड़ दिये जाने (मई 1944) तक बना रहा। यह इस आन्दोलन का चतुर्थ चरण था। इस काल में सांकेतिक प्रदर्शन हुये। उदाहरणस्वरूप स्वतंत्रता दिवस, तिलक जयन्ती, 9 अगस्त को राष्ट्रीय सप्ताह तथा प्रत्येक महीने की 9 तारीख को छात्रों एवं श्रमिकों ने शान्तिपूर्ण जुलूस निकाले।

इस आन्दोलन को उच्च वर्ग का सक्रिय सहयोग प्राप्त न था। यद्यपि मुसलमान भी हड़तालों एवं जुलूसों में शामिल हुए तथा जेल भी गये, परन्तु जिन्नाह के आदेशानुसार वे इस आन्दोलन से पृथक ही रहे। उच्च वर्ग ने इस आन्दोलन को समर्थन नहीं दिया।

स्वरूप एवं असफलता

भारत छोड़ो आन्दोलन यद्यपि अल्पकालिक था, परन्तु इसकी गति तीव्र थी। निस्संदेह यह आन्दोलन तत्कालिक उद्देश्यों को पूर्ण करने में असफल रहा किन्तु इसके आन्दोलन, विद्रोह एवं क्रान्ति के स्वरूप ने

भारतीय जनमानस को एक नवीन सक्रियता प्रदान की। स्वतन्त्र उपनिवेशवाद की माँग के स्थान पर पूर्ण स्वतन्त्रता का नारा गूँजने लगा, जिसने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नींव को एक सीमा तक झकझोर दिया। इस आन्दोलन से पूर्व के आन्दोलन जनता को आन्दोलित करने एवं राजनैतिक पथ पर अग्रसरित कराने की शिक्षा के लिये ही हुये थे। 1921 के असहयोग आंदोलन ने जनता में राष्ट्रीय भावना को जाग्रत किया, 1930 के आन्दोलन ने ब्रिटिश राज्य के भय को दूर कर त्याग एवं अवज्ञा की भावना को प्रेरित किया। जबकि 1942 के आन्दोलन का मुख्य ध्येय जनमानस में क्रान्ति की भावना का उद्भव कर स्वतन्त्रता प्राप्ति के लक्ष्य में निहित था।

यद्यपि गाँधी जी का आन्दोलन असफल हुआ, परन्तु स्वतन्त्रता आह्वान की क्रान्ति सफल हुई। क्योंकि इस आन्दोलन ने जनता में त्याग तथा मर मिटने की भावना को उत्पन्न किया। इसके उपरान्त भी आन्दोलन की असफलता के कुछ प्रमुख कारण दृष्टिगोचर होते हैं—

असफलता का प्रथम कारण आन्दोलन के कार्यक्रम एवं संगठन का त्रुटिपूर्ण होना था। असफलता का द्वितीय कारण गांधी जी की पुरानी सत्याग्रह की नीति का परिपालन निर्णय था; जबकि इस आन्दोलन के लिये किसी अन्य पद्धति को अपनाना चाहिये था।

तृतीय कारण गाँधी जी का त्रुटिपूर्ण आंकलन था कि ब्रिटिश सरकार आन्दोलनकारी नेताओं को गिरफ्तार नहीं करेगी। इसके विपरीत ब्रिटिश सरकार द्वारा सारे नेताओं को एक साथ बन्दी बनाकर नेतृत्व विहीन कर दिया गया।

चतुर्थ कारण सरकारी कर्मचारियों तथा मुस्लिम वर्ग का असहयोग एवं सरकार के प्रति स्वामिभक्ति थी।

पाँचवा कारण एक ओर निशस्त्र, संगठनहीन तथा पारस्परिक मतभेद से युक्त भारतीय जनता थी जिनका कोई उचित नेतृत्वकर्ता नहीं था, तथा दूसरी ओर सुसगठित, अनुशासित ब्रिटिश सरकार की सेना एवं पुलिस थी जिसके पास आधुनिक शस्त्रागार एवं संचार माध्यम थे। इसके सम्मुख आंदोलन की सफलता मात्र एक असंभव सा प्रयास था।

1942 के 'भारत छोड़ो' आंदोलन के विषय में प्राय: एक प्रश्न उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती है कि यह क्रान्ति थी अथवा विद्रोह। मूल रूप से यह दोनों के सम्मिश्रण का आंदोलन था, क्योंकि इसमें विद्रोह की प्रचंडता एवं क्रान्ति की गतिशीलता थी। अन्य क्रान्तियों की भांति यह आंदोलन भी 'गांधी दर्शन' से प्रभावित था, और गांधी विचारधारा ने देशवासियों को

एक नवीन प्रेरणा दी थी। यदा-कदा कुछ उग्रवादी तत्वों ने भी इस आंदोलन को विद्रोह एवं क्रान्ति के भिन्न-भिन्न रूप में प्रदर्शित किया। अन्ततोगत्वा ब्रिटिश साम्राज्यवादी तानाशाही, निरंकुशता एवं अत्याचार के विरुद्ध इस आंदोलन का स्वरूप विद्रोही था, और ब्रिटिश राजतन्त्र का उन्मूलन एक क्रान्ति का लक्ष्य था।

ग्रन्थ निर्देश संदर्भिका **REFERENCES**

आन्दोलित राष्ट्रवाद

1. Nanda, B. R. : Mahatma Gandhi : A Biography, London 1958.

2. Coatman, J. : Years of Destiny : India 1926-32, London, 1932.

3. Jha, Manoranjan : Civil Disobedience and after Delhi, 1973.

4. Mittra, Nripendra Nath (ed) : The Indian Annual Register Calcutta, 1939, Vol, II.

5. Sitaramayya, B. Pattabhi : The History of the Indian National Congress, Bombay, 1946, Vol, I.

6. Literary Digest : Gandhi Worries John Bull Again, New york, 104 Jan. 1930

7. Tendulkar, D. G. : Mahatma, Vol. III & Vol. VI, Bombay, 1952.

8. Brilsford, Henry Novel : Rebel India, London, 1931.

9. Harijan : May 3, June 7, 14, July 7, 12 & 19, 1942.

10. Prasad, Amba : The Indian Revolt of 1942. Delhi, 1958.

11. Harrison, A : India, 1939-42, London, 1942

12. The Times of India : August 12, 13, & 15 1942, Bombay.

13. New York Times : Sep. 22, & 24, 1942.

14. Sahai, G. : 42 Rebellion, Delhi, 1947.

15. Ghosh, A : The Doctrine of Passive Resistance, Pondicherry, 1952.

16. Amery, L. S. : My Political Life, 4 Vols. London, 1953-55.

17. Brown, Judithm : Gandhi's Rise to Power, London, 1972.

18. Seal, Anil : The Emergence of Indian Nationalism, London, 1968.

19. Panikkar, K. M. : A Survey of Indian History, Bombay, 1966.

20. Brown, Donald M. : The Nationalist Movement, Berkeley, 1965.

21. Lacke, J. : Indian Political Movements, New Jersey, 1981.

22. Edwards, Michael : Nehru :A Political Biography, New York 1971.

●

अध्याय 24

संवैधानिक विकास

1858 का अधिनियम

1853 के अधिकृत अधिनियम के केवल चार वर्षों पश्चात् ही भारत में एक महत्वपूर्ण घटना घटित हुई। यह था 1857 का प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम। 1857 की क्रान्ति को भारतीय ग़दर, सिपाही युद्ध, भारतीय क्रान्ति अथवा स्वतन्त्रता संग्राम की संज्ञा प्राप्त है। ब्रिटिश शासन को समाप्त करने के इस प्रथम प्रयास ने प्राचीन शासन पद्धति को पूर्णरूपेण परिवर्तित कर दिया। इस क्रान्ति के परिणाम स्वरूप कम्पनी ने एक विधेयक दोनों सदनों में प्रेषित किया जिसका आशय यह था कि भारत में प्रशासनिक असफलता का कारण कम्पनी की अयोग्यता नहीं अपितु ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों की अनावश्यक दखलन्दाजी थी। परन्तु भारत की इस अशोचनीय दुर्घटना ने ब्रिटेन में एक महान् प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी तथा यह निश्चित किया गया कि कम्पनी के शासन को अवश्यमेव एवं शीघ्रातिशीघ्र समाप्त कर देना चाहिए। फलस्वरूप नवम्बर, 1858 में एक विधेयक प्रस्तावित किया गया जो अन्त में 1858 का उपर्युक्त भारतीय सरकार अधिनियम वन गया।

मुख्य प्राविधान

अधिनियम के घोषणानुसार भारत का शासन साम्राज्ञी द्वारा एवं साम्राज्ञी के नाम से होगा, तथा कम्पनी के समस्त क्षेत्र एवं अधिकार साम्राज्ञी में निहित होंगे। इस अधिनियम की 75 धाराएँ थीं जिनके मुख्य प्राविधान निम्न हैं :—

(अ) गृह सरकार द्वारा सम्बन्धित प्राविधान

1. इसके अनुसार भारत सरकार तथा इसका समस्त राजस्व एवं किसी

भी अन्य प्रकार की तथा उपहार द्वारा प्राप्त धनराशि की स्वीकृति साम्राज्ञी के नाम से होगी एवं इसका उपयोग केवल भारत सरकार के लिए ही होगा।

2. अधिनियम ने राज्य सचिव की नियुक्ति का निश्चय किया जिसे पन्द्रह सदस्यीय कौंसिल की सहायता से एवं साम्राज्ञी के नाम से भारत पर शासन करना था, तथा इसको बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल तथा कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स दोनों के सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त होंगे।

3. उपर्युक्त पन्द्रह सदस्यों की कौन्सिल में आठ सदस्यों की नियुक्ति साम्राज्ञी द्वारा होनी थी, शेष सदस्यों का चुनाव कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के अधीन कर दिया गया। जिसमें यह प्राविधान रखा गया कि प्रत्येक वर्ग के आधे सदस्य ऐसे हों जिन्होंने भारत में रहकर कम से कम दस वर्षों तक शासकीय सेवा की हो एवं अपनी नियुक्ति के दस वर्षों पूर्व तक भारत न छोड़ा हो।

4. कौन्सिल का सारा कार्य राज्य-सचिव के निर्देशन में होता था जो इसका अध्यक्ष था। उसे कौन्सिल में मत प्रदान करने का अधिकार था। निर्णायक मत का अधिकार भी उसे प्राप्त था। कौन्सिल को विभिन्न समितियों में विभाजित करने का अधिकार भी उसे प्राप्त था। कौन्सिल के निर्णयों को अस्वीकृत करने का अधिकार भी अध्यक्ष को ही था। परन्तु इस अस्वीकृति के कारणों का विवरण देना आवश्यक था।

5 इसी के साथ-साथ राज्य सचिव कौन्सिल के निम्न निर्णयों को मानने के लिए बाध्य भी था :—

(क) भारतीय राजस्व तथा धन सम्पदा के सम्बन्ध में

(ख) भारतीय सम्पत्ति के क्रय-विक्रय तथा गिरवी रखने के सम्बन्ध में

(ग) भारत से सम्बन्धित नियुक्तियों के सम्बन्ध में तथा

(घ) कौन्सिल के सदस्यों के चुनाव के सम्बन्ध में।

6. ब्रिटेन तथा भारत-सरकार के मध्य व्यापार एवं वार्तालाप के सम्बन्ध में कौन्सिल को राज्य सचिव के निर्देशन में कार्य करने का अधिकार प्राप्त था। भारत के लिए प्रत्येक आज्ञा एवं निर्देशन पर राज्य सचिव का हस्ताक्षर आवश्यक था एवं भारत के प्रत्येक सूचनापत्र को राज्य सचिव के नाम से सम्बोधित करना आवश्यक था।

7. कौन्सिल को सप्ताह में एक बार मिलना आवश्यक था। इसकी संख्या पांच निर्धारित थी। प्रत्येक सदस्य को सन्तोषजनक व्यवहार प्रदर्शित

करने तक इस पद को सँभालने का अधिकार था जिसके पश्चात् पार्लियामेन्ट के दोनों सदनों के निर्देशानुसार उन्हें हटाया जा सकता था।

8 राज्य सचिव की अनुपस्थिति में कौन्सिल के ही किसी सदस्य की उपाध्यक्षता में पारित प्रत्येक अधिनियम पर राज्य सचिव का हस्ताक्षर आवश्यक था।

9 प्रत्येक गुप्त मामलों में राज्य सचिव के सर्वाधिकार सुरक्षित थे, वह अपने अधिकारों के अन्तर्गत किसी भी गुप्त मामले पर बिना कौंसिल को बताये कोई भी निर्णय ले सकता था।

10. इसी प्रकार भारत से प्राप्त किसी भी प्रकार की गुप्त सूचना को, बिना राज्य सचिव की इच्छा के, कौंसिल के सदस्यों को जानने का अधिकार नहीं था।

11. राज्य सचिव को पार्लियामेन्ट के द्वारा निर्यात करने के ध्येय से, उसे प्रति वर्ष पार्लियामेन्ट के सम्मुख भारत के आय-व्यय का पूर्ण विवरण प्रदान करने का प्राविधान बना दिया गया था। इसके साथ ही साथ उसे भौतिक तथा नैतिक कार्यों का पूर्ण विवरण प्रत्येक वर्ष पार्लियामेन्ट को प्रस्तुत करना पड़ता था।

12. युद्ध से सम्बन्धित मामलों में भी राज्य सचिव को तीन माह के अन्दर ही पार्लियामेन्ट को इससे पूर्णरूपेण परिचित करा देना आवश्यक था।

13. बिना पार्लियामेन्ट के दोनों सदनों की स्वीकृति के भारतीय राजस्व को भारत की सीमाओं के बाहर किसी सैनिक प्रयोजन से प्रयोग नहीं किया जा सकता था।

14. भारतीय प्रशासनिक सेवा के लिए प्रतियोगातमक आधार बनाये गये थे। अतएव भारत-सचिव तथा कौन्सिल को प्रशासनिक सेवा आयोग की सहायता से आवश्यक नियम बनाने का अधिकार प्रदान किया गया।

(ब) भारत सरकार से सम्बन्धित प्राविधान

1. भारत के गवर्नर जनरल तथा विभिन्न प्रेसीडेन्सियों के गवर्नरों की नियुक्त का अधिकार ब्रिटिश साम्राज्ञी को तथा इसके कौन्सिल के सदस्यों की नियुक्त का अधिकार कौन्सिल के राज्य सचिव को प्रदान किया गया।

2. भारतीय अधिकारियों द्वारा की जाने वाली नियुक्तियों का अधिकार उन्हीं के हाथों छोड़ दिया गया, परन्तु सैनिक नियुक्तियों का अधिकार राज्य सचिव को प्रदान कर दिया गया।

3. कम्पनी की स्थल एवं जल सेना को ब्रिटिश ताज के अधीन कर

दिया गया, परन्तु उनकी सेवा-जनित प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं किया गया।

4. कम्पनी द्वारा स्वीकृत सभी सन्धियाँ ब्रिटिश साम्राज्य के लिए बाध्य मानी गईं। इसी प्रकार कम्पनी के सारे सम्बन्ध, उत्तरदायित्व एवं प्रसंविदाएँ आदि भारत-सचिव इन कौन्सिल के द्वारा एवं उनके विरुद्ध प्रयुक्त की जा सकती थीं।

5. ब्रिटिश ताज द्वारा भारतीय सरकार के हस्तान्तरण की सूचना भारतीय राजाओं तथा जनता को साम्राज्ञी की घोषणा द्वारा दी गई।

महारानी विक्टोरिया की घोषणा

नवम्बर 1, 1858 को सुव्यवस्थित भारतीय सरकार के लिए यह अधिनियम 1858 के अगस्त माह में स्वीकार किया गया। परन्तु भारतीय शासन के हस्तान्तरण की घोषणा नवम्बर 1, 1858 को इलाहाबाद के दरबार में, भारतीय राजाओं तथा जनता के सम्मुख महारानी के नाम से भारत के प्रथम वायसराय एवं गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग द्वारा की गई। घोषणा की वास्तविक प्रतिलिपि की आलोचना करते हुए महारानी ने प्रधानमंत्री को यह सुझाव दिया कि वह इस बात को ध्यान में रखें कि वह घोषणा एक रानी द्वारा लगभग दस करोड़ पूर्वी निवासियों पर शासन करने के लिए दी जाने वाली थी एवं युद्ध के पश्चात् जो अपने सुशासन के सिद्धान्तों तथा प्रस्तावित विवरणों के प्रति वचनबद्ध थीं। इस प्रकार की घोणणा में उदारता, लाभ धार्मिक स्वतंत्रता, अंग्रेजों के बराबर सुविधाएँ तथा संस्कृति का विवरण हो।

इस घोषणा के द्वारा यह घोषित किया गया कि:—

1. देशी राज्यों को उनके अधिकारों, उनके मान और उनकी प्रतिष्ठा को बनाये रखने का प्राविधान दिया गया।

2. ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत प्रजा को ब्रिटिश राज्यमुकुट और उनके उत्तराधिकारियों के प्रति स्वामिभक्ति प्रदर्शित करनी होगी।

3. भारत की जनता को धर्म की स्वतंत्रता एवं न्याय के संरक्षण का आश्वासन दिया गया।

4. भारतवासियों के प्राचीन रीति-रिवाजों को पूर्ण सम्मान दिया गया।

5. 1857 के विद्रोहियों के प्रति क्षमा नींति का व्यवहार किया जाना निश्चय हुआ।

6. शान्ति के वातावरण में 1857 के विद्रोह के पश्चात् शान्ति स्थापित हो जाने पर, सार्वजनिक प्रगति वाले कार्य को प्रोत्साहन दिया जायेगा।

अधिनियम का महत्व

1858 के ऐक्ट के द्वारा कम्पनी के शासन का अन्त हो गया और उसके स्थान पर ब्रिटिश ताज का शासन प्रारम्भ हुआ, जिससे भारत के संवैधानिक इतिहास में सर्वथा नये युग का सूत्रपात हुआ। संभवत: इसीलिये मार्ले ने इस घोषणा को 'मैग्नाकार्टा' कहा ! यद्यपि कुछ इतिहासकार 1858 के अधिनियम को महत्वहीन समझते हैं परन्तु वास्तव में इससे ईस्ट इंडिया बिल के अनुसार स्थापित द्विशासन प्रणाली का अन्त हो गया। इसके अतिरिक्त भारत मंत्री एवं उसकी परिषद के अधिकारों में अत्यधिक वृद्धि हुई और भारतीय शासन व्यवस्था पर उसका नियंत्रण बढ़ गया। इस अधिनियम के द्वारा स्थापित भारत मंत्री एवं उसकी परिषद ने 'केन्द्रीय नौकरशाही' को जन्म दिया तथा समस्त शक्ति भारत सचिव के हाथों में दे दी गयी। यद्यपि शक्ति पर अंकुश रखने का प्रयास किया गया था परन्तु व्यवहार में काउन्सिल सचिव के समक्ष सर्वथा शक्तिहीन थी।

1861 का भारतीय परिषद अधिनियम

1858 के अधिनियम के द्वारा कम्पनी का शासन ताज के अन्तर्गत कर दिया गया था। परन्तु उस अधिनियम के प्राविधानों में भारतीय प्रशासन के सम्बन्ध में कुछ भी उल्लेख नहीं किया गया था। इसके अतिरिक्त विधान कार्यों में भारतीयों का सहयोग नितान्त आवश्यक प्रतीत हो रहा था क्योंकि भारत में रहने वाले विभिन्न प्रकार के लोगों के लिये ही संस्था द्वारा कानून बनाने में असाधारण कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। अतएव विधानक्षेत्रों में उत्पन्न दोषों को दूर करने की आवश्यकता हेतु एवं 1857 की घटनाओं की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सर चार्ल्स वुड ने जून 6, 1861 को हाउस आफ कॉमन्स में एक बिल पेश किया गया जो कि अन्तत: पारित होकर इन्डियन काउन्सिल ऐक्ट के रूप में जनता के सम्मुख आया। इस अधिनियम के मुख्य प्राविधान निम्न थे–

1 सर्वप्रथम केन्द्रीय कार्यपालिका परिषद् अर्थात् गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में एक अन्य सदस्य की वृद्धि कर दी गई। अब गवर्नर-जनरल के अतिरिक्त चार अन्य सदस्य हुए। यह अतिरिक्त विधि-सदस्य विधि-वेत्ता होता था जो कि गवर्नर-जनरल एवं काउंसिल का कानून बनाने में सहायता करता था।

2 विधान-निर्माण के लिए गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में कम से कम 6 और अधिक से अधिक 12 सदस्यों की वृद्धि की गयी जिसमें कम से कम आधे सदस्य गैर सरकारी होते थे ।

3. प्रान्तीय विधान सभाओं के सदस्यों को गवर्नर मनोनीत कर सकता था, परन्तु इनके लिए गवर्नर-जनरल की पूर्व स्वीकृत पूर्ण आवश्यक थी और उनमें से आधे सदस्यों का गैर सरकारी होना आवश्यक था ।

4. केन्द्रीय विधान परिषद् को उसके अन्तर्गत आने वाले समस्त केन्द्रीय व्यक्तियों एवं न्यायालयों के लिए कानून बनाने तथा उनमें परिवर्तन करने का अधिकार था परन्तु यह विधान परिषद् 1861 के ऐक्ट के प्राविधानों में तथा कुछ अन्य ऐक्टों के प्रविधानों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती थी । काउंसिल द्वारा बनाये गये समस्त कानूनों की मान्यता हेतु गवर्नर-जनरल की अनुमति आवश्यक थी ।

5. संकटकालीन स्थितियों में गवर्नर-जनरल अपनी विधायी शक्तियों के अन्तर्गत अध्यादेश जारी कर सकता था, साथ ही कानून निर्माण के उद्देश्य से नये प्रान्तों की स्थापना भी कर सकता था और यथावत उनके लिए उप-गवर्नरों की नियुक्ति भी कर सकता था । प्रान्तों एवं प्रेसीडेन्सियों की सीमाओं में परिवर्तन करने का अधिकार भी गवर्नर जनरल को ही प्राप्त था ।

6. बम्बई, मद्रास व बंगाल के लिए विधान सभाओं की स्थापना का अधिकार गवर्नर-जनरल को प्रदान कर दिया गया ।

मूल्यांकन

1861 का अधिनियम संवैधानिक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है । इस अधिनियम ने संवैधानिक जांच को पूर्ण किया, क्योंकि इसके अन्तर्गत भारतवासियों को व्यवस्थापन कार्य में भाग लेने का अधिकार प्राप्त हो गया तथा इसके अतिरिक्त बम्बई एवं मद्रास की सरकार को व्यवस्थापन का अधिकार प्रदान कर तथा गवर्नर-जनरलों को नवीन प्रान्त बनाने का अधिकार प्रदान कर, विकेन्द्रीकरण की प्रथा प्रारम्भ हुई जो बाद में 1937 में प्रान्तीय स्वतंत्रता में परिवर्तित हो गयी । यह नीति आज भी भारतीय विधायी प्राविधानों का आधार है । वास्तव में रेग्युलेटिंग ऐक्ट ने केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया का उद्घाटन किया । यह ऐक्ट बीसवीं शताब्दी के विधान मण्डलों का प्रारम्भिक चार्टर था । यद्यपि सिद्धान्त में स्थानीय सरकारों को कानून बनाने का अधिकार इस अधिनियम के द्वारा प्राप्त हो गया था परन्तु व्यवहार में वे बिना केन्द्रीय सरकार के परामर्श के कानून नहीं बना सकती थीं । सरकारी सदस्यों के साथ

सहयोग से भारतीयों को अपने विधि निर्माण को निमित्त अभूनपूर्व योगदान प्राप्त हुआ। गवर्नर-जनरलों को संकटकालीन स्थिति में शान्ति स्थापित करने के उद्देश्य से अध्यादेश जारी करने का अधिकार प्राप्त हो गया था जो कि प्रशासन के कार्यों को सुचारु रूप से गति देने में महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। अतएव इन समस्त प्राविधानों के उपरान्त भी भारतीय जनता को इस अधिनियम से सन्तोष नहीं हुआ क्योंकि वे एक उत्तरदायी सरकार की स्थापना चाहते थे जिसको चरितार्थ करने में अँगरेज पूर्ण रूप से असफल सिद्ध हुए। इसका मुख्य कारण यह था कि अब तक भारत में प्रतिनिधि संस्थाओं का प्रारम्भ नहीं हो सका था।

1892 का भारतीय कौंसिल अधिनियम

1861 के भारतीय अधिनियम के द्वारा भारतीय जनता को सन्तोष नहीं प्राप्त हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि इस अधिनियम ने जनता के अधिकारों का उचित ध्यान न रखकर उनका शोषण किया। 1861 के अधिनियम के अन्तर्गत कुछ गैर सरकारी सदस्य भारतीय जनता की सुख एवं समृद्धि के लिए मनोनीत थे परन्तु वास्तविकता यह थी कि वे गैर सरकारी सदस्य भारत के विकास और निर्माण में किंचित मात्र भी चिंचित नहीं थे। इसके अतिरिक्त इन परिषदों की अधिकार सीमा भी संकुचित थी, अत: इनके द्वारा पारित समस्त कानून केवल सरकार की घोषणा मात्र थी। ये समस्त परिषदें पंजीकृत सस्थाएं थीं तथा इनके कोई भी निर्वाचित व्यक्ति नहीं थे। अत: इन समस्त दोषों को दूर करने के अभिप्राय से भारतवासियों ने परिषदों में सुधार की माँग की, जो समस्त परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में, कई बाधाओं को पार करने के पश्चात् 1892 में पारित हुआ। इस भारतीय कौंसिल अधिनियम की निम्नलिखित मुख्य धाराएं थी :—

1. विधान परिषदों की शक्तियों में अत्यधिक वृद्धि की गई और उन्हें कुछ प्रतिबन्धों के साथ वार्षिक बजट पर वार्तालाप करने का अधिकार दिया गया।

2 कानून बनाने के उद्देश्य से केन्द्रीय एवं प्रान्तीय परिषदों की शक्ति एवं क्षेत्रों में विस्तार किया गया जिसके फलस्वरूप कौंसिल के अतिरिक्त सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई और इस प्रकार केन्द्र में उनकी संख्या कम से कम 10 तथा अधिक से अधिक 16 निश्चित कर दी गई। इसी प्रकार बम्बई तथा मद्रास की काउंसिलों के अतिरिक्त सदस्यों की संख्या को कम से कम 8 और अधिक से अधिक 20 निश्चित किया गया। बंगाल, उत्तरी पश्चिमी प्रान्त एवं अवध की काउंसिलों के अतिरिक्त

सदस्यों की न्यूनतम संख्या का स्पष्टीकरण नहीं किया गया था परन्तु इसके विपरीत इनकी अधिकतम और न्यूनतम संख्या क्रमशः 20 तथा 15 निश्चित कर दी गयी थी।

3. सर्वोच्च विधान परिषद के प्रभाव क्षेत्र में पर्याप्त बृद्धि कर दी गयी तथा काउंसिल के सदस्यों को सार्वजनिक मामलों में सरकार से प्रश्न पूछने का अधिकार प्रदान कर दिया गया। परन्तु इन अधिकारों के साथ यह निश्चित कर दिया गया था कि उन्हें प्रश्न पूछने के पूर्व 6 दिन का नोटिस देना आवश्यक था जबकि अध्यक्ष को यह अधिकार प्राप्त था कि वह किसी भी प्रश्न का उत्तर बिना कारण बताये अस्वीकृत कर सकता था।

4. अप्रत्यक्ष चुनाव की प्रथा का भी सूत्रपात हुआ। इस प्रकार प्रान्तीय कांउसिल के लिये डिस्ट्रिक बोर्ड, म्युनिसिपल काउंसिल, चेम्बर आफ कॉमर्स आदि की एवं विश्वविद्यालय की सीनेट संस्तुति पर सरकार सदस्यों को मनोनीत करती थी।

मूल्यांकन

1892 के इस अधिनियम से भारतीयों को विशेष लाभ नहीं हुआ क्योंकि अस्पष्ट निर्वाचन पद्धति के कारण जो सदस्य निर्वाचित किये जाते थे वे वास्तविक अर्थों में जनता का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाते थे, अतः वे प्रशासन के कार्यक्षेत्रों के प्रति उत्सुक नहीं रहते थे, परन्तु समयानुकूल 1892 का ऐक्ट एक निर्णायक एवं प्रगतिपूर्ण कदम था। इस अधिनियम के द्वारा भारतीय जनता को उच्च विधायक कार्यक्षेत्रों में अवलोकन करने का अधिकार प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त आर्थिक मामलों में विधान परिषदों के कार्यक्षेत्रों में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। अतएव 1892 का अधिनियम भी भारतीय जनता में सन्तोष का वातावरण उत्पन्न करने में असफल ही सिद्ध हुआ। इस अधिनियम ने जिस निर्वाचन पद्धति का श्रीगणेश किया था वह वस्तुतः पूर्ण रूप से संकुचित एवं असन्तोषजनक थी। इसके अतिरिक्त काउंसिल में गैर सरकारी सदस्यों की नियुक्ति भी तर्कसंगत नहीं थी क्योंकि उनका बहुमत में होते हुए भी सरकार में कोई अस्तित्व नहीं था। इन समस्त कारणों से भारत को 1892 के अधिनियम से कोई सन्तोष नहीं प्राप्त हुआ। परन्तु इस अधिनियम में अप्रत्यक्ष चुनाव की स्थापना ने मिन्टो-मार्ले सुधारों (1909) के अन्तर्गत विस्तृत रूप प्राप्त किया।

सदस्यों के सहयोग से भारतीयों को अपने विधि-निर्माण में अभूतपूर्व योगदान प्राप्त हुआ। गवर्नर जनरलों को संकटकालीन स्थिति में शान्ति

स्थापित करने के उद्देश्य, अध्यादेश जारी करने का अधिकार प्राप्त हो गया था, जो कि प्रशासन के कार्यों को सुचारु रूप से गति देने में महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। अतएव इन समस्त प्राविधानों के उपरान्त भी भातीय जनता को इस अधिनियम से सन्तोष नहीं हुआ क्योंकि वे एक उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना चाहते थे, जिसको चरितार्थ करने में पूर्ण रूप से असफल सिद्ध हुए थे। इसका मुख्य कारण यह था कि भारत में प्रतिनिधि संस्थाओं का प्रारम्भ ही नहीं हो सका था।

मिन्टो-मार्ले सुधार (1909 का अधिनियम)

1892 के अधिनियम के सदृश ही 1909 का अधिनियम भी एक संशोधनात्मक अधिनियम था। अत: इसके कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं किया, लेकिन संवैधानिक प्रगति को विकसित अवश्य किया। इस अधिनियम के विचाराधीन होते समय मार्ले ने यह उदघोषित किया था कि यह 1861 अधिनियम के सिद्धान्तों को विस्तृत रूप देने में सहायक होगा।

पृष्ठभूमि

कर्जन के पश्चात भारतीय गर्वनर जनरल लार्ड मिन्टो तथा ब्रिटेन की उदारवादी सरकार में राज्य सचिव मार्ले ने भारतीय नव चेतना एवं जागृति को समझा तथा यह स्वीकार किया कि भारतीय प्रशासन निरंकुश हो चुका था। भारत में जागृत नवीन भावनात्मक विद्रोहों को ध्यान में रखते हुये कुछ अन्य संवैधानिक सिद्धान्तों को मान्यता प्रदान करना आवश्यक हो गया था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को पूर्ण मान्यता देने पर विचार विमर्श प्रारम्भ हो गया। इसके अतिरिक्त भारतीय जनता 1892 के सुधारों द्वारा असंतुष्ट थी तथा जो परिस्थितियां 1892 का एक्ट बनाते समय वर्तमान थीं वे इस समय भी विद्धमान थीं। इसका एक अन्य मुख्य कारण शैक्षिक स्तर का बढ़ जाना था। 1857-1907 के मध्य अंग्रेजी शिक्षार्थियों की संख्या 298-000 से बढ़कर 505,000 हो गई थी। (2) हाईस्कूल पास व्यक्तियों की संख्या जो 1886 में 4,286 थी 1905 में 8,211 तक पहुंच गई थी तथा बी०ए०पास करने वालों की संख्या जो 1886 में 708 थी, 1905 में 1,570 हो गई थी। इस शिक्षा के प्रसार के कारण भी लोग अपने व्यक्तिगत हितों की तरफ काफी सजग व आकृष्ट हो चुके थे और वे विशेष चुनाव क्षेत्रों द्वारा पृथक प्रतिनिधित्व की मांग कर रहे थे। भारत के राजनैतिक वातावरण में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन आ गया था। दो राजनैतिक विचारधारायें-उग्रपंथी,

नरमपंथी का अभ्युदय हो गया था। तिलक एवं श्रीअरविंदों घोष उग्रवादी विचारधारा के थे और विपिन चन्द्र पाल एवं लाला लाजपत राय नरमपंथी विचारधारा के समर्थक थे। नरमदल के अनुसार स्वाराज्य का मतलब संसदीय स्वशासन से था उग्रदल के अनुसार इसका अर्थ स्वाधीनता से था। इंग्लैण्ड के लोगों ने इसका अर्थ उपनिवेशिक स्वशासन को समझा। नई राजनैतिक चेतना का सामना सरकार ने दो प्रकार से करने का प्रयास किया, आतंकवादियों का दमन करके तथा नरमदल के व्यक्तियों को अपनी ओर मिला कर मिन्टो-मार्ले सुधार इस प्रकार के प्रयासों के अन्तर्गत आते हैं।

मिन्टों-मार्ले सुधारों की रचनात्मक पृष्ठभूमि 1906 से ही प्रारम्भ हो गई थी जब लार्ड मिन्टों ने टिप्पणी में भारत की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति की समीक्षा की। 1907 में वायसराय लार्ड मिन्टों ने भारतीय संविधान में सुधार करने का इरादा व्यक्त किया। उसी वर्ष भारतीय सरकार ने एक परिपत्र भी जारी किया जिसमें स्थानीय सरकार एवं प्रशासन की राय मांगी गई थी। उनकी राय प्राप्त हो जाने के पश्चात संविधान में प्रस्तावित सुधारों का वर्णन करते हुये भारत सचिव लार्ड मार्ले को एक पत्र लिखा गया जिसका उत्तर फिर भारतीय सरकार को प्रेषित किया गया।

तदनन्तर ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में एक बित 1908 में पेश किया गया जो 1909 में पास होकर गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट 1909 बना और उसी वर्ष 15 नवम्बर को भारत में कार्यान्वित भी हुआ। यह अधिनियम मिन्टो-मार्ले सुधार के नाम से अधिक प्रसिद्ध हुआ। इसे इंडियन कांउसिलस एक्ट (1909) भी कहते हैं।

मुख्य प्राविधान—

इस सुधारों के दो मुख्य प्राविधान थे पहला प्रान्तीय कार्यकारिणी परिषदों से संबंधित दूसरा विधान परिषदों (प्रान्तीय एवं केन्द्रीय) से सम्बन्धित प्राविधान थे।

(क) प्रान्तीय कार्यकारिणी परिषदों से सम्बन्धित प्राविधान—

इसके अन्तर्गत भारत के गवर्नर जनरल इन काउंसिल को भारत सचिव इन काउंसिल के पुष्टिकरण द्वारा बंगाल के लिए कार्यकारिणी परिषद की स्थापना का अधिकार प्रदान किया गया। इसमें सदस्यों की

संख्या अधिक से अधिक चार हो सकती थी। बंगाल के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर परिषदों की स्थापना करने पर ब्रिटिश पार्लियामेन्ट वीटो (निषेधाधिकार) लगा सकती थी।

(ख) विधान परिषदों से संबंधित प्राविधान–

मिन्टो-मार्ले सुधारों के अन्तर्गत विधान परिषदों में दो प्रकार से अत्यन्त महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये :–

(क) संवैधानिक एवं (ख) कार्य सम्बन्धी।

(क) संवैधानिक परिवर्तन–

(1) अतिरिक्त सदस्यों की संख्या में वृद्धि

अतिरिक्त सदस्यों की संख्या केन्द्रीय विधान परिषदों में 16 से बढ़ाकर 60 कर दी गई। प्रान्तीय विधान परिषदों की संख्या को बढ़ाकर 30 और कहीं-कहीं 50 तक कर दिया गया। अतिरिक्त सदस्यों की अधिकतम संख्या को ऐक्ट के प्रथम अनुच्छेद में निर्धारित कर दिया गया था किन्तु प्रत्येक विधान परिषद में उनकी वास्तविक संख्या ऐक्ट के अन्तर्गत बने रेग्यूलेशनों के द्वारा निर्धारित की जाती थी।

(2) अतिरिक्त सदस्यों की नियुक्ति का माध्यम–

अतिरिक्त सदस्यों की नियुक्ति व्यवहार में केवल नामांकन द्वारा होती थी किन्तु 1909 के सुधारों के अन्तर्गत उन्हें निर्वाचन के आधार पर भी नियुक्त करने की स्पष्ट घोषणा कर दी गई। 1909 के पूर्व निर्वाचन होता ही नहीं था। 1992 के ऐक्ट के अन्तर्गत निर्वाचित व्यक्ति के लिए भी आवश्यक था कि कांउसिल में सीट पाने के पूर्व सरकार का प्रधान उसे मनोनीत कर दे।

मिन्टो-मार्ले सुधारों के अन्तर्गत प्रत्येक विधान परिषद दो सरकार के सदस्यों से युक्त थी–सरकारी सदस्य तथा गैर सरकारी सदस्य। गैर सरकारी सदस्यों में भी दो प्रकार थे:–नामांकित गैर सरकारी सदस्य तथा निर्वाचित गैर सरकारी सदस्य।

(3) निर्वाचन क्षेत्र

विधान परिषदों में चयनीय सदस्यों के लिए तीन प्रकार के निर्वाचन क्षेत्र बनाये गये:–

(क) साधारण निर्वाचन क्षेत्र–

(ख) वर्ग निर्वाचन क्षेत्र (जमीदारों व मुस्लिमों का चुनाव क्षेत्र)

(ग) विशेष चुनाव क्षेत्र (विश्वविद्यालय, वाणिज्य मंडलों एवं नगर-पालिका)

(4) मतदाताओं की योग्यतायें–

मिन्टो-मार्ले सुधारों के अन्तर्गत तीन प्रकार के लोग मत देने के अयोग्य समझे गये थे, स्त्रियाँ, अवयस्क तथा विकृत मष्तिष्क के लोग। जमींदार तथा मुसलमान मतदाताओं की योग्यतायें केन्द्र और प्रान्तों में भिन्न थीं, यहां तक कि वे विभिन्न प्रान्तों में भी भिन्न-भिन्न थी।

(5) केन्द्रीय विधान परिषद में सरकारी बहुमत किन्तु प्रान्तीय विधान परिषदों में गैर सरकारी बहुमत–

विशिष्ट कारणों से केन्द्रीय विधान परिषद में पूर्ववत सरकारी सदस्यों के बहुमत को रखा गया। सरकारी बहुमत विलक्षण था जिसके माध्यम से गवर्नर जनरल सदस्यों व नामांकित सदस्यों के सहारे विधान परिषद में बहुमत प्राप्त कर सकता था। किन्तु प्रान्तों में प्रत्येक विधान परिषद में गैर सरकारी सदस्यों का बहुमत कायम किया गया। गैर सरकारी बहुमत स्थानीय परिस्थितियों पर निर्भर था। साधारणतया इसका कार्यकाल तीन वर्ष का था।

कार्य सम्बन्धी परिवर्तन–

मिन्टो-मार्ले सुधारों के अन्तर्गत विधान परिषदों के कार्यों में निम्न प्रकार से विस्तार किया गया

(1) बजट पर बहस करने का अधिकार–

1909 के पूर्व विधान परिषदों को बजट पर अत्यन्त सीमित प्रकार की बहस करने का अधिकार प्राप्त था परन्तु बजट पर प्रस्ताव पास करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। अब बजट पर होने वाले विवाद को तीन अवस्थाओं को पार करना होता था। उन्हें बजट प्रस्ताव पेश करने का भी अधिकार दिया गया। इसके अतिरिक्त उन्हें इन प्रस्तावों पर विभक्त होने का भी अधिकार मिल गया। उक्त सुविधाओं के साथ-साथ बहस करने के अधिकार पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगे थे यथा आय और व्यय की कुछ मदों पर बहस नहीं हो सकती थी।

(2) सार्वजनिक महत्व के विषयों पर बहस का अधिकार–

कुछ प्रतिबन्धों के अन्तर्गत विधान परिषदों को सभी सार्वजनिक हित के मामलों पर प्रस्ताव के द्वारा बहस करने का अधिकार दिया गया । प्रस्ताव पेश करने के लिए साधारणतया 15 दिन पूर्व लिखित सूचना देना आवश्यक था । अध्यक्ष ऐसे प्रस्तावों पर भी बहस की अनुमति अस्वीकार कर सकता था जिन्हें वह सार्वजनिक हित के विपरीत समझता हो ।

(3) प्रश्न पूछने का अधिकार–

विधान परिषदों के सदस्यों के प्रश्न पूछने के अधिकार में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया अलावा इसके कि अब पूरक प्रश्न पूछे जाने का अधिकार भी उन्हें प्राप्त हो गया । पूरक प्रश्न का अधिकार उसी सदस्य को दिया गया जिसने पहले कोई प्रश्न न पूछा हो ।

परिषदों के विधायिकी कार्यों में कोई परिवर्तन नहीं किया गया ।

दोष–

भारत में साम्प्रदायिकता की नींव सर्वप्रथम मिन्टो-मार्ले अधिनियम द्वारा ही रखी गई । इस अधिनियम ने चुनावों में साम्प्रदायिकता के आधार पर हिन्दू तथा मुसलमान निर्वाचन क्षेत्रों को विभाजित कर दिया । इस प्रकार पृथक-चुनाव प्रणाली में भारतीय इतिहास में एक नवीन पक्ष का सृजन कर भारतीय समाज को वर्गीकृत कर दिया । अल्पसंख्यकों को पृथक निर्वाचन क्षेत्र प्रदान कर दिये जाने से बहुसख्यक हिन्दूओं में इसकी प्रतिक्रिया अवश्यम्भावी थी । दूसरी तरफ स्वराज्य की स्थापना में भी इस प्रणाली ने बाधा पहुंचाई। इस प्रणाली को अधिनियम में आरोपित करने में प्रमुख योगदान मिन्टो का था न कि मार्ले का । वास्तव में इसकी भूमिका अलीगढ़ मुस्लिम विद्यालय के तत्कालीन प्रधानाध्यापक आर्कबोल्ड ने पहले से ही तैयार कर ली थी । भारत विभाजन के समय इस अधिनियम की इस विशेषता नें भयानकतम परिणाम प्रस्तुत किये ।

इस अधिनियम ने मत प्रदान करने का अधिकार अत्यन्त सीमित तथा विशेष रूप से परिभाषित ही रखा । केन्द्रीय विधान परिषद के चुनावों में केवल 10.000 रु० लगान देने वाला ही मताधिकारी हो सकता था । यह विशेषता केवल मद्रास के लिये थी ज़बकि बंगाल के मताधिकार के लिये केवल राजा अथवा नबाब की उपाधि ही पर्याप्त थी । हिन्दू तथा मुस्लिम मताधिकारों में भी पर्याप्त भिन्नता बरती गई थी । बंगाल का जमींदार केवल

तभी मत दे सकता था जब न्यूनतम 5,000 रु० का वार्षिक लगान प्रदान करता हो जबकि मुस्लिम जमींदार के लिये केवल 750/- का लगान ही पर्याप्त था। इन योग्यताओं ने मताधिकार को सीमित रखा तथा मुस्लिम-हिन्दू विभाजन को प्रोत्साहन ही दिया। इसके विपरीत साधारण अथवा आम जनता को मत प्रदान करने का अधिकार नहीं था। इस प्रकार के अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली ने परिषद में उत्तरदायित्वहीनता की भावना को विकसित किया।

इस प्रकार निर्मित सरकार विधान परिषद के प्रति भी अनुत्तरदायी थी। निस्सन्देह मिन्टो तथा मार्ले का उद्देश्य उत्तरदायी सरकार की स्थापना कदापि नहीं था। मार्ले ने यह पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि भारत की विधान परिषदें ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के सदृश नहीं होगी।

इस के साथ ही साथ केन्द्रीय विधान परिषद तथा प्रान्तीय विधान परिषदों में पर्याप्त अन्तर्विरोध था। केन्द्र में जहां सरकार-सदस्यों के बहुमत का प्रयोजन था, प्रान्तों में गैर-सरकार सदस्यों का बहुमत रखा गया। इसके साथ ही साथ गैर सरकारी बहुमत भी सभी निर्वाचित सदस्यों द्वारा निर्मित नहीं होता था, अपितु ये सदस्य भी दो प्रकार के होते थे। पहले, नामांकित तथा दूसरे, निर्वाचित। नामांकित सदस्य वास्तव में सरकारी सदस्यों की ही भूमिका प्रस्तुत करते थे, क्योंकि उनका नामांकन सरकार की सदभावना से ही सम्भव था। इस प्रकार वास्तव में प्रान्तों में भी सरकार के पक्ष में सदस्यों का बहुमत था-जिसके कारण गैर सरकारी निर्वाचित सदस्यों की भूमिका नगण्य हो गई थी। राज्यापालों तथा महाराज्यपालों के विशेषाधिकार से भी निर्वाचित सदस्यों की शक्तियां अर्थहीन हो चुकी थीं।

फलस्वरूप केन्द्रीय तथा प्रान्तीय दोनों विधान परिषदों में विधि-निर्माण की प्रक्रिया पूर्णतः सरकारी उद्देश्यों को ही पूर्ण करती थी। वित्तीय प्रश्नों पर गैर सरकारी अथवा निर्वाचित सदस्यों को कोई भी अधिकार प्राप्त न होने से आर्थिक क्षेत्र में इनका हस्तक्षेप पूर्णतया अस्वीकार कर दिया गया था।

बजट पर विवाद तथा प्रस्ताव प्रस्तुतकरने के अधिकारों का वास्तव में कोई प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष लाभ नहीं था। क्योंकि किसी की वाद-विवाद अथवा प्रस्तावों पर अन्तिम निर्णय का अधिकार सरकार के पास सुरक्षित था।

अन्त में, यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि इस अधिनियम द्वारा न तो भारत सचिव द्वारा केन्द्रीय सरकार पर तथा न ही प्रान्तों पर केन्द्रीय सरकार के नियन्यत्र में ही कोई कमी आई थी।

गुण—

यद्यपि 1892 के अधिनियम ने अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था परन्तु सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का पुष्टिकरण। 1909 के अधिनियम ने ही किया। 1909 के पूर्व कुछ सार्वजनिक संस्थाओं (डिस्ट्रिक बोर्ड, म्यूनिसिपल बोर्ड तथा चैम्बर्स ऑफ कामर्स) को बहुमत के आधार पर विधान परिषद के लिये नामों कों प्रस्तावित करने का प्राविधान था, जिनमें अन्तिम नामांकन का अधिकार महाराज्यपाल के हाथों में सुरक्षित था। 1909 के अधिनियम के पश्चात निर्वाचित सदस्यों का पुर्ननामांकन महाराज्यपाल अथवा राज्यपाल द्वारा आवश्यक नहीं था।

विधान परिषदों में विधि-निर्माण के लिये सदस्यों की संख्या में वृद्धि कर दी गई थी। कुछ प्रान्तों में वह संख्या दोगुनी अथवा दो गुने से अधिक भी कर दी गई थी। इस प्रकार विधान परिषदों का विस्तार कर स्वशासन की दिशा में एक प्रयास किया गया। 1909 के अधिनियमों में ही इस संस्था को सर्वप्रथम विधान परिषद की संज्ञा प्राप्त हुई।

इस प्रकार विधान परिषदों के विस्तार से विधि-निर्माण अथवा बजट के प्रश्नों पर विस्तृत वाद-विवाद की सम्भावनायें बढ़ गई थी, तथा सरकार के निर्णय के लिये भी विस्तृत क्षेत्र प्राप्त हो गया। विधान परिषदों के प्रस्तावों को प्रस्तुत करने से भी परोक्ष रूप में लाभ हुआ। 1917 तक इन विधान परिषदों में 168 प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये जिनमें 73 प्रस्तावों पर वास्तव में निर्णय भी लिये गये। प्रान्तों में भी इस प्रकार के प्रस्तावों से परोक्ष लाभ प्राप्त हुआ। पूरक-प्रश्न के अधिकारों से समस्याओं तथा विभिन्न प्रश्नों पर सापेक्षिक प्रगतिशीलता स्पष्टतया सम्भव हो सकी।

1909 के अधिनियम के पूर्व ही मार्ले ने अपने काउन्सिल (इण्डिया-कौन्सिल) में दो भारतीयों के प्रवेश का प्राविधान कर दिया था परन्तु तत्पश्चात 24 मार्च 1909 को श्री एस० पी० सिन्हा को वायसराय की काउन्सिल का सदस्य नियुक्त कर इस क्षेत्र में नवीन दिशा प्रदान कर दी गई। यद्यपि मार्लें को इसमें तीव्र विरोध के पश्चात ही सफलता प्राप्त हुई थी। उनका कथन था कि वास्तव में 1833 के चार्टर द्वारा ही जाति, धर्म तथा राष्ट्रीयता के आधार पर भेदभावों को समाप्त कर दिया गया था। इस प्रकार की नियुक्तियों से सरकार को भारतीय दृष्टिकोणों से परिचय प्राप्त हो सकता था। यही कारण था कि मार्ले तथा मिन्टों दोनों में इस विषय पर कोई मतभेद नहीं था।

मार्ले-मिन्टों सुधार अपने गुणों के पश्चात भी तत्कालीन राष्ट्रवादियों

को सन्तुष्ट करने में असमर्थ सिद्ध हुये थे। वास्तव में गुणों की अपेक्षा दोष अधिक प्रत्यक्ष थे। परन्तु इस सुधार ने भारतीय राष्ट्रवादियों के संघर्ष में एक 'मील के पत्थर' की भूमिका निभाई। इन सुधारों में स्पष्ट दोषों ने तत्कालीन भारतीयों के संघर्ष की दिशा को निर्मित किया तथा उन संघर्षों को गतिशीलता प्रदान की।

मान्टेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधार (1919 का अधिनियम)

1919 के भारत-अधिनियम की भूमिका 1909 के अधिनियम के दोषों में ही निहित थी। इस अधिनियम ने भारत में नवीन प्रशासनिक तथा संवैधानिक सुधारों की आवश्यकता को स्पष्ट किया। राष्ट्रवादियों की गतिविधियां 1917 तक अपने चरम सीमा पर पहुंच रही थीं। तत्कालीन राष्ट्रीय माँगों में प्रमुख स्वशासन का स्थापन एवं प्रजातन्त्रिक संस्थाओं को प्रारम्भ करना था। प्रथम विश्व-युद्ध से भी इन माँगों में तेजी आई थी। इस युद्ध के प्रारम्भ हो जाने के पश्चात भारतीय राष्ट्रवादियों ने ब्रिटिश सरकार की सहायता करना प्रारम्भ कर दी। इस सहायता के पीछे भी यही भावना थी कि युद्ध के पश्चात ब्रिटेन भारत को स्वतन्त्रता प्रदान कर देगा। उपर्युक्त सहायताओं के प्रतिफल में ब्रिटेन ने भारतीय माँगों के प्रति उदारतापूर्वक विचार करना प्रारम्भ कर दिया। इस आशय की घोषणा हाउस ऑफ कॉमन्स में मान्टेग्यू ने अगस्त 1917 को कर दी। इस घोषणा में यह स्पष्ट कर दिया गया कि ब्रिटिश सरकार भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना करने तथा शासन में भारतीयों की भागीदारी की इच्छुक है। मान्टेग्यू रिपोर्ट में कहा गया कि "साम्राज्यिक सरकार की नीति है कि प्रशासन में भारतीयों को अधिक से अधिक भागीदारी प्रदान की जाय तथा स्वशासन का विकास क्रमशः किया जाय जिससे साम्राज्य के अन्तर्गत भारत में क्रमशः उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो सके।" इस घोषणा में भारतीयों की सरकार में भागीदारी, स्वशासक संस्थाओं के क्रमशः विकास, भारत के उत्तरदायी सरकार की स्थापना तथा साथ ही साथ भारत के भविष्य से सम्बन्धित ब्रिटिश निर्णायक क्षमता आदि तत्व परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप में स्पष्ट थे।

उपरोक्त घोषणा के लगभग 4 माह पश्चात भारत सचिव मान्टेग्यू ने चैम्सफोर्ड के साथ भारत का भ्रमण कर भारतीय परिस्थितियों को स्वयं देखा। उनका उद्देश्य उच्च-भारतीय अधिकारियों तथा आम जनता के दृष्टिकोणों से अवगत होना था। लगभग छः माह पश्चात 8 जुलाई, 1918

को मान्टेग्यू तथा चेम्सफोर्ड ने अपने अनुभव. विचार तथा उद्देश्यों को प्रकाशित करा दिया। इसी रिपोर्ट के आधार पर ब्रिटिश संसद में एक प्रस्ताव के द्वारा '1919 का भारत अधिनियम' प्रस्तुत किया गया जिसे सरकारी सहमति तथा संस्तुति के पश्चात लागू भी कर दिया गया। आधारभून रूप में मान्टेग्यू तथा चैम्सफोर्ड की मुख्य भूमिका के कारण इसे मान्टेग्यू तथा चैम्सफोर्ड सुधारों के नाम से भी जानते हैं।

उत्तरदायी शासन

इस अधिनियम के प्रस्तावना में ही इस अधिनियम के आधारभूत सिद्धान्त अन्तर्निहित थे।

1. जहां तक सम्भव हो सके स्थानीय शासक का पूर्ण नियन्त्रण जनता को प्रदान किया जाय।

2. स्थानीय सरकारों के प्रति सत्तानान्तरण, तथा प्रान्तों में आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन की स्थापना।

3. भारत सरकार का ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायित्व, भारतीय विधान परिषद में विस्तार तथा उसमें अपेक्षाकृत अधिक सार्वजनिक प्रतिनिधित्व।

4. केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों पर ब्रिटिश तथा भारत सचिव के नियन्त्रण में शिथिलता।

एक्ट के मुख्य प्राविधान

उपरोक्त सिद्धान्तों के आधार पर विषयों को मुख्य दो भागों में बांट दिया गया था :

क केन्द्रीय विषय

ख प्रान्तीय विषय

यद्यपि यह विभाजन बहुत कठोर नहीं था प्रांतीय विषयों को पुनः दो भागों में बांटा गया था (क) रक्षित (ख) हस्तांतरित। रक्षित विषयों से सम्बन्धित मामलों पर प्रशासन चलानें का उत्तरदायित्व गवर्नर एवं उसकी कार्यकारणी पर था। परन्तु हस्तान्तरित मामले मन्त्रियों की सहायता से चलाना निर्धारित हुआ। सभी मंत्री विधान-परिषद के प्रति उत्तरदायी थे। इस प्रकार प्रान्तों में आंशिक रूप से उत्तरदायी सरकार स्थापित करने का प्रयास किया गया।

अधिनियम के प्राविधानों को मुख्यतः दो भागों में बांटा जा सकता है।

1. ब्रिटिश सरकार से सम्बन्धित प्राविधान
2. भारत के प्रशासन से सम्बन्धित प्राविधान जिन्हें पुनः 2 भागों में बाँटा जा सकता है : (क)केन्द्र से सम्बधित प्राविधान (ख)प्रान्तों से सम्बन्धित प्राविधान ।

इन प्राविधानों के अन्तर्गत भारत न्यायिक तथा उसके कार्यालय के व्ययों को भारतीय राजस्व से वसूल करने को अपेक्षा ब्रिटिश–सरकारी कोष से देने का प्राविधान बना दिया गया । फलस्वरूप ब्रिटिश संसद भारत के प्रति अधिक जागरुक हो गयी ।

प्रान्तों के हस्तान्तरित विषयों से सम्बन्धित भारत सचिव के नियन्त्रण में अत्यधिक कमी कर दी गई । ये विषय अब मन्त्रियों के अधिकार में थे जो प्रान्तीय विधान मंण्डल के प्रति उत्तरदायी थे । भारत सचिव के बनाये गये नियमों के अन्तर्गत हस्तान्तरित विषयों पर अब उसका नियन्त्रण सीमित विषयों तक ही रह गया । यद्यपि विभिन्न कारणोंवश भारत सचिव के कार्यकारिणी को समाप्त नहीं किया गया, परन्तु उसके संगठन में विभिन्न संशोधन कर दिये गये । इन सदस्यों का कार्यकाल कम कर दिया गया तथा उनके वेतन क्रम में वृद्धि कर दी गयी ।

इस अधिनियम के अन्तर्गत भारत में भी एक उच्चायुक्त की नियुक्ति कर दी गई तथा भारत सचिव एवं उसकी कार्यकारिणी द्वारा उसको आंशिक नियन्त्रण भी प्रदत्त किया गया ।

(केन्द्र से सम्बन्धित प्राविधान)–केन्द्रीय कार्यकारिणी

महाराज्यपाल की कार्यकारिणी में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन कर उसके सदस्यों में भारतीयों की संख्या बढ़ा दी गयी । इस परिषद में एक असाधारण तथा छः साधारण सदस्य होते थे अब इन सदस्यों की संख्या को अधिक नमनशील बना दिया गया तथा उसमें दो से तीन भारतीय सदस्यों को भी लेना निश्चित कर दिया गया । इसके अतिरिक्त केन्द्रीय कार्यकारिणी में कोई अन्य परिवर्तन नहीं किया गया । ये अब भी केन्द्रीय विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी नहीं थे और उन पर जन–प्रतिनिधियों का कोई नियन्त्रण नहीं था । उपरोक्त परिवर्तनों से कार्यकारिणी की क्षमता में वृद्धि हुई ।

केन्द्रीय विधानमण्डल

परन्तु केन्द्रीय विधान मण्डल का पुर्नगठन फिर से किया गया । इस अधिनियम द्वारा केन्द्रीय विधान मण्डल में दो सदन कर दिये गये । पहला

विधान सभा, तथा दूसरा राज्य परिषद ।

विधान सभा में कुल 153 सदस्य, तथा राज्य परिषद में 60 सदस्यों का प्राविधान कर दिया गया । यद्यपि निर्वाचित सदस्यों का बहुमत स्थापित कर दिया गया, परन्तु अब भी नामांकित सदस्यों को पूरे तौर पर समाप्त नहीं किया गया । चुनाव प्रणाली अप्रत्यक्ष के स्थान पर प्रत्यक्ष कर दी गई । इनके कार्यकाल क्रमश: 5 तथा 3 वर्ष कर दिये गये । परन्तु 1909 में प्रारम्भ साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का विस्तार कर सिखों, ईसाइयों तथा अंग्रेजों को भी सम्मिलित कर दिया गया । भारतीय जमींदारों तथा वाणिज्य के हितों पर विशेष ध्यान दिया गया । दोनो ही सदनों में मताधिकार को सम्पत्ति के आधार पर सीमिति रखा गया ।

अधिकार एवं कर्तव्य

1919 के अधिनियमों में 1909 को अपेक्षा विधान मण्डल का अधिकार क्षेत्र अधिक विस्तृत रखा गया । वित्त के अतिरिक्त अन्य सभी मामलों में विधान मण्डल के दोंनों सदनों को समान अधिकार प्राप्त हो गये । केन्द्रीय सूची में निहित सभी विषयों पर विधान मण्डल को विधि निर्माण का अधिकार प्राप्त हो गया । प्रान्तों में विधि-निर्माण के लिये प्रान्तीय विधान मण्डल के साथ-साथ केन्द्रीय विधान मण्डल को भी अधिाकार प्राप्त थे । परन्तु उसके वैधानिक-अधिकारों पर कुछ महत्वपूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिये गये । केन्द्रीय विधान मण्डल कोई भी ऐसा कारण नहीं बना सकता था, जो ब्रिटिश संसद के किसी भी कानून के विपरीत हों । कुछ विषयों पर कानून बनाने के लिये गर्वनर-जनरल की स्वीकृत आवश्यक थी फलस्वरूप केन्द्रीय विधान मण्डल पूरी तरह से एक स्वतन्त्र विधि निर्माण की संस्था नहीं बन सकी । परन्तु केन्द्रीय विधान मण्डल, केन्द्रीय सरकार से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकता था तथा निन्दा प्रस्ताव पारित कर उसकी निन्दा तथा आलोचना भी कर सकता था; एवं जनता के हित में सरकार को सुझाव भी प्रस्तुत कर सकता था । वित्त के विषयों में केन्द्रीय विधान सभा के अधिकार केन्द्रीय राज्य परिषद से अधिक विस्तृत थे क्योंकि प्रत्येक प्रस्ताव को पारित करने के लिये राज्य-परिषद की अनुभूति आवश्यक नहीं थी । बजट से सम्बन्धित विषयों पर भी मतदान के अधिकार नहीं थे और न ही उन पर किसी भी सदन में विचार ही हो सकता था । किसी भी अर्न्तविरोध की स्थिति में महाराज्यपाल दोनों सदनों की सम्मिलित बैठक बुलाकर बहुमत के आधार पर प्रस्ताव पारित करा सकता था, परन्तु संयुक्त बैठक

बुलाने के लिए प्रस्ताव के पारित होने में गतिरोध छ: माह का होना आवश्यक था। वास्तव में इस बात की सम्भावना होती थी कि किसी प्रस्ताव को कोई एक सदन पारित कर दें तथा दूसरा उसको पूर्णत: अस्वीकृत। ऐसी स्थिति में छ: माह पश्चात गर्वनर जनरल यहां संयुक्त बैठक बुलाकर बहुमत के निर्णय के आधार पर प्रस्ताव को स्वीकृत अथवा अस्वीकृत कर सकता था।

प्रांतीय सरकार से सम्बन्धित प्राविधान

उत्तरदायी सरकार की स्थापना हेतु प्रान्तों में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। सर्वप्रथम सभी प्रान्तों को समान स्तर प्रदान किया गया। अब तक प्रान्त गर्वनर, मुख्य आयुक्त अथवा लेफिनेन्ट गर्वनर द्वारा संचालित थे। इस अधिनियम के पश्चात सभी प्रान्तों को राज्यपाल (गर्वनर) के अन्तर्गत कर दिया गया। दूसरा जिस सीमा तक प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना का निर्णय लिया गया उस सीमा तक प्रान्तीय सरकारों पर केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में कमी कर दी गई। फलस्वरूप अब प्रान्तों को कुछ स्वतंत्र विधायकों, वित्तीय एवं प्रशासनिक अधिकार दिये गये जिसको अधिकारों का अन्तरण भी कहते हैं।

दोहरा शासन (डाईयार्की)

समस्त प्रान्तीय विषयों को दो भागों में विभाजित कर दिया गया, रक्षित तथा हस्तान्तरित। रक्षित विषयों पर गर्वनर तथा उसकी कार्यकारिणी का पूर्ण अधिकार होता था, फलस्वरूप वे सभी विषय गर्वनर जनरल (महाराज्यपाल) तथा महासचिव के अधिकारों की सीमा में नीहित थे। हस्तान्तरित विषयों की प्रशासन गर्वनर अपने भारतीय मंत्रियों की सहायता से करता था जो प्रान्तीय विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी थे। इस प्रकार के शासन को दोहारा शासन कहा गया।

संगठन

प्रान्तीय विधान परिषदों में यद्यपि पर्याप्त विस्तार किया गया परन्तु उसको एक संदनीय ही रखा गया। इनमें उत्तरदायी सरकार के अनुरूप कुछ आवश्यक परिवर्तन तथा सुधार भी किये गये। मद्रास, बम्बई तथा बंगाल में सदस्यों की संख्या 127,111 तथा 139 क्रमश: थी। इस अधिनियम के द्वारा प्रत्येक विधान परिषद में कम से कम 70% निर्वाचित सदस्यता अनिवार्य कर दी

गई। इनमें से 20% से अधिक सरकारी सदस्य नहीं हो सकते थे। इस प्रकार नामांकित सदस्य केवल 10% ही हो सकते थे।

चुनाव प्रणाली

इस अधिनियम के अन्तर्गत चुनाव-क्षेत्रों को सामान्य तथा विशेष चुनाव क्षेत्रों में बाँट दिया गया। प्रत्यक्ष चुनाव पद्धति द्वारा साम्प्रदायिक एवं प्रतिनिधि के आधार पर सदस्यों का चयन करना निर्धारित हुआ। प्रान्तीय राज्यपाल विधान परिषद का सदस्य नहीं रह गया। मताधिकार की योग्यतायें साम्पत्तिक ही थी।

विधान परिषद का कार्यकाल (अधिकार एवं कर्तव्य)

विधान परिषद का कार्यकाल तीन वर्ष का निर्धारित हुआ पर राज्यपाल उसको तीन वर्ष पूर्व ही भंग कर सकता था। शान्ति एवं शासन की स्थापना के लिए विधान परिषदों को विधि निर्माण के विस्तृत अधिकार प्राप्त थे। केवल कुछ ही मामलों पर विधान परिषद को कानून बनाने के पूर्व गवर्नर की अनुमति आवश्यक थी। सभी सदस्यों को प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार था। यद्यपि सदस्यों को प्रस्ताव रखने का अधिकार प्राप्त हो चुका था पर वित्तीय शक्तियां अत्यन्त सीमित थीं।

अन्य प्राविधान (भारत की प्रशासकीय सेवायें)

भारत में प्रशासनिक सेवाओं को नियमित करने के लिये कुछ विशेष प्राविधान बनाये गये। किसी भी अधिकारी को पदच्युत करने का अधिकार केवल उसे नियुक्त करने वाले अधिकारी के पास ही रहा। तथापि भारत सचिव किसी भी पदच्युत व्यक्ति को प्रशासनिक सेवा में दुबारा ले सकता था। किसी भी प्रशासनिक अधिकारी पर कोई भी आदेश पारित करने के पूर्व गवंनर की स्वीकृति आवश्यक थी। प्रशासनिक सेवाओं में नियुक्ति तथा नियुक्ति की बातों को निर्धारित करने का अधिकार भारत सचिव की कार्यकारिणी के हाथ में रहा।

एक पांच सदस्यीय लोक सेवा आयोग की स्थापना की गई। इन सेवाओं में अधिक से अधिक भारतीयों को रखने की बात निर्धारित की गई।

मूल्याङ्कन

यद्यपि अगस्त 20, 1917 की घोषणा में महत्वपूर्ण बातें स्वीकार की

गई थी परन्तु 1919 के अधिनियमों से उनकी पूर्ण स्वीकृति न हो सकी। सर्व प्रथम केन्द्रीय कार्यपालिका केन्द्रीय विधान परिषद के प्रति उत्तरदायी नहीं थी। उनका उत्तरदायित्व सीधे भारत सचिव अथवा ब्रिटिश संसद के प्रति सुरक्षित रहा। इस अधिनियम में न केवल साम्प्रदायिक चुनाव आधार को कायम रखा गया वरन् बम्बई और मद्रास में क्रमश: मराठों और गौड़ ब्राह्मणों के लिये भी स्थान सुरक्षित कर दिये गए। 1919 का अधिनियम 1909 की साम्प्रदायिकता पर अंकुश लगाने के स्थान पर उसके विकास में ही सहायक हुआ। 1919 के ही अधिनियम में प्रथम बार संविधान को संघात्मक स्वरूप प्रदान करने की कोशिश की गई पर रक्षित तथा हस्तान्तरित विषयों में अन्तर विशेष प्रभावशाली न रहा क्योंकि रक्षित विषयों के साथ-साथ ही गवर्नर एवं गवर्नर जनरल को हस्तान्तरित विषयों में भी हस्तक्षेप का अधिकार प्राप्त रहा।

केन्द्रीय विधान परिषद को दो सदनीय करके भी विधान परिषद के अधिकारों में विस्तार नहीं किया जा सका। इसके पास प्रभुसत्ता नाम का कोई भी अधिकार नहीं था। विधि निर्माण, बजट तथा कार्यपालिका तीनों ही महत्वपूर्ण क्षेत्र इसके अधिकार क्षेत्र से बाहर थे। गवर्नर जनरल तथा कार्यकारिणी को विधान परिषद की उपेक्षा कर सकने के लिये विभिन्न प्राविधान प्राप्त थे। यद्यपि प्रत्यक्षत: यह बात स्पष्ट नहीं थी क्योंकि विधान मण्डल को कोई भी प्रस्ताव पारित करने का अधिकार था, अथवा भारत के सभी स्थानों एवं नागरिकों के लिये कारण बनाने का अधिकार प्राप्त था, पर परोक्ष रूप में यह अधिकार एक सीमिति अधिकार था। भारतीय विधान मण्डल कोई भी ऐसा कानून नहीं बना सकता था जो ब्रिटिश संसद के द्वारा निर्मित कारणों के विपरीत हो। यह 1919 के अधिनियमों में परिवर्तन भी नहीं कर सकता था। इस विधान मण्डल का उच्च न्यायालयों (हाईकोर्ट) पर कोई अधिकार नहीं था, तथा हाईकोर्ट से निम्न कोई भी अन्य कोर्ट किसी गैर-भारतवासी (यूरोपीय अथवा ब्रिटिश) को प्राणदण्ड नहीं दे सकता था। ब्रिटिश संसद के किसी भी अधिनियम में यह दखलन्दाजी नहीं कर सकता था। वह संसद तथा सम्राट के अधिकारों, प्रतिष्ठा तथा गौरव के विपरीत कोई भी प्राविधान नहीं बना सकता था। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक ऋण, भारतीय सार्वजनिक राजस्व पर परिव्यय का भार, धर्म, रीतियों एवं प्रथाओं, जल-स्थल तथा वायु सेना का अधिनियन्त्रण, देशी तथा विदेशी राजाओं से सम्बन्ध, प्रान्तीय विधान मण्डल के किसी अधिनियम का संशोधन, गवर्नर जनरल के अधिनियमों में हस्तक्षेप शान्ति तथा शासन

से सम्बन्धित अधिनियमों तथा आपातकालीन परिस्थितियों आदि पर कोई भी प्रस्ताव पारित करने के पूर्व गवर्नर जनरल की अनुमति आवश्यक थी। इसके साथ ही साथ ब्याज (ऋणभार) कर, वैधानिक व्यय, वेतन क्रम तथा पेन्शन (भारत-सचिव एवं ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा निर्धारित) मुख्य आयुक्तों तथा न्यायिक आयुक्तों के वेतन क्रम तथा सेना, राजनैतिक विभाग तथा मिशनरी व्ययों पर विधान मण्डल का कोई अधिकार नहीं था। इसके विपरीत राज्य परिषद को किसी भी माँग पर अपना मत देने का अधिकार नहीं था। यह अधिकार केवल विधान सभा के ही पास सुरक्षित था परन्तु वह भी उपरोक्त मामलों को छोड़कर अन्य मामलों के ही सम्बन्ध में ही निर्णय ले सकती थी। इस प्रकार विधानसभा शेष मामलों में हस्तक्षेप कर सकती थी, उन पर भी अन्तिम स्वीकृति गवर्नर ही दे सकता था।

केन्द्रीय विधान मण्डल की ही भांति प्रान्तीय विधान मण्डल के अधिकार अत्यन्त समिति ही रखे गये। प्रत्येक वैधानिक प्रश्नों पर गवर्नर अथवा गवर्नर जनरल की स्वीकृति आवश्यक थी। किसी भी प्रकार के कर, सार्वजनिक ऋण, देशी-विदेशी सम्बन्धों, सेना अथवा केन्द्रीय सूची के विषयों से सम्बन्धित किसी भी निर्णय के लिये गवर्नर जनरल की पूर्वाज्ञा आवश्यक थी। गवर्नर को 'रक्षित-विषयक दायित्व' नामक अधिकार प्राप्त था। जिसके आधार वह किसी भी विषय पर हस्तक्षेप कर सकता था। वह किसी भी प्रश्न को पूर्व विचार के लिये वापस प्रेषित कर सकता था अथवा गवर्नर-जनरल के पास विचारार्थ भेज सकता था। वह उसे अपने पास सुरक्षित रख कर उसे शक्तिहीन भी कर सकता था। ब्रिटिश संसद अथवा सम्राट ही प्रान्तीय विधायकों पर अंकुश लगा सकते थे। वित्त प्रश्नों पर गवर्नर के पास पर्याप्त शक्तियाँ सुरक्षित थी। इस प्रकार यह अधिनियम प्रान्तों में भी उत्तरदायी शासन स्थापना कर सकने में असक्षम सिद्ध हुआ।

यद्यपि वास्तव में 1919 का अधिनियम 1909 के अधिनियम पर कोई विशेष सुधार नहीं कर सका पर यह भी सत्य है कि उत्तरदायी सरकार के प्रारम्भ का श्रेय इसी अधिनियम को है। साथ ही केन्द्रीय तथा प्रान्तीय कार्यपालिकाओं में भारतीयों को अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाने से इसका किंचित विकसित स्वरूप अवश्य था। बिहार तथा उड़ीसा में गवर्नरों के पदों तक पर भारतीयों की नियुक्ति से राष्ट्रवाद की भावना को बल प्राप्त हुआ।

इस अधिनियम की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि 'दोहरा शासन' अथवा (डाईयार्की) की स्थापना थी। डाईयार्की शब्द की व्युत्पत्ति दो शब्दों 'डाई' (दो) तथा 'आर्किया' (शासन) से मिलकर हुई है। उन समस्त विषयों

को जिन पर भारतीय अधिकार हो जाने से साम्राज्य को किसी भी प्रकार की हानि नहीं हो सकती थी, हस्तान्तरित विषयों के अन्तर्गत प्रान्तीय विधान मण्डल के सम्पूर्ण अधिकार क्षेत्र में दे दिया गया। ये विषय चिकित्सा कृषि, उद्योग, सार्वजनिक कार्य आदि थे क्योंकि इन पर भारतीयों का अधिकार हो जाने से साम्राज्य को किसी भी प्रकार की हानि नहीं थी। इसके विपरीत इस प्रकार के अप्रभावशाली प्रश्नों पर विचार करने मात्र से भी गवर्नर अथवा सरकार के बहुमूल्य समय की बचत हो गई। इसके विपरीत सभी महत्वपूर्ण विषयों को 'रक्षित-विषय' का स्तर देकर उसे साम्राज्य ने अपने पास सुरक्षित रखा। प्रशासन व्यवस्था, सिंचाई तथा वित्त आदि वह विषय थे जिनको हस्तान्तरित नहीं किया गया। हस्तान्तरित विषयों का प्रशासन मंत्रियों की सहायता से गवर्नर करता था जबकि रक्षित विषय केवल उसी के अधिकार क्षेत्र में सुरक्षित थे। इस अधिनियम के पश्चात अप्रैल 1921 में बंगाल, विहार, असम, बम्बई, संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त तथा पंजाब में दोहरा शासन प्रारम्भ कर दिया गया। यह व्यवस्था प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना तक तदनुसार चलती रही।

प्रान्तीय प्रशासन को इस प्रकार का विभाजन एक प्रकार से एक अप्राकृतिक विभाजन था। यहां तक कि विषयों के बटवारें में पर्याप्त स्वच्छन्दता तथा कूटनीति प्रयुक्त की गई थी। कोई भी एक विषय पूर्ण रूप से मंत्रियों के अधिकार में नहीं दिया गया। कृषि मंत्री का सिंचाई पर कोई अधिकार नहीं था, व्यवसाय मंत्री को कारखानों विद्युत, खानें तथा श्रम पर अधिकार नहीं था। इसी प्रकार गवर्नरों के विशेष अधिकारों के कारण हस्तान्तरित विषय मात्र हास्यास्पद होकर रह गये। विभिन्न विशेष अधिनियमों ने गवर्नर को प्रान्त की समस्त शक्तियों से अलंकृत कर दिया। गवर्नर की व्यक्तिगत नीतियों के कारण मंत्री संगठित होकर कोई निर्णय नहीं ले सकते थे। इस प्रकार ये मंत्री आम परामर्शदाता होकर ही रह गये। इस प्रकार हस्तान्तरित विषयों पर गवर्नरों का एकाधिकार हो गया, क्योंकि उन पर अब भारत सचिव तथा गवर्नर जनरल का कोई अधिकार शेष नहीं था, था, और मंत्री केवल परामर्शदाता होकर ही रह गये थे। दूसरी ओर मंत्रियों तथा रक्षित विषयों के लिये उत्तरदायी सदस्यों के मध्य किसी भी प्रकार की सद्भावना शेष नहीं रह सकी। ये सभी मंत्रियों के परामर्श को निम्न मानते थे और महत्वपूर्ण विषयों पर उनका परामर्श नहीं लिया जाता था।

वित्त पर पूर्ण रूपेण गवर्नर का अधिकार होने से मंत्रियों को प्रत्येक मामले में दूसरों पर अवलम्बित होना पड़ा। किसी भी विकास कार्य के लिये

उन्हें सरकार की तरफ देखना पड़ता था।

1919 के अधिनियम का मुख्य उद्देश्य मंत्रियों को विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी बनाना था। इस प्रकार के उत्तरदायित्व के लिये आवश्यक था कि मंत्रियों की वापसी का अधिकार निर्वाचित प्रतिनिधियों के पास हो। दूसरा कि इसका अपने विभाग पर पूर्ण नियंत्रण हो। तीसरा, विधान मंडल के पास पुर्नविलोकन तथा पुर्नविचार का अधिकार हो एवं अन्त में मंत्रियों का सामूहिक उत्तरदायित्व हो। इस अधिनियम के अर्न्तगत स्थापित विधान परिषदों में सरकारी तथा मनोनीत सदस्यों का विश्वास प्राप्त करना आवश्यक था। निर्वाचित सदस्यों में विश्वास की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। निर्वाचित सदस्य भी क्योंकि 'विशेष निर्वाचन क्षेत्रों' से आते थे, उनका सुझाव सरकारी ही होता था। इस प्रकार मंत्री वास्तव में सरकार के प्रति ही उत्तरदायी था न कि निर्वाचित सदस्यों के प्रति। इसका मुख्य कारण यह था कि किसी भी प्रान्त में किसी दल विशेष का बहुमत नहीं था। दूसरा, किसी भी मंत्री का अपने विभाग पर पूर्ण नियंत्रण नहीं था। तीसरा, विधान मण्डल के पास मंत्रियों के कार्यों पर पुर्नविचार का कोई अधिकार नहीं था और न ही मंत्री सामूहिक रूप से विधान मण्डल के उत्तरदायी ही थे। इस आधार पर भी यह अधिनियम उत्तरदायी सरकार बनाने में असमर्थ रहा।

इसी मध्य जलियाँवाला बाग की घटना, सेव्र की सन्धि तथा रोलेट अधिनियम के कारण राष्ट्रवादियों में ब्रिटिश सरकार के प्रति द्वेष की भावना बढ़ गई थी। असहयोग आन्दोलन तथा ख़िलाफत आन्दोलन के कारण हिन्दू-मुस्लिम सद्भावना स्थापित हो रही थी। फलस्वरूप लोगों ने ब्रिटिश सरकार के इस अधिनियम की सफलता के लिये आवश्यक मतदान में बहुत ही कम रुचि व्यक्त की। साथ ही प्रशासन तथा मंत्रियों के मध्य सद्भावना तथा सहयोग नहीं था। फलस्वरूप यह अधिनियम किसी भी प्रकार भारतीय जनता अथवा राष्ट्रवादियों में संतोष की भावना नहीं उत्पन्न कर सका। इसके विपरीत इस अधिनियम के बाद ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध राष्ट्रवादी गतिविधियों में तीव्रता आ गई।

अध्याय 25
1935 का संविधान

पृष्ठभूमि

1919 से 1935 तक का भारतीय इतिहास राष्ट्रीय आन्दोलन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसी काल में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को गांधी के रूप में एक नया नेतृत्व प्राप्त हुआ। भारतीय राजनीति में गाधी के आने के पश्चात जनता का मनोबल अत्यन्त बढ़ने लगा। असहयोग आन्दोलन के रूप में जनता को एक अत्यन्त प्रभावशाली अस्त्र प्राप्त हो गया था। फलस्वरूप आन्दोलन की चरमसीमा पर कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज की घोषणा कर दी। इसके पक्ष में साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रारम्भ आन्दोलन ने ब्रिटिश सरकार को संवैधानिक प्रस्तावों का एक श्वेत पत्र निकालने के लिये बाध्य कर दिया। इसके मुख्य सिद्धान्तों संघ निर्माण, प्रान्तीय स्वायत्त शासन तथा विशेष उत्तरदायित्व पर अत्यधिक वाद विवाद के पश्चात 1933 में लिनलिथगो की अध्यक्षता में एक समिति बना दी गई। इस समिति ने नवम्बर 1934 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस समिति ने भारतीय प्रान्तों में उत्तरदायी शासन लागू करने की सिफारिश की थी। संविधान में रक्षा कवच का प्राविधान था, जो संकटकालीन स्थिति में प्रयोग किया जा सकता था। इसी आधार पर संसद में एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया जो 1935 में पारित होकर गर्वनमेन्ट आफ इण्डिया ऐक्ट 1935 बना।

मुख्य प्राविधान-प्रस्तावना का अभाव

इस अधिनियम में किसी प्रस्तावना का प्राविधान नहीं था क्योंकि 1919 के अधिनियम की घोषणा के पश्चात कोई अन्य घोषणा नहीं की गई थी। साथ ही यद्यपि 1919 का अधिनियम अप्रभावी घोषित कर दिया गया था पर उसकी प्रस्तावना को रद्द नहीं किया गया था। इस प्रकार वास्तव में

1919 की प्रस्तावना को ही 1935 के संविधान की प्रस्तावना मान लिया गया।

अखिल भारतीय संघ की स्थापना का प्रस्ताव

भारतीय समस्या का समाधान करने हेतु इस अधिनियम के अर्न्तगत ब्रिटिश प्रान्तों तथा देशी रियासतों को सम्मिलित कर एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना करने की व्यवस्था की गई।

केन्द्र में दोहरे शासन की स्थापना

साइमन कमीशन के द्वारा दोहरे शासन की कटु आलोचना के बावजूद केन्द्र में इसकी स्थापना कर दी गयी। इस उद्देश्य के लिए संघीय विषयों को आरक्षित एवं आन्तरिक विषयों में बांट दिया गया। आरक्षित विषयों में प्रतिरक्षा, धर्म, वैदेशिक मामले एवं कबीलों के मामले आते थे। अन्य संघीय विषय आरक्षित व आन्तरित विषय थे। आरक्षित विषयों का प्रशासन गवर्नर जनरल अपने निजी विवेक से चला सकता था और इस मामले में वह अपनी सहायता के लिये अधिक से अधिक तीन सभासद भी नियुक्त कर सकता था। यह लोग विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। अन्य (आन्तरित) संघीय विषयों का प्रशासन गवर्नर-जनरल अपनी मंत्रिपरिषद की सहायता एवं परामर्श से करता था जिसमें दस से अधिक मंत्री नहीं हो सकते थे। यद्यपि इन मंत्रियों की नियुक्ति गवर्नर जनरल करता था फिर वे संघीय विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी थे।

प्रांतीय स्वायत्तता की स्थापना

प्रान्तों में 1919 के ऐक्ट द्वारा स्थापित दोहरे शासन एवं आरक्षित एवं आन्तरित विषयों के भेद को समाप्त करके स्वायत्तता की स्थापना की गयी। प्रान्त की कार्यकारिणी शक्ति गवर्नर के द्वारा सम्राट की ओर से प्रयुक्त होने लगी। इस मामले में वह गवर्नर जनरल के अधीन एक अधिकारी मात्र नहीं रह गया। प्रान्तीय प्रशासन चलाने में गवर्नर की सहायता एवं परामर्श के लिए मन्त्रिपरिषद की व्यवस्था की गयी जो प्रान्तीय विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी थी।

रक्षा कवच तथा संरक्षण की व्यवस्था

अल्पमतों एवं अन्य वर्गों के हितों की रक्षा करने के लिए एक्ट में विस्तृत रक्षा कवचों एवं संरक्षणों की व्यवस्था की गयी थी।

संघीय न्यायालय की स्थापना

ऐक्ट के अन्तर्गत एक संघीय न्यायालय की स्थापना की गयी जिसे प्रान्तों एवं देशी राज्यों पर मौलिक एवं अपीलीय अधिकार क्षेत्र प्रदान किया गया।

ब्रिटिश पार्लियामेंट की सर्वोच्चता

संविधान ऐक्ट 1935 को संशोधित करने, बदलने अथवा रद्द करने का अधिकार भारत के किसी भी विधान मण्डल को न देकर ब्रिटिश पार्लियामेंट के हाथों में ही सुरक्षित रक्खे गये जिससे उसकी सर्वोच्चता स्पष्ट होती थी।

विधान मण्डलों, मताधिकार एवं साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली का विस्तार

केन्द्रीय अथवा संघीय विधान मण्डल में दो सदन प्रस्तावित किये गये संघीय सभा तथा राज्य परिषद जिनके सदस्यों की संख्या क्रमशः 357 तथा 260 निर्धारित की गयी। राज्य परिषद का निर्माण प्रत्यक्ष निर्वाचन से होता था और विधान सभा का निर्माण अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा। प्रान्तों के विधान मण्डलों में 6 को द्विसदनात्मक तथा 5 को एक सदनात्मक ही रखा गया।

1919 के ऐक्ट की तुलना में वोट देने के अधिकार को 1935 के ऐक्ट के अन्तंगत लगभग नौगुना विस्तृत कर दिया गया। विषाक्त पृथक साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली को खूब बढ़ा दिया गया।

विधायकी शक्तियों का विभाजन

संघ एवं प्रान्तों के बीच विधायकी शक्तियों का वितरण करने के लिए ऐक्ट के अन्तंगत तीन विस्तृत सूचियां बनायी गयी (अ) संघीय सूची, (ख) प्रान्तीय सूची एवं (ग) समवर्ती सूची जिनमें क्रमशः 59, 54 एवं 36 विषय रखे गये। अवशिष्ट शक्तियां गवर्नर जनरल को प्रदान कर दी गयी जिसके अर्न्तगत वह आवश्यकतानुसार उसे सघीय या प्रान्तीय किसी भी विधान मण्डल को दे सकता था।

भारत परिषद का अन्त

लगभग अस्सी वर्ष पुरानी भारत सचिव की परिषद को समाप्त करके उसके स्थान पर सचिव की सहायता के लिए कम से कम तीन एवं अधिक से अधिक 6 परामर्शदाताओं की नियुक्ति की गई।

वर्मा, वरार एवं अदन की स्थिति

बर्मा को ब्रिटिश भारत से अलग कर दिया गया, बरार को प्रशासन के उद्देश्य के किए मध्य प्रान्त का अंग बना दिया गया, अदन को भी भारत सरकार के प्रशासन से हटाकर इंग्लैण्ड के उपनिवेशन कार्यालय के अधीन कर दिया गया।

एक्ट की आलोचना

भारतीय राजनैतिक जनमत के लगभग सभी वर्गों ने 1935 के एक्ट की तीव्र आलोचना की।

प्रांतीय स्वायत्तता : वास्तविकता से दूर

गवर्नर एवं गवर्नर जनरल की विभिन्न मनमानी शक्तियों के माध्यम से प्रान्तों की स्वतंत्रता पर तमाम प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे। जिनके कारण अधिनियम द्वारा स्थापित प्रान्तीय स्वायत्तता वास्तविकता से बहुत दूर थी।

अखिल भारतीय संघ : आडम्वर मात्र

साधारणतया पृथक-पृथक राज्य मिलकर संघ बनाते हैं किन्तु भारत एकात्मक विधान को ढीला करके संघ बनाने वाला था। संघ में शामिल होना प्रान्तों के लिये तो अनिवार्य था किन्तु देशी राज्यों के लिये ऐच्छिक। जिसके लिये उन्हें एक प्रवेश लेख पर हस्ताक्षर करने होते थे। इसके अतिरिक्त कानूनी दर्जे एवं आन्तरिक राजनैतिक ढांचे की दृष्टि से भी संघ की प्रस्तावित इकाइयां असमान थी जिनके कारण उन सबका शामिल होना बड़ा कठिन था। वस्तुतः ऐक्ट में इस बात का आडम्बर था कि संघ बनेगा और अन्ततोगत्वा संघ योजना के व्यापक विरोध के कारण और देशी राज्यों के अभीष्ट संख्या में सम्मिलित न होने कारण प्रस्तावित संघ बन भी नहीं सका। संघ का अधिकार क्षेत्र भारत सरकार के पास रहा जो प्राय: 1919 के एक्ट के ढांचे पर ही आधारित न था।

साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली : भारतीय एकता को आघात

पृथक साम्प्रदायिक चुनाव क्षेत्र को न केवल पहले की भांति कायम रखा गया वरन् उन्हें शेष अन्य साम्प्रदायों के लिये भी विस्तृत कर दिया गया। फलस्वरूप हिन्दुओं, मुसलमानों, सिक्खों, यूरोपीयों, आंग्ल-भारतीयों, भारतीय ईसाइयों एवं, हरिजनों आदि सभी के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्रों

की व्यवस्था कर दी गयी। इस प्रणाली को अंग्रेज लोग अपना साम्राज्य बनाये रखने के लिये प्रयोग कर रहे थे। इसके साथ ही साथ महाराज्यपाल को सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में एकाधिकार प्राप्त था।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के रक्षा कवच

इस अधिनियम द्वारा प्रदान किया गया रक्षा कवच वास्तव में साम्राज्यवाद की सुरक्षा करता था। सर्वप्रथम इन्होंने विधान मण्डलों के अधिकारों पर सीमा लगा दी तथा दूसरे गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों को यह अधिकार दे दिया कि वे विधान मण्डलों के महत्व पूर्ण निर्णयों को परिवर्तित कर सके। यह रक्षा कवच उत्तरदायी सरकार एवं स्वशासन के मार्ग में अवरोध के समान थी। भारत के विधान मण्डलों (सघीय एवं प्रान्तीय दोनों) की शक्तियों पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध थे।

(क) संघीय विधान मण्डल (राज्य परिषद का संगठन)

संघीय विधान मण्डल में राज्य परिषद तथा संघीय सभा नामक दो सदन बनाये गये। राज्य परिषद में 260 सदस्य होने थे जिसमें से 156 ब्रिटिश प्रान्तों का तथा 104 देशी राज्यों का प्रतिनिधित्व करते थे। 156 प्रतिनिधियों में से 150 साम्प्रदायिक निर्वाचन द्वारा चुने जाते थे, शेष 6 सदस्यों का चुनाव गवर्नर-जनरल करता था।

संघीय सभा का संगठन

संघीय सभा में 375 सदस्य थे इनमें से 250 (ब्रिटिश भारत) प्रान्तों से तथा 125 देशी राज्यों से आते थे। इस सभा में गवर्नर द्वारा नामांकन की कोई व्यवस्था नहीं थी। इसके विपरीत विशेष हितों के लिए प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया था। इसका कार्यकाल पांच वर्ष निर्धारित किया गया था, परन्तु गवर्नर जनरल इसे कभी भी भंग कर सकता था। इस अधिनियम की विशेषता यह थी कि इसमें उच्च सदन के प्रतिनिधियों का चुनाव प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर और अवर सदन का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से होना निश्चित किया गया। यह एक त्रुटिपूर्ण प्रथा थी।

संघीय विधान मण्डल के अधिकार (विधायकी शक्तियाँ)

संघीय विधान मण्डल को सभी प्रान्तों तथा देशी राज्यों के लिये कानून बनाने का अधिकार था वह संघ सूची अथवा समवर्ती सूची उच्च आयुक्त के प्रान्तों की प्रान्तीय सूची, तथा संकट काल में प्रान्तीय सूची के

विषयों पर भी कानून बना सकता था ।

देशी राज्यों के लिये कानून बनाने के लिये आवश्यक था, कि राज्यों द्वारा विषयों को संघ को सौंप दिया गया हो । कोई भी प्रस्ताव तभी पारित हो सकता था जब उसे दोनों सदनों का समर्थन प्राप्त हो तथा तत्पश्चात गवर्नर जनरल द्वारा उसको मान्यता प्राप्त हो जाय किसी प्रस्ताव पर मत-भेद की स्थिति में संयुक्त बैठक बुलाने की व्यवस्था थी ।

विधायकी शक्तियों पर प्रतिबन्ध

इस अधिनियम में यह भी यह स्पष्ट था कि विधान मण्डल साम्राज्यिक संसद को प्रभावित करने वाला कोई भी कानून नहीं बनायेगा। सेवा सम्बन्धी कानून और संशोधन का अधिकार भी विधान मण्डल को नहीं दिया गया। यह स्पष्ट कर दिया गया कि ब्रिटिश नागरिकों के प्रवेश यात्रा तथा रोज-गार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता था। इंग्लैण्ड और बर्मा में कार्य करने वाली कम्पनियों पर अधिक कर नहीं लगाया जा सकता था। साथ ही साथ इंग्लैण्ड के जलयान तथा वायुयान पर भी कोई भेदभाव की नीति नहीं अपनायी जा सकती थी ।

गवर्नर जनरल विशेष परिस्थितियों में विधायक कार्यवाहियों पर प्रतिबन्ध लगा सकता था ।

वित्तीय अधिकार

वित्तीय मामले में दोनों सदनों को समान अधिकार प्राप्त थे । बजट में व्यय के दो भाग थे (क) संघ के राजस्व पर भारित व्यय (ख) अन्य व्यय । बजट के पहले के प्रकार के व्यय की मदों पर मतदान नहीं हो सकता था। शेष भाग पर (अन्य व्यय) गवर्नर जनरल को अधिकार था कि वह उस धनराशि को अस्वीकृत व स्वीकृत कर सकता था।

(ख) संघीय कार्यकारिणी

संघीय कार्यकारिणी का निर्माण गवर्नर जनरल, कम से कम 3 प्रति-निधि और अधिक से अधिक 10 प्रतिनिधियों की मंत्री परिषद बनाकर कर सकता था। वह कार्यकारिणी का प्रधान सदस्य होता था उसकी नियुक्ति प्रधानमंत्री की सलाह पर इंग्लैण्ड का सम्राट करता था ।

गवर्नर जनरल के अधिकार

गवर्नर जनरल अपनी इच्छा, व्यक्तिगत, निर्णय तथा मंत्री परिषद के

परामर्श से कार्य करता था। उसे प्रतिरक्षा, धर्म तथा विदेशी मामले के मंत्रियों की नियुक्ति, एवं निष्कासन, कार्यकारिणी का निर्माण, उच्चायुक्तों की नियुक्ति, तथा लोक सेवा आयोग के सदस्यों के वेतन कार्यकाल तथा शर्तों को निश्चित करने पर एकाधिकार प्राप्त था। कानून बनाने के क्षेत्र में संघीय सभा को बुलाना, स्थगित करना, एवं भंग करना, अवांछित प्रस्तावों पर प्रतिबन्ध लगाना, कुछ प्रस्तावों को सम्राट के परामर्श के लिए सुरक्षित रखना, आपातकाल में संविधान को स्थगित करना तथा आध्यादेश जारी करने का अधिकार उसे प्राप्त था।

गर्वनर जनरल को उपर्युक्त अधिकारों के अतिरिक्त कुछ विशेष उत्तरदायित्व भी प्रदान किये गये थे। इन पर वह अपने व्यक्तिगत निर्णय के आधार पर निर्णय ले सकता था। इनमें से मुख्य शान्ति भंग को रोकना, आर्थिक स्थिरता को बनाये रखना, अल्प संख्यकों के हितों की रक्षा करना, अधिकारियों के उचित अधिकारों की रक्षा करना, देशी राज्यों के शासकों के सम्मान की रक्षा करना आदि था। उपर्युक्त उत्तरदायित्व को प्रदान करने का मुख्य उद्देश्य विशेष अवसरों पर गर्वनर जनरल को निर्णय लेने का अधिकार प्रदान करना था।

वित्तीय शक्तियाँ (अधिकार)

गवर्नर जनरल को कर लगाने व व्यय करने के लिए सिफारिश का अधिकार एवं विधान मण्डल द्वारा हटा दी गई मांग को बहाल करने का अधिकार प्राप्त था। इसका अर्थ यह नहीं था कि गर्वनर जनरल अपनी मनमानी करें। इस प्रकार वह भारत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं शक्तिशाली व्यक्ति था। मंत्रीपरिषद के परामर्श से कार्य करने वाले क्षेत्र अत्यन्त सीमित थे साथ ही साथ वे सभी उसकी विशेष अधिकारों के कारण प्रभावहीन भी थे। इस अधिनियम के पश्चात् भी मंत्री परिषद सवैंधानिक कठपुतलियाँ मात्र ही थीं।

(ग) प्रान्तीय स्वायत्तता

प्रान्तीय स्वायत्तता अथवा प्रान्तीय स्वराज्य इस अधिनियम द्वारा प्रदान किया गया महत्वपूर्ण प्राविधान था। इस अधिनियम के पश्चात् प्रत्येक प्रान्त में गर्वनर की नियुक्ति साम्राज्य के एक प्रतिनिधि के रूप में होती थी, वह केवल केन्द्रीय सरकार का एक एजेन्ट होता था, उसको परामर्श देने के लिए मंत्री परिषद की व्यवस्था की गयी जो प्रान्तीय विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी थी। दोहरी सरकार अर्थात आरक्षित तथा हस्तान्तरित विषयों के

भेद को समाप्त कर प्रान्तीय प्रशासन के सभी क्षेत्रों को मंत्रियों के अधिकार में दे दिया गया। कुछ विशेष विषय गवर्नर अपने विवेक के अनुसार निर्णीत कर सकता था, अन्यथा उसे मंत्री परिषद के परामर्श से ही कार्य करना था। इस अधिनियम के पश्चात् 6 प्रान्तों में दो सदन वाले विधान मण्डलों की व्यवस्था की गयी जिसका कार्यकाल संघीय विधान मण्डल के ही समान था। गर्वनर को कार्यपालिका से हटा दिया गया। इस प्रकार प्रान्तों को एक नवीन तथा उच्च वैधानिक स्तर प्राप्त हो गया।

प्रान्तीय स्वायत्तता पर प्रतिवन्ध

वास्तव में प्रान्तीय स्वायत्तता पर लगे प्रतिबन्धों से उत्तरदायी शासन की स्थापना न हो सकी। इन प्रतिबन्धों में मुख्य गर्वनर को भी गर्वनर जनरल की समान विशेष उत्तरदायित्व प्रदान कर देना था। फलस्वरूप वह भी मंत्री परिषद की उपेक्षा कर सकता था। विशेष विषयों में वह अपने व्यक्तिगत निर्णय पर ही काम करता था। वह अपना विवेक गर्वनर जनरल के इच्छा द्वारा निर्धारित करता था। फलस्वरूप समस्त प्रान्तीय प्रशासन गवर्नर जनरल या गवर्नर को निर्देश भेज सकता था। आपात काल की घोषणा के पश्चात् संघीय विधान मण्डल प्रान्तीय सूची के विषयों पर निर्णय ले सकता था। कुछ विशेष मामलों में गर्वनर जनरल की आज्ञा आवश्यक थी।

मूल्याङ्कन

इस प्रकार सही अर्थो में यह अधिनियम न ही उत्तरदायी शासन की स्थापना कर सका और न ही प्रान्तीय स्वायत्त शासन का शुभारम्भ। इस अधिनियम के पश्चात् फरवरी 1937 में प्रान्तीय चुनाव 6 प्रान्तों में सम्पन्न हुए। इनमें बम्बई, मद्रास, संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त बिहार व उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त में कांग्रेस ने बहुमत प्राप्त कर उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। इन चुनावों में कांग्रेस के साथ-साथ मुस्लिम लीग को भी महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

सीकरी महोदय ने अत्यन्त सुन्दर शब्दों में कहा है। "1935 के एक्ट के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वायत्त शासन वास्तविकता से बहुत दूर था। यह परिहास से कम न था और दम्भ से अधिक कुछ न था। यह ऐसे बाह्य एवं आन्तरिक प्रतिबन्धों से युक्त था कि उसमें स्वायत्तता का रंग भी नहीं रह गया था।"

●

संवैधानिक विकास

1. Sikri; S. L. : Constitutional History of India.
2. Kapur, A. C : Constitutional History of India.
3. Pylee, M. V. : Constitutional History of India.
4. Keith; A. B : A Constitutional History of India.
5. Punnaiah, K. V : Constitutional History of India.
6. Mukherji, P : Indian Constitutional Documents, Vol. I.
7. The Government of India Act 1858. : C L 1-67.
8. Sharma, Sri Ram : A Constitutional History of India.
9. Report on Indian Constitutional Reforms : 1918.

10. Banerjee, A. C : Indian Constitutional Documents, Vol. II and Vol. III.

11. Lord Morley's Speech on reforms : House of Lords, December 17, 1908.

12. Dodwell, Henry : A Sketch of the History of India, 1358-1918

13. Wolff, Lucien : Life of Lord Ripon.

14. Das, M. N : India Under Morley & Minto.

15. Wasti, Syed Reza : Lord Minto and the Indian Nationalist Movement.

16. Singh, Hiralal : Problems and Policies of the British in India.

17. Ripon to Hartington : Dec 31, 1881.

18. Coupland, R : The Indian Problem.

19. House of Commons Debates : March 28, 1892 Ser III, Cols. 54-56.

20. Morley, Viscount J : Recollections, Vol. II.

21. Indian Statutory Commission Report. : Vol. I.

22. House of Lords Debates. : Dec. 17, 1908, Par, Deb. Sr 4th, Vol. 198. Cols 991-1001.

23. The Indian Councils Act : 1909, C L 1-6

24.	Hoyland, John S	:	Gokhale, His Life and Speeches.
25.	The Imperial and Asiatic Quarterly Review	:	July-Oct 1909.
26.	Indian Review	:	January 1909.
27.	Native Papers Report (Bengal)	:	Nov. 16, 1909.
28.	Report on the Constitutional Reforms	:	1918, Para 73, and 79.
29.	Chintamani, C. Y.	:	Indian Politics Since Mutiny.
30.	Indian Sedition Committee Report	:	1918.
31.	Waley, S. D	:	Edwin Montagu, A Memoir And An Account of his visits to India.
32.	Debates on Indian Affairs	:	House of Commons, 1934-35, Cols 463-64.
33.	The Indian Annual Register	:	1937, Vol I.
34.	Rao, S	:	Indian Contitutional Documents, Vol III.
35.	Pardasni, N. S.	:	How India is Governed.

*

अध्याय 26

श्रमिक नव चेतना

आरम्भिक काल

कार्ल मार्क्स, रूसो एवं एन्जिल्स के लेख विश्व में हुई अनेक क्रान्तियों के प्रेरणा स्रोत हैं। उन्होंने दलित वर्ग को अत्याचार एवं अनाचार के विरुद्ध क्रान्ति की प्रेरणा दी। उनके लेखों ने दलित वर्ग में भय की भावना को दूर करके आत्मविश्वास की भावना जगाई तथा उन्हें प्रत्येक प्रकार के शोषण को समाप्त करने एवं प्रतिक्रियावादी तथा रूढ़िवादी शक्तियों को पराजित कर विकास के मार्ग पर चलने को प्रेरित किया। रूसो ने स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृ-भाव का पाठ पढ़ाया जबकि मार्क्स एवं एन्जिल्स ने पूँजीवादियों एवं साम्राज्यवादियों के विरुद्ध श्रमिक वर्ग को एकता के सूत्र में बंध जाने का आह्वान किया और साम्यवादी क्रान्ति के द्वारा शासकों को हिला देने एवं सर्वहारा वर्ग की जंजीरों को काट देने का नारा बुलन्द किया, जिसने लाखों श्रमिकों में आशा का संचार कर दिया। रूस में इन्हीं विचारों के कारण 1917 में क्रान्ति हुई तथा इस घटना ने विश्व के सर्वहारा वर्ग में अपनी शक्ति के प्रति विश्वास जाग्रत किया। इन्हीं विचारों ने भारत के किसानों एवं श्रमिकों को अत्यधिक प्रभावित किया। इस समय भारत में किसानों एवं श्रमिकों का बड़े पैमाने पर एक विदेशी शक्ति के द्वारा शोषण हो रहा था। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का त्याग एवं बलिदान तथा संघर्षरत लोगों की सहायतार्थ भारतीय स्वतंत्रता सग्रांम में नेतृत्व एक ऐसा गरिमामय इतिहास है जिसका महत्व 1925 के कानपुर सम्मेलन से लेकर अर्ध शताब्दी पर्यन्त तक रहा है। इस दल ने विषम मार्गों को पार करते हुये श्रमिक वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग के लिए विशेषतः महत्वपूर्ण कार्य किया है।

भारत में श्रमिक आन्दोलन का इतिहास यद्यपि बहुत प्राचीन नहीं है, फिर भी भारतीय मजदूर व श्रमिक सगंठन का विकास किसी भी अन्य

आन्दोलनों से कम नहीं रहा है। अन्य यूरोपीय मजदूर संगठनों की ही भाँति औद्योगिक विकास में भारतीय श्रमिकों का स्थान रहा है। 19वीं शताब्दी में औद्योगिक विकास के साथ ही साथ औद्योगिक संगठनों की आवश्यकता भी पड़ने लगी थी, परन्तु श्रमिकों के संगठित होने के पूर्व ही मिल मालिकों ने संगठित होना प्रारम्भ कर दिया था। मिल-मालिकों के संगठित होने का मुख्य कारण मजदूरों से अपने हितों की रक्षा करना था। इस संगठन के प्रयासों से मिल-मालिकों ने 1860 में अपने हितों के प्रति सरकार को प्रेरित किया। फलस्वरूप 1860 की इंडियन पेनल कोड की धारा 490 एवं 492 तथा 'बाम्बे एम्पलायज एण्ड वरकंस एक्ट' में श्रमिकों को और अधिक स्वामित्वाधीन कर दिया। इस अधिनियम के अन्तंगत काम पर न जाने वाले किसी भी मजदूर को दण्डित किया जा सकता था। तत्पश्चात मिल मालिक ने वाणिज्य निकायों "चैम्बर्स ऑफ कामर्स एण्ड इन्डस्ट्रीज" की स्थापना कर ब्रिटिश सरकार की श्रमिक नीतियों को प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया था। भारत में मजदूरों का संगठन प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व प्रारम्भ नहीं हो सका था। वास्तव में 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में तथा 20 वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में देश विदेश की घटनाओं से भारतीय श्रमिक प्रभावित होने लगा था। भारत में औद्योगीकरण के समानान्तर सामाजिक तथा धार्मिक परिवर्तनों ने भारतीय समाज को प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया था। वास्तव में भारत में आये इन उद्योगों ने भारत की रूढ़िवादी संस्कृति पर कुठाराघात प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार के नवीन समाजिक परिवर्तनों के प्रति भारत की रूढ़िवादी जनता नितांत अनुभवहीन तथा अज्ञानी थी। यही कारण था कि प्रारम्भिक उद्योगों का विरोध भी भारतीय जनता ने प्रारम्भ कर दिया, परन्तु शनैः शनैः उद्योगों के इस विरोध ने उद्योगपतियों तथा मिल मालिकों के विरोध का स्वरूप ग्रहण कर लिया।

इस प्रकार के विरोधों के जन्म का एक मुख्य कारण भारत में ब्रिटिश प्रशासन भी था। ब्रिटिश शासन ने भारतीय उद्योगों में स्थानीय लोगों की भागीदारी केवल मजदूरों तक ही सीमित रखी अन्यथा लगभग सभी उद्योगपति तथा मिल मालिक विदेशी थे। 1905 तथा 1917 की रूस की क्रान्ति एवं प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् भारत के मजदूरों अथवा श्रमिकों का संगठन त्वरित होने लगा।

यद्यपि भारत में मजदूर संगठनों का प्रारम्भ प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् ही प्रारम्भ हुआ, परन्तु इसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि इसके पूर्व मजदूर संगठनों का कोई स्वरूप ही नहीं था। वास्तव में प्रथम विश्वयुद्ध के

पूर्व मजदूरों की समस्याओं को समाज सेवियों तथा धार्मिक संगठनों ने उठाया था। मजदूर संगठनों के चरित्र के विपरीत इनका प्रतिरोध संगठनात्मक न होकर मानवतावादी था। 1872 में पी. सी. मजूमदार नामक एक बंगाली उपदेशक ने बम्बई में श्रमिक शिक्षा के लिये रात्रि विद्यालयों की स्थापना की थी। इसी प्रकार 1868 में ब्रह्म समाज ने कलकत्ता में भी "मजदूर मिशन" की स्थापना कर उपयोगी नैतिकता तथा शिक्षा का प्रबन्ध किया। इसी प्रकार शशिप्रद बनर्जी ने जूट मजदूरों की शिक्षा तथा सामाजिक कल्याण के लिये "बड़ा नगर संस्थान" की स्थापना की। इन्हीं दिनों कुछ मजदूर हड़तालों ने भी जन्म लिया। सर्वप्रथम नागपुर एम्प्रेस मिल के मजदूरों ने 1877 में मजदूरी में वृद्धि के लिये हड़ताल की। इस प्रकार डॉ० दास के अनुसार 1882 से 1890 के मध्य बम्बई तथा मद्रास प्रेन्सीडेंसी में लगभग 25 मजदूर हड़तालें हुई।

सर्वप्रथम 1875 में कुछ समाज सेवियों ने सोरावजी शापुरजी वंगाली के नेतृत्व में श्रमिकों की दयनीय स्थिति पर ध्यान देने के लिए सरकार के विरुद्ध आन्दोलन किया। इस आन्दोलन का मुख्य ध्येय स्त्रियों तथा मिल मजदूरों की सुरक्षा के लिये सुरक्षा अधिनियमों की मांग करना था। इस आन्दोलन के परिणाम विशेष सन्तोषजनक नहीं थे। सरकार ने 1881 में यद्यपि प्रथम मिल अधिनियम पारित किया परन्तु इससे कोई समुचित परिवर्तन सम्भव नहीं हो सका। बम्बई के मजदूरों में सरकारी नीतियाँ तथा मिल मालिकों के शोषण के विरुद्ध विरोध बना रहा। इसी समय भारत के सर्वप्रथम मजदूर नेता नारायण मेघजी लोखंडे ने 1884 में बम्बई के श्रमिकों का एक सम्मेलन बुलाया और एक याचिका प्रस्तुत की। इस याचिका में श्रमिकों की दयनीय स्थिति में सुधार की मांगे प्रमुख थी। यह याचिका नवस्थापित भारतीय मिल आयोग को प्रस्तुत की गई। यद्यपि आयोग ने इस याचिका पर उदारता पूर्वक विचार किया, परन्तु सरकार ने इसके निर्णयों पर कोई ध्यान नहीं दिया। परिणाम स्वरूप मिल मजदूरों का विरोध जारी रहा। तब उन्होंने पुनः अप्रैल 1890 में एक 10,000 मजदूरों का सम्मेलन बुलाया तथा गवर्नर जनरल को श्रमिकों की सुरक्षा से सम्बन्धित दूसरी याचिका प्रस्तुत की। इसी प्रकार की एक याचिका लोखण्डे ने मिल मालिक संस्था को साप्ताहिक छुट्टियों के लिये दी जो स्वीकार भी कर ली गई। इस सफलता से उत्साहित होकर लोखण्डे ने उसी वर्ष बम्बई 'मिल मजदूर संघ' नामक मजदूर संगठन की स्थापना की तथा 'दीनबन्धु' नामक एक मजदूर

पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। यद्यिपि यह बात ध्यान देने वाली थी कि बम्बई मजदूर संस्था किसी भी प्रकार से एक संगठित मजदूर संगठन नहीं हो सका, परन्तु लोखण्डे एक प्रभावशाली मजदूर नेता बन चुका था। इस संस्था में किसी प्रकार की सदस्यता, कोष तथा नियम आदि नहीं थे। लोखण्डे वास्तव में मजदूरों के कल्याण के लिये, सरकारी नीतियों में परिवर्तन चाहने वाला एक मानवतावादी उत्प्रेरक तथा मजदूर संगठनों का निर्माता था।

1891 के मिल अधिनियम के पश्चात् भारत में मज़दूर आन्दोलन का प्रथम चरण समाप्त हो गया। इसके पश्चात् केवल कुछ स्थानीय हड़तालों तथा स्थानीय संगठनों के अतिरिक्त विशेष प्रगति नहीं हो सकी। इसके तत्कालिक मुख्य कारण एक प्रकार से महामारी, प्लेग तथा अकाल आदि थे। बंगाली तथा लोखण्डे की मृत्यु से भी मजदूर नेतृत्व कमजोर हो गया था। यद्यपि 1897 में भारत-बर्मा रेल कर्मी संगठन की स्थापना हुई थी परन्तु इससे भी कोई विशेष प्रगति अथवा उपलब्धि नहीं हो सकी।

भारत में मजदूर आन्दोलन का दूसरा चरण 1905 में बंगाल विभाजन से प्रारम्भ हुआ। बंगाल के विभाजन ने राजनीतिक आन्दोलनों को जन्म दिया तथा स्थानीय राजनीतिज्ञों ने मजदूरों को अपने साथ लेने के लिये इनकी समस्याओं को भी उठाया। तत्कालीन स्वदेशी आन्दोलन ने भी मिल मजदूरों की दयनीय स्थिति को सुधारने के लिये प्रयास प्रारम्भ कर दिया। इसके साथ ही साथ मजदूरों में तथा व्यापार को पुर्नजीवित करने की मांग प्रारम्भ हो गई। इसी समय बम्बई में विद्युत के आगमन के कारण मजदूरी कार्यकाल में वृद्धि के विरुद्ध आवाज उठनी प्रारम्भ हो गई। इसका परिणाम 1905-1909 के समय हड़तालों की बाढ़ के रूप में सामने आया। बम्बई की बहुत से मिलों, पूर्वी बंगाल राज्य रेल कर्मीयों तथा बम्बई में जन सामान्य की 6 दिवसीय हड़तालों के पीछे 1908 में लोकमान्य तिलक के 6 वर्षीय कारावास भी मुख्य कारण थे। परिणामस्वरूप बहुत से महत्वपूर्ण मजदूर संगठनों का जन्म होना भी प्रारम्भ हो गया। कलकत्ता में 1905 का 'प्रिन्टर्स संगठन' तक 1907 में बम्बई का 'संगठित पोस्टल सगठन' तत्कालीन प्रमुख संगठन थे। तत्पश्चात् 1910 में बम्बई के मिल मजदूरों ने 'कामगार हितवर्धक सभा' नामक द्वितीय मजदूर संगठन की स्थापना कर ली। इस संगठन ने भी एक 'कामगार समाचार' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया। इस संस्था ने बहुत से मतभेदों को हल किया, तथा सरकार को

मजदूरी कार्यकाल कम करने के लिये याचिका दी। इसके अतिरिक्त दुर्घटना-ग्रस्त मजदूरों के मुआवजे तथा मजदूरों के जीवन स्तर एवं कार्य पद्धति में सुधार के लिये भी इस संस्था ने प्रचार किये। 1911 के मिल अधिनियम के साथ ही भारत में मजदूर आन्दोलन का दूसरा चरण समाप्त हो गया।

1911-1926

अब तक श्रमिक संगठनों के कार्यों में कोई निरन्तरता नहीं थी। मजदूर संगठन का वास्तविक आन्दोलन बाद के वर्षों में ही प्रारम्भ हुआ। युद्ध के पश्चात विभिन्न कारणों के सम्मिलित प्रभाव से मजदूरों में असुरक्षा की भावना प्रबल होती गई। अशिक्षा, अनुशासनहीनता, संगठन की अनुपस्थित, नेतृत्व की कमी तथा धैर्य एवं मानसिकताओं के कारण यह असंतोष इससे पूर्व प्रकट न हो सका। वास्तव में मजदूरों में यह भी धारणा थी कि यदि मजदूरों की समस्याएँ असहनीय हो जायेगी तो वे गाँवों में जाकर खेती करने लगेगें। इससे भी मजदूर संगठन एक आन्दोलन का कारण न बन सका था। 1914-18 के बाद में इन सभी परिस्थितियों को किसी न किसी रूप में प्रभावित किया। युद्ध से वापस आये सैनिकों ने यूरोप के सम्बन्ध में जानकारियाँ प्रदान की। 1917 की रूसी क्रान्ति ने विशेष स्तर पर क्रान्तिकारियों को आन्दोलित किया। विशेषकर 'मजदूरों एक हो जाओ' व 'तुम्हारे पास खाने के लिये केवल जंजीरे हैं' जैसे मार्क्स के वाक्यों ने 1917 की रूस की क्रान्ति के पश्चात मजदूरों को प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया था। तत्कालीन मूल्य वृद्धि, जीवन स्तर के प्रर्वतनशील मूल्यों ने सामान्य जीवन को प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया। युद्धोपरान्त परिस्थितियों से पूँजीपति, मिल मालिक तथा उद्योगपतियों के लाभ में कई गुना वृद्धि हो गई थी। मजदूर इस वृद्धि में अपना हिस्सा तथा भागीदारी का दावा भी करने लगे। देश में राजनैतिक अराजकतत्व ने भी श्रमिकों को उनके अधिकारों के प्रति सचेत किया। इसी समय कांग्रेस-मुस्लिम लीग के राजनीति में पदापर्ण से स्वराज्य की माँग तथा मार्शल अधिनियम, जलियावाला काण्ड तथा करों की वृद्धि जैसे सरकारी दमनात्मक रवैये ने भी मजदूरों में विद्रोही चेतना को जागृत किया। इसी बीच राष्ट्र संघ के मजदूर संगठन ने मजदूरों के प्रतिवाद, मान मर्यादा तथा गौरव को बढ़ा दिया। तत्कालीन आर्थिक विषमताओं, सामाज़िक असमानताओं की स्थिति, युद्धोपरान्त जन्मी सामाजिक युद्ध की भावना, राजनैतिक विद्रोह तथा क्रान्तिकारी आदर्शों ने श्रमिकों के धैर्य तथा सहनशीलता को चुनौती दी। यही कारण था कि अहमदाबाद में मजदूरों के लिए किए गए सत्याग्रह तथा उसकी सफलता के पश्चात 1914 एवं 1920 के आन्दोलनों को अपार सफलता प्राप्त हुई। 1919 में बम्बई में मजदूरों

द्वारा की गई हड़ताल तथा रौलेट अधिनियम के विरुद्ध किये गये प्रदर्शनों ने मजदूर आन्दोलनों का राजनैतिक स्वरूप स्पष्ट किया। शनैः शनैः श्रमिक आन्दोलन का देशव्यापी विस्तार होने लगा। केवल 1920 के पूर्वार्ध में लगभग 100 मजदूर हड़तालें हुई जिसमें लगभग 15 हजार मजदूरों ने भाग लिया।

भारत में प्रथम 'उद्योग समिति' की स्थापना का श्रेय बी. पी. वाडिया को है। ऐनीबेसन्ट के सहयोगी वाडिया ने 1918 में मद्रास के कपड़ा मिल मज़दूरों का संगठन बनाया। एक ही वर्ष में वाड़िया ने बीस हजार सदस्यों के चार संगठन खड़े कर दिये। यद्यपि 1917 मे ए० साराभाई ने अहमदाबाद में मजदूरों को संगठित कर एक हड़ताल कराई थी परन्तु योजना बद्ध तरीके से संगठन या निर्माण का कार्य वाडिया ने ही किया। अन्य स्थानीय मजदूरों ने भी संगठन का निर्माण प्रारम्भ कर दिया। 1919 से 1923 के मध्य कुछ अन्य संगठनों का भी जन्म हुआ। पंजाब बैंक व रेल कर्मचारियों के तथा अहमदाबाद में जुलाहों के संगठन बने। अहमदाबाद की कपड़ा मजदूर संस्था वर्ग सहयोग पर आधारित सर्वाधिक महत्वपूर्ण मजदूर संगठन थी जिसका चरित्र आज भी अन्य संगठनों से पृथक है। श्रमिक सभाओं के इतिहास में गाँधी की भूमिका भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि भारत का वामपंथी आंदोलन गांधीवाद के प्रतिक्रिया के स्वरूप उत्पन्न हुआ परन्तु गांधी के आन्दोलनों में प्रयुक्त नवीन तकनीकियों, जन-समर्थन एवं स्वावलम्बन; सीधी कार्यवाही ने राजनैतिक चेतना को सीधे जनता से जोड़ दिया था। परन्तु शिक्षित नवयुवकों ने जन समर्थन को स्वीकार कर गांधी जनित साधनों को सामाजिक तथा आर्थिक विषमता के संघर्ष के लिए अनुपयुक्त बताया। धीरे धीरे उनका झुकाव पश्चिम के श्रमिक आन्दोलनों तथा समाजवादी आन्दोलनों की ओर आकर्षित होने लगा।

यह सत्य है कि अब तक हुई हड़तालों से समाजवाद का कोई ताल्लुक नहीं था। ये सभी तीव्रता से गिरते आर्थिक परिस्थितयों का परिणाम थी। स्वयं रॉयल आयोग ने यह स्वीकार किया है कि युद्ध के पश्चात हड़तालों के आगमन के पीछे आर्थिक कारण प्रमुख थे। वास्तव में भारत के समाजवादी वामपन्थियों ने गाँधी की तरह श्रमिकों और कृषकों को एक साथ कर दिया और अहिंसक आन्दोलन की कटु भर्त्सना एवं आलोचना प्रारम्भ कर दी गई थी। उनके अनुसार मजदूरों की समस्यायें अलग थी अतएव गांधी के नैतिक मूल्यों का कोई अर्थ नहीं था।

भारत में आधुनिक श्रमिक आन्दोलनों का इतिहास इसी चरण से

प्रारम्भ होता है। अब तक हुये आन्दोलनों, हड़तालों तथा संगठनों का सम्पूर्ण चरित्र तदर्थ था। इनके मध्य किसी भी प्रकार की निरन्तरता का अभाव था। साथ ही साथ संगठनों में आपसी सहयोग की भी कमी थी यही कारण था कि उद्योगपतियों तथा मिल मालिकों ने इन हड़तालों को गंभीरता से नहीं लिया। इसका एक कारण यह भी था कि देश में कोई भी ऐसा अधिनियम नहीं था जो संगठनों को वैधानिकता प्रदान करता हो। श्रमिकों तथा मालिकों का मुख्य शक्ति प्रदर्शन मद्रास में हुआ। 1921 में मद्रास के मिल मजदूरों के हड़ताल के विरुद्ध मिल मालिकों ने मुवाअज़े तथा हर्जाने का मुकदमा कर दिया। मद्रास के उच्च न्यायालय ने मज़दूरों पर 7000 पौण्ड का हर्जाना लगा दिया। वाडिया ने इसके पश्चात स्वयं को श्रमिक आन्दोलन से अलग कर लिया। इस प्रकार के तरीके मिल मालिकों के लिए सर्वाधिक लाभदायो थे। यही कारण था कि 1921 में एन एम. जोशी ने मजदूर संगठन प्रस्ताव को पारित कराने का प्रयास किया जो अफसल हो गया।

इसी समय 1920 में 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' का जन्म हुआ, जो भारत का प्रथम अखिल भारतीय मजदूर संगठन था। यह बात महत्वपूर्ण है कि इस संगठन के निर्माण का निर्णय कांग्रेस ने लिया था। इसके प्रथम सत्र की अध्यक्षता लाला लालपतराय ने की थी। दीवान चमन लाल स्वागत समिति के अध्यक्ष थे। ब्रिटेन के मज़दूर नेता कर्नल बेगवुड ने भी इस सभा में भाग लिया था। बाद में सी० आर० दास, जवाहर लाल नेहरू, सुभाप चन्द्र बोस, तथा वी० वी० गिरि भी इसके अध्यक्ष हुए। भारतीय कांग्रेस ने मज़दूरों को संगठित करने तथा उनके आन्दोलन को उत्प्रेरित करने के लिए एक मजदूर उप-समिति की भी स्थापना की गई। इसके द्वारा श्रमिकों की आवश्यक माँगों के लिए संगठित प्रयास प्रारम्भ किया। 1924 में इसने सुधार समिति में भी प्रतिनिधि भेजकर श्रमिकों के प्रतिनिधित्व का प्रश्न उठाया। इसी के प्रयासों के फलस्वरूप सरकार ने बहुत से दमनात्मक अधिनियमों जैसे मजदूर संहिता हनन अधिनियम को समाप्त कराया। 1922 में अखिल भारतीय रेलकर्मी संगठन की स्थापना हुई, जिसे देश भर के रेल-कर्मी संगठनों ने स्वीकार कर लिया। 1923 में सिंगारवेलु ने भारत में 'लेबर किसान पार्टी' का स्थापना कर एक मैनीफेस्टो तथा 'लेबर-किसान गजट' नामक एक पत्रिका का प्रकाशन भी किया। तत्पश्चात नवम्बर 1925 में देशबन्धु चित्तरंजनदास की स्वराज्य पार्टी के वामपक्ष द्वारा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के भीतर 'लेबर स्वराज्य पार्टी' का गठन किया और 'लांगल' शीर्षक

द्वारा एक साप्ताहिक प्रकाशित किया गया। इस पत्र का सम्पादन कार्य काजी नजरूल इस्लाम ने किया।

इसी समय भारत के मजदूर संगठनों का क्रान्तिकारी स्वरूप भी स्पष्ट होना प्रारम्भ हुआ। शनैः शनैः श्रमिक वर्गों में साम्यवादी तत्वों का समावेश होने लगा। 1925 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के पश्चात 1926 से भारतीय श्रमिक आन्दोलन साम्यवादियों का ही विशिष्ट अंग बन गया।

अतः बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश तक ट्रेड यूनियन आन्दोलन संगठित शक्ति का रूप ग्रहण कर चुका था। आर० आर० बारखले द्वारा 1925 में प्रकाशित 'डाइरेक्टरी आफ़ ट्रेड यूनियन्स' के अनुसार इस आंदोलन में लगभग एक लाख श्रमिक संगठित एवं सम्मिलित हो चुके थे। अप्रैल 1926 में ब्रिटिश साम्यवादी दल एवं खदान मजदूरों के नेता जार्ज एलीसन गुप्त रूप से 'डोनाल्ड कैम्पबेल' के नाम से भारत आये। उनके कुछ माह पश्चात 1927 में ग्रेट ब्रिटेन साम्यवादी दल के युवा सदस्य 'फिलिप स्प्रैट' तथा संसद सदस्य 'शपुरजी सकलातवाला' भी प्रचार यात्रा पर भारत आये। इसी समय भारतीय साम्यवादी दल की कार्यकारिणी बैठक में श्रमिक व कृषक पार्टियों के गठन का निर्णय लिया गया। 1927 में ही बम्बई में 'श्रमिक कृषक पार्टी' की स्थापना हुई और उसके प्रमुख पत्र 'क्रान्ति' का प्रकाशन भी प्रारम्भ हुआ। 1927 में दिल्ली में जब 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन' का सातवाँ अधिवेशन हुआ जिसमें सकलातवाला ने साम्यवादियों एवं श्रमिक नेताओं से वार्ता की। यह सुझाव भी प्रेषित किया गया कि दूसरे साम्यवादी सम्मेलन का आयोजन जो लाहौर में होना निश्चित हुआ था, सकलातवाला की अध्यक्षता में हो। सकलातवाला ने इस कम्युनिस्ट पार्टी के सम्मेलन की अध्यक्षता करने से इन्कार कर दिया जो अब तक कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल से सम्बद्ध नहीं थी। फिर भी वह दिल्ली में एकत्रित हुए कम्युनिस्टों के इस विचार से सहमत थे कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की आवश्यकता थी और यह निर्णय किया गया कि संविधान स्वीकार करने और कार्यकारिणी का निर्वाचन करने के लिए 29 मई 1927 को बम्बई में एक सार्वजनिक सभा (जनरल बाडी) बुलायी जाय।

सम्पूर्ण भारत के कम्युनिस्टों की यह सार्वजनिक सभा की बैठक बम्बई में 29 से 31 मई तक हुई और संशोधित संविधान को स्वीकार किया गया और पार्टी की कार्यकारिणी समिति को निर्देश दिये गये।

अप्रैल 1928 में बम्बई के कपड़ा मिल मजदूरों की छः मास तक चलने वाली हड़ताल प्रारम्भ हुई। श्रमिक कृषक पार्टी के रूप में कम्युनिस्टों ने

संयुक्त हड़ताल समिति के संगठन और उस हड़ताल को एक सशक्त नेतृत्व प्रदान करने में प्राथमिकता की। असंख्य हड़ताल सभाओं के मध्य श्रमिक वर्ग ने लाल झण्डे को सुदृढ़ीकरण तथा साम्राज्यवाद तथा पूंजीवाद के विरुद्ध संघर्ष में एकता के प्रतीक रूप में मान्यता दी। श्रमिक वर्ग ने लाल झण्डे को विश्व के श्रमिक वर्ग के साथ जो कि समान लक्ष्यों के लिये संघर्षरत था और विश्व के प्रथम समाजवादी राज्य, सोवियत संघ के साथ जिसने इन लक्ष्यों को अभी ही प्राप्त कर लिया था, और मजदूरों किसानों के राज्य की स्थापना कर ली थी, अपनी एकता के प्रतीक के रूप में पहचाना। ऐसा ही वातावरण कलकत्ते में भी था जहाँ मजदूर किसान पार्टी के नेतृत्व में लाल झण्डे के नीचे जूट कारखानों और रेलवे में काम करने वाले लाखों मजदूर अपनी हड़ताल चला रहे थे। साम्यवादी पताका के अधीन श्रमिक व मजदूर वर्ग का एक नया आंदोलन विकसित हो चुका था। जब वम्बई की कपड़ा मिल मजदूरों की महान हड़ताल (अक्टूबर 1928) समाप्त हुई तो सुप्रसिद्ध कामगार यूनियन (लाल झण्डा) का जन्म हुआ जिसकी सदस्य संख्या 80,000 थी और जिसके पास 60,000 का यूनियन फंड था। कलकत्ता में भी इसी प्रकार की यूनियनों का गठन हुआ। 1928 में हड़तालों का उभार किसी शिखर पर पहुंच गया इस तथ्य को निम्नलिखित आंकड़ों से जाना जा है–

वर्ष	मजदूरों की संख्या	कार्य रहित दिवस
1921	600,315	6,984,426
1924	312,462	8,730,918
1925	270,423	12,578,129
1928	506,857	31 647,404
1929	532,016	12,165,691

हड़तालों और जन कार्यवाहियों का नेतृत्व मजदूर किसान पार्टियाँ कर रही थी जिन्हें कम्युनिस्टों ने सर्वप्रथम बंगाल में (1926) और उसके बाद बम्बई में 1927 स्थापित किया था।

1928 में 'कीर्ति-किसान पार्टी' के नाम से पंजाब में एक मजदूर किसान पार्टी की स्थापना की गयी थी। इससे पहले 1926 से ही पंजाबी भाषा में 'कीर्ति साप्ताहिक' प्रकाशित हो रहा था, जिसका ध्येय साम्यवादी विचारों और नीतियों को लोकप्रिय बनाना था। इस साप्ताहिक का शुभारम्भ गदर पार्टी के उन क्रान्तिकारियों ने किया था जो कैलिफोर्निया से आये थे। ये

1922 से ही साम्यवाद से प्रभावित थे और संतोख सिंह (गदर पार्टी के सदस्य) इस साप्ताहिक के प्रथम सम्पादक थे। उनकी मृत्युपरान्त सोहन सिंह जोश इस पत्र के सम्पादक बने और मार्च 1929 के मेरठ षडयन्त्र केस में गिरफ्तार होने के समय तक वह साप्ताहिक के सम्पादक रहे। 1928 में कीर्ति किसान पार्टी ने अनेक सम्मेलन किये और अमृतसर तथा अन्य स्थानों पर विशाल किसान प्रदर्शनों का संगठन किया।

तत्पश्चात 1928 में 'श्रमिक कृषक पार्टी' की उत्तर प्रदेश में स्थापना की गयी। इसने झांसी तथा अन्य स्थानों पर सम्मेलनों का आयोजन किया और अपने मुख्य पत्र के रूप में 'क्रान्तिकारी' नाम के एक हिन्दी साप्ताहिक का प्रकाशन आरम्भ किया।

सारांश में चार प्रान्तों में मजदूर किसान पार्टियों ने भविष्यगामी मार्ग निर्मित करने और जनता में क्रान्तिकारी क्रिया-कलापों का समावेश करने में सफलता प्राप्त की। इसी प्रकार, उन्होंने ट्रेड यूनियनों के निर्माण में तथा इसके अर्न्तगत किसान प्रदर्शनों और सम्मेलनों के आयोजन में भी सफलता प्राप्त की। इन्होंने अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के भीतर वामपक्ष का निर्माण किया और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कमेटी के भीतर एक न्यूक्लियस का गठन किया। इससे कम्युनिस्टों का उत्साहवर्धन हुआ और 1928 के प्रारम्भिक महीनों में मजदूर-किसान पार्टियों का एक अखिल भारतीय सम्मेलन करने और एक अखिल भारतीय श्रमिक किसान पार्टी का गठन करने का निर्णय लिया गया। नवम्बर 1927 में जब अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का आठवां अधिवेशन हुआ तो वामपक्ष इतना शक्तिशाली हो चुका था कि वह एस० वी० घाटे को सहायक मंत्री के रूप में निर्वाचित करा सका।

17 दिसम्बर 1928 को बिहार के कोयला खान क्षेत्र झरिया नामक स्थान में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अधिवेशन का आयोजन किया गया। विशाल गिरणी कामगर यूनियन (लाल झन्डा) तथा कलकत्ता व अन्य स्थानों पर मजदूर किसान पार्टी के सदस्यों द्वारा अन्य लाल यूनियनों के गठन के फलस्वरूप बामपक्ष की शक्ति काफी बढ़ गई।

अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अधिवेशन ने 'साम्राज्यवाद विरोधी लीग, के साथ स्वयं अपने को सम्बद्ध करने का निर्णय लिया। ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस की जनरल काउन्सिल को लन्दन में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का प्रतिनिधि बनाने का पूर्व निर्णय निरस्त कर दिया गया।

1929 के फरवरी महीने तक गृह मंत्रालय इस निष्कर्ष पर पहुंच चुका था कि सभी अग्रिणी कम्युनिस्टों और ट्रेड यूनियन कार्यकर्त्ताओं के विरुद्ध जिस में ब्रिटिश साम्यवादी ब्रैडले एवं स्प्रैट भी शामिल थे, षडयन्त्र केस चलाना चाहिये। ब्रिटिश सरकार ने उत्तर प्रदेश के मेरठ में जहां मजदूर किसान पार्टी का सम्मेलन हुआ था और जहां अभियुक्तों को जूरी के साथ न्याय परीक्षण का लाभ नहीं हो सकता था, षडयन्त्र केस को आरम्भ करने का निर्णय लिया। स्प्रैट और मिराजकर के विरुद्ध "इन्डिया एण्ड चाइना" शीर्षक पेम्फलेट केस जैसी असफलता वे लोग नहीं चाहते थे जिसमें जूरी ने दोनों अभियुक्तों को राजद्रोह के अपराध से निर्दोष घोषित कर दिया था। इसके अतिरिक्त वे षडयन्त्र केस के द्वारा कम्युनिस्टों और राष्ट्रवादियों के मध्य 20 मार्च को जिस दिन बम्बई के कम्युनिस्ट नेताओं की गिरफ्तारी की गई, मजदूरों द्वारा की जाने वाली किसी भी विरोधी कार्यवाही का दमन करने के लिये सेना को तैयार रखा गया था। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार ने नव श्रमिक आन्दोलन एवं इसके संचालकों के विरुद्ध अभियान छेड़ दिया था।

मेरठ केस की गिरफ्तारियों से यद्यपि जन आन्दोलन की अग्रगामी गति नहीं रुकी, तो भी पार्टी संगठन को एक भारी आघात पहुंचा। 1929 के अन्तिम महीनों तक मजदूर किसान पार्टियों ने काम करना लगभग बन्द कर दिया। इससे पूर्व कलकत्ता में हुई भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की कार्यकारिणी की बैठक में (दिसम्बर, 1928 के अन्तिम दिनों में) कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल पार्टी की छटी कांग्रेस में की गई मजदूर किसान पार्टी की आलोचना मालूम हो चुकी थी, लेकिन भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के खुले मंच के रूप में मजदूर किसान पार्टी का काम बंद करने के सिलमिले में कोई फैसला नहीं लिया गया। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के संगठन की ओर गम्भीरता से ध्यान देने के लिये निर्णय लिया गया और 1929 के प्रारम्भिक महीनों में पार्टी के नये संविधान का प्रारूप तैयार किया गया। इस कार्य में मेरठ की गिरफ्तारियों के कारण व्यवधान पड़ गया। अत: 1929 के अन्त में लाहौर में अखिल भारतीय साम्यवादी सभा में एकत्रित लोगों ने केवल अखिल भारतीय मज़दूर किसान पार्टी का दूसरा सम्मेलन किया और नौजवान भारत सभा के सम्मेलन में सहायता की। कांग्रेस के अधिवेशन में बम्बई की मजदूर किसान पार्टी के एक मुद्रित मैनीफैस्टों का वितरण भी किया गया। कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में अब मुख्य 'समस्या डोमीनियन स्टेट्स या पूर्ण स्वराज्य' में किसी एक को चुनने की नहीं रह गई थी अपितु स्वतंत्रता के लिये राष्ट्रीय

संग्राम के आह्वान करने की थी । तथापि मैनीफेस्टों में एक संकीर्णवादी पक्ष था और उसके मुख्य पृष्ठ पर निम्नलिखित प्रश्न अंकित था: "आप डोमीनियन स्टेट्स के अर्न्तगत गांधी और नेहरू के साथ साम्राज्यवादी मशीन गनों से सुरक्षा प्राप्त करेंगे अथवा पूर्ण स्वतंत्रता के संग्राम के,, वास्ते मजदूरों के साथ मशीन गनों की अग्नि वर्षा का सामना करेंगे?" इसके अतिरिक्त कांग्रेस के उन आम कार्यकर्ताओं से अपील की गई थी कि पूर्ण स्वराज्य को समर्थन दे कर वे श्रमिकों और किसानों के संघर्ष में भाग लें और जमींदारी प्रथा उन्मूलन के संघर्ष को गांव-गांव पहुंचायें ।

अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में भी, जो 30 नवम्बर से 2 दिसम्बर 1928 तक हुआ ट्रेड यूनियन आन्दोलन के कम्यु-निस्ट नेतृत्व में चलने वाले वामपक्ष का शक्ति सचंय स्पष्ट हुआ । तथापि इस अधिवेशन में जो मतभेद उत्पन्न हुये उनका दोष संकीर्णतावाद अथवा साम्य-वादियों की अनुभवहीनता को नहीं दिया जा सकता । इस अधिवेशन के अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू थे और उनके समक्ष मुख्य विवादास्पद विषय साम्राज्यवादियों द्वारा प्रेषित श्रमिक सम्बन्धी 'ह्विटले कमीशन' का बहिष्कार था ।

यद्यपि कम्युनिस्टों के नेतृत्व में चलने वाली बम्बई और बंगाल की यूनियनों की पर्याप्त रूप से एक बड़ी संखया थी, किन्तु इनका बहुमत नहीं था । तथापि ह्विटले कमीशन के बहिष्कार के मामले पर वामपक्ष और राष्ट्रवादियों के एक जुट हो जाने के परिणामस्वरूप कार्यकारिणी समिति में मतदान के समय उन्हें बहुमत प्राप्त हो गया । एन०एम० जोशी, चमनलाल, तथा बी० वी० गिरि के नेतृत्व में वरिष्ट नेताओं ने कार्यकारिणी में मतदान के उपरान्त वाक-आउट, कर दिया और खुले अधिवेशन में भाग नहीं लिया । तत्पश्चात एक प्रेस वक्तव्य में जवाहरलाल नेहरू ने मतभेद पर दुख: प्रकट किया । और इसका दोषारोषण अधिवेशन छोड़ कर बाहर चले जाने वालों पर किया । उन्होंने कहा कि अलग हो जाने वालों का अधिवेशन में बहुमत था और यदि वे शीघ्रता बद्ध कार्य न करते तो किसी न किसी तरह समझौता हो जाता । इस अधिवेशन ने ह्विटले कमीशन का वहिष्कार करने तथा साम्राज्यवाद के विरुद्ध लीग के साथ अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस को एकबद्ध करने का फैसला किया और सुभाष चन्द्र बोस को अध्यक्ष तथा एस० वी० देशपाण्डे को जनरल सेक्रेटरी के रूप में चुना गया । इस अधि-वेशन में मेरठ षडयन्त्र केस के 26 अभियुक्तों द्वारा हस्ताक्षरित एक टेलीग्राम प्राप्त हुआ । बाम्बे क्रानिकल के अनुसार इसमें नये अध्यक्ष और जनरल

सेकेटरी को बधाई दी गई थी तथा 'श्री जोशी और दीवान चमनलाल एण्ड कम्पनी द्वारा उठाये गये कदम को, जो कि मजदूरों में मतभेद कराकर रायल कमीशन की सदस्यता के मूल्य के रूप में पृथक फेडरेशन को समारम्भ करने के रूप में उठाया गया था' सख्ती से ठुकराया गया था।

मेरठ की गिरफ्तारियों से लेकर अवैधीकरण तक (1929 से 1934)

20 मार्च 1929 को मेरठ केस के लिए गिरफ्तारियां हुई। अभियोग चलाने के लिए मेरठ को इसलिए चुना गया क्योंकि कम्युनिस्ट गतिविधियों के दो प्रमुख केन्द्रों बम्बई और कलकत्ता से भिन्न रूप में यहां इसके लिए जूरी की आवश्यकता नहीं होगी।

सम्पूर्ण भारत से 31 व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया था। बाद में एक और को गिरफ्तार किया गया। इन गिरफ्तार हुये लोगों में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन के एक उपाध्यक्ष, एक भूतपूर्व अध्यक्ष और दो सचिव; बम्बई और बंगाल की प्रान्तीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के सचिवों; गिरणी कामगार यूनियन के सभी पदाधिकारियों तथा जी० आई० पी० रेलवेमेन्स यूनियन के अधिकांश पदाधिकारियों; बम्बई, बंगाल तथा उत्तर प्रदेश की मजदूर किसान पार्टियों के सचिवों व अन्य पदाधिकारियों; अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के तीन सदस्यों; कानपुर षडयन्त्र केस के चार अभियुक्तों में से तीन पेशावर बॉल्शेविक षडयंत्र केस के एक अभियुक्त तथा तीन अंग्रेज अभियुक्तों को गिरफ्तार किया गया। गांधी के अनुसार यह अंग्रेजों द्वारा भय उत्पन्न करने का प्रयास था।

एक ओर अपने इस प्रयास में साम्राज्यवादियों को नितान्त असफल होना पड़ा और दूसरी ओर मेरठ केस के अभियुक्तों को तथा उन सभी लक्ष्यों और आदर्शों को जिनके लिए उन्होंने संघर्ष किया, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठा मिली। विशेष रूप से मुकदमें लम्बे अर्से तक चलते रहने के कारण राष्ट्रवादी समाचारपत्रों ने मुकदमें की कार्यवाहियों को विस्तार से प्रकाशित किया जिनमें अभियुक्तों के बयान भी शामिल थे। अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर भी इस केस का व्यापक रूप से प्रचार हुआ। विशेषकर श्रमिकों और वामपंथी अखबारों में मेरठ प्रतिरक्षा समिति की केन्द्रीय रूप से स्थापना की गई, जिसमें पं० मोती लाल नेहरू, जवाहर लाल नेहरू तथा डा० अंसारी जैसे प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता शामिल थे। ऐसी ही अन्य समितियों की बम्बई, कलकत्ता तथा अन्य स्थानों में यहां तक कि ब्रिटेन में भी स्थापना हुई और समितियों ने अभियुक्तों के बचाव के लिए धनराशि भी एकत्रित की। मेरठ

केस के अभियुक्तों की सुरक्षा हेतु कांग्रेस-साम्यवादी एकजुटता, सार्वजनिक सुरक्षा विधेयक तथा 1928 के ट्रेड डिस्प्यूटर्स एक्ट में प्रतिक्रियावादी संशोधन का विरोध आदि द्वारा प्रेरित संघर्ष के लिए पारस्परिक सहयोग आवश्यक था। राष्ट्रीय क्रान्तिकारियों ने भी इस प्रश्न पर अपना दृष्टिकोण सुस्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर दिया था। सरदार भगत सिंह तथा बटुकेश्वर दत्त ने उसी केन्द्रीय विधानसभा में बम फेंका था, जिसमें कम्युनिस्ट विरोधी और मजदूर वर्ग विरोधी कानूनी व्यस्थाओं पर विचार हो रहा था।

इसी मध्य, कांग्रेसी नेताओं की अस्थिरता एवं समझौते (लाहौर कांग्रेस के ठीक पहली नवम्बर 1929 का मैनीफेस्टो और अधिवेशन के तत्काल बाद गांधी जी का 11 सूत्री कार्यक्रम) के प्रयासों के उपरान्त भी राष्ट्रीय आंदोलन वेग पकड़ रहा था। 31 दिसम्बर 1929 को लाहौर में, कलकत्ता में दिये गये एक वर्ष के अल्टीमेटम के बीत जाने के बाद, स्वतन्त्रता प्रस्ताव स्वीकार किया गया। तदुपरान्त मार्च 1930 में गाँधीजी के नेतृत्व में सुप्रसिद्ध डांडी मार्च हुआ तथा गांधी जी ने नमक कानून तोड़ने का आह्वान किया। एक ओर तो इसका अभूतपूर्व लोकप्रिय स्वागत हुआ और दूसरी ओर सरकार ने दमनात्मक रूप अपनाया। इस प्रकार 1930-31 के मध्य गिरफ्तारियों की संख्या 90,000 तक पहुंच गई।

संघर्ष के इस प्रसार ने सरकार को जो कि उसका सामना करने को इस सीमा तक तैयारी नहीं थी, चिन्ताग्रस्त कर दिया। इसके अतिरिक्त आन्दोलन का स्वरूप क्रान्तिकारी होता जा रहा था। उदाहरणस्वरूप 18 अप्रैल 1930 को 'चटगाँव विद्रोह' 25 अप्रैल 1930 को 'पेशावर विद्रोह' तथा 5 मई 1930 को 'शोलापुर विद्रोह' हुआ। अधिकांश कांग्रेसी नेताओं को भी विद्रोह की ये घटनायें अप्रिय लगीं। इसीलिए दोनों पक्षों की ओर से समझौता वार्ता हेतु प्रयास होने लगे। 26 जनवरी 1931 को गांधी जी और कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्यों को जेल से रिहा कर दिया गया ओर वार्ताओं का शुभारम्भ हुआ जिसका नतीजा गांधी इर्विन समझौता था। भारत के भविष्य के प्रति अस्पष्टता, जेलों से आम रिहाई के आश्वासन रहित होने (भगतसिंह और अनेक साथियों जैसे क्रान्तिकारी हिंसा के अभियोग में और ठाकुर चन्द्र सिंह व अनेक गढ़वाली सैनिक साथी सैनिक अनुशासन भंग करने के अभि-योग में जेलों में बन्द थे) तथा नौजवान सभा एवं खुदाई खिदमतगार जैसे संगठनों पर से प्रतिबन्ध हटाये जाने के आश्वासनाभाव ने कांग्रेस के युवा वर्ग एवं कुछ प्रमुख नेताओं को भी गांधी-इर्विन समझौते के प्रति निराश कर

दिया। सुभाषचन्द्र बोस और विट्ठल भाई पटेल ने इसकी सार्विक रूप से निन्दा की।

इस राजनीतिक पृष्ठभूमि में अप्रैल 1931 में करांची में कांग्रेस अधिवेशन हुआ। अधिवेशन के पूर्व भगतसिंह, राजगुरू तथा सुखदेव को मृत्यु दंड दिये जाने के कारण परिस्थिति और भी उग्र हो चुकी थी। इतना सब होने के उपरांत भी गाँधी जी ने अपना मार्ग बना ही लिया और अधिवेशन में आये प्रतिनिधियों से गाँधी-इर्विन समझौते का समर्थन करा लिया। इसलिये कांग्रेस ने लन्दन में होने वाले 'गोलमेज सम्मेलन' में भाग लेने का निश्चय किया और वामपंथियों को, मूलभूत अधिकारों विषयक चार्टर के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पारित करके उनका मन बहलाने का प्रयास किया गया। अगस्त 1933 में मेरठ के अधिकांश बन्दियों को रिहा कर दिया गया। दिसम्बर 1933 में एक अस्थायी केन्द्रीय समिति का निर्माण किया गया जिसने एक राजनीतिक थीसिस को स्वीकार किया। यह थीसिस राजनैतिक कार्यक्रम पर आधारित थी। इस बात पर भी गौर किया जाना चाहिये कि चीन, ग्रेट ब्रिटेन एवं जर्मनी द्वारा भेजे गये पत्रों में सुझाव दिया गया था कि कार्यक्रम के आधार पर गलतियों में सुधार किया जाय।

इसी मध्य इंगलैण्ड में आयोजित 'गोलमेज सम्मेलन' में भाग लेकर कांग्रेस ने गाँधी-इर्विन समझौते की स्वीकृति के अनुसार कार्य करना प्रारम्भ किया। जब तक गोलमेज वार्ता ने असफलता का स्वरूप ग्रहण किया, सरकार एक बार पुनः जनता की चुनौती का सामना करने के लिए कटिबद्ध हो चुकी थी। 4 जनवरी 1932 को कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया जिसके बाद कांग्रेस सदस्यों की आम गिरफ्तारियां शुरू हो गयीं। इस बार गिरफ्तारियों की संख्या 1930-31 से ज्यादा थी। इस प्रकार 2 मई 1930 तक जहाँ 80,000 लोग गिरफ्तार किये गये थे, मार्च 1933 तक यह संख्या 1,20,000 तक पहुंच गयी। अप्रैल 1933 में कलकत्ता में कांग्रेस के गैर कानूनी अधिवेशन के आयोजन के प्रयास के बाद भी बड़े पैमाने में गिरफ्तारियां हुई। रजनी पामदत्त के अनुसार 'यह रणनीतिक नेतृत्व से विहीन सैनिकों का युद्ध था।' आन्दोलन का दमन कर मई 1934 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को केवल इस शर्त पर अधिवेशन करने की अनुमति दी गई कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन को बिना शर्त वापस ले लिया जाय। तदोपरान्त जून 1934 में कांग्रेस पर से प्रतिबन्ध हटाया गया।

अगस्त 1933 में कम्युनिस्ट नेता जब मेरठ जेल से बाहर निकले और बाद में दिसम्बर महीने में उन लोगों ने जब स्वयं अपनी अस्थायी

केन्द्रीय समिति का निर्माण किया तो उन्हें एक ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ा जो कुछ भिन्न प्रकार की थी। 1929-31 के मध्य निरन्तर बढ़ती रहने के बाद हड़तालों की संख्या 1932 में जो थोड़ी कम हो गयी थी वह 1933 में पुन: बढ़ने लगी। इस प्रकार की स्थिति सरकार के लिये साम्यवादी संकट की द्योतक थी। अत: अनेक कम्युनिस्टों को पुन: गिरफ्तार कर लिया गया और उन्हें हिरासत में रखा गया तथा जुलाई 1934 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को अवैध घोषित कर दिया गया।

तत्पश्चात् पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध ट्रेड यूनियनों की एकता का अनुभव किया गया और 19-21 अप्रैल 1935 के अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस और अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का विलयन हो गया और नेशनल फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियन के नेताओं से अपील की गयी कि वे भी संयुक्त अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में सम्मलित हो जायें। उन्हें आश्वासन दिया गया कि उनकी सभी शर्तों को पूर्ण किया जायेगा यदि वे दो मूल सिद्धान्तों अर्थात ट्रेड यूनियन आन्दोलन के आधार के रूप में वर्ग संघर्ष को स्वीकृति और ट्रेड यूनियन जनवाद की मान्यता पर सहमत हो जायें। नेशनल फेडरेशन ऑफ ट्रेड यूनियन के नेता चूंकि अ० भा० ट्रेड यूनियन कांग्रेस से तत्कालिक संगठनात्मक विलय के विरोध में थे, इसलिये 1936 में स्थापित दोनों संगठनों के संयुक्त बोर्ड के माध्यम से कुछ समय तक वार्ता चलती रही।

इस मध्य पूंजीवाद के सार्विक संकट के कारण और फासिस्ट आक्रमण के आभास की वास्तविकता ने अगस्त 1935 में कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल के अपने सातवें अधिवेशन के आयोजन के लिये बाध्य किया। अधिवेशन में आह्वान किया कि सभी पूंजीवादी देशों में, सर्वहारा संयुक्त मोंचे के आधार पर व्यापक लोकप्रिय फासिस्ट-विरोधी मोर्चे तथा सभी उपनिवेशवादी और अर्द्ध-उपनिवेशवादी देशों में साम्राज्यवाद विरोधी संयुक्त मोंचे का निर्माण किया जाय। इस के अतिरिक्त राष्ट्रीय मंच पर भी इस समय पुनरुत्थान के चिह्न प्रकट होने लगे थे। भारतीय जनता के दमन हेतु साम्राज्यवाद ने यथाशक्ति असफलतापूर्ण प्रयास किये। फलत: दमनकारी नीतियों के उपरान्त भी दो ही वर्षो के भीतर राष्ट्रीय आन्दोलन पुन: पूर्वाधिक शक्तिशाली होकर आगे बढ़ने लगा। यही वह समय था जब नेहरू अपने "भारत किधर" ? शीर्षक लेखमाला के माध्यम से समाजवाद को लोकप्रिय बना रहे थे। और युवा वामपंथी राष्ट्रवादी तत्वों का एक समुदाय आंशिक रूप से मार्क्सवादी

विचारधारा के प्रभाव में आ रहा था और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के रूप में अपने को एक जुट कर रहा था। भविष्यगामी समस्यायों पर विचार विमर्श करने के लिये अप्रैल 1936 में लखनऊ में कांग्रेस पार्टी का अधिवेशन होने वाला था।

इन्ही परिस्थितियों में 'दत्त-ब्रैडले थीसिस' ने एक ओर राष्ट्रीय आन्दोलन में साम्यवादी सहयोग को दिशा दी और दूसरी ओर 1936 में आयोजित कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में फासिस्ट आक्रमण तथा युद्ध के विरुद्ध फासिस्ट विरोधी जन मोर्चे के निर्माण और तुष्टीकरण की साम्राज्यवादी नीति को पराजित करने के पश्चात् तथा साथ ही ट्रेड यूनियनों और किसान संगठनों को असामूहिक रूप से सम्बद्ध करके कांग्रेस को एक शक्तिशाली साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे में परिवर्तित करने के विचारों को नेहरू के अध्यक्षीय भाषण में शक्तिशाली अनुक्रिया मिली। गुलामी लादने वाले संविधान के विरुद्ध संप्रभुतापूर्ण संविधान सभा का नारा भी इस अधिवेशन में घोषित किया गया।

लखनऊ में साम्यवादियों ने अन्य समाजवादियों तथा प्रगतिशीलों के साथ मिल कर अखिल भारतीय किसान सभा, अखिल भारतीय विद्यार्थी फेडरेशन तथा प्रगतिशील लेखक संघ का गठन किया। जुलाई 1936 में प्रथम बार अखिल भारतीय स्टेट्स पीपुलस कान्फ्रेन्स का भी शुभारम्भ किया गया।

नये संविधान के अन्तंगत प्रान्तीय चुनावों का समय क्योंकि निकट आ रहा था, इसलिये नयी परिस्थिति का सामना करने के लिये दिसम्बर 1936 में पुन: कांग्रेस के अधिवेशन का आयोजन किया गया। फैजपुर अधिवेशन में जब चुनाव का समय आया तो साम्यवादियों ने यह मांग करते हुए एक संशोधन प्रस्तुत किया कि संविधान सभा प्राप्ति के संघर्ष के लिये तैयारियां की जायें और ऐसा प्रस्ताव प्रेषित किया कि चुनावों में बहुमत प्राप्त कर लेने पर कांग्रेस सत्तारूढ़ न हो सके। इन प्रस्तावों और साथ ही ट्रेड यूनियनों तथा किसान संगठनों के कांग्रेस के साथ सामूहिक सम्बद्धता के प्रस्ताव को अधिवेशन ने अस्वीकार कर दिया, यद्यपि अन्तिम प्रस्ताव को स्वयं अध्यक्ष नेहरू का समर्थन प्राप्त था।

चुनावों के उपरान्त जुलाई 1937 में कांग्रेस नेतृत्व ने राज्यपालों (गर्वनरों) से इस आशय का आश्वासन प्राप्त करके कि वे मंत्रिमण्डलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेंगे, नौ प्रान्तों में सरकार बनाने का निर्णय ले लिया। इस पर कम्युनिस्ट पार्टी ने निर्णय लिया कि वह प्रान्तीय सरकारों के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण नहीं अपनायेगी परन्तु प्रान्तीय सरकारों द्वारा

जनता की मांगों को स्वीकार करने तथा जनतांत्रिक स्वतंत्रताओं का विस्तार करने के लिये जन आन्दोलन का निर्माण करेगी।

प्रान्तीय कांग्रेस सरकारों के शासन काल में (अर्थात 1937 से अक्टूबर 1939 तक) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी प्राय: अर्ध कानूनी रूप में कार्य करती रही और अनेक राजनीतिक बन्दियों को रिहा कर दिया गया। जनवरी 1938 से भारतीय साम्यवादी दल के मुख्य पत्र के रूप में "नेशनल फ्रन्ट" (अंग्रेजी भाषा में) तथा "क्रान्ति" (मराठी भाषा) का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। हड़तालों की संख्या में भी निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी। 1937 में इनकी संख्या 379 हो गयी थी और इन में 6 लाख से अधिक श्रमिकों ने भाग लिया था जो 1921 के पश्चात सर्वाधिक संख्या थी।

लगभग इसी अवधि में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की एक थीसिस "साम्यवाद और कांग्रेस" प्रकाशित हुई। यह थीसिस भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में भारतीय कम्युनिस्टों की भूमिका से सम्बन्धित थी। यह थीसिस इसलिये भी आवश्यक थी कि इसने साम्यवादी और कांग्रेसी कार्यों का मूल रूप से स्पष्टीकरण किया।

अक्टूबर 1938 में नागपुर में नेशनल फेडरेशन ऑफ ट्रेड यूनियन अंतत: ट्रेड यूनियन कांग्रेस में विलयित हो गयी। शासन निकाय में दोनों संगठनों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त था। विलयन के लिए कम्युनिस्टों को भी नेशनल फेडरेशन ऑफ ट्रेड यूनियन्स की दो माँगों को स्वीकार करना पड़ा अर्थात (1) समस्त राजनीतिक तथा अखिल भारतीय हड़ताल विषयक प्रश्न तथा (2) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बद्धता सम्बन्धी प्रश्न तीन चौथाई बहुमत द्वारा निर्णीत किये जायेगें।

नवम्बर 1938 में, बम्बई की प्रान्तीय सरकार द्वारा प्रस्तुत ट्रेड डिस्प्यूटर्स विधेयक के विरुद्ध साम्यवादियों ने विरोध हड़ताल का आह्वान किया। लगभग 90,000 मजदूरों ने उस आह्वान पर हड़ताल की। ट्रेड यूनियन एकता की स्थापना से यूनियनें सशक्त हुई क्योंकि इससे परस्पर विरोधी ट्रेड यूनियनें एक साथ हो गयी और ट्रेड यूनियन एकता की स्थापना से तथा इस क्षेत्र में नि:स्वार्थ कार्य के कारण श्रमिक वर्ग पर कम्युनिस्ट प्रभाव बढ़ गया।

साम्राज्यवादी युद्ध (1939-1941)

दक्षिणपंथी नेताओं की बढ़ती हुई समझौतावादी प्रवृत्ति से चिन्तित होकर तथा संघीय योजना का प्रभाव पूर्ण रूप विरोध करने के लिये कांग्रेस,

सोसलिस्ट पार्टी, साम्यवादियों तथा वामपंथी कांग्रेसी सदस्यों ने कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में पुर्ननिर्वाचित किये जाने के लिए सुभाष चन्द्र बोस को चुनाव में खड़ा किया। दक्षिण पंथियों के तीव्र विरोध के उपरान्त भी 19 जनवरी 1939 को सुभाष चन्द्र बोस पुन: निर्वाचित हुये।

बोस का पुर्ननिर्वाचन यद्यपि वामपंथ की प्रगति का एक ऊँचा माप-बिन्दु था फिर भी इसे एक सुनिश्चित राजनीतिक विजय के रूप में अथवा वामपंथ के बहुमत के संकेत के रूप में नहीं माना जा सकता था। कांग्रेस के त्रिपुरी अधिवेशन से, जो कि 10 मार्च 1939 को प्रारम्भ हुआ था, और तत्पश्चात की घटनाओं से उपरोक्त तथ्य स्पष्ट रूप से प्रकट हो गया। गाँधी जी के नेतृत्व में विश्वास प्रकट करते हुए और अध्यक्ष से यह अपेक्षा करते हुए कि वह गांधी जी से परामर्श लेकर कार्यकारिणी का नामांकन करें, एक प्रस्ताव गोविन्द वल्लभ पंत ने (सबजेक्ट्स कमेटी में 135 के विरुद्ध 218 मतों से स्वीकृत) प्रस्तुत किया और वह पारित हो गया। कम्युनिस्टों और कुछ वामपंथी कांग्रेसी सदस्यों ने उस प्रस्ताव का विरोध किया और समाजवादी लोग तटस्थ रहे। लेकिन जब बोस ने गांधीजी से परामर्श करना चाहा तो उन्होंने इंकार कर दिया। गांधीजी के साथ एक दीर्घकालीन वार्ता के उपरांत भी गतिरोध जब बना रहा तो अप्रैल 1939 को कलकत्ता में हुई अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में सुभाषचन्द्र बोस को विवश होकर त्याग-पत्र देना और राजेन्द्र प्रसाद को नया अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। कांग्रेस के भीतर के मूलगामी और साम्राज्यवाद विरोधी तत्वों को संघर्षबद्ध करने के लिए बोस ने 'फारवर्ड ब्लाक' का संगठन करना प्रारम्भ कर दिया।

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने भी जून 1839 को बम्बई में अपना अधिवेशन किया और अनेक प्रस्ताव पारित किये। इन प्रस्तावों द्वारा कांग्रेस की संविधान परिधि को सशक्त किया गया ताकि मूलगामी तत्वों की घुसपैठ को रोका जा सके। प्रान्तीय कांग्रेस सरकारों के प्रति प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अधिकारों को सीमिति कर दिया गया। कांग्रेस के सदस्यों पर बिना नेतृत्व के आदेश के किसी भी प्रकार का राजनैतिक अस्त्रोपयोग वर्जित कर दिया गया, यहाँ तक कि सत्याग्रह करने, पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

इन प्रस्तावों को बहुत ही कड़े संयुक्त वामपंथी विरोध के उपरान्त पारित किया गया था। इस दक्षिणपंथी आक्रमण का प्रतिकार करने के लिए और वामपंथ की गतिविधियों में समन्वय लाने के लिये तत्काल ही एक वाम-पंथी संगठित समिति का गठन किया गया। उसमें कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट,

फारवर्ड ब्लाक, लीग आफ रोडिकल कांग्रेस मैन तथा किसान सभा सम्मिलित हुए। वामपन्थियों द्वारा प्रारम्भ किये गये संघर्षो पर प्रतिबन्ध लगाने वाले कांग्रेस कमेटी के प्रस्ताव के विरुद्ध 9 जुलाई 1939 को वामपंथी संगठित समिति ने सार्वजनिक प्रदर्शन करने का निर्णय लिया। ऐसा करने के कारण सुभाषचन्द्र बोस को बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष पद से हटा दिया गया और तीन वर्ष तक किसी भी पद पर चुने जाने से उन्हें वंचित कर दिया।

1 सितम्बर 1939 को हिटलर ने पौलेण्ड पर आक्रमण किया और ब्रिटेन तथा फ्रांस ने तत्काल ही जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। 3 सितम्बर 1939 को भारतीय जनता के किसी भी प्रतिनिधि से परामर्श लिए बिना वायसराय ने भारत को एक युद्धरत राष्ट्र घोषित कर दिया। केवल 11 मिनट के समय के भीतर ही 'भारत सरकार संशोधन अधिनियम' को शीघ्रातिशीघ्र ब्रिटिश संसद में पास करा लिया गया। इसके द्वारा वायसराय के प्रान्तीय स्वायत्तता सम्बन्धी अधिकारों को असंवैधानिक रूप प्रदत्त कर संविधान को भी अधीनस्थ कर दिया गया।

जिस समय ये सभी गतिविधियाँ चल रही थी कम्युनिस्टों के प्रभाव से बम्बई के मजदूर वर्ग ने 2 अक्टूबर को युद्ध विरोधी हड़ताल के द्वारा युद्ध के प्रति स्पष्ट दृष्टिकोण को प्रकट किया। युद्ध विरोधी हड़ताल में 90,000 श्रमिकों ने भाग लिया। यह द्वितीय विश्व-युद्ध के मध्य स्वयं में प्रथम हड़ताल थी।

इसके उपरान्त 4 मार्च 1940 को बम्बई के 1,75,000 कपड़ा मिल मजदूरों ने मंहगाई विरोधी हड़ताल की। यह हड़ताल सभी नेताओं की गिरफ्तारी और श्रमिकों को आतंकित किये जाने के उपरान्त भी 40 दिनों तक चली। साथ ही ट्रेड यूनियन कांग्रेस के आह्वान पर 10 मार्च 1940 को एक दिन की हड़ताल हुई जिसमें जन क्षेत्रों के समस्त भागों के 3,50,000 श्रमिकों ने हिस्सा लिया।

बम्बई हड़ताल के बाद सम्पूर्ण देश में हड़तालों की एक लहर सी आ गई ऐसी हड़तालों में कानपुर के 20,000 कपड़ा मिल मजदूरों की हड़ताल, कलकत्ता के म्युनिसिपल श्रमिकों की हड़ताल धनबाद और झरिया के कोयला खान मजदूरों की हड़ताल और जमशेदपुर के लोहा और इस्पात कारखाने के मजदूरों की हड़ताल शामिल थी।

यह एक तथ्यजनित बात है कि इस सम्पूर्ण काल में विद्यार्थी आन्दोलन

ने प्रमुख साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों का सूत्रपात किया। इस अवधि में अखिल भारतीय छात्र फ़ेडरेशन विद्यार्थियों का सर्वाधिक शक्तिशाली और नेतृत्वकारी संगठन बन गया। इसने अपने प्रभाव के अन्तंगत मौलिक विचारों के साम्राज्यवाद विरोधी विद्यार्थियों के विस्तृत समुदाय को एकबद्ध किया।

ऐसी परिस्थिति में मार्च 1940 में रामगढ़ में कांग्रेस अधिवेशन हुआ। इस मध्य सुभाष बोस कांग्रेस छोड़ चुके थे। कांग्रेस नेता एक प्रकार का गतिरोध बनाये हुए थे। बोस ने रामगढ़ में समझौता विरोधी सम्मेलन बुलाया। कम्युनिस्टों ने इसमें भाग न लेने का निर्णय किया। ऐसा इसलिये था कि कम्युनिस्ट बढ़ती हुई कीमत तथा अन्य छोटी माँगों तथा विशेष रूप से बंगाल में नागरिक अधिकार के लिए जहाँ पर भारी दमनात्मक कार्यवाहियाँ की गई थी, देश भर में आंशिक हड़तालों के द्वारा गतिरोध को तोड़ना चाहते थे। उनका विचार था कि देश में ऐसी आंशिक हड़तालों से गतिरोध टूट जायेगा और वे कांग्रेसी नेतृत्व को राष्ट्रव्यापी संग्राम के लिए विवश कर सकेगें। साम्यवादी इस तथ्य को समझते थे कि केवल कांग्रेस पार्टी ही राष्ट्रव्यापी स्तर पर इस प्रकार का संघर्ष छेड़ सकती है। स्वयं अपने बल पर न तो फारवर्ड ब्लाक न कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और न ही कोई अन्य वामपंथी पार्टी इस प्रकार का संघर्ष करने में समर्थ थी।

जून 1941 में सोवियत संघ पर नाजी जर्मनी के आक्रमण के साथ युद्ध में एक नया मोड़ आया। तीन फासिस्ट शक्तियों के विरुद्ध विश्व स्तर पर एक फासिस्ट विरोधी साहचर्य कायम हुआ। कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल द्वारा लोक युद्ध का नारा दिया गया।

दिसम्बर 1941 में ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने कांग्रेसी नेताओं को जेलों से रिहा कर दिया। तत्पश्चात मार्च 1942 में क्रिप्स मिशन भारत आया। कांग्रेस नेतृत्व ने युद्ध के फासिस्ट विरोधी प्रगतिशील चरित्र को मान्यता दी और जनवरी 1942 में आ० भा० कांग्रेस कमेटी ने सोवियत संघ, चीन तथा अन्य दूसरे राष्ट्रों के साथ अपनी एकजुटता घोषित कर युद्ध के लिए सशर्त समर्थन का एलान किया और राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के लिए राष्ट्रीय सरकार, की मांग उठायी। ब्रिटिश सरकार की हठधर्मिता के कारण क्रिप्स कमीशन असफल रहा।

फरवरी 1942 में पालित ब्यूरों ने अपने एक प्रस्ताव में कहा, 'लोक युद्ध में भारतीय जनता से लोक भूमिका अदा करावाओं' जुलाई 1942 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से प्रतिबन्ध उठा लिया गया और जेलों से नेताओं की रिहाई प्रारम्भ हो गयी। मुख्य नारे थे: 'राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के लिए,

राष्ट्रीय सरकार, राष्ट्रीय सरकार के लिए राष्ट्रीय एकता। सितम्बर 1942 में केन्द्रीय समिति के विस्तारित प्लेनम में और बाद में फरवरी 1943 में केन्द्रीय समिति के द्वितीय प्लेनम में पार्टी की प्रथम कांग्रेस की मांग की गयी जो बाद में 23 मई से 1 जून 1943 तक बम्बई में हुई। उस समय पार्टी की सदस्य संख्या 15,563 थी।

इस अवधि में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने राष्ट्रव्यापी स्तर पर संगठन स्थापित कर नियमित रूप से कार्य करना प्रारम्भ किया और अंग्रेजी भाषा तथा अन्य भारतीय भाषाओं में पत्र पत्रिकाओं तथा पुस्तकों का प्रकाशन आरम्भ किया। संगठन ने इन्डियन पीपुल्स थियेटर एसोसियेशन्स (इप्टा) की स्थापना में नेतृत्वकारी भूमिका अदा की। यह सांस्कृतिक नव-जागरण का लगभग केन्द्र सा बन गया। 1943 के अकाल से पीड़ित जनों के लिए भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने विशाल राहत अभियान चलाये और अनेक क्षेत्रों में रचनात्मक कार्यों द्वारा जनता के साथ घनिष्ठ सम्बन्धों का विकास किया। इसके अतिरिक्त संगठन ने संघर्ष विरोधी एवं हड़ताल विरोधी नीति अपनायी। जन संघर्ष से बचने की नीति इस आधार पर अपनायी गयी कि इनके कारण युद्ध प्रयासों को क्षति पहुंचेगी और फासिस्टवादी तत्वों को भीतरघात करने का सुअवसर प्राप्त होगा।

इसी आधार पर भारत छोड़ो आन्दोलन का विरोध किया गया। फारवर्ड ब्लाक तथा सोशलिस्टों ने कम्युनिस्टों को ब्रिटिश एजेन्ट कह कर बदनाम किया और तब प्रतिशोधात्मक उत्तर के रूप में पाँचवां दस्ता (फिफ्थ कॉलम) और फासिस्ट एजेन्ट कह कर उनकी भर्त्सना की गई।

इस नीति के फलस्वरूप पार्थक्यता (अलगाव) आयी और पार्टी की स्थिति क्षीण हुई तथा कुछ क्षेत्रों में तो जन आधार तक विभाजित हो गये।

अब पाकिस्तान के लिये मुस्लिम लीग की दवावपूर्ण मांग सामने आयी और इस मांग का समर्थन एक जन समुदाय करने लगा तो साम्यवादी दल ने राष्ट्रीय गठन के एक उपाय के रूप में धर्म को स्वीकार कर के दक्षिण पंथी अवसरवादी गलती की (विशेष रूप से मुसलमानों और सिक्खों के मामले में) और उत्पीड़ित मुस्लिम जातियों की गलत थीसिस प्रस्तुत की। इस प्रकार दल ने मुस्लिम लीग का अनुसरण कर लीग के पृथकतावादी नारे का खंडन करने में नितांत असफलता का प्रदर्शन किया। पार्टी ने आत्म-निर्णय के अधिकार बॉल्शेविक नारे का यांत्रिक रूप से प्रयोग किया था और उसे भारत की भिन्न परिस्थिति में लागू किया गया जो ब्रिटिश

साम्राज्यवादियों द्वारा उत्पीड़ित था और उनके विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष छेड़े हुए था। इस प्रकार आत्म निर्णय के अधिकार को पृथकता एवं विभाजनाधिकार के रूप में स्वीकार किया गया था। आत्म निर्णय के अधिकार के नारे के प्रति इस प्रकार के रूढ़िवादी दृष्टिकोण, भारतीय परिस्थतियों की गम्भीरता को समझने में असफलता तथा इस सन्दर्भ में विभाजन के नारे का अंधानुसरण जैसी गलतियों में कई वर्षों के पश्चात् ही सुधार किया जा सका।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तिम चरण में हड़तालों में तीव्रता आ गई। इसका मुख्य कारण फासिस्ट विरोधी शक्तियों की विजय द्वारा राष्ट्रीय जन चेतन था। भारी संखया में रेलवे में हड़ताल हुई, 15 सितम्बर 1946 को गोल्डेन रॉक में हड़ताल हुई तथा सितम्बर 1946 में नार्थ-वेस्टर्न रेलवे और डाकियों की हड़ताल हुई।

अनेक स्थानों पर, मजदूरों की हड़ताल में कर्मचारियों और विद्यार्थियों ने भाग लिया। आर्थिक हड़तालें राजनीतिक हड़तालों में विकसित हुई, कभी कभी जनता ने सशस्त्र संघर्ष किये, तथा पुलिस के साथ मुठभेड़ें हुईं।

इसके साथ ही किसान आन्दोलन भी प्रबल हुआ और तत्पश्चात् देश के अनेक भागों में सामन्तवादी शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध, लगान और सामन्तवादी करों को कम करने के लिये तथा ऋणमोचन आदि के प्रति शक्तिशाली आन्दोलन का विकास हुआ। बंगाल के सुप्रसिद्ध तेभागा आन्दोलन, तेलंगाना का सशस्त्र विद्रोह, मॉन्टगोमरी (पश्चिमी पंजाब) का संघर्ष और पटियाला राज्य एवं उन्नाव आदि में ऐसे ही संघर्ष हुए। उत्तर प्रदेश तथा बिहार में भी कृषि आन्दोलन हुये।

सामन्तवाद-विरोधी व्यापक किसान आन्दोलन के साथ ही साथ देशी राजवाड़ों में लोकप्रिय आन्दोलन तीव्रता से विकसित हुए। "काश्मीर छोड़ो" आन्दोलन चला तथा अन्य राज्यों में संघर्ष हुये। इन आन्दोलनों के गौरवपूर्ण प्रकाश स्तम्भ थे—तेलंगाना का सशस्त्र विद्रोह और ऐतिहासिक पुन्नप्रा-वायलार (त्रावणकोर राज्य) में कृषिकों एवं श्रमिकों का संघर्ष। दोनों का ही नेतृत्व भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने किया।

निस्सन्देह भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने जन आन्दोलनों में सक्रिय भाग लिया तथा प्रारम्भिक संकोच के पश्चात साम्यवादी दल ने आजाद हिन्द

फौज के मसले पर हुए प्रदर्शनों में भी भाग लिया। रायल इन्डियन नेवी के विद्रोह साथ ही मजदूर वर्ग को संयुक्त कार्यवाही में सम्मिलित किया। भारतीय साम्यवादी दल ने श्रमिकों एवं कृषकों के अधिकांश आन्दोलन व संघर्षों का नेतृत्व किया। इस दल ने भारत छोड़ो, सम्पूर्ण जनसत्ता दो, रजवाड़ों द्वारा शोषण समाप्त करो तथा व्यस्क मताधिकार आदि नारों के साथ जन संघर्ष में सक्रिय योगदान दिया।

ग्रन्थ निर्देश संदर्भिका **REFERENCES**

श्रमिक नव चेतना

1. Marx, K and Angels, F : Selected Works Vol. I Moscow, 1969.
2. Masani, M. R : The History of Communist Party of India.
3. Guha, Laxmi : The Growth of Socialism in India, 1920-51.
4. Overstreet, G. D. and Windmiller, M : Communism in India.
5. Ahmad, Muzzafar : The Communist Party of India.
6. Dutt, R. P : India To-Day.
7. Rai, Lala Lajpat : Diary (National Archives).
8. Home Department : Politieal File No. 379/1, 1924. No. 190/28, 1928.
9. Chaman Lal, Dewan : Coolie : The Story of Labour & Capital in India, Part I.
10. Mukhtar, Ahmad : Trade Unionism & Labour Disputes in India.

11.	Indian Annual Register	:	1927, Vol. I, 1936, Vol. II.
12.	Bakhle, R. R	:	Directory of Trade Unions.
13.	Krantikari	:	No. I, Nov. 17, 1928.
14.	Home Department	:	Political File 18/XVs, 1928, K. W.
15.	Bombay Chronicle	:	Dec. 2, 1929.
16.	Tendulkar, D. G.	:	Mahatma, Vol. II.
17.	Ranga	:	Modern Indian Peasents. Kissan and Congress.
18.	National Front	:	March, 1938.
19.	Bose, S. C	:	Crossroads, Why Forward Block ?
20.	Raj Kumar, N. V	:	Development of the Congress Constitution.
21.	Peoples War	:	Sep. 7, 1942.
22.	Adhikari, Gangadhar	:	Documents of the History of the Communist Party of India, Part I.
23.	Report of Indian Factory Labour Commission	:	London, 1908, Part I.
24.	Nanda, Gulzari Lal	:	Labour Unrest in India, Indian Economic Journal, Sec. 3, Part IV, No. 13, 1922.

25. **New Age** : **June 6, 1953.**

26. **Buchanan, D, H,** : **The Development of Capitalist Entereprise in India,**

अध्याय 27

ब्रिटिश पटाक्षेप

निर्णायक चरण

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारतीय पुनर्जागरण के अध्याय ने भारत को पुर्नजीवित संजीवनी प्रदत्त की । राजा राममोहनराय ने 1823 में प्रथम संवैधानिक आन्दोलन का शिलान्यास कर देशवासियों को नवीन दिशा प्रदान की । तत्पश्चात धार्मिक आचार्यों के द्वारा संरक्षित स्वदेश भावना की अग्नि में परिपक्व हो कर 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का स्वरूप राजनैतिक मंच पर अवतरति हुआ । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म भारत की राजनैतिक सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं का मूल हृदय स्थल बन गया। यद्यपि कांग्रेस के जन्म और उसकी कार्यपद्धति के सम्बन्ध में समर्थन व आलोचना पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध रही है किन्तु यथार्थ को मान्यता देना इतिहासकार का कर्तव्य है ।

कांग्रेस के उदय के पश्चात देश में राजनैतिक चेतना और स्वदेशीय स्वध्याय का सूत्रपात हुआ । एक ओर राजनीति में अपेक्षित मतभेद तथा ब्रिटिश सरकार की प्रशासनिक कूटनीतियों और दूसरी ओर क्रांन्तिकारियों की ललकार तथा महात्मा गांधी के अहिंसावाद के माध्यम से देश 1947 के विभाजन तक की यात्रा तय कर पाया ।

भारत विभाजन भी एक ऐसा विषय है जिसका विश्लेष्णात्मक अध्ययन करने हेतु प्रथम यह समझना आवश्यक है कि हिन्दू-मुस्लिम राजनैतिक पृथ्काव कहां से और क्यों प्रारम्भ हुआ । पाकिस्तान की मांग कोई सर्वथा नवीन अथवा आकस्मिक नहीं थी । इस विचार का प्रार्दुभाव कि मुसलमान समुदाय का एक प्रथक प्रदेश हो काफी समय से मुस्लिम राजनैतिक नेताओं के विचाराधीन था । सर सय्यद अहमद खां ने 19वीं शताब्दी में मुस्लिम समुदाय के शैक्षिक, सामाजिक और राजनैतिक जागरण की आधारशिला रखी । इससे

पूर्व शाह वलीउल्लाह, शाह अब्दुल, अज़ीज़ सय्यद अहमद बरेलवी तथा शेख़ क़रामत अली ने मुसलमान वर्ग में पुनर्जागरण की चेतना का समावेश किया परन्तु 'अलीगढ़ आन्दोलन' के रूप में सर सय्यद अहमद खां ने सामाजिक, शैक्षिक, धार्मिक एवं राजनैतिक आन्दोलन का सूत्रपात किया। उनका विचार था कि मुसलमानों को आधुनिक शिक्षा से अवगत करायें बिना, उनका उत्थान असम्भव था और शिक्षा प्रवाह ने ही राजनैतिक सुप्त चेतना को जागृत कर मुस्लिम वर्ग को अपनी विशिष्ट स्थिति की ओर आकर्षित किया। 1908 में ढाका के नवाब सलीमउल्लाह ने मुस्लिम लीग की स्थापना कर मुसलमान जगत में राजनैतिक संस्था के चिरकालीन अभाव की पूर्ति की।

यद्यपि भारतीय मुसलमानों के राजनैतिक एवं साम्प्रदायिक महत्व को 1909 के भारत सरकार अधिनियम ने न केवल प्रोत्साहित किया वरन् इस अधिनियम ने साम्प्रादायिकता के द्वारा राजनैतिक अधिकारों का मार्ग प्रशस्त किया।

मुस्लिम वर्ग की राजनैतिक एवं साम्प्रदायिक समस्याओं को जनता के सम्मुख प्रथम बार मौलाना हसरत मोहानी ने अहमदाबाद में मुस्लिम लीग के अधिवेशन (1921) में अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रस्तुत किया। तत्पश्चात उनकी कही बातों को भविष्य में परिवर्तन कर उसका यह सारतत्व प्रस्तुत किया गया कि मुसलमान भारत में स्वयं एक राष्ट्रज्योति हैं जो भारत की अन्य राष्ट्रजातियों से पृथक हैं और उन्हें आत्म निर्णय करने का पूर्णाधिकार है। 1930 में मुहम्मद इक़बाल ने भारत के भीतर मुस्लिम भारत का समर्थन किया। 1933 में रहमत अली ने मुस्लिम भारत को पूर्णतया भारत से पृथक कर एक नवीन मुस्लिम राज्य 'पाकिस्तान' की संज्ञा दी। पाकिस्तान (मूल रूप में शब्द प अ क स तान) का अर्थ पंजाब, अफगान प्रान्त, कश्मीर सिंध और बलोचिस्तान से था।

लखनऊ में अक्टूबर 1937 का अधिवेशन स्वयं में मुस्लिम लीग की लोकप्रियता का प्रमाण था। मुस्लिम लीग में धीरे-धीरे अन्य प्रान्तों के मुसलमानों ने सदस्यता ग्रहण करना प्रारम्भ किया। पंजाब के नेता सिकन्दर ह्यात खाँ ने जिन्नाह को लिखा कि मुस्लिम लीग सदस्यता हेतु गांवों में कार्य आरम्भ हो चुका है और लखनऊ अधिवेशन ने लीग को एकता एवं सुदृढ़ता प्रदान की है।

इसके साथ ही मुस्लिम लीग ने अपनी संस्था को जनमत के सम्पर्क में लाने हेतु सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक क्षेत्रों में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। मुस्लिम लीग के इस कार्य से, जो कांग्रेस के बहुत पश्चात आरम्भ

हुआ, एक भारी परिवर्तन मुसलमानों में आया। लीग ने स्वयं संस्था को पुनः सगंठित करने हेतु प्रारम्भिक स्तर से कार्य करना प्रारम्भ किया, अर्थात ज़िला एव तहसील स्तर से कार्यकर्ताओं की 'प्राथमिक संस्था शिक्षा,' का प्रयोजन किया और नेताओं के किए इस स्तर का सदस्य होना भी आवश्यक किया गया।

जिन्नाह के अपने समुदाय उत्थान अथवा राजनैतिक गतिविधियों को नेहरू ने फासीवाद के विकास तथा विशिष्ट व्यक्तियों के स्वहित का द्योतक बताया।

कांग्रेस और मुस्लिम लीग के मतभेद को भिन्न इतिहास लेखकों एवं राजनीतिक आलोचकों ने अपने-अपने रूप से लेखबद्ध किया है। वास्तव में 1915 के अतिरिक्त मुस्लिम लीग अथवा कांग्रेसी मुस्लिम नेताओं का कांग्रेस से कभी भी साहृदयता पूर्ण मतैक्य नहीं रहा। इसके भी अनेक कारण वर्णित हैं परन्तु वास्तविक रूप से न तो कांग्रेस अपना राष्ट्रीय स्वरूप त्याग सकती थी और न ही मुस्लिम लीग स्वयं का साम्प्रदायिकतावादी आवरण तिलांजित कर सकती थी। इस तथ्य को आधार मान कर ही भविष्य के लिए निर्णय लिए गए।

दिसम्बर 1939 को जब नेहरू बम्बई में जिन्नाह से भेंट करने के किए यात्राबद्ध हो रहे थे, जिन्नाह ने भारतीय मुसलमानों को 22 दिसम्बर को कांग्रेस मन्त्रिमंडलो से मुक्ति दिवस मनाने का आह्वान किया। उन्होंने कहा कि 'पिछले ढाई वर्ष के अत्याचारी, अन्यायपूर्ण एवं दमनकारी कांग्रेस शासन से छुटकारा पाने का उत्सव मनाना चाहिए। अंग्रेजों की तो यह नीति ही थी कि समुदायों में पारस्परिक संघर्ष को त्वरित कर ब्रिटेन वर्षों तक भारत में राज्य कर सकने में सफल हो' जिन्नाह के उपरोक्त वकतव्य ने नेहरू को हतप्रभ कर दिया और मुस्लिम लीग के भी अनेक सदस्य इससे आश्चर्यचकित रह गए। कुछ पर्यवेक्षकों ने अनुमान लगाया कि जिन्नाह की यह अत्याधिक त्वरित गतिविधि मुस्लिम लीग में मतभेद उत्पन्न कर सकती थी।

जिन्नाह ने मुक्ति दिवस के भाषण में भी कांग्रेस की कटु आलोचना करते हुए कहा कि कांग्रेस और नेहरू की अर्थिक नीति समाजवाद और साम्यवाद की ओर निर्दिष्ट है जिसके लिए देश कदाचित तत्पर नहीं हैं। जिन्नाह ने संविधान सभा के प्रस्ताव को भी अव्यवहारिक एवं शिशु लालसा की संज्ञा दी।

कृषक पूजा दल के नेता सय्यद हबीबुल रहमान ने जिन्नाह प्रस्ताव को

काल्पनिक, असंगत और निरर्थक की संज्ञा दी। उन्होंने कहा कि हिन्दू-मुस्लिम एक ही भारत माँ की सन्तान हैं, उनकी एक भाषा है और उनकी एक सी पैतृकता और संस्कृति है और कोई भी हिन्दू अथवा मुसलमान जिन्नाह की माँग को स्वीकृति नहीं देगा। मानचेस्टर गार्डियन ने लिखा कि 'जिन्नाह ने क्षण भर के लिए जगत में पुनः अव्यवस्था का राज्य स्थापित कर दिया है'।

यद्यपि अखिल भारतीय मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान योजना का प्रस्ताव रखा किन्तु इसको राजनीतिक परिकल्पना कि ही मान्यता दी जाती रही और ब्रिटिश शासन पर इसको साकार रूप प्रदत्त करने कार्य का छोड़ दिया गया। मार्च 1939 में भारत सचिव लार्ड जीटलैन्ड तथा भारत उपसचिव ने मुस्लिम लीग के दो नेताओं ख़लीकुज्ज़मा और अब्दुल रहमान सिद्दीकी को यह आश्वासन दिया कि यदि पृथक मुस्लिम राज्य की योजना प्रस्तुत होगी, तो ब्रिटिश सरकार मान्यता दे देगी। भारतीय महाराज्यपाल ने अपने एक व्यक्तव्य में कहा की भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को मान्टेग्यू घोषणा प्राप्त करने में 32 वर्ष लग गये और मुस्लिम लीग ने 4 वर्ष 6 माह में ही अपना राजनैतिक लक्ष्य एवं दलगत सिद्धान्त निर्धारित कर दिया था। अपने एक अन्य कथन में भारत सचिव ऐमरी ने हिन्दू-मुस्लिम समुदाय को पारम्परिक एवं सांस्कृतिक रूप से पृथक बताया।

इसके पूर्व महात्मा गांधी के विषय में लिखते हुए सुभाष चन्द्र बोस ने कहा कि कराची कांग्रेस महात्मा के उत्थान एवं लोकप्रियता का शिखर थी। सुभाष बोस के कथानुसार शायद ही जनता ने किसी नेता का उतना भव्य स्वागत किया हो। वास्तव में जनता गाँधी को केवल महात्मा ही नहीं अपितु राष्ट्र संघर्ष का राजनेता मानती थी। बोस के अनुसार महात्मा का द्वितीय गोल-मेज सम्मेलन के लिये चुनाव ठीक नहीं था क्योंकि हिन्दू-मुस्लिम समस्या का समाधान महात्मा की निगाह में सीमित नहीं था। उन्होंने कहा कि महात्मा के इन शब्दों ने कि यदि आवश्यक हुआ तो वह मुस्लिम वर्ग के पृथक चुनाव की बात को मान्यता देंगे, मुसलमानों में उग्रवादियों को यह विश्वास दिला दिया कि उनका एक पृथक अस्तित्व था, जिसका वह स्वार्थ-निहित शोषण करने लगे।

फारवर्ड ब्लाक

1938 में द्वितीय विश्वयुद्ध के मेघ आच्छादित हो रहे थे और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने युद्ध तैयारियों की भर्त्सना करते हुए निर्णय लिया कि कांग्रेस कदाचित साम्राज्यवादियों की युद्ध नीति के परिपोषण का सहयोग

नहीं कर सकती थी। हरीपुरा कांग्रेस में सुभाषचन्द्र बोस के अध्यक्ष हो जाने के पश्चात् महात्मा गाँधी और सुभाषचन्द्र बोस की मूल विचारधारा में परिवर्तन आ चुका था। सुभाष बोस तथा कांग्रेस का मतभेद कुछ अह्य समस्याओं को लेकर था जिसमें राष्ट्रीय आन्दोलन, औद्योगीकरण तथा विश्वयुद्ध में ब्रिटिश शासन की ओर कांग्रेस का दृष्टिकोण मुख्य थे। बोस मूल रूप से महात्मा गाँधी की अस्थिरतापूर्ण नीति और सिद्धान्तों के विरुद्ध थे क्योंकि कभी महात्मा गाँधी अंग्रेजों के साथ रहकर समर्थन प्राप्त करना चाहते थे और किसी प्रकार का कोई आन्दोलन करने के इच्छुक नहीं थे; और कभी सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा आन्दोलन को, स्वतन्त्रता का मुख्य अस्त्र मानते थे। 1938 में महात्मा गाँधी ने सुभाष चन्द्र बोस की वामपंथी नीतियों का समर्थन किया और उसी वर्ष सितम्बर में महात्मा गाँधी ने कहा कि कांग्रेस का वामपंथियों से कोई समझौता नहीं किया जा सकता। आगामी वर्ष 1939 में त्रिपुरी कांग्रेस में बोस के पुन: अध्यक्ष चुने जाने को महात्मा गाँधी ने इसको अपनी व्यक्तिगत पराजय समझा। त्रिपुरी कांग्रेस के पश्चात् महात्मा गाँधी और सुभाषचन्द्र बोस के मौलिक सिद्धान्तों में भिन्नता स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगी।

गाँधी जी उस समय कांग्रेस के अधिनायक थे और उनकी नीतियों और योजनाओं से मतभेद कर कांग्रेस में रहना कठिन कार्य था। सम्भवतया इसी कारण सुभाषचन्द्र बोस ने महात्मा गांधी को कांग्रेस के "अनौपचारिक तानाशाह" की संज्ञा दी। परिणामस्वरूप गाँधी जी और सुभाष बोस के मतभेद ने अंतत: बोस को अध्यक्ष पद से त्याग पत्र देने पर विवश कर दिया। सुभाष बोस ने एक नई पार्टी 'फ़ारवर्ड ब्लाक" की स्थापना की। बोस के अनुसार "फ़ारवर्ड ब्लाक एक उग्रवादी एवं प्रगतिवादी वामपंथी समर्थक दल था जिसमें कांग्रेस के अन्तंगत समस्त वामपंथी सम्मिलित थे; परन्तु मतभेद इतने गम्भीर एवं मौलिक थे कि शीघ्र ही फ़ारवर्ड ब्लाक एक पृथक एवं स्वतन्त्र दल बन गया।

क्रिप्स मिशन

1942 में जब भारत पर जापानी आक्रमण का भय उत्पन्न हुआ, ब्रिटिश सरकार ने भारत की सुरक्षा हेतु समस्त राजनैतिक दलों में पारस्परिक एकता की स्थापना का प्रयत्न किया। मार्च 1942 में सर स्टेफ़ोर्ड क्रिप्स की अध्यक्षता में 'क्रिप्स मिशन' भारत आया और उसने भारत में अंतरिम सरकार की स्थापना एवं युद्ध का अन्त हो जाने के पश्चात् अन्तिम

संवैधानिक समझौते का प्रस्ताव उपस्थित किया। परन्तु यह मिशन असफ़ल हो गया और इसके साथ ही प्रस्तावित राष्ट्रीय सरकार में कांग्रेस एवं लीग को एकता के सूत्र में बांधने का अन्तिम प्रयास भी विफ़ल हो गया। कांग्रेस पूर्ण स्वतंत्रता तथा इसके उपरान्त हिन्दू-मुस्लिम समस्या के अन्त की माँग पर दृढ़ रही जब कि ब्रिटिश सरकार युद्ध के मध्य भारत में स्वतंत्र उपनिवेश शासन की स्थापना करने तथा युद्ध के पश्चात् भारत को पूर्ण स्वतंत्रता देने पर सहमत थी। क्रिप्स मिशन के इस आश्वासन को महात्मा गांधी ने 'दिवालिया होते बैंक के उत्तर दिनांकित चैक' की संज्ञा दी। यह प्रथम अवसर था कि ब्रिटिश सरकार ने भारत विभाजन के तथ्य को स्वीकार किया परन्तु इस समय भी पाकिस्तान के निर्माण को पूर्ण मान्यता नहीं दी गई। फलस्वरूप उपर्युक्त आधार पर जिन्नाह ने इन प्रस्तावों को पूर्णरूपेण अस्वीकार कर दिया परन्तु उन्होंने भारतीय प्रदेशों एवं देशी राज्यों को भारतीय संघ में सम्मिलित होने के अधिकार को मान्यता दे दी। इस घटना ने जिन्नाह की भारतीय मुसलमानों में स्थिति को अत्यन्त दृढ़ कर दिया था।

गाँधी जी का अनशन

'भारत छोड़ो' आन्दोलन के सरकार द्वारा सफल नियन्त्रण के पश्चात् 1943 के आरम्भ में गांधी जी ने पूना जेल में 21 दिन के उपवास का व्रत लिया। मौलाना आज़ाद के अनुसार महात्मा ने यह अनशन दो कारणों से आरम्भ किया—प्रथम ब्रिटिश सरकार द्वारा कांग्रेस नेताओं की आकस्मिक गिरफ्तारी और दूसरा 1942 के आन्दोलन का कहीं कहीं हिंसक हो जाना। उन्होंने इसका उत्तरदायी स्वयं को समझ कर "स्वयं शुद्धि" का प्रण लिया। गांधी जी ने फरवरी 10, 1943 को उपवास आरम्भ कर अन्तत: 21 उत्सुकता भरे दिवसों के पश्चात सभी अनुमानित परिकलनों को असत्य कर उपवास समाप्त किया।

सी० आर० योजना

1944 में नवीन महाराज्यपाल (वायसराय) लार्ड वेवल ने महात्मा गांधी के स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण बिना शर्त रिहा कर दिया था। अपनी कारावास मुक्ति के कुछ मास तक गांधी रुग्णावस्था के कारण विशेष राजनैतिक गतिविधियों में भाग न ले सके। सितम्बर 1944 में गांधी ने जिन्नाह से भेंट कर एक राजनैतिक योजना प्रस्तुत की जिसे राजगोपालाचार्य ने तैयार किया। इस योजना का मुख्य तत्व साम्प्रदायिकता को समाप्त करना था। योजना में निम्नलिखित बातें निहित थीं—

1. मुस्लिम लीग को भारतीय स्वतन्त्रता स्वीकार करना तथा अन्तरिम सरकार बनाने में कांग्रेस को सहयोग देना।

2 युद्धोपरान्त उत्तर पश्चिम तथा पूर्वी भारत के मुस्लिम बहुसंख्यकों के प्रति एक आयोग गठित करना। इन क्षेत्रों में व्यस्क मताधिकार के द्वारा जनमत संग्रह कर विभाजन का निर्णय लेना।

3. विभाजन के समय सुरक्षा, व्यापार वाणिज्य तथा संचारण के प्रति पारस्परिक समझौता करना।

4. उपरोक्त निबन्धक (शर्तें) केवल ब्रिटेन के भारत को सम्पूर्ण अधिकार स्थानान्तरित करने के पश्चात ही लागू होगी।

यह संधि वार्ता गांधी और जिन्नाह के मध्य एक असफल प्रयोग रहीं क्योंकि जिन्नाह ने इस योजना को 'विकृत, अंगविहीन एवं शलभ भक्षित योजना' बताया। इस वार्ता ने ज़िन्नाह के व्यक्तिव्य को मुस्लिम लीग में और अधिक सम्मानित कर दिया। मौलाना आज़ाद के अनुसार महात्मा गांधी का इस अवसर पर जिन्नाह को यह प्रस्ताव प्रस्तुत करना युक्ति संगत नहीं था। उन्होंने आगे कहा कि ज़िन्नाह को कायद-ए-आज़म (महान नेता) सम्बोधित करना स्वयं में इस बात का द्योतक था कि जिन्नाह मुसलमानों के नेता थे।

वेवल-एमरी योजना

1945 में युद्ध समाप्त हो जाने के पश्चात भारत के वायसराय लार्ड वेवल ने भारत में राजनीतिक एकता स्थापित करने का एक अन्य प्रयास किया। इसके अर्न्तगत लार्ड वेवल ने कांग्रेस कार्यकारिणी परिषद के बन्दी सदस्यों को जेल से रिहा करने के पश्चात उन्हें शिमला में एक सम्मेलन हेतु आमंत्रित किया जहां अंतरिम सरकार की स्थापना पर विचार विमर्श का प्रस्ताव रखा गया। इस प्रस्ताव में वायसराय एवं सेनाध्यक्षों के अतिरिक्त सभी पद भारतीयों को दिये जाने का प्राविधान था। कांग्रेस इन प्रस्तावों के प्रति सहयोग हेतु तत्पर थी परन्तु भारत में राजनैतिक स्थिरता हेतु उपर्युक्त प्रस्तावों पर मुस्लिम लीग का सहयोग भी आवश्यक था। जिन्नाह ने इस सम्मेलन में मांग की कि अंतरिम सरकार के पचास प्रतिशत सदस्य मुस्लिम लीग के नामांकित मुसलमान होने चाहिए। इसके अतिरिक्त लार्ड वेवल यूनियनिस्ट दल का भी इस सरकार में प्रतिनिधित्व चाहते थे। जिन्नाह इस पर सहमत नहीं थे, इस कारण यह सम्मेलन भी असफल हो गया। निस्सन्देह ब्रिटिश शासन ने वेवल-एमरी योजना के द्वारा भारतीय

गतिरोध को भंग करने की चेष्टा की। इस योजना को प्रतिपादित करने का मुख्य कारण अमरीकी राष्ट्रपति रूज़वेल्ट का प्रभाव था, परन्तु इस समय तक दोनों राजनैतिक दलों का सम्मेलन अत्यन्त दुष्कर हो गया था।

कैबिनेट मिशन

जुलाई 1945 के चुनावों के फलस्वरूप ब्रिटेन में श्रमिक दल की सरकार सत्तारूढ़ हुई। इस सरकार ने भारत में केन्द्रीय तथा प्रादेशिक विधान सभाओं हेतु चुनाव कराने का निर्णय लिया। इस समय मुसलमानों के मध्य पाकिस्तान निर्माण की भावना के प्रति समर्थन का अध्ययन करने हेतु एक ब्रिटिश संसदीय शिष्टमंडल भारत आया। यह शिष्टमंडल भारतीय मुसलमानों के मध्य पाकिस्तान निर्माण की भावना से अत्यधिक प्रभावित हुआ तथा उसने ब्रिटिश संसद को यह सुझाव दिया कि मुहम्मद अली जिन्नाह की पाकिस्तान की मांग को महत्वहीन न समझा जाय। 1945 के चुनावों ने उपर्युक्त तथ्य को पूर्ण रूप से स्पष्ट कर दिया। इस चुनाव में मुस्लिम लीग ने केन्द्रीय विधान सभा की सभी मुस्लिम सीटों पर विजय प्राप्त की तथा प्रादेशिक विधान सभाओं में कुल 495 मुस्लिम पदों में से 446 पद मुस्लिम लीग को प्राप्त हुए। पंजाब में लीग को अधिक सफलता मिली परन्तु उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रान्त में मुस्लिम लीग को असफलता प्राप्त हुई।

इस प्रकार इस चुनाव के माध्यम से भारतीय मुसलमानों ने पाकिस्तान निर्माण की माँग को स्पष्ट कर दिया।

ब्रिटिश सरकार ने भारत के विभाजन की समस्या के समाधान हेतु एक और प्रयास किया जिसके फलस्वरूप एक कैबिनट शिष्टमंडल का गठन किया गया। इस शिष्टमण्डल के अन्तर्गत मार्च 1946 में सर स्टेफ़ोर्ड क्रिप्स को मंत्रिमण्डल के दो अन्यसदस्यों—ए. बी. एलेक्जेन्डर एवं लार्ड पैट्रिक लारेंस—के साथ भारत भेजा गया। इस शिष्टमण्डल के दो प्रमुख उद्देश्य थे। प्रथम केन्द्रीय सरकार हेतु संविधान निर्माण में वायसराय की सहायता करना। द्वितीय, वायसराय की नवीन कार्यपालिका समिति के गठन में सहायता प्रदान करना जिसमें प्रत्येक राजनैतिक दल का उचित प्रतिनिधित्व हो तथा जिससे एक स्थायी सरकार की स्थापना सम्भव हो सके। उपर्युक्त दोनों उद्देश्यों की पूर्ति हेतु एक ऐसी विशेष संवैधानिक रूपरेखा का निर्माण आवश्यक था जिससे कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों ही दल सहमत हों।

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कैबिनेट शिष्टमंडल ने भारत के सभी प्रमुख राजनैतिक दलों, भारतीय नरेशों, सिक्खों, अनुसूचित जातियों के

प्रतिनिधियों एवं महात्मा गांधी से विचार-विमर्श किया। विचार-विमर्श के पश्चात कैबिनट शिष्टमण्डल ने सभी भारतीय राजनैतिक दलों से अनुरोध किया कि वे पारस्परिक समझौते के आधार पर संविधान निर्माण हेतु एक संयुक्त कार्यक्रम की रूपरेखा निर्मित करें परन्तु भारतीय राजनैतिक दलों के मध्य कोई भी समझौता सम्भव न हो सका। फलस्वरूप कैबिनेट शिष्टमंडल ने 26 अप्रैल को एक अपने कार्यक्रम की घोषणा की तथा मुस्लिम लीग एवं कांग्रेस को इस कार्यक्रम पर विचार-विमर्श हेतु चार-चार प्रतिनिधि शिमला भेजने का अनुरोध किया।

कैबिनेट मिशन के इस कार्यक्रम की रूपरेखा निम्नलिखित थी—

1. विदेशी सम्बन्धी सुरक्षा एवं संचार व्यवस्था के प्रशासन हेतु एक केन्द्रीय सरकार की स्थापना हो।

2. दो प्रादेशिक समूहों का निर्माण हो जिसमें एक समूह हिन्दू बहुसंख्यक जनता के प्रदेशों एवं दूसरा मुस्लिम बहुसंख्यक जनता के प्रदेशों का हो।

3. प्रादेशिक सरकारों की स्थापना की जाय जिसे पूर्ण सम्प्रभुता के अधिकार प्राप्त हों।

4. भारतीय राजाओं के साथ जो समझौते हों उसमें उन्हें यथोचित स्थान दिया जाए।

कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों ने शिमला निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया। शिमला सम्मेलन में जिन्नाह ने पाकिस्तान निर्माण हेतु प्रदेशों की माँग को पुनः दोहराया तथा संविधान निर्माण हेतु दो संगठनों के निर्माण की मांग की। इसके विपरीत कांग्रेस ने साम्प्रदायिकता अथवा धर्म के आधार पर संघीय सरकार अथवा प्रदेशीय समूहों के निर्माण का विरोध किया। इस प्रकार कांग्रेस ने अप्रत्यक्षतया पाकिस्तान निर्माण का विरोध किया, अतः शिमला में विचार-विमर्श के मध्य कोई समझौता सम्भव न हो सका। फलस्वरूप कैबिनेट शिष्टमण्डल एवं वायसराय ने स्वयं ही एक कार्यक्रम निर्मित करके 16 मई को उसकी घोषणा कर दी।

इस कार्यक्रम में मुस्लिम लीग द्वारा प्रस्तावित पृथक एवं प्रभुतासम्पन्न पाकिस्तान निर्माण के पश्चात भी भारत में साम्प्रदायिक समस्या का समाधान सम्भव नहीं था, क्योंकि इसके पश्चात भी भारत के अन्य भागों में दो करोड़ से अधिक मुसलमान रह जायेंगे। यह भी कहा गया कि पाकिस्तान में गैर मुसलमान अल्पसंख्यकों की संख्या पश्चिमी क्षेत्र में 38% तथा पूर्वी क्षेत्र में 48% रह जायेगी। इसके अतिरिक्त असम एवं पंजाब के कुछ जिलों में

मुसलमानों की संख्या लगभग नगण्य ही थी, अत: इन जिलों को पाकिस्तान में मिलाने का कोई औचित्य नहीं था। केवल मुस्लिम बहुसंख्यक क्षेत्रों को संयुक्त करके पाकिस्तान निर्माण के प्रश्न को भी विचार-विमर्श के पश्चात् अस्वीकृत कर दिया गया।

इसके उपरान्त कैबिनेट शिष्ट मण्डल ने एक कार्यक्रम की घोषणा की जिसमें विदेशी सम्बन्धों, संचार व्यवस्था एवं सुरक्षा पर केन्द्रीय सरकार का नियंत्रण प्रस्तावित किया गया था। इस कार्यक्रम में प्रादेशिक समूहों एवं अविशिष्ट अधिकार युक्त प्रदेशों की स्थापना का प्रस्ताव भी सम्मिलित था। इसके अतिरिक्त प्रदेशों को दस वर्षों के पश्चात् संविधान पर पुनः विचार-विमर्श का अधिकार प्रदान किया गया था।

उपयुक्त संविधान के निर्माण हेतु संविधान सभा में पंजाब, सीमान्त प्रदेश एवं सिंध के प्रतिनिधि तथा असम एवं बंगाल के प्रतिनिधि प्रस्तावित थे। उक्त प्रतिनिधि सम्बन्धित प्रदेशों एवं वहां के संविधान की संरचना करेंगे तथा प्रदेशीय समूहों के निर्माण के विषय में तथा उनके अधिकार क्षेत्र के विषय में निर्णय लेगें। यदि विधान सभा बहुमत से विच्छेदन का प्रस्ताव पारित करें तो प्रदेशों को समूह से विच्छेदन का अधिकार होगा। इसके पश्चात् केन्द्रीय संविधान पर निर्णय लेने हेतु यह संविधान सभा पुनः पूर्ण सभा की भाँति संगठित होगी। संविधान निर्माण प्रक्रिया के मध्य एक अंतरिम सरकार की स्थापना की जायेगी जिसमें सभी मंत्रालयों का उत्तर-दायित्व भारतीयों को दिया जायेगा।

इस कार्यक्रम की घोषणा का भारत में स्वागत किया गया और ब्रिटिश सरकार की पारस्परिक सहयोग के प्रोत्साहन की नीति की प्रशंसा की गई। गांधी जी ने कहा कि कैबिनेट मिशन के द्वारा प्रदत्त कार्यक्रम पर हमें गर्व है। इसके विपरीत जिन्नाह इस कार्यक्रम के प्रति अधिक उत्साही नहीं थे क्योंकि उनकी पूर्ण पाकिस्तान की माँग को ठुकरा दिया गया था। सर्वाधिक विरोध अल्पसंख्यक सम्प्रदायों ने किया क्योंकि उनका मत था कि उनकी अभि-रुचियों की रक्षा नहीं की गई है।

मुस्लिम लीग के नेता जिन्नाह के प्रयासों के फलस्वरूप मुस्लिम लीग ने एक प्रस्ताव पारित किया तथा संविधान सभा में भाग लेने पर सहमति प्रकट की। उन्होंने आशा व्यक्त की कि अन्त में यह कार्यक्रम प्रभुतासम्पन्न पाकिस्तान के निर्माण में सहायक होगा। दूसरी ओर कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने कैबिनेट मिशन से अनुरोध किया कि प्रत्येक प्रदेश को अपने समूह

में सम्मिलित होने अथवा न होने का अधिकार प्रदान किया जाये परन्तु मिशन ने कांग्रेस का यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। इसी मध्य वायसराय एवं मिशन ने दोनों दलों के मध्य अंतरिम सरकार के प्रश्न पर समझौता कराने हेतु प्रयास किया परन्तु लोग अपने सदस्यों के नामांकन पर दृढ़ रहे और कांग्रेस ने इसे स्वीकार नहीं किया। अत: वायसराय एवं मिशन ने अपना एक कार्यक्रम तैयार करके दोनों दलों की उस कार्यक्रम पर सहमति प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इसके अन्तर्गत कांग्रेस के 'संविधान सभा' के प्रस्ताव पर निर्णय के पूर्व ही वायसराय ने कैबिनेट शिष्टमंडल के सुझाव पर इस अन्तरिम सरकार की स्थापना हेतु चौदह सदस्यों की एक सूची की घोषणा कर दी। इसमें छह हिन्दू कांग्रेस सदस्य थे, पाँच सदस्य मुस्लिम लीग के थे, एक सिख, एक पारसी एवं एक ईसाई सदस्य था। वायसराय ने यह भी घोषणा की कि यदि दोनों प्रमुख दलों में से एक दल इस प्रस्ताव को स्वीकृत करेगा तो वायसराय उस दल के सहयोग से अन्तिरिम सरकार की स्थापना करेंगे।

मुस्लिम लीग ने इस घोषणा के प्रति पूर्व ही स्वीकृति प्रदान कर दी परन्तु कांग्रेस ने सहमति प्रदत्त नहीं की। अत: यह संभावना दृष्टिगोचर होने लगी कि अन्तरिम सरकार की स्थापना केवल मुस्लिम लीग के सहयोग से की जायेगी। इस घोषणा के पश्चात् दोनों दलों ने न तो कोई प्रतिक्रिया ही व्यक्त की, न कोई जनघोषणा ही की। कुछ समय विचार-विमर्श के उपरान्त कांग्रेस ने लम्बी अवधि के कार्यक्रम की स्वीकृति तथा कम अवधि के कार्यक्रम की अस्वीकृति की घोषणा कर दी। इस घोषणा का कैबिनेट शिष्टमण्डल ने स्वागत किया और आशा व्यक्त की कि भारत में संविधान निर्माण की प्रक्रिया कांग्रेस की स्वीकृति से संभव हो सकती है परन्तु अंतरिम सरकार की स्थापना में असफलता पर उन्होंने दुःख प्रगट किया। जिन्नाह ने यह ज्ञात होते ही कि कांग्रेस ने अंतरिम सरकार के कार्यक्रम को अस्वीकृत कर दिया है, शीघ्र ही मुस्लिम लीग की कार्यकारिणी में अंतरिम सरकार के प्रस्ताव को स्वीकृत करा लिया तथा आशा व्यक्त की कि पूर्ण घोषणा के अनुसार वायसराय मुस्लिम लीग के सहयोग से अन्तरिम सरकार की स्थापना करेंगे। जब वायसराय ने अन्तरिम सरकार बनाने के प्रश्न पर असंतोष व्यक्त किया तो लीग ने मिशन एवं वायसराय की निन्दा की। इस प्रकार कैबिनेट मिशन असफल होकर वापस लौट गया।

तत्पश्चात् मुस्लिम लीग ने संविधान सभा में भाग लेने पर असहमति

व्यक्त की। फलस्वरूप वायसराय द्वारा अंतरिम सरकार की स्थापना हेतु आमंत्रित होने पर नेहरू जी ने स्वीकार कर लिया। सरकार के सदस्यों के नामों की पूर्व ही घोषणा कर दी गई। 16 अगस्त को जब सरकार औपचारिक रूप से शपथ ग्रहण करनेवाली थी, मुस्लिम लीग ने इसको 'डायरेक्ट ऐक्शन दिवस' के रूप में मनाया। फलत: कलकत्ता में हिन्दू मुस्लिम दंगा हो गया जिसमें लगभग 5000 आदमी मारे गए और 15000 घायल हुए। ये दंगे पूर्वी पाकिस्तान में भी प्रारम्भ हुए। इन घटनाओं को स्थगित करने हेतु वायसराय ने मुस्लिम लीग को अंतरिम सरकार में सम्मिलित करने के प्रयास किये और 26 अक्टूबर को लीग के पाँच सदस्यों ने अपने पद की शपथ ग्रहण की। उपर्युक्त समझौते के फलस्वरूप दंगे बन्द हो गये परन्तु अंतरिम सरकार में मुस्लिम लीग और कांग्रेस के मध्य सहयोग सम्भव न हो सका।

इसी मध्य वायसराय ने संविधान सभा बुलाने के विचार को स्थगित कर दिया एवं 9 दिसम्बर को संविधान सभा बुलाने का निर्णय लिया। मुस्लिम लीग ने संविधान सभा से पृथक रहने का निर्णय लिया। ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने दोनों दलों के नेताओं को एवं बलदेव सिंह को सिख प्रतिनिधि के रूप में बुलाकर समझौता कराने का प्रयास किया पर वे सफल नहीं हुए क्योंकि लीग संविधान सभा में भाग लेने हेतु असहमत थी। फलत: अंतरिम सरकार के कांग्रेस सदस्यों ने मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों से त्यागपत्र देने की माँग की तथा चेतावनी दी कि यदि वे त्यागपत्र नहीं देंगे तो कांग्रेस सदस्य त्यागपत्र देंगे। ब्रिटिश सरकार के समक्ष एक नवीन समस्या आ गई। यदि मुस्लिम लीग के सदस्य इस्तीफा दे देते तो देश में सांप्रदायिक दंगे प्रारम्भ हो जाते और यदि कांग्रेस सदस्य इस्तीफा दे देते तो देश के हिन्दुओं पर नियन्त्रण रखना सम्भव नहीं था। अत: ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्री क्लीमेंट एटली ने 20 फरवरी को एक घोषणा की जिसमें उन्होंने उत्तरदायी हाथों में भारतीय सरकार की सत्ता हस्तान्तरण की योजना प्रस्तुत की। इसकी तिथि जून 1948 रखी और यह कहा गया कि यदि निश्चित काल तक भारत में एक सविधान सभा संविधान बनाने में असमर्थ रही तो ब्रिटिश सरकार यह विचार करेगी कि सत्ता हस्तान्तरण का स्वरूप क्या हो ?

माउंटबेटन कार्यक्रम

20 फरवरी की घोषणा में ब्रिटिश प्रधानमंत्री क्लीमेंट एटली ने लार्ड वेवल के स्थान पर लार्ड माउंटबेटन को भारत का वायसराय नियुक्त करने

की घोषणा की। लार्ड माउंटबेटन ने 22 मार्च को भारत के वायसराय का पद ग्रहण किया। उन्हें यह निर्देश था कि वे भारत में कैबिनेट शिष्टमंडल के कार्यक्रम पर आधारित एकात्मक सरकार की स्थापना का प्रयास करें, परन्तु कुछ समय उपरान्त लार्ड माउंटबेटन को यह स्पष्ट हो गया कि एकात्मक सरकार एवं कैबिनेट शिष्टमंडल द्वारा प्रस्तावित कार्यक्रम की रूपरेखा का निर्माण करना आवश्यक था, अन्यथा भारत में अराजकता का साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

इसी समय भारत की केन्द्रीय सरकार में कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के मध्य विभाजन लगभग पूर्ण हो चुका था तथा दोनों ही दल एक दूसरे के विरुद्ध कार्य कर रहे थे। फलस्वरूप मार्च के प्रारम्भ में पंजाब के मुख्य नगरों में साम्प्रदायिक दंगे प्रारम्भ हो गये। शीघ्र ही ये दंगे उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेशों में फैल गये।

ऐसे समय में लार्ड माउंटबेटन ने एक विभाजन कार्यक्रम प्रस्तुत किया जिसके प्रति लगभग सभी राजनैतिक दल सहमति प्रकट करने को इच्छुक थे। मई में विभिन्न दलों के नेताओं को इस कार्यक्रम के प्राविधानों से अवगत कराया गया और ब्रिटिश सरकार के अनुमोदन के पश्चात् 3 जून 1946 को इस कार्यक्रम की घोषणा कर दी गई। तत्पश्चात नेहरू, जिन्नाह एवं बलदेव सिंह ने इसे स्वीकार करने की घोषणा कर दी।

इस कार्यक्रम के निम्नलिखित प्राविधान थे।

1. यदि मुस्लिम बहुसंख्यक क्षेत्र के निवासी मुसलमान पृथक् राज्य निर्माण के पक्ष में हों तो उन्हें अधिरक्षक राज्य बनाने की अनुमति प्रदान की जायेगी। इस हेतु एक पृथक संविधान सभा का निर्माण किया जायेगा।

2. विभाजन की अवस्था में केवल पंजाब एवं बंगाल का विभाजन किया जायेगा।

3 सिन्ध की विधान सभा को अधिकार दिया जायेगा कि वह निर्णय करे कि सिन्ध का संविधान निर्माण उपर्युक्त सविधान सभा करेगी अथवा एक पृथक संविधान सभा।

4 उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेशों में एक जनमत संग्रह कराया जायेगा जिसमें इन क्षेत्रों के वासी यह निर्णय करेंगे कि वे पाकिस्तान के साथ रहेंगे अथवा भारत के साथ।

5. बंगाल विभाजन के समय सिलहट जिले में जनमत संग्रह कराया जायेगा जिससे यह निर्णय होगा कि वह पूर्वी बंगाल में रहेगा अथवा पश्चिम बंगाल में।

6. बंगाल एवं पंजाब के विभाजन हेतु एक कमीशन नियुक्त किया जायेगा जो सीमारेखा का निर्धारण करेगा। ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के आगामी सत्र में 1947 में भारत के सत्ता हस्तान्तण हेतु एक विधेयक पेश किया जायेगा।

कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग ने इस कार्यक्रम पर सहमति प्रकट कर दी। हिन्दू महासभा ने इसका विरोध किया और अब्दुल गफ्फार खान ने सीमा प्रदेशों के प्रति निर्णय का विरोध किया। वे अपने लिये अलग स्वतन्त्र राष्ट्र चाहते थे जिसे वे पख्तूनिस्तान के नाम से सम्बोधित करते थे। गफ्फार खान का जिन्नाह ने कटु विरोध किया और ब्रिटिश सरकार ने इस प्रस्ताव को ब्रिटिश संसद के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया। जनमत संग्रह में गफ्फार खान तथा उनके सहयोगियों ने भाग नहीं लिया तथा इन प्रदेशों ने पाकिस्तान के साथ रहने का निर्णय किया। पूर्वी बंगाल, पश्चिमी पंजाब एवं सिंध ने पाकिस्तान के साथ रहने का निर्णय लिया।

जुलाई में भारत स्वतन्त्रता अधिनियम ब्रिटिश संसद में पेश किया गया तथा यह यह निर्विरोध पारित हो गया। इस अधिनियम को ब्रिटिश सम्राट ने 18 जुलाई, 1947 को सहमति दे दी। 15 अगस्त, 1947 का दिन भारत के 'स्वतन्त्रता दिवस' के रूप में तय किया गया। इस प्रकार भारत विभाजन कार्यक्रम पूर्ण हुआ।

भारत विभाजन––एक समीक्षा

भारतवासियों ने स्वतंत्र भारत की कल्पना 1947 से लगभग सौ वर्ष पूर्व की थी। यही स्वप्न बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारतीय राष्ट्र-वादियों का एकमात्र लक्ष्य-बिन्दु बन गया। प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् ब्रिटिश सरकार भी भारतीयों के शताब्दी पूर्व के स्वप्न की सार्थकता के प्रति विचार करने पर विवश होने लगी थी। यद्यपि पाकिस्तान की पृथक् सारूप्यता का विचार भी 1930 से पूर्व भारतीयों के मस्तिष्क में उत्पन्न नहीं हुआ था; फिर भी 1947 में यह विचार अन्तिम सत्य के रूप में साकार हुआ।

पाकिस्तान सृजन विचारधारा के जनक मुस्लिम पुनर्जागरण के अग्रदूत सर सय्यद अहमद थे। सर सय्यद अहमद ने 1888 में कहा था कि भारत दो राष्ट्रीय जातियों का निवास स्थल है तथा जब अंग्रेज भारत की सत्ता को हस्तांतरित करने के इच्छुक होंगे, उस समय दोनों जातियों के मध्य संघर्ष सुस्पष्ट है। यह लगभग असंभव ही होगा कि हिन्दू एवं मुसलमान परस्पर शक्ति एवं सत्ता पर संयुक्त अधिकार स्थापित करें। इस समस्या के समाधान हेतु एक जाति को दूसरी जाति पर विजय प्राप्त करनी ही होगी।

सर सय्यद अहमद के उपर्युक्त विचार के कार्यान्वयन में अनेक कठिनाइयाँ थीं। सर सय्यद अहमद के विचार को भारतीय मुसलमानों में समर्थन प्राप्त हो सकता था, परन्तु भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में रत हिन्दू राष्ट्रवादियों के लिए पृथक पाकिस्तान का स्वप्न नितान्त अचिंतनीय था। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश सरकार उपर्युक्त विचार के इसलिए विरुद्ध थी क्योंकि अखंड भारतीय साम्राज्य उसकी साम्राज्यवादी शासन की एक उपलब्धि थी। एक अन्य कारण यह था कि भारत में दो मुस्लिम बहुसंख्यक प्रदेशों के मध्य हजारों मील की दूरी थी क्योंकि एक प्रदेश उत्तर-पूर्व में स्थित था तथा दूसरा उत्तर-पश्चिम में। अतः सर सय्यद अहमद का यह विचार लगभग चालीस वर्षों तक निष्क्रिय रहा।

सर सय्यद अहमद खाँ के उपर्युक्त विचार को सर्वप्रथम 1935 के अधिनियम में अभिव्यक्ति प्रदान की गई। इस अधिनियम के अन्तर्गत मुसलमानों के अधिकारों की रक्षा का विशेष ध्यान रखा गया। हिन्दुओं को अपनी बहु संख्या के आधार पर चुनावों द्वारा प्राप्त राजनैतिक शक्ति पर एकाधिकार को समाप्त करने हेतु इस अधिनियम के अंतर्गत एकात्मकता के स्थान पर संघीय शासन व्यवस्था की स्थापना की गई। सिंध को बम्बई से पृथक कर एक प्रदेश का निर्माण करके ब्रिटिश सरकार ने कुल ग्यारह भारतीय प्रदेशों में मुस्लिम बहुसंख्यक प्रदेशों की संख्या चार कर दी और इन प्रदेशों को पूर्ण स्वायत्तता का अधिकार प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त 1909 के अधिनियम के अन्तर्गत पृथक निर्वाचन मण्डल के मुस्लिम अधिकार को पुनः मान्यता प्रदान की गई। देशी राज्यों के इस व्यवस्था में सम्मिलित होने के अधिकार को वैकल्पिक बना दिया गया। इस अधिनियम का मुस्लिम क्षेत्रों में अत्यधिक स्वागत हुआ।

1939 में उपर्युक्त अधिनियम के 'प्रदेशीय प्राविधानों' का कार्यान्वयन प्रारम्भ हुआ जिसके अन्तर्गत प्रदेशों में पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना की गई। इस अधिनियम के 'संघीय प्राविधानों' के कर्यान्वयन में कुछ विलम्ब हुआ क्योंकि अधिनियम के अन्य प्राविधानों के अनुसार 'संघीय प्राविधानों' का कर्यान्वयन तभी संभव था जब कि एक विशिष्ट संख्या में देशी राज्य इस संघ की सदयस्ता स्वीकार कर लेते हैं। इस दिशा में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस प्रयत्नशील न थी परन्तु इसी मध्य हुई कुछ घटनाओं ने कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के मध्य तनाव में वृद्धि कर दी। फलस्वरूप भारत का विभाजन अवश्यम्भावी हो गया।

1937 में प्रादेशिक विधान सभाओं हेतु चुनाव कराये गये जिसमें कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ही दलों ने भाग लिया। सभी छः हिन्दू बहुसंख्यक प्रदेशों में कांग्रेस को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। असम में यह सबसे बड़े दल के रूप में प्रकट हुई। चार मुस्लिम बहुसंख्यक प्रदेशों में से तीन प्रदेशों में कांग्रेस की सफलता अन्य प्रदेशों की अपेक्षा कम थी। दूसरी ओर मुस्लिम लीग को अत्यन्त अल्प मात्रा में स्थान प्राप्त हुए क्योंकि उत्तर पश्चिम सीमान्त प्रदेशों में मुस्लिम दल, जो 'लाल कमीज' के नाम से जाना जाता था, चुनावों के मध्य कांग्रेस के साथ संलग्न था। इसके अतिरिक्त पंजाब में अधिकतर मुसलमानी नेता यूनियनिस्ट दल में थे जो कि हिन्दू, मुसलमान एवं सिखों का एक सम्मिलित दल था। इस प्रकार किसी भी प्रदेश में मुस्लिम लीग को बहुमत प्राप्त नहीं हुआ।

उपर्युक्त चुनावों में मुस्लिम लीग ने कांग्रेस के साथ समझौता किया था जिसके अन्तर्गत मुस्लिम लीग ने अपना चुनाव घोषणापत्र भी कांग्रेस के चुनाव घोषणा पत्र के समान ही निर्मित किया था। मुस्लिम लीग को कांग्रेस से यह आशा थी कि मुस्लिम लीग के साथ सहयोग करके कुछ प्रदेशों में संयुक्त सरकार की स्थापना करेगी, परन्तु मुस्लिम लीग की आशाओं पर पानी फिर गया क्योंकि चुनावों में कांग्रेस को बहुमत प्राप्त था, तथा उसे लीग के साथ संयुक्त सरकार निर्माण हेतु कोई आवश्यकता नहीं थी। अतः कांग्रेस द्वारा संस्थापित सरकारों में मुसलमानों को प्रतिनिधित्व केवल कांग्रेस के ही मुसलमानी नेताओं के माध्यम से प्राप्त हुआ था। संयुक्त प्रदेश में कांग्रेस ने लीग के समक्ष कांग्रेस में विलय हो जाने का प्रस्ताव रखा जो कि पाकिस्तान के निर्माण का मुख्य कारण बन गया।

यह कांग्रेस की एक भूल थी परन्तु यह प्राकृतिक भी थी क्योंकि प्रादेशिक चुनावों में कांग्रेस को बहुमत प्राप्त था। अतः वह लीग के साथ मिली-जुली सरकार बनाने के प्रति किंचित् मात्र भी चिन्तित नहीं थी तथा दूसरे वह लीग को एक साम्प्रदायिक दल के रूप में मानती थी।

मुस्लिम लीग ने काँग्रेस में विलय के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। जिन्नाह तक, जो कि अभी कांग्रेस के समर्थक थे तथा कांग्रेस एवं लीग के एक ही दल होने का प्रचार कर रहे थे, इस घटना के पश्चात् कांग्रेस के विरोधी हो गये। उन्होंने घोषणा की कि कांग्रेस सरकार से भारतीय मुसलमान शुद्ध आचरण एवं न्याय की आशा नहीं रखते। इस प्रकार भारत में साम्प्रदायिक शान्ति का अन्त कर दिया गया। उत्तर प्रदेश में लियाकत अली खाँ मुस्लिम लीग के प्रभावशाली नेताओं में से थे। वे भी कांग्रेस के विरुद्ध हो

गए। इस घटना ने सम्पूर्ण भारत के मुसलमानों को प्रभावित किया। पंजाब में युनयनिस्ट दल के सभी मुसलमान सदस्यों ने सिकन्दर हयात खान के नेतृत्व में मुस्लिम लीग की सदस्यता ग्रहण कर ली तथा बंगाल एवं असम के मुसलमान मुख्य मंत्रियों ने इसका समर्थन किया। इस प्रकार कांग्रेस के नेताओं में मुहम्मद अली जिन्नाह भारतीय मुसलमानों के एकमात्र नेता के रूप में प्रकट हुए।

उपर्युक्त घटना के फलस्वरूप 1935 के अधिनियम के द्वारा भारत में संस्थापित 'संघीय व्यवस्था' से मुस्लिम लीग ने पृथक होने का निर्णय लिया तथा 1939 में उन्होंने 'संघीय उद्देश्यों' के प्रति भारतीय मुसलमानों के विरोध की घोषणा की। 1940 में मुस्लिम लीग ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें स्पष्ट में शब्दों में भारत के विभाजन एवं पाकिस्तान के निर्माण की मांग की गई। इसके अन्तर्गत उत्तर-पूर्व तथा उत्तर-पश्चिम के मुसलमानों के बहुसंख्यक प्रदेशों को मिलाकर स्वतंत्र पाकिस्तान की स्थापना का सुझाव दिया गया।

यद्यपि कूपलैण्ड तथा वेनी प्रसाद ने अपने अध्ययन में 1937 में कांग्रेस को मुस्लिम लीग के साथ सम्मिलित सरकार न बना सकने का दोषारोपण किया है। इन लेखकों के अनुसार कांग्रेस अपने विजय उन्माद में समाजवाद और सर्वसत्तावाद के कारण 1937 में मुस्लिम लीग को अपने साथ सम्मिलित करने में असमर्थ रही। सम्भवतया उपरोक्त लेखकों ने तथा अन्य आलोचकों ने इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया कि 1937 से पूर्व समस्त महत्वपूर्ण प्रश्नों जैसे पृथक चुनाव क्षेत्र, साम्प्रदायिकता अविनिर्णय, अल्पसंख्यक सुरक्षा 1935 का अधिनियम, संविधान सभा आदि पर मुस्लिम लीग और कांग्रेस पूर्णतया असहमत थे। इसके अतिरिक्त जनवरी 1937 को कलकत्ता में जिन्नाह ने कहा कि पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कलकत्ता में अपने वक्तव्य में देश के भीतर दो ही दल बताये, एक कांग्रेस और एक सरकार। जिन्नाह ने कहा कि 'मैं कांग्रेस के साथ खड़ा होना पसन्द नहीं करता और तीसरा दल भी देश में है और वह है मुस्लिम दल।' ढाका में जनवरी 8, 1937 को जिन्नाह ने कहा कि वर्तमान समय में कांग्रेस और मुस्लिम लीग में मौलिक मतभेद है। चुनाव के मध्य जब कांग्रेस ने मुसलमान प्रत्याशी मुस्लिम लीग के विरुद्ध खड़े किए तो जिन्नाह ने कहा कि हमारी नीति और योजनायें कांग्रेस से सर्वथा पृथक हैं और हम आनन्द भवन के समक्ष सिर नहीं झुकायेंगे। कांग्रेसी नेताओं ने कहा कि हम मतभेद से सहमत हैं। इस प्रकार के राजनैतिक विरोध एवं व्यक्तिगत भर्त्सना के वातावरण में कांग्रेस और लीग का मिलाप किसी चमत्कार द्वारा ही सम्भव था, जो हुआ नहीं।

जिन्नाह ने लिनलिथगों तथा भारत सचिव के कथन को भविष्य में पावस वचनों की संज्ञा देकर अपने द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त को अनुमोदित किया । महा-राज्य पाल तथा ब्रिटिश अधिकारी इस तथ्य से अनिभिज्ञ नहीं थे कि वे मुस्लिम लीग का समर्थन कर विषयारोपण कर रहे थे वरन् वे इस धारणा से प्रतिवद्ध थे कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को दमनित करने हेतु यह एक सफल युक्ति थी । और अपनी इस प्रवृत्ति के द्वारा उनको वर्षों से पीड़ित कर रहे अपने प्रवल शत्रु से छुटकारा प्राप्त हो जाता । लार्ड लिनिलिथगो ने राज्य-सचिव को अपने गुप्त संदेश में भारत सरकार के गृह विभाग की योजना से अवगत किया जिसमें कांग्रेस पर दमनकारी प्रहार आयोजित था ।

निस्सन्देह विभाजन की समस्या एक जटिल प्रश्न था जो फलतः रक्त रंजित वातावरण से अभिशेकित हुआ । 16 अगस्त 1946 को कलकत्ता हत्याओं ने पूर्ण राजनैतिक वातावरण को दूषित कर दिया । आरम्भ में तो नेहरू ने भी कलकत्ता उपद्रवों को अभद्र व्यवहार की संज्ञा दी परन्तु कुछ ही समय में उसके परिवर्तित स्वरूप के कारण उपद्रवों को मुस्लिम लीग की धरोहर बताया ।

कलकत्ता में हत्याओं का सिलसिला 16 अगस्त को आरम्भ हुआ और 20 अगस्त तक चार हजार हत्यायें और ग्यारह हजार घायल हो चुके थे । लियाकत अली खान जो मुस्लिम लीग के सचिव थे, कांग्रेस पर पूर्ण उत्तर-दायित्व रख रहे थे, क्योंकि उनके अनुसार कांग्रेस के "हिन्दू राज्य" के नारे ने साम्प्रदायिकता की भावना को प्रज्जवलित कर दिया था । जिन्नाह ने कलकत्ता कांड को वायसराय, गाँधी और कांग्रेस का कार्य बताया और कहा कि उनका कार्य मुस्लिम लीग को अप्रतिष्ठत करना था । लन्दन के एक विशिष्ट समाचार पत्र ने देशीय राजनैतिक वातावरण को प्रत्यारोपों एवं कटु अलोचना से परिपूर्ण बताया । इस प्रकार के वातावरण में यह निर्णय करना कि किस ओर से उपद्रवों को प्रोत्साहित किया गया था निस्सन्देह कांग्रेस और लीग जो इसमें निर्णायक नहीं हो सकते थे । सर्व प्रथम उस समय की जन विचार धारा का अध्ययन भी आवश्यक है ।

कांग्रेस कार्य समिति ने कलकत्ता उपद्रव को मुसलमानों द्वारा शास्त्र सज्जित होकर निशस्त्र हिन्दू समुदाय पर आक्रामक नीति को मुखय कारण की संज्ञा दी । बंगाल मुस्लिम लीग समिति ने शान्तिपूर्ण मुस्लिम जुलूस को प्रत्येक स्थान पर आक्रामक संकट से अविभूत बताया कलकत्ता की एक पत्रिका ने मुस्लिम वर्ग के आक्रामक चित्र प्रकाशित किये और लिखा कि उनके सर्वोच्च नेता ने जेहाद की घोषणा कर यह स्थिति उत्पन्न कर दी है । आचार्य सूद ने

लिखा कि मनुष्य द्वारा सृजित अनर्थ में दोनों दलों का उत्तरदायित्व सम्मिलित था और भविष्य में घोर संकट एवं गृह युद्ध के लक्षण स्पष्ट हो रहे थे।

इससे पूर्व अप्रैल 1946 में गांधी ने गृह युद्ध की चर्चा को असंगत संलाप कहा परन्तु अगस्त में समाचारपत्रों ने इस कलकत्ता उपद्रवों को गृह युद्ध की संज्ञा देना प्रारम्भ कर दिया। प्रकाशित समाचारों में कहा गया कि कलकत्ता का रक्त रंजित उपद्रव किसी गृह युद्ध से किंचित न्यून नहीं था।

भारतीय विभाजन के अन्तर्गत जो रक्तपात व अशान्तिमय वातावरण का सृजन हुआ उसके उत्तरदायी कांग्रेस, मुस्लिम लीग व ब्रिटिश प्रशासन थे। पारस्परिक वैमनस्य ने एक दूसरे पर दोषारोपण किया। अंततः माउन्टबेटन योजना ही कार्यान्वित रही। ब्रिटिश प्रशासकों ने जब यह समझ लिया कि यह लोग स्वतंत्र हो जायेगें, उन्होंने अपनी कूटनीति के अनुसार भारत के विभाजन (पूर्वी पाकिस्तान और पश्चिमी पाकिस्तान) में पूर्णतया सहयोग दिया। कलकत्ते में हुए उपद्रवों का एक कारण यह भी था कि पूर्वी पाकिस्तान के पक्षपाती कलकत्ते को अपनी राजधानी बनाना चाहते थे जो व्यवसायिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण था। इस बात पर भी अत्यन्त अशांति का वातावरण हुआ और फलस्वरूप रक्तपात हुआ। दूसरी तरफ पश्चिमी पाकिस्तान के हिमायती पंजाब को भी अपने आधीन करना चाहते थे।

विभाजन के प्रति सम्भवतः प्रधानमन्त्री विंस्टन चर्चिल की राष्ट्रपति रूजवेल्ट से कथित भविष्यवाणी सत्य ही सिद्ध हुई। 1945 में अमरीका के राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने भारतीय स्वतन्त्रता के प्रति विशेष रुचि प्रदर्शित करना प्रारम्भ कर दिया था। यद्यपि उन्होंने 1944 में कर्नल लुई जॉनसन को अपने प्रतिनिधि के रूप में भेजा था, किन्तु 1945 में विलियम फिलिप्स को भारत भेजकर उन्होंने अंग्रेजी सरकार पर भारतीय स्वतन्त्रता के प्रश्न को सरलतापूर्वक हल करने की चेष्टा की। यद्यपि फिलिप्स को विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई, फिर भी जब राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने भारतीय सम्बन्धों को लेकर ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री विन्स्टन चर्चिल से वार्ता की तो ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री ने स्पष्ट कहा 'यदि भारतीय विभाजन के कपाट को किंचित भी खोलने की चेष्टा की गई तो विश्व इतिहास में यह एक महान रक्तपात होगा।' क्या चर्चिल की भविष्यवाणी सत्य नहीं थी?

●

ग्रन्थ निर्देश संदर्भिका

REFERENCES

ब्रिटिश पटाक्षेप

1. Symonds, R : The Making of Pakistan, London, 1950.

2. Khan, Waheed : India Wins Freedom, The Other Side, Karachi, 1961.

3. Rush Brook, Williams : A Prime MinisterRemembers, London, 1961.
The State of Pakistan, London, 1966.

4. Sen, S : The Birth of Pakistan, Calcutta, 1955.

5. Saiyid, M. H : Mohammad Ali Jinnah Lahore, 1953.

6. Tendulkar, D. G : Mahatma : Life of Mohandas Karamchand Gandhi 8 Vols. Bombay, 1951-54.

7. Philips, C. H (ed) : The Evolution of India and Pakistan, London, 1962.

8. Edwards, M : The Last Years of British India, London, 1963.

9. Bolitho, H : Jinnah : Creator of Pakistan, London 1954.

10. Browinski, L : A History of India, Moscow, 1980.

11. Aziz, K. K. : Britain & Muslim India, 1857-1947, London, 1963.
The Making of Pakistan : A Study in Nationalism, London, 1967.
Back Ground to Mass Murder, New Delhi, 1950.

12. Albiruni, A. H : Makers of Pakistan and Modern Muslim India, Lahore, 1950.

13. Azad, Abdul Kalam : India Wins Freedom, Bombay, 1959.

14. Khaliquzzaman, C : Pathway to Pakistan, Lahore, 1961.

15. Ali, Choudhary Mohammad : The Emergence of Pakistan, New York 1967.

16, Philips, C. H and Wainwright. M. D. (ed) : The Partition of India, 1935-1947, London, 1970.

17. Indian Annual Register : 1936, Vol. I.

18. Moon, Penderal : Divide and Quit. London, 1961.

19. Lumby E. W. R : The Transfer of Power in India, 1945-47 London, 1945.

20. Campbell, Johnson : A Mission with Mountbatten, Loodnn, 1951.

21. Jeffries, C : The Transfer of Power, London, 1960.

22. Husain, M (ed) : A History of Freedom Movement, Vol. IV, Karachi, 1961.

23. Majumdar, S. K. : Jinnah and Gandhi 'Their Role in Indias' Quest for Freedom, Calcutta, 1966.

24. Mosley, L : The Last Days of British Raj London, 1961.

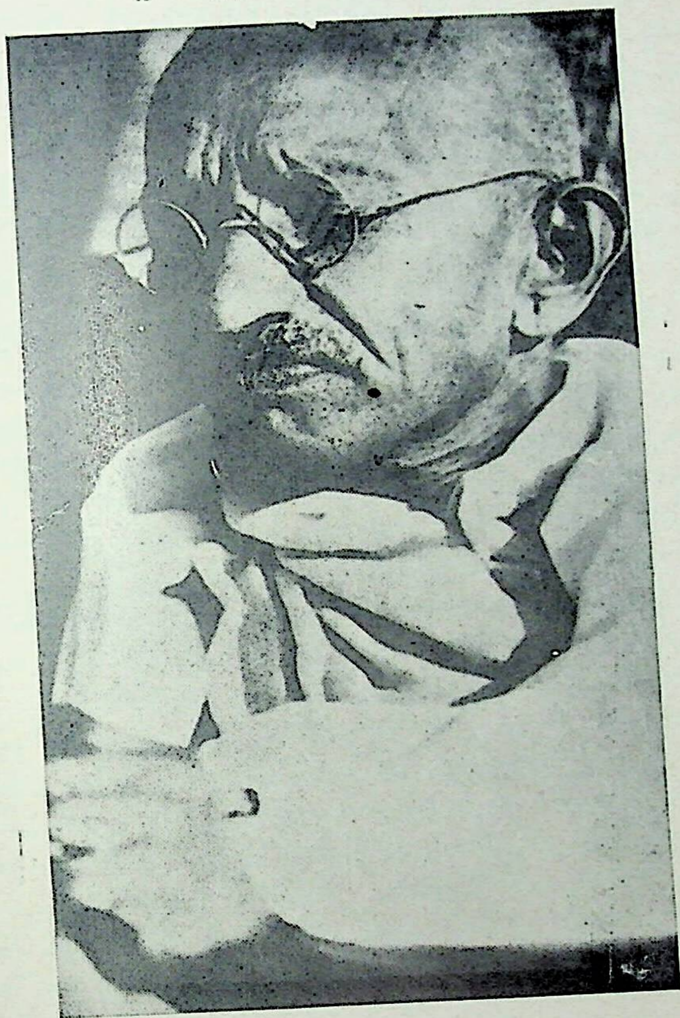
*

अध्याय 28

महात्मा गाँधी

'आने वाली पीढ़ियों के लोग कदाचित ही यह विश्वास करेंगे कि महात्मा गाँधी जैसा व्यक्ति कभी विश्व के इन मार्गों पर चला था और लोगों से मिला था।' महान वैज्ञानिक आइन्स्टाईन के यह शब्द स्वयं में महात्मा के प्रति अपनी सार्थकता, साधुता, राजनैतिकता एवं महानता को परिलक्षित करते है आइन्स्टाईन जो स्वयं वैज्ञानिकों में सन्त थे, महात्मा के प्रति अपने शब्दों के द्वारा उन्होंने वैज्ञानिक आमूलता प्रदत्त की है।

मोहनदास करमचन्द गाँधी (1869-1948) का जन्म पश्चिमी भारत के गुजरात प्रदेश में हुआ था, जहाँ इनके पिताश्री एवं पितामह राज्य के प्रधानमन्त्री रह चुके थे। यहाँ के हिन्दू समाज पर दयानन्द सरस्वती एवं क्षेत्रीय मुसलमानों, जैनों तथा पारसियों का धार्मिक प्रभाव स्पष्टरूपेण लक्षित था। प्रारम्भ से ही आप धार्मिक मान्यताओं के प्रति अत्यन्त उदारवादी दृष्टिकोण रखते थे। अपने वैष्णव धर्म में अत्यधिक श्रद्धा होने के पश्चात भी आप अन्य धर्मों को समान महत्व प्रदान करते थे। आप ईसाई धर्म के प्रति उदासीन थे इसका कारण बतलाते हुए आपने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि नि:सन्देह किसी समय यह एक महान धर्म था, परन्तु वर्तमान समय में इसाई मिशनरी केवल हिन्दू धर्म को अपशब्द कहने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं करते; तथापि उनके जीवन में आनेवाली घटनाओं के अध्ययन से यह विदित होता है कि आप इसाई धर्म को अपने धर्म के समान ही मान्यता प्रदान करते थे। महात्मा गाँधी की ईमानदारी का प्रमाण उसी दिन प्राप्त हो गया था जब उन्होंने अपने अध्यापक द्वारा कहे जाने के पश्चात भी नकल करना अस्वीकार कर दिया था। उनका विवाह बचपन में ही हो गया था, इसके सम्बन्ध में आपका कहना था कि बाल विवाह किसी भी प्रकार नैतिक नहीं था। केवल 18 वर्ष की अल्पायु में आपने सर्वप्रथम इग्लैण्ड की यात्रा की थी। गांधी जी अपने सम्प्रदाय में प्रथम पुरुष थे जिसने 'मनु' के नियमों



मोहन दास कर्मचन्द गाँधी

के विरुद्ध समुद्र पार यात्रा की थी। यहीं पर इन्होंने सर्वप्रथम 'गीता' का अध्ययन भी किया था।

जिस समय मैडम ब्लाव्तस्की, ऐनी बेसेन्ट को भारत जाने की प्रेरणा दे रही थीं उसी समय गांधी जी उन दोनों स्त्रियों से मिले तथा उन्होंने उनके इस 'मातृत्व' की भावना का स्वागत किया। गीता के समान ही आपने 'सरमन आन द माउन्ट' का अध्ययन किया एवं आपका कहना था कि भगवद्गीता के ही समान यह भी सीधे मेरे हृदय को स्पर्श करता है। भारत वापस आने के पश्चात इस युवा बैरिस्टर ने अपने भविष्य निर्धारण के लिए 1893 में दक्षिणी-अफ्रीका के लिये प्रस्थान किया। वहाँ पहुंचने के पश्चात आपके जीवन में एक ऐसी घटना हुई जिससे आपके जीवन की सम्पूर्ण धारा ही परिवर्तित हो गई। प्रथम श्रेणी का टिकट होने के पश्चात भी रंग-भेद के आधार पर आपको मारित्ज़ बर्ग रेलवे स्टेशन पर उतार दिया गया। इस घटना के पश्चात आपके अन्दर संघर्ष की वह नव चेतना जागृत हुई जिसने आपके जीवन की सम्पूर्ण धारा ही परिवर्तित कर दी। कुछ ईसाईयों का कहना है कि इसी एक मात्र घटना के कारण ईसाई धर्म स्वीकार करने को उत्सुक गांधी इसे स्वीकार नहीं कर सके, यद्यपि आप 'जीसस' को सत्याग्रहियों का राजा कहते थे, एवं उनके विचारों से पूर्णरूपेण सहमत थे। धार्मिक लेखों के सम्बन्ध में आप 'जान रस्किन' से अत्यधिक प्रभावित हुये यद्यपि उनके अनुसार आपने स्वयं को परिवर्तित नहीं किया। गांधी जी के पास जो अपार ख्याति थी उसका सर्वप्रथम प्रयोग आप अफ्रीका में करने जा रहे थे। एल्बर्ट श्विटसर के अनुसार "आपके व्यक्तित्व एवं जीवन धारा के एक कोने पर 'इग्लैण्ड में निर्मित' शब्द अंकित थे।" रस्किन के अतिरिक्त टालसटाय तथा थोरो के साहित्य से भी आप अत्यधिक प्रभावित हुये। आपके विचारों में इमरसन के लेखों में पाश्चात्य गुरु द्वारा भारतीय ज्ञान का अवलोकन होता था। गोखले को अपना राजनैतिक गुरु स्वीकार करते समय आपने यह भी स्वीकार किया कि आपको धार्मिक पथ-प्रदर्शक की प्राप्ति नहीं हो सकी तथा ये वेदों, उपनिषदों, अवतार, पुर्नजन्म, गो-रक्षा तथा वर्णाश्रम धर्म में विश्वास तथा पूर्ण आस्था रखते थे।

दक्षिणी अफ्रीका में ही सर्वप्रथम आपने सत्याग्रह के मार्ग की खोज की। दक्षिणी अफ्रीका की सरकार के विरुद्ध संघर्ष के इतिहास में ही आपके सत्य के प्रति प्रयोगों का इतिहास है। इन संघर्षों में आपने सर्वथा अहिंसात्मक मार्ग का समर्थन किया। प्रारम्भ में आपने इसे निष्क्रिय प्रतिरोध की संज्ञा प्रदान की। तत्पश्चात् इसकी निष्क्रयता तथा निर्बलताओं के आक्षेपों से प्रभा-

वित होकर आपने इसका नाम 'सत्याग्रह' रख दिया। अफ्रीका की जेल में आपने 'थोरो के 'सविनय अवज्ञा' लेख का अध्ययन किया तथा इससे आपने अपने आन्दोलन के लिए शिक्षा ग्रहण की। थोरो तथा गांधी दोनों जनता के प्रति कम से कम प्रशासकीय हस्तक्षेप में विश्वास रखते थे।

भारतीय राजनैतिक मंच पर सर्वप्रथम आपका उदय 1918 में हुआ एवं 1919 में आप देश के सर्वाधिक लोकप्रिय नेता के रूप में सुप्रसिद्ध हो गए। आपके तत्कालीन लेखों तथा भाषणों में प्रयुक्त असहयोग, स्वराज्य की शिक्षा, आधुनिक संस्कृति, स्वदेशी का सिद्धान्त, अहिंसा की नीति, निष्क्रिय प्रतिरोध एवं आत्मिक बल ने सभी का ध्यान आकर्षित किया। हिन्दू मुस्लिम एकता, कुटीर उद्योगों की उपयोगिता तथा बेसिक शिक्षा के लाभों का वर्णन आपके लेखों में उपलब्ध रहता था। उपर्युक्त सभी विषयों पर उपलब्ध आपके विचारों को गांधीवाद की संज्ञा भी प्राप्त है।

दो वर्गों में विभाजित भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलनकर्ताओं के सभी शीर्षस्थ नेताओं से आपके सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे। गर्म तथा नर्म दोनों दलों के नेताओं द्वारा गांधी जी के विचारों को सहमति तथा प्रोत्साहन प्राप्त होता था। 'गोपाल कृष्ण गोखले गांधी जी को मनुष्यों में मनुष्य, वीरों में वीर तथा देशभक्तों में देशभक्त मानते थे। उनके अनुसार तत्कालीन भारत में गांधी भारतीय मानवता के मार्ग पर मील के पत्थर के समान थे। गांधी जी गोखले को अपना राजनैतिक गुरु मानते थे परन्तु वास्तव में वह तिलक की विचारधाराओं से भी प्रभावित थे। परन्तु इस विषय में अत्यन्त मतभेद है। अनेक विषयों पर गांधी तथा गोखले में भी मतभेद थे।

दक्षिण अफ्रीका में एक लम्बी अवधि तक रहने के पश्चात् 1915 में आप भारत वापस आए। रंग-भेद नीति के आधार पर अश्वेतों के प्रति अन्याय के विरुद्ध अपने सत्याग्रह का अफ्रीका में सफलतापूर्वक प्रयोग किया था। दक्षिणी अफ्रीका में उपर्युक्त आन्दोलन के समाचारों से देशवासी आपके साहस तथा निस्वार्थ सेवा की भावनाओं से प्रभावित थे। भारत लौटने के तुरन्त पश्चात् ही अपने भारत की सक्रिय राजनीति में भाग लेना आरम्भ नहीं कर दिया अपितु सर्वप्रथम भारतीय राजनैतिक स्थिति का अवलोकन एवं अध्ययन प्रारम्भ किया।

तत्कालीन भारत की राजनैतिक स्थिति अपनी दयनीयता की चरम सीमा पर थी। बंगाल विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न तनाव में भी विरलता आ चुकी थी। नर्म तथा गर्म दल के आपसी संघर्षों से तथा गर्म दल द्वारा दल त्याग के कारण कांग्रेस में पर्याप्त निर्बलता उत्पन्न हो गयी थी। फलस्वरूप दोनों ही

दल भारत के लिए राष्ट्रीय स्तर पर एक वास्तविक नेता प्रस्तुत करने में असमर्थ थे। इसी के साथ-साथ मुस्लिम लीग नामक एक अन्य दल का उदय भी शनैः शनैः हो चुका था। ऐसी परिस्थिति में भारत को एक ऐसे सच्चे नेता की आवश्यकता थी जो वास्तव में राष्ट्रीय स्तर पर देश को प्रतिनिधित्व प्रदान कर सकता, जिसमें अपने दर्शन को जन साधारण में लोकप्रिय बनाने की योग्यता एवं जिसमें आपसी स्वार्थ तथा वैचारिक मतभेद के आधार पर विभाजित विभिन्न सभी दलों को सन्तुष्टि प्रदान करने की क्षमता होती। उपर्युक्त सभी कार्यों में गांधी जी ने आश्चर्यजनक रूप में सफलता प्राप्त की। 1919-20 के आन्दोलनों पर ऐनी बेसेन्ट के स्वशासन संघ के आन्दोलनों का प्रभाव पूर्णरूपेण परिलक्षित था।

1918 से गांधी जी ने अपने विचारों को 'हिन्द स्वराज्य' में लिखा। उनके विचार में अंग्रेजों द्वारा नहीं अपितु रेलवे, टेलीग्राफ, टेलीफोन तथा सभ्यता के अन्य आविष्कारों की सहायता से आधुनिक संस्कृति द्वारा शासित था। बम्बई, कलकत्ता तथा अन्य भारतीय महानगर वास्तविक रूप से प्रभावित थे। ब्रिटिश शासन को भारतीय शासन द्वारा स्थानापन्न किए जाने से केवल थोड़े से उस धन की सुरक्षा संभव थी जो इंगलैण्ड चला जाता था। एक ओर गांधी जी भारत के राजनैतिक मंच पर आने के पूर्व अपने विचारों से जनसाधारण के विचारों को उद्वेलित कर रहे थे, दूसरी ओर वह आधुनिक भारतीय राजनैतिक इतिहास का एक नया अध्याय, 'असहयोग आन्दोलन, प्रारम्भ कर रहे थे। 1920-21 में शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय स्तर पर प्रथम 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' ने देश की राजनीति को एक नवीन आयाम प्रदान किया। असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ करने के पूर्व गांधी जी ने अफ्रीका में प्राप्त अपने अनुभवों के आधार पर चम्पारन तथा खेडा के आन्दोलन में भाग लिया था।

असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ करने के तत्कालीन कारणों में रौलट अधिनियम, जालियाँवाला बाग दुर्घटना एवं खिलाफ़त आन्दोलन मुख्य थे। उपर्युक्त कारणों के साथ-साथ विश्वयुद्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक स्थिति ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ करने का सुअवसर प्रदान कर दिया था। युद्ध लक्ष्यों की घोषणा करते समय प्रजातन्त्र एवं निर्बल राष्ट्रों की सुरक्षा का आश्वासन दिया गया था, फलस्वरूप देश की जनता में अपनी स्वतन्त्रता के प्रति एक प्रकार का विश्वास उत्पन्न हो गया था। परन्तु युद्ध के पश्चात् भारतीयों को निराशा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं प्राप्त हुआ; साथ ही साथ भारत के कुछ नेताओं की गिरफ्तारियों से भी जनता की कोमल भावनाओं को चोट पहुंची। 19 जुलाई 1918 के भारतीय सुरक्षा अधिनियम

से जनसाधारण के अधिकारों तथा स्वतन्त्रता पर भी अंकुश लगा दिया गया।

भारतीय राजनीति में गाँधी जी के पदार्पण के साथ ही उनकी विचार धाराओं तथा व्यक्तित्व के कारण उदार एवं आतंकवादियों के मध्य मतभेद कुछ सीमा तक समाप्त हो गये थे। के० एम० मुन्शी ने लिखा है कि किस प्रकार 1919 के अधिवेशन में गांधी जी ने प्रत्येक सदस्य को प्रभावित कर लिया था। सितम्बर 1920 में कलकत्ता के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में यह घोषणा की गई कि भारतीय प्रतिष्ठा की सुरक्षा हेतु 'स्वराज्य' की स्थापना आवश्यक है। 1920 में कांग्रेस के अगले नागपुर अधिवेशन में असहयोग आन्दोलन की तत्कालीन सफलता पर हर्ष व्यक्त करते हुए अहिंसात्मक असहयोग, कर देने में अस्वीकृति, सरकारी विद्यालयों तथा न्यायालयों का वहिष्कार करने की रूपरेखा तैयार की गई। भारत को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्वी तथा स्वतन्त्र बनाने के लिये कांग्रेस ने व्यापारियों तथा व्यवसायियों को धीरे-धीरे विदेशी व्यापार से सम्बन्ध समाप्त करने को उत्साहित किया तथा कुटीर उद्योग एवं हथकरघा को अपनाने पर बल दिया।

अक्टूबर 1934 में बम्बई के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अधिवेशन के पश्चात् गांधी जी ने अखिल भारतीय कुटीर उद्योग संघ का निर्माण किया। गांधी जी जो कहते थे वह करते भी थे। इसका ज्वलन्त उदाहरण इससे प्राप्त होता है कि उन्होंने एक गांव में बसने का निर्णय लिया तथा सेवाग्राम को गांधीवाद पर आधारित ग्रामीण कल्याण का केन्द्र बनाया। 'अखिल भारतीय कुटीर उद्योग संघ' ने आस-पास के गाँवों में न्यूनतम पूंजी तथा बिना किसी बाह्य सहायता के खोले जाने वाले उद्योगों के लिए सहायता प्रदान की। संघ ने इनके प्रशिक्षण के लिये एक विद्यालय भी खोला।

गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस ने ग्रामीण उद्योग, हथकरघा तथा चरखा उद्योग का नवीनीकरण किया। भारत की आर्थिक उन्नति के सम्बन्ध में गांधी जी का कहना था कि स्वतन्त्र भारत की आर्थिक उन्नति का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति, पुरुष तथा स्त्री की आर्थिक उन्नति।' इस पद्धति के अन्तर्गत प्रत्येक स्त्री पुरुष के पास वस्त्र तथा उत्तम भोजन होना चाहिए जो आज लाखों जनता के पास नहीं है।

गांधी जी के विचारों में बुराइयों के प्रति अहसयोग उतना ही उत्तम कार्य था जितना अच्छाइयों के साथ सहयोग। निष्क्रिय विरोध के दर्शन को प्रतिपादित करने वाले व्यक्तियों के प्रति आभार व्यक्त करते हुए गांधी जी ने स्वीकार किया था कि इसकी नवीनता ने ही निष्क्रिय विरोध की अच्छाइयों

तथा उसके मूल्यों से परिचय कराया था एवं भगवद्गीता तथा टाल्सटाय के 'द किंगडम ऑफ गाड इज़ विदइन यू' ने इसके प्रभावों को स्थायित्व प्रदान किया था। गांधी जी के विचार में निष्क्रिय विरोध के स्थान पर सत्याग्रह संज्ञा इसके वास्तविक अर्थ का निरूपण करती थी। शास्त्रों की शक्ति के स्थान पर सत्य की शक्ति ही वास्तविक आध्यात्मिक बल होती है, ऐसा गांधी जी का विचार था। सत्य, प्रेम तथा अहिंसा से उत्पन्न शान्ति ही सत्याग्रह होती है, अतएव मैंने भारतीय आन्दोलन को सत्याग्रह की संज्ञा प्रदान की है। सत्याग्रह करने की एक कला है तथा सत्याग्रही को सच्चाई का जीवन व्यतीत करना चाहिये। सत्य तथा अहिंसा उसके पथ प्रदर्शक होते हैं, सत्य का मार्ग वीरों का मार्ग होता है न कि कायरों का।

इन विचारों से सुसज्जित होकर गांधी जी ने कांग्रेस को देश के प्रत्येक ग्राम तक फैलाया। 1920 के कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में गांधी जी की सफलता के पश्चात् का युग गांधी-युग के नाम से सम्बोधित होता है। असहयोग आन्दोलन की योजना के अनुसार विभिन्न व्यक्तियों ने अपनी शासकीय पदवियाँ लौटा दीं। गाँधी जी ने 'कैसरे-हिन्द' की उपाधि सरकार को वापस कर दी। विदेशी वस्त्रों की होली स्थान-स्थान पर प्रारम्भ हो गई, देश के कोने-कोने में हड़ताल तथा शान्त प्रदर्शन प्रारम्भ हो गये। लोगों ने खादी का वस्त्र पहनना प्रारम्भ कर दिया। बड़े-बड़े लोगों ने अपनी वकालत छोड़ दी। मोतीलाल नेहरू जैसे सर्वाधिक प्रसिद्ध वकील ने भी न्यायालय का परित्याग कर दिया। चारों ओर मद्य निषेध का वातावरण तेजी से बनने लगा। स्कूलों तथा कालेजों के विद्यार्थियों ने कालेज स्कूलों का त्यागकर आन्दोलन में सक्रिय सहयोग प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया। सुभाषचन्द्र बोस ने आई० सी० एस० का सर्वोच्च पद त्याग दिया। सुभाष के बहिष्कार को पूर्णतया सफलता प्राप्त हुई। सम्पूर्ण भारत में स्वतन्त्रता के लिये अभूतपूर्व रूप से उन्माद का वातावरण निर्मित हो गया था। 1921 में ड्यूक आव कनाट तथा प्रिंस आफ वेल्स का स्वागत काले झंडों, बन्द बाजारों तथा सूनी सड़कों से किया गया।

दिसम्बर, 1921 में अहमदाबाद के कांग्रेस अधिवेशन में असहयोग आन्दोलन के साथ-साथ 'सविनय अवज्ञा' आन्दोलन का प्रस्ताव भी पारित हो गया जिसका नेतृत्व महात्मा गांधी को प्राप्त हुआ। गांधी जी के इन आन्दोलनों में महत्वपूर्ण बात यह थी कि इनके विरुद्ध शासन का दमन चक्र जितना ही तीव्र होता था, आन्दोलन उसी सीमा में उसी स्तर पर विस्तृत हो जाता था। धीरे-धीरे यह आन्दोलन गांव-गांव में पहुंच गया। किसानों

ने मालगुजारी देना बन्द कर दिया। देश के कारागारों में बन्दियों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी परन्तु दुर्भाग्यवश उसी बीच चौरा-चौरी का काण्ड हो गया जिसे हिंसा का नाम देकर गांधी जी ने आन्दोलन बन्द कर दिया। आन्दोलन स्थगित होने के समाचार से लगभग सभी कांग्रेसी नेता, जैसे सी० आर०दास, सुभाषचन्द्र बोस, मोतीलाल नेहरू एवं जवाहरलाल नेहरू विचलित हो गये थे। जवाहर लाल नेहरू के अनुसार, फरवरी, 1922 में सत्यागह को स्थगित किये जाने के पीछे केवल चौरा-चौरी काण्ड उत्तरदायी नहीं था। वास्तव में तत्कालीन आन्दोलन अन्दर से अत्यन्त निर्बल हो चुका था, संगठन तथा अनुशासन लगभग समाप्त हो गये थे तथा इसमें कोई शंका नहीं थी, कि आन्दोलन यदि उसी प्रकार चलता रहता तो विभिन्न स्थानों पर विभिन्न हत्याकाण्ड हो चुके होते तथा इन हत्याकाण्डों को शासन बर्बरता से कुचलती एवं भारत में भय का साम्राज्य स्थापित हो जाता, जिससे लोग आने वाले संघर्ष के दिनों में साहस खो बैठते।

सर्वप्रथम गांधी जी शिक्षित वर्ग का प्रयोग करना चाहते थे। उनके विचार में पूर्णरूपेण समर्पित समाज सेवियों के दल के संगठन के लिए प्रारम्भ में शिक्षित वर्ग के लोगों को आना चाहिए, और असहयोग के अन्तिम चरण पर यह निम्न वर्ग तथा मजदूरों द्वारा संचालित होना चाहिए। तत्कालीन कांग्रेस की राजनीति मध्यम वर्ग तथा उच्च वर्ग द्वारा प्रभावित थी तथा इन लोगों ने कांग्रेस में अपनी उपयोगिता के प्रति निराश होकर दल-त्याग प्रारम्भ कर दिया, परन्तु गांधी जी के संवैधानिक विधियों पर विश्वास करनेवाले तथा गांधी जी को एकमात्र योग्य प्रतिनिधि माननेवाले बहुसंख्यक वर्ग ने गांधीवाद में अपनी आस्था प्रदर्शित कर कांग्रेस की सदस्यता को त्यागना उचित नहीं समझा। फलस्वरूप गांधी जी का असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तथा लगभग 30 हजार लोग देश के विभिन्न भागों से जेलों में गये।

1923 में स्वराज्य पार्टी की स्थापना हो चुकी थी जिसके प्रमुख सदस्य मोतीलाल नेहरू एवं सी० आर० दास थे। कांग्रेस के स्थायित्व के लिए यह एक संकटकालीन समय था, क्योंकि इसका एक दल कांग्रेस को छोड़ने के लिए उत्सुक था जबकि बहुमत गांधी जी के ही साथ था। कांग्रेस के भविष्य को ध्यान में रखते हुए गांधी जी ने यह कहा था कि वह बहुमत का प्रयोग कुछ लोगों को कांग्रेस से निष्कासित करने में नहीं करेंगे, क्योंकि उन्हीं की भाँति वे भी समान रूप से देशप्रेमी थे; केवल उनके कार्य करने की विधि में ही अन्तर था। अतः कांग्रेस की सम्भावित क्षीणता की रक्षा हेतु यह आवश्यक था कि ऐसे लोग कांग्रेस में रहते हुए भी अनुशासन के अनुसार कार्य करें।

इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस विभाजन से सुरक्षित हो गई एवं अभूतपूर्व रूप से एक संगठित दल के रूप में स्थापित हो गयी ।

इसी मध्य गाँधी जी का यह कहना था कि कुछ अनिश्चित कारणों से शिक्षित वर्ग तथा उनके मध्य मतभेद में वृद्धि होती जा रही थी । उन्होंने यह स्वीकार किया कि वह यह भी जानते थे कि किस प्रकार शिक्षित वर्ग को प्रभावित किया जा सकता था । अतएव 1924 में कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने यह निर्धारित कर दिया कि केवल वे ही लोग कांग्रेस के सदस्य हो सकते थे जो स्वयं चरखा चलाकर बुनाई करते हों । तत्पश्चात् ही इस नियम का तीव्र विरोध प्रारम्भ हो गया । विरोधी वर्ग इसके प्रयोगात्मक महत्व को जानने के लिए उत्सुक था । गाँधी जी कांग्रेस को एक शारीरिक श्रमिकों का दल बनाना चाहते थे और इसी कारण उन्होंने बुनाई को कांग्रेस की 'सदस्यता टोकन' के रूप में निर्धारित कर दिया । लोगों का विचार था कि पूर्ण स्वावलम्बन पूंजीवाद के उस युग में असम्भव था, परन्तु गाँधी जी ने खादी की सहायता से धीरे-धीरे इकाइयों की संरचना पर बल प्रदान किया । स्वावलम्बन के विचार को गाँधी जी ने अपने स्वदेशी आन्दोलन का मुख्य आधार बनाया था । मद्रास की एक मिशनरी सभा में स्वदेशी का विवरण देते हुए गाँधी जी ने कहा कि 'यह उस आत्मा के समान है जो हमें अपने आस पास से किसी प्रकार भी सहायता प्राप्त करने से प्रतिबन्धित करती है।'' गाँधी जी के अनुसार 'सविनय अवज्ञा' आन्दोलन प्रारम्भ करने के पूर्व संरचनात्मक कार्य के रूप में इसकी तैयारी आवश्यक थी । कांग्रेस के ही सुप्रसिद्ध नेता सी०आर० दास ने यह माँग की कि इस नियम को अविलम्ब समाप्त कर देना चाहिए क्योंकि इसका कोई प्रयोगात्मक आधार नहीं था, परन्तु यह जन साधारण श्रमिक वर्ग की राष्ट्रीयता नहीं थी अपितु उन लोगों की राष्ट्रीयता थी जो शिक्षित वर्ग द्वारा जन साधारण के नेतृत्व में विश्वास रखते थे ।

इसी प्रकार 1921 में चौरा-चौरी कांड के पश्चात् 'सविनय अवज्ञा' आन्दोलन को गाँधी जी द्वारा बन्द कर देने से भी राजनैतिक वर्ग में असंतोष व्याप्त हो गया था । उनके विचार में गाँधी जी ने हिंसा से भयभीत होकर आन्दोलन बन्द कर दिया था । परन्तु गाँधी जी का कहना था कि यदि कांग्रेस अपनी अहिंसात्मक नीतियों का पालन स्वयं नहीं करती है तो मेरी सेना आधार रहित हो जाएगी ।

कुछ ही वर्षों पश्चात् 1930 में गाँधी जी ने देश में "सविनय अवज्ञा" आन्दोलन के दूसरे चरण को प्रारम्भ करने की इच्छा व्यक्त की । लोगों ने यह पूछा कि नमक-नियम को ही क्यों उन्होंने आन्दोलन का आधार बनाया ?

उन लोगों के विचार में भूमि से सम्बिन्धित नियम अधिक उचित थे । परन्तु गाँधी जी का कहना था कि वह इस आन्दोलन में देश के लगभग सभी लोगों से सहयोग के प्रति इच्छुक थे एवं आश्चर्यजनक तीव्रता से नमक आन्दोलन को सफलता मिलनी प्रारम्भ हो गयी । किसी को भी यह विश्वास नहीं था कि नमक के ऊपर कर की उस साधारण सी बात पर इतना विस्तृत आन्दोलन भी प्रारम्भ किया जा सकता था । लगभग 50 हजार लोगों ने जेल यात्रा की तथा इससे भी अधिक लोगों को शारीरिक दण्ड दिया गया ।

इसके तत्काल पश्चात् गाँधी जी को गोल-मेज सभा में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया गया। वहाँ उन्होंने कांग्रेस की आर्थिक नीतियों को स्पष्ट किया जिसमें जमींदारों, अमीरों तथा उच्च वर्ग द्वारा निर्धन, दलित एवं निम्न वर्ग के शोषण को समाप्त करने की माँग रखी । गाँधी जी बौद्धिक श्रम द्वारा रोटी कमाने के विरुद्ध थे । उनके विचार में बौद्धिक कार्य केवल आत्मा की सन्तुष्टि के लिए होता है तथा यह कभी मजदूरी नहीं माँगता । गाँधी जी का कहना था कि एक आदर्श राज्य में डाक्टर, वकील तथा इस प्रकार के अन्य लोगों को समाज के लिए कार्य करना चाहिए न कि स्वयं के लिए ।

गाँधी जी के विचार में पूँजी तथा मजदूरी को एक दूसरे का पूरक होकर कार्य करना चाहिए तथा पूँजीपति को मजदूरों के भौतिक लाभ के अतिरिक्त नैतिक लाभों का भी ध्यान रखना चाहिए, दोनों में कोई भी बड़ा नहीं होता ।

गांधी जी बड़े उद्योगों के पक्ष में नहीं थे । उनका कहना था कि आज जबकि बहुत अधिक संख्या में लोग रोजगार रहित हैं, मजदूरी की सुरक्षा अनुचित है । वे समय तथा मजदूरी की सुरक्षा मानवता के लिए नहीं अपितु सबके लिए चाहते थे । औद्योगीकरण के आधार पर अन्य राष्ट्रों के शोषण के वे नितान्त विरुद्ध थे । यही कारण था कि वे भारत में मशीन के प्रयोग को पूर्णरूपेण समाप्त कर देना चाहते थे ।

गांधी जी अहिंसा के द्वारा आए हुए साम्यवाद का स्वागत करने को तैयार थे । क्योंकि तब किसी भी प्रकार का धन जनता का नहीं होता, जनता के लिए जनता के नाम से धन किसी एक के पास एकत्रित रहता तथा आवश्यकतानुसार राज्य सदैव वह धन जनता की भलाई में व्यय करने को तत्पर रहता । गांधी जी का कहना था कि वास्तविक समाजवाद हमारे पूर्वजों द्वारा हमें सिखाया जा चुका है । हर भूमि गोपाल की है अतः सीमा रेखा कहाँ है । इन्सान ने ही इसे बनाया है तथा उसे ही इसे समाप्त भी करना होगा । इंग्लैण्ड से लौटने के पश्चात् पुनः उन्हें कारागार में डाल दिया गया । जेल मुक्त

होने के पश्चात् गांधी जी ने यह देखा कि शिक्षित वर्ग धीरे-धीरे जनसे अलग होता जा रहा था। 1935 के अधिनियम के पश्चात् लगभग छह प्रदेशों में गांधी जी के सुझावों के आधार पर कांग्रेस का मन्त्रिमंडल निर्मित हुआ। इसके पश्चात् उन्होंने अखिल भारतीय स्तर पर एक समान स्तर की शिक्षा प्रणाली को अपनाने के ध्येय से बेसिक शिक्षा पद्धति (नई तालीम) का आविष्कार किया। उनका कहना था कि वर्धा पद्धति से शिक्षित बच्चों द्वारा वह वर्ग रहित तथा जाति रहित नए भारत का निर्माण कर सकते थे।

कांग्रेस का मतभेद 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने के साथ ही अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। कांग्रेस में यह निश्चित किया गया कि फासीवाद (फाशिज्म) के विरुद्ध कांग्रेस द्वारा मित्र राष्ट्रों को सहयोग प्रदान करना चाहिए एवं ब्रिटिश शासन द्वारा युद्ध के पश्चात् भारत को स्वतन्त्रता प्रदान कर देने का आश्वासन भी प्राप्त होना चाहिए परन्तु गाँधी जी इसके विरुद्ध थे। उनके विचार में युद्ध में भाग लेने से बहुसंख्यकों को स्वराज्य नहीं प्राप्त हो सकता था। तथापि कांग्रेस द्वारा यह माँग पुनः रखी गई परन्तु शासन ने यह स्वीकार नहीं किया। अतएव कांग्रेस के नेता पुनः गांधी जी के पास आये एवं उन्होंने असहयोग की माँग सम्मुख रखी। गाँधी जी स्वयं न तो अंग्रेजों के विरुद्ध थे और न ही वे व्यक्तिगत रूप से जर्मन राज्य के ही विरोधी थे। अतः उन्होंने सम्पूर्ण रूप में ही युद्ध का बहिष्कार किया तथा व्यक्तिगत रूप में सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। कांग्रेस को इससे पूर्णरूपेण सन्तुष्टि नहीं हुई क्योंकि लोग राष्ट्रीय स्तर पर आन्दोलन की माँग कर रहे थे। परन्तु गाँधी जी ने इसे अस्वीकार करते हुए कहा कि "कल आप सब ब्रिटिश शासन की प्रजातान्त्रिक शक्तियों के साथ सहायता करने को इच्छुक थे परन्तु वायसराय से शर्तों की स्वीकृति न प्राप्त होने पर अब आप लोग मुझे सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ करने को कह रहे हैं, परन्तु मेरे विचार से यह आन्दोलन के लिए उचित समय नहीं है तथा युद्ध के पश्चात् ही यह समय आ सकता है।" यह गाँधी जी की एक राजनैतिक बुद्धिमत्ता थी।

उसी समय सुभाषचन्द्र बोस की सहयोग-प्राप्त जापानी सेना ने भारतीय सीमाओं पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया तथा भारतीय जनता ने गाँधी जी के विश्वासों के प्रतिकूल जापानी विजय का स्वागत किया। यह गाँधी जी की सर्वाधिक नैतिक तथा राजनैतिक असफ़लता थी। इसी समय गाँधी जी ने निश्चित किया कि भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए एवं तभी राष्ट्र को आत्मविश्वास प्राप्त हो सकेगा। यही विचार

'भारत छोड़ो' आन्दोलन की उत्पत्ति का मुख्य कारण बना। इस आन्दोलन के प्रारम्भ होने के पूर्व ही देश के सभी लोकप्रिय नेताओं को कारागार में डाल दिया गया तथा तीन वर्षों के पश्चात् उनके छूटने पर देश एक अनिश्चित वातावरण में साँस ले रहा था। परन्तु आश्चर्यजनक रूप में एक प्रातः काल ब्रिटिश शासन ने यह घोषणा कर दी कि वे भारत छोड़ने जा रहे हैं तथा भारत को अपनी संवैधानिक सभा निर्मित कर लेनी चाहिए। कांग्रेसी नेताओं का कहना था कि यह स्वतन्त्रता काँग्रेस के प्रयासों के फलस्वरूप प्राप्त हुई थी परन्तु गाँधी जी एकमात्र ऐसे पुरूष थे जो यह भली भाँति जानते थे कि ये विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियाँ थीं जिन्होंने मिलकर भारत को स्वतन्त्रता दिलाई थी न कि किसी एक दल विशेष ने। गाँधी जी ने काँग्रेस कार्यकारिणी समिति को यह सुझाव दिया कि कांग्रेस को संवैधानिक सत्ता का मत स्वीकार कर लेना चाहिए परन्तु साथ ही साथ उन्होंने प्रत्येक प्रदेश तथा व्यक्तिगत आधार पर भी कांग्रेस से असहमति की स्थिति में अपना अलग व्यक्तित्व बनाये रखने की छूट प्रदान कर दी।

मुस्लिम लीग के सुप्रसिद्ध नेता तथा प्रतिनिधि जिन्नाह ने संवैधानिक सत्ता को सहमति नहीं प्रदान की। काँग्रेस ने भी गाँधी जी के विचारानुसार इसे स्वीकार करने के स्थान पर वास्तव में संसद के आधार पर इसे स्वीकार किया। इसपर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए गाँधी जी ने कहा था कि "यह तो मेरा खात्मा हो गया।" आप भारत को पूर्णरूपेण एक धर्म-निरपेक्ष राज्य बनाना चाहते थे। आपके अनुसार :

"हिन्दू तथा मुसलमान दोनों भारत के पुत्र हैं। हमारी जन्मभूमि हमारी प्रतिष्ठा तथा पूजा की अधिकारिणी है। ऐसी पूजा आत्मा को शुद्ध करती है। हमें सर्वप्रथम जन्मभूमि को आदर देना चाहिए, तत्पश्चात् जन्म देनेवाली माँ को। प्रत्येक वह पुरूष जो इस देश में पैदा हुआ है एवं इसको अपनी जन्मभूमि बतलाता है वह चाहे हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, जैन हो या सिक्ख, सब समान रूप से उसके पुत्र हैं, अतएव रक्त से सम्बन्धित भाई के रिश्ते से भी अधिक निकट हैं।"

महात्मा गाँधी ने अछूतों को एक नया नाम 'हरिजन' दिया। उनके विचार में यद्यपि ये सांसारिक दृष्टि में घृणा के पात्र समझे जाते हैं परन्तु वे ईश्वर को समान रूप से प्रिय हैं। ये अत्यन्त ही निर्धन तथा दलित वर्ग के लोग हैं जिनको मन्दिरों, कुँओं तथा विद्यालयों के पास भी जाना वर्जित है। गाँधी जी ने 'हरिजन आन्दोलन' प्रारम्भ किया। हरिजनों की शिक्षा, प्रत्येक स्थान पर प्रवेश तथा इनके विकास के लिए शासकीय सहायता आदि प्राप्त

करना इस आन्दोलन का ध्येय था।

महात्मा गाँधी राजनीति को धर्म पर आधारित मानते थे एवं उनका कहना था कि "मैं बिना किसी संकोच के यह कह सकता हूँ कि जो यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति में कोई कार्य नहीं वह नहीं जानते कि धर्म क्या है।"

समाज के केन्द्र में मानव को रखकर गाँधी जी किस प्रकार समाज को गठित करेंगे ? यह समस्या न तो पश्चिम के एक व्यक्तिवाद के द्वारा एवं न ही पूर्व के बहुव्यक्तिवाद द्वारा ही सुलझ सकी थी, परन्तु गाँधी जी ने नैतिकता के आधार पर दोनों वर्गों द्वारा समान रूप से नैतिक उत्तरदायित्व संभालने का सुझाव दिया। जिस प्रकार एक व्यक्ति को उच्चस्तरीय बनाना समाज का लक्ष्य है उसी प्रकार समाज का स्तर भी सुरक्षित होना चाहिए। गाँधी जी के विचार में दोनों एक दूसरे पर आधारित हैं।

राजनैतिक विचार धाराओं के अन्तर्गत गाँधी जी स्वयं में उदारवादी, समाजवादी, आतंकवादी तथा साम्यवादी सभी थे। धर्म तथा सामाजिक जीवन में मनुष्य के वंशानुगत मूल्यों को मान्यता प्रदान करने के कारण उन्हें रूढ़िवादी कहा जा सकता है। वे अपने मित्र तथा आलोचक दोनों के प्रति उदार थे। प्रतिदिन प्रार्थना स्थल पर किया जानेवाला वार्तालाप उनकी वैचारिकता प्रदर्शित करता है। उनका कहना था, मैं जन्म से सहयोगी हूँ। इस आधार पर उनको उदारवादी कहा जा सकता है। गाँधी जी के लेखों पर समाजवाद का प्रभाव स्पष्टरूपेण परिलक्षित होता है। कम से कम वह स्वीकृत समाजवादी तो थे ही। जब भी गाँधी जी किसी बुराई के प्रति निश्चित हो जाते थे, वे उसको जड़ से समाप्त करने के पीछे पड़ जाते थे। यह उनके आतंकवादी होने का प्रमाण है। प्रायोगिक रूप में गाँधी जी एक साम्यवादी से अधिक साम्यवादी थे। उनके जीवन का यह सिद्धान्त था कि "प्रत्येक से उसकी योग्यतानुसार कार्य लिया जाए तथा प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार पारिश्रमिक दिया जाय।"

29 जनवरी 1944 को गांधी जी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लिए एक संविधान की संरचना की एवं उसे अपनी वसीयत कहा परन्तु कांग्रेस ने इसे स्वीकार नहीं किया क्योंकि उसमें प्रजातन्त्र के विकेन्द्रीकरण का पूर्ण विवरण था—पाँच बालिग लोगों द्वारा पंचायत का निर्माण, दो पंचायतों का एक अन्य नेता द्वारा निर्देशन, पचास ऐसे प्रथम स्तर के नेताओं द्वारा एक अन्य द्वितीय स्तर के नेता का निर्वाचन, तथा इस प्रकार के सभी प्रतिनिधियों द्वारा एक ऐसे अध्यक्ष का चुनाव जो सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करता था;

परन्तु अगले ही दिन उनकी मृत्यु से उनके 'राम राज्य' की कल्पना भारत के लिए स्वप्न बनकर रह गई। इस प्रकार भारत के राजनैतिक पथ पर अपना महान् योगदान करनेवाले कमर्ठ, निष्ठावान्, सत्यवादी, अहिंसक, निर्भीक, स्पष्टवादी, महापुरुष का निर्गमन नवविकसित भारत के लिए वज्र-पात सिद्ध हुआ।

मूल्याङ्कन

बाह्य रूप से राजनीति और संत दो पृयक शब्द समझे जाते हैं पर किसी समय दो धाराओं का सम्मिश्रण एक अद्वितीय संगम प्रस्तुत करता है जो शताब्दियों तक एक अमूल्य पाठ बन जाता है। सम्भवतः महात्मा इसी धारणा के अंग थे।

गुजरात में उत्पन्न मोहनदास कर्मचन्द गांधी की आरम्भ से ही विभिन्न धर्मों के प्रति समान आस्था थी। लुई फिशर से लेकर डी० जी० तंडूलकर तक तथा बी० आर० नन्दा से लेकर विलियम शेरर तक सभी ने गांधी को आलोचना सहित मनुष्यत्व की उच्चतम श्रेणी में रखा है।

गांधी जी की मनोभावना उनका व्यक्तित्व और व्यवहार संतों जैसा था, परन्तु राजनैतिक परिधि में भी वह अपनी नीति को एक सीमा तक बनाये रखते थे। अनशन, सत्याग्रह और आत्मपवित्रता के द्वारा उन्होंने राजनीति में भी एक नव सिद्धान्त का सूत्रपात किया। वह संतों के सदृश हर कार्य को सत्य और अहिंसा के माध्यमों से करने के पक्ष में थे।

गांधी जी धर्म और राजनीति को एक दूसरे से भिन्न नहीं मानते थे अपितु राजनीति को धर्म पर आधारित मानते थे। यद्यपि 1921 का असहयोग आन्दोलन अहिंसा की घटनाओं के द्वारा स्थगित कर दिया गया यह भी महात्मा की नैतिकता, आत्मिकता तथा सिद्धान्तों का परिचायक था। राजनीति को वह हर प्रकार से प्रयोग न कर उसे मात्र सिद्धान्तों पर आश्रित रखना चाहते थे। राजनैतिक विचारधाराओं के अन्तर्गत गांधी जी स्वयं में उदारवादी, समाजवादी, आतंकवादी तथा साम्यवादी सभी थे।

होरेस एलैग्जेंन्डर के अनुसार उपरोक्त कथन की पुष्टि इसलिए होती है कि वह मित्र तथा आलोचक दोनों के प्रति समान उदार थे और वह प्रार्थना स्थल पर राजनैतिक वार्तालाप कर सकते थे और राजनीति में धार्मिक परिचर्चा करने में उन्हें कोई संकोच नहीं था।

समाज के केन्द्र में मानव को रखकर गांधी जी नैतिकता के आधार पर समाज का लक्ष्य निर्धारित करना चाहते थे। महात्मा गांधी ने अछूतों को

नया नाम 'हरिजन' दिया।

महात्मा के 1930 के 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' व नमक नियम भंग करने से यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि गांधी जी मानव समाज के छोटे से छोटे अवमूल्यों को लेकर एक बड़ा आन्दोलन चला सकते थे। यद्यपि महात्मा गांधी के आन्दोलनों को असफलता की संज्ञा दी जाती है किन्तु इन आन्दोलनों के द्वारा ही भारतीयों की सुप्त अवस्था को जाग्रत और आन्दोलित किया गया और राष्ट्रीय आन्दोलन ने एक जन स्वरूप लिया।

महान अभियोग के समय जब अंग्रेज मजिस्ट्रेट ने उनका अभिवादन किया तो यह हृदय परिवर्तन उनकी संतता के गुणों का ही प्रभाव था।

लुई माउन्टबेटन के यह शब्द, 'कि महात्मा गांधी का स्थान इतिहास में महात्मा बुद्ध और ईसा मसीह के समकक्ष ही माना जायगा।' एक राजनीतिज्ञ के यह शब्द महात्मा की संतता के प्रतीक थे और नोबेल पुरस्कार प्राप्त वैज्ञानिक एलबर्ट ग्योरगी के यह शब्द 'कि महात्मा ने राजनीति की शक्ति को स्पष्ट कर दिया कि सैन्य शक्ति से आगे भी कोई मानव आत्मशक्ति है।' यह शब्द यह सिद्ध कर देते हैं कि गांधी जी राजनीतिज्ञों में संत और संतों में राजनीतिज्ञ थे।

●

ग्रन्थ निर्देश संदर्भिका REFERENCES

महात्मा गांधी

1.	Shirer, William L	: Gandhi, London, 1981.
2.	Woodcock, Geogre	: Gandhi, Fontana, 1974.
3.	Rolland, Roman	: Mahatma Gandhi, 1924.
4.	Tendulkar, D. G	: Gandhi in Champaran: 1957. Mahatma, VIII Vols , 1951-54.
5.	Pyare Lal	: Mahatma Gandhi : The Early Phase, 1965. The Last Phase, 2 Vols. 1956, 1958.
6.	Nanda, B. R	: Mahatma Gandhi, 1958.
7.	Nag, Kalidas	: Tolstoy & Gandhi, 1950.
8.	Menon, V. Lakshmi	: Ruskin & Gandhi, 1965.
9.	Bose, Nirmal Kumar	: My Days With Gandhi, 1953. Gandhi in Indian Politics, 1967.
10.	Jack, Homer A(ed.)	: The Gandhi Reader, 1961.
11.	Merton. Thomas(ed.)	: Gandhi on Nonviolence,1964.

12. Gandhi, M. K : An Autobiography or The Story of My Experiments with Truth, 2 Vols, 1927, 1929.

13. Dhawan, Gopinath : The Political Philosophy of Mahatma Gandhi, 1957.

14. Alexander, Horace : Social & Political Ideas of Mahatma Gandhi, 1949.

अध्याय 29

समकालिक भारत

जवाहर लाल नेहरू

विभाजनोंपरान्त भारत के पालन-पोषण का भार जिन राष्ट्र नेताओं पर आ पड़ा, उनमें जवाहरलाल नेहरू मुख्य थे। वे ही स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री हुए। इलाहाबाद के एक वैभवपूर्ण परिवार में 1889 में उत्पन्न जवाहरलाल नेहरू की शिक्षा हैरो एवं कैम्ब्रिज में हुई। जवाहरलाल नेहरू के पिता पं० मोतीलाल नेहरू इलाहाबाद के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर थे। उनके पिता ने उनका लालन-पोषण व उनकी शिक्षा पाशचात्य संस्कृति के अनुसार की।

अपनी शिक्षा पूर्ण कर 1912 में जब वह भारत लौटे तो उन्होंने वकालत आरम्भ की। परन्तु 1919 में जलियाँवाला काण्ड ने तथा गांधी जी के ब्रिटिश विरोधी आह्वान ने उनको भारतीय राजनीति की ओर आकर्षित किया। गांधी जी के साथ रह कर उन्होंने भारतीय कृषक वर्ग तक देश की आर्थिक दशा का अध्ययन किया। देश की दरिद्रता ने उनकी मानसिक चेतना को अत्यधिक प्रभावित किया। नेहरू ने कुल मिलाकर 9 वर्ष जेल में व्यतीत किए और अपनी जेल अवधि के मध्य उन्होंने अपनी मुख्य पुस्तकों का लेखन किया। 1921 में नेहरू प्रथम बार बन्दी बनाये गये और 1926 में जब भारतीय राजनैतिक उपशमिक समय के मध्य वह अपनी पत्नी की चिकित्सा हेतु युरोप गये, अगामी वर्ष वह भारत लौट आये। अपनी युरोप यात्रा के मध्य दो घटनाओं ने उनको प्रभावित किया। प्रथम उन्होंने ब्रसिल्स में उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं की कांग्रेस में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में और दूसरे उनको सोवियत सरकार ने मास्को आने का निमन्त्रण दिया और वह क्रैमलिन में चार दिन रहे।

यद्यपि कुछ योरोपीय इतिहासकारों ने एवं राजनीतिक आलोचकों



जवाहर लाल नेहरू

[illegible]

ने जवाहर लाल नेहरू को रूस यात्रा के पश्चात मार्क्सवाद से प्रभावित बताया। उनके अनुसार नेहरू भारत में मार्क्सवादी प्रयोगों के इच्छुक थे, किन्तु महात्मा गांधी ने नेहरू को कांग्रेस में वरिष्ठता प्रदान कर उनके मार्क्सवाद को कल्याणकारी समाजवाद में परिवर्तित किया। लेखक के विचार में जवाहरलाल नेहरू के प्रति कुछ सीमा तक आलोचकों का कथन उपयुक्त था परन्तु पूर्णतया तर्कसंगत नहीं। नेहरू भावनात्मक व्यक्ति थे और कट्टर राष्ट्रवादी थे। मार्क्सवाद का आकर्षण उनको केवल इतना था कि इसके द्वारा शोषण एवं दरिद्रता को समाप्त किया जा सकता था। नेहरू मूलरूप से कल्याण राज्य (वैलफ़ेयर स्टेट) एवं समतावादी समाज के परियोजक थे। उनके मानस पटल पर देश का ऐसा मानचित्र था जिसमें अहिंसा, शान्ति, धर्मनिरपेक्षता, आर्थिक समता एवं समाजवादी मूल्यों का सम्मिश्रण हो।

जवाहर लाल नेहरू 1929 में भारतीय राजनीति के मुख्य कर्णधारों में प्रविष्ट हुये और अपने निधन 27 मई 1964 तक भारतीय राजनैतिक मंच के मुख्य पात्र रहे। अपने प्रथम रूप में उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य के विरोध में कार्य किया और फिर 1947 में स्वतंत्र भारत के प्रधानमंत्री के रूप में कार्य आरम्भ किया।

प्रधानमंत्री के रूप में जवाहलाल नेहरू लोकतांत्रिक मान्यताओं के प्रति निष्ठित थे। उन्होंने अपने व्यक्तित्व अपनी कार्यक्षमता तथा अपनी संवदेनापूर्ण सहानुभूति से जनता को सम्मोहित कर लिया था। भारतीय लोकतांत्रिक परम्परा और प्रजातन्त्र में जनता का प्रतिनिधित्व का पोषण नेहरू जी ने किया। यह उन्हीं की राजनैतिक देन है कि एशिया के परिवर्तित राजनैतिक परिधि में भी भारत का लोकतन्त्र यथावत है। एशियाई देशों में मुख्यतः राजनैतिक परम्परा एवं शासन नितान्त परिवर्तनशील है। एशिया में भारत को राजनैतिक रूप से एक स्थान अर्जित कराने का श्रेय जवाहरलाल नेहरू को है।

इसी समय 1947 के अन्त में साम्प्रदायिकता की अग्नि पुनः प्रज्वलित हो गयी। जब पाकिस्तान के कबालियों ने काश्मीर में घुसपैठ आरम्भ की। भारतीय सीमाओं की सुरक्षा हेतु प्रधान मंत्री ने सेनाओं को सीमा रक्षणार्थ प्रेषित किया।

तदनन्तर इन सब बातों से क्षुब्ध होकर गांधी जी ने आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया और कहा कि वह जब तक अनशन समाप्त नहीं करेंगे जब तक कि पारस्परिक भातृत्व की भावना विकसित न हो जाय। इस

अनशन का नैतिक प्रभाव पड़ा; इससे केवल साम्प्रदायिक दंगे ही नहीं समाप्त हो गये वरन् जो कांग्रेस में मतभेद था वह भी समाप्त हो गया।

इस परिणाम को देखकर नेहरू जी को गांधी जी के सिद्धान्तों में और अधिक आस्था उत्पन्न हो गई। नेहरू जी ने कहा, "कि मै इसमें विश्वास रखता हूं कि अच्छे कार्यों का फल अच्छा तथा बुरे कार्यों का फल बुरा होता है।" नेहरू पाकिस्तानी नेताओं तथा अन्य सहयोगियों की तरह कट्टरवादी साम्प्रदायिकता के विचारों से ओतप्रोत नहीं थे। वह सदैव विवेक व सहनशीलता से कार्य करते रहे। 19 अगस्त के अपने राष्ट्र के नाम संदेश में उन्होंने प्रत्येक वर्ग के असम्प्रदायिक तत्वों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। उनका कहना था कि जब तक वे प्रधान मन्त्री हैं, भारत एक धर्म निर्पेक्ष राज्य रहेगा। भारत में उनके कटु आलोचक डी० एफ० करक्का को भी अन्ततोगत्वा यह कहना पड़ा कि "विभाजन के संकटकाल में यह नेहरू ही थे जिन्होंने राष्ट्र को एक सूत्र में पिरोये रखा। उस संकट में वह किसी योजनान्तर्गत नहीं अपितु लक्ष्य की ईमानदारी के प्रति अडिग रहे तथा उनकी इस ईमानदारी का आधार उनकी धर्म निरपेक्षता की भावना थी"। सम्भवत: इसी कारण अक्टूबर के पूर्वाध तक उक्त संकटकालीन स्थिति समाप्त हो गई।

प्रशासनिक समस्याएँ (1947-50)

1947 के संकटकालीन समय से 1950 तक भारतीय राजनीति को दो व्यक्तियों जवाहरलाल नेहरू तथा वल्लभभाई पटेल अथवा पंडित जी तथा सरदार ने प्रभावित किया। आश्चर्यजनक रूप में यह दो भिन्न मतों का युग था। भारत के अतिरिक्त, 20 वीं शताब्दी में किसी भी अन्य एशियाई राष्ट्रीय आन्दोलन के दो नेताओं में पारिवारिक, शैक्षिक, स्वभाव, आदर्श, शक्ति के स्रोत तथा प्रतिनिधित्व के गुण एवं दोष में इतनी भिन्नता दृष्टिगोचर नहीं होती। सरदार पटेल नेहरू के धर्मनिरपेक्षतावाद, सामाजिक सुधार के सिद्धान्त जैसे हिन्दू अधिनियम एवं आर्थिक क्षेत्र तथा योजना आयोग के विरुद्ध थे। पाकिस्तान के विरुद्ध भी वह एक कड़ी नीति के पक्षपाती थे। जनवरी 1949 में जब नेहरू ने नई दिल्ली में एशिया को एक नवीन चेतना तथा प्रतिनिधित्व प्रदान करने के ध्येय से इन्डोनेशिया में उच्च सैनिक प्रतिक्रिया के विरुद्ध 19 एशियाई राष्ट्रों का सम्मेलन बुला रखा था; उस समय भारतीय उपप्रधान मन्त्री पटेल, विभिन्न भारतीय राज्यों का भारत संघ में विलय कराने में प्रयत्नशील थे। उनके प्रयत्नों द्वारा जूनागढ़, हैदराबाद तथा काश्मीर के अतिरिक्त अन्य सभी राज्य भारत संघ में सम्मिलित हो चुके थे इन सब में

हैदराबाद एवं जूनागढ़ ने सबमें अधिक समस्या उत्पन्न कर दी थी। निजाम की संरक्षता में हैदराबाद के रजाकारों ने जनता में भय का साम्राज्य उत्पन्न कर रखा था। इसके क्षेत्रफल तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को दृष्टि में रखना आवश्यक था। नेहरू तथा पटेल ने पाकिस्तान द्वारा प्रभावित, स्वतंत्र राज्य के रूप में स्वप्न देखनेवाले नवाव को उपयुक्त सबक दिया। 13 सितम्बर, 1948 को भारतीय सेनाओं ने हैदराबाद में प्रवेश कर राज्य पर अधिकार कर लिया।

कश्मीर में स्थिति इसके विपरीत थी क्योंकि आक्रमण पाकिस्तान द्वारा किया गया था तथा भारत द्वारा सुरक्षा परिषद में सम्बन्धित शिकायत भेजी जा चुकी थी। कश्मीर नीति के सम्बन्ध में नेहरू की देशी तथा विदेशी आलोचकों द्वारा अत्यधिक आलोचना की गई। मुस्लिम बहुसंख्यक कश्मीर पर पाकिस्तानी सैनिकों द्वारा सहायता-प्राप्त जनजातियों द्वारा आक्रमण किया गया। कश्मीर नरेश के अनुरोध पर भारतीय सरकार ने इस शर्त पर सहायता प्रदान करने का निश्चय किया कि कश्मीर भारतीय गणराज्य में सम्मिलित हो जाय। शेख़ अब्दुल्ला कश्मीर के लोकप्रिय नेता थे एवं वे भारत में सम्मिलित होना चाहते थे। कश्मीर का बहुत सा अधिकृत क्षेत्र भारतीय सेनाओं द्वारा वापस ले लिया गया। शांतिप्रिय देश के रूप में भारत ने यह समस्या संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मुख रखी। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने एक निरीक्षण दल कश्मीर प्रेषित किया जिसका ध्येय यह पता लगाना था कि क्या वास्तव में कश्मीर में पाकिस्तानी सेनाएं संघर्षरत हैं। निरीक्षण के पश्चात यह सिद्ध हो गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने 13 अगस्त, 1948 तथा 5 जनवरी, 1949 को जनमत संग्रह कराने का निश्चय किया परन्तु यह पाकिस्तान द्वारा कभी पूर्ण नहीं किया जा सका। पाकिस्तान के पक्ष में जूनागढ़ के शासक ने उत्तराधिकार का नियम बनाया परन्तु वहाँ की जनता ने विद्रोह कर दिया तथा जूनागढ़ भारत का एक अंग बना दिया गया।

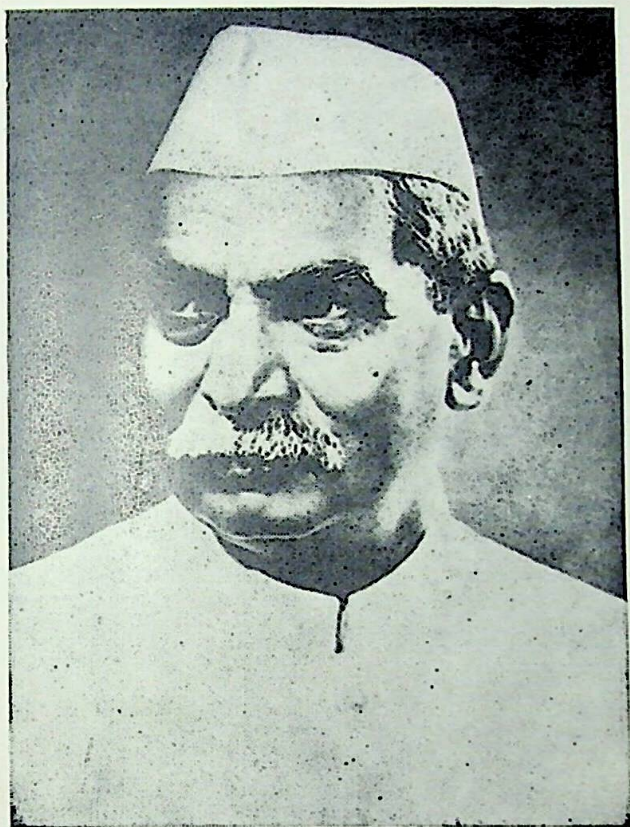
शरणार्थियों को पुनर्स्थापित करने की कठिन समस्या का समाधान भी उदारता एवं योग्यता से किया गया। भारतीय मुस्लिमों द्वारा छोड़ी गई भूमि पश्चिमी पाकिस्तान से आये शरणार्थियों को दी गई, एवं उन्हें अपना भविष्य सुधारने के लिए कर्ज़ दिये गये। पाकिस्तान में शरणार्थियों द्वारा छोड़ी गई सम्पत्ति का मूल्यांकन करने के लिए एक समिति गठित की गई तथा कुछ नये नगर भी इनके लिए निर्मित किये गये। लार्ड माउन्टबेटन ने इस समस्या के समाधान के लिए अत्यधिक कार्य किये। उन्होंने 5 जुलाई, 1947 को एक

सभा का आयोजन किया जिसका ध्येय भारतीय राज्यों के पाकिस्तान अथवा भारत के साथ सम्मिलित होने के विषय पर वार्तालाप करना था क्योंकि भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम के अन्तर्गत ब्रिटिश शासन के समाप्त होने के पश्चात भारत तथा इसके अन्य राज्यों एवं पाकिस्तान के मध्य किसी भी प्रकार की सन्धि नहीं थी । माउन्टबेटन, पटेल तथा वी०पी० मेनन के प्रयासों से 15 अगस्त 1957 के पूर्व ही बहुत से राज्यों ने भारतीय अधीनता स्वीकार कर ली ।

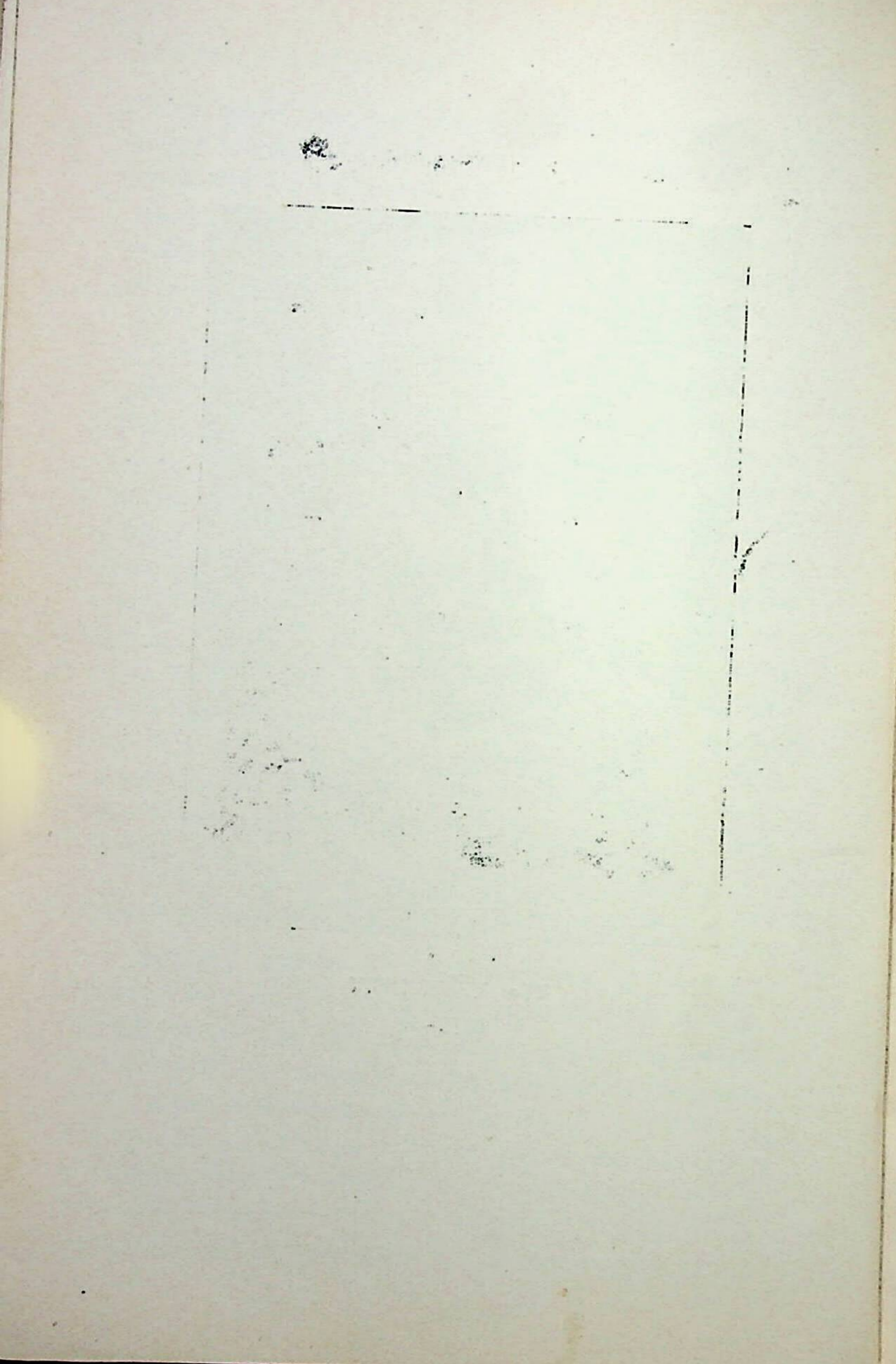
लार्ड माउन्टबेटन के पश्चात् श्री राजगोपालाचारी ने 1948 से जनवरी 1950 तक भारत के गवंनर जनरल का पद सुशोभित किया था । हैदराबाद के निज़ाम के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही का निश्चय उन्हीं के कार्यकाल में सम्पादित किया गया था । इसी कार्यकाल में सम्वैधानिक सभा ने भारत के संविधान की रचना की जो 26 जनवरी 1950 से क्रियान्वित की गई । 1948 में ही 'प्रेस ट्रस्ट ऑफ इण्डिया लिमिटेड.' की स्थापना की गई तथा भारत सरकार ने गंगानाथ झा की अध्यक्षता में 'प्रेस अधिनियम निरीक्षण समिति' का गठन किया । इसका ध्येय तत्कालीन प्रेस अधिनियमों का परीक्षण करना था । भारत सरकार ने सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन की अध्यक्षता में एक विश्वविद्यालय आयोग की नियुक्ति की जिसका लक्ष्य भारतीय विश्वविद्यालयों के शिक्षा-स्तर तथा शोधकार्यों के लक्ष्य संविधान में परिवर्तन, विद्यालय का प्रशासन, कार्य-क्षेत्रों तथा इसका केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों से सम्बन्ध, आर्थिक सहायता, शिक्षा का माध्यम, तथा भारतीय संस्कृति, इतिहास, भाषा, दर्शन, अर्थ, शिक्षकों का चुनाव, योग्यता मासिक आय आदि का निर्धारण था ।

प्रगति के पथ पर

26 जनवरी 1950 को भारत को गणतन्त्र राज्य की मान्यता प्राप्त हो गई एवं डॉ० राजेन्द्रप्रसाद इसके प्रथम राष्ट्रपति मनोनीत किये गये । 1952 में प्रथम बार आम चुनाव सम्पन्न हुआ तथा राजेन्द्र बाबू राष्ट्रपति के पद के लिये चुने गये । तत्कालीन भारतीय प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू, उप-प्रधानमन्त्री सरदार पटेल एवं राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र बाबू को स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भारत के संकट काल का धैर्य, विवेक, अपार बुद्धिमत्ता तथा नीति से सफलतापूर्वक सामना करने का सम्पूर्ण श्रेय प्राप्त है । भारत छोड़ने के पूर्व ब्रिटिश प्रशासन द्वारा निष्क्रिय भारतीय प्रशासन को पुनः सक्रिय बनाना एक कठिन समस्या थी । भारतीय प्रशासनिक सेवा की

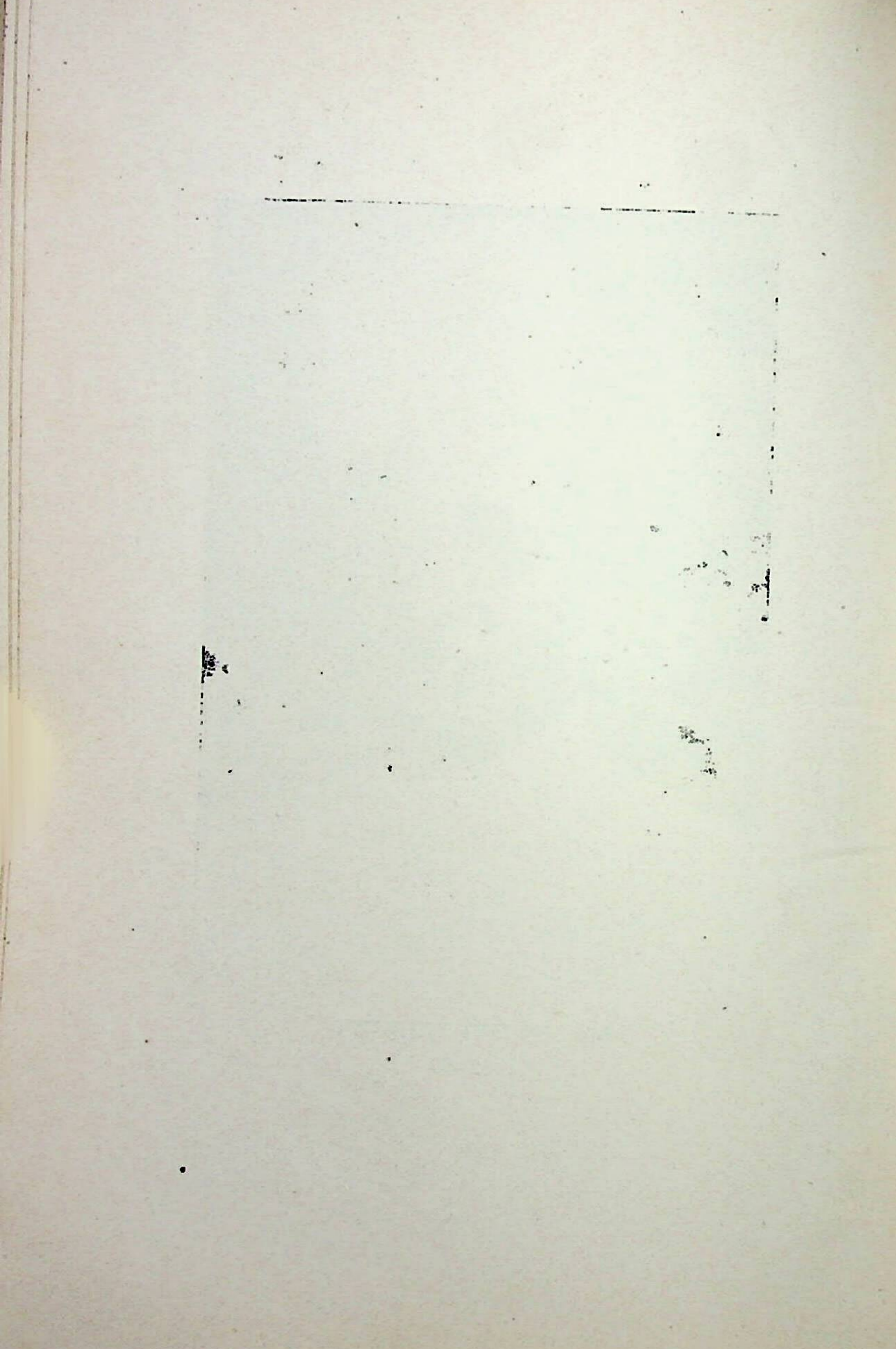


डा० राजेन्द्र प्रसाद
1952–62



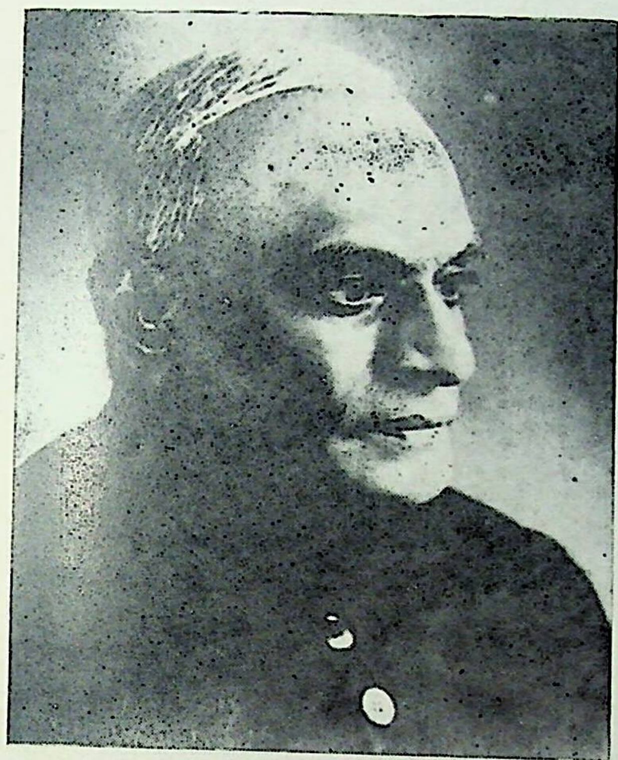


डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन
1962–67

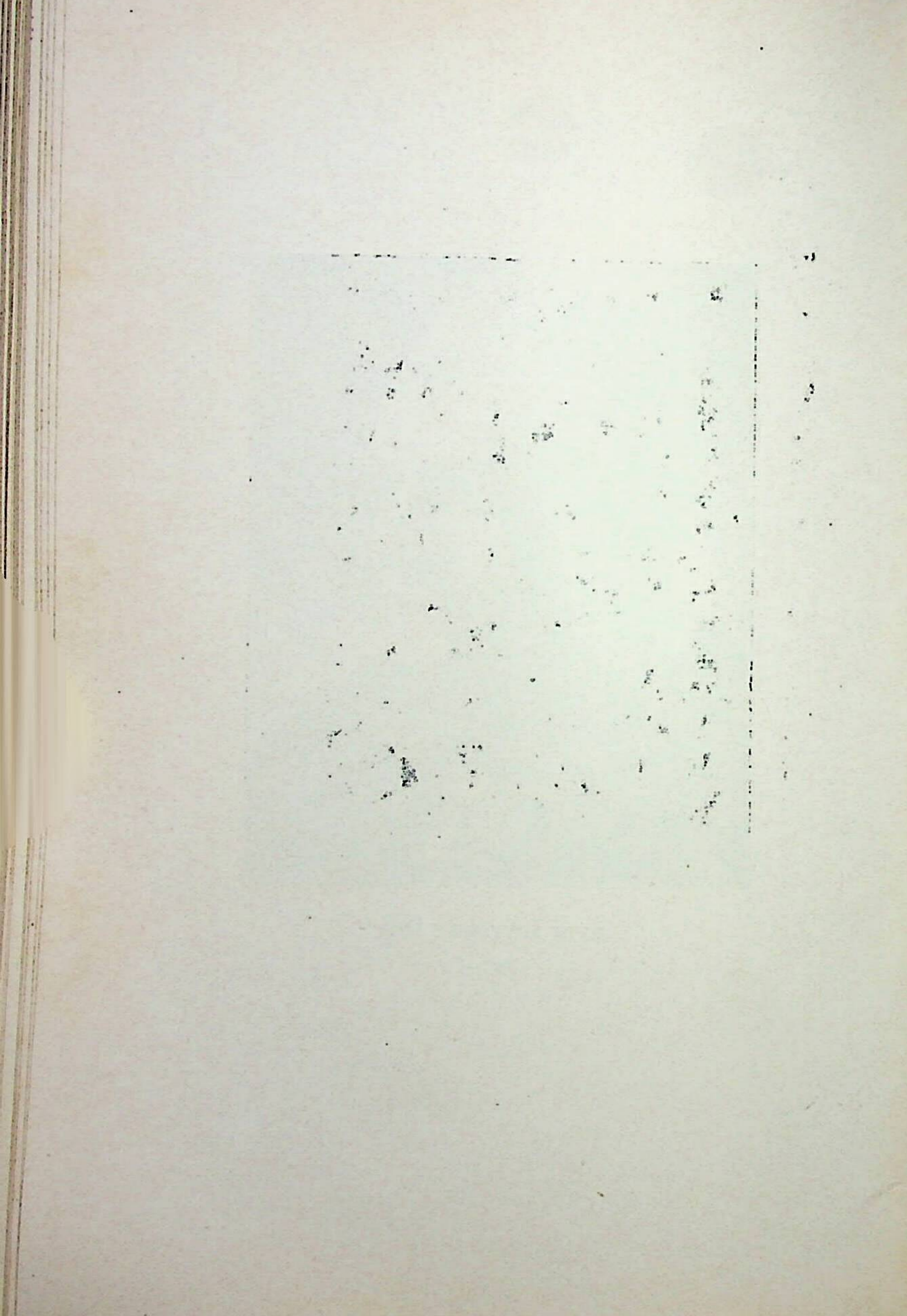


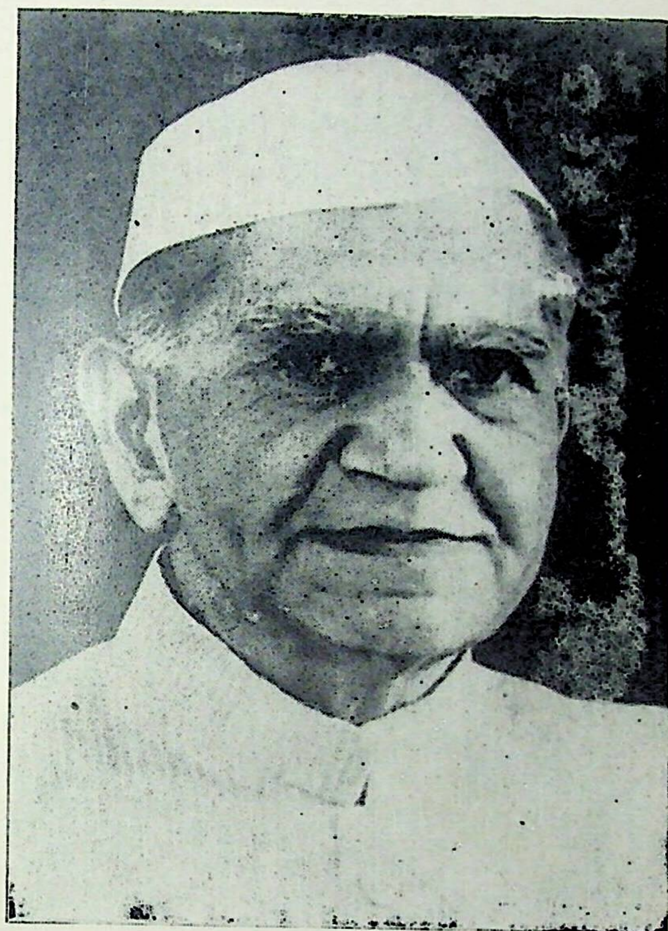


डा० ज़ाकिर हुसैन
1967–69



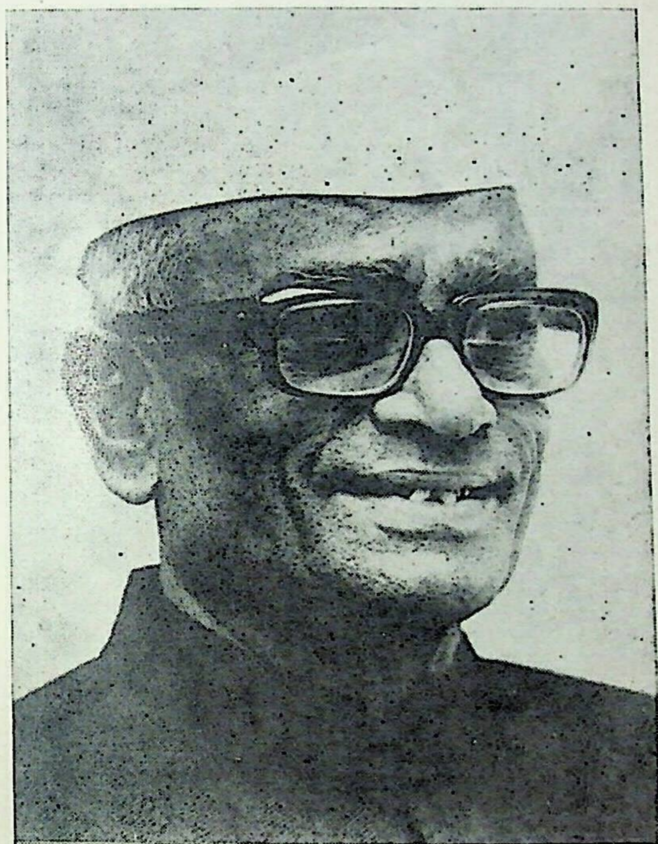
वराह गिरि वेंकट गिरि
1969–74



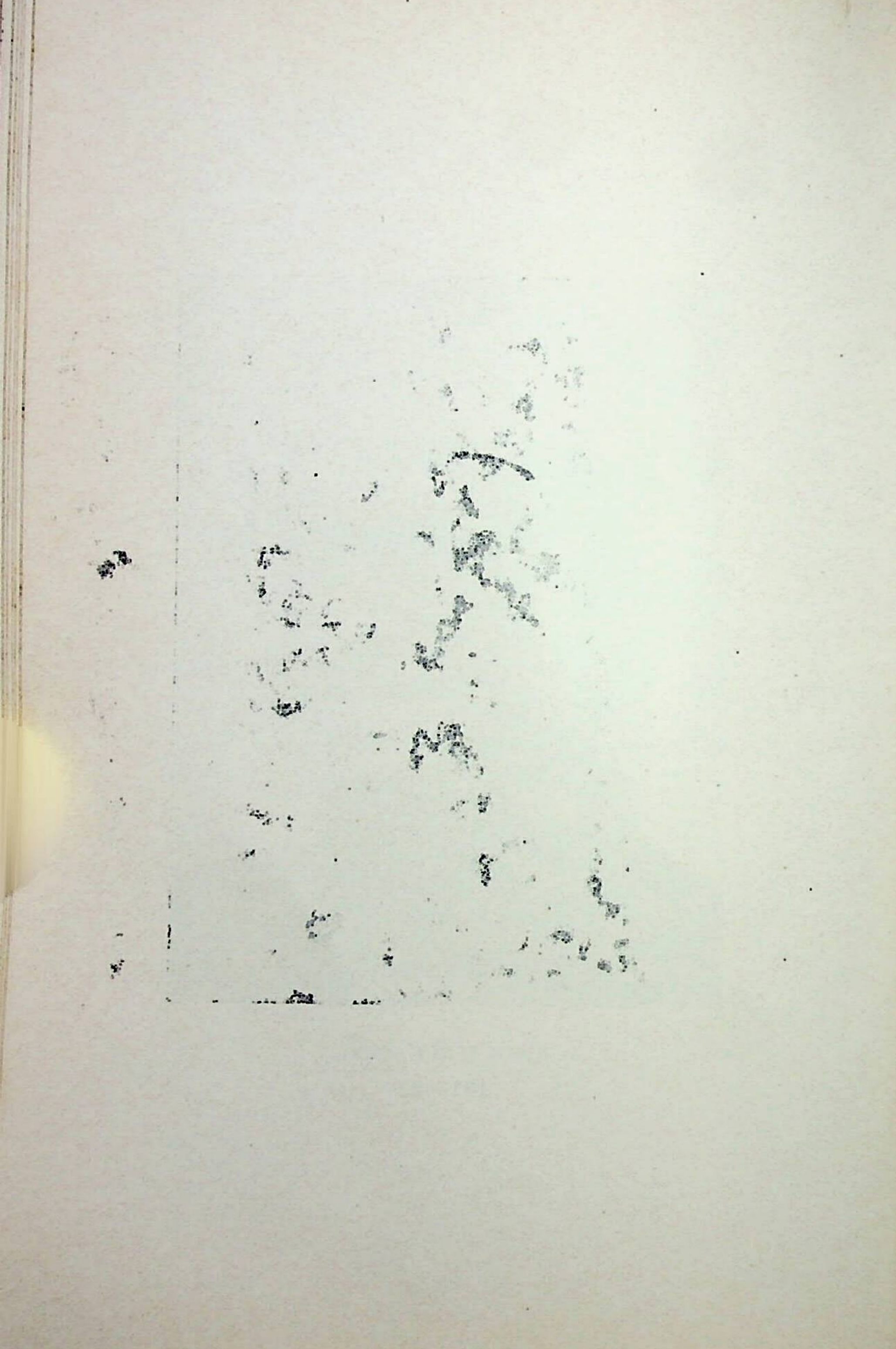


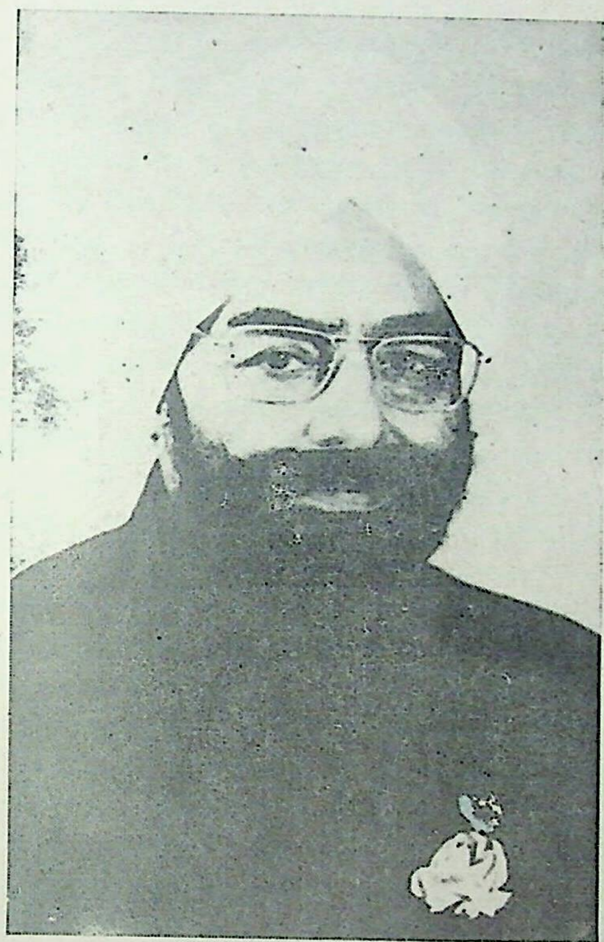
फ़ख़रुद्दीन अली अहमद
1974–77





नीलम संजीव रेड्डी
1977–82





ज्ञानी ज़ैल सिंह

1982–87

स्थापना का यह कठिन कार्य सुविधाजनक बनाया गया ।

तथापि भारत की प्रगति के लिए अभी बहुत कुछ करना शेष था। उनका सर्वप्रथम ध्येय यह देखना था कि भारत की अवनति न हो जाये। इसके लिए उन्होंने भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना को जागृत करने का प्रयास किया । उन्होंने मुस्लिमों को विशेष सुविधाएँ प्रदान की इसके अतिरिक्त स्त्रियों की स्थिति में सुधार, जातिवाद की भावना में परिवर्तन, औद्योगीकरण, समाजवाद, योजनाओं तथा लोकतान्त्रिक प्रजातन्त्र के द्वारा भारत के आधुनिकीकरण का प्रयास प्रारम्भ किया । प्रधानमन्त्री के प्रभावशाली व्यक्तित्व के अन्तंगत 1950 में योजना आयोग का निर्माण किया गया । 1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना का शुभारम्भ हुआ जो एक अपार सफल योजना सिद्ध हुई । पाँच वर्षों के अन्दर भारतीय उत्पादन में 25% की वृद्धि हुई । इस योजनान्तर्गत दामोदर वैली योजना 1948 तथा हीराकुण्ड बाँध का निर्माण विद्युत तथा सिंचाई के लक्ष्य से किया गया । ब्रिटेन, जर्मनी तथा सोवियत रूस की सहायता से तीन इस्पात के कारखाने प्रारम्भ किये गये । ब्रिटेन द्वारा सहायता प्राप्त दुर्गापुर इस्पात कारखाना, सोवियत रूस द्वारा भिलाई का इस्पात कारखाना एवं जर्मनी की सहायता से 1955 में राउरकेला में एक इस्पात कारखाना प्रारम्भ किया गया । ब्रिटेन तथा अमरीका की सहायता से 1957 में सिन्द्री का खाद एवं रसायन कारखाना लगाया गया । भारत को स्वावलम्बी बनाने के लिए भाखड़ा नंगल बाँध तथा चितरंजन लोकोमोटिव फैक्टरी का निर्माण भी प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तंगत किया गया। राजनीति का अर्थशास्त्र से अटूट सम्बन्ध होता है । 1954 में पूंजीपतित्व के सिद्धान्तों पर आधारित अर्थव्यवस्था को समाजवादी स्वरूप उसी समय प्राप्त हो गया जब लोकसभा ने नेहरू द्वारा प्रस्तावित, समाज को समाजवादी आधार पर निर्मित करने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था । उस समय नेहरू ने कहा था कि, "भारत के निर्माण कार्य को प्रत्येक जनसाधारण को सहकारी बनाने के लिए ही ऐसा किया गया था ।"

पं० नेहरू वैज्ञानिक समाजवाद के समर्थक थे। उनके विचार में औद्योगिक क्रान्ति में विकसित नवीन वैज्ञानिक युग ही मार्क्सवाद के लिए समीचीन प्रत्युत्तर था ।

1956 की पंचवर्षीय योजना द्वारा उच्च स्तर पर भारत का उद्योगीकरण प्रारम्भ हुआ । इस योजना के लिए अमरीका से बहुत अधिक मात्रा में आर्थिक सहायता प्राप्त की गई । इसी प्रकार 1962 में तृतीय पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ की गई ।

भारतीय कृषकों की स्थिति सुधारने के लिए भारत सरकार ने उचित कदम उठाये। बहुत से राज्यों में जमींदारी प्रथा समाप्त कर भूमिहीन कृषकों को भूमि प्रदान की गई तथा भूमिधारी की एक सीमा भी निर्धारित की गई जिससे अधिक भूमि कोई भी किसान नहीं रख सकता था। अक्टूबर 2,1952 में पिछड़े वर्ग के विकास हेतु कार्य प्रारम्भ किया गया।

स्वतंत्रता के पश्चात् अपनी विशाल जनसंख्या के जीवन स्तर में स्थायित्व तथा उच्चता लाने के सघर्ष में भारत सरकार ने पाँच मुख्य यंत्रों का प्रयोग किया। सर्वप्रथम इसने शिक्षा, विद्युत, रेलवे, जलयान उद्योगों, खाद उत्पादन तथा परमाणु ऊर्जा के विकास के प्राविधानों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। द्वितीय स्थान पर हथकरघा तथा सामान्य वर्ग विकास योजनाओं के द्वारा ग्रामीण विकास का प्रयत्न प्रारम्भ किया। तृतीय स्तर पर भारत सरकार ने मजदूर अधिनियम, अन्तर्जातीयता तथा स्त्री-स्वातंत्र्य नियमों द्वारा वैधानिक आन्दोलन किये। चतुर्थ स्थान पर इसने विदेशी मुद्रा पर प्रतिबन्ध आरोपित कर तथा लाइसेन्स पद्धति लागू करके देश को एक निश्चित मार्ग प्रदर्शित किया। तत्पश्चात् इसने करों एवं भूमि के पुनर्विभाजन द्वारा स्रोतों को एक नई दिशा प्रदान की। राज्यों को उनकी जिम्मेदारियाँ प्रदान कर उनकी प्रमुख नीतियों को निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया।

हिन्दू विधि में विभिन्न सुधारों हेतु नेहरू जी हिन्दू अधिनियम विधेयक को पारित करने के पक्ष में थे। अत्यधिक विरोधों के पश्चात् 1955 में उत्तराधिकारों, अल्पसंख्यकों, अभिभावकों, एडाप्शन तथा मेन्टिनेन्स अधिनियम पारित हो गये। नये अधिनियम के अन्तर्गत भारतीय स्त्रियों को पुरुषों के समान ही उत्तराधिकार एवं सम्पत्ति अधिकार प्राप्त हो गये।

अगस्त 1947 में भारत के विभिन्न क्षेत्रों पर विदेशी अधिकार वर्तमान थे परन्तु धीरे-धीरे ये सभी समाप्त हो गये। 1954 में चन्द्रनगर, पाण्डिचेरी, तथा अन्य स्थानों पर फ्रांसीसी अधिकार समाप्त हो गये। यह स्थानान्तरण 18 अगस्त 1952 को फ्रांस तथा भारत के मध्य सन्धि के पश्चात् 1954 में ही प्राप्त हो गया। दादरा तथा नगर हवेली को स्वयं सेवकों ने पुर्तगाल से वापस ले लिया। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में भी भारत को इस समस्या में सफलता प्राप्त हुई।

गोवा

लगभग 9 लाख आबादी तथा 1301 मील क्षेत्रफल का गोवा भारत में पुर्तगाल का एक अन्य उपनिवेश था। पुर्तगाल ने गोवा पर अपना अधिकार

समाप्त करने से इनकार कर दिया। फलस्वरूप अगस्त, 1955 में हथियार रहित भारतीयों ने शांतिपूर्ण रूप से गोवा में प्रवेश किया जिसका उत्तर पुर्तगाल ने 21 आदमियों की मौत तथा 120 भारतीयों को घायल करके दिया। 19 अगस्त को भारत ने पुर्तगाल से राजनैतिक सम्बन्ध समाप्त कर लिया। संयुक्त राष्ट्र संघ तथा विश्व के अन्य देशों में इस दुर्घटना की कुछ भर्त्सना की गई। भारत तथा गोवा के मध्य तनावों में वृद्धि होती गई। पुर्तगाल ने बारंबार भारतीय सीमाओं का अतिक्रमण किया तथा शान्तिपूर्वक समस्या का समाधान करने से इनकार कर दिया। अन्ततोगत्वा भारतीय प्रधान मंत्री श्री नेहरू ने 11 दिसम्बर 1961 को घोषणा की कि भारतीय धैर्य की सीमा समाप्त हो चुकी है तथा 18 दिसम्बर 1961 को भारतीय थल, वायु तथा जल सेना ने गोवा पर तीन दिशाओं से आक्रमण कर 26 घन्टों के अल्प समय में ही पुर्तगालियों को घुटने टेकने पर विवश कर दिया। दूसरे ही दिन 19 दिसम्बर को 'दमन' तथा 'दियु' ने भी आत्मसमर्पण कर दिया।

भारतीय अहिंसात्मक नीति के विरुद्ध इस कार्य की भर्त्सना सभी ने की जिसमें एक मात्र सोवियत संघ ने भारत का साथ दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ में पुर्तगाल द्वारा उठाए गये प्रश्न के उत्तर में सोवियत संघ ने वीटो का प्रयोग किया।

कामराज योजना

कांग्रेस के अन्दर उत्पन्न द्वेष तथा भ्रष्टाचार की सीमा को दृष्टि में रखते हुए पं० जवाहरलाल नेहरू ने कामराज को कोई नैतिक, प्रगतिशील तथा सक्रिय मार्ग निर्धारित करने का निर्देश दिया। इस योजना का ध्येय कांग्रेस को केन्द्र तथा प्रादेशिक दोनों स्तर पर शक्तिशाली बनाना था। नवम्बर में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति तथा अखिल भारतीय कांग्रेस सम्मेलन में कामराज योजना को प्रभाव में लाना स्वीकार कर लिया गया। नेहरू ने कहा कि एक लम्बी अवधि से मन्त्री पद पर सेवारत कांग्रेस के सभी अनुभवी तथा प्रभावशाली नेता अपना पद त्याग कर कांग्रेस पार्टी के संगठन तथा उत्थान के लिए कार्य करें क्योंकि कांग्रेस का जनता पर प्रभाव धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। नेहरू का यह प्रस्ताव बहुमत से अस्वीकृत हो गया। कामराज तथा लालबहादुर शास्त्री ने सर्वप्रथम त्यागपत्र दिया जिसका अनुसरण अन्य नेताओं ने भी किया। लालबहादुर शास्त्री ने यह घोषणा की कि त्यागपत्र देनेवाले निकट भविष्य में कोई पद नहीं ग्रहण करेंगे। कामराज योजना का उपर्युक्त प्रभाव पड़ा। यह नेहरू का साहस एवं बुद्धिमत्ता ही थी कि बहुमत

का समर्थन न प्राप्त होते हुए भी उन्होंने लोकसभा पर अपना प्रभाव समाप्त नहीं होने दिया।

27 मई 1964 को पं० जवाहरलाल नेहरू का देहावसान हो गया एवं उनके रिक्त पद की पूर्ति के लिए विभिन्न नेतागण लालायित होने लगे। यद्यपि मोरार जी देसाई इस पद के एक सुरक्षित उम्मीदवार थे, परन्तु कामराज को यह भय था कि मोरार जी के निर्देशन में सम्भवत: कांग्रेस को 1967 के आम चुनावों में सफलता न प्राप्त हो सकेगी। अतएव लाल-बहादुर शास्त्री को प्रधान मंत्री पद प्रदान किया गया।

मूल्यांकन

आधुनिक इतिहास में किसी भी सार्वजनिक मनुष्य को इतना प्रेम, लोकप्रियता एवं निष्ठाभक्ति नहीं प्राप्त हुई जितनी जवाहरलाल नेहरू को मिली। किसी भारतीय राजनीतिज्ञ को इतने अधिक उत्तरदायित्व का सामना भी नहीं करना पड़ा क्योंकि नेहरू के समक्ष सर्वधर्म समान व धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद, लोकतन्त्र एवं आधुनिकता के मूल प्रश्नों को हलकर देश में निहित करना था। यह कार्य स्वयं में कोई सरल नहीं था। करोड़ों मानव जिसकी ओर एक निष्ठा आकांक्षा और लालसा से देख हों उसे क्या अनुभूति होगी वही जानता होगा।

आर्थिक विकास की ओर नेहरू जी का विचार मध्यममार्गी था, अर्थात वह समाजवाद एवं वर्ग संघर्ष तथा पूंजीवाद के मध्य से होकर देश का आर्थिक उन्नयन करना चाहते थे। उन्होंने कृषि उद्धार की योजनाओं का समर्थन कर सार्वजनिक एवं सरकारी कृषि के विकास पर बल दिया। उन्होंने देश को आत्म निर्भरता पर आधारित करने के प्रति विदेश से सहयोग लेकर उद्योग विकास का कार्य आरम्भ किया। ब्रिटिश राज्य ने भारत का शोषण कर आर्थिक स्वरूप का जो ह्रास किया था, उसे पुर्नस्थापित करने के उद्देश्य से नेहरू जी ने देश को पुन: आर्थिक सचेतता का प्रयोगात्मक लक्ष्य प्रदान किया।

नेहरू के लघु उद्योग का सिद्धान्त पूर्ण रूप से देश के उस वर्ग के प्रति निहित था। जिसका कल्याण एवं उत्थान आवश्यक था। यह नेहरू जानते थे कि छोटे छोटे कृषकों एवं उद्योगों के द्वारा देश का विकास नहीं होता परन्तु वर्ग उत्थान के साथ शनै: शनै: देश उस मार्ग पर प्रशस्त हो जायेगा।

नेहरू जी के व्यक्तित्व में आदर्शवाद का समिश्रण होने के कारण, उनके कार्यों में यथार्थता किंचित न्यूनता का स्वरूप धारित कर लेती थी। आलो-

चकों ने इसी तथ्य को लेकर उनकी नीतियों पर आलोचना की है। वह कभी कभी योजनाओं के प्रतिपालन के प्रति समय, काल, स्थान तथा जनता के पक्ष को उपेक्षित कर देते थे।

नेहरू के सामाजिक न्याय में आर्थिक अन्याय को समाप्त करना था। अपनी आत्म-कथा में नेहरू ने कहा, कि कृषक सर्वहारा वर्ग तथा भूमिहीन श्रमिकों का उत्थान एवं विकास न्यायिक पद्धति के अन्तंगत एक अहं प्रश्न था। सम्भवतः इसी प्रकार की विचारधारा ने नेहरू को सोवियत रूस की की ओर प्रेषित किया। शनैः शनैः नेहरू मार्क्सवाद से उपेक्षित होते गये क्योंकि उनके अनुसार साम्यवाद एवं मार्क्सवाद के सिद्धान्त भारत के लिये उपयोगी नहीं थे। आलोचकों ने नेहरू को मार्क्सवाद के साहित्य का गहन अध्ययन न होने के कारण उपयुक्त विचारधारा का परिपोषक बताया। फ्रैंक मौरेस ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि नेहरू मार्क्सवाद और लोकतन्त्र को राजनैतिक, आर्थिक क्रान्ति में सहवर्ती मानते थे। यहाँ नेहरू मार्क्स के सिद्धान्त को लोकतांत्रिक परिकल्पना में समाविष्ट कर एक अन्य सिद्धान्त के दृष्टा थे।

जब आन्द्रे मॉलरो ने नेहरू से पूछा कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कौन सा सर्वाधिक कठिन कार्य उनके समक्ष था ? नेहरू ने बिना किसी हिचकिचाहट के उत्तर दिया कि उनके समक्ष सबसे महत्वपूर्ण कार्य था न्यायोचित सिद्धान्तों पर आधारित विधि संगत राज्य की स्थापना। यद्यपि नेहरू न्यायोचित तर्क का विश्लेषण स्पष्ट रूप से नहीं कर पाये परन्तु उनके विचाराकाश में आदर्शवाद के अध्यात्म का मिश्रण होने के कारण वह यथार्थवाद से किंचित दूर थे। आन्द्रे मॉलरो ने अपने एन्टीमैम्वार्यस के प्रथम खण्ड में नेहरू को द्वितीय विश्य युद्धोपरान्त के प्रथम दशक के पथ दृष्टा की मान्यता दी है। मॉलरो के अनुसार जिस सहजता से नेहरू मास्को से वाशिंग्टन, बींजिग (पीकिंग) से लन्दन और टोकियों से कैरो तक सम्मानित रूप से स्वीकार किये गये, यह इतिहास में एक नया अध्याय था।

जवाहर लाल नेहरू अपने प्रति समस्त राजनैतिक आलोचनाओं के उपरान्त भी एक निष्ठावान राष्ट्रवादी थे। अपने व्यक्तित्व, नैतिक मूल्यों एवं गुट निर्पेक्षता की नीति के कारण वह सदैव अपने देश में तथा देशीय क्षितिज के उस पार सम्मानित दृष्टि से देखे जायेगें।

एन० एन० राय ने श्री नेहरूको युद्धोपरांत पुनरुत्थित एशिया का नायक माना और तत्पश्चात गांधी के अनुयायी होने के कारण नेहरू को आत्मबल रहित की संज्ञा दी।

नेहरू के धार्मिक विचारों को लेकर काफी कुछ लिखा जा चुका है नेहरूजी मूल रूप में धर्मनिरपेक्षता में विश्वास रखते थे। निःसन्देह नेहरू ने बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म की क्रियाओं में भाग लिया तो उन्होंने मुस्लिमों, सिक्खों तथा अन्य धर्म कार्यों में भी भाग लिया। गाँधी जी के सम्पर्क में आने के पश्चात् उन्हें धार्मिक और आध्यात्मिक विषयों में रुचि उत्पन्न हुई। डॉ० गिरधारी लाल गोस्वामी ने अपनी एक भेंट वार्ता में यह बताया कि नेहरू ने अपने तीन गुरुओं का उल्लेख किया यह गुरु थे—पिता, गौतम, गाँधी। नेहरू के सामान्य जीवन में किसी अन्य धर्म के प्रति उपेक्षा का भाव दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसके अतिरिक्त नेहरू पर यूरोपीय उदारवाद, मार्क्सवाद, दर्शन शास्त्र, विज्ञान, पश्चिमी कला एवं साहित्य का प्रचुर प्रभाव था। इस प्रकार नेहरू का व्यक्तित्व अपने आप में अनेक गुणों को सँजोये हुए था जिसकी मिसाल अन्यत्र दुर्लभ है।

लाल बहादुर शास्त्री

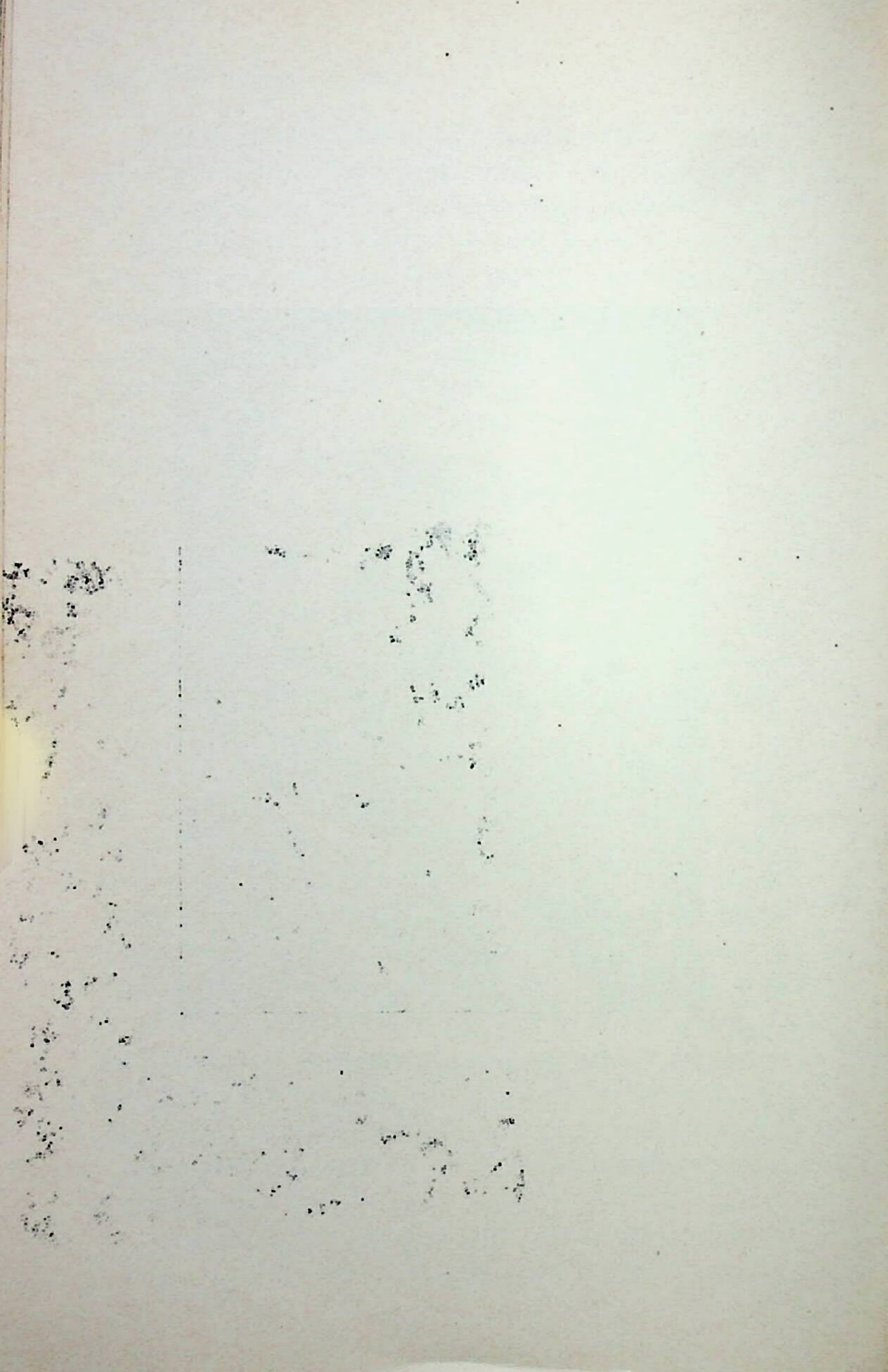
पण्डित जवाहरलाल नेहरू के देहावसान के उपरांत देश में रिक्तता की एक गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई। परन्तु यह प्रश्न अधिक दिनों तक स्थिर न रहकर अपितु उत्तर के रूप में परिवर्तित हो गया। लाल बहादुर शास्त्री के रूप में उस प्रश्न का समाधान हो गया।

1909 में लाल बहादुर शास्त्री का जन्म एक निर्धन परिवार में हुआ था। उन्हें बाल्यावस्था से ही संघर्ष का जीवन व्यतीत करना पड़ा, किन्तु इन संघर्षों ने उनके व्यक्तित्व में आत्मबल, निष्ठा, साहस, ईमानदारी एवं विवेक के गुणों का संचार किया। काशी विद्यापीठ से शिक्षा प्राप्त कर 'शास्त्री' की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन में सक्रिय भाग लिया। स्वतन्त्रता के पश्चात् शास्त्री जी ने गोविन्दवल्लभ पंत के मन्त्रिमण्डल में स्थान ग्रहण किया। 1952 में वे रेलवे मन्त्री के पद पर आसीन हुए। उन्होंने अपने मंत्रालय के कार्यों, प्रशासन एवं यातायात के साधनों में सुधार लाने का अथक प्रयास किया। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण प्रस्तुत है जब उन्होंने मद्रास प्रदेश में घटित एरयालुर रेल दुर्घटना को अपना उत्तरदायित्व समझकर त्यागपत्र दे दिया था। इस पर नेहरूजी ने संसद में में कहा था कि न केवल सरकार में परन्तु कांग्रेस में उपस्थित ऐसे सहयोगी के प्रति मैं गर्व करता हूं।

मंत्रिमण्डल को त्याग कर उन्होंने कांग्रेस पार्टी का कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। 1957 में सम्पन्न चुनावों के वह प्रभारी थे। चुनाव के उपरान्त



लाल बहादुर शास्त्री



वह पुन: कांग्रेस में प्रविष्ट हुये। 1964 ने वह प्रधानमन्त्री चुने गये इस प्रकार स्वतन्त्र भारत के दूसरे अध्याय का सूत्रपात हुआ। शास्त्री जी ने देश की समस्याओं का यथासंभव समाधान करने का प्रयत्न किया, परन्तु दुर्भाग्यवश 1965 में भारत पर जब पाकिस्तान ने आक्रमण आरम्भ कर दिया। जनवरी 1965 से कच्छ क्षेत्र में पाकिस्तानी घुसपैठियों ने अपनी गतिविधियों को तीव्र कर दिया था और छुट पुट आक्रमण भी करने लगे थे। पाकिस्तान 1947 से भारत अधिकृत कच्छ के रन के कंजरकोट क्षेत्र पर अपने अधिकारों की माँग कर रहा था। भारत सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि वार्ता के द्वारा इसी प्रश्न का समाधान हो सकता है परन्तु शक्ति के द्वारा नितान्त असंभव है। पाक विदेश मन्त्री जुल्फिकार अली भुट्टो ने लन्दन में पत्रकारों से एक भेंट वार्ता में कहा कि कच्छ का रन पाकिस्तानी क्षेत्र है और उसकी सुरक्षा हमारा कर्तव्य है। इस वक्तव्य के साथ ही पाकिस्तान ने अपनी सैनिक शक्ति का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। शास्त्री जी ने घोषणा करते हुये कहा कि देश का स्वयं भी अपना एक आत्मसम्मान है और इसलिये मैं पाकिस्तान को यह बता देना चाहता हूँ कि कश्मीर में हम एक इंच भूमि भी नहीं दे सकते। शास्त्री जी की इस घोषणा से सम्पूर्ण विश्व प्रभावित हो गया। उनके इस नव व्यक्तित्व जिसमें अप्रतिम साहस, आत्मविश्वास एवं निडरता का समावेश था, देश की जनता का ध्यान आकर्षित किया।

भारतीय सेना ने प्रधानमंत्री की प्रेरणा से प्रेरित होकर पाकिस्तान को प्रत्येक क्षेत्र में पराजय दी। युद्ध के मध्य शास्त्री जी ने भारतवासियों को साहस एवं आत्मसम्मान की शिक्षा प्रदान की एवं भारत को युद्ध परीक्षा में सफलता प्रदान की। अन्ततोगत्वा रूस के हस्तक्षेप से युद्ध विराम सम्पन्न हुआ। ताशकंद में पाक राष्ट्रपति अयूब खां और शास्त्री जी की भेंटवार्ता हुई। 9 जनवरी 1966 को शास्त्री एवं अयूब खां ताशकंद गये और 10 जनवरी को 'ताशकंद' घोषणा पर हस्ताक्षर हुये। इस घोषणा के अन्तर्गत दोनों देशों में सामान्य और शान्तिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिये कहा गया तथा अगस्त 5, 1965 की सीमा को मान्यता प्राप्त हो गयी। अकस्मात 11 जनवरी को ताशकंद में ही हृदयगति रूक जाने से शास्त्री जी का निधन हो गया जिससे पूरा देश शोकग्रस्त हो गया।

शास्त्री जी के पश्चात् तत्कालीन सूचना एवं प्रसारण मंत्री इंदिरा गांधी को जनवरी 16, 1966 के दिन दल का प्रतिनिधि नियुक्त किया गया। यद्यपि मोरारजी भी चुनाव में प्रत्याशी थे परन्तु वह पराजित हो गए।

इंदिरा गांधी

भारत की राजनीति का तीसरा अध्याय लाल बहादुर शास्त्री के निधनोपरान्त आरम्भ हुआ। लाल बहादुर शास्त्री के रूस में आकस्मिक निधन ने पूरे देश को शोकग्रस्त कर दिया था। काँग्रेस पार्टी ने अपने दल के नेता को निर्वाचित करने का कार्य आरम्भ कर दिया। इस मध्य गुलजारी लाल नन्दा कार्यवाहक प्रधानमन्त्री बनाये गये। अंततः काँग्रेस पार्टी ने इंदिरा गाँधी का चयन पार्टी के तथा देश के नेतृत्व हेतु किया।

इंदिरा गाँधी के चयन से मोरारजी देसाई को राजनैतिक आघात पहुंचा क्योंकि उनकी आकाँक्षा स्वयं ही केवल इस पद के प्रत्याशी हेतु थी। मोरारजी देसाई ने कहा कि मेरी यह महात्वाकाँक्षा प्रधान मन्त्री बनने की नहीं थी, अपितु मैं इन्दिरा जी को इस पद के योग्य नहीं समझता और इस हेतु चुनाव में विरोध करना मैने अपना कर्तव्य समझा।' मोरारजी ने विरोध किया और 169 मत प्राप्त किये और इन्दिरा गांधी लगभग इससे दुगने मतों से विजयी हुई। इससे धीरे-धीरे कांग्रेस पार्टी में आंतरिक असन्तोष की भावना व्याप्त होने लगी जिसका परिणाम 1979 में स्पष्ट हुआ।

इन्दिरा गांधी के प्रधान मन्त्री के पद पर आसीन होने के साथ ही उनके अनुभव के प्रति विदेशी समाचार पत्रों ने दो पक्षों को परिलक्षित किया। इन परिवेक्षकों के अनुसार इन्दिरा गांधी को अपने पिता की राजनैतिक पाठशाला में राजनेताओं और राजनीति से भलीभांति परिचित करा दिया था। इस तथ्य की अभिव्यक्ति डाम मोरेस ने अपनी पुस्तक 'मिसिज गाँधी' में लिखा है कि श्रीमती गांधी ने लेखक को बताया कि उन्होंने अपने पिता को कार्य करते देखा था परन्तु यह उनकी बहुत अधिक सहायता का आधार नहीं था। श्रीमती गांधी ने कहा, 'कि दूसरे लोगों से बहुत कम शिक्षा प्राप्त की जा सकती है और अधिकतर अपने अनुभवों से ही आदमी सीखता है।' उन्होंने राजनीति का उदाहरण देते हुए कहा, 'कि यूं तो यह मुख्य रूप से नित्याचार हैं, परन्तु इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष मानसिक परिश्रम है। नित्याचार सीखना पड़ता है तब अपने मानस बुद्धियुक्तता और दूरदर्शिता के द्वारा वर्तमान समस्याओं का समाधान करना पड़ता है।' निर्णय लेने के लिए भी श्रीमती गांधी ने कहा, 'स्थिति को प्रत्येक कोण से देखने के पश्चात ही निर्णय लिया जा सकता है।' श्रीमती गांधी ने इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा, 'जब मनुष्य सीखता है तो स्वयमेव परिवर्तन आ जाता है और कुछ लोगों के सम्पर्क से भी परिवर्तन आ जाता है जैसे कि उन्होंने



इन्दिरा गाँधी

बताया कि महात्मा गांधी के सम्पर्क में आना ही स्वयं में परिवर्तन आ जाना था।'

जनवरी 1966 में अपना मंत्रिमंडल गठित करने के पश्चात श्रीमती इंदिरा गाँधी को नेतृत्व के एकाकी मार्ग पर चलते हुये बहुत कुछ अनुभव प्राप्त होते रहे। राजनीति और जीवन की घटनाओं ने श्रीमती इंदिरा गांधी को अन्दर से सशक्त एवं प्रत्यास्थी बना दिया था जिसका संभवतया अनुभव सिंडीकेट को नहीं था।

निःसन्देह श्रीमती गांधी सिंडीकेट की आभारी थी किन्तु उनके हाथ की कठपुतली नहीं बनना चाहती थीं। 1966 का वर्ष श्रीमती गांधी के लिए अशांतिकारक था। इसी वर्ष मुद्रा का अवमूल्यन हुआ। पंजाबी भाषा का आन्दोलन हुआ गो हत्या बन्द आन्दोलन संसद के समक्ष प्रस्तुत हुआ जिसमें हजारों विभूत लगायें, त्रिशूल धारण किये हुए जटा बांधे हुये कुछ जटा खोले, आंखों में मादक वस्तु सेवन प्रभाव लिये हुये हजारों साधुओं ने पुरी के शंकराचार्य के आह्वान पर संसद का घेराव किया।

प्रशासकीय कार्य-विधि के द्वारा हिंसा का प्रादुर्भाव हुआ और श्रीमती गांधी ने गुलजारी लाल नन्दा को गृहमंत्री पद से मुक्त कर दिया। श्रीमती गाँधी ने अपना प्रारम्भिक वर्ष केवल देश में ही नहीं व्यतीत किया अपितु उन्होंने विदेश यात्रायें भी कीं। उनकी अमरीका यात्रा से भारत-अमरीकी सम्बन्ध में प्रगति होने की सम्भावना प्रतीत होने लगी किन्तु जुलाई 1966 में उनकी रूस यात्रा ने और वियतनाम में युद्ध बन्द कर देने के प्रति संयुक्त विज्ञप्ति ने राष्ट्रपति जॉनसन को 'अकृतज्ञ भारतीय' कहने का अवसर दिया। इसके उपरान्त भी राष्ट्रपति जॉनसन ने भारत में अमरीका के राजदूत चेस्टर वोल्स से अपने व्यक्तिगत वार्तालाप में कहा, कि वह श्रीमती गांधी की राजनैतिक विदग्धता से विशेष रूप से प्रभावित थे।

कांग्रेस पार्टी के आन्तरिक विद्वेष की भावना का स्पष्टीकरण 1969 में कांग्रेस दल के विच्छेद, फूट और विभाजन से हुआ जिसमें श्रीमती गांधी ने अपना कांग्रेस दल पृथक कर लिया। 1971 के चुनाव में उन्होंने स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर दिखा दिया कि वह किसी व्यक्ति विशेष अथवा किसी गुट ही के द्वारा नेता नहीं थी वरन् वह अपने पिता की भांति अपनी योग्यता, नेतृत्व एवं जनता के विश्वास पर भारत का नेतृत्व कर रही थीं। आलोचकों के अनुसार 1971 के चुनाव का नगदीकरण श्रीमती गांधी ने बंगलादेश की विजय द्वारा किया था। यद्यपि यह सत्य था किन्तु क्या बंगलादेश के युद्ध ने भारत की मान प्रतिष्ठा, गौरव गरिमा को विश्व राजनैतिक क्षेत्र में सम्मान प्रदान

नहीं किया ? इस प्रश्न के उत्तर में भी अनेक भिन्न विचार प्रकट किये जा चुके हैं। वास्तविकता से परे हटकर आलोचना व टिप्पणी करना एक बात है और वास्तविक तथ्यों को इतिहास में निहित कर उसका विषयपरक विश्लेषण एक सर्वथा पृथक कार्य है। अत: बंगलादेश से भारत को भविष्य में राजनैतिक रूप से कष्ट होगा यह कह देना ही पर्याप्त नहीं है वरन मानवता तथा लोकतन्त्र की परम्परा के अर्न्तगत उस समय भारत की भूमिका सिद्धान्त-प्रद थी अथवा नहीं ? रूस ने भी भारत को अपना समर्थन इसी सिद्धान्त के कारण प्रदान किया कि भारत स्वाधीनतारत पूर्वी बंगाल की जनता की माँग को उचित समझ रहा था।

अगस्त 1971 में श्रीमती गांधी ने रूस के साथ शान्ति, सहकारिता एवं मित्रता की बीस वर्षीय सन्धि हस्ताक्षरित की। श्रीमती गांधी के इस सन्धि नीति ने स्पष्ट किया कि वह केवल देश की ही राजनीति में युक्तिसंगत एवं दूरदर्शिता नहीं रखती थी अपितु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर भी वह युक्तियुक्त थीं। इसके उपरान्त भी श्रीमती गांधी देश की आन्तरिक स्थिति को संभालने में सक्षम नहीं हो सकी थी। भारत की स्थिति का ब्यौरा देते हुए फार इस्टर्न इकनामिक रिव्यू' (अप्रैल 22, 1972) ने लिखा कि देश-विदेश में इन्दिरा गांधी का नाम अवश्य है किन्तु देश की आर्थिक स्थिति, बेरोजगारी, जनता से चुनाव में दिये आश्वासनों का पूर्ति न हो सकना इन्दिरा सरकार को भीतर से निर्जीव कर रहे है। इसके अतिरिक्त पत्रिका ने कई एक समाचार पत्रों का उल्लेख करते हुए श्रीमती गांधी की राजनैतिक चाटुकार भर्ती की कटु आलोचना की। देश में शनैः शनैः व्यापक असन्तोष प्रकट होने लगा। असन्तोष की भावना को आन्दोलन का रूप जय प्रकाश नारायण ने दिया। 1973 के पश्चात जय प्रकाश नारायण के आन्दोलन में उत्तर प्रदेश के विद्यार्थियों ने भाग लेना प्रारम्भ कर किया। उत्तर प्रदेश और बिहार में जय प्रकाश नारायण ने विशाल जनसभाओं को सम्बोधित किया। जनता अपनी असुविधाओं के कारण असन्तुष्ट थी और किसी भी नेता के आह्वान पर उसकी योजनाओं को सुनने के लिये तत्पर हो जाती थी। बढ़ती हुई मंहगाई, बेरोजगारी तथा अपरिपक्व शिक्षा पद्धति ने छात्रों को आंदोलित करने में सहयोग दिया। घेराव बन्द, तथा इस प्रकार के अन्य आधुनिक अहिंसात्मक राजनीतिक उपकरणों ने बेरोजगार विद्यार्थियों को एक प्रकार का व्यवसाय प्रदान किया।

पटना में जय प्रकाश नारायण ने अशान्ति का वातावरण निर्मित किया

किन्तु अपने भाषणों में उन्होंने लक्ष्यरहित क्रान्ति का आह्वान किया । श्रीमती गांधी ने जय प्रकाश नारायण के जनसम्बोधन एवं व्यक्तिगत सम्बोधन के उत्तर में उन्हें लोकतांत्रिक पद्धति पर आधारित जनमत संग्रह के लिये परामर्श दिया । जय प्रकाश नारायण ने अपने भाषणों के मध्य राष्ट्रकवि 'दिनकर' की इन पंक्तियों को जनता के समक्ष उधृत किया ।

"दो राह समय के रथ का धड़-धड़ नाद सुनो
सिंहासन खाली करो जनता आती है ।"

निःसन्देह उपरोक्त पंक्तियां परोक्ष एवं अपरोक्ष रूप से ऐतिहासिक महत्व से सारगर्भित थी । जय प्रकाश नारायण ने इन पंक्तियों को उधृत तो अवश्य किया, परन्तु जनता के लक्ष्य और स्वयं की नीति का निर्धारण नहीं कर सके । इसी मध्य नागरवाला काण्ड, मारुति योजना, श्रीमती इन्दिरा गांधी की चुनाव याचिका के निर्णय ने देश की राजनीति को एक असमंजसपूर्ण दिशा की ओर अग्रसर किया । जिसकी प्रतिक्रिया आपातकालीन घोषणा के द्वारा निर्धारित हुई ।

मई 1975 के पश्चात् भारतीय लोकतंत्र में आपातकालीन शासन का नवीन अध्याय प्रारम्भ हुआ । आलोचकों की दृष्टि में आपातकालीन स्थिति का निर्णय श्रीमती गांधी की स्वार्थ सिद्धि का अराजनैतिक उपकरण था । आपातकालीन स्थिति ने एक ओर जनता को पूर्ण सुरक्षा तथा प्रशासनाकार्य में क्षमता एवं अनुशासिता उत्पन्न की और दूसरी ओर देशवासियों के मौलिक अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगा दिया । जनता को लोकतंत्र में अधिनायकतंत्र की प्रशासकीय पद्धति सुविधाजनक नहीं प्रतीत हुई । इसके अतिरिक्त परिवार नियोजन, पुलिस अत्याचार तथा राजनेताओं एवं अधिकारियों ने लोकतांत्रिक सिद्धान्तों के प्रति विश्वासघात करना आरम्भ कर दिया । डाम मॉरेस ने इस स्थिति की उचित व्याख्या की है । उनके अनुसार आपातकालीन घोषणा एक ऐसा विप्लव था जो सरकार ने विरोधी दल के विरुद्ध किया बजाय इसके कि विरोधी दल सरकार के विरुद्ध इस प्रकार की कार्यवाही करते । डाम मॉरेस के अनुसार यदि श्रीमती इंदिरा गांधी चुनाव याचिका से पूर्व जय प्रकाश नारायण की विघटनकारी एवं उपद्रवी कार्यविधि के विरुद्ध उपरोक्त विप्लव करती तो सम्भवतः न्यूनतम आलोचना की पात्र होतीं ।

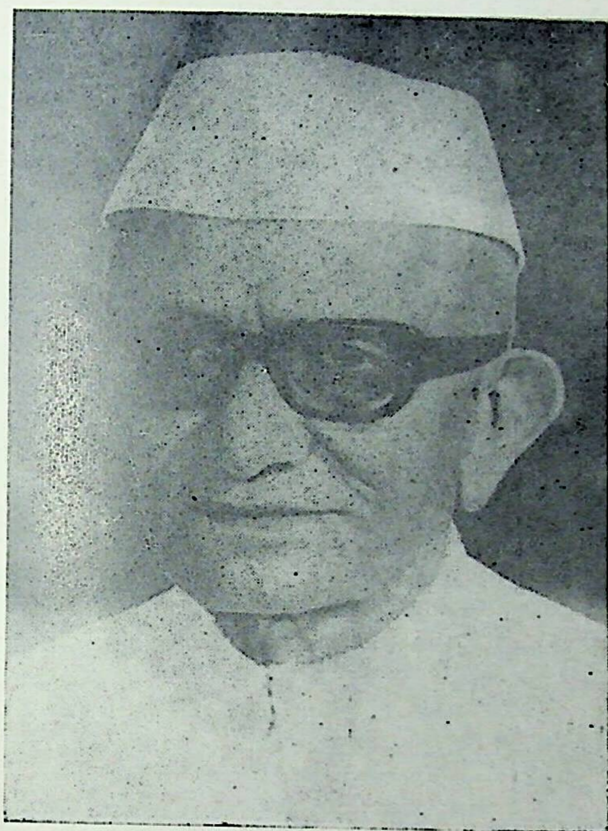
इसके अतिरिक्त डाम मॉरेस ने कई लघु घटनाओं का वर्णन किया है जिसका आशय यह प्रकट करना है कि सत्ता के चरम शिखर पर पहुंच कर चाटुकारों से दूर रहना अत्यन्त कठिन कार्य है । डाम मॉरेस ने मानसिक रूप से

श्रीमती गांधी को चाटुकारिता के प्रति सदैव सतर्क पाया किन्तु आपात कालीन घोषणा के पश्चात् जिस प्रकार की चाटुकारिता और ठकुर सुहाती का परिचय श्रीमती इंदिरा गांधी को मिला वह उनकी दृष्टि को धूमिल कर देने के लिए पर्याप्त था। यह सत्य है कि इन लोगों में केवल राजनीतिज्ञ ही नहीं थे; अपितु लेखकों कलाकारों, बुद्धिजीवियों ने भी अपनी ठकुरसुहाती का परिचय लेख लिखकर, दुर्गा की प्रतिमा बनाकर तथा पुस्तकें लिख कर दिया। जन श्रुतियों ने भी आपातकालीन स्थिति के अच्छे और बुरे दोनों पक्षों का भरसक प्रचार किया। आपातकालीन स्थिति में समाचार पत्रों पर अंकुश लगा देने से और भी भ्रमजनित स्थिति का प्रादुर्भाव हो गया। ऐसी स्थिति में राजनीतिज्ञों ने जनता के लोकहित से हटकर चाटुकारिता की ओर स्वयं को केन्द्रित कर लिया। उदाहरणतया इसका चित्रण जनवरी 3,1976 के "मेनस्ट्रीम" के सम्पादकीय लेख में हुआ जिसमें चंडीगढ और चसनाला का तुलनात्मक अध्ययन किया गया। सम्पादक निखिल चक्रवर्ती ने चंडीगढ़ में हुए कांग्रेस के अधिवेशन के सजधज और राजनैतिक आडम्बर का उल्लेख करते हुए लिखा कि इतने बड़े अधिवेशन में जहां अनेक भाषण और चाटुकारिता का विशाल-प्रदर्शन था वहां चंडीगढ से दूर बंगाल की सीमा से संलग्न बिहार की कोयले की खदान चसनाला में 372 आदमियों की आकस्मिक मृत्यु पर कोई शोक नहीं प्रकट किया गया। चक्रवर्ती ने इसका विश्लेषण करते हुए लिखा कि यह दुर्घटना कोई रेल या विमान की दुर्घटना नहीं थी वरन् उन लोगों की दुर्घटना ग्रस्त मृत्यु थी जो राष्ट्र के आर्थिक चक्र को चलित रखने हेतु अपने पसीने द्वारा खदान में राष्ट्र सम्पत्ति की खुदाई कर रहे थे। सम्पादकीय लेख ने निष्कर्ष रूप में लिखा कि ऐसा नहीं था कि वहां चंडीगढ अधिवेशन में भावुक नेता नहीं थे किन्तु देश की राजनीति इतनी आमानवीय स्तर पर पहुंच चुकी है कि जनता के जीवन, उसकी कठिनाई तथा दुखान्त की ओर कोई ध्यान नहीं देना चाहता था।

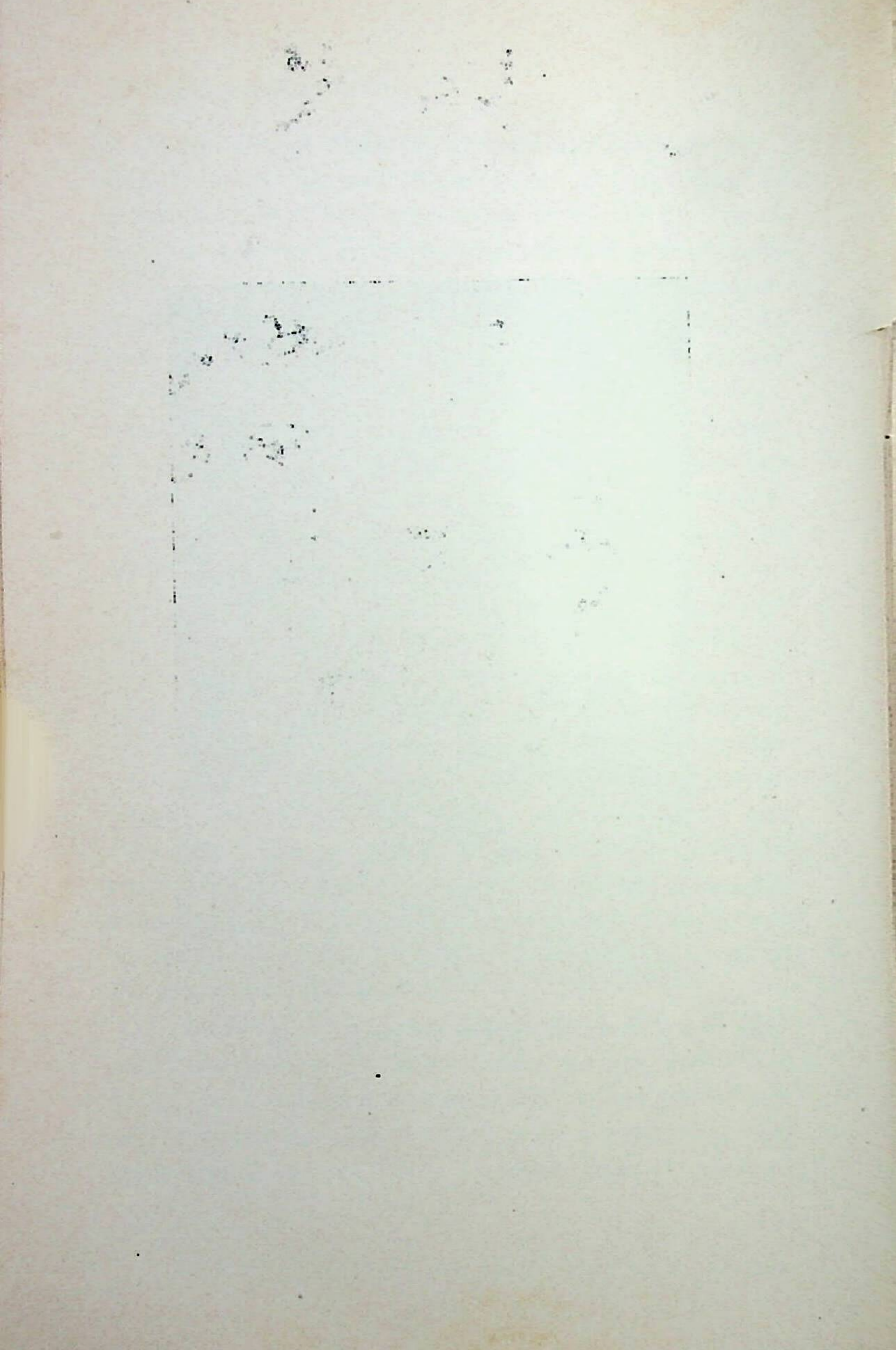
इस प्रकार के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक असंतोष के वातावरण में श्रीमती गांधी ने 1977 के चुनाव घोषित कर जनता पार्टी का मार्ग प्रशस्त किया। तीस वर्षों की कांग्रेस सरकार का पतन एवं परिवर्तन 1977 के चुनाव में हुआ। जनता ने चुनाव घोषणा का स्वागत किया परन्तु श्रीमती गांधी की व्यक्तिगत पराजय से अधिकतर जनता को दुःख हुआ।

जनता युग

भारत की राजनीति में 30 वर्ष पश्चात कांग्रेस दल के अतिरिक्त



मोरार जी देसाई



किसी अन्य दल ने राजनैतिक सत्ता प्राप्त की । जनता पार्टी का अप्रत्याशित उदय 1977 में हुआ । श्रीमती गांधी के राजनैतिक अस्त ने जनता पार्टी के उद्‌भव का स्वागत किया । कांग्रेस के अतिरिक्त भारत में विभिन्न राजनैतिक दल होने के कारण लोगों को यह विश्वास नहीं था, कि विरोधी दल एक हो कर सम्मिलित संगठित एक पार्टी का नामकरण कर सकते हैं । जनता पार्टी के आगमन ने जनता की आशाओं को उस पर केन्द्रित किया । यह इतिहास और प्रकृति का नियम है कि परिवर्तन अपने प्रथम रूप में आकर्षक प्रतीत होता है । परन्तु दूसरे चरण में इसकी वास्तविकता दृष्टिगोचर होने लगती है । इस नियम का अथवा सिद्धान्त का स्पष्टीकरण कांग्रेस और जनता उदय, अस्त और पुनः उदय ने किया है ।

भारतीय राजनैतिक पट पर जनता पार्टी का उदय 1977 के चुनाव में हुआ जो श्रीमती इन्दिरा गांधी ने आपातकालीन स्थिति के तुरन्त बाद घोषित किये थे । श्रीमती गाँधी की चुनाव घोषणा ने 'दि न्यूयार्क टाइम्स', 'मैनचेस्टर गार्डियन', 'लन्दन टाइम्स' तथा 'लामांर' के सम्पादकीय लेखों में लोकतांत्रिक परम्परा के प्रति आस्था हेतु प्रशंसा प्राप्त की । इन समाचार पत्रों ने लिखा कि भारत में चुनाव से पूर्व आपातकालीन स्थिति को समाप्त करना श्रीमती इन्दिरा गाँधी की लोकतांत्रिक प्रवृत्ति को स्पष्ट करता था । आपातकालीन स्थिति को सामाप्त न कर चुनाव घोषित किये जाते तो सम्भवतः यह भी उपमहाद्वीप के इतिहास के तो नहीं अपितु भारत के राजनैतिक इतिहास की वृहद 'यदि' होती ।

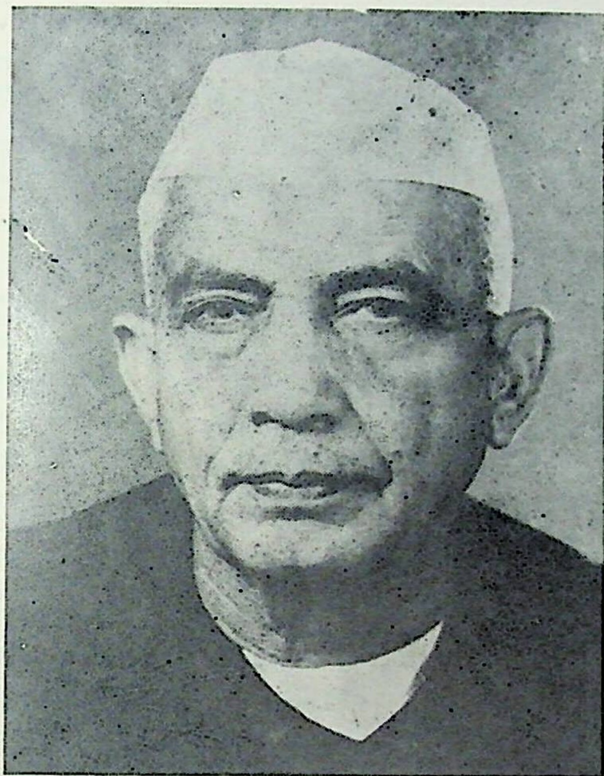
जनता पार्टी के संगठन का श्रेय यद्यपि लोकनायक जय प्रकाश नारायण को जाता है, किन्तु विभिन्न दलों को संगठित करने में भारतीय समाचार-पत्रों का भी योगदान था । भारतीय समाचार पत्रों ने आपातकालीन स्थिति का ऐसा चित्रण किया कि विरोधी दल इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हो गये कि यदि इस समय संगठित न हुये तो भविष्य में हमारे लिये राजनैतिक द्वार सदा सर्वदा के लिये बन्द हो जायेंगे । इस हेतु श्रीमती गाँधी की त्रिकोणीय जन आलोचना को जनता दल ने अपने राजनैतिक सौदे में नकदीकरण कर लिया । इस त्रिकोणीय जन आलोचना के प्रथम दो अंश आपातकालीन स्थिति और संजय गाँधी की व्यापक आलोचना और जनमत संग्रह का श्रेय समाचार पत्रों को जाता है, और तीसरे परिवार नियोजन को राजनैतिक अस्त्र बनाया गया ।

चुनावोंपरांत जनता पार्टी ने स्पष्ट मत प्राप्त कर केन्द्र में मोरारजी देसाई की सरकार को स्थापित किया । जनता पार्टी से नवीन नीतियों की

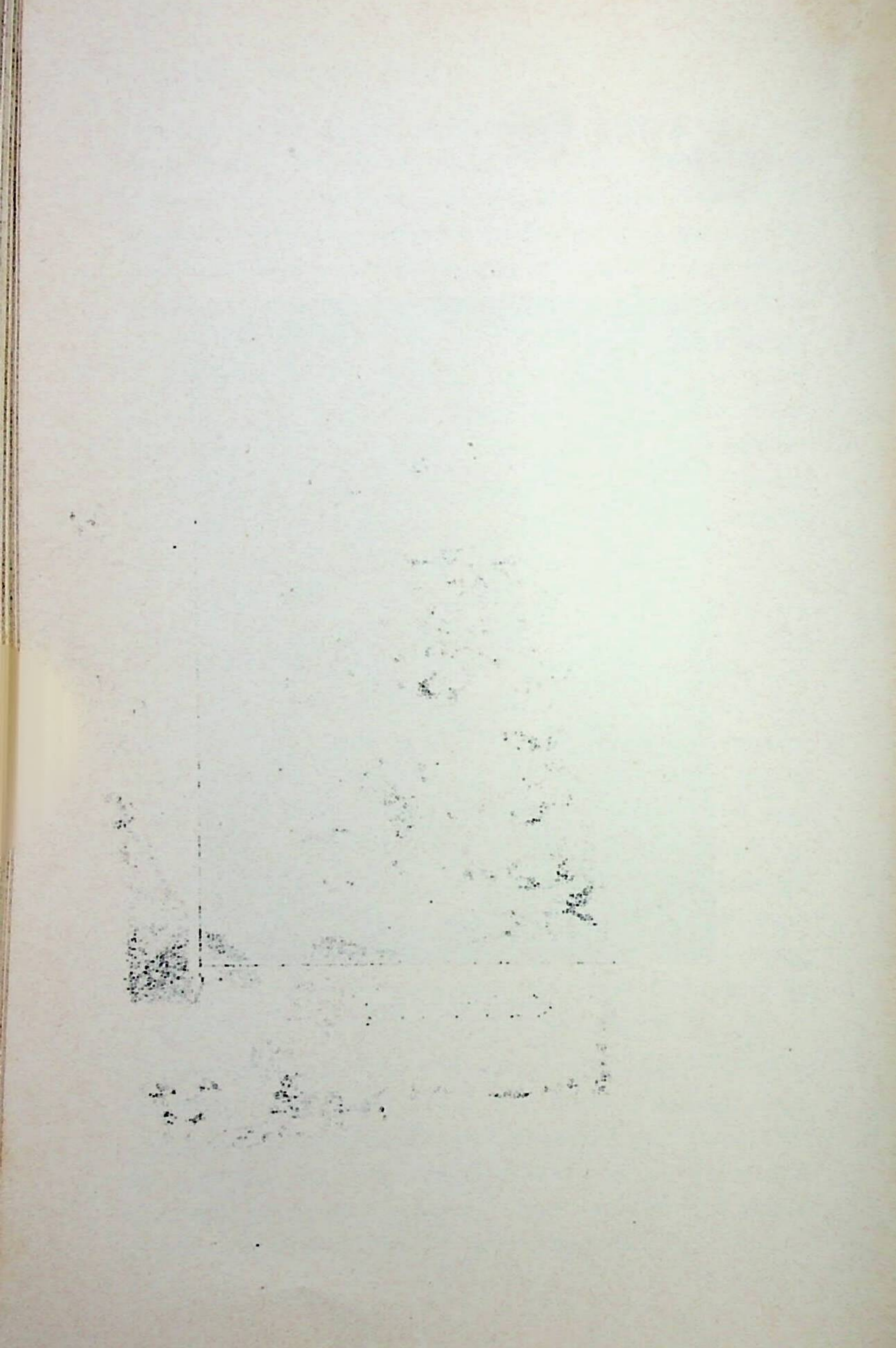
अपेक्षा की गई और आंतरिक, आर्थिक तथा वैदेशिक नीति में परिवर्तन की आशा की गई। शीघ्र ही जनता पार्टी के आंतरिक विघटन ने लोगों के हर्षोल्लास को मन्द कर दिया। धीरे-धीरे केन्द्रीय राजनीति ने मोरारजी देसाई की सरकार में अनास्था उत्पन्न कर दी। इसके तीन मुख्य कारण थे, प्रथम सम्पूर्ण जनता सरकार इन्दिरा भीति से ग्रस्त होने के कारण उस पक्ष में अपना अधिकांश समय नष्ट कर रही थी, द्वितीय आटोमन साम्राज्य के युवा तुर्कों के शासन की भाँति अपनी अपरिपक्वता और अदूरदर्शिता एवं प्रयोगवादिता के कारण असफल थी, और तृतीय कारण जनता पार्टी के सम्मिलित अवयवों में मतभेद और विघटन का प्रारम्भ हो जाना था। अतः जनता पार्टी ने सामाजिक, आर्थिक एवं आंतरिक स्तर पर जनता को विशेष सुविधा का अनुभव प्रदान नहीं किया। जनता दल की राजनैतिक अटूटता की शपथ शीघ्र ही शिथिल पड़ने लगी और लोगों को दिये गये आश्वासन निरंक ही रह गए।

जनता पार्टी के युग का एक रुचिकर प्रसंग पुस्तकों का प्रकाशन था। श्रीमती गाँधी के राजनैतिक सत्ता से हटने के पश्चात लेखकों और प्रकाशकों को वरदान सा प्राप्त हो गया। जनता जो परिवर्तन की सदैव इच्छुक रहती है उसने 'दि जजमैंट', 'ऑल द, प्राइममिनिस्टर्स मैन,' 'टु फेसेज ऑफ इन्दिरा गाँधी', 'रेवोल्यूशन बाई बैलेट', इत्यादि पुस्तकों का रसास्वादन किया। इन पुस्तकों ने समाचार पत्रों पत्रिकाओं ने तथा जनता पार्टी के गठित शाह आयोग, रेड्डी आयोग, गुप्ता आयोग ने श्रीमती गाँधी को जनता एवं राजनीति पर सदैव विद्यमान रखा। फलस्वरूप भारतीय जनता ने वर्तमान शासन और श्रीमती गाँधी के शासन व कांग्रेस शासन का तुलनात्मक अध्ययन करना प्रारम्भ कर दिया। जनसाधारण की इस धारणा को जनता पार्टी के पारस्परिक मतभेद ने तथा वरिष्ठ नेताओं की स्वार्थसत्ता की लालसा ने और पुष्ट कर दिया और यह सोचने पर बाध्य किया कि देश के भविष्य के लिये केन्द्रित एवं संगठित नेतृत्व का होना बहुत आवश्यक है।

अतः जनता पार्टी की आन्तरिक अस्थिरता मोरारजी देसाई के निर्गमन तथा चौधरी चरणसिंह के आगमन के द्वारा और स्पष्ट प्रतीत हुई। कुछ ही माह में चौधरी चरणसिंह की सरकार को मध्यवर्ती चुनाव घोषित करना पड़ा। इस प्रकार जनता दल जिसको तीस वर्ष पश्चात भारतीय जनता ने शासन करने के हेतु स्पष्ट बहुमत प्रदान किया उन्होंने जनता के विश्वास को अपने पारस्परिक स्वार्थलिप्सा के कारण आघात पहुंचाया।



चौधरी चरण सिंह



जनता पार्टी के आगमन और निर्गमन के मध्य बुद्धिजीवियों की भूमिका विलक्षण विरोधाभास से युक्त थी। आधुनिक युग में और वह भी अभी दो दशक पूर्व राजनैतिक सत्ता के प्रथम तथा अन्तिम चरण में पुस्तक प्रकाशन की प्रवणता का आरम्भ हुआ।

इसी शृंखला में भारत में भी एक चरण पुस्तक प्रकाशन का जनता पार्टी के साथ आरम्भ हुआ। बुद्धिजीवियों ने जनता के आगमन को महान परिवर्तन कहा, क्रान्ति से सम्बोधित किया और देश के लिए द्वितीय स्वतंतत्रा का आगमन कहा। क्रान्ति का अर्थ केवल सत्ता परिवर्तन नहीं, अपितु सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक मूल्यों में आमूल परिवर्तन कर उसके जनसमावेश को क्रान्ति कहते हैं। यदि 'मत पेटिका' क्रान्ति करने में समर्थ है तो प्रथम जनता पार्टी के कार्यों ने इसका उत्तर दे दिया है और द्वितीय पुनः कांग्रेस (इन्दिरा) के आगमन को क्या 'प्रति क्रान्ति सम्बोधित किया जायगा। संक्षेप में लेखकों, बुद्धिजीवियों तथा पत्रकारिता ने जो रूप परिलक्षित किया, वह प्रशंसा का पात्र कदापि नहीं था। उदाहरणतः एक ही लेखक लिखता है 'आल दि प्राईम मिनिस्टर्स मैन' और वही लिखता है 'आल दि जनता मैन'। राजनैतिक आलोचना और 'करवट परिवर्तन' की भी एक सीमा परिधि होती है, उसके वाह्य लेखन सुगन्ध समाप्त हो चाटुकारिता एवं स्वार्थ एकांगिता में परिवर्तित हो जाता है।

पुनः इन्दिरा आगमन

अन्ततः अपनी समस्त आलोचनाओं के उपरान्त तथा जनता पार्टी द्वारा संसदीय विशेषाधिकार प्रस्ताव के अन्तर्गत जेल यात्रा के पश्चात् श्रीमती गाँधी जनवरी 1980 में स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर पुनः प्रधानमंत्री के पद पर आसीन हुयीं। उनके दो वर्षो के प्रशासनकाल में भारत ने वैदेशिक सम्बन्धों में अवश्य सम्मानपूर्वक स्थान गृहण किया है, किन्तु आंतरिक क्षेत्र में देश की समस्यायें यथावत स्थिर हैं। और यह देखना है कि श्रीमती गांधी उपरोक्त समस्याओं, जनता की आकांक्षाओं और सुविधाओं का कहाँ तक निवारण कर पाती हैं ?

भारत एक विशाल देश है और इसकी समस्यायें अत्यन्त जटिल हैं। श्रीमती गाँधी इस यर्थाथ को स्थगित कर अपनी राजनैतिक प्रतिरूप को स्थाई नहीं बना सकतीं। आशा है, कि श्रीमती गाँधी अपने उत्साही, निर्भीक तथा प्रौढ़ और दूरदर्शी नीतियों के द्वारा, जिसके लिये वे प्रसिद्ध हैं, देशहित के प्रति अपनायेंगी।

समकालिक भारत

1. Crocker, Walter : Nehru : A Contemporary Estimate, London, 1966.

2. Dutta, T. N. : Nehru : The Builder of Modern India, Nehru Foundation, 1966.

3. Moon, Penderel : Divide & Quit, London, 1961.

4. Murphy, G : In The Minds of Men, New York, 1953.

5. Nanda, B. R. : The Nehrus, Moti Lal and Jawahar Lal, London, 1962.

6. Zakaria, Rafiq : Nehru : A Study, Times of India Publication, 1960.

7. Shaw, T. S : Nehru & After, New-York, 1980.

8. Karaka, D. F. : The Lotus Eater From Kashmir, London, 1953.

9. Moraes, Dom : Mrs Gandhi, Vikas, 1980.

10. Parikh, N. D : Sardar Vallabh Bhai Patel, Ahmedabad, 1953.

11. Punjabi, K. L : The Indomitable Sardar, Bombay, 1962.

12. Srinivasan. S : Shastri : A Man to Remember, London, 1979,

अध्याय 30
भारतीय प्रायद्वीप के सैन्य संघर्ष

भारत-चीन संघर्ष

विश्व राजनैतिक संतुलन में, बीसवीं शताब्दी के मध्य में भारत और साम्यवादी चीन के उदय ने एक विशेष परिवर्तन ला दिया है। इन दोनों देशों से इनकी जनसंख्या तथा क्षेत्र के आधार पर यह आशा की जा रही थी कि दोनों देश एशियाई देशों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेंगे। 1949 में चीन के उदय के पश्चात् भारत ने इस नव जन्मित साम्यवादी देश के प्रति अपने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध गठित करने आरम्भ कर दिये। जवाहर लाल नेहरू ने लोक सभा में कहा, कि शताब्दियों पश्चात् चीन एक सशक्त राष्ट्र के रूप में उदय हुआ है, और यह एशिया और विश्व के लिये महान उपलब्धि है। के० एम० पानीकर ने भी अपनी पुस्तक 'इन टू चाइनाज' में चीन और भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों और जवाहर लाल नेहरू की चीन के प्रति आस्था को व्यक्त किया है। 'द हिन्दू' ने भी जुलाई 19, 1956 को जवाहर लाल नेहरू के बांच में दिये गए वक्तव्य को उदृत करते हुये लिखा 'विश्व की बड़ी शक्तियों ने रूस की क्रान्ति और चीन की क्रान्ति से अनुभव प्राप्त करने की चेष्टा नहीं की'।

1949 में नेहरू की अमरीका यात्रा ने साम्यवादी समाचार पत्रों और विशेषकर चीन में आलोचनात्मक प्रक्रिया व्यक्त की। गिरिलाल जैन ने अपनी पुस्तक 'पंचशील एन्ड आफ़्टर' में लिखा है कि ल्यू शा ची जो चीन के लोक गणतंत्र के अध्यक्ष थे; उन्होंने बर्मा, भारत और फिलीपीन्स को अभी भी उपनिवेशिक संज्ञा से सम्बोधित किया। एक अन्य चीनी पत्रिका ('वर्ल्ड कल्चर,' शंघाई) ने नेहरू, सिंगमनरी, बाऊदाई, तथा च्यांग-काई शेक को अमरीकी साम्राज्यवादियों के चाटुकारों की संज्ञा दी। चीनी आलोचना का मुख्य कारण तिब्बत समस्या थी। चीनी राजनैतिक क्षेत्र में इस बात की आशंका की

जा रही थी कि तिब्बत की समस्या जवाहर लाल नेहरू ने राष्ट्रपति ट्रूमैन के साथ विवेचित की है। 'न्यू कन्सट्रक्शन,' शंघाई ने सितम्बर 22, 1949 को अपने एक लेख में तिब्बत को हस्तगत करने हेतु अमरीका और भारत का षडयंत्र बताया। 'द आब्जरवर,' शंघाई ने अप्रैल 11,1950 को लिखा, कि अमरीका ने भारत पर अपनी आशायें केन्द्रित कर रखी हैं और इस कारण अमरीका भारत को प्वाइन्ट 4 योजना के अन्तर्गत प्रथामिकता प्रदान कर रहा है। इस आलोचना को प्रोत्साहन देने में अमरीकी पत्रकारिता का भी सहयोग था क्योंकि अमरीकी समाचार पत्र भारत-अमरीकी मित्रता को विश्व में प्रक्षेपित कर रही थीं।

उपरोक्त उद्वेग के उपरान्त भी जवाहरलाल नेहरू ने चीन की ओर मित्रतापूर्ण व्यवहार बनाये रखा। यद्यपि जो-एन-लाई के भारत आगमन और नेहरू की चीन-यात्रा ने अपरोक्ष रूप से मित्रता की स्तरीय भावना को जन्म दिया, किन्तु पश्चिमी राजनैतिक पर्यवेक्षकों ने जिसमें चेस्टर बोल्स और लेवी वार्नर मुख्य थे, भारत-चीन सम्बन्धों के प्रति अपनी आशंका व्यक्त की। एक ओर 1954 के पंचशील सिद्धान्त ने और 1955 के बाडुंग सम्मेलन ने तथा प्रधानमंत्रियों की यात्राओं ने 1954-56 के मध्य के काल को 'मधुमास युग' की संज्ञा दी है' दूसरी ओर चीन की तिब्बत में राजनैतिक-क्रियाओं ने मित्रता में आशंका का बीजारोपण किया और 1959 में चीन का तिब्बत में हस्तक्षेप कर दलाईलामा का भारत में राजनैतिक शरण लेना भारत-चीन सम्बन्धों में एक नवीन युग प्रवर्तन का सूचक था। 'न्यूयार्क टाइम्स' ने मई 5,1959 को लिखा कि यह बड़े दुख का विषय है कि नेहरू के पाँच सिद्धान्त, जो शान्ति सद्भावना के द्योतक थे, बहुत शीघ्र अपने प्रभाव को छोड़ रहे हैं।

इस व्याकुलता तथा प्रघात के आम वृन्दगान में अमरीका के राज्य सचिव ने कहा कि चीनियों द्वारा तिब्बत की धार्मिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं का हनन मानव जाति की स्वाधीनता का हनन था। अमरीका की सरकार ने तिब्बत की स्वयत्ता के संहार को चीन द्वारा तिब्बत के ऐतिहासिक महत्व की विनिष्ट माना। भारत ने तिब्बत की घटना को अत्यन्त सौम्य प्रौढ़ता से ग्रहण किया परन्तु इस घटना का प्रभाव शीघ्र ही उप महाद्वीप में प्रतीत होने लगा और नैपाल, सिक्किम, भूटान और अफ़ग़ानिस्तान भी राजनैतिक करवट लेने लगे।

चीन की तिब्बत के प्रति 'हस्त करतल' की अभिव्यक्ति और पांच अंगुलियों (नैपाल, भूटान, सिक्किम, नेफ़ा और लद्दाख) को पुनः प्राप्त करने की घोषणा ने भारत-चीन सीमा विवाद की प्रतिच्छाया को और

अधिक गंभीर कर दिया। मुख्य रूप से जो विवाद भारत चीन सम्बन्धों में आरम्भ हुआ वह था चीन द्वारा अपने मानचित्रों में पचास हजार वर्गमील भारतीय क्षेत्र का चित्रण और भारतीय सीमा पर आक्रामक नीति का परिपोषण। भारत चीन सीमा विवाद भी चीन-रूस विवाद की भांति था जिसमें चीन कीविदेशनीति ने पूर्ण रूपेण स्वरूप परिवर्तन कर लिया था।

प्रधानमंत्री जो इन-लाई ने भारत-चीन सीमा विवाद को इतिहास का एक जटिल प्रश्न बताया और मैकमोहन रेखा को निर्णायक रूप से असंगत तथ्य की संज्ञा दी। श्वेत पत्रों के अनुसार उनका यह वक्तव्य उनकी भारतीय प्रधानमंत्री के साथ हुई पूर्व की समस्त घोषणाओं के विपरीत था। चीन का सीमा विवाद के प्रति तर्क दो तथ्यों पर आधारित था।

1. भारत जिस सीमा व क्षेत्र को वैध समझता था, वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद की पैतृक सम्पत्ति था और स्वतंत्र भारत को अपना उपनिवेशक रूप साकार रखने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये।

2. भारत-चीन सीमा कभी भी औपचारिक रूप से सीमाबद्ध नहीं की गई।

सीमा का परिसीमन करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय विधि वेत्ताओं (टेलर, ओपेन हाइम, स्टार्क इत्यादि) ने पर्वत, झरने, नदी जल संभर इत्यादि को मान्यता प्रदत्त की है। यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि का सिद्धान्त तर्कसंगत होने के नाते विश्वमान्य है। भारत-चीन सीमा जल-विभाजन के द्वारा ऐतिहासिक और पारस्परिक रूप से निर्णयोजित हो चुकी थी। भारत-चीन सीमा विवाद के मुख्य तथा वास्तविक तथ्यों का मूल्यांकन उपरोक्त कथन पर आधारित गोपालाचारी द्वारा आकाशवाणी के दिसम्बर 16, 1962 के अंक में किया गया है। चीन के भारत की सीमा पर अनाधिकार चेष्टा और भारतीय नीतियों के खण्डन के उपरान्त भी जवाहर लाल नेहरू की प्रत्येक रूप से यह चेष्टा थी कि भारत-चीन सीमा-विवाद शान्तिपूर्ण रूप से हल हो जाय। तदोपरांत जो एन-लाइ के देहली आगमन के द्वारा भी कोई समाधान नहीं हो सका। नवम्बर 28, 1981 को नेहरू के संसदीय वक्तव्य को 'पेकिंग रिव्यू' और 'पीपुल्स डेली' ने चीन विरोधी अभियान की संज्ञा दी। चीनी राजनैतिक क्षेत्र में इसे नेहरू-कैनेडी-रस्क का षडयंत्र बताया गया। चीन के नेताओं ने कहा, कि नेहरू ने एशिया में राष्ट्रपति कैनेडी का प्रथम राजनेता बनने हेतु गुट निरपेक्ष की आत्मा को शीतयुद्ध की राजनीति के हाथ में सौंप दिया था। इसके अतिरिक्त नेहरू के बेलग्रेड सम्मेलन में कार्यों, इन कार्यों में उनकी भूमिका तथा जापान के प्रधान मन्त्री एकादा से उनकी भेंट ने चीन की सरकार

के समक्ष उन्हें संदिग्ध घोषित कर दिया। जब चीन ने भारत को 1954 का समझौता, पुनः प्रलम्बित करने का अनुरोध किया तो जवाहर लाल नेहरू ने चीन से लद्दाख खाली कर देने के लिये आग्रह किया। फरवरी 1962 में चीन की सरकार ने भारत के विमानों द्वारा अनाधिकार चेष्टा के विरुद्ध विरोध प्रकट किया और इसको व्यापक रूप से प्रचारित किया। अप्रैल 22, 1962 को पुनः चीन ने अपने चयनित भारतीय आरोपों को प्रतिबिम्बित किया और इसके साथ यह भी आरोप लगाया कि भारतीय सरकार तिब्बत में अपना हस्तक्षेप कर वहां के विद्रोही कार्यकर्ताओं को सहयोग प्रदान कर रही थी। अप्रैल 27, 1962 के 'पीकिंग रेव्यू' ने सम्पादकीय लेख में नेहरू, दलाईलामा, च्यांग काई शेक और अमरीका पर यह आक्षेप लगाया गया कि वे तिब्बत में युद्ध सामग्री देकर बिना कारण हस्तक्षेप कर रहे थे। मई 1962 में चीन की सरकार ने भारतीय आक्रामक नीति की आलोचना एवं भर्त्सना की। भारतीय सरकार ने चीन के विरोध का खण्डन कर नेहरू की मई 2, 1962 की लोक सभा घोषणा को प्रतिलक्षित किया। लोक सभा में नेहरू ने कहा कि भारत चीन के साथ किसी भी प्रकार संघर्ष के प्रति इच्छुक नहीं, किन्तु इस नीति का पालन भारत के नियंत्रण में नहीं था।

शनैः शनैः भारत-चीन सीमा विवाद एक जटिल समस्या का रूप धारण कर विषम परिस्थिति में परिणित हो गया। अक्टूबर 1962 में चीन और भारत के सम्बन्धों में पूर्ण रूप से तनाव आ गया और इसी माह जवाहर लाल नेहरू ने अपनी मद्रास और सीलोन की यात्रा से पूर्व चीनी आक्रमण-कारियों को भारतीय सीमा से बाहर करने का आदेश दिया। पीकिंग रेव्यू के अनुसार अक्टूबर 14, 1962 को चीन ने भारत को सीमा संकट से दूर रहने का परामर्श दिया परन्तु अक्टूबर 20 से भारत-चीन भाई-भाई के सम्बन्धों पर पटाक्षेप हो गया और दोनों ओर से घोर आक्रमण आरम्भ हो गये।

भारत-चीन युद्ध ने अपने प्रथम चरण में जवाहर लाल नेहरू की नीतियों की असफलता को उद्घोषित किया, और अपने द्वितीय चरण में भारतीय सैन्य शक्ति की कृत्रिमता को स्पष्ट किया। नेहरू ने स्वयं इस युद्ध के तथ्य को स्वीकार करते हुये कहा कि "हम स्वयं निर्मित कृत्रिम वातावरण में रह रहे थे।"

भारत-चीन युद्ध ने जवाहर लाल नेहरू को अपनी नीति को प्रत्यान्तर करने हेतु बाध्य किया। उन्होंने पश्चिमी ब्लाक से सैनिक सहायता की माँग की। नार्मन पामर के अनुसार भारतीय सहायता की मांग को अमरीका की

सरकार ने अतिशीघ्र कार्यान्वित किया। परन्तु अमरीकी सरकार भारतीय सुरक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व नहीं लेना चाहती थी इसका उदाहरण जांन गॉलब्रेथ ने अपनी पुस्तक 'एम्बेस्डर्स जनरल' में दिया है। गॉलब्रेथ के अनुसार जब भारतीय सरकार ने चीन के विरुद्ध प्रयोग हेतु वायुसेना से सहायता मांगी तो गॉलब्रेथ जो उस समय भारत में अमरीका के राजदूत थे, भारत सरकार को स्पष्ट किया कि चीन के विरुद्ध वायुसेना का प्रयोग बुद्धिमत्तायुक्त नहीं था क्योंकि तिब्बत से गंगा का क्षेत्र चीन के विमानों के लिये पूर्णत: खुला लक्ष्य था। गॉलब्रेथ ने पुन: भारत सरकार को परामर्श दिया कि यदि वायुसेना द्वारा चीनी आक्रमण की गति में अवरोध उत्पन्न करना ही एकमात्र ध्येय है, तो कोरिया और वियतनाम के वास्तविक उदाहरण को हमें विस्मृत नहीं करना चाहिये।

20 नवम्बर 1962 को राष्ट्रपति कैनेडी ने अपने एक वक्तव्य में कहा 'गत सप्ताह चीनी सेना, जिसने उत्तरपूर्वी भारतीय क्षेत्र में सीमा का अतिक्रमण कर लिया है, अब चीन की युद्ध विराम योजना के प्रति भारतीय सरकार के निर्णय का मूल्यांकन करने हेतु हम एक अमरीकी मण्डल भारत भेज रहे हैं।' अमरीकी मण्डल उपराज्य सचिव 'एवरेल हैरीमन' की अध्यक्षता में भारत आया। अमरीका के राजदूत जॉन गॉलब्रेथ ने जवाहरलाल नेहरू से भेंटवार्ता करने के पश्चात् कहा, कि भारत के प्रधानमंत्री युद्ध विराम के इच्छुक थे और दूसरा कारण युद्ध विराम के प्रति यह था कि अमरीकी प्रत्युत्तर भी इस युद्ध विराम के प्रति उत्तरदायी था। भारत-चीन युद्ध ने अमरीका के समाचारपत्रों में भारतीय सहायता एवं सहयोग के प्रति पूर्णरूपेण योगदान दिया। नि:सन्देह अमरीकी जनता तथा समाचार पत्र भारत की गुट निरपेक्ष नीति से प्रभावित नहीं थे, किन्तु 'न्यूयार्क टाइम्स' (अक्टूबर 23, 1962) के अनुसार "विश्व के स्वाधीनता प्रिय राज्य भारत को प्रत्येक प्रकार का सहयोग देने के लिये तत्पर थे।"

एक ओर जहां अमरीका अपनी युद्ध सामग्री देकर अपनी सद्भावना को प्रदर्शित कर रहा था, दूसरी ओर राष्ट्रपति कैनेडी भी अमरीका में स्थित भारतीय राजदूत को अमरीका की सद्भावना और सहयोग का आश्वासन दे रहे थे। उन्होंने भारतीय राजदूत को स्पष्ट किया कि भारत के इस संकट के समय में अमरीका अपनी सहायता के उपलक्ष्य में किसी प्रकार की सन्धि अथवा समझौते करने का इच्छुक नहीं था। थियोडोर सुरेन्सन ने अपनी पुस्तक 'कैनेडी' में लिखा है कि कैनेडी जवाहर लाल नेहरू की गुट निरपेक्ष की नीति के प्रति विशेष आस्था नहीं रखते थे, किन्तु उन्होंने आशा व्यक्त की कि

भविष्य में नेहरू अपनी नीति को यथार्थता एवं वास्तविकता में परिणित करने की चेष्टा करेगें। अमरीका की सरकार ने अमरीका विरोधी कृष्णा-मेनन को निष्कासित किये जाने का स्वागत किया।

भारत-चीन युद्ध में अमरीका की सहायता एवं उसकी वायुसेना के सराहनीय कार्य के अतिरिक्त अन्य पश्चिमी देशों से भारत को सहायता प्राप्त हुई। भारत-चीन युद्ध ने एशिया और पश्चिमी देशों के मध्य एक नव राजनैतिक नीति विकास को जन्म दिया। इस युद्ध ने मुख्यत: दो समस्याओं का प्रादुर्भाव किया : 1. भारत-चीन युद्ध ने एक एशियाई त्रिकोण के नवक्षेत्र को संघर्ष और तनावपूर्ण वातावरण से युक्त कर दिया। इस एशियाई त्रिकोण में रूस, भारतीय उपमहाद्वीप तथा तीन मुख्य नायक थे। 2. भारत-चीन युद्ध ने 1965 के भारत-पाक युद्ध का भी बीजारोपण किया। पाकिस्तान के विदेशमन्त्री ज़ुल्फ़िक़ार अली भुट्टो ने चेतावनी दी कि यदि अमरीका और ब्रिटेन भारत को युद्ध सामग्री द्वारा पोषित करते रहेगें तो पाकिस्तान कदाचित मौन नहीं रहेगा। भुट्टो ने यह भी कहा कि इस सहायता से उत्पन्न किसी भी कुपरिणाम का उत्तरदायित्व अमरीका और ब्रिटेन पर होगा। फलस्वरूप पाकिस्तान ने साम्यवादी चीन को अपने पड़ोसी देश की संज्ञा देकर सम्बन्ध आरोपित करने आरम्भ किये। वारेन उना के अनुसार अमरीकी प्रशासन ने पाकिस्तान की इस नीति को कृत्रिम प्रेम एवं खिलवाड़ की संज्ञा दी। वारेन उना ने 'एकलांटिक' में अपने एक लेख में स्पष्ट किया कि पाकिस्तान भारत के प्रति अपना विद्वेष अमरीका को लक्ष्य बनाकर प्रकट करना चाहता था। वारेन उना के अनुसार पाकिस्तान की चीन मित्रता 'मेरे शत्रु का शत्रु मेरा मित्र' के सिद्धान्त पर आधारित थी।

चीन के आक्रमण के पश्चात् भारत पश्चिमी ब्लाक के सम्पर्क में पुन: आ गया और विशेषकर भारत में अमरीका की सहकारिता नीति का समावेश हुआ। राष्ट्रपति कैनेडी ने कहा कि अमरीका भारत को पूर्णरूप से स्वनिर्भर करने का इच्छुक था ताकि भविष्य में किसी चीनी आक्रमण में भारत को सहायता न मांगनी पड़े, एवं पराश्रित न रहना पड़े। राष्ट्रपति कैनेडी के शासन काल में अमरीका की विदेश नीति में एक नवीन आशा व परिवर्तन आया जबकि पाकिस्तान जॉन फास्टर डलिस की सन्धिवादी नीति (पैक्टाइसिस) को ही प्रोत्साहन देना चाहते थे। महमूद वर्की ने 'ऑरबिस' में अपने एक लेख में लिखा कि सितम्बर 1963 को राष्ट्रपति अयूब खाँ ने यह चेतावनी दी कि यदि भारत ने पाकिस्तान पर आक्रमण किया तो चीन पाकिस्तान को सहयोग देगा। न्यूयार्क टाइम्स ने (अक्टूबर 7, 1963) लिखा

कि जनरल मैक्सवेल टेलर के पाकिस्तान यात्रा के पश्चात् पाक-चीन कृत्रिम मित्रता और भी स्पष्ट हो गई थी क्योंकि अमरीका के राष्ट्रपति ने पाकिस्तान को विमान सहायता देना स्थगित कर दिया था। तत्पश्चात् अमरीका के रक्षा सचिव मैकेनमेरा ने यह घोषणा की कि भारत को साम्यवादी चीन के आक्रमण के विरुद्ध अमरीका को पूर्णरूप से भविष्य के लिये तैयार कर देना चाहिए।

इस पर भी पाकिस्तान के नेताओं ने भारत विरोधी अभियान को अपने भाषणों द्वारा तीव्र कर दिया। अमरीका में भी पाकिस्तान के समर्थकों ने भारत को अमरीकी नीति के बाहर की परिधि की संज्ञा दी और अमरीकी सरकार को अपनी नीति परिवर्तन के लिये सुझाव दिया। न्यूयार्क विश्व-विद्यालय के प्रोफेसर ट्रैंगर ने 'आॅरबिस' में अपने एक लेख में अमरीका की सरकार को भारत के उन अवरोधों के प्रति सचेत किया जो भारतीय नीति के द्वारा अमरीकी नीति के प्रति उत्पन्न किये गये थे। अपने लेख के उपसंहार में ट्रैंगर ने पाकिस्तान को अमरीका का सच्चा हितैषी एवं मित्र बताया। प्रसंगवश ट्रैंगर ने अपने एशियाई सिद्धान्त के विश्लेषण के मध्य भारतीय नीति के अवरोधों की व्याख्या कहीं नहीं की।

तथापि चीन के भारत पर आक्रमण के पश्चात् पाकिस्तान सरकार की नीति भारत के प्रति खुले रूप से उग्रवादी प्रतीत होने लगी। पाकिस्तान के विदेशमन्त्री मुहम्मद अली बोगरा ने भारतीय चीनी संघर्ष को एक स्थानीय संघर्ष की संज्ञा दी। पाकिस्तान समाचारपत्र 'द डान' (नवम्बर 26, 27) को अपने एक लेख 'हिटलरस फुटस्टैपस' में भारतीय नीति की महत्वाकांक्षा का अर्थ विशाल भारत बताया।

इस प्रकार भारत-चीन संघर्ष ने भारतीय उपमहाद्वीप के राजनैतिक वातावरण में बुद्धिहीनता के कारण तथा स्वार्थलिप्सा में लिप्त होकर विषमता के वातावरण को जन्म दिया। पाकिस्तान को केवल भारतीय प्राप्त सहायता के विरुद्ध प्रचार करना था। पाकिस्तान के प्रचार ने पूरे विश्व की दृष्टि भारतीय उपमहाद्वीप पर केन्द्रित कर दी। रूस के प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने भी कहा कि भारत 'साम्राज्यवादी फंदे' में अपनी गर्दन फंसा रहा है। सोवियत प्रधानमन्त्री के शब्द तर्कसंगत नहीं थे क्योंकि रूस स्वयं 1941-45 के मध्य मुक्त रूप से अमरीका एवं ब्रिटेन की सहायता प्राप्त कर चुका था। रूस ने अमरीका से उपरोक्त वर्षों में 10,801,131,000 डालर की सहायता प्राप्त की थी। क्या विकासशील देश विकसित देशों से सहायता प्राप्त करने के अधिकृत नहीं थे? सदैव विश्व के विकसित देशों ने उन देशों की सहा-

यता की है जिनका विकास पूर्णतया न हो पाया हो। इस संदर्भ में प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी का 'संयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास' के अधिवेशन में कहे गए शब्द यथाउपयुक्त हैं। श्रीमती गांधी ने कहा था कि 'प्रश्न यह नहीं है कि विकसित देश सहायता दे सकते हैं या नहीं वरन 'प्रश्न यह है कि क्या विकसित देश सहायता न प्रदान करने का सामर्थ रखते हैं'। उपरोक्त कथन में आधुनिक राजनैतिक सिद्धांतों के दर्शन की स्पष्ट व्याख्या निहित है। इसी मध्य पाकिस्तान ने चीन के साथ अपने सम्बन्धों को सशक्त करना प्रारम्भ कर दिया था, नेपाल ने तटस्थता घोषित कर दी थी, अफगानिस्तान की कोई स्पष्ट नीति नहीं थी और चीन संघर्ष के पश्चात भी भारत गुटनिर्पेक्ष की नीति में विश्वास रख रहा था। भारत की गुटनिर्पेक्ष नीति का भविष्य कटु अलोचना का विषय था।

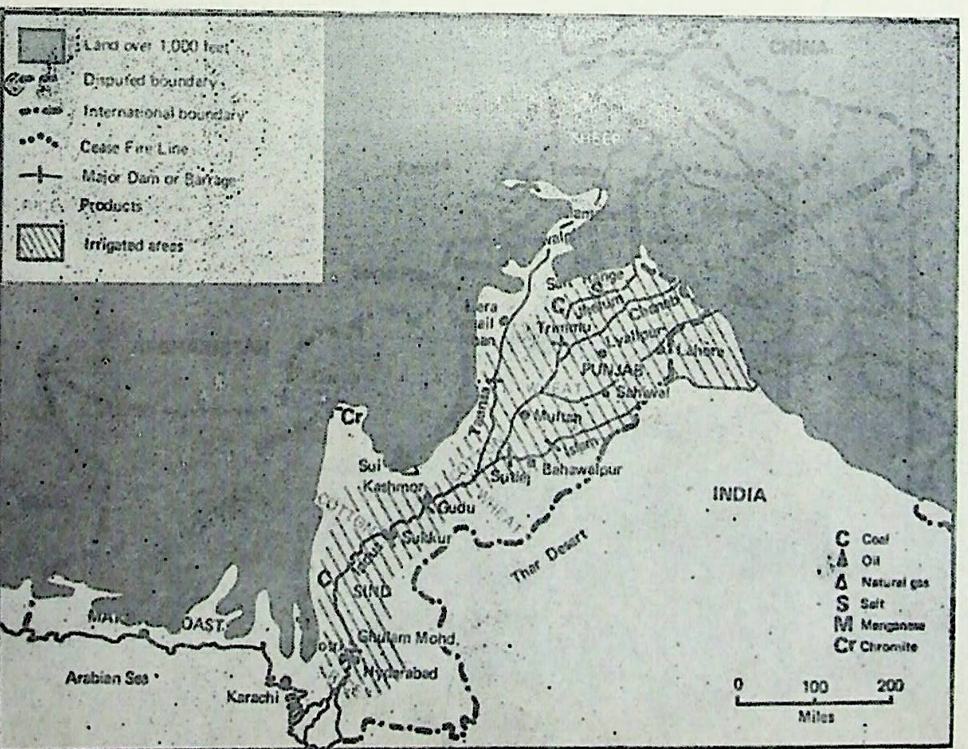
भारत-पाक युद्ध (1965)

भारत-पाक सम्बन्धों में 1960 के मध्य एक नवीन अध्याय आरम्भ हुआ जब भारत के प्रधानमन्त्री जवाहर लाल नेहरू ने पाकिस्तान यात्रा की। भारतीय प्रधानमन्त्री पाकिस्तान में 'सिन्धु-जलसंधि' हेतु गये थे। 'पाकिस्तान टाईम्स' के अनुसार काश्मीर समस्या के अतिरिक्त 'सिन्धुजल' समस्या भारत-पाक सम्बन्धों के मध्य एक गम्भीर रूप धारण किये हुये थी इसके निदान ने दोनों देशों के सम्बन्धों को एक नया रूप प्रदान किया—ऐसा एक विश्वास लगभग सभी दिशाओं से प्राप्त हुआ। इसके समानान्तर एक शंका काश्मीर समस्या को लेकर सदैव उत्पन्न रही कि भारत का काश्मीर समस्या के प्रति क्या दृष्टिकोण होगा ?

यह राजनैतिक अथवा कूटनीतिज्ञ विडम्बना थी कि एक ओर पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब खां का कथन (द डान, सितम्बर 24, 1960) था कि 'भारत और पाकिस्तान अब सामान्य रूप से रहना सीख गये हैं'। दूसरी ओर भारतीय प्रधानमन्त्री के भारत वापिस लौटने के साथ ही भारत पाक सम्बन्धों में पुनः परिवर्तन आ गया। राष्ट्रपति अयूब खां ने मुजफराबाद में कहा (द डान, अक्टूबर 6, 1960) कि काश्मीर समस्या के समाधान के बिना भारत-पाक सम्बन्धों में निकटता होने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। द टाईम्स ऑफ़ इण्डिया में अक्टूबर 11, 1960 को सम्पादकीय लेख में दिया कि वे लोग जो 'सिन्धु जल सधि' के द्वारा भारत-पाक सम्बन्धों में वृद्धि की आशा कर रहे थे, उन्हें राष्ट्रपति अयूब खां के वक्तव्य से अत्यन्त निराशा होने लगी थी।

इसके कुछ ही समय पश्चात् जवाहर लाल नेहरू जब अमरीका की यात्रा पर गये तो वहाँ उन्होंने काश्मीर समस्या को 'पण्डीरा बॉक्स' की संज्ञा दी (दि हिन्दू, अक्टूबर 10, 1960) और यह आशय व्यक्त किया कि इस 'पण्डीरा बॉक्स' को खोलने की आवश्यकता नहीं थी। राष्ट्रपति अयूब खां ने इसके प्रत्युत्तर में (पाकिस्तान टाईम्स, अक्टूबर 27, 1960) काश्मीर समस्या के प्रति 'टाईम बम' का पारिभाषिक शब्द प्रयोग किया। तथापि 1961 के मध्य भारत-पाक सम्बन्धों में तीक्ष्णता आनी प्रारम्भ हो गई। पाकिस्तान ने भारत के साथ अमरीका के प्रति भी अपनी आशंका व्यक्त करना आरम्भ कर दिया। पाकिस्तान के अर्द्ध सरकारी समाचार पत्र 'डॉन' ने अपने सम्पादकीय लेखों में अमरीका की सरकार पर यह आक्षेप लगाया कि अमरीकन नीति में परिवर्तन हावर्ड सिद्धान्तवादियों के कारण आया है। ख़ालिद सईद ने 'एशियन सर्वे' में अपने एक लेख में यह व्यक्त किया : पाकिस्तान की सरकार अमरीका के नवनीति कर्णधारकों को पाकिस्तान विरोधी समझती है।' राष्ट्रपति अयूब खां ने अमरीकी नीति को निर्बल एवं अनिर्णायक घोषित किया, उन्होंने अमरीका पर यह भी आरोप लगाया कि अमरीका मित्रों और अमित्रों में अन्तर समझने में असमर्थ है। संक्षेप में पाकिस्तान का दक्षिण पूर्व एशिया संधि संघ के प्रति विरोध अमरीकी नीति के प्रति आंशका और चीन और रूस के प्रति सम्बन्धों की सामान्यता केवल एक प्रश्न परकेन्द्रित थी और वह थी कश्मीर समस्या। भुट्टो ने पाकिस्तान की राष्ट्रीय एसेम्बली के समक्ष एक भाषण में कहा, कि अभी यह स्थिति है तो 1970 में भारत अमरीका की ओर सम्मुख होकर कहने लगेगा भारत माता का विभाजन गलत था। भुट्टो ने पुनः कहा, कि पाकिस्तान को कश्मीर समस्या का समाधान अपनी नीति के माध्यम से करना चाहिये। 1960-64 के मध्य पाकिस्तान की नीति पूर्णरूप से भ्रम उत्पन्न करने वाली थी। एक ओर अयूब खां रूस और चीन की दो नावों पर सवार थे और दूसरी ओर अमरीका से भी भयबोध की नीति द्वारा मित्रता के इच्छुक थे। दूसरी ओर कश्मीर समस्या का समाधान बल प्रयोग से करना चाहते थे और साथ ही शान्ति और समझौते की वार्ता के भी इच्छुक थे।

यद्यपि पाकिस्तान अमरीका से शीत युद्ध में ग्रस्त था किन्तु पाकिस्तान और भारत के मध्य काश्मीर समस्या को लेकर छः मित्र गोष्ठियां हो चुकी थीं। इन गोष्ठियों का कोई विशेष प्रतिफल दृष्गिोचर नहीं हो रहा था और समस्या दिन प्रति दित जटिलता में परिवर्तित हो रही थी। संयुक्त राष्ट सुरक्षा परिषद भी दोनों देशों में कोई निर्णय करवाने में असफल रही।



Land over 1,000 feet
Disputed boundary
International boundary
Cease Fire Line
Major Dam or Barrage
Products
Irrigated areas
CHINA
Jhelum
Chenab
Lyallpur
Lahore
PUNJAB
Sahiwal
Multan
Bahawalpur
Sutlej
INDIA
Sui
Kashmor
Gudu
Sukkur
SIND
Thar Desert
Ghulam Mohd.
Hydarabad
Karachi
Arabian Sea
C Coal
Oil
Natural gas
S Salt
M Manganese
Cr Chromite
0 100 200
Miles

केवल शेख अब्दुल्ला की मध्यस्था के फलस्वरूप नेहरू–अयूब वार्ता की संभावना व्यक्त की जा रही थी परन्तु 1964 के मध्य में जवाहर लाल नेहरू के निधन ने स्थिति को अत्यधिक जटिल बना दिया। जवाहर लाल नेहरू के निधन पश्चात् लाल बहादुर शास्त्री भारत के प्रधानमंत्री निर्वाचित हुये इस मध्य भारत-पाक सम्बन्धों में अत्यधिक तनाव पूर्ण स्थिति हो गई। इसका मुख्य कारण कश्मीर और कच्छ के रन में पाकिस्तान की सेना का इकट्ठा होना था। अप्रैल 1965 में कच्छ में पाकिस्तान गोरिल्ला सैनिकों की घुसपैठ ने वहां युद्ध आरम्भ कर दिए। संघर्ष के आरम्भ से ही अमरीका, ब्रिटेन और कैनेडा इन दो पड़ोसी देशों में शान्तिपूर्ण वार्ता और समझौते के इच्छुक थे। अमरीका के लिए सर्वाधिक कठिनाई यह थी कि यह दोनों देश अमरीका की दी हुई युद्ध अस्त्रों का प्रयोग कर रहे थे ऐसी स्थिति में अमरीका ने स्वयं कोई क्रियात्मक निर्णय न लेकर ब्रिटिश प्रधानमंत्री विलसन को समझौता कराने के लिए प्रेरित किया। प्राधानमंत्री विलसन समझौता कराने में कुछ सीमा तक सफल रहे और जून 30, 1965 को भारत-पाक समझौते पर हस्ताक्षर हुए। राष्ट्रपति अयूब खां ने न्यूयार्क हैरल्ड ट्रिब्यून (जुलाई 1,1965) को एक भेंटवार्ता में बताया कि उपरोक्त समझौता भारत-पाक सम्बन्धों से वर्तन विन्दु (एक नया मोड़) होगा।

इससे पूर्व कि दोनों देश कच्छ सीमा समस्या का अस्थाई समाधान कर सकें, काश्मीर में स्थिति अत्यधिक गम्भीर एवं जटिल हो गई। पाकिस्तानी सैनिक गुरिल्ला अगस्त 1965 को कश्मीर की भारतीय सीमा के अन्दर प्रवेश कर गये। भारतीय प्रधानमन्त्री लाल बहादुर शास्त्री ने इसे 'क्षीण छद्मवेशी आक्रमण' की संज्ञा दी। आगामी सप्ताह में सैनिक परिगमन में वृद्धि होती गई। संयुक्त राज्य के महासचिव ऊ थाँट ने सुरक्षा परिषद को सितम्बर 3, 1965 को बताया कि पाकिस्तान के सैनिक भारतीय सीमा में प्रवेश कर गये हैं। टाइम्स ऑफ इण्डिया के सम्पादक डी० आर० मानकेकर ने कश्मीर संघर्ष को वियतनाम की उपमा दी। उनके अनुसार अयूब खां के 'मुजाहिद' वियतनाम में हो-ची-मिन्ह के गुरिल्ला की भांति कार्य कर रहे थे।

सितम्बर 4, 1965 को पाकिस्तान ने छम्ब क्षेत्र में मुख्य रूप से आक्रमण आरम्भ कर दिया और सितम्बर 5 तक आक्रमण शृंखलायें प्रारम्भ हो गई। प्रधानमन्त्री शास्त्री ने घोषणा की कि राज्य के गुप्त रहस्यों को प्रकट करना प्रथागत नहीं है, किन्तु जब सेनाध्यक्षों ने सरकार से स्थिति के बारे में पूछा तो मैंने उन्हें स्पष्ट आज्ञा दे दी है कि अनिर्णय के लिये कोई स्थान नहीं है। वह साहसपूर्ण आगे बढ़ें और पीछे न हटें। सितम्बर 6, 1965 को

भारत ने पूर्णरूप से युद्ध का आह्वान कर लाहौर की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा को भंग किया, और दूसरे ही दिवस सियालकोट क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया। 'न्यूयार्क टाइम्स' ने सितम्बर, 7, 1965 को लिखा कि प्रधानमन्त्री शास्त्री के अनुसार भारत पूर्णतया युद्धरत था और राष्ट्रपति अयूब खां ने भी घोषणा की, कि हम युद्धरत है और तब तक आराम नहीं करेंगे जब तक भारतीय तोपों को शान्त नहीं कर देगें।

भारत-पाक युद्ध के तीव्रीकरण ने पाकिस्तान के पास आधुनिक अमरीकी पैंटन टैंक और शस्त्र होने के उपरान्त भी पाकिस्तान की निर्बलता को व्यक्त कर दिया। युद्ध की वृद्धि ने ब्रिटेन, अमरीका, रूस तथा संयुक्त राष्ट्र में चिन्ता व्याप्त कर दी थी। केवल चीन ही एक ऐसा देश था जो इस युद्ध से आनन्द प्राप्त कर रहा था। विदेशी पत्र एवं पत्रिकाओं ने भारत-पाक युद्ध का भिन्न-भिन्न रूप में प्रचार किया। युद्धोंमध्य और युद्धोपरान्त की पुस्तकों ने भी भारत-पाक युद्ध के विभिन्न पक्षों की समालोचना कर अपना-अपना मत व्यक्त किया। सर्वाधिक मनोरंजक तथ्य यह था कि राष्ट्रपति अयूब खां बार-बार अमरीका पर आरोप लगा रहे थे कि वह भारत को युद्ध सामग्री दे रहा था और पाकिस्तान स्वयं अमरीका से प्राप्त पैंटन टैंक और सेब्र जेट विमानों द्वारा युद्धरत था। द न्यूयार्क टाईम्स ने सितम्बर 6, 1965 के सम्पादकीय लेख में भारत-पाक युद्ध का विश्लेषण करते हुये लिखा कि भारत ने काश्मीर विभाजन को अमान्यता दी और अपने क्षेत्र को भारत का एक आन्तरिक अंग स्वीकार किया। पाकिस्तान को भारत की इस नीति व्यवहार से आक्रोश उत्पन्न हुआ और उसने काश्मीर के लिये पूर्ण देश को युद्ध रत कर दिया। पत्र ने आगे लिखा कि साम्यवादी चीन ही एक देश था जो युद्धरत दोनों पड़ोसियों के मध्य सुख सान्तवना का अनुभव रहा था।

युद्ध के प्रसार ने सुरक्षा परिषद को चिंतित किया और परिणाम स्वरूप आपत्तिकालीन अधिवेशन बुलाया गया। महासचिव ऊंथान्ट ने राष्ट्रपति अय्यूब और प्रधानमन्त्री शास्त्री को युद्ध विराम करने हेतु अनुरोध किया। भारतीय प्रधानमन्त्री ने महासचिव को सन्देश भेजा कि हम एक युद्ध विराम से दूसरे तक नहीं जाना चाहते जब तक पाकिस्तान पुनः आक्रमण न करने का आश्वासन नहीं देगा। इस मध्य सुरक्षा परिषद में अमरीका के प्रतिनिधि आर्थर गोल्डबर्ग ने युद्ध समाप्त करने का पुनरावेदन किया और बताया कि अमरीका ने दोनों देशों को सहायता देना स्थगित कर दिया था। आर्थर गोल्डबर्ग ने अमरीकी प्रदत्त युद्ध सामग्री के प्रयोग की पूर्णरूप से भर्त्सना कर कहा कि युद्ध सामग्री का प्रयोग समझौता विरुद्ध किया गया था। इस संदर्भ

में एक वास्तविकता का उत्तर किसी राजनेता ने नहीं दिया। अमरीका की सरकार ने युद्ध सामग्री प्रदान करते समय यह प्रतिबन्ध लगाया कि यह भारत के विरुद्ध या उपमहाद्वीप में किसी के विरुद्ध प्रयोग नहीं होगी तो एक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या युद्ध सामग्री चाहे किसी समझौते के अन्तर्गत प्राप्त की गई हो क्या केवल शान्ति के समय में ही प्रयोग की जा सकती है? आधुनिक सामरिक नीति का यह प्राविधान की अपरोक्ष रूप से युद्धरत रहने हेतु सामग्री का विक्रय एवं दान करो और प्रत्यक्ष रूप से इसका खण्डन करते रहो जिससे विश्व राजनैतिक वातावरण में इसी का अनुभव होता रहे कि महाशक्तियां विश्व शान्ति की पोषक हैं। निःसन्देह महाशक्तियों की यही भूमिका ऐशियाई देशों में एक दूसरे प्रति भ्रम उत्पन्न कर उन्हें संघर्षरत करती रही हैं।

संयुक्त राष्ट्र मुख्य कार्यालय में सितम्बर 22, 1965 को एक संतुष्टिप्रद भावना दृष्टिगोचर होने लगी क्योंकि भारत पाक युद्ध विराम की घोषणा प्रातः हो चुकी थी। यद्यपि भारत-पाक युद्ध विराम सितम्बर 22 को हो गया था, किन्तु दोनों ओर से इसका उल्लघंन होता रहा और सितम्बर 27, को अन्तिम युद्ध विराम हुआ। सैलिग हैरीसन ने सितम्बर 14 और 15 के 'वांशिगटन पोस्ट' में लिखा कि युद्ध विराम के प्रश्न पर भारत के मन्त्रिमण्डल में मतभेद था। हैरीसन के अनुसार सेनाध्यक्ष चौधरी युद्ध विराम के विरुद्ध थे क्योंकि वे निर्णायक विजय को निकट समझ रहे थे। सेनाध्यक्ष को रक्षामन्त्री चह्वान का समर्थन प्राप्त था, परन्तु वित्तमन्त्री कृष्णमाचारी और खाद्य मन्त्री सुब्रह्मण्यम् ने प्रधानमन्त्री शास्त्री को चेतावनी दी कि युद्धरत रहने से भारतीय आर्थिक स्थिति शोचनीय हो जायेगी। दूसरी ओर यह भी विचार प्रगट किया गया कि युद्ध विराम करने से विश्व में भारत की प्रशंसा होगी।

इसी मध्य बेंजिग ने भी इस गम्भीर स्थिति में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया। चीन ने भारत को चेतावनी दी सितम्बर 19, 1965 के वाशिंगटन पोस्ट के अनुसार अमरीकी राजदूत जॉन कैब्रट 14 सितम्बर को चीनी प्रतिनिधि से मिले और उन्हें अत्यन्त स्पष्ट रूप से बता दिया कि चीन को भारत-पाक युद्ध की परिधि से बाहर ही रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त अमरीका ने चीन को एक अन्य चेतावनी में किसी भी प्रकार का आक्रामक कदम उठाने से मना किया। भारत-पाक युद्ध की विवेचना और आलोचना का सन्तुलित एवं तार्किक विश्लेषण ग्रेट ब्रिटेन और अमरीका के समाचारपत्रों में प्रकाशित हुआ। द टाइम्स (लन्दन) ने अगस्त 31, 1965 को लिखा कि

भारतीय कश्मीर क्षेत्र में पाकिस्तान के गुरिल्ला घुसपैठ ने भारत-पाक युद्ध आरम्भ किया। इस समाचार पत्र ने पाकिस्तान सरकार पर इस युद्ध की योजना का उत्तरदायित्व रखा। 'मैनचेस्टर गार्डियन' ने सितम्बर 13, 1965 को लिखा कि वर्तमान युद्ध का उत्तरदायित्व पश्चिमी शक्तियों को था। पत्र ने लिखा कि अपनी तटस्थता की नीति के द्वारा इन पश्चिमी शक्तियों ने पाकिस्तान को चीन के समर्थन में कर दिया था और अब इनकी नीति भारत को सोवियत रूस के गुट में सम्मिलित कर देगी। गार्डियन ने इस तथ्य पर और प्रकाश डालते हुए लिखा कि पाकिस्तान की विमुखता इतनी अधिक गम्भीर नहीं थी क्योंकि पाकिस्तान नैतिक रूप से स्वतन्त्र देश नहीं था, परन्तु भारत की पृथकता नैतिक और सामरिक दोनों पक्षों से हानिकारक होगी। 'दि इकोनामिस्ट' सितम्बर 25, 1965 ने लिखा कि अमरीका और ब्रिटेन को भारतीय सेना का प्रत्येक रूप से सहयोग करना चाहिए और पाकिस्तान को स्पष्ट कह देना चाहिये कि यह इसलिये आवश्यक है क्योंकि दक्षिण एशिया में पश्चिम की मुख्य रुचि भारत में है। 'द न्यू स्टेटसमन' ने सितम्बर 24, 1965 को लिखा कि पाकिस्तान का युद्धरत होने का ध्येय काश्मीर समस्या में निहित था और अपने ध्येय में पाकिस्तान 'स्थानीय घाव' को भरने में भी असमर्थ रहा। 'द ब्रिहमिंगम पोस्ट' ने अक्टूबर 1, 1965 को टिप्पणी की कि यदि भारत मौन बैठा रहता तो पाकिस्तान अमरीकी पैटन टैंक और एफ़ 104 विमानों से युक्त जम्मू तक पहुंच जाता। पत्र ने लिखा कि भारत ने तो अकारण आक्रमण कर दिया और एक प्रकार से पाकिस्तानी आक्रमण का प्रत्याक्रमण किया। 'द न्यूयार्क टाइम्स' ने सितम्बर 5, 1965 को लिखा कि भारत-पाक संघर्ष ने अमरीका को मध्य में पकड़ लिया अर्थात दोनों पक्षों ने अमरीकी युद्ध सामग्री की आलोचना की जो कि अमरीका के अनुसार चीन के प्रति प्रयोग करने हेतु दी गई थी। समाचार पत्र ने आगे लिखा कि भारत को युद्ध सामग्री देने के कारण पाकिस्तान अमरीकी प्रभाव क्षेत्र से निकल गया था। 'द सेन्टा मोनिका इविनिंग आउट-लुक' ने सितम्बर 6, 1965 को लिखा कि अयूब खां युद्ध विराम का अनुमोदन करते भी क्यों ? वह तो लाल चीन की सहायता आपेक्षित कर रहे थे। 'द शिकागो डेली न्यूज़' ने सितम्बर 8, 1965 को लिखा कि पाकिस्तान यदि अमरीका का सहयोग प्राप्त करना चाहता था तो वह उसकी भूल थी क्योंकि अमरीका युद्ध में उसी देश के साथ है जो शान्ति में अमरीका का मित्र है। इसी प्रकार अन्य पत्र-पत्रिकाओं में युद्ध विश्लेषण होता रहा।

जब जनता और समाचारपत्र अपनी व्याख्या में रत थे तो दोनों देशों

के नेता सोवियत रूस के प्रयास द्वारा एक दूसरे से वार्तालाप करने को तत्पर हो गये थे। यह महत्वपूर्ण भूमिका जो सोवियत रूस से इस भारत-पाक समझोते के मध्य प्रेषित की यह रूस का युद्ध क्षेत्र में शान्ति मसीहा बनने का प्रथम प्रयास था। सोवियत यूनियन के इस भव्य प्रयास की सराहना साम्यवादी और गैर साम्यवादी दोनों क्षेत्रों में सामान्य रूप से हुई। प्रधानमन्त्री लाल बहादुर शास्त्री तथा राष्ट्रपति अयूब खां की भेंटवार्ता रूसी प्रधानमन्त्री कोसिगन की उपस्थित में ताशकन्द में सम्पन्न हुई। 'इण्डियन एक्सप्रेस' ने जनवरी 3, 1966 को लिखा : 'यदि भारत और पाकिस्तान की स्वाधीनता एशिया में पश्चिमी साम्राज्य के अन्त का आरम्भ थी तो ताशकन्द सम्मेलन उस आरम्भ का अन्त था'। जनवरी 10, 1966 को तीसरे पहर (अपराह्न) ताशकन्द में ऐतिहासिक 'ताशकन्द समझौता' हस्ताक्षरित हुआ। इस समझौते में हस्ताक्षरकर्ता प्रधानमन्त्री शास्त्री और राष्ट्रपति अयूब खां थे। इस समझौते के साक्षी थे रूस के प्रधानमन्त्री कोसिगन।

ताशकन्द समझौते ने भी भारत और पाकिस्तान में प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया। शास्त्री जी ने कहा : 'हमने युद्ध भी अपनी पूर्ण सामंथ्य से लड़ा था और अब शान्ति को भी सामर्थ भर अपनायेगें। ताशकन्द समझौते की पूर्ण प्रसन्नता, उल्लास एवं उत्साह पर लाल बहादुर शास्त्री के आकस्मिक निधन ने शोक कालिमा आच्छाक्षित कर दी।

ताशकन्द समझौते ने अस्थाई रूप से भारत-पाक सम्बन्धों का एक चरण तो निर्धारित कर दिया। पाकिस्तान में इस समझौते के कारण मतभेद था। जनवरी 15, 1966 के हिन्दुस्तान टाईम्स के अनुसार राष्ट्रपति अयूब ने पुनः कश्मीर समस्या के समाधान के बिना ताशकन्द समझौते को अपरिपक्व माना। अमरीका के राज्य सचिव डीन रस्क ने तीनों देशों को बधाई का पात्र स्वीकार किया। 'ला मांड' (पेरिस) ने ताशकन्द घोषणा के प्रति लिखा कि इस घोषणा ने ब्रिटिश साम्राज्य को पुनः भारत में दफन कर दिया।

ताशकन्द समझौते ने निस्सन्देह विश्व राजनीतिक क्षेत्र में रूस की प्रतिष्ठा में वृद्धि कर पश्चिमी देशों का कतिपय मान हनन किया। वास्तव में ताशकन्द समझौते ने रूस के लिये भारत उपमहाद्वीप में एक नवीन अध्याय का सूत्रपात किया। यद्यपि समझौते के आत्मवासित हो जाने से पुनः राजनीतिक द्वाराचार आरम्भ हो गया किन्तु भारतीय विदेश नीति निर्धारकों को एक चेतावनी अवश्य प्राप्त हो गई कि भविष्य में नीति का स्वरूप क्या होना चाहिए। इसके प्रति वे अच्छी प्रकार से चिन्तन मनन कर लें।

सम्भवत एक विदेशी पत्रकार ने सत्य ही कहा कि ताशकन्द समझौता

केवल एक कागज का टुकड़ा, अस्थाई शान्ति का प्रतीक एवं ताशकन्द से वापिस लौटने हेतु आवश्यक टिकट था।

भारत-पाक युद्ध (1971)

भारत 1965 के युद्ध के पश्चात् सदैव इस चेष्टा में रत रहा कि भारतीय प्रायद्वीप में शान्ति का वातावरण बना रहे। भारत की यह चेष्टा केवल स्वयं के प्रयास द्वारा चिरस्थाई नहीं रह सकती थी यदि उपमहाद्वीप के अन्य पड़ोसी देश सहयोग एवं सहकारिता की भावना से रहित हों। 1948 से जन्मित कश्मीर समस्या ने पाकिस्तान के साथ एक संघर्ष द्वार का उद्भव किया। यद्यपि भारत ने प्रत्येक ऐसी स्थिति में जिसमें विस्फोट होने की आशंका थी, शान्ति एवं प्रौढ़ता से नीति निर्देशन किया।

भारतीय प्रायद्वीप के लिये 1960 के पश्चात् शनैः शनैः पूर्वी बंगाल की समस्या गम्भीर होती गई। पूर्वी बंगाल जो कि पाकिस्तान का एक भाग था पाकिस्तानी नेताओं की अवहेलना की नीति के द्वारा तथा उनकी बंगाल की सामाजिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं के दमन ने पूर्वी बंगाल की जनता में विशेषकर छात्रों में स्वाधीनता की अग्नि को प्रज्वलित किया। वर्षों से चले आ रहे पूर्वी पाकिस्तान और पाकिस्तान के संघर्ष की चरम स्थिति 1970 से स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगी। इसके तीन मुख्य कारण थे—1. पूर्वी बंगाल में तीव्र गति से स्वतन्त्रता आन्दोलन का प्रसार। 2. पाकिस्तान के राष्ट्रपति यहिया खां का सेना द्वारा पूर्वी बंगाल की जनता का नृशसंतापूर्ण दमन जिसके फलस्वरूप लाखों शरणार्थी भारत में आने लगा। 3 गोरिल्ला आन्दोलन ने पूर्वी पाकिस्तान में पाकिस्तानी शासन को बंगला देश स्वतन्त्रता हेतु संत्रस्त करना आरम्भ कर दिया था।

'टाईम' पत्रिका (दिसम्बर 6, 1971) के अनुसार पूर्वी पाकिस्तान में हिन्दू-'मुस्लिम' भावना ने तथा पाकिस्तानी हिंसात्मक नीति ने स्थिति को विस्फोटक कर दिया था। इसी पत्रिका ने दोनों देशों की नीतियों का उल्लेख करते हुये लिखा, कि भारत अपनी गुट निरपेक्ष एवं तटस्थता की नीति के द्वारा एक संतुलित व्यवहार निर्मित करने में सक्षम था किन्तु पाकिस्तान के सैनिक प्रशासन अधिकारी आतंकवाद की प्रतिच्छाया में राजनैतिक मूल्यों को छोड़ चुके थें। 'न्यूज़वीक' (मार्च 27, 1972) ने लिखा कि बंगला देश के युद्ध का आरम्भ भारत सरकार को शरणार्थियों द्वारा बाध्य होकर करना पड़ा। लाखों शरणार्थियों की आवास-विकास की समस्या पश्चिमी बंगाल तथा भारतीय आर्थिक नीति को ध्वंस कर देती। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति

यहियाँ खाँ को पश्चिमी पाकिस्तान में राजनैतिक अथवा सैनिक विप्लव के भय ने भारत-पाक युद्ध को प्रोत्साहन दिया। इस मध्य विदेशी पत्र-पत्रिकाओं के अनुसार श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अभूतपूर्व राजनैतिक संयम एवं आत्मनियंत्रण तथा दूरदर्शिता का परिचय दिया। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने 'धैर्य और प्रतीक्षा' की नीति का पालन करते हुये विदेशी शक्तियों के द्वारा तथा स्वयं राष्ट्रपति यहिया खां को मुजीबुर्रहमान को बन्दी मुक्त करने तथा वार्ता करने के लिये आह्वान किया। टाइम पत्रिका के सम्वाददाता डैन कांगिन ने बताया कि राष्ट्रपति निक्सन ने श्रीमती इन्दिरा गांधी के अमरीकी यात्रा के मध्य एक गुप्त प्रस्ताव रखा कि यदि श्रीमती गांधी बंगाल देश की ओर अपनी संयत नीति अपनायेंगी तो राष्ट्रपति निक्सन किसी भी प्रकार पाकिस्तान के राष्ट्रपति यहियां खां को मुजीब तथा पूर्वी बंगाल की समस्या हेतु बात करने के लिये तत्पर कर लेंगे।

पाकिस्तान के सैनिक प्रशासकों को इसी मध्य, यहिया खां के प्रति मुजीव प्रस्ताव का आभास हो गया था। उन्होंने यहिया खां को स्पष्ट रूप से बता दिया कि शेख मुजीब के साथ किसी भी प्रकार का समझौता करने के वे विरुद्ध थे। इन सैनिक प्रशासकों एवं सैनिक अधिकारियों ने राष्ट्रपति यहिया खाँ को इस तर्क से युक्त कर दिया कि पाकिस्तान की अखण्डता एवं एकता बंगाल के तात्कालिक नीति के द्वारा ही पूर्ण हो सकती थी।

अत: जनवरी 1971 में भारतीय एअरलाइन्स के विमान के हाई जैक (अपहरण) की घटना, पूर्वी बंगाल की शोचनीय स्थिति, पाकिस्तान के सैनिक अधिकारियों की नीति, शरणार्थियों की समस्या, तथा पाकिस्तान की भारत के प्रति विद्वेष की तीव्रता ने स्थिति को विस्फोटक बना दिया था। अत: दिसम्बर 3,1971 को पाकिस्तान के विमानों ने भारतीय हवाई अड्डों पर आक्रमण किया और इसके साथ ही राष्ट्रपति याहिया खाँ ने भारत के साथ युद्ध की घोषणा कर दी। पाकिस्तान के आक्रमण के प्रत्युत्तर में भारत ने अब पाकिस्तान से युद्ध की घोषणा कर दी। भारतीय सेना और वायु सेना ने अपने साहस एवं शौर्य का परिचय दिया। टाइम पत्रिका के सम्वाददाता विलियम स्टीवर्ट जो भारतीय सेना के साथ चल रहे थे, उन्होंने यह संदेश भेजा कि भारत की सेना की प्रथम मुख्य नगर पर विजय जैसोर में हुई। विलियम स्टीवर्ट ने अपने प्रेषित समाचार में लिखा, कि जैसोर भारत की प्रथम सामरिक उपलब्धि थी और यह बंगाल की ग्रीष्म ऋतु के पके आम की भांति भारतीय सेना के हाथ में आ गई। स्टीवर्ट ने आगे लिखा कि भारतीय सेना का जहां कहीं आगमन हुआ वहां जय बंगला और इन्दिरा गांधी जिन्दाबाद के नारों से उनका स्वागत

किया गया। झींगरगाचा जो पूर्वी बंगाल का उस समय अर्ध निर्जन नगर था, फिर भी पांच हजार जनता ने भारतीय सेना को घेर कर अपनी दुखान्त कथा व्यक्त की।

भारतीय सेना ने प्रत्येक रूप से पाकिस्तानी सेना को एक प्रकार से पराजित कर लिया था। भारतीय सेना के व्यूहात्मक संचालन जिसमें वायुसेना और जलसेना का विशेष रूप से सहयोग था, पाकिस्तान की सेना को विघटित एवं हतोत्साहित कर दिया। भारतीय सेनाध्यक्ष जनरल सैम मानेक्शा ने पाकिस्तानी सेना को बार-बार रेडियों के द्वारा यह चेतावनी दी कि यदि आपने (पाकिस्तानी सेना ने) मेरे परामर्श को मान्यता देकर आत्मसमपर्ण नहीं किया तो आपकी मृन्यु निश्चित है और यदि आपने आत्मसमपर्ण कर दिया तो मै विश्वास दिलाता हूं कि युद्ध बन्दियों से वही व्यवहार किया जायेगा जा जेनेवा सम्मेलन द्वारा मान्य है। अपने वक्तव्य को यथार्थ रूप देने हेतु सेनाध्यक्ष मानेक्शा ने भारत सरकार से निवेदन किया कि मुक्तिवाहिनी को भी सैनिक कमाण्ड के आधीन कर दिया जाय ताकि मुक्तिवाहिनी भी सेना का अंग बनकर जेनेवा सम्मेलन को मान्यता दे।

पूर्वी बंगाल में जब युद्ध अपने शैशव रूप में था तो कश्मीर से लेकर पंजाब तक, और उत्तरी भारत के 1400 मील लम्बी सीमा पर भी भयंकर युद्ध हो रहा था। टाइम के संवाददाता मार्श क्लार्क ने पश्चिमी सीमा से समाचार भेजा कि भारतीय सेना पुरातन पद्धति की कार्य कुशल और बुद्धिमान अधिकारियों द्वारा संचालित थी। मार्श ने आगे लिखा कि युद्धक्षेत्र के जितने निकट मैं पहुंचता गया मुझे भारतीय सेना के मनोबल में वास्तविक रूप से वृद्धि ही प्रतीत होती गई। क्लार्क ने लाहौर की पूर्वी सीमा पर भारतीय सेना के आगे बढ़ने के साथ-साथ एक रुचिकर दृश्य का अवलोकन किया। क्लार्क ने लिखा, कि वायुसेना के विमान उड़ाने भर रहे थे और पगड़ी पहने कृषक अपनी खेती में मग्न थे और उनके बच्चे भारतीय सेना के जवानों को फल-चाय मुक्तरूप से प्रेषित कर रहे थे। क्लार्क ने इस तथ्य को अन्य युद्धों से पृथक, भारतीय सेना और अन्य लोगों की महान उपलब्धि बताया। उन्होंने लिखा कि हमारी जीप जब एक जगह रुकी तो बच्चों ने हमको चारों ओर से घेर लिया और कहा कि अपने पत्र में इस समाचार को प्रकाशित करिये कि हमारा गांव अभी तक स्वतंत्र है और पाकिस्तानी सेना यहां पर नहीं पहुंच पायी जैसा कि पाकिस्तान के रेडियों ने घोषित किया है। एक अन्य रोचक प्रसंग में न्यूजवीक के संवाददाता विलियम शॉ ने बताया कि भारतीय सेना के पूर्वी कमाण्ड के सेनाध्यक्ष लेफ्टिनेन्ट जनरल जगजीत सिंह अरोड़ा

पाकिस्तान के राष्ट्रपति याहियां खां के सहपाठी थे। एक भारतीय सैनिक अधिकारी ने कहा, कि सम्भवत: स्कूल में यह शिक्षा प्राप्त की गई कि कैसे एक दूसरे को अच्छी तरह से मारा जाय।

भारत पाक युद्ध ने यद्यपि एक विस्फोटक एवं भयानक स्थिति का सामना किया किन्तु इस युद्ध की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि बँगला देश का उदय था। श्रीमती गांधी ने अपने वक्तव्य में कहा कि भारत शान्तिपूर्ण देश है किन्तु अन्याय और हिंसा के प्रति मौन रहना अनैतिक था। दिसम्बर 16, 1971 को बंगला देश में पाकिस्तानी सेना के आत्मसमर्पण के साथ ही श्रीमती गांधी ने दिसम्बर 17 को समस्त युद्ध क्षेत्रो में एक पक्षीय युद्ध विराम की घोषणा कर दी। जनवरी 8, 1972 को शेख मुजीबुर्रहमान की बंगला देश लौट आने के साथ ही भारतीय उपमहाद्वीप में एक नया अध्याय आरम्भ हुआ।

भारत के युद्धोपरान्त नीति ने शिमला समझौते (जुलाई 2, 1972) ने भारत-पाक सम्बन्धों में नव आशा जागृत की किन्तु जुलिफकार अली भुट्टो ने प्रथम स्वयं और उनके पतन के तत्पश्चात जियाउर्रहमान के सैनिक शासन ने शिमला समझौते की सजीवता को निर्जीव कर दिया।

महाशक्तियों की भूमिका

भारत-पाक युद्ध अथवा बंगला देश संघर्ष में महाशक्तियों की भूमिका ने भी अपना एक निश्चित रूप प्रकट किया। अमरीका ने पाकिस्तान की सरकार को युद्ध सामग्री एवं आर्थिक सहयोग दिया। 'एण्डरसन पेपर्स' ने इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट किया कि यद्यपि अमरीकी अधिकारी भारत को सदैव विश्व के द्वितीय महानतम् लोकतन्त्र की मान्यता देते थे, किन्तु भारत पाक संघर्ष में अमरीका ने यहिया खां को ही सहयोग दिया। राष्ट्रपति निक्सन की इस नीति ने उन्हें लोकतांत्रिक देशों में अप्रिय कर दिया था। चीन तो आरम्भ से ही पाकिस्तान की 'सैनिक जनता' का समर्थक था। प्रधानमन्त्री जो इन-लाई ने ढाका पतन को दक्षिण एशिया में दु:ख का आरम्भ बताया। इस संघर्ष में रूस की भूमिका उल्लेखनीय है।

सोवियत रूस ने अक्टूबर 1971 में श्रीमती इन्दिरा गांधी की रूस यात्रा के मध्य पूर्वी पाकिस्तान की समस्या के प्रति अपनी चिन्ता व्यक्त की थी। रूस ने शरणार्थियों की समस्या का समाधान उनके सुरक्षापूर्ण वापिस लौट जाने में ही निहित किया था। सोवियत रूस के अनेक वर्गों में भारत प्रायद्वीप की इस गहन समस्या हेतु विचार प्रकट किये जो उल्लेखनीय हैं।

राष्ट्रपति पोडगोर्नी ने राष्ट्रपति यहिया खां को अप्रैल 2, 1971 के एक सन्देश में पूर्वी पाकिस्तान में हिंसात्मक कार्यवाही समाप्त करने की अपील कर उप महाद्वीप में शान्ति बनाये रखने का अनुरोध किया। राष्ट्रपति पोडगोर्नी ने कहा कि इस पुनरावेदन के पार्श्व में मानवता के सिद्धान्त निहित थे। सरदार स्वर्ण सिंह ने जो भारत के विदेशमन्त्री थे, जून 8, 1971 को अपनी रूस यात्रा के मध्य पूर्वी पाकिस्तान की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक गतिविधियों से रूस की सरकार को अवगत कराया। भारतीय विदेश मन्त्री ने बताया कि किस प्रकार भारत उपरोक्त पूर्वी पाकिस्तान की घटनाओं एवं प्रायद्वीप में आच्छादित विषम वातावरण से सम्बन्धित था। अगस्त 11, 1971 को रूस के विदेशमन्त्री ए० ए० ग्रोमिको ने भारत के साथ एक संयुक्त वक्तव्य में कहा कि रूस की सरकार भारत में पूर्वी पाकिस्तान से आये लाखों शरणार्थियों की समस्या तथा उससे उत्पन्न आर्थिक विषमता के प्रति पूर्णरूप से सचेत थी। रूस के विदेशमन्त्री ने संयुक्त राष्ट्र आमसभा में भी भारतीय दशा का चित्रण कर पुनरावेदन किया कि पूर्वी पाकिस्तान में शान्ति स्थिति उत्पन्न कर समस्या का समाधान करना ही समुचित रूप से उचित था। उन्होंने कहा कि सोवियत सरकार नहीं चाहती कि समस्या समाधान न होने पर उस क्षेत्र में युद्ध स्थिति उत्पन्न हो जाय। सितम्बर 29, 1971 को प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी के साथ एक संयुक्त वक्तव्य में पुन: रूस ने भारतीय प्रायद्वीप की समस्या का निराकरण करने का अनुमोदन किया। इस वक्तव्य में भी दोनों देशों ने शान्ति स्थापित किये रहने हेतु पूर्वी पाकिस्तान से आये शरणार्थियों को पुन: वापिस भेजने का प्रस्ताव रखा।

सोवियत तास ने दिसम्बर 5, 1971 के अपने बयान में कहा कि भारत पाक सीमा पर सैनिक संघर्ष आरम्भ हो गया है और यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की स्थिति पाकिस्तान की सरकार ने अपने कार्यों द्वारा उत्पन्न की है। पूर्वी पाकिस्तान के प्रति अपनी अभिव्यक्ति करते हुये 'तास' ने कहा कि आवामी लीग को शेख़ मुजीबुर्रहमान की अध्यक्षता में जनमत प्राप्त होते हुए भी दमनकारी नीति द्वारा समाप्त करने की चेष्टा की गई जिसके फलस्वरूप भारत-पाक संघर्ष का बीजारोपण हुआ। सोवियत यूनियन (संघ), तास ने कहा, ऐसी स्थिति के प्रति शान्त नहीं रह सकता और विश्व की अन्य शक्तियों से आशा करता है कि वह इस सैनिक संघर्ष की परिधि से परे रहकर शीघ्रता-शीघ्र नर संहार और रक्तपात को समाप्त कराने में सहयोग देगीं। सोवियत रूस की समस्त राजकीय. श्रमिक एवं अन्य संस्थाओं ने रक्तपात समाप्त कर पाकिस्तान से अपना हठधर्म त्याग बँगला देश की समस्या को वास्तविक रूप

में ग्रहण करने का पुनरावेदन किया।

न्यूयार्क टाईम्स ने लिखा कि पूर्वी बंगाल में पाकिस्तान की सैनिक पराजय अमरीका की कूटनीतिक पराजय थी। लन्दन के 'डेली टेलीग्राफ' ने वाशिंगटन कूटनीति को एक भारी भूल की संज्ञा दी और कहा कि संभवतया इस अमरीकी नीति के समान्तर बहुत कम घटनायें विश्व में होगीं।

इस प्रकार विषयपरक विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बंगला देश के सैनिक संघर्ष के मध्य सोवियत रूस ने सत्य एवं न्याय पर स्थिर रहकर स्वाधीनता इच्छुक पूर्वी बँगाल की जनता का समर्थन किया। मार्च 1972 में जुल्फ़िकार अली भुट्टो की रूस यात्रा के मध्य रूस के प्रधान-मन्त्री कोसीजन ने कहा कि रूस हिन्दुस्तान प्रायद्वीप में शान्ति का इच्छुक है किन्तु यदि इतिहास की पुनरावृत्ति हुई तो सोवियत रूस की पुनः पूर्व निश्चित नीति होगी।

भारतीय प्रायद्वीप के सैन्य संघर्ष

1. Karunakaran, K, P : India in World Affairs; 1950-53, Oxford University Press, 1958.

2. Pringsheim, Klaus H : China, India & Their Himalayan Border, 1961-63, Asian Survey, Vol III, October, 1963.

3. Kaul, K. K : U. S. A & The Hindustan Peninsula, Lucknow, 1977.

4. Appadorai, A : Chinese Aggression & India, International Studies, July-October, 1963.

5. Gopalachari, K : Basic Facts About India-China Border, Akashvani, New Delhi, Vol XXVIII, No. 50, Dec. 16, 1962.

6. Indian White Paper : No. VII.

7. Peking Review : No. 33, August 17, 1962. October 19, 1962.

8. Galbraith, J. K : Ambassador's Journal, London, 1969.

9. Ray, Hemen : Communist China's Strategy in the Himalayas, Orbis, Vol. XI, 1967.

10. Khan, Ayub : Friends Not Masters, Karachi, 1967.

11, Brines, Russell : The Indo-Pak Conflict, London, 1968.

12. Mankekkar, D. R : Pakistan Cut To Size, Bombay, 1966.

13. Verghese, B. G : India Answers Pakistan, Bombay, 1965.

14. Hasan, K. Sarwar(ed).: The India-Pakistan War, 1971, Pakistan Horizon, Vol. XXV, No. 1, 1972.

15. Bertram,Christoph(ed).: Third World Conflicts, London, 1982

16. Mukerjee, Dilip : Final War, Delhi, 1972.

17. The New Statesman : September 24, 1965.

18. The Brimingham Post : Oct. 1, 1965.

19. The Washington Post : Sep. 9, 17' 1965.

20, The Guardian : Sep. 13, 1965.

21. The Post intelligencer Seattle. : Sep. 11, 1965.

22.	Time :	December 6, 20, 27, 1971.
23.	Mainstream :	Nov. 13, 27, 1971 Dec. 11, 1971.
24.	News Week :	March 27, 1972.
25.	Far Eastern Economic Review :	April 22, 1972.
26.	India Today :	March 1, 15, 1978. October 1. 15, 1979. October 16. 31, 1979. Nov. 1. 15, 1979. Nov. 16, 30, 1979.
27.	Chopra, Pran :	India's Second Liberation, New Delhi, 1973.

●

अध्याय 31
प्रायद्वीपीय शक्ति सन्तुलन

भारत-पाक सम्बन्ध

कोई भी देश सदैव इतना सौभाग्यशाली नहीं हो सकता कि उसके सम्बन्ध अन्य देशों के साथ परिपूर्ण हों अर्थात सम्मान, प्रभाव सुरक्षा एवं मित्रता से युक्त हों। भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों का स्वरूप त्रासिक है कि एक ही परिवार दो भागों में विभाजित है। साम्प्रदायिकता को समक्ष रख राजनीतिज्ञों ने अपने स्वार्थ हेतु शताब्दियों से इस पारस्परिक विद्धेष की भावना को, जिसे समय-समय पर सामप्रदायिकता का नाम दिया गया, प्रज्वलित किया।

पाकिस्तान से भारत के सम्बन्धों में उतार चढ़ाव राष्ट्रपति अयूब खां के शासन से प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ में राष्ट्रपति अयूब खां ने भारत की ओर हितैषी व्यवहार अपनाया, परन्तु धीरे-धीरे वह अपनी नीति से पृथक होते गए। गिरीलाल जैन ने 'टाईम्स ऑफ इण्डिया' (अक्टूबर 30,1968) में अपने एक लेख 'अयूब खां के दस वर्ष' के अन्तर्गत पाकिस्तान की विदेश नीति का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया है। उन्होंने लिखा है कि राष्ट्रपति अयूब खां की नीति ने 1960 में 'सिन्धु-जल संधि' के तुरन्त पश्चात् ही भारत विरोधी मोड़ अपना लिया और 1962 के भारत-चीन युद्ध ने पाकिस्तान में अमरीका विरोधी भ्रमात्मक प्रचार करना आरम्भ कर दिया। पाकिस्तान के सैनिक प्रशासकों ने 'युद्ध सामग्री नीति' का तीव्र प्रचार कर जनता का तथा अन्तर्राष्ट्रीय देशों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। यथार्थ में राष्ट्रपति कैनेडी की भारत उपमहाद्वीप के प्रति सद्भावना की नीति को पाकिस्तान के शासकों ने स्वयं विरोधी समझा अथवा जनता को समझाने की चेष्टा की।

जुल्फ़िकार अली भुट्टो ने अपनी पुस्तक 'दि मिथ आफ़ इण्डिपेन्डेन्स,

में पाकिस्तानी विदेश नीति का विश्लेषण करते हुए लिखा कि अमरीका ने पाकिस्तान को 1965 के युद्ध से पूर्व दक्षिण एशिया का 'लाभ तत्व' की मान्यता देना छोड दिया था। उन्होंने बताया कि इस कारण पाकिस्तान चीन की ओर आकृष्ट हुआ। भारत-पाक संघर्ष के भुट्टों ने दो मुख्य कारण बतायें (1) पाकिस्तान सैद्धान्तिक राज्य था और उपमहाद्वीप में इस्लाम का संरक्षक था (2) सीमावर्ती अध्ययन। इसका अर्थ प्रथम भारत और इस्लाम में संघर्ष का बीजारोपण करना था और दूसरे भारत के विध्वंस की मांग करना था। भुट्टों ने पाकिस्तान को 'प्रभु प्रेरित' देश की संज्ञा देकर भारतीय मुसलमानों के प्रति जटिल समस्या उत्पन्न कर दी थी।

भुट्टो जो कि 1963-66 में पाकिस्तान के विदेश मंत्री रहे थे, उनकी समीक्षा गोपाल कृष्ण ने 'टाइम्स ऑफ़ इण्डिया' (अगस्त 23 और 25,1969) को अपने एक दो भागीय लेख में की है। उन्होंने भुट्टो को भारत के प्रति 'मनोविकृतिक घृणा' से युक्त की संज्ञा दी और लिखा कि पाकिस्तान में भारत के प्रति एक भ्रम प्रचलित था जो भुट्टो ने भी अपनी पुस्तक में उद्धत किया कि भारत हिन्दकुश से मीकांग तक 'विशाल-भारत' का इच्छुक था। इस प्रकार के विचार का खण्डन बारम्बार भारतीय नेताओं ने किया। जवाहर लाल से लेकर श्रीमती गांधी तक ने कभी इस प्रकार की भावना को देश में प्रेषित नहीं होने दिया। पाकिस्तान के नेताओं का एक अन्य आरोप भारत पर यह भी था कि देश में अल्प संख्यकों पर सांस्कृतिक, धार्मिक, तथा भाषा की एक स्वरूपता को आरोपित किया जा रहा है। इसका सही उत्तर अभी हाल में ही श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अपनी विदेश यात्रा के मध्य कनाडा में अन्तर्राष्ट्रीय समाचार सम्वाददाता सम्मेलन में दिया। एक सम्वाददाता द्वारा उपरोक्त प्रश्न पूछे जाने पर श्रीमती गांधी ने कहा : "क्या आप किसी ऐसे देश का नाम ले सकते हैं जहां अल्प संख्यकों का ध्यान भारत से अधिक किया गया हो"? सम्मेलन में मौनता इसका उत्तर थी।

1971 के भारत-पाक युद्ध के पश्चात् जुल्फ़िकार अली भुट्टो ने अपनी अस्थिर मानसिक अवस्था का पूर्ण परिचय दिया जब उन्होंने अपने वक्तव्यों में एक ओर तो भारत पर आरोप लगाए और दूसरी ओर मित्रता की इच्छा प्रकट की। भुट्टो की इस अस्थिर एवं परिवर्तनशील नीति के कारण भारतीय समाचार पत्रों असम ट्रिब्यून, डेकन हैराल्ड, नवशक्ति, नयी दुनिया, राजस्थान पत्रिका, राष्ट्रदूत, ट्रिब्यून, जागरण और स्वतन्त्र भारत ने भारतीय नेताओं को सतर्क एवं सावधान रहने का आह्वान किया। कराची के एक पत्र 'जसारत' ने अपने सम्पादकीय लेख में लिखा कि भुट्टो का बँगला देश को मान्यता

देने के प्रश्न पर शर्त लगाना नैतिक सिद्धान्तों एवं पाकिस्तान के संविधान के विरुद्ध था। कुवैत के एक पत्र 'अखबार-अल-कुवैत' ने अपने सम्पादकीय में लिखा कि राष्ट्रपति भुट्टो उपमहाद्वीप में शान्ति के प्रति गम्भीरता पूर्वक प्रयत्नशील नहीं थे। भुट्टो ने 'स्टेटस्मैन' के स्थायी सम्पादक कुलदीप नायर को शिमला समझौते के कुछ माह पूर्व बताया कि भारत सरकार मेरी सत्ता परिवर्तन में इच्छुक थी। उन्होंने कहा कि मैं अयूब की भांति कार्य नहीं कर सकता, जैसे वह ताशकंद से शारीरिक रूप से वापस आये परन्तु आत्मिक रूप से जनता का सामना नहीं कर सके'। उनके अनुसार वह दोनों पक्षों को समझौते के पूर्व समझ लेना चाहते थे। सम्भवत: चण्डीगढ़ से 'ट्रिब्यून' ने (जून 15, 1972) को ठीक ही लिखा कि 'चंचल और प्रवर्तनशील भुट्टो का विश्वास करना अत्यन्त कठिन है'।

अन्तत: शिमला समझौते ने भारत पाकिस्तान के सम्बन्धों को समतल करने की चेष्टा की। भुट्टो ने सितम्बर 21, 1973 को संयुक्त राष्ट्र की आम सभा में भाषण करते हुये कहा कि मैं 'शिमला समझौता' और 'न्यू देहली' के समझौते को गम्भीरता पूर्ण नहीं लेता। इससे पूर्व जुलाई 11, 1973 को करांची के पत्र 'जसारत' ने सम्पादकीय लेख में लिखा कि भुट्टा ही पाकिस्तान के विघटन का कारण थे, उन्होंने जनमत प्राप्त आवामी दल को सत्तारूढ़ होने में अवरोध उत्पन्न किया। 1973 में अमरीका ने फिर पाकिस्तान को युद्ध सामग्री देने का वचन दिया और मार्च 23, 1973 को 'टाइम्स' के सम्वाददाता माइकल हॉर्न्सबी ने लिखा, कि रावलपिण्डी अर्थात इस्लामाबाद ने 1971 के युद्ध से कोई पाठ नहीं लिया। भारत के विदेश मन्त्री सरदार स्वर्णसिंह ने अमरीका को चेतावनी दी (इण्डियन इक्सप्रेस मार्च 15, 1973) कि एक ओर अमरीका उपमहाद्वीप में शान्ति का इच्छुक था दूसरी ओर युद्ध अस्त्र पाकिस्तान को देकर अमरीका भारत-पाक सम्बन्धों को सामान्य नहीं होने देना चाहता था। गिरिलाल जैन ने अगस्त 1, 1973 के 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' में लिखा कि हैनरी किसिंजर ने श्रीमती गांधी की अत्याधिक प्रशंसा की जब उन्होंने कहा कि वह उच्चाशय मनस्वी नेता थी जो अपने देश को किसी की कठपुतली नहीं बनाना चाहती थी। इस कथन ने पाकिस्तान स्थिति को स्पष्ट किया। इसके उपरान्त भी अमरीका के राजदूत डेनियल पैट्रिक मोनिहन के अनुसार अमरीका की 'सौम्य और उपेक्षा' की नीति ने शीतयुद्ध का वातावरण निर्मित किया। यद्यपि डॉक्टर हैनरी किसिंजर ने अप्रैल 1974 में कहा कि भारत और अमरीका की नीति में नव परिवर्तन आना प्रारम्भ हो गया था किन्तु एम० वी० कॉमथ ने वाशिंगटन

से अपने एक समाचार में (टाइम्स ऑफ इण्डिया अप्रैल 10, 1974) को लिखा कि 'डाइगो गर्शिया' के कारण भारत-अमरीका सम्बन्धों में पुनः मत-भेद उत्पन्न कर दिये। यहाँ डाइगो गार्शिया का उल्लेख करना आवश्यक है। डाइगो गार्शिया हिन्द महासागर के द्वीप समूह में एक द्वीपिका है। इसका विस्तार 14 मील लम्बा और 5 मील चौड़ा है। यह द्वीपिका भारत के दक्षिण के अन्तिम छोर से एक हज़ार मील दक्षिण में स्थिति है। अमरीका ने इस सामरिक महत्व के लघु क्षेत्र पर अपनी हवाई पट्टी और आधुनिक सैन्य उपकरण स्थापित किए हैं। इस क्षेत्र का सागरीय मार्ग पेट्रोलियम खाद्य पदार्थ तथा सैन्य यातायात के लिए अत्याधिक उपर्युक्त है। अमरीका को सोवियत रूस की पनडुब्बियों का समाचार इस क्षेत्र से प्राप्त होता है।

1975 में अमरीका से सहायता प्राप्त कर पाकिस्तान ने पुनः भारत विरोधी प्रचार आरम्भ किया। भारत के विदेश मंत्री सरदार स्वर्णसिंह ने अप्रैल 12, 1975 के लखनऊ सम्मेलन (पायनियर अप्रैल 13, 1975) में पाकिस्तान को चेतावनी देते हुये कहा कि पाकिस्तान को और अधिक क्षेत्रिक हानि होगी, यदि भारत-विरोधी कार्य बन्द नहीं किया गया। रक्षा मन्त्री ने कहा कि पाकिस्तान को बंगला देश इसलिये त्यागना पड़ा कि वह अमरीका द्वारा लोकतंत्रिक और भारत-विरोधी नीति से प्रेरित था। उन्होंने कहा कि शस्त्र व्यापार कोई अच्छी नीति नहीं थी क्योंकि यही अमरीकी अस्त्र भुट्टो के विरुद्ध भी कार्य में लग्ये जा सकते थे।

अतः भारत पाक सम्बन्धों में उतार चढ़ाव लाने का श्रेय अमरीका के स्वार्थनिहित सहयोग एवं सहायता की निति को है। इस नीति ने भारत पाक सम्बन्धों को निष्पक्ष रूप से विचार करने का अवसर प्रदत्त नहीं किया। वर्तमान समय में पाकिस्तान को एफ–16 विमानों की अमरीका द्वारा क्रय परिचर्चा में और अधिक विषमता उत्पन्न कर दी है। सम्भवतः इसी कारण श्रीमती गांधी के 'युद्ध न करने के समझौते' पर पाकिस्तान के राष्ट्रपति ज़ियाउलहक़ कदाचित इच्छुक नहीं हैं। भारत-पाक सम्बन्धों को समय-समय पर पश्चिमी देश नकारात्मक स्वरूप प्रदान करते रहे हैं। अभी हाल ही में भूतपूर्व ब्रिटिश राजदूत औलियर फ़ास्टर ने मई 29- 1982 को इस्लामाबाद में फ़ाकलैंड, काश्मीर और अफ़गानिस्तान में समानता बताई है। उन्होंने कहा कि स्वनिर्णय के अधिकार को मान्यता देना अनैतिक है तो हम और पाकिस्तान फाकलैंड तथा काश्मीर के प्रति अनैतिक नीति का पोषण कर रहे हैं।

भारत-रूस सम्बन्ध

रूस और भारत के सम्बन्ध बीसवीं शताब्दी में 1917 की महान रूसी क्रान्ति से प्रारम्भ हुये। इस क्रान्ति ने भारत के राष्ट्रवादियों में आशा और उत्साह की भावना उत्पन्न की। रूसी क्रान्ति के आचार्य लेनिन भी भारत के मुक्ति संघर्ष में गहरी रुचि लिया करते थे। यद्यपि महात्मा गाँधी इस क्रांति के प्रति अधिक उत्साहित नहीं थे, परन्तु उन्होंने इसको एक आदर्श उपलब्धि माना। भारत से 1926 में जवाहर लाल नेहरू तथा 1930 में रविन्द्र नाथ टैगोर ने सोवियत संघ की यात्रा की जिससे भारत के लोगों को एक समाजवादी देश की व्यापक गतिविधियों तथा विकासमुख योजनाओं का पता चला। यही कारण था कि 2 सितम्बर 1946 को जब भारत में अन्तरिम सरकार बनी तो पण्डित नेहरू ने भारत और सोवियत संघ की घनिष्ठता के प्रति अपनी पूर्ण आशा व्यक्त की। उन्होंने कहा: "आधुनिक दुनिया के उस महान राष्ट्र यानि सोवियत संघ को जिसके ऊपर संसार की घटनाओं को एक स्वरूप देने की बहुत बड़ी जिम्मेदारी है, हम अपना अभिवादन भेजते हैं। एशिया में वे हमारे पड़ोसी हैं और अनिवार्यतह उनके साथ मिल जुलकर हमें बहुत सारे कार्य करने होंगे और एक दूसरे के साथ हमारे बहुत से तालुकात रहेंगे"। उन दिनों भारत की खाद्य स्थिति अच्छी नहीं थीं। अत: नेहरू ने वी० के० कृष्णामेनन और के० पी० एस मेनन को पेरिस में सोवियत विदेश मन्त्री मोलोतोव से मिलने के लिये भेजा। इस मुलाकात से आगामी भारत सोवियत संघ सम्बन्धों की नींव पड़ी। इसके साथ ही साथ संयुक्त राष्ट्र संघ में सोवियत संघ भारत के प्रति अत्यन्त उदार तथा सद्भावना पूर्ण व्यवहार रखता था।

भारत-सरकार ने दिसम्बर 1946 में सोवियत संघ के साथ भारत के राजनायिक सम्बन्ध प्रारम्भ करने के लिये के० पी० एस० मेनन को मास्को भेजना निश्चित किया। जनवरी 1947 में भारतीय विज्ञान कांग्रेस के आमंत्रण पर सोवियत संघ से वैज्ञानिकों का एक दल भारत आया। इसी बीच पं० नेहरू ने सोवियत समाजवादी गणतन्त्र संघ के आर्थिक विकास में गहरी रुचि दिखायी। उन्होंने 14 मार्च 1947 को केन्द्रीय धारा सभा में अपने एक भाषण में कहा कि रूस के आर्थिक योजना के परिणामों के अध्ययन के लिये तथा अन्य प्रस्तावों पर प्रतिनिधि मण्डल भेजने के विषय पर दोनों देशों के बीच राजनायिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने के बाद कार्यवाही की जायेगी अन्त में सोवियत संघ के प्रतिनिधि ई० ई० ईरिसिन ने दिल्ली आकर 13 अप्रैल 1947 को भारत तथा सोवियत संघ के बीच राजनैतिक सम्बन्ध स्था-

पित कर दिया। दी हिन्दुस्तान टाइम्स ने भारत और सोवियत संघ के बीच राजनैतिक सम्बन्धों की स्थापना पर टिप्पणी करते हुये कहा कि 'औपचारिक सम्वैधानिक स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पूर्व ही भारत वर्ष की स्वतन्त्रता को वस्तुतः मान्यता प्राप्त हो गयी है'।

श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित को सोवियत संघ में भारत का प्रथम राजदूत नियुक्त कर दिया गया। अक्टूबर 1947 में सोवियत संघ ने किरिल वी नोविको को भारत में अपने सबसे पहले सोवियत राजदूत के रूप में नियुक्त किया। इसी मध्य भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी थी। इस अवसर पर 15 अगस्त 1947 को सोवियत विदेश मन्त्री मोलोतोव ने पं० नेहरू को बधाई सन्देश भेजा (अमृत बाजार पत्रिका 22 अगस्त 1947)।

भारत और सोवियत संघ के मध्य राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने के बाद दोनों देशों ने विश्व शान्ति बनाये रखने में महत्वपूर्ण योगदान किया। ग़ैर साम्यवादी देशों में भारत वर्ष ने ही सर्व प्रथम 30 दिसम्बर 1949 को चीन के जनवादी गणतन्त्र को मान्यता प्रदान की। 1950 से 1953 के मध्य कोरिया के युद्ध में भी भारत ने शान्ति प्रयास को समर्थन प्रदान किया। भारत ने अमेरिका के उस प्रस्ताव को समर्थन देने से मना कर दिया जिसमें चीन को आक्रामक देश बताया गया था। इसके विपरीत जून 1951 में भारत ने सोवियत संघ के उस प्रस्ताव को समर्थन दिया, जिसमें 38 अंक्षाश रेखा पर युद्ध स्थगित करने की मांग की गयी थी। पंडित नेहरू के इस निर्णय का सोवियत संघ में सर्वत्र स्वागत हुआ। युद्ध विराम समझौते के पश्चात सोवियत संघ के प्रस्तावित राजनैतिक सम्मेलन में भारत के भाग्य-दारी का समर्थन किया जबकि अमेरिका ने इसका विरोध किया था। तत्कालीन भारतीय राजदूत डॉ० राधाकृष्णन् ने 5 मार्च 1952 को स्तालिन से मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायों पर विचार विमर्श किया। उन्होंने यह भी कहा कि ये सारी समस्यायें आपसी विचार विमर्श से सुलझायी जा सकती थीं (हिन्दुस्तान टाइम्स 6 अप्रैल 1952)। यद्यपि 1955 तक भारत और रूस के सम्बन्ध बहुत अधिक सक्रिय नहीं थे फिर भी विभिन्न अवसरों पर दोनों देशों ने एक दूसरे के प्रति मैत्री तथा सद्भावना की भावना को प्रस्तुत किया। 26 अक्टूबर 1953 को सोवियत संघ के मनोनीत राजदूत ने सोवियत रेड क्रास सोसाइटी की ओर से पं० नेहरू को प्रधान मन्त्री राहत कोष के लिये दो लाख 96 हजार 560 रुपये का चेक भेंट किया। यह धन-राशि बाढ़ पीड़ितों की सहायता के प्रतीक रूप में दी गई थी। 1955 में पंडित नेहरू को सोवियत संघ ने आग्रह सहित आमन्त्रित किया, जून 1955

में नेहरू जी कि यह सोवियत यात्रा भारत-सोवियत मित्रता की दिशा में महत्वपूर्ण कदम था। उल्लेखनीय बात है कि 4 जून 1955 को ठीक नेहरू की यात्रा के समय भारत और सोवियत संघ के बीच एक सीधी रेडियो टेलीफोन सेवा प्रारम्भ की गयी। इसी अवसर पर नेहरू जी की पुस्तक (डिसकवरी आफ एण्डिया) का रूसी संस्करण भी प्रकाशित किया गया। मास्को में नेहरू जी का भव्य स्वागत हुआ और उनकी सार्वजनिक सभा में एक लाख से भी अधिक व्यक्ति उपस्थित थे। राष्ट्र संघ के जयन्ती सत्र में सोवियत-प्रतिनिधि ने कहा कि नेहरू की सोवियत यात्रा सोवियत संघ और भारत के मध्य मित्रतापूर्ण सम्बन्धों को दृढ़ करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय मतभेदों को कम करने एवं शान्ति स्थापित करने की दृष्टि से विशेष ध्यान देने योग्य और एक महत्वपूर्ण घटना है।

नेहरू की यात्रा के पश्चात् 10 नवम्बर 1955 को सोवियत नेता ख्रुश्चेव और बुलगानिन भारत आये, इन दोनों नेताओं का भारत में अभूतपूर्व स्वागत हुआ। यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि जिस दिन सोवियत नेता भारत में शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना एवं सहस्तित्व पर जोर दे रहे थे, उसी दिन अमेरिका ने यह घोषणा कि वह पाकिस्तान को हवाई अड्डे बनवाने के लिए 2 करोड डालर की सहायता देगा। अब तक पाकिस्तान पूरी तरह से अमेरिका के सैनिक जाल में फंस चुका था, और उसे पर्याप्त मात्रा में सैनिक एवं आर्थिक सहायता प्राप्त हो चुकी थी। 21 नवम्बर 1955 को बुलगानिन ने भारतीय संसद में यह घोषणा की कि आर्थिक एवं सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक एवं अनुसधान के क्षेत्र में भारत- सोवियत सहयोग को और अधिक व्यापक बनाने की सभी सम्भावनायें विद्यमान हैं। सितम्बर 1956 में स्वेज संकट के अवसर पर सोवियत संघ तथा भारत ने और मिस्र ने आंग्ल-फ्रांसीसी हस्तक्षेप का विरोध किया और कहा यह एक साफ-साफ और एक खुले आक्रमण की घटना है। सोवियत प्रधान मंत्री ने एक पत्र लिखकर नेहरू से यह कहा कि, हमें विश्वास है इस आक्रमण के विरुद्ध उठाये गए कदमों के पक्ष में भारत की आवाज और नेहरू की नीवीं प्रतिष्ठता स्वेज संकट को बातचीत के द्वारा सुलझाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायेगी, (द हिन्दू 9 नवम्बर 1956) अक्टूबर 1956 में हंगरी की घटनाओं के ऊपर भारत ने सोवियत विरोधी गुट में शामिल होने से इन्कार कर दिया, और राष्ट्र संघ तथा दूसरी जगहों पर भारत ने एक तटस्थ नीति अपनायी। इसी प्रकार 28 नवम्बर 1957 में जब पं० नेहरू ने सोवियत समाजवादी गणतंत्र संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकारों

से अपील की कि वे आणविक अस्त्रों के परिक्षण तथा शस्त्रों की होड़ को समाप्त करें तो सोवियत प्रधान मंत्री ने जनवरी 1958 को यह कहा कि सोवियत संघ किसी भी आणविक अस्त्र का विस्फोट नहीं करेगा, बशर्ते अमेरिका और ब्रिटेन ऐसा करना बन्द कर दें।

1959 के मध्य जब चीन ने भारतीय सीमा पर आक्रमण किया तो सोवियत संघ ने अपनी सरकारी टिप्पणी में यह आशा व्यक्त की कि : 'भारत और चीन दोनों देश जिसके साथ सोवियत संघ, के मित्रतापूर्ण सम्बन्ध है, अपने झगड़े शान्तपूर्ण तरीके से निपटा लेगें। अक्टूबर 1962 में जब चीन और भारत का युद्ध प्रारम्भ हुआ तो लोगों को यह आंशका थी कि सोवियत संघ इस संघर्ष में चीन का समर्थन करेगा लेकिन सोवियत संघ ने तटस्थ नीति अपनायी। 5 नवम्बर को 'प्रावदा' में अपने सम्पादकीय में कहा कि उपनिवेश वादियों के खिलाफ संघर्ष में भाग लेने वाले नए प्रभुता, सम्पन्न राष्ट्रों में भारत प्रमुख है। उसमें इस बात पर भी बल दिया गया कि युद्ध विराम हो तथा बिना किसी शर्त के गोल मेज बैठक हो इसी प्रकार गोवा के मामले में भी सोवियत संघ ने भारत को समर्थन प्रदान किया।

सितम्बर 1965 में जब भारत और पाकिस्तान के मध्य युद्ध प्रारम्भ हुआ तो सोवियत संघ अत्यन्त चिन्तित हो उठा, 22 सितम्बर 1965 के युद्ध विराम के पश्चात सोवियत संघ के प्रधानमंत्री कोसिगन ने भारत और पाकिस्तान के नेताओं से समझौते के लिए एक बैठक बुलाने का बार-बार अनुरोध किया। अन्ततोगत्वा यह अनुरोध स्वीकार कर लिया गया, और 3 जनवरी से 10 जनवरी 1966 तक ताशकंद में एक बैठक हुई। भारत और पाकिस्तान में समझौते कराने में कोसिगन ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। ताशकंद घोषणा पर प्रधानमंत्री शास्त्री जी तथा राष्ट्रपति अयूब खां ने हस्ताक्षर किए। इस घोषणा में भारत और पाकिस्तान के आपसी सम्बन्ध सामान्य बनाने का तथा विवादों को शान्तिपूर्ण बात चीत द्वारा तय कराने का आधार निश्चित किया गया। सोवियत संघ की शांति एवं शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति ने इस उपमहाद्वीप में शांति की पुन: स्थापना में महान योगदान दिया। सोवियत संघ की अपनी यात्रा से पूर्व लालबहादुर शास्त्री ने भारत-सोवियत सांस्कृतिक सोसाइटी द्वारा आयोजित एक सभा में सोवियत नीति की प्रशंसा करते हुए 'कहा' : शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व में सोवियत संघ का दृढ विश्वास है। सोवियत समाजवादी गणतंत्र संघ इस नीति का जिस निष्ठा से पालन कर रहा है, शायद ही और कोई देश कर रहा हो"।

ताशकंद घोषणा का सम्पूर्ण विश्व में स्वागत किया गया। परन्तु 11 जनवरी 1966 को ताशकंद में ही लालबहादुर शास्त्री जी की मृत्यु हो जाने के कारण पूर्ण वातावरण विषादग्रस्त एवं दु:खपूर्ण हो गया। शास्त्री जी के मृत्यु के पश्चात श्रीमती इन्द्रा गांधी ने भारत के प्रधान मन्त्री का कार्यभार संभाला। पश्चिमी पाकिस्तान की सैनिक तानाशाही से पूर्वी बंगाल में आतंक का साम्राज्य स्थापित था, लाखों की संख्या में पाकिस्तानी शारणार्थी सीमा पार कर भारत में शरण लेने के लिये विवश हो गये थे। संयुक्त राज्य अमेरिका और चीनी नेताओं की धमकियों से 1971 के मध्य भारत के लिये एक संकट उत्पन्न हो गया था। तत्कालीन परिस्थितियों में 8 अगस्त को सोवियत विदेश मन्त्री ऐ० ऐ० ग्रोमीको भारत आये, अगले ही दिन भारत और सोवियत संघ के मध्य शान्ति, मित्रता और सहयोग संधि पर हस्ताक्षर हो गये। भारत-सोवियत सम्वन्धों के इतिहास में यह संधि एक महत्वपूर्ण घटना और भारत-सोवियत सम्बन्धों में एक महान उपलब्धि थी। अब तक 90 लाख से भी अधिक शरणार्थी पूर्वी बंगाल से भारत में शरण लेने पर मजबूर हो गये थे। भारत और रूस के नेता बार-बार पश्चिमी पाकिस्तान से आतंकवादी साम्राज्य को समाप्त करने की मांग कर रहे थे। इसके प्रत्युत्तर में 3 दिसम्बर को पाकिस्तानी वायुसेना ने उत्तर-पश्चिम भारत के विभिन्न नगरों पर बमवर्षा की और अगले ही दिन भारत के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी। 5 दिसम्बर को जव संयुक्त राज्य अमेरिका ने सुरक्षा परिषद में इस आशय का एक प्रस्ताव पेश किया कि उपमहाद्वीप में तुरन्त युद्ध विराम हो तो सोवियत संघ ने निषेधाधिकार (वीटो) का प्रयोग करके भारत को पाकिस्तान के समकक्ष रखने के प्रयत्न को असफल कर दिया। 6 दिसम्बर को सोवियत संघ ने संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा समर्पित प्रस्ताव को समाप्त करने के लिये 24 घण्टे में दूसरी बार अपने निषेधाधिकार का प्रयोग किया। इस प्रस्ताव में युद्ध विराम और भारत पाक सेनाओं की वापसी की माँग की गयी थी। सोवियत प्रतिनिधि ने कहा कि पूर्वी बंगाल में राजनैतिक व्यवस्था के विना सेनाओं की वापसी का मतलब पाकिस्तानी सेनाओं को अत्याचार जारी रखने के लिये उत्साहित करना होगा।

सोवियत प्रतिनिधि ने एक अन्य प्रस्ताव में पाकिस्तानी सेनाओं से पूर्वी बंगाल में अत्याचार बन्द कर देने का आग्रह किया। इसी मध्य चीन ने एक प्रस्ताव में भारत की भर्त्सना की। उसके अनुसार भारत की सेनाओं ने पाकिस्तान पर आक्रमण किया था। इसके उत्तर में सोवियत संघ ने एक बार पुन: यह धमकी दी यदि चीन इस आशय का कोई भी प्रस्ताव रखेगा तो वह

पुन: निषेधाधिकार का प्रयोग करेगा । 6 दिसम्बर को श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भारत सरकार द्वारा बंगला देश को मान्यता दिये जाने के निर्णय की घोषणा कर दी । 8 दिसम्बर को संयुक्त राज्य महासभा में क्यूबा, मंगोलिया और भूटान तथा अन्य पूर्व यूरोपिय देशों के साथ सोवियत संघ ने भी भारत के पक्ष में मतदान किया और इस प्रस्ताव का विरोध किया जिसमें भारत और पाकिस्तान से युद्ध विराम तत्काल लागू करने और तुरन्त एक दूसरे के क्षेत्र से अपनी सेनायें हटाने के सभी उपाय करने की मांग की गयी थी । 25 जनवरी 1972 को सोवियत संघ ने भी बंगला देश को औपचारिक मान्यता प्रदान कर दी ।

भारत के विदेश मंत्री स्वर्णसिंह से सोवियत संघ के राष्ट्रपति पोडगोर्नी ने कहा कि 1971 का वर्ष भारत और सोवियत संघ के सम्बन्धों में अमर रहेगा । इसी प्रकार भारतीय वित्तमन्त्री चौहान ने 28 सितम्बर 1972 को कहा कि भारत भी अमेरिका के साथ वैसी ही सन्धि कर सकता है जैसी रूस के साथ है परन्तु इसके लिये आवश्यक है कि सोवियत संघ की भांति अमेरिका भी भारत की स्वतंत्रता और एकता को मान्यता प्रदान करें (टाइम्स ऑफ इण्डिया सितम्बर 1972) । उपरोक्त राजनैतिक सम्बन्धों के अतिरिक्त भारत और सोवियत संघ के मध्य प्रारंभ से ही आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध रहे हैं । भारत के औद्योगिक विकास में सोवियत संघ ने एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है जिसका उदाहरण मिलाई और बोकारों इस्पात संयत्रों की स्थापना में सहयोग देकर भारत को इस्पात के मामले पर आत्मनिर्भर बनाया । रूस के सहयोग से भारत में एक और इस्पात संयत्र विशाखापटनम् में लगाया जा रहा है जो 1984 में शुरू हो जायेगा । सोविसंघ भारत को आर्थिक सहायता के साथ-साथ सैनिक सहायता देता रहा है ।

भारत-अमरीका सम्बन्ध

भारत अमरीका सम्बन्धों का प्रारम्भ राजा राममोहन राय से प्रारम्भ होता है । तत्पश्चात स्वामी विवेकानन्द ने भारत के प्रतिनिधि के रूप में अमरीका में वहाँ के वासियों को भारत के धर्म और संस्कृति का परिचय दिया । भारत के स्वतन्त्रता संग्राम के मध्य लाला हरदयाल तथा उनके सहयोगियों ने अमरीका में ही 'ग़दर पार्टी' की स्थापना की । लाला लाजपत राय और लाला हरदयाल ने अमरीका में अपनी क्रान्तिकारी और उग्रवादी विचार धारा के प्रति वहाँ की जनता का सहयोग व समर्थन प्राप्त किया । राष्ट्रपति

रूजवेल्ट ने अपने दो प्रति निधि कर्नल लुई जॉनसन और विलियम फिलिप्स को भारत भेजा। इससे स्पष्ट था कि राष्ट्रपति रुजवेल्ट भारत की स्वाधीनता के प्रति रुचि रखते थे।

स्वाधीनता उपरान्त 1949 में जवाहरलाल नेहरू की अमरीका की प्रथम यात्रा में उनका भव्य स्वागत किया गया। एक आम सभा में जवाहरलाल नेहरू की जैफरसन से तुलना की गई। जैफरसन एक गणतन्त्रवादी सर्वतोन्मुखी प्रतिमा से सम्पन्न व्यक्तित्व के स्वामी थे। भारत-अमरीका सम्बन्धों में 1950 के पश्चात् जॉन फास्टर डलिस की नीति के द्वारा भारत अमरीका सम्बन्धों में मनोमालिन्य उत्पन्न हुआ। 1955 में नेहरू-बुल्गैनिन संयुक्त वक्तव्य के प्रति अमरीका के समाचार पत्रों ने कटुता प्रकट की। 'न्यूयार्क टाइम्स' ने (दिसम्बर 15, 1955) के सम्पादकीय लेख में नेहरू की तटस्थता की नीति को एक प्रश्नसूचक चिह्न बताया। अमरीका के श्रमिक नेता जार्ज मेनी ने एक वक्तव्य में (न्यूर्याक टाइम्स दिसम्बर 14, 1955) नेहरू और मार्शल टीटों को साम्यवादी गुट का सहयोगी बताया।

भारतीय विदेश नीति के प्रति अमरीकी आलोचना 1956 के अंत में अपने उतार पर थी। इसका एक मुख्य कारण दिसम्बर 1956 में प्रधानमंत्री नेहरू की अमरीका यात्रा थी। भारत में अमरीका के राजदूत 'शर्मन कूपर' ने (हिन्दू, जनवरी 29, 1956) भारतीय विदेश नीति के सकारात्मक एवं रचनात्मक पक्ष की प्रशंसा की। दिसम्बर 1959 में राष्ट्रपति आइज़नहावर की भारत यात्रा ने अमरीका-भारत सम्बन्धों को सशक्त किया। प्रधानमंत्री नेहरू ने अमरीकी राष्ट्रपति के आगमन को दो महान देशों का हृदय मिलन बताया। इस यात्रा के पश्चात् अमरीका ने भारतीय सहायता में 50 प्रतिशत की वृद्धि कर दी।

इसी मध्य अमरीका का व्यवहार भारत की ओर परिवर्तनशील अवश्य था, किन्तु जनवरी 1961 में जॉन एफ़ कैनेडी के राष्ट्रपतित्व ने भारत-अमरीका सम्बन्धों में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। नवम्बर 1961 में प्रधानमंत्री नेहरू की अमरीका यात्रा ने दोनों देशों की मैत्री को सुदृढ़ किया। थ्योडोर सुरैन्सन ने अपनी पुस्तक 'कैनेडी' में लिखा, कि अमरीका की नीति का परिवर्तन इस तथ्य से प्रतीत होता है, कि राष्ट्रपति कैनेडी ने विकासवादी देशों के लिये तटस्थता की नीति को अनिवार्य बताया जबकि जॉन फॉस्टर डलिस ने इसे अनैतिकता की संज्ञा दी।

भारत-चीन युद्ध ने भारत की तटस्थता एवं गुटनिरपेक्ष नीति को आघात पहुंचाया, और अमरीकी सहायता का स्वागत किया। वॉल्टर लिपमैन

ने कहा: 'गुट निरपेक्ष देश अब भारत को अपना नेता नहीं मानेगें, क्योंकि भारत अब तटस्थता की नीति से पृथक हो रहा है।' 'न्यूयार्क टाइम्स मैग-जीन (नवम्बर 19, 1962) में ए० एम० रोजैन्थल ने दिल्ली में अपने समाचार में कहा, कि नेहरू के अनुसार गुट निरपेक्ष नीति परिवर्तित नहीं हुई है, किन्तु वास्तविकता यह है कि उसमें परिवर्तन हुआ है जिसको कि देशवासी भी मानते हैं और वह केवल इसको इतनी ही मान्यता दे रहे हैं जितनी कि पुत्र अपने वृद्ध पिता को संग्रह पुस्तक में स्मृति चिह्न देखने में अवरोध उत्पन्न नहीं करता है।

शनैः शनैः अमरीका इस तथ्य को समझने लगा कि गुट निरपेक्षता राष्ट्रीय स्वाधीनता के प्रति सजग रहने की नीति थी। जवाहरलाल नेहरू के निधन पर जब अमरीका के राज्य सचिव डीन रस्क दिल्ली आये तो उन्होंने तटस्थता के प्रति सम्मान प्रकट किया। अयूब खाँ ने भी अपनी पुस्तक 'फ्रेन्डस नाट मास्टर्स' में डीन रस्क की कथन की पुष्टि की।

1965 के भारत-पाक युद्ध में यद्यपि अमरीका को असमंजसता की स्थिति का सामना करना पड़ा किन्तु शीघ्र ही अमरीका ने स्थिति नियन्त्रण हेतु दोनों देशों को सहयोग देने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। 1965 के भारत-पाक युद्ध के पश्चात जुल्फ़िकार अली भुट्टो ने अमरीका की आलोचना करते हुए कहा, कि अमरीका को केवल पाकिस्तान को ही युद्धसामग्री देनी चाहिये। इसी मध्य पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान का मतभेद तीव्रतर होता गया और शनैः शनैः यह समस्या वृहत रूप धारण करती गई। अन्ततः 1971 में बँगला देश को लेकर भारत-पाक युद्ध में परिवर्तित हो गई। बँगला देश में अमरीकी नीति की कटु आलोचना की गई।

युद्धोपरान्त भारत-अमरीका सम्बन्धों में पुनः सचेतता लाने की चेष्टा प्रारम्भ की गई। सितम्बर 1972 में प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी ने 'फॉरेन एफ़ैयर्स' में अपने एक लेख में कहा, कि भारत अमरीका के साथ स्थाई विमुखता रखने में रुचि नहीं रखता है। श्रीमती गाँधी ने कहा, 'हम पारस-परिक सम्बन्धों को और अच्छा बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं और हमें इस तथ्य का भी आभास है; हमारे विभिन्न क्षेत्रों के विकास में अमरीका ने पूर्ण सहयोग व सहायता दी है'।

एक ओर पाकिस्तान के राष्ट्रपति भुट्टो अमरीका की आलोचना कर रहे थे और दूसरी ओर अमरीका से सहायता की याचना कर रहे थे। 9 जुलाई 1973 के 'न्यूज़वीक' में एक लेख जिसका शीर्षक 'लाइफ विद भुट्टो' था भुट्टो तथा उनकी नीतियों का विकृत चित्रण किया गया है। तदुपरान्त मार्च 1973 में अम-

रीका ने पाकिस्तान को युद्ध सामग्री की सहायता प्रदान करने हेतु प्रतिबन्ध हटा दिया। भारतीय सरकार ने अमरीकी राजदूत 'डेनियल मोनिहन' से अमरीका के प्रति भारतीय विरोध प्रकट करने के लिए कहा। इंडियन एक्सप्रेस (मार्च 15, 1973) ने लिखा कि अमरीकी राज्य विभाग के प्रवक्ता 'चार्ल्स ब्रे' ने कहा, कि उपमहाद्वीप में सैन्य शक्ति के अनुपात में कोई विशेष अन्तर नहीं आयेगा, क्योंकि यदि एक तरफ अमरीका था तो दूसरी ओर सोवियत रूस। भारत में अमरीका के भूतपूर्व राजदूत 'चेस्टर बोल्स' ने (टाइम्स ऑफ इण्डिया मार्च 15, 1973) कहा कि अमरीका की इस नीति के द्वारा उपमहाद्वीप की शान्ति को प्रचण्ड आघात पहुंचेगा। अमरीका द्वारा पाकिस्तान को युद्ध सामग्री प्रदान करने से भारत में तथा भारतीय समाचारपत्रों में अमरीका की इस नीति के प्रति कटु आलोचना हुई।

1974 में हैनरी किसिंजर ने भारत अमरीका सम्बन्धों के सुधार की आशा व्यक्त की। एम०वी० कामथ ने भी वाशिंगटन से (अप्रैल 9, 1974 को 'टाइम्स ऑफ इण्डिया) अपनी समाचार विज्ञप्ति में लिखा कि भारत-अमरीका सम्बन्धों में उन्नति होने की पूरी संभावना दृष्टिगोचर हो रही थी। परन्तु राष्ट्रपति निक्सन की नीतियों ने भारतीय सम्बन्धों को परोक्ष रूप से समतल कभी नहीं होने दिया।

अमरीका और भारत के सम्बन्धों के इतने वर्षों के उपरान्त भी अमरीकनों की भारत के प्रति नकारात्मक भावनायें क्यों थी ?

अमरीका वासियों की इस भावना को एम० बी० कामथ ने वाशिंग्टन से अपने समाचार लेख में लिखा है। जून 10, 1976 के 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' में कामथ ने उद्‌दृत किया है कि किस प्रकार अमरीका की पाठ्यक्रम की पुस्तकों में भारतीय सभ्यता का मिथ्या चित्रण किया है। उन पाठ्यक्रम की पुस्तकों में जो 'मैकमिलन' और 'जिन' ने प्रकाशित की भारत का भ्रामक सर्वेक्षण किया है। इन प्रकाशकों से जो भारत से भलीभाँति परिचित थे, इस प्रकार के प्रकाशन की आशा नहीं की जा सकती थी, जो भारत की सत्यता को मिथ्यता में परिवर्तित कर दे। इस प्रकार के प्रतिष्ठित प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित पुस्तकों से देश के मध्य एक ऐसा अन्तभेद जन्म देने वाला था जो भ्रम उत्पन्न करने वाला था। इसी मध्य हैनरी किसिंजर के राज्य सचिव के निर्णय के साथ ही यह आशा व्यक्त की जाने लगी कि भारत-अमरीका सम्बन्ध में सुधार होगा। ब्रिटिश संवाददाता हैनरी बरैन्डन ने 'दि रिट्रीट ऑफ

अमेरिकन पावर' में लिखा कि निक्सन ने भारत विरोधी नीति को प्रोत्साहन दिया। राष्ट्रपति कार्टर के राष्ट्रपति काल में भारत-अमरीका सम्बन्ध मध्यम मार्गीय रहे परन्तु राष्ट्रपति रीगन के समय में पाकिस्तान सहयोग नीति ने अमरीका के प्रति घोर संशय प्रकट करना आरम्भ कर दिया है।

●

ग्रन्थ निर्देश संदर्भिका REFERENCES

प्रायद्वीपीय शक्ति संतुलन

1. Palmer, Norman D. : South Asia & United States Policy, New York, 1966.

2. The New York Times : January 14, 1957.

3. The United States In world Affairs : 1950-66.

4. Karunakaran, K. P : India in World Affairs, 1947-1950, Calcutta, 1952.

5. Patel, S, R : Foreign Policy of India, Bombay, 1960.

6. Rajan, M. S : India in World Affairs, 1954-56, Asia, 1964.

7. Sayeed, Khalid Bin : Pakistan's Foreign Policy, Asian Survey, March, 1970.

8. Kaul, K K : U. S. A. & The Hindustan Peninsula, Lucknow, 1977.

9. Bowles, Chester : 'America & Russia in India,' Foreign Affairs, 49, No. 4, July 1971.

10. Choudhury, G. W : The Major powers & the Sub-Continent, New York, 1975.

11. Nayar, Kuldip : Distant Neighbors : A tale of the Sub-Continent, Vikas, 1972.

12. Gupta, Bhabani Sen : Soviet-Asian Relations in the 1970's & Beyond, New York, 1976.

13. Park, Cohen : India : Emergent Power, New York, 1978.

14. Chakravarty, N : The Balance Sheet, Sunday, Calcutta, 26 March, 1978.

अध्याय 32

आर्थिक सोपान

दशाब्दियों से भारतीय अर्थ व्यवस्था लगभग निष्प्रवाह रही है। उसके विकास की गति जनसंख्या में वृद्धि की गति से कुछ ही अधिक थी। भारत की स्वतंत्रता के एक दशक बाद अर्थव्यवस्था का विकास केवल 4 प्रतिशत औसतगति से हुआ और कुल राष्ट्रीय आय में 42 प्रतिशत और प्रतिव्यक्ति आय में 18 प्रतिशत वृद्धि हुई। इससे यह स्पष्ट हो गया कि अधिकांश जनता के जीवन स्तर पर गहरी छाप छोड़ने के लिए आर्थिक विकास की गति को त्वरित करना आवश्यक था तथा जनसंख्या में वृद्धि को कम करने के लिए विशेष प्रयत्न किए जाने चाहिए। भली प्रकार चिन्तन के बाद बनायी गयी एक दीर्घकालीन योजना के अन्तर्गत विज्ञान टेक्नालॉजी और श्रेष्ठतर संगठन के अधिकाधिक प्रयोगद्वारा देश के प्राकृतिक और मानवीय साधनों के विकास के लिए रूप-रेखा तैयार की गई।

निश्चय रूप से भारत के विकास का बुनियादी उद्देश्य यह होना चाहिए कि भारतीय जनता के लिए सुखी जीवन व्यतीत करने का अवसर प्रदान किया जाये। समूचे विश्व की दृष्टि से, भारत और इसी प्रकार अन्य देशों के लिए इस उद्देश्य की पूर्ति का विश्व में शान्ति स्थापना के साथ गहरा सम्बन्ध रहा है और वह इसी बात पर निर्भर है। अल्प विकसित और गरीब देशों या राष्ट्रों का विकासहीन रहना ही विश्व शान्ति के लिए एक स्थायी संकट है। विश्व के कल्याण और शान्ति के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक देश से गरीबी और बीमारी तथा अज्ञान को मिटा दिया जाय जिससे एक स्वतंत्र मानवता का निर्माण किया जा सके।

भारत के करोड़ों लोगों के लिए सुखी जीवन की व्यवस्था करना एक बहुत बड़ा कार्य है और इस उद्देश्य को पूरा करने में बहुत समय लग सकता है किन्तु इससे निम्न उद्देश्य सामने नहीं रखा जा सकता क्योंकि इस समय उठाये गये प्रत्येक कदम का सम्बन्ध अन्तिम उद्देश्य से है। गरीबी के अभिशाप

और उससे पैदा होने वाली सभी बुराइयों का सामना करना, यही तात्कालिक समस्या है। यह कार्य सामाजिक और आर्थिक प्रगति के द्वारा ही किया जा सकता है जिससे कि प्रौद्योगिक दृष्टि से परिपक्व समाज का निर्माण किया जा सके और ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जा सके, जिसमें सभी नागरिकों को समान अवसर प्राप्त हो सके। इस प्रक्रिया के दौरान सामाजिक रिवाजों और संस्थाओं में दूर गामी परिवर्तन करने होगें। पुरानी परम्परागत व्यवस्था के स्थान पर एक गतिशील समाज की स्थापना करनी होगी तथा आधुनिक प्रौद्योगिकी में विज्ञान का दृष्टिकोण और प्रयोग स्वीकार करना होगा। कुछ हद तक पिछली पीढ़ियों में परिवर्तन का यह दोहरा पहलू भारतीय विचारधारा में विद्यमान रहा है। धीरे-धीरे इसने अधिक मूर्त रूप धारण किया है और आयोजन का आधार बन गया है।

अपने प्रारम्भिक दिनों से ही, भारतीय राष्ट्रवाद में आर्थिक चिन्तन और सामाजिक सुधार का बहुत बड़ा तत्व मौजूद रहा हैं। जनता की गरीबी को दूर करने के लिये तथा भारत के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन के समस्त ढांचे का पुनः निर्माण करने के लिए स्वाधीनता को एक अनिवार्य साधन समझा जाता था। ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय आन्दोलन बढ़ा और भारतीय लोगों में फैला, इसके अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था और अधिक गहरी हो गयी। गांधी जी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन जनता के साथ अधिक से अधिक सम्बद्ध होता गया और स्वाधीनता संग्राम के सामाजिक तथा आर्थिक उद्देश्य निश्चित होते गये।

योजनाबद्ध विकास

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से भारत के योजनाबद्ध विकास के सामने दो मुख्य उद्देश्य रहे हैं-प्रजातंत्रीय साधनों द्वारा शीघ्रता से बढ़ने वाली और औद्योगिक दृष्टि से प्रगतिशील अर्थ व्यवस्था का निर्माण करना जिसमें प्रत्येक नागरिक को समान अवसर प्राप्त हो। एक ऐसे देश में, जिसकी बहुत बड़ी जनसंख्या हो और वह जनसंख्या भूतकाल से बुरी तरह बन्धी हुई हो, परम्परागत समाज को बदलकर एक गतिशील समाज की स्थापना करना बहुत बड़ा कार्य है। चूंकि यह कार्य शान्तिमय और प्रजातंत्रीय साधनों द्वारा तथा जनता की इच्छा से करना था, इसलिए यह और भी कठिन हो गया। यह अनिवार्य था कि भारत शान्तिमय और प्रजातंत्रीय साधनों को स्वीकार करे, क्योंकि ये वही साधन थे जो स्वाधीनता संग्राम में अपनाए गए थे।

स्वतंत्रता प्राप्त हो जाने पर भारत को अनेक विशाल समस्याओं का

सामना करना पड़ा। आर्थिक और सामाजिक जीवन के समस्त पहलुओं को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय आयोजन करना आवश्यक था, जिससे ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का पुर्ननिर्माण किया जा सके औद्योगिक आर्थिक प्रगति की नींव डाली जा सके तथा शिक्षा एवं अन्य सेवाओं का विस्तार किया जा सके। यथा सम्भव शीघ्रतिशीघ्र गति से उन्नति करने, आर्थिक और सामाजिक जीवन की संस्थाओं का पुर्ननिर्माण करने तथा राष्ट्रीय विकास कार्य के लिए जनता की शक्ति का संचय करने के लिये योजनाबद्ध विकास ही एक मात्र साधन था।

पंचवर्षीय योजनाओं में विकास के जिस स्वरूप की कल्पना की गयी है उसका बुनियादी उद्देश्य यह है कि निरन्तर आर्थिक उन्नति की दृढ़ नींव रखी जाए, लाभदायक रोजगार के अवसरों में निरन्तर वृद्धि की जाए और जनता के जीवन स्तर तथा कार्य करने की परिस्थितियों में सुधार किया जाए। चूंकि भारत कृषि प्रधान देश रहा है अत: कृषि को प्रथम प्राथमिकता दी गयी है और यथा संभव ऊंचे स्तर तक कृषि के उत्पादन को बढ़ाने के लिये सतत् प्रयत्नशील होना होगा। कृषि की उन्नति और मानवीय साधनों का विकास यह दोनों ही उद्योग की प्रगति पर निर्भर करते हैं। उद्योग से न केवल नये यंत्र प्राप्त होते है बल्कि इससे किसान का मानसिक दृष्टिकोण भी परिवर्तित होने लगता है। इसलिए कृषि और उद्योग विकास की प्रक्रिया के अभिन्न अंग समझे जाने चाहिए और योजनाबद्ध विकास द्वारा उद्योग की उन्नति और अधिक तीव्रता से करनी होगी तथा आर्थिक प्रगति की रफ्तार भी बढ़ानी होगी, खास तौर पर भारी उद्योगों और मशीन बनाने वाले उद्योगों का विकास करना होगा, सार्वजनिक क्षेत्र का विकास करना होगा। सार्व-जनिक क्षेत्र से यह आशा की जाती है कि वह विशेषकर बुनियादी और सामरिक महत्व के उद्योगों, अथवा ऐसे उद्योगों, जिनका सम्बन्ध सार्वजनिक उपयोग की सेवाओं से है, उसके और अधिक विकास के लिए व्यवस्था करें। सरकार, जहाँ तक आवश्यक होगा, अन्य उद्योग भी अपने हाथ में ले सकती है। अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुसार बढ़ते हुए स्तर पर राज्य व्यापार को भी हाथ में लेना होगा। इस प्रकार समस्त उपलब्ध अभिकरणों का पूरा उपयोग करते हुए यह आशा की जाती है कि सार्वजनिक क्षेत्र पूर्ण रूप से तथा तुलनात्मक दृष्टि से निजी क्षेत्र की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ेगा।

अर्थ व्यवस्था का द्रुत विस्तार होने से सार्वजनिक तथा निजी दोनों ही क्षेत्रों के लिए उन्नति के और अधिक व्यापक अवसर पैदा होते हैं और कई प्रकार से उनके कार्य एक दूसरे के पूरक हैं। निजी क्षेत्र में न केवल संगठित उद्योग सम्मिलित है, बल्कि कृषि, छोटे उद्योग, व्यापार और मकान निर्माण तथा

अन्य क्षेत्रों में किये जाने वाले बहुत से अनेक कार्य सम्मिलित है। देश के योजनाबद्ध विकास की दृष्टि से निजी क्षेत्र के विकास और विस्तार के लिए एक बहुत बड़ा क्षेत्र है, किन्तु इसे सदा राष्ट्रीय आयोजन के ढांचे में काम करना होगा और समाज के प्रति इसके जो कर्त्तव्य हैं उन्हें ध्यान में रखना होगा इसके लिए इसे अधिकाधिक मात्रा में सहकारी प्रयत्नों का स्वरूप लेना होगा। निजी क्षेत्र में जो अवसर उपलब्ध है, उनके परिणामस्वरूप थोड़े से व्यक्तियों अथवा व्यापारियों के हाथ में आर्थिक शक्ति का संचय न हो जाय इस बात का भी ध्यान रखना होगा। आय और सम्पत्ति की विषमताओं को निरन्तर कम करना होगा।

विकास की योजनाओं में यह आशा की जाती है कि सहकारिता आर्थिक जीवन की कई शाखाओं में संगठन का अधिकाधिक मात्रा में मुख्य आधार बन जाये, खास तौर पर कृषि, छोटे उद्योग, वितरण, निर्माण और स्थानीय निकायों के लिए आवश्यक सुविधाओं की व्यवस्था की जाय। राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के विकास में ग्रामीण और छोटे उद्योगों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है, क्योंकि ये एक ओर दैनिक उपयोग की तथा अन्य वस्तुओं को और बड़े पैमाने पर रोजगार को उपलब्ध कराते हैं तथा राष्ट्रीय आय का न्यायसंगत वितरण करने में और कार्य कुशलता तथा जनशक्ति के उपलब्ध साधनों के प्रयोग में सहायक होते हैं। विभिन्न क्षेत्रों में जो विषमताएँ है उन्हें निरन्तर कम करना होगा और औद्योगीकरण के लाभों को देश के विभिन्न मार्गों में समान रूप से वितरित करना होगा। विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में इन उद्देश्यों को प्राप्त करना किसी भी तरह से आसान नहीं है, इसके लिए आर्थिक तथा सामाजिक पहलुओं का सन्तुलन करना पड़ेगा।

योजनाबद्ध विकास करने के लिये स्वयं और शीघ्र प्रगति तथा समाज के समाजवादी ढांचे के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए बुनियादी कसौटी यह है कि, समूचे समाज का हित हो विशेष तौर से समाज के कमज़ोर वर्गों का। राष्ट्र के विकास में मौजूदा सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं का क्या हिस्सा हो, इसको ध्यान में रखते हुए समय-समय पर उनका मूल्यांकन करना होगा।

भारत की पंचवर्षीय योजनाओं की बुनियादी धारणा यह है कि समाजवादी ढंग पर देश का विकास किया जायगा। यह विकास प्रजातांत्रिक ढंग से होगा इसमें जनता व्यापक रूप से हिस्सा लेगी। इस प्रकार के विकास द्वारा शीघ्रता से आर्थिक उन्नति होगी और रोजगार का विस्तार होगा तथा न्याय वितरण होगा, आय और धन की विषमताओं में कमी होगी, आर्थिक शक्ति के संचयन को रोका जायगा और एक स्वतन्त्र तथा समान समाज के

मूल्य और दृष्टिकोण का निर्माण होगा। इसलिए आर्थिक कार्यों का संगठन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि उत्पादन और उन्नति तथा न्याय वितरण की कसौटियाँ समान रूप से हों। समाजवाद की ओर प्रगति की बहुत सारी दिशाएं हैं।

समाजवादी अर्थव्यवस्था को कुशल होना चाहिए, विज्ञान और प्रोद्योगिकी के प्रति इसका दृष्टिकोण प्रगतिशील होना चाहिये और इसमें निरन्तर एक ऐसे स्तर तक विकसित होने की सामर्थ्य होनी चाहिए कि जिससे जनसाधारण का कल्याण किया जा सके।

समाजवाद अर्थव्यवस्था में प्रत्येक नागरिक को समान रूप से अवसर प्राप्त होने चाहिए खास तौर पर खाद्य, उद्योग, शिक्षा, स्वास्थ्य और सफाई का युक्तिसंगत प्रबन्ध, मकान सम्बन्धी परिस्थितियों में सामान्य जीवन के सुख साधन जुटाए जाने के लिए सतत् प्रयत्नशील होना आवश्यक है।

समाजवादी अर्थ व्यवस्था में सार्वजनिक नीतियों द्वारा न केवल वह आर्थिक और सामाजिक विषमतायें कम होनी चाहिए जो कि पहले से विद्यमान है किन्तु इनसे अर्थ व्यवस्था का इस प्रकार शीघ्रता से विस्तार होना चाहिए, जिससे आर्थिक शक्ति और एकाधिकार किसी भी एक स्थान पर न संचित हो सकें।

सामाजिक मूल्यों और उद्देश्यों पर तथा समाज के समस्त वर्गों में सर्व-मान्य हित और एक दूसरे के प्रति दायित्व की भावना विकसित करने पर सबसे अधिक महत्व दिया जाना चाहिए।

समान अवसर प्राप्त करने और राष्ट्रीय न्यूनतम स्तर प्राप्त करने के लिये पहली शर्त यह है कि जो कोई भी व्यक्ति काम की तलाश करे उसे लाभदायक रोजगार प्राप्त हो। आर्थिक ढांचे में कमियां होने के कारण औद्यौ-गिक आधार को पर्याप्त रूप से दृढ़ बनाना और शिक्षा तथा अन्य सामाजिक सेवाओं का विस्तार करना अति आवश्यक है। तभी अर्थ-व्यवस्था द्वारा समस्त श्रम शक्ति के लिये पर्याप्त स्तर पर पारिश्रमिक की व्यवस्था की जा सकती है। बड़े और लघु उद्योगों, कृषि और आर्थिक तथा सामाजिक सेवाओं के विकास कार्यक्रमों के अतिरिक्त कुछ समय के लिए बड़े पैमाने पर ग्रामीण निर्माण कार्यक्रमों में न्यूनतम आय वाले वर्गों के लोगों को काम करने के अतिरिक्त अवसर दिए जाने चाहिए।

शिक्षा विकास का कार्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे देश-समाज को और अधिक विकासशीलता प्राप्त होती है। विशेष रूप से प्राथमिक

स्तर पर निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा के विस्तार, रचनात्मक, व्यवसायिक और उच्च शिक्षा के लिये और अधिक अवसरों की व्यवस्था, छात्रवृत्तियाँ और अन्य प्रकार की सहायता के लिए अनुदान की व्यवस्था करनी होगी।

गत कई वर्षों से भारत में नियोजन के समर्थन में प्रभावशाली पृष्ठ-भूमि तैयार हुई है। कुछ समाजवादी देशों की प्रभावशाली आर्थिक उप-लब्धियों के कारण हमारे राजनीतिक नेतागण नियोजन के औचित्य को स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात शीघ्र करने के इच्छुक थे। इसलिये 1951 में योजना प्रक्रम का सूत्रपात किया गया अर्थात प्रथम योजना शुरू की गयी। परन्तु आर्थिक एवं राजनैतिक विचारधारा में उदारवाद के तत्वों का समा-वेश होने के कारण तथा कुछ सीमा तक गांधीवाद के प्रभाव के कारण यह बात निश्चित हो गयी थी कि भारत में आर्थिक गति-विधियों एवं आर्थिक जीवन पर कोई कड़े प्रतिबन्ध नहीं होंगे। तीन विभिन्न विचारधाराओं गांधीवाद, उदारवाद, एवं समाजवाद के कारण वैचारिक स्तर पर कुछ महत्व-पूर्ण समझौते करने पड़े जो बाद में आर्थिक नीतियों में प्रतिलक्षित हुये। इनमें सबसे महत्वपूर्ण है मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की संकल्पना। वस्तुतः विभिन्न वैचारिक सिद्धांतों के व्यूह में फंसे रहने के कारण हमने कई विषयों एवं नीति सम्बन्धी मामलों पर अपने विचारों को ठीक ढंग से स्पष्ट नहीं किया। दृढ़ संकल्प एवं विश्वास के अभाव के कारण उत्साह से योजनाओं को कार्यान्वित नहीं किया जा सका जो कि उनकी सफलता के लिए आवश्यक थी इसके लिए कुछ हद तक प्रशासन भी उत्तरदायी है। इस प्रकार वैचारिक स्तर पर पायी जाने वाली अनिश्चितता आर्थिक नीतियों के कार्यान्वियन में भी प्रकट हुयी।

भारतीय योजनाओं के उद्देश्य को इस प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है:–

1. राष्ट्रीय आय में वृद्धि का प्रथम लक्ष्य 2.2 प्रतिशत द्वितीय योजना में 5 प्रतिशत तृतीय योजना में 6 प्रतिशत तथा चतुर्थ योजना में 5.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष रखा गया था। पांचवीं योजना के प्रारम्भ में यह आशा व्यक्त की गयी थी कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि 5.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से होगी।

2. निवेश आय अनुपात में वृद्धि करने के लिए प्रथम योजना में लक्ष्य 7 प्रतिशत, द्वितीय योजना में 11 प्रतिशत, तृतीय योजना में 14 प्रतिशत, चतुर्थ योजना में 14.5 प्रतिशत तथा पांचवीं योजना में 16.3 प्रति-शत प्रतिवर्ष रखा गया। निवेश आय अनुपात में वृद्धि की आवश्यकता इस-

लिये महसूस की गयी क्योंकि योजनाओं में यह मान्यता रखी गयी थी कि विकास की दर निवेश की दर पर निर्भर करती है।

3. समाजवादी समाज की स्थापना के उद्देश्य को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है। किसी भी योजना में आय एवं धन के प्रभावशाली पुनर्वितरण का प्रयत्न नहीं किया गया केवल यह कहा गया कि योजनाओं से होने वाले लाभ से निर्धन वर्ग को अधिक से अधिक लाभान्वित करने का प्रयत्न किया जायगा।

4. अतिरिक्त रोजगार प्रदान करने के लिये यह मान्यता स्वीकार कर ली गयी कि अधिक उत्पादन स्वतः अधिक रोजगार प्रदान कर सकेगा जो कि सिर्फ कल्पना थी। क्योंकि किसी स्पष्ट रोजगार योजना की घोषणा नहीं की गयी।

5. ऐसे कदम उठाना जिससे योजना प्रक्रम में उत्पन्न अवरोधों को दूर किया जा सके; जैसे कृषि उत्पादन की वृद्धि में अवरोध, उत्पादक वस्तुओं की उत्पादन क्षमता में अवरोध, तथा भुगतान शेष में अवरोध।

भारतीय योजनाओं की उपलब्धियों के मूल्यांकन के लिए योजनाओं की विकास युक्ति के दो अन्य पक्षों का भी दृष्टावलोकन करना आवश्यक है।

शिक्षा क्षेत्र एवं रोजगार क्षेत्र

शिक्षा क्षेत्र में सरकारी नीति बनाते समय सर्वाधिक महत्व जन सामान्य को व्यापक शिक्षा सुविधाएं प्रदान करने, स्त्री शिक्षा, पिछड़ी जातियों एवं जनजातियों को शिक्षा प्रदान करने और ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा उपलब्ध कराने को दिया गया है। शिक्षा नीति के कार्यान्वियन के कारण सबसे अधिक उपलब्धियां नागरिक शिक्षा, माध्यमिक एवं कॉलेज शिक्षा, पुरुष शिक्षा, उच्च वर्गीय शिक्षा इत्यादि के क्षेत्र में हुई। शैक्षिक नीति के अनुसार जो 'प्राथमिक क्षेत्र' रखे गए जिसमें प्रौढ़ शिक्षा भी शामिल है इनमें निष्पादन लक्ष्यों से बहुत कम रहा। 14 वर्ष से कम आयु के सभी बच्चों के लिए शिक्षा एवं प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में उपलब्धियां लक्ष्यों से बहुत कम रही। तथा उच्च शिक्षा के क्षेत्र में उपलब्धियां लक्ष्यों से अधिक रही हैं। इस स्थित के परिणामस्वरूप शिक्षित बेरोजगारी की स्थिति गंभीर हो गयी है तथा विरोधाभास उत्पन्न हुए हैं। जहां एक ओर अशिक्षित लोगों का वर्ग बढ़ता गया वहीं दूसरी ओर उच्च विशिष्ट वर्ग और क्षेत्रीय विशिष्ट वर्ग का जन्म भी हुआ है। ऐसी स्थिति सामाजिक असंतोष को जन्म देती है।

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में, अर्थ व्यवस्था की आवश्यकताओं में वृद्धि की दर

की अपेक्षा माध्यमिक एवं कालेज शिक्षा की वृद्धि की दर अधिक रही है जिससे अर्थव्यवस्था में असंतुलन की स्थिति पैदा हुई है। विश्वविद्यालय और कालेज एक आश्रय स्थल बन गये है जहां विद्यार्थी जितने वर्ष सम्भव हो सार्वजनिक खर्च पर एवं सामाजिक रूप से स्वीकार्य वातावरण में बिता देता है। अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा सुविधाओं का विकास न होने के कारण अर्थव्यवस्था में दोहरा असंतुलन पैदा हुआ है।

एक ओर तो शिक्षित बेरोज़गारों का एक बड़ा वर्ग जिसमें से अधिकतर लोक सफेदपोश नौकरियां चाहते हैं तथा शारीरिक श्रम को निकृष्ट कार्य मानते हैं। दूसरी ओर स्थित इस प्रकार हो जाती है कि उच्च शिक्षित लोग मिल तो जाते हैं परन्तु उस प्रकार की योग्यता के लोग नहीं मिल पाते जिनकी आवश्यकता होती है।

इन समस्याओं के समाधान हेतु अब बहुत स्थानों पर व्यवसायिक स्कूल खोले जा रहे हैं परन्तु फिर भी समस्या यह है कि विभिन्न क्षेत्रों में किस प्रकार के कौशल प्राप्त लोगों की कितनी आवश्यकता होगी। इस प्रकार के वातावरण में यदि व्यवसायिक शिक्षा भी समस्या का समाधान नहीं कर सकती, केवल उसका स्वरूप बदल देती है।

अत: योजनाओं में सम्बन्धित शिक्षा एवं रोज़गार युक्ति का सर्वथा अभाव था। रोज़गार की युक्ति की उपेक्षा का कारण यह था कि किसी भी योजना में बेरोजगारी की समस्या को ठीक परिप्रेक्ष्य में नहीं आंका गया।

नियोजकों के पक्ष में केवल यह कहा जा सकता है कि कुछ हद तक वे इस बात को जानते थे क्योंकि प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में रोज़गार अवसरों के प्रसार हेतु विशेष कार्यक्रम लागू किये जाते रहे हैं, ताकि उन लोगों को भी रोज़गार दिया जा सके जो विकास कार्यक्रम की परिधि से बाहर थे।

भारत में योजनाओं की शुरुआत कई बाधाओं एवं कठिनाईयों के मध्य की गई थी। अत: उतनी उपलब्धियां प्राप्त न हो सकीं जो कि हमारा लक्ष्य था, जबकि अन्य अल्प विकसित देशों की अपेक्षा हमारे पास साधन अधिक थे। उदाहरणत: भारत के पास विकसित भौतिक आधारिक संरचना का एक वहृद औद्योगिक क्षेत्र विद्यमान था जैसे कि रेल, सड़क एवं यातायात तथा संचार व्यवस्था उपलब्ध थी। इसके अतिरिक्त दृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था, समाज सेवाओं की उन्नत संरचना, बड़ी मात्रा में शिक्षित एवं प्रशिक्षित श्रम शक्ति एवं उद्यमियों की उपलब्धि तथा उत्कृष्ट राजनीतिक नेतृत्व प्राप्त था। भारत में योजना प्रक्रम शुरू करते समय चीन की अर्थ व्यवस्था की भी लगभग यही स्थिति थी जैसी

कि हमारी अर्थव्यवस्था की थी। परन्तु चीन की अर्थव्यवस्था का निष्पादन हमारी अर्थ व्यवस्था की अपेक्षा अधिक अच्छा रहा।

चीन की सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक उपलब्धि यह है कि पिछले 25 वर्षों में उसने अपनी सारी जनता के खाने, पहनने और रहने का प्रबन्ध किया है स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों को सुचारु रूप से कार्यान्वित किया है तथा जनता के लिए शिक्षा का भी उचित प्रबन्ध किया है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि क्षेत्र की उपलब्धियां संतोषजनक रहीं। खाद्यानों का अतिरिक्त उत्पादन लक्ष्य से 42 प्रतिशत अधिक रहा। द्वितीय योजना भी कृषि क्षेत्र में सन्तोषजनक थी परन्तु तृतीय योजना में अन्तिम वर्ष सूखे के कारण वास्तविक उत्पादन लक्ष्य से कम रहा। तृतीय योजना में कृषि तंत्र का निष्पादन सन्तोषजनक नहीं रहा अत: इस योजना के बाद ही कृषि क्षेत्र में कुछ परिवर्तन हुए। चतुर्थ योजना के प्रथम वर्ष में उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि होने के बावजूद कुल स्थित निराशाजनक ही रही। पांचवी योजना कृषि क्षेत्र में अपना लक्ष्य पूरा करने में सफल रही।

जनसंख्या में सतत् वद्धि होने के कारण खाद्यानों की पूर्ति में वृद्धि खाद्यानों की मांग पूरा करने में असमर्थ रही है। अत: सभी योजनाओं में हम आयातों पर निर्भर रहे। योजना काल में खाद्यानों की कीमतों में सतत् वृद्धि हुई है। अत: आर्थिक विषमतायें लगातार बढ़ती गई हैं। लगभग 40 प्रतिशत व्यक्ति अपनी निम्नतम आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाने में असमर्थ हैं। अत: यह एक शोचनीय स्थिति है।

1947 में भारत का औद्योगिक आधार बहुत सीमित था इस सीमित आधार में मुख्यतया जूट उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग, चीनी, सीमेन्ट और कुछ हद तक लोहा व इस्पात उद्योग भी शामिल थे। पूंजी, वस्तुओं, संघटकों तथा आधारभूत धातुओं में हम आयातों पर निर्भर थे।

योजनाकाल में औद्योगिक विकास बड़ी तीव्रगति से हुआ है, तथा अब औद्योगिक ढाँचा बहुत सुदृढ़ हो चुका है। पूंजी वस्तुओं, कलपुर्जों मध्यवर्ती वस्तुओं, उपभोक्ता वस्तुओं सभी के उत्पादन में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारत का औद्योगिक भविष्य उज्जवल है।

प्रथम योजना में कुछ महत्वपूर्ण उद्योग (इस्पात, कच्चा लोहा एल्युमिनियम, सुपरफ़ासफ़ेट) लक्ष्यों को प्राप्त करने में असफल रहे। परन्तु कुछ उद्योग (मिलों का निर्मित कपड़ा, सिलाई मशीनें, रेल इंजन तथा चीनी और मशीनी औजार) प्रशंसनीय प्रगति के साथ लक्ष्य पूरा कर गये।

द्वितीय योजना में लक्ष्य औसत रहा। तथा तृतीय चतुर्थ योजना में

काफी उद्योगों का लक्ष्य निराशाजनक रहा। जबकि पांचवी योजना में तृतीय तथा चतुर्थ योजना के लक्ष्य निराशाजनक होने के कारण व्यय राशि बढ़ा दी गई।

पाँचवी योजना भी मध्यममार्गी रही जिससे लाभ का पूर्ण अनुपात प्राप्त नहीं हो सका। 1980 में जनता पार्टी के पश्चात इन्दिरा गांधी पुन: वापस आई और छठी योजना का रूप पुन: परिवर्तित कर दिया गया।

पांचवी योजना (1974-79)

बाद में, इस योजना को 1978 में ही समाप्त कर दिया गया इसलिए इसकी समयावधि (1974-78) रही।

इस योजना के दो मुख्य उद्देश्य रखे गये।

1. गरीबी का उन्मूलन, 2. आत्म निर्भरता की प्राप्ति।

1. गरीवी का उन्मूलन

योजना के प्रारम्भ से लेकर विगत दो दशकों में हुए आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति औसत आय में काफी वृद्धि हुई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पिछड़े क्षेत्रों के लोगों के रहन-सहन में सुधार हुआ है।

2. आत्म निर्भरता

इस योजना में स्वीकार किया गया कि आत्म निर्भरता के उद्देश्य की प्राप्ति के लिये निर्यात के सम्बन्ध में सुदृढ़ एवं निरन्तर प्रयास करने की आवश्यकता थी। पांचवीं और छठी योजना के दौरान निर्यात में 7.6% प्रतिवर्ष और उसके बाद 7% प्रति वर्ष बढ़ने का अनुमान लगाया गया। यह भी कल्पना की गई कि 1978-79 तक देश के भुगतान सन्तुलन में इतना सुधार हो जायगा कि ऋण सेवा भार को छोड़ कर हमारी अधिकतम विदेशी मुद्रा की आवश्यकताएँ अपने साधनों से पूरी हो जायगीं। अत: पाँचवीं योजना में परिकल्पित शुद्ध विदेशी सहायता 5,400 करोड़ रुपये निर्धारित की गई।

उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु पाँचवी योजना में अधिक विकास, आमदनियों के उचित ढंग से वितरण एवं आंतरिक बचत की दर में वृद्धि की आवश्यकता पर बल दिया गया।

3. मुद्रा स्फीति रोकने हेतु प्रभावशाली कदम उठाने की घोषणा।

4. योजना में कृषि, सिंचाई, शक्ति एवं उससे सम्बन्धित क्षेत्रों पर बल।

5. आर्थिक विकास की दर 5.5% वार्षिक करने का लक्ष्य।

6. कृषि क्षेत्र में 4.7% एवं उद्योग क्षेत्र में 8.2% वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य।

न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम–के अन्तर्गत प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था सार्वजनिक स्वास्थ्य की न्यूनतम सुविधाएं, पेय जल की व्यवस्था, काम देने वाली सड़कों का निर्माण, गन्दी बस्तियों की सफाई, ग्रामीण विद्युतीकरण आदि शामिल हैं।

आकार एवं साधन

पांचवी योजना में कुल 53,411 करोड़ रुपये खर्च करने का प्राविधान रखा गया। इसमें से 39,303 करोड़ रुपयों की रकम लोक क्षेत्र में तथा शेष निजी क्षेत्र में खर्च करने का प्राविधान रखा गया।

लोक क्षेत्र की 39,303 करोड़ रुपये की निवेश राशि में से 6,850 करोड़ रुपये के साधन केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के द्वारा अतिरिक्त कर लगाकर जुटाने का प्राविधान किया गया। इसके अतिरिक्त लगभग 4000 करोड़ रुपये विदेशी सहायता द्वारा तथा 1000 करोड़ रुपया घाटे का बजट बना कर प्राप्त करने की व्यवस्था की गयी।

व्यय की मदें

	मद का नाम	रकम	कुल का प्रतिशत
1.	कृषि एवं सम्बन्धित क्षेत्र	4,644	11.8
2.	सिचाई एवं बाढ़ नियन्त्रण	3,434	8.7
3.	उद्योग एवं खनिज	10,201	25.9
4.	ऊर्जा, विज्ञान एवं प्रविधिक	8,142	20.7
5,	परिवहन एवं संचार	6,881	17.5
6,	सामाजिक सेवाएँ		15.4
	योग	39,303	100.00

इन अंकों से स्पष्ट है कि कृषि एवं सिचाई पर मिलाकर कुल योजना का लगभग 21% भाग खर्च करने का प्रावधान किया गया। बिजली की आपूर्ति हेतु अलग से व्यवस्था की गयी।

पांचवी योजना की उपलब्धियां

चार वर्ष (1974-78) की अवधि की मुख्य उपलब्धियां इस प्रकार हैं।

1. विकास की दर-पाँचवी योजना के चार वर्षों में विकास की औसत वार्षिक दर 3.9 प्रतिशत वार्षिक रही जबकि लक्ष्य 5.5 प्रतिशत वार्षिक रखा गया था।

2. मूल्यों में वृद्धि-पांचवी योजना काल में मूल्य स्तर में तीव्र वृद्धि हुई। थोक मूल्य सूचकांक 1974 में 140 से बढ़कर 1976-78 में 167 हो गया। इस प्रकार स्थायित्व के विकास की दर को धक्का लगा।

3. पांचवी योजना काल में लगभग सभी वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि हुई परन्तु यह बृद्धि लक्ष्यों से कम थी। अनाज, कोयला, खनिज तेल आदि के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धिहुई। पटसन के उत्पादन में कमी आयी। तैयार इस्पात और सीमेन्ट का उत्पादन कम तेज़ी से बढ़ा।

मूल्यों में वृद्धि दर उत्पादन की वृद्धि दर से कुछ अधिक रही। इस लिए आम जनता के ऊपर इसका बहुत कष्टकारी प्रभाव पड़ा।

छठी पंचवर्षीय योजना

केन्द्र में जनता सरकार ने 1 अप्रैल 1978 से पाँचवी योजना समाप्त कर नयी योजना लागू कर दी। इस योजना को उन्होंने छठी योजना का अधिकृत नाम नहीं दिया बल्कि यह अनवरत योजना (रोलिंग प्लान) के विचारअन्तर्गत पंचवर्षीय योजना (1978-83) कहलायी। इन्दिरा सरकार ने इस योजना को समाप्त कर अप्रैल 1980 से छठी योजना आरम्भ करने का निर्णय लिया।

छठी योजना का आकार एवं स्वरूप अप्रैल 1981 में निश्चित हो पाया। इसकी मुख्य बातें निम्नलिखित हैं।

परिव्यय

छठी योजना में कुल 1,72,210 करोड़ रुपये की रकम व्यय करने का अनुमान लगाया गया है। इसमें से 97,500 करोड़ रुपये लोक क्षेत्र में व्यय किये जायेंगे और शेष 74,700 करोड़ रुपये निजी क्षेत्र के लिए निर्धारित किये गये हैं।

उद्देश्य

छठी योजना के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये हैं।

1. आर्थिक विकास की दर को तेज करना जिससे वार्षिक विकास दर 5.2 प्रतिशत तक बढ़ सके। इन उपलब्धि के लिए राष्ट्रीय बचतों की दर 24.4 प्रतिशत वार्षिक तक बढ़ाने का निश्चय किया गया।

2. आर्थिक एवं तकनीकी आत्मनिर्भरता के लिए आधुनिकीकरण पर ज़ोर दिया जायगा।

3. ग़रीबी तथा बेरोज़गारी कम करने की दिशा में विशेष प्रयत्न किये जायेंगे।

4. उर्जा के साधनों का तीव्र गति से विकास तथा उनका समुचित उपयोग किया जाना।

5. जनता के जीवन स्तर को (विशेषकर पिछड़े वर्ग का जीवन स्तर) ऊँचा उठाने की दिशा में गति उत्पन्न की जायगी।

6 आय तथा सम्पत्ति के वितरण की विषमता में कमी की जायगी तथा निर्धन वर्ग की सहायता के लिए विशेष कार्यक्रम चलाये जायेंगे।

7. प्रादेशिक असन्तुलनों को कम करने का प्रयत्न किया जायगा।

8. छोटे परिवारों द्वारा जनसंख्या नियन्त्रण किया जायगा।

9. आर्थिक विकास के सभी कार्यक्रमों में जनता का सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा की जायगी।

कृषि एवं सिचाई

1980-85 के पांच वर्षों में 15 मिलियन हेक्टेयर नयी भूमि सिंचाई के अन्तर्गत लायी जायगी तथा सभी कृषि पदार्थों में उत्पादन बढ़ाकर वार्षिक विकास दर 4 प्रतिशत की जायगी।

उद्योग

छठी योजना काल में औद्योगिक उत्पादन में 8.9 प्रतिशत तक वृद्धि करने का लक्ष्य रखा गया है। इसके लिए इस्पात, अलौह धातु, पूंजीगत माल, उर्वरक तथा पेट्रो-रसायन पदार्थों की क्षमता में वृद्धि करने का प्राव-धान किया गया है।

ऊर्जा

औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि करने के लिए ऊर्जा की पूर्ति को नियमित एवं पर्याप्त करने का प्रयत्न किया जायगा। इसके लिए कोयला एवं बिजली के उत्पादन में वृद्धि की जायगी तथा खनिज तेल की खोज में तेजी लायी जायगी।

मूल्य नियन्त्रण एवं लोक वितरण

छठी योजना काल में सामान्य मूल्य स्तर को नियन्त्रित करने के लिए विभिन्न वस्तुओं के मूल्य पर नियन्त्रण लगाये जायेगें तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुधार कर उसे अधिक कारगर बनाने की चेष्टा की जायगी।

साधन

लोक क्षेत्र में होने वाले 97,500 करोड़ रुपये के व्यय के लिए निम्नलिखित साधनों से रकम प्राप्त करने का प्राविधान किया गया है।

	साधन	रु०
1.	चालू साधनों से कर आय	14,478
2.	लोक उद्यमों से आय	9,395
3.	बाजार से ऋण	19,500
4.	अल्प बचत	6,463
5.	प्राविडेन्ट फण्ड में जमा	3,702
6.	वित्तीय संस्थाओं से ऋण (शुद्ध)	2,722
7.	विविध पूंजी आय	4,009
8.	विदेशों से सहायता	9,929
9.	विदेशी विनिमय कोषों से प्राप्त	1,000
10.	नये करों से आय	21,302
11.	हितार्थ प्रबन्धन	5,000
	योग	97,500

छठी योजना एक वृहद् योजना है जिसमें गरीबी की रेखा से नीचे वाली जनसंख्या के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिए प्रयत्न किये जायेंगे तथा ग्रामीण क्षेत्रों के विकास पर विशेष ध्यान दिया जायगा। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु एक ओर नये कर लगाकर साधन प्राप्त करने की चेष्टा की जायगी, दूसरी ओर ऋणों तथा घाटे की बजट व्यवस्था का भी सहारा लिया जायगा। विदेशी सहायता से मुक्ति पाना सम्भव नहीं होगा, अतः छठी योजना, आकार में बहुत बड़ी होने पर भी पुरानी योजनाओं से बहुत भिन्न प्रतीत नहीं होती है।

पहली तीन योजनाओं में बचत एवं निवेश की दर में सतत् वृद्धि हुई है। प्रथम योजना के समय निवेश दर 5.5 प्रतिशत थी तथा बचत दर भी

इतनी ही थी । तत्पश्चात् दोनों में वृद्धि तो हुई परन्तु असमान दरों से निवेश दर तृतीय योजना के अन्त तक राष्ट्रीय आय का 14 प्रतिशत हो चुकी थी जबकि बचत दर धीरे-धीरे बढ़कर 1960-61 तक 9 प्रतिशत तथा 1965-66 तक 10.5 प्रतिशत तक ही पहुंच पायी । अर्थ-व्यवस्था को आत्मनिर्भर बनाने के लिये तीसरी योजना के मसौदे में यह कहा गया कि यह आवश्यक होगा कि निवल निवेश की दर (1960 की कीमतों पर) जो अभी 11 प्रतिशत है, तृतीय, चतुर्थ तथा पांचवी योजना के अन्त तक बढ़कर क्रमश: 14-15, 17-18 एवं 19-20 प्रतिशत प्रतिवर्ष पहुंच जाये । इसके साथ ही यह आवश्यक होगा कि बचत दर चतुर्थ और पांचवी योजना के अन्त तक बढ़कर 15-16 तथा 18-19 प्रतिशत तक पहुंच जाये । तृतीय योजना में अनुमानित निवल निवेश जो 10,500 करोड़ रुपये है पांचवीं योजना के अन्त तक 25,000 करोड़ रुपये हो जाना चाहिए ।

तथापि उपलब्धियाँ इन आशाओं से बहुत कम रहीं । औद्योगिक शिथिलता के कारण निवेश दर बड़ी तेजी से कम हुई तथा 1967-68 में मात्र 12.1 प्रतिशत रह गई तथा तीसरी योजना के सन्दर्भ में व्यक्त आशाएँ पूरी न हो सकीं । योजना काल के अधिकतर समय में पूंजी पूर्ति निवेश की आवश्यकता से काफी कम रही तथा इस कमी को पूरा करने के लिये विदेशी सहायता पर निर्भर रहना पड़ा । इस प्रकार आत्म निर्भरता के वादे को पूरा नहीं किया जा सका है ।

भुगतान शेष के क्षेत्र में पंचवर्षीय योजनाओं का निष्पादन निराशा-जनक रहा । औद्योगीकरण के कार्यक्रमों के फलस्वरूप आयातों पर निर्भरता के कारण आयात व्यय में बहुत अधिक वृद्धि हुई है, जबकि कई आन्तरिक और बाह्य बाधाओं के कारण योजनाकाल के प्रारम्भिक समय में निर्यातों में वृद्धि नहीं हो सकी । निर्यात के क्षेत्र में निराशाजनक निष्पादन के कारण इस लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सका ।

भारत के विदेशी व्यापार आंकड़ों का सर्वेक्षण करने पर पता चलता है कि योजनाकाल के दौरान विदेशी व्यापार दो गुने से अधिक हो गया है । परन्तु निराशाजनक पहलू यह है कि आयातों में वृद्धि की दर निर्यातों की अपेक्षा बहुत अधिक रही है । प्रथम योजना के प्रारम्भ से लेकर पांचवीं योजना के अन्तिम वर्ष तक विदेशी व्यापार सन्तुलन सदा भारत के प्रतिकूल रहा है । लगभग सारे योजनाकाल में अदृश्य मदों से निवल आय धनात्मक रही है परन्तु व्यापार शेष में घाटे को पूरा करने में असमर्थ रही है । अतः भुगतान शेष में लगातार घाटे की स्थिति बनी रही है, इस घाटे को

पूरा करने के लिये विदेशी सहायता का सहारा लेना पड़ा है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रथम योजना में घाटा मात्र 42.3 करोड़ रुपये था जो कि तीन वार्षिक योजनाओं (1966-67, 1967-68 एवं 1968-69) में बढ़कर 2,015 करोड़ रुपये हो गया। भुगतान शेष के घाटे को बढ़ाने में पेट्रोलियम एवं उसके उत्पादकों ने एक अह्म भूमिका अदा की तथा कीमतें बढ़ जाने के कारण आयात व्यय में बहुत अधिक बृद्धि कराई। आयात व्यय बढ़ते रहने के कारण 1974-75 में व्यापार शेष का घाटा 1190-00 करोड़ रुपये हो गया जिसके कारण पांचवीं योजना को प्रारम्भिक चरणों में ही अत्यधिक कठिनाईयों का सामना पड़ा। तीन प्रमुख आयातों (खाद्यान्न, उर्वरक, पैंट्रोलियम,) एवं पैंट्रोलियम उत्पादन पर व्यय जो 1972-73 में मात्र 4,31 करोड़ रुपये था। 1974-75 में 2,500 करोड़ रुपये हो गया हालांकि 1975-76 में निर्यात आय में 18.4 प्रतिशत तथा आयातों में 14 प्रतिशत की बृद्धि हुई, फिर भी व्यापार शेष में 1,216 करोड़ रुपये का घाटा उठाना पड़ा।

निर्यातों में बृद्धि आयातों की अपेक्षा कमगति से होने के कारण इनको दो वर्गों में बांटा जा सकता है—वाह्य कारण एवं आन्तरिक कारण। बाह्य कारणों का मुख्य कारण तीन परम्परागत निर्यातों (पटसन, चाय तथा सूती वस्त्र) का विश्व मांग स्थिर होना कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त देशों के उपभोक्ताओं की अल्प विकसित देशों के निर्यातों के प्रति अविश्वास की भावना के कारण कुछ विकसित देशों की प्रतिबन्धात्मक नीतियों के कारण भी आय में उतनी बृद्धि नहीं हो पाई जितना कि अनुमान लगाया गया था। योजना काल में उपयुक्त निर्यात नीति का न होना, कई वस्तुओं की बढ़ती हुई आन्तरिक मांग, कीमत स्फीति एवं अनुपयुक्त विज्ञापन व्यवस्था, एवं वाणिज्य तकनीकों का न अपनाया जाना तथा कुछ स्थितियों में गलत सरकारी नीतियों का होना भी एक आय के विकास में अवरोध का प्रमुख कारण था।

सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र

1951 के पश्चात् भारत में सार्वजनिक क्षेत्र (सेक्टर) में भारी प्रगति हुई है, जहां स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारत में केवल विभागीय उपक्रम उदाहरणतया रेल, डाक व तार इत्यादि ही मुख्य सार्वजनिक उपक्रम थे परन्तु अब स्थिति में परिवर्तन हुआ है। सेवा उपक्रम बढ़े हैं तथा विनिर्मागी उपक्रमों ने अर्थ व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। 1951 में केवल 29 करोड़ रुपये निवेश के साथ पाँच सार्वजनिक उपक्रम थे, 1976 तक आठ

हजार करोड़ रुपये के अनुमानित निवेश वाले 129 उपक्रम विद्यमान थे। अब सार्वजनिक उपक्रम, प्रगति की उस ऊँचाई को प्राप्त कर सके हैं, जिसकी कल्पना 1966 में की गई थी।

भारत में सार्वजनिक उपक्रमों का तीव्र विकास राष्ट्रीयकरण का परिणाम नहीं है। 1951 के बाद इम्पीरियल बैंक व जीवन बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण किया गया तथा 1969 में बड़े व्यापारिक बैंकों तथा उसके बाद अन्य बीमा कम्पनियों तथा कोयलाखानों आदि का राष्ट्रीयकरण किया गया, पर इसका मुख्य उद्देश्य समाजिक लाभ को बढ़ाना तथा महत्वपूर्ण वित्तीय साधनों को सरकारी नियंत्रण में लाकर उनका उचित प्रकार से प्रयोग करना था। इन सबके बाद भी सरकार द्वारा उत्पादन व सेवा उपक्रमों पर किये गये निवेश का महत्व नहीं घटता था। सार्वजनिक उपक्रमों में प्रथम योजनाकाल में वार्षिक निवेश वृद्धि दर 36 प्रतिशत, द्वितीय योजनाकाल में 233 प्रतिशत तथा तृतीय योजनाकाल में 31 प्रतिशत थी तथा तीन एक वर्षीय योजनाओं में यह 10 प्रतिशत वार्षिक थी।

पहले तीन पंचवर्षीय योजनाओं में सार्वजनिक सेक्टर के उपक्रम भावी औद्योगिक विकास के संदर्भ में अपनी नींव को सुदृढ़ बनाने में लगे रहे। इस समय अर्थ व्यवस्था के सन्तुलित विकास हेतु आधारिक संरचना का विस्तृत विकास हुआ। 1966 के पश्चात् इन उपक्रमों ने विविधता की नीति अपनाई। 1966 के पश्चात् ही सार्वजनिक सेक्टर में महत्वपूर्ण उपभोग की वस्तुओं का जैसे घड़ियाँ, सीमेन्ट, कागज, दवायें, डबलरोटी, दूरदर्शन यंत्र, एवं उनके पुर्ज़े, टेलीफोन, स्कूटर, कृषि आधारित अन्य खाद्य तथा उच्चकोटि के कृषि बीज का उत्पादन आरम्भ हुआ है। समय के साथ बढ़ती आवश्यकताओं को देखकर तथा अपनी कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिए इन उपक्रमों में महत्वपूर्ण संगठनात्मक परिवर्तन हुए हैं। हाल ही में स्थापित "स्टील अथॉरिटी ऑफ इण्डिया" इसका महत्वपूर्ण उदाहरण है।

रोज़गार अवसरों के दृष्टिकोण से भारत में सार्वजनिक उपक्रमों का योगदान अति महत्वपूर्ण है। 1961 में सार्वजनिक सेक्टर निजी सेक्टर से इस मामले में पिछड़ा हुआ था, पर 1975 तक सार्वजनिक सेक्टर निजी सेक्टर की अपेक्षा, दो गुने से अधिक रोज़गार अवसरों का निर्माण कर चुका था। निजी सेक्टर रोजगार वृद्धि में 1966 के बाद सतृप्तता को प्राप्त हो चुका है, वहीं सार्वजनिक सेक्टर में रोजगार वृद्धि तीव्रता से हुई है। इसमें रोजगार के दृष्टिकोण से 1961 तथा 1975 के मध्य खनिज उद्योगों में 4,000 प्रतिशत, व्यापारिक सेवाओं में 330 प्रतिशत, परिवहन तथा संचार सेवाओं में 25प्रतिशत

तथा निर्माण में 24 प्रतिशत वृद्धि हुई । इस प्रकार इनके द्वारा देश में कुशल मज़दूरों, कारीगरों, इंजीनियरों एवं प्रवन्धकों को रोज़गार मिला है। इस प्रकार मानवीय पूंजी के विकास को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला है । सार्वजनिक उपक्रमों की सबसे बड़ी आलोचना इनमें लाभ न होने के कारण हुई है । 1971-72 तक सार्वजनिक उपक्रम निवल हानि की स्थित में थे । इनमें होने वाली हानि इकट्ठी होकर 1974-75 में 245 करोड़ रुपये हो गई । मात्र हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड की एकत्रित निवल हानि 1973-74 तक 235 करोड़ रुपये थी जो इसकी इक्वटी पूंजी का 40 प्रतिशत थी । इन प्रतिष्ठानों में हानि का कारण देश के दुर्लभ साधनों का सरकार द्वारा अकुशल प्रयोग का संकेत थी ।

सार्वजनिक उपक्रमों में महत पूंजीकरण के कारण आरम्भ में पूंजी पर अधिक प्रतिफल प्राप्त नहीं किया जा सका क्योंकि इन उत्पादन इकाइयों को आरम्भ करते तथा अपनी पूर्ण क्षमता पर कार्य करने पर समय लगता है । अधिकतर सार्वजनिक उपक्रमों के उत्पादों के लिए देश में बड़े पैमाने पर तैयार बाजार नहीं है । इनके उत्पादन निजी सेक्टर के उत्पादन से इस मामले में भी भिन्न हैं जहां निजी उद्योगपति आम उपभोग की वस्तुयें बनाता व बेचता है, परन्तु सार्वजनिक उपक्रमों को यह लाभ प्राप्त नहीं हैं ।

जहां निजी प्रतिष्ठान केवल अपने स्वार्थ तथा लाभ को अधिकतम करने की चेष्टा करता है; वहाँ सार्वजनिक प्रतिष्ठान सामाजिक लाभ, तथा सामाजिक हित को अधिकतम करने की चेष्टा करते हैं । आर्थिक सिद्धान्तों के अनुसार निजी लाभ तथा सामाजिक लाभ के निर्धारक प्रांचल अलग-अलग है । इसके अतिरिक्त 1966 तक सरकारी उपक्रमों की नीति केवल लागत पूरी करने की चेष्टा में रही है । वैसे भी इन उपक्रमों की कीमत व उत्पादन नीति मांग व पूर्ति की शक्तियों पर आधारित होने की जगह योजनाओं की प्राथमिकताओं पर आधारित होती हैं । अधिकतर सार्वजनिक प्रतिष्ठानों में तनावपूर्ण बन्धक मजदूर सम्बन्ध उच्च प्रबन्धकों एवं निचले स्तर पर काम करने वालों में सामंजस्य का अभाव, इसलिए जल्दी-जल्दी होने वाली हड़तालों, राजनीतिक प्रभाव, एवं कहीं-कहीं अत्याधिक भर्ती के कारण हानियां, एवं कम लाभ की स्थित रही है । इसके अतिरिक्त प्रतिष्ठानों में नागरीकरण तथा सामाजिक सुरक्षा पर भारी व्यय हुआ है । अकुशल इन्वेट्री स्टाक प्रबन्ध के कारण भी लाभ के दर में कमी हुई है ।

पिछले दस वर्षों में इन उपक्रमों में उत्पादन के सभी महत्वपूर्ण पक्षों में सुधार हुआ है । इसका प्रत्यक्ष परिणाम 1971-72 में निवल हानि की

स्थित से निकलकर उत्तरोत्तर बढ़ते हुए निवल लाभ की स्थित में आ जाना है। लाभ की स्थित में आने का एक और महत्वपूर्ण कारण कुशल इन्वेंट्री प्रबन्ध भी है। 1966 के पश्चात् इन्वेंट्री उत्पाद अनुपात में उत्तरोत्तर सुधार हुआ है। इस वैज्ञानिक एवं कुशल इवेन्ट्री प्रबन्ध में हिन्दुस्तान स्टील कारपोरेशन, फर्टीलाइजर कारपोरेशन, हिन्दुस्तान शिपयार्ड तथा इंण्डियनआयल कारपोरेशन का प्रमुख हाथ है।

इन उपक्रमों में लाभ का एक अन्य कारण 1966 के बाद क्रमशः अधिक व्यवहारिक कीमत नीति है। लाभप्रद कीमत की नीति अपनाने की छूट सरकार द्वारा इनको दे दी गई है। कीमत स्फीत के कारण लाभ कमाने की आकांक्षा तथा आवश्यकता के कारण पिछले कुछ वर्षों में रासायनिक खाद, कोयला, इस्पात, पेट्रोल सीमेन्ट तथा धात्विक पदार्थ आदि की कीमतों में वृद्धि की गई है। इसका मुख्य कारण बाह्य कीमत में वृद्धि हो जाना है।

उपर्युक्त कारणों से इन उपक्रमों को आंतरिक साधनों के सृजन में बहुत सफलता मिली है तथा कुछ प्रमुख उपक्रम अपनी एकत्रित हानि को कम करने में सफल हुए हैं एवं सामूहिक रूप से 1975-76 से सार्वजनिक उपक्रम शुद्ध लाभ की स्थिति में है।

आर्थिक विकास एक प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया में पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से देश को आर्थिक विकास और आर्थिक स्वावलम्न की ओर ले जाना है।

हरित क्रान्ति

आयोजना प्रक्रम के आरम्भ से ही भारतीय कृषि योजना में दो प्रकार की नीतियों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। ये है: (1) कृषि उत्पादन एवं उत्पादिता को बढ़ाने से सम्बन्धित नीतियाँ, तथा (2) कृषि संरचना में परिवर्तन लाने हेतु भूमि सुधारों से सम्बन्धित नीतियाँ। परन्तु काफी समय तक इन दोनों दिशाओं में उत्पादन निराशाजनक रहा। जहां एक ओर बड़े किसानों (एवं उनके सहयोगियों) का राज्यों की राजनीतिक शक्ति संरचना में महत्वपूर्ण हिस्सा होने के कारण भूमि सुधारों के कार्यान्वयन में रुकावटें आई, वहीं दूसरी ओर ग्रामीण क्षेत्रों के पिछड़ेपन, अपर्याप्त सरकारी नीतियों एवं मानसून की अनिश्चितता के कारण कृषि उत्पादन एवं उत्पादिता को बढ़ाने के प्रयत्न असफल रहे।

विशेषज्ञों की इस रिपोर्ट के अनुसार सरकार ने सात विभिन्न राज्यों के सात चुने हुए जिलों में एक गहन विकास कार्यक्रम शुरू किया जिसे 'गहन

क्षेत्र विकास कार्यक्रम' का नाम दिया गया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ज़िलों का चुनाव करते समय निम्न बातों का ध्यान रखा गया था।

1 चुने गये ज़िले में नियमित सिंचाई व्यवस्था होनी चाहिए।

2. इस जिले में बाढ़ की सम्भावनाएं, जल निकास की स्थिति, भूमि संरक्षण की समस्याएं, इत्यादि निम्नतम हों।

3. जहाँ तक सम्भव हो इस जिले में सहकारी संस्थाएं, तथा पंचायतें जैसी विकसित ग्रामीण संस्थाएं हों, तथा

4. इस जिले में कृषि-उत्पादन को न्यूनतम समय में अधिकतम बढ़ाने की सम्भावनाएं हों।

अक्टूबर 1965 में कार्यक्रम का और विस्तार किया गया तथा 325 में से 114 जिलों को गहन विकास के लिए चुना गया और कार्यक्रम का नाम रखा गया 'गहन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम' (अर्थात् इन्टेन्सिव एग्रीकल्चरल एरियाज़ प्रोग्राम' जिसे 'आई० ए० ए० पी० के नाम से जाना जाता है)।

इसी समय के आसपास कुछ देशों में अधिक उत्पादन देने वाली बीज की नई किस्मों का प्रयोग किया गया और उत्पादन में काफी वृद्धि हुई।

शुरू में इस कार्यक्रम के अन्तर्गत 1.89 मिलियन हैक्टर भूमि को शामिल किया गया था। एक वर्ष के भीतर ही भीतर यह निश्चित हो गया कि इन नई किस्मों की उत्पादकता पुरानी किस्मों की अपेक्षा 25 प्रतिशत से 100 प्रतिशत तक अधिक है। खाद्यान्नों के उत्पादन में भी वृद्धि हुई। खाद्यान्नों का उत्पादन जो 1965-66 में 72.35 मिलियन टन एवं 1966-67 में 74 23 मिलियन था, 1967-68 में 95 08 मिलियन टन हो गया यानी एक वर्ष में 28 प्रतिशत की वृद्धि हुई। सरकारी क्षेत्रों में एक खुशी की लहर का दौड़ जाना स्वाभाविक ही था। परन्तु जैसा कि कई अर्थशास्त्रियों ने उस समय कहा, 1965-66 तथा 1966-67 सूखे के वर्ष थे इसलिए 1967-68 में होने वाले उत्पादन की तुलना इन वर्षों के उत्पादन से करना तर्क संगत नहीं है। तुलना अगर करनी है तो 1964-65 के उत्पादन के साथ करनी चाहिए क्योंकि यह एक समान्य वर्ष था। इस वर्ष उत्पादन था 89-00 मिलियन टन जो कि 1967-68 के उत्पादन से मात्र 6.05 मिलियन टन कम था।

गेहूं का उत्पादन जो 1964.65 में 12.99 मिलियन टन था 1967-68 में बढ़कर 16.54 मिलियन टन तथा 1968-69 में 18.64 मिलियन टन हो गया। दो एक वर्ष को छोड़कर गेहूं उत्पादन में सतत वृद्धि होती रही। वस्तुतः जैसा कि तालिका 1, से स्पष्ट है। 1964-65 से 1971-72 के मध्य गेहूं उत्पादन में 115 प्रतिशत की वृद्धि हुई। निस्संदेह इस वृद्धि को क्रांति'

कारी वृद्धि माना जा सकता है। 1964-65 से 1975-76 के बीच धान, ज्वार एवं मक्का का उत्पादन लगभग स्थिर रहा है। बाजरा का उत्पादन किसी वर्ष तो बहुत बढ़ा है परन्तु किसी वर्ष बहुत गिरा है। 1968-69 में उत्पादन जो कि मात्र 3-80 मिलियन टन तथा 1970-71 में बढ़कर 8-03 मिलियन टन हो गया परन्तु अगले ही वर्ष फिर 3.93 मिलियन टन रह गया।

हरित क्रांति की सच्चाई का पता लगाने के लिए जो विधि साधारणतया अपनाई जाती है, उसके अन्तर्गत हाल के वर्षों में खाद्यानों के उत्पादन में वृद्धि की तुलना 1949-50 से 1964-65 के बीच उत्पादन वृद्धि की दर से की जाती है।

यदि वृद्धि की दर पिछली वृद्धि की दर की अपेक्षा काफी अधिक हो तो हम कह सकते हैं कि खाद्यान्नों के क्षेत्र में हरित क्रान्ति हुई है। वधूदास सेन ने अपनी पुस्तक 'द ग्रीन रेवल्यूशन इन इंडिया : ए प्रास्पेक्टिव' में खाद्यान्नों के उत्पादन निर्देशांक एवं उत्पादकता निर्देशांकों को आलेखित किया है।

1949-50 से 1964-65 के बीच उत्पादन वृद्धि की दर 3.05 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी, जो 1967-68 से 1970-71 का समय शामिल करने पर बढ़कर 3.26 प्रतिशत प्रति वर्ष तक पहुंच जाती है। उत्पादकता वृद्धि की दर जो 1949-50 से 1964-65 के बीच 1-63 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी, 1949-50 से 1970-71 के लिये 1.99 हो गई स्पष्टतया यह प्रवृतियाँ किसी प्रकार की क्रान्ति सिद्ध नहीं करती हैं। यदि चतुर्थ योजना के अन्तिम तीन वर्षों (यथा 1971-72, 1972-73 एवं 1973-74) को भी शामिल किया जाय तो 1949-50 से 1973-74 के बीच खाद्यान्नों की उत्पादन वृद्धि की दर मात्र 2 7 प्रतिशत प्रतिवर्ष बैठती है एवं उत्पादकता वृद्धि की दर मात्र 1.3 प्रतिशत प्रतिवर्ष बैठती हैं। स्पष्ट है कि ये दोनों दरें 'एच वाई वी काल' से पहले की दरों (यानी 1949-50 से 1964-65 की समयावधि की दरों) की अपेक्षा कम है। वस्तुत: चतुर्थ योजना के अन्तिम तीन वर्षों में खाद्यान्नों के उत्पादन में कमी होने के कारण प्रति व्यक्ति निवल उपलब्धि में भी कमी हुई। इस कमी के लिए उत्तरदायी कारणों में कुछ महत्वपूर्ण कारण निम्नलिखित थे, कुछ क्षेत्रों में अनिश्चित एवं आवश्यकता से कम वर्षा तथा सिंचाई की अपर्याप्त सुविधाएं, कुछ प्रमुख गेहूं उत्पादक राज्यों में नई किस्मों की किट्ट (रस्ट) से बचने की अस्मर्थता, विभिन्न मौसमी अवस्थाओं के अनुरूप धान की अधिक उत्पादन की किस्मों का न होना तथा कुछ क्षेत्रों में बाढ़ एवं सूखे के कारण फसलों को होने वाली हानि। चतुर्थ योजना के अन्तिम वर्षों में उर्वरकों की कीमतों में अभूतपूर्व बृद्धि होने के कारण तथा विद्युत-शक्ति की उपयुक्त

तालिका I

खाद्यान्नों का उत्पादन

	1960-61	1964-65	1967-68	1968-69	1969-70	1970-71	1971-72	1972-73	1973-74	1974-75
धान	34-60	39-03	37-61	39-76	40-43	42-23	43-07	39-25	44-05	40-25
गेहूं	11-00	12-99	16-54	98-65	20-09	28-83	26-41	24-73	21-78	24-24
ज्वार	9-90	9-75	10-05	9-80	9-72	8-10	7-72	6-97	9-10	10-22
बाजरा	3-29	4-45	5-18	3-80	5-33	8-03	5-32	3-93	7-52	3-23
मक्का	4-12	4,66	6-27	5-70	5-67	7-49	5-10	6-39	5-80	5-72
अन्य	19-42	18-12	19-40	16-30	18-26	18-74	17-55	15-76	16-41	17-37
कुल	82-33	89-00	95-05	94-01	99-50	108-42	105-17	97-03	104-66	101-06

स्त्रोत : आर्थिक सर्वे (भारत सरकार) 1975-76

नोट : चूंकि एच वाई वी० पी० (हाई यील्डिग वैराइटी प्रोग्राम) के अन्तर्गत केवल पाँच फसलों धान, गेहूं, ज्वार; बाजरा एवं मक्का को शामिल किया गया था, इसलिए मात्र इनके आंकड़े अलग तौर पर दिये गए हैं,

मात्रा में उपलब्धि न होने के कारण अधिक उत्पादन के सम्भावित क्षेत्रों में भी उपलब्धि आशाओं से काफ़ी कम रही। ज्वार की स्थिति में अन्य कारणों के अतिरिक्त, योजना के अन्तिम वर्षों में कुल कृषित भूमि कम हो गई।

कुल खाद्यान्नों में धान का भार 52.7 प्रतिशत था जबकि कुल कृषि उत्पादन में 34.8 प्रतिशत था। इस प्रकार धान सबसे अधिक महत्वपूर्ण फसल है परन्तु इस फसल में कोई विशेष प्रगति दिखाई नहीं देती। वस्तुत: जैसा कि तालिका 2 से स्पष्ट है कि धान के उत्पादन की वृद्धि दर जो 1949-50 से 1964-65 के बीच (अर्थात एच वाई वी पी के पूर्व) 3.47 थी, 1967-68 से 1970-71 तक के समय को शामिल करने पर 3.26 प्रति वर्ष रह गई। उत्पादकता वृद्धि की दर भी 2.2 प्रतिशत घटकर 1.94 रह गई। ज्वार की स्थिति भी इसी प्रकार की थी। तालिका II में कुछ चुने हुए खाद्यान्नों के उत्पादन एवं उत्पादकों में वृद्धि दरें :

तालिका II

	समय	उत्पादन	उत्पादकता
सभी खाद्यान्न	1949-50 से 1964-65	3.05	1.63
	1949-50 से 1970-71	3.26	1.99
धान	1949-50 से 1963-65	3.47	2.12
	1949-50 से 1970-71	3.26	1.94
ज्वार	1949-50 से 1964-65	2.50	1.49
	1949-50 से 1970-71	1.94	1.18
बाजरा	1949-50 से 1964-65	2.35	1.23
	1949-50 से 1970-71	3.35	2.23
मक्का	1949-50 से 1964-65	3.85	1.17
	1949-50 से 1970 71	4.54	1.31
गेहूं	1949-50 से 1964-65	3.99	1.27
	1949-50 से 1970-71	5.87	2.80
दालें	1949-50 से 1964-65	1.64	0.24
	1949-50 से 1970-71	0.95	0;04

अन्य तीन फ़सलों : गेहूं, बाजरा तथा मक्का की स्थिति में प्रगति हुई है। परन्तु यदि हम तालिका एक पर भी ध्यान दें तथा 1970-71 के बाद के वर्षों को शामिल करें तो हमें विश्वास हो जायेगा कि 1970-71 के बाद

बाजरा का निष्पादन अनिश्चित व अनियमित सा रहा है, जबकि मक्का के उत्पादन में कमी आती गई है। केवल गेहूं का निष्पादन बढ़िया माना जा सकता है क्योंकि वृद्धि लगभग सतत रही और प्रगति प्रभावशाली। इसी सन्दर्भ में सम्भवत: यह बात भी आवश्यक होगी, कि कुल खाद्यान्नों में गेहूं का हिस्सा जो 1964 में 12 प्रतिशत था, 1969 में 20 प्रतिशत तथा 1972 में 25 प्रतिशत हो गया। इस कारण धान का हिस्सा जो 1964 में 46 प्रतिशत था 1969 में 43 प्रतिशत तथा 1972 में 41 प्रतिशत रह गया तथा अन्य खाद्यान्नों का 42 प्रतिशत से घटकर 37 प्रतिशत और फिर 34 प्रतिशत रह गया। इस प्रकार गेहूं ही हरित क्रान्ति का आधार स्तम्भ है, और जैसा कि प्रो० वुल्फमैडिजिनिस्की का कहना है, "यह काफी सशक्त आधार स्तम्भ है"। मैडिजिनिस्की के अनुसार पंजाब, हरियाना, और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कई जिलों में गेहूं उत्पादकता दोगुनी हो गई है। 1972-73 के प्रतिकूल वर्ष में भी कुल गेहूं उत्पादन 26 मिलियन टन अथवा 28 मिलियन टन था जो नई उत्पादन प्रविधि तथा तथा नई कृषि युक्ति अपनाने के समय केवल 12 मिलियन टन था। महत्वपूर्ण बात यह है कि इस वृद्धि का कारण बढ़ती हुई उत्पादकता थी। 1964-65 जो कि एच वाई वी पी के प्रारम्भ होने से पहले अधिकतम उत्पादन से 1970-71 के बीच गेहूं उत्पादन में वृद्धि 14 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही जो अभूतपूर्व प्रगति है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इसी समय में प्रति एकड़ उत्पादकता भी 7·5 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़ती रही।

प्रो० काहलान के अनुसार इन मात्रात्मक उपलब्धियों के साथ ही साथ इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि कृषि के दृष्टिकोण में कम से कम दो ऐसे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं जो पहले नहीं थे : 1. कृषि को अब मात्र जीवन का निर्वाह न मानकर व्यवसायिक गतिविधि की प्रतिष्ठा दी गई है, तथा 2. भारतीय कृषक अब लाभ कमाने के लिए नई तकनीकों को स्वीकार करने को तत्पर है। उनके अनुसार ये दोनों बातें अपने आप में क्रान्तिकारी परिवर्तनों की सूचक हैं।

इस संक्षिप्त समीक्षा से यह निष्कर्ष निकलता है कि नई कृषि युक्ति की कम से कम दो महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं, 1, इसके कारण गेहूं उत्पादन एवं उत्पादकता में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है तथा 2, जहां कहीं इसे लागू किया गया है इसने कृषकों के दृष्टिकोण में क्रांतिकारी परिवर्तन किए हैं। इन दो कारकों : एक मात्रात्मक तथा दूसरा गुणात्मक—के कारण (एच०वाई० वी०पी० क्षेत्रों में) ग्रामीण जीवन में एक प्रकार की गतिशीलता आ गई है।

परन्तु इस तथ्य को भी नहीं भूलना चाहिये कि इन दो कारकों के कारण ही ग्रामीण क्षेत्रों में असन्तुलन पैदा हो गया है जिससे समाजिक तनाव बढ़ने की आशंका है। कुछ विशेषज्ञों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि एच० वाई० वी० पी० के कारण क्षेत्रीय असमानताओं में वृद्धि नहीं हुई है परन्तु जैसा कि प्रो० एन० कृष्णाजी का कहना है, "हमारे निष्कर्ष इस बात पर निर्भर करेंगे कि हम क्षेत्र की क्या परिभाषा अपनाते हैं? यदि राज्यों को ही क्षेत्र मान लिया जाय तो असमानताएँ बढ़ाने में नई तकनीकी प्राविधियों का योगदान छिप जायेगा क्योंकि राज्यों के कुछ चुने हुए क्षेत्रों में ही नई तकनीकों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। सारे राज्य के आंकड़े स्पष्टतया इस प्रभाव को प्रकट नहीं होने देंगे। केवल दो राज्य पंजाब एवं हरियाणा ही ऐसे राज्य हैं जहाँ खतरा नहीं है क्योंकि इन दोनों राज्यों में ही नई तकनीकों को बहुत बड़े इलाके में अपनाया गया तथा उन्नत किस्मों के बीजों का अधिक प्रयोग किया गया है। तालिका 3 में विभिन्न राज्यों में कृषि उत्पादन की संमृद्धि दरें 1962-65 से 1973-74 की समयावधि के लिए दी गई हैं। जैसा कि इस तालिका से स्पष्ट है, पंजाब तथा हरियाणा में समृद्धि दरें अधिकतम हैं। उत्तर-प्रदेश में संवृद्धि दर मात्र 3.28 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी हालाँकि पश्चिमी उत्तर प्रदेश कृषि क्रान्ति का महत्वपूर्ण आसन माना जाता है। इसका कारण यह है कि पूर्वी उत्तर-प्रदेश एवं मध्य उत्तर प्रदेश में लगातार गतिहीनता की स्थिति बनी रही है। जिससे सारे राज्य की संवृद्धि दर कम हो गई है।

भूमिहीन श्रमिकों की दशा पर विचार प्रस्तुत करते हुए फ्रैंकल ने पाया कि दो ज़िलों लुधियाना एवं पश्चिमी गोदावरी में हरित क्रन्ति के कारण भूमिहीन श्रमिकों की दशा में सुधार हुआ है जबकि बाकी के तीन ज़िलों में सुधार नहीं हुआ है तथा कहीं-कहीं तो उसकी स्थिति पहले से अधिक खराब हो गई है।

एक महत्वपूर्ण अध्ययन ग्रीन रैवल्यूशन ऐन्ड एग्रीकल्चरल लेबरर्स में वर्द्धन इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि हरित क्रान्ति से कृषि श्रमिकों की दशा में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ है। 'एग्रीकल्चरल वेजेज इन इन्डिया' से प्राप्त आंकड़ों का अध्ययन करने के पश्चात वर्द्धन इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि पंजाब और हरियाणा में औसत वास्तविक वेतन में थोड़ी सी गिरावट आई है।

हरित क्रान्ति से काफी लाभ उठाने के बाद पश्चिमी उत्तर प्रदेश में

तालिका 3

राज्यों में कृषि उत्पादन की वृद्धि दरें (1962-65 से 1973-74)

राज्य	प्रतिशत प्रति वर्ष संवृद्धि दर
1. पंजाब	8.35
2. हरियाणा	6.66
3. केरल	4.94
4. त्रिपुरा	4.34
5. राजस्थान	3.80
6. मणिपुर	3.73
7. हिमांचल प्रदेश	3.68
8. उत्तर प्रदेश	3.28
9. पश्चिम बंगाल	3.14
10. तमिलनाडु	3.12
11. असम	2.66
12. कर्नाटक	1.88
13. गुजरात	1.75
14. बिहार	1.67
15. मध्य प्रदेश	1.29
16. आंध्र प्रदेश	1.19
17. जम्मू व कश्मीर	1.69
18. उड़ीसा	0.10
19. नागालैंड	2.33
20. महाराष्ट्र	2.44

औसत वास्तविक वेतन दर लगभग स्थिर रही है। तीन वर्षों 1956-57, 1964-65 तथा 1970-71 के एन० एस० एस० के आंकड़ों के आधार पर दीपक लाल ने वर्द्धन के निष्कर्ष को चुनौती दी है। उनके अनुसार दो एक राज्यों

को छोड़कर बाकी सभी राज्यों में 1956-57 से 1970-71 के बीच कृषि श्रमिकों की वेतन दर में वृद्धि हुई है। उत्तर प्रदेश में स्थिति सबसे उत्साह-जनक लगती है जहां वास्तविक वेतन दर निर्देशांक जो 1956-57, में 100 था 1964-65 में 110 तथा 1970-71 में 175 हो गया। रोहिणी नय्यर के अनुसार दीपक लाल के अध्ययन में महत्वपूर्ण त्रुटि यह है कि उन्होंने एन० एस० एस० आंकड़ों का प्रयोग किया है जो केवल तीन वर्षों 1956-57,1964-65 तथा 1970-71 के लिए उपलब्ध हैं इस प्रकार बीच के वर्ष बिल्कुल छूट जाते हैं। मात्र तीन वर्षो के अध्ययन से कोई ठोस निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते हैं।

इस सभी तथ्यों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हरित क्रान्ति ने अंतंक्षेत्रीय विषमतायें (अर्थात उन क्षेत्रों के बीच विषमताएं जिन्होंने तकनीकों को अपनाया और जिन्होंने नहीं अपनाया) बढ़ाने में सहायता प्रदान की है। एक तरह यह स्वाभाविक ही था क्योंकि जैसा कि कहा गया है कि कृषि युक्ति का झुकाव बड़े किसानों की ओर था। प्रो० हनुमंत राव के अनुसार नई तकनीकों का विकास उन देशों में किया गया था जहां उर्वरकों की कीमतें गिर रहीं थी, पूंजी पर्याप्त थी, श्रमिकों की कमी थी तथा पारिश्रमिक की मात्रा बढ़ रही थी। इस प्रकार की प्रवधि को हमारे जैसे देश में अरोपित करने से जो परिणाम दृष्टिगोचर हुये हैं (या होंगे) उनका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। आर्थर गेस्ट केल ने एक महत्वपूर्ण व्याख्यान में विकास शील देशों को एक ऐसी कृषि युक्ति पर आश्रित होने के खतरों के प्रति साव-धान किया था जो केवल उत्पादन को बढ़ाने पर ध्यान देती है तथा इस उद्देश्य के लिए बड़े किसानों को प्रोत्साहित करती है और बाकी लोगों को मात्र यह आश्वासन देती है कि दीर्घकाल में विकास के लाभ सभी में वितरित कर दिये जायेंगे। निस्संदेह यह नीति काफी आकर्षक प्रतीत होती है क्योंकि इसके अन्तर्गत वितरण की समस्याओं को नज़रअंदाज किया जा सकता है। यह सभी जानते हैं कि वितरण की समस्या बड़ी विकट होती है इसलिए ऐसी कोई भी नीति जो इससे ध्यान हटा सके, आकर्षक लगेगी। परन्तु समस्याओं की उपेक्षा से उनका समाधान नहीं हो जाता। अब चूंकि ऐसा लगता है कि नई कृषि युक्ति हमारी योजनाओं का अभिन्न हिस्सा बन चुकी है, इसलिए यह आवश्यक है कि इस प्रकार के कार्यक्रम शुरू किए जाएं जिनसे आय एवं लाभ के वितरण-पक्ष पर ध्यान दिया जा सके। उदाहरणतया यह आवश्यक है कि (1) ऐसी उन्नत किस्मों का पता लगाया जाए जिससे एक वर्ष में कई फसलें उगाई जा सकें, इस प्रकार रोजगार की सुविधा का काफी विस्तार होगा (2) ऐसी 'संस्थात्मक मशीनरी' तैयार की जाए जो छोटे किसानों, सीमान्त

किसानों तथा भूमिहीन श्रमिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके, तथा (3) जितनी जल्दी हो सके अधिक से अधिक क्षेत्र में सिंचाई की सुविधाएं पहुंचाई जायें। अभी कुल कृषित भूमि के मात्र 20 प्रतिशत को सिंचाई की सुविधायें उपलब्ध है। ऐसा अनुमान लगाया जा सकता हैं कि सिंचित क्षेत्र में कम लागत पर ही 150 प्रतिशत की वृद्धि की जा सकती है। यदि यह संभव हो सके तो जहां एक ओर कृषि उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हो सकेगी वहीं दूसरी ओर गांवों की निर्धन जनता को प्रगति से अधिक लाभ पहुंच सकेगा।

आर्थिक सोपान

1. Economic Times : Jan. 26, 1981. May 12, 1981.
2. Dhar, P. N. & Lydall H. F. : The Role of Enterprises in Indian Economic Development, 1977.
3. Annual Report : Government of India, 1980-81.
4. Financial Express : January 17, 1981.
5. Myrdal, Gunnar : Economic Theory and Under-Developed Regions, 1970.
6. Economic Survey : 1980-81.
7. Five Year Plans : Government of India Publication.
8. Shanois, Y : Economy in The Third World, 1983.
9. United News of India : India Today, New Delhi, 1970.

●

एशियाई तिथि पत्र : भारत

1899–1900 : लार्ड कर्ज़न का भारत आगमन।
दुर्भिक्ष (अकाल) आयोग।

1904 : तिब्बत में ब्रिटिश अभियान।
विश्वविद्यालय अधिनियम।
सहकारिता अधिनियम।

1905 : बंगाल का विभाजन।
लार्ड मिन्टो का महाराज्यपाल नियुक्त होना।
मार्ले का भारत सचिव नियुक्त होना।
लन्दन में श्याम जी कृष्ण वर्मा का क्रान्ति कार्य आरम्भ : इण्डिया हाऊस की स्थापना
सोसायोलिजिस्ट पत्रिका का प्रकाशन।

1906 : मुस्लिम लीग की स्थापना।
कांग्रेस द्वारा स्वराज्य घोषणा।

1907 : सूरत अधिवेशन में कांग्रेस में मतभेद।
क्रान्तिकारी गतिविधियों में वृद्धि।

1908 : समाचार पत्रकारिता अधिनियम।
कैनेडा (वॉनकूवर) में क्रान्तिकारी पत्रिका 'फ्री हिन्दुस्तान' का प्रकाशन।

1909 : मार्ले-मिन्टो सुधार।
महाराज्यपाल परिषद में एस०पी० सिन्हा की नियुक्ति।

1910 : लार्ड क्रयू का भारत सचिव नियुक्त होना।
शीराज़ (ईरान) से क्रान्तिकारी पत्रिका 'हयात' का प्रकाशन।

1911 : देहली दरबार।
बंगाल विभाजन में परिवर्तन।

भारतीय जनगणना ।

1912 : दिल्ली को साम्राज्यीय राजधानी बनाना ।
ब्रिटिश भारत सरकार का शिक्षा प्रस्ताव ।

1913 : सेनफ्रान्सिस्को से गदर पत्रिका का प्रकाशन ।

1914 : प्रथम विश्व युद्ध का आरम्भ ।
कोमागाटा मारू घटना ।

1915 : भारत सुरक्षा अधिनियम ।
जर्मनी में भारतीय क्रान्तिकारी संगठन ।

1916 : सैडला आयोग ।
लखनऊ समझौता ।
होय सेल लीग की स्थापना ।
पूना में स्त्रियों के लिए विश्वविद्यालय की स्थापना ।

1917 : मान्टेग्यू का भारत आगमन ।
अमरीका में इण्डियन होम रूल की स्थापना ।

1918 : भारतीय राष्ट्रीय उदारवादी संघ की स्थापना ।
अमरीका में 'यंग इण्डिया' पत्रिका का प्रकाशन ।
औद्योगिक आयोग का प्रतिवेदन ।

1919 : मान्टेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधार व 1919 का भारत सरकार अधिनियम ।
पंजाब उपद्रव ।
राजकीय घोषणा ।
जलियाँवाला काण्ड ।

1920 : ख़िलाफत आन्दोलन ।
असहयोग आन्दोलन ।
महात्मा गांधी का अमृतसर कांग्रेस में उदय ।
लार्ड सिन्हा का बिहार और उड़ीसा का राज्यपाल नियुक्त होना ।

1921 : चैम्बर ऑफ प्रिन्सेज ।
भारत में प्रिस ऑफ वेल्स का आगमन ।
भारतीय जनगणना ।

1922 : मान्टेग्यू का न्यायपत्र ।

1923 : भारतीय परिषदों में स्वराज्य पार्टी के सदस्यों का निर्वाचन ।

सेना के भारतीयकरण का प्रश्न।

1924 : लखनऊ में क्रान्तिकारी सम्मेलन।
'हिन्दुस्तान रिपब्लिक एसोसियेयन' की स्थापना।

1925 : दलित वर्ग संस्था।
काकोरी षडयन्त्र।
सुधार-जाँच समिति का प्रतिवेदन।
देशबन्धु चितरंजन दास का निधन।
अन्तंविश्वविद्यालय बोर्ड की स्थापना।

1926 : स्कीन समिति का प्रतिवेदन।
निज़ाम को लार्ड रीडिंग का पत्र।
राजकीय कृषि आयोग की स्थापना।
फैक्टरी अधिनियम।

1927 : भारतीय जलसेना अधिनियम।
साइमन आयोग की नियुक्त।
केप-टाउन समझौता।

1928 : अफगानिस्तान के शासक अमानुल्ला का अपदस्थ होना।
सर्वदल सम्मेलन।
नेहरू प्रतिवेदन।
राजकीय कृषि आयोग रिपोर्ट।
नादिर शाह का अफगानिस्तान का शासक होना।

1929 : लार्ड इरविन की 31 अक्टूबर की घोषणा।
विधान सभा में भगतसिंह एवं बटुकेश्वर दत्त द्वारा बम विस्फोट।
श्रमिक संघ मतभेद।
राजकीय कृषि शोध कार्य परिषद की स्थापना।
लाहौर कांग्रेस।
लाहौर षडयन्त्र, अनशन द्वारा जतिन दास का देहान्त।
भारतीय श्रम पर राजकीय आयोग की स्थापना।

1930 : सविनय अवज्ञा आन्दोलन।
बर्मा में विद्रोह।
चिट्टागाँग शस्त्रागार पर धावा।
प्रथम गोलमेज़ सम्मेलन।

1931 : गाँधी इरविन समझौता ।
भारतीय जनगणना ।
द्वितीय गोलमेज़ सम्मेलन ।
चन्द्रशेखर आज़ाद की मुठभेड़ में मृत्यु ।
राजकीय श्रम आयोग प्रतिवेदन का प्रकाशन।

1932 : तृतीय गोलमेज सम्मेलन ।
कांग्रेस का दमन ।
साम्प्रदायिकता अविनिर्णय ।
पूना समझौता :
देहरादून में सैनिक अकादमी की स्थापना ।

1933 : श्वेतपत्र का प्रकाशन ।

1934 : सविनय अवज्ञा आन्दोलन की समाप्ति ।
1934 का भारतीय फैक्टरी अधिनियम ।
विहार का भूकम्प ।

1935 : 1935 का भारत सरकार अधिनियम ।

6 अगस्त : लिनलिथगो भारत के महाराज्यपाल घोषित किये गये ।

5 सितम्बर : नेहरू कारागार से मुक्त हुए तत्पश्चात् पत्नी के पास यूरोप गये ।

17-18 अक्टूबर : कांग्रेस समिति की मद्रास बैठक में किसी पद के स्वीकृति हेतु कोई निर्णय न लिये जाने की घोषणा व सहमति प्रकट की गई ।

1936

21 जनवरी : सम्राट जार्ज पंचम का देहावसान ।

16 फरवरी : आगाँ खाँ की अध्यक्षता में नई दिल्ली में अखिल भारतीय मुस्लिम सम्मेलन की बैठक हुई जिसमें मुस्लिम लीग के समामेलन का निर्णय प्रान्तीय निर्वाचन सदस्यों पर छोड़ दिया गया ।

12 मार्च : नेहरू की भारत वापसी ।

21-24 मार्च : दिल्ली में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक ।

1 अप्रैल : नव सिन्ध प्रदेश उद्घाटन ।

6 अप्रैल : नये प्रदेश उड़ीसा का उद्घाटन ।

6-7 अप्रैल : कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की इलाहाबाद में बैठक ।

9-15 अप्रैल : अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की लखनऊ बैठक, नेहरू

		अध्यक्ष निर्वाचित हुए। नये कार्यकारिणी सदस्यों का चयन।
11-12 अप्रैल	:	अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का 24वाँ अधिवेशन बम्बई में हुआ जिसमें नये अधिनियम के संघीय स्वरूप का विरोध किया गया। जिन्नाह अध्यक्ष बनाये गये।
12-14 अप्रैल	:	लखनऊ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 49वीं सत्र ने नव संविधान को अस्वीकार कर संविधान सभा की मांग को प्रेषित किया। परन्तु प्रादेशिक विधान सभाओं के चुनावों में सम्मिलित होने की घोषणा की गई। व्यापक जनसम्पर्क हेतु एक कमेटी का चयन किया गया।
18 अप्रैल	:	मारक्यूस लिनलिथगो को महाराज्यपाल पद पर नियुक्त किया गया।
27-29 अप्रैल	:	वर्धा में नयी कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक, चुनावों के आयोजन हेतु संसदीय कमेटी का निर्माण।
28 मई	:	नेहरू की दिल्ली और पंजाब यात्रा।
11 जून	:	लाहौर से मुस्लिम लीग का चुनाव घोषणापत्र जारी किया गया।
12 जून	:	मुस्लिम लीग ने घोषणा की कि भारत में अपने सम्पूर्ण 'होम रूल' की प्राप्ति हेतु नये संविधान का प्रयोग करेंगे।
29 जून	:	वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक।
1-2 जुलाई	:	वर्धा में कांग्रेस संसदीय दल की बैठक।
9 जुलाई	:	फज़ले हुसैन का निधन।
13 जुलाई	:	बंगाल संयुक्त मुस्लिम पार्टी की कार्यकारी समिति ने जिन्नाह को चुनाव सम्बन्ध में निमंत्रित किया।
18-26 जुलाई	:	नेहरू का सिन्ध भ्रमण।
27 जुलाई	:	नेहरू की पंजाब यात्रा।
5 अगस्त	:	जिन्नाह द्वारा उत्तर प्रदेश और बंगाल में सभा संबोधन।
18-23 अगस्त	:	बम्बई में कांग्रेस ससंदीय दल, कार्यकारी समिति तथा अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक, चुनाव घोषणा पत्र का स्वीकृत किया जाना।
19 सितम्बर	:	शिमला में मुस्लिम लीग की केन्द्रीय समिति की बैठक, जिन्नाह ने घोषणा की कि संयुक्त प्रान्त मद्रास, बम्बई और असम में सशक्त प्रांतीय समितियों का गठन किया

जाये पंजाब की दशा असंतोषजनक, सीमान्त, सिन्ध, बिहार और उड़ीसा में कोई उन्नति नहीं ।

3 अक्टूबर : बिहार संयुक्त मुस्लिम सम्मेलन का प्रथम सम्मेलन पटना में हुआ ।

24 अक्टूबर : केन्द्रीय प्रान्त के मुस्लिम सम्मेलन ने प्रान्त में मुस्लिम लीग की प्रान्तीय संसदीय बोर्ड के गठन पर विचार किया ।

24-25 अक्टूबर : केन्द्रीय प्रान्त मुस्लिम राजनीतिक कान्फ्रेंन्स की नागपुर बैठक ने मुसलमानों को मुस्लिम लीग तथा जिन्नाह के नेतृत्व में एकताबद्ध होने का आह्वान किया । लीग की प्रान्तीय शाखा का निर्माण किया गया ।

30-31 अक्टूबर : बम्बई में भारतीय नरेशों तथा उनके मन्त्रियों के एक संयुक्त सम्मेलन में संघीय प्रश्न पर विचार । अधिनियम की धाराओं की जांच हेतु एक कमेटी का गठन ।

2 नवम्बर : बंगाल में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के नेता फज़लुल हक को मुस्लिम लीग की केन्द्रीय संसदीय समिति की सदस्यता से निष्कासित किया गया ।

9-11 दिसम्बर : बम्बई में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक : नेहरू पुनः कांग्रेस के अध्यक्ष मनोनीत हुये । कार्यकारिणी ने एक प्रस्ताव पास कर नये सविधान को अस्वीकृत किया ।

23-26 दिसम्बर : कांग्रेस कार्यकारिणी समिति, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी तथा कांग्रेस की फैजपुर में बैठक ।

27-28 दिसम्बर: फैजपुर में कांग्रेस की 50वीं बैठक में अधिनियम की अस्वीकारिता को दृढ़ता पूर्ण दोहराया गया, परन्तु प्रांतीय विधान सभाओं के चुनावों में भाग लेने का निर्णय लिया गया ।

दिसम्बर : चुनाव प्रचार पूर्ण जोर से होने लगा ।

1937 जनवरी से फरवरी : प्रान्तीय विधान सभाओं (मतदाता संख्या 37,000,000) के लिये चुनाव सम्पन्न ।

2 जनवरी : महाराज्यपाल के प्रतिनिधि ने अनेक भारतीय नरेशों के साथ कलकत्ता में उनके 'भारतीय राज्य संघ' में विलीनीकरण के प्रश्न पर विचार विमर्श किया ।

3 जनवरी : जिन्नाह का कलकत्ता भाषण : कांग्रेस को मुसलमानों के कार्यों में हस्तक्षेप न करने की चेतावनी। बंगाल में मुस्लिम लीग उम्मीदवारों के पक्ष में उनका भ्रमण।

17 जनवरी : बंगाल प्रान्तीय विधान सभा हेतु कलकत्ता में मतदान प्रारम्भ।

18 जनवरी : बंगाल विधान सभा की आम सीटों हेतु कलकत्ता में मतदान।

21 जनवरी : पंजाब में चुनाव, संघर्षमय घटनाओं का समावेश।

25 जनवरी : भारतीय नरेशों की संवैधानिक बैठक दिल्ली में हुयी जिसमें अखिल भारतीय राज्य संघ के विषय पर विचार हुआ।

27 जनवरी : बंगाल कार्यकारी सीमांत के सदस्य ख्वाजा सर नाज़िमुद्दीन को प्रजापार्टी के नेता फ़ज़लुल हक ने पराजित किया।

3 फरवरी : मुंशीगंज में फ़ज़लुल हक द्वारा अपनी पार्टी के नीति स्वरूप की व्याख्या।

15 फरवरी : प्रजा पार्टी की कार्यकारिणी सभा द्वारा अपने और मुस्लिम लीग के नेताओं के मध्य नये संविधान के कार्यक्रम पर हुये समझौते का अनुमोदन।

17 फरवरी : सर सिकन्दर ह्यात खाँ को पंजाब में मंत्री मण्डल गठन करने हेतु आमंत्रित किया गया।

भारतीय नरेश सभा की संवैधानिक कमेटी ने अपनी प्रथम संस्तुति प्रस्तुत की।

24-25 फरवरी : भारतीय नरेश सभा की 14 वीं बैठक दिल्ली में हुई।

27 फरवरी : वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक।

1 मार्च : 'कांग्रेस ने विधान सभाओं में प्रवेश असहयोग हेतु किया है......अधिनियम के विरुद्ध संघर्ष हेतु कांग्रेस का उद्देश्य पूर्ण स्वतन्त्रता है......कांग्रेस का तत्कालिक कार्य विधान सभाओं में नये संविधान हेतु संघर्ष है.........''

6 मार्च : बंगाल में मंत्रीमण्डल गठन हेतु फजलुल हक़ सहमत हुये।

16 मार्च : कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने राजकीय सरकारों में शर्त बन्द कार्य करने हेतु प्रस्ताव पारित किया।

18 मार्च : अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की दिल्ली बैठक में प्रान्तों में सशर्त पद ग्रहण करने हेतु अधिकार देने का प्रस्ताव

पारित हुआ ।

1 अप्रैल : प्रान्तीय उत्तरदायी सरकार का गठन कार्यन्वित हुआ ।

8 अप्रल : हाउस ऑफ लार्ड्स में ज़ेटलैन्ड और हाउस ऑफ़ कामन्स में आर०ए०बटलर द्वारा राजनैतिक गतिरोध के प्रति तत्र-महान की नीति का स्पष्टीकरण ।

10 अप्रैल : लार्ड ज़ीटलैंड के प्रतिउत्तर में गांधी ने एक प्रस्ताव जारी किया ।

19 अप्रैल : जिन्नाह ने कांग्रेस द्वारा मुसलमानों को विभाजित करने की नीति की आलोचना की ।

22 अप्रैल : नेहरू द्वारा मुसलमानों से व्यापक जन सम्पर्क कार्यक्रम की घोषणा ।

26 अप्रैल : आर०ए० बटलर द्वारा राजनैतिक गतिरोध पर वक्तव्य ।

26 अप्रैल : नेहरू और जिन्नाह द्वारा कांग्रेस के मुसलमान समर्थन प्राप्त करने के प्रयास पर विरोधाभासी वक्तव्य ।

28 अप्रैल : कांग्रेस कार्यकारिणी समिति द्वारा राजनैतिक गतिरोध पर वक्तव्य ।

मई : नेहरू द्वारा बर्मा और मलय यात्रा ।

मई : स्टेन्ले बाल्डविन के स्थान पर नैविल चैम्बरलेन प्रधानमन्त्री बने । ज़ेटलैंड भारत सचिव पद पर बने रहे ।

8 मई : संवैधानिक कठिन स्थिति पर लार्ड जेटलैन्ड का वक्तव्य ।

21 जून : महाराज्यपाल लार्ड लिनलिथगो द्वारा राज्यपालों के विशेष अधिकारों पर संवैधानिक व्याख्या सम्बन्धी वक्तव्य।

5-8 जुलाई : वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक में सत्ता स्वीकृत हेतु निर्णय ।

जुलाई : बिहार सयुक्त प्रान्त,उड़ीसा, बम्बई तथा मद्रास में कांग्रेस द्वारा राज्य सरकार निर्माण ।

25 जुलाई : जिन्नाह द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता वक्तव्य जारी । मुसलमानों को आगामी संघर्ष हेतु एकबद्ध होने का अह्वाहन

14-17 अगस्त : कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की (वर्धा) में बैठक और कांग्रेसी मन्त्रियों द्वारा सामान्य नीति पालन के प्रश्न पर विचार विमर्श ।

15-18 अक्टूबर : लखनऊ में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की 25वीं बैठक। बंगाल और पंजाब के प्रधानमन्त्रियों द्वारा मुस्लिम

लीग में प्रवेश। संघीय तन्त्र को अपनाने के विरुद्ध प्रस्ताव पारित। लीग ने मुस्लिम जन समर्थन जीतने हेतु व्यापक सामाजिक, आर्थिक, एवं शैक्षिक कार्यक्रमों को अपनाने का निर्णय लिया।

22-23 अक्टूबर : वर्धा शैक्षिक सम्मेलन।

29-31 अक्टूबर : अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक कलकत्ता में।

22 नवम्बर : कांग्रेस सदस्यता 3,134,249।

27-28 दिसम्बर : जिन्नाह की अध्यक्षता में, कलकत्ता में, अखिल भारतीय मुस्लिम छात्र संघ की बैठक।

1938

1 जनवरी : भारतीय-राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघ की कलकत्ता बैठक में नए संविधान की संघीय योजना की स्वीकृति हेतु प्रस्ताव पारित।

1 जनवरी : हिन्दू महासभा के समावेशित सम्मेलन में सरकार से संघात्मक रूप को त्वरित करने का निवेदन किया गया।

2-4 जनवरी : बम्बई में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक।

5 जनवरी : जिन्नाह द्वारा इलाहाबाद भाषण में अल्पसंख्यक समस्या के समाधान हेतु अनुरोध किया गया।

18 जनवरी : सुभाष चन्द्र बोस कांग्रेस अध्यक्ष निर्वाचित।

3 फरवरी : वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक। सात कांग्रेस शासित प्रदेशों के प्रधानमन्त्रियों को बैठक में आमन्त्रण। आचार्य राजगोपालाचारी मद्रास प्रान्त से और मध्य प्रान्त से एन० बी० खरे ने भाग लिया।

4 फरवरी : कांग्रेस कार्यसमिति के संघीय प्रारूप के विरोध पुन: वक्तव्य।

5 फरवरी : गांधी-नेहरू ने जिन्नाह को लीग की स्पष्ट मांगों के समाधान हेतु लिखा।

6 फरवरी : कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने भारतीय राज्यों में अपनी संघटनात्मक इकाईयां न बनाने का निर्णय लिया।

15 फरवरी : राजनैतिक बन्दियों की रिहाई के प्रश्न पर संयुक्त प्रान्त और बिहार के मन्त्रीमण्डल का त्याग पत्र।

19-21 फरवरी : गुजरात (हरिपुरा) में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का

51 वां अधिवेशन।

25 फरवरी : संयुक्त प्रान्त संवैधानिक संकट की समाप्ति।

26 फरवरी : बिहार मन्त्रीमण्डल द्वारा त्यागपत्र वापस।

मार्च : असम में कांग्रेस मन्त्रीमण्डल का गठन।

21 मार्च : सिन्ध मन्त्रीमण्डल द्वारा त्याग पत्र। हिन्दू स्वतन्त्र दल के साथ गठबन्धन कर संयुक्त दल (यूनाईटेड पार्टी द्वारा नये मन्त्रीमण्डल का पद भार ग्रहण।

10 अप्रैल : सुभाष चन्द्र बोस द्वारा मुसलमान और हरिजनों के साथ व्यापक जन सम्पर्क करने का निवेदन।

14 अप्रैल : सुभाष चन्द्र बोस ने मुसलमानों से कांग्रेस में सम्मिलित होने हेतु निवेदन किया।

17-18 अप्रैल : कलकत्ता में मुस्लिम लीग का विशेष अधिवेशन। जिन्नाह द्वारा अक्टूबर 1937 के पिछले अधिवेशन से मुसलमानों को संगठित किये जाने का विवरण दिया। दोनों सम्प्रदायों को एक दूसरे के प्रति नैतिक कर्तव्यों से आगाह किया।

21 अप्रैल : सर मुहम्मद इकबाल का निधन।

24 अप्रैल : कलकत्ता में बंगाल हिन्दू महासभा ने गांधी से अनुरोध किया कि ग़ैरकांग्रेसी राजनीतिक संगठनों से सलाह लेकर जिन्नाह से समझौता न करें।

28 अप्रैल : साम्प्रदायिक प्रश्न पर गांधी-जिन्नाह की बम्बई में वार्ता। कई माह से चल रहे गांधी-नेहरू और जिन्नाह पत्राचार का परिणाम मिला। संयुक्त बयान जारी किया गया।

18 मई : गांधी द्वारा सीमान्त प्रान्त का व्यापक दौरा।

11-12 मई : साम्प्रदायिक प्रश्न पर कांग्रेस अध्यक्ष सुभाष चन्द्र बोस द्वारा जिन्नाह से बम्बई में वार्ता।

12 से 14 मई : बम्बई में सात कांग्रेस शासित प्रदेशों के प्रधान मन्त्रियों और कांग्रेस संसदीय दल की उप समिति की बैठक। यह बैठक कांग्रेस अध्यक्ष ने दोनों के मध्य सहयोग के लिए बुलाई गयी थी। अन्य विषयों के अलावा, वर्धा शिक्षा नीति को सात प्रान्तों में लागू करने का निर्णय लिया गया।

14 मई : कांग्रेसी नेताओं ने जिन्नाह के साम्प्रदायिक वार्ता के सम्बन्ध में उत्तर स्वरूप एक ज्ञापन तैयार किया, जिसे सुभाष चन्द्र बोस ने वार्ता के समय जिन्नाह को दिया।

20 मई : बम्बई में गांधी-जिन्नाह वार्ता ।

26 मई : जिन्नाह और सुभाष चन्द्र बोस वार्ता जारी रही ।

2 जून : हाउस ऑफ़ कामन्स में भारत के उपसचिव ने बताया कि संघीय स्वरूप के उद्‌घाटन हेतु अभी कोई तिथि निर्धारित नहीं की गयी है ।

4 जून : मुस्लिम लीग परिषद ने कांग्रेस के साम्प्रदायिक शान्ति संबन्ध में पत्रक पर विचार विमर्श करते हुए इसके लिए कांग्रेस अध्यक्ष को उत्तर देने हेतु जिन्नाह को अधिकृत किया ।

11 जून : संघीय स्वरूप के विषय पर भारतीय नरेशों की पुनर्गठन कमेटी ने अपने जन हित के सम्बन्धों हेतु एक समिति बनायी ।

15 जून : गाँधी-जिन्नाह तथा जिन्नाह-नेहरू पत्र-व्यवहार पूर्णरूप से प्रकाशित ।

20 जून : वल्लभ भाई पटेल तथा सुभाष चन्द्र बोस को जिन्नाह के पत्रोत्तर देने के लिए वर्धा बुलाया गया ।

बम्बई के शैरिफ़ ने जिन्नाह द्वारा अपने को मुसलमानों के एक मात्र नेता होने के विषय पर प्रश्न चिह्न लगाया ।

22 जून : फ़ज़लुल हक द्वारा त्याग-पत्र तथा मन्त्रीमण्डल की पुर्न-स्थापना ।

23 जून : वर्धा में कांग्रेस-लीग सम्बन्ध में गाँधी के साथ सुभाष चन्द्र बोस तथा अन्य नेताओं की वार्ता ।

25 जून : महाराज्यपाल द्वारा बम्बई से लन्दन हेतु प्रस्थान, लार्ड ब्रार्वोन को कार्यवाहक महाराज्यपाल बनाया गया ।

1 जुलाई : लन्दन में नेहरू की लार्ड हैलीफ़ेक्स के साथ लम्बी वार्ता ।

7 जुलाई : बिहार में लीगी व्यवस्था के विरुद्ध दो मुसलमान संगठनों जमायतउल-उलेमा तथा मोमिन-जमायत का संगठन बना ।

23-27 जुलाई : वर्धा में कांग्रेस कार्य समिति की बैठक ।

25 जुलाई : साम्प्रदायिक समस्या हेतु गाँधी ने जिन्नाह को पत्र लिखवाया । कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के इस दावे को स्वीकार नहीं किया कि वे मुसलमानों का एक मात्र प्रतिनिधि है ।

31 जुलाई : लीग की कार्यकारिणी समिति ने साम्प्रदायिक प्रश्न पर

कांग्रेस अध्यक्ष के उत्तर का प्रत्युत्तर देते हुए कांग्रेसी रुख की आलोचना की ।

16 अगस्त : जिन्नाह की सहमति से सुभाष चन्द्र बोस ने अपने दोनों के मध्य में हुई हिन्दू-मुस्लिम समझौते के पत्र व्यवहार को प्रकाशित किया ।

24-26 सितम्बर : अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की दिल्ली बैठक। जिन्नाह के साथ विचार-विमर्श न करने का प्रस्ताव पराजित हो गया ।

2 अक्टूबर : अखिल भारतीय मुस्लिम शिक्षा सभा ने वर्धा योजना को अस्वीकृत किया ।

5 अक्टूबर : गाँधी ने अक्टूबर भर सीमान्त प्रदेश का दौरा किया ।

8-15 अक्टूबर : करांची में सिन्ध मुस्लिम लीग की बैठक में जिन्नाह ने मुसलमानों के हित के प्रति काँग्रेसी रुख की तीव्र आलोचना करते हुये कांग्रेस कार्यकारिणी को मुसलमानों को विभाजित करने का दोषारोपण किया ।

9 अक्टूबर : सिन्ध मुस्लिम लीग की बैठक में भाग लेते हुये बंगाल और पंजाब के प्रधान मन्त्रियों ने कांग्रेस द्वारा राष्ट्र के प्रतिनिधित्व करने के शक्ति को चुनौती दी ।

10 अक्टूबर : सिन्ध में मुस्लिम लीग की बैठक में भारत को गैर मुस्लिम और मुस्लिम में बांटने एक प्रस्ताव पर वार्ता की ।

12 अक्टूबर : सिन्ध में मुस्लिम लीग मंत्रि मण्डल हेतु समझौता वार्ता टूटी ।

24 अक्टूबर : महाराज्यपाल की भारत वापसी ।

17 नवम्बर : नेहरू की यूरोप से भारत वापसी ।

28 नवम्बर–
1 दिसम्बर : बम्बई में भारतीय नरेशों और उनके मन्त्रियों की एक अनौपचारिक सभा ।

11-16 दिसम्बर : 15 दिसम्बर को कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने वर्धा में एक प्रस्ताव पारित कर हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग को साम्प्रदायिक संगठन घोषित किया। हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न पर विचार-विमर्श हुआ । कांग्रेस अध्यक्ष और जिन्नाह के बीच पत्राचार बन्द ।

18 दिसम्बर : नागपुर में मुस्लिम लीग के महामन्त्री लियाकत अली

खान ने कहा कि कांग्रेस के साथ तब तक कोई समझौता वार्ता प्रारम्भ नहीं हो सकती जब तक कांग्रेस मुस्लिम लीग को मुसलमानों का एक मात्र प्रतिनिधित्व नहीं मान लेती।

19 दिसम्बर : संघीय प्रश्न महाराज्यपाल ने वाणिज्य समुदाय की एक विशिष्ट बैठक में संघीय स्वरूप पर प्रकाश डाला।

20 दिसम्बर : जिन्नाह ने महाराज्यपाल द्वारा संघीय प्रणाली को एक अवसर देने की प्रार्थना पर टिप्पणी करते हुए प्रान्तों की प्रान्तीय स्वायतत्ता की निन्दा की।

26-21 दिसम्बर : पटना में मुस्लिम लीग की 26वीं बैठक, जिन्नाह ने गांधी को कांग्रेस में हिन्दू विचार देने हेतु आलोचना की। संयुक्त प्रान्त, विहार, केन्द्रीय प्रान्त में अवज्ञा आन्दोलन को प्रारम्भ करते हुये प्रस्ताव पास। लीग ने तथाकथित मुसलमानों के प्रति कांग्रेस की दुष्भावना की जाँच हेतु एक जाँच आयोग बैठाया।

30 दिसम्बर : हिन्दू महासभा ने नागपुर में प्रस्ताव पासकर संघीय प्रणाली स्वीकार की।

31 दिसम्बर : राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संघ के वक्ताओं ने कांग्रेस कार्यकारिणी को प्रान्तों में मंत्रियों के कार्य में हस्तक्षेप करने हेतु आलोचना की।

1939

जनवरी अन्त : नरेशों ने महाराज्यपाल द्वारा गद्दी प्राप्ति हेतु प्रारूप प्राप्त किया।

30 जनवरी : कांग्रेस अध्यक्ष पद हेतु सुभाष चन्द्र बोस पुनः निर्वाचित, कार्यकारिणी के सदस्यों द्वारा त्यागपत्र।

9 मार्च : केन्द्रीय प्रान्त त्रिपुरी में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में सुभाष चन्द्र बोस द्वारा पद त्याग और इस स्थान हेतु राजेन्द्र प्रसाद को अध्यक्ष मनोनीति किया गया।

13 मार्च : दिल्ली में महाराज्यपाल द्वारा 'राजकुमार सभा' (चैम्बर ऑफ प्रिन्सेज़) के अधिवेशन का उद्घाटन।

अप्रैल : मुस्लिम लीग सभा ने दिल्ली में प्रस्ताव पारित कर कांग्रेस द्वारा सम्पूर्ण भारत में हिन्दू प्रभुता स्थापित करने हेतु किये जा रहे लगातार प्रचार का विरोध

किया।

जून : बम्बई में नरेशों व उनके मन्त्रियों की बैठक में गद्दी प्राप्ति की शर्तों को अस्वीकृत करते हुये उत्तर हेतु तिथि सितम्बर तक बढ़ा दी।

3 सितम्बर : महाराज्यपाल ने घोषणा की कि भारत जर्मनी से युद्धरत है।

4 सितम्बर : महाराज्यपाल ने गाँधी, जिन्नाह और नरेशों के अध्यक्ष से भेंट की।

8 से 14 सितम्बर: कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की वर्धा में आपात बैठक।

10 सितम्बर : नेहरू की चीन से भारत वापसी।

11 सितम्बर : 1935 अधिनियम के विषय पर राजकुमारों से वार्ता रुकी और संघीय प्रणाली स्थगित कर दी गयी।

14 सितम्बर : कांग्रेस कार्य समिति द्वारा युद्ध सम्बन्धी प्रस्ताव पारित कर भारत को ब्रिटिश सरकार द्वारा युद्ध के उद्देश्यों की घोषणा करने को कहा।

18 सितम्बर : युद्ध संकट पर लीग कार्यकारिणी का प्रस्ताव।

26 सितम्बर : महाराज्यपाल की गाँधी के साथ तीन घंटा वार्ता।

2 अक्टूबर : महाराज्यपाल की राजेन्द्र प्रसाद व नेहरू से वार्ता।

अक्टूबर : महाराज्यपाल की अन्य राजनैतिक दलों एवं जिन्नाह से वार्ता श्रृंखला।

10 अक्टूबर : अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने प्रस्ताव पारित कर युद्ध स्थिति से निपटने तथा कार्यकारिणी समिति का 14 सितम्बर का प्रस्ताव अनुमोदित किया तथा आंग्ल सरकार से युद्ध के उद्देश्यों की घोषणा करने के लिये निवेदन किया।

18 अक्टूबर : महाराज्यपाल ने युद्ध प्रयास तथा युद्ध उद्देश्य पर एक वक्तव्य दिया।

22-23 अक्टूबर : कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की वर्धा में बैठक तथा घोषणा-पत्र जारी करते हुये कांग्रेसी मंत्री मण्डलों को पद त्यागने हेतु कहा गया।

22 अक्टूबर : स्पष्ट वार्ता हेतु मुस्लिम लीग का घोषणा पत्र जारी।

अक्टू. अंतिम तक: सभी कांग्रेसी प्रान्तीय सरकारों का त्याग-पत्र। गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया अधिनियम की धारा 93 के अन्तर्गत राज्य-

पालों ने सभी अधिकार स्वनिहित किये। केवल असम में सर मुहम्मद, सादुल्लाह के अन्तर्गत गठबन्धीय सरकार तथा 'बंगाल, पंजाब व सिन्ध की सरकारें पूर्ववत चलती रहीं।

1 नवम्बर : गाँधी-जिन्नाह-राजेन्द्र प्रसाद की महाराज्यपाल के साथ वार्ता में कार्यकारिणी समिति के विस्तार हेतु विचार विनिमय।

5 नवम्बर : महाराज्यपाल ने राजेन्द्र प्रसाद, जिन्नाह तथा गाँधी के साथ पत्राचार पर विज्ञप्ति तथा पत्रव्यवहार का प्रकाशन

19-23 नवम्बर : कांग्रेस कार्यकारिणी समिति द्वारा प्रस्ताव पास कर संविधान सभा की माँग।

22 दिसम्बर : सम्पूर्ण भारतवर्ष में मुस्लिम लीग द्वारा 'मुक्ति दिवस' मनाया गया।

6जनवरी 1939 : इस वर्ष डॉ० सैयद अब्दुल लतीफ, सिकन्दर ह्यात खाँन, प्रोफ़ेसर सैयद जफ़रुल हसन तथा डॉ० मुहम्मद अफ़जल हुसैन कादरी द्वारा विभाजन योजनाएं प्रस्तुत की गयीं।

1940

6 जनवरी : नागपुर में महाराज्यपाल ने कांग्रेस सरकारों के त्यागपत्र को स्वायत्त शासन के व्यवधान का स्वरूप दिया।

7 जनवरी : जिन्नाह ने स्वयं अपने तथा नेहरू के बीच कांग्रेस-लीग मतभेद भर पत्राचार प्रकाशित किया।

जिन्नाह ने मुसलमानों के मान्य अधिकार सम्पन्न संगठन हेतु लीगी मान्यता की माँग को अस्वीकृत किया। नेहरू ने दोहराया कि कांग्रेस लीग को मुसलमानों का पूर्ण प्रतिनिधि नहीं मानती। समझौता वार्ता स्थगित।

10 जनवरी : ग़ाज़ियाबाद में नेहरू ने कहा कि 'जब तक भारत की स्वतन्त्रता का प्रश्न पूर्ण रूप से हल नहीं हो जाता, तब तक कांग्रेसी सरकारों का सत्ता में पुनः पद भार लेने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।'

13 जनवरी : महाराज्यपाल ने जिन्नाह तथा भोलाभाई देसाई से बम्बई में भेंट की।

17 जनवरी : बड़ौदा में महाराज्यपाल ने यह घोषणा की कि संघीय योजना मात्र स्थगित की गयी है, समाप्त नहीं।

19-21 जनवरी : वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक गांधी को महाराज्यपाल के 10 जनवरी के भाषणों के कुछ अंशों के स्पष्टीकरण प्राप्ति हेतु अधिकृत किया गया।

25 जनवरी : महाराज्यपाल ने सर सिकन्दर ह्यात खाँन से भेंट की।

3 फरवरी : महाराज्यपाल ने पंजाब और बंगाल के प्रधानमन्त्री सर सिकन्दर हयात खांन और फ़ज़लुल हक के साथ संयुक्त वार्ता की।

3-6 फरवरी : लीग की कार्यकारिणी समिति की बैठक नई दिल्ली में हुई। जिन्नाह ने कहा कि भारत के लिए पाश्चात्य प्रजातन्त्र अनुपयुक्त हैं।

4 फरवरी : नई दिल्ली में फजलुल हक ने युद्ध के समय प्रान्तों में सम्मिलित सरकार बनाने का परामर्श दिया।

5 फरवरी : राजनैतिक गतिरोध बनाने हेतु महाराज्यपाल ने गांधी से भेंट की, दूसरे दिन गांधी ने प्रेस विज्ञप्ति जारी की।

6 फरवरी : महाराज्यपाल जिन्नाह से मिले।

11 फरवरी : 'सन्डे टाइम्स' के एक साक्षात्कार में लार्ड जेटलैंड ने कांग्रेसी नेताओं से 'भाषा सूक्तियों की निरंकुशता से' बचने हेतु अनुरोध किया।

16 फरवरी : अब्दुल क़लाम आजाद कांग्रेस अध्यक्ष।

25 फरवरी : नई दिल्ली में मुस्लिम लीग सम्मेलन की बैठक।

28 फरवरी : पटना में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक जिसमें आगामी रामगढ़ कांग्रेस सम्मेलन में विचार किये जाने वाले प्रस्तावों पर चर्चा की गयी।

1 मार्च : पटना में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने प्रस्ताव पारित कर संगठन के मजबूत होते ही सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारम्भ करने का निर्णय किया।

13 मार्च : लन्दन के कैक्सटन हाल में 'ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन' की बैठक में सर माइकेल ओ डायर मारे गये और लार्ड जेटलैंड घायल हुये।

15 मार्च : रामगढ़ में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक।

19-20 मार्च : रामगढ़ में कांग्रेस का 53वाँ अधिवेशन, पूर्ण स्वराज्य तथा संवैधानिक सभा की माँग की गयी।

22-24 मार्च : लाहोर में मुस्लिम लीग का 27वाँ अधिवेशन।

22 मार्च : जिन्नाह ने भारत को दो स्वशासित प्रदेशों में बाँटने का सुझाव दिया ।

23 मार्च : मुस्लिम लीग का 'लाहौर प्रस्ताव' ।

31 मार्च : नई दिल्ली से जिन्नाह द्वारा निवेदन प्रकाशित कर हिन्दू और सिक्खों को बँटवारे के विषय में गूढ़ विचार करने हेतु निवेदन किया ।

3 अप्रैल : भारत के विषय में ब्रिटेन की नीति पर लार्ड जेटलैण्ड की रेडियो घोषणा

8 अप्रैल : वल्लभ भाई पटेल ने संघर्ष को न टालने वाला बताते हुये कहा कि प्रश्न केवल यह है कि संघर्ष कब प्रारम्भ होगा।

10 अप्रैल : "भारत और युद्ध" विषय पर श्वेत पत्र जारी ।

15 अप्रैल : वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक ।

15 अप्रैल : प्रथम संयुक्त प्रान्त सिक्ख सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण करते हुये मास्टर तारा सिंह ने लखनऊ में कहा "यदि मुस्लिम लीग पाकिस्तान बनाना चाहती है तो उसे सिक्ख-रक्त-सागर से गुजरना पड़ेगा ।"

18 अप्रैल : लार्ड जेटलैण्ड ने हाउस ऑफ लार्डस में भारत की दशा पर पुनरीक्षण किया ।

27 अप्रैल–1 मई : सिन्ध के प्रधानमन्त्री आजाद मुस्लिम कान्फ्रेंस के अल्लाह बक्श की अध्यक्षता में बैठक जिसमें उन्होंने मुस्लिम लीग की मुसलमानों के मात्र प्रतिनिधित्व के प्रश्न को प्रश्नांकित किया, तथा बँटवारे की माँग का विरोध किया ।

6 मई : नेविल चेम्बरलेन के स्थान पर विन्स्टन-चर्चिल प्रधानमंत्री के पद पर आरूढ़, लार्ड जेटलैण्ड के स्थान पर एल० एस० एमरे को भारत सरकार को सचिव बनाया गया । (19 मई)

10 मई : नेहरू ने पूना में कहा कि न तो महासभा और न ही लीग के पास कोई सकारात्मक कार्यक्रम है, उन्होंने पाकिस्तान की माँग को मूर्खता बताते हुये कहा कि यह 24 घंटे से अधिक नहीं चल सकती ।

10 मई : जर्मन सेना ने हॉलैंड और बेल्जियम पर आक्रमण किया।

19 मई : हिन्दू महासभा ने पाकिस्तान की मांग को हिन्दू विरोधी बताते हुये राष्ट्र विरोधी ठहराते हुये इसकी निन्दा की।

23 मई : एमरे ने कामन्स में बताया कि भारत द्वारा राष्ट्रमण्डल में पूर्ण और समान स्थान प्राप्त करना, उसका लक्ष्य है।

27 मई 3 जून : डनकर्क से आंग्ल सेना पीछे हटी।

10 जून : इटली द्वारा मित्र राष्ट्रों के प्रति युद्ध घोषणा।

16 जून : लीग कार्यकारिणी ने जिन्नाह की नीति का समर्थन किया और उसे महाराज्यपाल से समझौता वार्ता चालू रखने हेतु अधिकृत किया।

17 जून : फ्रांस की पराजय।

वर्धा कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक और 21 जून को यह घोषणा की, कि वह गाँधी के अहिंसावादी सिद्धांत को पूर्णतया नहीं मानेगी।

27 जून : संसद ने भारत और बर्मा (आपातस्थिति व्यवस्था) अधिनियम पास किया, जिसमें यह व्यवस्था की गई कि ब्रिटेन के साथ संचार व्यवस्था पूर्णरूप से टूट जाने पर साधारण रूप से भारत सरकार के सचिव की शक्तियां महाराज्यपाल के पास समाहित होंगी।

27 जून : महाराज्यपाल ने जिन्नाह से भेंट की।

29 जून : महाराज्यपाल ने शिमला में गांधी से भेंट की।

1 जुलाई : सुभाष चन्द्र बोस बन्दी बनाये गये।

3 जुलाई : गाँधी ने "प्रत्येक आँग्ल नागरिक" से निवेदन प्रकाशित किया कि अहिंसा का प्रयोग करते हुये अपने सभी हथियार छोड़ दें।

3-7 जुलाई : दिल्ली में कांग्रेस कार्यकारिणी की आपातकालीन बैंठक में भारत की पूर्ण स्वाधीनता की माँग प्रेषित की गई, जिसमें केन्द्रीय राष्ट्रीय सरकार के निर्माण का प्राविधान हो।

जुलाई : अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने पूना बैठक में कांग्रेस कार्यकारिणी के प्रस्ताव का अनुमोदन किया।

7 अगस्त : महाराज्यपाल ने भारतीय संवैधानिक विकास "अगस्त प्रस्ताव" पर विज्ञप्ति जारी की और घोषणा की कि कार्यकारिणी समिति का विस्तार किया जायगा तथा युद्ध परामर्शदाता परिषद का गठन किया जायगा।

9 अगस्त	:	राज्य सचिव ने हाउस ऑफ कॉमन्स में महाराज्यपाल के भाषण को पढ़ा।
11-13 अगस्त	:	महाराज्यपाल की जिन्नाह से भेंट।
13 अगस्त	:	बी० डी० सावरकर ने महाराज्यपाल से भेंट की और हिन्दू महासभा की ओर से उन्होंने अगस्त प्रस्ताव को स्वीकार किया, जैसा कि सिक्ख, अनुसूचित जाति तथा अन्य संस्थाओं ने किया।
13 अगस्त	:	ब्रिटेन का युद्ध।
18-22 अगस्त	:	वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक तथा महाराज्यपाल के 20 अगस्त के 'अगस्त प्रस्ताव' को अस्वीकार करने का उत्तर दिया।
23 अगस्त	:	राजगोपालाचारी ने लीग से समझौता बढ़ाने के लिये एक उचित प्रस्ताव रखा।
29 अगस्त	:	आज़ाद और महाराज्यपाल के बीच पत्राचार प्रकाशन हेतु दिया गया।
31 अगस्त से 2 सितम्बर	:	महाराज्यपाल प्रस्ताव पारित कर लीग ने अपना पूर्ण सहयोग केवल इस शर्त पर देने का वचन दिया कि महाराज्यपाल जिन्नाह के साथ कुछ मामलों में स्पष्टीकरण दें।
15 सितम्बर	:	अ० भा० का० कमेटी की बम्बई बैठक, 'अगस्त प्रस्ताव' अस्वीकृत किया गया, गाँधी ने कांग्रेस का सक्रिय नेतृत्व संभाला।
24 सितम्बर	:	महाराज्यपाल की जिन्नाह के साथ लम्बी वार्ता।
27 सितम्बर	:	महाराज्यपाल की गांधी के साथ वार्ता।
28 सितम्बर	:	नई दिल्ली में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक, अगस्त प्रस्ताव अस्वीकार।
29 सितम्बर	:	लीग सभा ने प्रस्ताव पास कर अगस्त प्रस्ताव को अस्वीकृत किया।
13 अक्टूबर	:	वर्धा में कांग्रेस कार्य समिति ने गांधी के व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन की योजना को स्वीकृत किया, विनोबा भावे को इस हेतु उद्घाटन करने के लिये चुना गया।

17 अक्टूबर :	विनोबा भावे ने व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ किया ।
21 अक्टूबर :	विनोबा भावे बन्दी, नेहरू को इस स्थान हेतु चुना गया ।
31 अक्टूबर :	नेहरू बन्दी और चार वर्ष का कारागार ।
मध्य नवम्बर :	सविनय अवज्ञा आन्दोलन का दूसरा चरण प्रारम्भ ।
17 नवम्बर :	सरदार पटेल बन्दी ।
20 नवम्बर :	महाराज्यपाल ने घोषणा की, कि वे न तो कार्यकारिणी परिषद की सदस्य संख्या बढ़ायेंगे और न ही युद्ध सलाह परिषद बनायेंगें क्योंकि मुख्य राजनैतिक दलों ने अगस्त प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया है ।
21 नवम्बर :	लन्दन में राज्य सचिव ने भारतीयों से अनुरोध किया कि वे भारत में संवैधानिक समस्या पर पुर्नविचार करें ।
5 दिसम्बर :	सुभाष चन्द्र बोस रिहा किये गये ।
8 दिसम्बर :	कांग्रेस से समझौता वार्ता पुनः प्रारम्भ करने हेतु फजलुल हक़ ने जिन्नाह से अनुरोध किया ।
31 दिसम्बर :	अबुल कलाम आज़ाद बन्दी बनाये गये ।
1941	
5 जनवरी :	सविनय अवज्ञा आन्दोलन का तृतीय चरण प्रारम्भ ।
27 जनवरी :	सुभाष चन्द्र बोस छुपकर जर्मनी पहुंचे ।
22 फरवरी :	लीग कार्यकारिणी समिति ने 1940 के लाहौर प्रस्ताव के आमूल सिद्धान्तों पर पुनः अपनी आस्था प्रकट की ।
11 मार्च :	पंजाब के प्रधान मन्त्री सर सिकन्दर ह्यात खाँ ने पजाब विधान सभा की बहस में पाकिस्तान के प्रति अपने विचार की व्याख्या की ।
13-14 मार्च :	बम्बई में अराजनैतिक दलीय बैठक । अध्यक्ष तेजबहादुर सप्रू ने महाराज्यपाल की कार्यकारिणी परिषद के पुर्नगठन की सलाह दी ।
अप्रैल :	सविनय अवज्ञा आन्दोलन का चतुर्थ चरण प्रारम्भ ।
22 अप्रैल :	कामन्स सभा में एमरे ने अराजनैतिक दलीय परिषद तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलन पर अपनी टिप्पणी की ।
मई :	सप्रू प्रस्ताव पर जिन्नाह की टिप्पणी ।
1 जुलाई :	बेवुल सेनाध्यक्ष नियुक्त हुये ।
21 जुलाई :	गर्वनर जनरल (महाराज्यपाल) परिषद का पुर्नगठन कर

8 भारतीय 3 ब्रिटिश, महाराज्यपाल तथा सेनाध्यक्ष को सदस्य बनाया गया।

30 सदस्यी राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद की स्थापना की गई।

22 जुलाई : महाराज्यपाल के कार्यकारिणी परिषद के विस्तार पर शिमला घोषणा पर गांधी और जिन्नाह ने असंतोष व्यक्त किया।

26-27 जुलाई : सर तेज बहादुर सप्रू की अध्यक्षता में पूना में निर्दलीय राजनैतिक नेताओं की बैठक।

30 जुलाई : जिन्नाह ने उन मुस्लिम लीग के सदस्यों के विरुद्ध अनुशासनिक कार्यवाही करने की धमकी दी जिन्होंने महाराज्यपाल की कार्यकारिणी परिषद तथा राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद की बैठक में भाग लिया।

19 अगस्त : महाराज्यपाल ने प्रान्तीय प्रधान मन्त्रियों को राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद में भाग लेने हेतु आमन्त्रित किया, उन्होंने इसे स्वीकार किया।

24 अगस्त : लीग कार्यकारिणी परिषद ने पंजाब, बंगाल और आसाम के प्रधान मन्त्रियों को राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद से त्यागपत्र देने को कहा, इसके विरोध स्वरूप फजलुल हक़ ने कार्यकारिणी परिषद तथा लीग परिषद से त्याग पत्र दिया। सर सुल्तान अहमद ने कार्यकारिणी परिषद तथा बेगम शाह नवाज ने राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद से त्याग पत्र देने से इंकार कर दिया। दोनों को लीग से निष्कासित कर दिया गया।

अगस्त : रुजवेल्ट और चर्चिल ने "अटलान्टिक चार्टर" नामक संयुक्त घोषणा की।

9 सितम्बर : हाउस ऑफ कॉमन्स में चर्चिल ने कहा कि भारत सम्बन्धी अनेक नीतियों की घोषणायें 'अटलान्टिक चार्टर' में नहीं हैं।

10 सितम्बर : राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद से फ़जलुल हक़ का त्याग पत्र।

6 अक्टूबर : शिमला में राष्ट्रीय सुरक्षा की प्रथम बैठक।

26 अक्टूबर : दिल्ली से 'डॉन' का साप्ताहिक प्रकाशन प्रारम्भ।

मध्य अक्टूबर : महाराज्यपाल की कार्यकारिणी परिषद का विस्तार पूर्ण।

मध्य अक्टूबर : व्यक्तिगत सत्याग्रह में भाग लेने वाले अनेक कांग्रेसी

रिहा। कांग्रेस के एक वर्ग ने प्रान्तीय सत्ता को पुनः अपने हाथों में लेने का सुझाव दिया, परन्तु गांधी ने इसे मानने से इन्कार कर दिया।

26 अक्टूबर : मुस्लिम लीग परिषद ने अपनी कार्यकारिणी के अगस्त प्रस्ताव का अनुमोदन किया।

23 नवम्बर : उड़ीसा में मन्त्री मण्डल द्वारा शपथ ग्रहण घोषणा की धारा 93 को रद्द कर दिया गया।

1 दिसम्बर : फ़ज़लुल हक़ के मंत्रिमण्डल ने त्याग पत्र दिया परन्तु 11 दिसम्बर को वे पुनः सम्मिलित मन्त्रिमण्डल के 9 सदस्यों (5 मुसलमान, 4 हिन्दू) के नेता बनकर सत्ता में लौट आये।

3 दिसम्बर : सविनय अवज्ञा आन्दोलन के बन्दीगण, नेहरू आजाद के साथ रिहा।

6 दिसम्बर : पर्ल हार्वर में जापानी सेना ने अमरीकी जहाजी बेड़े को नष्ट किया।

11 दिसम्बर : फ़ज़लुल हक़ को लीग से निकाला गया।

11 दिसम्बर : आसाम में सादुल्लाह मन्त्रिमण्डल का पतन और अगस्त 1942 तक राज्यपाल शासन लागू।

23 दिसम्बर : वारडोली में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक, गाँधी ने कांग्रेस के नेतृत्व से अवकाश लिया।

1942

फरवरी : अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की वर्धा में बैठक।

1 फरवरी : गांधी ने वर्धा में अखिल भारतीय गौसेवा संघ परिषद का उद्घाटन किया।

15 फरवरी : सिंगापुर का पतन।

8 मार्च : रंगून का पतन।

11 मार्च : हाउस ऑफ कॉमन्स में प्रधान मन्त्री द्वारा भारत में 'क्रिप्स मंडल' भेजने के निर्णय पर वक्तव्य।

22 मार्च : क्रिप्स का दिल्ली आगमन और सभी राजनैतिक दलों से लम्बी वार्ता।

29 मार्च : अपने प्रारूप घोषणा के विषय पर क्रिप्स का प्रेस सम्मेलन।

30 मार्च : भारतीय नेताओं से विचार विमर्श हेतु प्रारूप घोषणा का प्रकाशन।

2 अप्रैल : कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने क्रिप्स कमीशन के प्रस्तावों को अस्वीकार करने का प्रस्ताव पारित किया ।

2 अप्रैल : लीग कार्यकारिणी समिति ने क्रिप्स कमीशन के प्रस्तावों को अस्वीकृत करने का प्रस्ताव पारित ।

3 अप्रैल : राष्ट्रपति रुज़वेल्ट के व्यक्तिगत दूत कर्नल लुई जॉन्सन का दिल्ली आगमन ।

4 अप्रैल : गांधी ने क्रिप्स को शीघ्र वापिस लौटने का सुझाव देते हुए दिल्ली से प्रस्थान किया ।

4 अप्रैल : भारतीय नेताओं ने सेनाध्यक्ष से भेंट की ।

7 अप्रैल : भारतीय सुरक्षा समिति के सम्बन्ध में क्रिप्स ने जिन्नाह और आज़ाद को पत्र लिखा ।

8 अप्रैल : क्रिप्स ने अपनी योजना को अन्तिम रूप दिया ।

9 अप्रैल : केन्द्रीय सरकार के प्रश्न पर आज़ाद और नेहरू ने क्रिप्स से वार्ता की ।

10 अप्रैल : आज़ाद ने क्रिप्स को केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के गठन हेतु पत्र लिखा, क्रिप्स ने आजाद के पत्र का उसी दिवस उत्तर देने हेतु आजाद के पत्र को कांग्रेस कार्यकारिणी समिति द्वारा प्रारूप घोषणा की अस्वीकृत समझा ।

12 अप्रैल : क्रिप्स की इंग्लैंड वापसी ।

23 अप्रैल : राजगोपालाचारी ने कांग्रेस से मुस्लिम लीग के विभाजन सूत्र को स्वीकार करते हुए समझौता वार्ता प्रारम्भ करने का प्रस्ताव पास कराया ।

26 अप्रैल : "हरिजन" में गांधी ने अंग्रेजों से भारत छोडने का निवेदन किया,और सम्बन्धित समस्याओं की 'भारत-छोड़ो योजना' के रूप में व्याख्या दी ।

28 अप्रैल : एमरे ने क्रिप्स मिशन की असफलता पर 'हाउस ऑफ कॉमन्स' में वक्तव्य दिया ।

29 अप्रैल 2 मई : अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की इलाहाबाद में बैठक । राजगोपालाचारी का मद्रास प्रस्ताव (अधिकांश) व्यापक समर्थन से अस्वीकार कर उसी के विपरीत 'भारत एकता' का प्रस्ताव पारित किया । असहयोग और अहिंसा से आक्रामक प्रतिरोध करने का प्रस्ताव पारित किया गया ।

10 मई : बम्बई में गांधी ने ब्रिटिश सरकार से कहा कि ईश्वर की इच्छा पर आप देश छोड़ दें परन्तु यदि यह (अत्याधिक है) तो देश को आंतकवाद पर छोड़ दें ।

11 मई : गांधी ने "प्रत्येक आँग्ल नागरिक" से अनुरोध किया कि वह प्रत्येक एशियाई, अफ्रीकी क्षेत्र, कम से कम भारत से अवकाश प्राप्त करें ।

18 मई : गांधी ने प्रेस सम्मेलन में अपने भारत छोड़ो सम्बन्धी मांग तथा कांग्रेस लीग के प्रस्ताव पर उत्तर दिये ।

मई जून : राजगोपालाचारी ने मद्रास में राष्ट्रीय मोर्चा, राष्ट्रीय सरकार और राष्ट्रीय सुरक्षा हेतु जनता को समझाने के लिए व्यापक भ्रमण किया ।

20 जून : जर्मन सेना के सम्मुख टोवरुक का पतन, ब्रिटिश सेना अल अलामेन में वापस आयी ।

2 जुलाई : महाराज्यपाल कार्यकारिणी परिषद की सदस्य संख्या 12 से 15 बढ़ाई गयी, 11 (गैर सरकारी) भारतीय, 1 (गैर सरकारी यूरोपियन) 3 यूरोपीय अधिकारी जिसमें सेनाध्यक्ष भी सम्मिलित था ।

6-14 जुलाई : वर्धा काँग्रेस कार्य समिति की बैठक जिसमें भारत से अंग्रेजी प्रशासन की वापसी तथा यदि मांग स्वीकार न हुई तो गांधी जी के नेतृत्व में व्यापक सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का प्रस्ताव पारित हुआ ।

जुलाई : जिन्नाह हिन्दू महासभा, उदारवादी, साम्यवादी और बहुत से अन्य कांग्रेस विद्रोहियों ने कांग्रेस के सविनय अवज्ञा आन्दोलन के प्रस्ताव का विरोध किया ।

15 जुलाई : राजगोपालाचारी का काँग्रेस से त्याग पत्र ।

25 जुलाई : अल-अलामेन में रोमेल रोके गये ।

27 जुलाई : एमरे ने हाउस ऑफ कॉमन्स तथा क्रिप्स ने रेडियो भाषण में कांग्रेस की मांग अस्वीकृत कर दी ।

7 अगस्त : बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक ।

8 अगस्त : अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने भारत से अंग्रेजी सत्ता की वापसी तथा गांधी जी नेतृत्व में व्यापक जन आन्दोलन का प्रस्ताव पारित किया ।

9 अगस्त : गांधी तथा कार्यकारिणी के सदस्य बन्दी, उसके बाद ही

	प्रमुख राजनेता भी बन्दी, कांग्रेस को असंवैधानिक संगठन घोषित किया गया।
अगस्त-सितम्बर :	सितम्बर अंत तक सम्पूर्ण भारत में असन्तोष व्याप्त रहा।
16-20 अगस्त :	बम्बई में लीग की कार्यकारिणी बैठक हुई और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के इस निर्णय की भर्त्सना की गई कि खुला संघर्ष किया जाय और मुसलमानों को इसमें भाग न लेने को कहा गया।
अगस्त :	सर मुहम्मद सादुल्लाह ने असम सत्ता संभाली।
10 अक्टूबर :	सिन्ध के प्रधान मन्त्री अल्लाह बख्श, को राज्यपाल सर-ह्यूग डोक द्वारा निष्कासित किया गया। मुस्लिम लीग के समर्थन से सर गुलाम हुसैन हिदायतुल्ला ने पद भार ग्रहण किया।
23 अक्टूबर 4 नवम्बर :	अल अलामेन का युद्ध।
पूर्व नवम्बर :	राजगोपालाचारी की जिन्नाह से वार्ता।
7 नवम्बर :	फ्रेंच उत्तर अफ्रीका में आंग्ल-अमरीकी सेना उतरी।
12 नवम्बर :	राजगोपालाचारी ने महाराज्यपाल से भेंट कर गांधी जी से मिलने की अनुमति माँगी, जो न मिल सकी।
दिसम्बर :	मुस्लिम लीग परिषद ने प्रस्ताव पारित कर पूर्व व उत्तर पश्चिम में अपनी गृह भूमि का अधिकार मांगा जहां वे बहुमत में है।
दिसम्बर-अन्त :	सर सिकन्दर हयात खान की मृत्यु।
31 दिसम्बर 8 फरवरी :	गांधी-महाराज्पाल के बीच पत्र व्यवहार।
1943	
29 जनवरी :	गांधी ने अपने अनशन का निर्णय महाराज्यपाल को बताया।
8 फरवरी :	भारत सरकार ने गांधी की उपवास अवधि में रिहाई का प्रस्ताव रक्खा, प्रस्ताव अस्वीकृत।
9 फरवरी-3 मार्च :	गांधी अनशन।
10 फरवरी :	सरकार ने अनशन और इसके कारणों के प्रति एक सूचना प्रकाशित की।
17 फरवरी :	गांधी के अनशन के प्रश्न पर महाराज्यपाल की कार्य-

कारिणी परिषद के तीन सदस्यों ने त्यागपत्र दिये ।

19 फरवरी : दिल्ली में निर्दलीय सम्मेलन में जिन्नाह ने भाग लेने से मना कर दिया, सम्मेलन में सप्रू अध्यक्ष, गांधी की रिहाई हेतु निवेदन किया गया ।

22 फरवरी : सरकार ने 1942 की अशांति हेतु कांग्रेस को उत्तरदायी ठहराते हुए एक पत्र प्रकाशित किया ।

मार्च : अनशन के समय-गांधी ने राजगोपालाचारी के सूत्र को स्वीकार किया ।

28 मार्च : बंगाल में फजलुल हक़ का प्रधानमन्त्री पद से त्याग । राज्यपाल शासन 24 अप्रैल तक लागू रहा ।

24 अप्रैल : बंगाल में सर निज़ामुद्दीन ने अधिकांश मुस्लिम लीगी सदस्यों से मिलकर मन्त्रिमण्डल बनाया ।

अप्रैल अन्तिम : मुस्लिम लीग की वार्षिक बैठक में यह घोषणा की गयी कि मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों का नियन्त्रण लीगी मंत्री-मण्डल के अन्तर्गत है ।

मई : सिन्ध के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री अल्लाह बख्श की हत्या की गई ।

मई : औरंगजेब खाँ के नेतृत्व में मुस्लिम लीग मन्त्रिमण्डल ने उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रान्त में सत्ता सम्भाली ।

9 जुलाई : मित्र राष्ट्र शक्तियां सिसली में उतरीं ।

अगस्त-नवम्बर : बंगाल में अकाल ।

20 अक्टूबर : लार्ड लिनलिथगो के स्थान पर लार्ड वेवल की महाराज्यपाल पद पर नियुक्ति ।

दिसम्बर : करांची मुस्लिम लीग ने सम्पूर्ण भारतवर्ष के मुस्लिम समुदाय को एकत्रित कर उनके ऊपर लादे जा रहे एकात्मक संविधान का विरोध व्यक्त करने हेतु कार्यवाही करने का निश्चय किया तथा पाकिस्तान की प्राप्ति हेतु आनेवाले संघर्ष के लिए तैयारी करने का आह्वान किया ।

1944

17 फरवरी : वेवल ने केन्द्रीय विधायिका के संयुक्त अधिवेशन को सम्बोधित करते हुए क्रिप्स प्रस्ताव का अभी भी खुला होना बताया । उन्होंने भारतवर्ष को एक प्राकृतिक इकाई बताया ।

फरवरी	:	वेवल द्वारा अकालपीड़ित क्षेत्रों का दौरा।
8 अप्रैल	:	राजगोपालाचारी का सूत्र जिन्नाह को प्रेषित किया गया उसके उपरान्त वार्ता और पत्र व्यवहार चला। जिन्नाह इस सूत्र को लीग के सम्मुख रखने में सहमत हुये।
अप्रैल	:	जिन्नाह लाहौर गये तथा पंजाब के मुख्यमन्त्री खिजर ह्यात खान से वार्ता की।
अप्रैल मई	:	निर्दलीय सम्मेलन की लखनऊ बैठक में अध्यक्ष सप्रू द्वारा महाराज्यपाल को विज्ञप्ति भेंट करने हेतु उसे बनाने का अधिकार दिया गया।
6 मई	:	मित्र सेनाएँ फ्रांस में उतरीं।
6 मई	:	गांधी जी को स्वास्थ्य के आधार पर बिना शर्त रिहा किया गया।
जून	:	इम्फाल में जापानी हार।
20 जून	:	सरकार ने गांधी के कारागार के समय गांधी, वावेल, लिनलिथगो और भारत सरकार के बीच हुये पत्र व्यवहार को प्रकाशित किया।
10 जुलाई	:	प्रथम समय राजगोपालाचारी का सूत्र जनता को प्रकट किया गया।
12 जुलाई	:	गांधी ने एक समाचारपत्र गोष्ठी में स्टीवर्ट गेल्डर द्वारा प्रकाशित टाइम्स ऑफ इण्डिया में स्वयं के साक्षात्कार का सत्य रूप प्रकट किया। वे सभी राष्ट्रीय सरकार से सन्तुष्ट है जिसको जन प्रशासनिक मामलो में पूरा अधिकार हो। महाराज्यपाल व सर्वोच्च सेनापति का सेना के प्रयोग पर अधिकार रहे।
15 जुलाई	:	गाँधी ने वेवल को कार्यकारिणी समिति के सदस्यों से मिलने और महाराज्यपाल से वार्ता हेतु पूछा।
17 जुलाई	:	गांधी ने जिन्नाह को बैठक का सुझाव देते हुये लिखा, जिन्नाह ने उत्तर दिया कि वे उनके कश्मीर वापसी के बाद बम्बई के अपने मकान में गाँधी का स्वागत करते हुए आनन्द का अनुभव करेंगे।
27 जुलाई	:	गाँधी ने वेवल को पत्र लिखते हुए कांग्रेस सरकार के मध्य सूझ-बूझ हेतु अपने सूझाव लिखे, उन्होंने भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा करने, राष्ट्रीय सरकार की स्था-

पना होने पर अपना अवज्ञा आन्दोलन वापस लेकर युद्ध प्रयत्नों में सरकार को पूर्ण सहयोग देने का वचन दिया।

28 जुलाई : हाउस ऑफ कॉमन्स में राज्य सचिव ने बताया कि गाँधी के सुझाव वार्ता के आरम्भिक कार्य भी पूर्ण नहीं करते।

30 जुलाई : लाहौर में लीग की कार्यकारिणी समिति की बैठक में जिन्नाह को गांधी से समझौता करने हेतु पूर्ण अनुमति अधिकार दिये गये। जिन्नाह ने राजगोपालाचारी सूत्र को निरस्त कर दिया।

15 अगस्त : वेवल ने गाँधी को उत्तर दिया कि युद्ध के समय संविधान परिवर्तन करना असम्भव है।

अगस्त : राज्यपाल सम्मेलन में वेवल ने कहा कि भारत को पुनः युद्ध आश्वासन दिए जाने जैसा समझा जायेगा। राज्यपालों को आशाप्रद-सफलतापूर्ण कदम उठाने की आवश्यकता पर जोर दिया गया।

9-27 सितम्बर : गाँधी-जिन्नाह वार्ता में, 27 सितम्बर को पत्राचार प्रकाशित।

अक्टूबर : वेवल ने भारत सचिव व चर्चिल को सुझाव भेजे।

19 नवम्बर : निर्दलीय सम्मेलन की तदर्थ समिति ने एक कमेटी को बनाने का निर्णय लिया जो साम्प्रदायिक और अल्प संख्यक के प्रश्न पर विचार करे। इसके सदस्य किसी राजनैतिक दल के सक्रिय सदस्य नहीं होने चाहिए।

3 दिसम्बर : सप्रू ने कमेटी के सदस्यों के नामों की घोषणा की। जिन्नाह ने कमेटी को मान्यता देने से इन्कार कर दिया।

1945 : भोलाभाई देसाई ने महाराज्यपाल से भेंट की और उन्हें बताया कि गांधी जी ने देसाई-लियाकत अली पैक्ट के विषय में स्वीकृति दे दी है, जिन्नाह ने इस सम्बन्ध में किसी जानकारी के प्रति अनभिज्ञता प्रकट की।

फरवरी : बम्बई के राज्यपाल ने देसाई प्रस्ताव के सम्बन्ध में जिन्नाह से भेंट की, जिन्नाह ने कहा कि लीग के बिना अधिकार दिये उन्होंने यह कार्य किया है।

फरवरी : सिन्ध में सर गुलाम हुसैन हिदायतुल्ला के नेतृत्व में लीगी सरकार पराजित। जिन्नाह ने सम्मिलित सरकार का प्रस्ताव ठुकराया।

12 मार्च :	उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में मुस्लिम लीग सरकार पराजित हुई । कांग्रेस दल के नेता डॉ० खान साहब को नयी सरकार निर्माण हेतु आमन्त्रित किया गया ।
14 मार्च :	सिन्ध में सर गुलाम हुसैन हिदायतुल्ला द्वारा नयी सरकार का गठन ।
22 मार्च :	सर इवान जेन्किन और वी० पी० मेनन के साथ वेवल भारत सचिव और भारत कमेटी से वार्ता करने लन्दन रवाना ।
28 मार्च :	बंगाल में नज़ीमुद्दीन मन्त्रिमण्डल पराजित, धारा 93 के अन्तर्गत राज्यपाल ने प्रान्त की सत्ता अपने हाथ में ली ।
मार्च :	आसाम में सर मोहम्मदसादुल्लाह ने कांग्रेस नेता गोपीनाथ बारडोली के साथ सम्मिलित सरकार बनायी ।
3 मई :	रंगून में आंग्ल सेना का प्रवेश ।
7 मई :	जर्मनी द्वारा आत्म समर्पण ।
23 मई :	लन्दन में कार्यकारिणी सरकार बनी ।
4 जून :	वेवल की दिल्ली वापसी ।
14 जून :	वेवल ने भारत को अपने पूर्ण स्वयं सरकार हेतु प्रस्ताव को घोषणा करते हुए कहा कि बैठक शिमला में होगी । ऐमरी ने हाउस ऑफ कामन्स में बताया कि महाराज्यपाल को यह अधिकार दिए गये हैं कि वह अन्तरिम सरकार के स्वरूप के विषय में अपनी रुचि बनायें ।
जून :	महाराज्यपाल ने सभी राजनैतिक-नेताओं को बुलाया । और गांधी से पत्राचार किया जिन्होंने कई प्रेस वक्तव्य दिये ।
15 जून :	नेहरू और अन्य कांग्रेसी नेता जेल से रिहा ।
24 जून :	महाराज्यपाल की आजाद, जिन्नाह, गांधी, से अलग-अलग वार्ता ।
25 जून 14जुलाई :	शिमला वार्ता ।
3-6 जुलाई :	कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने महाराज्यपाल को देने हेतु नामों की सूची दी ।
5 जुलाई :	ब्रिटेन में आम-चुनाव ।
6 जुलाई :	लीग कार्यकारिणी की बैठक ।
7 जुलाई :	जिन्नाह का महाराज्यपाल को पत्र ।

8 जुलाई	:	महाराज्यपाल ने जिन्नाह के साथ लम्बी वार्ता की ।
9 जुलाई	:	महाराज्यपाल ने जिन्नाह को लिखित उत्तर भेजा ।
11 जुलाई	:	महाराज्पाल जिन्नाह से मिले, वार्ता विफल ।
11 जुलाई	:	महाराज्यपाल ने गांधी से भेंट की और बताया कि वार्ता विफल हो चुकी है ।
14 जुलाई	:	वार्ता का पांचवां और अन्तिम दौर, वेवल ने वार्ता विफलता की घोषणा की क्योंकि लीग ने कार्यकारिणी परिषद के सभी मुस्लिम सदस्यों को चुनने का अधिकार मांगा था ।
26 जुलाई	:	ब्रिटेन लेबर पार्टी सरकार सत्ता में आयी, सी० आर० एटली प्रधानमन्त्री और लार्ड पेथिक लारेन्स भारत सरकार सचिव बने ।
6 अगस्त	:	जिन्नाह ने नये चुनावों की माँग की ।
अगस्त	:	वेवल ने राज्यपालों की बैठक बुलाई जिसमें शीघ्रातिशीघ्र सम्भव समय में चुनाव करने की सहमति की गयी ।
14 अगस्त	:	जापान द्वारा आत्म सम्पर्ण ।
21 अगस्त	:	वेवल को वार्ता हेतु लन्दन बुलाया गया । आम चुनाव जाड़ों में होने की घोषणा ।
24 अगस्त	:	बी० पी० मेनन और सर ऐवन जन्किन्स के साथ वेवल भारत सचिव और भारत कमेटी के साथ वार्ता हेतु लन्दन प्रस्थान ।
अगस्त-अन्त	:	साम्प्रदायिक समाधान हेतु आजाद ने गांधी से भेंट की ।
21 सितम्बर	:	वेवल भारत पहुंचे ।
19 सितम्बर	:	वेवल ने चुनावों और संविधान निर्माण सभा को बुलाने हेतु अपनी योजना की घोषणा की ।
21 सितम्बर	:	अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने बम्बई में प्रस्ताव पारित कर वेवल योजना को अनुपयुक्त, अपूर्ण और असन्तोषजनक बताया ।
नवम्बर	:	दिल्ली के लाल किले में भारतीय राष्ट्रीय सेना (आई०एन० ए०) पर मुकदमा चला ।
4 दिसम्बर	:	केन्द्रीय विधायिका के चुनाव परिणाम घोषित ।
1946		
5 जनवरी	:	प्रोफेसर राबर्ट रिचर्डस के नेतृत्व में संसदीय दल भारत

पहुंचा ।

11 जनवरी : मुस्लिम लीग द्वारा विजय दिवस के रूप में मनाया गया ।

28 जनवरी : महाराज्यपाल ने नव निर्वाचित केन्द्रीय विधायिका को सम्बोधित किया ।

जनवरी : रायल एयर फोर्स की हड़ताल ।

11-15 फरवरी : कलकत्ता में उपद्रव प्रारम्भ ।

18-23फरवरी : (आर०आई०एन०) रायल भारतीय जल सेना का विद्रोह ।

19 फरवरी : राज्य सचिव ने यह घोषणा कर दी कि कैबिनट मिशन का भारत आगमन होगा ।

16 मार्च : हाउस ऑफ कामन्स में, कैबिनट मिशन की भारत यात्रा के प्रति वाद-विवाद ।

25 मार्च : कैबिनट मिशन का दिल्ली आगमन ।

3-17 अप्रैल : कैबिनेट मिशन की भारतीय नेताओं से भेंट । कांग्रेस का प्रतिनिधित्व आज़ाद ने किया । तुरन्त बाद में गांधी से वार्ता की गयी (3 अप्रैल) मिशन द्वारा जिन्नाह से वार्ता (4 अप्रैल) मिशन द्वारा सिक्ख, हरिजन, पिछड़ी जाति, हिन्दू महासभा, और उदारवादियों के प्रतिनिधियों से वार्ता की गई ।

10 अप्रैल : जिन्नाह ने मुस्लिम लीग के टिकट पर चुने गये वर्तमान 400 से अधिक सदस्यों का दिल्ली में एक सम्मेलन बुलाया जिसमें स्वतन्त्र पाकिस्तान हेतु प्रस्ताव पास किया गया ।

16 अप्रैल : मिशन द्वारा जिन्नाह से पुनः वार्ता ।

17 अप्रैल : मिशन द्वारा आजाद से पुनः वार्ता ।

17-23 अप्रैल : आराम के लिए मिशन कश्मीर रवाना ।

24 अप्रैल : मिशन योजना जिन्नाह और कांग्रेस नेताओं के सम्मुख रक्खी गयी । दोनों ने अस्वीकृत कर दी ।

26 अप्रैल : क्रिप्स द्वारा आजाद से भेंट, जिसने तीन पक्षीय संविधान की मांग उठायी । क्रिप्स जिन्नाह से भी मिले ।

27 अप्रैल : राज्य सचिव ने कांग्रेस और लीग अध्यक्षों को पत्र लिखकर दोनों मिशन से मिलने हेतु चार सदस्यों को बुलाने का आमंत्रण दिया ।

5-12 मई : द्वितीय शिमला समझौता वार्ता । मिशन के सदस्य आज़ाद, नेहरू, पटेल, अब्दुल गफ्फार खां जिन्नाह, मुहम्मद इस्माइल

खां, लियाकतअली खाँ, अब्दुल रबनश्तर ने भाग लिया। सम्मेलन असफल रहा।

16 मई : कैबिनट मिशन ने अपना वक्तव्य जारी किया जिसमें उसने अपनी स्वयं की एक योजना प्रस्तुत की।

16 मई : राज्य सचिव द्वारा रेडियो प्रसारण तथा क्रिप्स द्वारा प्रेस सम्मेलन में वक्तव्य।

17 मई : क्रिप्स और महाराज्यपाल द्वारा प्रसारण।

17 मई : कैबिनेट मिशन द्वारा अपनी योजनाओं पर प्रेस सम्मेलन।

22 मई : जिन्नाह ने 16 मई के कैबिनेट मिशन के वक्तव्य पर अपना व्यक्तव्य दिया।

24 मई : कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने एक प्रस्ताव पारित कर कैबिनेट मिशन की योजना के कुछ मुद्दों पर शंका व्यक्त की, और अनुच्छेद 15 के प्रति अपना विश्लेषण किया।

25 मई : मिशन और महाराज्यपाल ने विज्ञप्ति जारी कर कांग्रेस द्वारा धारा 15 की व्याख्या को मिशन के विचारों के विपरीत बताया।

6 जून : मुस्लिम लीग की काउन्सिल ने एक प्रस्ताव पारित कर मिशन के 16 मई के प्रस्ताव को स्वीकार किया।

10 जून : अमृतसर में सिक्खों के प्रतिनिधियों ने कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव को अस्वीकार कर भूतपूर्व भारतीय राष्ट्रीय सेना (आजाद हिन्द फौज) के अधिकारी के अन्तर्गत कार्यवाही कमेटी का निर्माण हुआ।

12 जून : महाराज्यपाल की नेहरू से मुलाकात, इसके पश्चात जिन्नाह आदि के साथ आन्तरिक सरकार हेतु दोनों की बैठक और पत्र व्यवहार हुआ।

16 जून : केन्द्र में अन्तरिम सरकार के निर्माण हेतु कैबिनेट मिशन ने अपनी योजना सम्मुख रखी।

जून : सिक्खों ने अन्तरिम योजनाओं को अस्वीकार करते हुए सिक्खों के कार्यकारणी परिषद में प्रतिनिधित्व हेतु मना किया।

19 जून : जिन्नाह ने महाराज्यपाल को पत्र लिखकर उनके 16 जून के कुछ मुद्दों पर स्पष्टीकरण माँगा, महाराज्यपाल ने उत्तर दिया, इस पत्राचार का एक संक्षिप्त विवरण आजाद को

भेजा गया ।

22 जून : महाराज्यपाल ने जिन्नाह को पत्र लिखकर कांग्रेस द्वारा अपने इच्छित मुसलमानों को अन्तरिम सरकार में सम्मिलित करने में अपनी और मिशन की असमर्थता प्रदर्शित की ।

25 जून : लीग कार्यकारिणी कमेटी ने 16 जून के वक्तव्य के आधार पर अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने पर सहमति व्यक्त की ।

25 जून : आजाद महाराज्यपाल को कांग्रेस प्रस्ताव भेजते हुए 16 मई के प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए उसकी अपनी व्याख्या पर अटल रहे ।

25 जून : कैबिनेट मिशन जिन्नाह से मिला और बताया कि 16 जून का प्रस्ताव निर्जीव हो चुका है परन्तु चूंकि कांग्रेस और लीग दोनों ने 16 मई के वक्तव्य को स्वीकार किया है इसलिये साझा सरकार बनाने की योजना बनाई जाये ।

26 जून : राजनैतिक दलों और कैबिनेट मिशन की अन्तिम सभा । अन्तरिम सरकार हेतु समझौता असफल रहा ।

29 जून : कैबिनेट मिशन भारत से रवाना ।

6 जुलाई : अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के बम्बई बैठक में कैबिनेट मिशन की योजना पर कार्यकारिणी के प्रस्ताव का अनुमोदन किया । आजाद के स्थान पर नेहरू अध्यक्ष पदारूढ़ ।

18 जुलाई : पेथिक-लारेन्स ने लार्डस में तथा क्रिप्स द्वारा कामन्स में योजना पर पुनः जोर देते हुए कांग्रेस द्वारा निकाले गये अर्थ को गलत बताया ।

22 जुलाई : महाराज्यपाल ने कांग्रेस और लीग को अन्तरिम सरकार की योजना के विषय में लिखते हुए प्रस्ताव रखा ।

23 जुलाई : नेहरू ने उत्तर दिया कि वे महाराज्यपाल द्वारा बताये निर्देशों पर सरकार बनाने में सहयोग देने में असमर्थ हैं।

27 जुलाई : बम्बई की लीग की बैठक में जिन्नाह ने मिशन पर अविश्वास का आरोप लगाते हुए कांग्रेस की आलोचना की । लीग के पास पुनः अपने लक्ष्य पाकिस्तान पर दृढ़ रहने के अलावा कोई रास्ता नहीं है ।

29 जुलाई : मुस्लिम लीग की बैठक में कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव को

अस्वीकार करने का प्रस्ताव किया गया। दूसरे प्रस्ताव के द्वारा भारत भर के मुसलमानों को प्रत्यक्ष कार्यवाही करने के लिए आह्वान किया और 16 अगस्त को "सीधे कार्यवाही दिवस" के रूप में मनाने का आह्वान किया। लीगी प्रस्ताव के बाद महाराज्यपाल नेहरू से मिले और उनसे लीग को आश्वासन देने को कहा। नेहरू ने कहा कि वे नहीं जानते कि वे कौन सा आश्वासन दे सकते हैं।

जुलाई अन्तिम : ब्रिटिश भारत के प्रान्तों में संविधान सभा की 296 स्थानों हेतु मतदान पूर्ण हुआ, कांग्रेस ने 9 स्थान छोड़कर सभी आम निर्वाचनों तथा लीग ने 5 स्थान छोड़कर सभी मुस्लिम निर्वाचनों में विजय पाई।

31 जुलाई : जिन्नाह ने महाराज्यपाल के 22 जुलाई के पत्र का उत्तर दिया कि उनकी कार्यकारिणी महाराज्यपाल के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर सकती।

6 अगस्त : महाराज्यपाल ने इसको अन्तरिम सरकार निर्माण के लिए अपने सुझाव देने हेतु लिखा।

8 अगस्त : महाराज्यपाल ने जिन्नाह के 31 जुलाई के पत्र का उत्तर देते हुए कहा कि उन्होंने अन्तरिम सरकार बनाने हेतु कांग्रेस को बुलाया है।

8 अगस्त : वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक में अन्तरिम सरकार बनाने के निमन्त्रण को स्वीकार किया। एक प्रस्ताव द्वारा स्पष्ट किया कि कांग्रेस 16 मई के प्रस्ताव को पूर्णतया स्वीकार करती है परन्तु इसकी व्याख्या इस प्रकार की कि इसके अर्न्तनिहित विरोधाभास समाप्त हो जाय। कांग्रेस ने आशा व्यक्त की कि लीग भी संविधान सभा में भाग लेगी।

12 अगस्त : महाराज्यपाल ने एक सूचना जारी कर कांग्रेस अध्यक्ष को तदर्थ सरकार निर्माण के लिये आमन्त्रित किया।

13 अगस्त : नेहरू ने जिन्नाह को व्यक्तिगत वार्ता हेतु लिखा।

15 अगस्त : जिन्नाह ने नेहरू को उत्तर दिया। तत्पश्चात् और अधिक पत्राचार व बैठकें चली। नेहरू ने अन्तरिम सरकार की 14 स्थानों में 5 स्थान देने का प्रस्ताव रक्खा, कोई परिणाम नहीं निकला।

16 अगस्त : 'सीधी कार्यवाही दिवस' बंगाल तथा सिन्ध में आम छुट्टी।
: कलकत्ता में विशाल मारधाड़ ।

17 अगस्त : नेहरू ने महाराज्यपाल को स्पष्ट किया कि वे सरकार में 6 कांग्रेसी तीन अल्पसंख्यक प्रतिनिधि तथा 5 स्थान मुस्लिम लीग के स्थान पर अलीगी मुसलमानों से भरने का स्पष्टीकरण दिया । महाराज्यपाल इसी पक्ष में थे ।

18 अगस्त । नेहरू ने महाराज्यपाल से ज़िन्नाह से मैत्री के प्रस्ताव पर भेंट की ।

19 अगस्त : जिन्नाह ने प्रेस वक्तव्य दिया ।

19-22 अगस्त : महाराज्यपाल नेहरू-आज़ाद के बीच वार्तालाप ।

22 अगस्त : नेहरू ने महाराज्यपाल को लीग के साथ साझा सरकार बनाने के विषय में लिखा । यह लीग को 'मान्यता' देने की नीति थी ।

24 अगस्त : प्रेस विज्ञप्ति में, महाराज्यपाल द्वारा उसकी कार्यकारिणी के सदस्यों के त्याग पत्र स्वीकार करने, और उसके स्थान पर नेहरू, पटेल, प्रसाद, आसिफ अली, राजगोपालाचारी, शरद चन्द्र बोस, मथाई, बलदेव सिंह, शफ्फाक अहमद खां, जगजीवन राम, सैयद अलीजहीर और सी० एच० भाभा को नियुक्त करने का समाचार दिया ।

24 अगस्त : अन्तरिम सरकार बनाने पर महाराज्यपाल द्वारा रेडियों भाषण ।

24 अगस्त : महाराज्यपाल ने रेडियों भाषण के बाद, भारत विभाजन की मांग को दोहराया ।

24/25 अगस्त : वेवल कलकत्ता गये और ख्वाजा नाजिमुद्दीन से मिले ।

27 अगस्त : कलकत्ता से लौटकर वेवल, नेहरू-गांधी से मिले और बंगाल तथा केन्द्र में साझा सरकार की वकालत की, कांग्रेस से मिशन के अर्थ को समझते हुए मिलाजुला कर सूत्र समझने को कहा । बताया कि वे समस्या समाधान तक संविधान सभा को बुला सकते हैं ।

27 अगस्त : गांधी ने महाराज्यपाल को लिखा । महाराज्यपाल ने नेहरू को लिखकर कहा कि उनका सूत्र कांग्रेस कार्यकारिणी के सम्मुख रक्खा जाय ।

28 अगस्त : नेहरू ने उत्तर दिया कि कार्यकारिणी समिति उनके अचानक विचार परिवर्तन पर आश्चर्य चकित है। कांग्रेस की साझा विषय पर नीति स्पष्ट करते महाराज्यपाल के प्रस्ताव को स्वीकार करने में असमर्थता प्रकट की।

2 सितम्बर : अन्तरिम सरकार ने बिना लीग के पदभार ग्रहण किया।

प्रारम्भ सितम्बर : बम्बई और अहमदाबाद में साम्प्रदायिक झगड़े।

7 सितम्बर : संविधान सभा पर नेहरू का रेडियो भाषण।

8 सितम्बर : जिन्नाह ने 'डेली' मेल को अपनी वार्ता देते हुए कहा कि नेहरू ने उनके साथ कोई विशेष सुझाव नहीं रखे।

सितम्बर : महाराज्यपाल की नेहरू और राजगोपालाचारी के साथ वार्ता।

16 सितम्बर : महाराज्यपाल का जिन्नाह से भेंट पर कोई समझौता नहीं।

25 सितम्बर : महाराज्यपाल ने जिन्नाह से भेंट की, अन्तरिम सरकार के निर्माण पर वार्ता।

26 सितम्बर : महाराज्यपाल की नेहरू और गांधी से भेंट।

2 अक्टूबर : महाराज्यपाल ने जिन्नाह को बताया कि वे राष्ट्रीय मुसलमानों के प्रश्न पर किसी हल पर नहीं पहुंच सके। उन्होंने लीग को सरकार में शामिल होने का आह्वान किया। जिन्नाह ने कार्यकारिणी समिति को बुलाने का आश्वासन दिया। जिन्नाह ने महाराज्यपाल को एक टिप्पणी लिख कर नौ सूत्री मांग पत्र भेजा।

4 अक्टूबर : महाराज्यपाल ने जिन्नाह के मुद्दों पर नेहरू से वार्ता की तब जिन्नाह को उत्तर दिया।

4 अक्टूबर : नेहरू ने महाराज्यपाल को बताया कि मन्त्रीमण्डल संयुक्त कार्य करने में समर्थ हो सके।

10-20 अक्टूबर : नोआखाली में साम्प्रदायिक दंगे।

12 अक्टूबर : महाराज्यपाल ने जिन्नाह को लिखा।

13 अक्टूबर : जिन्नाह ने वेवल को लिखा कि लीग ने अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने का निर्णय लिया है। जिन्नाह-लियाकत अली की महाराज्यपाल से भेंट।

14 अक्टूबर : महाराज्यपाल ने नेहरू को लीगी नेताओं से भेंट के बारे में बताया।

14 अक्टूबर	:	जिन्नाह ने अन्तरिम सरकार हेतु 5 नाम सुझाए।
15 अक्टूबर	:	लीग ने प्रेस विज्ञप्ति जारी कर अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने की घोषणा की।
23 अक्टूबर	:	गांधी ने संयुक्त धाराओं पर वक्तव्य देते हुए बताया कि कोई भी विधि वेत्ता स्वयं अपने विधान की अधिकारिक व्याख्या नहीं कर सकता।
25 अक्टूबर	:	अन्तरिम सरकार का निर्माण।
26 अक्टूबर	:	अन्तरिम सरकार में मुस्लिम लीगी सदस्यों द्वारा पद ग्रहण।
29 अक्टूबर	:	गांधी दिल्ली से कलकत्ता पहुंचे।
30 अक्टूबर से 7 नवम्बर	:	बिहार-तबाही, महाराज्यपाल, नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद सबने प्रान्त का दौरा किया।
6 नवम्बर	:	गांधी कलकत्ता से नोआखाली रवाना और वहां 2 मार्च तक रहे।
6-15 नवम्बर	:	गढ़मुक्तेश्वर में साम्प्रदायिक दंगे।
17 नवम्बर	:	जिन्नाह ने महाराज्यपाल को लिखा कि कांग्रेस ने 16 मई प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया है। अत: उन्हें अपनी बैठक बुलाना लाभप्रद नहीं रहेगा। महाराज्यपाल से संविधान सभा को अग्रसरित करने का निवेदन किया।
18-19 नवम्बर	:	महाराज्यपाल ने संविधान सभा के विषय में नेहरू-जिन्नाह से भेंट की।
20 नवम्बर	:	महाराज्यपाल ने संविधान सभा हेतु बैठक बुलायी, जिन्नाह ने लीगी सदस्यों को बैठक में भाग न लेने को कहा।
नवम्बर	:	मेरठ में कांग्रेस के वार्षिक सम्मेलन में मांग की गयी कि या तो लीग कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव स्वीकार करे और संविधान सभा में भाग ले। अन्यथा अन्तरिम सरकार छोड़ दे।
26 नवम्बर	:	महाराज्यपाल ने नेहरू, लियाक़त, बल्देव सिंह से भेंट की और उन्हें लन्दन में वार्ता हेतु बुलाया नेहरू ने आमन्त्रण अस्वीकार कर दिया। एटली ने व्यक्तिगत निमन्त्रण भेजा जिसे नेहरू ने स्वीकार कर लिया, एटली ने जिन्नाह को भी व्यक्तिगत आमन्त्रण भेजा।

2 दिसम्बर ' वेवल-नेहरू,बल्देव सिंह, जिन्नाह, लियाकत लन्दन पधारे।

3-6 दिसम्बर , लन्दन सम्मेलन-कोई परिणाम नहीं।

6 दिसम्बर , सरकार ने केबिनेट मिशन योजना के विषय पर स्पष्टीकरण दिया।

7 दिसम्बर ' नेहरू-बल्देव सिंह भारत लौटे, जिन्नाह और लियाकत अली ब्रिटेन में ही रहे।

9 दिसम्बर : संविधान सभा बिना लीगी सदस्यों के बैंध और 20 जनवरी तक के लिए स्थगित।

18 दिसम्बर : एटली ने माउन्टबेटन से वेवल के उत्तराधिकार हेतु प्रथम प्रयास किया।

22 दिसम्बर : कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने 6 दिसम्बर के सरकार के वक्तव्य के विषय पर स्पष्टीकरण घोषित किया।

दिसम्बर अन्तिम या
जनवरी प्रथम : वी० पी० मेनन की बल्लभ भाई पटेल से लम्बी वार्ता, यह राय दी गयी कि सत्ता दो केन्द्रीय सरकारों को अधि-राज्य के आधार पर स्थान्तरित की जाय। पटेल ने स्वीकारा और मेनन ने अपनी योजना का प्रारूप राज्य सचिव को भेजा परन्तु कोई कार्यवाही नहीं की गयी।

1947

जनवरी : जिन्नाह भारत लौटे बीमार पड़े, अप्रैल के प्रथम दिनों तक किसी कार्य में भाग न ले सके।

5 जनवरी : अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक दिल्ली में, 22 दिसम्बर के कार्यकारिणी के वक्तव्य का अनुमोदन किया गया। 7 जनवरी को प्रस्ताव पारित।

20 जनवरी : संविधान सभा की बैठक।

25 जनवरी : लियाकत अली खान ने एक वक्तव्य जारी किया और कई प्रश्न कांग्रेस से पूछे।

29 जनवरी : कराची में लीग कार्यकारिणी की बैठक, सरकार को 16 मई की योजना कई क्षेत्रों में विफल रहने की घोषणा करने को कहा और संविधान सभा को भंग करने को कहा।

फरवरी : पंजाब में साम्प्रदायिक दंगे।

1 फरवरी : नेहरू, महाराज्यपाल वार्तालाप।

5 फरवरी	:	कांग्रेस और अल्प संख्यक प्रतिनिधियों द्वारा महाराज्यपाल से लीगी सदस्यों को अन्तरिम सरकार त्यागने को कहा गया ।
6 फरवरी	:	महाराज्यपाल-लियाकत भेंट ।
7 फरवरी	:	लियाकत ने महाराज्यपाल को लीगी सदस्यों के त्यागपत्र देने के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा कि कांग्रेस ने 16 मई समझौता स्वीकार नहीं किया ।
15 फरवरी	:	वल्लभ भाई पटेल ने कहा कि लीगी सदस्यों के बने रहने पर कांग्रेस अन्तरिम सरकार से त्यागपत्र दे देगी ।
13 फरवरी	:	नेहरू ने महाराज्यपाल को पुनः, लिखकर लीगी सदस्यों का अन्तरिम सरकार से त्यागपत्र देने को कहा ।
20 फरवरी	:	प्रधानमन्त्री ने संसद में घोषणा की कि अंग्रेज सरकार भारत को जून 1948 तक छोड़ना चाहती है । माउन्टबेटन ने वेवल का स्थान लिया ।
21 फरवरी	:	वेवल ने नेहरू से लीगी सदस्यों को संविधान सभा में सम्मिलित करने को कहा । वे लियाकत से भी मिले ।
मार्च	:	अन्न की कमी । कारखानों में असन्तोष, हड़ताल, पंजाब में साम्प्रदायिक दंगे । लीग ने कांग्रेस की उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रदेश सरकार के विरुद्ध प्रदर्शन किए । लीगियों की बड़ी संख्या में गिरफ्तारी ।
2 मार्च	:	पंजाब के प्रधानमन्त्री पद से खिजर हयात खान का त्याग पत्र । लीग के भमदोर खान सरकार बनाने में असफल रहे ।
2 मार्च	:	गांधी नोआखाली से बिहार रवाना ।
5 मार्च	:	कांग्रेस कार्य समिति द्वारा 20 फरवरी के प्रस्ताव पर विचार करने हेतु बैठी । लीग को सत्ता परिवर्तन हेतु बुलाया, बंगाल और पंजाब के बंटवारे की मांग ।
9 मार्च	:	नेहरू ने वेवल को कार्यकारिणी के प्रस्ताव की प्रतियां भेजते हुए पत्र लिखा ।
मार्च	:	लियाकत द्वारा बजट प्रस्तुत किया एक लाख से ऊपर के व्यापार लाभ में 25% कर का प्रस्ताव रक्खा ।

22 मार्च : लार्ड माउन्टबेटन दिल्ली पहुंचे और गांधी एवं जिन्नाह को दिल्ली आमन्त्रित किया।

23 मार्च : वेवल ने दिल्ली से प्रस्थान किया।

24 मार्च : माउन्टबेटन को महाराज्यपाल पद की शपथ दी गयी।

मार्च-अप्रैल : सभी राजनैतिक दलों की माउन्टबेटन से वार्ता।

24 मार्च : अन्तरिम सरकार के सदस्यों से माउन्टबेटन की वार्ता, विशेषकर नेहरू और लियाकत से बजट प्रस्ताव पर वार्ता-कर का प्रतिशत घटाया।

25 मार्च : माउन्टबेटन की पटेल से भेंट।

30 मार्च : गांधी विहार से दिल्ली रवाना।

31 मार्च : माउन्टबेटन-गांधी भेंट वार्ता।

अप्रैल : गांधी ने मान्उन्टबेटन से दूसरी वार्ता में वर्तमान मन्त्रीमण्डल को भंग करने और जिन्नाह को नए मन्त्रीमण्डल हेतु बुलाने को कहा।

2 अप्रैल : माउन्टबेटन की गांधी से पुनः वार्ता।

: लार्ड पेथिक लारेन्स का भारत सचिव पद से त्याग पत्र। उनके स्थान पर लार्ड लिस्टोअल ने पद ग्रहण किया।

5 अप्रैल : माउन्टबेटन ने प्रथम समय जिन्नाह से भेंट की।

8 अप्रैल : महाराज्यपाल ने लियाकत से पत्र-प्राप्त किया जिसमें सेना को इस प्रकार विभाजित करने को कहा कि वे भारत और पाकिस्तान में सरलता से बाँटी जा सके माउन्टबेटन ने कहा कि अंग्रेजों के भारत छोड़ने तक सेना का बँटवारा नहीं हो सकता।

अप्रैल : दिल्ली सहित पंजाब और मिले प्रान्तों में साम्प्रदायिक दंगे, उत्तर पश्चिमी सीमान्त प्रान्त में वहां की कांग्रेसी सरकार के विरुद्ध आन्दोलन। वहाँ की सरकार ने राजनैतिक बन्दियों को रिहा करने का निर्णय लिया, परन्तु बन्दियों ने मन्त्रीमण्डल के भंग होने तक अपनी रिहाई अस्वीकार की।

8 अप्रैल : माउन्टबेटन ने दोनों बड़ी राजनैतिक दलों द्वारा साम्प्रदायिक दंगे में विराम संधि के प्रश्न पर जिन्नाह से वार्ता की।

9 अप्रैल : भारत में अंग्रेजी नागरिकों की दिल्ली बैठक।

12 अप्रैल : गाँधी ने महाराज्यपाल को लिखा कि उनके जिन्नाह को सत्ता देने का प्रस्ताव कांग्रेस को स्वीकार नहीं है, साथ

ही भविष्य के सभी समझौता वार्ता हेतु अधिकार वे कांग्रेस कार्य समिति को दे रहे हैं ।

14 अप्रैल : गांधी बिहार रवाना ।

15 अप्रैल : गांधी-जिन्नाह द्वारा राजनैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु हिंसा के प्रयोग तथा हिंसा की घटनाओं की निन्दा ।

15-16 अप्रैल : नई दिल्ली के राज्यपाल सम्मेलन में महाराज्यपाल ने अपनी योजना रक्खी ।

18 अप्रैल : माउन्टबेटन की सिक्ख नेताओं से वार्ता जो पंजाब विभाजन के दृढ़ इच्छुक थे ।

20 अप्रैल : नेहरू ने कहा कि मुस्लिम लीग पाकिस्तान इस शर्त में पा सकती है कि वह इन क्षेत्रों को अपने में सम्मिलत न करें जो उससे न मिलना चाहते हों ।

24 अप्रैल : जिन्नाह ने उ० प्र० सीमान्त प्रदेश के कारणों पर अपील जारी की ।

28 अप्रैल : संविधान सभा के अध्यक्ष राजेन्द्र प्रसाद ने सैद्धान्तिक रूप से बँटवारा स्वीकार किया ।

28 अप्रैल : गांधी दिल्ली लौटे ।

20-30 अप्रैल : माउन्टबेटन उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रदेश के दौरे में ।

2 मई : अप्रैल में राज्यपालों से विचार किये गये योजना के नवीन रूप की माउन्टबेटन योजना की प्रथम प्रारूप को लेकर इस्में और एवेल लन्दन रवाना हो गये ।

4 मई : तीन वर्षों में प्रथम बार गांधी और जिन्नाह महाराज्यपाल से मिलने जाते समय आपस में मिले ।

6 मई : जिन्नाह के घर में गांधी जिन्नाह की तीन घण्टे तक वार्ता ।

7 मई : वी० पी० मेनन तथा मेविल के साथ माउन्टबेटन शिमला आये ।

7 मई : वर्तमान संविधान के अन्तर्गत सत्ता विभाजन पर लिखित मसौदा तैयार करने हेतु वी० पी० मेनन को कहा गया ।

8 मई : नेहरू कृष्णा मेनन के साथ शिमला पहुंचे, महाराज्यपाल के अतिथि के रूप में महाराज्यपाल निवास में रुके ।

9 मई : वल्लभ भाई पटेल ने प्रस्ताव रक्खा कि भारत सरकार को अधिराज्य (डोमिनियन) शासन के रूप में सत्ता दी

जाय ।

10 मई : महाराज्यपाल ने मेनन योजना पर वार्ता हेतु सभा बुलायी, नेहरू, मेविल और वी० पी० मेनन ने भाग लिया ।

10 मई : ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल द्वारा स्वीकृत इस्में योजना को माउन्टवेटन ने लन्दन से प्राप्त किया ।

10 मई : यह घोषणा की गयी कि 17 मई को महाराज्यपाल जिन्नाह, लियाकत, नेहरू पटेल और बल्देव सिंह से दिल्ली में भेंट करेंगे ।

10 मई : माउन्टबेटन ने योजना नेहरू को दिखायी जिन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया ।

11 मई : 2 जून तक नेताओं से वार्ता स्थगित कर दी गयी ।

11 मई : वी० पी० मेनन ने अपनी योजना का प्रारूप बनाया ।

14 मई : माउन्टेबेटन दिल्ली रवाना ।

14 मई : गाँधी पटना हेतु दिल्ली रवाना ।

15 मई : माउन्टबेटन को वार्तालाप हेतु लन्दन बुलाया गया ।

15 मई : माउन्टवेटन पटेल और लियाकत से मिले ।

16 मई : महाराज्यपाल की नेताओं से वार्ता, नयी योजना पूर्ण, नेहरू ने इसे लिखित रूप से स्वीकारा, जिन्नाह ने मौखिक रूप से ।

18 मई : माउन्टब्रेटन लन्दन के लिये दिल्ली से रवाना अपने साथ वी० पी० मेनन तथा इरस्क्रीन-क्रम को भी ले गये ।

19 मई : माउन्टबेटन लन्दन पहुंचे ।

19-30 मई : माउन्टवेटन, एटली तथा भारत-बर्मा-कमेटी, और विरोधी दल के नेताओं में विचार विनिमय । नेहरू और जिन्नाह को वार्ता की प्रगति के विषय में निरन्तर जानकारी दी गयी ।

22 मई : जिन्नाह ने पूर्व-पश्चिम को मिलाने के लिये 800 मील का क्षेत्र माँगा ।

24 मई : गाँधी ने दिल्ली जाने हेतु बिहार छोड़ा ।

25 मई के बाद : गाँधी ने प्रार्थना सभा में संयुक्त भारत के समर्थन में कहा ।

31 मई : ब्रिटिश मन्त्री मण्डल द्वारा पारित अन्तिम योजना के साथ माउन्टबेटन भारत लौटे ।

2 जून	:	महाराज्यपाल और भारतीय नेताओं के बीच वार्ता, मुख्य बैठक के बाद महाराज्यपाल गाँधी से मिले ।
2 जून	:	कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक में योजना स्वीकार की गयी ।
		कृपलानी ने महाराज्यपाल को लिखा ।
2जून-मध्य रात्रि	:	महाराज्यपाल की जिन्नाह् से भेंट, जिन्नाह् ने योजना के प्रति मौखिक आश्वासन दिया ।
3 जून	:	माउन्टबेटन और योजना को मानने वाले नेताओं के बीच दूसरी बैठक उन्हें विभाजन के प्रशासनिक परिणामों के विषय में अवगत कराया गया ।
3 जून	:	राज्य समझौता की समिति बैठक में योजना बतायी गयी ।
	:	योजना को रेडियों पर महाराज्यपाल, नेहरू, जिन्नाह् और बल्देव सिंह ने प्रसारित किया । यही योजना हाउस ऑफ कामन्स में बतायी गयी ।
4 जून	:	माउन्टबेटन ने प्रेस सम्मेलन में अनौपचारिक रूप से कहा कि सत्ता हस्तांतरण जून 1948 को न होकर 15 अगस्त 1947 को होगा ।
	:	महाराज्यपाल ने प्रार्थना सभा से थोडा पूर्व गांधी से भेंट की ।
4 जून	:	नरेश संघ के प्रमुख के रूप में भोपाल का त्याग पत्र ।
5 जून	:	बँटवारे के पश्चात् होने वाली प्रशासनिक परिणामों के विषय में माउन्टबेटन से भारतीय नेताओं ने तीसरी बैठक की ।
3 जून पश्चात्	:	मुस्लिल लीग का असम व उत्तर पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में जन-आन्दोलन बन्द हुआ ।
8 जून	:	आन्तरिक सरकार की बैठक में उच्च पदों की नियुक्ति और नीति निर्धारण का कार्य विरोधाभास रोकने हेतु महाराज्यपाल को दिया गया ।
10 जून	:	मुस्लिम लीग बैठक ने योजना का अनुमोदन किया ।
जून	:	लाहौर में सिक्ख संस्थाओं का संयुक्त बैठक में पंजाब विभाजन का स्वागत किया गया ।
13 जून	:	अन्तरिम सरकार में बँटवारा कमेटी बनायी गयी । विशेष मुद्दों के विभाजन वाली कमेटी के मध्य सामन्जस्य

और विभाजन के विशेष तत्वों को निहित करने हेतु दो उच्च प्रशासनिक अधिकारियों की कमेटी बनायी गयी ।

14 जून : अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की दिल्ली बैठक में योजना का अनुमोदन किया गया ।

19-23 जून : माउन्टबेटन का कश्मीर दौरा ।

20 जून : बंगाल विधान सभा ने बँटवारा स्वीकृत किया ।

23 जून : माउन्टबेटन ने गर्वनर जनरल के प्रश्न पर जिन्नाह से पूछा ।

23 जून : पंजाब विधान सभा ने बँटवारे का पक्ष लिया ।

26 जून : सिन्ध विधान सभा ने पाकिस्तान में मिलने का पक्ष लिया ।

27 जून : विभाजित कमेटी के स्थान पर अधिक शक्ति सम्मत विभाजन संस्था बनायी गयी । परिषद ने निर्णय लिया कि पंजाब और बंगाल की सीमा निर्धारण हेतु सर सीर रेडक्लिफ़ की सेवा लेने हेतु उन्हें आमन्त्रित किया जाय ।

30 जून : विभाजन कमेटी सेना विभाजन के कार्य हेतु सहमत हो गयी । संयुक्त सेना कमान के अधीन 15 अगस्त के बाद औकेनलेक सर्वोच्च सेनापति बने रहेंगे । सर पेट्रिक स्पेन्स की अध्यक्षता में न्याधिकरण की स्थापना हुयी ।

जून : बिलोचीस्तान ने पाकिस्तान का पक्ष लिया ।

जून : पंजाब में हिंसा ।

2 जुलाई : माउन्टबेटन ने भारतीय स्वतन्त्रता विधेयक का प्रारूप भारतीय नेताओं और गांधी को उनकी टिप्पणी हेतु दिखाया ।

2 जुलाई : जिन्नाह ने माउन्टबेटन को बताया कि वे स्वयं पाकिस्तान के गर्वनर जनरल होना चाहते हैं ।

4 जुलाई : हाउस ऑफ कॉमन्स में भारतीय स्वतन्त्रता विधेयक लाया गया ।

5 जुलाई : लियाकत ने माउन्टबेटन से गर्वनर जनरल पद हेतु जिन्नाह का नाम संस्तुति करने को कहा, उसने आशा प्रकट की कि माउन्टबेटन भारत के गर्वनर-जनरल बने रहेंगे ।

5 जुलाई : बल्लभ भाई पटेल द्वारा नये राज्य विभाग का उद्घाटन।

5 जुलाई : इस्में और कैम्पबेल-जान्सन दिल्ली से लन्दन हेतु रवाना।

6-7 जुलाई : सिलहट में जनमत जिसने पूर्वी पाकिस्तान में मिलने का निर्णय लिया।

6-17 जुलाई : उत्तर पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में जनमत जिसमें पाकिस्तान में मिलने का निर्णय हुआ।

7 जुलाई : इस्मे लन्दन पहुंचे और एटली से मिले।

8 जुलाई : एटली ने विरोधी नेताओं से माउन्टबेटन के भारत के गर्वनर जनरल पद पर बने रहने के लिए वार्ता की। सभी सहमत हुए।

10 जुलाई : भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम के दूसरे अध्ययन में हाउस ऑफ कामन्स में बहस-कम अनुपस्थिति।

मध्य जुलाई : सभी प्रश्नांकित क्षेत्रों में संविधान सभा के प्रतिनिधित्व हेतु नए चुनाव।

14 जुलाई : संविधान सभा की चौथी बैठक प्रारम्भ, पाकिस्तानी क्षेत्रों के मुस्लिम लीगी सदस्यों ने भाग लिया।

16 जुलाई : भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम तीसरी बार में पारित।

16-24 जुलाई : बंगाल सीमा आयोग की बैठक।

18 जुलाई : भारतीय स्वतन्त्रता एक्ट को शाही संस्तुति।

19 जुलाई : माउन्टबेटन द्वारा दो अलग अन्तरिम सरकारों एक भारत और दूसरा पाकिस्तान, की स्थापना की घोषणा की।

21जुलाई : केन्द्रीय संविधान कमेटी ने संविधान सभा को प्रारूपिक संविधान प्रेषित किया।

21-31 जुलाई : पंजाब सीमा निर्धारण आयोग का गठन।

22 जुलाई : लन्दन से इस्में और कैम्पवेल-जानसन दिल्ली पहुंचे।

22 जुलाई : विभाजन कौन्सिल के सदस्यों ने पंजाब सीमा दल के निर्माण का सुझाव दिया। दोनों सरकारों ने सीमा आयोग के निर्णय को मानने की घोषणा की और अल्प सख्यकों की सुरक्षा का वचन दिया।

25 जुलाई : माउन्टबेटन का कलकत्ता भ्रमण।

30 जुलाई : माउन्टबेटन ने राजकुमार सभा को सम्बोधित किया।

अतिम जुलाई : गांधी ने उत्तर पश्चिमी सीमान्त प्रदेश तथा काश्मीर का संक्षिप्त दौरा किया।

1 अगस्त : पंजाब सीमा दल की स्थापना हुयी।

4-6 अगस्त : सिलहट के विषय में विचारने हेतु बंगाल सीमा-आयोग की

बैठक ।

5 अगस्त : महाराज्यपाल ने पटेल, जिन्नाह, लियाकत को सिक्ख नेताओं के अशांति फैलाने की योजना के विषय में बताया ।

6 अगस्त : विभाजन समिति की अन्तिम बैठक ।

7 अगस्त : जिन्नाह करांची रवाना हुए ।

9 अगस्त : गांधी कलकत्ता पहुंचे ।

11 अगस्त : पाकिस्तान की संविधान सभा की बैठक हुयी, जिन्नाह को अध्यक्ष चुना गया ।

12 अगस्त : बंगाल और पंजाब के बँटवारे पूर्ण, सिलहट का अब भविष्य अनिश्चित ।

13 अगस्त : माउन्टबेटन ने करांची प्रस्थान किया ।

13 अगस्त : रेडक्लिफ़ अविनिर्णय तैयार ।

14 अगस्त : माउन्टबेटन ने पाकिस्तान संविधान सभा को संबोधित किया । और दिल्ली वापस लौटे ।

15 अगस्त : भारत और पाकिस्तान स्वतन्त्र हुए । जिन्नाह को पाकिस्तान के गर्वनर जनरल की शपथ दिलायी गयी, और माउन्टबेटन को भारत के गर्वनर जनरल की । पाकिस्तान का मंत्रीमण्डल लियाकत अली खां और भारत का मंत्री मण्डल जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में बना ।

16 अगस्त : माउन्टबेटन ने दोनों अधिराज्यों के नेताओं को रेडक्लिफ़ अविनिर्णय से अवगत कराया ।

17 अगस्त : रेडक्लिफ़ अविनिर्णय का प्रकाशन ।

1948 महात्मा गांधी का 30 जनवरी को निधन (नाथूराम गोडसे द्वारा हत्या) राजगोपालाचारी 21 जून को गर्वनर जनरल नियुक्त किए गये ।

11 सितम्बर को मुहम्मद अली जिन्नाह का निधन हुआ । हैदराबाद में सैनिक कार्यवाही ।

1949 : भारतीय संविधान पर 26 नवम्बर को हस्ताक्षर हो गये ।

1950 : 26 जनवरी को भारतीय संविधान लागू किया गया ।

1951 : प्रथम पंच वर्षीय योजना ।

1952 : प्रथम आम चुनाव । रानी एलिजाबेथ द्वितीय का सिंहासना रूढ़ होना ।

1953 : आंध्र प्रदेश की स्थापना चंडीगढ़ पंजाब की नई राजधानी

बनी ।

1954 : पान्डेचरी, कालीकट इत्यादि का भारत में समामेलन ।

1955 : हिन्दू विवाह अधिनियम ।

1956 : 19 जनवरी को बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीय करण ।
23 मार्च को पाकिस्तान इस्लामिक गणतन्त्रीय घोषणा ।
नवम्बर में राज्यों का पुर्नगठन ।
द्वितीय पंच वर्षीय योजना ।
महात्मा बुद्ध की 2500 वर्षीय जयन्ती ।

1957 : द्वितीय आम चुनाव ।

1958 : नाप-तौल में मीटर पद्धति का आरम्भ ।

1959 : दलाई लामा का भारत पलायन ।
भारत-तिब्बत समस्या ।
भारत-पुर्तगाल विवाद ।
अमरीकी राष्ट्रपति डवाइट आइजनहावर का 9 दिसम्बर को भारत आगमन ।

1960 : नई दिल्ली में एशियन अफ्रिकन सम्मेलन ।
ख्रुश्चेव की भारत यात्रा ।
राष्ट्रपति नासिर की भारत यात्रा ।

1961 : 21 जनवरी को रानी एलिजावेथ का भारत आगमन ।
भारत में गोवा का समामेलन ।

1962 : डॉ० राधाकृष्णन भारत के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए ।
भारत-चीन युद्ध ।

1964 : जवाहर लाल नेहरू का निधन ।
लाल बहादुर शास्त्री प्रधान मन्त्री निर्वाचित हुए ।
इन्दिरा गांधी सूचना एवं प्रसारण मन्त्री नियुक्त हुई ।

1965 : भारत-पाक युद्ध ।

1966 : ताशकंद समझौता ।
लाल बहादुर शास्त्री का रूस में निधन ।
इन्दिरा गांधी भारत की प्रधान मन्त्री बनी ।

1967 : डॉ० जाकिर हुसेन राष्ट्रपति निर्वाचित हुए ।

1968 : भारत-रूस सन्धि ।

1969 : कांग्रेस में मतभेद ।

1971 : भारत-रूस की बीस वर्षीय शान्ति,मैत्री एवं सहयोग संधि ।

भारत-पाक युद्ध ।
बंगला देश का उदय ।
आम चुनाव ।

1972	:	शिमला समझौता ।
1973-74	:	जय प्रकाश नारायण आन्दोलन ।
1975	:	आपातकालीन स्थिति की घोषणा ।
1977	:	आम चुनाव । जनता पार्टी का उदय ।
1978	:	जनता दल में मतभेद ।
1979	:	आम चुनाव । इन्दिरा गाँधी दल की विजय ।
1980	:	इन्दिरा गाँधी ने प्रधान मन्त्री पदकी शपथ ग्रहण की ।
1982		
11 जनवरी	:	डॉ० एस० जेड० कासिम के नेतृत्व में भारतीय दल अटांकिटा पहुंचा ।
15 मार्च	:	सोवियत संघ के प्रतिरक्षा मन्त्री मार्शल उस्तिनोव की प्रधान मन्त्री से वार्ता ।
31 मार्च	:	भारत-चीन वार्ता का मार्ग प्रशस्त ।
15 मई	:	11 सदस्यीय चीनी प्रतिनिधि-मण्डल नई दिल्ली में ।
31 मई	:	प्रधानमन्त्री द्वारा पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल जिया को वार्ता का सन्देश ।
7 जून	:	पाकिस्तान का युद्ध न करने की संधि का प्रस्ताव तत्व भारत को अस्वीकार ।
25 जून	:	भारत-पाक मध्य युद्ध वर्जन संधि के पुन: आरम्भ होने की संभावना ।
26 जून	:	भारत-बंगलादेश के मध्य फरक्का विवाद में समझौते की संभावना ।
29 जून	:	अमेरिका के विदेश मन्त्री शुल्ज की भारत यात्रा ।
9 जुलाई	:	प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी द्वारा बड़ी शक्तियों से इस्राइल-फ़िलिस्तीनी मुक्ति संगठन संघर्ष को समाप्त करने में सहायता की अपील ।
15 जुलाई	:	ज्ञानी जैल सिंह भारत के नव राष्ट्रपति निर्वाचित ।
25 जुलाई	:	राष्ट्रपति शपथ-गृहण समारोह ।

11 अगस्त : भारत में गुटनिपेक्ष देशों का शिखर सम्मेलन।
17 अगस्त : हिन्दी विद्वान कामिल बुल्के का निधन।
19 अगस्त : बंबई में पुलिस विद्रोह को कुचलने के लिए सेना तैनात।
29 अगस्त : डॉ० पी० के० सेठी 'गिनेस' पुरुस्कार से सम्मानित।
17 सितम्बर : दिल्ली में त्रिपक्षीय राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन।
20 सितम्बर : प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की सोवियत संघ की राजकीय यात्रा।
11 अक्टूबर : दिल्ली में उग्र अकाली प्रदर्शन।
18 अक्टूबर : अमृतसर में हिंसा।
1-2 नवम्बर : भारत-पाक संयुक्त आयोग की घोषणा।
4 नवम्बर : अकाली नेता लोंगोंवाल द्वारा अकाली मोर्चे की घोषणा।
11 नवम्बर : रूस के नेता लियोनाद ब्रेजनेव का देहान्त।
17-18 नवम्बर : पंजाब समस्या गहन।
19 नवम्बर : दिल्ली में नवम् एशियाई खेलों का शुभारम्भ।
4 दिसम्बर : नवं एशियाई खेल समाप्त।

1983

24 दिसम्बर : दूसरा भारतीय अभियान अंटार्कटिक पहुंचने में सफल।
जनवरी : अकाली समस्या।
4 फरवरी : भारत-नेपाल वार्ता।
10 फरवरी : असम में हिंसक उपद्रव।
23 फरवरी : असम में हिंसक घटनायें जारी।
26 फरवरी : 7 वें गुट निरपेक्ष शिखर सम्मेलन का प्रारूप जारी।
3 मार्च : गुट निरपेक्ष विदेश मंत्रियों का सम्मेलन दिल्ली में।
6 मार्च : 76 प्रमुख नेताओं का सम्मेलन में भाग लेने के लिए आगमन।
7 मार्च : 7 वां गुट निरपेक्ष शिखर सम्मेलन आरम्भ और श्रीमती इन्दिरा गांधी अगले 3 वर्ष के लिए अध्यक्ष।
10 मार्च : भारत-पाक आयोग गठन पर हस्ताक्षर।
12 मार्च : शिखर सम्मेलन समाप्त।
22 मार्च : असम में हिंसक घटनायें।
27 मार्च : असम का आन्दोलन अस्थाई तौर पर स्थगित।
3 अप्रैल : पंजाब में रास्ता रोकों आन्दोलन के प्रति प्रशासनिक कार्यवाही।

17 अप्रैल : श्री हरिकोटा से प्रधानमंत्री की उपस्थिति में एस० एल० वी–3-रॉकेट का छोड़ा जाना ।

2 मई : पंजाब (पटियाला) में हिंसा ।

11 मई : सोवियत-संघ के प्रथम उपप्रधानमंत्री आई० वी० आर्खीपोव की दिल्ली यात्रा ।

2 जून : भूतपूर्व प्रधानमंत्री मोरार जी देसाई द्वारा सी० आई० ए० से अपने सम्बन्धों से इंकार ।

15 जून : अकाली 'रेल रोको' आन्दोलन के प्रति प्रशासनिक कार्यवाही ।

21 जून : अकाली दल द्वारा केन्द्र का वार्ता प्रस्ताव अस्वीकार ।

25 जून : भारत विश्व कप क्रिकेट का विजेता ।

11-17 जुलाई : पंजाब में हिंसक घटनायें ।

1 अगस्त : प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा नई दिल्ली में 'दक्षिण-एशिया क्षेत्रीय सहयोग' सम्मेलन का उद्घाटन। जनरल अरुण कुमार श्रीधर वैद्य नये थल सेनाध्यक्ष ।

9 अगस्त : श्रीलंका के दूत हैक्टर विल्फ्रेड जयवर्धन का दिल्ली आगमन ।

16-17 अगस्त : तामिल समस्या को लेकर भारत-लंका वार्ता की सहमति ।

1 सितम्बर : डॉ० राजा रमन्ना भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र के अध्यक्ष ।

18 सितम्बर : दिल्ली में विश्व-ऊर्जा सम्मेलन ।

6 अक्टूबर : पंजाब में राष्ट्रपति शासन लागू ।

28 अक्टूबर : तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन का दिल्ली में उद्घाटन ।

29 अक्टूबर : सुनील गावस्कर ने 29 टेस्ट क्रिकेट शतक बनाकर डॉन ब्रेडमेन से बराबरी की ।

23 नवम्बर : दिल्ली में राष्ट्रकुल शिखर सम्मेलन (चोगम का उद्घाटन) ।

27 नवम्बर : चोगम के शासनाध्यक्षों द्वारा अमेरिका और सोवियत संघ से अस्त्रों की कटौती पर वार्ता का आग्रह ।

29 नवम्बर : चोगम का 7 दिवशीय शिखर सम्मेलन समाप्त ।

30 नवम्बर : श्रीलंका की तामिल समस्या पर राष्ट्रपति जयवर्धन और प्रधानमंत्री की वार्ता ।

9 दिसम्बर : प्रधानमंत्री द्वारा गुट निरपेक्ष प्रचार माध्यम(नामीडिया)

सम्मेलन का उद्घाटन ।

12 दिसंबर : बुंलगारिया के राष्ट्रपति टोडोर जिवकोव का दिल्ली आगमन, नामीडिया सम्मेलन समाप्त ।

1984

जनवरी : अकाली समस्या गंभीर ।

11 फरवरी : इन्सेट 1 बी प्रधानमन्त्री द्वारा राष्ट्र को समर्पित ।

25 फरवरी : पंजाब में हिंसा जारी ।

5 मार्च : सोवियत प्रतिरक्षामंत्री मार्शल उस्तिनोव का दिल्ली आगमन ।

3 अप्रैल : स्कावाड्रन लीडर राकेश शर्मा अंतरिक्ष में प्रथम भारतीय अन्तरिक्ष यात्री ।

9 मई : भारत के फू दोर जी एवरेस्ट पर चढ़ने में सफल ।

23 मई : भारत की प्रथम महिला बछेन्द्री पाल एवरेस्ट पर चढ़ने में सफल ।

6 जून : सेना का स्वर्ण मंदिर परिसर में प्रवेश (ऑपरेशन बल्यू स्टार) ।

23 जून : प्रधानमंती द्वारा स्वर्ण मंदिर का दौरा ।

10 जुलाई : पंजाब पर श्वेत पत्र जारी ।

23 सितम्बर : स्वर्ण मंदिर की समस्या समाधान हेतु प्रयास ।

25 सितम्बर : स्वर्ण मंदिर से सेना का हटाया जाना ।

11 अक्टूबर : पाकिस्तान को अमेरिका द्वारा युद्ध सामग्री देने पर प्रधानमंत्री द्वारा चिन्ता व्यक्त ,

31 अक्टूबर : श्रीमती इन्दिरा गाँधी की हत्या । श्री राजीव गांधी नव प्रधानमंत्री निर्वाचित ।

3 नवम्बर : श्रीमती गाँधी की महायात्रा ।

13 नवम्बर : लोकसभा चुनाव 24 और 27 दिसम्बर को कराने की घोषणा ।

3 दिसम्बर : भोपाल गैस विनाश त्रासदी ।

29 दिसम्बर : कांग्रेस (इ) द्वारा लोकसभा चुनाव में तीन चौथाई बहुमत ।

●

अध्याय 33

एक राष्ट्र का उद्भव : बङ्गला देश

पूर्वी बङ्गाल एवं पाकिस्तान

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही बंगाल में हिन्दुओं ने पाश्चात्य शिक्षा को शनैः शनैः ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार उन लोगों में राजनीतिक जागरण की भावना का प्रादुर्भाव होने लगा था। इसके विपरीत मुस्लिम वर्ग अपनी संकीर्ण विचारधारा के कारण उतनी तीव्रता से पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली को न ग्रहण कर सका। हिन्दुओं में राजनैतिक सचेतता होने के कारण देश को स्वतन्त्र कराने के लिये स्वाधीनता आन्दोलन का सूत्रपात्र हुआ। यह आन्दोलन केवल बंगाल ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारत में विस्तृत होता गया। ब्रिटिश सरकार ने राष्ट्रीय भावना के दमन हेतु अनेक प्रयत्न किये।

लार्ड कर्जन जब भारत के गवर्नर जनरल बनकर आये, आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर था। उन्होंने इसको दबाने के लिये हिन्दू और मुसलमानों में पारस्परिक मतभेद की नीति को अपनाया। इस नीति को यर्थाथ रूप प्रदत्त करने हेतु उन्होंने बंग भंग की योजना प्रेषित की। उन्होंने मात्र बङ्ग भङ्ग की योजना ही नहीं बनाई, अपितु उसे कार्यान्वित भी किया और 1905 में बङ्गाल का विभाजन कर दिया गया। मुस्लिम वर्ग इस विभाजन से अत्यन्त प्रसन्न था क्योंकि अभी तक हिन्दू और मुसलमान क्रमशः स्वामी और सेवक के सम्बन्ध तक ही सीमित थे। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश सरकार की एक नीति यह भी थी कि कांग्रेस के सदृश मुसलमानों की भी एक पार्टी का गठन हो। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु सन् 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। इसका ध्येय था मुसलमानों की रक्षा तथा उन्हें राजनीतिक अधिकार प्रदान करना और इसके साथ ही साथ अपनी समस्याओं को सरकार तक पहुंचाना जिससे सरकार उनकी समस्याओं का समाधान कर सके।

मुस्लिम लीग की स्थापना से बहुत से मुसलमान नेता कांग्रेस को छोड़कर लीग में आ गये। वे समय समय पर मुसलमानों का समूह बनाकर अपने

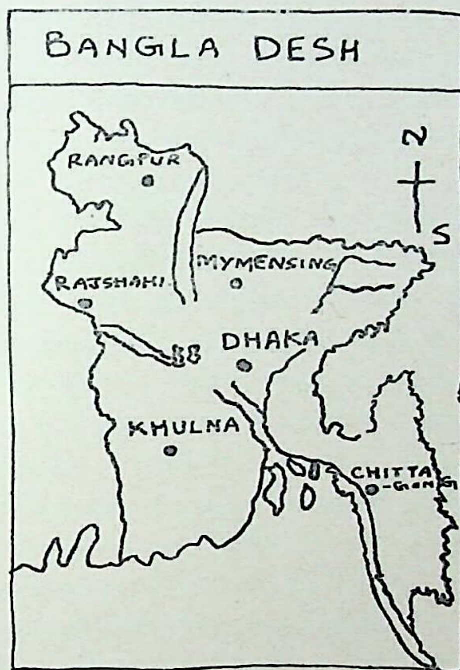
नेता के साथ गवर्नर जनरल के पास जाते थे और उनसे अपनी समस्यायें बताते थे। जब 1909 में मॉर्ले-मिन्टो अधिनियम के द्वारा उन्हें अलग चुनाव कराने की स्वतन्त्रता प्राप्त हुई तब मुस्लिम वर्ग को संतोष हुआ। उपरोक्त सुविधाओं ने मुस्लिम युवा शिक्षित वर्ग को सन्तुष्ट नहीं किया और उन्होंने कलकत्ते को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। फ़जलुल हक जिन्होंने 1906 में मुस्लिम लीग के संगठन में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया था, तत्पश्चात् नागरिक प्रशासनिक सेवा में प्रविष्ट हो गये। नवाब सलीमुल्लाह ने पुन: उनको राजनीति में वापस आने का आमंत्रण दिया। फ़जलुल हक ने पुन: लीग में प्रवेश कर रुकी हुई कार्यविधियों को तीव्रतर किया। फ़ज़लुल हक भी आसुतोष मुखर्जी की भांति शेर-ए-बङ्गाल कहे जाते थे। फ़जलुल हक ने ही मध्यमवर्गीय शिक्षित वर्ग का बङ्गाल में संगठन कर उसको नेतृत्व प्रदान किया।

प्रथम विश्व युद्ध के मध्य 'खिलाफ़त आन्दोलन' के नेता अली भाइयों (मौलाना मुहम्मद अली, शौक़त अली) ने भी फ़जलुल हक की भाँति कांग्रेस और मुस्लिम लीग के सम्बन्धों को सुदृढ़ करना चाहा। 1916 में फ़जलुल हक मुस्लिम लीग के अध्यक्ष थे और कांग्रेस के महासचिव देशबन्धु चितरंजन दास से अत्याधिक प्रभावित थे। लखनऊ समझौते में भी उनका जिन्नाह के साथ काफी योगदान था। राजनैतिक समझौतों के अनुसार संयुक्त प्रान्त और पंजाब के मुसलेमानों को बङ्गाल के मुसलमांनों की अपेक्षा अधिक प्रतिनिधित्व देने की बात स्वीकार की गई थी।

बङ्गाल के निराश मुस्लिम वर्ग ने अब्दुल मोमिन सुहरावर्दी के नेतृत्व में भारतीय मुस्लिम संस्था में प्रवेश लिया। सुहरावर्दी के नेतृत्व में एक शिष्ट मण्डल महाराज्यपाल लार्ड चैम्सफोर्ड से मिला और उनसे मुस्लिम वर्ग के आरक्षण की बात की तदुपरान्त सुहरावर्दी परिवार ने बङ्गाल राजनीति में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसी मध्य बङ्गाल के सामाजिक, आर्थिक संरचना में परिवर्तन आया। इस परिवर्तन ने एक नये वर्ग को जन्म दिया जिसका नाम था 'जोतदार। जोतदार वह वर्ग था जिसके पास भूमि सम्पदा थी। यह जोतदार अधिकतर मुस्लिम वर्ग के थे।

1919 के सुधार अधिनियम के पश्चात फ़जलुल हक ने एक नयी पार्टी संगठित की जिसका नाम था, 'कृषक-प्रजा पार्टी'। यह दल प्रतिसम्प्रदायक संगठन का द्योतक था और अधिकतर जोतदार इसके सदस्य थे। कृषक प्रजा पार्टी का मुख्य ध्येय बङ्गाल की सीमाओं के अन्दर आर्थिक परिवर्तन लाना था।

ऐसी स्थिति में जबकि साम्प्रदायिकता की भावना प्रज्वलित हो रही


BANGLA DESH
N
S
RANGPUR
MYMENSING
RAJSHAHI
DHAKA
KHULNA
CHITTA-GONG

बङ्गला देश

थी, देशबन्धु चितरंजन दास ने हिन्दू-मुस्लिम समस्या को केवल साम्प्रदायिकता से मुक्त नहीं माना, वरन् उनके अनुसार मुस्लिम वर्ग हिन्दू समुदाय के आर्थिक स्वामित्व से कतिपय आशंकित था। इसी भावना को लेकर देशबन्धु ने प्रसिद्ध 'बङ्गाल समझौता' प्रेषित किया। परन्तु 1923 में कोकोनद कांग्रेस द्वारा इसे अस्वीकार कर बङ्गाल में हिन्दू मुस्लिम एकता की समस्या को एक वृहद प्रश्नचिह्न बना दिया गया। दूसरा अवसर 1937 में पुनः प्राप्त हुआ जब फ़जलुल हक की कृषक प्रजा पार्टी बङ्गाल के चुनाव में विजयी हुई। फ़जलुल हक द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त में कदापि विश्वास नहीं रखते थे। इस कारण उन्होंने चुनाव पश्चात् कांग्रेस और कृषक प्रजा पार्टी की सम्मिलित सरकार का प्रस्ताव प्रेषित किया किन्तु कांग्रेस ने बङ्गाल समझौते की भाँति इसको भी अस्वीकार कर दिया। अतः 'साम्प्रदायिकता के समाधान का एक और ऐतिहासिक अवसर कांग्रेस ने खो दिया।

फ़जलुल हक ने अब कांग्रेस के पश्चात् निराश होकर मुस्लिम लीग के साथ सम्मिलित सरकार बनाई। यद्यपि 1938 की यह सरकार का सम्मिलन अप्राकृतिक था किन्तु फजलुल हक सरकार बनाने का अवसर भी नहीं खोना चाहते थे। आश्चर्यजनक रूप से हिन्दू महासभा ने भी इस सम्मिलित सरकार में स्थान ग्रहण किया। फजलुल हक के सहयोगियों को कांग्रेस के व्यवहार से अत्यन्त दुःख हुआ क्योंकि उनके विचार में कांग्रेस बङ्गाल के मुसलमानों से अलग रहना चाहती थी। इस अवसर का लाभ उठाकर मुहम्मद अली जिन्नाह ने हक और उसके सहयोगियों को मुस्लिम लीग की तरफ आकृष्ट किया। कृषक प्रजा पार्टी (के० पी० पी०) के बुद्धजीवियों का कथन था कि कांग्रेस हिन्दू अभिजात वर्ग की पोषक थी जबकि 'के० पी० पी०' शोषित मुस्लिम कृषि वर्ग के सहायतार्थ कार्यरत थी। वास्तव में किसी भी दल ने अपने स्वार्थ से हट कर हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदाय की समस्या का समाधान नहीं करना चाहा और बङ्गाल राजनीति में साम्प्रदायिकतावाद का पोषण किया गया। इसी मध्य जिन्नाह ने राजनीतिक निपुणता का परिचय दिया। उन्होंने फजलुल हक को तीन समितियों में से एक का अध्यक्ष नियुक्त किया जिसका कार्य कांग्रेस शासित प्रदेशों में मुस्लिम वर्ग की स्थिति का अवलोकन करना था। फजलुल हक ने अपनी रिर्पोट में मुसलमानों की शोचनीय स्थिति का ब्योरा दिया। बंगाल की राजनीति मुस्लिम राजनीति का अंग बन चुकी थी।

1946 के चुनाव में मुस्लिम लीग को बङ्गाल में अच्छा बहुमत प्राप्त हुआ। 250 निर्वाचन क्षेत्रों में से 115 स्थान मुस्लिम लीग को प्राप्त हुये

और कांग्रेस को 84 स्थान प्राप्त हुये। कांग्रेस ने सुहरावर्दी पर यह आरोप लगाया कि उन्होंने असंगत पद्धति के द्वारा चुनाव जीत लिये हैं। सुहरावर्दी ने इस पर भी कांग्रेस को सम्मिलित सरकार बनाने का आमन्त्रण दिया। सुहरावर्दी बङ्गाल को अखिल भारतीय मुस्लिम नेतृत्व से पृथक करना चाहते थे और इसीलिये उन्होंने कांग्रेस को एक अवसर प्रदान किया। कांग्रेस ने इस अवसर को अपनी राजनैतिक सौदेबाजी में खो दिया। इस प्रकार साम्प्रदायिकता के विषहरण का एक और अत्यन्त महत्वपूर्ण अवसर खो दिया गया।

1946-47 में घटनाओं ने भारत में विषम रूप ग्रहण किया। फरवरी 20, 1947 को ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री एटली ने यह घोषणा की कि जून 1948 से पूर्व ही भारत को स्वतन्त्रता प्रदान की जायगी। प्रधानमन्त्री के वक्तव्य से यह भी स्पष्ट हुआ कि ब्रिटिश सरकार भारत विभाजन की इच्छुक है। मार्च 22, 1947 को लार्ड माउन्टबेटन का भारत में आगमन हुआ। माउन्टबेटन को ब्रिटिश सरकार के स्पष्ट निर्देश थे कि यदि भारतीय नेता कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों को नहीं मान्यता देते तो भारत विभाजन के लिये कार्य आरम्भ कर दो। माउन्टबेटन को दूसरा मार्ग सरल प्रतीत हुआ, और उन्होंने पटेल और नेहरू को विभाजन की अनिवार्यता और उपयोगिता को समझाया।

इसी मध्य साम्प्रदायिकता से पूर्ण दंगे बंगाल और पंजाब में आरम्भ हो चुके थे। अप्रैल 4, 1947 को बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस समिति ने बङ्गाल विभाजन की माँग की। इसका मुख्य कारण पश्चिमी बङ्गाल के हिन्दू बहुसंख्यक प्रान्त को पाकिस्तान में सम्मिलित करने से रोकना था। अप्रैल 8, 1947 को सुहरावर्दी ने बङ्ग-भङ्ग के वक्तव्य में कहा कि विभाजनोपरांत दोनों बङ्गाल केन्द्रीय शासित प्रदेशों से अवहेलना प्राप्त करेंगे। सुहरावर्दी के तर्क से बङ्गाली हिन्दू सशंकित थे क्योंकि साम्प्रदायिक दंगे अपनी गतिशीलता की चरम सीमा पर थे। अप्रैल 11, 1947 को केन्द्रीय विधान मण्डल के 11 बङ्गाली सदस्य महाराज्यपाल (वायसराय) से मिले और पश्चिमी बङ्गाल को एक नया प्रान्त बनाने के लिये माँग पत्र प्रेषित किया।

सुहरावर्दी, बङ्गाली नेता तथा कांग्रेस में त्रिकोणीय राजनैतिक संघर्ष चलता रहा। एक दूसरे के प्रति आशंका तथा अपने प्रति आस्था और जनता की निरीहता का पूर्ण परिचय दिया गया। यद्यपि नोवाखोली काण्ड ने महात्मा का हृदय विदीर्ण कर दिया था, और वह स्पष्ट रूप से हिन्दुओं की दुर्दशा पर रो रहे थे ऐसे समय में सुहरावर्दी का कोई सुझाव स्वीकार करना कठिन कार्य था। इस सार्वजनिक आलोचना के उपरान्त भी सुहरावर्दी और शरद चन्द्र बोस हिन्दू मुस्लिम एकता और बङ्गाल विभाजन को रोकने का

प्रयत्न कर रहे थे । इन लोगों ने मई 18, 1947 को एक समझौता (ड्राफ्ट पैक्ट) प्रेषित किया जिसमें हिन्दू-मुस्लिम प्रतिनिधित्व समान रूप से रखा गया । मई 23 को शरद बोस ने महात्मा गाँधी से इस समझौते के बारे में सविस्तार बातचीत की । महात्मा गाँधी ने इस समझौते को अस्वीकार कर दिया क्योंकि कांग्रेस सदस्यों तथा हिन्दू जनता सुहरावर्दी पर विश्वास नहीं करती थी । इसका मुख्य कारण था कि सुहरावर्दी इतने दिन सत्तारूढ़ रह कर भी साम्प्रदायिकता के उपद्रवों को नियन्त्रित नहीं कर सके । शरद बोस के प्रति जनता की धारणा थी कि या तो इनको मतिभ्रम है, और या यह अत्यन्त महात्वाकांक्षी हैं । श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने इस समझोते का खण्डन किया । अत: अगस्त 14, 1947 को पाकिस्तान का उदय हुआ और पूर्वी बङ्गाल उसका एक अंग बन गया ।

बङ्गाल विभाजन के निर्णय ने वास्तविक रूप लेने के पूर्व ही हिन्दू-मुस्लिम निर्गमन आरम्भ कर दिया था, और अहिंसक कांड आरम्भ हो गये थे । अगस्त 15, 1947 को महात्मा गाँधी ने कलकत्ता के उपद्रव ग्रस्त क्षेत्र में ही रहना प्रारम्भ कर दिया था, क्योंकि उन्होंने इस अंग भंग चक्षुविहीन साम्प्रदायिकता की वर्षा और शीत के वातावरण में ही रहना अनिवार्य समझा, और दिल्ली का रंगीन संगीतमय और स्वर्णिम वातावरण नेहरू और पटेल के लिये छोड़ दिया ।

14 अगस्त 1947 को पाकिस्तान एक नया राष्ट्र बन गया । जिसके दो भाग थे–पूर्वी बङ्गाल अब पूर्वी पाकिस्तान के नाम से जाना जाने लगा। इसकी राजधानी ढाका थी, परन्तु मुख्य कार्यालय कराची में स्थिति था । प्रारम्भ से ही पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान के नेताओं में परस्पर मतभेद था । यदि दोनों वर्गों के नेताओं ने पहले ही इस समस्या पर विचार कर लिया होता तो पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान के मुसलमानों में एकता और बन्धुत्व की भावना का जन्म हो जाता । परन्तु यह दुर्भाग्य की बात है कि पूर्वी पाकिस्तान के मुसलमानों में एकता की भावना नहीं आई । यह बात मुहम्मद अली जिन्नाह द्वारा दिये गये भाषण से भी सिद्ध हो जाती है । उन्होंने सब वर्गों के मुसलमानों से अनुरोध किया था कि पाकिस्तान को बंगदेश बनाने में वह सब अपना योगदान करें परन्तु बङ्गाली मुसलमानों का नाम तक नहीं आया । बङ्गाल के बुद्धिमान मुसलमान यह जानते थे कि उनमें और गैर बङ्गाली मुस्लिमों में हमेशा पार्थक्य रहेगा । पश्चिमी पाकिस्तान में सरकार तथा नेता पूर्वी पाकिस्तान को एक उपनिवेश की तरह देखने लगे । वे पूर्वी पाकिस्तान की सभ्यता, साहित्य, कला, संगीत एवं शिक्षा प्रणाली पर कोई

ध्यान नहीं देना चाहते थे। शनैः शनैः पंजाबी मुसलमानों का राजनीति पर नियन्त्रण होने लगा। पाकिस्तान की तीनों सेनाओं के अंगों में बड़े पदों पर पठान पदासीन हुये। यही हाल वित्त और व्यापार में भी था, परन्तु बङ्गाली मुसलमानों को कोई पद नहीं दिया गया। पश्चिमी पाकिस्तान इस्लाम के नाम पर पूर्वी पाकिस्तानियों का आर्थिक शोषण कर रहा था। इस बढ़ती हुई विषम परिस्थितियों में पूर्वी पाकिस्तान के नेताओं ने अपनी जनता के अधिकारों की रक्षा के लिये आवाज उठाई।

जुलाई 1947 को सुहरावर्दी और शरद चन्द्र बोस ने 'गण-आजादी लीग' नामक एक पार्टी का गठन किया। इस पार्टी का प्रमुख उद्देश्य था जनता को आर्थिक न्याय प्रदत्त कराना। जब तक आर्थिक स्तर अच्छा नहीं होगा तब तक सामाजिक, सांस्कृतिक उन्नति नहीं होगी। इस पार्टी के संगठन से पश्चिमी पाकिस्तान के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ हो गये। इस संस्था का एक अन्य मुख्य ध्येय था जमींदारी उन्मूलन। 1950 में इस संगठन में स्वयं को 'दि सिविल लिबर्टीज़ लीग' के नाम से परिवर्तित कर लिया।

इसी मध्य एक और समस्या ने जन्म लिया वह समस्या थी राष्ट्रभाषा बनाने की। पश्चिमी पाकिस्तान की सरकार उर्दू को राष्ट्रभाषा बनाने की इच्छुक थी इसके विपरीत पूर्वी पाकिस्तान की जनता बङ्गाली भाषा को राष्ट्रभाषा के पद पर पदासीन करने की इच्छुक थी। शाहिदुल्ला ने उर्दू को राष्ट्रभाषा बनाने की आलोचना की। एक कमेटी मुस्लिम लीग के अन्तर्गत बनाई गई और प्रमुख नेता इसके सदस्य थे। इसकी बैठक ढाका में अगस्त 1947 में हुई। कमेटी का नाम 'गणतान्त्रिक युवा लीग रखा गया। इसने युवा इश्तहार नामक घोषणा पत्र प्रेषित किया जिसमें यह निश्चय किया गया कि बङ्गाली भाषा शिक्षा का माध्यम होना चाहिये और प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा निःशुल्क होनी चाहिये। किन्तु सरकार ने इनकी किसी भी बात को मान्यता नहीं दी। इस घटनाओं से बङ्गाल के बुद्धिजीवी वर्ग को यह विश्वास हो गया कि प्रशासन का क्या इरादा है? इन लोगों ने यह निश्चय किया कि इस अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठायेंगे और न्याय की माँग करेंगे 1947-48 में पश्चिमी पाकिस्तान के सदनों में यह प्रश्न बार बार पूछा गया कि राष्ट्रभाषा उर्दू, बङ्गाली या अंग्रेजी क्या होगी? यदि उर्दू राष्ट्रभाषा होगी तो बङ्गाली भाषा का स्तर क्या होगा? शिक्षित वर्ग भी उत्पीड़ित था क्योंकि सरकारी उच्च अधिकारी गैर बङ्गाली थे।

1950 में पाकिस्तान ने एक अधिनियम पारित किया जिसका नाम था

'पूर्वी पाकिस्तान अधिग्रहण काश्तकारी अधिनियम'। इसके अन्तर्गत हिन्दू भूस्वामियों को सम्पत्ति से वहिष्कार कर देना था। यह बात नहीं थी कि पश्चिमी पाकिस्तान के पास कोई प्राकृतिक साधन उपलब्ध नहीं थे यदि पूर्वी बङ्गाल से जूट का निर्यात होता था तो उसी भाँति पश्चिमी पाकिस्तान से कच्ची कपास विदेशों में निर्यात होती थी। पाकिस्तानी शासक पूर्वी बङ्गाल का आर्थिक शोषण करने के साथ साथ वहाँ पर किसी राजनैतिक नेता को उभरने नहीं देना चाहते थे और भाषा की समस्या अपने स्थान पर विवादग्रस्त बनी हुई थी। 1947 में ढाका विश्वविद्यालय के छात्रों और अध्यापकों ने बङ्गाली भाषा को वरीयता देने हेतु एक सांस्कृतिक संगठन बनाया जिसका नाम था 'तमदुन मजलिस'। इन लोगों ने एक पुस्तिका प्रकाशित करवाई जिसका शीर्षक था 'पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा-बङ्गाली अथवा उर्दू'। अक्टूबर 1947 में राष्ट्रभाषा संग्राम परिषद का संगठन हुआ। फरवरी 1948 को एक शिष्ट मण्डल केन्द्रीय मन्त्री फ़जलुल रहमान से मिला. और इस बात पर विरोध पत्र प्रेषित किया कि बङ्गाली भाषा को प्रशासनिक परीक्षा में क्यों नहीं रखा गया तथा डाक टिकट, नोट व सिक्कों पर बङ्गाली भाषा अंकित क्यों नहीं हैं ? फ़जलुल रहमान ने उनको आश्वासन दिया कि उनके विरोध का समाधान किया जायगा।

मार्च, 1948 में मुहम्मद अली जिन्नाह का ढाका में आगमन हुआ उन्होंने अपने भाषण में भारत का नाम लिये विना यह इंगित किया कि कुछ विदेशी शक्तियाँ पाकिस्तान की एकता को भङ्ग करना चाहती हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा कि उर्दू पाकिस्तान की राज्य भाषा है और उसके विरुद्ध भाषा आन्दोलन करने वाले देशद्रोही हैं। मार्च 22-27 के मध्य पाकिस्तान के जनक मुहम्मद अली जिन्नाह छात्र नेताओं और राष्ट्रभाषा परिषद के नेताओं से मिले।

सितम्बर 1948 में कायदे-आज़म के निधन के साथ ही पाकिस्तान का राजनैतिक पट परिवर्तन हुआ। नजीमुद्दीन वहां के महाराज्यपाल हुए। वह केवल पाकिस्तान के संवैधानिक अध्यक्षता में ही संतुष्ट थे। 1949 में एक नयी पार्टी का संगठन हुआ जिसका नाम 'अवामी मुस्लिम लीग' था। इस नयी पार्टी के संगठन हेतु एक समिति निर्मित की गई जिसके अध्यक्ष मौलाना भसानी थे, महासचिव शमशुल हक थे एवं शेख मुजीबुर्रहमान तथा खुदकार मुश्ताक अध्यक्ष संयुक्त सचिव थे। अवामी मुस्लिम लीग ने अपने नीति पत्र में अपने उद्देश्यों की घोषणा की। इस दल के उद्देश्य थे, व्यस्क मतदान, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, धार्मिक निरपेक्षता, अल्पसंख्यक अधिकार, तथा कार्य

करने और समानता के अधिकार। इसके अतिरिक्त जमींदार पद्धति को समाप्त कर राष्ट्रीयकरण कृति सहकारिता कृषि को प्रोत्साहन देना था।

पूर्वी बंगाल में साम्यवादी आन्दोलन को विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो रही थी। केवल साम्यवादी दल में मेमनसिंह और सिलहट में कृषि श्रमिक विद्रोह संगठित किए किन्तु उनका क्रूरता पूर्वक दमन कर दिया गया। विशेषकर इला मित्रा के साथ जो आमानुषिक वर्बरतापूर्ण व्यवहार किया गया वह सभ्यजगत को स्तब्ध कर देने वाला था।

साम्यवादी आन्दोलन, भाषा आन्दोलन प्रगतिशील आन्दोलन की ओर सरकारी दमनकारी नीति ने अशांति की भावना को प्रज्वलित किया। 1950 में साम्प्रदायिकता को पाकिस्तानी सरकार ने प्रदीप्त किया, और 50 प्रतिशत ढाका की हिन्दू जनसंख्या की रक्षा का कोई उपाय नहीं किया गया। असामाजिक तत्वों का अत्याचार और साहस बढ़ता गया और हिन्दुओं को पूर्वी पाकिस्तान छोड़ने पर बाध्य किया गया। यह पाकिस्तानी राजनीतिज्ञों और अधिकारी वर्ग का घृणा अभियान था जिसके द्वारा वह पूर्वी पाकिस्तान के मुसलमानों को वास्तविक स्थिति से दिशाभ्रम उत्पन्न कर रहे थे। पश्चिमी पाकिस्तान की सरकार ने एक और नीति अपनाई, वह नीति थी अधिक से अधिक मुसलमान बिहार और उत्तर प्रदेश से पूर्वी पाकिस्तान में बसाए। इसके अतिरिक्त बंगाली नेताओं को यह भी चिन्ता थी कि पाकिस्तानी संविधान में उनको प्रतिनिधित्व कम मिलेगा।

भारत ने 1950 में गणतान्त्रिक संविधान की घोषणा कर विश्व में प्रशंसा प्राप्त कर ली और पाकिस्तान में अभी तक संविधान रचना न हो सकी। पूर्वी पाकिस्तान के नेता अव भी स्वायत्त शासन की मांग कर रहे थे। अक्टूबर 1951 में लियाकत अली खान की हत्या के पश्चात पाकिस्तान की राजनीति और निरकुंश हो गई थी। 26 जनवरी 1952 को प्रधानमन्त्री निजामुद्दीन ने ढाका की आम सभा में उर्दू को राज्यभाषा घोषित किया। इस घोषणा ने पूर्वी बंगाल में असन्तोष की भावना उत्पन्न कर दी और मौलाना भसानी के नेतृत्व में विरोध प्रदर्शन होने लगे। सरकार ने प्रदर्शनों पर दमनकारी नीति अपनाई।

पाकिस्तान के उदय के पश्चात पूर्वी बंगाल में एक नव वर्ग का अभ्युदय हुआ जिसका नेतृत्व मुस्लिम बंगाली बुद्धिजीवियों के हाथ में था। यह लोग बंगाली भाषा और संस्कृति को अपना प्रतीक समझते थे। इन्होंने पूर्वी बंगाल में अपनी भाषा और संस्कृति के लिए आन्दोलन आरम्भ किया। फरवरी 1952 के भाषा आन्दोलन ने एक नए युग का सूत्रपात किया।

संगठनात्मक विरोध

अप्रैल 3,1954 को फ़जलुल हक ने युनाइटेड फ्रंट (आवामी मुस्लिम लीग कृषक श्रमिक पार्टी, पाकिस्तान नेशनल कांग्रेस, अनुसूचित जाति संघ, साम्यवादी दल, गणतंत्रीय दल तथा निजामें इस्लाम पार्टी) के मंत्रीमण्डल को शेखमुजीर्बुरहमान आदि अन्य मंत्रियों से युक्त होकर संगठित किया। फ़जलुल हक ने कराँची सरकार कोसहयोग देने का प्रस्ताव रखा यदि पाकिस्तान सरकार भाषा, संविधान और प्रान्तीय स्वायत्ता को मान्यता देगी।

फ़जलुल हक के मन्त्रिमण्डल के शपथ लेने के तुरन्त पश्चात आदम जीजूट मिल (नारायणगंज) में हिंसक उपद्रव आरम्भ हो गए। इनमें 1,500 आदमी हताहत हुए इसमें अधिकतर बंगाली थे। पाकिस्तानी अधिकारी तन्त्र ने यह उपद्रव कराकर फ़जलुल हक की सरकार पर आरोप लगाया।

एक अन्य घटना ने भी फ़जलुल हक को भावनात्मक रूप से प्रभावित किया, और अप्रैल 23,1954 को फ़जलुल हक कलकत्ता गए वहां उन्होंने जीवन का एक बड़ा हिस्सा बिताया था वहां उनका हृदय से स्वागत किया गया। हक ने कहा, कि राजनीतिज्ञ सीमा का विभाजन कर सकते है, हृदयों का नहीं। उन्होंने कहा कि भाषा मानव संगठन के लिए इतिहास में सदैव महत्वपूर्ण रही है, इसलिए दोनों बंगाल एक दूसरे के पारम्परिक सहयोगी होने चाहिए।

फ़जलुल हक के वक्तव्यों को कराँची सरकार कटुतापूर्ण ग्रहण कर रही थी दूसरी ओर अमरीका पाकिस्तान के साथ पारस्परिक सहायता का समझौता कर पाकिस्तान और बंगाल में अपना प्रभावक्षेत्र बनाने का इच्छुक था। इससे पूर्व फ़जलुल हक पूर्वी बंगाल के वामपन्थी दलों पर किसी प्रकार के प्रतिबंध लगाने में इच्छुक नहीं थे। इसी मध्य हक ने न्यूयार्क टाइम्स के संवाददाता केलहन को एक भेंटवार्ता में अपने विचार प्रकट किए। केलहन ने इसको इस रूप में प्रकाशित किया कि हक सरकार पूर्वी बंगाल की स्वतंत्रता चाहती है। पाकिस्तान की केन्द्रीय सरकार ने केलहन रिर्पोट को सत्य समझ मई 30,1954 को हक मंत्रीमण्डल को सेवा मुक्त कर दिया और उसी दिवस राज्यपाल शासन घोषित कर दिया गया।

मेजर जनरल इस्कन्दर मिर्जा राज्यपाल बनाए गए और एनम खाँ जो कि विभाजन पूर्व बंगालियो के प्रति अपने कुकृत्यों के कारण प्रसिद्ध थे, मुख्य सचिव नियुक्त किए गए। इन दोनों ने मिलकर अपनी दमनकारी नीति का परिचय देना आरम्भ कर दिया। उन्होंने साम्यवादी दल को 'अवैध'

घोषित कर दिया। सब कार्यकर्ताओं को जेल भेज दिया गया। इसके अतिरिक्त बंगाल के उदारवादी नेताओं को भी बंद कर दिया गया। जुलूस आदि को भी अवैध घोषित कर दिया गया। मौलाना भसानी इस समय लन्दन में थे। जनरल मिर्जा ने उनको चेतावनी दी कि यदि तुम्हारा पूर्वी बंगाल में आगमन हुआ तो सम्भवतः आपको अपने जीवन का खतरा उठाना पड़ेगा। इस समय गुलाम मुहम्मद और मुहम्मद अली बोगरा सब गुप्त योजना बना रहे थे योजना में सोहरावर्दी भी सम्मिलित हो गए। इसके अतिरिक्त 'सम्मिलित मोर्चा' के बहुत से नेता भी इसमें सम्मिलित हो गए थे। इस योजना में दो बातें थीं,: (1) पहली बात तो यह थी कि सरकार प्रगतिशील आन्दोलन को बिल्कुल समाप्त कर देना चाहती थी। (2) दूसरी केन्द्र में निजीमुद्दीन गुट पराजित हो जाय। जब यह योजना बन गई तो मंत्रीमण्डल में परिवर्तन हुए। गुलाम मुहम्मद प्रधानमंत्री बने, इसकन्दर मिर्जा गृह मन्त्री बने और अयूब खाँ को रक्षा मंत्री बनाया गया। सुहरावर्दी को न्याय मन्त्रालय दिया गया। अहबूसन को स्वास्थ्य मंत्री बनाया गया। 1955 में अबू हसन ने केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया और पूर्वी बंगाल में कृषक श्रमिक पार्टी जिसमें निजामुद्दीन सम्मिलित सरकार के मुख्य मंत्री बने। शनैः शनैः अवामी मुस्लिम लीग और कृषक पार्टी में सम्बन्ध खराब होने लगे। इसका कारण यह था कि सुहरावर्दी चाहते थे कि मेरा मनोनीत व्यक्ति जिसका नाम अताउंरहमान खाँ है वह अवामी मुस्लिम लीग का नेतृत्व करे और मुख्य मन्त्री भी हो। इसी समय मौलाना भसानी और शेख मुज़ीबुंरहमान ने भी यह प्रयत्न करने आरम्भ कर दिये कि उनकी पार्टी एक सूत्रबद्ध रहे। यही कारण था कि मुस्लिम शब्द को हटा कर केवल अवामी लीग रखा गया। दोनों नेताओं ने सम्पूर्ण प्रान्त की स्थिति का अध्ययन किया। उनका उद्देश्य था अपनी पार्टी को अविरल पूर्वी बङ्गाल का स्तर दिलाया जाय। इन नेताओं के साथ वे लोग थे जो जाति धर्म भेदभाव में विश्वास नहीं रखते थे। उसी समय अब्दुल सलाम खाँ, जो कि एक कट्टर मुसलमान थे उन्होंने एक पार्टी बनाई और उसका नाम 'अवामी मुस्लिम लीग' रखा। इस दल के सदस्यों की संख्या 18 थी।

इधर केन्द्र में न्याय मन्त्री सुहरावर्दी संविधान बनाने में संलग्न थे। उन्होंने सम्पूर्ण प्रान्त को एक इकाई माना। सुहरावर्दी भी इस योजना के सहयोगी थे क्योंकि वे पश्चिमी पाकिस्तानी शासन को प्रसन्न करना चाहते थे। और अन्य आलोचकों के अनुसार वह सत्ता लालसा के कारण सौदेबाजी के इच्छुक थे।

सुहरावर्दी 1955 में केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल से पदच्युत कर दिए गए इसी वर्ष गुलाम मुहम्मद के रोग अवकाश के कारण इस्कन्दर मिर्जा पाकिस्तान के कार्यवाहक राज्यपाल नियुक्त हुए। महाराज्यपाल ने अपने प्रथम कार्य में मुहम्मद अली बोगरा को प्रधानमन्त्री पद से हटाकर चौधरी मुहम्मद अली को प्रधानमन्त्री नियुक्त किया। नये मन्त्री मण्डल में फ़जलुल हक के सम्मिलित मोर्चे ने (अवामी लीग को छोड़कर) स्थान ग्रहण किया। फ़जलुल हक को गृहमन्त्री नियुक्त किया गया। आश्चर्य स्वरूप जनरल अयूब खाँ को मन्त्रिमण्डल में कोई स्थान नहीं दिया गया।

राजनैतिक संघर्ष

फरवरी 29, 1956 को पाकिस्तानी संविधान की घोषणा की गई। इसके साथ ही पाकिस्तान को इस्लामिक गणतन्त्र घोषित कर दिया गया। मार्च 23, 1956 को संविधान लागू किया गया। संविधान सभा के 13 आवामी लीग के सदस्यों में से केवल सुहरावर्दी ने संविधान पर हस्ताक्षर किये। आवामी लीग तथा पूर्वी बङ्गाल के अन्य अल्प संख्यक दलों ने सदन त्याग कर इसका विरोध किया। पाकिस्तान के संविधान ने राज्याध्यक्ष का स्थान केवल मुस्लिमों के लिये आरक्षित कर मुहम्मद अली जिन्नाह के अगस्त 11, 1947 के धार्मिक समानता के सिद्धान्त का उल्लंघन किया। संविधान ने पूर्वी बङ्गाल के नेताओं की किसी भी मांग को अन्तंबद्ध नहीं किया।

1956 के मध्यापरान्त पूर्वी बङ्गाल में गम्भीर खाद्य संकट उत्पन्न हो गया इस संकट से कुछ ही माह पूर्व फ़जलुल हक पूर्वी बङ्गाल के राज्यपाल होकर आ गये थे, और अगस्त 30, 1956 को आबू हुसैन सरकार मन्त्रिमण्डल ने त्याग पत्र हो गया था, और राज्यपाल शासन लागू कर दिया गया था। अगस्त 7, 1956 को शेख मुज़ीर्बुरहमान ने ऐतिहासिक यात्रा का ढाका में नेतृत्व किया। पुलिस की गोली काण्ड से निर्मम हत्यायें हुई। शासकीय दमनकारी नीति ने स्थिति को गंभीर कर दिया। अन्ततः राज्यपाल ने अताउर्रहमान खाँ (आवामी लीग) को मन्त्रिमण्डल बनाने के लिये सितम्बर 6, 1956 को आमन्त्रित किया।

इसी माह चौधरी मुहम्मद के त्याग पत्र दे देने पर सुहरावर्दी ने रिपब्लिकन-आवामी मन्त्रिमण्डल केन्द्र में गठित किया। सुहरावर्दी जो अब तक पश्चिमी पाकिस्तान में भारतीय ऐजेन्ट कहे जाते थे समाचार पत्रों में देशभक्त कहे जाने लगे। सुहरावर्दी ने एक इकाई योजना को सहयोग दिया। और इस प्रकार पूर्वी बङ्गाल के मौलाना भसानी, सीमाप्रान्त के अब्दुल गफ्फार

खां, बलूचिस्तान के अब्दुल्ला समद, ने उनसे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। सुहरावर्दी के सम्बन्ध पूर्वी बङ्गाल के नेताओं से और बिगड़ गये जब उन्होंने अमरीका से सैनिक समझौता किया और सीटो और बगदाद समझौते को समर्थन दिया। सुहरावर्दी की इस नीति ने पूर्वी बङ्गाल की जनता को आशंकित किया, छात्रों ने इस नीति का खुल कर विरोध किया। निःसंदेह सुहरावर्दी को पाकिस्तान की विदेश नीति का नया अध्याय खोलने का श्रेय जाता है। उन्होंने महाशक्तियों के साथ अपने संबन्ध सुदृढ़ किये और चीन यात्रा की, तथा चाऊ-एन-लाई ने पाकिस्तान की यात्रा की। सुहरावर्दी पाकिस्तान की आर्थिक लाभ के प्रति सचेत थे क्योंकि वह जानते थे कि आर्थिक विकास कुछ हद तक भारत पर भी निर्भर करता है इस हेतु उन्होंने शेखमुजीबुर्रहमान और अब्दुल मंसूर अहमद को भारत सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भेजा। पश्चिमी पाकिस्तान में सुहरावर्दी की इस नीति की आलोचना की गई क्योंकि भारत से सम्बन्ध स्थापित होने से पूर्वी बङ्गाल में पश्चिमी पाकिस्तान के उद्योगकर्ताओं की शोषण नीति को आघात पहुंच सकता था। पश्चिमी पाकिस्तान के समाचार पत्रों ने लिखा कि कश्मीर समस्या का समाधान हुए बिना भारत से सम्बन्ध अच्छे नहीं हो सकते।

इसी मध्य मौलाना भसानी ने कश्मीर में आवामी लीग परिषद का सम्मेलन करना चाहा। मौलाना भसानी चाहते थे कश्मीर सम्मेलन बङ्गाल के राष्ट्रवाद में ऐतिहासिक संधिकाल हो। सम्मेलन में प्रतिनिधियों के स्वागत के लिए जो द्वार प्रवेश हेतु रखे गए उनके नाम रवीन्द्र नाथ टैगोर, सूर्यसेन, देशबन्धु चितरंजनदास, नेताजी सुभाष चन्द्र बोस और उस समय के पश्चिमी बङ्गाल के समकालीन मुख्य मन्त्री विधान चन्द्र राय आदि के नामों पर रखे गए। मौलाना भसानी ने पश्चिमी बङ्गाल से एक सांस्कृतिक मण्डल को भी आमन्त्रित किया। इस मण्डल का नेतृत्व हूंमायूँ कबीर ने किया।

मौलाना भसानी ने आवामी लीग की परिषद अधिवेशन में स्पष्ट शब्दों में कहा कि किसी न किसी दिवस पूर्वी बङ्गाल पाकिस्तान से विदा ले लेगा; यदि पश्चिमी पाकिस्तान सरकार ने पूर्वी बङ्गाल को स्वायत्ता प्रदत्त न की और शोषणकारी नीतियों का अन्त नहीं किया। इस अधिवेशन में सुहरावर्दी की विदेश नीति की भी कटु आलोचना की गई। अक्टूबर 11,1957 को सुहरावर्दी ने त्यागपत्र दे दिया क्योंकि इस्कन्दर मिर्जा को सुहरावर्दी की स्वतन्त्र कार्य प्रणाली पसन्द नहीं थी। तत्पश्चात रिपब्लिकन- मुस्लिम लीग सम्मिलित सरकार का नेतृत्व 'चुंदरीगर' ने किया। सुहरावर्दी की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि अपने प्रधानमन्त्री काल में अक्टूबर 1956 में पूर्वी बंगाल

में संयुक्त निर्वाचन पद्धति का समावेश करना था। चुंदरीगर ने इन चुनाव क्षेत्रों को पृथक करने का असफल प्रयत्न किया और दो ही माह में उनको प्रधानमन्त्री पद छोड़ देना पड़ा। दिसम्बर 1957 को फिरोजखांनून पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री बने। इनकी सम्मिलित सरकार के राजनैतिक सदस्य थे: रिपब्लिकन पार्टी, आवामी लीग, पाकिस्तान नेशनल कांग्रेस, नेशनल आवामी पार्टी, अनुसूचित जाति संघ, तथा कृषक श्रमिक पार्टी का हमीदुलहक वर्ग।

पूर्वी बंगाल में 1958 के प्रारम्भ में राजनैतिक और प्रशासनिक संघर्ष आरम्भ हो गए। सदन में एक वित्त विधेयक को लेकर राज्यपाल और मुख्यमन्त्री में तनाव पूर्ण मतदान हो गया। राज्यपाल फजलुल हक ने मुख्यमन्त्री आताउर्रहमान खाँ को त्यागपत्र देने के लिए कहा। राज्यपाल के परामर्श को अस्वीकार कर देने के कारण उन्होंने मुख्यमन्त्री को पदच्युत कर दिया। उस समय पाकिस्तान के शासक वर्ग को आवामी लीग के सहयोग की आवश्यकता थी, इसलिए राष्ट्रपति इस्कन्दर मिर्जा ने फ़जलुल हक को सेवामुक्त कर दिया। पूर्वी बंगाल के गैर बंगाली मुख्य सचिव हामिद अली को अप्रैल 1958 में कार्यवाहक राज्यपाल बनाया गया। हामिद अली ने फ़जलुल हक सरकार द्वारा नियुक्त आबू हुसैन सरकार के मन्त्रिमण्डल को पदमुक्त कर दिया। यह मन्त्रिमण्डल केवल 12 घन्टे ही रह सका था। जून 1958 तक भूतपूर्व दोनों मुख्यमन्त्री पुनः एक बार मुख्यमन्त्री के पद पर आसीन हो चुके थे। इस समय तक सुहरावर्दी और मिर्जा में मतभेद होने के कारण जून 25,1958 को बंगाल में राज्यपाल शासन घोषित कर दिया गया।

अगस्त 25,1958 में अताउर्रहमान पुनः प्रधानमन्त्री बना दिए गए। इसी समय राष्ट्रपति मिर्ज़ा संविधान को रद्द करने में इच्छुक थे और इस हेतु उपद्रव करवाने प्रारम्भ कर दिए। पूर्वी बंगाल सदन में पूर्णरूपेण अव्यवस्था हो गई। सितम्बर 23,1958 को सदन के भीतर प्रशासनिक एवं विरोधी, दोनों दलों में नियुक्त दंगे हुए जिसमें सदन के उपाध्यक्ष घायल हुए और अस्पताल में उनका निधन हो गया। केन्द्र में मिर्जा राष्ट्रपति सरकार बनाने के इच्छुक थे, अक्टूबर 7 तथा 8 की रात्रि में सैनिक अधिकारियों ने राजनीतिज्ञों को बन्दी बना नगरों में सेना तैनात कर दी, इस्कन्दर मिर्जा ने संविधान को निरस्त कर सैनिक शासन घोषित कर दिया। मुहम्मद अयूबखाँ को सेनाध्यक्ष तथा मुख्य सैनिक प्रशासन अधिकारी नियुक्त किया गया। 1950 के पूर्वी बंगाल में साम्प्रदायिक उपद्रवों के कुप्रसिद्ध जन्मदाता अजीज अहमद को उप सैनिक प्रशासन अधिकारी नियुक्त किया गया। अयूब खाँ को शीघ्र ही प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया परन्तु 3 सप्ताह के भीतर अक्टूबर 27,1958 को मिर्जा

से बलपूर्वक त्यागपत्र लेकर अयूब खां राष्ट्रपति बन गए। अक्टूबर 28,1958 को अयूब खां ने प्रधानमंत्री के पद को समाप्त कर सर्वाधिकार राष्ट्रपति में ही सीमित कर दिए। इस्कन्दर मिर्जा ने त्यागपत्र देते समय सम्भवत: ठीक ही कहा : "कि साक्षरता के बिना लोकतन्त्र मिथ्याचार की पराकाष्ठा है" यद्यपि यह कथन मिर्जा की स्वयं की राजनीति के प्रति सत्य नहीं था, किन्तु लोकतन्त्र के प्रति सम्भवत: कटु सत्य था।

पूर्वी बंगाल इस समय बाढ़ और अकाल से ग्रस्त था। पश्चिमी पाकिस्तान के प्रशासन ने उनकी सहायता में कोई कदम नही उठाया और न ही बंगाल के नेताओं ने सरकार पर ज़ोर दिया। एक दीर्घकालीन अन्दोलन जो कि नेताओं द्वारा चलाया गया था, सफल रहा। पाकिस्तानी सरकार ने पूर्वी पाकिस्तान के उत्पादन को भी न्यून करने का भरसक प्रयत्न किया। 1957 के जूट कानून ने पूर्वी बंगाल में आर्थिक शोषण का द्वार खोल दिया। आयात और निर्यात में भी प्रतिवन्ध लगाकर पश्चिमी पाकिस्तान ने अपनी आर्थिक स्थिति को लाभान्वित किया। पाकिस्तानी शासन ने पूर्वी बंगालियों को सेना तथा अन्य मुख्य प्रशासन कार्यो में बहुत कम प्रवेश दिया। पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान की पारस्परिक कटुता एवं विद्वेश आर्थिक शोषण के साथ-साथ सांस्कृतिक आधीनीकरण के कारण विशेष रूप लेना था। यह मतभेद शनै: शनै: वृहद रूप लेता गया।

नवम्बर 1958 को जनरल मुहम्मद अयूब खां ने पाकिस्तान में अपना अधिनायकतन्त्र स्थापित किया। पाकिस्तान में उस समय जनता संसदीय प्रणाली के प्रशासन के प्रति आशावान थी, किन्तु सैनिक प्रशासन ने उनके विचारों पर तुषारापात कर दिया। पूर्वी बंगाल के लिए अधिनायकीय शासन एक कठोर प्रहार था। क्योंकि पूर्वी बंगाल के लोगों के दो ही मंच थे, विधानपालिका और न्याय पालिका। सेना में तो बंगालियों का प्रतिनिधित्व नाम मात्र भी नहीं था। सैनिक शासन की स्थापना के साथ ही पूर्वी बंगालियो में एक क्रान्तिकारी संगठन 'पूर्व बंगस्वाधीनता दल' निर्मित किया गया। इसका ध्येय पूर्वी बंगाल के प्रति पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना था। इस दल की दमन पूर्ण नीति के कारण विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी।

अयूब खां ने नवीन अध्यादेश जारी कर राजनैतिक दलों और राजवेत्ताओं के कार्यों को निरस्त कर दिया। अक्टूबर 26,1959 को अयूब खां ने स्वयं को फील्ड मार्शल नियुक्त कर लिया और इसके साथ ही एक 'बेसिक ड्रेमोक्रेसीज आर्डर' (बी०डी०ओ०) पारित किया। इस अध्यादेश ने 5 स्तरीय प्रशासकीय योजना प्रस्तुत की इसमें राजसंघीय परिषद तहसील परिषद, जिला परिषद,

मण्डल परिषद तथा प्रान्तीय परामर्शदाता परिषद थी। संघीय परिषद के 15 में से 10 सदस्य निर्वाचित किए जायेंगे और 5 मनोनीत और प्रत्येक परिषद के अपने से ऊपर के परिषद के प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार दिया गया। अयूब खां की इस पद्धति का आशय शासन को निम्न स्तर पर सशक्त सहयोग प्रदत्त करना था। 1960 में आज़म खां के पूर्वी बंगाल के राज्यपाल की नियुक्ति के साथ पूर्वी बंगाल के लोगों को प्रथम बार कार्य-साधक और प्रशासन का अनुभव हुआ। अक्टूबर 1960 के साइक्लोन (सागरीय तूफ़ान) में आज़म खां के प्रशासन ने यथाविधि कार्य किया। आज़म खां ने स्वयं लोगों की सहायतार्थ 18 घन्टे प्रतिदिन कार्य किया। आज़म खां ने पूर्वी बंगाल और केन्द्रीय सरकार में एक सहयोग सेतु का कार्य किया। परन्तु अयूब ने आज़म खां को मई 1962 में त्यागपत्र देने पर बाध्य किया। फरवरी 1960 में अयूब खाँ ने स्वयं को पाकिस्तान का प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित कराया। इसी माह अयूब खां ने पाकिस्तान के संविधान संरचना हेतु 11 सदस्यीय संवैधानिक आयोग नियुक्त किया। इस आयोग ने पूर्वी बंगाल और पश्चिमी पाकिस्तान का भ्रमण कर बुद्धिजीवियों और राजनेताओं से भेंटवार्ता की। अताउर्रहमान खां ने पूर्वी बङ्गाल में आयोग को बताया कि 1956 का संविधान पाकिस्तान में संसदीय लोकतन्त्र के असफल होने के कारण रद्द नहीं किया गया था, अपितु संविधान का निराकरण कर पाकिस्तान में संसदीय लोकतन्त्र को अवसर प्रदत्त नहीं किया गया।

अयूब खाँ ने संवैधानिक आयोग को यथापूर्व अपनी इच्छा व्यक्त कर दी थी परन्तु आयोग ने मई 1961 में संसदीय प्रणाली को अनुशंसित किया। अयूब ने आयोग की सिफ़रिश को अस्वीकार कर मार्च 1962 में नया संविधान घोषित कर दिया। मुख्य रूप से नया संविधान उस प्रलेख की पुनरावृत्ति थी जो अयूब खां ने अक्टूबर 1954 में लन्दन के एक होटल में लिखा था। इस प्रलेख में उन्होंने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि संसदीय प्रणाली पाकिस्तान के लिए घातक है। अपने विचारों को उन्होंने इस नए संविधान में समाविष्ट कर पूर्ण सत्ता राष्ट्रपति के अधिकार में निहित कर दी।

सत्ता संघर्ष

अयूब खां को पूर्वी बङ्गालियों की राजनैतिक प्रतिक्रिया का आभास था और उनको मानसिक भय प्रदत्त करने हेतु प्रशासन ने जनवरी 30,1962 को शाहिद सुहरावर्दी को बन्दी बना लिया। फरवरी 1962 में छात्रों ने हड़ताल कर दी। ढाका विश्वविद्यालय बन्द कर दिया गया। छात्रों ने सभायें एवं प्रदर्शन किए। उनकी मांग थी सैनिक प्रशासन समाप्त किया जाय और

सुहरावर्दी को मुक्त किया जाय। छात्रों ने हिंसात्मक कार्य करने आरम्भ कर दिए। फरवरी 7 को तेजगांव हवाई अड्डे पर अयूब खां को स्वयं उग्रवादी प्रदर्शनकारियों का सामना करना पड़ा। छात्रों के उपद्रव मुन्शीगंज, चटगांव, सिलहट, कोमीला, नवाखली आदि नगरों में प्रारम्भ हुए।

अयूब खां ने ऐसी विषम परिस्थिति में पूर्वी बङ्गाल के लोगों को सुविधायें प्रदत्त करने की घोषणा की, उदाहरणतया पाकिस्तान के औद्योगिक विकास निगम, रेलवे बोर्ड, तथा जल विद्युत विकास निगम को दो भागों में विभक्त कर दिया, एक पूर्वी पाकिस्तान के लिए और एक पश्चिमी पाकिस्तान के लिए। अयूब खां ने संविधान में एक धारा को समाविष्ट किया जिसके अनुसार प्रशासनिक क्षेत्र में देश के दोनों भागों में समानता उत्पन्न करने की पूर्ण चेष्टा करने का आश्वासन दिया। अयूब खां के इस कार्य घोषणा का छात्रों पर प्रभाव नहीं पड़ा। मार्च 15,1962 को ढ़ाका विश्वविद्यालय के छात्रों ने हड़ताल कर दी, अयूब खां ने स्थिति को अपने भाषणों के द्वारा और विषम बना दिया। उन्होंने छात्रों के परोक्ष में विदेशी शक्तियों का हाथ बताया।

अयूब खां ने पूर्वी बंगाल में अपनी नीतियों का उदारवादी चित्रण लोकप्रिय राज्यपाल आज़म खां के द्वारा वर्णित किया। वाह्य रूप से प्रशासकीय उदारवाद किंचित आकर्षक प्रतीत होता था, किन्तु आंतरिक रूप से विद्यालयों, कार्यालयों में भाषा का प्रश्न राजनीति में दुविधा का प्रश्न तथा पाकिस्तान में वरीयता का प्रश्न अपने स्थान पर बना हुआ था।

1962 के मध्य से लेकर 1964 के अन्त तक पाकिस्तान के प्रशासन और पूर्वी बङ्गाल में संघर्ष चलता रहा। अयूब खां ने यद्यपि अपने नए संविधान तथा राष्ट्रीय सभाओं में राजनैतिक दांव पेच के द्वारा दोनों भागों में एक मेल जोल उत्पन्न करना चाहा परन्तु 'जाकी रही भावना जैसी' काअर्थ पूर्वी बंगाल के राजनीतिज्ञ छात्र तथा जनता पूर्ण रूप से समझती थी। छात्र अपने संघर्ष पथ पर अग्रसर थे एवं अयूब खां राजनैतिक भ्रान्ति उत्पन्न करने में लगे थे और मौलाना भसानी चीन-पाकिस्तान सम्बन्ध सुदृढ़ कराने का प्रयत्न कर रहे थे। शेख मुज़ीब यथार्थ रूप से राजनैतिक सुविधाओं को पाने में संलग्न थे। ऐसी स्थिति में अयूब खाँ की दमनकारी और यथा समय राजनीतिक दलों में मनभेद कराने की नीति विशेष सफल नहीं हुई। 1964 में विश्यविद्यालय में प्रदर्शन प्रारम्भ हो गए और इन प्रदर्शनों में छात्राओं ने भी भाग लिया। इन प्रदर्शनों का व्यापक प्रभाव पूर्वी बङ्गाल पर पड़ा। इसी मध्य अयूब खां ने राष्ट्रपति के चुनाव की घोषणा कर कार्य आरम्भ कर दिया। चुनाव में अयूब खां की पार्टी (पारम्परिक मुस्लिम लीग) तथा कायदे-आज़म मुहम्मद

अली जिन्नाह की पार्टी सम्मिलित विरोधी दलों की प्रत्याशी थीं। अयूब खां की पार्टी बङ्गाल में लोकप्रियक हो चुकी थी और पश्चिमी पाकिस्तान में भी नागरिक जनसंख्या प्रशासन से प्रसन्न नहीं थी। फ़ातिमा जिन्नाह को चुनाव प्रचार के मध्य रेडियों और टेलीविजन पर जनता को संबोधित नहीं करने दिया गया जब कि अयूब खाँ का प्रचार होता रहा। सरकारी समाचार ऐजेंसिया अयूब खां का प्रचार करती रहीं। फातिमा जिन्नाह के प्रभाव को कम करने हेतु कॉलेज और विश्वविद्यालय के अध्यापकों को चुनाव अभियान से बहिष्कृत कर दिया गया। अयूब खां ने तथा कथित मुस्लिम लीग ने फातिमा जिन्नाह पर भारत तथा विदेशी शक्तियों के सहयोग का आरोप लगाया।

पूर्वी पाकिस्तान में अयूब खां ने बङ्गालियों को यह चेतावनी दी कि यदि चुनाव में प्रशासन का साथ नहीं दिया गया तो 1958 से भी कठोर क्रान्तिकारी कार्यवाही पूर्वी बङ्गाल पर की जायेगी।

अन्तत: प्रत्येक रूप से भ्रष्टाचार सक्षम प्रशासन के उपकरणों के द्वारा अयूब खां 1965 के चुनाव में विजयी हुए। चुनाव परिणाम ने विरोधी दलों को स्तब्ध कर दिया। चुनाव पश्चात् पूर्वी बङ्गाल में श्रमिक एवं रेलवे की हड़तालों में तथा सरकार की दमनकारी नीति ने वातावरण को विषम कर दिया।

पूर्वी बङ्गाल के लोकप्रिय समाचार पत्रों ने भी अयूब खां प्रशासन के विरुद्ध संघर्ष आरम्भ कर दिया। समाचार पत्र 'इत्तिफ़ाक' ने लिखा कि "पश्चिमी पाकिस्तान के औद्योगिकों ने पूर्वी बङ्गाल को अपना उपनिवेश बना लिया है"। इत्तिफ़ाक, आजाद और अन्य पत्रों ने बङ्गाल की विविध समस्याओं का चित्रण किया, जिसमें पूर्वी बङ्गाल की विकास शून्यता को इंगित किया गया था।

अयूब खां सरकार ने 1965 के मध्योपरांत भारत से संघर्ष के द्वारा आंतरिक क्षेत्र में कृत्रिम एकता का प्रदुर्भाव कर लिया। सितम्बर 1965 के भारत के साथ पाकिस्तान के 22 दिवसीय युद्ध में पूर्वी बंगालियों ने अच्छे देश भक्तों की भाँति सरकार का साथ दिया। यद्यपि ताशंकद समझौते का पाकिस्तान में विरोध किया गया, परन्तु पूर्वी बंगाल के राजनीतिज्ञों ने स्वरक्षा एवं व्यापार के नाते भारत से मेल जोल बनाए रखना चाहा।

पूर्वी बंगाल के लोग जनसमस्या हेतु अपने पड़ोसी सीमान्त क्षेत्रों के साथ मिल कर एक संयुक्त सन्तुलन के इच्छुक थे परन्तु यह तभी संभव था जब पूर्वी बंगाल को स्वयत्तता प्राप्त हो।

भारत-पाक युद्ध ने पूर्वी बंगाल की स्वायत्ता की मांग को त्वरित ही किया। अयूब खां स्वयं काले बंगालियों के प्रति घृणा का भाव रखता था। राजनैतिक दलों ने इसी समय पुनः संगठिन होने पर विचार आरम्भ कर दिया। 1966 के आरम्भ में ही राजनैतिक दलों एवं छात्र संगठनों ने 1965 के युद्धोमध्य आरोपित आपातकालीन स्थिति को समाप्त करने की मांग की। फरवरी 26,1966 में मौलाना भसानी के सहयोग के द्वारा आपातकालीन मुक्ति दिवस मनाया गया। मार्च 1966 में ढाका में दो महत्वपूर्ण प्रकाशन हुए, एक ढ़ाका विश्वविद्यालय के छात्र अब्दुल कलाम आजाद की पुस्तक 'पाकिस्तान आंचलिक वेशभ्य' प्रकाशित हुई। इस पुस्तक का प्रकाशन पूर्वी पाकिस्तान छात्र लीग की केन्द्रीय समिति ने किया था। पुस्तक में पूर्वी बंगाल के शोषण तथा उपनिवेश स्वरूप का खंडन किया गया था। दूसरा महत्वपूर्ण प्रकाशन शेख मुजीब की 6 सूत्रीय योजना थी। इन 6 सूत्रों ने पश्चिमी पाकिस्तान के प्रशासन में सनसनी मचा दी। बंगाली नेताओं को भारतीय ऐजेन्ट कहा गया। इस पुस्तिका में शेख मुजीबुर्रहमान ने अर्थिक और राजनैतिक समस्याओं के समाधान हेतु सिद्धान्त दिए। उन्होंने यह भी कहा कि यह सिद्धान्त मेरे मौलिक अविष्कार नहीं, किन्तु दीर्घकालीन पूर्वी बंगाल की समस्याओं को एक स्थान पर एकत्रित किया गया है। इन 6 सूत्रीय सिद्धान्तों में शेख मुजीर्बुरहमान ने राजनैतिक, आर्थिक एवं सैनिक मूल्यों की विवेचना की और इस तथ्य का भी उल्लेख किया कि यदि पश्चिमी पाकिस्तान सरकार 6 सूत्रों में कथित तथ्योंका समावेश करेगी, तभी पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान में एकता सम्भव है। मुजीर्बुरहमान ने पूर्वी बङ्गाल के लिए एक आयुध उद्योग सैनिक अकादमी और नौ सेना के मुख्य कार्यालय की मांग की। शेख ने अपनी पुस्तिका में पश्चिम के लोगों से सहयोग की अपील की। उन्होंने पश्चिमी पाकिस्तान के लोगों को पुनः याद दिलाई कि पश्चिमी पाकिस्तान के शासकों ने पूर्वी बङ्गाल के लोगों को शोषित किया है तथा उन्होंने पश्चिमी पाकिस्तान की जनता को पूर्वी बङ्गाल के लोगो को अपना भाई न कि शासित वर्ग समझने के लिए पुनरावेदन किया।

पूर्वी बंगाल में शेख मुजीर्बुरहमान के सूत्रों को स्वतन्त्रता के घोषणा पत्र की मान्यता दी गई। छात्रों ने संघर्ष करना प्रारम्भ कर दिया। अयूब खां और उसकी सरकार ने लोकप्रिय आन्दोलन को दमन करने के लिए कठोर कार्यवाही आरम्भ कर दी। शासन ने 'इत्तिफ़ाक', 'आवाज़' और 'ढाका टाइम्स', समाचार पत्रों को आज्ञा प्रदान कर किसी छात्र अथवा रा जनेता की राजनैतिक गतिविधियों के प्रति समाचार छापने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इसके

साथ ही शेख मुजीर्बुरहमान को बन्दी बना लिया गया और जून के आरम्भ में हड़ताले, सभायें, 6 सूत्रीय योजना के पूरक हेतु आरम्भ हो गई। अगस्त 1966 में अयूब खां ने पूर्वी बंगाल के स्वायत्त शासन मांगने वालों के विरुद्ध जेहाद की घोषणा कर दी। समयानुसार पाकिस्तान की राजनीति में भी परिवर्तन आ रहा था और अयूब खां इस परिवर्तन को दृष्टिगोचर नहीं कर पा रहे थे। नवम्बर 1967 में जुल्फिकार अली भुट्टो ने 'पीपुल्स पार्टी ऑफ पाकिस्तान' बनाई। अयूब खां केवल अपने शत्रु मुजीर्बुरहमान को अपना लक्ष्य बनाए हुए थे। 1968 के आरम्भ के माहों में पूर्वी बङ्गाल की राजनीति कुछ मन्द पड़ गई। पूर्वी बङ्गाल के एक लेखक के अनुसार इस समय में पूर्वी बङ्गाल के राजनेता अगामी वृहद घटनाओं के प्रति अपने संगठन को सशक्त एवं सुदृढ़ कर रहे थे। नवम्बर 1968 के प्रथम सप्ताह में पाकिस्तान में छात्रों का आन्दोलन आरम्भ हो गया। नवम्बर 7 को रावलपिंडी पोलीटेक्नीक के प्रथम वर्ष के छात्र अब्दुल हमीद की हत्या ने छात्रों में आक्रोश की भावना को तीव्र कर दिया। शनैः शनैः श्रमिक तथा निम्नवर्ग ने भी आन्दोलन में प्रवेश किया। हिंसा और हत्याओं में वृद्धि के साथ ही आंदोलन त्वरित होने लगा। पश्चिमी पंजाब के छात्रों ने भुट्टो को अपना नेता माना। भुट्टो और वली खां को 13 नवम्बर को बन्दी बना लिया गया। इससे भुट्टो की लोकप्रियता में वृद्धि हुई। यह वह समय था जब पाकिस्तान के भूतपूर्व वायुसेनाध्यक्ष असगर खां राजनीति में प्रविष्ट हुए।

दिसम्बर 1968 में पूर्वी बङ्गाल में रिक्शा चालकों की हड़ताल और सभा हुई। इस आम सभा में जो पल्टन मैदान ढाका में आयोजित की गई थी उसमें मौलाना भसानी ने दिसम्बर 6 के सांयकाल को भाषण देते हुए लोगों से क्षेत्रीय स्वायत्तता के प्रति जन आन्दोलन करने का आह्वान किया। दिसम्बर 7,1968 को ढाका में आम हड़ताल रही। मौलाना ने स्वयं छात्रों और श्रमिकों के प्रदर्शन का नेतृत्व किया। दिसम्बर के प्रथम सप्ताह में ढाका में अयूब खां की उपस्थिति ने भी आन्दोलन को मन्द न पड़ने दिया।

जनवरी 1969 के आरम्भ में पूर्वी बंगाल के छात्रों ने एक 'क्रियाशील पूर्वी पाकिस्तान समिति' का संगठन किया और 11 सूत्रीय कार्यक्रम का मांग पत्र प्रेषित किया। इस मांग पत्र में शिक्षा में सुधार के अतिरिक्त पाकिस्तान की संसदीय प्रणाली संघीय सरकार के अधिकार, राष्ट्रीयकरण, विदेश नीति तथा राजनैतिक बन्दियों के प्रति उदारता की मांगे थी। यह 'छात्र क्रियाशील समिति' पूर्वी पाकिस्तान का शक्तिशाली संगठन बन गयी। छात्रों की लोकप्रियता का आधार यह 11 सूत्रीय कार्यक्रम की मांग थी।

पाकिस्तान के दोनों भागों के छात्रों ने जनवरी 17,1969 को मांग दिवस मनाया। इसमें विराट प्रदर्शन किए गए और दोनों भागों का आर्थिक जीवन निष्क्रिय हो गया। करांची में छात्रों और पुलिस के संघर्ष ने और अधिक छात्रों को प्रोत्साहन दिया।

ढाका में 23,24 जनवरी की रात्रि को 25 हजार छात्रों ने 'टार्च जुलूस' निकाला और यह शपथ ली कि जब तक 11 सूत्रीय मांगपत्र स्वीकृत नहीं हो जायगा, तब तक वे संघर्ष करते रहेंगे। पूर्वी बंगाल के इस छात्र एकता ने पश्चिमी पाकिस्तान के राजनेताओं की श्वास स्तब्ध कर दी। पूर्वी बंगाल में जनवरी 24 से 26 तक पूर्णरूपेण प्रदर्शन और हड़ताल हुई। पश्चिमी पाकिस्तान में भी संघर्ष चल रहा था, वहां भी रेलवे श्रमिक छात्र और बुद्धिजीवी वर्ग ने लाहौर में प्रदर्शन किए। इस के परिणामस्वरूप पुलिस के गोली काण्ड के कारण कई हत्यायें हुई। मुजीबुर्रहमान ने इस मध्य पैरोल पर छूटने से इंकार कर दिया और ढ़ाका की आम सभा में जिसके मुख्य वक्ता मौलाना भसानी थे बिना शर्त मुजीबुर्रहमान को रिहा करने की मांग रखी।

अगरतला षडयंत्र काण्ड के अभियुक्त सार्जेन्ट जहरूल हक की जेल मृत्यु अथवा हत्या हो जाने के कारण पुन: रोष की भावना का प्रवाह हुआ। 16 फरवरी को अन्त्येष्टि सभा में मौलाना भसानी ने ऐतिहासिक 'आह्वान' 'बङ्गला जागों आगुन जागों' अर्थात बंगाल के लोगों जागृत होकर अग्नि को प्रज्वलित करो। कुछ ही समय में जनसमूह ने सरकारी सम्पित्ति का अग्नि काण्ड आरम्भ कर दिया और सेना को बुलाकर उपद्रव नियन्त्रित करने पड़े। इसके उपरान्त भी ढ़ाका में प्रबल प्रदर्शन जारी रहे। राजशाही विश्वविद्यालय के डॉक्टर शमशू जुहा जो छात्रों के प्रदर्शन को गोलीकाण्ड से रोकने का प्रयत्न कर रहे थे स्वयं सेना की गोली का अहेर हो गए। इससे स्थिति और अधिक विकृत हो गयी, तदुपरान्त ढ़ाका आन्दोलित जनता का केन्द्र हो गया।

अयूब खां ने 19 फरवरी 1969 को अपने तीनों अंगों के सेनाध्यक्षों को एकत्रित कर परामर्श किया। जनरल याहिया खां ने अयूब खां को यह परामर्श दिया कि वे लोकतांत्रिक क्रियाशील समिति (डेमोक्रेटिक एक्शन कमेटी) की मांग स्वीकार लें और राजनीति से अवकाश प्राप्त करें। पाकिस्तान में फरवरी 20 को कर्फ्यू हटा लिया गया और शेख मुजीबुर्रहमान तथा अन्य नेताओं को जेल मुक्त कर दिया गया। ढ़ाका में लगभग 5 लाख व्यक्तियों ने मुजीब का स्वागत किया। मुजीबुर्रहमान ने जनता को विश्वास दिलाया कि आवामी लीग के छ: सूत्रीय तथा छात्रों के ग्यारह सूत्रीय कार्यक्रम के प्रति संघर्ष पूर्णरूपेण चलता रहेगा।

पाकिस्तान के दोनों भागों में 1969 के आरम्भ में स्थिति अत्यन्त विस्फोटक हो गई थी । स्थिति को विषम रूप प्रदत्त करने में सेनाध्यक्ष याहिया खां का पूर्ण सहयोग था । याहिया खां को उद्योगपतियों का भी समर्थन प्राप्त था जो पूर्वी बंगाल पर अपना आर्थिक अधिपत्य स्थापित किए रहने के इच्छुक थे ।

योजनानुसार मार्च 25,1969 को अयूब खां ने पाकिस्तान रेडियों से अपने अधित्याग की घोषणा कर यह निर्णय दिया कि देश में उपद्रवों के कारण आगा मुहम्मद याहिया खां के लिए मैं शासनाध्यक्ष का पद त्याग रहा हूं । याहिया खां ने तुरन्त पूर्ण रूप से देश भर में सैनिक शासन लागू कर दिया और स्वयं मुख्य सैनिक शासन अधिकारी का पद ग्रहण किया । पाकिस्तान की राष्ट्रीय तथा प्रान्तीय विधान सभायें तथा मन्त्रीमण्डल भंग कर दिए गए ।

आर्थिक व समाजिक असमानता

पश्चिमी पाकिस्तान के शासकों की पूर्वी बंगाल के प्रति उदासीनता एवं मतभेद की नीति शिक्षा, केन्द्रीय सेवाओं तथा सामाजिक कल्याण के विभिन्न क्षेत्रों के अध्ययन से स्पष्ट होती है । इनका तुलनात्मक अध्ययन पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान के अध्ययनशील पाठक के लिए अत्यन्त आवश्यक है ।

1–	जनसंख्या	पश्चिमी पाकिस्तान	पूर्वी बंगाल
		55 मिलियन	75 मिलियन

2– शिक्षा :

शिक्षा स्तर	पश्चिमी पाकिस्तान		पूर्वी पाकिस्तान	
	अवधि	संख्या	अवधि	सख्या
प्राथमिक शिक्षा केन्द्र	1947–48	8,413	1947–48	29,663
	1968-69	39,418	1968–69	28,308
	$4\frac{1}{2}$ गुना अधिक		कमी	
माध्यमिक शिक्षा केन्द्र	1947-48	2,598	1947–48	3,481
	1965–66	4,472	1965–66	3,964
	प्रचुर वृद्धि		न्यून वृद्धि	
उच्च शिक्षा केन्द्र	1947–48	40	1947–48	50
	1968–69	271	1968–69	162
	7 गुना वृद्धि		3 गुना वृद्धि	
मेडिकल, इंजीनियरिंग,	1947–48	4	1947 48	3
कृषि कालेज	1968-69	17	1968–69	9

	4 गुना वृद्धि		3 गुना वृद्धि	
विश्वविद्यालय	1947–48	2 (654 छात्र)	1947–48	1 (1,620 छात्र)
	1968-69	6 (18,708) छात्र	1968-69	4 (8,831 छात्र)

3. सेवायें	पश्चिमी पाकिस्तान	पूर्वी पाकिस्तान
केन्द्रीय नागरिक सेवा	84%	16%
विदेशी सेवा	85%	15%
राजदूत	60%	9%
सेना	95%	5%
जनरल पद के अधिकारी	16%	–
जल सेना	172%	28%
वायुसेना चालक	89%	11%
सेना	5 लाख	20 हजार
पाक एयरलाइन्स	7 हजार	280

4. डाक्टर	12,400	7,600
अस्पताल	26,000	6,000
ग्रामीण स्वाथ्य केन्द्र	325	88
नागरिक सामुदायिक विकास केन्द्र	81	52

याहिया खां ने जब पाकिस्तान में सत्ता प्राप्त की उस समय पूर्वी बंगाल की जनता की कुंठा पराकाष्ठा पर थी। इसके अतिरिक्त आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक कारण आक्रोश की भावना को तीव्रतर कर रहे थे परन्तु 20 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आर्थिक कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। वियाना के विद्वानों के एक वर्ग ने आश्चर्यजनक आंकड़े प्रस्तुत किए। उनके अनुसार पूर्वी बंगाल पाकिस्तान के राजस्व का 60 प्रतिशत अंशदायी था और जबकि पूर्वी बंगाल पर केवल 25 प्रतिशत व्यय किया जाता था। यर्थाथ में पश्चिमी पाकिस्तान की 45% जनसंख्या पर 77% विकास व्यय था और पूर्वी बंगाल की 55% जनसंख्या पर 23% व्यय होता था। इसी प्रकार विदेशी मुद्रा पर भी पश्चिमी पाकिस्तान कीतुलना में पूर्वी बंगाल में 40 प्रतिशत का अभाव था।

इस प्रकार की आर्थिक असमानता ने राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पक्षों में असंतुलनता उत्पन्न कर दी थी। पूर्वी बंगाल की जनता का कुंठा एवं आक्रोश की भावना से पश्चिमी पाकिस्तान के साथ किसी भी प्रकार के गठबंधन में विश्वास नहीं रहा। अत: पाकिस्तान के दोनों भागों में समन्वय उत्पन्न करने हेतु एक योग्य राजनीतिज्ञ की आवश्यकता थी। याहिया खां ने मार्च 26,1969 को राष्ट्र के नाम सन्देश में संवैधानिक एवं उदारवादी वार्ता की। याहिया खां ने बंगाली शिक्षित वर्ग को शान्त करने हेतु उन्हें केन्द्रीय सरकार में उच्च पद प्रदान किए। अन्य प्रशासकीय शाखाओं में भी वंगालियों को प्रोत्साहन दिया जाने लगा। याहिया खां सरकार ने पूर्वी बंगाल के शिक्षित वर्ग को सरकारी नौकरियां प्रदान कर एक वृहद प्रश्न चिह्न के उत्तर में केवल एक विन्दु का समाधान किया।

इसी समय याहिया खां अपनी सैनिक शक्ति को सुदृढ़ करने में लगे हुए थे। अमरीका, रूस और चीन से आर्थिक और सैनिक सहायता प्राप्त करने में वह सफल हुए। शेख मुजीर्बुरहमान दूसरी ओर याहिया खां का ध्यान पूर्वी बंगाल की ओर आर्कषित करने हेतु शान्तिपूर्ण ढंग से आन्दोलन कर रहे थे। याहिया खां सरकार ने अपने राजनैतिक कार्यों में दक्षिण पन्थी राजनैतिक दलों के नेताओं के 1956 के संविधान के पुर्नस्थापन की मांग के लिए प्रोत्साहन दिया। मुजीर्बुरहमान आदि नेताओं ने इसका विरोध करते हुए 6 सूत्री युक्त संविधान की मांग की।

स्वयत्तता संघर्ष

पूर्वी बंगाल में सितम्बर 1969 में छात्रों और श्रमिकों में सन्तोष विचलित हो रहा था। पाकिस्तानी शासकों ने इसको भंग करने हेतु अक्टूबर में बिहारी-बंगाली उपद्रव करा दिया। बिहारी केवल उर्दूभाषा की मांग ही नहीं कर रहे थे, वरन् बंगाली स्त्रियों का भी व्यापार कर रहे थे। उधर नेशनल आवामी पार्टी में भी मतभेद उत्पन्न हो गया था। राष्ट्रपति ने अक्टूबर 1970 में चुनाव करवाने का निर्णय लिया। याहिया खां इसी मध्य पश्चिमी पाकिस्तान में 'एक ईकाई पद्धति' को भंग करने की पूर्ण चेष्टा कर रहे थे।

जनवरी 1,1970 को राजनैतिक दलों पर से प्रतिबन्ध हटा देने के कारण पूर्वी बंगाल में हड़तालें और प्रदर्शन आरम्भ हो गए और छात्रों ने फरवरी 1970 में बंगला देश के राष्ट्रीय ध्वज को प्रदर्शित किया। मौलाना भसानी ने 10 लाख श्रमिक और कृषकों की नागरिक सेना बनाने का आह्वान किया।

याहिया खां ने मार्च 28,1970 को एक वक्तव्य में अनुशासनहीनता की भर्त्सना की और राजनैतिक दलों को अनुशासन में रहने के लिए कहा,

राष्ट्रपति ने मार्च 30 को 'लीगल फ्रेम वर्क आर्डर' पारित किया । इसके मुख्य प्राविधानों में धार्मिक, प्रशासनिक, वैधानिक, आर्थिक तथा अपने स्वयं के अधिकारों की विवेचना की । राष्ट्रपति के स्वयं में अधिकारों को सीमित कर लेने के कारण उपरोक्त आर्डर की आलोचना की गई । पूर्वी बंगाल में शेख मुजीर्बुरहमान ने पुन: अपने 6 सूत्री और छात्रों के 11 सूत्रीय मांगों को संविधान में निहित करने की मांग की । शेख मुजीर्बुरहमान ने पाकिस्तान के शासकों की चेतावनी दी और पूर्वी बंगाल के वैध अधिकारों के प्रति सतंक किया। शेख मुजीर्बुरहमान ने अगामी चुनाव के लिए दौरा करते हुए जनता का भारी समर्थन प्राप्त किया। प्रत्येक स्थान पर शेख का 'जय बंगाला' के नारों से स्वागत किया गया । जून 7,1970 को शेख ने प्रथम बार बंगला देश का राष्ट्रीय ध्वज फहराया और तत्पश्चात छात्रों के हाथों में सौंप दिया ।

पाकिस्तान के दक्षिण पन्थी दल चुनाव स्थगित करने के इच्छुक थे । शेख मुजीर्बुरमान और पूर्वी बंगाल के अन्य नेता इसका विरोध कर रहे थे । पूर्वी बंगाल में अगस्त 1970 में भारी वर्षा और बाढ़ का प्रकोप हो गया । स्थिति का लाभ उठा कर याहिया खां ने चुनाव को दिसम्बर के लिए स्थगित कर दिया। जुल्फ़िकार अली भुट्टो ने इसकी भर्त्सना की । शेख ने घोषणा की यदि चुनाव को स्थाई रूप से स्थगित करने की चेष्टा की गई तो मेरी पार्टी इसका पूर्ण विरोध करेगी । उन्होंने यह भी कहा कि यह मतदान का लोकतान्त्रिक युद्ध पूर्वी बंगाल के अधिकारों को प्राप्त करने हेतु मेरा अन्तिम शान्तिपूर्ण संघर्ष होगा ।

इसी मध्य वर्षा,साइक्लोन और बाढ़ ने लाखों लोगों को बेघर कर दिया । पाकिस्तान सरकार ने जनता की इस अत्यन्त शोचनीय स्थिति में भी अपनी आश्चर्यजनक उदासीनता का परिचय दिया । यह भी एक विडम्बना थी कि कुछ विदेशी सरकारों ने प्राकृतिक अत्याचार से पीड़ित जनता की सहायता हेतु कार्य किए परन्तु याहिया खां सरकार से यह भी न हो सका । शेख मुजीर्बु-रहमान ने कहा कि राष्ट्रीय संगठन के नाम पर पाकिस्तानी शासक भरसक अत्याचार कर चुके हैं । जब एक विदेशी संवाददाता ने शेख से पूछा कि उनकी घोषणा को 'स्वधीनता की पुकार' समझा जाय तो उन्होंने कहा कि अभी नहीं । मौलाना भसानी ने शेख तथा अन्य नेताओं को अपने साथ मिल कर संघर्ष करने का खुला निमन्त्रण दिया । उन्होंने कहा कि चुनाव एक मृग-तृष्णा है और उस के पीछे भागने से कोई लाभ नहीं था ।

याहिया खां ने चुनाव में घोषणा कर दी कि सैनिक शासन सत्तापूर्वक बना रहेगा यदि संविधान में 'लीगल फ्रेमवर्क आर्डर के पांच प्राविधानों को

सम्मिलित नही किया गया। परन्तु चुनाव परिणामों ने याहिया खां के शासन की समस्त धारणाओं को धूसरित कर दिया। आवामी लीग ने बहुमत से चुनाव में विजय प्राप्त की। भुट्टो की 'पीपुलस पार्टी' ने 'नेशनल एसेम्बली' में द्वितीय स्थान तथा पंजाब और सिन्ध में बहुमत प्राप्त किया। भुट्टो की भेंटवार्ता याहिया खां और शेख से भी हुई और वह अपनी सरकार बनाने के इच्छुक थे। याहिया खां अपनी राजनैतिक युक्ति से इस राजनीति के क्षेत्र को पूर्ण रूपेण पार्टी संघर्ष का रंगस्थल बना देना चाहते थे। जनवरी 1971 में भुट्टो और शेख मुजीब की ढ़ाका में पुन: वार्ता हुई। अपने ढाका प्रस्थान से पूर्व भुट्टो ने संवाददाताओं को बताया कि शेख़ मुजीब के छ: सूत्रीय तथा छात्रों के ग्यारह सूत्रों से मैं पूरी तरह से सहमत नहीं हूं किन्तु उन्होंने आश्वासन दिया कि फरवरी में कुछ न कुछ समझौता हो जाने की संभावना थी।

ऐसी विषम परिस्थियों के मध्य एक भारतीय वायुयान दो युवकों द्वारा लाहौर 'हाईजैक' कर लिया गया। हाईजैक करने वालों का लाहौर में भव्य स्वागत किया गया और विमान को ध्वस्त कर दिया गया। भारत की सरकार ने उन दो युवा अपराधियों को वापिस मांगा तो पाकिस्तान शासन ने उन्हें भारत सरकार को सौपने से इन्कार कर दिया फलस्वरूप भारत सरकार ने पाक विमानों को भारतीय क्षेत्र पर उड़ान भरने पर प्रतिवन्ध लगा दिया। इस पर याहिया खां और जुलफिकार अली भुट्टो ने भारत विरोधी प्रचार आरम्भ कर दिया।

शेख़ मुजीब ने भारतीय विमान के ध्वंस करने की भर्त्सना कर एक जांच आयोग की मांग प्रस्तुत की। उन्होंने पूर्वी बङ्गाल की जनता को सचेत किया कि जनता को शान्तिपूर्वक सत्ता परिवर्तन की पद्धति में अवरोध उत्पन्न करने का कठोर विरोध करना चाहिए। छात्र नेताओं तथा पूर्वी वङ्गाल के अन्य राजनैतिक दलों के नेताओं ने मुजीब की बात का समर्थन किया। पूर्वी बंगाल के नेता भुट्टो और याहिया खां की कूट युक्तियों का अर्थ अच्छी प्रकार से समझ रहे थे। पूर्वी बंगाल के नेताओं ने फरवरी 1971 के प्रारम्भ में नेशनल एसेम्बली को बुलाने की मांग पुन: प्रेषित की। इस मध्य भुट्टो ने राष्ट्रपति से दीर्घकालीन बैठक कर अपने प्रति सम्भवतया कोई समझौता कर लिया था। इसका कुछ स्पष्टीकरण फरवरी 13,1971 की एक 'काकटेल पार्टी' में भुट्टो के कथन से होता था। उन्होंने उसी पार्टी में सम्बोधित करते हुये कहा कि 'मुजीब बाहर हो गया है और अब मैं प्रधान मन्त्री हूं। राष्ट्रपति के मार्च : 4,1971 को राष्ट्रीय एसेम्बली बुलाने के निर्णय

का पूर्वी बंगाल आवामी लीग की कार्यकारिणी समिति ने स्वागत किया।

याहिया खां ने घोषणा तो कर दी थी किन्तु उस के परिपालन करने में वह कतई इच्छुक न थे। भुट्टो का अपना राजनैतिक कोण था और मुजीब पूर्वी बंगाल के प्रति पूर्णतया आत्मीयता से अपने विचार प्रकट कर रहे थे। मुजीब पाकिस्तान शासन को बार बार सर्तक कर रहे थे किन्तु इसके उपरान्त भी मार्च 2,1971 को राष्ट्रपति ने राष्ट्रीय एसेम्बली को अनिश्चित काल के लिये स्थगित कर दिया। इसका कारण राष्ट्रपति ने पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी तथा कुछ अन्य दलों का एसेम्बली में मार्च 3, 1971 को उपस्थित न हो सकना बताया।

प्रथम रूपरेखा

राष्ट्रपति और उनके परामर्शदाताओं को इस घोषणा के कुपरिणाम से कुछ तो परिचय था किन्तु उनको जनता के आक्रोश की यह संभावना नहीं थी जो पूर्वी बंगाल में प्रदर्शित हुई। राष्ट्रपति की घोषणा से पूर्वी बंगाल में प्रशासनिक तथा आर्थिक गतिरोध आ गया। पूर्वी बङ्गाल की समस्त जनता सड़कों पर आ गई। और बंग बन्धु ने शीघ्रातिशीघ्र अपने राजनैतिक बंधुओं से वार्ता प्रारम्भ की। बंग बन्धु जब पूर्वानी होटल में आवामी लीग की संसदीय बैठक कर रहे थे तो एक विशाल जनसमूह होटल में एकत्रित हो गया। बंग बन्धु ने इस विशाल जनसमूह को होटल की बालकनी से सम्बोधित किया। जनता के बारम्बार अनुरोध करने पर भी शेख मुजीब ने स्वतन्त्रता की घोषणा नहीं की उन्होंने पूर्वी बंगाल की जनता को शान्त रहने का संदेश देकर तथा उन्हें ध्वंसकारी तत्वों से सावधान रहने को कहा। उस दिन ढाका में हिंसात्मक उपद्रवों की सूचना की यद्यपि बहुत अधिक प्रामणिक सामग्री प्राप्त नहीं है परन्तु पुलिस सेना और बंगालियों के मध्य वारदातों की घटना सूचित है। केन्द्रीय छात्र लीग ने पूर्वी बंगाल की घटनाओं का ब्योरा लेने हेतु और अपने अगामी कार्यक्रम हेतु ढाका विश्वविद्यायलय के इकबाल हाल में सभा आयेजित की। इस सभा में यह निर्णय लिया गया कि बंगला देश को स्वतन्त्र और प्रभुसत्ता राज्य घोषित किया जाय। इस सभा ने यह भी निर्णय लिया कि रवीन्द्र नाथ टैगोर की पंक्ति "आमार सोनार बंगाल आमी तोमाय भालो बाशी" (मेरे स्वर्णित बंगाल मैं तुमसे प्रेम करता हूं) को बंगला देश का राष्ट्रीय गान स्वीकृत किया जाय। छात्र नेताओं ने एक इश्तहार प्रकाशित किया, जिसने बंगला देश में ऐतिहासिक 'मार्च आन्दोलन' की रूपरेखा प्रस्तुत की। मार्च 26,1971 को बंग बन्धु मुजीबुर्रहमान ने बंगला

देश की स्वतन्त्रता की एक पाश्वी घोषणा कर दी। स्वाधीन बंगलादेश छात्र संग्राम परिषद के इश्तहार में स्वतन्त्र बंगला देश की सरकार के निम्नलिखित ध्येय बताये गये : (1) एक सशक्त बंगाली राष्ट्र का निर्माण करना तथा बंगाली भाषा साहित्य एवं संस्कृति का विकास करना। (2) विभिन्न क्षेत्रों के विभिन्न लोगों की असमता को उन्मूलित कर समाजवादी आर्थिक नीति का आरम्भ करना तथा कृषक श्रमिक राज्य की स्थापना करना। (3) लोकतंत्र की स्थापता करना, व्यक्तिगत, वाणी, तथा मुद्रण की स्वतन्त्रता प्रदान करना।

इसके अतिरिक्त छात्र संग्राम परिषद ने क्रान्तिकारी कार्यों का भी योजना क्रम निर्मित किया। छात्रों ने ढाका विश्वविद्यालय के कला प्रागंण में मार्च 2,1971 को एक विराट सभा की। इस सभा में ओजपूर्ण भाषण दिये गये और पाकिस्तान के राष्ट्रीय ध्वज को अग्नि प्रविष्ट कर बंगला देश का राष्ट्रीय ध्वज़ फहराया गया। तत्पश्चात छात्रों ने राष्ट्रीय ध्वज को लेकर जुलूस निकाला। मार्गों पर जनता ने राष्ट्रध्वज को सलामी देकर अपने उद्‌गारों को प्रकट किया।

पूर्वी बंगाल में 2 मार्च और 3 मार्च को पूर्ण हड़ताल की गई और सैनिक प्रशासन के उपरांत भी लोगों ने प्रदर्शन किये तथाकथित स्वाधीनता के लिये जीवनदान और रक्तदान के कथन को चरितार्थ किया। बंग बन्धु ने मार्च 2,1971 के वक्तव्य में निशस्त्र लोगों के प्रदर्शन पर शासन की नृशंसता की भर्त्सना की और उन्होंने शासकों को चेतावनी दी, "कि पूर्वी बंगाल शासकों का शोषित प्रदेश उपनिवेश एवं बाज़ार नहीं है।" बंग बन्धु ने कहा कि कितने दुःख का विषय है कि जिन विमानों को पश्चिमी भाग से निर्वाचित प्रतिनिधियों को लाना चाहिये था वह विमान सेना और युद्ध सामग्री ला रहे हैं। बंग बन्धु ने सैनिक प्रशासन को तुरन्त हटा देने की मांग की। पूर्वी बङ्गाल का संघर्ष दिन प्रतिदिन तीव्रतर होता चला गया। और याहिया खां का सैनिक प्रशाशक टिक्का खां, जो कि बलूचिस्तान के हत्यारे के नाम से जाना जाता था, भी स्थिति को सम्भाल न सका।

इसी मध्य राष्ट्रपति याहिया खाँ ने राष्ट्रीय असेम्ब्रली के आयोजन की घोषणा कर दी। बंग बन्धु ने कहा कि 25 मार्च 1971 को राष्ट्रीय ऐसेम्बली में आवामी लीग तभी भाग लेगी यदि निम्नलिखित 4 मांगे पूर्ण की जायेंगी।

(1) सैनिक प्रशासन का समापन।

(2) सेना की वापसी।

(3) हत्याओं की जांच।

(4) निर्वाचित प्रतिनिधियों को सत्ता स्थानांतरित करना।

बङ्गबन्धु ने यह भी घोषणा की, कि हमारा संघर्ष इस समय स्वतन्त्रता का संघर्ष है। इस पर 'जय बङ्गला' के नारों से वातावरण उद्घोषित हो उठा। कुछ समकालीन लेखकों एवं पर्यवेक्षकों के अनुसार बङ्गबन्धु को मार्च 7, 1971 को ही स्वतन्त्रता घोषित कर 10 लाख जनता की भीड़ को पूर्वी सेना के मुख्य कार्यालय में टिक्का खाँ और उसके सैनिकों से बिना शर्त आत्म-समर्पण की माँग करानी चाहिये थी। उपरोक्त पर्यवेक्षकों के अनुसार कि यह कार्य बङ्गबन्धु कुछ सौ अथवा हजार लोगों के जीवनोत्सर्ग द्वारा कर सकते थे और बङ्गला देश पाकिस्तानियों के नृशंस जातिसंहार तथा ऐति-हासिक हत्याओं के नर्तन से बच सकता था।

ऐसा नहीं सोचा जा सकता कि बंगबन्धु बंगला देश की पूर्ण स्वतन्त्रता की सजीव कल्पना नहीं कर रहे थे क्योंकि मस्करैहन्स को अपनी एक वार्ता-लाप के मध्य शेख ने 1958 में ही कहा था कि हमको स्वतन्त्र होना है और हम अपनी पृथक जल थलऔर वायु सेनायें रखेंगे। इसके उपरान्त भी मुजीब ने मार्च 7 को अन्तिम पग क्यों नहीं उठाया? इसके 3 कारण थे–प्रथम कि शेख पाकिस्तान की बंगला देश में सेना को अधिक सशक्त समझते थे और बङ्गला देश की स्वाधीनता में नरसंहार नहीं करवाना चाहते थे जो तत्पश्चात् वास्तविक रूप में हुआ। और दूसरा उनके विचार में उनके 6 सूत्रीय कार्य-क्रम को मान्यता देने के पश्चात एक प्रकार से स्वायत्त शासन ही हो जायेगा, और तीसरा शेख मुजीब मुस्लिम लीग से आत्मिक होने के कारण पाकिस्तान से इतने शीघ्र सम्बन्ध नहीं तोड़ना चाहते थे। उन्होंने इस तथ्य की स्वयं पुष्टि वली खाँ से की थी। मार्च 22, 1971 को राष्ट्रीय अवामी पार्टी के नेता खाँ अब्दुल वली खाँ ने बङ्गबन्धु से पूछा : शेख साहब, मुझे बताइये कि क्या अभी तक आप संयुक्त पाकिस्तान में विश्वास रखते हैं? मुजीब ने उत्तर दिया 'खाँ साहब, में मुस्लिम लीगी हूं'। मुजीब का आशय खाँ वली खाँ को सौम्य रूप से फटकारना था क्योंकि खाँ वली खाँ ने 1947 में विभा-जन का विरोध किया था, बङ्गबन्धु के इन कार्यों से आन्दोलन 'चल सोपान' की भांति आरम्भ में मन्दगति से चलता रहा। इस शान्तिमय आन्दोलन और शेख मुजीब की मन्द गति क्रान्ति ने याहिया खाँ को अन्तिम मनमानी करने का पूर्ण अवसर प्रदान किया। मार्च 11, 1971 को शेख ने संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव ऊथाँट को पाकिस्तानी सैनिक सुदृढ़ीकरण का पुनरावेदन किया। इस अपील का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। इसी मध्य याहिया खां ने बङ्गबन्धु से वार्तालाप करने की इच्छा प्रकट की। बङ्गबन्धु ने इसके उप-रान्त भी सविनय अवज्ञा आन्दोलन बनाये रखा। राष्ट्रपति याहिया खाँ और

शेख मुजीबुर्रहमान की मार्च 10 और 25 के मध्य वार्तालाप को मैस्करैंहन्स ने आधुनिक समय की सर्वाधिक राजनैतिक प्रहेलिका (पहेली) की संज्ञा दी। बाह्य रूप से राष्ट्रपति ने आवामी लीग के नेताओं के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार रखा परन्तु आन्तरिक रूप से प्रत्येक दिवस सेना और युद्ध सामग्री का प्रबलीकरण होता रहा। इसके अतिरिक्त बङ्गाली सैनिक और पुलिस अधिकारी प्रत्येक समय पाकिस्तानी निगरानी में रखे गये। परन्तु इसी समय 'पूर्वी बङ्गाल राइफल्स' के अनेक युवा बङ्गाली अधिकारी भूमिगत होकर गुप्त रूप से 'मुक्तिवाहिनी' का संगठन और प्रशिक्षण कर रहे थे।

पैशाचिक राजनीति

यदि याहिया खाँ अपने राजनैतिक समझौते में वास्तविक रूप से गंभीर थे तो मार्च 17 और मार्च 24 के मध्य नागरिक हत्यायें (चिटगाँव और जादवपुर में) क्यों की गई? एक प्रश्न जिसने राजनैतिक विश्लेषण-कर्ताओं को निरुत्तर कर दिया वह यह था कि क्या मुजीब याहिया खाँ की वार्ता की सार्थकता से परिचित थे अथवा नहीं। कुछ पर्यवेक्षकों का कहना है कि शेख मुजीब आगामी संकट के प्रति पूर्णतया अनभिज्ञ नहीं थे। परन्तु इस तथ्य में विशेष सार्थकता प्रतीत नहीं होती क्योंकि वह जनता को नेताओं को पत्रकारों को बङ्गला देश में हिंसात्मक स्थिति, जनता के आक्रोश तथा क्रांति के बारे में स्पष्टतया बताते अवश्य रहे, किन्तु वास्तविक रूप से वह इस हिंसात्मक स्थिति के प्रत्युत्तर को क्रियात्मक रूप नहीं दे रहे थे। मार्च 25 तक बङ्गबन्धु सैनिक, प्रशासन के अत्याचार का खण्डन करते रहे, और बङ्गला देश संकट का राजनैतिक रूप से निराकरण चाहते रहे। केवल मार्च 25 की रात्रि को 10 बज कर 30 मिनिट पर मुजीब ने समस्त नेताओं से भूमिगत हो जाने के लिये कहा और पूर्वी बङ्गला राईफल्स को अतिशीघ्र संदेश भेज कर शस्त्र संघर्ष के प्रति सचेत किया। लगभग 11 बजे के समीप बङ्गला देश में नारकीय संघर्ष आरम्भ हो गया। पाकिस्तानी सेना के पाशविक एवं नृशंस अत्याचार को निष्पक्ष पर्यवेक्षकों ने 'द्वितीय विश्वयुद्ध में नाजी अत्याचारों से कहीं अधिक भयानकतम' की संज्ञा प्रदत्त की है। नृशंस हत्याओं के साथ-साथ मार्च 25, 26 की रात को ढाका के हिन्दू मुसलमानों पर अत्याचार और हिंसा की वर्षा कर दी गई। ढाका विश्वविद्यालय के छात्रावासों में प्रवेश कर छात्रों को गोली से भून डाला गया और छात्राओं से बालात्कार किया गया। 26 तारीख की मध्य रात्रि को बङ्गबन्धु ने सैनिक प्रशासन के अन्यायपूर्ण कपटी और विश्वासघाती कार्यों की भर्त्सना करते हुये बंगला देश

को एक स्वतन्त्र राज्य घोषित कर दिया। उन्होंने लोगों से अनुरोध किया कि बंगला देश की मान, प्रतिष्ठा की रक्षा करें। 'पूर्वी बंगाल रेजीमेन्ट' और पाकिस्तान राईफल्स' ने भी चिटगाँव, दीनाजपुर, कोमिला, मेयमनसिंह जैसोर, खुलना, कुर्शतआ, राजशाही आदि स्थानों पर विद्रोह आरम्भ हो गये। चिटगांव में ज़ियाउर्रहमान ने अंतरिम सरकार की घोषणा कर दी और बंग बन्धु को अपने नेता की मान्यता दी।

आवामी लीग के नेताओं ने, जो भूमिगत हो गये थे 10 अप्रैल 1971 को अजीवनगर से स्वतन्त्रता का घोषणा पत्र प्रकाशित किया। शेख मुजीबुर्रहमान को नवीन गणतन्त्र का राष्ट्रपति और सेना का सर्वोच्च सेनाध्यक्ष नियुक्त किया गया। सैयद नजरूल इस्लाम उपराष्ट्रपति बने और ताजुद्दीन अहमद को प्रधानमन्त्री का उत्तरदायित्व दिया गया। नवीन प्रधान मन्त्री ने जनता के त्याग और शौर्यता की प्रशंसा की। उन्होंने मुक्तिवाहिनी और मेजर ज़ियाउर्रहमान के वीरता पूर्ण संघर्ष को सराहा। उन्होंने विश्व-शक्तियों का ध्यान भी बंगला देश के जातिसंहार की ओर आकृष्ट किया।

मुजीबनगर में 17 अप्रैल 1971 को बङ्गलादेश के नव गणतन्त्र का उद्‌घाटन किया गया। कर्नल उस्मानी को मुक्ति फौज का सेनाध्यक्ष बनाया गया। बङ्गला देश गणतन्त्र ने राजनीतिक कार्यों के अभियान को आन्दोलित किया। बङ्गला देश दूत कार्य विभिन्न देशों की राजधानियों में आरम्भ हो गया जिसमें भारत और संयुक्त राष्ट्र भी सम्मिलित था।

बङ्गला देश के कार्यों की प्रतिक्रिया पश्चिमी पाकिस्तान में तीव्रता पूर्ण होने लगी। मैस्केरहेन्स कुछ पत्रकारों में से थे जिनको पाकिस्तानी सरकार ने बङ्गला देश भ्रमण की आज्ञा दे रखी थी ताकि बङ्गला देश में पाकिस्तान की सेना के अच्छे कार्यों की रिर्पोट भेजें। परन्तु मैस्करेहेन्स ने यंत्रणा और उत्पीड़न के वातावरण को देखकर पाकिस्तानी नागरिकता को छोड़ दिया। जून 13, 1971 को मैस्करेहेन्स ने सन्डे टाइम्स (लन्दन) को रिर्पोट भेजते हुये लिखा कि उनको अनेक पाकिस्तान के सैनिक और प्रशासनिक उच्च अधिकारियों ने बताया कि वह पूर्वी पाकिस्तान के पृथकवाद को सदैव के लिये समाप्त कर देगें। चाहे इसमें 20 लाख आदमियों की हत्या क्यों न हो? मैस्करेहेन्स ने अपने अनुभवों को संक्षेप में बताया, कि उन्होंने बङ्गला देश में क्रूरता का नग्न नृत्य देखा। उन्होंने अधिकारियों में यह वार्ता सुनी, कि आज कितने शिकार रहे? मैस्करेहेन्स ने अपनी पुस्तक 'दि रेप ऑफ बांगला देश' में बताया कि हत्यारों के मुख्य लक्ष्य बंगाली सैनिक, हिन्दू, आवामी लीग, छात्र छात्रायें और बंगाली बुद्धिजीवी थे। उन्होंने यह भी

लिखा कि पाकिस्तानी सैनिकों की पाशविकता की नग्न चित्रण अब भी उनके मानस पट को झुलसा रहा है। यद्यपि भारत की सीमा से सैनिक सामग्री गोरिल्ला युद्ध कर रही थी, परन्तु पश्चिमी पाकिस्तान जो चीन और अमरीका से पूर्ण सहायता प्राप्त कर रहा था, कहाँ तक सामना करता। मुक्ति-वाहिनी और बंगला देश के वीर लोगों को मैत्री शक्तियों (विशेष कर भारत) से सहायता की अपेक्षा थी।

भारत सरकार ने मार्च 1971 के अन्त में बंगला देश के प्रति अपनी सहानुभूति और पूर्ण एकता को व्यक्त किया। परन्तु दिसम्बर 3 की सांयकाल को पाकिस्तान के विमानों ने भारतीय हवाई अड्डों पर उड़ाने भरी। भारत सरकार ने इसे आक्रमक नीति की मान्यता दी और दिसम्बर 4, 1971 को भारतीय सेनाओं ने बंगला देश और पश्चिमी सेक्टर में सैनिक कार्यवाही शुरू कर दी। इसके साथ ही भारत सरकार ने बंगला देश के गणतन्त्रीय दूतावास को मान्यता दी। भारतीय सेना और मुक्ति वाहिनी का दिसम्बर 10 को संयुक्त कमाण्ड स्थापित किया गया। भारतीय सेना के तीनों अंगों ने पारस्परिक क्रियात्मक सहयोग इतनी सफलता पूर्वक किया कि पाकिस्तान के पूर्वी कमाण्ड के मुख्य कार्यालय को हतप्रभ कर दिया। भारतीय जलसेना ने अरब सागर और बंगाल की खाड़ी में सफलता पूर्वक पाकिस्तान से सैनिक सहायता लाने वाले युद्धपोतों की नाकाबंदी कर दी। मुक्ति वाहिनी ने भी शौर्य और प्रतिभा का परिचय दिया। अन्तत: 16 दिसम्बर को पाकिस्तानी सेना ने जनरल नियाजी की अध्यक्षता में भारतीय सेना के कमाण्डर अध्यक्ष जनरल जगजीत सिंह अरोड़ा के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। इस ऐतिहासिक समपर्ण में 92000 पाकिस्तानी सैनिकों ने आत्मसमपर्ण किया जो सम्भवत: आज तक के इतिहास का सबसे बड़ा समर्पण था। इस आत्मसमर्पण के साथ ही बंगला देश से पाकिस्तान का शासन सर्वदा के लिये समाप्त हो गया और बंगला देश विश्व के स्वतन्त्र देशों के मानचित्र का एक अंश बन गया। बंगला देश की सरकार और जनता ने 16 दिसम्बर को प्रति वर्ष अपना स्वतन्त्रता दिवस मनाने की घोषणा की।

बङ्गला देश का उदय

बंगबन्धु शेख मुजीर्बुरहमान पाकिस्तान से बन्दीमुक्त होकर जनवरी 10, 1972 को बंगला-देश लौटे। जनता ने उनका भव्य स्वागत किया।

बंगला देश की स्वतन्त्रता के पश्चात बंगबन्धु शेख मुजीर्बुरहमान सरलता से राष्ट्रपति पद्धति की सरकार बना सकते थे, परन्तु उनके लोकतान्त्रिक

शासन में विश्वास के कारण उन्होंने संविधान निर्माण की घोषणा की। बंगला देश के संविधान सभा की घोषणा मार्च 23, 1972 में हुई। 34 सदस्यों के संविधान पाण्डुलेखन की समिति कमाल हुसैन की अध्यक्षता में अप्रैल 11, 1972 को बनी। बंगला देश के संविधान का अन्तिम पाण्डुलेखन संविधान सभा ने नवम्बर 4, 1972 को स्वीकार कर लिया। संविधान के 11 भाग थे, जिसमें 153 अनुच्छेद थे और 4 योजना प्रलेख थे। संविधान में राष्ट्रीयता धर्म निरपेक्षता, समाजवाद तथा लोकतान्त्रिक पद्धति निहित थी। बंगबन्धु यदि चाहते तो दिसम्बर 1975 तक विना चुनाव कराये पदासीन रहते। परन्तु मुजीब ने मतदान कराना आवश्यक समझा। मार्च 1973 के चुनाव में आवामी लीग ने 300 स्थान में से 291 स्थान ग्रहण किये। तत्पश्चात 1974 तक संविधान में 2 संशोधन भी किये गये।

बंगला देश की आन्तरिक प्रशासनिक व्यवस्था कोई विशेष रूप से सुदृढ़ नहीं थी। असामाजिक तत्व अपना कार्य कर रहे थे। शेख मुजीर्बुरहमान ने दूसरे संशोधन के अन्तर्गत दिसम्बर 28, 1974 को राष्ट्रपति से आपातकालीन स्थिति की घोषणा करने को कहा। आपातकालीन स्थिति घोषणा ने लोगों में राष्ट्रपति शासन की स्थिति की सम्भावना उत्पन्न की अत: यह अनुमान जनवरी 25, 1975 को सत्य सिद्ध हुआ जब संविधान संशोधन के पश्चात शेख मुजीर्बुरहमान उसी दिन राष्ट्रपति पद पर आसीन हुये। मुजीब बंगला देश की सामाजिक, आर्थिक, प्रशासनिक स्थिति को सुदृढ़ करने में सफल न हो सकें क्योंकि आर्थिक और सामाजिक स्थिति संकट सूचना की द्योतक हो रही थी। राष्ट्रीय उत्पादन भी 1969-70 से 12 से 14 प्रतिशत कम हो गया था। पंचवर्षीय योजना जो अप्रैल 1973 में आरम्भ की गई थी सफलता प्राप्त करने में अपर्याप्त थी। जूट, कपास, चीनी, कपड़ा आदि का उत्पादन भी पूर्णरूपेण नहीं हो रहा था। कृषि और सिंचाई की व्यवस्था भी ठीक नहीं थी। आयात निर्यात में भी आर्थिक ह्रास स्पष्ट दृष्टिगोचार था।

यद्यपि जनसंख्या की वृद्धि के कारण आर्थिक स्थिति संतुलित नहीं हो पा रही थी किन्तु व्याप्त भ्रष्टाचार ने आर्थिक स्थिति को अपने आवरण में ले लिया था। विदेशी सरकारों की सहायता का दुरुपयोग हो रहा था। केवल रेडक्रास संस्था जो सामान्यतया सुचारु रूप से कार्य करती रही, किन्तु स्थानीय रेडक्रास संस्था कटु अलोचना की पात्र थी।

मुजीब शासन विधि व्यवस्था बनाये रखने में भी असमर्थ थे। हजारों की संख्या में असामाजिक तत्व बंगला देश में उत्पात मचाये थे, जीवन और सम्पति का संकट हर समय बना रहता था मुजीब की शस्त्र समर्पण की

अपील का अभी कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। इसके अतिरिक्त बामपन्थी और दक्षिणपन्थी शक्तियां अपना काम सुचारु रूप से कर रही थीं। बंगला देश के उदय के साथ ही यह विचारधारा उत्पन्न हुई थी जिसमें भारतीय भी थे कि बंगला देश में साम्प्रदायिकता समाप्त हो गई परन्तु यह धारणा निर्मूल सिद्ध हुई क्योंकि बंगला देश की साम्प्रदायिकता की नींव आर्थिक और सामाजिक ढांचे में निहित थी। आवामी लीग ने जब भारतियों को शंकित दृष्टि से देखना आरम्भ किया तो मुजीब को भारत की कठपुतली नामाकरण दिया गया।

शनैः शनैः मुजीब के विरुद्ध असन्तोष की भावना का प्रसार होने लगा। राजनेताओं और शासकों से कहीं अधिक मुजीब विरुद्ध कार्य सेना में होने लगे। इसका एक कारण राजनीतिज्ञों का असामाजिक तत्वों को आश्रय देना था। युवा सैन्याधिकारी इस कार्य प्रणाली के विरुद्ध थे। अनेक अवसरों पर शेख मुजीब को स्वयं सैनिक अधिकारियों को आवामी लीग के सदस्यों में अवरोध उत्पन्न न करने की आज्ञा देनी पड़ी। बंगला देश के युवा अधिकारियों के एक वर्ग को मुजीब प्रशासन असहाय प्रतीत होने लगा। इनमें विशेषकर एक मुख्य युवाधिकारी मेजर दलीम था। 'डेली टेलीग्राफ़' (लन्दन) के सम्वाददाता पीटर गिल ने समाचार प्रेषित करते हुये लिखा कि दलीम की युवा और सुन्दर पत्नी से बंगला देश की रेडक्रास संस्था के अध्यक्ष के पुत्र ने छेड़खानी की और अनादर का व्यवहार किया। रेडक्रास का अध्यक्ष शेख मुजीब का व्यक्तिगत मित्र था, इस कारण दलीम को ही पदच्युत कर दिया गया। अगस्त 15,1975 को जो राज्य विप्लव कर्नल अब्दुल रशीद की अध्यक्षता में गुप्त रूप से योजना बद्ध किया गया उसको कार्यानिवत करने का कार्य मेजर दलीम को दिया गया। मेजर दलीम ने एक सैनिक टुकड़ी के साथ शेख मुजीबुर्रहमान के घर पर धावा बोल दिया और बंग बन्धु और उनके परिवार के सदस्यों को (जो वहां पर थे) मौत की शय्या पर सुला दिया।

इस प्रकार आधुनिक इतिहास के एक महान जीवन का दुखान्त हो गया सम्पूर्ण देश इस घटना से स्तब्ध हो गया परन्तु इसकीजनभर्त्सना नहीं हुई। इससे एक महत्वपूर्ण तथ्य की उद्घोषणा होती है बंगला देश की जनता और छात्र जो पाकिस्तानी गोलियों से भयभीत नही हुये इस घटना पर मौन क्यों रहे ? सम्भवतः इसका उत्तर यही है कि उन्होंने इस घटना को इस योग्य समझा।

नेतृत्व का प्रश्न

इस आकस्मिक घटना ने पूर्ण बंगलादेश के समक्ष नेतृत्व का प्रश्न

उत्पन्न कर दिया । सर्व जनता को प्रत्यक्ष विदित था कि अब सैनिक प्रशासन ही कार्य ग्रहण करेगा परन्तु सेनाध्यक्ष अथवा सेना के उच्चाधिकारी स्वयं नागरिक प्रशासन के स्वरूप की रूप रेखा में रुचि लेरहे थे । खोन्दका मुश्ताक अहमद को उनकी लम्बी अवधि के राजनीतिक और प्रशासनिक अनुभव के आधार पर राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया । सेनाध्यक्ष के निर्णय में अवश्य कुछ कठिनाई थी किन्तु वह भी मेजर जनरल ज़ियाउररहमाह के चयन से समाप्त हो गई । उनके चयन के प्रति उनका स्वाधीनता युद्ध में योगदान, उनका निर्विवाद चरित्र तथा उन के प्रति जन आस्था को वरीयता प्रदान की गई ।

बंगला देश के भाग्य में स्थाई प्रशासन का सितारा नहीं था । ब्रिगेडियर खालिद मुशर्रफ ने नवम्बर 3,1975 को एक विप्लव कर ज़िया और वायु सेनाध्यक्ष वाईस एयर मार्शल तैय्यर को बन्दी बना लिया परन्तु नवम्बर 6-7, 1975 को ज़िया के समर्थको ने प्रति विप्लव कर ज़िया को पुनः स्थापित किया । ज़ियाउररहमान प्रथम चरण में उप मुख्य सैनिक प्रशासन अधिकारी रहे, अपने द्वितीय चरण में वह मुख्य सैनिक प्रशासन अधिकारी और अन्तिम चरण में राष्ट्रपति के पद पर आसीन हुये । ज़िया को राष्ट्रपति पद तक पहुंचने के लिये कठिन संघर्ष करना पड़ा क्योंकि सैनिक अधिकारियों की महत्वाकांक्षा इतनी तीव्र थी कि वह स्वयं प्रशासन की बागडोर सम्भालना चाहते थे । इसके अतिरिक्त बामपन्थी जातीय समाजतांत्रिक दल भी जिया का विरोध कर रहा था । जातीय समाजतांत्रिक दल युवा जनता और छात्रों का वर्ग था मुजीब से समाजवादी योजना में विलम्ब के कारण रुष्ट था । ज़िया ने अपनी राजनीतिक युक्तियों के द्वारा समस्त संकटों को पार कर अप्रैल 21,1977 को बंगलादेश के राष्ट्रपति का पद ग्रहण किया ।

राष्ट्रपति पद पर आते ही उन्होंने प्रथम कार्य यह किया कि गणतन्त्र के घोषित ध्येयों में से धर्मनिपेक्षतावाद को समाप्त कर दिया । इसका अर्थ था कि देश भविष्य में अल्लाह, राष्ट्रवाद लोकतंत्र और समाजवाद में विश्वास रखता था । जिया ने यह घोषणा कर दी वह जनमत संग्रह में विश्वास रखते हैं और इस कारण जनमत प्राप्त किया जायगा । यह जनमत संग्रह फरवरी 1960 में अयूब खां पद्धति थी जिस के फलस्वरूप स्वयं को देश का निर्वाचित राष्ट्रपति घोषित किया जा सकता था । अतः मई 1977 को ज़िया ने भारी संख्या में जनमत प्राप्त किया और अपने राष्ट्रपति पद को किंचित स्थायित्व प्रदान किया ।

ज़िया के पद ग्रहण करते ही छात्रों में पुनः असन्तोष की भावना का संचार हुआ और वे अप्रैल 22,1977 से संगठन तो बना ही रहे थे अब और अधिक सक्रिय हो गये। इस संगठन में अवामी लीग, जातीय समाज-तांत्रिक दल, साम्यवादी दल, और राष्ट्रीय अवामी पार्टी के छात्र सदस्य थे। अनेक स्थानों पर छात्रों ने प्रदर्शन किए और सैनिक प्रशासन को हटाने की माँग रखी। अपनी इस योजना के अन्तर्गत अनेक छात्र सैनिक मुठभेड़ में घायल व हताहत हुए। यहाँ पर यह उल्लेख करना आवश्यक हैं कि बंगला देश की 21 राजनैतिक पार्टियों एवं दलों में से केवल 5 साम्प्रदायिकता से युक्त दलों ने ही ज़िया के राष्ट्रपति पद का स्वागत किया और अपना सहयोग प्रदत्त किया।

ज़िया को सम्भवतया सेना से भी कोई विशेष सहयोग प्राप्त नहीं था। यह इस बात से और अधिक स्पष्ट हो जाता था कि राष्ट्रपति पद पर आ जाने के पश्चात् भी ज़िया ने किसी को सेनाध्यक्ष नियुक्त नहीं किया। इसके दो कारण थे—प्रथम कि ज़िया को सेना के मुख्य अधिकारियों की स्वार्थ लालसा का भय था और द्वितीय वह पाकिस्तान समर्थक सेना अधिकारियों को कोई अवसर प्रदान नहीं करना चाहते थे। सेना के अतिरिक्त ज़िया प्रशासन के विरुद्ध भूमिगत गुरिल्ला संस्थाओं का भी अपना योगदान था। इन संस्थाओं का मुख्य लक्ष्य व ध्येय मुजीब प्रशासन के चार सिद्धान्तों (राष्ट्रवाद, समाजवाद, लोकवाद तथा धर्मनिपेक्षवाद) की पुनः स्थापना था। ज़िया को अपनी सरकार की अलोकप्रियता का पूरा ज्ञान था और इसीलिये जनता को आम चुनाव का केवल कोरा आश्वासन दिलाया जा रहा था। ज़िया प्रशासन ने नगरपालिका चुनाव घोषित कर दिये। चुनावों के परिणामों ने स्पष्ट कर दिया कि जनता पार्टी प्रत्याशियों को मत दे कर विजयी बनाने की इच्छुक थी। इन चुनावों ने जनता के सैनिक प्रशासन के विरोध को प्रकट किया। इसके अतिरिक्त अगस्त 15, 1977 को जनता ने बंगबन्धु की द्वितीय 'हत्या जयन्ती' को शान्तिपूर्ण वातावरण में मना कर बंगला देश में 'राष्ट्रीय शोक दिवस' का आरम्भ किया। अनेक स्थानों पर जनता ने सैनिक प्रशासन की आज्ञा की अवज्ञा कर मुजीबुर्रहमान की समाधि पर प्रार्थना सभायें कीं।

यद्यपि बंगला देश के छात्रों में असन्तोष व्याप्त था, किन्तु ज़िया प्रशासन ने ढाका विश्वविद्यालय अधिनियम (1973) में संशोधन कर असन्तोष को और त्वरित किया। इस संशोधन के द्वारा वास्तविक अधिनियम के लोकतान्त्रिक तथा स्वायतता के मूल तत्वों को समाप्त कर दिया गया। इस

संशोधन ने छात्रों को संगठित होने का एक और अवसर प्रदत्त किया। ढाका विश्वविद्यालय के छात्रों ने इस संशोधन के विरुद्ध अगस्त 11, 1977 को अनिश्चित हड़ताल प्रारम्भ कर दी। अनेक अध्यापकों एवं बुद्धिजीवियों ने इस हड़ताल का खुला समर्थन किया। इस हड़ताल के प्रदर्शन के मध्य मुजीव समर्थक और मुजीव विरोधी छात्र दलों में संघर्ष के मध्य हिंसात्मक कार्य हुये। ढाका विश्वविद्यालय 35 दिन की रमजान की छुट्टी के लिये बन्द कर दिया गया।

छात्रों के अतिरिक्त सेना के तीनों अंगों में जियाउर्रहमान के शासन के विरुद्ध विरोध स्पष्ट दृष्टिगोचर था। लगभग 2,500 बागी भूमिगत हो चुके थे। जिया प्रशासन ने राजनैतिक दलों पर अंकुश लगाया और सरकारी अधिकारियों को वेतन के प्रलोभन देकर स्थिति को सामान्य करने की चेष्टा की।

इस मध्य भूमिगत क्रान्तिकारी संस्था के अध्यक्ष कादिर सिद्दीकी (आइगर-सिद्दीकी) भारतीय प्रधानमन्त्री तथा अन्य नेताओं से मिले। उन्होंने अमृतबाजार पत्रिका की भेंटवार्ता में बताया कि बंगला देश की जनता जियाउर्रहमान के सैनिक अधिनायक तन्त्र की समाप्ति की प्रतीक्षा में है। नवम्बर 1977 में बंगला देश में न केवल भूमिगत क्रान्तिकारियों ने वरन् मान्यता प्राप्त राजनैतिक दलों ने देश में लोकतन्त्रिक प्रशासन को स्थापित करने हेतु जन आन्दोलन करना प्रारम्भ कर दिया था। जियाउर्रहमान ने इस तथ्य को भली भाँति अन्तः ग्रहण कर लिया था कि बंगला देश में राजनैतिक कम्पन प्रारम्भ हो गया था। इस हेतु जियाउर्रहमान ने एक संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चा बनाने का प्रस्ताव रखा। राष्ट्रपति का यह निर्णय इस बात का स्पष्ट द्योतक था कि राष्ट्रपति केवल एक राजनैतिक दल बनाने के इच्छुक थे क्योंकि एक राजनैतिक दल पर उनका पूर्ण अधिनायकत्व होता। बंगला देश के राजनैतिक नेताओं ने जो जियाउर्रहमान को लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों की ठकुर सोहाती से परिचित थे, उन्होंने इसका विरोध किया। परन्तु बंगला देश के राष्ट्रीय विजय-दिवस की पूर्व संध्या को राष्ट्र के नाम संदेश में राष्ट्रपति जियाउर्रहमान ने कहा कि बंगला देश में राजनैतिक रिक्तता को पूर्ण करने हेतु और लोकतान्त्रिक पद्धति को आरम्भित करने हेतु एक राजनैतिक मोर्चे के निर्णय की घोषणा की गई। राष्ट्रपति के इस प्रकार के एक राजनैतिक दल द्वारा समर्पित राष्ट्रपति पद्धति की कटु आलोचना की गई। जियाउर्रहमान के शासन अवधि में बंगला देश की आर्थिक स्थिति में विशेष सुधार नहीं आया था। इसका मुख्य कारण राष्ट्रपति का पूरा ध्यान

अपनी सत्ता की सुरक्षा में व्यतीत होना था और इतने वृहद देश की अन्य समस्याओं की ओर उनका ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ बेरोजगारी में तीव्रता से वृद्धि हुई। कृषि के क्षेत्र में असफलता ने औद्योगिक असफलता को जन्म दिया। बंगला देश की आयात 1977-78 में 600 करोड़ थी और निर्यात आय 300 करोड़ थी। इससे स्पष्ट था कि बंगला देश की आर्थिक नीति अकुशलता, भ्रष्टाचार और दूर दृष्टि से वंचित थी। शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी प्रगति नाममात्र की थी।

बंगला देश (1981--)

बङ्गला देश में ज़ियाउर्रहमान के शासन ने शनैः-शनैः आलोचना ग्रहण करनी आरम्भ कर दी। परिणामस्वरूप 1981 में उनकी हत्या कर दी गई। जनरल ज़ियाउर्रहमान की हत्या से उत्पन्न भावात्मक वातावरण के कारण बेगम हसीना एवं शेख वाजेद को पराजित कर 15 नवम्बर 1981 के राष्ट्रपति चुनाव में अब्दुल सत्तार सेना के सक्रिय सहयोग से राष्ट्रपति निर्वाचित हुये। उनके राष्ट्रपति होने के पश्चात ही उनके भविष्य पर विदेशी तथा भारतीय समाचार पत्रों ने अनुमान लगाना आरम्भ कर दिया था।

नवम्बर 22-28 1981 के दिनमान के संवाददाता ने अब्दुल सत्तार के राष्ट्रपतित्वकाल के 6 माह का अनुमान लगाया, लेकिन श्री सत्तार केवल 126 दिन ही सत्ता का उपभोग कर सके। 23 मार्च 1982 को राष्ट्रपति अब्दुल सत्तार को एक सैनिक क्रान्ति में सत्ताच्युत कर दिया गया। यह क्रान्ति लेफ्टिनेट जनरल एच० एम० इरशाद के नेतृत्व में सम्पन्न हुई। क्रांति के पश्चात देश भर में सैनिक प्रशासन लागू कर दिया गया।

अपदस्थ राष्ट्रपति और आवामी लीग की नेता बेगम हसीना शेख वाजेद का भविष्य प्रश्नचिह्न है।

बङ्गला देश से कीरित भौमिक ने 12 अप्रैल 1982 को टाइम्स ऑफ इण्डिया में अपने समाचार में लिखा, कि 11 अप्रैल 1982 को बङ्गला देश के सैनिक शासन के अध्यक्ष जनरल इरशाद ने बङ्गला देश में नवीन आर्थिक पद्धति की घोषणा कर दी। इससे पूर्व बङ्गला देश में आयात नीति उदारवादी होने के कारण अधिकांश वस्तुयें विदेश से आती थीं। जनरल इरशाद ने आयात की समस्त वस्तुओं को बहिष्कारित घोषित कर स्वनिर्मित वस्तुओं पर आधारित आर्थिक नीति की घोषणा की है।

संवाददाता ने आगे लिखा कि जनरल रहमान के 5 वर्ष के शासन में ढाका की दुकानों पर विदेशी माल की खपत थी। इरशाद ने सम्भवतया अपने

भ्रष्टाचार विरोधी कार्यों को सार्थक बनाने हेतु आयात प्रतिबन्ध लागू किया। शेख मुजीबुर्रहमान की हत्या के समय 1975 में एक या दो ही मुख्य पूंजीपति थे और परन्तु 1978 में ढाका में ही 200 सूचित किये गये जो लोगों के अनुसार कम थे। जनरल इरशाद की नीति भी बंगला देश के भविष्य की भांति पुनः एक प्रश्न चिह्न तो अवश्य है किन्तु हाल ही में भारत-बंगला देश सम्बन्धों ने एक नई करवट ली है।

श्रीमती इन्दिरा गांधी की हत्या पर जनरल इरशाद ने उन्हें 'बंगला देश की मां' कहकर दोनों देशों के मध्य पुनः सम्बन्ध द्वार खोल दिये। तत्पश्चात नव निर्वाचित प्रधानमन्त्री राजीव गांधी ने आरम्भ से ही पड़ोसी देशों से सम्बन्ध सुधार योजना को सुनियोजित रूप प्रदान किया है। बङ्गला देश को पुनः एक अवसर प्रधानमन्त्री के विशेष दूत शिव शंकर ने ढाका यात्रा करके प्रदत्त किया है। आशा की जाती है कि नई दिल्ली-ढाका सम्बन्धों में इससे नव जीवन आयेगा और गंगा के पानी एवं सीमा पर कटीला तार लगाने की योजनाओं का भी समाधान होगा। अगस्त 4, 1985 'बंगला देश टाइम्स' ने विशेष दूत की इस यात्रा को उज्जवल भविष्य का सूचक बताया है।

•

ग्रन्थ-निर्देश संदर्भिका **REFERENCES**

एक राष्ट्र का उद्भव : बंगला देश

1. Ali, Choudhary Mohammad : Emergence of Pakistan, New York, 1967.

2. Akhtar, Jamna Das : The Saga of Bangla Desh, Delhi 1971.

3 Aziz, K. K. : The Making of Pakistan, London, 1967.

4. Banerjee, D. N : East Pakistan : A Case Study In Muslim Politics, Delhi, 1969.

5. Banerjee, Gobinda Lall : Birth of Bangla Desh, Calcutta, 1971.

6. Choudhuri, K : Genocide in Bangla Desh, Calcutta, 1972.

7. Das gupta, R. K. : Revolt in East-Bengal, Delhi, 1971.

8. Siddiqui, K : Conflict, Crisis & War in Pakistan, London, 1972.

9. Sengupta, Jyoti : Eclipse of East-Pakistan, Calcutta, 1963.

10. Communist Party of India : Case For Bangla Desh, New Delhi, 1971.

11. Moraes, Dom : The Tempest with in : An Account of East Pakistan, Delhi, 1972,

12. Roy Chowdhury Subrata : The Genisis of Bangla Desh Bombay, 1972.

13. Bangla Desh M. S. S. Samiti : Birth of A Nation, Calcutta, 1971.

14. Sagar Publications : Bleeding Bangla Desh, New Delhi, 1971.

15. Calcutta University : Conflict in East Pakistan : Background & Prospects, 1971.
Bangla Desh Through The Lens, 1971.

16. Raza, J. K : A Decade in Bangla Desh, London, 1982.

17. Topz, F. J. : My Years in Dacca, New York, 1980.

18. Illahi, Manzoor : An Unstable Country, Riyad 1983·

●

अध्याय 34

अफ़गानिस्तान

ऐतिहासिक परिवेश

अफ़गानिस्तान को समझने के लिए उसके अतीत पर भी दृष्टिपात करना होगा। लगभग दो सौ साल पूर्व इस क्षेत्र का नाम अफ़गानिस्तान नहीं था, इसके अनेक क्षेत्र आधुनिक ईरान और भारत के आधीन थे।

सर्वप्रथम नादिरशाह जो कि तुर्क था उसने पर्शियाँ (आधुनिक ईरान) के राजसिंहासन को प्राप्त कर भारत पर आक्रमण किए। तत्पश्चात उसकी हत्या हो जाने के उपरान्त उसके अफ़गान सेनापति अहमदशाह दुर्रानी को एक स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ। 1747 में उसने नादिरशाह द्वारा लूटे गए धन से लाहौर से महशद तक एक स्वतन्त्र अफ़गान राज्य की नींव रखी। उसने कुशलतापूर्वक 26 साल तक राज्य किया किन्तु उसके आयोग्य उत्तराधिकारियों के काल में यह साम्राज्य क्रमशः क्षीण होता गया।

इसी मध्य पंजाब में सिक्खों का उत्कर्ष हुआ, उन्होंने पेशावर तक का क्षेत्र हस्तगत कर लिया। 18 वीं शताब्दी और 19 वीं शताब्दी का पूर्वार्ध अफ़गानिस्तान में सत्ता संघर्ष और गृह युद्धों का स्थल रहा। इतने दिन तक अव्यवस्था के पश्चात पर्शिया में खजर (कजार) वशं का स्थिर शासन स्थापित हुआ।

1830 के दशक में रूस का साम्राज्यवादी विस्तार काकेसिया तक हो चुका था और पर्शिया के शाह रूस के प्रभाव में थे। रूसी ज़ार हेरात पर अधिकार के लिये शाह पर दबाव डाल रहे थे। इसके अतिरिक्त मुगलों व अंग्रेजों की दृष्टि में हेरात 'भारत की चाबी' था। 1837 में शाह ने हेरात पर घेरा डाल दिया।

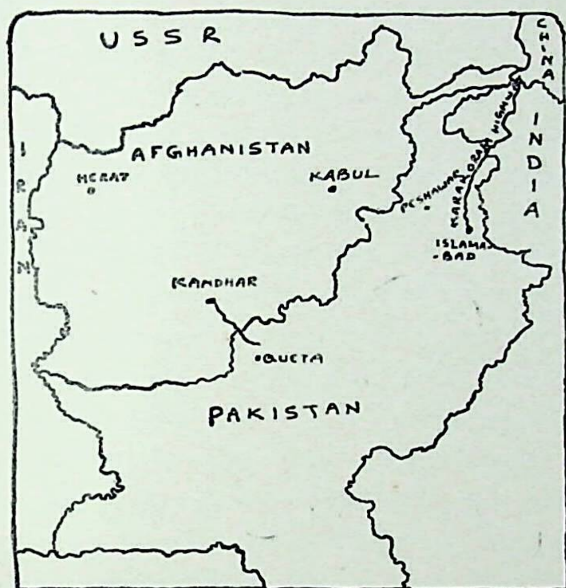
अंग्रेजों ने अफ़गान शासक दोस्त मोहम्मद से मित्रता करनी चाही किन्तु उसने मित्रता के बदले में पेशावर, जो की रणजीतसिंह के आधीन था, लेने की

मांग रखी। यह सम्भव नहीं था अत: निराश होकर दोस्त मोहम्मद ने रूस से मित्रता का हाथ बढ़ाया। 1838 में रूस के जार और पर्शिया के शासक का पत्र दोस्त मोहम्मद को प्राप्त हुआ। इसके द्वारा मित्रता का स्पष्ट संकेत था और अंग्रेज इस मैत्री भावना से सतर्क हो गए। यद्यपि दोस्त मोहम्मद ने कम्पनी सरकार को समझाने का प्रयत्न किया, परन्तु अंग्रेजों का संशय यथावत बना रहा। इसका कारण अंग्रेजों का 'रूस-भीति' (रशो-फोबिया) से आतंकित रहना था। अंग्रेजों की अफ़गान नीतियां भी इसी भय के द्वारा निर्धारित थीं। प्रथम अफ़गान युद्ध का प्रारम्भ 1839 में रणजीतसिंह के सहयोग से हुआ। यद्यपि यह युद्ध अंग्रेजों द्वारा अफ़गानिस्तान में अपने विशेषानुकूल शासक के लिए किया गया था, जो समय पर रूस के संकट का सामना कर सके। इस युद्ध में अंग्रेजों ने विजय प्राप्त की परन्तु उनकी इच्छा पूरी न हो सकी। दोस्त मोहम्मद तो सत्ताच्युत कर दिए गए लेकिन आगामी वर्षों में काबुल में स्थित समस्त अंग्रेजी सेना का संहार कर दिया गया।

19वीं शताब्दी के आगामी वर्षों और 1899 के द्वितीय अफ़गान युद्ध से पूर्व इस समस्त क्षेत्र में भौगोलिक एवं राजनैतिक परिवेश में समुचित परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ। उदाहरणत: पंजाब पर द्वितीय आंग्ल-सिक्ख युद्ध के बाद अंग्रेजों का आधिपत्य, खैबर पर अंग्रेजों का अधिकार, 1857 के पश्चात कम्पनी बहादुर की सरकार का समापन तथा सिन्ध पर भी अंग्रेजों का अधिपत्य हो गया।

दूसरी ओर रूसी साम्राज्यवाद विस्तार की ओर अग्रसर था। उसका मध्य एशिया के सभी कबीलों और छोटी-छोटी खानशाहियों को अपदस्थ कर लेना तथा तुर्की साम्राज्य को पराजित कर कृष्ण सागर (ब्लैक सी) के तटवर्ती क्षेत्रों पर अधिकार रूसी सैन्य शक्ति का परिचायक था। रूसी ज़ार का साम्राज्य अमूदरिया से लेकर कैस्पियन और साइबेरिया तक विस्तृत हो गया था। अत: योरोप के दो बड़े साम्राज्य एशिया में एक दूसरे के समक्ष आ खड़े हुए थे। उन्हें केवल 400 मील की चौड़ाई का अफ़गानिस्तान ही पृथक किए हुए था। अंग्रेजों को भय था कि रूस भारत पर कंधार-बोलन, काबुल-खैबर और काराकोरम से चित्राल और कश्मीर पर आक्रमणकारी योजना बना सकता है।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद भी सुरक्षा हेतु मुगलों वाली चिन्ता से ग्रस्त था क्योंकि सामरिक रूप से काबुल-कन्धार बाबर से औरंगजेब तक यथावत अंग्रेजों के लिये भी उतने ही महत्वपूर्ण थे। जब अमीर अब्दुल रहमान अफ़गानिस्तान में शासनारूढ़ हुआ, उसने अंग्रेजों को अपना विदेश विभाग



AFGHANISTAN

अफ़गानिस्तान

सौंप दिया। यद्यपि रूस अफ़गानिस्तान में अपनी कूटनीति में सन्लग्न था उसने 1873 में ब्रिटेन के साथ एक सन्धि की, इस सन्धि के द्वारा बुख़ारा और अफ़गानिस्तान की सीमा कोकचासगंम तथा अमूदरिया को स्वीकार किया गया; अफ़गानिस्तान को बदख्शाँ और बाखाँ सौंप दिये गये। इसके साथ ही पामीर-शिगनान और रोशन इन दो खान शाहियों को भी स्वतन्त्रता दे दी गई। अंग्रेजों ने 1893 में अमीर पर यह दबाव डाला कि वह सर मॉर्टिमर डूरान्ड के साथ एक समझौते पर हस्ताक्षर कर दे जिसमें सिन्ध, पश्चिमोतर सीमान्त प्रान्त, दर्रा खैबर, दर्रा बोलन, बजुर, दीर, स्वात, बुनेर, तिराह, कुनाम घाटी और वज़ीरतान जैसे सिन्धु पार के क्षेत्र से अपने अधिकार त्याग देने की शर्त थी। डूरान्ड लाइन की विसगंतियों का आज की राजनीति और घटनाओं पर भी असर है। यह तथ्य सामरिक तथा भौगोलिक सभी दृष्टि-कोणों से गलत था क्योंकि इससे अफ़गान राज्य विभाजित हो रहा था। कैसर विलियम और बिस्मार्क के उदय ने योरोप में शक्ति सन्तुलन के रूप में एक परिवर्तन ला दिया, फलत: रूस और ब्रिटेन के स्वार्थ एक से हो गये और 1907 में 'सेंट पीटर्सबर्ग संधि' हुई। इसके अनुसार रूस ने अफ़गानिस्तान को ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्र में स्वीकार किया जो अफ़गानिस्तान के प्रति एक अपमान था। इस अवमानना ने अफ़गानिस्तान में ब्रिटेन के प्रति उग्र विरोधी भावना का समावेश किया। अमीर अब्दुल रहमान ने ब्रिटिश द्वेष के कारण प्रथम विश्वयुद्ध में निहस्तक्षेप की नीति का पालन ही उचित समझा।

1919 में अमानउल्ला ने सत्ता की बागडोर संभाली। ब्रिटिश विरोधी और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के समर्थक होने के कारण काफी लोकप्रिय थे। अमृतसर में जलियाँवाला काण्ड के बाद अफगान उलेमाओं ने 'जेहाद' का नारा बुलन्द किया था, इसी उत्साह में अमीर ने अपनी सेना को कूच करने का आदेश दे दिया। वास्तव में अमीर की इच्छा युद्ध की नहीं, वरन् अंग्रेजों पर दबाव डालने की थी।

5 मई 1919 को तृतीय अफ़गान युद्ध प्रारम्भ हुआ जो 29 मई तक चलता रहा। दोनों पक्षों ने विजय का दावा किया किन्तु रावलपिण्डी के सम्मेलन में अफ़गानिस्तान का पक्ष ज्यादा सशक्त दिखाई दिया। लेनिन (रूस) ने अफ़गानिस्तान को मान्यता देने के साथ ही साथ राजदूत भी भेजे। यद्यपि अंग्रेजों ने बहुत अधिक दबाव डाला फिर भी अमानुल्ला के दूत अली अहमद ने बड़े साहस का परिचय दिया और अपने देश को स्वाधीनता दिलाकर एक बड़ी विजय प्राप्त की। इस प्रकार ब्रिटेन और अफगानिस्तान की स्वतन्त्र सरकार द्वारा एक शान्ति समझौते पर हस्ताक्षर किये गये।

आधुनिक परिवेश

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात अंग्रेजी साम्राज्य चरम उत्कर्ष पर पदासीन था, उसके विपरीत रूस की अक्टूबर क्रान्ति ने जार की स्थिति अत्यन्त विषम कर दी थी। रूस की इस परिस्थित का ब्रिटेन और उसके सहयोगी देशों ने लाभ उठाना चाहा। उन्होंने मध्य एशिया में अश्काबाद, फरगना, बुखारा और अनेक महत्वपूर्ण स्थानों पर अधिकार करने के लिये सेना भेजी जिससे रूस की आन्तरिक समस्याओं को और अधिक गम्भीर किया जा सके।

अफगानिस्तान (अमानुल्ला) में सर्वप्रथम लेनिन के शासन को मान्यता देने में पहल की। अमानुल्ला ने लेनिन को दो व्यक्तिगत पत्र भी लिखे। 1921 में दोनों देशों में पहली सन्धि हुई। लेनिन ने अपने एक पत्र में अमानुल्ला को लिखा : "अफगानिस्तान एवं सोवियत रूस के लक्ष्य लगभग एक है–दोनों देश स्वतन्त्रता में विश्वास रखते हैं। दोनों देश पूर्व के अन्य समस्त साम्राज्यवादी अधीनस्थ देशों को स्वतन्त्र देखने के इच्छुक हैं।" लेनिन ने आगे लिखा :"साम्राज्यवादी रूस के समापन ने एक नव सोवियत रूस को जन्म दिया है जिसका ध्येय मित्रता एवं स्वतन्त्रता की रक्षा है। रूस अफगानिस्तान से पड़ोसी होने के नाते सर्वप्रथम मित्रता करना चाहता है और यह भी विश्वास दिलाना चाहता हूं कि कोई विश्व शक्ति अफ़गान स्वतन्त्रता का अपमान सोवियत रूस के होते नहीं कर सकती"। यद्यपि लेनिन को ब्रिटेन की कुटनीतिक चालों का आभास तो अवश्य था परन्तु वह किस सीमा तक धूर्त क्रीडा कर सकता था, लेनिन उससे अनभिज्ञ थे। ब्रिटेन अमानुल्ला के विरुद्ध षडयन्त्र एवं विद्रोह के प्रति सदैव तत्पर था।

यदि सोवियत विदेशमन्त्री चिचिरिन द्वारा अफगानिस्तान के राजदूत को दिये गये परामर्श को अमानुल्ला ने यदि महत्व दिया होता तो सम्भवत: स्थिति परिवर्तित होती। चिचिरिन ने राजदूत से कहा था कि अफगानिस्तान को सुधार योजनाओं पर अधिक ध्यान देना चाहिये और वर्तमान शासक सत्ता उसमें सहायक सिद्ध हो सकती थी। सोवियत विदेशमन्त्री ने यह भी कहा कि अफगानिस्तान को अपने यहाँ साम्यवाद रोपने की भारी गलती कभी नहीं करनी चाहिये क्योंकि रूस अफगान जनता पर विकास के वे कार्यक्रम अन्तंबद्ध करने का कदापि इच्छुक नहीं था जिन कार्यों से जनता अनभिज्ञ हो अर्थात उन्हें विदेशी समझे।

सोवियत संघ द्वारा अफगानिस्तान ने दो लड़ाकू विमान और 5,000 राइफलें तथा एक बारूद कारखाना भी स्थापित करने में मदद दी। 1928

तक अफगानिस्तान की वायुसेना तैयार हो चुकी थी। इसमें छः लड़ाकू विमान थे जिन्हें सोवियत चालक ही संचालित करते थे। इसी मध्य इन दोनों देशों के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित हुये।

ब्रिटेन द्वारा निरन्तर दबाव डालने के उपरान्त भी अमानुल्ला ने अपनी नीति में परिवर्तन नहीं किया। 1926 में उन्होंने सोवियत संघ के साथ 'निरपेक्षता और अयुद्ध सन्धि' कर ली। सन्धि की दूसरी धारा के अनुसार हस्ताक्षरित देश पारस्परिक विरोधी किसी अन्य देश के साथ कोई सन्धि नहीं कर सकते थे। सन्धि के एक अन्य अनुच्छेद के अनुसार सन्धियुक्त देश अपने-अपने क्षेत्र में किसी संगठन व व्यक्ति विशेष को विरोधी कार्य करने की छूट नहीं दे सकते थे।

सोवियत संघ और अफगानिस्तान की मित्रता तथा पारस्परिक सहयोग को ब्रिटेन राजनैतिक ईर्ष्या की दृष्टि से देखता था। 1929 में ब्रिटेन ने कबीलों के सरदारों एवं उलेमाओं को अमानुल्ला के विरुद्ध विद्रोहित कर सत्ता परिवर्तन करना चाहा। यद्यपि ताजिक बाका साका ने कुछ समय के लिये अमानुल्ला की सत्ता हस्तगत कर ली, किन्तु अफगान केवल पठान का शासन चाहते थे किसी ताजिक का नहीं। फलतः अमानुल्ला के सेनापति नादिर खाँ ने सत्ता हस्तान्तरण किया। नादिर सर्वप्रथम अंग्रेजों का विरोधी था, परन्तु समय के अनुसार उसमें परिवर्तन आया। 1921 में यद्यपि उसने भी सोवियत संघ के साथ मित्रता की सन्धि की परन्तु इसमें 1926 वाली आत्मीयता नहीं थी।

किसी भी देश की परिवर्तित परिस्थितयों का प्रभाव उस देश के इतिहास पर पड़ता है, यह कथन अफगान इतिहास पर स्पष्ट दृष्टिगोचर हुआ। पर्शिया का खज्र शासक नाममात्र के लिये पदासीन था, उस समय उत्तर के सभी मुख्य शहरों पर रूस का अधिकार था, जबकि तेल से समृद्ध अबादान क्षेत्र से युक्त सम्पूर्ण दक्षिण भाग पर अंग्रेजों का अधिकार था।

पर्शिया के इन आन्तरिक अव्यवस्थताओं के मध्य सेनापति रजा खान का नाम सबसे अधिक उभर कर सामने आया। 1925 में शिया मुल्लाओं और अंग्रेजों की सहायता से खज्र वंश को समाप्त घोषित कर स्वयं को शाह घोषित किया और एक नये पहलवी वंश का सूत्रपात किया।

रजा खान भी 'कमाल अतातुर्क' से अत्याधिक प्रभावित थे। उन्होंने भी लोगों के आधुनिकीकरण पर बल दिया तथा इसके अतिरिक्त मौलवियों के प्रभाव को क्षीण करना चाहा। रजा खान और अमानुल्ला दोनों ने जो नव कुलीन वर्ग बनाया, वह पूर्णतः सेना पर आश्रित था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय में ईरान में प्राप्त हुए 'तेल भण्डार' के कारण ब्रिटेन की नई रुचियां पैदा हो गई थी। वह हर परिस्थितयों में ईरान की बहुमूल्य सम्पत्ति पर अपना आधिपत्य बनाये रखना चाहता था। इसी प्रकार मित्र राष्ट्रों के लिये भी सामरिक दृष्टि से ट्रांस ईरानी रेलवे बहुत ही महत्वपूर्ण थी। यह रेलवे फ़ारस की खाड़ी से सोवियत सीमा तक थी। रजा खान किसी का पक्ष नहीं लेना चाहते थे, किन्तु उनसे उनके बेटे के लिये सत्ता स्थानान्तरण करवा दिया गया।

खान अब्दुल गफ्फार खान के नेतृत्व वाले भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का असर डूरान्ड सीमा रेखा के दूसरी ओर भी हुआ। परन्तु अफ़गानिस्तान शासकों ने तटस्थता की नीति ही अपनाई। अफ़गानिस्तान में जर्मन गुप्तचरों का बाहुल्य था और पूरा देश मित्र राष्ट्रों के घेरे में था।

विश्वयुद्ध के समाप्त होते ही काफ़ी बड़े-बड़े परिवर्तन दृष्टिगोचर हुये। दक्षिण एशिया में ब्रितानी उपनिवेश ब्रिटेन के शासन से मुक्त हो गया। अफगानिस्तान ने डूरान्ड सीमा रेखा को पाकिस्तान के साथ विभाजन की रेखा नहीं माना। अफ़गानिस्तान के लिये भारत के स्वतन्त्र रूप से उदय होना ही अत्यधिक हर्ष का विषय था।

1946 में ज़हीर शाह ने सोवियत संघ से एक सन्धि की, जिसके अन्तर्गत अमुदरिया और पंजा नदी को सीमा माना गया। अफ़गानिस्तान ने गुट निरपेक्ष आन्दोलन में भी हिस्सा लिया। उसने सोवियत संघ से अपने आर्थिक रिश्तों को और अधिक सुदृढ़ किया, दूसरी तरफ पाकिस्तान पश्चिमी दुनिया के अधिक सन्निकट आया। जिसके कारण उसके अपने दोनों पड़ोसी देशों अफगानिस्तान व भारत से सम्बन्ध बिगड़े।

बदलते हुये राजनैतिक परिवेश में अफ़गानिस्तान सोवियत संघ के अधिक सन्निकट पहुँचा। पहला ग़ैर साम्यवादी देश अफ़गानिस्तान था जिसे सोवियत संघ ने जनवरी 1954 में आर्थिक सहायता दी। इसी वर्ष अमरीकी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने भी पाकिस्तान को आर्थिक सहायता करने की घोषणा की थी। जहीर शाह ने अमरीकी सहायता प्राप्त करने की कोशिश की थी, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली।

1955 में सोवियत संघ ने अफ़गानिस्तान को 25 लाख डालर का प्रतिरक्षा साधनों हेतु ऋण दिया। 1961 में अफ़गान सेना के अधिकारियों के प्रशिक्षण का उत्तरदायित्व भी स्वीकार किया। 1973 में दाऊद ने जहीर शाह का तख्ता पलट दिया। इसके बाद सुरक्षा और आर्थिक मामलों में दोनों देशों के सम्बन्ध में अधिक मधुरता आ गई।

इस समय तक साम्राज्यवादी ब्रिटेन द्वारा मुक्त किये गये हिन्द महासागर के क्षेत्र में अमेरिकी प्रवेश प्रारम्भ हो गया था। अमेरिका द्वारा समर्थित ईरान के शाह ने खाड़ी देशों में अपना प्रभुत्व दिखाना प्रारम्भ कर दिया था।

प्रारम्भ में अमेरिका ने ईरान के शाह के द्वारा दाऊद पर दबाव डाला कि वह बलचुस्तिान पर आक्रमण करे, परन्तु भारत और सोवियत संघ की मध्यस्थता के कारण दाऊद ने आक्रमण की बात को अस्वीकार कर दिया।

मध्यम मार्गीय तटस्थता की नीति के फलस्वरूप दाऊद ने 40 सोवियत प्रशिक्षित सुरक्षा अधिकारियों को निकाल दिया। सम्भवत: उन्हें अहसास नहीं था कि उनका देश सोवियत संघ के कितने सन्निकट है और जो दो अमेरिकी चौकियों, इस्लामाबाद तथा तेहरान के बीच स्थित काबुल को एक सेतु नहीं बनने देगा। दाऊद को अपनी सेना में भी सम्भवत: सोवियत प्रशिक्षित अधिकारियों की शक्ति का मान नहीं था। इन्हीं सब त्रुटियों के फलस्वरूप अप्रैल 1978 की क्रान्ति हुई।

सोवियत भूमिका

दाऊद के पतन के साथ सोवियत संघ ने इस अवसर का लाभ उठाया। सर्वप्रथम तराकी सरकार को मान्यता देने वाला सोवियत संघ ही था। उसने कहा "उच्च वर्ग या शासक वर्ग और मध्यम वर्ग या शोषित जनता के बीच की लड़ाई से जो क्रान्ति हुई वह स्वाभाविक ही थी।" इसके अतिरिक्त वर्गीय मतभेद बढ़ रहा था। शासक वर्ग सामाजिक सुधार के हर कदम का विरोधी था, अत: यह क्रान्ति अवश्यम्भावी थी। अफगानिस्तान की नव सरकार द्वारा विदेश नीति का आधार गुट निरपेक्ष और शान्ति बताया गया। 1978 के दिसम्बर में तराकी ने सोवियत संघ का दौरा किया वहां 'मित्रता निकटता, और पारस्परिक सहयोग' की सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये। यह सन्धि 15 शर्तों से युक्त सभी मामलों में काफी स्पष्ट थी। दोनों पक्षों ने इस पर सहमति व्यक्त की कि वे "पारस्परिक सुरक्षा, एकता और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये हर कदम आपसी विचार-विमर्श के बाद उठायेंगे।" इसके अतिरिक्त सन्धि की शर्तों के अनुसार दोनों पक्ष सभी प्रकार की सैनिक कार्यवाई में भी पारस्परिक सहयोग देंगें। सन्धि की आठवीं धारा के अनुसार "एशिया में सभी देशों के सहयोग से एक सुदृढ़ व प्रभावयुक्त सुरक्षा व्यवस्था तैयार होगी।"

पश्चिमी दुनिया ने इस नव प्रशासन को मान्यता तो दे दी लेकिन उनको परेशानियाँ भी दिखाई दे रही थी। वे अफगानिस्तान के मामलें में

अधिक चुप नहीं रह सकते थे, क्योंकि पड़ोसी ईरान के शाह के पतन से कूटनीतिक स्थितियों में अत्यधिक परिवर्तन आ चुका था। इसके अतिरिक्त सोवियत संघ और अमेरिका के सम्बन्ध भी अफ्रीका, मध्यपूर्व, और वियतनाम को लेकर काफी तनावपूर्ण थे। पश्चिमी एशिया में सोवियत नीतियां अमेरिकी खाड़ी नीति का प्रत्युत्तर थी। अफ़गानिस्तान की आन्तरिक स्थिति भी ठीक नहीं थी। खल्क और पश्चिमी गुटों की लड़ाई के कारण करमाल और उनके साथियों को देश छोड़ना पड़ा। पश्चिमी गुट के लोग सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के अधिक सन्निकट थे, फिर भी सोवियत संघ ने तराकी अमीन गठबन्धन से नजदीकी सम्बन्ध बनाने का निर्णय किया।

नयी अफगान सरकार ने सामाजिक परिवर्तनों और भूमि सुधार कार्यक्रमों को तीव्रता से कार्यान्वित किया।

डूरांड सीमा रेखा के पास से अमेरिका ने गड़बड़ी करनी शुरू की। ईरान और चीन तो वैसे भी अफगानिस्तान को परेशान करने वाले देश थे। सोवियत नेतृत्व ने यह समझ लिया था कि इन परिस्थितयों में प्रत्येक यथासम्भव सहायता के उपरान्त भी नयी अफगान सरकार का स्थिर रहना मुश्किल है।

इसी मध्य अयातुल्ला खुमैनी के उदय और अमेरिकी राजनायिकों को बन्धक बनाने की घटना से परिस्थितयाँ एकाएक वदल गई। अब लगने लगा कार्टर प्रशासन के सामने शक्ति प्रदर्शन के सिवा कोई अन्य विकल्प नहीं है।

सोवियत संघ इसके पक्ष में नहीं था। ईरानी क्रान्ति में उसकी कोई भूमिका नहीं थी लेकिन ईरान से अमेरिकी हथियारों का हटना और अमेरिकी प्रभाव का समाप्त हो जाना उसके लिये एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। ब्रेजनेव ने स्पष्ट शब्दों में कहा, "कि हम ईरान में अमेरिका के पुन: प्रवेश को सहन नहीं करेंगे"।

इसके प्रत्युत्तर में अमरीका ने भी खाड़ी के देशों में तीव्रता से सैन्य शक्ति बढ़ाने की नीति अपनाई और तुर्की को काफ़ी मात्रा में सैन्य शस्त्रों की मदद दी। अफ़गानिस्तान में भी विद्रोहों को प्रोत्साहन दिया। इन्हीं सब कारणों के फलस्वरूप सोवियत संघ को जवाबी कार्यवाही करनी पड़ी।

इस अवसर का लाभ उठाते हुये अमीन ने तराकी की हत्या करके अफ़गानिस्तान में सत्ता हस्तगत करने का घातक कदम उठाया। उनके इस कदम से सोवियत संघ नाराज हुआ। अगर सोवियत संघ को ईरान में अमेरिका के प्रवेश को रोकना था तो उसने अफ़गानिस्तान में अपनी सेना भेज दी। इस कार्यवाई से रेगन प्रशासन को यह मालुम हो गया कि अमेरिका के ईरान में प्रवेश का विरोध सोवियत संघ द्वारा होगा। इसके

अतिरिक्त अमेरिका ख़ुमैनी की 'इस्लामिक क्रान्ति' का भी सामना नहीं कर सकता था। परन्तु सोवियत संघ के इस कदम से महाशक्तियों में तनाव ही बढ़ा।

अन्तमें इन सब पक्षों को ध्यान में रखते हुये यह कहा जा सकता है कि सोवियत संघ की अफ़ग़ानिस्तान में उपस्थिति एक पक्षीय नहीं है। जब तक सभी बड़े राष्ट्र हिन्द महासागर के क्षेत्र को मुक्त नही करते तब तक सोवियत संघ के पास अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने हेतु अफ़ग़ानिस्तान में बने रहने के सिवा कोई विकल्प शेष नहीं हैं।

●

अध्याय 35

श्रीलंका (सीलोन)

श्रीलंका (सीलोन)

श्रीलंका (सीलोन) उष्ण कटिबन्धीय द्वीप राष्ट्र है जो भारत के दक्षिण से जलडमरूमध्य द्वारा विभाजित है। आकार की लघुता के उपरान्त भी यह द्वीप दक्षिण एशिया में अपनी भूसागरिक स्थिति के कारण अत्यधिक महत्वपूर्ण है। श्रीलंका का क्षेत्रफल इंगलैंड एवं वेल्स के संयुक्त क्षेत्रफल का आधा अथवा ग्रीस के क्षेत्रफल के लगभग समान है। इसकी लम्बाई 270 मील एवं चौडाई 150 मील है। 1971 में इसकी जनगणना लगभग एक करोड़ 28 लाख थी। श्रीलंका के प्रमुख नगर समुद्रतटों पर स्थित हैं।

ईसा से छठी अथवा पांचवी शताब्दी से पूर्व श्रीलंका में नागाओं एवं यक्षों के निवास के प्रमाण प्राप्त हुये हैं। लगभग छठी शताब्दी से श्रीलंका के उत्तर-पश्चिम तटीय क्षेत्र स्थित ताम्बपाणि नामक स्थान पर विजयसिंह ने अपने सात सौ अनुयायियों के साथ पदार्पण करके सिंघली जनजाति की स्थापना की थी, परन्तु कुछ इतिहास-वेत्ताओं का यह मत है कि इस द्वीप में सिंघली जनजाति से पूर्व द्रविड़ जनता का निवास था। बाशम के अनुसार श्रीलंका में द्रविड़ अप्रवासी सिंघली जनजाति से पूर्व जाकर बसे थे। इसमें किंचित्मात्र भी सन्देह नहीं है कि शिकारियों की एक जनजाति 'वादास' विजय सिंह के इस द्वीप पर आने से पूर्व ही वास करती थी। इतिहासकार जी०सी० मेन्डिस का मत है कि सम्भवत:'वादास'जाति के लोग दक्षिण भारत के निवासी थे तथा समुद्र द्वारा भारत के पृथक्करण से पूर्व ये लोग श्रीलंका द्वीप में जाकर बस गये थे। श्रीलंका की 'सिंहली'एवं'वादास'जाति के सम्बन्ध में राजनीतिज्ञों एवं इतिहासकारों के मध्य मूल-निवासी का प्रश्न विवादग्रस्त है।

विजय सिंह के अनुयायियों के श्रीलंका में निवास के पश्चात् मध्य उत्तर एवं दक्षिण के तटीय मार्गों से प्रवासियों एवं आक्रमणकारियों ने श्रीलंका में उपनिवेश की स्थापना की। ये लोग भारतीय आर्य भाषा का प्रयोग

करते थे तथा द्वीप के उत्तर, दक्षिण-पूर्व एवं पश्चिमी भागों में नदियों के तट पर रहते थे। कुछ समय पश्चात इन अप्रवासियों ने कृषि को अपना मुख्य व्यवसाय बनाकर उत्तर में 'अनुराधापुर' एव दक्षिण में 'मागामा' को शहरों के रूप में विकसित किया।

प्रारम्भ में प्राचीन 'सिंहल' जनजाति के लोग कृषि के क्षेत्र में मानसून पर आधारित रहते थे परन्तु 'शुष्क क्षेत्र' के वासी होने के परिणामस्वरूप इन जनजातियों ने सिंचाई तकनीक का ज्ञान प्राप्त किया तथा उन्होंने नदियों से सम्बन्धित नहरों का निर्माण किया। जल संचित करने हेतु सिंहली जाति के लोगों ने बृहत् तालाबों का भी निर्माण किया। यह प्रक्रिया प्रथम शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक चलती रही। प्राचीन काल में 'सिंहली' राजाओं का प्रमुख कार्य बुद्ध धर्म का विस्तार, जल की स्थायी आपूर्ति हेतु सिंचाई सुविधाओं का निर्माण तथा दक्षिण भारतीय आक्रमणकारियों से द्वीप की रक्षा करना था। देवानाम्प्रिय नामक राजा के शासन काल (247 से 207 ईसा पूर्व) में सर्व-प्रथम श्रीलंका में बुद्ध-धर्म का प्रचार अशोक महान के प्रमुख दूत महिन्दा (महेन्द्र) ने किया था। बुद्ध धर्म के अतिरिक्त श्रीलंका में जैन धर्म एवं शैव धर्म का भी प्रचार हुआ।

तमिल आक्रमणकारियों ने 'सिंहली' जाति को राष्ट्रीय एकता की प्रेरणा प्रदान की। सर्वप्रथम दक्षिण भारत में स्थापित चोल साम्राज्य के युवराज इलारा ने उत्तरी 'सिंहली' राज्य पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। इलारा ने 44 वर्षो तक शासन किया तथा अन्त में द्वीप के दक्षिण क्षेत्र के 'सिंहली' सैनिकों ने इस शासन का अन्त कर दिया तथा सम्पूर्ण द्वीप पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। 'सिंहली' जाति के लिए श्रीलंका में सिंहली राज्य का विचार ईसा से पूर्व 137 वर्ष में ही प्रचलित था।

सन् 1017 में लगभग समस्त द्वीप पर 'चोल' साम्राज्य का आधिपत्य पुन: स्थापित हो गया था। इस आधिपत्य का मुख्य ध्येय मलेशिया एवं चीन के साथ व्यापार करने हेतु बङ्गाल की खाड़ी पर 'चोल' वंश का एकाधिकार स्थापित करना था। 1017 से 1070 तक 'चोल' वंश के शासन काल में बुद्ध धर्म एवं 'सिंहली' जाति का अत्यधिक दमन किया गया। इसके साथ ही पिछले एक हजार वर्ष से विकसित 'सिंहली' सभ्यता के मुख्य केन्द्र अनुराधापुर का भी अन्त हो गया। 'पोलोनाबा' को सिंहली राजधानी बनाया गया तथा कुछ समय पश्चात यह भी परिवर्तित कर दी गई। पराक्रमबाहु महान के शासन (1153-1186) में सिंहली सभ्यता का विकास चरम सीमा पर पहुंच गया था। इसके बाद एक दशक तक शान्ति एवं स्था-

यित्व के पश्चात सिंहली सभ्यता नष्ट होना प्रारम्भ हो गयी। इस अवनति के मुख्य कारण पराक्रमबाहु द्वारा लड़े गये युद्ध एवं अत्यधिक केन्द्रित प्रशासन थे। तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में द्वीप के उत्तरी क्षेत्र में जाफना नामक स्थान पर तमिल साम्राज्य की स्थापना हुई। यह साम्राज्य 1618 तक (पुर्तगाली आधिपत्य के समय तक) स्थापित रहा।

1411 में चीन ने श्रीलंका के पश्चिमी तट पर आक्रमण करके राई-गामा साम्राज्य का अन्त कर दिया। सम्पूर्ण श्रीलंका का अन्तिम शासक पराक्रमबाहु षष्ठ (1412-1467) था जिसको चीन का समर्थन प्राप्त था। पराक्रमबाहु षष्ठ की मृत्यु के उपरान्त यह राज्य विभिन्न भागों में विभाजित हो गया। पराक्रमबाहु अष्टम के शासनकाल (1484-1508) में सर्वप्रथम पुर्तगाली श्रीलंका में प्रविष्ट हुये तथा श्रीलंका के राजा ने सुरक्षा के उपलक्ष्य में पुर्तगाल के राजा को प्रतिवर्ष 400 'बहार' का कर देना स्वीकार कर लिया। 1540 तक पुर्तगाली हिन्द महासागर में अपनी स्थिति दृढ करने में व्यस्त रहे। 1540 के पश्चात उन्होंने श्रीलंका में अपना आधिपत्य स्थापित करना प्रारम्भ किया तथा सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक इसे पूर्ण कर लिया।

सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में हालैंड ने भी श्रीलंका में रुचि लेना प्रारम्भ किया। 1602 में उन्होंने कैन्डी राज्य के राजा से सम्पर्क किया तथा 1612 में उसकी जलसेना ने पुर्तगाली जलसेना को परास्त करके समुद्र में अपनी स्थिति एवं शक्ति को अत्यधिक दृढ़ कर लिया। 1628 में कैन्डी के राजा राजसिंह ने डच सैनिक अधिकारियों से उनके राज्य को पुर्तगाली अत्याचारियों से मुक्त करने का अनुरोध किया। 1630 में डच सेना ने डि सा के नेतृत्व में पुर्तगाली सेना को पूर्णतया पराजित कर दिया। 1638 में पुर्तगाली जनरल डीगो मेलो डि कैस्ट्रो की सेना को गेनोरुवा के पास पुनः पराजय का सामना करना पड़ा। 1638 में कैन्डी राज्य के राजा राजसिंह द्वितीय ने डच सरकार के साथ एक संधि पर हस्ताक्षर किये तथा पुर्तगालियों से रक्षा के उपलक्ष्य में डच सरकार को कुछ व्यापारिक अधिकार प्रदत्त किये। इसके पश्चात 1640 में गैले पर तथा 1656 में कोलम्बो पर अधिकार कर लिया गया। 1658 में जाफना पर अधिकार करके डच सेना ने अन्तिम पुर्तगाली दुर्ग को भी विजित कर लिया।

1666 में राजा राजसिंह की मृत्यु के पश्चात नये राजा कीर्तिश्री एवं डच प्रतिनिधि फ्लेक के मध्य एक संधि पर हस्ताक्षर किये गये जिसके अन्तर्गत 'डच यूनाइटेड ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के विजित प्रदेशों पर प्रभुसत्ता को मान्यता प्रदान की गई तथा राजा ने कैन्डी राज्य के तटीय क्षेत्रों को डच

कम्पनी के अधिकार में दे दिया। इसके उपलक्ष्य में डच कम्पनी ने देश के अन्य भागों पर राजा कीर्तिश्री की प्रभुसत्ता को मान्यता प्रदान की। दोनों ही देशों ने आक्रमण के समय परस्पर सहयोग एवं सहायता का वचन दिया। इसके अतिरिक्त राजा एवं उसके मंत्रियों को किसी अन्य देश से पत्र-व्यवहार का अधिकार नहीं दिया गया। इस संधि के उपरान्त डच कम्पनी ने दालचीनी के उत्पादन एवं विक्रय पर अपना एकाधिकार स्थापित किया फलस्वरूप इस कम्पनी को अत्यधिक लाभ हुआ।

दालचीनी के निर्यात के व्यापार में एकाधिकार स्थापित करने में डच कम्पनी को, ब्रिटिश व्यापारियों के साथ प्रतियोगिता के कारण अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसके विपरीत निर्यात व्यापार पर दक्षिण भारतीय व्यापारियों का ही एकाधिकार स्थापित था। इसके अतिरिक्त स्थानीय व्यापार में भी डच व्यापारी सफल न हो सके। फलस्वरूप उनको व्यापार में अत्यधिक हानि उठानी पड़ी। यद्यपि डच अधिकारियों को आन्तरिक आर्थिक प्रशासन में कुछ सफलता प्राप्त हुई परन्तु वे समुद्री मार्गों पर अपना नियन्त्रण स्थापित करने में असफल रहे। सत्रहवीं शताब्दी के द्वितीय अर्ध शताब्दी में लड़े गये तीन आंग्ल-डच युद्धों में हालैंड सरकार की पराजय के फलस्वरूप श्रीलंका में डच जल सेना कमजोर हो गयी। तृतीय आंग्ल-डच युद्ध (1672-1674) के मध्य प्रथम बार जिस विदेशी सामुद्रिक जहाजों ने हिन्द महासागर में प्रवेश किया, वह डि ला हे के नेतृत्व में फ्रांसीसी जल सेना थी। 1782 में अमरीका स्वतन्त्रता संग्राम के मध्य जब महासागरों में ब्रिटेन एवं हालैंड के मध्य युद्ध प्रारम्भ हुआ, इंगलैण्ड ने बड़ी आसानी से हिन्द महासागर पर अपना नियन्त्रण स्थापित किया परन्तु 1784 की पेरिस संधि ने हिन्द महासागर में शान्ति स्थापित कर दी। 1798 में इंगलैंड एवं फ्रांस के मध्य युद्ध के फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने श्रीलंका में डच अधिकारियों को ब्रिटिश सुरक्षाप्रदान करने का प्रस्ताव रखा परन्तु इस प्रस्ताव के नकारात्मक उत्तर के कारण एक ब्रिटिश नौ सैनिक बेड़े ने श्रीलंका की ओर प्रस्थान किया तथा ट्रिनकोमाली पर अधिकार कर लिया। 1766 में मद्रास में डच सरकार एवं कैन्डी के राजा राज सिंह के मध्य एक संधि हुई जिसके अनुसार डच सरकार को प्रदत्त व्यापारिक अधिकार ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी को हस्तान्तरित कर दिये गये। इस प्रकार 16 फरवरी 1796 को ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने कोलम्बो में डच क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया।

ब्रिटिश आधिपत्य

ब्रिटिश शासन के प्रथम पच्चीस वर्षों में ब्रिटिश प्रशासकों ने श्री लंका में कोई भी नवीन परिवर्तन नहीं किया। इसके दो कारण थे। प्रथम, 1796 में श्रीलंका के संदिग्ध भविष्य ने उनका ध्यान इस ओर आकर्षित नहीं किया। द्वितीय, ब्रिटिश सरकार इस काल में फ्रांसीसी सरकार के साथ युद्ध में रत रही फलस्वरूप उन्हें किसी नवीन कार्यक्रम के निर्माण का सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ। परन्तु 1802 में श्रीलंका के ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेश का उत्तर प्राप्त हो जाने के उपरान्त वहाँ महत्वपूर्ण परिवर्तन प्रारम्भ किये गये। 1803 में कैण्डी राज्य पर अधिकार स्थापना हेतु मैकडावल के नेतृत्व में एक सेना भेजी गयी तथा इस सेना ने कैन्डी राज्य पर अधिकार कर लिया परन्तु मैकडावल का स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण वह कोलम्बो लौट आया। फलस्वरूप कैन्डी की सेनाओं ने ब्रिटिश सेनाओं को 24 जून, 1803 को हरा दिया।

1802 में अमीन्स की संधि ने सामुद्रिक प्रदेशों पर ब्रिटिश आधिपत्य को मान्यता प्रदान कर दी। फलस्वरूप सामुद्रिक प्रदेश ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेश घोषित किये गये तथा लन्दन में श्रीलंका एजेन्सी की स्थापना हुई। कोलम्बो में एक सलाहकार समिति की सरकारी सेवा विभाग की स्थापना की गई। 1805 में थामस मेटलैंड श्रीलंका का गवर्नर नियुक्त किया गया। उसने श्रीलका की आर्थिक स्थिति में काफ़ी सुधार किये तथा विभिन्न विभागों का दक्षतापूर्वक संगठन किया। अपने छह वर्ष के शासन काल में मेटलैंड ने सड़कों का निर्माण कराया, तटीय स्टेशनों की स्थापना की, श्रीलंका के निर्यात में वृद्धि की तथा वहाँ के वासियों के रहन-सहन के स्तर में विकास किया।

1811 में राबर्ट ब्राउनग्रिग को मेटलैंड के स्थान पर श्रीलंका का गवर्नर एवं सेनाध्यक्ष नियुक्त किया गया। यद्यपि ब्राउनग्रिग ने ब्रिटेन के विदेश सचिव को यह आश्वासन दिया था कि वह श्रीलंका में शांति स्थापित करेगा परन्तु ब्रिटिश व्यापारियों का कैन्डी राजा द्वारा दण्डित किये जाने के फलस्वरूप 1814 में द्वितीय कैन्डी युद्ध प्रारम्भ हुआ तथा 18 फरवरी को कैन्डी के राजा को वन्दी बना लिया गया। 22 मार्च 1815 को वाउनग्रिग एवं कैन्डी राज्य के सरदारों के मध्य संधि हुई जिसको 'कैन्डियन कन्वेन्शन' के नाम से जाना जाता है। संधि के अन्तर्गत कैन्डी के राज्य को ब्रिटिश उपनिवेश में सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रकार सम्पूर्ण श्रीलंका पर ब्रिटिश शासन स्थापित हो गया।

1815 के पश्चात् यद्यपि कैन्डी प्रदेश में शान्ति रही परन्तु 1817-18 में श्रीलंका के बेलसी प्रदेश में एक विद्रोह हुआ जिसका कोई प्रत्यक्ष राजनैतिक अथवा आर्थिक कारण नहीं था। ब्रिटिश सरकार ने दमनकारी नीति के अनुसरण के द्वारा इस विद्रोह को कुचल दिया तथा इसके नेताओं को 1825 में देश से निष्कासित कर दिया गया।

विद्रोह के अन्त के पश्चात् ब्राउनग्रिग ने प्रदेश के पुनर्गठन का कार्य प्रारम्भ किया। 21 नवम्बर 1818 को एक घोषणा की गई जिसके अंतर्गत कन्वेन्शन में संशोधन करके श्रीलंका पर सीधे ब्रिटिश नियत्रण की स्थापना की गई। कैन्डी प्रदेश को ग्यारह जिलों में विभक्त किया गया तथा प्रत्येक जिले में एक ब्रिटिश प्रतिनिधि को प्रशासक के रूप में नियुक्त किया गया। वोर्ड आव कमिश्नर्स को प्रमुख प्रशासकीय संस्था बनाया गया। एक उच्चतम न्यायालय की स्थापना की गई जिसका अधिकार क्षेत्र कोलम्बो तक ही सीमित था। 1820 में श्रीलंका आर्थिक समस्याओं के मध्य घिरा था। इसके आयात में वृद्धि हो रही थी तथा निर्यात में ह्रास हो रहा था।

1833 के सुधार

1822 में उपनिवेश उप-सचिव रॉबर्ट विलमॉन्ट के प्रयासों के फलस्वरूप एक प्रतिनिधि मण्डल नियुक्त किया गया जिसे श्रीलंका में तथ्यों की जाँच हेतु आदेश दिये गये। 1829 में यह प्रतिनिधि मण्डल श्रीलंका पहुंचा जिसमें सर विलियम कोलम्ब्रक एवं चार्ल्स केमरन दो सदस्य थे। 1832-1833 में इस प्रतिनिधि मण्डल ने श्रीलंका के प्रशासन, न्याय, व्यापार, कानून इत्यादि पर अपनी रिपोर्ट प्रकाशित कर दी। इसमें कैन्डी प्रदेशों के पृथक् प्रशासन को समाप्त करने, राजक्रिया का उन्मूलन करने, सीनामन (दालचीनी) व्यापार पर एकाधिकार समाप्त करने, सीमा शुल्क की दरों में कमी करने तथा सम्पूर्ण जनता हेतु एक ही विधि संहिता का निर्माण करने के परामर्श दिये गये थे। इस अतिरिक्त अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार, विधान परिषद तथा एक कार्यपालिका समिति की स्थापना पर भी बल दिया गया।

1833 का श्रीलंका के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। 1833 में विलियम कोलब्रुक एवं चार्ल्स केमरन द्वारा प्रस्तावित सुधार कार्यक्रम को श्रीलंका के गवर्नर रॉबर्ट बिलमॉन्ट के विरोध के उपरान्त भी स्वीकार कर लिया गया तथा 1833 के अन्त में उन्हें कार्य रूप में परिणत करना प्रारम्भ किया गया। राजस्व आयुक्त के पद को समाप्त कर उसके कार्य एवं अधिकारों को मुख्य सचिव में निहित कर दिया गया। कई सरकारी अधिकारियों

के भत्तों में कमी की गई। सम्पूर्ण श्रीलंका को पाँच भागों में विभक्त कर दिया गया तथा प्रदेश में एक सरकारी प्रतिनिधि की नियुक्ति की गई। जिला न्यायाधीशों को प्रदेशीय पद दिया गया। सरकारी कर्मचारियों के वेतनमान में कमी करने के कारण प्रशासन में दक्षता की कमी भी हुई। इसके दो अन्य मुख्य कारण भी थे। प्रथम, सेवानिवृत्ति वेतन की समाप्ति, एवं द्वितीय कर्मचारियों की पदोन्नति की धीमी गति। इसके अतिरिक्त श्रीलंका के संविधान में भी परिवर्तन किए गए। 1833 से पूर्व गवर्नर को कार्य-पालिका एवं विधानपालिका सम्बन्धी पूर्ण अधिकार प्राप्त थे तथा गवंनर के सहायतार्थ एक सलाहकार समिति थी। इस सलाहकार समिति को कार्यपालिका समिति में परिवर्तित कर दिया गया तथा गवंनर बिना इसकी सहमति के कोई कदम उठाने हेतु अक्षम था। विधानपालिका समिति का पुनर्गठन किया गया जिसमें 15 सदस्य थे तथा किसी भी विधान के निर्माण से पूर्व इस समिति की स्वीकृति आवश्यक थी। गवर्नर को अध्यादेशों पर निषेधाधिकार का अधिकार था तथा गवर्नर द्वारा घोषित प्रत्येक अध्यादेश पर ब्रिटिश राजा को स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार प्राप्त था।

इन सुधारों में 1837 में सर रावर्ट हेटिन ने कम किये गये वेतनमान को पुनः बढ़ाने की मांग की। तत्कालीन उपनिवेश सचिव लार्ड ग्लेनलेग ने अधीनस्थ अधिकारियों के वेतनमान में वृद्धि के प्रस्ताव को स्वीकृति कर दिया। इसके अतिरिक्त 1839 में श्रीलंका के गवर्नर स्टीवार्ट मेकेन्जी ने सरकारी सेवा में नये अधिकारियों का श्रीलंका में सीधे नियुक्ति का विरोध किया फलस्वरूप नवीन सरकारी सेवा के अधिकारियों के हेतु श्रीलंका में नियुक्त होने से पूर्व छः से नौ महीने तक सरकारी प्रतिनिधि के अधीन कार्य करना आवश्यक हो गया।

लार्ड स्टेनले द्वारा सुधार

1841 में श्रीलंका में सर कॉलिन कैम्पबेल को गवर्नर नियुक्त किया गया। इसके कार्यकाल में ब्रिटिश उपनिवेश राज्य सचिव लार्ड स्टेनले ने कुछ सुधार कार्यान्वित किये। स्टेनले ने स्थानान्तण एवं समय के आधार पर पदोन्नति पद्धति की आलोचना की तथा इस पद्धति का अंत करने की आज्ञा दी। इसके अतिरिक्त लार्ड स्टेनले ने आयोग्य अधिकारियों के स्थान पर योग्य अधिकारियों को नियुक्त करने की आज्ञा दी। उसने स्थानीय भाषा के ज्ञान को पदोन्नति हेतु आवश्यक घोषित किया। श्रीलंका में काफी के व्यापार में अत्यधिक लाभ के कारण अनेक सरकारी कर्मचारियों ने काफी उत्पादन का कार्य आरम्भ

कर दिया था, फलस्वरूप प्रशासन की दक्षता में अत्यधिक कमी आयी थी। 1844 में लार्ड स्टेनले ने सरकारी अधिकारियों के कृषि अथवा व्यापारिक कार्यक्रमों में भाग लेने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। 1833 के सुधारों के विरुद्ध लार्ड स्टेनले ने सरकारी कर्मचारियों की संख्या में भी वृद्धि की। इसके अतिरिक्त लार्ड स्टेनले के लिपिकों की नियुक्ति पर 1832 में लगे प्रतिबन्ध को समाप्त कर दिया।

इस प्रकार लार्ड स्टेनले ने स्थिति का सही मूल्यांकन करके सुधारों की रूपरेखा तैयार की थी तथा उन्होंने दूरदर्शिता के साथ कार्यान्वित किया और अपने कार्यकाल से पूर्व के सुधारों द्वारा हुई क्षति को पूर्ण कर दिया।

1848 का विद्रोह

यद्यपि ब्रिटिश प्रशासकों ने श्रीलंका में अनेक सुधार कार्यान्वित किए तथापि 1848 में यहाँ विद्रोह के अनेक कारण थे। प्रथम, ब्रिटिश सरकार ने कुत्तों पर कर आरोपित कर दिया था। श्रीलंका के सुदूर ग्रामों में अधिकतर ग्रामीण वासी शिकार से अपने पेट का पालन करते थे जिसमें वे कुत्तों की सहायता लेते थे। इसके अतिरिक्त कुत्ते उनकी फसलों की रक्षा तथा उनके गृहों की जंगली जानवरों से रक्षा हेतु अति आवश्यक थे। इसके अतिरिक्त यह कर वसूलना लगभग असम्भव कार्य था। आग्नेय अस्त्रों पर भी कर लगा दिया गया। आग्नेय अस्त्र श्रीलंका के जंगलों में रहने वाली जनता हेतु आवश्यक थे। इसके अतिरिक्त इनपर पूर्व ही आयात कर लिया जा चुका था। इनमें सर्वाधिक व्यर्थ मार्ग कर थां जो कि श्रीलंका में सड़क निर्माण हेतु लिया जाता था। श्रीलंका के निवासियों की आवश्यकता जंगल के रास्तों द्वारा पूर्ण हो जाती थी, अतः उनकी दृष्टि में यह कर चाय, काफ़ी उत्पादकों एवं यूरोपियों के सहायतार्थ सड़कों के निर्माण हेतु आरोपित किया गया था। इस कर से संन्यासियों को भी मुक्त नहीं किया गया था, फलस्वरूप जनता में रोष व्याप्त हो गया। सरकार ने प्रत्येक दुकानदार पर एक पाउन्ड प्रति-वर्ष का कर लगाया था। श्रीलंका के दुकानदारों में इसपर अत्यधिक असन्तोष व्यक्त किया गया कि सरकार ने बड़े एवं छोटे दुकानदारों के मध्य अन्तर पर कोई ध्यान नहीं दिया, जबकि यूरोपवासी इस कर से मुक्त थे।

तटीय क्षेत्रों के निवासियों पर गाड़ी एवं नाव कर लगाया गया। इन करों के विरोध में श्रीलंका वासियों ने विद्रोह कर दिया जो कि चार दिवसों के उपरान्त समाप्त हो गया। इसी मध्य श्रीलंका के गवर्नर बिस्काउन्ट

टारिंगटन ने ब्रिटिश सरकार की सत्ता के विरुद्ध एक गम्भीर समस्या को ध्यान में रखते हुए सैनिक शासन की स्थापना की घोषणा कर दी। भारत से सेना को श्रीलंका बुलाया गया तथा दो मास तक विद्रोहियों के विरुद्ध कार्यवाही चलती रही। फलस्वरूप सरकार के उक्त कृत्य की कोलम्बो में आलोचना की गई। यद्यपि प्रधान मन्त्री एवं ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल में उपनिवेश सचिव ने टारिंगटन के कार्यों का समर्थन किया तथापि ब्रिटिश संसद ने एक जांच आयोग का गठन किया जिसकी रिपोर्ट के फलस्वरूप टारिंगटन को गवर्नर के पद से पृथक कर दिया गया।

सीलोन में राष्ट्रवाद

1848 से 1915 के मध्य का काल शान्ति, व्यवस्था, सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति, शिक्षा एवं संस्कृति के विकास एवं श्रीलंका में राष्ट्रवाद के उदय का काल था। इसी काल में कोलम्बो का हिन्द महासागर में एक महत्वपूर्ण सामुद्रिक पत्तन की भांति विकास किया गया। श्रीलंका के लगभग प्रत्येक मुख्य नगर को रेल मार्ग द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित कर दिया गया। 1902 में सर्वप्रथम कार का कोलम्बो में आयात किया गया। ग्रामोफोन सिलाई मशीन एवं साइकिल के प्रयोग के प्रचलन के फलस्वरूप श्रीलंका वासियों के रहन सहन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। स्कूल एवं कॉलेजों की संख्या में अत्यधिक विस्तार हुआ। इस काल में अंग्रेजी भाषा के पठन पाठन का अत्यधिक विस्तार हुआ। यद्यपि संचार व्यवस्था के विकास एवं आवागमन के साधनों में वृद्धि के फलस्वरूप वाणिज्य एवं व्यापार में काफी प्रगति हुई परन्तु श्रीलंका की बहुसंख्यक जनता इस काल में भी कृषि पर आधारित थी।

1915 में धार्मिक कारणों से श्रीलंका के कस्बों एवं गांवों में उपद्रव प्रारम्भ हुए। इसका तात्कालिक कारण यह था कि दक्षिण भारतीय आप्रवासियों, जो कि श्रीलंका के तटीय मार्गों में व्यापार करते थे, और जिन्हें श्रीलंका वासी 'कोस्टमूर' कहा करते थे, ने गेमपोला में अपनी मस्जिद के सामने से बौद्धों के जुलूस को निकालने का विरोध किया; फलस्वरूप 28 मई को बड़े पैमाने पर धार्मिक दंगे प्रारम्भ हो गये। श्रीलंका के गवर्नर सर राबर्ट चालमर्स ने सैनिक शासन की घोषणा कर दी। ये दंगे 28 मई को प्रारम्भ हुए और 5 जून को समाप्त हो गए पर सैनिक शासन का अन्त तीन मास के पश्चात हुआ। फलस्वरूप सैनिक शासन के समाप्त होते ही पुनः श्रीलंका की जनता ने सैनिक शासन के अन्तर्गत किए गए अत्याचारों के विरुद्ध विरोध प्रदर्शन करने प्रारम्भ कर दिये। ब्रिटिश सरकार ने चालमर्स को वापस

बुला लिया और सर जान एन्डरसन श्रीलंका के गवर्नर नियुक्त किए गए । एन्डरसन के कार्यकाल में विधान परिषद में सुधार करने की मांग हुई फलस्वरूप 1917 में 'श्रीलंका सुधार लीग' की स्थापना की गई । इसी वर्ष संवैधानिक सुधार हेतु एक सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता अरुणाचलम ने की । 1918 में रामनाथन ने विधान परिपद में एक प्रस्ताव रखा जिसमें संवैधानिक सुधारों की आवश्यकता पर वल दिया गया । इसी मध्य मार्च 1918 में एन्डरसन की मृत्यु हो गयी । 1918 के अन्तिम महीनों में दूसरे संवैधानिक सुधार सम्मेलन का आयोजन किया गया और 1919 में 'श्रीलंका राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना की गई जो कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के ढांचे पर आधारित थी । इसके प्रथम अध्यक्ष अरुणाचलम थे । इस कांग्रेस ने विधान परिषद के विकास एवं इसमें स्थानीय सदस्यों का मत तथा उच्च सरकारी सेवा के श्रीलंका-करण की मांग की । नये गवर्नर-जनरल सर विलियम मैनिंग ने 1920 में एक सुधार कार्यक्रम की घोषणा की । श्रीलंका में संवैधानिक आन्दोलन के फलस्वरूप 1924 में एक संविधान की घोषणा की गई जिसमें विधान परिषद का विस्तार करके इसको और अधिक उत्तरदायित्व प्रदान किये गये थे । इस संविधान में निर्वाचकों की संख्या में भी अत्यधिक विस्तार हुआ ।

1931 में नयी विधान परिषद के चुनाव कराये गये तथा 1936 में पुनः चुनाव हुये । इन दोनों चुनावों में विधान परिषद हेतु निर्वाचित सदस्य राजनैतिक कारणों से अधिक अपने व्यक्तिगत प्रभाव से निर्वाचित हुये थे । इन चुनावों में केवल श्रमिक दल ने भाग लिया । इसके अतिरिक्त श्रीलंका में इस काल में किसी अन्य राजनैतिक दल का अस्तित्व नहीं था । इस दल के दो प्रमुख नेता डी० बी० जयतिलक एवं डी० एस० सेनानाइके थे । 1935 में 'लंका सभा समाज पार्टी' की स्थापना की गई जो कि श्रमिकों एवं कृषकों के समर्थन पर आधारित थी । इस दल के प्रमुख नेता फिलिस गुगवर्धने एवं एन० एम० परेरा थे । 1937 में सिंहली महासभा की डब्लू डी भण्डारनाइके ने स्थापना की ।

द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ होने के पश्चात ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी । श्रीलंका भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में ब्रिटेन के साथ था; लंका सभा समाज पार्टी ने श्रीलंका के युद्ध में भाग लेने के निर्णय की आलोचना की क्योंकि यह दल साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित था । अतः इस दल को अवैध घोषित कर दिया गया एवं इसके नेताओं को बन्दी बना लिया गया । उपर्युक्त दल के केस्टालिन से प्रमाणित सदस्यों ने 'संयुक्त

समाजवादी दल' की स्थापना की तथा श्रीलंका राष्ट्रीय कांग्रेस में विलय का प्रयत्न किया जिसे श्रीलंका राष्ट्रीय कांग्रेस ने अस्वीकृत कर दिया। 1944 में श्रीलंका साम्यवादी दल की स्थापना की गई।

युद्ध के मध्य ही मई 1943 में ब्रिटिश उपनिवेश राज्य-सचिव ने घोषणा की कि युद्ध के पश्चात ब्रिटिश सरकार श्रीलंका में संवैधानिक सुधारों को कार्यान्वित करेगी, जिसके अन्तर्गत श्रीलंका में ब्रिटिश राजा के अधीन आन्तरिक मामलों में पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना की जायेगी। केवल विदेशी सम्बन्ध एवं सुरक्षा पर ब्रिटिश सरकार का नियन्त्रण रहेगा। 1944 में ब्रिटिश सरकार ने एक प्रतिनिधि मण्डल को श्रीलंका भेजने का निर्णय लिया जो कि श्रीलंका के विभिन्न समुदायों के संविधान के सम्बन्ध में विचारों से ब्रिटिश सरकार को अवगत करायेगा तथा उसके आधार पर एक संविधान की रूपरेखा प्रस्तुत करेगा। यह प्रतिनिधि मण्डल दिसम्बर 1944 में लार्ड सेलसबरी की अध्यक्षता में श्रीलंका आया। इस प्रतिनिधि मण्डल ने अक्टूबर 1945 को अपना विवरण ब्रिटिश सरकार के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। इस विवरण में द्वितीय सदन के निर्माण, जनसेवा आयोग के अधिकारों में वृद्धि का सुझाव दिया तथा साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को अस्वीकार कर दिया। इस संविधान में एक मन्त्रिमण्डल के गठन का भी प्रस्ताव सम्मिलित था। जिसको स्थानीय विधान परिषदों ने अनुमोदित कर दिया। दिसम्बर, 1947 में 'श्रीलंका स्वतन्त्रता अधिनियम' को ब्रिटिश संसद ने पारित कर दिया और 4 फरवरी 1948 को श्रीलंका को विधिवत स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई।

आरम्भिक काल

4 फरवरी को ग्लूसेस्टरशायर के ड्यूक ने ब्रिटिश सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में श्रीलंका की प्रथम संसद का उद्घाटन किया, इसके पश्चात 1948 में संविधान को प्रतिस्थापित किया गया।

सर्वप्रथम संयुक्त राष्ट्रीय दल ने डी० एस० सेनानाइके के नेतृत्व में सरकार का निर्माण किया। इस सरकार ने श्रीलंका के निर्माण हेतु कई कार्य किये। सरकार ने गाल ओया नदी पर एक बहुउद्देशीय परियोजना के अन्तर्गत एक सेतु का निर्माण किया जिससे बिजली एव सिंचाई सुविधा प्राप्त हो सके। एक अन्य निगम का निर्माण करके उसे 1949 में श्रीलंका के औद्योगीकरण का उत्तरदायित्व प्रदान किया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना का प्रारम्भ किया गया जिसका कार्यकाल 1947-1953 था। कोलम्बो समुद्री

पत्तन का विकास किया गया तथा नार्टन ब्रिज पर जल विद्युत परियोजना की स्थापना की गई स्वास्थ्य एवं शिक्षा की दिशा में भी महत्वपूर्ण प्रगति का प्रयास किया गया तथा वाणिज्य व्यापार विभागों की पुन: स्थापना की गई। कृषि के विकास पर विशेष ध्यान दिया गया। 1949 में सेनानाइके ने लन्दन में संरक्षित राज्यों के प्रधान मन्त्रियों के सम्मेलन में भाग लिया। 1950 में कोलम्बो में राष्ट्रमण्डल प्रधानमन्त्रियों का सम्मेलन हुआ जिसमें कोलम्बो कार्यक्रम का निर्माण किया गया जो कि अविकसित राष्ट्रों के विकास हेतु कार्यक्रमों पर विचार विमर्श के लिए आयोजित किया गया था। 1952 में सेनानाइके की मृत्यु हो गई।

1952 के चुनावों में संयुक्त राष्ट्रीय दल को पुन: बहुमत प्राप्त हुआ तथा डडले सेनानाइके श्रीलंका के प्रधान मन्त्री पद पर पदासीन हुये। इसी वर्ष डडले सेनानाइके ने चीन सरकार के साथ एक व्यापारिक सन्धि पर हस्ताक्षर किये परन्तु 1953 में प्रधान मन्त्री ने आयातित चावल की मात्रा को कम कर दिया फलस्वरूप स्थानीय चावल की मूल्य वृद्धि हो गई। इसके विरोध में 12 अगस्त को एक हड़ताल का आयोजन किया गया। फलस्वरूप प्रधान मन्त्री ने त्याग पत्र दे दिया तथा सर जान कोटलेवाला नये प्रधान मन्त्री बने।

सर जान कोटलेवाला ने अपने कार्यकाल में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लिया। इनमें प्रमुख 1954 में पांच दक्षिण-पूर्व एशियायी देशों के प्रधान मन्त्रियों का सम्मेलन तथा 1955 में बांडुग सम्मेलन इत्यादि थे। 1955 में ही श्रीलंका को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया। श्रीलंका में इसी मध्य 'श्रीलंका फ्रीडम पार्टी' ने प्रदेशों में सिंहली भाषा को कार्यालयों की राष्ट्र भाषा बनाने हेतु आन्दोलन प्रारम्भ किया जिसको श्रीलंका की जनता ने अत्यधिक समर्थन प्रदान किया। श्रीलंका के बौद्ध राष्ट्रवादियों ने 'अखिल श्रीलंका बौद्ध कांग्रेस' की स्थापना 1956 में की तथा एक जांच आयोग का गठन किया जिसे श्रीलंका में बुद्ध धर्म की स्थिति एवं इसमें प्रगति के उपायों पर विवरण प्रस्तुत करने का निर्देश दिया गया। इस समिति के विवरण के आधार पर इस कांग्रेस ने सरकार की बुद्ध धर्म को उचित संरक्षण न प्रदान करने हेतु कटु आलोचना की। दूसरी ओर, संसद में विरोधी नेता एस० डब्ल्यू० आर० डी० भण्डारनाइके ने सिंहली भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने की मांग पर बल दिया फलस्वरूप विवाद उत्पन्न हो गया। 1956 में संसद को भंग कर दिया गया तथा अप्रैल में नये चुनाव हुए।

श्रीलंका फ्रीडम पार्टी ने अन्य दलों का विलय करके एक नवीन दल का निर्माण किया जिसका नाम 'पीपुल्स यूनाइटेड फ्रंट' रखा गया। अप्रैल के चुनावों में पीपुल्स यूनाइटेड फ्रंट को भारी बहुमत प्राप्त हुआ। एस० डब्ल्यू० आर० डी० भण्डारनाइके को श्रीलंका का प्रधान मन्त्री चुना गया। इस संसद में सिंहली भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने के विधेयक पर विरोधी दलों ने शान्तिपूर्ण प्रदर्शन किये, फलस्वरूप कोलम्बो में गैले फेस ग्रीन स्थान पर उपद्रव प्रारम्भ हुए। आगामी ढाई वर्षों में कोलम्बो में श्रमिक प्रदर्शन चलते रहे तथा 1958 में कोलम्बो में बड़े पैमाने पर हड़ताल का आयोजन किया गया। 27 मई को कोलम्बो में 'आपात स्थिति' की घोषणा कर दी गई एवं सैनिकों को गवर्नर जनरल के अधीन नियन्त्रण हेतु तैनात कर दिया गया। जिसके परिणाम स्वरूप 28 मई को रतमलान एवं पोलोन्नरुव में हिंसक घटनाएं हुई। यह आपात कालीन स्थिति 13 मार्च 1959 को समाप्त कर दी गई। 25 सितम्बर 1959 को श्रीलंका के प्रधान मन्त्री की हत्या कर दी गई और आपात स्थिति की पुनः घोषणा कर दी गई। संसद भंग कर दी गई तथा मार्च 1960 में नये चुनाव हुये।

1960 के चुनावों में संयुक्त राष्ट्रीय दल की विजय हुई तथा डडले सेनानाइके पुनः प्रधान मन्त्री के पद पर आसीन हुये। अप्रैल 1960 में दल के सदस्यों के मध्य संघर्ष के कारण डडले सेनानाइके की सरकार पदच्युत कर संसद भंग कर दी गई।

जुलाई 1960 के चुनावों के पश्चात श्रीमती भण्डारनाइके को प्रधानमन्त्री बनाया गया जो कि संयुक्त राष्ट्रवादी दल की अपने पति की हत्या के पश्चात नेता थीं। श्रीलंका ने श्रीमती भण्डारनाइके के नेतृत्व में प्रत्येक क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति की। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात प्रारम्भिक वर्षों में प्रधान मन्त्री सेनानाइके ने श्रीलंका में विभिन्न जातियों एवं धर्मों के लोगों के मध्य एकता एवं भाई चारे की स्थापना का प्रयास किया परन्तु नागरिकता अधिनियम के पारित हो जाने के पश्चात सेनानाइके के संयुक्त राष्ट्रीय दल में विवाद उत्पन्न हो गया फलस्वरूप में 'तमिल संघीय दल' (तमिल फेडरल पार्टी) की स्थापना हुई। इस दल के तीन मुख्य ध्येय थे।

(1) तमिल-भाषी जनता हेतु स्वतन्त्रता प्राप्त क्षेत्र का निर्माण तथा इस संघीय व्यवस्था के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार से अधिकार की प्राप्ति।

(2) तमिल भाषा एवं सिंहली भाषा में समानता की स्थिति।

(3) ऐसी भारतीय तमिल जनता को नागरिकता प्राप्त करने का

अधिकार जो श्रीलंका में ही स्थायी रूप से निवास के इच्छुक हों।

इस दल ने सरकार से तमिल जनता के प्रतिनिधित्व को कम करने हेतु भारतीय तमिल जनता को वोट दिये जाने के अधिकार से वंचित करने का कड़ा विरोध किया। 1957 में प्रधान मन्त्री भण्डारनाइके ने तथा 1965 में प्रधान मन्त्री डडले सेनानाइके ने इस समस्या के समाधान हेतु तमिल जनता को यह आश्वासन दिया था कि वे तमिल-भाषी प्रदेशों में सिंहली जाति को बलपूर्वक प्रस्थापित न करके वहां किसी भी प्रकार की व्यवस्था अथवा अशान्ति उत्पन्न करने के पक्ष में नहीं हैं। दोनों ही प्रधान मन्त्रियों ने तमिल भाषा को सरकारी भाषा के रूप में मान्यता प्रदान की परन्तु इस विधि का कभी भी कार्यान्वयन नहीं हुआ। 1958 में श्रीलंका के सिंहली एवं तमिल जातियों के मध्य साम्प्रदायिक उपद्रव प्रारम्भ हुये परन्तु सरकार ने बलपूर्वक उन उपद्रवों को दबा दिया। 1961 में पुनः तमिल जनता ने तमिल संघीय दल के नेतृत्व में श्रीमती भण्डारनाइके द्वारा सिंहली समर्थक नीति के विरोध में सविनय अवज्ञा आन्दोलन का प्रारम्भ किया तथा स्थिति इतनी खराब हो गई कि सेना को नियन्त्रण हेतु बुलाना पड़ा। 1963 में इसी दल ने एक आन्दोलन का नेतृत्व किया जिसकी मुख्य मांग थी कि तमिल भाषा का प्रयोग सरकारी कार्यालयों में आवश्यक हो। 1965 से 1970 तक डडले सेलानाइके के प्रधान मन्त्री काल में यह दल शान्त रहा क्योंकि प्रथम बार केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में इस दल को प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ था। 1966 में तमिल नियमन अधिनियम पारित हुआ जिसने तमिल को कार्यालयों में सिंहली भाषा के समानान्तर स्थान प्रदान किया। परन्तु कुछ बातों पर सरकार के साथ विवाद हो जाने के कारण 1968 में तमिल संघीय दल ने मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया तथा 1968 के पश्चात सेनानाइके तमिल जनता का समर्थन प्राप्त करने में असफल रहे। 1970 में श्रीमती भण्डारनाइके की सरकार ने श्रीलंका के एक तमिल को अपने मन्त्रि मण्डल में स्थान देकर तमिल दल का पुनः समर्थन प्राप्त कर लिया परन्तु 1971 की संविधान सभा का इस दल ने बहिष्कार किया एवं 1972 के संविधान को पूर्णरूपेण अस्वीकृत कर दिया।

आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात श्रीलंका की आर्थिक प्रगति में मुख्य व्यवधान बढ़ती हुई जनसंख्या थी। इसके फलस्वरूप देश की सरकार द्वारा किये गये कल्याणकारी कार्यों पर अत्यधिक धन व्यय हुआ परन्तु आशानुकूल

परिणाम नहीं प्राप्त हुये। 1946 के पश्चात जनसंख्या वृद्धि की दर तीव्र हुई जो कि श्रीलंका के मध्यम वर्ग की देन थी। इसके अतिरिक्त श्रीलंका में मलेरिया उन्मूलन के प्रभावशाली कार्यक्रम ने जन्म और मृत्यु दर में अत्यधिक अन्तर कर दिया। 1871 के पश्चात् 1971 तक श्रीलंका की जनसंख्या में तीन गुनी वृद्धि हो चुकी थी। अत: सरकार के समक्ष स्वतन्त्रता के पश्चात मुख्य समस्या जनसंख्या की वृद्धि के अनुसार आर्थिक विकास की थी। जनसंख्या की वृद्धि का एक अन्य कारण यह था कि श्रीलंका में 52 प्रतिशत जनसंख्या की आयु 19 वर्ष से कम थी तथा 40 प्रतिशत की 14 वर्ष से भी कम थी।

जनसंख्या की वृद्धि तथा इसके अनुसार शिक्षा संस्थाओं की कमी होने के कारण श्रीलंका में एक वृहत् श्रमिक वर्ग का विकास हुआ परन्तु इस वर्ग में दक्ष श्रमिकों का अभाव था। इसका एक अन्य परिणाम यह हुआ कि श्रीलंका में बेरोजगारों की संख्या में तीव्रता से वृद्धि हुई। ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी की समस्या शहरों से अधिक गंभीर थी और इस कारणवश बड़ी संख्या में गाँव वासी शहरों की ओर रोजगार की तलाश में अग्रसर हुए।

1970 में नयी सरकार ने बेरोजगारी को समाप्त करने हेतु एक रोजगार मंत्रालय का गठन किया तथा देश के बेरोजगार स्नातकों को प्रशासकीय, व्यावसायिक एवं अन्य प्रकार का प्रक्षिशण प्रदान करने की एक योजना बनायी जिसमें सरकार को सफलता प्राप्त हुई।

सामाजिक विकास की दिशा में तीव्रता लाने हेतु 1955 में प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक की शिक्षा निःशुल्क कर दी गयी। 1960-1961 में एक सरकारी अधिनियम के द्वारा प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा संस्थानों पर सरकार ने अपने अधिकार की घोषणा कर दी। इसके पूर्व ये संस्थाएँ ईसाइयों, बौद्धों अथवा मुसलमानों द्वारा चलायी जा रही थीं। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय विद्यालयों की स्थापना भी सरकार ने की। शिक्षा संस्थाओं पर अत्यधिक व्यय के कारण सरकार की अर्थव्यवस्था पर अत्यधिक दबाव आ गया था परन्तु इसके फलस्वरूप श्रीलंका में 82 प्रतिशत साक्षारता है।

देश की तकनीकी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सरकार ने तकनीकी, वैज्ञानिक एवं व्यावसायिक शिक्षा का प्रारंभ भी किया तथा इस दिशा में तीव्रता से प्रगति की गई। बहुउद्देश्यीय तकनीकी संस्थाओं एवं अन्य तकनीकी संस्थाओं की स्थापना की गई। 1966 में तकनीकी विद्यालय की स्थापना की गई।

शिक्षा के तीव्रतम विकास ने बेरोजगारी की समस्या को और अधिक कर दिया। विश्वविद्यालयों के छात्रों ने हड़तालों, हिंसक घटनाओं इत्यादि में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। 1965 में डडले सेनानायके की सरकार ने उच्च शिक्षा अधिनियम पारित किया तथा इसके अन्तर्गत राष्ट्रीय उच्च शिक्षा समिति का गठन किया गया। 1971 में उग्र मार्क्सवादी विद्रोह के पश्चात् यूनाइटेड फ्रंट दल के शिक्षा मंत्री ने उच्च शिक्षा के ढांचे में परिवर्तन हेतु सुझाव देने के लिये एक आयोग गठित किया जिसके लगभग सभी सुझाव उच्च शिक्षा समिति ने स्वीकार कर लिये तथा जनवरी 1972 में उच्च शिक्षा अधिनियम में ये सभी सुझाव सम्मिलित कर लिये गये। 1972 के पश्चात् प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा हेतु एक नवीन नीति बनाई गई जिसमें रोजगार प्रदायक सहायक शिक्षा का विकास किया गया। अंग्रेजी भाषा का पठन-पाठन अनिवार्य कर दिया गया तथा राष्ट्रीय, सामाजिक, एवं आर्थिक विकास करने में सहायक कुछ नये विषयों का पठन-पाठन प्रारम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त श्रीलंका की सरकार इन संस्थाओं की सहायता से सामाजिक एवं आर्थिक भेदभाव समाप्त करना चाहती थी। इस हेतु माध्यमिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् विश्वविद्यालय में प्रवेश हेतु क्षेत्रीय संख्या निर्धारित कर दी गई।

जनकल्याण हेतु पीपुल्स यूनाइटेड फ्रंट द्वारा 1965 में सरकार की स्थापना के पश्चात् आयुर्वेदिक औषधियों के प्रयोग पर बल दिया गया। सरकारी अस्पतालों में औषधियों का वितरण निःशुल्क होता था। 1961 में सरकार ने 'आयुर्वेद शोध संस्थान' की स्थापना की। इसके अतिरिक्त मल-निर्गमन व्यवस्था एवं जल आपूर्ति व्यवस्था का भी विकास किया गया जिसने स्वास्थ्य स्थिति पर अत्यधिक अनुकूल प्रभाव डाला।

आर्थिक विकास हेतु श्रीलंका में कृषि योग्य भूमि पर ध्यान केन्द्रित किया गया और व्यर्थ की भूमि को कृषि योग्य बनाने का अभियान प्रारंभ हुआ। बढ़ती हुई जनसंख्या को भूमि प्रदान करने का कार्य आरम्भ किया गया। इस दिशा में अनेक महत्वपूर्ण कार्यक्रम बनाये गये। ग्राम प्रसार पद्धति के अन्तर्गत राज्य की भूमि को ग्रामीणों के मध्य वितरित किया गया, संपूर्ण भूमि को सिंचाई साधनों से जोड़ने का प्रयत्न किया गया तथा ग्रामीण जनता के आश्रितों को मकान बनाने हेतु भूमि प्रदान की गई। ग्रामीणों को कृषि करने हेतु आर्थिक सहायता प्रदान करने का प्राविधान भी बनाया गया। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत आवंटित भूमि को पाँच एकड़ से तीन एकड़ कर दिया गया जिससे ज्यादा से ज्यादा किसानों को भूमि दी जा सके। मकान बनाने एवं भूमि को कृषि योग्य बनाने हेतु सरकार ने कम ब्याज पर आर्थिक

सहायता प्रदान की। 1955 के पश्चात् उत्पादन में वृद्धि हेतु सरकार ने 25 वर्षों के लिए भूमि आवंटित करने का प्रस्ताव रखा जिसका स्वागत किया गया। 1962 में कृषि के अयोग्य भूमि पर मकान निर्माण हेतु विक्रय का कार्य भी सरकार ने किया।

सिंचाई एवं बिजली के साधनों को पर्याप्त रूप से उपलब्ध करने के लिए सरकार ने विभिन्न सिंचाई परियोजनाओं तथा बिजली घरों की व्यवस्था की। गन्ना उत्पादन हेतु चीनी निगम की स्थापना की गई। कपास उत्पादन हेतु राष्ट्रीय कपास निगम की तथा चाय के उत्पादन को सुव्यवस्थित करने हेतु श्रीलंका चाय उत्पादन निगम की स्थापना की गई।

इसके अतिरिक्त विदेशी मुद्रा की बचत हेतु कृषि उत्पादनों में वृद्धि का प्रयास किया गया। कठिनाइयों के उपरान्त भी भंडारनाइके के कुशल नेतृत्व में श्रीलंका ने आर्थिक एवं सामाजिक दिशा में प्रगति हेतु पूर्ण प्रयास किये और किसी सीमा तक सफल भी रहे। भण्डारनाइके के उपरान्त श्रीजयवर्धन लंका के राष्ट्रपति हुये। उनके समय में जो समस्या सबसे अधिक बढ़कर समक्ष आई वह थी तामिल समस्या।

तामिल समस्या

यद्यपि तामिल समस्या श्रीलंका का आंतरिक मामला है, भारत ने कभी भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया है। परन्तु फिर भी यह ऐसा श्रीलंका का आंतरिक मामला है, जिसका असर भारत की आंतरिक स्थिति पर भी पड़ रहा है। श्रीलंका में रहने वाले 20 लाख तमिलों का भारतीय तमिलों से खून का रिश्ता है, और उन पर अत्याचार होंने से तमिलों का ही नहीं सभी भारतवासियों का उद्वेलित होना अवश्यम्भावी और स्वाभाविक है। श्रीलंका से भागकर आये तमिल भारत के लिये समस्या नहीं उत्पन्न करेंगे यह कैसे सम्भव है ? इसलिये श्रीलंका की समस्या का प्रभाव भारत पर भी पड़ रहा है। फिर भी यह विडम्बना ही है कि श्रीलंका का नेतृत्व जिसमें जयवर्धन भी सम्मिलित हैं भारत विरोधी अभियान में संलग्न है।

आठवें दशक के प्रारम्भ में जब मार्क्सवादियों ने तत्कालीन भण्डारनाइके सरकार के अस्तित्व को संकट उत्पन्न कर दिया था, तब भारत सरकार ने उनके दमन हेतु श्रीलंका को हर प्रकार से सहायता दी थी; उस समय भी भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ही थीं।

वास्तव में तमिल समस्या के समाधान में सबसे महत्वपूर्ण व्यवधान है पारस्परिक विश्वास और सौहाद्रर्ता का अभाव। यह व्यवधान भारत और

श्रीलंका के बीच में होने के साथ श्रीलंका सरकार और तमिलों के मध्य भी है। श्रीलंका की सरकार की तमिलों के प्रति घृणा का भाव सर्वविदित है। इसलिये एक भी ऐसा सिंहली नेता नहीं है जिसे तमिलों का विश्वास प्राप्त हो। पारस्परिक सद्भाव और विश्वास के अभाव में समस्या का समाधान कैसे सम्भव है? इसके अतिरिक्त श्रीलंका के कई महत्वपूर्ण व्यक्तियों के द्वारा भारत विरोध में दिये गये वक्तव्य स्थिति की और अधिक विषम बना रहे हैं।

श्रेष्ठतर यही है कि श्रीजयवर्धन समय की स्थिति को पहचान कर अपनी आंतरिक स्थिति को राष्ट्रीय हित के संदर्भ में दृष्टिगत रखें। 1983 में पार्थसारथी को श्रीलंका भेजकर भारत ने समस्या के समाधान की दिशा में अपना पग उठाया था और उसके कुछ अच्छे परिणाम भी आने की उम्मीद थी परन्तु श्रीलंका सरकार के निपट भारत विरोधी अभियान ने उस समस्या को ज्यों का त्यों कर दिया है और अभी भी तामिल समस्या पूर्ववत स्थिर है।

श्रीलंका का भारत विरोधी रुख कोई नया नहीं है। 1971 में जब श्रीमती भण्डारनाइके प्रधानमन्त्री थीं तो उन्होंने भी भारत-पाक युद्ध के मध्य पाकिस्तानी बमवर्षकों तथा दूसरे विमानों को कोलम्बों में ईंधन लेंने की सुविधा दी थी। लेकिन जयवर्धन का व्यवहार तानाशाहों की तरह का है। एक ओर तो नाकेबन्दी करके तमिलों की हत्यायें की जा रहीं हैं, दूसरी ओर भारत को यह धमकी दी जा रही है कि अगर उसने श्रीलंका पर हमला किया तो श्रीलंका में तमिलों का सफाया हो जायगा। अधिक श्रेष्ठ होता यदि वह भारतीय आक्रमण के प्रत्युत्तर की बात करते। इसके विपरीत अपने ही देश-वासी तमिलों से बदला लेने को कहकर वह हर हाल में तमिलों को श्रीलंका से खदेड़ना चाहते हैं।

किसी बड़ी शक्ति के साथ भारत-सोवियत संघ जैसी संधि करने का निश्चय प्रकट करके उन्होंने भारत को अपरोक्ष रूप से यह चेतावनी भी दी है कि यदि उसने तमिलों के संहार हेतु कुछ भी कहा तो वह भारत की दक्षिणी सीमा के लिये संकट का कारण हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त अमेरिका भी उन्हें सहायता देने को तैयार है किन्तु जयवर्धन अमेरिका को दावत देकर अपना ही अहित करेंगे।

जयवर्धन 30 जून 1984 को अमेरिका और ब्रिटेन की यात्रा करके दिल्ली पहुंचे। अपने स्वदेश प्रस्थान के पूर्व दिल्ली के संवाददाता सम्मेलन में उन्होंने यह स्वीकार भी किया कि वे अमेरिका और ब्रिटेन से सहायता

प्राप्त करना चाह रहे थे परन्तु वह पूरी न हो सकी। लेकिन यह कैसे माना जा सकता है कि हिन्द महासागर को महाशक्तियों का युद्धस्थल बनाने की इच्छा पर कटिबद्ध अमेरिका और उसके सहयोगी ब्रिटेन ने श्री जयवर्धन के कान नहीं भरे होंगे ? इसके अतिरिक्त अब यह बात गुप्त नहीं हैं कि अमेरिका, ब्रिटेन और इज़रायल की गुप्तचर संस्थायें भी श्रीलंका में सक्रिय हैं, और ब्रिटेन तथा इज़रायल के किराये के सैनिक तमिल उग्रवादियों के दमन हेतु नियुक्त किये गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीजयवर्धन इतिहास से सबक नहीं लेते। वर्षों पूर्व कटंगा में मोयसे शोंबे ने अपने पृथकतावादी आंदोलन को चलाने के लिये किराये के सैनिकों की मदद ली थी, लेकिन वह न तो शोंबे को बचा सके और न उनके पृथकतावादी आंदोलन को।

श्रीलंका में तमिलों की समस्या को लेकर भारत ने शुरू से ही बातचीत का रास्ता अपनाया है। श्रीपार्थसारथी को प्रधानमन्त्री ने विशेष दूत के रूप में भेजकर अपनी सदाशयता का परिचय दिया था, प्रत्युत्तर में श्री जयवर्धन ने अपने रक्षामन्त्री ललित अथुलाथमुदाली को दिल्ली भेजा। श्री अथुलाथमुदाली की यात्रा के तत्काल बाद श्री जयवर्धन ने भारत पर जिस प्रकार कीचड़ उछाली है, उससे तो यही लगता है कि अथुलाथमुदाली को दिल्ली भेजकर उन्होंने मात्र अपनी सदाशयता का कृत्रिम प्रदर्शन करना चाहा था।

इसके अतिरिक्त कोलम्बो से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर एक विदेशी मेहमान की होटल में मौजूदगी से श्रीलंका की राजनीति में तूफ़ान ला दिया है। इससे एक ओर जहां श्रीलंका से मुस्लिम सम्प्रदाय को ठेस पहुंची है वहीं दूसरी ओर तमिल अल्पसंख्यकों को भी लगने लगा है कि जयवर्धन सरकार उन पर दमन का शिकजा कसने जा रही है। श्रीमती भण्डारनाइके की 'नेशनल फ्रीडम पार्टी' और श्रीलंका की सत्ताधारी 'यूनाइटेड नेशनल पार्टी' के एक वर्ग ने इस अवाञ्छनीय मेहमान की मौजूदगी का कड़ा विरोध किया है। यह मेहमान है 'डेविड मैटनी'। डेविड मैटनी इज़रायल की कुख्यात खुफ़िया ऐजेन्सी 'मोसाद' के एक प्रमुख तकनीकी विशेषज्ञ हैं। कूटनीतिक सूत्रों के अनुसार जयवर्धन सरकार तमिल अल्पसंख्यकों के राजनैतिक सुविधाओं के आग्रह को लेकर चल रहे आन्दोलन को कुचलने के लिये ही उनकी विशिष्ट सेवायें प्राप्त कर रही है। इसके अतिरिक्त अपनी गुप्तचर संस्था को राजनैतिक विरोधियों से निपटने के लिए भी मोसाद की मदद चाहती है। कुख्यात मोसाद का इसरायली अधिकृत अरब क्षेत्रों में फिलिस्तीनियों पर नित्य नये यातना प्रयोग का अपना एक कीर्तिमान है। पिछले लगभग

डेढ़ दशक से इसरायल तीसरी दुनिया के देशो में खतरनाक हथियार एवं यातना तकनीक निर्यात करने के क्षेत्र में तीव्रता से आगे बढ़ रहा है। विश्व के हथियार बेचने वालों में इज़रायल आज पाँचवें स्थान पर है। श्रीलंका में डेविड मैटनी की स्थिति कहीं एक बड़े अन्तर्राष्ट्रीय घटनाचक्र का अतिरिक्त बिन्दु तो नहीं है ?

थिंपू वार्ता

कुछ समय पूर्व तक ऐसा प्रतीत होता था कि श्रीलंका की जातीय समस्या कहीं गृहयुद्ध और राजनैतिक अस्थिरता के गहन अंधकार से युक्त है और उसका निर्गमन मार्ग एक दूसरे गृहयुद्ध की दिशा में जाता प्रतीत होता था। किन्तु अगर जयवर्धन सरकार के प्रतिनिधि श्री हेक्टर जयवर्धन तथा चार तमिल छापामार संगठन और तमिल संयुक्त मुक्ति मोर्चे के प्रतिनिधि भूटान की राजधानी थिंपू में बातचीत के लिए पहुंचे तो निश्चय ही इस चमत्कार का श्रेय भारत की सकारात्मक और राजनायिक पहल को दिया जाना चाहिए।

आठ से चौदह जुलाई तक छह दिनों की यह बातचीत किसी अन्तिम नतीजे तक पहुंचने के लिये आयोजित नही की गई थी, वरन् इसका ध्येय श्रीलंका की जातीय समस्या के राजनैतिक समाधान की चेष्टा करना था। तमिल प्रतिनिधियों ने थिंपू में अपनी वही पुरानी मांगे दोहराई जैसे तमिल बहुल प्रदेश जाफ़ना प्रान्त की स्वायत्तता तमिलों की राष्ट्रीय पहचान, प्रशासकीय समता तथा सम्पूर्ण श्रीलंका में अप्रतिबन्धित यात्री यातायात की स्वतन्त्रता एवं स्व भाषा एवं स्व धर्म इत्यादि की स्वतन्त्रता। दूसरी तरफ़ हेक्टर जयवर्धन ने थिंपू वार्ता में सरकार की ओर से जो प्रस्ताव प्रेषित किये, वे भी वही प्रस्ताव थे जिन्हें 4 दिसम्बर 1984 को श्रीलंका के सर्वदलीय सम्मेलन तमिल प्रतिनिधि पहले ही अस्वीकार कर चुके हैं। मुख्य रूप से भारत के निरन्तर प्रयत्नों के पश्चात विभिन्न तमिल संगठन जातीय समस्या को श्रीलंका के सार्वजनिक ढ़ांचे के भीतर ही निपटाने के लिए तो राजी हो गये हैं लेकिन तमिल क्षेत्र की सम्पूर्ण स्वायत्तता की मांग की अपनी जिद्द उसी जगह पर है। उम्मीद यही की जानी चाहिए कि थिंपू वार्ता द्वारा श्रीलंका की जातीय समस्या के रक्त रंजित अध्याय का समापन सम्भव हो सकेगा और यह राजनैतिक अशान्ति के समाधान की दिशा में भी महत्वपूर्ण चरण होगा।

●

श्रीलंका (सीलोन)

1. Wilson, A. Jayaratnam : Politics in Sri Lanka, 1947-73, 1974.
2. Kearney, Robert N : The Politics of Ceylon (Sri Lanka) 1973.
3. Jacob, Lucy M : Sri Lanka : From Dominion to Republic, 1973.
4. Pakeman, S. A : Ceylon, London, 1964.
5. Paranavitana, P : History of Ceylon 2 Vols 1959.
6. Mendis, G. C : The Early History of Ceylon 1946.
7. Nicholas, C. W : History of Ceylon 2 Vols, 1960.
8. Natesan, S : History of Ceylon, 2 Vols, 1964.
9. Menzes, D : Tamil Issue, 1984.
10. Ludowyk, E. F. G : The Story of Ceylon, 1962.
11. Grey, S : Socio-Economic History of Ceylon, 1972.

उपसंहार

इन्दिरा गांधी के उपरान्त का युग समस्या युग है–पंजाब समस्या, बङ्गला देश जलसमस्या, श्रीलंका में तामिल समस्या एवं पाकिस्तान में अमरीकी शस्त्र उपकरणों द्वारा उत्पन्न समस्या इत्यादि। यद्यपि यह समस्यायें श्रीमती गांधी के समय से ही आरम्भ हो गई थीं, परन्तु इनका निवारण उनके निधनोंपरान्त और भी आवश्यक हो गया।

भारत के प्रधानमन्त्री राजीव गांधी ने हाल ही में विदेश यात्रा कर महाशक्तियों से सांमजस्य स्थापित करने की पूर्ण चेष्टा की है। यद्यपि सोवियत रूस से भारत की मित्रता समय परीक्षित रही है, किन्तु अमेरिका ने अफ़गानिस्तान की ओट लेकर नव शस्त्र नीति को अपनाया है। फलस्वरूप अमरीका द्वारा पाकिस्तान को आधुनिक युद्ध उपकरणों द्वारा सुसज्जित करना भारतीय प्रायद्वीप में युद्ध नीति का द्योतक है। भारतीय प्रधानमन्त्री ने अपनी अमरीका की यात्रा के मध्य राष्ट्रपति रेगन से इस समस्या समाधान हेतु वार्ता की। उन्होंने स्पष्ट कहा कि अमरीका की परिवर्तित नीति भारत उपमहाद्वीप के लिए संकट सूचक है परन्तु इसके निदान हेतु अमेरिका को अपनी 'शस्त्रदेय नीति' में मूल परिवर्तन करना आवश्यक है। यद्यपि राष्ट्रपति रेगन ने भारतीय प्रधानमन्त्री को आश्वासन दिया परन्तु अमरीका की नीति में विशेष परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं हो रहा।

भारत ने अपनी ओर से भारत-पाक सम्बन्धों को मधुर बनाने हेतु पाकिस्तान से 'युद्ध न करने के समझौते' पर स्तरीय बैठके आरम्भ कर दी हैं। प्रधानमन्त्री ने यह स्पष्ट कर दिया है कि पाकिस्तान की शस्त्र संग्रह त्याग एवं परमाणु प्रयोग त्याग नीति का परिपालन ही समझौते को बल दे सकता है।

अफ़गानिस्तान की समस्या को अमरीका ने पाकिस्तान के द्वारा कूटनीतिक राजनीति में परिवर्तित कर दिया है अर्थात अमरीका का कथन है कि वह पाकिस्तान को युद्धसामग्री इसलिये दे रहा है कि पाकिस्तान रूसी सहायता से युक्त अफ़गानिस्तान के समक्ष सशक्त रहे। यह अमरीका की नव साम्राज्य वादी कूटनीति का परिचायक है कि अफ़गानिस्तान के परिवेश में इस प्रायद्वीप में संकट संभावना उत्पन्न कर प्रगति को विमुख कर सके। एक ओर अमरीका की भय नीति और दूसरी ओर भारत की गुट निरपेक्ष की नीति तथा तीसरी ओर रूस की बिना किसी शर्त के पारस्परिक सहयोग की नीति त्रिकोणीय विरोधाभास से युक्त हैं।

श्रीमती गांधी ने 1983 के 7 वें गुट निरपेक्ष सम्मेलन में अध्यक्षता ग्रहण कर तृतीय विश्व (थर्ड वर्ल्ड) का नव मार्ग प्रशस्त किया। उनके अनुसार विकासशील देशों को किसी ऐसी नीति का परिपालन नहीं करना चाहिए जिससे उनके विकास में वाधा हो और महाशक्तियों की यह भूमिका होनी चाहिए कि वे इन देशों को अपना पूर्ण सहयोग दें जो मानवतावादी जनकल्याण और प्रगति की ओरअग्रसर हैं अर्थात जो देश स्वयं में विकासपूर्ण है उन्हें विकास शील देशों को अपना कूटनीति स्थल नहीं बनाना चाहिए।

आदर्श रूप में तथा वास्तविक रूप में महाशक्तियों को जनकल्याण की भावना से युक्त होना चाहिए, किन्तु कटु सत्य यह है कि बीसवी शताब्दी का अन्तिम चरण ऐसी विषम परिस्थितियों के मध्य से होकर गुजर रहा है जिसमें भय और सहयोग, स्वार्थ एवं लाभ तथा विकास और संकट का सम्मिश्रण हैं। एक ओर परमाणु अस्त्रों की होड़ विश्व को संकटाच्छादित किये हुए है और दूसरी ओर मानवतावादी आन्दोलन हो रहे हैं, बड़ी शक्तियां अपना-अपना स्वार्थ देख रहीं हैं, शान्ति सम्मेलन हो रहे हैं और उग्रवाद अपनी चरम सीमा पर है। इस प्रकार के परमाणु एवं उग्रवाद से युक्त कूटनीति में भारतीय प्रायद्वीप शान्ति, युद्ध एवं संकट के चक्रव्यूह से किसी प्रकार मध्य मार्ग लेकर परिस्थितियों का सामना कर रहा है।

•

पश्चिमी एशिया

अध्याय 36

आटोमन साम्राज्य

(तुर्की साम्राज्य) 1808-1839

पश्चिमी एशिया का इतिहास प्रथम विश्वयुद्ध तक दो साम्राज्यों का इतिहास है-आटोमन साम्राज्य और पर्शिया का साम्राज्य। यद्यपि दोनों साम्राज्य अपने सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक दृष्टि से स्वयं महत्वपूर्ण थे किन्तु आटोमन साम्राज्य (व तुर्की साम्राज्य अथवा उस्मानी साम्राज्य) अपने क्षेत्र विस्तार, यूरोपीय राजनीति एवं वृहदता के कारण पश्चिमी एशिया में सर्वप्रथम साम्राज्य माना जाता था।

आटोमन साम्राज्य की नींव 14 वीं शताब्दी में उस्मान नामक व्यक्ति ने रखी। उस्मान शब्द का अप्रभंश उथमान हुआ और उससे यूरोप के देशों ने आटोमन शब्द का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। अत: इस साम्राज्य को आटोमन साम्राज्य व तुर्की साम्राज्य अथवा उस्मानी साम्राज्य भी कहा जाता है। इस आटोमन साम्राज्य का क्षेत्रफल तीन महाद्वीपों (एशिया, यूरोप तथा अफ्रीका) तक विस्तरित था तथा इस साम्राज्य की शक्ति को सीमित करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय देशों ने इस साम्राज्य की गृह एवं विदेशी नीति में पूर्ण रूप से हस्तक्षेप करने की चेष्टा की। इस प्रकार यह संघर्ष लगभग तीन शताब्दियों तक चलता रहा। इसके अतिरिक्त आटोमन साम्राज्य का प्रभुत्व समुद्री मार्गों पर भी था, जिसमें प्रमुख भूमध्यसागर, कृष्ण सागर (ब्लैक सी) तथा लाल सागर (रेड सी) थे। अत: इन समुद्री मार्गों पर प्रभुत्व होने के कारण इस साम्राज्य का संघर्ष विदेशी शक्तियों से अनिवार्य था क्योंकि उस समय समुद्री मार्ग प्रत्येक राष्ट्र के लिए व्यापारिक एवं सामरिक महत्व प्रदान करते थे। जार्ज लेन्जोविस्की के अनुसार यदि किसी भी देश को अपनी अन्तर्राष्ट्रीय प्रभुसत्ता बनाये रखनी होती थी तो समुद्री मार्गों पर आधिपत्य आवश्यक था। इस प्रकार महान आटोमन साम्राज्य जो सुलेमान गोरवशाली के समय में अपनी चरम सीमा पर था 1566 में उसकी मृत्यु के पशचत, उसके उत्तराधिकारियों ने इस साम्राज्य कों शनै:शनै: पतन की ओर अग्रसरित किया।

पतन के कारण

यदि आटोमन साम्राज्य पतन की ओर उन्मुख था तो मूल प्रश्न यह है कि इसके विघटन में 300 वर्ष क्यों लगे ? इसके दो मुख्य कारण थे–प्रथम सुधार युग का आरम्भ तथा द्वितीय यूरोपीय शक्तियों की अभिरूचि का केन्द्र होने के कारण इसके पतन में विलम्ब हुआ। **फिलिप्स प्राइस 'ए हिस्ट्री ऑफ टर्की'** में कहते हैं कि इस प्रकार एक सशक्त एवं सुदृढ़ साम्राज्य अपने शासकों की आयोग्यता के कारण निर्बल एवं अशक्त हो गया, जिसके फलस्वरूप साम्राज्य का विघटन सम्भव प्रतीत होने लगा। आटोमन साम्राज्य की शक्ति के पतन का अनुभव योरोपीय देशों को प्रथम बार 1683 में हुआ जबकि तुर्की ने वियना को अधिकार में करने का असफल प्रयत्न किया था। इस युद्ध में यूरोपीय देशों को पूर्व अभास हो गया कि तुर्की सेना का समय के साथ किसी भी प्रकार का अधुनिकीकरण नहीं किया गया था जिसके फलस्वरूप साम्राज्य की सैनिक शक्ति की दुर्बलता स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगी। **विलियम येल** के अनुसार आटोमन साम्राज्य के पतनोन्मुख होने के विभिन्न कारण थे।

सुल्तान

सुलेमान प्रथम के उत्तराधिकारी शासक दुर्वल एवं आयोग्य थे। उन्होंने अपने आमोद-प्रमोद तथा विलासिता के कारण शासन की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया तथा प्रत्येक सुल्तान कई दशकों के निग्रह के ही पश्चात गद्दी पर आसीन हुआ जिसके कारण वे राज्य-कार्य- पद्धति से पूर्णतया अनिपुण रहे। सामान्यतः प्रशासनिक कार्यों में राजमाताओं तथा अन्तःपुर की रानियों का सर्वथा हस्तक्षेप रहता था। फिशर के अनुसार शासक अपने अन्तःपुर की नीति के द्वारा राज्य-संचालन करते थे और सुल्तानों की शासन के प्रति इस उदासीनता एवं निष्क्रियता ने विभिन्न कुरीतियां उत्पन्न कर दीं।

इसके अतिरिक्त आटोमन सुल्तानों के प्रशासन में केन्द्रीकरण का भी अभाव था, जिसके कारण राज्यपाल अपने-अपने क्षेत्रों में मनमानी किया करते थे अर्थात अधिकारियों को राज्य की ओर से किसी प्रकार का भी भय नहीं था। येल का कथन है कि अधिकारी तंत्र के ही कारण अन्याय एवं भ्रष्टाचार व्यापक हो गया था। वस्तुतः सुल्तान की राज्य कार्यों में अरुचि तथा उनकी प्रशासकीय कार्यो में अक्षमता ने आटोमन साम्राज्य जैसे सुदृढ़ एवं सशक्त साम्राज्य को पतन के द्वार पर लाकर खड़ा कर दिया।

अन्तःपुर का प्रभाव

राजकीय अपभ्रष्टता में अन्तःपुर का सफल प्रभाव रहा। सुल्तानों की विलासिता तथा अयोग्यता के कारण बेगमों का हस्तक्षेप प्रशासन में दिन-प्रति-दिन अधिक होता गया जिसके फलस्वरूप भ्रष्टाचारी अधिकारियों को विशेष अधिकारों द्वारा पुरस्कृत किया जाने लगा। इस प्रकार के पक्षपात ने योग्य व्यक्तियों को उनके अधिकारों से वंचित रखा, जिससे देश में अव्यवस्था, घूसखोरी तथा अन्याय फैलता गया। इतिहासकार येल ने बताया कि साम्राज्य का पतनशीर्ष भाग से प्रारंभ हुआ अर्थात जब साम्राज्य के प्रशासनिक शिविर में ही अव्यवस्था व्याप्त थी तो अधिकारीगणों की भ्रष्टता में क्या सन्देह हो सकता था।

जाति व धर्म

आटोमन साम्राज्य प्रतिमानतः अपने रूप में एक मिश्रित संस्कृति का देश था अर्थात वहां विभिन्न जातियों एवं धर्मों के लोग निवास करते थे जो अपने-अपने धर्म व संस्कृति में निष्ठा व्यक्त करते थे। गिब और बोवेन के अनुसार इस प्रकार के विस्तृत साम्राज्य को नियन्त्रित करने हेतु मिल्लत व्यवस्था का विधान किया गया। यद्यपि मिल्लत पद्धति के अन्तर्गत प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय को स्वतन्त्रता प्रदान की गई थी परन्तु अधिकारीगण राज्य के विभिन्न जातियों के लोगों-अल्बानिया के निवासियों, यहूदी, स्लाव, सर्बिया, बल्गेरिया के निवासियों, कई जाति के लोगों ईसाई तथा अरमीनियों के निवासियों–पर अत्याचार करते थे। साथ ही उलेमा लोगों का तथा अधिकारी वर्ग का भी प्रभाव था जिसके परिणामस्वरूप साम्राज्य की जनता पर दुष्कर प्रभाव पड़ता था। अतः इस धर्म और जाति के संघर्ष के कारण राज्य में विभिन्न कठिनाइयां उत्पन्न होने लगों और तुर्की लोगों के अत्याचार से त्रस्त होकर अन्य जातियों के लोगों ने सहधार्मिक भाइयों से, जो अन्य देश में निवास कर रहे थे, सहायता की मांग की। इस आह्वान ने भी यूरोपीय शक्तियों को आटोमन साम्राज्य में हस्तक्षेप करने के लिए विवश कर दिया।

सेना

ल्यूइस एवं क्लेटन ने सेना को भी पतन का मुख्य कारण बताया है क्यों कि सुल्तानों की अयोग्यता के कारण सेना में उद्दंडता तथा अनुशासन-हीनता प्रबल होती गयी। इसका विशेष कारण जॉनसारी सेना का संगठन था। जॉनसारी सेना का निर्माण सुलेमान गौरवशाली ने साम्राज्य की सैन्य

शक्ति को सशक्त करने हेतु किया था। इस सेना में ईसाई युवक भर्ती किए जाते थे और उन्हें वर्षों सेना-प्रशिक्षण द्वारा सैनिक युद्ध कला में प्रवीण किया जाता था। अरमाजानी के मतानुसार यह सेना अपने समय में रण-कौशल के लिए प्रसिद्ध थी परन्तु प्रशासन की दुर्बलता के कारण जॉनसारी सेना में अनेक कुरीतियां उत्पन्न हो गयीं तथा सेना उद्दंड एवं अनुशासहीन हो गयी। धीरे-धीरे इस सेना में आटोमन लोगों की भी भरती होने लगी और इसी के साथ सेना ने अपने विशेष अधिकारों एवं प्रभाव कोआन्तरिक प्रशासन के हस्तक्षेप में निहित कर दिया जिसके फलस्वरूप साम्राज्य में भ्रष्टाचार बढ़ता ही गया। जॉनसारी सेना के विकसित भ्रष्टाचार ने इस साम्राज्य की नींव को अशक्त कर दिया। येल ने साम्राज्यी अशक्तता को विदेशी हस्तक्षेप का मुख्य कारण वताया है।

आर्थिक और व्यापारिक कारण

आटोमन साम्राज्य की आर्थिक और व्यापारिक व्यवस्था अत्यन्त सन्तोषजनक थी क्योंकि समय के साथ-साथ साम्राज्य के विस्तार और समुद्री मार्गों के आधिपत्य ने इस देश की आर्थिक उन्नति में सहयोग दिया। इतने विस्तृत साम्राज्य के व्यापार एवं आर्थिक उद्योगों की व्यवस्था में कुशल प्रशासन की आवश्यकता थी जिसका आटोमन शासकों में नितान्त अभाव था। अपनी अयोग्यता एवं प्रशासनिक दुर्बलता के कारण आटोमन सुल्तान अपने देश की आर्थिक उन्नति करने में असफल रहे, जिसके कारण शासनाधिकारियों ने राजस्व कर को वसूल करने में शिथिलता एवं अनुत्तरदायित्व का परिचय देकर शासन की आर्थिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। अतः साम्राज्य की आर्थिक व्यवस्था का ह्रास सेना, सरकार तथा धार्मिक संस्थाओं के के कारण प्रारम्भ हुआ जिसके फलस्वरूप व्यापारिक समुद्री मार्गों पर साम्राज्य को पश्चिमीदेशों के हस्तक्षेप के कारण आर्थिक क्षति उठानी पड़ी। 17 वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में रूस ने दक्षिण की ओर विस्तार की नीति को अपनाना आरम्भ कर दिया जिसके परिणामस्वरूप आटोमन साम्राज्य का विघटन अवश्यम्भावी हो गया। इसका मुख्य कारण पीटर महान की विस्तारवादी नीति थी। रूप के जार पीटर महान का मुख्य ध्येय अपनी विस्तारवादी नीति के द्वारा समुद्री मार्गों पर आधिपत्य स्थापित करना था, क्योंकि उस समय साम्राज्य की व्यापारिक एवं सामरिक सुदृढ़ता के लिए समुद्र के मार्गों पर अपना प्रभुत्व बनाये रखना नितान्त आवश्यक था। अतः पीटर महान ने 18 वीं शताब्दी तक रूस की सीमाओं का विस्तार किया। इस सन्दर्भ में ल्यूइस एवं

प्राइस का कथन बताना आवश्यक है कि 16 वीं शताब्दी में सलीम और सुलेमान महान ने भी अपने साम्राज्य को इसी विस्तारवादी नीति के द्वारा राजनैतिक, व्यापारिक एवं आर्थिक सुदृढ़ता प्रदान की थी, परन्तु कालान्तर में पीटर महान ने प्राच्य तुर्की नीति के द्वारा ही आटोमन साम्राज्य का विघटन करने में सक्रिय योगदान दिया। रूसी नीति के अतिरिक्त अन्य योरोपीय देशों ने भी अपने व्यापारिक एवं समारिक स्वार्थों हेतु आटोमन साम्राज्य में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। इसके परिणामस्वरूप तुर्की साम्राज्य की आर्थिक, व्यापारिक और राजनैतिक अवनति प्रारम्भ हो गई।

कृषि

आटोमन साम्राज्य एक कृषि-प्रधान देश था परन्तु साम्राज्य के अन्तर्गत कृषकों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। इसका मुख्य कारण ल्यूइस के अनुसार अधिकारीगणों का दुर्व्यवहार तथा सामन्त वर्ग का बेगारी को व्यवसाय के रूप में परिवर्तित कर देना था। इस स्थिति में कृषक वर्ग अपनी कृषि की ओर ध्यान नही दे पाते थे जिसके फलस्वरूप ग्रामों की दशा कृषि व्यवस्था के प्राविधीकरण के अभाव में अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी। इस प्रकार कृषि की अवनति ने तुर्की साम्राज्य को अधोगति के मार्ग पर अग्रसर कर दिया।

बौद्धिक स्थिरता

आटोमन साम्राज्य में यूरोप में होने वाले बौद्धिक जागरण का कोई विशेष प्रभाव न हुआ जिसके फलस्वरूप साम्राज्य में किसी भी प्रकार की चेतना का विकास नहीं हुआ। एन्ड्रयू मैन्गो के विचार में यद्यपि यूरोप में बौद्धिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रगति हो रही थी परन्तु इसके विपरीत इस साम्राज्य का ह्रास हो रहा था अर्थात प्रबोध तथा लौकिकी युग के अभाव ने साम्राज्य को अन्धकारमय स्थिति में रखा। इतने विशाल साम्राज्य को आधुनिक चेतना की प्रेरणा से अवगत करना आवश्यक हो गया था परन्तु शासकों ने कभी इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया, और एक महान साम्राज्य पतन-ग्रस्त होता चला गया।

राष्ट्रीयता की भावना का विकास

यद्यपि आटोमन साम्राज्य में पश्चिमीकरण एवं आधुनिकीकरण का कोई विशेष प्रभाव न था परन्तु वहां के शिक्षित वर्ग ने पश्चिमी राष्ट्रवादी विचारधारा को अपनाने का प्रयास किया। पश्चिमी देशो में साम्राज्य के

विभिन्न जातिवाद व धर्मों के समर्थकों ने 'प्राच्य कुप्रशासन' की संज्ञा आटोमन साम्राज्य को दी। जब सुधारों को कार्यान्वित किया गया तो राष्ट्रीय चेतना को और प्रेरणा मिली जिससे साम्राज्य का विघटन स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगा। एन्ड्रयू के अनुसार इस पृथकता की भावना ने आटोमन साम्राज्य के पतन में अपना विशेष योगदान दिया, क्योंकि धीरे-धीरे इस भावना ने आन्दोलनों का रूप ले लिया, और विद्रोहों में परिवर्तित होकर साम्राज्य को पूर्ण रूप से पतन-ग्रस्त करने में सहायता प्रदान की।

यूरोप का रोगी

इन सब उपर्युक्त कारणों से ही इस साम्राज्य को यूरोप का रोगी कहा जाने लगा। परिणामस्वरूप समस्त पश्चिमी देश अपना-अपना हस्तक्षेप इस साम्राज्य में करने लगे। **गैस्टन मैलार्ड** ने कहा है कि इसाई एवं यहूदी प्रजा ने अपने विदेशी जाति-बन्धुओं से गठ-बन्धन प्रारम्भ कर दिया। बाल्कन प्रदेश ने भी अपनी पृथक राष्ट्रीयता हेतु एवं सुल्तानों की अत्याचारी नीति के विरुद्ध विद्रोह प्रारम्भ कर दिए, और साम्राज्य में घोर अशान्ति का वातावरण छा गया, तथा कई विदेशी आघात सहन करने पड़े। समय के साथ-साथ राष्ट्रीय भावना के विकास ने भी साम्राज्य का विघटन करना प्रारंभ कर दिया। अत: इन सब कारणों के होते हुए भी आटोमन साम्राज्य का विघटन होने में विलम्ब के दो प्रमुख कारण थे :

(1) आटोमन साम्राज्य ने अपने अस्तगमन के पश्चात भी अपनी प्राच्य युद्ध कुशलता तथा सैनिक शौर्य को कुछ सीमा तक स्वयं में सुरक्षित रखा जिसके कारण वे पश्चिमी देशों के सैनिक आक्रमणों एवं आन्तरिक आन्दोलनों को अपने सैन्य बल के द्वारा रोकते रहे। इससे साम्राज्य के विघटन में विलम्ब तो हुआ, परन्तु दिन-प्रति-दिन साम्राज्य शिथिल होता गया। अन्तत: इसका स्वरूप साम्राज्य के विघटन के ही रूप में परिणत हुआ।

(2) आटोमन साम्राज्य यूरोप के राजनीतिक केन्द्र से काफी दूर होने के कारण पश्चिमी देशों के हस्तक्षेप से धीरे-धीरे प्रभावित हुआ। **क्लेटन** के विचार में पश्चिमी देशों के पारस्परिक ईर्ष्या, स्वार्थ एवं संघर्ष ने आटोमन साम्राज्य के विघटन में विलम्ब करने में सक्रिय योगदान दिया। यूरोपीय देशों के अन्योन्य विरोधाभास, राजनीतिक मतभेद तथा निजी स्वार्थों ने पश्चिमी एशिया में शक्ति सन्तुलन बनाए रखने में सहायता प्रदान की, जिसके परिणामस्वरूप आटोमन साम्राज्य का विघटन होने में दो शताब्दियों से अधिक समय लगा। **शाम्सकी** के अनुसार पूर्वी समस्या का सार राज-

नीतिक रोगग्रस्त तुर्की के विभाजन की असमर्थता थी, अर्थात महाशक्तियों की स्वार्थ-सिद्धि हेतु तुर्की का साम्राज्य दीर्घायु होता चला गया।

अत: यहया अरमाजानी के कथनानुसार सुल्तान स्वयं साम्राज्य के पतन का कारण थे क्योंकि सुल्तान अन्त:पुर से प्रभावित थे और अन्त:पुर स्वार्थी तथा महत्वाकांक्षी खोजों के प्रभाव में था, जिसके फलस्वरूप सामन्तगत सेना अधिकारीगण तथा प्रभावशाली राजनीतिज्ञ, सभी जनता का शोषण कर रहे थे और मूलत: इसी आन्तरिक स्थिति ने पश्चिमी राष्ट्रों को साम्राज्य में पदार्पण करने का अवसर प्रदान किया, जिसके परिणामस्वरूप अन्तत: साम्राज्य का विघटन सफलीभूत हुआ।

योरोपीय प्रवेश

सोलहवीं शताब्दी में जो साम्राज्य अपनी उन्नति के चरम शिखर पर विद्यमान था, वह उन्नीसवीं शताब्दी में क्रमश: यूरोपीय शक्तियों का राजनैतिक प्रभाव-क्षेत्र बन गया। यद्यपि पश्चिमी देशों का हस्तक्षेप आटोमन साम्राज्य में 18 वीं शताब्दी से आरम्भ हुआ परन्तु इसका विकसित रूप 19 वी शताब्दी में दृष्टिगोचर होने लगा। फिशर के अनुसार 1880 तक इस क्षेत्र में रूस, ब्रिटेन, आस्ट्रिया तथा फ्रांस का विशेष प्रभाव रहा परन्तु इसके पश्चात जर्मनी ने तुर्की साम्राज्य के साथ अपना गठ-बन्धन कर अपने प्रभाव का विस्तार किया। अत: तुर्की साम्राज्य में यूरोपीय शक्तियों की अभिरुचि के विविध कारण थे।

आस्ट्रिया

19 वीं शताब्दी में आस्ट्रिया अपने राजनैतिक तथा आर्थिक विकास का क्षेत्र इस साम्राज्य को बनाना चाहता था क्योंकि डैन्यूब नदी ऑस्ट्रिया के व्यापार के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। इसके अतिरिक्त ऑस्ट्रिया बाल्कन क्षेत्र में सर्विया, बोसनिया तथा पश्चिमी मेसीडोनिया को अपना प्रभाव क्षेत्र बनाने का इच्छुक था इसकामुख्य कारण ऑस्ट्रिया का इस क्षेत्र में अपना आर्थिक एवं राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करना था जो उसकी भौगोलिक स्थिति के लिए सुविधाजनक था। परन्तु विलियम येल का कथन है कि 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रीयता की भावना तथा रूस जैसे प्रतिद्वन्दी के कारण ऑस्ट्रिया इस क्षेत्र में अपना विस्तार नहीं कर सका अपितु बाल्कन क्षेत्र में जितना ही ऑस्ट्रिया ने हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया उतनी ही कठिनाइयां अपने लिए उत्पन्न करने का अवसर स्वयं प्राप्त

कर लिया । क्लेटन के विचारानुसार अन्ततः बालकन राष्ट्रीयता ने न केवल आटोमन साम्राज्य का ध्वंस किया अपितु आस्ट्रिया को भी अपनी लपेट में ले लिया ।

फ्रांस

सिडनी के कथनानुसार 19 वीं शताब्दी में यूरोप के महान राष्ट्रों में फ्रांस ही एक ऐसा राष्ट्र था जिसने आटोमन साम्राज्य के साथ व्यापारिक सन्धि सम्पन्न की । 1535 की यह ऐतिहासिक सन्धि आटोमन सुल्तान सुलेमान गौरवशाली तथा फ्रांस के शासक फ्रांसिस प्रथम के मध्य हुई थी । इस सन्धि के द्वारा आटोमन साम्राज्य की विदेशी नीति का शिलान्यास हुआ तथा प्रथम बार साम्राज्य में किसी अन्य देश को विशिष्ट अधिकार प्रदान किए गए । फ्रांस ने अपने व्यापारिक सम्बन्धों को राजनैतिक रूप प्रदान करने की चेष्टा आरम्भ कर दी परन्तु फ्रांस ने अपना राजनैतिक प्रभाव स्थापित करने हेतु भाषा, धर्म तथा संस्कृति का आश्रय लिया । फ्रांस का ध्येय था कि उसकी संस्कृति एवं भाषा के द्वारा इस साम्राज्य तथा फ्रांस का गठबन्धन स्थायी रूप से मैत्री का रूप ले लेगा। 19 वीं शताब्दी में फ्रैन्च भाषा तथा संस्कृति ने आटोमन साम्राज्य के शिक्षित वर्ग में अपना द्वितीय स्थान प्राप्त कर लिया अर्थात साम्राज्य के शिक्षित समुदाय में पूर्ण रूप से फ्राँसीसी भाषा तथा संस्कृति का सम्मिश्रण था। इस प्रकार फ्रांस को इस साम्राज्य में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। परन्तु रूस और ब्रिटेन की कूटनीतियों ने फ्रांस को राजनैतिक जटिलताओं में उलझा कर एक दूसरे के साथ गठबन्धन करने के लिए विवश कर दिया । इन राजनैतिक प्रपंचों के कारण आटोमन लोगों का फ्रांस के प्रति विश्वास समाप्त हो गया ।

रूस

1812 में नेपोलियन बोनापार्ट के अशुभ तारांकित मास्को-अभियान ने पश्चिमी एशिया में प्रभावपूर्ण फ्रांसीसी हस्तक्षेप का युग समाप्त कर दिया । फ्रांस के इस राजनैतिक निर्गम ने रूस को अपनी पारम्परिक दक्षिण-विस्तार नीति के लिए सुविधा प्रदान कर दी । लैन्जो विस्की के अनुसार रूस स्वयं को आटोमन साम्राज्य के बालकन क्षेत्र में निवास करने वाले स्लाव जाति के लोगों का परिपालक एवं संरक्षक समझता था । रूस बालकन क्षेत्र को अपने प्रभावाधीन करके आटोमन साम्राज्य की राजनैतिक समस्याओं में समय-समय पर हस्तक्षेप करने का इच्छुक था। रूस के इस राजनैतिक प्रयास

ने पूर्वी समस्याओं में एक नवीन युग का सूत्रपात किया। इस नवोदित स्थिति में ब्रिटेन की रुचि ने आटोमन साम्राज्य में कूटनीतिक उत्पात करने के लिए सहायता प्रदान की जिसके परिणामस्वरूप ब्रिटेन इस क्षेत्र में रूस का मुख्य प्रतिद्वन्द्वी सिद्धि हुआ।

इसके अतिरिक्त रूस कृष्ण सागर पर अपने प्रभुत्व को सशक्त करने हेतु "स्ट्रेट्स" (जल-डमरू-मध्य) पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का इच्छुक था। रूस की इस नीति का मुख्य ध्येय जल-डमरू-मध्य मार्ग का मुक्त प्रयोग करना था क्योंकि केवल इसी के द्वारा रूस अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों एवं कूटनीति में अपना सक्रिय भाग प्रदान कर सकता था। इसके अतिरिक्त रूस अपने उपर्युक्त प्रभाव-क्षेत्र के द्वारा अन्य देशों के युद्धपोतों को कृष्ण सागर के भीतर जाने में अवरोध कर सकता था। जी० डी० क्लेटन के विचारानुसार रूस की आटोमन साम्राज्य के प्रति नीति-पूर्ति में यूरोपीय देशों ने बाधा उत्पन्न कर विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को जन्म दे दिया जिसका प्रतिफल रूस की असफलताओं के रूप में प्रकट हुआ। इसमें संशय नहीं कि रूस ने आटोमन साम्राज्य से बाल्कन देशों के विमोचन में ऐसा सक्रिय योगदान ददान किया जिसके द्वारा वे आटोमन साम्राज्य की पराधीनता से मुक्त हो सकें।

ब्रिटेन

ग्रेट ब्रिटेन की पश्चिमी एशिया में अभिरुचि महारानी एलिजाबेथ प्रथम के समय से आरम्भ हो गयी थी। फिशर का कथन है अपने प्राथमिक प्रयासों में ब्रिटेन एक व्यापारिक देश होने के कारण अपने व्यापार का विस्तार करने के लिए पश्चिमी एशिया का उपयोग करना चाहता था परन्तु नेपोलियन के युद्धों ने ब्रिटेन की राजनीति को नवीन परिवर्तन-बिन्दु प्रदान किया। ब्रिटेन की इस नवनीति के तीन मुख्य अभिप्राय थे :

(अ) ब्रिटेन अपने भारत-स्थिति साम्राज्य की सुरक्षा हेतु पश्चिमी एशिया का राजनैतिक उपयोग करना चाहता था। इस कारण 1809 में ब्रिटेन तुर्की से स्ट्रेट्स मार्ग का प्रयोग करने की अनुमति प्राप्त करने में सफल हो गया जिसके द्वारा वह रूस की गति-विधियों में अवरोध उत्पन्न कर सकता था।

(ब) ब्रिटेन व्यापारिक देश होने के कारण आटोमन साम्राज्य से व्यापारिक गठबन्धन का इच्छुक था।

(स) ब्रिटेन आटोमन साम्राज्य को अन्य यूरोपीय शक्तियों का प्रभाव-

क्षेत्र नहीं बनने देना चाहता था। इस प्रयास में इंग्लैन्ड ने समय-समय पर रूस और फ्रांस के साथ मिल कर मित्रता की सन्धियां सम्पन्न की जिसके परिणामस्वरूप पश्चिमी एशिया में शक्ति-सन्तुलन पूर्णतया कार्यान्वित होता रहा।

इस प्रकार 1878 तक ब्रिटेन एक सफल व्यापारिक तथा कूटिनीतिज्ञ देश की भांति अपना प्रभाव आटोमन साम्राज्य पर सफलतापूर्वक स्थापित करने में सफल रहा। पाश्चात्य देशों की इस राजनैतिक प्रतिस्पर्धा ने आटोमन साम्राज्य को अपनी राजनीति का संघर्ष-स्थल बनाए रखा। अतः सुल्तानों को अपने साम्राज्य की आन्तरिक दशा की ओर ध्यान देने का अवसर ही प्राप्त नहीं होने दिया जिसके परिणामस्वरूप साम्राज्य की देशी तथा विदेशी नीतियों पर पश्चिमी देशों का निरन्तर प्रभाव पड़ता रहा और साम्राज्य की दशा दिन-प्रति-दिन शोचनीय होती गई। पाश्चात्य देशों में पारस्परिक विरोधाभास का कारण आटोमन साम्राज्य अवश्य था परन्तु कोई भी एक देश अपने स्वार्थ के लिए इस साम्राज्य की अखंडता को भंग नहीं करना चाहता था। प्रत्येक राष्ट्र को इसका पूर्ण आभास था कि आटोमन साम्राज्य के विभाजन में किसी भी राष्ट्र को लाभ नहीं हो सकता परन्तु फिर भी साम्राज्य पर अपना प्रभाव स्थापित करने हेतु वे एक दूसरे से संघर्ष करते रहे। इसका विशेष कारण यह था कि राष्ट्रों की एकमात्र चेष्टा साम्राज्य के समुद्री मार्गों पर प्रभुत्व बनाये रखना थी। वे इस बात से अनभिज्ञ नही थे कि समुद्री मार्ग हृदय-स्थल है और जो इन स्थलों पर अधिपत्य स्थापित कर लेगा, वही विश्व की राजनीतिक स्थिति को प्रभावित कर सकता है। फलतः यूरोपीय राजनीति में सर्वोपरि जटिल समस्या इस क्षेत्र में शक्ति-सन्तुलन को बनाये रखने की थी।

यहया अरमाजानी अपनी पुस्तक **'मिडिल ईस्ट पास्ट एन्ड प्रेजेन्ट'** में कहते हैं कि इसी मध्य पश्चिमी देशों की नीतियों के कारण आटोमन साम्राज्य के नेता दो बातों को स्पष्टतया समझ गए थे--एक तो साम्राज्य में सुधारों की नितान्त आवश्यकता थी तथा दूसरी, यूरोपीय शक्तियों को एक दूसरे के प्रति विरोध में सदैव तत्पर रखना था। इसी आटोमन कूटिनीति के द्वारा साम्राज्य के विघटन में कई शताब्दियों का समय लग गया।

सुधार युग

आठारहवीं शताब्दी के अन्य तुर्की साम्राज्य की आतिरिक स्थिति अत्यधिक शोचनीय थी। इसका मुख्य कारण साम्राज्य के विघटन का भय, सैनिक अशान्ति तथा साम्राज्य के यूरोपीय क्षेत्रों का छिन जाना था। इस

प्रकार की स्थिति में आटोमन साम्राज्य के कर्णधारों ने साम्राज्य के उत्थान एवं नव-संचार की रूप रेखा प्रस्तुत करने हेतु सम्भव प्रयत्न करने प्रारम्भ कर दिए। उनके प्रयत्नों ने 19 वीं शताब्दी के आरम्भ में तुर्की साम्राज्य के सुल्तान को सुधारात्मक कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया। विलियम येल के अनुसार यह सुधार कार्यक्रम 1876 तक कार्यान्वित होता रहा और इसके द्वारा पतन की ओर अग्रसरित साम्राज्य को कुछ समय के लिए इसने सबल बनाने का अभूतपूर्व प्रयत्न किया।

इस प्रकार 'तुर्की जागरण' अथवा 'सुधार युग' को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, जो निम्न है—महमूद द्वितीय (1808-1839) तथा तंज़ीमात युग (1839-1876)।

महमूद द्वितीय (1808-1839)

महमूद द्वितीय जुलाई 28, 1808 को तुर्की का शासक बना। उसके राज्यारोहण के समय तुर्की की शासन-व्यवस्था दयनीय स्थिति में थी। प्राइस के विचार में विभिन्न प्रान्तों के राज्यपाल (सूबेदार) स्वतन्त्र शासक बनने का स्वप्न देख रहे थे। सीमावर्ती प्रान्तों में शासन की शिथिलता के कारण स्थिति और अधिक गम्भीर थी। इन सभी परिस्थितियों में महमूद द्वितीय के समक्ष सर्वप्रथम कठिन कार्य "जांनिसारी सेना" का उन्मूलन करना था। जांनिसारी सेना एक समय में आटोमन साम्राज्य की शक्ति का आभूषण समझी जाती थी, वही सेना धीरे-धीरे सुल्तानों की आयोग्यता के कारण निरंकुश एवं उच्छृंखल होती चली गयी। अन्ततः इस सेना ने प्रशासकीय क्षेत्रों में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया जिसके परिणामस्वरूप शिथिलता एवं भ्रष्टाचार प्रशासन के प्रमुख अंग बन गये। इसके अतिरिक्त शासन-अधिकारी एवं सुल्तान भी इस सेना से भयभीत तथा आतंकित रहते थे। इस स्थिति में सुल्तान महमूद द्वितीय ने अपने साम्राज्य को सुव्यवस्थित एवं सुसंगिठत करने के लिए जांनसारी सेना के उन्मूलन को अत्यधिक आवश्यक समझा।

जाँनिसारी सेना का उन्मूलन

मई 28, 1826 को एक राज्य-विज्ञप्ति (खते-शरीफ़) द्वारा सुल्तान महमूद द्वितीय ने एक सेना के निर्माण की घोषणा की। फिलिप, के०, हिट्टी के अनुसार इस घोषणा-पत्र के अन्तर्गत जांनिसारी सेना को बनाये रखने का प्रयोजन निहित था परन्तु साथ ही जांनिसारी सेना की टुकड़ियों में से

प्रत्येक टुकड़ी को नवीन सेना के लिए 150 सैनिक देना नितान्त आवश्यक था। सुल्तान के आदेशानुसार इस सेना में कोई भी ईसाई अथवा विदेशी प्रशिक्षण अधिकारी न नियुक्त करने का प्रस्ताव था और इस सेना में केवल मुसलमान अधिकारी ही नियुक्त हो सकते थे। नव सेना के प्रति कारपत ने लिखा है कि सुल्तान ने इस नवीन सेना के निर्माण की स्वीकृति उलेमा लोगों से प्राप्त कर ली थी और साथ ही सुल्तान को इन लोगों का पूर्ण समर्थन भी प्राप्त था। जैसा कि सुल्तान का अनुमान था, जून 15, 1826 को जांनिसारी सेना ने विद्रोह प्रारम्भ कर दिया। सुल्तान महमूद द्वितीय ने अपने सेनापति "कारा हुसेन" के द्वारा इस विद्रोह का अत्यन्त क्रूरतापूर्वक दमन किया और एक अन्य राजकीय विज्ञप्ति के द्वारा 1826 में जाँनिसारी सेना को समाप्त कर दिया गया तथा इसके स्थान पर अपनी एक नवीन सेना, जिसका नाम "मुहम्मदी सेना" था, का स्थापन किया। इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि महमूद द्वितीय ने जांनिसारी सेना का उन्मूलन कर रूप के "पीटर महान्" का अनुसरण किया क्योंकि पीटर महान ने भी एक शताब्दी पूर्व अर्थात 1698 में, 'स्ट्रेटेजी' सेना का बड़ी ही निर्दयता के साथ उन्मूलन किया था। मैन्गी के मत से इस प्रकार जांनिसारी सेना के उन्मूलन के पश्चात सुल्तान महमूद ने शासन को सुसंगठित एवं सुदृढ़ करने हेतु सुधारों के कार्यक्रमों की रूपरेखा 1833 में प्रस्तुत की।

शासन सम्वन्धी सुधार

सुल्तान महमूद द्वितीय ने स्वयं को साम्राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी घोषित किया। उसने सम्पूर्ण साम्राज्य का नियमित रूप से पर्यटन किया तथा स्थानीय अधिकारियों का नियंत्रण करने के लिए उसने विभिन्न आदेश लागू किए जिसके फलस्वरूप प्रान्तों के राज्यपाल और अन्य उच्च अधिकारी महमूद से भयभीत रहने लगे। उसने अपने विरोधियों का दमन बड़ी ही निष्ठुरतापूर्वक किया, यहां तक कि महमूद द्वितीय की आज्ञा के बिना किसी व्यक्ति को मृत्यु-दंड देने की मनाही कर दी गयी। इस घोषणा का जनता ने हार्दिक स्वागत किया क्योंकि इससे पूर्व मृत्यु-दंड अधिकारियों की इच्छा पर निर्भर था। महमूद ने अधिकारियों के वेतन में वृद्धि करके उनकी दशा को सुधारा और इस प्रकार शासन में व्याप्त भ्रष्टाचार को समाप्त कर दिया। योग्य एवं निष्कपट अधिकारियों की पदोन्नति भी की गयी और साथ ही साथ शासन-पद्धति का पाश्चात्यकरण भी किया गया।

सेना में सुधार

यद्यपि सुल्तान सलीम तृतीय के पतन का कारण सेना का पश्चिमीकरण करना ही था परन्तु महमूद द्वितीय इस कार्य में वृद्धि करता रहा। उसने जांनिसारी सेना को विभिन्न प्रकार से प्रलोभन देकर अपने पक्ष में मिलाया तथा साथ ही जांनिसारी सेना के "आगा" के स्थान पर एक 'सिरासकर' नामक नवीन पद स्थापित किया। वास्तव में यह नवीन पद प्राचीन था लेकिन सुल्तान महमूद द्वितीय ने इस पद को युद्ध मन्त्री तथा प्रधान सेना-नायक के कार्यों के साथ संलग्न कर दिया तत्पश्चात कारपेन के अनुसार सेना का संगठन यूरोपीय पद्धति के आधार पर किया गया। शेख-उल-इस्लाम ने यह फतवा दिया कि मुसलमानों को अनिवार्य रूप से सैन्य शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इस प्रकार सुल्तान महमूद द्वितीय ने पाश्चात्य देशों के युद्ध-विशेषज्ञों द्वारा अपनी नवीन सेना का संगठन एवं प्रशिक्षण कार्यान्वित करवाया। टेम्परले का भी मत है कि महमूद ने सर्व प्रथम फ्रांस से, जो सैन्य-प्रशिक्षण एवं मार्ग-दर्शन का प्रणेता था, तुर्की की सेना को आधुनिक युद्ध पद्धति पर प्रशिक्षित करने के लिए समझौता किया और तत्पश्चात ब्रिटेन को भी तुर्की सेना को सुसज्जित करने के लिए प्रेरित किया।

सुल्तान महमूद द्वितीय ने पर्शिया तथा आस्ट्रिया से भी निवेदन किया कि वे अपने यहां के सैनिक अधिकारियों को तुर्की में सैनिक प्रशिक्षण देने के लिए भेजें तथा साथ ही अपने यहां के सैन्य-संस्थानों में भी तुर्की शासन द्वारा प्रवर्तित विद्यार्थियों को प्रवेशाज्ञा प्रदान करें।

इस नव निर्मित सेना की शक्ति जून 20, 1826 को उस समय विदित हुई जब जांनिसारियों ने असन्तोष के कारण विद्रोह कर दिया। महमूद द्वारा जनसंहार का आदेश प्राप्त हो जाने पर नवीन सुल्तानी सेना ने जांनिसारियों को कुछ ही समय में पद्दलित कर दिया। सुल्तान महमूद द्वितीय के आदेश पर जांनिसारियों की सेना को समाप्त करके उसके स्थान पर "मुहम्मदी सेना" की स्थापना की गयी जिसके फलस्वरूप महमूद वास्तविक रूप से सर्वोच्च शासक हो गया और उस पर किसी भी प्रकार का अंकुश नहीं रहा। महमूद द्वितीय ने जांनिसारी सेना के उन्मूलन के उपरान्त अपनी नव-निर्मित सेना का पूर्णरूपेण पश्चिमीकरण करना आरम्भ कर दिया तथा सेना के प्रशिक्षण हेतु उच्च प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना देश में करवाई। सेना के आधुनिकीकरण हेतु उपर्युक्त देशों के अतिरिक्त जर्मनी से भी सैन्य विशेषज्ञों को तुर्की साम्राज्य में आमन्त्रित किया गया।

सामन्ती व्यवस्था का अन्त

महमूद द्वितीय ने 1831 में तिमार (जागीर) व्यवस्था को समाप्त करके 'इल्तिज़ाम' (लगान एकत्रित करने की ठीका प्रणाली) पद्धति की स्थापना की जिसके फलस्वरूप साम्राज्य के राजस्व का नियन्त्रण केन्द्रीय अधिकारियों के हाथों में आ गया तथा साथ ही साथ सामन्ती व्यवस्था समाप्त हो गयी।

सामन्ती व्यवस्था समाप्त हो जाने पर भूमि- सर्वेक्षण और जनगणना का प्रबन्ध भी सुल्तान के आदेशानुसार प्रारम्भ हो गया ।

शिक्षा एवं भाषा सम्बन्धी सुधार

महमूद ने यह अनुभव किया कि तुर्की में सैनिक सुधारों के साथ ही सामाजिक सुधारों की भी नितान्त आवश्यकता है । तुर्की साम्राज्य की अधिकांश प्रजा अशिक्षित, अंधविश्वासी, रूढ़िवादी तथा धर्मान्ध थी । अत: महमूद द्वितीय ने शिक्षा के प्रसार और प्रचार पर बल दिया । उसका सर्वोपरि महत्वपूर्ण योगदान शिक्षा के क्षेत्र में फ्रांसीसी भाषा को प्रोत्साहन देना था । इस विदेशी भाषा ने अप्रत्यक्ष रूप से साम्राज्य को नवजीवन प्रदान करने हेतु महान् कार्य किया। इसके अतिरिक्त फ्रांसीसी भाषा के द्वारा राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक एवं दार्शनिक विचारों के आधुनिक सूत्रों का जनता में प्रथम बार प्रसार हुआ । हिट्टी के मतानुसार इस प्रकार भाषा-अवरोध के टूट जाने पर सांस्कृतिक पर-संसेचन को सीमाबद्ध नहीं रहना पड़ा, जिसके फलस्वरूप जन-साधारण को आत्मबोध का परिचय मिलने लगा ।

लुइस बरनार्ड ने अपनी पुस्तक 'द इमरजन्स ऑफ मार्डन टर्की' में लिखा है कि 1827 में चार विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा के लिए पेरिस भेजा गया और इसी वर्ष इस्ताम्बूल में एक चिकित्सा विद्यालय की स्थापना भी की गई। इस के अतिरिक्त 1831-34 में 'मूजीका-ए-हुमायूँ-मकतबी' (साम्राज्य सैनिक संगीत विद्यालय) और 'मकतब-ए-उलम-ए-हर्बिया' (सैन्य विज्ञान शिक्षा केन्द्र) की स्थापना की गयी । अतुल्लाह मुहम्मद (चिकित्साशाही), जो अपने उपनाम 'सनीज़ाद' के नाम से विख्यात था, तथा 'होका इशाक-एफंदी' (गणित और प्राकृतिक विद्या विशेषज्ञ) आदि प्रसिद्ध लेखक भी इसी काल में हुए । उनके लेखन कार्यो से प्रेरणा प्राप्त कर 1833 में सरकार ने एक अनुवाद विभाग स्थापित किया । इसके अन्तर्गत यूरोपीय भाषाओं के ग्रन्थों का तुर्की में अनुवाद किया गया । इन महान विद्वानों, लेखकों एवं विशेषज्ञों ने तुर्की में एक नवचेतना, नव शिक्षा तथा नवयुग का शिलान्यास किया । 1838 में विभिन्न प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा विद्यालयों की

स्थापना की गयी। इस्ताम्बूल तथा मिस्र में नए छापेखाने खोले गए तथा तुर्की एवं अरबी पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। उनमें सनीजाद की चिकित्सा के क्षेत्रों में लिखित पुस्तक 'औषध शास्त्र' नामक पुस्तक अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। उन पुस्तकों को तुर्की में आधुनिक चिकित्सा युग का प्रवर्तक कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इशाक एफ़ंदी ने विज्ञान तथा तकनीकी शिक्षा प्रणाली में प्रगति का मार्ग दर्शाया। इससे पूर्व 1832 में इस्ताम्बूल में एक तुर्की और इजमीर में एक फ्रांसीसी भाषा का समाचार पत्र भी प्रकाशित होने लगा। 1840 से विलियम चर्चिल का प्रथम गैर-सरकारी पत्र भी प्रकाशित होने लगा। इन प्रकाशनों के फलस्वरूप तुर्की की जनता पश्चिमी देशों की प्रगति से अवगत होने लगी जिसके परिणामस्वरूप जनता में भी सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन आना स्वाभाविक हो गया।

वेश-भूषा में सुधार

1826 में सुल्तान की नव-निर्मित सेना के लिए लुइस वारनार्ड के अनुसार नियम-संहिता द्वारा सेना की वेश-भूषा यूरोपीय सैनिक पद्धति पर आधारित कर दी गयी। टेम्परले का कहना है की सुल्तान मुहम्मदद्वितीय ने 1829 में तुर्की जनता के लिए 'फैज़' (तुर्की टोपी), फ्राककोट, पाजामा तथा काले जूते की वेश-भूषा निर्धारित कर दी। पगड़ी और लबादा धारण करने का अधिकार केवल उलेमाओं तक ही सीमित कर दिया गया। इस प्रकार महमूद द्वारा निर्धारित वेश-भूषा एक शताब्दी पश्चात आटोमन तथा इस्लामी परम्परा की प्रमाणिकता का प्रतीक बन गयी। इ० जी० के० ने अपनी पुस्तक 'स्केचेज ऑफ टर्की इन 1831-32' में लिखा है यद्यपि कुछ उलेमाओं ने इस परिवर्तन का विरोध किया परन्तु सुल्तान की कठोरता के समक्ष उनका विरोध निरर्थक सिद्ध हुआ।

वक्फ

वक्फ़ एक पुरातन इस्लामिक संस्था थी। जिसमें संचित पूंजी के ब्याज द्वारा धार्मिक, शैक्षिक तथा लोकोपकारी संस्थानों का पालन-पोषण किया जाता था। धीरे-धीरे वक्फ संस्था संरक्षकों की स्वयं की बन गई और इसके साथ वक्फ के धन का दुरुपयोग होना आरम्भ हो गया। इस्ताम्बूल तथा अन्य मुख्य स्थानों पर मुल्क (पूर्ण स्वामित्व सम्पत्ति) समय के साथ ही साथ 'वक्फ' में परिणत हो गया। इस प्रकार वक्फ़ की व्यवस्था एवं संचालन कार्य भार पूर्ण रूप से प्रशासकों एवं संग्रहकर्ताओं के अधीन था। ये अधिकारी उलेमा वर्ग के चुने लोगों द्वारा चुने जाते थे, परन्तु सुल्तान महमूद ने

वक्फ संस्था को अपने संरक्षण में ले लिया। लुइस बरनार्ड ने इस की समीक्षा करते हुए कहा है कि सुल्तान वक्फ़ संस्था पर नियन्त्रण स्थापित करने में सफल न हो सका, परन्तु उसने उलेमा लोगों की शक्ति को क्षीण अवश्य कर दिया। चार्ल्स ह्वाइट के अनुसार सुल्तान महमूद के पूर्वाधिकारियों ने भी वक्फ़ पर अपना अधिकार प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया था लेकिन जाँनिसारियों के तत्वाधान में कोई भी हस्तक्षेप करने का साहस न कर सका। इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि सुल्तान महमूद द्वितीय ने न केवल रूस के पीटर महान अपितु इंग्लैण्ड के हेनरी अष्टम की भांति प्रथम बार तुर्की साम्राज्य के धार्मिक कार्यों में हस्तक्षेप किया। यद्यपि हेनरी अष्टम की भांति महमूद अपने कार्य में नितान्त सफल नहीं हो सका परन्तु उसने धार्मिक व्यतिकरण का मार्ग प्रशस्त किया।

आर्थिक सुधार

साम्राज्य के बढ़ते हुए व्यय तथा घटते हुए कोष की चिन्ता के कारण सुल्तान महमूद ने वित्तीय सुधार करके शासन के अपव्यय को समाप्त करने की चेष्टा की। सुल्तान महमूद ने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु अवांछित अधिकारियों की सेवाओं को भी समाप्त कर दिया। सुल्तान महमूद के इस प्रकार के कार्यों से शासकीय व्ययों में कमी आ गयी। सुल्तान महमूद ने मुद्रा प्रणाली, नाप तौल की व्यवस्था तथा सरकारी अवकाश इत्यादि के कार्यों मे भी अनेक सुधार किए।

संचारण

सुल्तान महमूद द्वितीय ने शासन के केन्द्रीकरण के लिए संचारण में सुधार को आवश्यक समझा और इसी उद्देश्य हेतु उसने प्रथम बार साम्राज्य में डाक मार्ग का स्वयं उद्घाटन किया। चार्ल्स ह्वाइट का कथन है कि महमूद ने 1831 में एक समाचार पत्र भी प्रकाशित करवाया और यह तुर्की भाषा का प्रथम समाचार पत्र था। इस समाचार पत्र का मुख्य आशय राजकीय नियुक्तियों, न्यायिक परीक्षणों तथा सुल्तान के राज्य कार्यों की प्रशंसा करना था। तुर्की साम्राज्य में 1840 तक केवल यही एक समाचार पत्र था। इसके अतिरिक्त तुर्की में अन्य संचारण प्रयास भी किए गए जिनके द्वारा साम्राज्य का केन्द्रीकरण करने में सहायता मिली।

मूल्याङ्कन

आटोमन साम्राज्य के इतिहास में सुल्तान महमूद द्वितीय के सुधारों का एक विशिष्ट स्थान है। बरकस नियाजी ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा

है कि तेरह वर्ष के अल्प शासन काल में, अर्थात जांनिसारी सेना के 1826 में उन्मूलन से लेकर 1839 में मृत्यु पर्यन्त सुल्तान महमूद ने अनेक सुधार किए जो रूस के पीटर महान से भी अधिक महत्वपूर्ण थे। **अहमद अमीन** ने लिखा है कि पीटर महान भी एक निरंकुश शासक था तथा महमूद द्वितीय को भी आटोमन इस्लामिक व्यवस्था पर एकाधिकार स्थापित करने के लिए निरंकुश होना पड़ा। महमूद द्वितीय ने पीटर महान के ही समान सुधारों को देश में कार्यान्वित करने के लिए कई पाश्चात्य यूरोपीय देशों को सहायतार्थ आमन्त्रित किया। गिब ने अपनी पुस्तक **'इस्लामिक सोसाइटी एन्ट द वेस्ट'** में लिखा है कि महमूद के सुधारों और जांनिसारियों के दमन के साथ ही तुर्की के मध्य युग का अन्त हो गया और एक नव स्वर्ण युग का सूत्रपात हुआ।

यदि हम महमूद द्वितीय के सुधारों को उनकी पृष्ठभूमि में देखें तो उनका महत्व भली प्रकार से समझ में आ सकता है। महमूद की सभी योजनाएँ अत्यन्त विषम स्थितियों में कार्यान्वित की गयी थी। एक ओर रूढ़िवादी जनता अपनी परम्पराओं से संलग्न रहना चाहती थी और दूसरी ओर धार्मिक नेता भी सुधारों का विरोध कर रहे थे। इसके उपरान्त भी महमूद ने धैर्यपूर्वक कार्य किया और दृढ़ता से अपनी योजनाओं को प्रस्थापित किया। **हिट्टी** के अनुसार महमूद द्वितीय का शासन और भी अधिक उल्लेखनीय होता यदि इसमें बाल्कन समस्याओं एवं यूनान के स्वतन्त्रता संग्राम का उद्‌भव न हुआ होता।

इस प्रकार महमूद द्वितीय तुर्की के सुधारवादी आन्दोलन का जनक कहा जा सकता है। उनके सुधारों के साथ ही तुर्की में एक नए युग का प्रारम्भ हुआ। यद्यपि सुल्तान महमूद द्वितीय ने आटोमन साम्राज्य में सुधार युग का सूत्रपात किया तथा साम्राज्य में नव चेतना का संचार उत्पन्न करने की चेष्टा की परन्तु वह अपने इस कार्य में अन्य राजनैतिक समस्याओं के कारण सफल न हो सका।

महमूद द्वितीय के सुधारों के व्यावहारिक रूप में असफल होने के इतिहासकार **अहमद लुत्फी** ने दो कारण बताये हैं।

(1) कुछ राज्यपालों (सूबेदारों) ने महमूद के सुधारों का गुप्त रूप से विरोध किया क्योंकि इन सुधारों के कारण उनके प्रशासकीय अधिकारों का ह्रास हो रहा था।

(2) तुर्की साम्राज्य में विभिन्न जातियों एवं धर्मों के लोग निवास करते थे और 1789 की फ्रांस की क्रान्ति का व्यापक प्रभाव मध्य पूर्व एशिया

के देशों पर भी दृष्टिगोचर होने लगा। भिन्न-भिन्न राष्ट्रीयता के लोग अपने गौरव, गरिमा, मान, प्रतिष्ठा के प्रति सजग हो गए और अपने-अपने राष्ट्र-हितों के विषय में सोचने लगे। अन्ततः इस स्वतन्त्रता की भावना से जागृत जनता में महमूद द्वितीय को असफलता मिलना स्वभाविक था। इस परिप्रेक्ष्य में यूनान के स्वतन्त्रता संग्राम का उल्लेख करना आवश्यक है।

यूनान का स्वाधीनता संघर्ष

यूनान के स्वाधीनता संघर्ष को विविध इतिहासकारों ने संग्राम व विद्रोह की भी संज्ञा दी है। शाब्दिक नामांकन चाहे कुछ भी रहा हो किन्तु उनका ध्येय एक ही था, वह था यूनान की स्वतन्त्रता। यूनान का आटोमन साम्राज्य के अन्तर्गत अपना एक विशिष्ट स्थान था। साम्राज्य के अन्य जाति एवं धर्मों के लोगों से अतिरिक्त सुविधा यूनान के लोगों को प्राप्त थी। वे अपने सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों में सर्वथा मुक्त थे अर्थात साम्राज्य का उनके कार्यों में किसी भी प्रकार का कोई हस्तक्षेप नहीं था। इसके अतिरिक्त प्रशासनिक कार्यों में भी यूनान के लोगों को यथायोग्य स्थान प्राप्त था, जिसके द्वारा वे विभिन्न सरकारी पदों पर आसीन थे। राजनैतिक क्षेत्र के अतिरिक्त व्यापारिक क्षेत्र में भी यूनान के निवासियों का अत्यधिक महत्व था क्योंकि यूरोप के साथ अधिकतर व्यापार इन्ही लोगों के हाथ में था। यूनान का मध्यम वर्ग शिक्षित एवं प्रभावशाली था। इस प्रकार आटोमन साम्राज्य का अंग होकर भी यूनान अपनी लगभग समस्त निजी आवश्यकताओं के प्रति सजग, आत्मनिर्भर तथा प्रायः स्वशासित था। यूनान की ऐसी राजनैतिक स्थिति होने के उपरान्त भी वहां के निवासियों में राष्ट्र-चेतना का विकास हुआ जो किसी गौरवशाली एवं आत्मसम्मानित देश के लिए अनिवार्य था। बलेटन के अनुसार यूनान की राष्ट्रीय भावना को विकसित करने में विभिन्न कारणों ने सक्रिय योगदान दिया जिसके पणिामस्वरूप वहां की जनता में राजनैतिक, बौद्धिक तथा सांस्कृतिक क्रान्ति का उद्‌भव हुआ।

विद्रोह के कारण : यूरोप का प्रभाव

यूनान के उत्थान में फ्रांस की क्रान्ति का महत्वपूर्ण योगदान था। 1789 की फ्रांस की क्रान्ति ने समस्त यूरोप एवं पश्चिमी एशिया में राष्ट्रीयता, नवनिर्माण एवं नवचेतना की भावना का संचार किया। यूनान की संस्कृति

एवं राष्ट्रीय संस्थाएँ उपर्युक्त परिवेश में परिवर्तन से अप्रभावित न रह सकीं। मिलर के कथनानुसार परिणामस्वरूप "फ़िल्के हिटारिया" नामक एक गुप्त संस्था ने यूनानियों को तुर्की साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए प्रेरित करना प्रारम्भ कर दिया।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक समस्त यूनान साहित्यिक विकास के कारण एक नवीन बौद्धिक चेतना से आप्लावित हो चुका था। 1820 तक वॉल्टेयर, गेटे, अल्फेरी, एवं मॉन्टेस्क्यू की शिक्षाओं के गहन अध्ययन, रूपान्तरण एवं पुरातन यूनानी ग्रन्थों के प्रकाशन सहित लगभग तीन हजार पुस्तकों का अनुवाद एवं प्रकाशन यूनानी भाषा में हो चुका था। विलियम येल के विचार में राजकीय प्रभुसत्ता के विरुद्ध स्वतन्त्र संवैधानिक सरकार के निर्माण के लिए आंदोलन करने की भावना यूनान को यूरोप से ही प्राप्त हुई और विशेष कर फ्रांस से जिसकी क्रांति यूनान को उत्तेजक पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई।

बौद्धिक चेतनता

यूरोप के प्रभाव के अतिरिक्त यूनान के विचारकों, दार्शनिकों तथा बौद्धिक वेत्ताओं ने समय के साथ-साथ यहां की जनता को नव चेतना, नव जागरण एवं नव आत्मबोध की भावना से प्रेरित किया। यूनान की इस जागृति के उन्नायकों में दो प्रमुख व्यक्ति थे—'कोरेस' तथा 'रेगास'। उनका एकमात्र उद्देश्य था यूनान के गौरवमय अतीत की पुन: स्थापना और समाज को आधुनिक यूरोपीय ज्ञान द्वारा आलोकित करना। उपर्युक्त दोनों बुद्धिजीवियों ने यूनान की राष्ट्रचेतना में अपने-अपने कार्यों द्वारा अपेक्षित योगदान दिया।

कोरेस (कोरियस)

यह यूनान के जागरण एवं राष्ट्रवाद के अग्रदूतों में प्रथम थे। आदमान्तियो कोरेस (1748-1833) ने फ्रांस में चिकित्सा शास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी। कोरेस पश्चिमी यूरोप के प्रबुद्ध दर्शन शास्त्रों का अध्ययन करने के पश्चात फ्रांसीसी राष्ट्रवादियों एवं क्रान्तिकारियों के कार्यों से प्रभावित, हुये उन्होंने यूनान को भी फ्रांस के राष्ट्रवाद का अनुसरण करने के लिए प्रोत्साहित किया। कोरेस ने यूनानी भाषा में सुधार कर उसे सुलभ तथा आधुनिक बनाने का प्रयास किया। अपनी पुस्तकों एवं काव्यों के द्वारा उसने यूनान की जनता को प्राच्य हेलेनिक संस्कृति का परिचय दिया। हेज के मत से इस प्रकार अपने कार्यों द्वारा कोरेस ने यूनान में एक सांस्कृतिक राष्ट्रीय आंदोलन का उद्भव सम्भव बनाया।

कोरेस ने अमान्य नागरिकता के सिद्धान्त को व्यापकता प्रदान की जिसके अनुसार सामान्य नागरिकता अन्याय का रूप है और प्रत्येक नागरिक को ऐसे शासन के विरुद्ध आवाज उठानी चाहिये। इसका मुख्य ध्येय पुरातन यूनान की वीरगाथाओं का यशोगान करना था जिसका प्रभाव जनता पर पूर्णरूपेण हुआ।

रेगास

कोरियस के सांस्कृतिक राष्ट्रीय कार्यों को एक अन्य मध्यमवर्गीय यूनानी विचारक रेगास ने राजनैतिक मोड़ प्रदान किया। कान्स्टेनटाइन रेगास (1760-1794) फ्रांसीसी क्रांतिकारी सिद्धान्तों का परिपालक था। उसने देशभक्ति से युक्त विविध कविताओं की रचना की और मार्सैल्स का यूनानी भाषा में अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त उसने देशवासियों को आटोमन साम्राज्य की परतन्त्रता से मुक्ति प्राप्त करने हेतु शस्त्र उठाने का आह्वान किया। उसने यूनान की स्वतन्त्रता के ध्येय की पूर्ति के लिए गुप्त संस्थाओं की भी स्थापना की एवं विभिन्न समाचार पत्र प्रकाशित किये जिनके द्वारा जनता में राष्ट्रीय भावना का प्रसारण मुक्त रूप से सम्भव हो सका। रेगास ने यूरोपीय देशों से यूनान की सम्भावित स्वतन्त्रता के निमित्त आवश्यक युद्ध सामग्री के लिए धन एकत्रित करने का कार्य आरम्भ किया। रेगास जब फ्रांस में अपने देश की स्वतन्त्रता हेतु धन संचय कार्य में लीन था तब आस्ट्रिया की सरकार ने उसे बन्दी बना लिया और तुर्की को सौंप दिया। तुर्की में वह एक शहीद की मृत्यु पाकर यूनान के राष्ट्रीय संग्राम में अमर हो गया।

यूनानी चर्च

उपर्युक्त विचारकों एवं देश भक्तों के प्रयासों एवं परिश्रम को सफल बनाने में यूनानी चर्च का आदि से अन्त तक महत्वपूर्ण योगदान था। यूनान के चर्च ने लोगों की समृद्धि के साथ ही धनाढय लोगों को शिक्षा विद्यालय स्थापित करने तथा विद्यार्थियों को विदेश भेजने के लिए सदैव प्रोत्साहित किया। वियाना में यूनानी संस्कृति केन्द्र की स्थापना द्वारा स्वदेशी पुस्तकों तथा समाचार पत्रों का प्रकाशन होता रहा। फिशर का कथन है कि इस प्रक्रिया के द्वारा यूनान के लोगों में निरन्तर भाषा का प्रचार बना रहा, जिससे वे सदैव राष्ट्र चेतना के विचारों से अवगत रहे।

आटोमन सरकार का अपकर्ष

यूनान के विचारकों एवं यूनानी चर्च के सक्रिय योगदान के साथ-साथ आटोमन साम्राज्य के राजनैतिक, सामाजिक, प्रशासनिक एवं आर्थिक

पतन ने यूनान की राष्ट्रीय चेतना को सहयोग प्रदान किया। आटोमन साम्राज्य की सैनिक दुर्वलता ने यूनान वासियों को अपना गुप्त सैनिक संगठन निर्मित करने का मार्ग प्रशस्त किया। इस यूनानी संगठनो को 'वलैफत समूह' कहा जाता था। ये अवैध समूह तुर्की साम्राज्य में घुसपैठ कर सीमाओं पर घातक प्रहार करते थे। इसके अतिरिक्त ये समूह यूनानी युवकों को विद्या प्रदान करने के केन्द्रों का कार्य भी करते थे।

आटोमन साम्राज्य की नम्र नीति

आटोमन साम्राज्य की यूनानियों के प्रति नम्र नीति ने भी यूनान वासियों के राष्ट्रीय जागरण में सहयोग दिया, अर्थात यूनानियों के ऊपर प्रतिबन्ध रहित प्रशासन, व्यक्तिगत एव धार्मिक स्वतन्त्रता, व्यापारिक सुविधाएँ एवं प्रशासकीय कार्यों में प्राथमिकता को ही शालीनता की नीति की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। ई० लिप्सन के अनुसार यदि आटोमन शासक अपनी निर्वलता को इतना स्पष्ट न करते तो सम्भवत: यूनान में इतना शीघ्र विद्रोहात्मक वातावरण न उत्पन्न हो पाता।

संघर्ष विस्तार

यूनान का प्रथम विद्रोह 1821 में उत्तरी यूनान में प्रारम्भ हुआ। इसका नेता एलैग्ज़ान्डर इप्सीलान्ती' था, जो आटोमन प्रदेश मोल्डाविया का यूनानी राज्यपाल था। उसको यह अवसर आटोमन सुल्तान और जानीना के राज्यपाल अली पाशा के मध्य युद्ध हो जाने के कारण प्राप्त हुआ। मोल्डाविया और वलाशिया में उसने विद्रोह आरम्भ कर दिया। विद्रोह की प्रबलता एवं सफलता के लिए उसने रूस से सहायता की याचना की। तुर्की के विरुद्ध किसी भी प्रकार की सहायता के लिए रूस सदैव तत्पर रहता था, परन्तु उस समय स्थिति भिन्न थी क्योंकि रूस का जार आस्ट्रिया के चांसलर मैटरनिख़ के प्रभाव में था। हेज़ के मत से मैटरनिख़ राजतन्त्र के विरुद्ध यूरोप में किसी भी राज्य-क्रांति का समर्थक नहीं था। इसी बीच मोरिया में एक विद्रोह हुआ जिसने शीघ्र स्वतन्त्रता संग्राम का स्वरूप धारण कर लिया। यह विद्रोह उत्तरी यूनान के विद्रोह से भिन्न था क्योंकि यह एक सुव्यवस्थित क्रांतिकारी संस्था 'हिटारिया फिलके" का कार्य था। यह यूनानी संस्था इटली की कारबोनरी संस्था की समकालीन थी तथा दोनों देशों की संस्थाओं का लक्ष्य एक ही था। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार करना तथा देश-प्रेम की भावना को लोगों के हृदय में जागृत किये रखना था। यह संस्था देश प्रेम से ओत-प्रोत थी और देशवासियों को इस

संस्था की विचारधारा पर पूर्णतया विश्वास था। यह एक ऐसा राष्ट्रवादी आन्दोलन था जिसमें सम्पूर्ण राष्ट्र एक साथ स्वतन्त्रता की मांग करने लगा। यूनान के लोगों ने विद्रोह के आरम्भ से ही मुसलमानों के प्रति तथा मुसलमानों ने ईसाइयों के प्रति नृशंसता का व्यवहार प्रदर्शित किया तथा इस पारस्परिक ईर्ष्या द्वेष एवं आक्रोश की भावना ने सम्पूर्ण क्षेत्र को विद्रोह-ग्रस्त कर दिया। स्पेटसाई नामक द्वीप को सर्वप्रथम यूनानी झण्डा फहराने का गौरव प्राप्त हुआ।

टाम्सन अपनी पुस्तक 'यूरोप सिन्स नैपोलियन' में कहते हैं कि यह संघर्ष आठ वर्ष से अधिक (1821-1829) तक चलता रहा और 1831 तक इसका कोई विशेष परिणाम दृष्टिगोचर नहीं हुआ। पश्चिमी देशों की सभ्य एवं राजनैतिक जागरूक जनता में इस देश के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती गयी क्योंकि जिस देश ने विश्व को बौद्धिक स्वतन्त्रता प्रदान की, वही स्वयं एक साहसिक संघर्ष में लगा हुआ था। यूनान के सहायता स्वरूप विभिन्न देशों में स्थान-स्थान पर फिलहेलनिक संस्थाओं की स्थापना हुई जिनमें फ्रांस, जर्मनी, स्विट्ज़रलैण्ड, ब्रिटेन तथा अमरीका आदि देशों की संस्थाओं का मुख्य स्थान था। इन देशों में स्थापित संस्थाओं का मुख्य ध्येय धन, शस्त्र तथा स्वयंसेवकों को प्रेषित करना था जिसके परिणामस्वरूप यूरोप के कई देशों से विभिन्न लोगों ने यूनान के स्वतन्त्रता-युद्ध में भाग लिया। सी० डी० हेजन के अनुसार इनमें सबसे प्रख्यात लार्ड बायरन का नाम है, जिसकी 1824 में मिसोलोंगी में मृत्यु हो गयी।

आरम्भ में आटोमन साम्राज्य को दो भागों में युद्ध करना पड़ा—एक ओर तो जेनिना के अली के साथ और दूसरी ओर यूनान के स्वतन्त्रता सेनानियों के साथ। इसके अतिरिक्त यूनान के लोगों को समुद्री सेना में श्रेष्ठता प्राप्त थी और वे आटोमन की नौ सेना से कहीं अधिक श्रेष्ठ थे। ड्यूक ऑफ़ वेलिंग्टन ने कहा था, "यूनान को सागर पर श्रेष्ठता प्राप्त है और जो इसमें श्रेष्ठ हैं, वे अवश्य सफल होंगे"। परन्तु 1824 में भाग्यचक्र में परिवर्तन हुआ और आटोमन लोगों को सफलता मिलने लगी। इसका कारण मिस्र के पाशा मुहम्मद अली की सहायता प्राप्त होना था। पाशा ने सहायता प्रदान करने के पूर्व सुल्तान से वचन लिया कि युद्ध में सहायता के फलस्वरूप सुल्तान मोरिया, सीरिया आदि के प्रदेश मुहम्मद अली को दे देगा। इसके अतिरिक्त शेष अन्य कोई मार्ग न होने के कारण मुहम्मद अली की प्रत्येक शर्त मान ली गई। मुहम्मद अली ने अपने सुपुत्र इब्राहीम पाशा के नेतृत्व में एक सेना भेजी। इब्राहीम पाशा ने तीन वर्षों तक अपनी शक्ति एवं क्रूरता का

परिचय यूनान को दिया। इसमें संशय नहीं कि पाशा के युद्ध में आ जाने से यूनानी लोगों को अत्यन्त क्षति पहुंची एवं यूनान की स्थिति गम्भीर रूप से शोचनीय हो गयी। लिप्सन के विचारानुसार अब केवल अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों का हस्तक्षेप ही यूनान को सफलता प्रदान करा सकता था।

वाह्य शक्तियों का हस्तक्षेप

यूनान के स्वतन्त्रता युद्ध के आरम्भ में आस्ट्रिया के चांसलर मैटरनिख ने निर्णय दिया कि यूनान का युद्ध सभ्यता के बाहर की बात है क्योंकि आस्ट्रिया के राजनैतिक विचारानुसार यूनान एक न्यायसंगत राज्याधिकार के विरुद्ध विद्रोही था। इसके अतिरिक्त मैटरनिख प्रभुसत्ता के सिद्धान्त की मान्यता का समर्थक था और उसके इस सिद्धान्त के अनुसार यूनान को किसी प्रकार की सहायता प्रदान करना असंगत था। रूस का ज़ार एलेग्ज़ैण्डर भी मैटरनिख़ के सिद्धान्तों का परिपालक था क्योंकि आष्ट्रिया के चान्सलर के कथनानुसार रूस के जार की राजनैतिक नींव उसके सिद्धान्तों पर आधारित थी। अरमाजानी अपनी पुस्तक "मिडिल ईस्ट पास्ट एन्ड प्रेजेन्ट" में लिखते हैं इस कारण रूस के जार ने यूनान के स्वतन्त्रता युद्ध में सहायता प्रदान करने में असमर्थता प्रकट की। ब्रिटेन अपनी अहस्तक्षेप की नीति पर आचरण करते रहना चाहता था। ब्रिटेन और आस्ट्रिया आटोमन साम्राज्य की अखण्डता को राजनैतिक मापदण्ड के अनुसार बनाये रखना चाहते थे क्योंकि वे इससे अनभिज्ञ नहीं थे कि यूनान का विद्रोह आटोमन साम्राज्य के विघटन का आरम्भ होगा। लिप्सन के मतानुसार वे इसको यूरोपीय राजनीति का अखाड़ा नहीं बनने देना चाहते थे, परन्तु परिस्थितियों ने एक बार फिर भाग्यचक्र में परिवर्तन ला दिया तथा इस परिस्थिति का प्रथम चरण जार्ज कैनिंग का ब्रिटेन में विदेश मन्त्री (1822) पद पर आसीन होना था। उसकी नीति के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र स्वयं अपना, तथा ईश्वर हम सबका परिपालक है। इसके साथ-साथ वह ब्रिटेन के लोगों की सहानुभूति यूनान के प्रति अच्छी तरह समझता था और उसने इसको व्यक्त भी किया। कैनिंग ने कहा था कि "मुझे यूरोप की राजनीति को समझने के लिये यदाकदा इंगलैण्ड की राजनैतिक परिस्थियों का अवलोकन करना पड़ता है।" कैनिंग का कथन था कि युद्ध किसी भी रूप में यूरोप के प्रति हितकर नहीं है और इस कारण वह अहस्तक्षेप नीति का पूर्णरूपेण पालक था तथापि वह किसी प्रकार इस समस्या का शांतिपूर्ण समाधान चाहता था परन्तु घटनाओं की तीव्रता ने कैनिंग को अपनी नीति में परिवर्वन करने पर बाध्य कर दिया। इसका मुख्य कारण था रूस में निकोलस प्रथम

का ज़ार बन जाना। निकोलस ने ज़ार एलेग्ज़ेंडर की नीति को त्याग कर रूस की परम्परावादी क्षेत्र-विस्तार एवं हस्तक्षेप-नीति का अनुसरण आरम्भ किया। उसकी नीति ने ब्रिटेन तथा फ्रांस को सतर्क कर दिया और दोनों ने मिल कर रूस के साथ 1827 में लन्दन सन्धि सम्पन्न की। इस सन्धि के अनुसार यूनान को आटोमन साम्राज्य के अन्तर्गत स्वायत्त क्षेत्र मान लिया गया परन्तु सुल्तान महमूद ने इस प्रकार के समझौते को मानने से इनकार कर दिया। हेज के विचार में यद्यपि मैटरनिख ने मध्यस्थता के द्वारा स्थिति का समाधान करने की पूर्ण चेष्टा की परन्तु स्थिति गम्भीर रूप धारण करती गयी। परिणामस्वरूप अक्टूबर 20,1827 को नेवारीनो के युद्ध में ब्रिटेन और फ्रांस ने मुहम्मद अली के युद्धपोतों को नष्ट कर दिया। परन्तु इसी बीच वेलिंगटन ब्रिटेन का प्रधान मन्त्री बना। उसने ब्रिटेन की नीति को परिवर्तित कर दिया। जे० डी० क्लेटन के अनुसार ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री ने सुल्तान से कहा कि जो अप्रासंगिक घटनाएँ हो चुकी हैं, उसके लिये ब्रिटेन विवश था परन्तु अब भविष्य में किसी भी देश का सहयोग यूनान को प्राप्त नहीं होगा। ब्रिटेन भी अपनी इस नीति पर अधिक दिवस स्थिर न रह सका क्योंकि इसी मध्य सुल्तान ने ईसाइयों के विरुद्ध धार्मिक युद्ध की घोषणा कर दी। परिणामस्वरूप 1829 में रूस ने सुल्तान पर आक्रमण कर युद्ध आरम्भ कर दिया। इस परिस्थिति में ब्रिटेन और फ्रांस ने विलम्ब करना उचित न समझा और अहस्तक्षेप की नीति का त्याग कर, रूस की सहायता करने पर तत्पर हो गये। फलत: एड्रायनोपल (1829) की सन्धि के द्वारा युद्ध समाप्त हुआ और यूनान को अधीनस्थ राज्य मानने के लिये रूस ने प्रस्ताव रखा। फिशर के विचार में यह प्रस्ताव ब्रिटेन ने अस्वीकार कर दिया और अन्तत: यूनान को 1832 में स्वतन्त्रता प्रदान की गयी। इस घोषणा के पश्चात भी यूनान को सुरक्षा हेतु ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस की संरक्षता में रखा गया।

यूनान के स्वतन्त्रता संग्राम ने आटोमन साम्राज्य के विघटन में महत्व-पूर्ण योगदान दिया तथा इस महान साम्राज्य के सैनिक ह्रास का परिचय पूर्ण विश्व को प्राप्त हुआ। यूनान ने यह सिद्ध कर दिया कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध जब कभी किसी छोटे देश ने उचित राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत विद्रोह किया, वह कभी निष्फल नहीं हुआ। इसका मूल कारण उस देश की राष्ट्रीय निष्ठा एवं स्वतन्त्रता की भावना में निहित होता है। जार्ज थामसन अपनी पुस्तक 'फ्राम मार्क्स टू माओत्से तुंग' में लिखते हैं कि अपनी राष्ट्रीय भावनाओं को सक्रिय प्रयोगात्मक स्वरूप प्रदान कर निर्बल देश भी स्वयं को परतंत्रता के बन्धन से मुक्त करने में समर्थ हैं, यह इतिहास का स्वयं-रचित न्याय है।

आटोमन साम्राज्य
1808--1839

1. Lenczowski, George : The Middle East in World Affairs, New York, 1953

2. Price, M. Philips : A History of Turkey Lodon, 1956.

3. Luke, G. L. : Turkey, London, 1955.

4. Armajani, Yahya : Middle East : Past and Present, New Jersy, 1970.

5. Fisher, Sydney N : The Middle East, New York, 1959.

6. Hitti, Philip K : The Near East in History, London, 1961.

7. Yale William : The Near East, 1958.

8. Gibb, H. A. R. & Bowen, H : Islamic Society & the West, Vol. I, London, 1957.

9. Luke, Sir H : The old Turkey & The New, London, 1954.

10. Allen, Henry E : The Turkish Transformation, Chicago, 1935.

11.	Lewis, Bernard	:	The Emergence of Modern Turkey, London, 1961.
12.	Mango, Andrew	:	Turkey, London, 1968.
13.	Clayton, G. D	:	Britain and the Eastern Question, London, 1971.
14.	Mallard, G	:	The Turks and Europe, London, 1921,
15.	Karpat, K. H	:	Turkish Politics, Princeton, 1959.
16.	Temperley, H W B	:	England & Near East, London, 1936.
17.	Asim, Ahmed	:	Asim Tarihi, 2 Vols n. d.
18.	Lutfi,Ahmed	:	Tarih-Lutfi, 8 Vols n. d. See Vol. III & IV.
19,	Miller, William	:	The Ottoman Empire, 1801-1913, Cambridge, 1913.
20,	Kay, J. E	:	Sketches of Turkey in 1831 & 1832, New York, 1833.
21,	Ahmad, Emin	:	The Development of modern Turkey as Measured By Its Press, New York, 1914.
22,	White, Charles	:	Three Years in Constatinople, 3 Vols, London, 1846.
23,	Berkes, Niyazi	:	Historical Background of Turkish Secularism in R. N, Frye ed. Islam & The West, Hague, 1957.

24. Toynbee, A. J : A Study of History, New York, 1957.

25 Lipson, E : Europe in the Nineteenth & Twentieth Centuries 1815-1939, London, 1963.

26. Hazen, C. D : Modern Europe, New York, 1968.

27. Thomson, George : From Marx to Mao tse Tung, London, 1975.

अध्याय 37
आटोमन साम्राज्य
तंज़ीमात युग1839-76

अब्दुल मजीद (1839-61)

1839 में महमूद द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् इसका पुत्र अब्दुल मजीद सुलतान बना। अब्दुल मजीद कोई विशेष शिक्षित व्यक्ति नहीं था, परन्तु फिर भी वह अपने कर्तव्यपालन के प्रति सजग था। साय ही वह एक प्रजा-वत्सल सुलतान था। यद्यपि सुल्तान की राजनैतिक शिक्षा अत्यन्त सामान्य थी परन्तु उसने अपने ब्रिटेन में स्थित राजदूत मुस्तफ़ा रशीद पाशा को अपना मन्त्री नियुक्त कर सुधारों को कार्यान्वित करने की इच्छा को चरितार्थ किया। इस प्रकार टेम्परले के अनुमार मुस्तफ़ा रसीद पाशा (1800-58) को 19 वीं शताब्दी के आटोमन सुधारों का कर्णधार कहा जा सकता है।

1839-76 का काल आटोमन साम्राज्य में तंज़ीमात (पुनर्निर्माण) का युग कहलाता है। तंज़ीमात अर्थात् 'पुर्ननिमाण' सुधारों का वह कार्यक्रम था जिसका शुभारम्भ नवम्बर 1839 में हुआ। प्राइस ने इन सुधारों की वस्तुत: आधारशिला का श्रेयक महमूद द्वितीय को बतलाया है। सुल्तान महमूद द्वितीय के द्वारा जो भी सुधार किये गये उनसे तंजीमात सुधार अधिक व्यापक तथा उपयोगी थे। इन सुधारों की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए एक राजकीय आदेश ख़त-ए-शरीफ़ गुलहाने (भव्य राज्य-घोषणा) नवम्बर 3, 1839 को इस्ताम्बूल में गुलहाने स्क्वायर में जारी किया गया। इस तंजीमात राजकीय आदेश के द्वारा प्रत्येक नागरिक को व्यक्तिगत सुरक्षा, सम्पत्ति की सुरक्षा तथा वित्तीय, सैन्य एवं न्यायिक समानता का अधिकार प्रदान किया गया। इसके पश्चात समय-समय पर अन्य आज्ञापत्र भी जारी किये गये। ह्वाइट के अनुसार इन राजकीय आदेशों ने उस साम्राज्य में स्वर्ण युग का सूत्र-पात किया। तंज़ीमात वास्तव में राजनैतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में मौलिक

सुधारों का विस्तार था। डेविसन ने लिखा है कि इस प्रकार तंजीमात राजकीय आदेश (तंज़ीमात एडिक्ट) तथा 'इश्हत फ़रमान' के द्वारा एक नवीन राजनैतिक प्रत्यय का आटोमन साम्राज्य में उद्गम हुआ जिसके द्वारा साम्राज्य में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को समान कर्तव्य तथा प्राधिकार प्रदान किये गये। आटोमन साम्राज्य को नवजीवन प्रदान करने हेतु साम्राज्य में राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक तथा सैन्य सुधार किये गये जिसके फलस्वरूप कुछ समय के लिए साम्राज्य की सबलता, सुदृढ़ता एवं अखण्डता बनी रही। तंज़ीमात के अन्तर्गत निम्न सुधार किये गये।

धर्म निरपेक्षता की नीति

पश्चिमी देशों की तुलना में किये गये विविध सुधारों के प्रयास के पश्चात भी तुर्की साम्राज्य की जनता में जाति, धर्म एवं भाषा का पूर्ण-रूपेण भेदभाव था। आटोमन साम्राज्य में निहित इस पँचमेल राष्ट्रीयता के कारण तुर्की तथा गैर-तुर्की जातियों में अत्यन्त मतभेद था। इस असमता के कारण साम्राज्य में निरन्तर पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का वातावरण बना रहता था। इस जातीयता की समस्या का समाधान करने हेतु प्रथम बार आटोमन साम्राज्य में आदेश जारी किया गया। इस प्रकार गुलहाने के राजकीय आदेशानुसार तुर्की साम्राज्य में प्रथम बार मुसलमानों और ग़ैर-मुसलमानों को समान सामाजिक तथा राजनीतिक स्तर पर लाने और उनके जीवन, सम्पत्ति तथा अधिकारों की सुरक्षा का प्राविधान किया गया। इस राजाज्ञा के द्वारा साम्राज्य की प्रजा को पूर्ण सुरक्षा प्रदान की गई। इन सुधारों के द्वारा नये मानवीय कानूनों एवं नव-विधान के निर्माण का आश्वासन दिया गया तथा साथ ही बिना मुकदमा प्राण-दण्ड को वर्जित कर दिया गया। इसके अन्तर्गत समस्त जनता को समान न्यायिक अधिकार प्रदान किए गए। 1810 की दण्ड संहिता का फ्रांसीसी प्रणाली के आधार पर पुनर्निर्माण किया गया। इसके अतिरिक्त व्यापारिक विधि को भी फ्रांसीसी पद्धति पर निर्धारित किया गया।

न्याय प्रणाली

इस नवीन राजकीय विज्ञप्ति ने साम्राज्य में एक सुचारु विधि प्रणाली का शिलान्यास किया परन्तु केवल राजाज्ञा द्वारा साम्राज्य के विभिन्न जाति एवं धर्म के वर्गों के दृष्टिकोणों में परिवर्तन लाना अत्यन्त दुष्कर कार्य था, अतः न्याय परिषद का संस्थापन एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य था। इस

परिषद के द्वारा प्रचलित न्याय एवं न्यायालयों पर नियन्त्रण रखा जाना था। हिट्टी के मतानुसार यद्यपि मई 1840 की नवीन दण्ड-संहिता, जो फ्रांसीसी न्याय पद्धति पर आधारित थी, का प्रस्थापन कोई क्रान्तिकारी कदम नहीं था क्योंकि इसका महत्वपूर्ण कार्य नवीन दण्ड-संहिता को क्रियात्मक रूप देना था परन्तु फिर भी इसके मुख्य प्राविधान "शरीयत" के ही अनुसार थे।

खादूरी एवं लेब्सनी ने अपनी पुस्तक 'ला इन द मिडिल इस्ट' में लिखा है कि तंजीमात ने मानवीय कानून का आधार लेकर न्याय प्रणाली में अभूतपूर्व परिवर्तन किए जिनके द्वारा प्राथमिक से लेकर अपील तक के विभिन्न स्तरों के न्यायालय स्थापित किये गये। शरीयत अदालत का मुस्लिम न्यायाधीश शादी और तलाक़ से सम्बन्धित मुकदमे करता था। निज़ामी अदालत के न्यायाधीश मुसलमान, ईसाई और यहूदी होते थे जो साम्राज्य में प्रचलित कानूनों के अनुसार न्याय करते थे।

इस प्रकार तुर्की साम्राज्य में 19वीं शताब्दी के मध्य तक न्याय प्रणाली फ्रांसीसी रूप-रेखा में आधुनिक हो गयी। इस अभिनव परिवर्तन का महत्व इसमें निहित था कि उलेमाओं ने कोई विरोध नहीं किया। वह केवल रशीद पाशा के द्वारा निर्मित नवीन व्यावसायिक संहिता से, जो फ्रांसीसी संहिता पर आधारित थी, असन्तुष्ट थे। इस व्यावसायिक संहिता को तदर्थ न्यायालयों के अधीन रखा गया जो वाणिज्य मंत्रालय के अन्तर्गत होते थे और केवल व्यावसायिक झगड़ों का ही समाधान करते थे। इस नवीन विधि पद्धति ने काज़ियों (मुसलमान न्यायाधीश) में गहन असन्तोष एवं रोष की भावना उत्पन्न कर दी। टेम्परले के मतानुसार इस असन्तोष का मुख्य कारण यह था कि काज़ी इस संहिता को शरीयत के विरुद्ध समझते थे, अतएव उन्होंने इसके प्रलम्बन के लिए प्रयत्न किया। प्राइस ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ टर्की' में लिखा है कि अब्दुल मजीद ने अपनी नवीन न्याय पद्धति को फ्रांस के 'कोड नेपोलियन' पर आधारित किया जिसके परिणामस्वरूप प्राच्य प्रचलित साम्राज्यिक विधि पद्धति का यूरोपीकरण हो गया। हिट्टी के अनुसार इस प्रकार की आधुनिक न्याय प्रणाली को आटोमन साम्राज्य में समाविष्ट करा देना सहज कार्य न था।

आर्थिक सुधार

सुधारवादी सुल्तानों ने अपने पूर्ववर्तियों के आर्थिक अभाव की समस्या को सबल बनाने के लिए "मुद्रा दूषित" करना ही सीखा था तथा महमूद द्वितीय के शासन-काल में भी आटोमन मुद्रा में 35 बार परिवर्तन किया गया था।

अत: 1840 में राजाज्ञा के प्राविधान के अनुसार यूरोपीय प्रणाली पर आधारित एक आटोमन बैंक स्थापित करने की अनुमति प्रदान की गयी। इसी के एक वर्ष पश्चात तुर्की की सरकार ने कागज़ी नोट प्रचारित कर दिये। ये कागज़ी नोट 12 प्रतिशत की प्रचुर दर के लाभ पर चलते थे जो 'बाण्ड' के समान होते थे तथा जिनका भुगतान वर्ष में दो बार किया जाता था। एंजिलहार्द ने अपनी पुस्तक टर्की एण्ड तंज़ीमात' में लिखते हुए कहा है कि क्रीमिया का युद्ध होने तक आर्थिक समस्या अत्यधिक शोचनीय हो गयी थी। और यह आर्थिक समस्या ही इस साम्राज्य की मुख्य आन्तरिक समस्या थी। अत: साम्राज्य की अर्थ-सबलता हेतु प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किये गये। आर्थिक सबलता के सदैव दो मुख्य तत्व रहे हैं––प्रथम परिपूर्ण कोषागार, द्वितीय ठोस मुद्रा, परन्तु इन दोनों वस्तुओं का साम्राज्य में सदैव अभाव रहा। इस अभाव की पूर्ति हेतु साम्राज्य में नवीन आर्थिक पद्धति लागू की गयी जिससे कुछ समय तक आर्थिक सन्तुलन बना रहा।

यद्यपि राजकीय आदेशों के द्वारा ठेकेदारों से पीड़ित जनता को राहत मिली, साथ ही सरकारी कर भी भली-भाँति वसूला जाने लगा परन्तु ठेका प्रणाली समाप्त कर कर-व्यवस्था, सरकारी अधिकारियों की प्रत्यक्ष वसूली का एक आवश्यक अंग बन गयी। इसके अतिरिक्त सरकारी पदों के दुरुपयोग एवं अधिकारियों के अनुचित लाभ पर भी कड़ा नियन्त्रण स्थापित कर दिया गया।

सैन्य संगठन

आटोमन साम्राज्य में तंज़ीमात सुधारों के अन्तर्गत सैन्य-संगठन तथा सैन्य-व्यवस्था की ओर भी अनेक उल्लेखनीय कार्य किये गए। सैन्य-व्यवस्था कार्य हेतु एक "सैन्य-परिषद्" की स्थापना की गयी जिसका मुख्य कार्य सेना की भर्ती का उचित प्रबन्ध करना था। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त परिषद् सैन्य सेवा के नियमों का निर्धारण कर उनके परिपालन का निरीक्षण भी करती थी। इस प्रकार सैन्य-परिषद् के कार्यों से आटोमन सेना पुन: सजग, सुसंगठित एवं अनुशासनबद्ध हो गयी।

रशीद पाशा का निष्कासन एवं प्रत्यागमन

सुल्तान अब्दुल मजीद के सुधारों के कार्यक्रम का स्रष्टा उसका मन्त्री मुहम्मद रशीद पाशा था। 1841 में रसीद पाशा द्वारा निर्मित एक 'व्यापारिक न्याय विधान' ने पुरातन-धर्मी उलेमाओं को रुष्ट कर दिया। इन रूढ़िवादी उलेमाओं ने रशीद पाशा द्वारा प्रतिपादित न्याय को 'पवित्र न्याय' के

विरुद्ध बताया परन्तु जब रशीद पाशा ने 'पवित्र न्याय' को व्यापारिक न्याय से असम्बन्धित घोषित किया तो उलेमाओं ने उस पर ईश-निन्दा का आक्षेप लगाया। तदुपरान्त सुल्तान अब्दुल मजीद ने अपने प्रबुद्ध मन्त्री को निष्कासित कर दिया जिसके फलस्वरूप सुधारों का कारवां रुक गया। इस प्रकार रशीद पाशा की पदच्युति के पश्चात् सुल्तान मजीद ने 1842 में सैन्य-परिषद् का पुनर्गठन कर, एक नर्मदलीय सरकार की स्थापना की। 1845 में रशीद पाशा की विदेश मन्त्रालय में पुनः नियुक्ति हो जाने के कारण तंजीमात सुधारों को एक नवीन स्वरूप प्राप्त हुआ। उन्होंने एक वर्ष पश्चात् (1846) प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण कर सुधारों का नवीन अध्याय प्रारम्भ किया।

शिक्षा सुधार

जनवरी 1845 के लगभग सुल्तान ने एक राज्य-विज्ञप्ति (ख़त-ए-हुमायूं) की घोषणा की। इस राजकीय घोषणा के पश्चात् मार्च 1845 में सुल्तान ने एक 'सात व्यक्तियों की समिति' की स्थापना की। इस समिति के अन्तर्गत सैन्य न्याय एवं नागरिक क्षेत्रों में निपुण व्यक्तियों की नियुक्ति की गयी तथा इस समिति का मुख्य उद्देश्य नवीन विद्यालयों की स्थापना करने में निहित था। इस समिति ने अगस्त 1846 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसके आधार पर आटोमन साम्राज्य में प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षा के विकास की व्यवस्था की गई। इसके अतिरिक्त आटोमन विश्वविद्यालय तथा एक स्थायी जन-अनुदेश परिषद् की स्थापना भी की गयी। यद्यपि विश्वविद्यालय एवं अन्य विद्यालयों की स्थापना करना एक अत्यन्त दुष्कर कार्य था परन्तु सात व्यक्तियों की इस समिति ने सतर्कता एवं बुद्धिमत्ता के साथ विद्यालयों की स्थापना की जिसमें इन विधिक स्थायी जन-अनुदेश परिषद् ने भी अपना अभूतपूर्व योगदान दिया।

विधिक (न्यायिक) सुधार

शिक्षा सम्बन्धी सुधारों से अधिक महत्वपूर्ण कार्य न्यायिक क्षेत्र में कार्यान्वित किये गये क्योंकि इससे पूर्व न्यायिक क्षेत्रों पर उलेमाओं का एकछत्र अधिकार था पूर्ववर्ती सुधारकों ने इन विधिक क्षेत्रों में सुधार करने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया था। यद्यपि सुधारों की गणना में न्यायिक क्षेत्र में सुधार नगण्य ही किये गये थे परन्तु फिर भी यदाकदा कुछ सुधार अवश्य हुये 1839 की विज्ञप्ति द्वारा एक न्यायिक अध्यादेश समिति का

संगठन किया गया। इस समिति के द्वारा व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका के कार्यक्रमों को कार्यान्वित किया जाता था। 1847 में नागरिक एवं फ़ौजदारी अदालतों की भी स्थापना की गयी। इन न्यायालयों में यूरोपीय एवं आटोमन न्यायाधीशों की नियुक्ति समान संख्या में की जाती थी तथा नियुक्ति में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता था। आटोमन साम्राज्य के इन न्यायालयों में दण्ड-विधान का संचालन इस्लामी पराम्परा की अपेक्षा यूरोपीय पद्धति पर आधारित था परन्तु 1850 में रशीद पाशा के 'वाणिज्य-संहिता' के प्रख्यापन ने व्यापारियों तथा जनता को सुविधा प्रदान की। इस वाणिज्य-संहिता के पश्चात समस्त न्यायपालिका मुकदमों का निर्णय इस संहिता के आधार पर किया जाने लगा। रशीद पाशा के इस विधान का सचालन वाणिज्य न्यायालय के अन्तर्गत होता था।

रशीद पाशा का पतन (1852)

यद्यपि रशीद पाशा को अनेक बार प्रतिक्रियावादियों ने पदच्युत किया था परन्तु उनको सर्वाधिक कठोर आघात 1852 में पहुँचा जब उन्हें प्रधान मन्त्री के पद से निष्कासित किया गया। 1852 में रशीद पाशा के पद के निष्कासन पश्चात् उनके द्वारा कार्यान्वित नवीन प्रान्तीय प्रशासन की पद्धति का निरस्त कर दिया गया जिसके परिणामस्वरूप सुधारों के कार्यक्रम में अवरोध उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक था।

लुत्फ़ी ने अपने ऐतिहासिक संस्मरण में लिखा है कि रशीद पाशा के पतन के पश्चात् 1854 में तंज़ीतात सुधार कार्यक्रमों में एक नया मोड़ दृष्टि-गोचर होने लगा। 1854 के पश्चात् सुल्तान अब्दुल मजीद ने भव्य न्यायिक परिषद् का पुनर्गठन कर उसको दो भागों में विभक्त कर दिया। एक विभाग को पूर्णतया वैधानिक अधिकार प्रदान कर दिये गये तथा दूसरे विभाग अर्थात् 'उच्च सुधार परिषद्' (मजलिस-ए-अली-ए तंज़ीमात) को सुधार कार्यक्रम का समस्त उत्तरदायित्व सौंप दिया गया। इसके अतिरिक्त आटोमन साम्राज्य में ग़ैर-तुर्कियों के प्रति कठोर भेदभाव को समाप्त करने हेतु मई 7, 1855 को एक राजकीय विज्ञप्ति प्रसारित की गयी। इस राजकीय विज्ञप्ति के द्वारा सेना में गैर-तुर्कियों की नियुक्ति की जाने लगी, क्योंकि इस विज्ञप्ति से पूर्व सेना में केवल तुर्कियों को ही नियुक्त किया जाता था।

इस्लाहत फ़रमान (राज्य विज्ञंप्ति)

क्रीमिया के युद्ध के समापन के लगभग समीप ही आटोमन साम्राज्य के

सुल्तान अब्दुल मजीद ने फरवरी 18, 1856 को एक 'साम्राज्यिक सुधार राजाज्ञा' नामक राज्यादेश घोषित किया। इस राजकीय विज्ञप्ति के द्वारा प्रशासकीय भ्रष्टाचार का निषेध कर दिया गया। इसके अतिरिक्त आटोमन साम्राज्य में जातीयता के भेद भाव का भी अन्त कर दिया गया। इस प्रकार 1857 में रशीद पाशा की मृत्यु के पश्चात् उनके दो अनुयायी अली पाशा एवं फ़ुआद पाशा ने तंज़ीमात सुधार कार्यक्रम को आगामी पन्द्रह वर्षों तक कार्यान्वित किया। यद्यपि प्रारम्भ में अली पाशा एवं फ़ुआद पाशा मूलरूप से रशीद पाशा के अनुयायी थे परन्तु राजनैतिक मत-भेद के परिणामस्वरूप ये दोनों ही रशीद पाशा के कठोर विरोधी हो गये। वास्तव में अली पाशा एवं फ़ुआद पाशा ही तंज़ीमात सुधार कार्यक्रम के प्रमुख प्रवर्तक थे।

वैधानिक सुधार

अली पाशा एवं फ़ुआद पाशा ने भी अपने पूर्व-सुधार का ही अनुसरण किया। इन सुधारकों ने साम्राज्य के वैधानिक क्षेत्रों में कुछ महत्वपूर्ण सुधार किये। इन्होंने 1858 में भूमि एवं दण्ड-संहिता सम्बन्धी सुधारों को प्रचारित किया। 1858 के नवीन भूमि एवं दण्ड-संहिता सम्बन्धी सुधार ने वाणिज्य न्यायालय का पुनर्संगठन कर 1860 में दोनों न्यायालयों अर्थात् वाणिज्य एवं फौजदारी न्यायालयों का समन्वय स्थापित कर दिया। ये समस्त संहिताएँ फ्रान्सीसी पद्धति पर आधारित थीं। इन समस्त वाणिज्य एवं फ़ौजदारी संहिताओं में 1858 का नवीन भूमि सम्बन्धी नियम सबसे अधिक महत्वपूर्ण था क्योंकि इस नियम के द्वारा 'तिमार प्रथा' का अन्त कर दिया गया। निमार प्रथा के अन्तर्गत कृषकों का अत्यधिक शोषण किया जाता था परन्तु 1858 के नवीन विधान के पश्चात कृषक स्वयं 'भू-पति' बन गये।

क्रीमिया युद्ध

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही तुर्की साम्राज्य के पतन के चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे थे। उसकी दुर्बलता से लाभ उठाकर यूरोपीय शक्तियों ने साम्राज्य में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया था। इसके अतिरिक्त तत्कालीन राष्ट्रीयता की भावना ने भी तुर्की साम्राज्य को पतनोन्मुख किया। साम्राज्य के समस्त प्रदेश अपनी स्वतन्त्रता हेतु कार्यरत हो गये तथा बाल्कन प्रायद्वीप के प्रदेशों ने भी राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत होकर आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार इन समस्त समस्याओं के समा-

धान हेतु तुर्की साम्राज्य में एक महत्वपूर्ण युद्ध हुआ जो कि इतिहास में क्रीमिया युद्ध के नाम से विख्यात है।

युद्ध के कारण तथा स्वरूप

लैन्ज़ोविस्की जार्ज अपनी पुस्तक '**मिडिल ईस्ट इन बर्ल्ड अफ़ेयर्स**' में क्रीमिया युद्ध की उत्पत्ति के प्रमुख दो परस्पर विरोधी विचार अभिव्यक्त करते हैं—प्रथम, महारानी विक्टोरिया ने ज़ार निकोलस के स्वार्थ एवं महत्वाकांक्षा को इस युद्ध का कारण बताया जबकि दूसरी ओर किंगलेक के विचारानुसार नेपोलियन तृतीय पर क्रीमिया के युद्ध का उत्तरदायित्व था। निस्सन्देह इन दोनों उपयुक्त विचारों में सत्यता की स्पष्ट छाप है परन्तु केवल इन्हीं दो विचारों पर क्रीमिया के युद्ध की उत्पत्ति को आधारित नहीं किया जा सकता। **याहया अरमाजानी** के अनुसार यद्यपि नेपोलियन तृतीय इस युद्ध का मुख्य कारण नहीं था परन्तु उसने पूर्वी समस्या को उत्तेजित करने का कार्य अवश्य किया। 1740 की सन्धि द्वारा फ्रांस को तुर्की के येरुसलम एवं उसके निकटवर्ती धार्मिक स्थलों के लैटिन धर्ममठ(लैटिन धर्म के माननेवाले) अर्थात् लैटिन मंक्स की परिरक्षा का अधिकार प्राप्त था परन्तु धीरे-धीरे अठारहवीं शताब्दी के अन्त में इन लैटिन धार्मिक मठों (यूनानी पुरातन धर्म को माननेवाले) पर यूनानी धार्मिक मठ का संरक्षण स्थापित हो गया। **डेविस टॉम्सन** के मत से मई 1850 में नेपोलियन तृतीय ने सम्राट बनने के उपरान्त लैटिन मंक्स के विशेषाधिकारों की माँग की क्योंकि नेपोलियन तृतीय फ्रांस में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने हेतु याजक वर्ग का समर्थन प्राप्त करना चाहता था। फ्रांस की इस मांग का पुष्टीकरण आस्ट्रिया, स्पेन तथा कुछ अन्य रोमन कैथोलिक शक्तियों ने किया जिसके परिणामस्वरूप कुछ समय पश्चात सुल्तान को नेपोलियन तृतीय की माँगों को स्वीकृति प्रदान करनी पड़ी। सुल्तान की इस स्वीकृति ने ज़ार निकोलस में एक असन्तोष एवं प्रतिद्वंद्विता की भावना उत्पन्न कर दी क्योंकि ज़ार निकोलस का फ्रांस में प्रजातान्त्रिक साम्राज्य की स्थापना के कारण अत्यधिक मानमर्दन हो चुका था। अतएव ज़ार निकोलस ने मार्च 1853 में एक अपरिष्कृत एवं कठोर राजदूत प्रिंस मैनशिकोव को कान्स्टेन्टिनोपुल भेजा। रूस के राजदूत ने पुरातन धार्मिक समुदाय के लोगों के लिए तुर्की से संरक्षता का अधिकार प्रदान करने को कहा। निस्सन्देह 1774 के कुजुक केनार्जी की सन्धि के अनुच्छेद 7-एक-14 के अधीन रूस को यूनान के धार्मिक ईसाइयों के लिये सुविधाएँ देने का आयोजन किया गया था परन्तु धार्मिक संरक्षित राज्य की

माँग करना सर्वथा असंगत था। हालैंड ने अपनी पुस्तक 'ट्रीटी रिलेशन्स बिटविन रशा एण्ड टर्की में लिखा है कि यद्यपि तुर्की ने ब्रिटेन से परामर्श कर यूनानी पुरातन धर्म-मन्दिरों के विशेषाधिकार तो रूस को स्वीकृत कर दिये परन्तु तुर्की ने रूस को ईसाई जनता के संरक्षक का अधिकार नहीं प्रदान किया क्योंकि यदि रूस को ईसाई जनता के संरक्षक का अधिकार मिल जाता तो वह स्वेच्छा से तुर्की के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर देता।

परिणामस्वरूप जुलाई 21 को रूसी सेना ने प्रिंस गोरणाकोव की अध्यक्षता में पर्थं बन्दरगाह को पार कर डैन्यूब के प्रदेश मॉल्डेविया एवं वॉलेकिया पर अधिकार स्थापित कर लिया। हिट्टी के अनुसार इन प्रदेशों पर रूसी आधिपत्य स्थापित हो जाने के कारण ब्रिटेन एवं फ़्रांस ने अपनी सम्मिलित नौसेना को बेसिका की खाड़ी में प्रविष्ट कर दिया। ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री लार्ड पामर्स्टन के सुझाव युद्ध के वातावरण को समाप्त करने में निहित थे। अतएव लार्ड पामर्स्टन ने युद्ध वातावरण को समाप्त करने हेतु रूस को फ़ास्फ़ोरस तथा कृष्ण सागर तक संकुचित होने के लिये बाध्य किया एवं इस समस्या का समाधान करने हेतु वियना में एक कांग्रेस का अधिवेशन किया गया। रूस के डैन्यूब पर आक्रमण ने आस्ट्रिया को भी इस समस्या के समाधान हेतु आकर्षित कर लिया था। वियना की इस कांग्रेस में ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रिया एवं प्रशा ने सम्मिलित रूप से भाग लिया तथा वियना-निर्देश के द्वारा यह निश्चित किया गया कि रूस के हस्तक्षेप के बिना ही तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत ईसाई जनता की रक्षा करनी चाहिये जे० आर० मेरियट के मत में इस वियना-निर्देश को रूस एवं तुर्की के सम्मुख स्वीकृत हेतु भेजा गया। इस निर्देश में किसी भी देश के नाम का स्पष्टीकरण नहीं किया गया था। वियना-निर्देश में तुर्की के साम्राज्य की ईसाई जनता की रक्षा का प्राविधान किया गया था। रूस को इस बात की पूर्ण आशा थी कि तुर्की साम्राज्य की ईसाई जनता की संरक्षता का उत्तरदायित्व उसी को प्रदान किया जायेगा, अतः रूस ने वियना-निर्देश को पूर्णतया स्वीकार कर लिया किन्तु तुर्की ने ब्रिटेन के राजदूत स्ट्रेटफोर्ड के कहने के अनुसार इस निर्देश को अस्वीकृत कर दिया तथा 4 अक्टूबर को तुर्की ने रूस से मॉल्डेविया एवं वॉलेशिया वॉलेकिया के प्रदेश पन्द्रह दिन के अन्दर वापस करने की चेतावनी दी। तदुपरान्त तुर्की ने ब्रिटेन के आश्वासन पर रूस के विरुद्ध 4 अक्टूबर, 1853 को युद्ध की

घोषणा कर दी जिसके फलस्वरूप क्रीमिया युद्ध का प्रारम्भ हो गया।

तुर्की ने ब्रिटेन के आश्वासन पर ही युद्ध की घोषणा की थी तथा तुर्की को पूर्ण आशा थी कि इस युद्ध में यूरोपीय शक्तियाँ उसके सहायतार्थ अवश्य सहयोग देंगी। रूस के विरुद्ध तुर्की को सहायता प्रदान करना ब्रिटेन की नीति थी क्योंकि ब्रिटेन तुर्की साम्राज्य पर से रूसी प्रभाव का समूल अन्त करना चाहता था। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री पामर्स्टन ने देश के जनमत को इस युद्ध की ओर आकर्षित किया। फ्रांस ने भी तुर्की को इस युद्ध में सहयोग देना प्रारम्भ कर दिया। फ्रांस आरम्भ से ही तुर्की साम्राज्य में रूसी हस्तक्षेप के विरुद्ध था तथा निरन्तर प्रयत्नरत था कि किसी प्रकार रूसी हस्तक्षेप एवं प्रभाव का अन्त हो तथा वहाँ का शासक नेपोलियन तृतीय देश में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने हेतु एवं यूरोपीय रंग--मंच पर फ्रांस की गौरव-वृद्धि के लिए रूस को पराजित करना चाहता था। इसके अतिरिक्त सार्डीनिया के प्रधानमन्त्री कावूर ने भी इस युद्ध में अपना सहयोग प्रदर्शित करने हेतु सेनाएँ भेजी। **टाम्सन** के विचार से क्योंकि कावूर इटली के एकीकरण हेतु विदेशी सहायता एवं सहानुभूति प्राप्त करना चाहता था। इस प्रकार तुर्की के प्रश्न को लेकर यूरोपीय शक्तियों ने रूस के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी।

क्रीमिया युद्ध में ब्रिटेन तथा फ्रांस की सम्मिलित नौसेनाओं ने अक्टूबर 1853 में प्रस्थान कर दिया। यद्यपि तुर्की सेनाओं ने रूस के विरुद्ध आक्रमण कर दिया था परन्तु तुर्की को यूरोपीय सहायता प्राप्त होने से पूर्व ही रूस की कृष्ण सागर स्थित नौसेना ने नवम्बर 30, 1853 को तुर्की युद्धपोत को साइनोप की खाड़ी में नष्ट कर डाला तथा वहाँ पर तुर्की सेना का संहार कर दिया गया। **विलियम येल** के मतानुसार ब्रिटेन एवं फ्रांस ने रूस के इस प्रकार के व्यवहार का अत्यधिक विरोध किया तथा रूस के इस प्रकार के व्यवहार के द्वारा यह अनुमान लगाया जाने लगा कि सम्भवतः कहीं यह युद्ध यूरोपीय युद्धों में परिवर्तित न हो जाये। अन्ततः ब्रिटेन एवं फ्रांस ने रूस को मॉल्डेविया तथा वॉलेकिया के प्रदेश त्यागने के लिए बाध्य किया। इसी मध्य आस्ट्रिया फरवरी 22, 1854 को मित्र राष्ट्रों की ओर रूस के विरुद्ध सम्मिलित हो गया और इस प्रकार इन समस्त राष्ट्रों ने मार्च 1854 को रूस की शक्ति क्षीण करने हेतु युद्ध घोषित कर दिया। अतः इन मित्र राष्ट्रों की सम्मिलित सेनाओं ने सेवास्टोपोल के उत्तर में स्थित यूप्टोरिया की खाड़ी पर आक्रमण कर सेवास्टोपोल की ओर प्रस्थान

कर दिया। सितम्बर 20, 1854 को प्रिंस मैंशिकोव ने अपनी सैन्य अध्यक्षता में मित्र राष्ट्रों की सेनाओं को रोकने का प्रयत्न किया परन्तु उसको पूर्ण असफलता प्राप्त हुई तथा मित्र राष्ट्रों की विजयी सेनाओं ने रूस को आलमा के क्षेत्र में पूर्णतया परास्त कर दिया; तत्पश्चात् ये समस्त सेनाएँ सेवास्टोपोल की ओर अग्रसर हुई। रूस ने सेवास्टोपोल की सुरक्षा हेतु अपनी समस्त शक्ति लगा दी परन्तु ब्रिटिश सेना के अध्यक्ष रेगन ने बलक्लावा पर रूसी सेना को परास्त कर बलक्लावा के प्रदेश को हस्तगत कर लिया। **ब्लेटन** का कथन है कि बलक्लावा के युद्ध में प्रसिद्ध 'लाइट ब्रिगेड' को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। मित्र राष्ट्रों ने इस युद्ध में सफलता प्राप्त करने के पश्चात इन्करमान के क्षेत्र को भी हस्तगत कर लिया। **मेरियट** के अनुसार 16 अगस्त 1855 को रूस ने अन्तिम बार मित्र राष्ट्रों पर आक्रमण किया किन्तु सार्डीनिया की सेना के सम्मुख रूस को झुकना पड़ा। यद्यपि इस युद्ध का मुख्य घटनास्थल क्रीमिया का प्रदेश था परन्तु मित्र राष्ट्रों ने सेवास्टोपोल को चारों ओर से घेर रखा था। इसी मध्य रूस की शीत ऋतु के प्रकोप के कारण मित्र राष्ट्रों की सेनाओं की अत्यधिक क्षति हुई तथा सहस्रों सैनिक इस शीत त्रस्त होकर मर गये। शीत ऋतु के पश्चात मित्र राष्ट्रों की सम्मिलित सेनाओं ने रूसी दुर्ग सेवास्टोपोल पर विजय प्राप्त कर ली। इसी मध्य ज़ार निकोलस की मृत्यु हो गयी। **फिशर** के मत से उनके पुत्र ज़ार एलेग्ज़ाण्डर द्वितीय ने मार्च 1856 में ऑस्ट्रिया को मध्यस्थ बनाकर मित्र राष्ट्रों से सन्धि सम्पन्न करने की चेष्टा की। तदुपरान्त रूस एवं मित्र राष्ट्रों के मध्य पेरिस की सन्धि मार्च 30, 1856 को सम्पन्न हुई।

1856 कीं पेरिस सन्धि

पेरिस संधि के अन्तर्गत ब्रिटेन, फ्रांस, रूस तथा तुर्की ने समान रूप से भाग लिया तथा इस समझौते के अनुसार निम्नलिखित बातों का निश्चय किया गया।

(1) तुर्की साम्राज्य को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की गयी तथा उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का निश्चय किया गया। इसके अतिरिक्त आटोमन साम्राज्य को यूरोपीय शक्ति घोषित किया गया तथा तुर्की को यूरोपीय संगठन में सम्मिलित किया गया। इस प्रकार तुर्की साम्राज्य को प्रथम बार महाशक्तियों की श्रेणी में लाया गया तथा उसे शक्ति-संतुलन का अंग समझा गया। यूरोपीय शक्तियों ने सामूहिक रूप से तुर्की की स्वतंत्रता

एव अखण्डता में आस्था व्यक्त की (अनुच्छेद 7)।

(2) आटोमन सुल्तान ने यूरोपीय शक्तियों को विश्वास दिलाया कि भविष्य में वह अपनी प्रजा के हितों का पूर्ण ध्यान रखेगा तथा यूरोपीय शक्तियों ने तुर्की में सामूहिक अथवा व्यक्तिगत हस्तक्षेप की नीति का खण्डन किया (अनुच्छेद 9)।

(3) कृष्ण सागर को तटस्थ एवं सेना-रहित क्षेत्र घोषित किया गया। इस सन्धि के अन्तर्गत किसी भी राष्ट्र की सेना कृष्ण सागर में नहीं रह सकती थी परन्तु इसके विपरीत व्यापारिक सुविधा में सर्वमान्यता का अधिकार प्रदान किया गया (अनुच्छेद 11, 12, 13, 14)।

(4) तुर्की को कॉर्सिका प्रदेश तथा रूस को क्रीमिया का प्रदेश प्रदान किया गया (अनुच्छेद 4)।

(5) डैन्यूब नदी में स्वतंत्र यातायात की आज्ञा प्रदान की गयी तथा रूस को बेसेरिबीया से मॉलडेविया तक के प्रदेश त्यागने पड़े (अनुच्छेद 15, 21)।

(6) मॉल्डेविया तथा वॉलेकिया को तुर्की साम्राज्य के आधिपत्य में रखा गया तथा रूस ने इन क्षेत्रों पर अपना समस्त अधिकार त्याग दिया (अनुच्छेद 22, 27)।

(7) सर्विया को पूर्ण स्वतन्त्रता की मान्यता प्रदान की गई (अनुच्छेद 29)।

परिणाम

(1) तुर्की साम्राज्य में रूस द्वारा हस्तक्षेप का अधिकार पूर्णरूप से समाप्त हो गया। इसके अतिरिक्त कृष्ण सागर पर से रूसी युद्धपोतों के स्वतन्त्र रूप से भ्रमण करने का अधिकार समाप्त करा दिया गया।

(2) कृष्ण सागर की तटस्थता एवं पोतों के स्वतंत्र यातायात के फलस्वरूप यूरोपीय शीक्तियों को अत्यधिक लाभ हुआ। परन्तु इन यूरोपीय शक्तियों में विशेषकर ब्रिटेन को लाभ हुआ, इसके उपरान्त ही ब्रिटेन मिस्र एवं साइप्रस पर अपना अधिकार स्थापित कर सका।

(3) इस युद्ध के उपरान्त फ्रांस को अल्प लाभ हुआ परन्तु इससे विपरीत फ्रांस के शासक नेपोलियन तृतीय को अधिक लाभ हुआ। नेपोलियन तृतीय की यूरोपीय रंगमंच पर मान-वृद्धि हुई तथा अप्रत्यक्ष रूप से नेपोलियन तृतीय की रूस से मित्रता स्थापित हुई।

(4) इस युद्ध के द्वारा इटली को अत्यधिक लाभ हुआ। कावूर ने

ऑस्ट्रिया के अत्यधिक विरोध के उपरान्त भी पेरिस परिषद संघ में इटली के प्रतिनिधि के रूप में अध्यक्षता ग्रहण की। कावूर ने इटली के एकीकरण के पक्ष में दोनों सिसली सरकारों की अवहेलना की तथा ब्रिटेन की सहानुभूति एवं नेपोलियन तृतीय के द्वारा प्राप्त सहायता की प्रशंशा की जिसके परिणामस्वरूप इटली का एकीकरण सम्पन्न हुआ।

(5) रूमानिया के आधुनिक राज्य का जन्म इसी युद्ध के उपरान्त हुआ।

(6) तुर्की को आटोमन साम्राज्य के इतिहास में प्रथम बार यूरोपीय शक्तियों से ऋण लेना पड़ा। इस ऋण के ही कारण भविष्य में आटोमन साम्राज्य का विघटन अवश्यम्भावी हो गया। साथ ही तुर्की यूरोपीय शक्तियों के अधीनस्थ राज्य हो गया।

अतएव क्रीमिया का युद्ध यद्यपि एक शताब्दी पूर्व हुआ था परन्तु अनुमान एवं निर्णय के अनुसार इस युद्ध की प्रकृति एवं कारणों में अत्यधिक अन्तर है और इन्हीं कारणों से प्रभावित होकर कुछ इतिहासकारों ने अपने अलग-अलग मत व्यक्त किये हैं। **सर एडवर्ड एस० क्रिसी** ने अपनी पुस्तक 'टर्की' में लिखा है कि डैन्यूब प्रदेश के निर्वासन ने युद्ध के तत्कालीन कारणों की समाप्ति कर दी तथा तुर्की को उनके द्वारा किये गये कार्यों से सन्तुष्टि प्राप्त हुई। इसके विपरीत ब्रिटेन एवं फ्रांस ने यह निश्चय कर लिया था कि अपने समस्त सम्भव प्रयत्नों से पूर्व में रूस की प्रतिष्ठा का अवश्य ही मानमर्दन करेंगे। इसके अतिरिक्त **विकोम्ल याक्वेर** ने अपनी पुस्तक **'हिट्री ऑफ़, द आटोमन एम्पायर'** में लिखा है कि यदि तुर्की युद्ध में अग्रसर हुआ, तो वह केवल इस विश्वास से कि युद्ध में फ़्रांस एवं ब्रिटेन उसकी सहायता हेतु अवश्य हस्तक्षेप करेंगे। तथापि उन्क्यार स्कैलसी की सन्धि के द्वारा यह ज्ञात हो गया कि ब्रिटेन ने अपनी नीति के आधार पर आटोमन साम्राज्य का विभाजन नहीं होने दिया परन्तु जब ब्रिटेन ने इस नीति के कार्यान्वियन में असमर्थता एवं कठिनता पायी तो ब्रिटेन ने अपनी नीति को कार्यान्वित करने हेतु फ्रांस से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिया जिसके परिणामस्वरूप मित्र राष्ट्रों ने तुर्की साम्राज्य पर से रूसी प्रभाव को सदैव के लिए समाप्त कर दिया।

इस प्रकार क्रीमिया का युद्ध यूरोपीय शक्तियों के मध्य हुआ एक नितान्त बुद्धिहीनता एवं निरर्थकता से परिपूर्ण युद्ध था। इस युद्ध में हुई क्षति का आभास युद्ध के कारणों में अत्यधिक विचारणीय है परन्तु फिर भी

क्रीमिया का युद्ध यूरोप के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान रखता है । यह युद्ध पुराने आयुधों के द्वारा बड़े पैमाने पर लड़ा जाने वाला विश्व का अंतिम युद्ध था । इस युद्ध ने यूरोपीय महायुद्ध में चली आ रही चालीस वर्षो पुरानी शक्ति को क्षीण कर दिया । इस युद्ध के पीछे फ्रांस तथा रूस के मध्य धार्मिक प्रतिस्पर्धा का प्रमुख हाथ था । वास्तव में क्रीमिया का युद्ध 1848-1851 के मध्य उत्पन्न होने वाले यूरोप के राजनैतिक उथल-पुथल एवं कुछ महान यूरोपीय शक्तियों के पारस्परिक वैमनस्य का ही प्रतिफल था । इस युद्ध में विजेताओं को अत्यन्त अल्प लाभ हुआ तथा यह इस का ही परिणाम था कि 1914 के महायुद्ध में फ्रांस तथा इंग्लैण्ड को इस युद्ध के कुछ परिणामों का समाधान करना पड़ा ।

अब्दुल अज़ीज़ (1861-1876)

तंज़ीमात सुधार के प्रवर्तक अब्दुल मजीद के निधनोपरांत उनका भाई अब्दुल अज़ीज़ जून 20,1861 को आटोमन सुल्तान बना । अब्दुल अज़ीज़ ने अनेक आंतरिक एवं वाह्य अवरोधों के उपरान्त भी 'खत-ए-हुमायूं' द्वारा सुधारों के विस्तृत कार्यों को कार्यान्वित किया तथा इस राजकीय विज्ञप्ति के द्वारा गैर तुर्कीयों को वह समस्त सुविधायें प्रदान कर दीं जो इससे पूर्व केवल तुर्कों तक ही सीमित थीं। इसके अतिरिक्त गैरतुर्कियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा तथा उनके प्रति भेदभाव की भावना को पूर्ण रूप से समाप्त किया । इन समस्त कार्यों के उपरान्त भी फ्रांसीसी सरकार ने ब्रिटेन एवं आस्ट्रिया के कहने पर फरवरी 1867 को तुर्की सुल्तान को सुधार कार्य-क्रम को और अधिक प्रगति देने हेतु निर्देश-पत्र भेजा । सुल्तान अब्दुल अज़ीज़ ने इस निर्देश-पत्र का अत्यधिक विरोध किया परन्तु तत्कालीन राज-नैतिक दबाव के कारण सुल्तान अजीज ने फ्रांसीसी निर्देश-पत्र को स्वीकार करना उचित समझा । तत्पश्चात अली पाशा और फ़ुआद पाशा ने आगामी तीन वर्षों तक साम्राज्य के प्रशासन को कार्यान्वित किया तथा अली पाशा एवं फ़ुआद पाशा ने इस तीन वर्ष के अल्प काल में अनेक नवीन विद्वानों, राजनैतिक, व्यापारिक, न्यायिक, सामाजिक एवं सैन्य संस्थाओं का निर्माण किया । तुर्की साम्राज्य विभिन्न जातियों, भावनाओं, धर्मों एवं संस्कृतियों का साम्राज्य था । प्रत्येक जाति अपना अस्तित्व बनाये रखने हेतु एक मुखिया अथवा प्रशासक की नियुक्त करती थी जिसके निर्देशानुसार उस जाति की व्यवस्था चलती थी । अतएव साम्राज्य में विभिन्न जातियों के फलस्वरूप

विभिन्न मिल्लत (इकाई) थे। प्राचीन काल से यह प्रथा चली आ रही थी कि इनमिल्लतों के प्रधान को कभी भी हटाया जा सकता था परन्तु तंजीमात सुधारों के अन्तर्गत इन प्राविधानों का कार्यकाल स्थायी कर दिया गया। इस प्रकार विभिन्न मिल्लतों के प्रधान अपने व्यय हेतु धार्मिक कर वसूलने का भी कार्य करते थे परन्तु इन सुधार कार्यक्रमों के पश्चात् प्रधानों का वेतन निश्चित कर धार्मिक कर-व्यवस्था का अधिकार इन प्रधानों को हस्तगत कर दिया गया। अतः इन समस्त उपर्युक्त व्यवस्थाओं एवं सुधारों के परिणामस्वरूप सुल्तान अज़ीज़ की यूरोपीय रंगमंच पर अत्यधिक मान-वृद्धि हुई।

शिक्षा एवं न्याय सम्बन्धी सुधार

सुल्तान अब्दुल अज़ीज़ का यह विश्वास था कि साम्राज्य के उत्थान के लिए शिक्षा का विस्तार अत्यन्त आवश्यक है। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर सुल्तान ने गेलात में साम्राज्यिक आटोमन माध्यमिक विद्यालय की स्थापना की। इस संस्था में फ्रांसीसी भाषा के आधार पर प्रशिक्षण दिया जाता था तथा माध्यमिक शिक्षा को नवीन एवं पाश्चात्य पाठ्यक्रम की आधार-शिला पर निर्धारित किया गया। इसके अतिरिक्त कुछ विद्यालयों को विदेशी धर्म-प्रचारकों ने भी स्थापित किया था, उदाहरणार्थ 1863 में 'अमेरिकन प्रोटेस्टेन्ट राबर्ट विद्यालय' की स्थापना इन्हीं धर्म-प्रचारकों के द्वारा हुई थी। एंजिलहार्ट के विचारानुसार गेलात का विद्यालय मुस्लिम सरकार द्वारा पाश्चात्य पद्धति पर आधारित नवीन शिक्षा पद्धति का प्रथम प्रयास था परन्तु इसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य मुस्लिम एवं गैर-मुस्लिम शिष्यों को शिक्षा प्रदान करना था जो धार्मिक वर्ग-भेदीकरण की समाप्ति का एक महत्वपूर्ण कार्य था।

न्यायिक क्षेत्रों में सुधारों को कार्यान्वित करने हेतु सुल्तान अब्दुल अजीज ने अप्रैल 1868 में उच्च परिषद का पुनर्गठन किया। इस परिषद के आधार पर दो नवीन न्यायिक अंगों अर्थात् न्यायिक अध्यादेश के दीवान (दीवान-ए-अहकाम-ए-अदालियायी) तथा राज्य परिषद (शुरा-यि-दिवल्त) की स्थापना की गयी। 'दीवान-ए-अहकाम-ए-अदालियायी' केवल पूर्ववर्ती न्याय परिषद का संशोधित स्वरूप था। इसको कुछ प्रशासनिक मामलों को सुनने का भी अधिकार प्राप्त था। खुदरी एवं लेब्सनी के के मतानुसार 19वीं शताब्दी का सबसे महत्वपूर्ण न्यायिक सुधार 'नवीन नागरिक संहिता' का प्रस्थापन था जो 'मजीले' के नाम से विख्यात था। इस नागरिक संहिता को जनता में 1869 में कार्यान्वित किया गया। इस संहिता को निर्मित

करने का श्रेय अहमद जवदत पाशा (1822-95) को ही दिया जाता है। यह 1868 में न्यायिक अध्यादेशों के दीवान मनोनीत किये गये। इस प्रकार अहमद पाशा के द्वारा आरम्भ की गयी न्यायिक संहिता 1926 तक कार्यान्वित रही।

मुद्रा प्रणाली

आटोमन साम्राज्य के बढ़ते हुए व्यय के कारण दिन-प्रति-दिन मुद्रा दूषित होती जा रही थी अतएव सुल्तान अब्दुल अज़ीज़ ने तंज़ीमात युग में सुधारों के कारवाँ में एक और वृद्धि प्रत्येक वर्ष का वार्षिक बजट बनाकर कीं। इसके पूर्व वार्षिक बजट तैयार करने की परम्परा आटोमन साम्राज्य में नहीं थी। अत: वित्तीय व्यवस्था और मुद्रा प्रणाली के आवश्यक सुधार हेतु वित्तीय व्यवस्था को सबलता प्रदान करने के लिए मुद्रा प्रणाली में परिवर्तन किया गया। राजस्व की परिवर्तित पद्धति में कागज का स्थान चांदी के सिक्कों को दिया गया।

सार्वजनिक कार्य की देख रेख के लिए सरकार के अन्तर्गत एक विभाग की स्थापना की गयी जो मार्ग, नहर, व्यापार, कृषि, शिक्षा और अन्य कार्यों के लिए योजनाओं के कर्यान्वियन और देख रेख का कार्य करता था।

मूल्याङ्कन

डेविसन ने अपनी पुस्तक 'रिफ़ार्म इन द मॉटोमन अम्पायर' में लिखा है कि तंज़ीमात युग की समस्त सुधार योजनाओं का कार्यान्वियन तुर्की साम्राज्य को एक आदर्श राज्य की सत्ता से वंचित न कर पाया परन्तु यह तुर्की का दुर्भाग्य ही था कि तंज़ीमात युग की सुधार योजनाओं को पूर्णरूप से तुर्की में कार्यान्वित नहीं किया जा सका। इन योजनाओं की असफलता के निम्न सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक कारण थे---

सामाजिक

1. तंज़ीमात सुधारों की सफलता के लिए सुल्तान को उत्साही लोगों की आवश्यकता थी परन्तु साम्राज्य में ऐसे उत्साही तुर्को का अभाव था।

2. साम्राज्य में सुधार कार्यक्रम के विरोधियों की संख्या बहुत अधिक थी और इस प्रकार ये समस्त तंज़ीमात विरोधी व्यक्ति सुधारों की असफलता हेतु समस्त सम्भव प्रयत्न करते थे।

3. प्रजा-हित के विधानों को व्यवहार में कार्यान्वित करना एक अत्यन्त कठिन कार्य था जिसके फलस्वरूप समस्त तंज़ीमात सुधार केवल

दिखावा मात्र ही रह गये थे ।

4. तंज़ीमात सुधार आन्दोलन का प्रभाव मुख्यत: शिक्षित व्यक्तियों पर था जिनकी संख्या साम्राज्य में अत्यन्त अल्प थी । इसके विपरीत साम्राज्य की रूढ़िवादी साधारण जनता इन सुधारों को समझने में असमर्थ थी जिसके परिणामस्वरूप सुधार आन्दोलन पूर्णतया असफल सिद्ध हुआ ।

5. साम्राज्य में विभिन्न व्यक्तियों एवं धर्मों के लोगों में एकता का अभाव होने के कारण वैमनस्य एवं प्रतिद्वन्द्विता थी । अत: तंज़ीमात सुधारों में इस जाति, वर्ण के भेद भाव ने अवरोध उत्पन्न कर तंज़ीमात सुधार को असफल बनाने का सदैव प्रयत्न किया ।

6. सुल्तानों के भ्रष्ट जीवन एवं अस्थिर निश्चयों के कारण भी तंज़ीमात सुधारों को असफलता प्राप्त हुई ।

आर्थिक

तुर्की साम्राज्य की आय का स्रोत बहुत ही सीमित था परन्तु पूर्ववर्ती सुल्तानों के अपव्ययी होने के कारण साम्राज्य की आर्थिक स्थिति दिन-प्रतिदिन शोचनीय होती गयी । इसके अतिरिक्त आटोमन सुल्तानों को निरन्तर युद्धों में फँसे रहने के कारण अत्यधिक आर्थिक क्षति हुई । अतएव सुल्तान अब्दुल मजीद एवं अब्दुल अज़ीज़ ने साम्राज्य को आर्थिक सुदृढ़ता प्रदान करने हेतु विदेशों से ऋण लेना प्रारम्भ कर दिया था । आटोमन सरकार ने 1854 से 1875 के मध्य पश्चिमी यूरोप से एक अरब डालर ऋण लिया और इस प्रकार के ऋण-ग्रस्त साम्राज्य में सुधार कार्यक्रमों की असफलता स्वाभाविक थी ।

राजनैतिक

आटोमन साम्राज्य की भ्रष्ट राजनीति भी सुधार कार्यक्रमों में अवरोध उत्पन्न कर रही थी । 18वीं शताब्दी में यूरोप की राष्ट्रीयता की भावना ने आटोमन साम्राज्य में भी राष्ट्रीयता की भावना को उत्तेजित कर दिया जिसके परिणामस्वरूप तंज़ीमात युग के सुधार कार्यक्रमों को प्रयोगात्मक रूप प्रदान करना अत्यन्त कठिन कार्य हो गया । इसके अतिरिक्त सुल्तानों की पश्चिमीकरण की नीति ने रूढ़िवादियों के मध्य तंज़ीमात सुधारों के प्रति विरोध की भावना को जागृत कर दिया था क्योंकि वे रूढ़िवादी सुधार कार्यक्रम को पाश्चात्य देशों की ही देन समझते थे । फलत: इन रूढ़िवादियों ने तंज़ीमात सुधारों का कठोर विरोध किया ।

एंजिलहार्ट के कथनानुसार तंजीमात सुधारों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष प्राय: मनोवैज्ञानिक था क्योंकि इन सुधार कार्यक्रमों ने कुछ समय के लिए आटोमन साम्राज्य में सहिष्णुता का वातावरण उत्पन्न कर दिया। फलस्वरूप साम्राज्य में तुर्की एवं गैर-तुर्की जनता सामान्य नागरिक की भांति निवास करने लगी । तथापि तंजीमात युग के सुधारों का साम्राज्य में विशेष महत्व था । वास्तव में तंज़ीमात युग ने तुर्की को पुनर्जागृत किया जिसके फलस्वरूप तुर्की में मध्य युग का अन्त हुआ । बर्नाड लुईस के मतानुसार आधुनिक युग में पाश्चात्य सभ्यता का विशेष योगदान रहा परन्तु यह कदापि अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस पाश्चात्य प्रभाव ने साम्राज्य के युवा वर्ग में एक नव चेतना का संचार किया जिसके प्रभाव से युवा आटोमन साम्राज्य में एक नवीन समाज की आधार-शिला रखी; साथ ही छात्रों ने यूरोप के तत्कालीन साम्राज्य-परिवर्तन ने भी तुर्की साम्राज्य को अत्यधिक प्रभावित किया ।

लेखक के विचारानुसार यदि 'ख़त-ए-शरीफ' तथा 'ख़त-ए-हुमायूँ' को पूर्णरूपेण कार्यान्वित किया गया होता तो तुर्की साम्राज्य अवश्य ही एक सुदृढ़, सबल एवं आधुनिक साम्राज्य में परिणत हो जाता । परन्तु फिर भी तंज़ीमात एवं 'खत-ए-हुमायूँ' के सुधारों को नगण्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि इन समस्त सुधारों ने अपनी असफलता के उपरान्त भी तुर्की साम्राज्य को कुछ समय के लिए नव जीवन प्रदान करने की चेष्टा की । अत: यह इस नव चेतना का ही प्रभाव था कि एक वर्ग-विशेष ने आटोमन साम्राज्य में एक नये युग का सूत्रपात किया जो भविष्य में युवा तुर्क आन्दोलन के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुआ ।

ज्योफ़्रे लुइस ने अपनी पुस्तक 'टर्की' में लिखा है कि इसमें किंचित् संशय नहीं कि तंज़ीमात सुधार यद्यपि तुर्की साम्राज्य के आन्तरिक द्वार पर ही स्थिर रह गये परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ का तुर्की साम्राज्य और 1871 के साम्राज्य में अत्यधिक परिवर्तन था । इस कारण यह कहा जा सकता है कि तंजीमात सुधारों ने आटोमन साम्राज्य में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक क्रान्ति का उद्भव किया । इसी के साथ तुर्की साम्राज्य के राष्ट्रीय इतिहास में स्वर्ण युग का समागम हुआ ।



आटोमन साम्राज्य : तंजीमात युग
(1839-76)

1. Temperley, H : British Policy towards Parliamentry Rule & Constiution in Turkey, 1830-1914, Cambridge History Journal IV, 1932-4

–England & The Near East London 1938.

2. Price, M : A History of Turkey, London, 1956

3. White, Charles : Three Years in Constantinople, Vol I London, 1946.

4. Hitti, Phillip K : The Near East in History, London, 1961.

5. Clayton, G. D : Britain & the Eastern Question London, 1971,

6. Davison, R. H : Turkish Attitudes Concerning Christian Muslim Equality in the Nineteenth Century, American Historical Review, July 1954.

7. Lewis, Geoffery L : Turkey, London, 1955.

8. Engelhardt, ed : Turkey & Tanzimat, tr., 2 Vols, London, 1917.

9. Khadduri M & : Law in the Middle East,

Liebseny H. J ed. : Washington, 1955.

10. Bailey, Frank E : British Policy & the Turkish Reform Movement, Cambridge, 1942.

11. Lutfi, Ahmed : Tarih-i-Lutfi, Vol. IV,

12. Davison, R. H. : Reform in The Ottoman Empire, 1856–1876, Princeton, 1963.



अध्याय 38

ऑटोमन साम्राज्य

निरंकुश काल (1876-1908)

अब्दुल हमीद द्वितीय

क्रीमिया युद्ध के पश्चात् ऑटोमन साम्राज्य में पश्चिमी यूरोप के साहित्य का व्यापक प्रभाव शिक्षित युवा वर्ग पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगा। इसका मुख्य कारण युवा आटोमन तुर्कों का फ्रांसीसी काव्य, कला, दर्शन एवं सामाजिक शिक्षा में अभिरुचि लेना था। युवा वर्ग धार्मिक-परिचर्चा का परित्याग कर राष्ट्रीय उत्थान की शिक्षाओं की ओर आकृष्ट हुआ। इनकी नवीन विचारधाराओं ने एक ऐसे वातावरण का प्रादुर्भाव किया जिसमें शिक्षा का अर्थ अपने देश एवं साम्राज्य को सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप से समर्थता प्रदान करना था। यद्यपि इस वर्ग ने साम्राज्य का आधुनिकीकरण एवं पश्चिमीकरण करने में सहयोग दिया परन्तु इस वर्ग का कार्यक्षेत्र केवल शैक्षिक आन्दोलन तक ही सीमित था। इसके विपरीत दूसरे अन्य वर्ग का प्रभाव क्षेत्र अधिक व्यापक था क्योंकि यह वर्ग राजनैतिक संस्थाओं एवं मान्यताओं को प्राथमिकता प्रदान करने में कार्यरत था। इस वर्ग का नेतृत्व मिद्दत पाशा ने किया।

सर हैरी ल्यूक ने अपनी पुस्तक 'द मेकिंग ऑफ मार्डन टर्की' में लिखा है कि मिद्दत पाशा एक कुशाग्र बुद्धि, यथार्थवादी राजनीतिज्ञ था जिसे इस बात का पूर्ण ज्ञान था कि आन्तरिक सुधार ही इस विघटित साम्राज्य को सबलता प्रदान करने में सहायक सिद्ध हो सकते थे। मिद्दत पाशा के ही प्रयत्नों के द्वारा सुल्तान अब्दुल अजीज को एक राज्य विपल्व के द्वारा राज्यच्युत किया गया और मुराद पंचम को मई 30, 1876 को सिंहासनारूढ़ कर दिया गया। मुराद एक निर्बल, अयोग्य एवं भीरु व्यक्ति था जिसके कारण उसे भी शीघ्र ही सिंहासन त्यागना पड़ा। अतः अब्दुल हमीद द्वितीय राज्य-

सिंहासन पर 31 अगस्त, 1876 को पदासीन हुआ। ये अल्प-सामयिक परिवर्तन इस बात के द्योतक थे कि साम्राज्य में विभिन्न प्रक्रियाओं के कारण अशान्ति एवं अस्थिरता थी। ऐसे वातावरण में अब्दुल हमीद द्वितीय ने अपने प्रथम चरण में उदारवादी सुल्तान होने का प्रदर्शन किया।

अब्दुल हमीद एन्ड्रयू मैन्गो के अनुसार मनोवैज्ञानिक तथा जैविक दृष्टि से पुराने युग की उपज था। अब्दुल हमीद पुरातन ऐतिहासिक आटोमन राजभवन पद्धति से अत्यधिक प्रभावित था तथा प्राचीन निरंकुश शासकों का समर्थक था। विलियम येल का कथन है कि उसकी शिक्षा एवं प्रशिक्षण ने भी उसके स्वयं की मानसिक विचारधारा को विकसित करने में सहयोग दिया। उसकी शिक्षा-दीक्षा अन्तःपुर के भीतरी वातावरण में होने के कारण विभिन्न मानवीय प्रक्रियाओं का सम्मिश्रण थी। अब्दुल हमीद का चरित्र-चित्रण एक इतिहास लेखक आरमिनस वेम्बरी ने समुचित रूप से किया है। उसके अनुसार अब्दुल हमीद में दयालुता और धूर्तता, उदारता एवं संकीर्णता, कायरता एवं वीरता, विज्ञता तथा अज्ञानता, सौम्यता एवं असौम्यता की विशेषताओं का इतना परस्पर विरोधी, परिवर्तनीय एवं विषम संगम था जो कभी किसी अन्य व्यक्ति में दृष्टिगोचर नहीं हुआ। उपर्युक्त लेखक के ही अनुसार अन्तःपुर की शिक्षा ने उसके राज्य को दुर्भाग्यग्रस्त बना दिया।

अब्दुल हमीद ने अपने शासन काल के प्रथम चरण में देश विदेश दोनों के राजनीतिज्ञों को अपने व्यक्तित्व से प्रभावित किया। फिलिप ग्रेव्स ने अपनी पुस्तक 'ब्रिटेन एण्ड टर्क्स' ने व्यक्त किया है कि डिज़रेली ने सैलसबरी को लिखा कि नवीन सुल्तान वस्तुतः प्रतिभाशाली है, क्या वह सुलेमान महान का स्थान ग्रहण करेगा ? इसके अतिरिक्त 19वीं शताब्दी के अन्त में एलिजाबेथ लेटिमर ने लिखा कि अब्दुल हमीद की कार्यकुशलता, नैतिक साहस, आर्थिक सुव्यवस्था और विदेशियों के प्रति सौहर्द सुल्तान की विशेषताएँ थी डिज़रेली के उपर्युक्त वक्तव्य द्वारा यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अब्दुल हमीद यूरोपीय राजनीतिज्ञों को प्रभावित करने की चेष्टा में सफल रहा था।

अपने राज्य के आन्तरिक प्रशासन में हैरी ल्यूक के अनुसार सुल्तान ने मिद्दत पाशा के परामर्श को सहमति प्रदान करते हुए 1876 के संविधान की घोषणा एक साम्राज्यीय विज्ञप्ति (शाही खत) के द्वारा की। इस संविधान ने प्रथम बार तुर्की साम्राज्य में संवैधानिक राजसत्ता की स्थापना की। इस संवैधानिक घोषणा ने साम्राज्य की जनता में एक नवीन चेतना का संचार किया जिसका समाज के शिक्षित वर्ग ने भव्य स्वागत किया। इस संविधान

का राजसत्ता के प्रशासनिक सुधारों के अन्तर्गत एक प्रभावशाली एवं महत्व-पूर्ण चरण माना गया परन्तु धीरे अब्दुल हमीद का निरंकुश शासकीय रूप प्रकट होने लगा। कमाल कारपत ने अपनी पुस्तक 'टर्किश पालिटिक्स' में लिखा कि सुल्तान किसी भी प्रकार के सुधारों का पक्षपाती नहीं था परन्तु राजनैतिक परिस्थितिवश उसे संविधान की घोषणा करनी पड़ी। वह किसी ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में था जिसके द्वारा वह अपना पूर्णरूपेण प्रभुत्व प्रशासन पर स्थापित कर सके और यह अवसर रूस तुर्की युद्ध (1877-78) के द्वारा सुल्तान को प्राप्त हो गया। इस युद्ध के द्वारा उत्पन्न हुई परिस्थिति से लाभान्वित होकर सुल्तान ने स्थायी रूप से संसद एवं संविधान को स्थगित कर दिया। इसके पश्चात् 1908 तक प्रत्येक वर्ष संविधान प्रकाशित होता रहा परन्तु उसे कभी लागू नहीं किया गया।

इस प्रकार सुल्तान अब्दुल हमीद ने शासन को व्यक्तिगत नियंत्रण के अधीन कर अपने निरंकुश शासन का आरम्भ किया। अपने प्रथम प्रयास में सुल्तान ने आन्तरिक एवं विदेश नीतियों को राजनैतिक रूप से संगठित करने का प्रयत्न किया। 1878 में बर्लिन कांग्रेस के पश्चात सुल्तान के सम्मुख सर्वोपरि कठिन समस्या साम्राज्य की आर्थिक व्यवस्था की थी। इसके समाधान हेतु 20 दिसम्बर, 1881 को एक राजकीय विज्ञप्ति की घोषणा की गई जिसको "मुहरर्म विज्ञप्ति" के नाम से साम्राज्य में प्रसारित किया गया। इसके अनुसार आटोमन सार्वजनिक ऋण प्रशासन की स्थापना की गयी जिसके अन्तर्गत आटोमन सार्वजनिक ऋण प्रशासन समिति का आयोजन भी किया गया। यह्या अरमाजानी के कथनानुसार इस समिति में सात सदस्य होते थे, जिसमें पाँच सदस्य ब्रिटेन, हॉलैण्ड, फ्रांस, इटली, ऑस्ट्रिया के प्रतिनिधि के रूप में होते थे। इसके अतिरिक्त एक सदस्य आटोमन बैंक द्वारा मनोनीत तथा एक सुल्तान द्वारा निर्धारित प्रतिनिधि होता था। इस समिति ने साम्राज्य की आर्थिक व्यवस्था को पुनः व्यवस्थित किया और साम्राज्य के ऋणों को चुकता किया। उपर्युक्त कार्यों द्वारा साम्राज्य में आर्थिक व्यवस्था का प्रतिपादन किया जिसके द्वारा सार्वजनिक कार्यों में विकास हुआ और राज्य की समृद्धि में विस्तार हुआ। यद्यपि इस समिति ने आर्थिक साम्राज्यवाद का विकास किया परन्तु देश के हितों के समक्ष उसका कुछ अधिक महत्व नहीं माना जा सकता। इसमें संशय नहीं कि भविष्य में सुल्तान की अनुचित नीतियों ने इस आर्थिक अभिशासन में विकार उत्पन्न कर दिये।

इसके अतिरिक्त सुल्तान अब्दुल हमीद ने आन्तरिक व्यवस्था में सेना पुलिस और गुप्तचर विभाग की ओर विशेष ध्यान दिया। सेना के प्रशिक्षण के लिए जर्मन अधिकारी जनरल वॉन उर गोल्टज़ की सेवाएँ प्राप्त की गई। पुलिस का पुनर्संगठन करने के लिए ब्रिटिश अधिकारी कर्नल बेकर को नियुक्त किया गया। अपने सर्वव्यापी गुप्तचर विभाग के द्वारा सुल्तान की प्रसिद्धि देश विदेश में होने लगी। सुल्तान अब्दुल हमीद द्वितीय ने प्रशासन के प्रत्येक कार्य पर निरीक्षण हेतु गुप्तचर नियुक्त कर रखे थे जो सुल्तान को साम्राज्य की प्रत्येक घटना का ब्योरा देते रहते थे; परन्तु सुल्तान अपने गुप्तचरों पर विश्वास नहीं करता था और इस हेतु उसने प्रतिगुप्तचर्या पद्धति का स्थापन किया हुआ था। इन्हीं सब कारणों से अब्दुल हमीद के गुप्तचर विभाग को सर्वव्यापी की संज्ञा दी गयी।

उपर्युक्त प्रशासनिक सुधारों के अतिरिक्त सुल्तान ने शिक्षा की ओर भी अपना पूर्ण ध्यान आकर्षित किया और विद्यालयों की स्थापना की गई। इन विद्यालयों में पाश्चात्य शिक्षा का व्यापक प्रभाव था जिसके फलस्वरूप छात्रों ने अपने देश के प्रति नवीन सामाजिक एवं राजनैतिक परिवर्तन लाने के लिए प्रेरणा प्राप्त की। अब्दुल हमीद शिक्षित वर्ग की इस विचारधारा से अवगत था और उसने विद्यार्थियों को जेब-खर्च देकर अपनी उनको क्रय-शक्ति के अधीन करने का प्रयत्न किया। सुल्तान अपने इन प्रयत्नों में नितान्त असफल रहा क्योंकि वह समय की तत्कालीन धारा से अवगत नहीं था। वस्तुतः अब्दुल हमीद पश्चिमी एशिया में हो रहे क्रान्तिकारी परिवर्तनों से अनभिज्ञ था। इस कारण उसको अपने शासन में आन्तरिक समस्या के अतिरिक्त कई अन्य समस्याओं का सामना करना पड़ा। इनमें सर्वप्रथम आरमीनिया का प्रश्न था।

आरमीनिया

आटोमन साम्राज्य के अन्तर्गत आरमीनिया के क्षेत्र में सुल्तान हमीद द्वितीय के समय में ऐसी घटनाएँ घटित हुई जिनके कारण सिडनी फिशर के अनुसार अब्दूल हमीद को "रक्त रजित" और "निन्द्य अब्दुल" कहा जाने लगा। यद्यपि आटोमन साम्राज्य के अन्तर्गत आरमीनिया का प्रश्न सदैव बना रहा, परन्तु अब्दुल हमीद के समय आरमीनिया प्रदेश में नृशंसता का व्यवहार किया गया।

समय के साथ-साथ बालकन क्षेत्र अथवा युवा तुर्कों के क्रान्तिकारी आन्दोलनों ने आरमीनिया के निवासियों पर अपनी प्रतिक्रिया प्रारम्भ की।

इससे पूर्व तंज़ीमात युग ने भी इन लोगों को स्वयं के प्रति सचेत किया। महमूद द्वितीय ने 1830 में आरमीनिया के कैथोलिक ईसाइयों को पृथक् ईसाई धार्मिक समुदाय घोषित किया। इसके अतिरिक्त बर्लिन की सन्धि (1878) में भी आरमीनिया का एक शिष्टमण्डल भेजा गया। विलियम येल एवं डेविड टाम्सन के मतानुसार ब्रिटेन के सहयोग द्वारा बर्लिन कांग्रेस ने सेन-स्टिफेनो की सन्धि के अनुच्छेद 16 के द्वारा आरमीनिया के निवासियों को आश्वासन दिया कि तुर्की की सरकार उनके लिए सुधार योजना कार्यान्वित करेगी तथा उनके प्रति सद्व्यवहार का वातावरण बनायेगी। तथापि बर्लिन कांग्रेस के आश्वासन के साथ ही आरमीनिया में क्रान्तिकारी संस्थाओं की स्थापना होने लगी। इन संस्थाओं ने रूस तथा अमेरिका से राजनैतिक स्वतंत्रता का पाठ ग्रहण किया। इस राष्ट्रीय चेतना में आरमीनिया के तीन धार्मिक समुदायों का विशेष योगदान था। ये तीन विभिन्न समुदाय थे-- कैथोलिक, प्रोटेस्टेन्ट और ग्रीगोरियन। इन धार्मिक सम्प्रदायों ने अपनी शिक्षा-सस्थाओं के द्वारा राष्ट्रीय चेतना की भावना को प्रभावित किया।

इस राष्ट्रीयता की भावना के विकास ने अब्दुल हमीद द्वितीय को भयभीत कर दिया जिसके परिणामस्वरूप उसने आरमीनिया के निवासियों की इस युगबोध चेतना के प्रति दमनात्मक नीति को कार्यान्वित करना प्रारम्भ कर दिया। अपनी इस नीति को सक्रिय रूप प्रदान करने हेतु सुल्तान ने आरमीनिया की कई जातियों को साम्प्रदायकिता की भावना द्वारा उत्तेजित किया। सुल्तान के गुप्तचरों ने ईसाई एवं कई जातिया में द्वेष, वैमनस्य एवं घृणा की भावना को प्रोत्साहित किया। मेरियट ने अपनी पुस्तक 'माडर्न इग्लैंड' में लिखा है कि इसी नीति के फलस्वरूप आरमीनिया में 1894–1897 तक भयंकर नरसंहार हुआ और नृशंस अत्याचार में लगभग एक लाख व्यक्तियों की हत्या की गई। इस घृणित नीति के कारण यूरोप के देशों में जनमत तुर्की के विरुद्ध हो गया। यूरोपीय समाचार पत्रों में आरमीनिया के नरसंहार का विवरण मुक्त रूप से प्रकाशित हुआ और सुल्तान अब्दुल हमीद द्वितीय को "रक्त-रंजित" सुल्तान कहा जाने लगा। परन्तु उपर्युक्त अत्याचार के प्रति यूरोपीय देशों ने केवल सहानुभूति ही प्रदर्शित की और सुल्तान से केवल सुधार लाने के लिए आग्रह किया। यूरोपीय देशों के इस दृष्टिकोण से तुर्की के शिक्षित समुदाय ने असन्तोष व्यक्त किया। अतः तुर्की की उपर्युक्त नीति के द्वारा आरमीनिया अनेक वर्षों तक भयभीत रहा।

क्रीट

अब्दुल हमीद की निरंकुश नीति का स्पष्टीकरण क्रीट में भी हुआ। क्रीट भूमध्य सागर में एक महत्वपूर्ण द्वीप है। क्रीट का सदैव अपना एक आर्थिक एवं सामरिक महत्व रहा है।

19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही क्रीट यूरोपीय राजनीति का संघर्ष स्थल बन गया। सर्वप्रथम नेपोलियन बोनापार्ट ने इस द्वीप को सामरिक महत्व प्रदान किया और समय के साथ ही सात अन्य यूरोपीय देशों ने भी क्रीट के महत्व को समझने की चेष्टात्मक कार्यवाहियों को राजनैतिक रूप प्रदान किया। 19वीं शताब्दी के दूसरे दशक में क्रीट यूनान के स्वतंत्रता संग्राम से अत्याधिक प्रभावित हुआ। यूनान के स्वतंत्रता संग्राम के समय क्रीट की जनसंख्या लगभग 2,90,000 थी जिसमें 1,60,000 मुसलमान थे तथा 1,30,000 ईसाई थे। येल के अनुसार स्थानीय जनता आटोमन सुल्तान की संरक्षता में सदैव ईसाइयों पर अत्याचार करती रही।

1856 में 'खते हुमायूं' के प्रसारित हो जाने पर क्रीट वासियों में सुधारात्मक कार्यों के प्रति युगबोध हुआ परन्तु क्रीट की सुधार की आशा केवल निराशा में ही परिवर्तित होकर रह गई। 1860 में क्रीट के शिक्षित वर्ग ने यूनान की राष्ट्रीय भावना के प्रति अपना पूर्ण समर्थन प्रदर्शित किया और 1866 में प्रथम बार स्पष्ट रूप से यूनान के साथ गठवन्धन के लिए भावनात्मक विस्फोट हुआ और इस राष्ट्रीय भावना की चेतना के कारण 1870 तक स्थिति गम्भीर बनी रही। यद्यपि एथेन्स में भी क्रीट की भावनाओं के प्रति सहानुभूति थी परन्तु किसी भी प्रकार के संघर्ष को सक्रिय रूप देना सम्भव नहीं हो सका।

तथापि 1897 में यूनान में अपने उत्तेजित नागरिकों के कारण तुर्की से युद्धरत हो गया। इस युद्ध में यूनान पराजित हुआ परन्तु यूरोपीय देशों ने हस्तक्षेप कर 'इस्तान्बुल की सन्धि' करा दी। यद्यपि इस युद्ध में क्रीट के भाग्य का निर्णय नहीं हो पाया परन्तु एक घटना ने क्रीट के भाग्य-परिवर्तन में योगदान दिया। क्रीट में स्थित ब्रिटेन के कुछ सैनिकों की तुर्की के सैनिकों ने हत्या कर दी जिसके परिणामस्वरूप तुर्की को क्रीट का प्रदेश त्यागना पड़ा और नवम्बर 1898 में यूनान के प्रिंस जार्ज को क्रीट का राज्यपाल नियुक्त किया गया। इस व्यवस्था के अधीन तुर्की के सुल्तान का केवल नामधेय अधिराज्य रह गया। अतः अब्दूल हमीद ने अपनी निरंकुश शासन-नीति के द्वारा एक प्रदेश खो दिया।

मेसीडोनिया

यद्यपि आरमीनिया तथा क्रीट ने अब्दुल हमीद के निरंकुश शासन को रक्त-रंजित बना दिया परन्तु बाल्कन क्षेत्र सदैव आटोमन शासकों के लिए अविरत समस्या बना रहा। मेसीडोनिया बाल्कन क्षेत्र का हृदय स्थल था और इसमें विभिन्न जातियों अर्थात तुर्की, अर्ब बलगेरिया इत्यादि के निवासी निवास करते थे। इन जातियों में गैर-तुर्की जनता के प्रति आटोमन सुल्तानों का कभी सद्भाव नहीं रहा। मेसीडोनिया के निवासी धीरे धीरे सुल्तानों की दुर्धर्ष एवं अन्यायपूर्ण नीतियों से संत्रस्त्र होकर क्रान्ति के समर्थक हो रहे थे। 1885 के पश्चात् मेसीडोनिया में धार्मिक और राजनैतिक उपद्रवों की वृद्धि होने लगी। इन उपद्रवों को सर्विया तथा यूनान के कार्यकर्ताओं ने सक्रिय प्रचार कर अपना सहयोग प्रदान किया। इस प्रचार के फलस्वरूप सोफ़िया में "मेसीडोनिया केवल मेसीडोनिया के लोगों के लिए है" नामक समिति की स्थापना की गई। इस समिति ने स्वशासित मेसीडोनिया के लिए माँग की। सुल्तान अब्दुल हमीद ने अपनी संदिग्ध नीति का परिपालन 1897 में एक समझौते द्वारा करना चाहा। इस समझौते में एक सुधार योजना के द्वारा सुल्तान अपनी नीति को क्रियात्मक रूप देना चाहता था परन्तु बल्गेरिया के एक लेखक ड्रेगनाफ़ के अनुसार 1897 का समझौता अनिष्टकर था। तथापि 20वीं शताब्दी के आरम्भ में मेसीडोनिया की स्थिति अत्यन्त विस्फोटक हो गयी और तुर्की अधिकारी स्थिति पर नियंत्रण करने में नितान्त असफल रहे। इस कारण महाशक्तियों ने तुरन्त एक निर्णय लिया और 1903 में "मुर्जस्टाक कार्यक्रम" लागू किया गया। इस कार्यक्रम के अधीन ब्रिटिश, फ्रांसीसी, इतालवी, आस्ट्रियाई तथा रूसी पुलिस को स्थिति नियंत्रण का अधिकार दिया गया। इस प्रकार फ़िशर के विचारानुसार अब्दुल हमीद ने अपनी संदिग्ध नीतियों द्वारा एक और अन्य प्रदेश को अपने विरुद्ध कर लिया।

अब्दुल हमीद द्वितीय का शासन अवश्य असफल रहा परन्तु साम्राज्य की उपर्युक्त समस्याएँ सुल्तान को पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई। यदि अब्दुल हमीद अपनी दूरदर्शिता, राजनैतिक बौद्धिकता तथा अपने साम्राज्य के प्रति किंचित सद्भावना का पालन कर लेता तो सुल्तान अपने निरंकुश शासन में नितान्त असफल न रहता।



आटोमन साम्राज्य

निरंकुश काल (1876-1908)

1. Luke, Sir Harry : The Making of Modern Turkey, London, 1936.

2. Yale, William : The Near East, New York, 1958.

3 Price, M Phillip : A History of Turkey, London 1926.

4. Mangoe, Andrew : Turkey, London, 1968.
5. Vambery, Arminis : Personal Relations of Abdul Hamid & His Court, Nineteenth entury, 66, July, 1909

6. Graves, Philip B : Britain & Turks, London, 1941.

7. Latimer, Elizabeth B. : Russia & Turkey in the Nineteenth Century, Chicago, 1893.

8. Karpat, Kamal H : Turɔish Politics, Princeton, 1959.

9. Armajani, Yahaya : Middle East : Past & Present, New Jersey, 1970.

10. Thomson, David :

11. Marriot, Sir J. A. R. : Modern England, 1885-1932, London, 1934

12. Dragnaff, P. D : Macedonia & the Reforms, London, 1908.



अध्याय 39

आटोमन साम्राज्य

क्रान्ति युग

युवा तुर्क क्रान्ति

युवा तुर्क क्रान्ति इतिहास के अद्भुत घटनाओं में से एक है। इसका मुख्य कारण यह था कि क्रान्ति का रूप कदाचित सुनियोजित नहीं था, अर्थात इसको पूर्व निर्धारित नहीं किया गया था कि क्रान्ति कब, कहाँ और कैसे घटित होगी। इसके उपरान्त भी इस क्रान्ति की भ्रान्ति ने अब्दुल हमीद को संसद बुलाने के लिए बाध्य किया तथा अन्ततः अब्दुल हमीद को सिंहासना-मुक्त किया गया।

उपरोक्त क्रान्ति को प्रेरणा देने वाले अनेक कारण थे जिनमें प्रथम अब्दुल हमीद द्वितीय के निरंकुश एवं भ्रष्टाचारी शासन ने युवा तुर्क आन्दोलन को जन्म दिया। **फिरोज़ अहमद** ने अपनी पुस्तक **'द यंग टर्क्स'** में उद्धृत किया है कि क्रान्ति अहसनीय निरंकुश शासन, व्याप्त भ्रष्टाचार एवं देशवासियों के प्रति अत्याचार तथा यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा साम्राज्य के विभाजन के भय के प्रति स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी।

द्वितीय 19वीं शताब्दी में निर्वासित आटोमनवासियों ने, जो योरोप के कई भागों में रह रहे थे, अपने देश की शासन पद्धति में सुधार लाने के स्वप्न देखने प्रारम्भ कर दिये। आन्तरिक रूप से भी विभिन्न जातियों एवं धर्मों के विरोधाभास ने भी डी० ई० ली० के अनुसार एक उदारदल को जन्म दिया जो युवा तुर्क दल के रूप में परिवर्तित हो गया।

तृतीय अब्दुल हमीद द्वितीय ने निरंकुश तन्त्र के उपरान्त भी विद्यार्थियों को शिक्षा हेतु विदेशों में भेजा। यह विद्यार्थी जब शिक्षा ग्रहण कर स्वदेश लौटे तो वह योरोप की क्रान्तियों, राजनैतिक घटनाओं, साहित्य एवं यूरोपीय दार्शनिकों के विचारों से प्रभावित थे। **काज़िम नमी** ने अपने

संस्मरण में लिखा है कि छात्रों की इस नवीन विचारधारा ने सुपुप्त राजनैतिक, बौद्धिक एवं राष्ट्रीय चेतना को नवीन स्वरूप प्रदान किया ।

चतुर्थ अब्दुल हमीद द्वितीय के आगमन के साथ ही पारम्परिक रूप से 1876 से पूर्व केवल चार यूरोपीय देश ही (इंग्लैंण्ड, रूस, ऑस्ट्रिया तथा फ्रांस) आटोमन साम्राज्य में अपना प्रभाव क्षेत्र बनाने के इच्छुक थे । अब्दुल हमीद के शासनारूढ़ होते ही एक अन्य यूरोपीय शक्ति ने पश्चिमी एशिया में प्रवेश किया और वह थी--जर्मनी जर्मनी के सम्राट कैसर विलियम द्वितीय की 'पूर्व प्रस्थान की नीति' ने आटोमन साम्राज्य में अपने आर्थिक साम्राज्यवाद को विस्तृत कर आर्थिक एवं राजनैतिक रूप से अपना प्रभावक्षेत्र सशक्त किया । ई० एफ० तुगे से अपनी पुस्तक 'थ्री सेन्चुरीज' में लिखा है कि बढ़ते हुए यूरोपीय साम्राज्यवाद ने राष्ट्रवादी, उदारवादी, समाजवादी एवं अराजकतावादी क्रान्तिकारियों को एकबद्ध होने का सुअवसर प्रदान किया ।

पंचम कारण में युवा तुर्क आन्दोलन का जन्म डी० ई० ली० के अनुसार इस्लाम धर्म के पतन के भय में भी निहित था । तुर्की जनता विदेशी हस्तक्षेप एवं आंतरिक अव्यवस्था के कारण धार्मिक रूप से असंतुष्ट थी । अतः अब्दुल हमीद के विरुद्ध सार्विक घृणा ने विभिन्न जातियों एवं वर्गों को संगठित होने के लिये प्रेरित किया और युवा तुर्कों ने केवल इसमें सशक्त सैनिक नेतृत्व का योगदान दिया ।

क्रान्ति संगठन

यद्यपि 20वीं शताब्दी के आरम्भ में युवा तुर्क क्रान्ति के द्वारा आटोमन साम्राज्य का एक नव अध्याय आरम्भ होता है किन्तु 1876 में अब्दुल हमीद द्वितीय के आगमन ने योरोपीय जगत में तुर्की राजनैतिक मंच पर एक समयानुकूल राजनायिक का स्वरूप देखा । डेविड कुशनर ने लिखा है कि योरोपीय जगत में सुल्तान अब्दुल हमीद की बढ़ती हुई प्रतिभा में लोगों को यह विश्वास होने लगा था कि सुल्तान अवश्य ही 'सुलेमान गौरवशाली' का स्थान ग्रहण कर लेगा । कुछ ही वर्षों में सुल्तान की नीतियों ने स्वयं को 'रक्तरंजित सुल्तान' की उपाधि से घोषित करवाया । सुल्तान को किसी भी व्यक्ति पर विश्वास नहीं था और वह सदैव सशंकित रहता था । इसी उद्देश्य से उसके सर्वव्यापी गुप्तचरों ने तुर्की क्रान्तिकारियों के कार्य कलापों का तीव्र गति से अनुसंधान करना प्रारम्भ कर दिया । ई० एफ० नाइट ने अपनी पुस्तक 'द अवेकनिंग ऑफ टर्की' में इस तथ्य को और स्पष्ट करते हुये

लिखा है कि युवा तुर्कों की समस्त कार्य प्रणाली अत्यन्त गुप्त पद्धति पर आधारित थी तथा इस बात का विशेष ध्यान रखा गया था कि युवा तुर्कों का वास्तविक नेतृत्व किस स्थान अथवा व्यक्ति विशेष से निर्देशित था।

यद्यपि उनके सम्मुख अपने अभियान को कार्यान्वित करने के लिये विभिन्न उदाहरण उपस्थित थे जैसे फ्रांस की जैकोविन संस्था, इटली की कार्बोनारी संस्था, आयरलैण्ड की फ़ेनियन संस्था, मात्सेने तथा गैरीबॉल्डी का युवा इटली आन्दोलन, रूस के बॉल्शैविक अथवा मॉन्शैविक आंदोलन, परन्तु विलियम येल के अनुसार उन्होंने किसी भी संस्था का अनुसरण करने की अपेक्षा '**योरोपीय फ्री मैसेनरी संगठन**' के आधार पर अपनी क्रान्तिकारी संस्था का संगठन किया।

युवा तुर्क आन्दोलन को सक्रिय रूप प्रदान करने हेतु 1889 में इस्ताम्बूल में स्थित साम्राज्यीय सैनिक चिकित्सा विद्यालयों के छात्रों ने एक सुसंगठित क्रान्तिकारी संस्था को जन्म दिया। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य सुल्तान हमीद द्वितीय के निरंकुश शासन के विरुद्ध कार्य करना था। इस संस्था के अन्तर्गत एक "प्रगति एवं एकता समिति" (भविष्य में यही संस्था एकता एवं प्रगति की संस्था बनी) निर्मित की गयी जिसका मुख्य कार्य संस्था की सदस्यता में वृद्धि करना तथा कार्यक्रमों को विकेन्द्रित करना था। इस संस्था का "अग्रदूत" एक अल्बेनियन छात्र इब्राहीम टीमों था जिसकी कार्य प्रणाली एवं कार्य कुशलता ने संस्था की सदस्यता को सेना, नौसेना तथा अन्य विद्यालयों तक विस्तृत कर दिया। यही संस्था भविष्य में "प्रगति एवं एकता समिति" के नाम से प्रसिद्ध हुई। **इन्साइक्लोपीडिया ऑफ इस्लाम** के अनुसार इन युवा तुर्क षड्यन्त्रकारियों ने अपनी प्राथमिक गोष्ठियों का नाम "चार विशिष्टों की गोष्ठी" एवं वुड स्टाक वाचनालय गोष्ठी" रखा। अब्दुल हमीद को अपने गुप्तचरों के द्वारा जब गुप्त समितियों के संगठन के विषय में ज्ञात हुआ तो उसने इन समितियों का उन्मूलन करने के लिए अत्यन्त कठोर प्रशासनिक कार्यवाही आरम्भ कर दी परन्तु सुल्तान की कठोरता से युवा तुर्क क्रान्तिकारियों को कार्यक्षेत्र में और अधिक सफलता प्राप्त होने लगी। **रिचंड डेवी** के मतानुसार अपने क्रान्तिकारी कार्यों में युवा तुर्कों को विशेष योगदान "मदरसे" तथा "सोफ़ता" (ब्रह्म वैज्ञानिक) क्षेत्रों से प्राप्त हुआ। इन शैक्षिक क्षेत्रों के सहयोग से युवा तुर्कों को और अधिक सक्रिय प्रोत्साहन मिला। परन्तु 1892 में सुल्तान के गुप्तचर विभाग ने षड्यन्त्रकारियों के केन्द्रों का पता लगाकर उन्हें त्रस्त करना प्रारम्भ कर दिया जिसके फलस्वरूप समिति के

सदस्यों को विवश होकर अपनी जीवन-रक्षा हेतु देश पलायन करना पड़ा तथा इन देश निर्वासित व्यक्तियों में से कुछ तो मृत्यु ग्रस्त हो गये जैसे मिद्दत पाशा आदि तथा कुछ क्रान्तिकारियों ने विदेशों में जीवन-रक्षा हेतु शरण प्राप्त की। इन सदस्यों के एक दल को जीवन रक्षा हेतु मिस्र में शरण लेनी पड़ी। इन शरणागतों में से शाह निमाली के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर "मुल्कयामी विद्यालय" के इतिहास के अध्यापक मुराद बे ने भी इस दल की सदस्यता ग्रहण कर ली। तदुपरान्त मुराद बे ने अब्दुल हमीद विरोधी एक समाचार-पत्र 'मी जॉन" का प्रकाशन आरम्भ किया। अरनेस्ट रामसौर के अनुसार मुराद साहित्य के क्षेत्र में प्रारम्भ से ही विख्यात था तथा उसने सामान्य इतिहास तथा आटोमन इतिहास का प्रकाशन भी किया था। उसके समस्त लेखों में राष्ट्रीयता की भावना का स्पष्टीकरण रहता था तथा वह खलीफा की अध्यक्षता में इस्लामिक साम्राज्य की स्थापना का भी पक्षपाती था। इसके परिणामस्वरूप समिति की सदस्यता की संख्या में अत्यधिक वृद्धि प्रारम्भ हो गयी।

समिति के दूसरे दल ने पेरिस में शरण लेकर गुप्त रूप से तुर्की हेतु क्रान्तिकारी कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि इस दल के कुछ सदस्यों ने अपना समस्त जीवन समिति के उत्थान हेतु अर्पित कर दिया था तथापि शेष सदस्यों ने योरोप के अन्य देशों में जाकर युवा तुर्क आन्दोलन का व्यापक प्रचार प्रारम्भ किया। इन सदस्यों में से "सिलांकली निजामी" प्रमुख था जिसने फ्रांस में चिकित्सा-शिक्षा प्राप्त करने के साथ-साथ अब्दुल हमीद के विरुद्ध विद्रोह को भी व्यापकता प्रदान की। यहीं से जॉन मैक्डानॉल्ड के मतानुसार अहमद रजा ने "मशवेरात" नामक समाचार पत्र प्रकाशित किया जो रचनात्मक एवं सकारात्मक विचारों का विस्तारक था फलस्वरूप आंदोलन तीव्र होता गया। कान्स्टेन्टिनोपुल में भी आंदोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया था। आंदोलन के उत्कट रूप ने सरकार को विवश कर दिया कि वह आंदोलनकारियों के प्रति कठोर अनुशासननिक कार्यवाही करें। अतः 1895 तक समिति के कुछ मुख्य सदस्यों को उनकी शासन विरोधी कार्य प्रणाली के कारण बन्दी बनाकर देश से निष्कासित कर दिया गया। निष्कासित सदस्यों ने पेरिस में जाकर शरण ली। इब्राहीम टीमों को भी अपनी जीवन रक्षा हेतु रुमानिया में शरण लेनी पड़ी जहाँ पर उसने समिति की एक शाखा का संगठन कर "युवा तुर्क" समाचार पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। रामसौर ने प्रकाशन समीक्षा करते हुये लिखा है कि इन समस्त समाचारपत्रों में से,

जो कि तुर्की जनता में एक क्रांति एवं अशांति का वातावरण उत्पन्न कर रहे थे, "मीज़ान" अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। "मीजान" की प्रसिद्ध का मुख्य कारण अहमद रज़ा तथा "मशवेरात" की जनता में अलोकप्रियता थी क्योंकि अहमद रज़ा ने अपने समस्त लेखों में "एकता एवं प्रगति" के स्थान पर सदैव "व्यवस्था एवं प्रगति" का ही उल्लेख किया था। परन्तु बाद में अहमद रज़ा ने इस तथ्य पर पूर्ण विचार किया एवं मशवेरात के बत्तीसवें संस्करण के पश्चात उसने अपने लेखों में "व्यवस्था" का उल्लेख करना समाप्त कर दिया। तथापि स्वेच्छाचारी अहमद रज़ा सदैव कान्स्टेन्टिनोपुल की समिति द्वारा प्राप्त साहित्यिक सामग्रियों एवं निर्देशों की उपेक्षा कर दिया करते थे। अतएव इस प्रकार की उपर्युक्त विचारधाराओं ने जनता को भिन्न-भिन्न तरीकों से प्रभावित किया।

मुराद वे अखिल इस्लामवाद (पान इस्लामिज्म) के विचारों से अत्यधिक प्रभावित था। उसके मुख्य उद्देश्यों में सुल्तान को सिंहासनच्युत करना, संविधान को पुनः कार्यान्वित करवाना तथा राष्ट्रवादियों को आटोमन साम्राज्य के अन्तर्गत पुनः स्थान प्राप्त कराना निहित था। कालान्तर में मुराद ने तथा उसके अन्य अनुयायियों ने सुधारों के प्रचार, पश्चिमीकरण की भर्त्सना एवं आटोमन राष्ट्रीयता की व्याख्या के साथ-साथ यूरोपीय देशों के आटोमन साम्राज्य में हस्तक्षेप करने की नीति का विरोध भी किया। हमीद ने अत्यन्त चतुरता के साथ "प्रगति एवं एकता समिति" का दमन कर दिया था, परन्तु जिस स्फूर्ति के साथ इस समिति के उन्मूलन का सुल्तान ने प्रयत्न किया, उसी प्रगति के साथ नये-नये क्रान्तिकारियों के दलों का निर्माण भी होता रहा। पेरिस स्थित क्रान्तिकारियों को सुल्तान के दो भतीजों तथा उनके बहनोई प्रिंस सबाह-अल दीन का सहयोग भी प्राप्त हुआ। 1899 में भागे हुये शाही लोगों ने समान रूप से उत्तेजना का वातावरण उत्पन्न कर दिया। दामाद मुराद पाशा को अपने श्रम का प्रतिफल न प्राप्त हो सका अतएव उसके पुत्र सबाह अल दीन ने अहमद रजा के साथ मिलकर फरवरी 4, 1902 को पेरिस नगर में आटोमन उदारवादियों का प्रथम सम्मेलन बुलाया। 47 सदस्यों के इस सम्मेलन में अलबेनिया, अरब, आरमीनिया, यूनान, तुर्की, यहूदी तथा कर्ड जाति वर्गों ने अपने-अपने प्रतिनिधि भेजे। इन सभी प्रतिनिधियों ने सुल्तान को सिंहासनच्युत करने के लिए एक मत से अपने विचार व्यक्त किये। **रामसौर** के मतानुसार यह प्रथम ऐसा सम्मेलन था जिसमें बहुजातीय, बहुवर्गीय तथा बहुभाषीय आटोमन साम्राज्य

ने एकता का स्वरूप ग्रहण किया।

इन क्रान्तिकारियों के विचारों ने समाज के प्रत्येक वर्ग को समान रूप से प्रभावित किया जिसके परिणामस्वरूप 1905 में मुस्तफ़ा कमाल एक क्रान्तिकारी आन्दोलक के रूप में प्रकट हुआ। परन्तु इसी मध्य मुस्तफ़ा कमाल पाशा अपने क्रान्तिकारी कार्य-कलापों के कारण बन्दी बना लिया गया। **रोबिना क्वेल** ने लिखा है कि मुक्त होने क पश्चात कमाल ने दमिश्क में "वतन" नामक क्रान्तिकारी गुप्त संस्था की स्थापना की। यह क्रान्तिकारी गुप्त संस्था सीरिया के "पंचम सैन्य दल" (फिफ्थ आर्मी कोर) में अत्यधिक लोकप्रिय हुई। परन्तु समय के साथ-साथ जब यह संस्था मैसीडोनिया के कुछ अन्य स्थानों पर शंकालु दृष्टि से देखी जाने लगी तो मुस्तफ़ा पाशा ने सैलोनिका में 'वतन' (फादरलैण्ड) नामक गुप्त संस्था की अन्य शाखाओं का संगठन किया परन्तु शीघ्र ही "वतन' एवं "स्वाधीनता" समिति में परिणत हो गई।

सैलोनिका में इ० एफ० नाईट के अनुसार तलब बे, रहमी बे, फतेह बे तथा कर्नल जमाल बे के प्रयत्नों के फलस्वरूप एक अन्य आटोमन स्वाधीनता संस्था की संरचना हुई जिसने अपने कार्य सम्पादन द्वारा 'वतन एवं स्वाधीनना समिति' को अपने में आत्मसात कर लिया। तत्पश्चात यह संस्था तुर्की के मुख्य यूरोपीय क्षेत्रों अर्थात मोनस्तीर, उसकब दरामा तथा एद्रीन तक विस्तृत हो गयी। एद्रीन में इस संस्था का कर्णधार इस्मत बे था। आटोमन स्वाधीनता संस्था का मूल ध्येय आटोमन साम्राज्य में न्याययुक्त शासन की स्थापना करना था अर्थात यह संस्था अब्दुल हमीद के निरंकुश शासन का अन्त कर साम्राज्य में वैधानिक राजसत्ता के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कार्यरत हो गयी। 1905 में सैलोनिका के समस्त क्रान्तिकारियों ने एकत्र होकर अहमद रज़ा को सैन्य क्रान्ति के प्रतिनिधित्व के लिए प्रोत्साहित करना प्रारम्भ कर दिया। अब्दुल हमीद के समस्त विरोधी दलों ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया, यहाँ तक कि आरमीनिया की क्रान्तिकारी संस्था ने भी द्वितीय उदारवादी सम्मेलन में अपना प्रतिनिधित्व स्वीकार किया। इस आन्दोलन के पश्चात् पेरिस तथा मैसीडोनिया के क्रान्तिकारी दल 'एकता एवं प्रगति समिति' के अन्तर्गत गठबन्धित हो गये। इस समिति ने अपने कार्यक्रमों की रूपरेखा को सुचारु रूप से कार्यान्वित करने हेतु एक स्थाई समिति की स्थापना की जिसका मुख्य उद्देश्य आटोमन सरकार की नीतियों एवं कार्य प्रणालियों का प्रत्येक प्रशासकीय क्षेत्र में विरोध करने में निहित था।

सक्रिय क्रान्ति

अरनेस्ट जैक ने अपनी पुस्तक 'द राइजिंग क्रैसेन्ट' में क्रान्ति के सक्रिय रूप का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इस क्रान्ति का वास्तविक सकारात्मक रूप पेरिस की अपेक्षा मध्य पूर्व एशिया में से प्रकट हुआ अर्थात पेरिस में केवल क्रान्ति का धवल पथ निर्मित किया गया, परन्तु यथार्थ "क्रान्ति प्रस्थान" मध्य पूर्व एशिया में ही प्रारम्भ हुआ, क्योंकि क्रान्ति पेरिस तथा लन्दन में निवास करने वाले युवा तुर्कों की उपज थी तथा जर्मनी के जनरलों द्वारा प्रशिक्षित तुर्की सैनिक अधिकारियों के अभिप्राय हेतु हुई थी 1907 तक सैनिकों में व्याप्त अशान्ति के कारण विप्लव होना एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया हो गयी थी। अरजरम, बितलीस, इज़मीर एवं इस्तानबूल आदि स्थानों पर जनता ने भ्रष्ट अधिकारियों के विरुद्ध विद्रोह भी प्रारम्भ कर दिये थे। वास्तव में तुर्कों का नवीनीकरण करने का मुख्य श्रेय सैनिकों को ही है। इन्होंने न केवल सैन्य तथा तकनीकी क्षेत्रों में कार्य किया, अपितु राजनैतिक क्षेत्रों में भी प्रशंसनीय कार्य किया। 1908 में मैसीडोनिया में भी सैनिक विप्लव हुआ तथा अब्दुल हमीद ने जिस अधिकारी को सैनिक विप्लव के निरीक्षण हेतु भेजा, असन्तुष्ट जनता ने उसकी हत्या कर दी। इस प्रकार अशान्ति एवं विप्लव के वातावरण में कोई परिवर्तन न हुआ। अन्ततः जुलाई 1908 में सैरिस से एक तार द्वारा संविधान को पुनः स्थापित करने की घोषणा की गयी। संविधान को पुनः स्थापित करने का यह प्रयास पूर्व निर्धारित था। यद्यपि 1908 तक युवा तुर्कों की समितियों का मुख्य उद्देश्य सुल्तान को किसी भी प्रकार सिंहासनच्युत करना तथा संविधान को प्रचारित करना था, परन्तु सुल्तान इन युवा तुर्कों की राजनैतिक नीतियों से पूर्णतः अभिज्ञ था। परिणामस्वरूप उसने 24 जुलाई, 1908 को संविधान को परिवर्तित करना अस्वीकार कर दिया तथा संसद के सदस्यों के चुनाव हेतु राज्य घोषणा प्रसारित करने की आज्ञा भी प्रदान कर दी। इस प्रकार सुल्तान अब्दुल हमीद ने अपने निरंकुश शासन द्वारा स्थापित संविधान को पुनः कार्यान्वित करने का प्रयास किया। इस विशिष्ट घटना के बारे में इतिहासकारों के दो प्रकार के मत हैं, प्रथम यह कि संविधान की घोषणा अपने राज्य-ज्योतिषी अब्दुल हुदा से पूछ करके की, तथा दूसरे मत के अनुसार सुल्तान स्वयं युवा तुर्क एवं सक्रिय व्यक्तियों को राज्य सौंपना चाहता था क्योंकि वह स्वयं भी साम्राज्य को नष्ट नहीं होने देना चाहता था। इस संवैधानिक शासन हेतु सुल्तान अब्दुल हमीद ने एक उदार प्रधानमंत्री की भी

नियुक्ति की। इस कार्यक्रम से जनता में सुल्तान की कार्य व्यवस्था की प्रशंसा एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। इसका मुख्य कारण युवा तुर्कों की सीमित नीति में निहित था क्योंकि इन युवा तुर्क नेताओं ने कभी भी जन सम्पर्क स्थापित करने की चेष्टा नहीं की। फलस्वरूप उस समय राजधानी में केवल "संविधान दीर्घायु हो" "सुल्तान दीर्घायु हों" तथा "गुप्तचर मुर्दाबाद" के ही नारे लगाये जा रहे थे। युवा तुर्कों की जन-साधारण का विश्वास न प्राप्त कर सकने की राजनैतिक त्रुटि ने अब्दुल हमीद को जनता में पुन: प्रतिष्ठा पाने का सुअवसर प्रदान किया। इसका एक मुख्य कारण यह भी था कि जनता बिना शासक के राज्य की कल्पना ही नहीं कर सकती थी। बिना शासक (राजा व सुल्तान) की धारणा को वास्तविक रूप रूस की क्रान्ति ने प्रदत्त किया। अत: जब अब्दुल हमीद इस क्रान्ति के पश्चात "अया सोफ़िया" में प्रथम शुक्रवार को जनसामान्य के साथ प्रार्थना हेतु गया तो जनता ने उसके कार्यक्रमों की प्रशंसा करते हुए उसका भव्य स्वागत किया। इस स्थिति ने युवा तुर्कों को स्पष्ट एवं सतर्क कर दिया कि वे जनता के समर्थन प्राप्त सुल्तान को पद-च्युत करने में असमर्थ हैं और इस प्रकार अब्दुल हमीद द्वितीय नामधारी सुल्तान के रूप में शासन करने लगा।

1908 का युवा तुर्क आंदोलन अब्दुल हमीद के शासन में व्याप्त निरं-कुशता तथा अराजकता के ही विरुद्ध स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। युवा तुर्क प्रशास-कीय कार्य-कुशलता में पूर्ण रूप से दक्ष नहीं थे तथा वे उपर्युक्त वातावरण को पहचानने में असमर्थ थे। उनकी कठिनाइयों को एक ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ ने अपने शब्दों में व्यक्त किया। उनके अनुसार "पासा फेंक दिया गया है और उचित आशा की जाती है, परन्तु विभिन्न धर्मों और जातियों के लोगों का एकीकरण करना अत्यन्त कठिन एवं दुष्कर कार्य है।"

इसके अतिरिक्त मध्य-पूर्व एशिया के निवासी अपने परम्परावादी मानसिक दृष्टिकोण का परिवर्तन नहीं करना चाहते थे और मिल्लत पद्धति (इकाई पद्धति) को समाप्त करने के समर्थक नहीं थे। इसका मुख्य कारण धार्मिक नीति थी, जिसके अन्तर्गत साम्राज्य के निवासी पारस्परिक जातियों से, जिसमें यूनानी, आरमीनियाई, यहूदी, बलगेरियाई तथा अरब जाति के लोग थे, धार्मिक समानता रखने के पक्ष में नहीं थे। अनवर बे के बहुधा कथित शब्द "आकाश के नीचे सब जाति एवं धर्म के लोग समान हैं" भावनात्मक दृष्टि से तो परिपूर्ण थे परन्तु इन शब्दों को वास्तविकता में चरितार्थ करना दुष्कर था।

इन्हीं उपर्युक्त कठिनाईयों के कारण अप्रैल 14, 1909 को युवा तुर्कों के राज्य शासन को हस्तान्तरित करने की चेष्टा की गई। इस महत्वपूर्ण घटना को तुर्की इतिहास में प्रतिक्रांति के नाम से जाना जाता है। इसे सक्रिय रूप देने का श्रेय सुल्तान अब्दुल हमीद को था। यदि तुर्क समिति के सदस्य ठोस और प्रभावशाली प्रतिकर्म न करते तो सम्भवतया प्रतिक्रांतिकारक समय का लाभ उठा लेते, परन्तु युवा तुर्कों ने सामयिक कार्यवाही करके मेसीडोनिया से महमूद शवकत पाशा की अध्यक्षता में तृतीय सैन्य अनीकिनी को बुलाकर अपने संवैधानिक शासन को सुरक्षा प्रदान की। तदुपरांत अप्रैल 26, 1909 को संसद की कार्यकारिणी सभा में सुल्तान अब्दुल हमीद को बुलाकर पदच्युत कर दिया गया। युवा तुर्कों ने इसी बीच अपने इस कार्य हेतु शेख उल इस्लाम से फ़तवा प्राप्त कर लिया था।

इस धार्मिक फ़तवे एवं अनुमति के कारण युवा तुर्कों को जनता का समर्थन प्राप्त हो गया। युवा तुर्कों ने अब्दुल हमीद द्वितीय के स्थान पर मुहम्मद पंचम को नवीन सुल्तान घोषित किया। मुहम्मद पंचम एक अत्यन्त अयोग्य एवं निर्बल व्यक्ति था क्योंकि उसकी मुख्य शिक्षा अन्त:पुर की परिधि तक ही सीमित थी। सम्भवतया इसी कारण मुहम्मद पंचम के अनुसार "उसने कभी कोई समाचार पत्र नहीं पढ़ा था"। अत: इस प्रकार की शिक्षा-दीक्षा से युक्त सुल्तान युवा तुर्कों के लिए एक आदर्श शासक था क्योंकि वह उनके प्रशासकीय कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने में असमर्थ था।

लक्ष्य एवं उद्देश्य

फलत: युवा तुर्कों ने अपना शासन स्थापित करने के पश्चात प्रशासकीय कार्यों की ओर ध्यान दिया। प्रारम्भ में युवा तुर्कों का शासन त्रिशासकों के प्रभुत्व में था जो क्रांति के सिद्धांतों को तैयार कर अपने निरंकुश शासन के प्रति अधिक जागरूक थे। इस प्रकार 1909 से 1914 तक युवा तुर्कों का प्रत्यक्ष संवैधानिक शासन परोक्ष में अधिनायकतंत्र की यथार्थता से ओतप्रोत था। त्रिशासक थे-तलब बे, अनवर बे और जमाल बे। तलब बे एक निर्धन परिवार के प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। वह मेसीडोनिया में क्रांतिकारी आंदोलन के संगठनकर्ताओं में प्रमुख थे और युवा तुर्कों के मंत्रिमण्डल में आन्तरिक मन्त्री के पद पर आसीन था। वह वह अपने कार्यों की ओर पूर्णतया समर्पित थे और उनके चारित्रिक गुणों में विनम्रता, निरहंकारिता और शालीनता सर्वविदित थी। अनवर बे, एक निम्न मध्यम वर्ग के परिवार

से थे और उन्होंने सैनिक प्रशिक्षण भी प्राप्त किया था। वह एक क्रियाशील व्यक्ति थे और शीघ्र निर्णय ले लेने की उनमें विशिष्ट योग्यता थी। उनको युद्धों में स्वाभाविक रुचि थी एवं तुर्की को प्रथम विश्व युद्ध में पदार्पण कराने का श्रेय अनवर पाशा को ही था। किसी ने सत्य ही कहा है कि "अनवर पाशा ने अनवर बे को समाप्त कर दिया अर्थात अनवर बे सत्ता में लिप्त होकर दम्भी और कठोर होता चला गया। जमाल पाशा एक परम्परावादी आटोमन परिवार से थे। वह एक कठोर तुर्की राष्ट्रवादी और इन त्रिशासकों में अपेक्षातया सौम्य एवं परिष्कृत थे।

युवा तुर्कों का मुख्य ध्येय अब्दुल हमीद द्वितीय की कार्यों से संत्रस्त्र जनता में प्रशासन के प्रति विश्वास उत्पन्न करना था। अपने इस कार्य हेतु युवा तुर्कों को प्रशासकीय पुनर्गठन कर देश में एक नव भावना का संचार करना कोई सरल कार्य न था। इसका मुख्य कारण आटोमन साम्राज्य में विभिन्न जातियों धर्मों एवं भाषाओं का सम्मिश्रण था। इस साम्राज्य में अरब, तुर्क, आरमीनियन, अल्बेनियन, ईसाई, यहूदी, कर्ड इत्यादि जातियाँ रहती थीं। इस प्रकार के वृहत एवं विविध समुदाओं को एक सूत्रबद्ध कर किसी राष्ट्रीय नीति का पालन अत्यन्त दुष्कर था।

युवा तुर्कों ने उपयुक्त समस्याओं को अपने प्रशासकीय कार्यों में उपेक्षित किया, अर्थात् जहाँ सार्वजनिक हित के कार्य का प्रश्न था वहाँ तक तो जाति धर्म के भेदभाव का मूल प्रश्न उत्पन्न नहीं हुआ। किन्तु युवा तुर्क अपनी राष्ट्रीय नीति में असफल रहे। युवा तुर्कों ने सर्वप्रथम अपने प्रारम्भिक प्रशासन में आन्तरिक समस्याओं की ओर अपना ध्यान आकर्षित किया। उनका मुख्य लक्ष्य सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक कार्यों को सक्षमता प्रदान करना था।

युवा तुर्क प्रशासन के वित्तमन्त्री जावेद बे ने अपने विभाग को पुन: सुसंगठित किया। उनका प्रमुख ध्येय राजकीय अर्थ-व्यवस्था को सुचारु रूप से कार्यान्वित करना था। अपने इस कार्य में जावेद बे को फ्रांस के चार्ल्स लॉरेन का परामर्श एवं सहयोग प्राप्त था। सीमा-शुल्क कार्यालय के कार्य को विधिवत तथा सफ़ल बनाने हेतु ब्रिटेन के सर रिचर्ड क्रेफोड से सहायता ली गयी। अनवर पाशा के अधीन रक्षा मन्त्रालय में भी परिवर्तन किये गये। जनरल लिमान वॉन सैन्डर्स की अध्यक्षता में जर्मनी से एक सैनिक शिष्टमंडल इस्ताम्बूल आया। उसका मुख्य कार्य साम्राज्य की सेना को आधुनिक सैनिक प्रशिक्षण के विषय में परामर्श देना था। नौसेना का आधुनिकीकरण ब्रिटिश

नौसेना अध्यक्ष गेम्बल और लिम्पसन के अधीन प्रारम्भ हुआ। फ्रांसीसी पुलिस अधिकारी काउन्ट रोविलाँ ने पुलिस विभाग को आधुनिक पद्धति पर पर सुसंगठित किया। उसके अधीन सशस्त्र पुलिस अंग का निर्माण किया गया। एक अन्य फ्रांसीसी विधि विशेषज्ञ काउन्ट अस्त्रोंग की सेवाएँ नवीन धर्म-निरपेक्ष न्याय के संकलन हेतु प्राप्त की गयी।

काज़िम नमी दुरू के मतानुसार उसका मुख्य कार्य एक धर्म निरपेक्ष न्याय-संहिता का सम्पादन करना था जिसमें इस्लामिक न्याय का सम्मिलित होना अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त शिक्षा एवं सामाजिक कार्यों में युवा तुर्क सुधारकों ने अपने हाथों में बागडोर ली जिनमें मुख्य ज़िया गोकल्प, तौफ़ीक, फ़िकरत, मोहम्मद अमीन व फ़ुआद थे।

युवा तुर्क पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित थे। यूरोपीय दर्शन एवं नवीन विचारधाराओं का अध्ययन मूलरूप से अथवा अनुवादित संस्करण के रूप में अत्याधिक प्रचलित हो गया था। इस प्रकार यूरोपीय साहित्य से प्रभावित शिक्षित वर्ग आटोमन जनता के सामाजिक एवं सांस्कृतिक उत्थान के लिए इच्छुक थे। वे परम्परावादी तथा रूढ़िवादी समाज का परिवर्तन कर उसमें नवचेतना का संचार करने के अभिलाषी थे। उन्होंने जनता में राष्ट्रीय चेतना का उद्भव करने का प्रयास किया। उनका प्रयास तीन प्रकार की राष्ट्रीय भावनाओं में स्फुटित हुआ—(1) अखिल ऑटोमनवाद, (2) अखिल इस्लाम-वाद तथा (3) अखिल तुर्कीवाद।

(1) अखिल ऑटोमनवाद

अखिल ऑटोमनवाद एक प्राकृतिक प्रतिक्रिया थी। जिसमें युवा तुर्कों ने सर्वप्रथम अपनी रुचि प्रदर्शित की उन्होंने अपना ध्यान इस प्रयास की ओर आकर्षित किया क्योंकि इसमें उनको राष्ट्र संगठन के चिन्ह प्रतीत हुए। एच० बी० शराबी के मतानुसार युवा तुर्कों की यह धारणा थी कि वह ऑटोमनवाद की नीति के द्वारा साम्राज्य के समस्त समुदायों का एकीकरण करने में सफल हो सकेंगे। उनके अनुसार साम्राज्य की एक भाषा होगी और समस्त जातियाँ संविधान एवं सुल्तान के प्रति समर्पित रहेंगी।

परन्तु विभिन्न जातियों के मूल सिद्धान्तों व एतिहासिक भावनाओं के सम्मिश्रण से शीघ्र ही पृथकतावादी आन्दोलन प्रारम्भ हो गया जिसमें अपने-अपने समुदाय में राष्ट्रीय भावना जागृत होने का परिचय प्राप्त होने लगा। प्रायः संसद में गैर तुर्की सदस्य तुर्की सदस्यों के विरुद्ध मतदान देने लगे। इस प्रकार तथाकथित ऑटोमनवाद का प्रत्येक कार्य अन्य जातियों में सन्देह

उत्पन्न करने लगा। अन्ततः इन सब परिवर्तनों के कारण अल्बेनिया में विद्रोह प्रारम्भ हो गया तथा आटोमनवाद की समानता की नीति नितान्त असफ़ल हो गयी।

(2) अखिल इस्लामवाद

युवा तुर्कों ने अपनी प्रथम नीति अर्थात अखिल ऑटोमनवाद की नीति में पूर्णतया असफल हो जाने के पश्चात् अखिल इस्लामवाद की नीति का पालन किया। इसी नीति के अभिप्राय से सम्पूर्ण 19वीं शताब्दी में मुस्लिम राज्यों और जनता के मध्य इस्लामवाद के गठबन्धन की चेष्टा की गई। अखिल इस्लामावाद की नीति के प्रसार के लिए जमाल-अल-अफ़गानी ने महत्वपूर्ण कार्य किया। युवा तुर्कों ने भी इसी राष्ट्रीय उत्साह में सन्तुष्टि की कामना की परन्तु उन्होंने जिन राजनैतिक स्वप्नों की रूपरेखा बनायी वे वास्तविकता में आगे होने के बजाय दिवास्वप्न मात्र रह गये। डॉ० रिज़ा नूर के अनुसार इसका मुख्य कारण गैर मुस्लिम जातियों के प्रति कठोर भेद-भावना एवं अत्याचार की नीतियों का पालन करने में निहित था। यद्यपि 1909 के साईलेशिया में आरमीनिया के निवासियों के प्रति नरसंहार का दायित्व अविदित था परन्तु इस नरसंहार का दायित्व युवा तुर्कों एवं प्रति-क्रियावादियों पर था क्योंकि वह वर्ग अखिल इस्लामवाद का कठोर पोषक था। इसी के परिणामस्वरूप 1912 के मध्य एकता एवं प्रगति समिति अपनी कठोर एवं प्रतिक्रियात्मक नीतियों के फलस्वरूप पतनग्रस्त होने लगी।

(3) अखिल तुर्कीवाद

युवा तुर्क शासन ने उपर्युक्त राष्ट्रीय नीतियों की असफलता के पश्चात अखिल तुर्कीवाद की नीतियों का अनुसरण करना प्रारम्भ कर दिया। इस अखिल तुर्कीवाद के अन्तर्गत मध्य एशिया, रूस, ईरान के समस्त तुर्की निवासियों का आह्वान किया गया। परन्तु यह नीति पूर्णतया अव्यावहारिक थी। तुर्कीवाद की इस नीति ने युवा तुर्कों के पतन का अन्तिम चरण पूर्ण किया। उसकी नीतियों के द्वारा विभिन्न प्रदेशों में विद्रोहात्मक स्थिति उत्पन्न हो गयी। बाल्कन प्रदेश की दशा अत्यन्त गम्भीर एवं शोचनीय हो गयी जिसके कारण 1912-13 के बाल्कन युद्ध सम्पन्न हुए।

मूल्याङ्कन

युवा तुर्क अपनी आन्तरिक समस्याओं में इतना निमग्न थे कि उन्हें अपने

वैदेशिक सम्बन्धों को बनाये रखने का कदाचित कोई ध्यान नहीं रहा। यूरोप के देशों को इस बात की आशा थी कि युवा तुर्क समय के साथ-साथ अपने साम्राज्य को सुदृढ़ एवं सशक्त बना लेगें। इसलिए आटोमन साम्राज्य के अन्तर्गत यूरोपीय एवं अन्य क्षेत्रों का निर्णय शीघ्रातिशीघ्र होना आवश्यक हो गया। अत: अक्टूबर 5, 1908 को बलगेरिया केपिर्स फरदिनैन्द ने सुल्तान से समस्त सम्बन्ध विच्छेद कर स्वयं को जार घोषित कर दिया। अक्टूबर 7 को आस्ट्रिया हंगरी ने बेस्निया तथा हरजीगोविना का सयोजन कर लिया। अक्टूबर 17, 1908 को क्रीट ने विद्रोह कर स्वयं को यूनान के साथ सम्मिलित कर लिया। ये समस्त घटनाएँ युवा तुर्कों की मान प्रतिष्ठा पर आघातस्वरूप थी और 1909 की प्रति क्रान्ति में इन घटनाओं का विशेष योगदान था। परन्तु इससे अधिक राजनैतिक अपमान 1911 के टर्की-इटली युद्ध के रूप में परिलक्षित हुआ। अत: आटोमन साम्राज्य के क्षेत्र में युवा तुर्कों का इतिहास जटिल था परन्तु उनका लक्ष्य अत्यन्त साधारण एवं स्पष्ट था। एक युवा तुर्क नेता के अनुसार युवा तुर्क आन्दोलन यूरोपीय कार्य प्रणाली पर आधारित था परन्तु वे सदैव यूरोपीय हस्तक्षेप के विरुद्ध थे।

युवा तुर्क क्रान्ति जिन ध्येयों और लक्ष्यों को लेकर आरम्भ हुई थी उनकी परिपूर्णता युवा तुर्क शासन में सम्भव न हो सकी। युवा तुर्क नेता प्रौढ़ता एवं अनुभव के अभाव के कारण राष्ट्रीय नीति एवं विदेश नीति में असफल रहे। युवा तुर्कों ने सुधारों को सफल बनाने की यद्यपि चेष्टा की, किन्तु वह वास्तविकता से पूर्णतया विपरीत थे। अर्थात अपने सुधारों एवं नीतियों के कारण युवा तुर्कों ने साम्राज्य में विघटन आरम्भ किया। युवा तुर्कों की अनुभवहीनता ने ही तुर्की साम्राज्य को प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी के साथ संलग्न किया। जैक ऑनस्ट ने सम्भवतया सत्य ही लिखा है कि युवा तुर्कों के आन्दोलन को सफल बनाने के लिये दस वर्षों की शान्ति आवश्यक थी जबकि उन्होंने 12 वर्षों तक साम्राज्य को युद्ध में ग्रस्त रखा।

युवा तुर्क क्रान्ति के शासकों का युग तुर्की के इतिहास में एक सीमान्त काल है जिसने क्रान्ति, युद्ध, विघटन एवं राष्ट्रवाद और आधुनिकीकरण को जन्म दिया। यदि युवा तुर्क जर्मनी का साथ प्रथम विश्वयुद्ध में न देते तो सम्भवत: उनका इतिहास कुछ और होता।



आटोमन साम्राज्य

1. Ahmad, Feroz : The Young Turks : the Committee of union & Progress in Turkish Politics, 1908-1914, Oxford, 1969.

2. Lee, D. E : "The Origins of Pan Islamism," American Historical Re-view, 38, 1942.

3. Duru, Kazim Nami : My Memoirs of Union and Progress, translated, Istanbul, 1957.

4. Sanders, Liman Von : Five Years In Turkey, Annapolis, 1927.

5. Tugay, E. F : Three Centuries, Oxford, 1963.

6. Nur, Dr. Riza : My Life & Memoirs, Istan bul, 1967.

7. Farhi, David : Middle Eastern Studies, 7, 1971.

8. David, W. D. : European Diplomacy in the

Near Eastern Question, 1906-1909, Uppsala, 1939.

9. Tunaya, Tarik Z : Political Parties in Turkey, 1859-1952, Istanbul, 1952

10, Kushner, David : The Origins of turkish Nationalism, London, 1977,

11, Berkes, Niyazi ed, : Selccted Essays of Zia Gokalp, New York, 1959.

12, Shaw, Stanford J & Shaw, Ezel Kural : The Rise of Modern turkey 1808-1975, London, 1977,

13. The Encyclopaedia of Islam : Leiden, 1938,

14, Ramsaur, Ernest E : The Young turks, Princeton, 1957.

15, Davy, Richard : The Sultan & his Subjects, New York, 1897.

16, Elliot, Sir Charles : Turkey & Europe, London, 1908,

17, Blunt, W, H : My Diaries : Being A Personal Narrative of Events, 1884-1914, New York, 1932.

18, Quale, G Robina : Eastern Civilization, New Jersey, 1975,

19, Jack, Erneste : The Rising crescent, New York, 1944,

20- Khadduri, Majid : The Role of the Military in middle East Politics, the American Political Science Review, 1953,

21, Sharabi, H, B. : Government & Politics of the Middle East in the twentieth century New York, 1962,

अध्याय 40

ऑटोमन साम्राज्य

विघटन काल

1908 में युवा तुर्कों द्वारा शासन की बागडोर संभालने के पश्चात तुर्की की विदेश नीति में अल्पकालिक उत्क्रमण प्रतीत हुआ अर्थात अब्दुल हमीद के समय में जर्मन समर्थक नीति में पूर्ण परिवर्तन करके युवा तुर्कों ने ऑटोमन नीति को ब्रिटेन समर्थक बना दिया। इस नीति परिवर्तन के तीन मुख्य कारण थे–प्रथम तुर्की क्रान्तिकारियों का समर्थन, जो ब्रिटेन और फ्रांस की राजनैतिक दार्शनिकता से प्रभावित थे; द्वितीय शिक्षित तथा अशिक्षित तुर्क रूस को सदैव अपना पैतृक शत्रु समझते थे क्योंकि रूस तुर्की पर अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता था। रूस की नीति का मुख्य उद्देश्य कान्स्टेन्टिनोपुल तथा जलडमरूमध्य (स्ट्रेट्स) में अपना नियन्त्रण स्थापित करने में निहित था; तृतीय, युवा तुर्क क्रान्ति से पूर्व ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस में त्रिपक्षीय समझौते का कार्यान्वित होना था। युवा तुर्क जर्मनी के क़ैसर विलियम को अब्दुल हमीद का समर्थक समझते थे तथा साथ ही युवा तुर्क ब्रिटेन तथा फ्रांस को प्रजातंत्र एवं उदारवादिता का समर्थक मानते थे। फलतः युवा तुर्क क्रांतिकारियों ने ब्रिटेन और फ्रांस के साथ अपने सम्बन्धों को महत्व दिया।

इन सबके बावजूद परिस्थितयों ने शीघ्र ही युवा तुर्कों की उपर्युक्त नीति को परिवर्तित कर दिया। इस नीति परिवर्तन के भी तीन मुख्य कारण थे, प्रथम युवा तुर्क शासकों में इस भावना का प्रादुर्भाव होने लगा कि त्रिपक्षीय शक्तियाँ आटोमन साम्राज्य के विभाजन की इच्छुक हैं तथा इसके विपरीत जर्मनी तुर्की की स्वतन्त्रता एवं क्षेत्रीय अखण्डता बनाये रखने की नीति का परिपालक है। द्वितीय, युवा तुर्कों की अखिल तुर्कवाद, अखिल इस्लामवाद तथा अखिल ऑटोमनवाद की नीतियों के कारण तुर्की का जर्मनी के साथ सम्बन्ध अवश्यम्भावी प्रतीत होने लगा। तृतीय, 1911 में तुर्की पर इटली के आक्रमण ने तुर्की सरकार के लिये गम्भीर स्थिति उत्पन्न कर दी।

इसका मुख्य कारण त्रिपक्षीय संधि के सदस्यों का अहस्तक्षेप की नीति का परिपालन था। इसके अतिरिक्त 1912-1913 के बाल्कन युद्धों ने तुर्क शासकों की दृष्टि में पश्चिमी शक्तियों की नीति के प्रति सन्दिग्ध बना दिया जिसके फलस्वरूप तुर्की ने जर्मनी के साथ गठबन्धन कर लिया।

टर्की-इटली युद्ध

आन्तरिक कठिनाइयों के विषम होने के साथ-साथ युवा तुर्कों के कार्यों में विदेशी हस्तक्षेप में भी वृद्धि होती गयी। इटली की सरकार को बाल्कन क्षेत्र में किसी प्रकार का लाभ न होने के कारण इटली ने ट्रिपोली (लीबिया) को हस्तगत करने का उचित सुअवसर ढूंढ़ा। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु इटली प्रारम्भ से ही ट्रिपोली के प्रदेश को प्राप्त करने के लिए कार्यरत था। 19वीं शताब्दी के प्रथम चरण में इटली के राष्ट्रवादियों ने उत्तरी अफ्रीका को अपने साम्राज्य-विस्तार का क्षेत्र चुना। स्टेनफोर्ड शॉ के मतानुसार इटली अपने प्राचीन रोमन साम्राज्य की गरिमामय पुनरावृत्ति का इच्छुक था। सम्भवतया युवा इटली राष्ट्रवादी आंदोलन के प्रवर्तक 'मात्सेनी' ने सत्य ही कहा था 'उत्तरी अफ्रीका के प्रदेश इटली की ही सम्पत्ति है'। उदार राष्ट्रवादियों पर निरंकुश शासकों के साम्राज्यवाद का प्रभाव था जबकि यह वैधानिक प्रजातन्त्र के प्रतिनिधियों द्वारा आरोपित किये हुये साम्राज्यवाद के लोकोपकारी लक्ष्य को पूर्ण करता था।

जब तृतीय फ्रांसीसी राजतन्त्र ने 1881 में ट्यूनिस को हस्तगत कर लिया तो इटली ने इसके प्रति अत्यधिक रोष प्रदर्शित किया क्योंकि फ्रांसीसियों ने बहुत ही अधिक सामरिक महत्व के प्रदेश को प्राप्त कर लिया था जबकि यह प्रदेश इटली के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण था। इस घटना के पश्चात इटली ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि ट्रिपोली के प्रदेश पर वह किसी अन्य राष्ट्र को अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं करने देगा। 1872 में इटली ने फ्रांसीसियों के उत्तरी अफ्रीका में विस्तार में अवरोध उत्पन्न करने हेतु त्रिपक्षीय संधि की। इसके अतिरिक्त इटली ने ट्रिपोली को प्राप्त करने हेतु जर्मनी से भी आश्वासन प्राप्त कर लिया। 1901-2 के फ्रांस-इटली सम्बन्ध से फ्रांसीसी तथा इटली की सरकार में पत्रों का आदान-प्रदान प्रारंभ हो गया जिसके द्वारा फ्रांस ने इटली की सरकार को ट्रिपोली के प्रदेश में प्रभुत्व एवं हस्तक्षेप का अधिकार प्रदान कर दिया। ब्रिटेन ने फ्रांस और इटली के समझौते से प्रभावित होकर इटली को अपनी शुभ कामनाएँ प्रदान कीं।

1908 के युवा तुर्क आंदोलन तथा ऑस्ट्रिया के द्वारा बोसिनिया एवं

हर्जिगोविना को प्राप्त करने के पश्चात 1909 में इटली तथा रूस में यह समझौता हुआ कि इटली रूस को जलडमरूमध्य मार्ग (स्ट्रट्स) को प्राप्त कराने में सहायता प्रदान करेगा, जिसके फलस्वरूप रूस इटली को ट्रिपोली के प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित करने में सहयोग देगा। 1909 में इटली की सरकार ने जब तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत अफ्रीका के प्रदेश ट्रिपोली एवं लीबिया को प्राप्त कर लिया तो इटली की यूरोपीय जगत में अत्यधिक मानवृद्धि हुई। लुईस बरनार्ड के अनुसार एकता एवं प्रगति समिति ने स्वयं को ट्रिपोली प्रश्न में भी पूर्व-घटित क्रीट की समस्या की भाँति असमर्थ पाया। इन दोनों ही घटनाओं में युवा तुर्कों ने जिन नीतियों का पालन किया उसका परिणाम अत्यन्त घातक हुआ अर्थात युवा तुर्कों की इसी नीति के परिणामस्वरूप युद्ध हुआ। एकता एवं प्रगति समिति की नीतियों के कारण साम्राज्य को न केवल लीबिया तथा क्रीट के प्रदेशों को खोना पड़ा अपितु उसे अन्य प्रदेशों से भी हाथ धोना पड़ा।

1911 में जब फ्रांस ने उत्तरी अफ्रीका के प्रति अपनी नीतियों में परिवर्तन किया, तो इटली ने ट्रिपोली के प्रदेश को हस्तगत करने का निश्चय इस धारणा पर किया कि त्रिराष्ट्र संघ (ट्रिपल ऑतॉन्त) तथा त्रिपक्षीय संधि (ट्रिपल एलायन्स) के सदस्य उसकी इस नीति एवं कार्य का विरोध नहीं करेंगे। इसी उद्देश्य से ओतप्रोत होकर इटली ने तुर्की सरकार को एक चेतावनी दी तथा तदुपरान्त सितम्बर 19, 1911 को युद्ध की घोषणा भी कर दी। जलाल बयार का कथन है कि इटली युद्ध करने के लिए कटिबद्ध था और इसी कारण किसी भी समझौते का इच्छुक नहीं था। लीबिया में जब युद्ध का विस्तार होने लगा तो इटली ने एज़ियन सागर में स्थित डार्डेनल्स द्वीप तथा रोड्स के प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इटली की सेना ने तुर्की चौकियों पर भी आक्रमण किया तथा डार्डेनल्स पर घेरा डाल दिया। तुर्की ने 1912 तक ट्रिपोली के निराशा-जनक युद्ध में अपना साहस न छोड़ा परन्तु जब बाल्कन प्रदेशों ने टर्की के विरुद्ध युद्ध घोषित करने की चेतावनी दी तो क्लेटन का मत है कि युवा तुर्क सरकार को विवश होकर सन्धि के लिए झुकना पड़ा।

अक्टूबर 18, 1912 की लोज़ान की सन्धि के द्वारा इटली-तुर्की युद्ध का समापन हुआ। संधि के फलस्वरूप तुर्की ने लीबिया पर इटली की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली तथा इसके बदले में इटली ने डार्डेनल्स द्वीप टर्की को पुनः वापस कर दिया। इस युद्ध के परिणाम तुर्की सरकार के लिए अत्यधिक

घातक सिद्ध हुए क्योंकि 1911 में तुर्की को लीबिया के प्रदेश की हानि हुई। इसी युद्ध के साथ इटली ने टर्की के कुछ अन्य प्रदेशों को किसी न किसी बहाने हस्तगत करना प्रारम्भ कर दिया। **सर हैरी ल्यूक** ने अपनी पुस्तक **'द मेकिंग ऑफ माडर्न टर्की'** में तुर्की की स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है कि इटली ने तुर्की पर सितम्बर 1911 में युद्ध की घोषणा कर न केवल टर्की को अपितु पूर्ण विश्व को विस्मित कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप तुर्की का अफ्रीका के क्षेत्रों पर से प्रभुत्व सदैव के लिए समाप्त हो गया। इस तुर्की इटली युद्ध के द्वारा दो और महत्वपूर्ण परिणाम सामने आये–(1) 1878 से तुर्की साम्राज्य का जो विघटन सीमित हो गया था, वह पुनः आरम्भ हो गया। (2) युद्ध ने साम्राज्य की सैनिक शिथिलता को प्रकट किया जिससे यूरोपीय शक्तियों को तुर्की की सैन्य दुर्बलता का आभास हो गया। स्टेनफ़ोर्ड शॉ का कथन है कि यूरोपीय शक्तियाँ इस बात से परिचित हो गयीं कि तुर्की अपने साम्राज्य की अखण्डता बनाये रखने में असमर्थ है और जलाल बयार के अनुसार यह युद्ध युवा तुर्कों के लिए विफलता का प्रथम मुख्य चरण था।

बाल्कन समस्या

बाल्कन प्रायद्वीप की समस्या विभिन्न राजनैतिक कारणों के द्वारा दिन-प्रति-दिन जटिल होती चली गई और 1912-13 में वह युद्ध में परिवर्तित हो गयी। यह समस्या दक्षिणी पूर्वी क्षेत्र में ऑस्ट्रिया, हंगरी, फ्रांस, ब्रिटेन तथा रूस के मध्य द्वेष पर आधारित थी। क्रीमिया युद्ध के पश्चात ऑटोमन के यूरोपीय क्षेत्रों का विघटन पूर्ण रूप से स्पष्ट होने लगा। 1878 में बर्लिन की कांग्रेस ने यूरोप को एक नवीन संघर्ष से सुरक्षित किया जो रूस की तुर्की के प्रति नीति द्वारा आरम्भ हो सकता था, परन्तु 19वीं शताब्दी के प्रथम दशक में युवा तुर्क आंदोलन एवं तुर्की के राष्ट्रीय जागरण ने बाल्कन प्रायद्वीप को महाशक्तियों द्वारा निर्धारित 'यथापूर्व स्थिति' के विरुद्ध उत्प्रेरित कर दिया। युवा तुर्क क्रांति ने आस्ट्रिया को पुनः इस क्षेत्र में अपने स्वार्थों के प्रति आकर्षित किया। आस्ट्रिया ने 1909 में बोसनिया तथा हर्ज़ीगोविना के प्रदेश तुर्की से छीन लिये।

सी. थ्योड्यूल के अनुसार अन्ततः बोसनिया तथा हर्ज़ीगोविना के प्रदेश ऑस्ट्रिया के अधिकार में हो जाने के पश्चात भी यूरोप का कुछ क्षेत्र ऑटोमन साम्राज्य के अधिकार में रहा। इसमें मेसीडोनिया, अलवेनिया (अलबानिया), थ्रेस, सांदजक (वह भाग जो सर्बिया तथा माण्टिनीग्रों को

विभाजित करता है) आदि प्रदेश थे । इस विस्तृत साम्राज्य में युवा तुर्कों के संविधान ने जनता में एक नवीन आशा की किरण प्रस्फुटित की। शीघ्र ही यह विदित हो गया कि इस नवीन शासन के द्वारा जो आश्वासन दिये गये थे, उनमें वास्तविकता लेशमात्र भी न थी क्योंकि नवीन शासन व्यवस्था ने अपनी नीतियों द्वारा विभिन्न जातियों तथा धर्मों के लोगों में विद्रोह की तीव्र भावना उत्पन्न कर दी थी । साम्राज्य के निवासियों का यह विचार था कि नवीन संविधान के आश्वासनों के द्वारा एक न्याययुक्त शासन पद्धति का संचार होगा परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत सिद्ध हुई तथा जब शासन वर्ग ने 'अखिल इस्लामवाद' तथा 'अखिल ऑटोमनवाद' की नीतियों का परिपालन किया तो बालकन निवासियों की समस्त आशाओं पर तुषारापात हुआ । सर्वस्व विविधताओं के फलस्वरूप ई. लिप्सन ने उपयुक्त ही लिखा है कि "ऑटोमन लोग स्वयं कदापि नहीं बदलते परन्तु उनके पड़ोसी तथा सीमाएँ परिवर्तित होती रहती हैं तथा उनके विचारों एवं प्रयत्नो में कोई अन्तर नहीं आता । इन लोगों ने कई संविधान बनाये परन्तु वे केवल दिखावा मात्र थे और उनमें कोई यथार्थता नहीं थी ।" इस तथ्य की पुष्टि सर चार्ल्स इलिएट ने भी की तथा उनके अनुसार आटोमन साम्राज्य की विविध जातियाँ शासन के प्रत्येक अंग में व्याप्त थीं । केवल दस मील की परिधि में यदि तीन ग्राम थे तो इन तीनों में से एक तुर्क निवासियों का था, दूसरा यूनानियों का तथा तीसरा बल्गेरिया के निवासियों का था । इस सन्दर्भ में यह कहना तर्कसंगत है कि भौगोलिक निकटता के होते हुए भी प्रत्येक जाति की भाषा, वेश-भूषा तथा धर्म में पूर्ण रूप से विभिन्नता थी । अत: इस प्रकार की स्थिति में प्रशासन करना कोई सहज कार्य न था अपितु यह एक अत्यन्त दुष्कर प्रशासकीय समस्या थी । यदि शासन व्यवस्था दूषित न होती तो इतने विद्रोह न होते जितने इस साम्राज्य में हुए । शासकों ने जनता की समस्याओं एवं शासन-व्यवस्था की ओर कदाचित ही कभी ध्यान दिया; शासकों ने सदैव अपनी मनमानी की जिसका परिणाम भविष्य में विद्रोहों तथा युद्धों के रूप में प्रस्तुत हुआ ।

प्रथम बाल्कन युद्ध

सितम्बर 1911 में इटली के द्वारा ट्रिपोली पर आक्रमण होने के परिणामस्वरूप 18 अक्टूबर 1912 को लोजान की सन्धि हुई । जिसके अनुसार तुर्की ने ट्रिपोली के प्रदेश पर से अपना प्रभुत्व त्याग दिया । अनस्तॉस्फ के मत से इस सन्धि की वास्तविकता एवं महत्ता इस बात में निहित नहीं

थी कि इसके द्वारा इटली को एक नवीन उपनिवेश की प्राप्ति हुई अपित तुर्की साम्राज्य की दुर्बलता यूरोपीय देशों के सम्मुख परलिक्षित हुई और परिणामस्वरूप तुर्की साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया। इस युद्ध का सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिणाम यह था कि बाल्कन प्रदेशों ने तुर्की के प्रति आक्रमणकारी नीति का परिपालन प्रारम्भ कर दिया जिसके फलस्वरूप भविष्य में तुर्की के यूरोपीय क्षेत्रों को युद्ध के वातावरण ने आच्छादित कर लिया।

ऐसी स्थिति में बाल्कन के समस्त प्रदेशों ने ट्रिपोली युद्ध के समय ऑटोमन साम्राज्य के विरोध में अपने को संगठित करना प्रारम्भ कर दिया। इन प्रदेशों में टर्की की अत्याचारी एवं दमनकारी नीतियों के प्रति रोष था तथा ईसाइयों के प्रति नरसंहार की नीति ने बाल्कन प्रदेशों में आक्रोश को अत्यधिक प्रज्जवलित एवं उत्तेजित कर दिया। परिणामस्वरूप समस्त जनता ने मेसिडोनिया की स्वाधीनता के लिए विद्रोह एवं युद्ध प्रारम्भ कर दिया। ई. बारकर का कथन है कि इसका मूल कारण यह था कि बाल्कन क्षेत्र के समस्त प्रदेशों में मेसिडोनिया की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी तथा सुधारों के नाम पर कभी भी इस क्षेत्र में कुछ नहीं किया गया था। यहाँ केवल निर्णय आयोग बनाये गये थे जिनके द्वारा कभी भी कोई लाभप्रद परिणाम नहीं निकला क्योंकि प्रत्येक आयोग अपने स्वार्थ में निहित पूर्ण धन-राशि से तृप्त होकर अपने आशीषयुक्त प्रतिवेदन प्रस्तुत करते रहे। इस प्रकार मेसिडोनिया पूर्वी समस्या की मूल कठिनाइयों का क्षेत्र बन गया। उपर्युक्त परिस्थिति के कारण तथा युवा तुर्क शासकों की विभिन्न 'वादग्रस्त नीतियों' पर आधारित राजनैतिक तत्वों ने मेसिडोनिया के निवासियों की आस्था आटोमन शासकों में समाप्त कर दी। उनकी शासन प्रणाली में जहाँ एक ओर विद्रोह की भावना उत्पन्न करने में सहायता प्रदान की वहाँ दूसरी ओर बाल्कन प्रायद्वीप के अन्य प्रदेशों में भ्रातृत्व की भावना का भी संचार किया। ए. थामस के आधार पर इस प्रकार चार प्रदेशों—सर्बिया, बल्गेरिया, यूनान तथा मॉन्टिनीग्रो—ने मिलकर एक बाल्कन संघ (बाल्कन लीग) की स्थापना की, जिसने सुधारों की माँग की। बाल्कन प्रायद्वीप में बाल्कन संघ की स्थापना ने यूरोपीय एवं तुर्की के राजनीतिज्ञों को आश्चर्यचकित कर दिया क्योंकि पारस्परिक मतभेद के कारण बाल्कन संघ का गठित हो जाना एक विशिष्ट राजनैतिक परिवर्तन था। इस संघ को यथार्थ रूप देने का मुख्य कार्य रूसी कूटनीतिज्ञों ने किया, परन्तु बाल्कन क्षेत्र में इस 'नव गठ-

बन्धन' का श्रेय बल्गेरिया के शासक फरडिनेन्ड को भी प्राप्त था क्योंकि उसी के प्रयत्नों द्वारा रूसी सहायता इस बालकन मित्रसंघ को प्राप्त हो सकी। डी, डॉकिन के अनुसार बालकन संघ ने मेसिडोनिया की समस्या के निवारण हेतु आटोमन साम्राज्य से भरसक प्रयत्न किया परन्तु उनकी समस्त चेष्टाएँ असफल रहीं।

अन्तत: बालकन संघ ने तुर्की के विरुद्ध अक्टूबर 17, 1912 को युद्ध घोषित कर दिया। अपने पूर्व-निश्चित अभियानों की रूपरेखा के अनुसार बल्गेरिया ने थ्रेस पर आक्रमण किया एवं यूनान तथा सर्बिया ने मेसीडोनिया को अपना युद्धस्थल बनाया। बारकर के मत से अपने प्रथम प्रयास में संघ को आशातीत सफलता प्राप्त हुई जब तुर्कों की थ्रेस तथा मेसीडोनिया में समान रूप से पराजय हुई। बल्गेरिया ने युद्ध के पश्चात किर्क-किलसी पर अधिकार कर लिया तथा ल्यूल बरगस (अक्टूबर 28—नवम्बर 2) के महत्व-पूर्ण युद्ध में उसे विजय प्राप्त हुई और तत्पश्चात एड्रियानोपुल का घेराव कर के कान्स्टेन्टिनोपुल की ओर अग्रसर हुआ। इसी मध्य यूनानी सेना ने सेलो-निका (नवम्बर 9) पर अधिकार करने के पश्चात एजियन समुद्री मार्ग पर नियंत्रण कर लिया। सर्बिया ने उसकब (अक्टूबर 26), मोनोस्टिस तथा ओक्रिडा (नवम्बर 18-23) आदि प्रदेश जीत लिये। इस युद्ध में तुर्की सरकार को कोई भी विजय की आशा न रहने तथा निरन्तर युद्धग्रस्त होने के कारण दिसम्बर 23, 1912 को एक विराम सन्धि का आश्रय लेना पड़ा। ऐसी परि-स्थिति में तुर्की सरकार के पास केवल एक ही मार्ग था और वह था अन्तर-राष्ट्रीय देशों का आह्वान करना। इस कारण आटोमन साम्राज्य ने महा-शक्तियों से हस्तक्षेप की प्रार्थना की और तत्पश्चात् दिसम्बर 3 को युद्ध-विराम घोषित किया। और दो सप्ताह पश्चात लन्दन समझौता कार्यान्वित करने की चेष्टा की गई। इस समझौते के आरम्भ होने तक युवा तुर्क लोगों ने अनवर बे के नेतृत्व में जनवरी 23, 1913 में सरकार को बदल दिया। परिणामस्वरूप अनवर बे की युद्ध-नीति के कारण युद्ध-विराम भंग होकर युद्ध पुन: प्रारम्भ हो गया। इस बार यूनान के जेनीना (5 मार्च), बल्गेरिया ने 27 मार्च को एड्रियानोपुल तथा मान्टिनीग्रो ने 22 अप्रैल को स्कूटारी (शकोदरी) का प्रदेश जीत लिया। अतस्तास्फ के अनुसार युद्ध का समा-पन मई 30, 1913 को लन्दन की सन्धि के द्वारा हुआ जिसके अनुसार प्रथम बालकन युद्ध का अन्त हुआ। इस सन्धि के अन्तर्गत आटोमन साम्राज्य को यूरोप के समस्त क्षेत्रों को त्यागना पड़ा। इस प्रथम बालकन युद्ध ने आटोमन साम्र.ज्य

के क्षेत्रफल को अत्यन्त सीमित कर दिया। इस प्रकार बालकन संघ ने आटोमन साम्राज्य का विघटन एवं राजनैतिक शोषण कर अपनी सफलता के प्रथम चरण को पूर्ण किया परन्तु दूसरे चरण में जब बँटवारे का प्रश्न आया तो संघ के सदस्य विभाजन के प्रश्न को लेकर आपस में युद्ध करने को तत्पर हो गये। सी, थ्योड्यूल के मतानुसार इसमें पूणं दोष बालकन संघ का नहीं था अपितु कुछ महाशक्तियों का भी योगदान था। बालकन संघ की विजय से रूस की प्रतिष्ठा में वृद्धि मानी जाने लगी तथा दूसरी ओर आस्ट्रिया, हंगरी तथा जर्मनी को मानहानि का आभास हुआ। इसके अतिरिक्त परिवर्धित सर्बिया रूस का पक्ष सशक्त कर रहा था जिससे अन्य देशों एवं स्वयं बालकन प्रायद्वीप के समस्त प्रदेश भयग्रस्त थे परन्तु जिस समस्या ने अवसर प्रदान किया वह मेसीडोनिया के विभाजन का प्रश्न था। ई, बारकर के आधार पर यद्यपि इसने घटनाओं को तीव्रता प्रदान की परन्तु जब आस्ट्रिया ने सर्बिया को तथा इटली ने अलबेनिया को निकाला तो सर्बिया ने मध्य मेसीडोनिया के क्षेत्र की माँग की।

इसी बीच अलबेनिया एक स्वतंत्र प्रदेश घोषित कर दिया गया तथा बल्गेरिया ने सर्बिया की माँग को अधिकृत बताया। सर्बिया ने अपना मेसी-डोनिया का वह भाग, जो बल्गेरिया से बालकन युद्ध के पूर्व तक समझौते में माना जा चुका था, माँगा। परन्तु बल्गेरिया के निवासियों को कुछ घमंड आ गया था जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने सर्बिया पर आक्रमण कर दिया। इस आकस्मिक आक्रमण द्वारा यूनान तथा रूमानिया को सर्बिया को सहयोग देने का अवसर प्राप्त हुआ क्योंकि बल्गेरिया में उनका स्वयं का स्वार्थ निहित था। इस भ्रातृहन्ता तथा भ्रातृघातक युद्ध में जिस क्रोधोन्माद, प्रचण्डता, एवं वर्बरता का परिचय दिया गया उससे स्पष्ट हो गया कि बालकन प्रायद्वीप के ईसाई निवासियों के नरसंहार में तुर्की लोगों से किसी प्रकार की शिक्षा नहीं ग्रहण करनी थी। अन्ततः बल्गेरिया को विवश होकर अगस्त 10, 1913 को बुखारेस्ट की सन्धि करनी पड़ी। इस सन्धि के द्वारा रूमानिया ने बिना किसी उचित तर्क के बल्गेरिया के कुछ प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। इसके अतिरिक्त सर्बिया ने उत्तरी तथा मध्य मेसिडोनिया के भागों का संयोजन कर लिया तथा यूनान को दक्षिणी मेसिडोनिया एवं एजियन सागर के तटवर्ती प्रदेश प्राप्त हुए। बल्गेरिया को थ्रेस का एक बृहत् भाग तथा पूर्वी मेसि-डोनिया क्षतिपूर्ति हेतु दिये गये। इस प्रकार बालकन युद्धों की समीक्षा करते हुए सर एडवर्ड ग्रे ने सत्य ही कहा है, "बालकन युद्ध स्वतन्त्रा के युद्ध के रूप

में आरम्भ हुए तथा शीघ्र ही सम्मेलन के रूप में परिवर्तित हो गये परन्तु यदि समस्त घटनाएँ सत्य हैं तो इन युद्धों का अन्त उन्मूलनकारी युद्धों के रूप में हुआ" ।

परिणाम

डब्लू, एल, लैंगर अपनी पुस्तक 'द डिप्लोमेसी ऑफ इम्पीयरलिज्म' में लिखते है बालकन युद्धों के द्वारा किसी समस्या का समाधान नहीं हो पाया । इन युद्धों ने जहाँ बालकन प्रदेशों में भ्रातृत्व की भावना को समाप्त कर, पारस्परिक राष्ट्रीय विरोधाभास की भावना को जन्म दिया, वहीं राष्ट्रीयता की भावना को और अधिक प्रज्वलित भी किया । इसके साथ ही बल्गेरिया ने अपने को शान्त करने के लिए अन्य अन्तरराष्ट्रीय शक्तियों का सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा की तथा सर्बिया और यूनान के कारण आस्ट्रिया का विस्तार एजियन सागर तक नहीं हो सका । ऑस्ट्रिया के शासन में जो स्लाव जाति के लोग निवास करते थे वे सर्बिया से अपने आपको स्वतन्त्र कराने का स्वप्न देखने लगे । इस प्रकार इन युद्धों ने आपस की शान्ति को भग कर पारस्परिक शत्रुता, वैमनस्यता तथा द्वेष का बीजारोपण किया । इन युद्धों के विशेष परिणाम इस प्रकार थे:–

(1) आटोमन साम्राज्य को अत्यधिक सीमित कर दिया गया तथा यूरोपीय क्षेत्रों से प्राय: निरस्त कर दिया गया ।

(2) अलबेरिया एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में घोषित कर दिया गया ।

(3) इन युद्धों के द्वारा बल्गेरिया को घायल तो अवश्य कर दिया गया परन्तु वह प्रतिशोधी के रूप में राजनैतिक गठबन्धनों में लग गया ।

(4) सर्बिया तथा ग्रीस एक राजनीतिक शक्ति के रूप में अवतरित हुए ।

(5) बालकन युद्धों के ही परिणामस्वरूप प्रथम महायुद्ध की नींव पड़ी क्योंकि इस युद्ध के पश्चात आस्ट्रिया, हंगरी ने बुख़ारेस्ट की सन्धि को समाप्त करना आवश्यक समझ लिया था । इसके अतिरिक्त पूर्वी समस्या एक आर्थिक समस्या के रूप में प्रकट हुई । आस्ट्रिया को अपने व्यापारिक मार्ग भूमध्यसागर के स्थान पर एजियन सागर में परिवर्तित करने पड़े । इस प्रकार इन युद्धों ने भविष्य में एक और भयंकर युद्ध की नींव रखी । इसका मुख्य कारण यह था कि बालकन युद्धों में किसी भी प्रकार का कोई विशेष निर्णय न हो सका और यदि हुआ भी तो उस समझौते के द्वारा सम्बन्धित देशों की ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य एवं प्रतिस्पर्धा की भावना को प्रोत्साहन मिला ।

जलॉल बेयार अपनी पुस्तक 'एन्टरिंग द नेशनल स्ट्रगल' में कहते हैं, इन बालकन युद्धों ने पारस्परिक संघर्ष एवं विषमता को लेकर ऐसा वातावरण निर्मित किया जिससे अपरोक्ष रूप से यूरोपीय महाशक्तियाँ भी प्रभावित हुई। बाल्कन युद्धों की वैमनस्यता ने यूरोप तथा एशिया में एक कटुता की भावना का समावेश किया। **ए, पामर** के अनुसार इसी कारण बाल्कन युद्धों को प्रथम विश्व युद्ध की प्रस्तावना की संज्ञा दी जाती है।

पश्चिमी एशिया और प्रथम विश्व-युद्ध

प्रथम विश्वयुद्ध से प्रतिध्वनित पश्चिमी एशिया में मिश्रित भावनाओं के द्वारा युद्ध अवलोकन किया जा रहा था। यद्यपि युद्ध से अत्याधिक प्रभावित ऑटोमन साम्राज्य (टर्की व तुर्की साम्राज्य) रहा, किन्तु युद्ध के प्रति आरम्भ में ऑटोमन साम्राज्य में भी तीन प्रकार की विचारधारा विद्यमान थी। **उलरिख ट्रम्पनर** ने अपनी पुस्तक **'टर्कीज एन्ट्री इन टू वर्ल्ड वार 1'** में उस समय प्रचलित तीन विचारधाराओं को उद्धत किया है। प्रथम टर्की के महत्वपूर्ण जन प्रतिनिधि युद्ध में तटस्थता के इच्छुक थे क्योंकि उनके विचार में साम्राज्य पहले से ही आन्तरिक क्लेश, क्रान्ति, मध्यम वर्गीय सरकार तथा बाल्कन युद्धों में पीड़ित था। द्वितीय वह वर्ग जो फ्रांस और ब्रिटेन के उदारवादी विचारधारा द्वारा पोषित था, यद्यपि रूस के प्रति आक्रोश की भावना रखता था परन्तु फिर भी सन्धि का इच्छुक था। तृतीय वह सैनिक वर्ग था जो एकता एवं प्रगति के लिए इच्छुक था, यह वर्ग जर्मनी की सैन्य शक्ति से प्रभावित था। अतएव अगस्त 1, 1914 को विश्व एक महायुद्ध की दिशा में अग्रसर हुआ। यह विश्वयुद्ध ऑटोमन साम्राज्य के लिए अपेक्षाकृत अधिक हानिकारक सिद्ध हुआ। उस समय ऑटोमन साम्राज्य का सुल्तान महमूद पंचम था। उसकी निर्बलता एवं अयोग्यता के कारण ही तुर्की का समस्त कार्यभार त्रिशासकों द्वारा सम्पन्न होता था। ये त्रिशासक अनवर पाशा, तलत पाशा एवं जमाल पाशा नामक तीन तुर्क नेता थे। सुल्तान इन युवा तुर्क नेताओं के हाथों की कठपुतली मात्र था। युवा तुर्कों ने ऑटोमन साम्राज्य पर अपना अधिनायकत्व स्थापित करने के पश्चात जर्मनी से तुर्की की सैन्य व्यवस्था को संगठित करने हेतु एक सैनिक शिष्टमण्डल भेजने का अनुरोध किया। जर्मनी के सैनिक मन्त्रिमण्डल ने काफ़ी विचार-विमर्श के उपरान्त जनरल लिमान वॉन सैन्डर्स को दिसम्बर 14, 1913 को कास्टेन्टिनोपुल (तुर्की) भेजा। **लीमान वॉन सैन्डर्स** ने अपनी पुस्तक **'माई फाईव यीयर्स इन टर्की'** में लिखा है कि तुर्की सरकार ने बाल्कन

युद्ध की पराजय के पश्चात से ही जर्मनी की सहायता प्राप्त करना प्रारम्भ कर दिया था। अतः इन युद्धों के द्वारा तुर्की को अपनी सैन्य दुर्बलता का पूर्ण ज्ञान हो गया था। तुर्की सरकार की यह नीति ऐतिहासिक पूर्वोदाहरण पर आधारित थी क्योंकि अब्दुल हमीद के शासन काल में भी रूस से पराजय के पश्चात तुर्की ने 1883 में जनरल वानडर गोल्डस की अध्यक्षता में जर्मनी के सैनिक मण्डल के द्वारा अपनी सेना के पुनर्निर्माण का कार्य आरम्भ किया। परन्तु 1913 में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति 1883 से भिन्न थी–क्योंकि यूरोप दो सैन्य दलों में विभाजित था और इस कारण किसी भी देश की सैन्य परिवर्तन नीति की अत्यन्त राजनैतिक महत्ता थी।

इस अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के कारण तुर्की के जर्मनी के साथ सैनिक गठबन्धन ने ब्रिटेन, फ्रांस तथा रूस को विरोध करने के लिए बाध्य किया। तुर्की के नेताओं ने ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के विरोध को अमैत्रीपूर्ण व्यवहार की संज्ञा दी क्योंकि उनके विचार में किसी भी स्वतन्त्र प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य के लिए किसी विदेशी को अपनी सेना का उच्च अधिकारी बनाने का अधिकार प्राप्त था। इसी मध्य घटनाओं की तीव्रता ने तुर्की को जर्मनी के साथ सन्धि करने के लिए प्रोत्साहित किया। इस सन्धि को सक्रिय रूप प्रदान करने में जर्मन राजदूत वॉन वॉगनहाइम का विशेष योगदान था। फलतः अगस्त 2, 1914 को तुर्की-जर्मन सन्धि सम्पन्न हुई। इस सन्धि के संदर्भ में यह बताना आवश्यक है कि सन्धि का निर्णय केवल तीन व्यक्तियों ने लिया और मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्यों से भी तथाकथित सन्धि को गुप्त रखा गया। इस प्रकार त्रिशासकों के निर्णय ने तुर्की को युद्ध में निमज्जित कर दिया। जब जर्मनी ने रूस के प्रति युद्ध घोषित किया तो जमाल पाशा ने कहा, "कि तुर्की का युद्ध में हस्तक्षेप अनिवार्य है क्योकि जिस सन्धि के द्वारा तुर्की और जर्मनी आबद्ध हैं उसकी स्याही अभी तक सूखी नहीं है।"

इस प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध के आरम्भ होते ही तुर्की ने अपनी तटस्थता की घोषणा की। मित्र राष्ट्रों ने आश्वासन भी दिया था यदि सुल्तान तटस्थता की नीति का पूर्ण पालन करेगा तो तुर्की की अखण्डता, स्वतन्त्रता एवं तटस्था को पूर्ण मान्यता दी जाएगी। मेरियट ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है यद्यपि तुर्की तटस्थता का इच्छुक था, तथापि विपरीत परिस्थितियाँ अत्यन्त प्रभावशाली थीं। उदाहरणार्थ, रूस से पारस्परिक शत्रुता, मिस्र तथा साइप्रस को वापस पाने की आशा, कैसर विलियम से मित्रता की नीति, तुर्की सेना का जर्मन प्रशिक्षण और सर्वोपरि था अनवर बे का व्यक्तित्व। जमाल पाशा ने अपने 'संस्मरण' में लिखा है कि द्वितीय

बालकन युद्ध की समाप्ति पर ही टर्की ने जर्मनी को सहयोग देने का निश्चय कर लिया था, परन्तु टर्की राजनीतिज्ञों को इस बात का भय था कि युद्धोपरान्त महाशक्तियाँ तुर्की का विभाजन कर आपस में बाँट लेंगी। अन्ततः तटस्था के प्रतिकूल कारणों ने तुर्की को केन्द्रीय शक्तियों में समाविष्ट कर लिया। इस प्रकार अक्टूबर 1914 में तुर्की-जर्मन सन्धि हुई।

तुर्की एवं जर्मनी के सम्बन्धों का विश्लेषण करते हुए एम. गिलबर्ट ने अपनी पुस्तक 'द चैलेंज आफ वार' में लिखा है कि विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व ही जर्मनी का प्रभुत्व तुर्की साम्राज्य पर हो गया था और जर्मनी के प्रभुत्व के कारण अन्य अन्तर्राष्ट्रीय देशों का कोई महत्व तुर्की के लिए शेष नहीं रह गया था। फलतः ऑटोमन सेना में जर्मनी का काफी प्रभाव था। 1914 में आटोमन सेना का निर्माण जर्मन सैनिक अधिकारियों ने किया एवं जनरल लीमॉन वॉन सैन्डर्स के नेतृत्व में अफसरों के एक दल ने ऑटोमन सेना का पुनर्निर्माण किया। युद्ध के प्रथम सप्ताह में ही जर्मन युद्धपोत 'गोबन' तथा 'ब्रसलो' बासफोरस पहुँचा दिये गये थे। ग्रेट ब्रिटेन और रूस ने इस पर आपत्ति की परन्तु टर्की सरकार ने कोई ध्यान नहीं दिया। इसी मध्य जर्मनी ने तुर्की में धन, युद्ध-सामग्री तथा सेना भेजनी आरम्भ कर दी। जर्मन अधिकारी डारडेनल्स में नियुक्त किये गये तथा लीमॉन वॉन सैन्डर्स को तुर्की सेना का सेनापति नियुक्त किया गया।

इ० आर० वेर होज के कथनानुसार अगस्त 2, 1914 की गुप्त सन्धि के अनुसार तुर्की ने जर्मन युद्धपोतों को डारडेनल्स में आने दिया और इसके साथ ही ब्रिटिश युद्धपोतों को वहाँ से निष्कासित कर अंग्रेज जल-सेनाध्यक्ष के स्थान पर जर्मन जल-सेनाध्यक्ष की नियुक्ति कर दी गयी। 18 अक्टूबर को तुर्की के युद्धपोतों ने ओडेसा तथा अन्य रूसी बन्दरगाहों पर बम वर्षा आरम्भ कर दी अतएव मित्र राष्ट्रों के राजदूतों ने इसका विरोध प्रकट किया परन्तु तुर्की सरकार ने इसका कोई भी उत्तर नहीं दिया। अन्ततोगत्वा 1 नवम्बर 1914 को त्रिशक्ति संघ के सदस्यों ने तुर्की पर आक्रमण कर दिया। इसका मुख्य कारण उपर्युक्त डारडनेल्स एवं बास्फोरस के जलडमरुमध्य मार्गों को बन्द कर रूस के लिए पाश्चात्य आपूर्ति को रोक देना ही था। इसके फलस्वरूप रूस त्रिशक्ति संघ का सबसे निर्बल राष्ट्र बन गया। विन्स्टन चर्चिल ने इस मार्ग को खुलवाने का सुझाव दिया था।

आटोमन साम्राज्य के विश्वयुद्ध में शामिल होने का निर्णय अनवर और और तलत पाशा की युद्ध-नीति थी। इन नेताओं ने अपने लक्ष्य की पूर्ति के

लिये जर्मनी का सहारा लिया । आॅटोमन नेताओं के निम्नलिखित युद्ध लक्ष्य थे ।

1. आटोमन साम्राज्य का तुर्कीकरण और विदेशी शक्तियों से मुक्ति पाना ।

2. मिस्र, साइप्रस और संलग्न प्रदेशों को पुनः साम्राज्य में मिलाना ।

3. रूस के निकटवर्ती उक्त समस्त प्रदेशों को साम्राज्य में सम्मिलित करना जहाँ तुर्क बहुसंख्या में निवास करते थे ।

4. ख़लीफ़ा को इस्लाम जगत् का सरताज बनाना ।

अहमद अमीन के अनुसार इन्हीं सब लक्ष्यों की पूर्ति के लिए राजनैतिक एवं सुदृढ़ सैनिक व्यवस्था की आवश्यकता थी जिसकी प्राप्ति के लिए आटोमन राजनीतिज्ञों ने जर्मनी को सबसे बड़ा हितैषी एवं सहायक समझा । तुर्की की सरकार ने युद्ध जीतने के लिए अखिल इस्लामिक नीति का सहारा लिया । सुल्तान ने युद्ध काल में मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध जेहाद (धार्मिक युद्ध) की घोषणा कर दी । सम्पूर्ण विश्व के मुसलमानों से कहा गया कि वे लोग ब्रिटेन और फ्रांस जैसे देशों के युद्ध प्रयत्नों में किसी प्रकार की सहायता न करें और उनके साथ पूरा असहयोग करें । यह घोषणा 'अखिल इस्लामी' नीति की चरम सीमा थी । ईसाई देश होते हुए भी जर्मनी ने इस नीति का समर्थन किया क्योंकि यह घोषणा जर्मनी के लिए अत्यन्त लाभदायक थी । स्वयं जर्मन सम्राट् ने यह आदेश दिया कि यदि मित्र राष्ट्र की सेना के मुसलमान सैनिक बन्दी बनाये जाएँ तो उन्हें आटोमन सुल्तान के हाथों में सौंप दिया जाये ।

जमाल पाशा ने इस नीति का परीक्षण करते हुए लिखा है कि जेहाद की घोषणा इस आशा से की गयी थी कि इससे मुसलमानों में काफी उत्साह बढ़ जायेगा और जेहाद का संकेत मिलते ही ब्रिटेन और फ्रांस के मुसलमान विद्रोह कर देंगे । लेकिन यह आशा पूरी न हो सकी । अरब लोगों में राष्ट्रीयता की भावना फैल रही थी और वहाँ के निवासी आटोमन साम्राज्य से स्वतन्त्र होना चाहते थे । अन्य शक्तियों ने इसका लाभ उठाकर पारस्परिक विरोध उत्पन्न करा दिया जिससे साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो जाये । अक्टूबर 1914 में ब्रिटेन ने साइप्रस का सम्मेलन किया जिसमें मिस्र को संरक्षित राज्य घोषित कर दिया गया । इन घटनाओं के पश्चात् ब्रिटेन तथा आटोमन साम्राज्य इतिहास में पुनः युद्धरत हुए । जर्मनो की तुर्की के साथ निम्नलिखित आशाएँ थी ।

1. मेसोपोटामिया (ईराक उपयोग का) ।

2. पर्शिया में राजनैतिक एवं आर्थिक हस्तक्षेप ।

3. मिस्र में ब्रिटेन की शक्ति को हानि पहुँचाना ।

4. ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य को संकटग्रस्त करना ।

उपर्युक्त योजनाओं के हेतु कॉन्स्टेन्टिनोपुल एक अपरिहार्य आधार था ।

इस प्रकार सम-कालीन युद्ध कूटनीति में मित्र राष्ट्रों के लिए कॉन्स्टेन्टि-नोपुल पर आघात अनिवार्य था । फलत: फरवरी 1915 में आंग्ल-फ्रेंच युद्ध-पोतों ने डार्डेनल्स पर बमबारी की, परन्तु शीघ्र ही निर्णय लिया गया कि केवल नौसेना ही इस कार्य के लिए पर्याप्त नहीं हैं । अत: ग्रीष्म ऋतु के प्रारम्भ में ही तीन लाख सेना प्रायद्वीप में भेज दी गयी । इस युद्ध में तुर्की की अत्यधिक हानि हुई तथा अन्य युद्ध-ग्रस्त क्षेत्रों में भी तुर्की निर्बल सिद्ध हुआ ।

प्रथम विश्वयुद्ध में प्रत्येक राष्ट्र का स्वार्थ निहित था परन्तु उसे 'स्व-रक्षा' की संज्ञा दी गयी । इस सन्दर्भ में इतिहासकार डेविड टॉम्सन का मत भी विचारणीय है । टाम्सन के अनुसार 'प्रथम विश्वयुद्ध' महाराष्टों के स्वयं-जनित भय एवं उनकी मित्र सन्धियों के द्वारा आविर्भूत था । गेलिपोली युद्ध का उल्लेख करते हुये ऐलन मूरहेड ने अपनी पुस्तक 'गेलिपोली' में लिखा है कि मार्च 1915 में गेलिपोली प्रायद्वीप में आंग्ल-फ्रेंच युद्धपोतों ने सम्पूर्ण प्रयत्न किया परन्तु असफल रहे । फलस्वरूप दिसम्बर 1915 में इस क्षेत्र में युद्ध समाप्त कर दिया गया । 1916 में परिस्थिति अंग्रेजों के अनुकूल सिद्ध हुई एवं उनको आटोमन साम्राज्य में राजनीतिक एवं सामरिक दोनों प्रकार के लाभ प्राप्त हुए :

1. आंग्ल-मिस्र सेना ने फिलिस्तीन एवं मिस्र के मध्य स्थित साइनाइ प्रायद्वीप पर अधिकार कर लिया ।

2. टाइगरस पर स्थित कुर-अल-अमारा का नगर आंग्ल-भारतीय सेना ने प्राप्त किया ।

3. मार्च में बगदाद पर एवं दिसम्बर में मेसोपोटामिया (ईराक) पर ब्रिटेन ने प्रभुत्व स्थापित कर लिया ।

इसके अतिरिक्त एक अन्य महत्वपूर्ण योगदान कर्नल लारेंस ने अरब क्षेत्र में तुर्की के विरुद्ध विद्रोह को प्रज्वलित कराके प्रदान किया ।

1916 के गैलिपोली युद्ध अभियान में असफलता के पश्चात् मार्च 1916 में ब्रिटेन ने बगदाद पर अधिकार कर लिया जिससे अंग्रेजों ने अपनी प्रतिष्ठा

एवं शक्ति को मध्य-पूर्व एशिया में पुनः स्थापित कर लिया। इस प्रकार जिस समय मित्र राष्ट्र और अरबी सेना फिलिस्तीन, ईराक तथा सीरिया को रौंद रही थी तभी जुलाई 1918 में सुल्तान मुहम्मद पंचम की मृत्यु हो गयी। नवीन सुल्तान मुहम्मद षष्ठ ने अनवर बे तथा अन्य युवा तुर्क नेताओं के, जिनके कारण तुर्की में विध्वंस हुआ था, त्यागपत्रों को स्वीकार कर लिया। सुल्तान की भीरुता तथा तुर्की की युद्धोपरान्त दुर्दशा ने मुस्तफ़ा कमाल को देश का नेतृत्व प्रदान किया।

गुप्त सन्धियाँ

प्रथम विश्वयुद्ध में पश्चिमी एशिया सम्बन्धी गुप्त सन्धियाँ मित्र राष्ट्रों के मध्य सम्पन्न हुई। एच० एन० हावर्ड के मतानुसार इन पारस्परिक सन्धि-योजन का तात्पर्य तुर्की को समाप्त करना नही था, अपितु इस क्षेत्र पर अपना प्रभाव विस्तृत करना था अर्थात अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र को और अधिक सुदृढ़ कर स्व हितों की रक्षा करना था।

1. कॉन्स्टेन्टिनोपुल सन्धि—मार्च 18, 1915 को एक गुप्त समझौता रूस, ब्रिटेन तथा फ्रांस के मध्य सम्पन्न हुआ। इसके अनुसार रूस को कान्स्टेन्टिनोपुल, डार्डेनेल्स, बासफोरस का पश्चिमी तट, एशिया माइनर के तटवर्ती प्रदेश तथा मारमरा सागर पर अधिकार मिलना था। इसके बदले में रूस ने निम्नलिखित सुविधाएँ देने का आश्वासन दिया।

1. कान्स्टेन्टिनोपुल के बन्दरगाह मित्र राष्ट्रों के यातायात के लिए स्वतन्त्र कर दिये गये और स्ट्रेट्स में भी व्यापारिक स्वन्त्रता को मान्यता दी गई।

2. मुस्लिम धार्मिक स्थानों को ऑटोमन साम्राज्य से वंचित कर पृथक और स्वतंत्र मुस्लिम शासन के अधीन करने के प्रस्ताव को मान्यता प्रदान कर दी गई। इस समझौते के अतिरिक्त रूस ने मित्र राष्ट्रों को डार्डेनेल्स पर आक्रमण करने के लिए सहायता देने का आश्वासन दिया।

इटली ने युद्ध आरम्भ होने पर रूस-ब्रिटेन-फ्रांस समझौते को मान्यता प्रदान की। इस समझौते ने ब्रिटेन की शताब्दी पूर्व विदेश-नीति को परिवर्तित कर दिया।

2. लन्दन की सन्धि—अप्रैल 26, 1915 को लन्दन में ब्रिटेन, फ्रांस, रूस और इटली के मध्य एक गुप्त संधि हुई। लैन्जोविस्की के मतानुसार इटली के मित्र राष्ट्रों में सम्मिलित होने से इस सन्धि को बल मिला।

1. इस सन्धि में अनुच्छेद 8 के अनुसार इटली को सामरिक रूप से

महत्वपूर्ण डोडकेनीज द्वीपों पर पूर्ण रूप से शासन का अधिकार दिया गया। ये द्वीप 1912 से इटली के अधिकार में थे।

2. धारा 9 के अनुसार यदि ऑटोमन साम्राज्य का विभाजन किया गया तो इटली को उसका भाग दिया जायेगा। यदि टर्की के राज्य को यथापूर्व बना रहने दिया गया तो भी सीमा निर्धारित करते समय इटली के मार्ग को सुरक्षित रखा जायेगा और उसको लाभान्वित करने का पूर्ण प्रयत्न किया जायेगा। इसके साथ-साथ फ्रांस, ब्रिटेन और रूस ने इटली की रुचि का भूमध्य सागर क्षेत्र में पूर्ण ख्याल रखने का अश्वासन दिया।

3. धारा 10 के अनुसार, सुल्तान को जो अधिकार लीबिया में लोजान संधि (1912) के द्वारा दिये गये थे, वे इटली को स्थानान्तरित कर दिये गये। इन सब आश्वासनों द्वारा प्रभावित होकर इटली ने अगस्त 20, 1915 को तुर्की पर युद्ध की घोषणा कर दी।

(3) **साइक्स-पीको समझौता**—मई 16, 1916 को मित्र राष्ट्रों के मध्य एक महत्वपूर्ण समझौता हुआ जो साइक्स पीको समझौते के नाम से विख्यात है। यह समझौता सर्वप्रथम ब्रिटेन और फ्रांस के मध्य हुआ परन्तु तत्पश्चात रूस की स्वीकृत भी ले ली गई। अप्रैल 1916 के आरम्भ में इंग्लैण्ड के सर साइक्स और फ्रांस के जार्ज पीको रूस भेजे गये और वहाँ औपचारिक वार्तालाप प्रारम्भ हुआ जिसका मूल रूप 'सैजोनान' (रूस के विदेश मंत्री),' 'पालियोलांग' (फ्रांस का राजदूत) समझौते के रूप में स्पष्ट हुआ। यह समझौता उपर्युक्त प्रसिद्ध पालियोलांग समझौते का विशिष्ट भाग था। इस समझौते के अनुसार—

(1) रूस को तुर्की आरमेनिया और खुर्दिस्तान का कुछ भाग मिलने का निश्चय हुआ।

(2) फ्रांस को सीरिया का कुछ भाग, साइलेसिया और अदन का क्षेत्र देने का निश्चय किया गया।

(3) ब्रिटेन को दक्षिण मेसोपोटेमिया और 'हायफाएकर' के बन्दरगाह फिलिस्तीन में प्रदान किये गये।

(4) फिलिस्तीन का अन्तरराष्ट्रीयकरण करने का निश्चय किया गया।

(5) एलेग्जाण्ड्रिया को स्वतन्त्र बन्दरगाह घोषित करने की व्यवस्था की गयी।

(6) शेष क्षेत्रों को अरबों के लिए सुरक्षिल रखा गया परन्तु इसके

साथ-साथ यह क्षेत्र ब्रिटेन और फ्रांस के प्रभाव में रखने की योजना बनायी गयी क्योंकि यह समझौता गुप्त था, इसीलिए इटली और शरीफ हुसैन को इसके सम्बन्ध में सूचित नहीं किया गया।

(4) **सेंट याँ डी मारियाँ समझौता**–यद्यपि उपर्युक्त समझौता गुप्त रखा गया, परन्तु किसी प्रकार इटली को इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त हो गयी और उसमें प्रयत्न करके अप्रैल 17, 1917 को एक नवीन समझौता ब्रिटेन, फ्रांस और अपने मध्य 'सेन्ट याँ डी मारियाँ' में किया। तीनों देशों के प्रधान मंत्रियों ने इस समझौते पर हस्ताक्षर किये। इसके अन्तर्गत इटली को 'इज़मीर अन्तालिया' और दक्षिण पश्चिम अनातोलिया का भाग देने का निश्चय किया गया। इस समझौते में रूस की स्वीकृति प्राप्त की जानी थी परन्तु वहाँ की राज्य क्रान्ति के कारण रूस इसमें सम्मिलित नहीं हो सका।

(5) **क्लीमेनसो-लायड जार्ज समझौता**–आटोमन साम्राज्य से सबंधित युद्ध काल में अन्तिम समझौता दिसम्बर 1918 में ब्रिटिश प्रधानमंत्री और फ्रांस के प्रधानमंत्री के मध्य सम्पन्न हुआ। मेसोपोटामिया के युद्ध के फलस्वरूप अंग्रेजों को मोसुल का क्षेत्र प्राप्त हुआ। अतएव साइकस-पीको समझौते में संशोधन करने का निश्चय किया गया। इस नवीन समझौते के अनुसार मोसुल क्षेत्र ब्रिटेन को एवं फ्रांस को उत्तरी मेसोपोटामिया देने का निश्चय किया गया।

इन समझौतों और संधियों के द्वारा यह ज्ञात होता है कि इनके मध्य अधिकतर अन्तर्विरोध था और इनमें किसी प्रकार का सामंजस्य सम्भव नहीं था। 1919 के युद्धोपरान्त पेरिस शान्ति सम्मेलन में अमरीका के राष्ट्रपति विल्सन ने गुप्त सन्धियों को मान्यता देने से स्पष्ट इंकार कर दिया। तत्पश्चात पश्चिमी एशिया की समस्या अत्यन्त गम्भीर रूप से प्रकट हुई, परन्तु इसका सन्तोषजनक समाधान किसी प्रकार न हो सका, अपितु मैन्डेट प्रणाली ने और शोचनीय स्थिति उत्पन्न कर दी। इस युद्ध के चार वर्षों में जितना पश्चिम ने पश्चिमी एशिया को प्रभावित किया, उतना शताब्दियों के यूरोपीय गठबन्धनों ने भी नहीं किया होगा।

अतः प्रथम विश्वयुद्ध आटोमन साम्राज्य के लिये अपेक्षाकृत अधिक हानिकारक सिद्ध हुआ। आटोमन साम्राज्य के सुल्तान महमूद पंचम की निर्बलता एवं अयोग्यता के कारण तुर्की का समस्त कार्य प्रशासन त्रिशासकों द्वारा सम्पन्न होता था। सुल्तान इन युवा तुर्क नेताओं के हाथ की कठपुतली था। इन नेताओं का युद्ध लक्ष्य आटोमन साम्राज्य का तुर्कीकरण, मिस्र, साइपरस आदि प्रदेशों को पुनः साम्राज्य में समामेलन तथा रूस के निकट-

वर्ती समस्त प्रदेशों को साम्राज्य में सम्मिलित करना था। अपने लक्ष्यपूर्ति हेतु राजनैतिक एवं सुदृढ़ सैनिक व्यवस्था की आवश्यकता थी। जिसकी प्राप्ति के लिये इन नेताओं ने जर्मनी को अपना सर्वाधिक हितैषी व सहायक समझा।

जर्मनी को भी तुर्की से मेसोपोटासिया के उपयोग का पशिया में राजनैतिक एवं आर्थिक हस्तक्षेप का तथा मिस्र और भारत में ब्रिटिश शक्ति को क्षीण करने का ध्येय था।

प्रथम विश्वयुद्ध में टर्की की शोचनीय दशा हो गई। टर्की, जो कि वर्षों से युरोप के रोगी की संज्ञा पाता रहा, वास्तविक रूप से इस युद्ध के द्वारा मृत्यु ग्रस्त हो गया। युद्ध में टर्की की अर्थ व्यवस्था छिन्न भिन्न हो गई और नागरिक और ग्रामीण जनसंख्या को प्रत्येक रूप से जैवनीय संकट का सामना करना पड़ा। इसके उपरान्त भी प्रथम युद्ध ने पश्चिमी एशिया के देशों को सकरात्मक योगदान दिया। सर्वप्रथम इस युद्ध ने राष्ट्रीयता की भावना को प्रेरित किया। अरब प्रदेशों में नव अरब राज्य संगठित करने की योजना बनायी। टर्की को सीमित कर कमाल पाशा को नेतृत्व प्रदान किया। युद्धोमध्य सैनिक सामग्री, तकनीकी उपयोग तथा यातायात के मार्गों ने पश्चिमी एशिया को आधुनिकता से युक्त किया। संक्षेप में प्रथम विश्वयुद्ध ने पश्चिम एशिया में एक नये युग का सूत्रपात किया।

पश्चिमी एशिया और प्रथम विश्वयुद्ध

1. Theodoulu, C : Greece and the Entente, Salonica, 1971.

2. Palmer, A : The Gardeners of Salonica : The Macedonian Campaign, London, 1965.

3. Falls, C and Becke, A F : Military operations in Macedonia, 2 Vols, London, 1933.

4. Dakin, D : The Greek Struggle in Macedonia, 1897-1913, Salonica, 1966.

5. Barker, E : Macedonia : Its Place in Balkan Power Politics, London, 1950.

6. Anastasoff : The Tragic Peninsula, St. Louis, 1938.

7. SliJepcevic, D : The Macedonian Question, Chicago, 1958.

8. Langer, W. L : The Diplomacy of Imperialism, New York, 1956.

9. Bayar, Jelal Tr. : Entering the National Strug-

gle 8 Vols., Istanbul, 1972-6. For Turco-Italian War See Vol II.

For Balkan, Wars See Vol IV

10. Clayton, G. D : Britain and the Eastern Question, London, 1971.

11, Luke, Sir Harry : The Making of Modern Turkey London 1951.

12, Helmreich, E. C : The Diplomacy of the Balkan Wars, Cambridge, 1938.

13. Ahmad, Feroz : Op. cit.

14. Trumpener, Ulrich : Germany and the Ottoman Empire, 1914-18, Princeton, 1968.

Also Tukrey's Entry Into-world War I, Journal of Modern History, 34, 1962.

15. Vere Hodge, E. R : Turkish Foreign Policy, 1914-18, Geneva, 1950.

16. Emin, Ahmed : Tukrey in the World War, London, 1930.

17. Gilbert, M : The Challenge of War, Boston, 1971.

18. Moorehead, Alan : Gallipoli, New York, 1956.

19. James, R : Gallipoli : The History of

Noble Blunder, New York, 1965.

20. Von Sanders, Liman : My Five Years in Turkey, Annapolis, 1927.

21. Howard, H, N : The Partition of Turkey, Okla, 1931,

Also Turkey, The Straits and U. S. Policy, Baltimore, 1974,

22, Pasha, Jamal : Memoires of a Turkish Statesman, 1913-1919, New York, 1922,

●

अध्याय 41

राजतन्त्र से गणतन्त्र

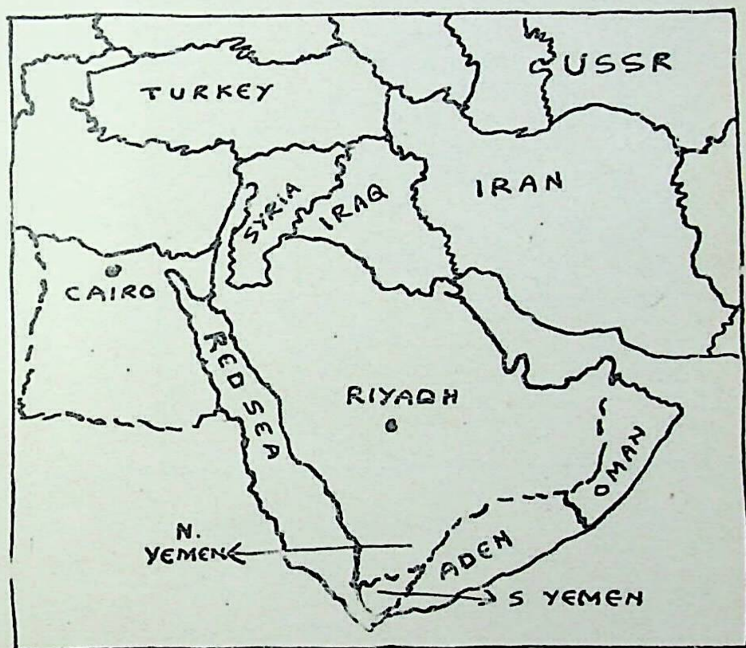
ऑटोमन साम्राज्य के विघटन संकट को शताब्दियों पश्चात प्रथम विश्वयुद्ध ने पूर्ण कर तुर्की गणतन्त्र को जन्म दिया। यद्यपि विघटन की आशा तो शताब्दियों से थी, परन्तु योरोपीय देशों की पारस्परिक स्वार्थ लिप्सा, ईर्ष्या, मतभेद एवं प्रभावक्षेत्र और शक्ति संतुलन बनाये रखने के स्वतः संघर्ष ने ऑटोमन साम्राज्य को बनाये रखा। प्रथम विश्वयुद्ध ने इस स्वार्थनीति को समाप्त कर नव तुर्की को मुस्तफ़ा कमाल पाशा के सशक्त हाथों में सौंप दिया।

प्रथम विश्वयुद्ध ने पश्चिमी एशिया में अधिदेश पद्धति (मैन्डेट सिस्टम) को भी जन्म दिया। इसके लिये देखें लेखक की पुस्तक 'पश्चिमी एशिया के इतिहास' में 'अरब एशिया' का अध्याय।

कमाल अतातुर्क

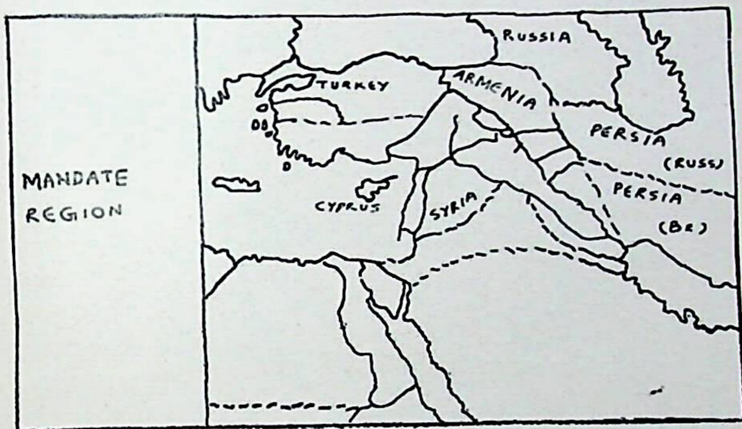
ऑटोमन साम्राज्य की चार शताब्दियों का इतिहास मुस्तफ़ा कमाल 'अतातुर्क' के उदय के साथ ही समाप्त हो जाता है। इतना विशाल एवं विस्तृत साम्राज्य शताब्दियों पर्यन्त विश्व मानचित्र पर अंकित रह कर 1922 में मुस्तफ़ा कमाल पाशा की अध्यक्षता में गणतन्त्र में परिवर्तित हो गया। यह परिवर्तन भी इतिहास की गतिशीलता का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

मुस्तफ़ा कमाल पाशा के पिता का नाम अली रज़ा था। उनका जन्म 1881 में सेलोनिका में हुआ। जब वह सात वर्ष के थे तो उनके पिता जो कस्टम अधिकारी थे उनका निधन हो गया। मुस्तफ़ा की माता ज़ुबैदी अपने पुत्र एवं पुत्री मक़बूली के साथ अपने भाई के यहाँ रहने लगीं। मुस्तफ़ा की बाल्यकाल से रुचि सैनिक बनने की थी। 1893 में बिना अपनी माता से आज्ञा ले मुस्तफ़ा ने सेलोनिका सैनिक स्कूल की प्रवेश परीक्षा उत्तीर्ण की और सैनिक स्कूल में प्रविष्ट हो गये। सैनिक प्रशिक्षण के मध्य ही उन्हें उनके शिक्षकों ने अद्भुत प्रतिभा के कारण 'कमाल' नाम से पुकारना प्रारम्भ

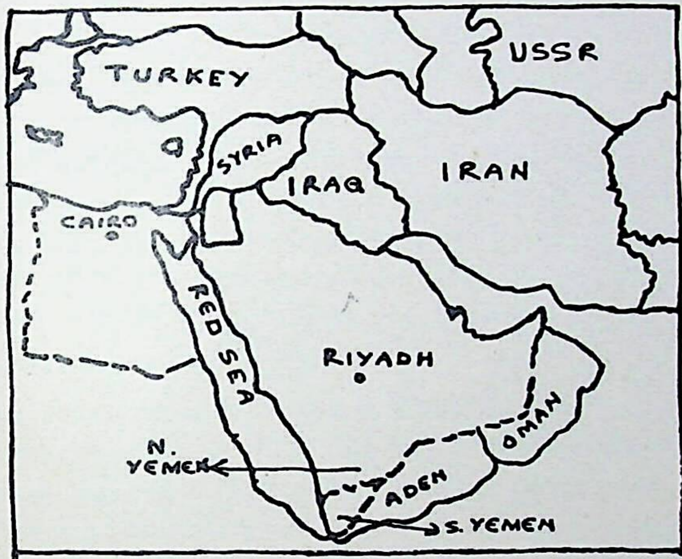


WEST ASIA

पश्चिमी एशिया



अधिदेश पद्धति के क्षेत्र



WEST ASIA

पश्चिमी एशिया

कर दिया। एक अन्य तथ्य के अनुसार उनकी गणित की प्रतिभा ने उनके अध्यापक जिनका स्वयं का नाम भी मुस्तफ़ा था उनका नामकरण 'कमाल' किया। सेलोनिका से शिक्षा समाप्त कर वे मोनेस्टर सैनिक अकादमी में गये और 1899 में इस्तानबूल के युद्ध विद्यालय (वॉर कॉलेज) में प्रविष्ट हुए।

समयोचित उस समय के अन्य युवा सैनिकों की भाँति मुस्तफ़ा कमाल को भी अब्दुल हमीद के शासन एवं जर्मनी के टर्की में प्रभाव से घृणा उत्पन्न हो गयी। 1905 में सैनिक प्रशिक्षण समाप्त कर उन्होंने अब्दुल हमीद के विरुद्ध राजनैतिक कार्यक्रम में भाग लेना आरम्भ कर दिया। डेमस्कस में अपनी सैन्य नियुक्ति के साथ उन्होंने 'वतन' (फ़ादरलैण्ड) नामक क्रान्तिकारी संस्था की सदस्यता ग्रहण की। धीरे-धीरे उस संस्था को पुर्नसंगठित कर उसका नाम 'वतन एवं स्वाधीनतासंस्था' (फ़ादर लैण्ड एण्ड फ्रीडम सोसायटी) रखा। अपनी इस संस्था को उन्होंने युवा तुर्कों की 'एकता एवं प्रगति' की संस्था से सम्बन्धित कर दिया। युवा तुर्कों के कार्यों से मुस्तफ़ा कमाल अधिक सहमत नहीं थे।

प्रथम विश्वयुद्ध में गेलीपोली के अभियान में मुस्तफ़ा कमाल ने अपनी योग्यता एवं शौर्यता का परिचय दिया जिसके फलस्वरूप इस्तानबूल की रक्षा हुई और वह राष्ट्रीय नायक बन गये। तत्पश्चात मुस्तफ़ा कमाल को ब्रिगेडियर तथा पाशा बना कर कॉकेशिस भेजा गया। यद्यपि उनको कॉकेशिस भेजना राजनैतिक चाल थी किन्तु उनकी प्रथम सफलता के पश्चात उनके लिये सफलताओं का मार्ग स्वयंमेव प्रशस्त होता गया। अक्तूबर 1918 में ऑटोमन साम्राज्य के आत्म समर्पण से किंचित पूर्व मुस्तफ़ा कमाल ने सुल्तान से कहा कि सुरक्षा मन्त्रालय का संचालन उन्हें करने दे किन्तु सुल्तान ने उनके परामर्श को अस्वीकार कर दिया।

अक्टूबर 1918 तक टर्की प्रथम विश्वयुद्ध के सम्भवतः प्रत्येक मोर्चे पर पराजित हो चुका था। जब अक्टूबर 30 को "मुदरो" में युद्ध विराम पर हस्ताक्षर हुए, उस समय तक तुर्की पूर्ण रूप से हतोत्साहित हो चुका था तथा किसी प्रकार की प्रतिरोध शक्ति तुर्की के पास नहीं रह गई थी। सर हैरी ल्यूक के अनुसार अब तुर्की केवल उस दण्ड की प्रतीक्षा में था जो विदेशी शक्तियाँ सदैव अपने से पराजित देशों को देती रही थीं। मई 1919 में कमाल पाशा ने जो प्रतिरोध आन्दोलन प्रारम्भ किया वह सुल्तान के विरुद्ध स्पष्ट विद्रोह था।,मुस्तफ़ा कमाल पाशा के अनुसार नवीन तुर्की के पुर्ननिर्माण के लिए यही एक ऐसा मार्ग था जिसके द्वारा तुर्की को जीवन-दान दिया जा

सकता था। मुस्तफ़ा कमाल तथा उसके राष्ट्रवादी सहयोगियों को नवीन राज्य की स्थापना हेतु त्रिमुखी चुनौती का सामना करना पड़ा :

(1) सुल्तान के विरुद्ध राजनैतिक युद्ध करके तुर्की पर नियन्त्रण करना।

(2) विदेशी शक्तियों का तुर्की के क्षेत्र से बहिष्कार करना।

(3) टर्की को एक अखण्ड एवं स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में स्थापित करना।

ऑटोमन साम्राज्य के भाग्य का निर्णय करने में मित्र राष्ट्रों को विलम्ब हुआ। इस विलम्ब का कारण मित्र राष्ट्रों में आपस में तुर्की के प्रश्न को लेकर मतभेद था। इसमें विशेषतया फ्रांस तथा ब्रिटेन के मध्य एवं इटली तथा यूनान के मध्य मतभेद था। इसके अतिरिक्त सुल्तान तथा मुस्तफ़ा कमाल का पारस्परिक मतभेद भी विलम्ब का एक कारण था। अन्ततः मित्र राष्ट्रों ने सुल्तान के साथ अगस्त 10, 1920 को सेव्र की सन्धि की। द ट्रीटीज़ ऑफ पीस के अनुसार इस सन्धि में :—

(1) अरब में "हेजाज" को स्वतन्त्र मान लिया गया।

(2) आरमीनिया अन्तरराष्ट्रीय प्रत्याभूति के अधीन स्वतन्त्र ईसाई गणतन्त्र मान लिया गया।

(3) फिलिस्तीन, ईराक, ट्रान्स-जार्डन क्षेत्र तथा सीरिया को ब्रिटेन तथा फ्रांस के अधीन संरक्षित क्षेत्र माना गया।

(4) थ्रेस, एड्रियानोपुल, गैलीपोली आदि क्षेत्र यूनान को दिये गये।

(5) डार्डेनल्स तथा बासफोरस का अन्तरराष्ट्रीयकरण किया गया।

(6) महान् ऑटोमन साम्राज्य एक सीमित तुर्की राज्य के रूप में परिणत कर दिया गया।

सेव्र की सन्धि के समकालिक ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और इटली के मध्य एक त्रिपक्षीय समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार तुर्की क्षेत्र को फ्रांसीसी और इतालवी प्रभाव क्षेत्रों में विभक्त करना था। सेव्र की सन्धि तुर्की के लिये पूर्ण रूप से अपमानजनक थी। इस सन्धि और त्रिपक्षीय सन्धि ने तुर्की की प्रतिष्ठा को धूलि-धूसरित कर दिया। इस संकटकालीन समय में तुर्की राष्ट्र मुस्तफ़ा कमाल पाशा का नेतृत्व पाकर कुछ स्थिर हो सका। कमाल पाशा को युद्ध एवं सुल्तान की आन्तरिक नीति ने तुर्की के दुःखों का निवारक बनने में अन्यतम सहायता प्रदान की।

इसी मध्य कुस्तुनतुनियाँ में सुल्तान मुहम्मद षष्ठ ने ब्रिटिश सैनिक प्रभाव के अन्तर्गत 1920 में सन्धि को स्वीकार कर लिया किन्तु अंकारा में

मुस्तफ़ा कमाल के नेतृत्व में तुर्की राष्ट्र-सभा ने सन्धि का समर्थन नहीं किया। इसके अतिरिक्त मुस्तफ़ा कमाल की सेना ने मित्र-राष्ट्रों के सैन्य विभाजन तथा युद्ध-कलंक से लाभ उठाकर आरमीनिया गणतन्त्र का अभिलोपन कर दिया तथा फ्रांस एवं इटली को अपने क्षेत्रों पर अधिकार नहीं करने दिया। फ्रांस तथा इटली की सरकारें तुर्की सैनिक पुनरुत्थान से भयभीत होकर सन्धि संशोधन पर सहमत हो गयीं। इरफ़ान औरशा के मत में समयोचित लाभ उठा कर रूस ने तुर्की राष्ट्रवादियों से सन्धि की जिसके अनुसार "सेव्र की सन्धि" की तीव्र भर्त्सना की गई तथा साम्राज्यवाद के विरुद्ध तुर्की-रूस एकता को प्रोत्साहन दिया गया। इसी मध्य ब्रिटेन ने युनान को तुर्की राष्ट्रीय सैनिकों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के लिए प्रोत्साहित किया। तदनुसार जुलाई 1921 में एक यूनानी सेना "राजा कान्स्टेनटाईन" के अधीन मुस्तफ़ा कमाल के विरुद्ध युद्ध में गयी परन्तु शीघ्र ही यूनान की पराजय का वातावरण बन गया। इसका एक कारण तो इस अवसर पर ब्रिटेन का यूनान की सहायता न करना था दूसरा, तुर्की को इटली और फ्रांस का युद्ध सामग्री देना था। विजयोल्लास में मुस्तफ़ा कमाल ने नवम्बर 1922 को कुस्तुनतुनिया पर अधिकार कर लिया।

फलतः मुस्तफ़ा कमाल तथा तुर्की राष्ट्रवादियों ने सेव्र की सन्धि को अनियमित घोषित कर दिया तथा नवीन सन्धि वार्ता के पश्चात् मित्र राष्ट्रों तथा तुर्की के मध्य जुलाई 24, 1923 को "लोजान की सन्धि" की गयी। इस सन्धि के अनुसार :

(1) तुर्की ने समस्त अधिकारों से हेजाज़, फिलिस्तीन, ट्रान्स-जार्डन, इराक तथा सीरिया के क्षेत्र मुक्त कर दिये।

(2) अनातोलिया, साइलेसिया, अदालियाँ, स्मर्ना, कुस्तुनतुनिया तथा पूर्वी थ्रेस पर तुर्की का अधिकार बना रहा।

(3) स्ट्रेट्स को स्वतन्त्रता प्रदान की गयी तथा उस क्षेत्र का विसैन्यीकरण कर दिया गया।

(4) विदेशी शक्तियों द्वारा आन्तरिक समस्याओं में हस्तक्षेप समाप्त कर दिया गया।

(5) यूनान-तुर्की समझौते के द्वारा जनता का आदान-प्रदान प्रारम्भ हो गया।

अली नाज़ी काराज़ान ने अपनी पुस्तक **'लोजान'** में लिखा है कि लोज़ान की सन्धि ने शताब्दियों पूर्व के ऑटोमन साम्राज्य का अन्त कर

आधुनिक तुर्की को जन्म दिया। यह सन्धि इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि वह पश्चिमी एशिया के राज्य के साथ युद्ध के मध्य पश्चिम के साथ प्रथम विशिष्ट राजनैतिक सन्धि थी। इस सन्धि ने इस बात का स्पष्टीकरण किया कि तुर्की राज्य राजनीति एवं बौद्धिकता में पश्चिम के सम-तुल्य है।

कमालवाद

लोज़ान की संधियोपरान्त नव टर्की के सृजन का श्रेय मुस्तफ़ा कमाल अतातुर्क के नेतृत्व को है। **काज़िम नमी दुरु** ने अपनी पुस्तक **'ज़िया गोकल्प'** तथा **मार्ग्रेट औरग़ा** ने अपनी पुस्तक **'अतातुर्क'** में गोकल्प के विचारों एवं मुस्तफ़ा कमाल पर उनके प्रभाव को चित्रित करते हुये लिखा है कि--

कमाल पाशा के विचारों को प्रौढ़ता एवं क्रमबद्धता तुर्की के प्रसिद्ध समाजशास्त्री "ज़िया गोकल्प" (1876–1924) ने प्रदान की। गोकल्प ने संस्कृति तथा सभ्यता को पृथक् बताया और पाश्चात्य सभ्यता का पूर्ण रूप से समन्वय करने का ज्ञान दिया। इस बुद्धिजीवी के अनुसार पूर्व सुधारकों में यही त्रुटि थी कि उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता का पूर्वी सभ्यता के साथ गठबन्धन कर दिया जो वास्तविकता में दो पृथक् मार्ग थे। गोकल्प ने अपने विचारों में तुर्कीवाद को राजनीति रहित एक वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा साहित्यिक आन्दोलन बताया तथा इसका अनुवादित एवं प्रयोगात्मक रूप लोकवाद में निहित किया। शिक्षा का समन्वय मुस्तफ़ा कमाल के लोकदल में हुआ। यदि ज़िया गोकल्प इस आधुनिक तुर्की राष्ट्रवाद का दार्शनिक था तो कमाल अतातुर्क उसका निष्पादक एवं प्रेरणास्रोत था।

1919 की पूर्वी एशिया माइनर सुरक्षा समिति धीरे धीरे सितम्बर 1923 में लोकदल (हाक फिरकासी) में परिवर्तित हो गयी। इस दल का छह सूत्रीय कार्यक्रम था जो कमालवाद के छह सिद्धान्तों के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कमाल के इस छह सूत्री कार्यक्रम को संविधान के अनुच्छेद 2 में विस्तारपूर्वक दिया गया है। आधुनिक तुर्की के समस्त सुधार इन्हीं निम्नांकित सिद्धान्तों पर आधारित थे।

(1) **गणतन्त्रवाद**--इसके अनुसार राजसत्ता जनता में निहित है अर्थात् राजसत्ता का मुख्य स्रोत जनता है।

(2) **राष्ट्रवाद**--इस सिद्धान्त के द्वारा तुर्की को वहां के निवासियों का देश घोषित किया गया अर्थात् अन्य प्रदेशों में जहाँ गैर-तुर्की लोग रहते थे, तुर्की गणतन्त्र ने अपना क्षेत्राधिकार अस्वीकृत कर दिया।

(3) **लोकवाद**--इस सिद्धांत ने शताब्दियों से चली आ रही मिल्लत

व्यवस्था का अन्त कर, न्याय के समक्ष समस्त जनता को समानता प्रदान की अर्थात् लोकवाद ने हर प्रकार के जाति, वर्ण तथा वर्ग के भेदभाव को समाप्त कर दिया। लोकवाद किसी जाति या धर्म-विशेष पर आधारित नहीं था अपितु सामान्य नागरिकता एवं राष्ट्रीय कार्यों के हित में निहित था।

(4) **राज्य नियन्त्रणवाद**—इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य आवश्यकतानुसार रचनात्मक एवं प्रचलित हस्तक्षेप राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था में कर सकता है।

(5) **धर्म-निरपेक्षतावाद**—इस सिद्धान्त ने गणतन्त्र को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया अर्थात् राज्य तथा धर्म का विभाजन किया गया। इसके अनुसार सभी धर्म राज्य के अन्तर्गत समान हैं।

(6) **सुधारवाद**—इस सिद्धान्त ने सुधारों को सदैव खुला रखने का आश्वासन दिया अर्थात् किसी परम्परा अथवा पूर्वोदाहरण के कारण राष्ट्र का अहित होता है तो उसको मान्यता देना कोई आवश्यक नहीं है।

लार्ड किनरॉस के अनुसार इन उपर्युक्त कथित सिद्धान्तों का अपना एक पृथक् महत्व था। वास्तव में इन सभी सुधारों का मुख्य ध्येय पूर्वी सभ्यता को पाश्चात्य सभ्यता के पक्ष में त्यागना था जबकि मध्य पूर्व के अन्य देशों में पूर्वी एवं पाश्चात्य दोनों ही सभ्यताओं का समावेश था परन्तु तुर्की केवल पाश्चात्य सभ्यता को ही मान्यता प्रदान करने हेतु चेष्टारत था। इस प्रकार वह अपने को यूरोपीय समुदाय का एक सदस्य समझने लगा। 1922 से लेकर 1938 तक, कमाल अतातुर्क की मृत्यु तक, सरकार की नीतियों का मुख्य ध्येय तुर्की में व्याप्त पुरातन प्रथाओं एवं विचारों का उन्मूलन करना था। इस प्रकार तुर्की में मुस्तफ़ा कमाल का ध्येय नवीन विचाराधारा का समावेश करना था।

शवेकत सुरैय्या आयदेमीर के मतानुसार मुस्तफ़ा कमाल का ध्येय केवल विदेशी हस्तक्षेप से निवृत्ति प्राप्त करना नहीं था परन्तु उसके अनुसार यह एक ऐसा स्वर्ण अवसर था जिसके द्वारा आधुनिक तुर्की का निर्माण किया जा सकता था। इस निर्माण के लिए यथार्थवादी सुधारों की नितान्त आवश्यकता थी। इस सुधार परियोजना को मुस्तफ़ा कमाल ने तुर्की के बुद्धिजीवियों की सहायता से साकार रूप प्रदान किया। कमाल पाशा का योगदान विचारों की मौलिकता में इतना नहीं था, जितना कि संगत, अनुकूल और परस्पर सम्बद्ध विचारों का चयन था जिनको प्रयोगात्मक रूप देकर यथार्थवाद में परिवर्तित कर दिया गया। कमाल ने नवीन संविधान के अनुमोदन एवं गणतन्त्रीय शासन के "व्यवस्थापन" के लिए सुधारों का कार्यक्रम

प्रस्तुत किया, तथा इसी उद्देश्य से उसने अन्य अधिकारियों के साथ मिल कर अनातोलिया का भ्रमण किया। अपनी इस यात्रा में मुस्तफ़ा कमाल ने जनता के समक्ष अपनी सुधार योजना की रूप-रेखा प्रस्तुत कर जन साधारण का समर्थन प्राप्त करने की चेष्टा की। उसने देशवासियों को बताया कि देश की उन्नति एवं जागृति के हेतु पश्चिमी शिक्षा अनिवार्य है और इस आधुनिकीकरण के सिवा देश को उन्नत करने का अन्य कोई मार्ग उपलब्ध नहीं हो सकता। इसी रूपरेखा के आधार पर मुस्तफ़ा कमाल ने देश को सुसंगठित, सुशिक्षित एवं सुव्यवस्थित करने के लिए "सुधार क्रान्ति" का कार्यक्रम आरम्भ कर दिया।

सुल्तान पद की समाप्ति

यूनान के विरुद्ध सैन्य विजय तथा ब्रिटेन के विरुद्ध राजनैतिक विजय के तुरन्त ही पश्चात् राष्ट्रीय सभा ने नवम्बर 1, 1922 को सुल्तान पंचम को सिंहासनच्युत कर दिया क्योंकि तुर्की की प्रभुसत्ता किसी व्यक्ति-विशेष में न रहकर राष्ट्र सभा में निहित थी। **डोनाल्ड वेब्स्टर** के कथन में मुस्तफ़ा कमाल पाशा के अनुसार सुल्तानों ने अत्याचार किये थे और इन अत्याचारों के विरुद्ध राष्ट्र ने विद्रोह कर दिया। मुस्तफ़ा कमाल के मस्तिष्क में यह धारणा थी कि सुल्तान पद प्रारम्भ से ही अधोमुखी था, परन्तु कमाल ने इस धारणा को इससे पूर्व व्यापकता नहीं प्रदान की थी। 1919 में होनेवाली "इरजिरम" एवं "सिवास" के सम्मेलनों में प्रतिनिधियों ने सुल्तान के साथ सहानुभूति प्रकट की तथा यह भी कहा कि वह "मित्र राष्ट्रों के हाथों में कठपुतली है।" इस कारण राष्ट्रवादियों ने सुल्तान के प्रति किंचित् सहानुभूति प्रदर्शित की क्योंकि वे ऑटोमन राजवंश को समाप्त नहीं करना चाहते थे अपितु उन्होंने संविधान की सुविधा के अनुसार एक नये सुल्तान की माँग की। जब सुल्तान अपने परिवार के साथ निर्वासित हो रहा था तो सुल्तान के चचेरे भाई अब्दुल मजीद को सुल्तान घोषित कर दिया गया। इसी के एक वर्ष पश्चात् अक्टूबर 29, 1923 को राष्ट्रीय सभा ने तुर्की में गणतन्त्र की घोषणा कर दी तथा मुस्तफ़ा कमाल को इस गणतन्त्र का प्रथम राष्ट्रपति घोषित किया गया।

ख़लीफ़ा पद की समाप्ति

सुना किली ने अपनी पुस्तक **'कमालिज्म'** में लिखा है कि राष्ट्र के हित के लिए मुस्तफ़ा कमाल का मत था कि ख़लीफ़ा पद को समाप्त करना

अनिवार्य है क्योंकि इस सन्दर्भ में अन्य कोई मध्य मार्ग सम्भव नहीं था। यदि सुल्तान पद की समाप्ति ने कुछ तुर्कों को अप्रसन्न किया तो उसी के साथ ही ख़लीफ़ा पद की समाप्ति ने सुन्नी मुसलमानों को असन्तुष्ट किया। अतातुर्क के साथी एवं अनुयायियों ने एक उदारवादी इस्लामिक राज्य की स्थापना की माँग की परन्तु अतातुर्क को यह विश्वास था कि यदि राज्य इस्लामवादी है तो वह कदापि उदार नहीं हो सकता। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर राष्ट्रीय सभा में विचारों के आदान प्रदान के बाद मार्च 3, 1924 को ख़लीफ़ा के पद की समाप्ति कर दी गयी। अब्दुल मजीद तथा ऑटोमन साम्राज्य के संस्थापक अर्थात् उस्मान राजवंश के सभी सदस्यों को तुर्की से निर्वासित कर दिया गया। इस ख़लीफ़ा के पद के स्थान पर किसी नवीन पद का निर्माण नहीं किया गया।

न्याय सम्बन्धी सुधार

सुल्तान एवं ख़लीफ़ा के पदों की समाप्ति के साथ ही साथ नवीन सुधारों का शुभारम्भ हुआ। एन्ड्रयू मैन्गो के अनुसार 1926 के न्यायिक सुधारों ने धार्मिक न्यायालयों की समाप्ति कर दी और उसके स्थान पर स्विटजरलैंड के नागरिक नियमों एव इटली की दण्ड संहिता के आधार पर नवीन न्याय संहिता का निर्माण किया गया। यह नवीन न्याय संहिता पूर्ण रूप से उपर्युक्त देशों की न्याय पद्धति पर नहीं आधारित थी परन्तु किंचित् परिवर्तित थी। तुर्की के गणतन्त्र ने प्राचीन ऑटोमन नागरिक एवं धार्मिक नियमों का खण्डन किया तथा प्राचीन मिल्लत व्यवस्था का अन्त किया। इस गणतन्त्र ने जर्मन पद्धति पर आधारित वाणिज्य संहिता का निर्माण किया। इन न्यायिक सुधारों के कारण उलेमा लोगों के अधिकारों का ह्रास हुआ क्योंकि ये स्वयं को न्यायिक कार्यों का निरंकुश परिपालक समझते थे। नवीन सुधारों के अन्तर्गत केवल वे ही व्यक्ति, जिन्होंने पाश्चात्य विधि का अध्ययन किया था, मुकदमों का निर्णय कर सकते थे। इस प्रकार वे समस्त संस्थान जहाँ इस्लामिक विधि का अध्ययन कराया जाता था, बन्द कर दिये गये। "शेख़ उल–इस्लाम" के पद की समाप्ति कर दी गयी तथा इसके स्थान पर समस्त धार्मिक कार्यों हेतु दो परिषदें तथा पुण्य कार्यों का परिषद् अर्थात् वक्फ बनीं। ये दोनों परिषदें प्रधान मन्त्री के अधीन थीं। मुस्तफ़ा कमाल के अनुसार विज्ञान और सभ्यता ही जीवन की शक्ति और सिद्धान्त होने चाहिए। अतातुर्क के अनुसार धर्म तन्त्र का सार्वजनिक कार्यों से समाप्त हो जाना आवश्यक था। वह विधि एवं शिक्षा को धार्मिक प्रभाव से स्वतन्त्र

मानने के पक्ष में थे। **वेब्स्टर** के मत में अतातुर्क न्याय तथा शिक्षा को प्राच्य नियमों की आधारशिला पर न रख कर समय के साथ परिवर्तित करने के पक्ष में थे।

इस्लामिक तिथिपत्र में परिवर्तन

सुना के अनुसार 1926 में तुर्की के परम्परावादी तिथिपत्र में परिवर्तन किया गया। प्राच्य तिथिपत्र के स्थान पर नवीन ईसाई तिथिपत्र लागू किया गया। यद्यपि समस्त मुस्लिम त्योहार एवं धार्मिक कार्यों में प्राच्य तिथिपत्र का प्रयोग किया जाता था परन्तु सरकार ने नवीन परिवर्तित तिथिपत्र को मान्यता प्रदान की। सरकार ने जनता से नवीन तिथियों को प्रयोग में लाने का आग्रह किया। इस परिवर्तन के साथ ही तुर्की की राजधानी को भी इस्तान्बूल से अंकारा स्थानान्तरित किया गया। इसके तीन मुख्य कारण थे, एक तो इस्तान्बूल में बहुत से धार्मिक स्थान थे, दूसरे अंकारा में कृषि वर्ग से सम्पर्क करना सरल था। और तीसरा अंकारा देश के मध्य में स्थित था।

अरबी वर्णमाला की समाप्ति

ज्योफ्रे लुईस ने शिक्षा प्रगति के प्रति लिखा है कि नवम्बर 1928 में तुर्की की सीमा में अरबी वर्णमाला की समाप्ति कर दी गई तथा इसके स्थान पर लैटिन वर्णमाला को तुर्की भाषा में समाविष्ट किया गया। अतातुर्क ने "क़ुरान शरीफ" का तुर्की भाषा में अनुवाद कराया तथा नवीन वर्णमाला के आधार पर "कुरान" का प्रकाशन हुआ। अतातुर्क ने जन-साधारण को दैनिक ईश्वरीय प्रार्थना तुर्की भाषा में करने की आज्ञा प्रदान की। इस आज्ञा से अतातुर्क ने देश में निरक्षरता का उन्मूलन करने की चेष्टा की। उन्होंने अपने संसद्-सदस्यों के साथ ग्रामों में जाकर जनता को नवीन वर्णमाला का बोध कराया। इस कार्य में अतातुर्क एवं उसके सहयोगी अपने साथ श्यामपट लेकर जाते थे तथा जन-साधारण को प्रथम बार उन अक्षरों का ज्ञान हुआ जो वैसे ही उच्चरित किये जा सकते थे जैसे उन्हें लिखा जा सकता था। मुस्तफ़ा कमाल पाशा ने तुर्की कला एवं संगीत को भी आधुनिकता प्रदान करने का प्रयास किया। उन्होंने मूर्तियों की स्थापना करायी तथा स्वयं तुर्की के मुख्य स्थानों पर मूर्ति-स्थापना हेतु शिलान्यास किया। पाश्चात्य संगीत को भी अतातुर्क ने प्रोत्साहित किया तथा अनातोलिया के संगीत को हतोत्साहित किया। **प्राइस** के मतानुसार यद्यपि अतातुर्क के इन कार्यों ने जनता को किंचित् प्रभावित किया परन्तु यह परिवर्तन तुर्की जनता के हृदयों

को स्थायी रूप से परिवर्तित न कर सका।

उपाधियों की समाप्ति

उपाधियों का प्रचलन, जैसे बे, पाशा आदि, लोकवाद के सिद्धान्तों के विरुद्ध था। 1934 में समस्त उपाधियों की समाप्ति कर दी गई तथा तुर्की जनता को यह आदेश दिया गया कि वे अपने पारिवारिक नामों के आधार पर नामकरण किया करें एवं शुद्ध रूप से तुर्की में नामकरण करने के लिए प्रोत्साहन भी दिया गया। यह इसी का प्रतिफल था कि मुस्तफ़ा कमाल को 'अतातुर्क' (तुर्कों के पिता) की उपाधि प्रदान की गयी।

वेश-भूषा में सुधार

रूस के पीटर महान् की ही भाँति तुर्की जनता को यूरोपीय वेश-भूषा धारण करने के लिए विवश किया गया तथा उन्हें यूरोपीय निवासियों की भाँति पतलून एवं हैट धारण करने की आज्ञा प्रदान की गई। फैज़ तुर्की टोपी का 1925 में निषेध कर दिया गया।

पर्दा प्रथा की समाप्ति

कारपत के मत में महिलाओं के उद्धार हेतु सर्वप्रथम पर्दा प्रथा की समाप्ति आवश्यक थी, अतः सरकार ने पर्दा प्रथा के अन्त के लिए महिलाओं को प्रोत्साहित किया। इस प्रकार सामाजिक विमुक्ति के द्वारा महिलाओं ने देश के विभिन्न कार्यों में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। महिला शिक्षा का आयोजन प्रथम बार तुर्की में किया गया। शताब्दियों से चली आ रही स्त्री-निरक्षरता का अतातुर्क ने साक्षरता में परिवर्तन कर दिया। अतातुर्क के इस सामाजिक कार्य ने राष्ट्र के भविष्य को नव-ज्योति प्रदान की। बहु-विवाह प्रथा को भी अवैधानिक घोषित कर दिया गया, जिसके फलस्वरूप तुर्की की सामाजिक दशा में परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगे। 1943 में तुर्की महिलाओं को मतदान का भी अधिकार प्रदान किया गया। अतः इन सब उपर्युक्त सुधारों के द्वारा तुर्की महिलाओं ने राष्ट्र के प्रत्येक क्षेत्र में सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ किया।

मस्जिद की पाठशालाओं की समाप्ति

ऑटोमन साम्राज्य के अन्तर्गत शिक्षा पर उलेमा लोगों का पूर्ण संरक्षण था। साथ ही प्रत्येक मस्जिद के साथ पाठशालाएँ संलग्न थीं। 18वीं शताब्दी

के पश्चात् तंजीमात सुधारों के फलस्वरूप यूरोपीय पद्धति पर संचालित स्कूलों का निर्माण हुआ परन्तु गणतन्त्र के अन्तर्गत शिक्षा को उलेमा लोगों के संरक्षण से ले लिया गया। सरकार ने पाश्चात्य पद्धति पर विद्यालयों का निर्माण किया तथा पुरातनपन्थी शिक्षा संस्थानों की समाप्ति कर दी।

अवकाश दिवस में परिवर्तन

सन् 1935 के पश्चात् शुक्रवार को अवकाश का दिवस न मान कर इतवार को साप्ताहिक अवकाश का दिन घोषित कर दिया गया। किनरॉस ने इस परिवर्तन के प्रति अपने विचार प्रकट करते हुये लिखा है कि यह परिवर्तन व्यापारिक दृष्टि से परिपूर्ण था क्योंकि तुर्की का समस्त व्यापार यूरोप से होता था और यूरोप में रविवार का दिन अवकाश का होता था। अतातुर्क के अनुसार तुर्की जैसा नव-राष्ट्र अपनी परम्परा के लिए राष्ट्र का आर्थिक ह्रास नहीं सहन कर सकता। अतः रविवार का दिवस ही अवकाश दिवस होगा। पश्चिमी एशिया में टर्की ही एक ऐसा देश है, जहाँ पर शुक्रवार अवकाश दिवस नहीं है।

भाषा में सुधार

तुर्की भाषा स्वयं में अरबी तथा फारसी भाषा की ऋणी है। इस प्रकार यह भाषा केवल लेखकों और बौद्धिक लोगों के लिए थी परन्तु जन-साधारण, जिनको अरबी तथा फारसी का ज्ञान नहीं था, इस भाषा को समझने में असमर्थ थे। राष्ट्रवादियों ने इस वास्तविक राष्ट्रीय आवश्यकता को समझ कर तुर्की भाषा में से अरबी और फारसी के शब्दों को परिवर्तित कर तुर्की के शब्दों को प्रतिस्थापित किया। तुर्की भाषा को लोकप्रिय बनाने हेतु प्रति सप्ताह समाचार-पत्रों में शब्दावली प्रकाशित की जाती थी। यदि किसी अरबी अथवा फारसी शब्द का अनुवाद तुर्की भाषा में नहीं होता था तो उसके स्थान पर किसी यूरोपीय शब्द का प्रयोग किया जाता था। इसी उत्साह में राष्ट्रवादियों ने कई क्षेत्रों एवं नगरों के नामों में परिवर्तन कर दिया।

सबसे महत्वपूर्ण कार्य सरकार ने आर्थिक क्षेत्रों में किया। आटोमन साम्राज्य काल में व्यापार ग्रीस तथा आरमीनिया के हाथों संचालित होत था। अतः 1930 में फ्रांसीसी व्यापार-दक्ष व्यक्तियों ने सरकार को आर्थिक मामलों में सुझाव देना प्रारम्भ कर दिया एवं सरकार ने समस्त योजनाओं का संचालन स्वयं करना प्रारम्भ कर दिया तथा तम्बाकू, नमक, मदिरा, आदि पर से एकाधिकार समाप्त कर दिया। सड़कों का निर्माण हुआ, कल

कारखानों की स्थापना को प्रोत्साहित किया गया। मुस्तफा कमाल पाशा को इसका भली भांति ज्ञान था कि राष्ट्र का मुख्य व्यवसाय कृषि है, इस कारण कृषि का आधुनिकीकरण एवं विस्तार करने हेतु अतातुर्क ने पश्चिमी देशों से कृषि के आधुनिक यंत्र मँगवाए। अंकारा में एक आदर्श फार्म स्थापित किया गया। इसके अतिरिक्त कृषकों को सहायता प्रदान करने हेतु 1929 में एक कृषि बैंक स्थापित किया गया और 1929 में ही सहकारी समितियों की परियोजनाओं को सफल बनाने की चेष्टा की गयी। कृषि की शिक्षा प्रदान करने के लिए 1935 में उच्च कृषि विद्यालय खोला गया जो बाद में "अंकारा विश्वविद्यालय" का अंग बन गया। अतातुर्क के प्रयासों के द्वारा तुर्की का कृषक वर्ग सम्पन्न एवं समृद्ध हो गया। ये समस्त कार्य तुर्की की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने हेतु किए गए थे। औद्योगिक विकास एवं प्रगति के लिए 1935 में पंचवर्षीय योजना का निर्माण किया गया।

पश्चिमी एशिया के समालोचकों ने यों तो कमालवाद की वृहत् व्याख्या एवं विश्लेषण किया है; परन्तु लेखक के विचार से पश्चिमी एशिया के आधुनिक युग में प्रत्येक राष्ट्र-निर्माता स्वयं को "अतातुर्क" के समान बनाना चाहता था। परन्तु रज़ा शाह से लेकर नासिर तक कोई अतातुर्क जैसा जन-नायक नहीं हुआ जिसका अपने राष्ट्र-निर्माण में इतना अधिक योगदान अथवा इतना व्यापक प्रभाव जन-साधारण पर रहा हो। किसी एक व्यक्ति ने अपना इतना नैतिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रभुत्व जनता पर स्थापित नहीं किया जितना कमाल पाशा ने अपने राज्यकाल में किया। इसी के परिणामस्वरूप जनता ने कमाल पाशा को अतातुर्क अर्थात् "राष्ट्रपिता" की उपाधि से शोभायमान किया। अतातुर्क आधुनिक तुर्की के पुनर्जागरण का प्रतीक है तथा तुर्की को एक सुव्यवस्थित रूप देने का यह कार्य उसके ही व्यक्तित्व की देन था। नवम्बर 10, 1938 को अतातुर्क की मृत्यु ने सम्पूर्ण राष्ट्र को व्यापक तथा वास्तविक शोकसागर में निमज्जित कर दिया। इससे पूर्व ऑटोमन साम्राज्य के विघटन के समय भी जनता इतनी शोकग्रस्त नहीं हुई थी।

मुस्तफा कमाल "अतातुर्क" की महानता उसके ही शब्दों में स्वत: निहित है। अतातुर्क ने अपने एक भाषण में कहा कि यदि कोई मनुष्य यह सोचता है कि अन्य प्राणियों का भाग्य उस पर निर्भर है तो वह अत्यन्त क्षुद्र प्रकृति का प्राणी है। किसी भी नेता को जनता का उत्थान करने में यह कदापि नहीं सोचना चाहिए कि जनता उसको क्या प्रतिफल प्रदान करेगी?

यदि कोई व्यक्ति यह सोचता है कि मृत्युपरान्त राष्ट्र में प्रगति अथवा विकास नहीं होगा तो वह व्यक्ति नितान्त मूर्ख है।

वैदेशिक सम्बन्ध

तुर्की की असाधारण आन्तरिक उन्नति के पश्चात् कमाल अतातुर्क ने अपनी वैदेशिक नीति में भी समानान्तर सफलता प्राप्त की। लोज़ान की सन्धि में तुर्की तथा इराक की सीमा अनिर्धारित छोड़ दी गई थी। इसमें मोसल की समस्या अत्यधिक गम्भीर थी क्योंकि मोसल में अधिकतर कई जाति के लोग रहते थे और उनमें विद्रोह करा देना कोई कठिन कार्य न था। इन विद्रोहों का प्रभाव स्वयं तुर्की में भी कई जाति में निहित होने के कारण एक जटिल प्रश्न बन गया। कमाल पाशा ने अपनी बुद्धिमत्ता एवं चातुर्य से 1926 में ब्रिटेन के साथ एक सन्धि में मोसल का प्रदेश इराक को दे दिया। तुर्की ने इस समझौते को इस आधार पर स्वीकार किया कि मोसल प्रदेश के तेल के उत्पादन का 10 प्रतिशत तुर्की को दिया जायेगा। इस सन्धि के द्वारा आंग्ल-तुर्की सम्बन्धों में उन्नति हुई। धीरे-धीरे आंग्ल-तुर्की वैमनस्य का स्थान मैत्री ने ले लिया।

ब्रिटेन से राजनैतिक समझौते के पश्चात् यूनान के साथ तुर्की ने अपने सम्बन्धों को सुदृढ़ किया। वैनज़िलों ने तुर्की की राजकीय-यात्रा की और अंकारा में उसका भव्य स्वागत किया गया। इस प्रकार यूनान और तुर्की के सम्बन्ध जन-संख्या विनमय के पश्चात् और अधिक मैत्रीपूर्ण हो गये। 1930 में यूनान-तुर्की में सन्धि हुई तथा इसके द्वारा भूतपूर्व समस्याओं का समाधान किया गया। दोनों देशों ने सीमा अधिकार में रहने का आश्वासन दिया तथा पूर्वी भूमध्यसागर में नौ-सेना के सामान्य सिद्धांन्त का परिपालन करने का आश्वासन दिया। 1934 में बालकन समझौता यूनान, युगोस्लाविया तथा रूमानिया साथ तुर्की ने किया। इस समझौते के अनुसार सामुहिक सुरक्षा, स्वतन्त्रता तथा सीमा अखंडता का प्राविधान किया गया।

जुलाई 1932 में तुर्की राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया और 1934 में उसको समिति का सक्रिय सदस्य बना लिया गया। तुर्की ने संघ के सदस्य होने के नाते, संघ के कार्यों में सक्रिय भाग लिया। 1935 में इथोपिया में इटली के आक्रमण के साथ ही तुर्की की सरकार ने स्ट्रेट्स के विसैन्यीकरण को समाप्त करने की चेष्टा की। स्ट्रेट्स के विसैन्यीकरण के कारण डार्डिनल्स एवं बासफ़ोरस के क्षेत्र के द्वारा तुर्की की सीमाएँ असुरक्षित थीं। इस समस्या के समाधान हेतु 20 जुलाई, 1936 को बलगेरिया, फ्रांस, ब्रिटेन,

जापान, रूमानिया, तुर्की एवं रूस ने स्ट्रेट्स समस्या हेतु एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। इस समझौते के सम्मेलन में तुर्की का मुख्य अनुरोध मान लिया गया तथा स्ट्रेट्स का पुनः सैन्यीकरण कर दिया गया। इस समझौते में केवल इटली ने हस्ताक्षर नहीं किये परन्तु इस सम्मेलन के द्वारा तुर्की की सैनिक स्थिति भूमध्यसागर एवं कृष्णसागर में सुदृढ़ हो गयी। इस प्रकार तुर्की ने अन्तरराष्ट्रीय सुरक्षा के क्षेत्र में इस समय अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया जो काल, सामूहिक सुरक्षा और अनाक्रमण समझौते के विश्वास से सुदृढ़ था। 1937 में तुर्की ने एक और महत्वपूर्ण उपलब्धि अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में प्राप्त की। तुर्की ने ईरान, इराक और अफ़गानिस्तान से "सादा-बाद" समझौता किया। इस समझौते ने एशिया एवं यूरोप दोनों महाद्वीपों में तुर्की की वैदेशिक नीति को सुसंगठित किया। तुर्की ने एक अन्य महत्व-पूर्ण "अलेक्ज़ेन्ड्रटा की समस्या" का समाधान पूर्ण किया। 1926 तक तुर्की एवं सीरिया की सीमा से सम्बन्धित कई घटनायें उत्पन्न हुई। इसका एक-मात्र कारण अलेक्ज़ेन्ड्रटा था जिसमें 90,000 तुर्की निवास करते थे। वे अपने एक पृथक् प्रशासन के इच्छुक थे परन्तु 1936 में फ्रांस ने सीरिया को स्वतन्त्रता प्रदान करने की इच्छा प्रकट की। इस फ्रांसीसी नीति का तुर्की ने विरोध किया तथा इस समस्या को राष्ट्रसंघ के समक्ष प्रस्तुत किया परन्तु वस्तु-स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जुलाई 3, 1938 को फ्रान्स तथा तुर्की में "सहअधिकार" का समझौता हुआ जिसके अनुसार फ्रांसीसी तथा तुर्की सेना के संरक्षण में सार्वजनिक चुनाव किये जाने की व्यवस्था की गयी। संसद् के चुनाव में चालीस स्थानों में से 32 तुर्की को प्राप्त हुए। सितम्बर 2 को जब संसद् की बैठक हुई तो सदस्यों ने स्वयं को "हतेय गणतन्त्र" के नाम से घोषित कर दिया। फ्रांसीसियों ने आपत्ति की परन्तु जुलाई 23, 1839 में हतेय का तुर्की में संयोजन कर दिया गया।

हैरी हावर्ड ने टर्की की विश्व युद्ध पूर्व व्याख्या करते हुये लिखा है कि द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व 1939 में विश्वकूटनीति का वातावरण तनावपूर्ण प्रतीत होने लगा। इसी स्थिति में तुर्की ने कई सन्धियाँ करने की चेष्टा की। तुर्की ने रूस के साथ समझोते को मूर्तरूप देने की चेष्टा की परन्तु स्टैलिन तथा मोलोतोव के प्रस्तावों के कारण एवं जर्मनी के प्रभाव के फलस्वरूप रूस-तुर्की समझौता कार्यान्वित नहीं हो सका। इसके विपरीत फ्रान्स व ब्रिटेन में तुर्की के साथ मित्रता की सन्धि अक्टूबर 19, 1939 को सम्पन्न हुई। इस सन्धि के अन्तर्गत ब्रिटेन तथा फ्रान्स को पूर्ण सुरक्षा का आश्वासन दिया गया। परन्तु रूस ने इस सन्धि की भर्त्सना की।

मूल्यांकन

मुस्तफ़ा कमाल का लक्ष्य केवल टर्की (तुर्की) को विदेशी शासन से मुक्त ही नहीं करना था वरन् सुधारक परिक्रिया के द्वारा तुर्की के राजनैतिक प्रशासनिक, शैक्षिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक मूल तत्वों को परिवर्तित कर नवीन जीवन प्रदान करना था। कमाल अतातुर्क ने अपने सुधारों को बुद्धजीवी एवं चिंतकों से विचार विमर्श के पश्चात् ही कार्यरूप प्रदत्त किया। मुस्तफ़ा कमाल का महत्वपूर्ण योगदान विचारों की मौलिकता में नहीं था अपितु अन्तर सम्बन्धित, यर्थाथवादी एव समृद्ध विचारों को एक सूत्र में निहित कर प्रयोगिक रूप देना था। कमाल पाशा को तुर्की से प्रेम था और इस कारण वह अखिल तुर्कीवाद के पक्षपाती नहीं थे अर्थात वह तुर्की के ग़ैर तुर्की जनवर्ग पर तुर्की भाषा व सांस्कृति को आरोपित नहीं करना चाहते थे वरन् अतातुर्क उन प्रदेशों को भी गणतन्त्र से त्याग देना चाहते थे जो ग़ैर तुर्की होने के कारण देश में अव्यवस्था तथा मतभेद का कारण बन सकते थे। इसमें संशय नहीं कि मुस्तफ़ा कमाल पाशा 'अतातुर्क' ने विघटित ऑटोमन साम्राज्य से उत्पन्न नव तुर्की गणतन्त्र को आधुनिक मौलिकता प्रदान कर गरिमापूर्ण पथ प्रदर्शन किया।

टर्की 1939 द्वितीय विश्वयुद्ध

कमाल अतातुर्क के उत्तराधिकारी के प्रति टर्की में कदाचित कोई विवाद नहीं था क्योंकि इज़मत 'आईनोनु' (युनान के साथ आईनोनु के युद्ध में सफलता पश्चात इज़मत पाशा को आईनोनु की उपाधि से ही जाना जाता रहा) ने अतातुर्क को तुर्की के आधुनीकिकरण में पूर्ण सहयोग दिया था। अतः उनकी मृत्योपरान्त इज़मत ही 1938 में तुर्की के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। राष्ट्रपति निर्वाचित होने के एक वर्ष के भीतर ही उन्हें द्वितीय विश्व युद्ध के संकट का सामना करना पड़ा।

तथापि सम्पूर्ण विश्वयुद्ध के समय तुर्की की विदेश-नीति विवेक, बुद्धिमता एवं सतर्कता पर आधारित थी। तुर्की की नीतियों का मुख्य ध्येय अन्तरराष्ट्रीय संघर्षों से स्वयं को तटस्थ रखना तथा अपनी स्वतन्त्रता एवं क्षेत्रीय अखण्डता को बनाये रखना था। प्रत्येक प्रकार के विदेशी दबाओं के उपरान्त भी तुर्की ने अपनी नीतियों में परिवर्तन नहीं किया। अतः तुर्की ने द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होते ही अपनी तटस्था की घोषणा कर दी। परन्तु फिर भी तुर्की की नीतियाँ पूर्णतया स्पष्ट नहीं थीं, क्योंकि एक ओर जहाँ इसने ब्रिटेन तथा फ्रान्स से अनाक्रमण समझौता कर रखा था, वही

दूसरी ओर जर्मनी से इसका लगभग पन्द्रह प्रतिशत व्यापार सम्बन्ध था। एच०एन० हावर्ड के मतानुसार सोवियत संघ ने अगस्त 1939 में जब नाज़ियों से सन्धि कर ली तो तुर्की अपने जलडमरुमध्य क्षेत्र के प्रति चिन्तित हो गया। परिणामस्वरूप तुर्की ने अपने विदेश मंत्री 'शुक्रु चोग़लू' को सोवियत संघ से एक मैत्री संधि के लिए मास्को भेजा परन्तु रूस ने तुर्की के सम्मुख दो शर्तें रख दीं—प्रथम यह की तुर्की अपने जलडमरुमध्य मार्गों को ब्रिटेन एवं फ्रान्स के लिए बन्द रखेगा तथा द्वितीय, नाज़ियों के विरुद्ध युद्ध में भाग नहीं लेगा। तुर्की ने उपर्युक्त किसी भी शर्त को मान्यता प्रदान करना अस्वीकार कर दिया एवं 19 अक्टूबर 1939 को ब्रिटेन तथा फ्रांस से एक पन्द्रह वर्षीय समझौता कर लिया। इसके प्राविधानों के अनुसार तुर्की के विरुद्ध आक्रमण की स्थिति में मित्रराष्ट्रों ने सहयोग प्रदान करने का वचन दिया एवं भूमध्यसागरीय क्षेत्र में युद्ध की स्थिति उत्पन्न होने पर तुर्की ने युद्ध में भाग लेने का वचन दिया परन्तु सोवियत संघ के विरुद्ध वह किसी संघर्ष में भाग लेने पर बाध्य नहीं था।

अक्टूबर 1940 तक तुर्की की भूमिका निषिक्रय रही, परन्तु युद्ध में इटली के हस्तक्षेप एवं फ्रान्स की पराजय ने तुर्की के लिए संकट उत्पन्न कर दिया। त्रैपक्षिक सन्धि के अनुसार तुर्की को इटली के विरुद्ध युद्ध में भाग लेना चाहिए था परन्तु तुर्की ने अपनी तटस्था बनाये रखी। 1941 के पूर्वार्द्ध तक जर्मनी ने समस्त यूगोस्लाविया, यूनान एवं क्रीट पर अधिकार कर लिया। ईराक एवं सीरिया में भी जर्मनी का प्रभाव क्षेत्र स्थापित हो चुका था। इसके अतिरिक्त रूमानिया तथा बल्ग़ारिया को भी जर्मनी ने अधीनस्थ कर लिया था। इस प्रकार तुर्की जून 1941 तक चारों दिशाओं से जर्मनी प्रभावित राष्ट्रों द्वारा घिर गया। इसी मध्य याह्या अरमाजॉनी के अनुसार जर्मनी ने सोवियत संघ पर आक्रमण करके तुर्की के लिए प्रथम विश्वयुद्ध वाली स्थिति पैदा कर दी जिसमें ग्रेट ब्रिटेन फ्रांस तथा सोवियत संघ, जर्मनी तुर्की के विरुद्ध युद्धरत थे। उपर्युक्त परिस्थिति में तुर्की ने मार्च 2, 1941 को प्रत्येक युद्धपोत के लिए अपने जलडमरुमध्य मार्गों को बन्द घोषित कर दिया।

तत्पश्चात् जर्मनी के वॉन पैंपन ने तुर्की से वार्तालाप प्रारम्भ कर दिया। फलस्वरूप जून 18, 1941 को तुर्की ने जर्मनी के साथ एक दस वर्षीय अनाक्रमण सन्धि कर ली। इस समझौते में तुर्की द्वारा अपने पूर्व वचनों का उल्लंघन न करने का भी एक प्राविधान था। इस प्रकार जर्मनी तुर्की को तटस्थ करने की अपनी नीति एवं ध्येय में सफल रहा। जर्मनी का दूसरा

ध्येय तुर्की से क्रोम नामक धातु का आयात करना था। इस धातु से उच्च-स्तरीय स्टील का निर्माण होता था। परन्तु तुर्की ग्रेट ब्रिटेन के साथ एक 'क्रोम सन्धि' कर चुका था एवं उसने यह सन्धि निरस्त करना अस्वीकार कर दिया। जार्ज लेन्ज़ोविस्की के मत में इस समस्या ने जर्मनी एवं पश्चिमी शक्तियों के मध्य एक नवीन संघर्ष को जन्म दिया जिसे 'क्रोम-युद्ध' भी कहा जाता है। तथापि अक्टूबर 9, 1941 को जर्मनी तुर्की के साथ एक व्यापारिक सन्धि करने में सफल हुआ, जो 31 मार्च, 1943 तक मान्य थी। इस सन्धि के प्राविधानों के अनुसार तुर्की 90,000 टन क्रोम जर्मनी को निर्यात करने के लिए तैयार हो गया एवं इसके प्रत्यावर्तन में जर्मनी ने तुर्की को 10,00,00,000 तुर्की पौंड मूल्य की युद्ध सामग्री प्रदान करना स्वीकार किया। 1941 से 1942 तक वॉन पैंपन तुर्की को जर्मनी से अत्यधिक मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाने के लिए उत्तेजित करता रहा। तुर्क सहयोग को प्राप्त करने के लिए जर्मनी ने दो अन्य युक्तियों को भी प्रयोग किया—सर्वप्रथम इसने सोवियत संघ द्वारा तुर्की के जलडमरुमध्य पर अधिकार करने के ध्येय का रहस्योद्-घाटन किया, जिसका ज्ञान जर्मनी को सोवियत सघ से मित्रता के समय हुआ था, तथा दूसरा, जर्मनी ने तुर्की में अखिल तूरानियनवाद के प्रचार पर जोर दिया।

यद्यपि उपर्युक्त युक्तियों ने तुर्की को पर्याप्त प्रभावित किया परन्तु तुर्की सरकार ने अपनी नीतियों में परिवर्तन नहीं किया। परन्तु एडवर्ड वाइज़बेंड ने विश्वयुद्ध के अन्तिम दो वर्षों में टर्की की नीति का विश्लेषण करते हुये लिखा है कि 1942 के उत्तरार्द्ध में जर्मन-रूस युद्ध के परिणामों एवं अमरीका द्वारा विश्वयुद्ध में हस्तक्षेप के कारण तुर्की के लिए अपनी नीतियों में परिवर्तन करना विचारणीय हो गया। 1943 में कासाब्लांका, अदन, क्यूबेक, मास्को, काहिरा, तेहरान एवं पुनः काहिरा के वार्तालापों में में चर्चिल ने तुर्की को जर्मनी के विरुद्ध बालकन क्षेत्रों में आक्रमण करने के लिए प्रभावित करने का प्रयास किया। परन्तु तुर्की जर्मनी के भयवश अपनी तटस्थता से विचलित नहीं हुआ। अन्ततोगत्वा जब अमरीका एवं ब्रिटेन ने पर्याप्त आर्थिक एवं सैन्य सहायता का वचन दिया तब तुर्की ने वॉन पैंपन द्वारा निर्मित समस्त आर्थिक एवं राजनैतिक बन्धनों को त्याग कर फरवरी 23, 1945 को जर्मनी पर आक्रमण कर दिया। वास्तव में तुर्की के उपर्युक्त नीति परिवर्तन के पीछे संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने एवं सेन फ्रांसिस्को सम्मेलन में भाग लेने का लोभ था। तत्पश्चात् मार्च 21 को तुर्की ने सोवि-

यत संघ के साथ एक अनाक्रमण सन्धि कर ली। इसके पूर्व जनवरी 12, 1945 को तुर्की ने रूसी पोतों के लिए अपने जलडमरुमध्य के मार्गों के प्रयोग का अधिकार सुरक्षित कर दिया था।

युद्धोपरांत टर्की

जनसंख्या

द्वितीय विश्वयुद्धोपरांत टर्की की जनसंख्या में अपार वृद्धि होने लगी। 1927 में टर्की की जनसंख्या 13 करोड़ 64 लाख और 8 हज़ार थी और 1972 में 37 करोड़ 53 लाख 9 हज़ार हो गई। इस जनसंख्या वृद्धि में तुर्की के प्रशासन को परिवार नियोजन के अभियान की ओर आकृष्ट किया। प्रथम परिवार नियोजन अभियान 1965 में आरम्भ हुआ। 1969 तक वहाँ पर 482 स्वास्थ्य केन्द्र (परिवार नियोजन) और अनेक नगरों में चल अस्पताल की भी व्यवस्था थी। होटलों और रेस्तराओं में भी नैपकिनों के ऊपर परिवार नियोजन सम्बन्धी विज्ञापन छपे रहते थे। परिवार नियोजन का विरोध निम्न वर्ग और अशिक्षित वर्ग द्वारा नहीं हुआ वरन् वह वर्ग जो स्वयं को 'कर्नल टर्क' कहता था उसने परिवार नियोजन का विरोध करना आरम्भ किया। इस वर्ग का ध्येय तुर्की की जनसंख्या को रूस की जनसंख्या की समानता तक लाना था।

1972 में तुर्की की जनसंख्या का 38 प्रतिशत भाग नगरों में रहता था। जनसंख्या के अनुसार तुर्की के बड़े नगर इस्तान्बूल, अंकारा, और इज़मीर थे। जनसंख्या वृद्धि के कारण कृषि, उद्योग और सरकारी नौकरियों के उपरान्त भी बेरोज़गारी 8 लाख से ऊपर थी। 1973-74 में देश की उन्नति के साथ साथ बेरोज़गारी में भी वृद्धि होती चली गई।

आर्थिक स्थिति

तुर्की की आर्थिक स्थिति को स्थायित्व प्रदान करने हेतु कृषि और खनिज पदार्थ का निर्यात था। तुर्की भारत के पश्चात विश्व में अफीम का सर्वोपरि उत्पादक था, परन्तु 1971-72 में शासकीय आज्ञा के द्वारा अफीम की कृषि एवं उत्पादन वन्द कर दिया गया। यह उत्पादन अमरीका की सरकार के निवेदन पर वन्द किया गया क्योंकि अमरीका में हैरोवाइन तथा अफीम के व्यसनी लोगों को 80 प्रतिशत अफीम तुर्की से निर्यात होती थी। 1973 में पुन: अफीम को कृषि आरम्भ कर दी गई और जुलाई 5, 1976 के **वाशिंगटन पोस्ट** में इसकी भी पुष्टि की गई कि इस बार कोई अवैध व्यापार

नहीं हो रहा था ।

तुर्की की कृषि उद्योग की सर्वप्रथम समस्या आरा (भूसम्पत्ति) तथा कृषि वर्ग का मतभेद था। तथापि 1966 के पश्चात तुर्की में आधुनिक पद्धति पर कृषि उद्योग कार्य करने लगा ।

कृषि के अतिरिक्त तेल तो अरब और पर्शिया में अल्लाह की देन था। तेल के साथ साथ ताँबा, लोहा, क्रोम, लिगनाइट, तथा वाक्साइट इत्यादि भी टर्की में प्रचुर मात्रा में प्राप्त था ।

तुर्की की संचारण व्यवस्था तथा यातायात में भी आधुनिक परिवर्तन हुआ । 1958 में रेलवे का विकास किया गया । रेलवे विकास के साथ ही परिवहन तथा विमान यात्रा में भी वृद्धि हुई । 1974-75 के मध्य तुर्की ने संचारण व्यवस्था हेतु योरप से आधुनिक उपकरण क्रय किये तथा ऐयरवेज़ (हवाई कम्पनी) जिसका कि राष्ट्रीयकरण किया जा चुका था आधुनिक यात्रा विमानों द्वारा कार्य कर रहीं थी ।

शैक्षिक स्थिति

टर्की में शिक्षा को पूर्ण महत्व मुस्तफ़ा कमाल पाशा के समय से दिया गया है । इससे पूर्व ऑटोमन साम्राज्य में भी शिक्षा विस्तार के कई चरण आये । इस्तानबूल विश्वविद्यालय के मुख्य द्वार पर 1453 का संवत्सर इस तथ्य का द्योतक है कि 'मुहम्मद विजयी' को शिक्षा से लगाव था । उदाहण-तया इस्तान्बूल विश्वविद्यालय की चिकित्सा संकाय अपने डेढ़ शताब्दियों के उद्गम से गर्वान्वित हो सकती है । यह चिकित्सा स्कूल 1827 में महमूद II के मुख्य चिकित्सक मुस्तफ़ा इफ़न्दी द्वारा स्थापित किया गया ।

टर्की में त्रिस्तरीय शिक्षा 19वीं शताब्दी से आरम्भित थी परन्तु प्रथम विश्वयुद्धोपरान्त टर्की की नवीन परिभाषा जो कमाल अतातुर्क के समय से आरम्भ हुई उसमें वास्तविक रूप से शिक्षा जनित सुधार किये गये । 1935 तक टर्की में 6, 275 प्राथमिक शिक्षा केन्द्र थे और 1975 में 52, 243 हो गये । इसके समानान्तर ही तकनीकी और व्यवसायिक शिक्षा का भी विस्तार हुआ । तकनीकी विश्वविद्यालयों में भी वृद्धि हुई । उदाहरण स्वरूप इस्तानबूल तकनीकी विश्वविद्यालय (1944), मिडिल ईस्ट टैक्निकल विश्वविद्यालय (1956), तथा ब्लैक सी टैक्निकल विश्वविद्यालय (1963) इत्यादि की स्थापना हुई । 1971 में बास्फ़ोरस विश्वविद्यालय की स्थापना की गई । टर्की सरकार अन्य महत्वपूर्ण स्थानों पर भी विश्वविद्यालय स्थापना की घोषणा कर चुकी है ।

वैदेशिक स्थिति

टर्की के वैदेशिक सम्बन्धों के प्रति सी० एच० डॉड ने लिखा है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात में टर्की के एक महत्वपूर्ण वर्ग को रूस की पराजय न होने के कारण निराशग्रस्त होना पड़ा। टर्की और रूस के सम्बन्ध में कृष्णसागर (ब्लैक सी) और जलडमरुमध्य (स्ट्रेट्स) को लेकर सदैव विषमता बनी रही। युद्धोपरान्त ही इस समस्या का कुछ निराकरण हो सका, परन्तु विदेश नीति में कुछ काल तक यह समस्या अपने स्थान पर बनी रही। अगस्त 1950 में टर्की ने 'उत्तरी ऐटलांटिक संधि संघ' (नाटो) में प्रवेश हेतु आवेदन दिया। नाटो की परिषद (बैठक) में नार्वे और डेनमार्क ने इसका विरोध किया। अक्टूबर 1950 में टर्की को भूमध्यसागर सुरक्षा योजना में सम्मिलित कर लिया। टर्की के लिये यह कूटनीतिक सांत्वना थी। नाटो में टर्की को सदस्यता न प्रदत्त करने का कारण ब्रिटेन और फ्रान्स भी था। क्योंकि यह टर्की को रूस की द्वार सीमा पर होने के कारण संकटदयित्व में नहीं पड़ना चाहते थे। संयुक्त राष्ट्र के निवेदन पर टर्की ने कोरिया के युद्ध में योगदान देकर अपनी वैदेशिक मान्यता में वृद्धि की। जुलाई 1951 में ब्रिटेन ने टर्की में नाटों प्रवेश का समर्थन किया। इसी मध्य टर्की मध्यपूर्व एशिया सुरक्षा समझौते में प्रविष्ट होने की सोच चुका था। परन्तु फरवरी 1952 में टर्की नाटो का पूर्ण सदस्य हो गया। जुलाई 1952 में नाटो ने टर्की में दक्षिण पूर्व योरोपियन कमाण्ड की स्थापना की घोषणा की जिसका मुख्य कार्यालय इज़मीर में होगा।

इसी मध्य टर्की और मिस्र के सम्बन्धों में कटुता आ चुकी थी। अप्रैल 1954 में टर्की ने पाकिस्तान से भी एक समझौता किया। इस समझौते के अनुच्छेद 6 में मध्यपूर्व एशिया सुरक्षा संगठन बनाने का स्पष्ट प्रयास था। यह समझौता अमरीकन नीति के अन्तर्गत था जिसके अनुसार मध्यपूर्व एशिया के समस्त उन देशों को एक सूत्रबद्ध करना था जो तटस्थ नहीं थे।

पश्चिमी देशों का एक अन्य प्रयास 'उत्तरी क्षेत्रीय' देशों को संगठित करना था जो रूस के दक्षिणी सीमा पर स्थित थे। इस विचारधारा ने बग़दाद समझौते को जन्म दिया जो 1960 में केन्द्रीय संधि संघ (सैंटो) हो गया। टर्की की विदेश नीति पश्चिमी देशों पर विशेषकर अमरीका पर आधारित रही, किन्तु पश्चिमी एशिया के देशों में पारस्परिक मतभेद और विषमता सदैव बने रहने के कारण रूस और अमरीका इस क्षेत्र पर अपना प्रभाव बनायें रहेंगे।



पश्चिमी एशिया और प्रथम विश्वयुद्ध

1. Lewis, Geoffrey : Turkey London, 1955 and Modern Turkey, London 1974.

2. Price, M. P. : A History of Turkey : From Emire to Republic, London, 1956.

3. Mango, Andrew : Turkey, London, 1968.

4. Karal, Enver Ziya tr : History of the Turkish Republic, New York 1976.

5. Webster, D. E. : The] Turkey of Ataturk : Social Process in the Turkish Reformation, Philadelphia, 1939.

6. Bisbee, Eleanor : The New Turks : Pioneers of Republic, 1920-50, Philadel Phia, 1951.

7. Kinross, Lord : Ataturk : A biogrphy of Mustafa Kamal, Father of ModernTurkey, London,1965

8 Orga, Irfan : Phoenix Ascendant : The Rise of Modern Turkey, London, 1958

9. Orga, Irfan and Margrete : Ataturk, London, 1962.

10. Armstrong, H. C. : Grey Wolf, Mustafa Kamal; London, 1935.

11. Aydemir, Shveket Sureyya : The Only Man, 3vols; Istan-Bul, 1963-65.

12. Kili, Suna : Kemalism, Istanbul, 1969,

13, Karajan, Ali Naji : Lozan, Istanbul, 1971,

14, Karpat, K. H. ed, : Social Change and Politics in Turkey : A Structural Historical Analysis, Leiden, 1973,

15, Luke, Sir Harry : The Old Turkey and New, London, 1955,

16, Davison, R. H. : Middle East Nationalism; Lausanne Thirty Years After, Middle East Journal, Summer 1953,

17, Duru, Kazim Nami : Ziya Gokalp, Istanbul, 1948,

18, The Treaties of Peace 1919-1923, New York, 1924, Part II

19, Wiesband, Edward : Turkish Foreign Policy 1943-1945, Princeton, 1973,

20, **Howard, H. N.** : **Turkey, the Straits And U.S Policy, London, 1974,**

21, **Dodd, C. H.** : **Politics and Government in Turkey Manchester, 1969**

अध्याय 42

पर्शिया व ईरान

पर्शिया साम्राज्य की नींव ईसा से छठी शताब्दी पूर्व 'सीरस महान' ने रखी और पर्शिया का नामकरण ईरान 1935 में 'रज़ाशाह' के द्वारा हुआ। ईरान शब्द की उत्पत्ति 'एरियन' अर्थात् आर्य शब्द से हुई।

19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में योरोपीय राजनीति का पर्दापण पर्शिया में हुआ। यह पर्शिया में कजार (ख़जर) राजवंश का शासन काल था। योरोपीय प्रभाव के फलस्वरूप पर्शिया की धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, बौद्धिक एवं राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तन आने लगा। पर्शिया के इस पुनर्जागरण में सर्वप्रथम धार्मिक आन्दोलन हुये और तत्पश्चात बौद्धिक जागरण ने स्थान लिया। अंततः पश्चिमी साम्राज्यवाद ने पर्शिया को अवगुण्ठित किया।

नवजागरण : धार्मिक

बाबवाद

बाबवाद शिया धर्म में सुधार के लिए एक आन्दोलन था जिसने पृथक्करण की दीवार को नष्ट करने में सक्रिय योगदान दिया। अरमाजानी के अनुसार यह एक पश्चिमी प्रभाव से मुक्त स्थानीय क्रिया थी जिसने पर्शिया के इतिहास में एक व्यक्ति-विशेष को जनता के ऊपर नैतिक प्रभुत्व प्रदान किया। शाह नासिरुद्दीन (1848-96) के शासन काल में शिया धर्म में मत-भेद आरम्भ हो गया। बाबवाद शिया धार्मिक वर्ग के बारहवें इमाम के स्थान के लिए प्रारम्भ हुआ। शिया धर्म के अनुसार बारहवें इमाम गुप्त हैं और किसी दिवस प्रगट होंगे एवं बाब (द्वार) के माध्यम से ही उनसे सम्पर्क हो सकता है।

1844 में शेख़ वर्ग के मिर्ज़ा अली मुहम्मद ने, जो शिराज़ के रहने

वाले थे, स्वयं को बाब घोषित कर दिया परन्तु उनके अनुयायियों ने बाब को गुप्त इमाम घोषित कर दिया। इस कथन की पर्याप्त पुष्टि नहीं है क्योंकि अपनी पुस्तक '**बयान**' में उन्होंने स्वयं को वह द्वार बताया जिससे ईश्वरी सत्यता की गोपनीय विधा को ग्रहण किया जा सकता है। दूसरे, उन्होंने स्वयं को दर्पण बताया जिसमें ईश्वर का अवलोकन किया जा सकता है। इसके साथ-साथ उन्होंने यह भी माना कि वह ईश्वर के अवतार हैं और क़ुरान की अन्योक्तिपरक व्याख्या कर सकते हैं। मिर्ज़ा अली मुहम्मद ने अपने अनुसार एक नये युग का प्रारम्भ किया और शिया धर्म के क्षितिज को पार कर स्वयं को स्वतन्त्र धर्मवेत्ता बताया। बाब ने स्त्री-पुरुष समानता एवं पर्दा प्रथा का विरोध किया। उन्होंने उन्नीस (19) की संख्या को एक अदृश्य महानता प्रदान की। उनकी धार्मिक पुस्तक 19 पद्य की थी, 19 गुरुजनों के अधीन समुदाय था तथा मुस्लिम व्रत के 19 दिन नियत किये गये। राबर्ट ग्रान्ट **वाटसन** के विचार में इसमें किंचित् सन्देह नहीं है कि बाबवाद का उदय एक उपयुक्त समय पर हुआ जिसने शियाओं की धर्मान्धता को सर्वशक्तिशाली होने से रोकने का प्रयास किया अन्यथा शिक्षा एवं प्रगति के पथ में अवरोध उत्पन्न हो रहा था परन्तु बाबवाद ने विश्वास एवं विचारों के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। इस आन्दोलन का विरोध शाह और उलेमा लोगों ने किया। शाह ने इस वाद को वर्जित घोषित कर दिया तथा इसके अनुयायियों को दण्डित किया। फलस्वरूप 1850 में बाब की हत्या कर दी गई। नावी ने अपनी पुस्तक '**द डान ब्रेक्स**' में लिखा है कि शाह एवं उलेमाओं के विरोध के उपरान्त भी इस वाद का अत्यधिक प्रसार हुआ क्योंकि दण्डित किए जाने पर भी बाबवाद के अनुयायिओं ने जिस साहस, निष्ठा एवं निःस्वार्थता का परिचय दिया उसके कारण बाब धर्म के प्रति लोगों की श्रद्धा और अधिक हो गयी।

बाहावाद

1866 में हुसेन अली ने बाहउल्ला (ईश्वरी मान्यता) की उपाधि से स्वयं को विभूषित किया। उन्होंने बाब के पश्चात् स्वयं को ईश्वरी दूत बताया यथार्थ में उन्होंने एक नवीन धर्म का शिलान्यास किया जिसमें धर्म के साथ-साथ ईसाई धर्म के उदारवादी सूत्रों का मिश्रण था। बाहावाद के धार्मिक पंथ के अनुसार युद्ध की भर्त्सना की गई और मनुष्यता को ही धर्म माना गया। इसके अतिरिक्त इस धर्म ने मानव-प्रेम, विश्व-शांति एवं परोपकार की शिक्षा को मान्यता प्रदान की। बाहावाद ने सम्पूर्ण मानव जाति के गठ-

बन्धन एवं संगठन हेतु एक विश्व-भाषा की महत्ता पर ज़ोर दिया। बाहावाद ने बहुविवाह प्रथा तथा पर्दा प्रथा की समाप्ति एवं तलाक पर रोक लगाने की ज़ोरदार माँग की। बाहावाद अपने ही देश में सीमित न रह कर विदेशों में भी लोक-प्रिय हुआ। विशेष कर अमरीका में बाहावाद को अत्यधिक मान्यता दी गई। इस प्रकार इस धर्म ने केवल अपने ही देश में ख्याति नहीं प्राप्त की अपितु विदेशों में इसने एक स्थायी रूप ग्रहण किया।

इस प्रकार गेल मारजेह के मतानुसार बाब-बाहावाद ने अपनी उदार-वादी सामाजिक शिक्षा के द्वारा योरोप में सहानुभूति और ख्याति प्राप्त की तथा अपने देश में रूढ़िवादी, परम्परावादी एवं अन्धविश्वासी संस्कृति को नवीन स्वरूप प्रदान करने की चेष्टा की।

इस आन्दोलन का मुख्य कार्य मानव जीवन के आध्यात्मिक, नैतिक एवं राजनैतिक पक्ष का एकीकरण करना था। इन दोनों आन्दोलनों ने जिन सुधारों को प्रतिपादित करना चाहा उन्हीं सुधारों को रज़ा खाँ ने साकार रूप प्रदान किया। इस प्रकार बाब-बाहावाद आन्दोलन को पर्शिया का भव्य द्रष्टा कहा जा सकता है।

पर्शिया और अफ़गानी

जमाल-अल-अफ़गानी उन्नीसवीं शताब्दी का एक अत्यंत महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली व्यक्ति था। अफ़गानी का पूर्ण जीवन क्रियाशील था। उसकी लेखनी में ओज था। उसकी भाषा अलंकृत और उत्तेजक होती थी। याह्या अरमाजानी ने अफ़गानी का चित्रण करते हुये लिखा है कि अफ़गानी एक प्रकांड बौद्धिक वेत्ता होने के उपरान्त भी पारस्परिक विरोधाभास से ओत प्रोत था। "वह पर्शियन था परन्तु स्वयं को अफ़गानिस्तान का रहने वाला बताया करता था। वह शिया था परन्तु स्वयं को सुन्नी घोषित करता था। वह क्रान्ति का समर्थक बनता था परन्तु संवैधानिक मान्यता के विरुद्ध था। वह ब्रिटिश साम्राज्य को इस्लाम का घोर शत्रु मानता था परन्तु पाश्चात्य सभ्यता का पक्षपाती था।" इस विरोधाभासी सम्मिश्रण के उपरान्त भी अफ़गानी का धार्मिक जागरण में अपना एक विशिष्ट स्थान है।

जमाल-अल-अफगानी अखिल इस्लामवाद तथा उदारवादी विचार-धाराओं के सम्मिश्रण थे। फ़िलिप हिट्टी के अनुसार वह मुस्लिम लोगों के आधुनिकीकरण तथा आंतरिक उन्नति के पक्षपाती थे परन्तु उनके विचार में उन्नति का मात्र स्रोत पश्चिमी शिक्षा थी। उनकी धार्मिक नीति में धार्मिक

खलीफ़ा का होना अनिवार्य था। वह ऑटोमन सुल्तान अब्दुल हमीद को धार्मिक खलीफ़ा बनाने को उत्सुक थे। जमाल-अल-अफ़गानी ने दो बार पर्शिया की यात्रा की तथा दोनों बार वह नासिरुद्दीन शाह से मिले और शाह को इस्लाम धर्म को संगठित करने के लिए प्रेरित किया। अफ़गानी इस प्रकार अब्दुल हमीद को खलीफ़ा बना कर अखिल इस्लाम राज्य बनाने के इच्छुक थे परन्तु शाह ने अफ़गानी की इस प्रकार की नीति का विरोध किया और अफ़गानी ने पर्शिया में असफलता के पश्चात् शाह के विरुद्ध प्रचार आरम्भ कर दिया।

बौद्धिक

पर्शिया का पार्थक्य **अरमाजानी** के मतानुसार प्रत्यक्ष रूप से पश्चिम के एवं अप्रत्यक्ष रूप से तुर्की तथा भारत के प्रभाव के कारण समाप्त हुआ। इसका श्रेय शाह नासिरुद्दीन के मंत्री मिर्जा तकी खां को था जो अधिकतर अपनी मानोपाधि 'अमीर-ए-कबीर' से जाना जाता था। 1848 में नासिरुद्दीन के सिंहासनारूढ़ होते ही शाह ने मिर्ज़ा तकी खां को प्रधानमंत्री बनाया। अपने तीन वर्ष के अल्प समय में मिर्जा ने पर्शिया के आधुनिकीकरण में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान दिया जो अब तक के किसी व्यक्ति-विशेष से सर्वोपरि था। मिर्ज़ा इस तथ्य से पूर्णरूपेण सहमत थे कि पर्शिया का उद्धार पश्चिमी पद्धति पर आधारित सुधारों द्वारा ही संभव है। मिर्ज़ा ने ऑटोमन साम्राज्य के तंज़ीमत युग का अध्ययन किया तथा रूस की यात्रा में वहाँ की स्थिति का अवलोकन कर ज्ञानवर्धन किया।

'अमीर-ए-कबीर' ने सर्वप्रथम प्रशासनिक सुव्यवस्था की ओर ध्यान आकृष्ट कर आन्तरिक प्रशासन का संगठन किया। इसके अतिरिक्त प्रधान-मंत्री ने व्यापार वृद्धि के लिए यूरोप से सम्पर्क स्थापित कर व्यापारिक उन्नति के साथ-साथ साम्राज्य की आर्थिक दशा को नवीन स्वरूप प्रदान किया। मिर्ज़ा ने सैनिक संगठन कर आधुनिक पद्धति द्वारा सेना के प्रशिक्षण का कार्य आरम्भ किया। देश में अनाज की व्यवस्था को सुचारु रूप प्रदान करने हेतु अनाज रखने के गोदामों का निर्माण किया गया। मिर्ज़ा का सर्वाधिक प्रशंसित कार्य 1851 में दार-अल-फनून की स्थापना थी। इस शिक्षा संस्थान में कला एवं विज्ञान की शिक्षा प्रदान की जाती थी और यह संस्था शिक्षा का महत्वपूर्ण केन्द्र बन गयी। इस विद्यालय में यूरोप से पश्चिमी विज्ञान, इतिहास एवं तकनीकी शिक्षा के शिक्षक लाये गये। इस शिक्षा

संस्थान ने पार्शिया के बौद्धिक जागरण में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान कर नवीन मार्ग का प्रदर्शन किया। **पीटर एवरी** के विचार से यह विद्यालय केवल नवीन युग-बोधक ही नहीं अपितु देश में आधुनिक शिक्षा के प्रसार का पुंज बन गया और बौद्धिक आन्दोलन नवचेतना की ''आत्मा'' के रूप में पर्शिया की जनता का मार्ग-द्रष्टा बना रहा।

उपर्युक्त प्रख्याति के होते हुए भी अमीर-ए-कबीर को अपने पद पर नहीं रहने दिया गया क्योंकि उलेमा लोग किसी भी प्रकार का आधुनिकीकरण देश में नहीं होने देना चाहते थे। वस्तुतः यह धार्मिक एवं पुरातन पंथी समुदाय अपनी शक्ति को दृढ़ रखने के लिए प्रयत्नशील था। इसी कारण वे किसी भी प्रकार के सुधारों अथवा आधुनिकीकरण के घोर विरोधी थे। उन्हीं लोगों के प्रयत्नों द्वारा 1851 में अमीर-ए-कबीर को पदच्युत कर दिया गया तथा घोर यातनाओं के कारण उनकी मृत्यु हो गयी। अंतिम समय तक यदि किसी ने मिर्ज़ा का साथ दिया तो वह थी मिर्ज़ा की पत्नी जो शाह नासिरुद्दीन की बहन थी।

अमीर-ए-कबीर के प्रयत्नों ने पर्शिया में बौद्धिक जागरण की रूपरेखा तैयार कर दी जिसका उपयोग भविष्य में अन्य कर्मठ व्यक्तियों ने किया। सर्वप्रथम पर्शिया में पाश्चात्य प्रभाव उन शिक्षित छात्रों द्वारा लाया गया जो यूरोप में शिक्षा-प्राप्ति के पश्चात् अपने देश वापस आ गये थे। इस शिक्षित वर्ग ने शिक्षा, समाचार पत्र, प्रकाशन, अनुवाद और लेखन कार्य को सकारात्मक रूप देकर देश के आधुनिकीकरण करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस आन्दोलन ने पर्शिया में एक नवीन शैक्षिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक कार्यक्रमों का शिलान्यास किया।

पत्र एवं पत्रिकाएँ

पर्शिया में प्रथम समाचार पत्र अमीर-ए-कबीर के ही द्वारा प्रकाशित हुआ था। इसके पश्चात् दो समाचार पत्रों का महत्वपूर्ण प्रकाशन हुआ। **हिट्टी** के अनुसार प्रथम समाचार पत्र 'अख्तर' (तारा) था जो 1875 में इस्ताम्बूल से प्रकाशित हुआ। इस समाचार पत्र ने अहले अखिल-इस्लामवाद का समर्थन किया परन्तु आगे चल कर पत्र ने पश्चिमीकरण का समर्थन आरम्भ किया जिसके कारण यह पर्शिया में लोकप्रिय माना जाने लगा। कलकत्ता से प्रकाशित 'सूर्या' तथा काहिरा से प्रकाशित 'हाब्ल अल-मतीन' एवं 'परवरिश' में रूस-जापान युद्ध की घटनाओं और 1905 की रूसी क्रान्ति की व्याख्या ने

दौलत याह्या आब्दी के अनुसार पर्शिया में राजनैतिक चेतना को नव-जीवन-ज्योति प्रदान की। इस नवचेतना ने राष्ट्रवाद एव संविधानवाद के आन्दोलन को भी पर्शिया में प्रोत्साहित किया। इसका मुख्य कारण पश्चिम में हो रही घटनाओं का पश्चिमी एशिया पर प्रभाव था। रूस की क्रान्ति ने मालकम खाँ (मलकूम खाँ), मिर्जा अली खाँ, अमीन इदोले, जमाल अफ़गानी एवं मिर्जा युसेत खाँ तवरीज़ी के लेखों ने एक नवीन दिशा प्रदान की। रूस-जापान युद्ध की घटनाओं तथा 1905 की रूस की क्रान्ति ने पर्शिया में राजनीतिक जागृति उत्पन्न कर दी।

1890 में एक अन्य समाचार पत्र "कानून" लंदन से प्रकाशित हुआ। इस पत्र ने जनता की राजनैतिक, सामाजिक एवं वैधानिक माँगों को प्रस्तुत कर उसका विश्लेषण किया। इस पत्र का सम्पादक माल्कम खाँ था जो शाह नासिरुद्दीन का व्यक्ति था और इंग्लैंड में शाह का राजदूत माना जाता था। **परसी साइक्स** के कथनानुसार माल्कम खाँ (मलकूम खाँ) के स्वतन्त्र विचारों को शाह पसन्द नहीं करता था क्योंकि शाह का कहना था कि वह अपने समीप ऐसे व्यक्तियों को रखना चाहता था जो इतना भी अन्तर न कर सकें कि 'ब्रसेल्स एक नगर है या उद्भिज्ज (बन्दगोभी) है'। माल्कम खाँ ने फ़ारसी भाषा में सामाजिक तथा राजनैतिक विषयों पर लेखन कार्य किया। उसने सर्वदा "न्यायसंगत राज्य" की माँग का समर्थन किया।

इसके अतिरिक्त **अमीन बनानी** के दृष्टिकोण से अन्य पत्रिकाओं ने भी राष्ट्र-चेतना तथा बौद्धिक विकास में योगदान दिया। 1876 में एक फ़ारसी एवं फ्रांसीसी भाषा का पत्र "ला पात्री वतन" ने पश्चिमी पत्रकारों से पर्शिया की समस्या को समझने का अनुरोध किया। एक अन्य पत्र कुछ ईरानियों ने काहिरा में प्रकाशित किया। इस पत्र ने "विचारों की क्रांति" का आवाहन किया। पत्र के अग्रलेख में कहा गया कि "क्रान्ति मानव जीवन की शिक्षक है, क्रान्ति से प्रगति तथा सभ्यता की उन्नति होती है; पश्चिम की सभ्यता तथा शिक्षा को अपनी दुर्दशा तथा अज्ञान को मिटाने के लिए अपनाना होगा।" इसी पत्र में यह भी व्यक्त किया गया कि उलेमा लोग इस आधुनिकीकरण का विरोध करेंगे परन्तु 'विशुद्ध इस्लाम' सभ्यता के आधुनिकीकरण के विरुद्ध नहीं है।

इस प्रकार पत्र-पत्रिकाओं ने लोगों की विचारधारा में मूल परिवर्तन लाने की पूर्ण चेष्टा की तथा पर्शिया की अन्धविश्वासी एवं अशिक्षित जनता को नवचेतना के मार्ग का अवलोकन कराया।

पुस्तक-प्रकाशन

पुस्तकों के प्रकाशन ने भी पश्चिमी विचारों को प्रसारित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। दार-अल-फ़नून के द्वारा विज्ञान, रसायन, यन्त्र शास्त्र, कला, साहित्य आदि की पुस्तकों का प्रकाशन तथा अनुवाद हुआ। इस प्रकार लोगों में नवीन जागृति तथा उत्साह का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु याहया अरमाजानी के मतानुसार दो विशेष लेखकों ने अपनी कृतियों के माध्यम से नव जागरण में यथार्थ रूप से योगदान दिया।

अब्दुल रहमान

अब्दुल रहमान भौतिक तथा रसायन शास्त्र के विद्वान् थे, परन्तु आपने सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में भी प्रभावशाली लेखन कार्य किया। अब्दुल रहमान द्वारा रचित एक पुस्तक "अहमद" अत्यन्त लोकप्रिय हुई। इस पुस्तक में पिता-पुत्र-संवाद था जिसमें पुत्र पिता से अपने देश के पिछड़े रहने का कारण ज्ञात करना चाहता है। पिता अपने देश की प्रगति में बाधा उत्पन्न करने वालों की भर्त्सना कर यूरोप के देशों के आधुनिकीकरण की व्याख्या करता है। यह पुस्तक सामान्य जनता में अत्यन्त लोकप्रिय हुई। इसकी सरल भाषा तथा व्यंग्यात्मकता पुस्तक की विशेषता थी।

ज़ैनुल आब्दीन

दूसरी पुस्तक ज़ैनुल आब्दीन द्वारा रचित "**इब्राहीम बे की यात्राएँ**" थी। इस पुस्तक में पश्चिम के प्रशासनिक अत्याचार, धार्मिक कुरीतियों तथा जनता में महान् असन्तोष के कारणों की विवेचना की गई थी। इस पुस्तक में इब्राहीम बे यात्रा के मध्य अपने देश और योरोपीय आधुनिक युग की तुलनात्मक विवेचना करता है। इसकी लोकप्रियता का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि दुकानों, कहवा खानों में इस पुस्तक को अशिक्षित वर्ग के लिए पढ़ा जाता था।

अरमाजानी ने शैक्षिक प्रभाव की समीक्षा करते हुये लिखा है कि ईरान के नव जागरण में शिक्षा का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा। "दार-अल-फ़नून" केवल एक ही सरकारी महत्वपूर्ण विद्यालय था, परन्तु उदारवादी व्यापारियों ने 1860 के पश्चात् गिलान, अज़र-बैजान तथा अन्य क्षेत्रों में पश्चिमी पद्धति पर आधारित विद्यालय आरम्भ किये। इससे पूर्व यूरोपीय धर्म-प्रचारकों ने तबरीज़ में 1839 में विद्यालय खोला और अन्य क्षेत्रों में शिक्षा का विस्तार किया। इसमें फ्रांसीसी धर्म-प्रचारकों का भी योगदान था। अंग्रेजों तथा

अमरीकियों ने भी विद्यालय तथा अस्पताल खोले। अलबरोज़ कालेज तेहरान का अत्यन्त महत्वपूर्ण शिक्षालय बन गया और प्रथम अमेरिकन प्रधानाचार्य डा० एस० एम० जार्डन केवल ऐसा विदेशी था जिसकी प्रतिमा विद्यालय में स्थापित की गई। अंग्रेजों ने स्त्री शिक्षा के प्रथम प्रयास स्वरूप कन्या विद्यालयों का आरम्भ किया और 'द वर्ल्ड ऑफ विमन' नामक एक पत्रिका का प्रकाशन किया जिसका सम्पादन श्रीमती आर्थर बायसी ने किया। अमरीकन बाइबिल संस्था ने धार्मिक प्रकाशन और वितरण का महत्वपूर्ण कार्य किया।

इस प्रकार पश्चिमी शिक्षकों द्वारा प्रतिपादित शिक्षा व्यवस्था द्विमार्गीय बन गयी। पर्शिया के छात्र अपने देश में योरोपीय शिक्षा की प्रतीक्षा में समय की हानि न कर इंगलैंड और फ्रांस में विद्या-प्राप्ति के लिए जाने लगे। इस प्रकार की विद्या उपार्जन की लगन से स्पष्ट हो गया कि पर्शिया में बौद्धिक जागरण उन्नीसवीं शताब्दी में लाभदायक सिद्ध हुआ। इस युग में पर्शिया ने वस्तुतः एक नवीन युग में पदार्पण किया, जिससे देश में नवचेतना, नवबोध एवं नवयुग का सूत्रपात हुआ।

पश्चिमी साम्राज्य

पश्चिमी साम्राज्यवाद का पर्शिया (ईरान) में सर्वप्रथम उद्‌भव कज़ार (ख़जर) राजवंश के शाह फ़तेहअली के शासन काल (1797-1834) में हुआ, जिसके परिणामस्वरूप ईरान पश्चिमी योरोप के देशों की साम्राज्यवादी नीति का केन्द्र बन गया। सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ईरान एवं योरोपीय देशों के मध्य सम्पर्क व्यापारिक सम्बन्धों के द्वारा स्थापित हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक यह व्यापारिक सम्बन्ध राजनैतिक सम्बन्धों में परिवर्तित हो चुका था, जिसका मुख्य कारण योरोपीय देशों की नीति का ईरान में साम्राज्यवादी प्रभाव में निहित होना था। चूंकि नेपोलियन बोनापार्ट भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य का विस्तार करने का इच्छुक था, अतः अपने इस ध्येय की पूर्ति हेतु नेपोलियन पर्शिया को फ्रांस का प्रभाव क्षेत्र बनाना चाहता था। इसके विपरीत ब्रिटेन ईरान के ही माध्यम से भारतीय उप-महाद्वीप के मार्ग एवं भारत-स्थित अपने साम्राज्य को सुरक्षित करना चाहता था। अतः किसी अन्य देश का ईरान में प्रभाव ब्रिटेन के हितों के प्रति घातक सिद्ध हो सकता था। ईरान में रूसी साम्राज्यवाद का मुख्य ध्येय ईरानी बन्दरगाह थे, जिनका रूस अपने व्यापार हेतु प्रयोग करना चाहता था। परिणामस्वरूप ईरान में रूस के साम्राज्यवादी स्वार्थ दो क्षेत्रों में मुख्य रूप से निहित थे--कैस्पियन सागर एवं पर्शिया की खाड़ी। इसके अतिरिक्त भारत में रूसी प्रभाव की

स्थापना ईरान एवं अफ़गानिस्तान दोनों ही मार्गों से सम्भव थी। **याह्या अरमाजानी** के विचार में यह विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ईरान में रूसी साम्राज्यवादी नीति का ध्येय भारत में प्रभाव स्थापित करना था, तथापि यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति का ध्येय ईरान एवं अफ़गानिस्तान में रूसी प्रभाव के विस्तार को रोकना था। नेपोलियन की पराजय के साथ ही ईरान में फ्रांस के राजनैतिक एवं साम्राज्यवादी स्वार्थों की समाप्ति हो गयी। तत्पश्चात् ईरान में पश्चिमी साम्राज्यवाद का इतिहास आंग्ल-रूस-प्रतिस्पर्धा तक ही सीमित रह गया।

पर्शिया में पश्चिमी देशों के प्रभाव की वृद्धि के कारण राजनैतिक एवं व्यापारिक क्षेत्रों में एक नवीन दिशा का उद्भव हुआ। **मार्शल डेविड लैंग** के अनुसार इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयास रूस के द्वारा प्रारम्भ किया गया, जब रूस ने जार्जिया के राजा को अपने देश में शरण प्रदान की। जार्जिया का राजा ईरान के शाह का पारम्परिक जागीरदार था, परन्तु ईरानी सरकार की आन्तरिक निर्बलता एवं अराजकता की स्थिति का लाभ उठाकर जार्जिया के जागीरदार ने रूस के ज़ार में अपनी निष्ठा व्यक्त की तथा रूसी सरकार से रक्षा की माँग की जो रूसी सरकार द्वारा स्वीकार कर ली गयी। इसी कारण आगा मुहम्मद खाँ ने 1795 में जार्जिया के विरुद्ध एक अभियान शुरू किया और टिफलिस पर अधिकार कर लिया। इसके उपरान्त भी जार्जिया पर रूसी प्रभाव का ह्रास नहीं हुआ।

इस राजनैतिक हस्तक्षेप के पश्चात् सन् 1800 में ब्रिटेन में कैप्टन मालकम को ईरान भेजा। कैप्टन मालकम ने ईरान के शाह को फ्रांस के विरुद्ध कर दिया तथा वह एक व्यापारिक संधि पर हस्ताक्षर करवा लेने में सफल हुआ। इस समझौते के अनुसार ईरान में अंग्रेज एवं भारतीय व्यापारियों को कर-मुक्त व्यापार की अनुमति प्रदान की गई। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन को कपड़े, सीसे एवं स्टील के आयात-शुल्क से रहित व्यापार की अनुमति दी गई।

1804 में फ्रांसीसी सरकार ने रूस के विरुद्ध ईरान के साथ सन्धि हेतु प्रयास प्रारम्भ किये। 1805 में रूसी-फ्रांसीसी संघर्ष प्रारम्भ हो गया, जिसके फलस्वरूप फ्रांसीसी राजनैतिक तथा व्यापारिक प्रयासों में तीव्रता आ गई। 1806 में नेपोलियन ने एक शिष्टमण्डल पर्शिया भेजा। **सर परसी साइक्स** अपनी पुस्तक **'ए हिस्ट्री ऑफ़ पर्शिया'** में लिखते हैं कि इस शिष्टमण्डल ने ईरान के शाह के सम्मुख प्रस्ताव रखा जिसके अनुसार यदि ईरान ब्रिटेन के

साथ अपनी सन्धि को रद्द करके फ्रांसीसी सेनाओं के साथ भारत पर आक्रमण करे तो फ्रांस ईरान के साथ रूस के विरुद्ध एक सन्धि करेगा। इस सन्धि के द्वारा ईरान को खोया हुआ जार्जिया का प्रदेश लौटा देने का आश्वासन दिया गया एवं ईरानी सेना की आर्थिक सहायता करने का वचन दिया गया।

1807 में ईरान एवं फ्रांस के मध्य "फ़िकैनस्तीन की सन्धि' हुई। इसके अन्तर्गत नेपोलियन ने जनरल गारदेन की अध्यक्षता में एक सैनिक शिष्ट-मण्डल ईरान भेजा। इस शिष्टमण्डल को ईरानी सेना को प्रशिक्षण देने, अस्त्र एवं आयुध सामग्री के एक कारखाने की स्थापना करने का कार्य सौंपा गया। परन्तु 1807 में रूस एवं फ्रांस के मध्य 'तिलसिट की सन्धि हो गयी जिससे रूस-फ्रांसीसी संघर्ष का कुछ समय के लिए अन्त हो गया। फलस्वरूप फ़िकैन-स्तीन की सन्धि निष्क्रिय हो गयी।

ईरान में फ़िकैनस्तीन की सन्धि के द्वारा उत्पन्न फ्रांसीसी प्रभाव के कारण ब्रिटिश सरकार को चिन्ता हुई तथा ब्रिटिश सरकार ईरान में अपने प्रभाव-विस्तार का अवसर खोजने लगी। ब्रिटेन को यह सुअवसर फ्रांस और रूस के मध्य 1807 की तिलसिट की सन्धि ने प्रदान किया। 1807 में ही ब्रिटेन ने इस अवसर का लाभ उठाने हेतु सर हारफोर्ड जोन्स की अध्यक्षता में एक शिष्ट मण्डल ईरान भेजा। एक अन्य शिष्टमण्डल भारत के गवर्नर जनरल लार्ड मिंटो ने ब्रिगेडियर जनरल मालकम की अध्यक्षता में पर्शिया भेजा जिसको जनरल गार्डेन के प्रभाव के कारण तेहरान आने से रोक दिया गया। सर हारफोर्ड जोन्स ने इस अवसर का उपयोग करते हुए ईरानी सरकार को फ्रांस के विरुद्ध सन्धि करने के लिए तैयार कर लिया। फलतः 1809 में ईरान के एवं ब्रिटेन के मध्य एक सन्धि हुई। साइक्स के अनुसार इस सन्धि के अन्तर्गत ब्रिटेन ने ईरान को रूस के साथ युद्ध-काल में 1,20,000 पाउण्ड प्रतिवर्ष देना स्वीकार किया एवं ईरानी सेना के प्रशिक्षण हेतु ब्रिटिश सैनिक अधिकारियों को ईरान भेजने का वचन दिया।

इससे पूर्व 1800 में जार्जिया पर प्रभुत्व स्थापित करने के पश्चात् रूस ने ईरान के काकेशस क्षेत्र में अपनी विस्तारवादी नीति का पालन आरम्भ कर दिया था। इस कारण 1804 के पश्चात् रूस के प्रयासों में अत्यधिक सक्रियता आ गयी। इस मध्य आंग्ल-फ्रांसीसी हस्तक्षेप के कारण ईरान की सेना अत्यन्त दयनीय अवस्था में थी क्योंकि पर्शिया की सेना का प्रशिक्षण कुछ समय तक फ्रांसीसी अधिकारियों द्वारा एवं कुछ समय तक ब्रिटिश अधि-कारियों द्वारा हुआ था। फलस्वरूप 1812 में रूस पर्शिया के मध्य असलन-

दुज़ के युद्ध में ईरान की अपमानजनक पराजय हुई। पर्शिया की इस युद्ध में पराजय का एक अन्य कारण यह भी था कि फ्रांस-विरोधी आंग्ल-रूस समझौते के कारण ब्रिटेन ने पर्शियन सेना में रत अपने समस्त अधिकारियों को वापस बुला लिया था। इस युद्ध में परास्त हो जाने के कारण ईरान ने रूस के साथ 1813 में 'गुलिस्ताँ की सन्धि' कर ली। इस सन्धि के अन्तर्गत पर्शिया को काकेशस क्षेत्र के पाँच नगरों से वंचित होना पड़ा। ईरान ने जार्जिया एवं दागेस्तान पर अपने अधिकारों को वापस ले लिया। इसके बदले में रूस ने अब्बास मिर्ज़ा को ईरान का शासक बनाने का वचन दिया। इसके अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक के अन्तिम चरण में योरोप के बौद्धिक वेत्ताओं ने भी पर्शिया की सामाजिक एवं राजनैतिक स्थिति का विवरण अपनी पुस्तकों द्वारा आरम्भ कर दिया था। योरोपीय विद्वानों एवं लेखकों ने ईरान से सम्बन्धित पुस्तकें प्रकाशित कर जिनमें **जेम्स मोरियर** की **'ट्रैवेल्स इन पर्शिया'** और मूर की **'लालारूख़'** अत्यन्त महत्वपूर्ण थीं। **एवरी पीटर** के मत में 1809 के पश्चात् ईरान एवं पश्चिमी देशों के मध्य सम्बन्ध केवल राजनैतिक क्षेत्र तक ही सीमित न रहकर साहित्यिक सीमा तक पहुंच गये थे।

1812 में रूस एवं फ्रांस में युद्ध प्रारम्भ हो गया। इसी अवसर पर जब रूस अपने अस्तित्व के लिए फ्रांस के विरुद्ध युद्ध में रत था, ब्रिटेन ने ईरान में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने हेतु सर हारफोर्ड जोन्स की 1809 की सफलता को सुदृढ़ रूप देने का निश्चय किया। 1808 की प्राथमिक सन्धि के आधार पर 1814 में ब्रिटेन के प्रतिनिधि सर गोर आऊसले ने पर्शिया के साथ 'निर्णायक सन्धि' पर हस्ताक्षर किये। इसके अनुसार ईरान ने वचन दिया कि वह ब्रिटेन के साथ युद्ध-रत किसी भी अन्य योरोपीय शक्ति से अपने सम्बन्ध नहीं रखेगा, ब्रिटेन विरोधी सेनाओं को ईरान में प्रवेश की अनुमति नहीं देगा एवं ख़ारज़म, तातारिस्तान, बोख़ारा एवं समरकन्द की ख़ानशाहियों (जागीरदारों) को इस बात पर सहमत करेगा कि वे भारत की ओर जाने वाली आक्रमणकारी सेनाओं को अपने प्रदेशीय मार्ग नहीं देंगे। इसके प्रत्यर्पण में ब्रिटेन ने रूस तथा ईरान के मध्य सीमा-विवाद निपटाने में सहायता तथा योरोपीय शक्ति के साथ युद्ध में ईरान को सहायता देने का भी वचन दिया। ईरान एवं अफ़गानिस्तान के मध्य संघर्ष में हस्तक्षेप न करने का भी आश्वासन देकर एवं ईरान को 1,50,000 पाउण्डप्रति वर्ष आर्थिक सहायता देने का वचन दिया। परन्तु यह आर्थिक सहायता ईरान के युद्ध में

संलग्न होते ही समाप्त कर देने की शर्त भी ब्रिटेन ने इस सन्धि में निहित कर दी।

इस संदर्भ में यह बताना आवश्यक है कि 1813 की गुलिस्ताँ की संधि के उपरान्त भी रूस ने अपनी विस्तारवादी नीति का पूर्णरूपेण परित्याग नहीं किया था। 1825 में रूस ने पुनः ईरान के विरुद्ध एक व्यापक सैनिक अभियान प्रारम्भ कर दिया और इरीवान के क्षेत्र में गोकचा पर अधिकार कर लिया। इस अभियान के प्रारम्भ में पर्शिया के सैनिकों को रूसी सेना के विरुद्ध कुछ सफलताएँ प्राप्त हुई तथा पर्शिया के सैनिकों ने काकेशेस के कई क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया परन्तु ब्रिटेन के विश्वासघात के कारण उन्हें भारी क्षति एवं असफलता का मुँह देखना पड़ा। ब्रिटेन को 1814 की निर्णायक सन्धि के अनुसार पर्शिया की सहायता करनी चाहिए थी परन्तु ब्रिटेन ने ईरान के प्रति आक्रामक राज्य का आरोप लगाया और सहायता देने से इनकार कर दिया जिसके फलस्वरूप ईरान को रूस के साथ 1828 में 'तुर्कमनचई की सन्धि' पर हस्ताक्षर करने पड़े। **याह्या अरमाजानी** के विचार में तुर्कमनचई की सन्धि ने ईरान के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात किया क्योंकि इस सन्धि ने ईरान को रूस पर पूर्णरुपेण निर्भर कर दिया जिसके कारण ईरान वर्षों तक स्वतन्त्र न रह सका अर्थात् पर्शिया किसी न किसी रूप में महाशक्तियों के राजनैतिक परीक्षण का केन्द्र बना रहा। इस प्रकार 1828 के पश्चात् यद्यपि रूस और पर्शिया के मध्य एक सीमा निर्धारित थी परन्तु उसका केवल भौगोलिक महत्व था। तुर्कमनचई की सन्धि के पश्चात् ईरान में रूसी प्रभाव क्षेत्र में भारी वृद्धि हुई। फलस्वरूप रूस ने ईरान से कुछ क्षेत्रीय एवं अन्य सुविधाएं बलपूर्वक प्राप्त कर लीं। आन्तरिक मामलों में रूसी सरकार का हस्तक्षेप अत्यधिक बढ़ गया था, ईरानी सरकार बिना रूसी राजदूत से परामर्श लिए कोई निर्णय नहीं ले सकती थी। रूसी सैनिक ईरान की सरकार को भयग्रस्त करने हेतु ईरानी सीमा का बार-बार उल्लंघन करते थे। **जार्ज कर्जन** के अनुसार ब्रिटेन में इस आशय पर अत्यन्त चिन्ता व्यक्त की गई तथा यह कहा गया कि यदि ब्रिटेन ईरान में शक्ति सन्तुलन स्थापित नहीं करेगा तो उसके भारतीय उपमहाद्वीप में साम्राज्य को संकट उत्पन्न हो जायेगा।

काकेशेस क्षेत्र में हानि के पश्चात् ईरान ने पूर्व में स्थित अफ़गानिस्तान में विस्तारवादी नीति का पालन करने हेतु अपना ध्यान केन्द्रित किया। ईरान सरकार के द्वारा लिये गये निर्णय में रूस ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई

क्योंकि रूस इस निणय में दो कारणों से रुचि रखता था। प्रथम, रूस का ध्येय ईरान का ध्यान अपनी उत्तरी सीमा से हटा कर अफ़गानिस्तान की ओर करना था एवं द्वितीय, वह भारतीय ब्रिटिश साम्राज्य के लिए संकट उत्पन्न करना चाहता था। दूसरी ओर ब्रिटिश सरकार की यह धारणा थी कि भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा हेतु अफ़गानिस्तान की सुरक्षा आवश्यक थी। ईरान की विस्तारवादी नीति हेरात पर आक्रमण करके उस पर अधिकार करने के प्रयास से प्रारम्भ हुई। सर्वप्रथम 1833 में पर्शिया ने प्रथम प्रयास किया तथा द्वितीय प्रयास 1837-38 में किया गया, परन्तु सफलता न प्राप्त हो सकी। अन्तत. 1857 में ईरान ने हेरात पर विजय प्राप्त कर ली जिससे क्षुब्ध होकर ब्रिटेन ने ईरान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी तथा अपनी भारतीय सेना को अफ़गानिस्तान भेजा। ब्रिटेन ने हेरात पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त बुशायर, मोहमारा तथा एहवाज़ नगरों पर अधिकार कर लिया। 1857 में ईरान को बाध्य होकर ब्रिटेन के साथ सन्धि करनी पड़ी। इस सन्धि पर पेरिस में हस्ताक्षर हुए जिसके अन्तर्गत ईरान ने अफ़गानिस्तान को मान्यता प्रदान कर दी। इस प्रकार आंग्ल-पर्शिया युद्ध ने ईरान की विस्तारवादी नीति का अन्त कर दिया।

रूसी विस्तारवादी नीति का द्वितीय चरण बोख़ारा की दिशा में प्रतिपादित हुआ। 1842 में काबुल पर ब्रिटिश अधिकार की स्थापना से चिंतित होकर बोख़ारा के अमीर ने रूस से सुरक्षा की माँग की। रूस ने अपना एक शिष्टमण्डल बोख़ारा भेज दिया। कुछ समय पश्चात् जब ब्रिटिश आक्रमण की सम्भावना कम हो गयी, बोख़ारा के अमीर ने रूस के राजदूत को निष्कासित कर दिया। अल्पकालिक अन्तराल में ही रूस के भय के कारण बोख़ारा के अमीर ने रूस के साथ एक सन्धि कर ली जिसमें बोख़ारा ने समरकन्द को रूस को सौंप दिया एवं युद्ध में हुई क्षति की पूर्ति का भुगतान किया। 1876 में खोकंद पर अधिकार करके रूस ने अपनी विस्तारवादी नीति का द्वितीय चरण समाप्त किया।

1873 में खीवा पर विजय रूसी नीति का तृतीय चरण थी। 1884 में मार्व पर विजय प्राप्त करके रूस ने अपनी नीति का अन्तिम चरण पूर्ण कर लिया। इस प्रकार रूस ने कैस्पियन सागर के पूर्वी क्षेत्र और मध्य एशिया में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। संक्षेप में, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक आंग्ल-रूस प्रतिस्पर्धा ने पर्शिया को अपनी सीमाओं द्वारा अवगुंठित कर लिया था।

आर्थिक साम्राज्यवाद

ईरान में आंग्ल-रूस प्रतिस्पर्धा का द्वितीय पक्ष 1870 में प्रारम्भ हुआ तथा लगभग 1921 तक रहा। इस काल में दोनों देशों देशों के मध्य प्रतिस्पर्धा मुख्यत: आर्थिकही थी। इस काल में दोनों ही देशों ने ईरान में आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति हेतु प्रयास किये परन्तु ईरान की जनता के कल्याण हेतु किसी भी प्रकार का उत्तरदायित्व नहीं लिया।

इस आर्थिक साम्राज्यवाद का तात्कालिक कारण ब्रिटेन का भारतीय साम्राज्य था। भारतवर्ष में विद्रोह के मध्य एवं इसके उपरान्त जब ब्रिटिश सरकार ने भारत वर्ष के प्रशासन का उत्तरदायित्व अपने हाथों में ले लिया, शीघ्र ही संचार-व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत हुई। 1859 में इस दिशा में प्रथम प्रयास किया गया जबकि ब्रिटेन ने लाल सागर के नीचे से तार बिछाने की योजना बनायी, परन्तु वह पूर्णतया असफल रही। इसी मध्य तुर्की ने शीघ्र संचार व्यवस्था को अपने व्रहत् साम्राज्य के सक्षम प्रशासन हेतु एक आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया। अत: तुर्की ने कॉस्टेन्टिनोपुल (इस्तानबूल) एवं बगदाद के मध्य एक टेलीफोन तार बिछाने का निर्णय लिया। इस बात का प्रस्ताव किया गया कि इस लाईन को बाद में ब्रिटिश सरकार भारत तक जोड़ देगी। परिणामस्वरूप 1863 में स्थल-मार्गीय दूर संचार सम्मेलन इस्तानबूल में हुआ, जिसमें ईरान से होकर बुशायर को जोड़ने का निर्णय लिया गया। 1864 में ईरान के शाह के साथ समझौते पर विचार-विमर्श किया गया, जिसमें बगदाद से करमानशाह, हमादान, तेहरान एवं बुशायर को सम्बन्धित करने का प्रस्ताव किया गया, जिसे शाह ने प्रतिक्रियावादी दल के विरोध के उपरान्त भी स्वीकार कर लिया। इस प्रकार 1864 में बगदाद को बुशायर से संचार-संलग्न कर दिया गया। 1870 में भारत योरोपीय दूर संचार कम्पनी का उद्घाटन किया गया जिसने ऑडेसा, टिफ़लिस, तेबरीज एवं तेहरान के साथ द्विमार्गी संचार स्थापित करके इसे बुशायर जास्क के माध्यम से करॉची तक विस्तृत कर दिया। इस प्रकार इस कम्पनी ने लन्दन एवं भारत के मध्य सीधे संचार की व्यवस्था प्रारम्भ की। 1872 में एक अन्य समझौते के अनुसार एक त्रिमार्गी संचार की व्यवस्था की गई, जिनमें से दो मार्गों को अन्तराष्ट्रीय प्रयोग हेतु एवं एक मार्ग को स्थानीय प्रयोग हेतु बनाया गया। एवरी पीटर के अनुसार इस व्यवस्था में 1898 तक कोई परिवर्तन नहीं किया गया परन्तु 1898 में ही दक्षिण-पूर्व ईरान के माध्यम से करॉची को सम्बन्धित करने का निर्णय लिया गया।

1872 में ही नसीरूद्दीन शाह ने एक अंग्रेज व्यापारी बैरन जूलियस डि रायटर को 70 वर्ष के लिए एक व्यापारिक सुविधा प्रदान की जिसमें उसे रेल निर्माण, खदानों का उपयोग, बैंक की स्थापना एवं जल-व्यवस्था के निर्माण का कार्य सौंपा गया। इसके बदले में रायटर से सीमा शुल्क देने का वचन लिया गया, परन्तु शाह ने आगामी वर्ष इस सुविधा को निरस्त कर दिया क्योंकि रूस रायटर को इस सुविधा के प्रदान किये जाने के विरुद्ध था। 1888 में ब्रिटेन को कारून नदी के निचले भाग को विकसित करने की सुविधा दी गई। **सर परसी साइक्स** के मत से चूंकि रायटर को 1872 की सुविधा के निरस्त करने के पश्चात् कोई क्षतिपूर्ति नहीं दी गयी थी, अत: 1889 में रायटर को एक बैंक की स्थापना के लिए सुविधा प्रदान की गयी जिसका नाम इम्पीरियल बैंक ऑफ़ पर्शिया रखा गया। इस बैंक को नोट छापने की आज्ञा प्रदान की गई। इसे ईरान के खदानों का उपयोग करने की भी सुविधा प्रदान की गई परन्तु बहुमूल्य पत्थरों की खदानों को इससे पृथक रखा गया। 1890 में ईरान सरकार ने तम्बाकू का व्यापार ब्रिटिश सरकार के हाथ में सौंप दिया। इसके अनुसार तम्बाकू के उत्पादन, विक्रय एवं निर्यात पर ब्रिटेन का एकाधिकार स्थापित हो गया। इसके प्रत्यर्पण में ब्रिटिश सरकार ने ईरान के शाह को 25,000 पाउण्ड प्रतिवर्ष एवं लाभ में से एक चौथाई देना स्वीकार किया। ईरान सरकार के इस निर्णय से तम्बाकू उत्पादकों तम्बाकू व्यापारियों एवं तम्बाकू का सेवन करनेवालों को अत्यधिक हानि पहुँची। परिणामस्वरूप ईरान में शाह एवं योरोप-वासियों के विरुद्ध प्रदर्शन हुए जिसके कारण शाह ने इस सुविधा को रद्द कर दिया तथा 50,000 पाउण्ड क्षतिपूर्ति देना स्वीकार कर लिया। यह राशि इम्पीरियल बैंक ऑफ़ पर्शिया से ऋण के रूप में ली गई। **याह्या अरमाजॉनी** के अनुसार इस प्रकार ईरान सरकार द्वारा विदेशी ऋण लेने की नीति की आधार-शिला रखी गई। तम्बाकू सम्बन्धी भ्रान्तिपूर्ण निर्णय का ईरान में यह विरोध प्रथम लोकप्रिय सहभागिता का प्रदर्शन था।

इम्पीरियल बैंक ऑफ़ पर्शिया की स्थापना के पश्चात् रूस ने भी एक बैंक की स्थापना की जो रूस के वित्त मन्त्रालय की एक शाखा थी। रूस का यह बैंक व्यापार में कम एवं राजनीति में अत्यधिक रुचि रखता था। इस बैंक ने पर्शिया सरकार को प्रचुर मात्रा में ऋण देकर अपने आर्थिक प्रभाव को सशक्त करने का कार्य किया। इसी मध्य नसीरूद्दीन शाह की गोली मार कर हत्या कर दी गई जिसके फलस्वरूप पर्शिया में राजनैतिक तथा आर्थिक

अव्यवस्था का वातावरण बन गया। इस अवसर का लाभ उठा कर रूस ने ईरान सरकार को ऋण देकर व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त कर लीं। नसीरुद्दीन शाह के उत्तराधिकारी मुजफ्फर अल-दीन शाह ने योरोप की यात्राओं के कारण रूस से ऋण लेना प्रारम्भ किया, जिससे बाध्य होकर शाह के लिए रूस को व्यापारिक सुविधा प्रदान करना आवश्यक हो गया। शाह ने स्वयं के अपव्यय हेतु लिए गये ऋण के कारण सीमा शुल्क में वृद्धि कर दी। शाह की इस नीति ने देश में उपभोग वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि कर दी और मुख्यतया चीनी एवं चाय के भावों में बढ़ोत्तरी हो गई। इस प्रशासकीय आर्थिक-संकट के विरोध में जनता ने न्याय की मांग का आह्वान किया। शाह की इस आर्थिक नीति के कारण जनता में एकता की भावना का विकास होने लगा तथा जन-साधारण, जिसमें अधिकतर व्यापारी लोग थे, न्याययुक्त शासन की माँग करने लगे। अन्ततः इस व्यापारिक विद्रोह ने शाह को एक राजाज्ञा घोषित करने पर बाध्य किया तथा पर्शिया में क्रान्ति एवं नवीन संविधान के युग का सूत्रपात हुआ।

पर्शिया की क्रान्ति एवं संविधान

मध्ययुगीन पर्शियन समाज में क्रान्ति का स्वरूप अचिन्तनीय था। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों एवं बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पर्शिया में एक संवैधानिक आन्दोलन का शनैः शनैः विकास हुआ। परिणाम-स्वरूप 1906 में एक क्रान्ति हुई जिससे बाध्य होकर शाह को एक संविधान की घोषणा करनी पड़ी। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित थे।

शाह के निरकुश अधिकार

पर्शिया का शाह नसीरुद्दीन एक निरंकुश शासक था। उसको न्याय-पालिका, कार्यपालिका एवं विधानपालिका के प्रशासकीय क्षेत्र में असीमित अधिकार प्राप्त थे क्योंकि सरकार का प्रत्येक कार्य शाह के नाम पर होता था। इसके अतिरिक्त धार्मिक क्षेत्र में भी शाह के अधिकार एक सीमा तक अपरिमित थे। शाह की अपार राज्य सत्ता को नियन्त्रित करने हेतु किसी भी प्रकार का कोई अंकुश शाह पर नहीं था अर्थात् किसी भी राजनैतिक अथवा धार्मिक परिषद् द्वारा शाह का राजनैतिक पथ-प्रदर्शन नहीं होता था। इसी कारण शाह नसीरुद्दीन अधिनायकीय अधिकारों का स्वामी था। इसके अतिरिक्त व्यापार के क्षेत्र में भी शाह सुविधाएँ प्रदान करने हेतु पूर्ण स्वतन्त्र था। इन व्यापारिक सुविधाओं में कर वसूली एवं भेंटों के द्वारा प्राप्त राजस्व का शाह एवं उसकी

राजसभा के अधिकारी दुरुपयोग करते थे। इस आर्थिक शोषण के कारण पर्शिया के जन-साधारण की स्थिति दयनीय हो गयी थी। अपनी साम्राजिक शक्ति को सुसंगठित एवं सशक्त बनाने हेतु शाह का सैन्य व्यय भी अत्यधिक था फिर भी यह सेना भ्रष्ट एवं अक्षम थी क्योंकि पर्शिया की जनता एवं मुख्यत: उच्च वर्ग इसमें रुचि नहीं लेता था। पर्शिया में प्रधान मन्त्री की नियुक्ति भी शाह की इच्छा पर निर्भर थी एवं वह अप्रसन्न होने पर प्रधान मन्त्री को भी पदच्युत कर सकता था। इस कारण शाह को प्रसन्न रखते हेतु प्रधान मन्त्री जन-कल्याण की अपेक्षा शाह की चाटुकारिता पर अधिक ध्यान रखते थे। **सर परसी साइक्स** के मतानुसार इस जन-उपेक्षा नीति के फलस्वरूप पर्शिया में असन्तोष की भावना का बीजारोपण हुआ।

भ्रष्ट सरकारी तन्त्र

पर्शिया को प्रशासकीय व्यवस्था हेतु प्रदेशों एवं जिलों में विभाजित किया गया था। प्रदेश में मुख्य प्रशासक राज्यपाल (गवर्नर) अथवा महा-राज्यपाल (गवर्नर जनरल) होता था जिसकी नियुक्ति शाह किया करता था। अपने प्रदेशों में गवर्नर अथवा गवर्नर जनरल समस्त सरकारी पदों का नीलाम द्वारा विक्रय करते थे और इस प्रकार वे अपने वर्तमान एवं भविष्य के लिए धन-संचय करने में लिप्त रहते थे। **परसी साइक्स** के कथनानुसार इस 'पद-विक्रय' परम्परा ने समस्त सरकारी तन्त्र को भ्रष्टाचारी तथा घूस-खोर बना दिया था। प्रदेशों में राजस्व की वसूली हेतु समृद्ध कृषकों को नियुक्त किया जाता था जो शाह को निश्चित धनराशि के अतिरिक्त धन भेंट दिया करते थे। परिणामस्वरूप ये समृद्ध किसान एवं राज्यपाल जनता पर भीषण अत्याचार करते थे परन्तु इन अत्याचारों के विरुद्ध शाह के यहाँ कोई सुनवाई नहीं होती थी। कुछ प्रदेशों में तो राज्यपाल बलपूर्वक धन एकत्रित किया करते थे।

असंगत न्याय-प्रणाली

पर्शिया एवं पश्चिमी देशों की न्याय-प्रणाली में वस्तुत: अन्तर था। पश्चिमी देशों में अपराध को राष्ट्र-विरोधी माना जाता था तथा राष्ट्र ही उस अपराध हेतु दण्ड निश्चित करता। इसके विपरीत पर्शिया में अपराध को व्यक्ति-विरोधी मानते थे तथा व्यक्ति को ही यह अधिकार था कि वह या तो दण्ड निर्धारित करे अथवा उसकी क्षतिपूर्ति करा ले। पर्शिया में दो प्रकार के कानून प्रचलित थे। प्रथम, धार्मिक न्याय जो कि कुरान शरीफ़, उलेमाओं

के परामर्श एवं न्याय शक्तियों की व्याख्या पर आधारित था तथा इसको चार भागों—धार्मिक अधिकार एवं कर्तव्य, समझौता, व्यक्तिगत मामलों एवं न्यायिक कार्य-विधि में विभाजित किया गया था। इन धार्मिक कारणों का मुख्य प्रशासक उलेमा वर्ग था। द्वितीय, सामान्य कानून जिसका मुख्य प्रशासक शाह था। यह सामान्य कानून परम्पराओं पर आधारित था।

सरकारी तन्त्र की भांति पर्शिया में न्याय का भी विक्रय होता था। हत्या के मामले में बधित के परिवार को हत्यारे द्वारा धन दिलाने का प्रयास किया जाता था। यदि बधित का परिवार इस पर सहमत हो जाता था तो प्रदेश का राज्यपाल एवं मुजाहिद, जो मध्यस्थता का कार्य करते थे, हत्यारे से वधित के परिवार को धन दिला कर एवं स्वयं धन लेकर हत्यारे को छोड़ देते थे अन्यथा हत्यारे को प्राणदण्ड दे दिया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि धनिक वर्ग हत्या के उपरान्त छूट जाता था एवं निर्धन को प्राणदण्ड प्राप्त होता था। इस पराम्परा ने निर्धन वर्ग के लोगों में राज्य-प्रशासन के प्रति असन्तोष की भावना को जागृत किया।

अनियमित कर-व्यवस्था

पर्शिया में पाँच प्रकार के कर वसूल किये जाते थे जो खेत में उत्पन्न पदार्थों, व्यापारियों एवं व्यावसायिक कलाकारों, भेड़ बकरियों, खाद्यान्नों एवं व्यक्तियों पर लगाए जाते थे। कृषि पदार्थों पर कुल उत्पादन का 1/10 कर के रूप में लिया जाता था। व्यावसायिक कलाकारों एवं व्यापारियों पर सामूहिक कर लगया जाता था। व्यक्ति कर प्रति परिवार 8 शिलिंग था जबकि प्रत्येक भेड़ एवं बकरी पर कर-राशि 6 शिलिंग प्रति भेड़ या बकरी थी। परन्तु जेम्स के अनुसार इन करों के निर्धारण में अत्यधिक अनियमितता व्याप्त थी, चूंकि कर-वसूली कार्य धनाढ्य वर्ग के हाथ में था जो शाह को भेंट दिया करते थे। अतः यह वर्ग मनमाने रूप से कर वसूल किया करता था जिसके विरुद्ध शाह के यहाँ सुनवाई नहीं होती थी। कर-वसूली कार्यक्रम में दमनकारी नीति का प्रयोग अत्यधिक प्रचलित था। इनकी दमनकारी गतिविधियों से जनता त्रस्त हो गयी थी।

संवैधानिक आन्दोलन का विकास

मध्ययुगीन पर्शियन समाज की जागृति में विदेशियों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। ईरान में संचार-व्यवस्था के निर्माण हेतु कार्यरत ब्रिटिश नागरिकों ने पर्शियन समाज के प्रत्येक वर्ग को बहुत अधिक प्रभावित किया।

इस दिशा में ब्रिटिश एवं अमरीकी धर्म-प्रचारकों (मिशनरियों) ने निस्वार्थ सेवा एवं उच्च आदर्शों के उदाहरण प्रस्तुत करके ईरान में सामाजिक क्रान्ति का बीजारोपण किया। इन मिशनरियों द्वारा स्थापित विद्यालयों में ईरान के नागरिकों को उच्च-स्तरीय शिक्षा प्रदान की गयी। भविष्य में इसी शिक्षित वर्ग ने ईरान के सुप्त समाज को झकझोर कर जागृत कर दिया।

इसके उपरान्त भी ईरान वासियों ने, जो पश्चिमी सभ्याता के प्रशंसक थे, अपनी सरकार का परिवर्तन किये बिना पश्चिमी सभ्यता को पूर्ण समर्थन देने में रुचि प्रदर्शित की। ईरान में संवैधानिक सरकार के समर्थन में आन्दोलन का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में हुआ।

यद्यपि नसीरुद्दीन शाह विदेश भ्रमण का अत्यधिक शौकीन था परन्तु वह ईरान की जनता एवं विद्यार्थियों की विदेशी शिक्षा के विरुद्ध था, क्योंकि वह योरोप के विकासवादी विचारों का प्रसारण ईरान में नहीं होने देना चाहता था। अपने शासनकाल के अन्तिम वर्षों में जब शाह ने ईरान के राष्ट्रीय साधनों को धन-प्राप्ति हेतु विदेशियों को सौंप दिया, ईरान की जनता में असन्तोष की भावना का उदय हुआ। परिणामस्वरूप जिस समय नसीरुद्दीन शाह की हत्या कर दी गई, उस समय जनता में वर्तमान शासन के प्रति किंचित भी आस्था नहीं थीं और ब्राउन के मत में यही कारण था जो ईरान की जनता अप्रत्यक्षरूप से मूलभूत परिवर्तनों का स्वागत करने के लिए प्रस्तुत थी।

नसीरुद्दीन के उत्तराधिकारी मुज़फ्फर-अल-दीन के निर्बल एवं अयोग्य होने के कारण उसके शासनकाल में शाह का उतना सम्मान नहीं रह गया था। इसी मध्य रूस एवं जापान युद्ध में जापानियों की विजय ने ईरान को काफ़ी प्रभावित किया। अन्त में ऐनुद्दौला के दमनकारी शासन एवं व्यापारिक सुविधाओं द्वारा प्राप्त ऋण के प्रयोग के प्रश्न पर जनता में तीव्र प्रतिक्रिया शुरू हुई। इन परिस्थितियों ने जनप्रिय आंदोलन का रूप ग्रहण किया तथा प्रधान मन्त्री को पदच्युत करने की माँग की गई। शनैः शनैः इस आन्दोलन को यूरोप-शिक्षित ईरानवासियों ने संवैधानिक स्वरूप प्रदान किया।

क्रान्ति-पूर्व पर्शिया की स्थिति

इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में पर्शिया की स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गयी थी। पर्शिया का शाह अपने भ्रष्ट अधिकारियों एवं सभासदों पर निर्भर था। ये अधिकारी एवं सभासद पर्शिया सरकार के धन का अप-

व्यय कर रहे थे जिसके परिणामस्वरूप शाह को उत्तराधिकार में मिली सम्पत्ति से एवं देश की सभी सम्पत्ति के एक प्रमुख भाग से हाथ धोना पड़ा। इसी कारण शाह को विदेशी ऋण स्वीकार करने पर बाध्य होना पड़ा। इन विदेशी ऋणों को शाह ने अपनी विदेशी यात्राओं एवं अपने सभासदों पर व्यय कर दिया था। नये प्रधान मन्त्री अतावेग ऐनुद्दौला ने शाह के प्रमुख परामर्शदाता के साथ मिलकर नयी पद्धति पर धन एकत्रित करना आरम्भ किया। उसने देश के गेहूं को जमा करके ऊंचे दामों पर बेचना शुरू किया, सरकारी भूमि का विक्रय शुरू किया एवं पर्शिया के धनाढ्य लोगों को तेहरान बुलाकर बड़ी धनराशि देने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार पर्शिया के जन साधारण की सम्पत्ति एवं जीवन उसके निष्ठुर हाथों मे था अतावेग़ आज़म ऐनुद्दौला एवं उसके सहायकों ने अपनी नीतियों द्वारा पर्शिया के प्रत्येक वर्ग को अपने विरुद्ध कर लिया। इसमें देशभक्त राजनीतिज्ञ, धार्मिक वर्ग के सदस्य जनता एवं व्यापारी वर्ग प्रमुख था। इस प्रकार पर्शिया में संवैधानिक आन्दोलन सरकारी अत्याचार, विदेशी हस्तक्षेप एवं निर्धनता के विरुद्ध प्राकृतिक क्रिया थी जो 1905 में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी थी।

पर्शिया में क्रान्ति

पर्शिया में संवैधानिक आन्दोलन का प्रारम्भ 1905 में नये प्रधान मन्त्री ऐनुद्दौला को पदच्युत करने मात्र की माँग से आरम्भ हुआ क्योंकि ईरान की जनता ऐनुद्दौला की दमनकारी नीति के विरुद्ध थी एवं उसे शाह की विदेशी यात्राओं के हेतु लिए गए विदेशी ऋणों के लिए उत्तरदायी मानती थी। रूस के साथ सीमा शुल्क समझौते ने ईरान में चीनी के मूल्य में वृद्धि कर दी जिसके परिणामस्वरूप 11 दिसम्बर 1905 को कुछ व्यापारियों ने हड़ताल कर दी एवं बाज़ार बन्द कर दिये। तेहरान के राज्यपाल ने चीनी के कुछ व्यापारियों को शक्कर में अधिक लाभ लेने का आरोप लगाकर दण्डित किया जिसके फलस्वरूप लगभग दो हज़ार व्यापारी एवं याजक वर्ग के लोगों ने सैय्यद मुहम्मद ताबातबाई एवं सैय्यद अब्दुल्लाह बेबिहानी के नेतृत्व में शाह अब्दुल अज़ीम की मस्जिद में शरण ली। उन आन्दोलनकारियों की पर्शिया के भूतपूर्व शाह मुहम्मद अली मिर्ज़ा ने अत्यधिक सहायता की। इन अन्दोलनकारियों ने अपनी कुछ माँगें शाह के समक्ष प्रस्तुत की जिनमें पर्शिया में 'अदालत खाना' अथवा 'न्याय का शासन', मन्त्रियों के चुनाव में जनता के भाग लेने के अधिकार की मान्यता एवं दो दमनकारी मन्त्रियों को पदच्युत करने की माँगें मुख्य थीं। ये माँगें मालकम खाँ के पत्र 'कानून' में प्रतिपादित सिद्धान्तों पर आधा-

रित थीं।

12 जनवरी 1906 को शाह ने इन माँगों को स्वीकार करके ऐनुद्दौला को पदच्युत करने एवं न्यायसंगत शासन की माँग को स्वीकार कर लिया जिसके परिणामस्वरूप आन्दोलनकारियों ने आन्दोलन को समाप्त कर दिया। इस समय तक पर्शिया में संविधान की कोई माँग नहीं थी।

इसके पश्चात् आन्दोलन के प्रमुख नेताओं एवं धार्मिक वर्ग के नेताओं के मध्य भेदभाव उत्पन्न हो गया। इसके कारण शाह के मन्त्रियों ने शाह को इस तथ्य पर विश्वास दिलाया कि पूर्व-संकट समाप्त हो गया है। फलस्वरूप शाह ने अपनी घोषणा में दिये गये वचनों को पूर्ण करने हेतु कोई प्रयास नहीं किया। इसके कारण जुलाई 1906 में शाह को एक निवेदन पत्र दिया गया जिसमें शाह के द्वारा दिये गये वचनों को पूर्ण करने की माँग की गयी। इसी मध्य शाह के अस्वस्थ हो जाने के कारण ऐनुद्दौला ने पुनः दमनकारी नीति का पालन किया और उसके विरुद्ध हुए प्रदर्शनों में कुछ लोगों की मृत्यु हो गयी, जिसके कारण प्रदर्शनकारियों ने तेहरान के मध्य स्थिति मस्जिद-ए-जामी में शरण ली तथा बाद में वे तेहरान से साठ मील दूर 'कुम' की मस्जिद में चले गये। उन्होंने वहाँ से तेहरान को छोड़ देने की धमकी दी। चूँकि उनके तेहरान छोड़ देने के कारण सभी व्यापारिक आदान प्रदान बन्द हो जाने का संकट उत्पन्न हो सकता था, अतः पर्शिया के सरकारी क्षेत्र में इस चेतावनी की गम्भीर प्रतिक्रिया हुई।

इस प्रतिक्रिया पर ऐनुद्दौला ने बाजार खोलने की आज्ञा प्रसारित की एवं घोषणा कर दी कि जो दुकान नहीं खुलेगी उसे लूट लिया जायेगा। इसके कारण व्यापारी वर्ग के कुछ चुने हुए नेताओं ने ब्रिटिश दूतावास में शरण ली। इनकी संख्या-वृद्धि होते होते बारह हजार हो गयी। उन्होंने शाह के समक्ष, ऐनुद्दौला को पदच्युद करने, न्यायिक नियमों की घोषणा करने एवं कुम में शरण लिए आन्दोलनकारियों को वापस बुलाने की माँग प्रस्तुत की। शाह ने उनकी माँगों को तुरन्त स्वीकार कर लिया परन्तु याह्या अरमाजॉनी के कथनानुसार कुछ योरोपीय शिक्षित नेता इससे सन्तुष्ट नहीं हुए और उन्होंने एक संविधान एवं राष्ट्रीय प्रतिनिधि सभा की माँग की। ब्रिटिश अधिकारियों ने मध्यस्थता करके शाह एवं आन्दोलनकारियों के मध्य एक समझौता करा दिया जिसके अन्तर्गत शाह ने 5 अगस्त 1906 को घोषणा की कि "अल्लाह की कृपा ने मुझे पर्शिया के विकास एवं समृद्धि का निर्देशन दिया है, अतः पर्शिया में शान्ति-स्थापना हेतु एवं राज्य की नींव को सशक्त

करने के लिए जो सुधार आवश्यक हैं वे अवश्य किये जायेंगे, मैं एक राष्ट्रीय सभा की घोषणा करता हूँ जिसमें सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व होगा।''

इस प्रकार बीसवीं शताब्दी में पश्चिमी एशिया की क्रान्तियों में पर्शिया की क्रान्ति का एक अनुपम स्थान है। इस क्रान्ति का निर्देशन व्यापारी वर्ग, उलेमाओं तथा शिक्षित वर्ग के हाथों में रहा जिनके अपने स्वार्थ निहित थे। ई० जी० ब्राउन के मत में इस क्रान्ति की विशेषता यह थी कि इसमें सेना का योगदान नगण्य था और इस क्रान्ति में प्रमुख योगदान दूकानदारों एव व्यापारी वर्ग था। तत्पश्चात् पर्शिया के शाह ने संविधान एवं संसद् (मजलिस) की स्थापना की घोषणा कर चुनाव कार्य का आदेश दिया। अक्टूबर 1906 में मजलिस के प्रथम चुने हुए और मनोनीत प्रतिनिधियों की बैठक संयोजित की गई। इस प्रथम मजलिस में राजवंश, सामन्त वर्ग, उलेमा तथा व्यापारी वर्ग का प्रतिनिधित्व था परन्तु शाह की घोषणा के विरुद्ध इसमें कृषक वर्ग का कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। इस मजलिस को सर्वप्रथम संविधान के प्रारूप का कार्य सौंपा गया। इस मजलिस द्वारा एक उदार संविधान का प्रस्थापन किया गया जो शाह द्वारा अनुमोदित कर दिया गया।

संविधान की घोषणा के कुछ ही समय पश्चात् जनवरी 8, 1907 को शाह मुज़फ्फ़रुद्दीन का देहान्त हो गया और नवीन शाह मुहम्मद अली के कारण युवा क्रान्तिकारी आन्दोलन को संकट का सामना करना पड़ा। शाह मुहम्मद अली रूस के प्रभाव में था और क्रान्ति के विरुद्ध था। सविधान के द्वारा समाचार पत्र को स्वतंत्रता प्राप्त हो गयी थी। इसलिए 1911 तक 400 से अधिक समाचार पत्र प्रकाशित होने लगे। लाँगवे ने लिखा है कि नवीन शासन ने ज्यों ज्यों मजलिस के विरुद्ध अपने कार्य आरम्भ किये, समाचार पत्रों ने शाह और प्रतिक्रियावादियों पर गद्य, पद्य, व्यंग्य में निंदा-लेख प्रकाशित करने प्रारम्भ कर दिये। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्रता, स्वदेश-प्रेम, न्याय तथा प्रजातन्त्र के पक्ष में गीत लिखे जाने लगे। इससे जनता को काफ़ी प्रोत्साहन मिला।

सवैधानिक आन्दोलन के साथ साथ पूरे देश में एक नई परिषद् (अंजुमन) का विकास हुआ जो इस बात का प्रतीक थी कि संवैधानिक आन्दोलन केवल पश्चिमी शिक्षित वर्ग का एकाधिकार नहीं है। प्रत्येक अंजुमन में 12 से लेकर 100 तक की सदस्यता थी। प्रत्येक अंजुमन का भिन्न भिन्न कार्य करने का स्वरूप था। इन अंजुमनों में कुछ धार्मिक थीं, कुछ शिक्षा की

समर्थक थीं, कुछ पत्रकारिता में विश्वास रखती थी और कुछ आतंकवादी थीं जो क्रान्ति के विरुद्ध नेताओं की हत्या की पक्षपाती थीं। इन अंजुमनों को कोई एक सूत्र में बाँधने वाला नेतृत्व न मिल सका इसलिए प्रत्येक अंजुमन अपने कार्य में स्वतन्त्र थी। इसी बीच शाह मुहम्मद अली ने अताबेग आज़म को अपना प्रधान मंत्री बनाया। मजलिस प्रधान मन्त्री के रूस और ब्रिटेन से ऋण लेने की नीति के विरुद्ध थी। 3 अगस्त 1907 को जब प्रधान मन्त्री मजलिस से आ रहा था, उसकी किसी आतंकवादी अंजुमन के सदस्य ने गोली मार कर हत्या कर दी। हत्या के ही दिन एक आंग्ल-रूस समझौता हुआ जिसका व्यापक प्रभाव ईरान की क्रान्ति पर पड़ा। ईरान के क्रान्तिकारी नेताओं ने इस समझौते को देश की स्वतन्त्रता पर आघात समझा। इन्हीं सब कारणों से मजलिस और शाह में तनावपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गयी। शाह ने मजलिस को भंग करने की पूर्ण तैयारी कर ली और उधर मजलिस से सहानुभूति रखने वाले सशस्त्र स्वयंसेवक एकत्रित कर लिये गये। संचारण विभाग का पूर्ण सहयोग क्रान्तिकारी नेताओं के साथ था। इससे एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में संदेश भेजने की सुविधा प्राप्त थी। यह उत्साह देख कर शाह ने मजलिस में क़ुरान शरीफ़ भेजा ताकि सदस्य यह विश्वास कर लें कि शाह को संविधान में पूर्ण निष्ठा है। जून 1908 में शाह ने मजलिस भवन पर गोलाबारी करा दी, जिसके फलस्वरूप बहुत सारे उदारवादी नेता मारे गये और सुल्तान ने सैनिक शासन लागू कर दिया। परन्तु समय सुल्तान का साथ न दे सका क्योंकि उसी समय तुर्की में युवा तुर्क आन्दोलन सफल हुआ था। इसके फलस्वरूप ईरानी क्राँतिकारियों ने राष्ट्रवादी सेना का निर्माण कर (इसमें आरमीनिया के राष्ट्रवादी और बख्तियारी जनजाति के मुखिया असद का महत्वपूर्ण योगदान रहा), 13 जुलाई 1909 को ईरान की राजधानी तेहरान पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। शाह मुहम्मद अली देश से भाग गया और उसके बारह वर्ष के पुत्र सुल्तान अहमद को शासक बनाया गया। इस प्रकार संविधानवादी फिर से राज्य-सत्ता पा गये परन्तु इसके साथ ही उन्हें कई विभिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ा।

नवम्बर 15, 1909 को जब दूसरी मजलिस का सत्र प्रारम्भ हुआ, उसमें दो दल बन गये—एक क्रान्तिकारी तथा दूसरा विकासवादी। प्रथम दल का नाम लोकप्रिय प्रजातांत्रिक दल था और दूसरा नर्म दलीय समाजवादी था। अमीन बनानी के अनुसार अपने आंतरिक मतभेद के कारण 1910 का पूरा वर्ष मजलिस ने केवल आर्थिक प्रबन्ध में लगा दिया। मजलिस चूंकि

रूस और ब्रिटेन से ऋण नहीं लेना चाहती थी इसलिए उसने आन्तरिक ऋण का ही उपयोग करना उचित समझा। इसमें जनता ने अत्यन्त उत्साह से योगदान दिया और औरतों ने अपने गहने तक राष्ट्रहित में दे दिये। इस बीच मजलिस को देश की वित्तीय स्थिति के कारण एक आर्थिक परामर्श-दाता की आवश्यकता प्रतीत हुई। चूंकि अमरीकन धर्म-प्रचारकों के प्रभाव के कारण और ईरान की क्रांति में एक अमरीकन अध्यापक हावर्ड आस्कर वाइल के शहीद हो जाने के कारण अमेरिका से ही इस प्रकार की सहायता प्राप्त करना अनुकूल था, अत: मार्गन शुस्टर अपने कई सहायकों के साथ ईरान का उच्च वित्ताधिकारी बन कर आया। शुस्टर पर्शिया को पुन: आर्थिक सबलता प्रदान करने के कारण वहाँ अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। बातकोतिस के मत में उसकी लोकप्रियता तथा पर्शिया की वित्तीय स्थिरता ने विदेशी शक्तियों में वैमनस्य की भावना को प्रोत्साहन प्रदान किया। इसी कारण रूस ने 1911 में ईरानी सरकार को तीन चेतावनियाँ दीं :—

(1) शुस्टर को पर्शिया की सरकार पदच्युत करे।

(2) पर्शिया की सरकार किसी भी विदेशी को, रूस और इंगलैण्ड की सरकार के पूछे बिना, पदासीन नहीं कर सकती।

(3) रूस ने अपनी जो सेना पर्शिया के लिए भेजी, उसकी क्षतिपूर्ति के लिए पर्शिया धन दे।

दूसरी ओर ब्रिटेन ने न केवल रूस के साथ सहमति दिखाई बल्कि दक्षिणी ईरान पर आधिपत्य करने के लिए भारतीय सेना भेजी। मजलिस ने इन चेतावनियों को न मानने के लिए प्रस्ताव पारित किया। फिर भी दिसम्बर 24, 1911 को मजलिस भंग कर दी गई और शुस्टर को पदच्युत कर दिया गया। इस घटना से हताश होकर लोकप्रिय क्रान्तिकारी कवि आरिफ़ काज़बीनी ने एक कविता लिखी जिसका अर्थ था, "उस मेजबान (आतिथेय) के लिए यह अत्यन्त लज्जाजनक है कि उसके घर से अतिथि बिना भोजन ग्रहण किये चला जाये। शुस्टर के चले जाने से पर्शिया अन्धकार में डूब गया है।"

इस प्रकार ईरान की क्रान्ति का अन्त हुआ। ईरान को राष्ट्रवादी तथा संविधानवादी क्रान्तिकारियों ने लोगों के विचारों में नई चेतना और जाग-रूकता लाने का पूर्ण प्रयत्न किया जिसमें वे सफल तो हुए परन्तु स्थायित्व न पा सके क्रान्ति के असफल होने के कई कारण थे।

(1) उलेमाओं और राष्ट्रवादियों में मतभेद।

(2) राष्ट्रवादियों में एकता का अभाव और प्रशासनिक कार्यों से अनभिज्ञता।

(3) रूस और ब्रिटेन का हस्तक्षेप।

तथापि एच० बी० शराबी के मत में पश्चिमी एशिया के देशों में पर्शिया की क्रान्ति ही ऐसी क्रान्ति थीं जो निरंकुश शासन का अन्त करने तथा संवैधानिक एवं संसदीय सरकार की स्थापना करने का ध्येय लेकर की गई थी। अत: पश्चिमी एशिया में पर्शिया उदार पश्चिमी पद्धति पर आधारित संविधान स्वीकार करने वाला प्रथम राज्य था।

ग्रन्थ-निर्देश संदर्भिका

REFERENCES

1. Hitti, Phili P. K. : The Near East in History London, 1961.

2. Armajani, Yahya : Middle East : Past and Present, New Jersey, 1970.

3. Avery, Peter : Modern Iran, London, 1965.

4. Sykes, Sir Percy : A History of Persia, London, 1930.

5. Curzon, Geroge N. : Persia and the Persian, Queston, London, 1892.

6. Shah, Sardar Iqbal Ali : East Ward to Persia, London 1956.

7. Banani, Amin : The Modernization of Iran, California, 1961.

8. Brown, T. H. : Persia in Modern Times, London, 1979

9. Sharabi, H. B. : Governments and Politics of Middle East in The Twentieth Century, London, 1962.

10. Vatikotis, P. J. : Revolutions in The Middle East, London, 1962.

11. James, A. : Persia, London, 1971.

12. Brown, J. M. : Radicalism in Persia, London 1981.

अध्याय 43

पहलवी युग

रज़ाशाह पहलवी

रजा खाँ के सिंहासन पर पदासीन होने से पूर्व ईरान में व्यापक राजनैतिक अराजकता थी। 1906 में कजार राजवंश के शाह मुजफ्फर अल दीन शाह द्वारा संविधान स्थापना की घोषणा के उपरान्त भी र्शिया में पूर्ण रुप से संवैधानिक सरकार की स्थापना नही हो पायी थी तथा मुजफ़र अल-दीन के उत्तराधिकारी मोहम्मद अली शाह ने संवैधानिक सरकार का अन्त करने का प्रयत्न भी किया परन्तु शाह देश-व्यापक राष्ट्र-क्रान्ति के समक्ष ठहर न सका और प्रथम संवैधानिक मन्त्रिमण्डल मुहम्मद वली खाँ सिपहदार ए आजम की अध्यक्षता में निर्मित हुआ। अमीन बनानी अपनी पुस्तक 'द मॉर्डनाइजेशन ऑफ ईरान' में लिखते हैं कि इसके पश्चात् 1909 से 1925 तक ईरान में विभिन्न मन्त्रिमण्डलों ने भिन्न भिन्न प्रकार के सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक सुधारों हेतु विविध कार्यक्रम अपनाये परन्तु एक भी कार्यक्रम सफल न हो सका। इसी मध्य प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो जाने के पश्चात् ईरान की स्थिति और अधिक शोचनीय हो गयी क्योंकि ईरान के लगभग समस्त भागों पर ब्रिटिश, रूस एवं तुर्की के सैनिकों का अधिकार हो गया था। ईरान में विविध अन्य देशों ने अपनी सेना का निर्माण करके संवैधानिक सरकार के नियंत्रण को असम्भव बना दिया था। इसी मध्य हुई रूस की क्रान्ति ने ईरान को बहुत अधिक प्रभावित किया। रूस की क्रान्ति के कारण ईरान से रूसी सैनिकों को हटा लिया गया जिसके परिणामस्वरूप ईरान में पश्चिमी शक्तियों के मध्य सन्तुलन में रिक्त स्थान उत्पन्न हो गया जिसकी ब्रिटेन ने पूर्ति कर दी। इस प्रकार रूस की क्रान्ति के कारण हुई आंग्ल-ईरान सन्धि (1919) ने ईरान पर ब्रिटिश संरक्षित राज्य की स्थापना की एवं रूस की क्रान्ति से प्रभावित होकर ईरान के विभिन्न प्रदेशों में विद्रोह आरम्भ हो गये जो

बॉल्शेविक क्रांति से अत्यधिक प्रभावित थे।

ईरान की राजनैतिक अराजकता ने किसी ऐसे व्यक्ति के लिये स्थान उत्पन्न कर दिया जो देश की त्रस्त दशा का अन्त कर सुसंगठित, सुदृढ़ एवं सुरक्षात्मक पद्धति पर ईरान को शासन प्रदान करे। ऐसी परिस्थितियों में फरवरी 20, 1921 को सैय्यद अल-दीन तबातबाई के सहयोग से रज़ा खाँ ने एक सैनिक विद्रोह कर सत्ता पर अधिकार कर लिया।

रज़ा खाँ का जन्म मार्च 16, 1878 को कैस्पियन सागर के एक प्रदेश मज़नदारान में एक सार्जेन्ट के घर में हुआ था। अपने आरम्भिक जीवन-काल में ही रज़ा खाँ ने सैनिक सेवा को अपना लिया एवं कोसेक ब्रिगेड में एक अधिकारी के पद पर पहुँच गये। रज़ा खाँ के व्यक्तित्व में दृढ़ संकल्प क्रोध एवं अधैर्य का सम्मिश्रण था। उन्हें धर्म के प्रति कोई लगाव न था। 26 अप्रैल की सैनिक क्रान्ति के पश्चात् सईद ज़ियाउद्दीन ने विरोधियों के दमन हेतु हिंसात्मक कार्यवाहियों का सहारा लिया परन्तु अलोकप्रियता से भयभीत रज़ा खाँ ने सईद को बन्दी बना कर देश से बाहर भेज दिया। तत्पश्चात् नवीन सरकार ने रज़ा खाँ को युद्ध मन्त्री एवं प्रधान सेनापति नियुक्त किया। 1922 में रज़ा खाँ ने विधि एवं व्यवस्था की स्थापना हेतु विद्रोहों के प्रति दमनकारी नीति का परिपालन किया। इस कारण रज़ा खाँ ने सेना को पुनर्गठित करके एक के पश्चात् एक सफलताएँ प्राप्त कीं जिनके फलस्वरूप ईरान में उसकी लोकप्रियता एवं प्रतिष्ठा में अत्यन्त वृद्धि हुई। रज़ा खाँ ने स्थिति का लाभ उठाकर प्रधान मन्त्री को बन्दी बना लिया तथा अक्टूबर 23, 1923 को प्रधान मन्त्री के पद पर स्वयं आसीन हुआ। प्रधान मन्त्री पद पर आसीन होने के पश्चात् रज़ा शाह ने कमज़ोर शाह को "यूरोप के पर्यटन" पर भेज दिया। शाह की अनुपस्थिति में अक्टूबर 31, 1925 को मजलिस ने शाह को पदच्युत कर दिया एवं 13 दिसम्बर को रज़ा खाँ को ईरान का शाहंशाह घोषित कर दिया गया। इस प्रकार 125 वर्ष पुराने कजार राजवंश के शासन की समाप्ति हुई।

पुनर्निर्माण

ईरान के पुनर्निर्माण में रज़ा शाह ने असाधारण योगदान प्रदान कर अपने सुधारात्मक कार्यों को क्रान्ति की संज्ञा प्रदान की, यद्यपि रज़ाशाह ने हिटलर की भाँति अपनी पुस्तक "माइन कैम्फ" द्वारा अपने संयोजित कार्यों की रूपरेखा का उल्लेख नहीं किया और न ही उन्होंने कमाल अतातुर्क की

भाँति (जिनके सुधारों का उन्होंने पूर्ण अनुकरण किया) पत्र-पत्रिकाओं द्वारा अपने सुधारों का दार्शनिक महत्व जनता में प्रसारित किया। इसी कारण कमालवाद की तरह पहलवीवाद का उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता। कमाल अतातुर्क की भाँति रज़ाशाह के सुधार किसी संयोजित कार्यक्रम अथवा क्रान्तिकारी विचारधारा के द्वारा प्रतिपादित नहीं हुए अपितु इनके सुधार ईरान में भूतपूर्व सुधार आन्दोलनों की असफलता के परिणाम थे। जोजफ उपटन के अनुसार रज़ा खाँ के कार्यक्रमों में अधीरता, सुधारात्मक एवं क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का सम्मिश्रण था। मानसिक प्रक्रियाओं की आदर्शवादी मीमांसा को उन्होंने कभी प्रधानता नहीं दी। अपने इस व्यक्तित्व के ही कारण वह सदैव अपने यथार्थ ध्येयों की ओर चेष्टारत रहे।

अमीन बनानी के आधार पर ईरान में 1921 और 1941 के मध्य हुए परिवर्तन त्रिमार्गी थे—राष्ट्रवाद एवं राज-नियन्त्रणवाद की ओर पूर्ण समर्पण, राष्ट्रवाद की पूर्ति हेतु पश्चिमी आधुनिक पद्धति का अनुसरण तथा प्राच्य धार्मिक परम्पराओं की समाप्ति। इन उपर्युक्त निर्देशित मार्गों की उद्देश्य-पूर्ति हेतु राष्ट्रवाद को युग-चेतना ने आत्मा की सेवा प्रदान की।

रज़ाशाह ने अपने कार्यक्रमों को सुधारात्मक रूप प्रदान कर देश में आधुनिकीकरण एवं एक नवक्रान्ति का सूत्रपात किया। रज़ाशाह ने जनजीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में सुधारों को प्रतिपादित करने का प्रयास किया। निम्नलिखित क्षेत्रों में मुख्य रूप में सुधारों को कार्यान्वित किया गया।

सेना

रज़ाशाह के जीवन में सेना के प्रति विशेष लगाव था। रज़ाशाह का मुख्य उद्देश्य ईरान को विदेशी हस्तक्षेप से मुक्त करना था। रज़ा शाह का विचार था, विदेशी हस्तक्षेप को रोकने हेतु सेना का शक्तिशाली होना आवश्यक है। अतः एक सुसज्जित, सुसंगठित एवं अनुशासित सेना राजनैतिक सफलता का मूल साधन थी। युद्ध-मन्त्री के पद आसीन होते ही रज़ा खाँ ने सेना को संगठित करना आरम्भ कर दिया। सर्वप्रथम सेना में विभिन्न परम्परावादी स्वतन्त्र इकाइयों को विलुप्त करके एक संगठित सेना की नींव रखी गई। तदुपरान्त योग्य सैनिक अधिकारियों की नियुक्ति की गई। लैन्जोविस्की के मतानुसार इस दिशा में सर्वप्रथम कजार राजवंश के युवराजों एवं अधिकारियों को सेना से पदच्युत करके रज़ाशाह ने स्विस (स्विटजरलैण्ड) शिक्षित पुलिस अधिकारियों, अपने पुराने सहयोगियों एवं कोसेक ब्रिगेड के अधि-

कारियों को नवीन सेना में अधिकारी नियुक्त किया। आरम्भ से ही रज़ाशाह ने पश्चिमी सेना को विदेशी प्रभाव से मुक्त करने का निश्चय किया। यद्यपि प्रशासक एवं तकनीकी कार्यक्रमों हेतु बड़ी संख्या में विदेशी परामर्श-दाताओं एवं तकनीकी सहायकों को ईरान बुलाया गया था परन्तु सेना के प्रशिक्षण हेतु केवल स्विस अधिकारी ही नियुक्त किये गये।

इसी समय ईरान के सैनिक छात्रों को विदेश में प्रशिक्षण हेतु भेजने की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए जून 10, 1922 को ईरान की मजलिस ने युद्ध मन्त्री के प्रस्ताव पर आठ छात्रों को फ्रांसीसी सैनिक संस्थानों में भेजने हेतु अनुमति प्रदान कर दी। तत्पश्चात् अगले दस वर्षों तक ईरान से छात्र योरोप के सैनिक संस्थानों में भेजे जाते रहे। तदुपरान्त रज़ाशाह ने अनिवार्य सैनिक प्रशिक्षण के कार्यक्रम का प्रस्ताव रखा। जून 6, 1925 को मजलिस ने अनिवार्य सैनिक प्रशिक्षण का नियम अनुमोदित कर दिया। इसके अनुसार प्रत्येक 21 वर्ष की आयु वाले नागरिक को 25 वर्ष तक सैनिक सेवा करना अनिवार्य कर दिया गया। इसमें 2 वर्ष सक्रिय रिज़र्व सेना में, 8 वर्ष प्राथमिक रिज़र्व सेना में, सात वर्ष तक माध्यमिक रिज़र्व सेना में एवं 6 वर्ष तक रक्षक स्थिति में सेवा कार्य करना आवश्यक था। जॉन मारलो के आधार पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनिवार्य सैनिक प्रशिक्षण ने सामाजिक एकीकरण साक्षरता में वृद्धि, ग्रामीण एवं जन-जातियों के युवा वर्ग का नगरीकरण एवं प्रादेशिक पृथक्करण को दूर करने में अत्यधिक योगदान दिया।

कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ ईरान के अनुसार सन् 1928 में सर्वप्रथम अधिकारियों के एक दल को रूस में वायु-सेना प्रशिक्षण हेतु भेजा गया। इसी प्रशिक्षण हेतु एक दल को फ्रांस रवाना किया गया। ईरान की वायु सेना हेतु सर्वप्रथम वायुयान रूस और तत्पश्चात् ब्रिटेन से क्रय किये गये। 1932 में ईरानी जल-सेना का निर्माण किया गया और इस हेतु इटली से दो विध्वंसक एवं चार तोपवाही नावें खरीदी गयीं। ईरान के नौ-सैनिकों को प्रशिक्षण हेतु इटली भेजा गया। सेना के लिए शस्त्र, एवं युद्ध-सामग्री चेकोस्लोवाकिया, स्वीडन एवं जर्मनी से क्रय की गई। देश में औद्योगीकरण परिवहन एवं संचार-व्यवस्था का निर्माण सैनिक आवश्यकतानुसार किया गया।

सैन्य सुधार की दिशा में एक अन्य कदम फरवरी 15, 1936 को उठाया गया जबकि सेना के पुनर्गठन हेतु एक विधि सहिता का निर्माण हुआ। सैन्य संहिता के अन्तर्गत सैनिक पदों का ईरानीकरण, पदोन्नति हेतु नियम एवं सैनिकों के अवकाश प्राप्त होने के पश्चात् वेतन एवं बीमा सम्बन्धी नियम

बनाये गए। 1925 के अनिवार्य सैनिक प्रशिक्षण नियम को जून, 1938 में संशोधित किया गया। इस नियम के द्वारा सैनिक सेवा की अवधि को घटा दिया गया एवं तेहरान विश्वविद्यालय तथा माध्यमिक विद्यालयों के स्नातकों के लिए तात्कालिक पदोन्नति का प्राविधान निर्मित किया गया। इसी नियम के द्वारा विश्वविद्यालय-शिक्षित अधिकारियों के लिए उच्च वेतनकी व्यवस्था की गई। इन प्रयासों से ईरान में ऐसी सशक्त, सुसंगठित सुसज्जित एवं अनुशासित सेना का निर्माण हुआ जो पूर्ण देश पर नियंत्रण स्थापित करने में सफल हुई। रज़ाशाह ने अपने अन्य सुधार उसी सेना के सहयोग से किये।

शिक्षा

रज़ाशाह के शासन का मुख्य उद्देश्य नवीन राज्य विद्यालयों द्वारा शिक्षा-पद्धति में अत्यधिक विस्तार करना था जिससे राष्ट्र की आवश्यकता को पूरा किया जा सके। शिक्षा के क्षेत्र में प्रथम वैधानिक कार्य 1921 में उच्च शिक्षा समिति की स्थापना करके किया गया। यह शिक्षा मंत्रालय के अधीन नीति निर्धारक, निरीक्षात्मक, परामर्शक संस्था थी जिसका कार्य शिक्षा-प्रशासन का नियमन करना था। उपर्युक्त उच्च शिक्षा समिति के दो मुख्य कर्तव्यों को एक अधिकार पत्र द्वारा स्पष्ट किया गया—प्रथम, यूरोप के विद्यालयों के पाठ्यक्रम पर गम्भीर विचार विमर्श द्वारा स्वदेशी विद्यालयों हेतु पाठ्यक्रम निर्धारित करना। इसके अतिरिक्त समिति के अन्य कार्यों में धार्मिक संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालयों को सहायता प्रदान करना, समाचारपत्रों एवं पत्रिकाओं के प्रकाशकों की शिक्षा-योग्यता को निर्धारित करना यूरोप भेजे जाने वाले विद्यार्थियों का चयन करना, पाठ्य पुस्तकों को अनुमोदित करना तथा मस्जिदों से संलग्न पाठशालाओं में अनुशासन, सुधार एवं निरीक्षण करना था। 1921 में शिक्षा मंत्रालय ने प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा हेतु प्रथम पूर्ण कार्यक्रम की रूप रेखा प्रस्तुत की। इस कार्यक्रम का कार्यकाल अन्य आधुनिक शिक्षा पद्धति की भाँति बारह वर्ष रखा गया, जिसमें छह वर्ष प्राथमिक एवं छह वर्ष माध्यमिक स्तर की शिक्षा से अनुबन्धित थे। बनानी के अनुसार इसके अतिरिक्त शिक्षा मन्त्रालय के द्वारा "समरूप परीक्षा पद्धति" पर समस्त राष्ट्रीय विद्यालयों की परीक्षाओं का प्राविधान किया गया।

प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में फ़ारसी, एवं अरबी भाषा, अंकगणित, पशिया का इतिहास, विश्व भूगोल तथा शारीरिक शिक्षा को समाविष्ट किया गया। 1930 में अरबी भाषा को प्राथमिक शिक्षा के स्थान पर माध्यमिक

शिक्षा से संलग्न कर दिया गया एवं 1936में कला एवं संगीत को उपर्युक्त शैक्षिक कार्यक्रम में स्थान दिया गया। माध्यमिक शिक्षा हेतु छह वर्ष का कार्यक्रम निर्धारित किया गया जिसमें रेखागणित, प्राकृतिक विज्ञान, अरबी, विश्व-इतिहास, कोई एक विदेशी भाषा (सामान्यत: फ्रांसीसी भाषा) को सातवीं कक्षा के पाठ्यक्रम में रखा गया। आठवीं कक्षा में बीजगणित, प्राणिशास्त्र, रसायन-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र को रखा गया एवं नवीं कक्षा के पाठ्यक्रम में त्रिकोणमिति, ठोस रेखागणित, जन्तु-शास्त्र को समाविष्ट किया गया। बारहवीं कक्षा के तीन भाग कर दिये गये—विज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान एवं सामाजिक विज्ञान।

कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ ईरान के आधार पर यद्यपि एक राजाज्ञा द्वारा प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य कर दिया गया था, परन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण राज्य-शिक्षा-नीति पूर्णरूपेण क्रियान्वित नहीं की जा सकी। 1922 में जर्मनी के तकनीकियों ने तेहरान में एक बहुशिल्प विद्यालय की स्थापना की। इसकी स्थापना हेतु ईरान सरकार ने आर्थिक सहायता दी थी। 1928 में मजलिस ने राजकोष का 35 प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करना स्वीकार किया। इसी वर्ष 15 विद्यार्थियों के लिए राजकीय छात्रवृत्ति की स्वीकृति प्रदान की गई एवं मजलिस ने सौ विद्यार्थियों को योरोप एवं अमेरिका में उच्च शिक्षा हेतु भेजने के प्रस्ताव का अनुमोदन किया। 1922 में समस्त विदेशी प्राथमिक शिक्षालयों को बन्द कर दिया गया जिससे विदेशी धार्मिक संस्थानों द्वारा संचालित सभी विद्यालय बन्द हो गये। खेल-कूद को वरीयता प्रदान की गई तथा स्काउट एवं गाइड अभियानों में युवा वर्ग को भाग लेना अनिवार्य कर दिया गया। इसका मुख्य ध्येय युवा वर्ग में देश के प्रति प्रेम उत्पन्न करना था। 1934 में शिक्षक-शिक्षण अधिनियम का अनुमोदन हुआ जिसके अनुसार पाँच वर्ष में पच्चीस शिक्षक-शिक्षण संस्थाएँ स्थापित करने का लक्ष्य बनाया गया जो 1939 में पूर्ण हो गया। शाह के शासन काल के अन्तिम दिवसों में ऐसे विद्यालयों की संख्या 63 थी। 1934 में ही तेहरान में छह संकायों को लेकर एक विश्व विद्यालय की स्थापना की गई। शाह ने फ़ारसी भाषा को अरबी भाषा के प्रभाव से मुक्त करने हेतु संशोधन करने की आज्ञा प्रदान की। भाषा संशोधन को 1935 में "ईरान साहित्य अकादमी" का विशेष क्षेत्र बनाया गया। इसके अन्तर्गत वर्णमाला में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। इसी वर्ष पर्शिया का नाम बदल कर "ईरान" रख दिया गया। इस शब्द की उत्पत्ति उन्होंने "आर्य" शब्द से की क्योंकि वे

अपने को अन्य जातियों से श्रेष्ठ मानते थे। 1936 में अनिवार्य धार्मिक शिक्षा का प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षालयों से उन्मूलन कर दिया गया।

न्याय

लेन्जोविस्की के अनुसार रज़ाशाह ने प्रधान मन्त्री होते ही न्याय पद्धति में सुधार शुरू कर दिये। रज़ाशाह के वैधानिक सुधार राष्ट्रवादी तत्वों से प्रेरित थे क्योंकि उसका प्रथम एवं मुख्य उद्देश्य "सन्धि पत्रों" की प्रणाली को समाप्त करना था। परन्तु रजाशाह इस बात से भली भाँति अवगत था कि जब तक न्याय पद्धति का पश्चिमीकरण नहीं होगा तब तक वैधानिक सुधार पश्चिमी पत्रों में आलोचना का विषय बने रहेंगे। 1924 और 1926 में दण्ड संहिता तथा व्यापारिक नियमों को प्रयोगात्मक स्थिति पर आरम्भ किया गया। 1927 में भूतपूर्व न्याय मंत्रालय को समाप्त कर उसी वर्ष 26 अप्रैल को नव न्याय मन्त्रालय का गठन किया गया जिसमें अधिकतर यूरोपीय शिक्षा पद्धति द्वारा शिक्षित व्यक्ति थे। इसी समय रज़ाशाह ने न्यायाधीशों तथा वकीलों की एक सभा में अपने भाषण में कहा कि "देश की प्रतिष्ठा न्याय के स्तर पर निर्भर रहती है। मैं आप लोगों से उचित न्याय तथा देश की प्रतिष्ठा की आशा करता हूं।"

न्याय-मन्त्रालय को संगठित करने हेतु दावर को न्याय मन्त्री नियुक्त किया गया तथा उसे न्याय मन्त्रालय के नये नियमों का निर्माण करने का कार्य सौंपा गया। जोजफ़ उपटन के मत से 1928 में दावर की अध्यक्षता में में एक समिति ने मजलिस के समक्ष नागरिक संहिता का प्रथम खण्ड प्रस्तुत किया। अत: मई 8, 1928 को इस न्याय संहिता को मजलिस ने मान्यता दी। यह न्याय-संहिता फ्रांस की नागरिक-सहिता का शाब्दिक अनुवाद थी, परन्तु व्यक्तिगत स्तर पर उपर्युक्त संहिता शरीयत के नियमों का एकीकरण एवं सरलीकरण थी।

1922 में राज्य न्यायालयों को शरीयत न्यायालयों के निर्णय के विरोध में अपील सुनने का अधिकार दिया गया। 1929 में मजलिस के नियम द्वारा साक्षी के केवल कुरान शरीफ़ की साक्षी पर निर्णय को अमान्य माना गया तथा 1931 में एक अन्य नियम के द्वारा शरीयत न्यायालयों के अधिकारक्षेत्र को सीमित कर दिया गया। 1939 और 1940 की नागरिक एवं दण्ड संहिताओं में शरीयत के नियमों को समाविष्ट नहीं किया गया।

नवम्बर 25, 1928, नवम्बर 3, 1929 तथा नवम्बर 3, 1930 को

...का निर्देशन अनुमोदित
...के द्वारा स्वीकृत
...प्रयोग के आधार पर

...न्यायालय के प्रस्तुत
...गये। मार्च 17,
...नियम स्वीकृत
...एक ... इससे पूर्व
...था। ... 1936 को राज-
...दिसम्बर 27, ... नियुक्ति का नियम
...अधिकारियों की नियुक्ति ... विधि पद्धति का
...तथा ...

...के विषय में नियम बनाये
...नियम ... कर दिया गया।
1940 में ... के 12वें ... में

गई तथा नगर निर्माण हेतु एक नगर सन्निवेशक की सेवाएँ भी ली गईं। प्रादेशिक नगरपालिका सरकार के प्रशासन, राजस्व-स्रोत के कार्यों में सुधार हेतु मई 20, 1930 को नगरपालिका विधि का निर्माण किया गया। मई, 27, 1930 को नगरपालिका समिति का संधिपत्र मजलिस के द्वारा अनुमोदित कर दिया गया। इन नियमों के अनुसार नगरों से प्राप्त राजस्व को स्थानीय विकास कार्यक्रमों पर व्यय किया जाना चाहिए था। फरवरी 17, 1932 को आन्तरिक मन्त्रालय की नागरिक सेवाओं के लिए विशेष कक्षाओं की व्यवस्था का कार्य सौंपा गया। मजलिस द्वारा अनुमोदित एक अन्य नियम के अनुसार इन कक्षाओं के स्नातकों को विशेष पदोन्नति की आज्ञा प्रदान की गई तथा इन स्नातकों को तीन मास की अवैतनिक सेवा से छूट दे दी गई। जनवरी 9, 1934 एवं नवम्बर 7, 1937 के अधिनियों द्वारा "अदालतों" को समाप्त करके उनके स्थान पर "ओस्तानों" का निर्माण किया गया। इन "ओस्तानों" के "शहरेस्तान" तथा शहरेस्तान को "वख्श" में विभक्त किया गया। स्थानीय अधिकारियों के कर्तव्यों की व्याख्या की गई। मेयर, पुलिस अधिकारियों एवं अन्य नगरपालिका कर्मचारियों की नियुक्ति आन्तरिक मन्त्रालय द्वारा तेह-रान में की गई।

1941 में ईरान के प्रशासनिक तन्त्र का अत्यधिक विस्तार किया गया। विभिन्न मन्त्रालयों के उच्चतम अधिकारियों में राजघराने के सदस्यों की अपेक्षा मध्यम वर्गीय शिक्षित मनुष्यों को प्राथमिकता दी गई। फलस्वरूप जनसेवकों में बहुमत मध्यमवर्गीय जनता का था। सरकारी कार्यालयों में घूसखोरी एवं भ्रष्टाचार का बोलबाला था। लैन्जोविस्की के आधार पर परिवहन मन्त्रालय में एक घोटाले के प्रकाश में आने के पश्चात् दिसम्बर 20, 1931 को मजलिस ने नियम द्वारा सरकारी धन का घोटाला करने वाले कर्मचारियों के विरुद्ध कठोर दण्ड की व्यवस्था की परन्तु यह अधिनियम अधिक सफल नहीं हुआ।

नागरिक स्वास्थ्य

1920 में ईरान वास्तव में इस क्षेत्र में पश्चगामी था। 1830 अमेरिकी एवं ब्रिटिश धर्म-प्रचारकों ने सर्वप्रथम तेहरान में एक अस्पताल की स्थापना की। इस प्रकार के अस्पताल ईरान के प्रत्येक प्रमुख नगर में स्थापित हुए। प्रारम्भ में रूढ़िवादी एवं अन्धविश्वासी जनता ने इन अस्पतालों को सन्देहा-त्मक दृष्टि से देखा; परन्तु फिर भी निर्धन जन वर्ग इनसे लाभान्वित होने

मजलिस ने नवीन विधि नियमों को प्रयोग में लाने का विधेयक अनुमोदित कर दिया परन्तु ये नियम मजलिस की न्यायिक समिति के द्वारा स्वीकृत होने चाहिए थे। इस कारण इनको केवल अल्पकालिक प्रयोग के आधार पर व्यवहृत किये जाने की अनुमति थी।

1929 में नागरिक संहिता के दो अन्य खण्ड न्याय मन्त्रालय ने प्रस्तुत किये जो 1935 में मजलिस के द्वारा स्वीकृत कर लिये गये। मार्च 17, 1932 में मजलिस ने याजक वर्ग की स्थिति के विरुद्ध एक नियम स्वीकृत किया जो सम्पत्ति तथा प्रलेखों के पंजीकरण से सम्बन्धित था। इससे पूर्व इस कार्य पर शरीयत का एकाधिकार था। दिसम्बर 27, 1936 को मजलिस ने न्याय पद्धति के पुनः संगठन तथा न्यायाधीशों की नियुक्ति का नियम स्वीकृत किया। इसके साथ ही धर्म-निरपेक्षतावाद तथा विधि पद्धति का पश्चिमीकरण पूर्ण हो गया।

1937 से 1939 तथा वकीलों के आचरण के विषय में नियम बनाये गये तथा 1939 में दिवालियापन से सम्बन्धि नियम घोषित कर दिया गया। नागरिक संहिता अपने समापक स्वरूप में 1940 में मजलिस के 12वें सत्र में स्वीकृत की गई।

प्रशासनिक

याह्या अरमाजानी के अनुसार रज़ाशाह ने सत्ता संभालते ही एक तानाशाही सरकार की स्थापना की परन्तु रज़ाशाह संविधान में प्रयुक्त संसदीय प्रजातन्त्र को दिखावे मात्र के लिए स्थापित करने का पक्षपाती था इसीलिए उसने संविधान में प्रयुक्त प्रशासनिक प्राविधानों का सर्वप्रथम उपयोग किया। इसके समक्ष दो समस्याएँ थीं—एक तो वह पश्चिमी शिक्षित बौद्धिक वर्ग के बृहत् समूह को रुष्ट नहीं करना चाहता था तथा दूसरे रज़ा शाह सविधान में प्रदत्त आधुनिक सरकारी तन्त्र को उपयोगी समझता था।

नागरिक सेवा के सम्बन्ध में दिसम्बर 21, 1922 को चतुर्थ मजलिस ने एक नियम के द्वारा नागरिक सेवा का नियमन किया। पश्चिमी पद्धति पर आधारित इस नियम में नागरिक सेवकों की आयु, राष्ट्रीयता, शिक्षा एवं चरित्र आदि की योग्यताएँ निर्धारित थीं। इसमें पदों की तालिका एवं पदोन्नति के हेतु नियमों की व्याख्या की गई। इसके लिए एक प्रतियोगिता परीक्षा का आयोजन किया गया। नगर-निगम को सक्षम बनाने हेतु 1922 में नगर सरकार के लिए एक अमेरिकी परामर्शदाता की सेवाएँ उपलब्ध की

गई तथा नगर निर्माण हेतु एक नगर सन्निवेशक की सेवाएँ भी ली गईं। प्रादेशिक नगरपालिका सरकार के प्रशासन, राजस्व-स्रोत के कार्यों में सुधार हेतु मई 20, 1930 को नगरपालिका विधि का निर्माण किया गया। मई, 27, 1930 को नगरपालिका समिति का संधिपत्र मजलिस के द्वारा अनुमोदित कर दिया गया। इन नियमों के अनुसार नगरों से प्राप्त राजस्व को स्थानीय विकास कार्यक्रमों पर व्यय किया जाना चाहिए था। फरवरी 17, 1932 को आन्तरिक मन्त्रालय की नागरिक सेवाओं के लिए विशेष कक्षाओं की व्यवस्था का कार्य सौंपा गया। मजलिस द्वारा अनुमोदित एक अन्य नियम के अनुसार इन कक्षाओं के स्नातकों को विशेष पदोन्नति की आज्ञा प्रदान की गई तथा इन स्नातकों को तीन मास की अवैतनिक सेवा से छूट दे दी गई। जनवरी 9, 1934 एवं नवम्बर 7, 1937 के अधिनियों द्वारा "अदालतों" को समाप्त करके उनके स्थान पर "ओस्तानों" का निर्माण किया गया। इन "ओस्तानों" के "शहरेस्तान" तथा शहरेस्तान को "वख़श" में विभक्त किया गया। स्थानीय अधिकारियों के कर्तव्यों की व्याख्या की गई। मेयर, पुलिस अधिकारियों एवं अन्य नगरपालिका कर्मचारियों की नियुक्ति आन्तरिक मन्त्रालय द्वारा तेहरान में की गई।

1941 में ईरान के प्रशासनिक तन्त्र का अत्यधिक विस्तार किया गया। विभिन्न मन्त्रालयों के उच्चतम अधिकारियों में राजघराने के सदस्यों की अपेक्षा मध्यम वर्गीय शिक्षित मनुष्यों को प्राथमिकता दी गई। फलस्वरूप जनसेवकों में बहुमत मध्यमवर्गीय जनता का था। सरकारी कार्यालयों में घूसखोरी एवं भ्रष्टाचार का बोलबाला था। **लैन्जोविस्को** के आधार पर परिवहन मन्त्रालय में एक घोटाले के प्रकाश में आने के पश्चात् दिसम्बर 20, 1931 को मजलिस ने नियम द्वारा सरकारी धन का घोटाला करने वाले कर्मचारियों के विरुद्ध कठोर दण्ड की व्यवस्था की परन्तु यह अधिनियम अधिक सफल नहीं हुआ।

नागरिक स्वास्थ्य

1920 में ईरान वास्तव में इस क्षेत्र में पश्चगामी था। 1830 अमेरिकी एवं ब्रिटिश धर्म-प्रचारकों ने सर्वप्रथम तेहरान में एक अस्पताल की स्थापना की। इस प्रकार के अस्पताल ईरान के प्रत्येक प्रमुख नगर में स्थापित हुए। प्रारम्भ में रूढ़िवादी एवं अन्धविश्वासी जनता ने इन अस्पतालों को सन्देहात्मक दृष्टि से देखा, परन्तु फिर भी निर्धन जन वर्ग इनसे लाभान्वित होने

लगा। ईरान में जन-स्वास्थ्य-स्थिति एवं इसके सुधार में बाधक तत्वों पर 1925 में तैयार की गयी राष्ट्रसंघ की एक रिपोर्ट के अनुसार ईरानी जनता के विश्वास एवं धार्मिक शिक्षकों (उलेमा) को शिक्षा, न केवल ईरानियों के चरित्र को प्रभावित करती है परन्तु स्वास्थ्य एवं अन्य सुधारों के कार्यान्वयन में बाधा उत्पन्न करती है। उपर्युक्त विवरण से ईरान में स्वास्थ्य-स्थिति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

जोजफ़ उपटन के आधार पर जन-स्वास्थ्य के क्षेत्र में प्रतिपादित कार्यों में मुख्य रज़ाशाह पहलवी द्वारा तेहरान में 'पास्चर प्रतिष्ठान' की स्थापना था। पास्चर प्रतिष्ठान फ्रांसीसी डि पास्चर संस्थान का प्रतिमान था। जून 21, 1923 को मजलिस ने डा० जोसफ़ मेसनार्ड को पास्चर संस्थान के अध्यक्ष रूप में सात वर्ष के लिए नियुक्त किया। इस संस्थान को मनुष्य, पशु, वनस्पति एवं औद्योगिक सूक्ष्म जीव-विज्ञान प्रभागों में विभक्त किया गया। इस प्रतिष्ठान ने प्रयोगशाला विच्छेदन के द्वारा टीका एवं सीरम का विकास कर उनका जनसाधारण के कल्याण हेतु प्रयोग किया। 1925 में राष्ट्रसंघ ने पास्चर-सस्थान को ईरानी स्वास्थ्य प्रशासन का सबसे महत्वपूर्ण अंग माना। 1925 में जीवाणु नियन्त्रण ब्यूरो को पास्चर संस्थान से सम्बन्धित कर दिया गया। 1929 में सरकारी वधशाला के अतिरिक्त कहीं भी अन्य जन्तुओं का वध वर्जित घोषित कर दिया गया। 1935 में मजलिस ने शुद्ध भोजन पदार्थ अधिनियम पारित कर दिया जिसमें मांस की शुद्धता पर अधिक बल दिया गया।

1927 एवं पुनः 1930 में सरकार ने डाक्टरों को प्रमाण-पत्र देने की व्यवस्था की। इस समय तक तेहरान में एक चिकित्सा विद्यालय की स्थापना हो चुकी थी। अधिकतर फ्रांसीसी शिक्षकों एवं पाठ्य पुस्तकों के फ्रांसीसी भाषा में होने के कारण, इस विद्यालय में प्रवेश हेतु फ्रांसीसी भाषा का ज्ञान आवश्यक था। 1935 में शरीर रचना विज्ञान का अध्यापन कार्य चित्रों एवं मोम प्रतिमाओं के द्वारा किया जाता था, क्योंकि याजक वर्ग ने विच्छेदन की अनुमति नहीं दी थी। इन चिकित्सा विद्यालयों ने ईरान में चिकित्सा पद्धति के विकास में अत्यधिक योगदान किया। 1935 तक ईरान में जनता एवं चिकित्सकों का अनुपात 1 : 4000 हो गया था।

जून 1, 1941 को इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम उठाया गया जब संक्रामक रोगों का प्रतिरोधात्मक अधिनियम मजलिस ने स्वीकार कर लिया। इसके अनुसार यौन रोगों की चिकित्सा अनिवार्य कर दी गयी। इस अधि-

नियम ने चेचक का टीका लगवाना अनिवार्य कर दिया एवं इसके उल्लंघन-कर्ताओं के लिए कठोर दण्ड का आदेश दिया। इसके द्वारा यह व्यवस्था भी की गई कि डाक्टरों को प्रत्येक संक्रामक रोग का मामला स्वास्थ्य मन्त्रालय को सूचित करना होगा। विद्यालयों एवं कारखानों में निरन्तर निरीक्षण की व्यवस्था की गई। रज़ाशाह से पूर्व जन स्वास्थ्य सेवा का प्रभाग आन्तरिक मन्त्रालय के अधीन था परन्तु रज़ाशाह ने इस प्रभाग का अत्यधिक विस्तार किया एवं 1940 में प्रथम स्वास्थ्य मन्त्रालय की स्थापना की गई। केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त नगरपालिका, स्थानीय सरकारों ने जन-स्वास्थ्य के क्षेत्र में सक्रिय भाग लिया। 1939 में डाक्टरों का वेतन एवं सुविधाएँ बढ़ा कर डाक्टरों को जनसेवा हेतु उत्साहित किया गया।

आर्थिक

जे० बैरियर के अनुसार ईरान में पश्चिमी तकनीकी जानकारी के प्रचलन एवं इसके परिणामस्वरूप देश के आर्थिक जीवन में परिवर्तन ने पश्चिमीकरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। रज़ाशाह पहलवी के शासन-काल में पश्चिमी विज्ञान एवं औद्योगिकी के प्रचलन में अत्यधिक वृद्धि हुई। इसके फलस्वरूप आधुनिकीकरण की दिशा में किये गये विभिन्न कार्यों के कार्यान्वयन हेतु साम्राज्य की आर्थिक दशा को सबलता प्रदान करना अनिवार्य हो गया। 1921 में ईरान में राजस्व के तीन मुख्य स्रोत थे—(1) सरकारी भूमि, (2) आन्तरिक कर, तथा (3) विदेशी व्यापार पर सीमा शुल्क।

सरकारी भूमि से राजस्व प्राप्त करने हेतु इस भूमि को किराये पर जमींदारों को दे दिया जाता था। उससे अल्प मात्रा में राजस्व प्राप्त होता था। 1924 में मजलिस ने एक "अध्ययन दल" का निर्माण किया जिसको इस तथ्य की रूपरेखा तैयार करनी थी कि देश के राजस्व में किस प्रकार वृद्धि की जा सकती है। 1933 में सरकारी भूमि के विक्रय का निर्णय लिया गया। 1937 में सरकार ने एक औद्योगिक एवं कृषि बैंक की स्थापना हेतु शेष सरकारी भूमि के विक्रय का निर्णय किया।

ए० के० एस० लैम्बटन के आधार पर 1921 में ईरान की आन्तरिक कर समस्या अत्यन्त जटिल एवं गम्भीर थी। 1922 में मिल्सपो की अध्यक्षता में 13 अमेरिकी आर्थिक विशेषज्ञों को कर वसूली का कार्य सौंपा गया। 1927 में मिल्सपो वापस चला गया। 1930 में मजलिस ने कुछ कर विधेयक

पारित किए। इसके अनुसार नगर निगम को यह अधिकार दिया गया कि अ-कृषि एवं सम्पत्ति कर वसूल करे। 1925 में शकर कर एवं चाय कर लगाए गये।

विदेश व्यापार पर सीमा शुल्क सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। इसके दो कारण थे :—

(1) इसकी वसूली सबसे अधिक आसानी से होती थी। तथा,

(2) इसके अधिकारी ईमानदार एवं योग्य थे। (इस विभाग में बेल-जियम के अधिकारी थे जो 1911 से कार्यरत थे)।

रज़ाशाह ने भी बेल्जियम अधिकारियों को ही सीमा शुल्क इकट्ठा करने हेतु रखा तथा 1922 में मिल्सपो के जानें के पश्चात् मजलिस ने बेल्जियम अधिकारियों के साथ समझौता कर लिया। 1928 में रज़ाशाह ने सीमा शुल्क में स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी एवं 1941 में सीमा शुल्क अधि-नियम पारित हुआ।

रज़ाशाह के आर्थिक सुधारों का दूसरा चरण बैंक सुविधा प्रदान करने के साथ आरम्भ हुआ। 1927 में बैंक ली ईरान' की स्थापना की गयी। इस राज्य एवं व्यापारिक बैंक को मुद्रा प्रकाशन एवं आर्थिक नीति के नियमन का अधिकार दिया गया। मुद्रा के मूल्य को घटने से रोकने के लिए 19 मार्च, .930 की 'गोल्ड स्टैन्डर्ड अधिनियम' पारित किया गया परन्तु इसके क्रिया-न्वयन को 1936 तक कुछ कारणों से रोक दिया गया था।

रज़ाशाह के शासन में वित्तीय सुधारों का निम्नलिखित रूप से मूल्यां-कन किया जा सकता है :—

(1) देश की आर्थिक समस्याओं में शासन का पूर्ण रूप से केन्द्रीय नियन्त्रण था।

(2) वित्तीय केन्द्रीय प्रशासन प्रत्येक क्षेत्र में लाभदायक नहीं था।

(3) शासकीय प्रशासन प्रबल होने के कारण अधिकारी तन्त्र का अत्यधिक हस्तक्षेप हो गया था।

(4) अधिकारी वर्ग के हस्तक्षेप के कारण वित्तीय सुधारों के प्रथम चरण में सफलता प्राप्त हुई परन्तु समय के साथ इसमें व्यापक भ्रष्टाचार दृष्टिगोचर होने लगा। ए०सी० मिल्लसपौ के मत से इसका उदाहरण 1942 में एक संसद सदस्य द्वारा की गई आलोचना से स्पष्ट होता है। संसद् सदस्य अली दश्ती ने कहा कि ऐसा कौन-सा देश है जहाँ इतने घूसखोर, गबन करने वाले हों और वे सर्वरूप से दण्ड से मुक्त हों।

कृषि-व्यापार एवं वाणिज्य

पश्चिमी एशिया के अन्य देशों की भाँति ईरान की अर्थ-व्यवस्था कृषि पर आधारित थी, परन्तु रजा शाह के सुधार कार्यक्रमों ने इस क्षेत्र को सबसे कम प्रभावित किया। 1924 में भूमि सुधार एवं कृषि आधुनिकीकरण करने हेतु एक अध्ययन परिषद् का निर्माण किया गया। ए० के० एस० लैम्बटन के अनुसार ईरान में भूमि स्वामित्व के तीन प्रकार थे—प्रथम व्यक्तिगत, द्वितीय राजकीय एवं तृतीय वक्फ़ अथवा धार्मिक अनुदान। 1924 में में एक कृषि विद्यालय की स्थापना की गई तथा पशु-चिकित्सा अनुसन्धान संस्थान की भी आधार-शिला रखी गई। 1925 में कृषि यन्त्रों के आयात को सीमा-शुल्क से मुक्त कर दिया गया। 1925 में ही बड़ी संख्या में कृषि-विशेषज्ञ ईरान बुलाये गये। कृषि संयंत्रों के प्रयोग को प्रोत्साहित किया गया परन्तु इसके प्रयोग में अतिरिक्त कल-पुर्जे, ईरान में मशीनों हेतु ईंधन की कमी, नगरों के मध्य दूरी एवं संचारण अव्यवस्था थी। 1928 में ईरान राष्ट्रीय बैंक की स्थापना की गई एवं ब्रिटिश इम्पीरियल बैंक से मुद्रा प्रकाशन के अधिकार को वापस ले लिया गया। 1930 में कृषि-विभाग ने वनों के अनुरक्षण उपज के निर्यात की उन्नति, बीज विकास एवं कीड़े-मकोड़ों के नियन्त्रण का कार्य सँभाला। इसी वर्ष इन कार्यों में सहायता हेतु कृषि बैंक कीं स्थापना की गई।

जे० के० बैरियर के मतानुसार दो महायुद्धों के मध्य विदेश व्यापार नीति को दो कालों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम काल 1919 से 1929 तक, इसकी मुख्य विशेषता स्वतंत्र व्यापार तथा विदेशी शक्तियों के साथ निष्क्रियता थी; एवं द्वितीय काल 1930 से 1940 तक, इसकी विशेषता सरकारी नियन्त्रण एवं राज आलोचना थी। परन्तु विदेशी व्यापार एकाधिकार का यह अर्थ कदापि नहीं था कि सरकार ही इसका संचालन करती थी। यह केवल सरकारी नियमों से ही नियन्त्रित था। तृतीय दशक के अन्तिम वर्ष में औद्योगिकीकरण, विदेश व्यापार नियन्त्रण एवं ट्रांस-ईरानियन रेलवे के निर्माण के पश्चात् भूमि सुधारों की ओर ध्यान दिया। नवम्बर 16, 1937 को भूमि विकास अधिनियम की स्वीकृति वैधानिक दृष्टि से एक महत्वपूर्ण कार्य था जो कृषि सुधार हेतु किया गया गया। इस अधिनियम की प्रथम धारा के अनुसार भूमि का अधिकतम उपयोग भूमि स्वामी के लिए एक वैधानिक उत्तरदायित्व हो गया। इसमें नहरों का अनुरक्षण, ग्रामीण यातायात मार्ग की मरम्मत एवं निर्माण, स्वास्थ्य केन्द्रों का अनुरक्षण, सिंचाई

के आधुनिक साधनों का उपयोग भी निहित था। धारा नौ में इस आवश्यकता को पूर्ण करने हेतु धन की व्यवस्था की गई। इस अधिनियम ने कृषि मन्त्रालय को एक कार्यक्रम बनाने तथा उसके क्रियान्वयन का अधिकार दे दिया। 1937 में व्यापार संचालन हेतु वाणिज्य मन्त्रालय का गठन किया गया।

स्त्री उद्धार

रज़ाशाह ने स्त्रियों के उद्धार हेतु काफ़ी प्रयास किये। रज़ाशाह के प्रभाव के अन्तर्गत ईरान की मजलिस ने पुरुषों के विवाह विच्छेद (तलाक) सम्बन्धी शक्तियों को अत्यधिक कम कर दिया था। यद्यपि स्त्रियों की कार्यालय में नियुक्ति हेतु स्वीकृति प्रदान की गई परन्तु स्त्रियों को राजनीतिक प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया था। सैनिक एवं अन्य राज्य अधिकारियों को अपने अपने परिवार की स्त्रियों को पाश्चात्य वेश-भूषा धारण करने के लिए निर्देश दिये गये। 1935 में रज़ाशाह की पत्नी एवं पुत्री ने स्वयं पाश्चात्य वेश-भूषा पहन कर जनता के सम्मुख ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया। इसके साथ ही शताब्दियों से प्रचलित पर्दा प्रथा ईरान में समाप्त कर दी गई।

संचार व्यवस्था

रज़ाशाह ने कई मुख्य राजमार्गों के निर्माण की आज्ञा दी। नभ संचार (एयर सर्विस) व्यवस्था की स्थापना हेतु जर्मन जंकर एयरलाइन्स द्वारा तेहरान से कई प्रदेशीय शहरों के बीच डाक सेवा प्रारम्भ करवाई गई। 1928 में शाह ने "इम्पीरियल एयरवेज", ज़ो एक ब्रिटिश कम्पनी थी, को ईराक से भारतवर्ष तक ईरानी क्षेत्र के ऊपर होकर उड़ने की अनुमति दे दी। ईरान ने ब्रिटेन से भारतीय योरोपीय तार कम्पनी का संचालन अपने हाथ में ले लिया। **अमीन बनानी एवं अरमाजॉनी** के मत में इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण कार्य ट्रांस ईरानियन रेल लाइन का निर्माण था जो तेहरान को कैस्पियन समुद्र तथा पर्शियन खाड़ी दोनों से मिलाती थी। इस परियोजना की सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि इसे पूर्ण करने हेतु कोई विदेशी ऋण नहीं लिया गया।

धार्मिक

ईरान के संविधान के अनुसार देश का राजधर्म इस्लाम था। इसके अनुसार राजा का यह कर्तव्य था कि वह इस्लाम धर्म के प्रचार एवं प्रसार

हेतु कार्य करे। मजलिस को धर्म के विरुद्ध अधिनियम निर्माण का अधिकार नहीं दिया गया था। यद्यपि शाह ईरान के संविधान में परिवर्तन करने में असमर्थ था परन्तु शाह ने ईरान में धार्मिक शक्तियों के प्रभाव को कम करने हेतु अप्रत्यक्ष रूप से कार्य किये। रज़ाशाह ने शाह पद पर आसीन होने के पश्चात् इस दिशा में ठोस कार्य करने प्रारम्भ किये। उसने उलेमाओं की शक्ति कम करने हेतु धार्मिक अनुदानों की व्यवस्था के कार्य को उनसे वापस ले लिया। इस्लाम के कुछ नियमों का पश्चीकरण कर दिया गया। राष्ट्रीय विद्यालयों से धार्मिक शिक्षा का उन्मूलन कर दिया गया। इस्लाम धर्म के परम्परागत धार्मिक कैलेन्डर के स्थान पर फ़ारसी धार्मिक कैलेन्डर का प्रयोग शुरू किया गया तथा कैलेन्डर के दिनों एवं महीनों का फ़ारसी भाषा में नामकरण किया गया। कुछ मस्जिदों में आधुनिकीकरण करके कुर्सियों की व्यवस्था की गई। कुछ प्राच्य मस्जिदों के संग्राहलयों में परिवर्तन कर दिया गया। प्रार्थना हेतु आमंत्रण को रोक दिया गया तथा मक्का भ्रमण को हतोत्साहित किया गया।

मूल्यांकन

यह कहना अनुचित नहीं होगा कि फ्रांस की क्रान्ति से जो सम्बन्ध नेपोलियन का था वही रज़ा ख़ाँ का पर्शिया की क्रान्ति से था। रज़ा ख़ाँ क्रान्ति का पुत्र था तथा क्रान्ति का आलोचक भी था। उसे साधनों की अपेक्षा क्रान्ति के लक्ष्यों में अधिक विश्वास था। यद्यपि रज़ा ख़ाँ को प्रारम्भ में मुस्तफ़ा कमाल की भाँति कठिनाइयों का सामना करना पड़ा परन्तु इसमें किंचित् सन्देह नहीं कि उसने अपने बीस वर्ष के शासन काल में ईरान के आधुनिकीकरण के क्षेत्र में जो भी उपलब्धियाँ प्राप्त कीं वे तुर्की में मुस्तफ़ा कमाल की उपलब्धियों से किसी भी प्रकार कम नहीं थीं।

इन कार्यों हेतु ईरान के प्राचीन इतिहास ने रज़ाशाह को प्रेरणा प्रदान की, उसके सहायक बुद्धिजीवियों ने उसे प्रोत्साहित किया और जनता तथा छात्रों ने उसके कार्यों की सराहना की। रज़ाशाह की शिक्षा कम होने के कारण उसे पश्चिमी देशों की मोह-माया ने अत्यन्त प्रभावित किया परन्तु वह इसके परिणाम से अनभिज्ञ था। इसके उपरान्त भी एलवल सटन के मतानुसार रज़ाशाह ने अपने प्रयत्नों द्वारा ईरान को विश्व के आधुनिक राज्यों की श्रणी में ला दिया। यह उसकी महान् उपलब्धि थी, जिसे ईरान के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित किया जायेगा।

ईरान की विदेश-नीति

आधुनिक ईरान का इतिहास अन्तरराष्ट्रीय शक्तियों की प्रतिस्पर्धा का इतिहास है। उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी के मध्य तक ईरान अन्तरराष्ट्रीय शक्तियों की राजनीति का परीक्षण-केन्द्र बना रहा। इसका प्रमुख कारण ईरान की भागौलिक स्थिति थी। **जॉन मारलो** के मत में यह पश्चिमी राष्ट्रों एवं सुदूरपूर्व के राष्ट्रों के मध्य व्यापारिक मार्ग पर स्थित होने के कारण सदैव अन्तरराष्ट्रीय शक्तियों के लिए एक महत्वपूर्ण व्यापारिक, राजनैतिक एवं सामारिक महत्व का स्थल बना रहा। ईरान में पश्चिमी शक्तियों की अभिरुचियाँ उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में केवल फ्रांस तथा ब्रिटेन तक ही सीमित नहीं रहीं परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में शनैः शनैः रूस ने भी इस क्षेत्र में पदार्पण किया। इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध तक ईरान आंग्ल-रूस संघर्ष का केन्द्र बना रहा; परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के किंचित् पूर्व जर्मनी ईरान को अपना प्रभावक्षेत्र बनाने में सफल रहा।

अरमाजॉनी के विचार में 1807 की फ्रांस और ईरान के मध्य फिंके-स्तीन की सन्धि से फ्रांसीसी प्रभाव का ईरान में प्रादुर्भाव हुआ : जनरल गार्डेन की अध्यक्षता में एक सैनिक शिष्टमण्डल भेजा गया परन्तु नेपोलियन ने रूस के साथ 1907 में 'तिलसिट की सन्धि' करके इस मित्रता को समाप्त कर दिया। ईरानी राजनैतिक प्रभाव क्षेत्र से फ्रांस के तिरोभाव के कारण अब केवल ब्रिटेन एवं रूस ही इस क्षेत्र में रह गये थे। ऐसी परिस्थिति में रूस भी ईरानी पत्तनों को प्रभावग्रस्त करने के लिए बहुत अधिक लालायित था। 1813 में ईरान और रूस के मध्य 'गुलिस्ताँ की सन्धि' हुई तथा 1828 की 'तुर्कमनचाई संधि' ने रूस के प्रभुत्व को ईरान में स्थापित कर दिया। इस सन्धि ने राजनीति में नवीन अध्याय आरम्भ किया क्योंकि इस सन्धि के पश्चात् ईरान पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं रहा। तुर्कमनचाई की सन्धि से लेकर शताब्दी के अन्त तक ब्रिटेन एवं रूस ने ईरान में अपना शनैः शनैः विस्तार आरम्भ किया। रूस उत्तर-पूर्व से विस्तार में रुचि रखता था और ब्रिटेन दक्षिण पूर्व में प्रभावक्षेत्र स्थापित करने का इच्छुक था। ईरान का पूर्ण रूप से संयोजन इस कारण नहीं हो सका क्योंकि आंग्ल-रूस प्रतिस्पर्धा इसमें बाधक सिद्ध हुई। रूस और ब्रिटेन में से कोई देश यह नहीं चाहता था कि ईरान पर इन दोनों में से किसी एक का पूर्ण रूप से राजनैतिक प्रभाव हो। इस पारस्परिक शक्ति-सन्तुलन ने ईरान की अखण्डता को किसी सीमा तक बनाये रखा।

तथापि 1848 में नासिरुद्दीन शाह के सिंहासनारूढ़ होते ही अफ़गानिस्तान समस्या के कारण ईरान का ब्रिटेन से संघर्ष आरम्भ हो गया, परन्तु 1857 में पेरिस में हुई शान्ति सन्धि के द्वारा अफगानिस्तान को स्वतन्त्र मान लिया गया। इस प्रकार ब्रिटेन अपने भारत स्थित राज्य को सुदृढ़ एवं सुरक्षित करने हेतु उत्तर-पश्चिमी सीमा तथा हिन्दुकुश पर्वतीय सीमा में अभिरुचि लेने लगा। इस कारण रूस को मध्य एशिया तथा कैस्पियन सागर के पूर्वी क्षेत्र में विस्तार का अवसर प्राप्त हुआ। रूस ने 1868 में बुखारा, 1873 में खीवा तथा 1870 में खोकंद पर अधिकार कर लिया। 1884 में मार्व की विजय के साथ ही रूस को पूर्वी कैस्पियन सागर क्षेत्र तथा मध्य एशिया के क्षेत्रों का स्वामित्व प्राप्त हो गया। अतः ईरान अतराक नदी को अपनी नवीन सीमा मानने पर बाध्य हुआ। इस प्रकार रूस और ब्रिटेन ने ईरान का अवगुंठन पूर्णरूपेण कर लिया।

ईरान की वैदेशिक नीति का वर्गीकरण मुख्यतया दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

(1) ईरान के पश्चिमी एशिया के अन्य देशों से सम्बन्ध।

(2) ईराक के महाशक्तियों के साथ सम्बन्ध।

लैन्ज़ोविस्की के अनुसार पश्चिमी एशिया के देशों के साथ ईरान ने शान्ति एवं मित्रता की नीति का पालन किया, परन्तु ईरान एवं तुर्की तथा ईरान एवं अफगानिस्तान के मध्य कुछ समस्याओं के कारण मतभेद उत्पन्न हो गया था। 22 अप्रैल, 1926 को सोवियत रूस के प्रोत्साहन पर ईरान, तुर्की तथा अफ़गानिस्तान के मध्य एक सन्धि हुई। इस समझौते के उपरान्त भी कर्दों की समस्या को लेकर ईरान और तुर्की पूर्णरूपेण पारस्परिक सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ रहे। परन्तु 1930 में कर्दों के विद्रोह ने इस समस्या को और अधिक जटिल बना दिया। 1932 में इराक के शाह फ़ैसल ने ईरान का भ्रमण किया जिसके फलस्वरूप सीमा विवाद 1932 में ही समाप्त हो गया। 1934 में ईरान के शाह ने तुर्की का भ्रमण किया और तुर्की-ईरानी मित्रता की भावना को प्रोत्साहित किया। इसके अतिरिक्त 1937 में ईरान, तुर्की, इराक तथा अफ़गानिस्तान ने 'सादाबाद समझौते' पर हस्ताक्षर किये जिससे 'पूर्वी सन्धि' का शिलान्यास किया गया। इस सन्धि के द्वारा सन्धि युक्त देशों ने पारस्परिक परामर्श, सहयोग एवं अनाक्रमण के सिद्धान्तों के प्रतिपालन का वचन दिया।

परसी साइक्स के मत में इराक के अतिरिक्त अन्य अरब देशों के साथ

ईरान के सम्बन्ध कुछ विशेष नहीं थे। इसका मुख्य कारण लेबनान तथा फिलिस्तीन का संरक्षण-पद्धति के अन्तर्गत शासित होना था। मिस्र तथा अरब प्रायद्वीप के देश अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण ईरानी राजनैतिक केन्द्र से दूर थे परन्तु यदा कदा धार्मिक संस्थानों के कारण केवल तीर्थयात्री ही ईरान से अरब क्षेत्रों में जाते थे। इस प्रकार अरब प्रायद्वीप में ईरान ने अपने सम्बन्धों को विस्तृत नहीं किया, परन्तु ईरान के मुख्य राजनैतिक सम्बन्ध महाशक्तियों के साथ बने रहे।

आंग्ल-ईरान सम्बन्ध

ब्रिटेन के साथ ईरान के सम्बन्धों का प्रथम चरण आँग्ल-रूस प्रतिस्पर्धा से आरम्भ होता है। इस प्रथम चरण में, जो 1907 में समाप्त हुआ, प्रत्येक देश ने ईरान में अपनी प्रभुत्व, शक्ति एवं प्रतिष्ठा बनाने का प्रयत्न किया। अपने प्रभाव को स्थायी बनाने हेतु ब्रिटेन ने घूसखोरी को अपने राजनैतिक अस्त्र के रूप में प्रयोग किया जबकि रूस प्रत्यक्ष राजनीति का समर्थक था। ईरान में ब्रिटेन की नीति के द्वितीय चरण की आधारशिला रूस-जापान युद्ध ने रखी। इस युद्ध में रूस ने पराजित होकर अंग्रेजों के साथ सन्धि करने की इच्छा प्रकट की और इस प्रकार 1907 में आँग्ल-रूस समझौता हुआ। **एलवल सटन** के कथनानुसार तथापि ईरान के ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध प्रगाढ़ मित्रता के नहीं थे, परन्तु अन्य देशों की अपेक्षा वह ब्रिटेन के अधिक निकट था। इसके मुख्य कारण ब्रिटेन की भारत एवं इराक़ में उपस्थिति, पर्शिया खाड़ी में ब्रिटिश प्रभाव एवं खुज़िस्तान में आँग्ल-ईरानी तेल कम्पनी का होना था।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ईरान में ब्रिटिश विदेश-नीति के दो मुख्य उद्देश्य थे :—

(1) पर्शिया की खाड़ी में रूसी प्रभाव को सीमित करना।

(2) ईरान में स्थित ब्रिटिश तेल क्षेत्रों की सुरक्षा करना।

1905 में जापान द्वारा पराजय के पश्चात् आंग्ल-रूस प्रतिस्पर्धा को समाप्त करने हेतु 1907 में रूस और ब्रिटेन के मध्य एक सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। इस सन्धि के अनुसार रूस और ब्रिटेन ने ईरान को अपने अपने प्रभाव क्षेत्रों में विभक्त कर लिया। इसमें उत्तरी भाग पर रूस का एवं दक्षिणी भाग पर ब्रिटेन का प्रभाव-क्षेत्र माना गया। दोनों देशों ने ईरान की स्वतन्त्रता को बनाये रखने का आश्वासन दिया। इसके अतिरिक्त दोनों देशों ने पार-

स्परिक प्रभाव क्षेत्रों में अहस्तक्षेप नीति के परिपालन का वचन दिया। इस समझौते में किसी भी प्रकार ईरान से कोई परामर्श नहीं लिया गया।

आंग्ल-रूस समझौते का प्रभाव इन दो महाशक्तियों के लिए ईरान में द्वि-रूपी था। ग्रेट ब्रिटेन की लोकप्रियता तथा प्रभाव पर्शिया पर पूर्णरूपेण था क्योंकि पर्शिया की सरकार यह समझती कि ब्रिटेन, ईरान की स्वतन्त्रता तथा अखण्डता बनाये रखने में पूर्ण रूप से प्रयत्नशील है। इसके विपरीत रूस की प्रत्येक गतिविधि को ईरान में सन्देहात्मक समझा जाता था। इस प्रकार 1907 के आंग्ल-रूस समझौते ने पर्शिया को दो प्रभाव क्षेत्रों में विभाजित कर एक नवीन राजनैतिक स्थिति का उद्‌भव किया। इस नवीन राजनैतिक विचारधारा के अनुसार अब केवल रूस की ही गतिविधियाँ सन्देहात्मक नहीं रहीं, बल्कि ब्रिटेन के प्रति भी इसी दृष्टिकोण की पुष्टि की गई। इस प्रकार ग्रेट ब्रिटेन को ईरान के विश्वासपात्र मित्र और संरक्षक की संज्ञा से मुक्त कर दिया गया। तत्पश्चात् ईरान ने जर्मनी के साथ मैत्री कर अपनी पारस्परिक राजनीति में एक नवीन अध्याय को समाविष्ट किया। इस सन्दर्भ में यह बताना आवश्यक होगा कि सर परसी साइक्स ने लिखा है कि पर्शिया ने अपने इस नवीन चरण को अपनी प्राच्य लोकोक्ति पर आधारित किया। सूक्ति के अनुसार शत्रु तीन प्रकार के होते हैं—(1) शत्रु, (2) शत्रु के मित्र तथा (3) मित्र के शत्रु। इस आधार पर उपर्युक्त इतिहासकार ने पर्शिया-जर्मन मैत्री की नींव रखी।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् रूस ने ईरान के प्रति अपनी विस्तारवादी नीति का पालन आरम्भ कर दिया तथा ब्रिटेन की स्थिति युद्ध के पश्चात् ईरान में और अधिक सुदृढ़ हो गयी। इस अप्रायिक स्थिति ने ईरान को ब्रिटेन के साथ गठबन्धन करने पर बाध्य किया। इसका एक कारण 1917 की रूस की क्रान्ति थी जिसने रूस की विस्तारवादी नीति को समाप्त कर रूस के प्रभाव को ईरान में कम कर दिया। इस स्थिति ने ईरान में ब्रिटेन की राजनीति के तृतीय चरण को जन्म दिया।

दिसम्बर, 1918 में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने ईरान से ब्रिटिश-सेना के निष्क्रमण की योजना को अनुमोदित कर दिया, परन्तु ब्रिटिश बिदेश-मन्त्री लार्ड कर्जन ने अपने सहयोगियों को विश्वासोत्पादक तर्कों द्वारा इस बात का आश्वासन दिलाया कि यदि ईरान के साथ एक सन्धि कर ली जाय तो इससे ब्रिटेन को ईरान में प्रभावशाली स्थान प्राप्त होगा जो ईरान की स्वतन्त्रता को बनाये रखने में सहायक सिद्ध होगा।

लार्ड कर्जन के अथक प्रयासों के परिणामस्वरूप 9 अगस्त, 1919 को लन्दन में ईरान के साथ एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये। इसके मुख्य प्राविधान निम्नलिखित थे :

(1) ब्रिटेन ने पर्शिया के विकास के लिए परामर्श-सहयोग देना स्वीकार कर लिया जिसका व्यय ईरान वहन करेगा।

(2) ग्रेट ब्रिटेन पर्शिया की सेना को संगठित एवं प्रशिक्षित करने का कार्य करेगा जिसका व्यय ईरान सरकार वहन करेगी।

(3) ग्रेट ब्रिटेन ने पर्शियन संचार प्रणाली को सुव्यवस्थित करने का आश्वासन दिया।

इस सन्धि का पर्शिया के राष्ट्रवादियों द्वारा खुला विरोध किया गया, क्योंकि इस सन्धि से पर्शिया को एक प्रकार से आरक्षित राज्य बनाने की चेष्टा की गई थी। पर्शिया की मजलिस ने भी इस सन्धि का अनुमोदन करने से इन्कार कर दिया, जिसके फलस्वरूप ब्रिटिश सैनिक एवं आर्थिक शिष्ट-मण्डलों को पर्शिया से वापस जाना पड़ा। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश सैनिक व्यवस्थापन का ईरान से प्रत्याहार किया गया। इसके उपरान्त भी इस सन्धि ने ईरान में ब्रिटिश प्रभाव को शिखर पर पहुँचा दिया था परन्तु इसके पश्चात् धीरे-धीरे ब्रिटिश प्रभाव का ह्रास होने लगा। इसके तीन मुख्य कारण थे––(अ) राष्ट्रवादियों ने इसका विरोध किया, (ब) मजलिस ने इसे अनुमोदित करने से इन्कार कर दिया, और (स) 1921 में रजाशाह पहलवी ने इसकी पूर्णरूपेण अवहेलना कर दी।

तथापि ब्रिटेन ने ईरान में दो प्रकार के कूटनीतिक सम्बन्ध बनाये रखे थे :––

(1) तेहरान में अपने दूतावास द्वारा ब्रिटेन ईरान सरकार से सम्पर्क स्थापित करता था।

(2) ब्रिटेन अपने स्थानीय प्रतिनिधियों द्वारा शक्तिशाली ईरानी जन-जातियों* से विनिमय वार्ता कार्य में संलग्न था।

रजाशाह के सिंहासनारूढ़ होने पर आंग्ल-पर्शिया सम्बन्ध का चतुर्थ अध्याय आरम्भ हुआ। 1927 में ईरान और ब्रिटेन के मध्य तेल से परिपूर्ण बहरीन द्वीप को लेकर संघर्ष उत्पन्न हो गया। ईरान ने बहरीन पर अपनी प्रभुसत्ता बनाई जिसको ब्रिटिश सरकार ने मानने से इन्कार कर दिया। पीटर एवरी के कथन में 1928 में पर्शिया और ब्रिटेन के मध्य निम्नलिखित समस्याओं को लेकर मतभेद हो गया।

*इन जन-जातियों में लर, कर्द तथा बख्तियारी प्रमुख थीं।

(1) पर्शिया ने ब्रिटिश वायुयानों को पर्शिया के तटीय क्षेत्रों के ऊपर से उड़ानें भरना मना कर दिया एवं रूस और जर्मनी के साथ हवाई सन्धियाँ सम्पन्न कर लीं।

(2) रज़ाशाह पहलवी ने मोहमेरा के शेख ख़ज़ल के प्रभाव को समाप्त करने का निश्चय किया। शेख लख़ज़ ब्रिटिश सरकार का आश्रित था इसलिए ब्रिटिश सरकार को रज़ाशाह की नीति से विरोध उत्पन्न हुआ।

(3) ब्रिटेन ने ईरान से युद्ध काल में निर्मित दक्षिण पर्शियन सेना* पर व्यय हुई धनराशि की माँग प्रस्तुत की।

(4) ईरान ने ब्रिटिश नियंत्रित इराक सरकार को मान्यता देने से इनकार कर दिया।

16 मई 1928 की आंग्ल-पर्शियन सन्धि ने इन समस्त समस्याओं का समाधान कर दिया। इस सन्धि ने दोनों देशों के मध्य सामान्य सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा का प्रयास किया परन्तु यह सन्धि अधिक समय तक स्थिर न रह सकी। इस सन्धि द्वारा पर्शिया में रहनेवाले ब्रिटिश नागरिकों को सुरक्षा प्रदान की गई। दिसम्बर, 1928 में पर्शिया तथा ब्रिटिश साम्राज्यिक एयरलाइन्स के मध्य एक समझौता हुआ। एलवल सटन ने लिखा है है कि उसी वर्ष रज़ाशाह खुज़िस्तान के भ्रमण पर गया जहाँ उसे एक नवीन यातायात मार्ग का उद्घाटन करना था। इसी समय आंग्ल-पर्शियन तेल कम्पनी ने शाह को तेल संस्थान का निरीक्षण करने का आमंत्रण दिया परन्तु शाह ने आमन्त्रण अस्वीकार कर दिया और कहा कि कम्पनी ईरान को जो 'अल्प धन' अपने तेल के लाभ में से देती है वह पूर्णतः असंतोषजनक है। शाह ने इसके अतिरिक्त पूर्व-निर्धारित सुविधाओं को भी समाप्त करने की इच्छा प्रकट की। ब्रिटेन ने इसके विरोध में पर्शिया की खाड़ी में एक युद्ध-पोत भेज दिया था इस समस्या को राष्ट्रसंघ की समिति में ले जाया गया। तदुपरान्त एक पारस्परिक सन्धि के द्वारा तेल सुविधाओं की अवधि 60 वर्षों के लिए कर दी गई जिससे ईरान के राजस्व में एक विशेष वृद्धि हुई। धीरे-धीरे इस कम्पनी के कर्मचारियों का ईरानीकरण करने का प्रयत्न होने लगा। इसके पश्चात् दोनों देशों के सम्बन्ध साधारण रहे और धीरे-धीरे ब्रिटिश प्रभाव

* दक्षिण पर्शियन सेना (साउथ पर्शियन राइफ़ल्स) वह सेना थी जो अँग्रेजों ने प्रथम विश्वयुद्ध के समय दक्षिण पर्शिया की रक्षा हेतु निर्मित की थी। इसके निर्माण के समय पर्शिया ने व्यय वहन करने का आश्वासन दिया था।

का ह्रास हुआ।

रूस-ईरान सम्बन्ध

एल्फ्रेड डेनिस ने रूस के साथ सम्बन्धों की व्याख्या करते हुये लिखा है कि ईरान में रूसी नीति सदा नितान्त स्पष्ट रही। रूस ने अपने राजनैतिक एवं आर्थिक साम्राज्यवाद के लक्ष्यों को कभी परोक्ष रूप में क्रियान्वित नहीं किया। 1917 से पूर्व ईरान में रूस की नीति का मुख्य ध्येय साम्राज्य-विस्तार एवं आर्थिक शोषण था, परन्तु 1917 की रूसी क्रान्ति के पश्चात् इस नीति में आकस्मिक परिवर्तन हुआ। रूस की ईरान में नीति को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(1) राजनैतिक सम्बन्ध तथा (2) आर्थिक सम्बन्ध।

राजनैतिक सम्बन्ध

रूस की ओर से ईरान से मित्रता स्थापित करने का प्रथम प्रयास 14 जनवरी, 1918 को किया गया जब रूसी सरकार ने एक विज्ञप्ति के द्वारा ईरानी प्रभुसत्ता के विरुद्ध ज़ार के विशेषाधिकारों को समाप्त करने की इच्छा प्रकट की। इसी विज्ञप्ति में ब्रिटिश तथा तुर्की के सैनिकों का ईरान से निष्क्रमण करने में रूस ने सहायता का वचन दिया। इस रूसी घोषणा ने स्पष्ट कर दिया कि रूस 1907 के आंग्ल-रूस समझौते को मान्यता प्रदान करने के लिए बाध्य नहीं था। इसके अतिरिक्त यह घोषणा भी की गई कि भविष्य में ईरान और रूस के मध्य समस्त समझौते "मुक्त संधि एवं पारस्परिक सम्मान के आधार पर होंगे।

26 जून, 1919 को रूस नीति को और अधिक व्याख्यात्मक रूप से स्पष्ट किया गया जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित घोषणा की रूपरेखा प्रस्तुत की गई :—

(1) ईरान पर रूस के ऋणों को समाप्त कर दिया गया।

(2) सीमा शुल्क एवं संचारण प्रशासन व्यवस्था में रूसी विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया गया।

(3) रूसी मितिकाटा (डिसकाउन्ट) बैंक को ईरानी सम्पत्ति घोषित कर दिया गया।

(4) ईरान में रूसी नागरिकों की व्यक्तिगत एवं नागरिक सुविधाओं को समाप्त कर दिया गया।

(5) समस्त सड़कें, पत्तन, संयंत्र, रेल एवं अन्य व्यवस्थापनों को

ईरान की सम्पत्ति घोषित कर दिया गया।

(6) सन्धि पत्रों को अकृत घोषित कर दिया गया।

रूस की सरकार ने अपनी इस उदारवादी नीति के द्वारा ईरान को प्रभावित करने का प्रयत्न किया परन्तु रूस को विशेष सफ़लता प्राप्त न हो सकी। तथापि ईरान ने रूस के निर्णय का स्वागत किया परन्तु ईरानी सरकार के मतानुसार प्रथम विश्वयुद्ध के मध्य ईरान की तटस्थता के उपरान्त भी हुई क्षति की पूर्ति हेतु तत्कालीन रूसी दृष्टिकोण अत्यधिक महत्वपूर्ण न था। उपर्युक्त नीति का विश्लेषण करते हुए जार्ज लेन्जोविस्की ने कहा है, कि रूसी नीति स्वयं में रूस की निर्बलता की द्योतक थी और ऐसे परोक्ष आन्तरिक अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में मैत्री का वातावरण उत्पन्न करने में असमर्थ थी।

1920 में ईरान की स्थिति विकृत थी क्योंकि संवैधानिक सरकार न तो सुदृढ़ थी तथा न ही संवैधानिक थी। रज़ाशाह पहलवी ने 1921 की सैनिक क्रान्ति के द्वारा इस स्थिति को समाप्त कर दिया तथा इसके पांच दिन उपरान्त रूस-ईरान सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। इस सन्धि द्वारा :—

(1) जिलान से रूसी सैनिकों को हटा लिया गया।

(2) रूसी बोल्शेविक सरकार ने साम्राज्यवाद विरोधी एवं प्रति-उपनिवेशवाद की नीति की घोषणा कर दी जो 1919 के रूसी-ब्रिटिश समझौते के विरुद्ध थी।

(3) रूस ने अपनी समस्त सुविधाएँ एवं सम्पत्ति को ईरान वापस करने का निर्णय लिया तथा ईरानी सरकार को स्पष्ट इंगित कर दिया कि उपर्युक्त सुविधाएँ किसी अन्य विदेशी शक्ति को प्रदान नहीं की जायेंगी।

इस सन्धि के अनुच्छेद छह (6) ने ईरान के लिए द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य समस्या उत्पन्न कर दी। इस अनुच्छेद के अनुसार यदि कोई तीसरी शक्ति रूस पर आक्रमण के लिए ईरानी क्षेत्र का प्रयोग करेगी तो रूस को ईरानी क्षेत्र में सैनिक कार्यवाही करने का पूर्ण अधिकार होगा। इस अनुच्छेद का द्वितीय विश्वयुद्ध में प्रयोग किया गया और रूस ने सितम्बर 1941 में ईरान पर आक्रमण कर दिया।

इसके अतिरिक्त रूसी-पर्शियन (ईरानी) सन्धि की एक विशेष धारा के अनुसार अंग्रेजी एवं अमरीकी निगमों को सुविधाएँ प्रदान करने के लिए मना कर दिया गया। 1924 में इस समझौते को ईरान द्वारा अमेरिका एवं ब्रिटेन को सुविधाएँ देने के विरोधस्वरूप समाप्त कर दिया गया।

इस प्रकार रज़ाशाह पहलवी के सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् रूस की

पर्शियन नीति में मूल परिवर्तन हुआ। 1926–1927 के पश्चात् रूस का व्यवहार शान्त एवं गम्भीर हो गया था। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में इसने नकारात्मक एवं विद्रोही स्वरूप धारण कर लिया। यह परिवर्तन रूस की आशाओं पर ईरानी नीति के तुषारपात के कारण हुआ।

आर्थिक सम्वन्ध

जे० बैरियर के मतानुसार ईरान में रूस के आर्थिक सम्बन्ध जार की परम्परावादी नीतियों एवं नयी रूसी नीतियों के सम्मिश्रण पर आधारित थे। रूस की इस नीति के दो मुख्य ध्येय थे।

(1) ईरान में रूसी आर्थिक एकाधिकार की स्थापना एवं पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों के व्यापारिक घुस-पैठ को रोकना; तथा

(2) उत्तरी ईरान को पूर्ण रूप से रूस पर निर्भर बनाना।

इसके अतिरिक्त रूसी ईरानी व्यापार पारस्परिक संघर्ष का एक अन्य कारण था। रूसी राजदूत पेट्रोव्स्की ने इन सम्बन्धों का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है––"पर्शिया का उत्तरी क्षेत्र समस्त रूप से रूस पर निर्भर है तथा उत्तरी भाग में निर्यात हेतु वस्तुओं के लिए केवल रूस से ही व्यापार सम्भव है। यदि हम रूसी वस्तुओं का क्रय बन्द कर दें तो पर्शिया एक मास में ही दिवालिया हो जायगा। इस रूसी व्यापारिक शक्ति की तुलना में ब्रिटेन की शक्ति नगण्य है।"

1920 में जब उत्तरी ईरान पर रूसी एकाधिकार स्थापित हो गया तो 1923 में एक सरकारी पत्र "पूर्वी व्यापार के सिद्धान्त" में रूस के पूर्वी देशों के साथ व्यापार के नियमों की व्याख्या की गयी। इसके अनुसार :

(1) रूसी औद्योगिक वस्तुओं को पूर्वी देशों के कच्चे माल से बदला जायगा।

(2) पूर्वी व्यापारियों को व्यक्तिगत रूप से अपनी वस्तुओं को रूस को बेचने की अनुमति दी जायेगी।

(3) रूस पूर्वी देशों के साथ सुविधाजनक व्यापार सन्तुलन पर बल नहीं देगा।

(4) रूस पूर्वी मिश्रित कम्पनियों को प्रोत्साहन देगा।

(5) रूसी औद्योगिक वस्तुओं को पूर्वी देशों में पश्चिमी देशों की अपेक्षा कम दामों पर बेचा जायगा।

रूस ने अपने इस आर्थिक अस्त्र का सर्वप्रथम उपयोग 1926 में कैस्पियन

सागर में मछली मारने के अधिकार को लेकर किया। 1926 में मत्स्य-समस्या को लेकर रूस ने ईरानी वस्तुओं के आयात पर 'पोत अधिरोध' की घोषणा कर दी जिससे र्शिया के उत्तरी प्रान्तों को अत्यधिक हानि हुई। इस पोत अधिरोध का अन्त 1927 में मत्स्य सम्मेलन के द्वारा हुआ। यद्यपि इस सम्मेलन में समानता के सिद्धान्त को मान्यता दी गयी थी परन्तु रूसी एकाधिकारिक दृष्टिकोण के कारण रज़ाशाह ने अपना ध्यान जर्मनी की ओर केन्द्रित कर दिया।

जर्मन-ईरान सम्बन्ध

रूसी एवं ब्रिटिश कूटनीति से आतंकित होकर तथा हिटलर की निरंकुशता से प्रभावित रज़ाशाह पहलवी ने अपना ध्यान जर्मनी की ओर केन्द्रित कर दिया। 1928 के पश्चात् ईरान ने जर्मन तकनीकी एवं आर्थिक सुविधाओं से लाभान्वित होना आरम्भ किया। विभिन्न क्षेत्रों में विकास कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के हेतु जर्मन अभियन्ताओं एवं प्राविधिज्ञों को र्शिया में आमंत्रित किया गया। 1935 में जर्मनी और ईरान के मध्य क्षति पूर्ति एवं बैंक सेवाओं के बारे में एक समझौता हुआ जिसने दोनों देशों के मध्य व्यापारिक सम्बन्धों को सुदृढ़ कर दिया। परिणामस्वरूप 1941 तक 40 प्रतिशत से अधिक ईरानी व्यापार जर्मनी के साथ हो रहा था। इसके अतिरिक्त ईरान में रहने वाले जर्मनों की संख्या में वृद्धि हुयी और जर्मन प्रभाव ईरान में प्रतिपादित होने लगा।

इसके अतिरिक्त ईरानी शिक्षा का कार्यभार जर्मन शिक्षकों द्वारा क्रियान्वित होने लगा। इस जर्मन शिक्षा का प्रभाव देश में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगा और विशेषकर ईरान की स्थापत्य कला पर यह अधिक प्रभावशाली प्रतीत हुआ। इसके साथ ही नाजी युवा-नेता वॉन शीराह के ईरान भ्रमण ने दोनों देशों के सम्बन्धों को और पुष्ट किया तथा नाजी प्रचारतन्त्र ने दोनों देशों की जनता को आर्यों का सीधा उत्तराधिकारी घोषित किया। इससे युवा वर्ग में नाजी पद्धति पर आधारित स्काउट आन्दोलन का उद्भव हुआ जो नाजी युवा आन्दोलन के समरूप था। रज़ाशाह ने जर्मन सरकार को साम्यवाद के विरुद्ध सर्वोपरि सुरक्षा के हित में माना।

1939 में विश्वयुद्ध की घोषणा के पश्चात् ईरान ने अपने को एक तटस्थ राज्य घोषित कर दिया परन्तु रूस तथा ब्रिटेन ने संयुक्त होकर जर्मनी को ध्वस्त कर दिया। ईरान को इसमें विवश होकर सहयोग करना

पड़ा। इसके पश्चात् ईरान में एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ।

द्वितीय विश्वयुद्ध का आरम्भ होने के पश्चात ईरान ने अपनी तटस्थता की घोषणा कर दी। ईरान का अधिकारी-तंत्र मुख्यत: जर्मनी का समर्थक था, तथा जर्मनी से रूस के माध्यम से होने वाले व्यापार में काफी वृद्धि हो चुकी थी। अत: ईरान और जर्मनी के मध्य सन्धि से दोनों देशों को हानि थी क्योंकि इस सधि द्वारा ईरान के व्यापार में रुकावट पड़ सकती थी और जर्मनी ईरान में ब्रिटिश नीतियों के कारण अपने एक अमूल्य रसद-भंडार से वंचित हो सकता था। इसलिए ईरान ने बाध्य होकर तटस्थता की घोषणा कर दी परन्तु इसी मध्य ईरान में जर्मनी के बने सामान तथा जर्मनी से आने वाले यात्रियों का आगमन त्वरित हो गया था।

सी० थॉर्न के आधार पर जून 1941 में जर्मनी के रूस पर आक्रमण ने तत्कालीन परिस्थितियों में पूर्ण परिवर्तन कर दिया। ब्रिटिश सरकार ने रूस की सहायता के लिए ईरान को रसद मार्ग बनाने का निश्चय किया। अत: 19 जुलाई को रूसी एवं ब्रिटिश राजदूतों ने एक संयुक्त विज्ञप्ति में ईरानी सरकार से रसद पहुँचाने के कार्य के लिए उसका क्षेत्र प्रयोग करने की अनुमति माँगी किन्तु ईरान की सरकार ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। अतएव 19 अगस्त को दोनों सरकारों ने ईरानी सरकार से जर्मन विध्वंसकारी शक्तियों को राष्ट्र से बाहर निकालने की तथा आयुध सामग्री को रूस भेजने की माँग की एवं उपर्युक्त आशय हेतु एक चेतावनी पत्र रजाशाह को दिया। इसी के साथ रूसी तथा ब्रिटिश रेडियो पर ईरान विरोधी प्रचार शुरू कर दिया गया तथा यह आरोप लगाया गया कि ईरान बड़ी संख्या में जर्मन विध्वंसकारी तत्वों को शरण दे रहें हैं। इन तथाकथित आरोपों से ईरानी सरकार बहुत ही क्षुब्ध एवं उत्तेजित हो गयी, जिसके परिणामस्वरूप उसने रूसी और ब्रिटिश माँगों को अस्वीकार कर दिया।

अत: 25 अगस्त को दोनों देशों की सरकारों ने ईरान के वक्तव्य पर चिंता व्यक्त की तथा कहा कि मित्र राष्ट्रों को ईरानी क्षेत्र की प्रादेशिक अखंडता तथा स्वतंत्रता में कोई रुचि नहीं है तथा मित्रराष्ट्र एकपक्षीय निर्णय लेने के लिए बाध्य हैं। तदुपरान्त अगले दिन रूसी तथा ब्रिटिश सैनिकों ने ईरान पर आक्रमण कर के कुछ ही दिनों में उसको अपने आधिपत्य में कर लिया। इस आकस्मिक घटना के फलस्वरूप 27 अगस्त को अली मंसूर की सरकार ने इस्तीफा दे दिया तथा शाह ने मोहम्मद अली फ़ारूक़ी को नई सरकार का प्रधान नियुक्त किया। 28 अगस्त को प्रधान मंत्री ने सेना को प्रतिरोध समाप्त करने की आज्ञा दी। इसी के साथ तेहरान में सैनिक शासन

तथा घेरेबन्दीं की घोषणा कर दी तथा मार्शल अहमदी को तेहरान का सैनिक राज्यपाल नियुक्त कर दिया गया। तत्पश्चात् 30 अगस्त को एक समानांतर विज्ञप्ति में, जो ईरानी सरकार को रूसी और ब्रिटिश सरकार ने दी थी, माँग की गई कि ईरान से जर्मनों को दो सप्ताह के अन्दर, बाहर निकाल दिया जाय तथा सैनिक आयुधों के परिवहन हेतु रेल, वायु एवं अन्य माध्यमों की सुविधाएँ प्रदान की जायँ। एक दिन बाद 31 अगस्त को ब्रिटिश सरकार ने ईरान की सरकार से माँग की कि ईरान में उपस्थित जर्मनों को ब्रिटिश सैनिकों के हवाले कर दिया जाए। जे वीलर बैनेट के अनुसार इसके उत्तर में ईरानी सरकार ने विवश होकर 1 सितम्बर को मित्रराष्ट्रों की माँगों को स्वीकार कर लिया तथा मित्रराष्ट्रों के समक्ष निम्नलिखित माँगें रखीं :––

(1) खोरामाबाद, दिजफुल से ब्रिटिश सैनिकों की एवं काज़्विन, सिमनान, तथा शाहरूद से रूसी फौजों की वापसी तथा किरमन-शाह में ईरानी फौजों की उपस्थिति की माँग की।

(2) अधिपति सेना का ईरानी जनता से कम से कम सम्बन्ध रहे।

(3) ईरानी जान-माल की हानि के लिए मुआवज़ा माँगा तथा छीने गये हथियार एवं गोला-बारूद, हथियार की वापसी की माँग की।

इसी प्रकार 6 सितम्बर को मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी, इटली, रूमानिया तथा हंगरी के दूतावासों को तथा उनकी सुविधाओं को रद्द करने की माँग की। ब्रिटिश सरकार ने यद्यपि ईरानी प्रदेशों को खाली करने, गोला-बारूद, हथियार तथा अधिकृत ईरानी प्रदेशों में ईरानी शासन की माँग को स्वीकार कर लिया परन्तु रूसी सरकार ने किसी भी क्षेत्र को खाली करने की माँग अस्वीकृत कर दी जिसके परिणामस्वरूप रूसी सेना का ईरानी सेना से पार्थक्य स्वीकार कर लिया गया तथा कवीत्र खुरियन के प्रश्न को सुलझाने के कार्य में ईरानी प्रयासों की सराहना की गई तथा इसने किसी भी प्रकार का मुआवज़ा देने से इन्कार कर दिया। इन समस्त कार्य-कलापों के उपरान्त सितम्बर 8 को ईरानी सरकार ने मित्रराष्ट्रों की माँगों को स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात ईरानी सरकार से बलगारिया का दूतावास बंद करने की तथा बाद में इस बात की माँग की गई कि ईरान सभी धुरी (ऐक्सिस) राष्ट्रों से राजनैतिक संबंध विच्छेद कर ले।

16 सितम्बर को रज़ाशाह पहलवी ने ईरान की गद्दी मुहम्मद रज़ा पहलवी को सौंप दी तथा मजलिस ने उसी दिन मुहम्मद अली को शासक घोषित कर दिया, परन्तु इसी मध्य 17 सितम्बर को रूसी तथा ब्रिटिश

सैनिकों ने तेहरान पर अधिकार कर लिया। यह अधिकार मुख्यतया जर्मन प्रभाव को रोकने के लिए किया गया था। नये शाह के समय ईरान तीन भागों में विभक्त था—प्रथम ब्रिटिश, जिसमें दक्षिणी तथा मध्य क्षेत्र शामिल थे, द्वितीय तटस्थ क्षेत्र, जिसमें तेहरान तथा मशेद शामिल थे तथा तृतीय, रूसी क्षेत्र, जिसमें एजबेनान, गिलान, एस्तराबाद तथा खुरासान के प्रदेश शामिल थे।

29 जनवरी, 1942 को ईरान, रूस और ब्रिटेन के मध्य त्रिराष्ट्रीय सन्धि के द्वारा राजनैतिक स्थिति की पुष्टि की गयी। इसके अनुसार रूस और ब्रिटेन ने ईरान को किसी अन्य शक्ति के द्वारा आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षा एवं ईरानी प्रादेशिक अखंडता एवं स्वतन्त्रता की रक्षा का वचन दिया। युद्ध समाप्ति के छह मास के अन्दर ईरानी क्षेत्रों को खाली करने का वचन भी दिया गया। ईरान ने मित्रराष्ट्रों के साथ सहयोग करने का वचन दिया तथा मित्रराष्ट्रों की सेनाओं की इरान में उपस्थिति स्वीकार कर ली बशर्ते यह सैनिक अधिकार न हो या यह शासन और ईरानियों की आर्थिक जिन्दगी को आन्दोलित न करे। अत: 1942 के अन्त तक करीब 30,000 अमरीकी सैनिक रसद पहुँचाने के कार्य को तीव्रतर से करने के लिए ईरान पहुँच गये।

इस प्रकार समस्त घटनाओं ने इरानियों को स्तब्ध कर दिया तथा उनकी देश की कमजोरी एवं सुरक्षा के लिए जर्मनी पर निर्भरता के भ्रम को तोड़ दिया। अतएवं सितम्बर 1943 में ईरान ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 1943 में मित्र राष्ट्रों ने बिना इरान से परामंश किये हुये तेहरान में एक सम्मेलन का निर्णय ले लिया। यह सम्मेलन नवम्बर में ब्रिटिश रूसी तथा अमेरिकी नेताओं के मध्य हुआ। इस प्रकार ईरान की घोषणा द्वारा तीनों देशों के नेताओं ने मित्रराष्ट्रों के युद्ध प्रयासों में इरानी सहायता की प्रशंसा की, ईरान की प्रादेशिक अखंडता तथा स्वतन्त्रता की रक्षा एवं ईरान की आर्थिक सहायता का वचन दिया गया। 1945 के पूर्वार्ध में रूस ने ईरान पर आक्रमण कर उसके महत्वपूर्ण तेल क्षेत्र अजरबैजान पर अधिकार कर लिया परन्तु शीघ्र ही राष्ट्रसंघ की मध्यस्थता से रूसी सेना उपर्युक्त क्षेत्र से हटा ली गयी और इरान का भविष्य किंचित् सुखद प्रतीत होने लगा।

पी० गोडेला के अनुसार युद्धकाल में ईरानी विदेश नीति की व्याख्या एक मिथ्या प्रयास ही है। रूस तथा ब्रिटिश सैनिक आधिपत्य में ईरान की स्वतन्त्रता सीमित कर दी गयी थी। वह मित्रराष्ट्रों के युद्ध-प्रयासों में बाधा

उत्पन्न कर सकता था परन्तु यह नीति आत्मघातक होती। इसी सीमित क्षेत्र में ईरान की विदेश नीति उसकी आन्तरिक स्थिति से सम्बन्धित थी।

आधुनिक ईरान

अपने पिता के राज्य त्याग के पश्चात मुहम्मद रजा शाह के ईरान पर सिंहासनारूढ़ होने के समय ईरान की स्थिति अराजकता से परिपूर्ण थी। उस समय ईरान में कोई राजनैतिक संगठन अथवा संरचना यथार्थ रूप में नहीं थी अर्थात राजनैतिक दल, संसद, आदि का अभाव था। कजारवंश की राजकीय सत्ता पहलवी वंश के अन्तर्गत निरंकुश शासन में परिवर्तित हो गयी थी। राज्य सत्ता केवल शासक में निहित थी अर्थात देश की नीति और न्याय व्यवस्था शासक के निर्णय पर निर्भर थी। ईरान में संविधान आन्दोलन 'तम्बाकू सुविधाओं' घटना से आरम्भ हुआ। ईरान की राजनीति में बाजार, कहवे खानों तथा क्रीड़ा भवनों ने एक महत्वपूर्ण योगदान दिया। ये स्थान राजनैतिक गोष्ठियों एवं परिचर्चा के माध्यम थे। उलेमा लोग स्वयं में एक सशक्त संगठन थे; क्योंकि धर्म संस्थाओं से संलग्न भूमि से आर्थिक दृष्टि से उलेमा वर्ग शक्तिशाली हो गया था। उलेमा लोगों ने धार्मिक स्थानों को मध्यम वर्ग के राजनैतिक अस्त्र में परिवर्तित करने हेतु उनमें धार्मिक अन्धविश्वास का समावेश किया। इस तथ्य की अभिपुष्टि रजा शाह के कार्य से हो जाती है। जब शाह ने धार्मिक स्थानों से संलग्न सम्पत्ति को उलेमा लोगों की शक्ति क्षीणता के लिये हस्तगत करना आरम्भ किया, फलस्वरूप धार्मिक अधिष्ठाताओं ने विद्रोह का नारा दिया। उलेमा लोगों ने कृषक वर्ग, व्यापारी, तथा स्वयं की आर्थिक सहायता से शासन का विरोध-करना आरम्भ किया। यह आन्दोलन इतना सशक्त होता गया कि इसने ईरान के प्रत्येक वर्ग को प्रभावित कर अन्ततः 1979 में मुहम्मद रजा शाह आर्य मेहर के पतन को वास्तविकता प्रदान कर दी। निस्संदेह ईरान के याजक वर्ग (धार्मिक नेताओं) ने 'आर्य मेहर' के पतन में स्पष्ट कर दिया कि इस्लामिक क्रान्ति किसी शासक की शक्ति से अधिक क्रिया शील थी और याजक (उलेमा) वर्ग ने अपनी खोई हुई आर्थिक एवं राजनैतिक सत्ता पुनः प्राप्त कर ली।

मोहम्मद रजा शाह ने मजलिस (संसद) की स्थापना करने के पश्चात इस प्रकार की व्यवस्था की, कि सिर्फ उनके ही आदमियों का मजलिस में चुनाव हो जो कि बाद में उनकी कठपुतिलियाँ बन जाये। रजाशाह ने चुनावों को अनैतिक रूप से प्रभावित किया। अन्ततः दो राजनैतिक पार्टियाँ राष्ट्रीय

स्तर पर सामने आई । प्रथम 'इरादा-ए-मिल्क' जो कि दक्षिणपंथी थी तथा अंग्रेजों के द्वारा समर्थित थी । इस दल का कार्य संसद के अंदर एवं बाहर ब्रिटिश इच्छाओं की परिपूर्ति था । दूसरा दल वामपंथी था, जिसको लोकतांत्रिक दल कहा जाता था; जो बाद में 'तुदे' दल के नाम से प्रसिद्ध हुआ, यह दल रूस द्वारा समर्थित था। इन दोनों दलों के पारस्परिक संघर्ष के कारण मजलिस नितान्त कार्य रहित हो गई । और इसका परिणाम ईरान में शीघ्रातिशीघ्र शासन परिवर्तन के रूप में हुआ ।

ईरान के इस युग के डॉ० मुसद्दिक और कावाम अल-सल्तेनेह दो मुख्य प्रधानमन्त्री हुये । इन दोनों राजनितिज्ञों का ध्येय ईरान को आंग्ल-रूस के गठबन्धन से मुक्त करना था । परन्तु इनके अथक प्रयत्नों के पश्चात भी संसद में मतभेद होने के कारण यह लोग सफल न हो सके । इसका लाभ उठाकर रजा शाह ने शक्ति एवं अधिकार अपने में निहित कर लिये । और अपने चाटुकारों एवं रिशतेदारों को सरकारी उच्च पदों पर आसीन कर दिया । अन्तत: रजा शाह पहलवी के इस निरंकुश एवं अधिनायक तन्त्र ने ईरान के याजक वर्ग (उलेमा वर्ग) को आक्रोश की भावना से परिपूर्ण कर दिया । उलेमा वर्ग ने जनता को शासन की कुरीतियों के विरुद्ध प्रोत्साहित कर 1979 में इस्लामिक क्रान्ति कर रजा शाह को अपदस्थ कर दिया । इस क्रान्ति के मध्य एवं सफलता के पश्चात् हत्या एवं हिंसा का एक ऐसा युग आरम्भ हुआ जिसका पश्चिमी एशिया के इतिहास में कोई समानान्तर नहीं है ।

इस्लामिक गणतन्त्र की स्थापना ने रजा शाह के निरंकुश शासन को समाप्त अवश्य किया किन्तु संसद एवं प्रधानमन्त्री के होते हुये भी ईरान के मौलिक अधिकारों एवं शक्ति का स्रोत धार्मिक अधिष्ठाता अयातुल्ला खुमैनी हैं ।

ईरान की तत्कालिक राजनैतिक स्थिति में याजक वर्ग अर्थात उलेमा वर्ग पूर्णतया प्रशासन को अपने नियन्त्रण में किये हुये है । सम्भवतया यह भविष्य ही निर्धारित कर सकेगा कि ईरान का इस प्रकार संकीर्ण विचारधारा में शासित होना लाभकारी होगा अथवा नहीं । ऐसा आशय किया जाता है कि अयातुल्ला खुमैनी निधनोपरांत सर्वोच्च परिषद जो तीन अयातुल्लाओं से युक्त होगी देश का कार्यभार संभालेगी । ईरान के भविष्य का तत्कालिक विकल्प केवल 'आमीन' हो सकता है ।

ईरान की विदेश नीति

ईरान राष्ट्रीय आन्दोलन कतिपय देर से 20वीं शताब्दी के आरम्भ में

हुआ। इस कारण 20वीं शताब्दी में प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् ईरान अपनी विदेश नीति स्वयं निर्धारित करने में सफल हुआ।

ईरान में यूरोपीय हस्तक्षेप कज़ार वंश से आरम्भ हुआ। ईरान जो उस समय पर्शिया के नाम से जाना जाता था अपने विदेश सम्पर्क में रूस और ब्रिटेन से प्रभावित था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पर्शिया के राजनैतिक रंगमंच पर दो मुख्य पात्र थे---ब्रिटेन और रूस। इन दोनों विदेशी शक्तियों के निजी स्वार्थ पर्शिया में निहित थे। 1907 की आंग्ल-रूस सन्धि ने पर्शिया को अपने अपने प्रभाव क्षेत्र में विभाजित कर लिया : उत्तरी पर्शिया में रूस का प्रभाव क्षेत्र था, दक्षिण में ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्र और मध्य भाग पर्शिया को दे दिया गया।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात ईरान में सोवियत रूस ने अपना प्रभाव क्षेत्र बनाने का निर्णय लिया। सर्व प्रथम रूस ने अपनी सेनाओं को ईरान से हटानें से इन्कार कर दिया। अन्ततः संयुक्त राष्ट्र के हस्तक्षेप के फलस्वरूप रूस ने ईरान से अपनी सेनाओं को हटाया।

1953 में साम्यवादियों द्वारा समर्थित उपद्रव आरम्भ हो गये। इन उपद्रवों का लक्ष्य पहलवी शासन था। ईरान की स्थिति इन उपद्रवों के कारण दिन प्रतिदिन अव्यवस्थित होती चली गई जिसके कारण मु० रज़ा शाह को ईरान से पलायन करना पड़ा। ऐसी गम्भीर स्थिति में अमरीका जो कि ईरान के राजनैतिक मंच के नाटक का सूक्ष्म निरीक्षण कर रहा था, समयानुकूल ईरान में पदार्पित हो गया। अमरीकी शासन एवं उसकी संस्थाओं ने ईरान में रूसी नीति के विरुद्ध अपना कार्य आरम्भ किया। किम रूसवेल्ट ने डलिस के भाई के सहयोग से सी०आई० ए० द्वारा नियोजित विप्लव करा दिया। अमरीकी धन का प्रवाह ईरान में किया गया। अमरीकी सहायता एवं कार्यक्रम ने पुनः मो० रजा शाह को स्थापित किया। शाह ने अपने पुनः आगमन पर अपनी शक्तियों एवं अधिकारों को संचित कर स्वयं में निहित करना आरम्भ कर दिया।

प्रधानमन्त्री मुसद्दिक तथा कुराम के शासनकाल की गुटनिरपेक्ष विदेश नीति अब करीब-करीब पूर्णतया पश्चिम (अमरीका) से प्रभावित हो गई थी। इसी समय शाह ने अपनी स्वतन्त्र राष्ट्रीय नीति की घोषणा की जो कि अलोचकों के अनुसार न तो राष्ट्रीय थी, न स्वतन्त्र थी और न ही कोई नीति

थी। तदोपरान्त शाह की महत्वाकांक्षी "श्वेत क्रान्ति" की योजना ने ईरान में महान आर्थिक परिवर्तन को योजना बद्ध किया। इस "श्वेत क्रान्ति" के अन्तर्गत शाह ने तेल तथा कृषि की आय के द्वारा नवीन आर्थिक योजना का प्रावि-धान किया। अपनी योजना को सफल बनाने हेतु शाह ने अमरीका से आर्थिक एवं सैनिक परामर्श दाताओं को आमन्त्रित किया। अमरीकी सामग्री तथा कार्यकर्ता भारी संख्या में ईरान में आने आरम्भ हो गये। अतः ईरान के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में अमरीका का हस्तक्षेप एवं प्रभाव अपने पूर्ण प्रवाह के साथ दृष्टि गोचर होने लगा 1960 में राष्ट्र-पति कैनेडी ने ईरान की अत्यधिक तेल आय के कारण ईरान को अमरीका की निःशुल्क सहायता देने से इन्कार कर दिया।

1960 के पश्चात् रज़ा शाह को अमरीकी सहायता के बिना देश का प्रशासन असम्भव प्रतीत होने लगा। ऐसी स्थिति में शाह ने किसी तीसरी शक्ति का आश्रय लेने का निर्णय लिया। 1969 में ईरान और चीन के मध्य द्विपक्षीय वार्ता प्रारम्भ हुई जिसका अन्तिम स्वरूप 1971 की ईरान-चीन सन्धि था। यह सन्धि इस्लामाबाद (पाकिस्तान) में हुई। इसी समय शाह ने इस्लामी राष्ट्रो के मध्य अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने की चेष्टा की। मोहम्मद शाह ने इस्लामिक सम्मेलनों में पश्चिमी एशिया को सम्पन्न एवं सशक्त देश बनाने की अपील की। वास्तव में अपरोक्ष रूप से अमरीका ईरान को पर्शिया की खाड़ी का प्रहरी बनाना चाहता था जिससे कि अमरीका को इस क्षेत्र में अपना प्रभाव बनाये रखने का अवसर प्राप्त होता रहे।

इस्लामिक क्रान्ति के पश्चात् 1979 में ईरान ने गुट-निरपेक्ष नीति की घोषणा की। ईरान के इस्लामिक नेताओं ने तीसरे विश्व राज्यों की आलोचना करते हुये कहा—कि गुट-निरपेक्ष सभी राज्य किसी न किसी पश्चिमी देशीय सन्धि से युक्त है। ईरान के नेताओं में अपनी विदेश-नीति के अन्तर्गत इस्ला-मिक राष्ट्रों की सहयोगिता तथा सहायता को तीव्रतर करने की घोषणा की। ईरान ने उन देशों के साथ सम्बन्ध रखने के लिये कहा जो ईरान में हस्तक्षेप नहीं करना चाहते। 1979 के पश्चात् की ईरान की विदेश नीति का अत्यन्त रुचिकर एवं महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि ईरान का इस्लामिक गण-तन्त्र रूस और अमरीका दोनों से ही समान दूरी बनाये हुये था। परन्तु 1981 में प्रारम्भ, ईरान-इराक युद्ध जिसका 1982 के मध्य तक कोई प्रतिफल स्पष्ट नहीं हो रहा है। केवल इस पक्ष को लक्षित कर रहा है कि ईरान सोवियत गुट से किंचित प्रभावित है।

सुरक्षानीति

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, कि ईरान की विदेश नीति शाह के अहम पर निर्भर थी। अत: ईरान की जो कुछ भी सुरक्षा नीति थी वह शाह के अहम् बोध पर आश्रित थी। रज़ा शाह के शासनकाल के दौरान ईरान की युद्ध सामग्री, तकनीकी विस्तार जर्मनी की सहायता से हुआ था तथा कुछ फैक्ट्रियाँ भी इस सम्बन्ध में खोली गई थी। परन्तु मोहम्मद रजा शाह के शासन काल में जर्मनी का स्थान अमेरिका ने ले लिया था। अपने शासन को सुदृढ़ एवं सशक्त बनाने के लिये शाह ने भारी मात्रा में अस्त्र खरीदने शुरू कर दिये। वह एक ऐसे सैनिक शक्ति की स्थापना करना चाहता था जो न ही केवल शत्रुहरण कर सके वरन् पर्शिया खाड़ी क्षेत्र तथा हिन्द महासागर की सुरक्षा हेतु कार्य कर सके।

शाह का शासन सैनिक शक्ति पर निर्भर था अत: उन्होंने स्वत: उसके विस्तार में रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया। राजस्व का आधा भाग सैनिक योजना पर व्यय किया जाता था। शाह ने अपने सम्बन्धियों को जल-थल तथा वायु सेना के उच्च स्थानों पर नियुक्त किया। सैनिक शक्ति में अधिकारी वर्ग अधिक शक्तिशाली न हो जाये इसलिये कर्नल पद के ऊपर के स्थानान्तरण शाह की इच्छा से होते थे।

कैनेडी के अमरीकी शासनकाल के दौरान ईरान को अमेरिका से अधिक मात्रा में युद्ध सामग्री खरीदने में कई कठिनाईयों का सामना करना पड़ रहा था। अमरीका के अनुसार ईरान जो अस्त्र खरीद रहा था वह उसकी जरूरत से अधिक थे तथा प्रयोग में मुश्किल थे।

ईरान ने अमरीका को अस्त्र बेचने हेतु बाध्य करना शुरू कर दिया। शाह ने 1961 के रूस के साथ हुये अस्त्र समझौते का सहारा लेते हुये खुले शब्दों में कहा कि अगर अमरीका ईरान को अस्त्र देने से मना कर देता है तो उसके लिये तीसरे दल (रूस) के पास जाने के सिवा और कोई विकल्प नहीं है। इन अस्त्रों की देय तथा सैनिक मदद की अदायगी तेल के रूप में की जाती थी। अस्त्रों का अमरीका से ईरान को वास्तविक स्थानान्तरण बगदाद सन्धि के उपरान्त 1967 से मुख्य रूप से देखा जा सकता है जो कि बाद में सैन्टो (सी० इ० एन० टी०ओ०) में परिवर्तित हो गया। ईरान अमेरिका की उत्तरीय नीति का एक भाग बन गया जिसका कि मुख्य कार्य टर्की तथा पाकिस्तान की सहायता से मध्य ऐशिया में रूस के प्रभाव को कम करना था।

शाह अपने सैन्य शक्ति को देखकर प्रसन्न था तथा पर्शियन साम्राज्य का

स्वप्न देख रहा था।

1969 में ब्रिटेन ने घोषणा की कि वह खाड़ी से अपनी फौजें वापस ले रहा है। इससे 1971 में शाह को अपनी इच्छा पूर्ति करने का मौका मिल गया तथा उसने अमरीका से आग्रह किया कि उसको सैन्य सहायता दे जिससे कि वह उस रिक्त स्थान की पूर्ति कर सके जो कि ब्रिटिश की वापसी से खाड़ी में उत्पन्न हो गया है। शाह की आक्रामक नीति 1971 में पूर्ण रूप से देखी जा सकती है। उसने तुरन्त अब्बु मूसा तथा टुम्बस पर अपना स्वामित्व जमा दिया तथा कुवैत को भी अपने अधिकार में लेना चाहता था।

ईरान की तृतीय विश्व देशों में अस्त्र आयात सर्वाधिक थी। ब्रिटेन से आधुनिक "चीफ़टेन टैंक" तथा अमरीका से एफ-4 फ़ैन्थम, एफ-14 टामकैट, एफ–15 ईगल्स इत्यादि विमान ईरान ने क्रय किये। इस प्रकार ईरान आधुनिक टैंकों, विमानों तथा मिसाइलों से युक्त था।

यह विडम्बना थी शाही सेना आधुनिक युद्ध सामग्री से युक्त होने के उपरान्त भी शाह के सिंहासन को स्थायित्व न प्रदान कर सकी। 1941 की भांति ईरान की सेना ने क्रियात्मक निष्क्रियता का परिचय दिया।

आलोचकों ने और पर्यवेक्षकों ने ईरान की स्थिति का अवलोकन करते हुये ईरान की असफलता विशेष कर ईरानी सेना की पराजय का मूल कारण स्थानीय सेना व अधिकारियों का विदेशी आश्रित होना था।

इस्लामिक क्रान्ति के पश्चात् इस्लामिक सेना के संगठन ने नियमित सेना को द्वितीय सेना में परिवर्तित कर दिया था परन्तु ईराक-ईरान युद्ध ने 1981 से नियमित सेना को पुनः उसका स्थान प्राप्त करवाने की पूर्ण चेष्टा की है। ईराक-ईरान युद्ध भी पश्चिमी ऐशिया का निर्णायक युद्ध होगा। फिलीस्तीन स्वाधीनता संघ (पी० एल० ओ०) के अध्यक्ष यासर अराफ़ात ने अपनी भारत यात्रा के मध्य (मई 21, 1983) को एक आम सभा में कहा कि ईरान और ईराक के युद्ध को गुट निरपेक्ष देशों की मध्यस्थता के द्वारा समाप्त करने की चेष्टा की जानी चाहिये।



ग्रन्थ-निर्देश संदर्भिका REFERENCES

1. Avery, P. W. : Modern Iran, London, 1961
2. Banani, A : Op. Cit.
3. Bharier, J : Economic Development in Iran, 1900–1970, London, 1971.
4. Cambridge History of Iran : Vols. 1–5, Cambridge, 1968-
5. Cottam, R. W. : Nationalism in Iran, Pittsburgh, 1964.
6. Elwell–Sutton, L. P. : Persian oil–A Study in Power Politics, London, 1975.
7. Lenczowski, G. : Russia and the west in Iran, 1914–48, Ithaca, 1949.
8. Mills Paugh, A. C. : Americans in Persia, Washihngton, 1946.
9. Sykes, Sir E. P. M. : Op. cit.
10. Pahlevi M. R. Shah : Mission of my Country, London, 1960.
11. Upton, Joseph M. : The History of Modern Iran, Harvard, 1960.
12. Marlowe, John : The Persian Gulf in the Twentieth Century, London, 1962.

अध्याय 44

मिस्र (इजिप्ट)

मिस्र : उन्नीसवीं शताब्दी में

नेपोलियन बोनापार्ट के 1798 में मिस्र अभियान का पश्चिमी एशिया में अपना एक ऐतिहासिक महत्व है। इस अभियान ने अरब जगत में योरोपीय हस्तक्षेप की प्रेरणा का कार्य किया। नेपोलियन के असफ़ल अभियान के दो उपफल अभियानोंपरांत प्राप्त हुए। प्रथम नेपोलियन के साथ आये हुये पुरातत्व विद्वानों ने 'रोज़ेटा शिलालेख' को खोज निकाला और द्वितीय नेपोलियन अभियान के उपरान्त मुहम्मद अली का उदय था। रोज़ेटा शिलालेख मिस्र की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति का एक उत्कृष्ट उदाहरण था जिसके द्वारा 19वीं शताब्दी में अरब जगत को मिस्र की पुरातन सभ्यता का परिचय मिला।

सी० सी० एडम्स के अनुसार मुहम्मद अली के उदय एवं उत्कर्ष ने 19वीं शताब्दी के मिस्र को एक नवजीवन प्रदत्त किया। मुहम्मद अली अल्बानिया का रहने वाला था और मूलत: वह एक सैनिक था। मिस्र के शासक के रूप में मुहम्मद अली ने प्रशासकीय, शैक्षिक, आर्थिक, औद्योगिक व्यापारिक तथा कृषि एवं संचारण में आधुनिकीकरण का रूप प्रदान कर मिस्र को पश्चिमी एशिया के मानचित्र पर अंकित किया। निसन्देह: मुहम्मद अली 19वीं शताब्दी के मिस्र का सृजनात्मक सृष्टा था। योरोपीय इतिहासकारों ने मुहम्मद अली को आधुनिक मिस्र के जनक की संज्ञा प्रदान की है। मुहम्मद अली के पश्चात आने वाले शासकों ने अपने अपव्यय, विदेश यात्राओं तथा अयोग्यता के कारण मुहम्मद अली के स्थापित साम्राज्य को पतन की ओर अग्रसर किया। यद्यपि सईद पाशा ने फ्रांसीसी अभियांत्रिकी (इंजीनियर) मित्रफ़रदीनैंद दि लैसेप के परामर्श से स्वेज़ नहर की योजना एवं निर्माण आरम्भ किया, परन्तु 1869 में इस्माइल पाशा के शासन में स्वेज योजना पूर्ण हुई। इस्माइल

पाशा की राजनैतिक अपरिपक्वता तथा आर्थिक अपव्ययता ने फ्रांसऔर ब्रिटेन का हस्तक्षेप मिस्र में अधिकाधिक कर दिया।

जार्ज एन्टोनियस अपनी पुस्तक दि अरब अवेकनिंग में लिखते हैं कि जब भी किसी देश या साम्राज्य में राजनैतिक एवं आर्थिक मान्यताओं का हनन होता है, वहाँ राष्ट्रवाद की प्रक्रिया आरम्भ होती है। अतः मिस्र के राष्ट्रवाद का प्रथम चरण 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अरबी पाशा के द्वारा आरम्भ हुआ। अरबी पाशा ने मिस्र में राष्ट्रीय चेतना के विकास को राजनैतिक रूप दिया तथा प्रथम बार 'मिस्र केवल मिस्र निवासियों के लिये है, ऐसी उद्‌घोषणा की। फलतः जनता का आत्मसम्मान जागृत हुआ और देश के प्रत्येक वर्ग ने इसका समर्थन किया।

अरबी पाशा ने स्वदेशवासियों को विदेशी शक्तियों के वहिष्कार के विरुद्ध प्रेरित किया। अरबी पाशा के राष्ट्रीय आन्दोलन ने मिस्र में एक नवीन वातावरण निर्मित निया। मिस्र के राष्ट्रवाद ने ब्रिटेन की भावी नीतियों को आतांकित किया। फलस्वरूप ब्रिटेन ने 1882 में "तेल-अल-कबीर" के युद्ध में अरबी पाशा को पराजित कर मिस्र पर अपना आधिपत्य स्थापित किया।

एम० एस० एन्डरसन के मतानुसार 1882 के पश्चात मिस्र का इतिहास अंग्रेजी प्रभुत्व का इतिहास है। सर्वप्रथम ब्रिटेन ने मिस्र पर शासन करने हेतु (सर एल्विन बेयरिंग) अर्थात् लार्ड क्रोमर को नियुक्त किया। लार्ड क्रोमर एक अनुभवी प्रौढ़ एवं उदारवादी राजनीतिज्ञ था। मुहम्मद अली के पश्चात लार्ड क्रोमर ने पुनः मिस्र में राजनैतिक, आर्थिक एवं न्यायिक सुधार कर मिस्र को जीवनदान दिया। अनेक इतिहासकारों ने लार्ड क्रोमर की नीतियों की आलोचना करते हुए कहा निस्सन्देह क्रोमर ने मिस्र के विभिन्न क्षेत्रों में सुधार कार्यान्वित किये परन्तु शिक्षा और सामाजिक क्षेत्रों को क्रोमर ने अछूता छोड़ दिया। लॉर्ड क्रोमर ने अपने दो खण्डों के संस्मरण में इस उपरोक्त तथ्य को स्वीकार किया और इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा कि मिस्र की राष्ट्रवादी पृष्ठभूमि का अवलोकन करते हुये सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करना बुद्धिमता नहीं थी अर्थात् मिस्र के राष्ट्रवाद को पुनः जागृत करना बुद्धिसंगत कार्य नहीं था। शिक्षा के प्रति लॉर्ड क्रोमर का कथन था, 'कि मिस्रवासी केवल तकनीकी शिक्षा के द्वारा उन्नति कर सकते थे इसलिये मैंने प्राथमिक, माध्यमिक एवं तकनीकी शिक्षा का ही प्रयोग किया'। तथापि लॉर्ड क्रोमर के सुधारों ने मिस्र में एक नये युग का सूत्रपात किया।

युद्धोपरांत मिस्र

प्रथम विश्वयुद्ध के मध्य मित्र राष्ट्रों की सेना की भारी संख्या में उपस्थिति के कारण किसी प्रकार के राष्ट्रीय आन्दोलन की सम्भावना नहीं की जा सकती थी। मिस्र के राष्ट्रवाद का दूसरा चरण विश्वयुद्धोपरांत साद जगलूल पाशा के नेतृत्व में आरम्भ हुआ। इससे पूर्व दिसम्बर 18, 1914 को ग्रेट ब्रिटेन ने एक पक्षीय घोषणा कर मिस्र (इजिप्ट) पर अपना संरक्षित राज्य घोषित कर दिया।

युद्धकाल में "रुश्दी पाशा" मिस्र का प्रधानमन्त्री था। यद्यपि युद्धकाल में प्रत्यक्ष रूप में शान्ति थी, परन्तु यह केवल ऊपरी आवरण था क्योंकि राष्ट्रवादियों को अपने अपमान का पूर्ण ज्ञान था। इस कारण युद्ध समाप्त होते ही राष्ट्रीय आन्दोलन ने पुन: सक्रिय होकर अंग्रेजों की शान्ति निद्रा को पुन: भंग कर दिया। इसी मध्य सुलतान हुसेन कमाल का 1917 में देहावसान हो गया और उसके स्थान पर फुआद सुल्तान बना। युद्धोपरान्त राष्ट्रपति विल्सन के स्वायत्त शासन के सिद्धान्त ने मिस्री स्वतन्त्रा आन्दोलन को पुन: प्रेरित किया। मिस्री राष्ट्रवादी "साद जगलूल पाशा" की अध्यक्षता में एक शिष्टमण्डल (वफ्द) पेरिस शान्ति समझौते में भेजने की अनुमति अंग्रेजी सरकार से मांगी गयी। ब्रिटिश सरकार ने इस तर्क के आधार पर कि जगलूल पाशा मिस्र की जनता का चुना हुआ प्रतिनिधि नहीं है, उसका नेतृत्व सरकार के लिए अमान्य कर दिया। ब्रिटिश सरकार की बात पूर्णतया तर्कसंगत थी; परन्तु राष्ट्रीय भावना को समझने में वह असमर्थ सिद्ध हुई।

इसी मध्य 1919 में जगलूल पाशा ने "वफ्द दल" निर्मित किया जो शीघ्र ही मिस्र के राष्ट्रवाद का हृदय-केन्द्र बन गया। इस दल की स्थापना के साथ ही देश के विभिन्न भागों में राष्ट्रीय आन्दोलन होने लगे। अंग्रेजों ने इस स्थिति से लाभ उठाकर जगलूल तथा उसके सहयोगियों को देश से निष्कासित कर दिया। ब्रिटिश सरकार के इस कृत्य ने स्थिति को और अधिक विद्रोहात्मक एवं विस्फोटक बना दिया। देश के विभिन्न स्थानों में समाज के अनेक वर्गों ने हिंसात्मक कार्य प्रारम्भ कर दिये, जिससे देश की स्थिति गम्भीर हो गयी और ब्रिटिश शासन जन नियन्त्रण करने में असफल रहा। इस प्रकार मिस्र की विद्रोहात्मक स्थिति में व्याख्या एवं अनुशासन प्रदान करने हेतु येरूसलम विजेता लॉर्ड एलनबी को भेजा गया। मिस्र की घटनाओं ने ब्रिटिश सरकार को सचेत किया और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री लायड जार्ज तथा उनके मन्त्रिमण्डल ने यह निर्णय लिया कि लॉर्ड एलनबी अपने विशेष

व्यक्तित्व तथा प्रतिष्ठा के कारण मिस्र में शान्ति स्थापित कर सकने में सक्षम थे। एलनबी ने मिस्र में आते ही वहाँ के विशिष्ट लोगों की एक गोष्ठी बुलाई जिसमें उसने आमन्त्रित सदस्यों को अपने उद्देश्यों से अवगत कराया। उनके सुझाव निम्नलिखित थे :

(1) उपद्रवों की शान्ति।

(2) देश में असन्तोष के कारणों की जांच और

(3) जनता के कष्टों का निवारण।

तत्पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने अपनी परिवर्तित नीति के कारण तथा मिस्र में शान्ति स्थापित करने हेतु ज़गलूल पाशा को पेरिस जाने की अनुमति प्रदान कर दी। यद्यपि पेरिस में ज़गलूल को अधिक सफलता प्राप्त नहीं हो पायी, परन्तु अपने देश में उनकी ख्याति और बढ़ गयी। इसी मध्य लार्ड एनलबी ने स्थिति पर नियन्त्रण करने की चेष्टा की और ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने लॉर्ड मिलनर को दिसम्बर 1919 में मिस्र की वास्तविक स्थिति का अवलोकन करने के लिए भेजा। लॉर्ड मिलनर की रिपोर्ट के आधार पर मिस्र की संरक्षित व्यवस्था को "मित्रता की सन्धि" में परिवर्तित किया गया, परन्तु ज़गलूल तथा अन्य राष्ट्रवादी नेताओं ने इस प्रकार के सुझाव को मान्यता प्रदान करने से इनकार कर दिया। फलस्वरूप 1921 में और अधिक उपद्रव प्रारम्भ हो गये और इस बार ज़गलूल एवं उसके सहयोगियों को एडन तथा जिब्राल्टर भेज दिया गया।

विलियम विलकाक्स के अनुसार लॉर्ड एनलबी के परामर्श पर फरवरी 1922 में मिस्र का संरक्षित आधिपत्य समाप्त कर, मिस्र की स्वतन्त्रता की घोषणा की गयी। इस घोषणा के अन्तर्गत ब्रिटिश सरकार ने चार मुख्य शर्तें प्रस्तुत कीं जिसमें ब्रिटेन ने इस बात का स्पष्टीकरण किया कि निम्नलिखित व्यवस्थाओं पर ब्रिटेन का संरक्षण रहेगा :—

(1) मिस्र में साम्राज्यिक संरक्षण सुरक्षा की व्यवस्था।

(2) मिस्र की सुरक्षा की व्यवस्था।

(3) मिस्र में वैदेशिक अधिकार तथा अल्पसंख्यक वर्ग की सुरक्षा व्यवस्था।

(4) सूडान पर नियन्त्रण की व्यवस्था आदि।

इस घोषणा को सुल्तान फ़ुआद ने स्वीकार किया परन्तु राष्ट्रवादियों ने इस घोषणा को मान्यता नहीं दी। इसका मुख्य कारण सूडान था। इस सन्दर्भ में सूडान के महत्व की व्याख्या आवश्यक है।

मिस्र की आर्थिक व्यवस्था का आधार नील नदी है, और नील सूडना से होकर मिस्र में आती है। फलतः सूडान मिस्र के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है और राष्ट्रवाद के अनुसार मिस्र की स्वतन्त्रता नील घाटी की स्वतन्त्रता पर आधारित है, परन्तु ब्रिटेन किसी भी प्रकार सूडान पर अपना प्रभुत्व समाप्त नहीं करना चाहता था। ब्रिटेन की इस चेष्टा में केवल आर्थिक स्वार्थ ही निहित नहीं था, वरन् राजनैतिक प्रभुत्व का भी अंश इस चेष्टा में सम्मिलित था। इसकी पृष्टभूमि में सम्भवतः यह कथन था कि जो सूडान, पर नियन्त्रण रखेगा, वही मिस्र को अपने अधीन रख सकने में सामर्थ होगा।

इसके अतिरिक्त समयानुकूल ब्रिटेन सूडान को मिस्र के विरुद्ध राजनैतिक अस्त्र के रूप में प्रयोग कर सकता था। इस प्रकार 1922 की घोषणा के पश्चात् 1923 में सुल्तान फ़ुआद ने एक संविधान की घोषणा कर दी जिसके द्वारा सुल्तान को अतिरिक्त अधिकार दिये गये। इस संविधान के अर्न्तगत निम्नलिखित अधिकार प्रदान किये गये :—

(1) सुल्तान समयानुसार संसद् को भंग कर सकता था।

(2) वह मन्त्रियों को नियुक्त एवं पदच्युत कर सकता था और आवश्यकतानुसार राज्य-विज्ञप्ति के द्वारा देश पर शासन कर सकता था।

(3) सुल्तान को राजनैतिक एवं प्रशासनिक विशेषाधिकार प्रदान किये गये।

(4) सुल्तान राज्य की सेना का सर्वोच्च अधिकारी माना गया।

(5) सुल्तान को संसद्-सदस्य मनोनीत करने के अधिकार प्रदान किये गये।

संविधान की घोषणा के साथ ही सार्वजनिक चुनाव भी घोषित किये गये। इसी मध्य राज्य सभा अधिनियम के अन्तर्गत ज़गलूल पाशा और उसके सहयोगी मुक्त होकर चुनाव अभियान में तत्परता से लग गये। जनवरी 1924 के चुनाव में जगलूल के वफ्द दल ने अत्यधिक स्थान प्राप्त किये। वफ्द दल को 188 स्थान प्राप्त हुए जबकि विरोधी दल को केवल 27 प्राप्त हो सके। चुनाव में बहुमत प्राप्त हो जाने के कारण साद ज़गलूल पाशा को प्रधानमन्त्री बनाया गया। जगलूल ने प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण करते ही 1922 की एकपार्शिवक स्वतन्त्रता की घोषणा में संशोधन की माँग प्रेषित कर दी। उन्होंने मिस्र तथा सूडान को पूर्ण अधिराज्य बनाने के लिए ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री "रैमजे मैकडोनल्ड" से वार्ता आरम्भ की, परन्तु सूडान की समस्या के कारण कोई निष्कर्ष नहीं निकल सका। अतः यथा पूर्व इस बार भी वार्ता-

लाप के भंग हो जाने के कारण हड़ताल, उपद्रव और ब्रिटिश विरोधी कार्य प्रारम्भ हो गये। दुर्भाग्यवश नवम्बर 1924 को मिस्र के ब्रिटिश सेनापति तथा सूडान के महाराज्यपाल "सर ली स्टाक" की हत्या कर दी गयी। इस घटना को ब्रिटिश सरकार ने गम्भीर रूप में लिया और तुरन्त मिस्र की सरकार को एक चेतावनी दी, जिसमें निम्नलिखित शर्तें थीं :—

(1) हत्यारों को कठोर दंड दिया जाय।

(2) पाँच लाख मिस्री पौंड क्षतिपूर्ति हेतु दिये जायें।

(3) किसी भी प्रकार के राजनैतिक प्रदर्शन की अनुमति न दी जाये।

(4) सूडान से तुरन्त मिस्र के सैनिकों को वापस बुला लिया जाय।

(5) मिस्र के राजकीय मन्त्रिमण्डल में वित्त, न्याय, और आन्तरिक विभाग में अंग्रेज परामर्शदाता नियुक्त किये जायें तथा।

(6) सूडान के गेज़ीरा क्षेत्र में नील नदी का जल और अधिक प्रयोग किया जायेगा।

इसके अतिरिक्त चेतावनी में कहा गया कि यदि इन शर्तों को स्वीकार नहीं किया गया तो ब्रिटिश सरकार मिस्र और सूडान में मनमानी करने पर विवश होगी। ज़गलूल पाशा ने चेतावनी को मान्यता प्रदान करने से इन्कार कर दिया जिसके फलस्वरूप ज़गलूल पाशा को त्यागपत्र देना पड़ा और उनके स्थान पर "ज़ीवार पाशा" प्रधानमन्त्री बना। ब्रिटिश सरकार ने केवल गेज़ीरा को छोड़ अन्य समस्त शर्तों को कार्यान्वित किया जिसके फलस्वरूप मिस्र और सूडान पर ब्रिटेन का हस्तक्षेप और अधिक प्रभावपूर्ण हो गया।

मिस्र : 1924–36 के मध्य

सर ली स्टाक की हत्या के उपरांत आंग्ल मिस्र सम्बन्धों का एक अध्याय समाप्त हो गया। इसके पश्चात् का युग अर्थात 1924–36 तक का काल अनेक राजनीतिक गतिविधियों से सम्बन्धित था। इस काल को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

(1) ग्रेट ब्रिटेन मिस्र में यथाशक्ति अपनी प्रभुसत्ता बनाये रखने हेतु द्विपक्षीय संधि करने का इच्छुक था। इस सन्धि की योजना के द्वारा ब्रिटेन अपनी सत्ता के साथ मिस्र के राष्ट्रवादियों को भी सन्तुष्ट करना चाहता था। लॉयड लॉयड अपनी पुस्तक इजिप्ट सिन्स क्रोमर में लिखते हैं कि ब्रिटेन तथा मिस्र के मध्य संधिवार्ता 1927–28 में चैमबरलेन एवं सरवत के मध्य हुई, 1929 में हैण्डरसन और महमूद के साथ हुई, और 1930 में हैण्डरसन तथा

नम्हास पाशा के मध्य हुई। उपरोक्त समस्त सन्धि वार्तायें असफल रहीं। इन व.र्तालापों की असफलता के मुख्य कारण सूडान की समस्या तथा मिस्र में ब्रिटिश सेना का अवस्थान था।

(2) 1927 में साद ज़गलूल पाशा के निधन के पश्चात मिस्र के राष्ट्र-वादी एवं राजनैतिक जीवन में रिक्तता उत्पन्न हो गयी। यद्यपि अंग्रेजों के प्रति जगलूल पाशा का निधन एक महान व्यवधान का निराकरण था, किन्तु मिस्र की राष्ट्रीय समस्या के प्रति एक विकट प्रश्न चिह्न था। साद ज़गलूल के पश्चात् मुस्तफ़ा नाहस पाशा प्रधानमन्त्री बने। इसी मध्य अंग्रेजों ने सर परसी लुरेन (ब्रिटिश उच्च आयुक्त) तथा वफ्द के मध्य गठबन्धन करना चाहा। शासक फुआद ने इस अंग्रेजों की गतिविधि से आशांक्ति होकर नाहस पाशा के त्यागपत्र की भूमिका बनाकर इस्माइल सिदकी पाशा को प्रधानमन्त्री बना दिया। सिदकी पाशा ने 1930 में शासक फुआद द्वारा 1923 के संवि-धान को समाप्त कर 1930 के संविधान को घोषित किया। इस नवीन संवि-धान ने सुल्तान को अतिरिक्त अधिकार प्रदत्त किये। सिदकी पाशा ने इस नव संविधान का आश्रय ले मिस्र में चुनाव घोषित कर दिये और अपनी नव संगठित शाब दल (पीपुल्स पार्टी) को अराजनैतिक चालों के द्वारा चुनाव में सफल बना दिया। सिदकी ने अपने कूटनीतिक प्रभाव तथा अधिनायकतन्त्र के द्वारा मिस्र को नियन्त्रित कर लिया था।

(3) 1930 के पश्चात मिस्र की आंतरिक राजनीति का स्वरूप वफ्द, सुल्तान और रेजीडेंसी के पारस्परिक संघर्ष का इतिहास है। सिदकी पाशा के शाब दल के संगठन के पश्चात अन्य महत्वपूर्ण मतभेद 1932 में वफ्द दल में हुआ। परिणामस्वरूप वफ्द पार्टी में एक नया दल उत्पन्न हो गया जिसका नाम सादिस्ट अथवा सादी वफ्द रक्खा गया। इसका संगठन करने वाले दो भूतपूर्व वफ्द नेता थे।

आंग्ल-मिस्र सन्धि

टी० लिटिल अपनी पुस्तक **मार्डन इजिप्ट** में कहते हैं कि उपरोक्त स्थिति में परिवर्तन पुन: दो कारणों से हुआ। प्रथम सितम्बर 1935 में इटली-इथोपिया युद्ध ने तथा द्वितीय शाह फुआद के देहान्त ने मिस्र राजनीति के भाग्य परिवर्तन में महत्वपूर्ण योगदान दिया। सुल्तान फुआद के निधन ने सोलह वर्षीय फारुख़ को सिंहासनारुढ़ कर नवीन चुनाव घोषित करने पर बाध्य किया। चुनाव में पुन: वफ्द दल की विजय ने नहास पाशा को प्रधान मन्त्री का नेतृत्व प्रदान किया। इसी मध्य ब्रिटेन की सरकार इटली के द्वारा पूर्वी मध्यसागर तथा

लालसागर घाटी पर संकट से आंतकित थी। ऐसी परिस्थिति में ब्रिटेन यथा-सम्भव मिस्र से सन्धि करने का इच्छुक था। अतः मिस्र की ओर से नाहस पाशा तथा ब्रिटेन की ओर से सर माईल्स लैम्पसन ने सन्धि वार्ता का नेतृत्व किया।

उपर्युक्त वार्ता का निष्कर्ष अगस्त 16, 1936 की आंग्ल-मिस्र सन्धि के रूप में हुआ। इस बीस वर्षीय सन्धि के मुख्य प्राविधान निम्नलिखित थे :

(1) ब्रिटेन ने मिस्र को किसी भी प्रकार के आक्रमण के विरुद्ध पूर्ण सुरक्षा का आश्वासन दिया, परन्तु युद्ध के समय मिस्र की संचारण व्यवस्था को ब्रिटेन के अधीन कार्य करने की शर्त रखी।

(2) स्वेज़ नहर के प्रति ब्रिटेन का स्वार्थ निहित देख कर मिस्र ने स्वेज क्षेत्र में ब्रिटेन के दस सहस्त्र सैनिक तथा चार सौ विमान चालकों को रहने की आज्ञा प्रदान कर दी। इन सैनिकों के आवास का प्रबन्ध मिस्र की सरकार को सौंपा गया। केवल ऐलेग्ज़ांड्रिया को छोड़कर अन्य समस्त मिस्री क्षेत्र से ब्रिटेन अपनी सेना हटा लेगा।

(3) मिस्र की सेना एवं पुलिस से ब्रिटिश अधिकारी वापस भेज दिये जायँगे। इसके अतिरिक्त एक ब्रिटिश सैनिक शिष्टमण्डल मिस्र में सैनिक परामर्श के लिए रहेगा तथा मिस्र के सैनिक अधिकारी, सैनिक प्रशिक्षण हेतु केवल ब्रिटेन में ही भेजे जायेंगे।

(4) सूडान में मिस्री आप्रवासियों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रहेगा और मिस्र की सेना को भी सूडान भेजने का आयोजन किया जायेगा।

(5) ब्रिटेन मिस्र के समय समय पर किये गये सन्धि पत्रों को समाप्त करने में सहयोग प्रदान करेगा।

(6) ब्रिटेन ने राष्ट्र संघ में मिस्र की सदस्यता के लिए भी आश्वासन दिया।

(7) ब्रिटिश उच्चायुक्त के स्थान पर ब्रिटिश राजदूत मिस्र में रहेगा अर्थात दूतावासिक सम्बन्ध स्थापित किये जायगें।

उपर्युक्त सन्धि में दोनों देशों ने पारस्परिक राजनैतिक अनुमोदन करने की चेष्टा की, परन्तु यह सन्धि राष्ट्रवादियों को पूर्णतया सन्तुष्ट करने में असमर्थ रही। तथापि मिस्र को आर्थिक तथा कुछ रक्षात्मक सुरक्षा प्रदान की गयी परन्तु सूडान की समस्या का समाधान न हो सका। तथापि मिस्र में यह सन्धि दोनों देशों के सम्बन्धों में एक ऐतिहासिक शिक्षा-बिन्दु मानी गयी, तथा प्रथम बार ब्रिटिश सैनिकों का मिस्र में प्रसन्नतापूर्वक स्वागत

किया गया। कुछ समय तक तो नाहस पाशा इस सन्धि के कारण मिस्र का निरंकुश शासक बना रहा परन्तु 1937 के पश्चात् सुल्तान तथा वफ्द की पुरानी प्रतिस्पर्धा पुनः प्रारम्भ हो गयी। सुल्तान ने वफ्द को समाप्त करने हेतु महमूद पाशा को प्रधानमन्त्री बनाया तथा 1938 के चुनाव में वफ्द दल पराजित होकर राजनैतिक रूप से निस्तेज हो गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध में मिस्र

1936 की आंग्ल-मिस्र सन्धि के तीन वर्ष पश्चात भी ब्रिटेन ने अपने वचनानुसार स्वयं को मिस्र से प्रभावमुक्त नहीं किया। सितम्बर 1939 में जब द्वितीय विश्वयुद्ध का आरम्भ हुआ तो ब्रिटेन ने 1936 की सन्धि के प्राविधानों को पूर्ण रूप से कार्यान्वित कर मिस्र में और अधिक सेना भेज दी। विश्वयुद्ध के मध्य न तो मिस्र ने ब्रिटेन के युद्ध प्रयासों को विफ़ल करने का प्रयास किया और न ही ब्रिटेन की इस माँग को स्वीकार किया, कि मिस्र धुरी राष्ट्रों (एक्सेज पावर्स) के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दे। मिस्र को विश्वास था कि धुरी राष्ट्र अवश्य विजयी होंगे। इसी कारण वश मिस्र ने नकारात्मक रुख अपनाया। ब्रिटेन को मिस्र की यह नीति अप्रसन्न कर रही थी।

1942 में ब्रिटिश सेना और टैंकों ने कैरो (काहिरा) का 'आबादीन राजमहल' घेर लिया और शाह फ़ारूक से कहा, कि या तो वफ्द नेता नहास पाशा को प्रधानमन्त्री नियुक्त किया जाय, अथवा शाह देश छोड़ दे। हर्ष लाग के अनुसार यह भी इतिहास की एक विडम्बना थी क्योंकि यदि शाह फ़ारूक ने ब्रिटिश चेतावनी को अस्वीकृत कर दिया होता तो सम्भवतः शाह फ़ारूक आधुनिक मिस्र के इतिहास का महानतम नायक होता। परन्तु फ़ारूक ने अंग्रेजों के समक्ष आत्म समर्पण कर उनके साथ सहयोग की नीति को अपनाया।

1944 तक नहास पाशा प्रधानमन्त्री रहे और भ्रष्टाचार एवं शाह-मन्त्रिमण्डल में तनाव बना रहा। जी० ई० कर्क के मत से जब अल-अलामेन के युद्ध में जनरल रोमेल की पराजय ने जर्मन विजय के संकट को दूर किया और अमरीकी सेना ने उत्तरी अफ्रीका में पदार्पण किया तब तक नहास पाशा अंग्रेजों के लिये महत्वहीन हो चुके थे। शाह फ़ारूक ने इस स्थिति का लाभ उठाकर पाशा को पदच्युत कर दिया और साद पार्टी के अहमद मिहर को नियुक्त किया। फरवरी 24, 1945 में एक मिस्री युवक ने मिहर की हत्या कर दी और नुक्राशी पाशा प्रधानमन्त्री नियुक्त हुये। दो दिवस पश्चात् उन्होंने जर्मनी और जापान के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। तत्पश्चात

मिस्र संयुक्त राष्ट्र का अधिकृत सदस्य बनाया गया।

नव मिस्र

एक नवीन मिस्र का उदय जुलाई 23, 1952 की क्रांति के द्वारा हुआ। स्वतन्त्रता के कई वर्षों के संघर्ष के पश्चात् 1952 की क्रान्ति के द्वारा सामाजिक एवं आर्थिक सुधारों का प्रतिपादन किया जा सका। यह प्रथम समय था जबकि आधुनिक मिस्र के इतिहास में एक ऐसी क्रान्ति ने जन्म लिया, जो सैद्धान्तिक रूप से विदेशी विरोधी न होकर भ्रष्टाचार विरोध पर आधारित थी। अत: इस क्रान्ति के स्वरूप की व्याख्या करना अत्यावश्यक है।

सामाजिक एवं राजनैतिक स्थिति

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात मिस्र के मध्यम वर्ग में शासित वर्ग के प्रति घोर असन्तोष था। यह विडम्बना थी कि मिस्र की कुल जनसंख्या का एक प्रतिशत से भी आधा प्रतिशत चालीस प्रतिशत भूमि का उपभोग कर रहा था, और वही आन्तरिक और वैदेशिक राजनीति को भी प्रभावित करता था। इस प्रकार मिस्र की जनसंख्या का एक वृहद प्रतिशत ऐसे सुधारों का इच्छुक था जिनके द्वारा मिस्रवासियों को सामाजिक एवं राजनैतिक कार्यों में सहयोग देने का अवसर प्राप्त हो।

जे० बर्क की पुस्तक इजिप्ट, इम्पीयरलिज्म एण्ड रिवोल्यूशन में लिखा है कि मिस्र को साम्राज्यवाद के शोषण के पश्चात दो क्रान्तियों के द्वारा स्वयं को सिंचित करना पड़ा। प्रथम क्रान्ति स्वतन्त्रता संघर्ष के रूप में और द्वितीय सामाजिक सुधारों की माँग को लेकर थी। इसका मुख्य कारण भूमिहीन शिक्षित वर्ग की वृद्धि होना था। बढ़ती हुई जनसंख्या ने इस समस्या को अधिक विषम बना दिया। यद्यपि 1913 में एक मिस्री कृषक की सामान्य वार्षिक आय साठ डॉलर थी परन्तु 195I में यह पैंतीस डॉलर रह गई। इसके अतिरिक्त उच्चवर्ग में भ्रष्टाचार विलासिता की चरम सीमा थी। मिस्र का शासक शाह फ़ारूख़ एक अपव्ययी सुरा-सुन्दरी तथा अन्य समस्त विलासिता सामग्री का शौकीन था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात एशिया और अफ्रीका में काफी सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तनों का अनुभव हो रहा था। ऐसे में मिस्र का युवा शिक्षित वर्ग परिवर्तन की अपेक्षा कर रहा था।

स्वतन्त्र अधिकारी संस्था (फ्री ऑफ़िसर्स क्लब)

इन्हीं युवा शिक्षित वर्ग में अधिकतर सेना में प्रवेश पा गये थे और 1936 में जब मिस्र को कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त हुई तो मध्यम वर्ग के लिये भी सेना में प्रवेश की सुविधा प्रदत्त की गई। इसी युवा शिक्षित वर्ग में गमाल अब्द अल-नासिर (गमाल अब्दुल नासिर) भी था।

नासिर को 'ऐवेशिया सैनिक संस्थान' से स्नातक की उपाधि ग्रहण करने के पश्चात, ऊपरी मिस्र के मनकावाद में नियुक्त किया गया जहाँ जकारिया मोहद्दीन तथा अनवर सादात के साथ नासिर ने मिस्र को साम्राज्यवाद, राजतन्त्रवाद एवं सामन्तवाद से मुक्ति दिलाने के कार्यक्रम पर विचार विमर्श किया। परन्तु शीघ्र ही 1942 की अबादान राजमहल की घटना ने नासिर को अत्यधिक प्रभावित किया जिसके पश्चात् मिस्र में एक क्रान्ति के वातारण का सूत्रपात हुआ। 1943 में नासिर ने सैनिक अधिकारियों के माध्यम से एक छोटे से समूह का संगठन किया जिसमें मोहद्दीन के अतिरिक्त कमाल अल-दीन हुसेन, अब्दुल हकीम उमर, अब्दुल मुनीम अरुफ़ अब्दुल लतीफ़ वोधदादी तथा हसन इब्राहीम भी सम्मलित थे। नासिर ने अपने अनुयायिओं के संगठनार्थं दल को दो भागों में विभाजित कर दिया—प्रथम सैनिक दल, जिसका संचालक वह स्वयं था तथा द्वितीय नागरिक दल, जिसका संचालक अनवर सादात था। इस संगठन में प्रशासन, अर्थ, सैनिक, सुरक्षा, आतंकवाद एवं प्रचार के विभिन्न विभाग बनाये गये तथा फ़िलस्तीन युद्ध तक इस संगठन का मुख्य उद्देश्य अधिकारी वर्ग की रक्षा में निहित था, परन्तु 1947 में इसके कई अधिकारियों के बन्दी होने के कारण इस संगठन की गतिविधियाँ प्राय: बन्द हो गयीं। इसके अतिरिक्त फ़िलीस्तीन युद्ध के साथ ही सैनिक विभाग का प्रभुत्व वहुत अधिक वढ़ गया तथा नागरिक विभाग लगभग विलीन हो गया।

अनवर अल सादात ने **'रिपोर्ट ऑन नाइल'** में कहा है, कि इस प्रकार फिलस्तीन के युद्ध में मिस्री सेना के मान-मर्दन ने नासिर के संगठन को एक नयी ज्योति प्रदान की, जिसके फलस्वरूप 1949 में इसकी कार्यकारिणी समिति का पुन: गठन किया गया। इसके आन्तरिक मण्डल में अनवर सादात, गेमल सलीम, लतीफ बोगदादी, सलाह सलेम मुख्य थे। नासिर ने इस सगठन का नाम "स्वतन्त्र अधिकारी संस्था" रखा। नासिर का यह विश्वास था कि उसकी स्वतन्त्र अधिकारी संस्था तभी सफल हो सकती है जब सैनिक वर्ग आत्मविश्वाय एवं दृढ़ संकल्प को अपना आधार बनाए। उन्होंने अपने संगठन की शक्ति को बढ़ाने हेतु 1950 में ख़ालिद मोहद्दीन की सहायता से "स्वतंत्र

अधिकारी" नामक एक पत्र प्रकाशित किया । यह पत्र सैनिक अधिकारियों में अधिक लोकप्रिय था । 1951 में नासिर को विश्वास हो गया था कि 1955 तक स्वतन्त्र अधिकारी वर्ग देश की शासन सत्ता को सँभालने में अवश्य सफल होगा ।

अतएव 1951 में नासिर ने अधिकारियों की सभा के चुनाव में सरकार के विरोध में स्वतन्त्र अधिकारियों के एक प्रत्याशी मोहम्मद नजीब को खड़ा किया । चुनाव में अध्यक्ष पद के लिए मोहम्मद नजीब को 334 मतदानों में से 227 मत प्राप्त हुए तथा अधिकारियों की समिति में हसन इब्राहीम, जचारिया महद्दीन को, तथा कर्नल रशद मोहन्ना को सेक्रेटरी जनरल चुना गया । 1952 में जब काहिरा में राजनैतिक आन्दोलन एवं अव्यवस्था सर्वविदित होने लगी तो इन अधिकारियों ने सत्ता प्राप्त करने की चेष्टा प्रारम्भ कर दी परन्तु कुछ कारणवश संगठन के कार्यक्रमों में अवोरोध उत्पन्न हो गया ।

स्वतन्त्र अधिकारी संगठन के अनुसार भ्रष्टाचार, घूसखोरी, पक्षपात तथा अन्य कुरीतियों को तब तक समाप्त नहीं किया जा जब तक मिस्र में साम्राज्यवाद का समूल नाश नहीं किया जाता । इस संगठन के अन्य उद्देश्य मौलिक प्रशासन की समाप्ति, राजनैतिक पुलिस की समाप्ति एवं प्रतिक्रियात्मक नियमों की समाप्ति में निहित थे ।

काहिरा में उपद्रवों के कुछ महीनों के पश्चात् ही नासिर मिस्री सरकार को हस्तगत करने के लिए तैयार था, परन्तु 1952 के प्रथम छह महीनों में तीन बार शासन परिवर्तन के कारण काहिरा में तनावपूर्ण स्थिति व्याप्त हो गयी । इसके अतिरिक्त जुलाई में सरकार ने अधिकारी सभा की समिति को एकाएक भंग कर दिया जिसके परिणामस्वरूप हुसेन सिरी, जो प्रधानमन्त्री था, ने नजीब को अपने मन्त्रिमण्डल में युद्ध मन्त्री बनाने का निश्चय किया । परन्तु शाह फ़ारूक द्वारा इस नियुक्त को मानने से इन्कार करने पर प्रधान मन्त्री ने जुलाई 20 को त्यागपत्र दे दिया । इस घटना के पश्चात् 21 जुलाई को सत्ता हथियाने का कार्यक्रम गनाया गया परन्तु इसका क्रियान्वयन 22 जुलाई को हुआ जबकि सैनिक अधिकारियों की एक सभा में इस बात पर विचार विमर्श किया जा रहा था कि सैनिकों के मध्य बढ़ते असन्तोष को किस प्रकार रोका जाय । लॉतूरे 'इजिप्ट इन ट्रान्जिशन' में लिखते हैं कि स्वतन्त्र अधिकारी संगठन ने जनरल स्टाफ के समस्त अधिकारियों को बन्दी बना दिया तथा अनवर सादात ने मिस्री रेडियो पर एक

घोषणा कर दी कि "मूर्खों, गद्दारों तथा अयोग्य अधिकारियों द्वारा शोषित सेना मिस्र की रक्षा करने में अक्षम थी, इसलिए हमने शासन हस्तगत करने का कार्य शुद्धीकरण हेतु किया है, जिसके अन्तर्गत समस्त देशवासी अपने विश्वास को व्यक्त कर सकते हैं।"

स्वतन्त्र अधिकारी समाज के अधिकांश अधिकारी मध्यवर्गीय परिवारों से सम्बन्धित थे। यद्यपि वे मिस्र की राजनैतिक और सामाजिक बुराइयों के कट्टर विरोधी थे, तथापि इन बुराइयों का वे प्रत्यक्ष रूप से विरोध नहीं कर रहे थे। परन्तु वे इस बात के समर्थक थे कि इन सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध अवश्य ही कोई कार्यवाही की जानी चाहिए। **जनरल गमाल अब्ब अल नासिर** अपनी पुस्तक **'द फ़िलॉसफी ऑफ रिबोल्यूशन'** में लिखते हैं इसी कि उद्देश्य से प्रेरित होकर स्वतन्त्र अधिकारी संस्था ने विद्रोह प्रारम्भ कर दिया जिसका पुष्टीकरण नासिर ने स्वयं किया कि "अगर सेना विद्रोह नहीं करेगी तो कौन करेगा" ?

इस विद्रोह के पश्चात् अली मेहर को प्रधान मन्त्री पद पर नियुक्त किया गया तथा शाह फ़ारूख़ ने अपने छह महीने के पुत्र के पक्ष में जुलाई 26 को राज पद-त्याग दिया। इस घटना के शीघ्र ही पश्चात् मिस्र में सैनिक विद्रोह राजनैतिक सत्ता के संघर्षों में परिणत हो गया। स्वतन्त्र अधिकारियों ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने हेतु कार्य प्रारम्भ कर दिये तथा इसी मध्य 12 अगस्त को कफ़ अल दवार में आन्दोलन प्रारम्भ हो गया जिसको दबाने के लिए एलेक्जैन्ड्रिया से सेना बुलानी पड़ी। इसके कुछ दिन बाद ही आन्तरिक मन्त्रालय ने साम्यवाद तथा यहूदीवाद के विरुद्ध "राज्य सुरक्षा विभाग" की स्थापना की और पत्पश्चात् 1953 के फरवरी में संसद का चुनाव कराने का आदेश दिया गया। 15 नवम्बर को अली मेहर ने संविधान के पुनर्निर्माण पर जोर दिया क्योंकि संविधान समय की आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ था। इस संविधान के पुनर्निर्माण का मुख्य कारण यह था कि तत्कालीन संविधान 19वीं शताब्दी के जनतन्त्र सिद्धान्तों पर आधारित था। इन समस्त राजनैतिक परिवर्तनों के उपरान्त स्वतन्त्र अधिकारियों की कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों में से एक क्रान्तिकारी कमान परिषद् का गठन किया गया जिसमें सरकारी शक्तियों को समाविष्ट कर दिया गया। इस प्रकार यह समस्त कार्य देश के उत्थान एवं पुनर्निर्माण हेतु कार्यान्वित किये जा रह थे।

क्रान्ति का प्रथम चरण सरल था तथा स्वतन्त्र अधिकारियों ने अपने

सैनिक नियन्त्रण के बल पर तात्कालिक विरोध को शान्त कर दिया। यद्यपि भूतपूर्व शासन को समाप्त करना एक अन्य बात थी परन्तु उसके स्थान पर दूसरा शासन स्थापित करना कुछ दुष्कर कार्य था। इस प्रकार 18 जून, 53 को मिस्र में एक रिपब्लिक सरकार की घोषणा की गई तथा मोहम्मद नजीब इसके प्रथम राष्ट्रपति एवं प्रधान मन्त्री बनाये नये तथा नासिर को उप प्रधान मन्त्री तथा आन्तरिक मन्त्री का पद दिया। यद्यपि नजीब को राष्ट्राध्यक्ष बनाया गया था, परन्तु देश की समस्त नीतियों का निर्धारण नासिर स्वयं करता था और इसप्रकार शासन की समस्त सत्ता नासिर के हाथों में केन्द्रित थी। परन्तु 1954 में नजीब और नासिर के मध्य कुछ राजनैतिक परिस्थितयों के कारण संघर्ष हो गया, जिसके परिणामस्वरूप नजीब ने फरवरी 24 को समिति की सभा में अपना त्यागपत्र दे दिया तत्पश्चात् नासिर को समिति का अध्यक्ष एवं प्रधान मन्त्री नियुक्त किया गया 1954 के अन्त तक नासिर को पूर्णतया क्रान्ति का नेता स्वीकार कर लिया गया और उन्होंने 1956 तक नवीन संविधान की घोषणा करने का वचन दिया।

पीटर मैन्स फील्ड के अनुसार गमाल अब्दुल नासिर ने अपने सत्ता-संघर्ष में मिस्र के लगभग समस्त राजनीतिक दलों को अपना विरोधी बना लिया था, परन्तु उन्होंने इस विद्रोह की कदापि चिन्ता नहीं की। नासिर का विचार था कि "इस क्रान्ति को उत्तेजित करने के लिए ऐसी अ-राजनैतिक सरकार जुरूरी है जो प्रजा के हित के लिए राजकीय कार्यक्रमों को कार्यान्वित कर सके।"

इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर नासिर ने 27 जुलाई को ब्रिटिश राज्य मन्त्री के साथ एक समझौता किया जिसके अनुसार यह निश्चय किया गया कि ब्रिटिश सैनिक मिस्र के क्षेत्र को शीघ्र ही खाली कर देंगे, परन्तु इसके विपरीत ब्रिटिश प्रविधिज्ञों को स्वेज नहर के कारण रहने की अनुमति प्रदान कर दी गयी थी। नासिर के इस समझौते का मिस्र में बहुत विरोध हुआ जिसके कारण काहिरा के मुहम्मद अब्दुल लतीफ़ नामक व्यक्ति ने अब्दुल नासिर पर अक्टूबर 26 को गुप्त घात किया परन्तु सौभाग्यवश वह बच गये। तत्पश्चात् नासिर ने अपने विरोधियों का अन्त करने हेतु समस्त प्रयत्न किये। नासिर ने विरोधियों को पकड़वा कर उन पर मुकदमा चलवाया तथा उनमें से कुछ को मृत्यु दण्ड भी दिया गया।

21 सितम्बर, 1955 की मन्त्रिपरिषद् की एक घोषणा के अनुसार मुसलमान धार्मिक न्यायालय (शरिया) एवं गैर-मुस्लिम धार्मिक न्यायालयों

को 1 जनवरी, 1956 को भंग करने का निश्चय किया गया। इस घोषणा के बहुत से अनुच्छेद मुस्लिम सम्प्रदायों के समर्थकों के लिए लाभदायक थे, इसी लिए गैर-मुस्लिम धार्मिक नेताओं ने इसका विरोध करना प्रारम्भ किया परन्तु वे अपने इस प्रयत्न में पूर्णतया असफल रहे। इसके अतिरिक्त मिस्र में विदेशी स्कूलों के प्रभाव को कम करने के लिए एक नियम बनाया गया जिसके अनुसार मिस्र के प्रत्येक स्कूल में वहां के विद्यार्थियों को अपना धर्म पढ़ाना आवश्यक हो गया जो गैर-मुस्लिम सम्प्रदायों के लिए एक गम्भीर आघात था।

इन समस्त राजनैतिक व्यवधानों के अतिरिक्त साम्यवादियों से भी मिस्र को बहुत अधिक खतरा था। परिणामस्वरूप 1955 तथा 1959 के मध्य साम्यवादियों को बड़ी संख्या में बन्दी बनाया गया परन्तु रूसी विदेशी मन्त्री के काहिरा भ्रमण ने मिस्र में रूसी विरोधी भावना को समाप्त कर दिया। इसी मध्य कुछ कारणवश मिस्र में चुनाव नहीं कराये जा सके, अत: 16 जनवरी को एक नये संविधान की घोषणा की गयी। इसी के साथ देश की राष्ट्रीय सभा को नवम्बर में बुलाने की घोषणा की गयी जिसके अन्तर्गत अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता घोषित की गयी तथा राष्ट्रीय सभा को अधिकार एवं सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार भी दिये गए परन्तु ये समस्त अधिकार एवं स्वतन्त्रताएँ एक निश्चित सीमा तक ही प्रदान की गई थीं।

23 जून, 1956 को नासिर मिस्र के राष्ट्रपति घोषित किये गये। इस घोषणा के शीघ्र ही पश्चात् 'क्रान्तिकारी कमान परिषद्' को भंग कर दिया गया जिसके फलस्वरूप नासिर ने अपने उद्देश्यों का पूरा करना प्रारम्भ कर दिया। टी० लिटिल अपनी पुस्तक मॉडर्न इजिप्ट में लिखते हैं कि मिस्र में नासिर के राष्ट्रपति बनने के कारण ब्रिटिश और फ्रांसीसी प्रभाव लगभग समाप्त हो गया तथा विदेशी समुदायों का सामाजिक एवं आर्थिक मामलों में भी प्रभाव काफी कम हो गया था। नासिर ने अपने शासनकाल में साम्राज्यवाद का अन्त कर दिया। इसके अतिरिक्त इन्होंने सामन्तवाद को समाप्त करने हेतु कृषि शुल्क में कमी की तथा मजदूरों को अनेक आर्थिक सुविधाएँ प्रदान की गई। इन्होंने भूमि-एकाधिकार तथा उद्योग-एकाधिकार को समाप्त करने में भी अपनी बुद्धिमत्ता का पूर्ण परिचय दिया। उनके शासन-काल में सामाजिक न्याय का पूर्ण ध्यान रखा गया तथा भ्रष्टाचार का समूल नाश कर दिया गया। सैनिकों की शिक्षा के लिये जर्मन जनरल ऑटो कामंवेचर को नियुक्त

किया गया। इस प्रकार इन समस्त कार्यों के द्वारा एक संकुचित सीमा के अन्दर गणतन्त्रीय व्यवस्था लागू की गई।

स्वेज़ नहर का राष्ट्रीयकरण

मिस्र के राजनैतिक स्वरूप को बदलने के लिए नासिर को एक सुअवसर तब प्राप्त हुआ जब असवान बाँध के निर्माण में अमेरिकी सहायता के प्रस्ताव को अमेरीकी विदेशी मन्त्री जान फॉस्टर डलेस ने वापस ले लिया था। इसके विरोध स्वरूप नासिर ने स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी। के० लव की पुस्तक 'स्वेज़' में लिखा है कि इसका विदेशों में विरोध हुआ परन्तु मिस्र में नासिर की इस नीति का अत्यधिक स्वागत हुआ। नासिर की स्वेज़ के प्रति नीति के कारण अक्टूबर-नवम्बर, 1956 में ब्रिटेन एवं फ्रांस ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया तथा युद्ध के पश्चात् पोर्ट सईद पर ब्रिटिश एवं फ्रांसीसी सेनाओं का अधिकार हो गया। पोर्ट सईद पर ब्रिटिश एवं फ्रांसीसी अधिकार के कारण नासिर की प्रतिष्ठा को अत्यधिक आघात पहुँचा परन्तु सिनाई पर इसराइली विजय ने उसको और अधिक धक्का पहुँचाया।

इन समस्त राजनैतिक परिवर्तनों के उपरान्त भी जुलाई, 1957 को आम चुनाव कराये गये तथा राष्ट्रीय सभा का निर्माण हुआ। परन्तु फरवरी 1958 में सीरिया के साथ संगठन के कारण नासिर को राष्ट्रीय सभा भंग करने का अवसर मिला। नासिर ने वचन दिया कि नयी राष्ट्रीय सभा को मिस्र एवं सीरिया की राष्ट्रीय सभाओं के संयुक्त सदस्यों में से चुना जायेगा। परन्तु मिस्र का शासन आन्तरिक मन्त्रालय के हाथ में आ गया, अतः प्रत्येक प्रदेश के राज्यपाल का पुलिस अफ़सर होना जरूरी हो गया। इस प्रकार 1967 में आन्तरिक मन्त्रालय ने राष्ट्रीय सभा के लिए नये चुनाव करने का कार्यक्रम बनाया किन्तु यह एक लम्बे समय तक टलता रहा जिसके परिणाम-स्वरूप प्रदेशों का नियन्त्रण राष्ट्रपति के हाथों में स्थानान्तरित हो गया।

अतः नासिर की शक्ति में ह्रास होने के उपरान्त यह कहना उचित ही होगा कि गमाल अब्दुल नासिर एक उच्च कोटि के देशभक्त थे। नासिर के सम्मुख कोई सरल उद्देश्य नहीं थे परन्तु शासन-काल की समस्त सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं विदेशी समस्याओं के उपरान्त भी नासिर ने सरकार पर कड़ा नियन्त्रण रखा। उन्होंने अपनी कूटनीति के द्वारा समस्त समस्याओं का समाधान किया। यद्यपि गमाल अब्दुल नासिर को राज्य सत्ता की बहुत अधिक चाह नहीं थी, परन्तु यह कहना उचित ही होगा कि उन्होंने सत्ता का

सद्‌पयोग मिस्र के उत्थान हेतु किया। उन्होंने अनेक चिरस्मरणीय सुधार किए जो निम्न थे :--

कृषि एवं भूमि सम्बन्धी सुधार

मिस्र में कृषि ही देश की अर्थ-व्यवस्था का आधार रही है, परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् मिस्र के खाद्य आयात में बड़ी मात्रा में कमी कर देने के कारण देश मे एक अशान्ति का वातावरण व्याप्त हो गया। इसी कारण राष्ट्रीय आय तथा रहन-सहन के स्तर में गिरावट आ गयी। इस प्रकार 1952 में देश की 65 प्रतिशत जनता कृषि पर निर्भर थी तथा 70 प्रतिशत जनता कृषि उद्योगों में कार्य करती थी। अतएव 9 सितम्बर, 1953 को मिस्र में सुधार नियम की घोषणा की गई। भूमि-वितरण के लिए पुन: एक उच्च परिषद् का गठन किया गया। इसका निर्देशक सईद मेरी था परन्तु सरकार इस परिषद् की आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ थी। पीटर मैन्स-फील्ड के अनुसार अत: सरकार ने आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु कठोर कदम उठाये जिसके परिणामस्वरूप 1953 तक इस विभाग ने, जो बाद में "भूमि सुधार की उच्च परिषद्" के नाम से विख्यात हुई जिसने बहुत ही व्यवस्थित ढंग से कार्य किया। इस परिषद् के अन्तर्गत भूमि-स्वामित्व की सीमा निर्धारित कर दी गई तथा उसके द्वारा प्राप्त अतिरिक्त भूमि का वितरण भूमिहीनों को कर दिया गया।

यद्यपि नासिर से पूर्व भूमि-सम्बन्धी सुधार हेतु किसी संगठन की संरचना नहीं हुई थी तथापि सितम्बर 8, 1952 को भूमि-सुधार अधिनियम की घोषणा की गयी। इस नियम के कार्यान्वयन के लिए एक उच्च समिति का निर्माण किया गया। तत्पश्चात् 1953 के अन्त में भूमि सम्बन्धी सुधारों को कार्यान्वित करने के लिए एक उच्च समिति का संगठन किया गया। इसके अतिरिक्त उत्पादन बढ़ाने के लिए बड़ी मात्रा में तकनीकी प्रणाली अपनाई गई। अधिक पैदावार हेतु अच्छे किस्म के बीजों की व्यवस्था की गई। इसके अतिरिक्त उत्तम किस्म की खाद तथा उसके प्रयोग की सही जानकारी उपलब्ध कराई गई। कीड़ों को मारने के लिए विज्ञान के नवीन उपकरणों का उपयोग किया गया। इस प्रकार इन समस्त प्रयासों के पश्चात् कृषि के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई।

शिक्षा एवं सामाजिक विकास

यद्यपि मिस्र में मुहम्मद अली के शासन-काल में शिक्षा में विकास एव

उन्नति की ओर ध्यान दिया गया था तथा खदीव इस्माइल ने उसके विकास-कार्य हेतु ठोस नींव रखी परन्तु इन समस्त प्रयत्नों के उपरान्त भी शिक्षा के क्षेत्र में कोई विशेष उन्नति दृष्टिगोचर नहीं हुई। 1952 तक मिस्र में इन प्रयासों के लिए शिक्षा का कोई दृढ़ आधार नहीं था, में सैनिकों ने इसका नियन्त्रण अपने हाथ में ले लिया था। अतएव स्वतन्त्र अधिकारी वर्ग ने, जो अधिकांशतः गाँवों में आये थे, "एकता, अनुशासन, काम" के नारे के अन्तर्गत शिक्षा में मूलरूप से सुधार लाने का निश्चय किया।

सैनिक शासन के विचार से शिक्षा ही सामाजिक विकास का आधार थी, अत: एक स्कूल प्रति-दिन के हिसाब से खोलने के लिए आवश्यक धन की व्यवस्था की गई। इसके अनुसार 1955 से 1964 तक लगभग 4 000 स्कूलों की स्थापना की गयी तथा इन स्कूलों की संरचना का काम स्कूल निर्माण विभाग को दे दिया गया। इन विद्यालयों में शिक्षा मन्त्रालय ने योग्य अध्यापकों की नियुक्ति की। इन विद्यालयों के अन्तर्गत मिस्र में प्राथमिक पाठशालाओं का भी निर्माण विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करने हेतु किया गया। इन समस्त विद्यालयों में प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा के अतिरिक्त कृषि एवं उद्योग-सम्बन्धी शिक्षा का पाठ्यक्रम भी निर्धारित किया गया। यद्यपि सैनिक शासन ने प्राथमिक शिक्षा को बड़े उत्साह के साथ प्रारम्भ किया था, परन्तु सरकार अपनी आर्थिक दुर्बलता एवं अव्यवस्था के कारण शिक्षा के विकास की ओर ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकी। अत: सामाजिक विकास के तरीकों में कुछ परिवर्तन करना अनिवार्य हो गया जिसके फलस्वरूप एक नवीन समाज का उद्भव हुआ।

सामाजिक विकास के लिए उच्च शिक्षा में भी परिवर्तन आवश्यक हो गया। क्रान्ति से पूर्व मिस्र में विश्वविद्यालयों की शिक्षा का स्तर बहुत ही निम्न था। विद्यालयों की संख्या बहुत अधिक थी जिसके परिणामस्वरूप शिक्षक, शिक्षा तथा शोध आदि पर ध्यान केन्द्रित करने में असमर्थ थे। **सादिक एच० सम्मन** के मत से इसी के समानान्तर माध्यमिक विद्यालयों की स्थिति थी तथा सरकारी अधिकारी नये स्नातकों से संतुष्ट नहीं थे क्योंकि वे शासकीय कार्यों को पूर्ण करने में अपने को पूर्णतया असफल पाते थे। इस प्रकार मिस्र की शिक्षा के स्तर में सुधार लाने हेतु बहुत से प्रस्ताव रखे गये; उदाहरणार्थ, विश्वविद्यालयों में 1957 में प्रवेश पर रोक लगा दी गयी, माध्यमिक स्कूलों के स्नातकों को 60 प्रतिशत से अधिक अंक पर कालेज में प्रवेश दिया जाने लगा, तकनीकी विद्यालयों में प्रवेश हेतु भी दृढ़ कदम उठाये गये तथा

तकनीकी शिक्षा का विकास किया गया। शिक्षकों के प्रशिक्षण हेतु नये कार्य-क्रमों की रूप-रेखा तैयार की गई जिसके फलस्वरूप शिक्षा के स्तर में वृद्धि हुई।

सन् 1956 के बाद मिस्र की शिक्षा में नवीन विकास हेतु विदेशों द्वारा संचालित विद्यालयों को बन्द कर दिया गया। यद्यपि ये विद्यालय मिस्र में उच्चकोटि की शिक्षा प्रदान करते थे परन्तु कुछ राजनैतिक व्यवधानों के कारण इन विद्यालयों की समाप्ति आवश्यक हो गई थी। इस प्रकार क्रान्ति के पश्चात् शिक्षा का व्यय पहले की अपेक्षा लगभग दूना हो गया था। अतएव मिस्र के शिक्षा-उत्थान में सरकार ने अथक प्रयत्न किये जिसके परिणामस्वरूप मिस्र की निरक्षरता का उन्मूलन सम्भव हो सका।

ग्रामीण विकास

मिस्र में शिक्षा के विकास ने देश के सामाजिक उत्थान में उल्लेखनीय कार्य किया परन्तु नासिर का विचार था कि देश में सामाजिक विकास के साथ-साथ राजनैतिक विकास भी आवश्यक है। अक्टूबर 17, 1953 को 'जन-कल्याण सेवा की स्थायी परिषद्' का निर्माण किया गया तथा 1954 में अब्दुल लतीफ़ बगदादी को नगर एवं ग्रामीण मन्त्रालय का मन्त्री बनाया गया। इस परिषद् का काम शिक्षा, स्वास्थ्य, पुनर्निर्माण तथा सामाजिक कार्यों हेतु एक बृहद कार्यक्रमों की रूपरेखा तैयार करना था। इस समिति ने सम्पूर्ण देश में 864 संयुक्त सेवा इकाइयों की स्थापना की जो एक महत्व-पूर्ण कदम था। प्रत्येक विभाग को पन्द्रह हजार के समुदायों की सेवा करने का कार्य दिया गया। इन विभागों को स्वास्थ्य, कृषि, ग्रामीण उद्योग तथा प्राथमिक विद्यालयों के क्षेत्र में जनता को सुविधाएँ प्रदान करना था, परन्तु कुशल एवं योग्य अधिकारियों के अभाव के कारण प्रशासन जनता में अपने सुधार कार्यक्रमों की रूपरेखा को पूर्णरूप से कार्यान्वित न कर सका।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् मकानों की एक जटिल समस्या थी। अत-एव 1949 में सरकार ने कम खर्च के मकान मजदूरों को देने के लिए एक कार्यक्रम बनाया जिसके अन्तर्गत क्रांतिकारी सरकार ने मकान बनाने के लिए बड़े पैमाने पर आर्थिक सहायता देना शुरू किया। इसके अतिरिक्त 1953 में लोकप्रिय हाउसिंग एवं विकास कम्पनी की स्थापना की गई। इस कम्पनी को सरकार द्वारा मकान बनाने हेतु बड़ी मात्रा में आर्थिक ऋण दिया गया। इस प्रकार मकानों की समस्या सुलझाने हेतु सरकार ने हाउसिंग कोआपरेटिव

के विकास को प्रोत्साहन दिया ।

1952 में समझौतों, मध्यस्थता, सामूहिक सौदे को वैधानिक मान्यता दी गयी, मजदूरों के कल्याण हेतु 'ट्रेड यूनियन' के संगठन को बढ़ावा दिया गया तथा देश में प्रथम बार कृषि मजदूरों को संगठित होने की अनुमति दी गई । सितम्बर, 1953 में श्रमिकों की उच्च सलाहकार समिति का पुनर्गठन किया गया तथा उसमें मजदूरों के प्रतिनिधित्व को बढ़ाया गया । 1955 में मिस्री ट्रेड यूनियन की स्थापना की गई तथा 1957 में एक मिस्री मजदूर संघ की स्थापना हुई । 1955 में मजदूरों की सुरक्षा हेतु बीमा एवं बचत कोष अधिनियम का निर्माण हुआ । इसके अनुसार मजदूरों को अपने भत्ते का पाँच प्रतिशत इसमें जमा करना होता था तथा इसके अतिरिक्त सात प्रतिशत मालिक देता था । **डी० वैंरिनर** के अनुसार मजदूरों को मुआवजा, पेंशन तथा बीमारी की छुट्टी आदि की व्यवस्था इस अधिनियम के अन्तर्गत की गयी । 1953 में नागरिक सेवक बीमा पेंशन कोष बनाया गया जिसमें नागरिकों को अपने भत्ते का दस प्रतिशत देना होता था और इतना ही प्रतिशत सरकार देती थी । इस प्रकार इन दोनों संस्थाओं ने मिस्र में सामाजिक कल्याण के लिए अभूतपूर्व कार्य किये ।

आर्थिक विकास एवं औद्योगीकरण

मिस्र की अर्थव्यवस्था पूर्णतया उद्योगों पर निर्भर नहीं रही अपितु यह कृषि पर आधारित रही । मोहम्मद अली के कार्यकाल में उद्योगीकरण हेतु कई प्रयास किये गए परन्तु सदैव असफलता ही मिली । इसके अतिरिक्त कच्चे माल, बिजली एवं कुशल कारीगरों के अभाव के कारण सामाजिक उत्थान में सदैव व्यवधान ही उपस्थित हुए परन्तु नासिर के सुधार कार्यक्रम के अन्तर्गत बीसवीं सदी में प्रथम 'मिस्र बैंक' की स्थापना हुई । इस बैंक ने कई उद्योग स्थापित किये । द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य मिस्र के उद्योगों में बहुत अधिक वृद्धि हुई तथा युद्ध के पश्चात् मिस्र बैंक एवं अन्य उद्योगों में भी वृद्धि हुई । **पी०के०ओ ब्रायन** के मत से 1951-52 में सरकार ने उद्योग धन्धों की स्थापना में गत वर्षों की अपेक्षा दूना धन व्यय किया जिसके फलस्वरूप 1952 में देश ने अपार मात्रा में निर्यात किया ।

सैनिक क्रान्ति के समय मिस्र की आर्थिक अवस्था बहुत ही शोचनीय थी । परिणामस्वरूप 1952 में उत्पादन विकास के लिए स्थायी परिषद् का निर्माण किया गया । इसको तीन वर्षीय विकास कार्यक्रम बनाने को कहा

गया। इस परिषद् के अन्तर्गत तेल के क्षेत्र में विदेशी कम्पनियों को बराबर-बराबर लाभ पर सुविधाएँ देने का प्रस्ताव रखा गया। इसके अतिरिक्त 1957 में उद्योगों के शीघ्र विकास हेतु एक पंच वर्षीय कार्यक्रम भी बनाया गया।

आर्थिक विकास में कृषि की भूमिका मुख्य होने के कारण इस पर अधिक ध्यान दिया गया। नील नदी की घाटी में पानी की कमी देश की उन्नति के लिए अवरोधक थी। इस नदी की बाढ़ के कारण प्रत्येक वर्ष केवल एक ही फसल हो पाती थी। अतएव 1952 में डॉ॰ ईस्ट ने मिस्री सरकार के अनुरोध पर नील नदी के आर पार एक बाँध बनाने की योजना पर कार्य शुरू किया। नील नदी की योजना के लिए विदेशी विशेषज्ञों को भी आमंत्रित किया गया। तत्पश्चात् 1954 में इस कार्यक्रम को अन्तिम रूप प्रदान किया गया। परन्तु इसके कार्यान्वियन में एक समस्या प्रस्तुत हो गई कि नील नदी के पानी का वितरण किस तरह किया जाय? एच॰ ई॰ हर्स्ट के अनुसार यद्यपि मई 20, 1955 को नासिर ने इस समस्या को समाप्त करने का प्रयास किया परन्तु उसको वास्तविक सफलता कुछ वर्षों के पश्चात् आंग्ल-मिस्री समझौते के समापन के फलस्वरूप प्राप्त हुई। नील नदी के इस बाँध के निर्माण हेतु धन की व्यवस्था करना भी एक बड़ी समस्या थी। इसमें करीब 1, 80, 00, 00, 000 पाउण्ड के खर्चें का अनुमान किया गया जिसमें 60, 00, 00, 000 पाउण्ड विदेशी मुद्रा की जरूरत थी। अत: 1953 के दिसम्बर में एक जर्मन बैंक प्रतिनिधि मण्डल इस विषय में काहिरा गया तथा 1954 में फ्रांसीसी एवं 1953 में अन्तरराष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक ने इस दिशा में प्रयास किये परन्तु ये समस्त प्रयास असफल रहे। ए॰ बौनी के मत में यद्यपि 1954 में अमेरिका ने भी तथा 1955 में रूसियों ने भी इस दिशा में प्रयास किये परन्तु इस विषय में कोई समझौता सम्भव न हो सका जिसके परिणाम-स्वरूप नासिर ने इस समस्या के समाधान हेतु अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया। तत्पश्चात् नासिर ने इस समस्या का अन्त कर एक सुदृढ़ एवं सशक्त राज्य का निर्माण किया।

छ: दिवसीय युद्ध

इस युद्ध का उल्लेख इसराएल के अध्याय में किया गया है। इस युद्ध के कारण नासिर ने स्वयं को मिस्र की पराजय का उत्तरदायित्व देते हुए त्याग-पत्र देने का निर्णय लिया। जनता ने राष्ट्रपति के इस निर्णय का विरोध किया और नासिर को जन मत का निर्णय स्वीकार करना पड़ा।

छः दिवसीय युद्ध के परिणाम

1967 के युद्ध ने स्वेज़ नहर के राजस्व में 80 मिलियन पौंण्ड की हानि पहुंचाई। मिस्र की युद्ध द्वारा महान क्षति को कुछ तो खारतूम सम्मेलन में 95 मिलियन पौण्ड की वार्षिक सहायता ने तथा कुछ तेल की खोज में सफलता ने काफ़ी सीमा तक पूर्ण कर दिया। इसके अतिरिक्त 'हाई डैम'* क्षति ग्रस्त न होने के कारण तथा रूस से सहायता प्राप्त हो जाने की वजह से भी मिस्र को अपने कृषि, उद्योग, तकनीकी विकास इत्यादि क्षेत्रों को विकसित करने का अवसर प्राप्त हो गया।

मिस्र : 1967–

जून 1967 के पश्चात् मिस्र की सैनिक स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गई थी। इसके अतिरिक्त नासिर की उस तस्वीर को जो मिस्री जनता के हृदय पटल में थी कुछ धब्बे आ गये थे। नासिर को इस स्थिति का पूर्णोचित ज्ञान था। ऐसे समय में जब कि मिस्र को सैनिक सहायता की सर्वाधिक आवश्यकता थी, रूस ने शस्त्र सामग्री देना आरम्भ किया। **पी० मेन्सफील्ड** अपनी पुस्तक **'नासिरज़ इजिप्ट'** में लिखते हैं कि जुलाई 23, 1967 को नासिर ने कई सप्ताह के मौन को भंग करते हुये अपने जन सम्बोधन में कहा कि इसराएल का लक्ष्य मिस्र की क्रान्ति को समाप्त करना था और इसराएल का यह ध्येय पूर्ण नहीं हो सका। **आर० स्टीफ़न्ज़** ने अपनी पुस्तक **'नासिर'** में लिखा है कि नासिर ने युद्ध के राजनैतिक पक्ष का उत्तरदायित्व तो अपने ऊपर लिया परन्तु सैनिक दायित्व उन्होंने सैनिक अधिकारियों पर ही रखा। उनके अनुसार उन्होंने इसराएल के सैनिक संकट की सूचना अपने सैनिक अधिकारियों को बहुत पहले से दे दी थी।

अब्द अल-रहीम ने ख़ारतूम सम्मेलन की समीक्षा करते हुये लिखा है कि तदोपरान्त अगस्त में 'ख़ारतूम अरब सम्मेलन' हुआ जिसमें केवल सीरिया ने भाग नहीं लिया। नासिर ने इस सम्मेलन के द्वारा स्वयं को दो प्रकार से लाभान्वित किया। प्रथम उन्होंने क़ुवैत, साऊदी अरब, तथा लीबिया को ब्रिटेन एवं अमरीका से तेल सम्बन्धी 'सम्बन्ध समापन, तब तक जारी रखने

---

* असवान हाई डैम मिस्र के आर्थिक विकास का पुंज है। इस डैम का पूर्ण व्यय लगभग 404 मिलियन पौण्ड अनुमानित है जिसमें वार्षिक लागत पृथक है। डैम 1969-1970 में पूर्णतया तैयार हो गया था। 300 मील लम्बी 'लेक नासिर' 1974 में अपने जल संग्रह में पूर्ण हो गई।

को कहा जब तलक ये दोनों देश मिस्र तथा जार्डन को विपुल धनराशि देकर युद्ध चिह्नों को साफ़ न कर दें। दूसरे नासिर ने शाह फ़ैज़ल से यमन पर समझौता कर 1967 के अन्त तक समस्त 40, 000 मिस्री सैनिकों के निष्क्रमण के प्रस्ताव की मान्यता प्राप्त कर ली।

यद्यपि अक्तूबर 1967 में पुन: मिस्रोजनित एक नौसैनिक झड़प में इसराएल ने स्वेज नहर के तटीय क्षेत्रों को भारी नुक़सान पहुंचाया। **पीटर मेन्सफील्ड** के अनुसार नासिर धीरे-धीरे पश्चिमी एशिया की समस्या को सुलझाने हेतु 'सैनिक पक्ष' के स्थान पर 'राजनैतिक पक्ष' को महत्व देने लगे। थे। अपनी उपरोक्त नीति का समर्थन नासिर ने जुलाई 1969 की रूस यात्रा में प्राप्त किया किन्तु पुन: मिस्री-इसराएली सैनिक झड़पों ने मिस्र-इसराएल सम्बन्धों को 'युद्ध रेखा' पर ही स्थित रखा। राष्ट्रपति नासिर को उनकी नीतियों के कारण फ़िलिस्तीनी संघ ने उन्हें आलोचनात्मक दृष्टि से देखा। अन्ततः गमाल अब्द अल-नासिर पश्चिमी एशिया की समस्या के समाधान को पूर्णरूप दिये बिना ही 28 सितम्बर 1970 को स्वर्गवासी हो गये।

नासिर की मृत्यु ने मिस्र में 'राजनैतिक शून्यता' उत्पन्न कर दी। यद्यपि नासिर ने अनवर सादात को अपना उत्तराधिकारी बनाया था, पर सादात को मिस्र की राजनैतिक स्थिति को संभालने और समझने में काफ़ी समय लग गया।

●

ग्रन्थ-निर्देश संदर्भिका

REFERENCES

मिस्र

1. Adams, C. C. : Islam and Modernism in Egypt, London, 1933.

2. Anderson, M. S. : The Eastern Question, New, York, 1969.

3. Antonius, George : The Arab Awakening, Beirut, 1961.

4. Riffat, Mohammad : The Awakening of Modern Egypt, London, 1947.

5. Baring, E (Earl of Cromer) : Modern Egypt, 2 vols, London, 1908.

6. Abdel-Malek, A : Egypt Military Society, New York, 1968.

7. Berque, J. : Egypt, Imperialism and Revolution, London, 1972.

8. Hurst, H E. : The Nile, London, 1952.

9. Colvin, Auckland : Making of Modern Egypt, London, 1906.

10. Wilcox, William : Sixty Three Years in the East, London, 1935.

11. Hitti, Philip K : The Near East in History, New York, 1961.

12. Wallace, D. M. : Egypt and the Egyptian Question, London, 1883.

13. Young; George : Egypt, New York; 1927.

14. Blunt, W. M. : Garden at Khartoum, London, 1921.

15. Lloyd, Lord : Egypt Since Cromer, 2 vols, London, 1934.

16. Lacouture, J & S. : Egypt in Transition, London 1958.

17. Little, T. : Modern Egypt, London, 1967.

18. Love, K : Suez, the Twice Fought war, London, 1969.

19. Mansfield, P. : Nasser's Egypt, London, 1969.

20. Nasser, Gamal Abd Al : The Philosophy of The Revolution, Buffalo, 1959.

21. O' Brien : The Revolution in Egypt's Economic System, 1952-65, London, 1966,

22. Sadat, A. : Revolt on the Nile, London, 1957.

23. Stephens, R. : Nasser, London, 1971.

24. Vatikiotis, P, J. : The Modern History of Egypt, London, 1969,

25, Zora, P. : Egypt, New York, 1982.

26. Abd al-Rahim, M : A History of Egypt, IV vols, 1979-83.

अध्याय 45

इसराएल

सियोनवाद व यहूदीवाद

चार्ल्स मलिक फ़ॉरेन अफेयर्स में लिखते हैं कि सम्पूर्ण विश्व में इसराएल ही एक ऐसा देश है जिसके राष्ट्रीय चरित्र की विशिष्ठता उसकी जाति, धर्म एव भाषा में निहित है। इस विशिष्टता के कारण ही इसराएल पश्चिमी एशिया पचमेल देशों की अपेक्षा अधिक संगठित और अनुशासित है। दक्षिण-पश्चिम में मिस्र, उत्तर में लेबनान, सीरिया एवं दक्षिणपूर्व में जार्डन द्वारा घिरे इसराएल की भौगोलिक स्थिति भूमध्यसागर के पूर्वी तट पर स्थिति होने के कारण व्यापारिक, राजनीतिक एवं सामरिक दृष्टि से और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। इस क्षेत्र पर शताब्दियों तक सदैव किसी न किसी साम्राज्य का आधिपत्य रहा। इस क्षेत्र के विभिन्न प्रदेशों-अमान, इसराएल, जुदा एवं फिलीस्तीन का नामकरण बीजनटन साम्राज्य के अन्तर्गत किया गया। उपर्युक्त फिलीस्तीन प्रदेश के नाम से ही यूनानियों ने इस क्षेत्र का नाम फिलीस्तीन रखा। रोमन एवं आटोमन सम्राट इस क्षेत्र को सीरिया का अंग मानकर इस पर प्रशासन करते रहे। सातवीं शताब्दी में यहाँ पर अधिकतर अरब निवास करने लगे परन्तु अल्पसंख्यक यहूदी समुदाय सदैव वहाँ बना रहा। नाहुम, शोकोलोव की 'दि हिस्ट्री ऑफ जायोनिज्म में कहा गया है कि प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् जब तुर्की से सीरिया हस्तगत कर लिया गया, फिलीस्तीन पर ब्रिटिश अधिदेश पद्धति का आरम्भ हुआ।

यहूदी अल्पसंख्यक होते हुए भी सम्पूर्ण यूरोप, अमरीका उत्तरी अफ्रीका तथा पश्चिमी एशिया में निवास करते थे। समय के साथ-साथ यहूदी लोगों ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उन्नति की। डेविड टॉम्सन के अनुसार उन्नीसवीं शताब्दी से यहूदीवाद तीन वर्गों में विभाजित हो गया। प्रथम वर्ग में यूरोप के पुरातनपन्थी यहूदी थे जो जन-यहूदी न्याय एवं मान्याताओं के समर्थक थे, द्वितीय वर्ग मध्य तथा पश्चिमी यूरोप और अमरीका की आधुनिक विचार-

धाराओं से प्रभावित था, एवं तृतीय वर्ग उन मार्क्सवादी यहूदियों का था जिन्होंने पुरातन विचारधारा को त्याग कर आधुनिक मार्क्सवाद का समर्थन किया।

परन्तु 1880 में यहूदियों के विरुद्ध वातावरण ने सियोनवाद को जन्म दिया जिसने यहूदी राष्ट्रवादी भावना का विस्तार किया। यहूदी राष्ट्रवाद और सियोनवाद का आधार हिब्रू धर्म का इतिहास है। यद्यपि यहूदी, ईसाई और इस्लाम तीनों धर्मों में ईश्वरपरक ऐतिहासिक समानता है; फिर भी यहूदी धर्म सर्वथा पृथक है क्योंकि इस धर्म के अनुसार यहूदी तथा गैर यहूदी लोगों के जन्म, पैतृकता और सद्भावना में भिन्नता है। यहूदियों के अनुसार यहूदियों ने इब्राहीम और मसीहा के द्वारा उन्हें एक विशेष प्रसंविदा के अन्तर्गत जन्म दिया है। इसके अतिरिक्त ईश्वर ने इनके रहने के लिए एकविशिष्ट सीमायुक्त प्रान्त भी बनाया है जो पुरातन समय में कनान और आधुनिक समय में फिलिस्तीन कहलाता है। इस धर्म के अनुयायियों के अनुसार इस स्थान पर, जो विशेष रूप से उनके लिए ही बनाया गया है, केवल यहूदी ही शान्ति से एवं निर्भय होकर अपने जीवन एवं धर्म का परिपालन कर सकते हैं **याहिया अरमाजॉनी** के अनुसार समय के साथ-साथ यहूदी धर्म में भी दो विचारधाराएँ उत्पन्न हो गयीं। एक याजकीय प्रवृत्ति जो अनुष्ठान एवं नियोजन में आस्था रखती थी। इस धार्मिक प्रवृत्ति के अनुयायी मूसा के न्याय में अक्षरशः आस्था और विश्यास रखते थे। दूसरी तरफ पैगम्बरी विचारधारा के प्रवर्तक अनुष्ठान के विरुद्ध थे, तथा एकीकरण में विश्वास रखते थे। इसके अतिरिक्त वे धार्मिक न्याय को आध्यात्मिक मान्यता प्रदान करने के इच्छुक थे। यहूदी सम्पूर्ण विश्व में फैले हुए थे। परन्तु जहाँ भी ये गये अपने साथ उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं को सँजोये रहे जिसके परिणामस्वरूप दोनों विचारधाराओं के अनुयायी अपने अपने धार्मिक वर्ग की शिक्षा का परिपालन करने लगे। पैगम्बर धर्म वर्ग के अनुयायियों को अपने निर्वासित स्थानों में ही प्रत्येक सामाजिक कर्तव्य निभाने का आदेश था परन्तु राजकीय धर्म को मानने वाले केवल येरुसलम को ही अपना धर्म-स्थान मानते थे, अर्थात् "याजकीय स्कूल" के अनुयायी येरुसलम में निवास करना अपना जीवन-धर्म समझते थे। इसके अतिरिक्त "पैगम्बरी स्कूल" के अनुयायी अपने धार्मिक संस्थान को सार्वजनिक मान्यता प्रदान करने के समर्थक थे परन्तु राजकीय विचारधारा के अनुयायी धार्मिक संस्थान को केवल यहूदियों के लिए ही मान्यता देते थे। इस सियोनी धार्मिक वादविवादों के सन्दर्भ में यह बताना

प्रासंगिक होगा कि याजकीय स्कूल के अनुयायियों की संख्या अधिक थी क्योंकि शताब्दियों तक यहूदियों को बताया गया था कि येरुसलम के अतिरिक्त प्रत्येक क्षेत्र अपवित्र और विदेशी है। इसमें संशय नहीं कि यहूदी लोग अपने अपने क्षेत्रों में निवास करते हुए भी कभी अपने पवित्र स्थान को नहीं भूल पाते थे क्योंकि जब कभी यहूदियों पर अन्याय होता था, वे अपने यहूदी राज्य का स्वप्न साकार करने में प्रयत्नशील हो जाते थे। यहूदियों की इस प्रकार की विचारधारा प्राकृतिक एवं तर्कसंगत थी।

राजनैतिक सियोनवाद

19वीं शताब्दी के अन्त में सियोनवाद केवल धार्मिक न रहकर सामाजिक, राजनैतिक एवं राष्ट्रवादी आन्दोलन बन गया। करहार्ड होल्डहाइम के अनुसार इसराएल की अनुभूति राजनीतिक सियोनवादी आदर्शों पर आधारित थी। उनके अनुसार इस समस्या का समाधान सीमाओं के अर्जन से ही सम्भव था। यूरोप में रहने वाले यहूदी लोगों में एक नवीन विचारधारा ने जन्म लेकर एक बौद्धिक और राजनीतिक आन्दोलन का स्वरूप धारण कर लिया। यूरोप के यहूदियों को समय समय पर ईसाई लोगों ने अत्यधिक त्रस्त किया जिसके फलस्वरूप बहुत से यहूदी मार्क्स के समाजवाद से प्रभावित होते गए परन्तु फिर भी एक वर्ग पुरातनपन्थी यहूदियों का शेष रह गया जो इसमें विश्वास रखता था कि एक दिन मसीहा अपने अनुयायियों को फिलीस्तीन ले जाएँगे और यहूदी राज्य स्थापित हो जाएगा।

उपर्युक्त नवीन राष्ट्रवादी विचारधारा ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में यहूदियों के राजनैतिक, धार्मिक एवं आर्थिक मतभेदों को समाप्त कर उनका राष्ट्रीय संगठन करना प्रारम्भ कर दिया। यहूदियों को संगठित एवं सशक्त राजनैतिक मार्ग प्रदर्शन करने का कार्य सर्वप्रथम तेडोर हर्त्सल ने किया। तेडोर हर्त्सल (1860–1904) एक बौद्धिक व्यक्ति एवं पत्रकार था जिसने प्रसिद्ध ड्रेफ़स मुकदमें*को अपने वियाना के समाचारपत्र में विशेष रूप

---

* कैप्टन एल्फर्ड ड्रेफ़स नामक यहूदी फ्रांसीसी सेना में एक अधिकारी था। उसपर फ्रांसीसी सरकार ने एक अपराध का आरोप लगाकर मुकदमा चला दिया, जबकि यर्थाथ रूप में अपराध एक अभिजात वर्ग के सदस्य ने किया था। ड्रेफस केवल यहूदी होने के कारण दोषी ठहराया गया। यद्यपि कुछ उदार एवं प्रबुद्ध फ्रांसीसियों की सहायता से ड्रेफस को दोषमुक्त कर दिया गया परन्तु यहूदी यह अपमान भूल न सके।

से प्रकाशित किया। हर्त्सल ने अपनी पुस्तक "द ज्यूइल स्टेट" में अपने विचारों को स्पष्ट रूप से प्रकट किया। उन्होंने अपनी पुस्तक में लिखा कि यहूदियों की विशिष्ट राष्ट्रीयता को कदापि समाप्त नहीं किया जा सकता। और यहूदी समस्या का समाधान केवल इस समस्या को राजनैतिक रूप प्रदान करने से ही प्राप्त हो सकता है। हरजल के अनुसार विश्व के सभ्य एवं समर्थ राष्ट्रों को यहूदी प्रश्न पर हर प्रकार से ध्यान देकर इस विश्व समस्या का समाधान करना चाहिए। हरजल ने 1897 में डिवेल्ट नामक साप्ताहिक प्रकाशित किया जो अन्त में सियोनवाद का मुख्य पत्र बन गया।

आधुनिक सियोनवाद 19वीं शताब्दी में यहूदी चिन्ताओं के दो प्रवाहों का आपस में विलीन हो जाना था। प्रथम यहूदी विरोधी कार्यक्रमों एवं अत्याचार से सुरक्षा हेतु यहूदी राज्य स्थापित करने की धार्मिक इच्छा से सम्बन्धित एवं द्वितीय 19वीं शताब्दी के उदारवादी राष्ट्रवादियों द्वारा यहूदी राज्य बनाकर मानवता के ह्रास को समाप्त करना था। धर्म-निरपेक्ष यहूदियों के विचार में भी यहूदी राज्य की स्थापना द्वारा ही सियोनवाद की सुरक्षा सम्भव थी। सियोनवाद आन्दोलन में उपर्युक्त मतभेदों को समाप्त कर थियोडोर हरजल ने 1897 में 'विश्व सियोनी संस्था' की स्थापना कर राजनैतिक सियोनवाद को एक निर्णायक रूप प्रदान किया। इस संस्था का प्रमुख ध्येय फिलीस्तीन में एक यहूदी स्वदेश बनाना था। इस संस्था का द्वितीय ध्येय समस्त यहूदी समुदाय को संगठित करना तथा यहूदी लोगों में राष्ट्र-भावना एवं राष्ट्र जागरण को संचारित करना था। हर्त्सल के अनुसार यहूदियों का आन्दोलन एक सामाजिक अथवा धार्मिक आन्दोलन नहीं था अपितु एक राष्ट्रीय प्रश्न था जिसको विश्व के सम्मुख प्रस्तुत करना उनका प्रमुख उद्देश्य था 1897 में प्रथम विश्व सियोनी कांग्रेस स्विट्जरलैण्ड में बेजल नामक स्थान पर सम्पन्न हुई। इसके अतिरिक्त हर्त्सल ने यहूदी देश के लिए अन्यान्य प्रयत्न किये। फ़िलीस्तीन के उपनिवेशीकरण के लिए आवश्यक आर्थिक समस्या के हल हेतु हर्त्सल के नेतृत्व में व्यापारिक एवं राजनैतिक संगठनों का गठन हुआ।उदाहरण स्वरूप यहूदी-उपनिवेशी न्यास,उपनिवेशीकरण आयोग,यहूदी राष्ट्रीय कोष,फिलिस्तीन कार्यालय एवं फिलिस्तीन भूमि-विकास कम्पनी इत्यादि। आटोमन साम्राज्य के दिवालिया हो जाने के समाचार के पश्चात् हर्त्सल 1901 में सुल्तान अब्दुल हमीद द्वितीय से मिला। उसने आटोमन सुल्तान के समक्ष दो प्रमुख प्रस्ताव रखे जिनके अन्तर्गत एक यहूदी बैंकर सिंडिकेट के द्वारा तुर्की को विदेशी ऋणों से मुक्त करवा दिया जाए एवं यह

अनुरोध किया कि एक आज्ञापत्र के द्वारा यहूदी उपनिवेश स्थापित करने की अनुमति प्रदान कर दी जाय। **लॉयड जार्ज** के मत में हर्त्सल की उपर्युक्त राजनीतिक युक्तियाँ कार्यान्वित न हो सकीं क्योंकि सुल्तान अब्दुल हमीद किसी भी रूप में यहूदी प्रदेश स्वीकार करने को तैयार नहीं था।

सन् 1903 में हर्त्सल ने युगाण्डा में एक यहूदी राज्य बनाने की इच्छा व्यक्त की। इस परियोजना की समालोचना व्यापारी वर्ग ने भी की परन्तु यहूदी राष्ट्रीय आवास एव पूर्वजों की भूमि से सम्बन्धों के प्रति उनमें विचार-वैषम्य था तथापि उन्होंने आरजेन्टाइना, सिनाई, केनिया या अन्य कहीं भी यहूदी राज्य की स्थापना की सम्मति प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की, परन्तु 1904 में ही हर्त्सल की मृत्यु से यहूदी नेतृत्व विज़मन के कन्धों पर आ पड़ा। डॉ० खाइम विज़मन (विट्समन) एक रसायन वैज्ञानिक एवं ब्रिटेन के नागरिक थे। उन्होंने विश्वयुद्ध में ब्रिटेन के लिए एसीटोन द्रव्य के सस्ते उत्पादन की खोज की विज़मन के इस कार्य द्वारा ब्रिटेन को युद्ध में भौतिक लाभ हुआ जिसमें परिणामस्वरूप ब्रिटेन यहूदियों के प्रति सद्भावना प्रदर्शित करने के लिए तत्पर हो गया।

बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में अमरीका और ब्रिटेन में भी यहूदी आन्दोलन आरम्भ हो गया। वहाँ के निवासियों में सियोनवाद ने एक नवीन चेतना एवं जागृति उत्पन्न की। यद्यपि प्रथम विश्वयुद्ध के मध्य सर्वप्रथम जर्मनी ने सियोनवाद का समर्थन किया एवं एक यहूदी राज्य बनाने के लिए तुर्की पर प्रभाव डाला परन्तु युद्ध में मित्रराष्ट्रों के शत-प्रति-शत विजयी होने की आशाओं तथा विज़मन के नेतृत्व ने यहूदियों को ब्रिटेन की ओर आकर्षित किया। 16 अक्टूबर, 1916 को विश्व सियोनवादी संघ ने फिलिस्तीन प्रशासन से सम्बन्धित एक ज्ञापन-पत्र ब्रिटेन को दिया कि यह राज्य अंग्रेजी प्रभाव के क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया जाय।*

जोज़फ़ कोन ने लिखा है कि प्रथम विश्वयुद्ध के मध्य ही ब्रिटेन की राजनीतिक विचारधारा में महान् परिवर्तन हुआ। फ्रांस के साथ एक गुप्त सन्धि (मई 1916 का साइक्स-पीको समझौता) की गई जिसमें फिलिस्तीन के आन्तरिक प्रशासन का प्रस्ताव था। डेविड लायड जार्ज के अनुसार 1916 तक अंग्रेजों की कोई भी सन्धि-योजना फिलिस्तीन से सम्बन्धित नहीं थी। परन्तु

* जर्मन इतिहासकार जोज़फ़ कोन के अनुसार यह ज्ञापन-पत्र विज़मन एवं अंग्रेजों के मध्य मतभेदों के कारण दिया गया, जिसका अन्त बालफ़ूर घोषणा के साथ हुआ।

मिस्र में नियुक्त तत्कालीन अंग्रेज उच्चायुक्त हेनरी मैकमोहन से वार्तालाप (हुसेन-मैकमोहन वार्तालाप, 1915–1916) के मध्य अरबों का यह आश्वासन दिया गया कि यदि वे जर्मनी एवं तुर्की के विरुद्ध ब्रिटेन को सहयोग देंगे तो ब्रिटेन अरब स्वतन्त्रता एवं अरब राज्य की स्थापना करने में सहयोग प्रदान करेगा। प्रथम विश्वयुद्ध में तुर्की के विरुद्ध वैमनस्य ने अन्त में अंग्रेजों को सियोनवाद की ओर आकर्षित करना प्रारम्भ कर दिया।

इसके विपरीत ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीतियों के सम्बन्ध में लिखते हुए प्रथम विश्वयुद्ध के समय लेनिन ने कहा कि अंग्रेज किसी भी कीमत पर फिलिस्तीन एवं मेसोपोटामिया पर अधिकार स्वीकार नहीं करेगा। लॉयड जार्ज ने यह स्वीकार किया है कि अंग्रेज प्रारम्भ से ही इस सिद्धान्त पर विश्वास करते थे कि फिलिस्तीन कभी यहूदियों का राज्य नहीं बन पायेगा। परन्तु इसके साथ साथ अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति मध्य-पूर्व एशिया के तेल कूपों पर भी निर्भर एवं आधारित थी। धीरे धीरे अंग्रेजों ने सियोनी आन्दोलन को समर्थन देना प्रारम्भ किया। रूस में भी केवल मार्क्सवादी यहूदियों के अतिरिक्त बहुमत सियोनवाद के समर्थन में ही था। यथार्थ में सियोनवाद को ब्रिटेन का समर्थन प्रदान कराने में विज़मन के ही प्रयत्नों का प्रमुख योगदान था। ए० फ़ैंज के अनुसार 20 मई 1917 को विज़मन ने ब्रिटिश–सियोनी सम्मेलन में कहा था कि मुझे यह अधिकार प्राप्त है कि मैं इस सभा में ब्रिटिश सरकार की ओर से यहूदियों के राष्ट्रीय देश के प्रति समर्थन का आश्वासन दे सकूं। विज़मन की उपर्युक्त घोषणा से इस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है कि ब्रिटेन ने सियोनवाद को पूर्णतया समर्थन देने का निश्चय कर लिया था। अन्ततोगत्वा 2 नवम्बर 1917 को बालफ़ूर घोषणा* की गई जो अंग्रेजी सरकार के मध्य-पूर्व एशिया में स्वतंत्रता-पूर्वक हस्तक्षेप के सिद्धान्त पर आधारित थी। ऐसी घोषणा करने से पूर्व अंग्रेजों ने कोई भी सूचना फिलिस्तीनी अरबों को नहीं दी। इस घोषणा के अन्तर्गत यह कहा गया कि ब्रिटिश सरकार फिलिस्तीन में एक यहूदी राज्य की स्थापना के पक्ष में है परन्तु इसके साथ साथ यहूदियों को यह भी स्पष्ट कर दिया गया था फिलिस्तीन के गैर-यहूदी वर्ग के धार्मिक एवं नागरिक अधिकारों पर कोई आक्षेप नहीं आना चाहिए। बालफ़ूर घोषणा में यह भी

---

* बालफ़ूर घोषणा ब्रिटेन के राज्य एवं विदेश सचिव लार्ड बालफ़ूर के द्वारा लार्ड राशचाइल्ड को लिखे गये पत्र के रूप में की गयी थी।

कहा गया था कि अन्य देशों में रहने वाले यहूदियों को भी अपने अधिकारों में क्षति नहीं उठानी चाहिए। उपर्युक्त घोषणा को ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल एवं अमरीकन राष्ट्रपति विलसन का समर्थन प्राप्त था। जे० फ़्रैडरिक ने लिखा है कि इस घोषणा के अन्तर्गत फिलिस्तीन अधिदेश को अमरीका के अधिकार में रखना निश्चित किया गया था परन्तु इस प्रस्ताव के विरुद्ध लन्दन में तीव्र विरोध प्रारम्भ हो जाने के कारण अन्त में ब्रिटिश विदेश मन्त्रालय के श्वेत-पत्र में यह निश्चय किया गया कि यह अधिदेशी शासन ब्रिटेन के ही अधीन रहेगा।

अंग्रेज कूटनीतिज्ञ यह स्वीकार करते हैं कि बालफ़ूर घोषणा केन्द्रीय शक्तियों को कमज़ोर एवं मित्र राष्ट्रों को शक्तिशाली बनाने के लिए की गई थी एवं यह पूर्णतया ब्रिटिश सामरिक सिद्धान्तों पर आधारित थी तथा इसका लक्ष्य विश्व के समस्त यहूदियों को प्रभावित करना एव अमरीका के स्वर्ण व्यापारियों को अपने प्रभाव में लेना था क्योंकि मित्र राष्ट्र अमरीकी सोने को खरीदने में ही अशक्त हो चुके थे।

साथ ही साथ ब्रिटेन स्वयं भी मध्य-पूर्व एशिया में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने का इच्छुक था, ऐसा 1917 के संसद के बालफ़ूर घोषणा से सम्बन्धित वाद-विवादों से विदित होता है। संसद में लार्ड बालफ़ूर से यह प्रश्न किया गया कि 'इस घोषणा की सूचना मित्र-राष्ट्रों को है या नहीं' एवं 'यह मित्र-राष्ट्रों का युद्ध लक्ष्य है अथवा स्वय ब्रिटेन का'। इन दोनों प्रश्नों के उत्तर में विदेश सचिव ने केवल इतना कहा कि 'किसी भी प्रकार मित्र-राष्ट्रों को इसकी सूचना नहीं है'।

इस घोषणा के परिणामस्वरूप जॉर्डन के पश्चिम में फिलिस्तीन की समस्या और अधिक गम्भीर हो गई। ब्रिटिश नीति ने यहूदी और अरबों के मध्य वैमनस्य एवं प्रतिस्पर्धा को तीव्रता प्रदान कर दी जिसके फलस्वरूप यहूदियों के विरुद्ध 1929, 1933 और 1937 में अरब विद्रोह व्यापक रूप में हुए। ब्रिटिश सरकार को सेना का प्रयोग करने तथा 1937 मे फिलिस्तीन को विभाजित करने का सुझाव दिया गया जिसका 1939 में अरबों तथा यहूदियों ने तीव्र विरोध किया। उपरोक्त घोषणा ने अरब निवासियों को विरोध प्रकट करने पर बाध्य कर दिया था परन्तु अंग्रेजों ने अरबों क नेता शाह हुसैन को आश्वासन देकर शान्त कर दिया। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् फ़ैजल-विज़मन समझौते (जनवरी 1919) के अन्तर्गत यहूदी आप्रवासी बहुत अधिक सख्या में फिलिस्तीन आने लगे। आगामी वर्षों में अप्रवास की समस्या

बढ़ती ही गई। तत्पश्चात् पेरिस शान्ति सम्मेलन में राष्ट्रपति विल्सन के अनुरोध पर उस क्षेत्र में किंग-क्रेन आयोग भेजा गया। परन्तु इस आयोग से कोई सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। अत: राबर्ट लीन्डन के मतानुसार शान्ति सम्मेलन के अन्त में सियोनवाद बालफ़ूर घोषणा को राजनैतिक रूप में परिणत कराने में सफल हो गया एवं इस प्रकार 1919 से सियोनवाद अपनी नींव सशक्त करके अपने राष्ट्र-स्थापन-मार्ग पर अग्रसर हुआ।

युद्धोपरान्त इसराएल

सैन रेमो सम्मेलन में जब फिलिस्तीन को ब्रिटिश अधिदेश पद्धति के अधीन किया गया तो उसी समय यहूदियों को अपने कार्य सुविधा हेतु एक यहूदी एजेन्सी (ज्यूइश एजेन्सी) रखने का भी प्राविधान किया गया। यह एजेन्सी अधिदेश शासन के अन्तर्गत एक स्वयं में प्रशासन था जिसका एक मात्र ध्येय यहूदियों के कल्याण कार्य करना था। इस संदर्भ में यह जान लेना रुचिकर है कि ऐसा कोई प्राविधान अरबों के प्रति नहीं किया गया था।

सैन रेमो सम्मेलन के पश्चात् ब्रिटेन से सर हरवर्ट सैमुअल को फिलिस्तीन का उच्चायुक्त नियुक्त किया गया। सर सैमुअल दो हजार वर्षों से भी अधिक समय के पश्चात् प्रथम यहूदी थे जो फिलिस्तीन के शासक के रूप में नियुक्त किये गये। हरवर्ट सैमुअल ने यहूदी होने के नाते अरब वर्ग को प्रसन्न करने हेतु हज अमीन-अल-हुसैनी को येरुसलम का मुफ़ती नियुक्त किया। मुफ़ती धार्मिक धर्मस्त्र का संरक्षक था और उनके वक्फ़ की आय लगभग 3 लाख डालर प्रतिवर्ष थी। यह विडम्बना थी कि मुफ़्ती द्वितीय विश्वयुद्ध में बर्लिन से यहूदियों एवं मित्र राष्ट्र के विरुद्ध वक्तव्य देने लगे थे।

प्रथम सियोनी विरोधी उपद्रव येरुसलम में 1921 में हुआ। इन उपद्रवों की जाँच हेतु एक स्थानीय जाँच समिति सर थामस हेक्राफ्ट की अध्यक्षता में नियुक्त की गई। हेक्राफ्ट जो कि फिलिस्तीन के मुख्य न्यायाधीश थे, उन्होंने अपनी रिर्पोर्ट में यह निर्णय दिया कि यहूदी राष्ट्रवादियों के कार्यक्रम से भयभीत होकर अरबों ने उपद्रव आरम्भ किये। विनिस्टन चर्चिल ने जो उस समय उपनिवेश कार्यालय के अध्यक्ष थे एक विस्तृत वक्तव्य दिया जिसका अभिप्राय दोनों अरबों और यहूदियों को प्रसन्न रखना था। विन्सटन चर्चिल ने इस तथ्य को स्पष्ट किया कि "ग्रेट ब्रिटेन का ध्येय फिलिस्तीन को इतना यहूदी बना देना नहीं था, जितना कि इंग्लैण्ड अंग्रेजों के लिये है"। चर्चिल ने यह भी कहा कि यहूदी लोग फिलिस्तीन में यद्यपि

अधिकारस्वरूप हैं किन्तु उनके प्रत्येक कार्य को मौन स्वीकृति नहीं दी जायेगी। ग्रेट ब्रिटेन ने अपने तीस साल के अधिदेश पद्धति के शासन में दो पारस्परिक विरोधी व्यावसीय नीतियों का उपयोग किया। प्रथम ब्रिटेन यहूदियों को फिलिस्तीन में "राष्ट्रगृह" देने में सहायक था और दूसरी ओर अरबों के नागरिक एवं धार्मिक अधिकारों को सुरक्षा प्रदान करना चाहता था। ब्रिटेन के लिए एक ही समय में दोनों नीतियों का प्रयोगात्मक रूप देना सम्भव नहीं था क्योंकि यहूदी अरब दो समानांतर रेखाओं की भांति थे जो कभी भी एक नहीं हो सकते थे।

फ़िलिस्तीन में 1921 के उपद्रवों के पश्चात् प्राय: आठ वर्षों तक शान्ति पूर्ण वातावरण रहा। इसी मध्य यहूदी एजेन्सी ने अपने कार्यक्रम को विस्तृत करना आरम्भ कर दिया। इस एजेन्सी का सर्वप्रथम ध्येय फ़िलिस्तीन में यहूदी अप्रवास में वृद्धि करना था ताकि फ़िलिस्तीन में अरबों से अधिक यहूदियों की संख्या हो जाय। **याह्या अरमाजानी** ने अप्रवास के प्रति अपनी पुस्तक में लिखा है कि 1922 में फिलिस्तीन की जनसंख्या 7 लाख, 44 हजार थी। जिसमें से 83 हजार यहूदी थे। 1922–30 के मध्य अरब जनसंख्या में 23 प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि यहूदी जनसंख्या में शत प्रतिशत फलत: 1940 तक फिलीस्तीन की 30 प्रतिशत जनता यहूदी थी।

डी० आर० इलस्टन ने फिलिस्तीन में यहूदी जनसंख्या के विषय में निम्नलिखित तथ्य की जानकारी को स्पष्ट किया है।

(1) यहूदी अप्रवास अधिदेश पद्धति से लेकर 1932 तक बहुत अधिक नहीं था।

(2) अधिकतर यहूदी जो अप्रवास के इच्छुक थे। वे पोलैण्ड और रूस के थे।

(3) इन अप्रावासियों में बहुसंख्या फिलिस्तीन न जाकर अमरीका और अन्य पश्चिमी देशों में जाने की इच्छुक थी।

(4) यहूदी तभी फिलिस्तीन में आना चाहते थे जब मूल देशों में उनकों उत्पीड़नता का आभास होता था।

(5) अमरीका की अप्रवास प्रतिबन्ध नीति के कारण फिलीस्तीन में अप्रवास की संख्या में वृद्धि हुई। 1925 में अमरीका के अप्रवास कानून बना देने के पश्चात केवल दस हजार यहूदी अमरीका जा सके जबकि 1924 में 50 हजार गये।

(6) यहूदियों का अप्रवास फिलिस्तीन में हिटलर की नीति के कारण

अत्याधिक हुआ। यदि हिटलर का क्रमबद्ध यहूदी समापन कार्य आरम्भ न हुआ होता तो सम्भवत: इतना यहूदी फिलिस्तीन में न आया होता। फलस्वरूप फिलिस्तीन एक शांतिपूर्ण यहूदी राष्ट्रगृह होता। परन्तु यह धारणा भी आधुनिक इतिहास की दीर्घ "यदि" होकर रह गई।

यहूदी एजेन्सी फिलिस्तीन में राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा शैक्षिक कार्य करने आरम्भ कर दिये। यहूदी एजेन्सी ने त्रिस्तरीय हिब्रू शिक्षा पद्धति स्थापित की जिसके अन्तर्गत प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्चतर शिक्षा आरम्भ की गई। इसके अतिरिक्त वास्तुकला, सगीत की शिक्षा का भी प्रयोजन किया गया। हिब्रू विश्वविद्यालय की स्थापना के साथ ही फिलिस्तीन,हिब्रू शिक्षा का 'हृदय स्थल' बन गया। यहूदी एजेन्सी ने तकनीकी शिक्षा का प्रबन्ध किया और फिलिस्तीन का औद्योगीकरण आरम्भ किया। इस क्षेत्र का विकास तीव्र गति से हुआ। उदाहरणतया 1939 तक 90 प्रतिशत उद्योग यहूदियों के थे।

औद्योगीकरण ने इतना मतभेद नहीं उत्पन्न किया जितना कि अप्रवास और भूमि क्रय ने विषमता उत्पन्न की। यहूदियों ने अरब भूमिधरों से ऊँचे मूल्यों पर भूमि क्रय की। इस प्रकार उन्होंने फ़िलिस्तीन में अरबों से अधिकाधिक भूमि हस्तगत कर ली। भूमि विक्रय से अरब सामन्तवर्ग को तो विशेप अन्तर नहीं पड़ा, किन्तु भूमि श्रमिक इसके द्वारा बेरोजगार हो गये। इस प्रकार यहूदी एजेन्सी ने भूमि, उद्योग, कृषि, एवं शिक्षा के विस्तार के द्वारा यहूदियों को फ़िलिस्तीन में पूर्णतया स्थापित कर दिया। इस यहूदी व्यवस्थापन का एक रूचिकर अध्ययन करते हुये **हैमण्ड, सीडनी एवं एलेग्ज़ाण्डर** ने लिखा है, कि जो यहूदी अप्रवास के लिये आ रहे थे वह अधिकतर पोलैण्ड और रूस के थे और उनका पोषण करने के लिये धनराशि पश्चिमी यूरोप और अमरीका से आ रही थी। अत: मार्क्सवादी आदर्शों से युक्त जनता का पोषण साम्राज्यवादी देश कर रहे थे। फिलिस्तीन में यहूदियों की राजनैतिक धारणा में विविधता थी। फिलिस्तीन के यहूदी निवासियों में साम्यवाद से पूँजीवाद तक और धर्म से धर्मनिरपेक्षता तक की विचारधारा को लेकर राजनैतिक दल थे। यहूदी नेताओं में भी अपने राष्ट्रवादी विचारों में मतभेद था। जैंगविल के शब्दों में सियोनवादियों का आदर्श लक्ष्य इसराएल था जो 'बिना लोगों की भूमि के लिये बिना भूमि के लोग'।

एक अन्य सियोनवादी वर्ग, जो स्वयं को संशोधनवादी कहते थे, सियोनवादियों के मुख्य नेताओं की आधुनिकीकरण की नीति के विरुद्ध थे,

यह ब्रिटिश अधिदेश पद्धति को समाप्त कर समस्त क्षेत्र पर यहूदी राज्य (राष्ट्र-गृह) बनाने के इच्छुक थे। इस प्रकार की माँग 1919 के पेरिस शान्ति सम्मेलन में सियोनी नेताओं ने प्रेषित की थी, उस समय उनके प्रेषित मान-चित्र में ट्राँस-जार्डन, सीरिया और लेबनान का भी मुख्य हाथ था। एक अन्य सियोनी वर्ग अरबों के साथ गठबन्धन का समर्थक था। इस सियोनी वर्ग ने 'इ-हुद' (यूनियन पार्टी) का संगठन किया, इस दल को कार्यनियोजित करने वाले मुख्य लोगों मे हिब्रू विश्वविद्यालय के अध्यक्ष जुडा मैगनस, दार्शनिक, चिन्तक मर्टिन बबर तथा अन्य बुद्धिजीवी लोग थे। इन लोगों का वास्तविक लक्ष्य फिलिस्तीन में द्विराष्ट्रीय राज्य की रूप रेखा प्रस्तुत करना था। अपने इस कार्यक्रम में ये लोग सियोनवाद आन्दोलन के समक्ष नितान्त अस-फल रहे।

इसी मध्य यहूदी एजेन्सी जिसने यहूदियों को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक तथा सांस्कृतिक संगठन प्रदान किया था, अपना कार्य सुचारु रूप से कर रही थी। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में एजेन्सी ने यहूदियों की कृषि उद्योग तथा अन्य सुरक्षा हेतु सुरक्षा सेना का निर्माण किया। एक सुरक्षा संगठन बना जिसका नाम 'हैशोमर' था, प्रथम विश्वयुद्ध के मध्य, एक अन्य सुरक्षा सेना का निर्माण किया गया जिसका नाम 'हाग्नाह' था, इसका मुख्य ध्येय फिलिस्तीन में यहूदियों के व्यवस्थापनों की सुरक्षा करना था। इस सेना को हिस्त्रादूत (यहूदी श्रमिक संघ) तथा यहूदी एजेन्सी से आर्थिक सहायता मिलती थी। एक अन्य सैनिक संगठन संशोदकीय दल के द्वारा संगठित किया गया, इस युयुत्सुक सेना का नाम 'इरगुन था', परन्तु सर्वाधिक राष्ट्रवादी संगठन (स्टर्नग्रुप) इसराएल की स्वाधीनता के उग्रवादी स्वरूप का पोषक था। यहूदी एजेन्सी ने इन संगठनों की सदैव आलोचना की किन्तु 1948 में इसराएल-अरब युद्ध के समय समस्त दल एक सूत्र में बँध गये।

जार्ज लैन्जोबिस्की के मत में यहूदियों की एजेन्सी की तुलना में अरब समुदाय का कोई भी सुनियोजित कार्यक्रम नहीं था। अरबों में केवल धार्मिक सस्थाओं के अधिष्ठाता थे, परन्तु राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक रूप से एकसूत्री गठबन्धन करने हेतु कोई भी नेतृत्व संस्था नहीं थी। अरबों की शिक्षा का प्रवन्ध केवल अधिदेश पद्धति की शिक्षा संस्थानों पर निर्भर था। इस प्रकार अरब किसी भी क्षेत्र में यहूदियों की तुलना में नहीं आते थे। इसलिए अरबों के पास केवल दो ही अस्त्र रह गये थे, विरोध प्रगट करना और उपद्रव करना।

प्रथम गम्भीर अरब उपद्रव अगस्त 1929 में यहूदियों के विरुद्ध आरम्भ हुआ। येरुसलम, हेब्रौन तथा अन्य नगर इन उपद्रवों के अहेर थे। इन उपद्रवों की जाँच करने हेतु एक समिति व आयोग सर वॉल्टर शॉ की अध्यक्षता में गठित किया गया। इस आयोग ने अपने प्रतिवेदन में अरबों को उपद्रवों के प्रति आरोपित किया और यह भी कहा, कि अप्रवास भूमिक्रय तथा भूमि स्थानान्तरण के प्रति स्पष्ट नीति होनी चाहिए। यहूदियों ने शॉ प्रतिवेदन को अपने विरुद्ध समझ कर विरोध प्रकट किया। इस विरोध पर ग्रेट ब्रिटेन ने सर जॉन होप सिम्सन की अध्यक्षता में भूमि समस्या के अध्ययन हेतु एक आयोग भेजा। इस आयोग की रिपोर्ट अथवा प्रतिवेदन ही पॉसफील्ड श्वेत पत्र का आधार था। श्वेतपत्र ने अरब और सियोनी उग्रवादियों की माँग को स्वीकार किया और मत व्यक्त किया कि दोनों वर्गों में सहयोग होना चाहिये।

इस पत्र ने सियोनी सम्प्रदाय में अमर्प की भावना का प्रादुर्भाव कर दिया। श्वेत पत्र के विरोध में सियोनी संगठन तथा यहूदी एजेन्सी के अध्यक्ष विजमन ने त्यागपत्र दे दिया। फलस्वरूप यूरोप और अमरीका के यहूदियों ने ग्रेट ब्रिटेन सरकार के श्वेत पत्र का घोर विरोध किया। ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री रैमज़े मैक्डौनेल्ड ने विज़मन को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने अप्रवास तथा भूमिक्रय के प्रति यहूदी समुदाय की शंका का निराकरण किया। अरबों में प्रधान मन्त्री के इस पत्र को "काला पत्र" कहा।

1933-36 के मध्य ब्रिटिश अधिदेश पद्धति में अनेक अरब उपद्रव हुये जिनमें से अधिकतर ब्रिटिश अधिदेश पद्धति के विरुद्ध थे। 1936 में अरब राजनैतिक दल येरुसलम के मुफ्ती हज अमीन अल हुसैनी के नेतृत्व में आम हड़ताल का आह्वान किया। इस हड़ताल के मध्य उपद्रवों ने हिंसात्मक रूप लेकर अरब-यहूदी संघर्ष के वैमनस्य को और अधिक तीव्र कर दिया। ग्रेट ब्रिटेन अपनी दम्भपूर्ण नीति तथा परस्पर विरोधी वचनों के कारण पुन: इस अरब यहूदी उपद्रवों में ग्रस्त हो गया।

ग्रेट ब्रिटेन के पास जाँच आयोग के अतिरिक्त कोई और उपचार न था। अत: अक्टूबर 1936 में लार्ड पील की अध्यक्षता में तथ्यों की जाँच करने हेतु आयोग भेजा गया। पील आयोग ने यह निर्णय दिया कि ब्रिटिश सरकार एक ही समय में अरबों को स्वायत्त शासन और यहूदियों को राष्ट्रीय गृह प्रदत्त नहीं कर सकती। अत: पील आयोग ने फिलिस्तीन को अरब और यहूदियों में विभाजित करने का सुझाव दिया तथा येरुसलम और बेथलहम

को अधिदेश पद्धति के आधीन ही रखने का समर्थन किया।

विभाजन के इस प्रस्ताव पर मिश्रित प्रतिक्रियायें हुई। यहूदी और अरबों में कुछ ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया किन्तु अधिकतर यहूदियों और अरबों ने इसका विखण्डन किया। इसी मध्य द्वितीय विश्वयुद्ध के मेघ आच्छादित हो चुके थे और युद्ध प्रारम्भ हो चुका था। हिटलर की नीतियों के कारण यहूदी सन्त्रस्त थे और जर्मन यहूदी अधिक से अधिक फ़िलिस्तीन आना चाहते थे। ऐसी स्थिति में फ़िलिस्तीन में गृहयुद्ध की पूरी सम्भावना थी। स्थिति पर नियन्त्रण करने हेतु ब्रिटिश सरकार ने फरवरी 7, 1939 को आयोग न भेजकर एक गोलमेज़ सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन में ग्रेट ब्रिटेन सरकार ने नर्म पन्थी और उग्र पन्थी और फिलिस्तीनी अरबों को सियोनवादी और ग़ैर सियोनवादी यहूदियों को तथा मिस्र, इराक़, सऊदी अरेबिया और ट्रांस-जार्डन के प्रतिनिधियों को यूरोप और अमरीका के यहूदी नेताओं को आमन्त्रित किया। इस सम्मेलन में ब्रिटेन ने दोनों पक्षों के नेताओं मे वार्तालाप कर समझौते हेतु समाधान करने की चेष्टा का विचार किया था, किन्तु **अरमाजॉनी** के शब्दों में अरबों ने इस आमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया और यह सम्मेलन प्रतिनिधियों को मेज़ के इर्द गिर्द बिठाने में भी सफल नहीं हुआ।

द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भित भय ने योरोपीय क्षितिज पर जर्मनी के भय को अंकित कर दिया था। ऐसी स्थिति में ग्रेट ब्रिटेन ने मई 17, 1939 को एक श्वेत पत्र प्रेषित किया। इस श्वेत पत्र के अन्तर्गत अरबों के प्रति ब्रिटिश सरकार की स्पष्ट पक्षपातपूर्ण नीति लक्षित थी। इस श्वेत पत्र में यह योजना प्रस्तुत की गई कि फिलिस्तीन को दस वर्षों के लिए द्विराष्ट्रीय राज्य बनाकर स्वतन्त्रता दे दी जाय। इसके अन्तर्गत 75 हजार अप्रवासियों को आगामी 5 वर्षों में फिलिस्तीन में आने की छूट दी गई और इससे अधिक अप्रवास को अरबों की स्वीकृति पर निर्धारित करने के लिए कहा गया। भूमि विक्रय पर अधिकतर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इस श्वेत पत्र का आशय तथा लक्ष्य द्वितीय विश्वयुद्ध में अरबों को अपने साथ रखना था। ब्रिटिश सरकार की यह योजना असफल रही क्योंकि दोनों ओर से इस श्वेत पत्र को अस्वीकार किया गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध में हिटलर और ग्रेट ब्रिटेन के मध्य यहूदियों के पास ब्रिटेन के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। बेन गुरियाँ के शब्दों में "हम श्वेत पत्र का ऐसे विरोध करेंगे जैसे युद्ध नहीं है और युद्ध में पूर्णतया सहयोग

देगे जैसे श्वेत पत्र नहीं है"।

युद्ध में यहूदियों ने अरबों से अधिक जर्मनी के विरुद्ध मित्रराष्ट्रों का साथ दिया।

1944 में ब्रिटेन ने यहूदियों को अपनी सैनिक ब्रिगेड निर्माण (संगठन) करने की अनुमति प्रदान कर दी। इस सैन्य बिग्रेड के लिये अपनी स्वयं की पताका एवं सैनिक चिह्न का भी प्रयोजन किया गया। इस सेना ने युद्ध के अन्तिम वर्षों में मित्र राष्ट्रों को अत्याधिक सहयोग प्रदान किया।

बिल्टमोर सम्मेलन

युद्धोमध्य एक घटना ने फिलिस्तीन समस्या को अत्याधिक प्रभावित किया। और यह घटना थी बिल्टमोर योजना। 11 मई, 1942 को अमरीकन सियोनवादी सघ ने एक स्योनवादी सम्मेलन बिल्टमोर होटल न्यूयार्क में संयोजित किया। इस सम्मेलन का लक्ष्य युद्ध कालीन परिवर्तनशील स्थिति में यहूदियों की माँग को प्रस्तुत करना था। बिल्टमोर योजना ने निम्नलिखित निर्णय लिये।

(1) बालफ़ुर घोषणा के मूल तत्वों की मान्यता प्रदान करना।

(2) यहूदी राज्य की स्थापना करना।

(3) 1939 के श्वेत पत्र का खण्डन करना।

(4) यहूदी सेना का निर्माण करना।

(5) अप्रतिबन्धित अप्रवास के द्वारा यहूदियों को फ़िलिस्तीन में प्रवास कराना।

(6) यहूदी एजेन्सी को और अधिक भूमि अधिकार प्रदत्त करना।

इस योजना के विरुद्ध इहुद दल के बुद्धिजीवी सदस्यों ने इसका विरोध किया।

सी० साईक्स ने उपरोक्त सम्मेलन का निष्कर्ष देते हुए लिखा है कि बिल्टमोर योजना ने दो मुख्य कार्य किये : प्रथम बिल्टमोर सम्मेलन ने सियोनवाद को ग्रेट ब्रिटेन से हट कर अमरीका पर आश्रित कर दिया। इस प्रकार 30 साल से चली आ रही अशांत एवं संकुचित ब्रिटिश-सियोनी सम्बन्ध समापन की ओर अग्रसर हो गये। द्वितीय कार्य इस योजना ने सियोनवाद संघर्ष को त्वरित कर सम्पन्न किया।

युद्धोपरान्त यहूदियों के अप्रवास की समस्या और अधिक गम्भीर हो गई। अमरीका के राष्ट्रपति हैरी ट्रूमन ने ब्रिटिश सरकार को फ़िलिस्तीन

में एक लाख यहूदी शरणार्थियों को आश्रय देने के लिये कहा। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री क्लीमैन्ट एटली ने फिलिस्तीन की समस्या की गम्भीरता का उल्लेख करते हुये अमरीकी राष्ट्रपति को एक आंग्ल-अमरीकी आयोग संगठित कर वास्तविक स्थिति की जाँच करने का परामर्श दिया।

आंग्ल-अमरीकन आयोग

आंग्ल-अमरीकन आयोग ने अपना कार्य ऐसे वातावरण में आरम्भ किया जबकि फिलिस्तीन में विद्वेष और असुरक्षा की भावना सर्वत्र विद्यमान थी। यहूदी गुप्त सैन्य संस्थायें अंग्रेजो के विरुद्ध अपना कार्य कर रहीं थी। उदाहरणतया इरगुन, हागनाह तथा स्टर्न आतंकवादी संस्थायें रेल, तेल के कारखानें, बैंक, पुल तथा अंग्रेजी सैनिकों पर आक्रमणशील थीं। अंग्रेजी प्रशासन सफल नहीं था, क्योंकि यहूदी नागरिक इन संस्थाओं को पूर्ण सहयोग दे रहे थे। सार्वधिक मुख्य घटना येरुसलम में किंग डेविड होटल में स्थिति ब्रिटिश सैन्य मुख्य कार्यालय का बमकांड था। यह कार्य इरगुन संस्था का था, इसमें लगभग 10 कर्मचारी हताहत हुये।

आंग्ल-अमरीकन आयोग ने अप्रैल 30 1946 को अपनी रिर्पोट प्रस्तुत की। अपने प्रतिवेदन के सुझाव में इस आयोग ने कहा कि फ़िलिस्तीन यहूदी अरब राज्य न रहकर द्विराष्ट्रीय एवं द्विभाषीय राज्य हो जिसमें अरबों और यहूदियों के राज्य की सुरक्षा की जाय। आयोग ने एक लाख यहूदियों के अप्रवास का सुझाव भी दिया। राष्ट्रपति ट्रूमन अप्रवास के सुझाव में अत्यन्त रुचि रखते थे और जिस सायंकाल यह रिर्पोट प्रकाशित हुई राष्ट्रपति ने एक लाख अप्रवास का पुनः समर्थन किया।

प्रधान मन्त्री एटली ने केवल अप्रवास के सुझाव को मानने से इंकार कर दिया। उनका कथन था कि प्रतिवेदन पूर्ण तरह से उपेक्षित होना चाहिये। इसी मध्य ब्रिटिश सरकार ने अरब-यहूदी सन्धि करवाने की चेष्टा की किंतु बेन गुरियाँ के नेतृत्व में उग्रवादी सियोनी अब पूर्णतया अपना राज्य स्थापित करने के पक्ष में थे। इस उग्रवादी आन्दोलन में अमरीका के यहूदी सर्वाधिक सहयोग कर रहे थे।

ब्रिटिश सरकार ने फिलिस्तीन समस्या को संयुक्त राष्ट्र को सौंप देने का निर्णय दिया। यह निर्णय फरवरी 18, 1947 को ब्रिटिश विदेश सचिव बेविन ने घोषित किया। संयुक्त राष्ट्र की आमसभा ने सितम्बर में एक आयोग नियुक्त किया। फ़िलिस्तीन के प्रति संयुक्त राष्ट्र की विशेष समिति

में ग्यारह राज्यों की सदस्यता थी। यह राज्य थे--आस्ट्रेलिया, कैनेडा, चेकोस्लोवाकिया, ग्वाटेमाला, भारत, ईरान, नीदरलैण्ड, पेरु, स्वीडन, उरुग्वे और युगोस्लाविया।

संयुक्त राष्ट्र की विशेष समिति सर्वसम्मत प्रतिवेदन देने में असमर्थ रही। भारत, ईरान और युगोस्लाविया ने अल्पसंख्यक प्रतिवेदन प्रस्तुत कर फिलिस्तीन राज्य संघ का परामर्श दिया। अन्य सदस्यीय देशों ने विभाजन का प्रस्ताव रखा। यहूदियों ने विभाजन को स्वीकार किया किन्तु अरबों ने अस्वीकार कर दिया। फलतः संयुक्त राष्ट्र की राजनैतिक समिति ने विभाजन के प्रस्ताव को स्वीकार किया। इस समिति ने फिलिस्तीन को 6 भागों में विभक्त किया—तीन अरबों का भाग था और तीन यहूदियों का। प्रत्येक क्षेत्र में जनसंख्या के आधार पर फ़िलिस्तीन का 56 प्रतिशत क्षेत्र यहूदियों को दिया गया; 43 प्रतिशत अरबों को और शेष एक प्रतिशत में येरुसलम और बेथलहम पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण का परामर्श दिया गया। विभाजन योजना संयुक्त राष्ट्र के सदन में 13 के मुकाबले 33 वोटों से समर्थित हुई इसमें 11 देश अनुपस्थित थे।

गृह युद्ध और यहूदी राज्य की स्थापना

राष्ट्र संघ के निर्णय के तुरन्त पश्चात संयुक्त फिलिस्तीन में गृह युद्ध प्रारम्भ हो गया। ब्रिटिश सेना ने निर्हस्तक्षेप की नीति रखी, क्योंकि वह अपने प्रत्याक्रमण में रुचि रखते थे। अरबों को पड़ोसी अरब राज्यों ने युद्ध सामग्री से सहायता दी और यहूदियों को अमरीका और चेकोस्लोवाकिया ने पूरा सहयोग दिया। अरबों की तुलना में यहूदी अधिक सैन्य प्रशिक्षित और युद्ध सामग्री से युक्त थे। डान परेज के अनुसार यहूदियों के अनेक सैन्याधिकारी तथा सैनिक द्वितीय विश्वयुद्ध के योद्धा थे। दोनों ओर से बम विस्फोट और हिंसात्मक कार्य आरम्भ हुये। उदाहरणतया ईरगुन-स्टर्न संस्था ने 254 अरब पुरुष, स्त्री और बच्चों की हत्या की। और अरबों ने कुछ ही दिनों के पश्चात् यहूदियों के एकरक्षा दल पर आक्रमण कर 80 डाक्टर, नर्स और छात्रों को हताहत किया। इस प्रकार विभाजन योजना ने फिलिस्तीन को रक्त रंजित गृह युद्ध में परिवर्तित कर दिया।

इस रक्तपात से हज़ारों मील दूर संयुक्त राष्ट्र के सभा भवनों में फिलिस्तीन का भाग्य निर्धारित किया जा रहा था। विभाजन योजना को कार्यबद्ध करने की असफलता ने न्यासिता (ट्रस्टशिप) का नवीन नुस्खा प्रस्तुत

किया । इसके अनुसार क्योंकि विभाजन योजना को लागू करना था, इसलिये फिलिस्तीन को संयुक्त राष्ट्र न्यासिता के अधीन रखा जाय । जब संयुक्त राष्ट्र में इस पर वार्तालाप चल रहा था बेन गुरियाँ तथा उसके राष्ट्र समिति के सदस्यों ने मई 14, 1948 को तल अवीव में यहूदी राज्य के उदय की घोषणा कर दी । इस घोषणा के कुछ ही मिनट पश्चात् राष्ट्रपति ट्रूमन ने इस नये राज्य को मान्यता प्रदत्त कर दी । अतः विश्व में एक नया यहूदी राज्य स्थापित हो गया जिसके राट्रपति डा० खाइम विज़मन और प्रधान-मन्त्री बेन गुरियाँ बनाये गये ।

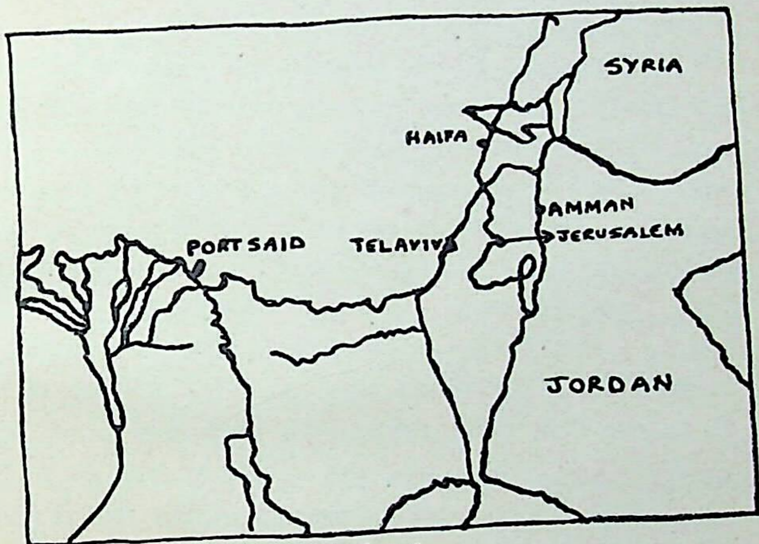
अरब इसराएल युद्ध

इसराएल के उदय की घोषणा के दूसरे ही दिवस अर्थात मई 15, 1948 को छः अरब राज्यों (मिस्र, इराक, जार्डन, लेबनान, सऊदी अरब तथा सीरिया) ने इसराएल पर आक्रमण कर दिया । अरब राज्यों की सम्मलित सेना सत्तर हजार से अधिक नहीं थी और उनकी तुलना में इस-राएल की साठ हजार सेना थी । अरबों की सेना में केवल दस हजार सैनिक ही प्रशिक्षण प्राप्त थे जबकि इसराएल की सेना पूर्णतया सैन्य प्रशिक्षित थी। इसराएली सेना में 300 से अधिक ब्रिटिश द्वारा प्रशिक्षित अधिकारी थे और 20 हजार द्वितीय विश्वयुद्ध के योद्धा थे । इसके अतिरिक्त 3 हजार विशेष कमाण्डों (पलमख़) प्रशिक्षण प्रशिक्षण प्राप्त सैनिक अधिकारी थे ।

इसराएल और अरब देशों के नैतिक साहस, निष्ठा, युयुत्सा की भावना में भी अन्तर था । यहूदी सदैव अपने देश के प्रति निष्ठावान रह कर वर्षों संघर्षरत रहे । इस कारण उनमें संगठन, एकता और त्याग की भावना प्रचु-रता में विद्यमान थी । इससे दूसरी ओर अरबों में एकता और संगठन का अभाव था ।

युद्ध के आरम्भ में जहाँ तक युद्ध सामग्री का प्रश्न था, दोनों देश अपर्याप्त उपकरणों से सज्जित थे । युद्ध के विस्तार के साथ ही इसराएल को अमरीका तथा यूरोप के यहूदियों ने युद्ध सामग्री एवं वायुयान चालक भेजे ।

युद्ध के प्रथम चरण में अरब सेनायें काफी आगे बढ़ गयीं थी । मिस्र की सेनाओं ने नेगेब, जार्डन पुरातन 'येरुसलम पर नियन्त्रण किया तथा ईराकी सैनिक हैफा से 15 मील दूर रह गये जब प्रथम युद्ध विराम जून,' 1948 को हुआ, सुयुक्त राष्ट्र ने युद्ध विराम लगाने से पूर्व दोनों के क्षेत्र पृथक कर दिये थे । युद्ध विराम के अन्तर्गत अपने-अपने स्थान पर दोनों सेनाओं



WEST ASIA

अरब राज्य और इसराएल

को रहना था और अपनी सैन्य शक्ति का प्रबलीकरण नहीं करना था। परन्तु दोनों ओर से युद्ध विराम के दूसरे भाग का उल्लघंन किया गया। यद्यपि अरब उतनी युद्ध सामग्री एकत्र नहीं कर सके जितना कि इज़राएल ने एकत्रित कर ली। इज़राएल ने चेकोस्लावाकिया से उत्तम युद्ध सामग्री प्राप्त की, अमरीका से फलाइंग फोर्ट्रेसेज़ तथा ब्रिटेन से ब्यूफाइटर्स इज़राएल में तस्करित किये गये।

संयुक्त राष्ट्र ने स्वीडन के काउंट फोक बर्नडोट को युद्ध विराम का मध्यस्थ बनाकर भेजा। कॉउंट ने अपनी ओर से एक सुझाव प्रेषित किया जिसमें फिलिस्तीन और जार्डन को आर्थिक रूप से संगठित करने का प्रावि-धान किया और यहूदी राज्य को स्वायत्त शासन देने का परामर्श दिया। स्पष्ट रूप से इस योजना के अन्तर्गत येरुसलम और नेगेव अरबों को स्थानां-तरित किये जाने थे और पूर्ण गेलीली इसरायल को मिलना था। दोनों पक्षों ने इस योजना को अस्वीकार किया और जुलाई 9, को पुन: युद्ध आरम्भ हो गया। इस 10 दिन के युद्ध में इसराएल ने काफी भाग हस्तगत किया। संयुक्त राष्ट्र ने 19 जुलाई को द्वितीय युद्ध विराम लागू किया। कांउंट बर्न डोट इस मध्य इस समस्या का निदान करने में लगे थे कि सितम्बर 17, 1948 को स्टर्न संस्था के एक सदस्य ने गोली मारकर उनकी हत्या कर दी।

द्वितीय विराम भी प्रथम की भाँति असफल रहा। इसराएल ने सितम्बर के अन्त में भारी आक्रमण कर नेगेव से मिस्री सैनिकों को बाहर कर दिया और उत्तरी गेलीली पर भी अपना अधिकार कर लिया। सयुक्त राष्ट्र में पुन: फिलिस्तीनी प्रश्न पर वाद-विवाद होने लगा। रॉल्फ बुन्शे को इस बार मध्यस्थ निर्वाचित किया गया। बुन्शे ने रोहड्स द्वीप में अपने मुख्य कार्या-लय में अरब और इज़राएली प्रतिनिधियों को पृथक पृथक कक्षों में एकत्रित किया। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पृथक कक्ष इसलिए रखे गये कि अरबों ने इसरायलों के साथ बैठना अस्वीकार कर दिया। रॉल्फ बुन्शे फरवरी 24, 1949 को मिस्र और इसराएल में विराम सन्धि कराने में सफल हुये। तत्पश्चात् 23 मार्च को लेबनान के साथ, 3 अप्रैल को जार्डन के साथ और 20 जुलाई को सीरिया के साथ विराम सन्धि हुई। इस प्रकार बुन्शे के कार्य से प्रकट रूप से युद्ध विराम हो गया और इस सफलता हेतु रॉल्फ बुन्शे को नोबेल शान्ति पुरस्कार से सम्मानित किया गया। ई० ओ० बैलेन्स ने अपनी पुस्तक **अरब-इज़रायली वॉर** में कुछ मूल प्रश्नों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। उनके तीन प्रश्न फिर भी उत्तरविहीन छोड़ दिये गये अर्थात

निम्नलिखित तीन समस्याओं का समाधान नहीं हो पाया :

(1) सीमाओं की समस्या

मिस्र–इसराएल युद्ध विराम की धारा 5 के अनुसार ही सारे युद्ध विरामों में यह कहा गया कि युद्ध विराम की विभाजक रेखा को किसी प्रकार भी राजनैतिक अथवा सीमा रेखा की मान्यता नहीं मिलेगी। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अधिकार एवं तत्कालीन परिस्थितियाँ अन्तिम व्यवस्था के रूप में किसी भी वर्ग को स्वीकार नहीं थीं। इसराएल को वापस अपनी सीमाओं के भीतर जाने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी बाध्य नहीं किया। इसराइलियों के विरुद्ध अरबों की सीमा-संघर्षों को रोकने के लिए असैनिक क्षेत्रों का निर्माण किया गया। परिणामस्वरूप गाज़ा पट्टी मिस्र को दे दी गई परन्तु लेबनान की सीमाओं में कोई भी परिवर्तन नहीं किया गया। दूसरी ओर हुल्ला झील के अतिरिक्त सारे गेलिली सागर एवं उत्तरी जार्डन नदी पर इसराएल ने अधिकार कर लिया तथा जार्डन के अब्दुल्ला ने जार्डन नदी के पश्चिमी क्षेत्र को अपने अधीन कर लिया एवं उस पर जार्डन के ही अधिकार को मान्यता मिली। इसराएल की सीमाओं के अन्तर्गत प्राचीन येरुसलम भी शामिल था। इस प्रकार इस अस्थायी व्यवस्था से इसराएल को 20 प्रतिशत अधिक फिलिस्तीनी भूमि का लाभ हुआ।

(2) येरुसलम

राजनीतिज्ञों के समक्ष प्राचीन एवं नये येरुसलम की समस्या का समाधान करना द्वितीय प्रश्न था। बेथलहम एवं येरुसलम दोनों नगर संयुक्त राष्ट्र-संघ के आदेशानुसार अन्तंरराष्ट्रीय नियन्त्रण में थे। प्राचीन येरुसलम एवं बेथलहम पर जार्डन का अधिकार था जबकि नये येरुसलम के अधिकांश क्षेत्रों पर इसराएल का अधिकार हो गया था। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने वैसे येरुसलम के अन्तरर्राष्ट्रीय मत का बहिष्कार नहीं किया था, परन्तु यहाँ भी युद्ध-विराम सन्धि की विभाजक नीति को मान्यता दी गई। अतएव येरुसलम केवल एक विभाजित नगर होकर रह गया। 1949 में इसराएल ने येरुसलम को अपनी राजधानी बना लिया परन्तु विदेशी कूटनीतिज्ञों ने अपना दूतावास तल अवीव में ही रखा। येरुसलम के विसैन्यीकरण के पश्चात् भी इसराएल ने येरुसलम में अपनी सेनाओं का प्रदर्शन किया। 1967 के द्वितीय युद्ध के पश्चात् यह समस्या स्वयं समाप्त समझ ली गई।

(3) अरब शरणार्थी

अरबों एवं यहूदियों की प्रतिस्पर्धा से सम्बन्धित तृतीय एवं अत्यधिक कष्टप्रद समस्या अरबी शरणार्थियों की थी। युद्ध के अन्त में लगभग 7,50,000 अरब शरणार्थी मिस्र, जॉर्डन, लेबनान एवं सीरिया में फैले हुए थे। एक ओर इसराएल के अनुसार शरणार्थियों की संख्या में वृद्धि का कारण अरबों की देश रक्षा की नीति थी, जिसके अन्तर्गत अरब अपना निवास स्थान त्याग, सेना में भर्ती होकर, इसराएल को परास्त करना चाहते थे। परन्तु इस नीति को मान्यता प्रदान करने से पहले यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि अरब "देश बचाओ नीति" के कारण केवल युद्ध के ही लिए अपने निवास स्थानों को त्याग रहे थे, तो उन्होंने अपने साथ परिवारों को किसलिए रखा? इस प्रश्न का कोई तर्कसंगत उत्तर उपलब्ध नहीं है। दूसरी ओर अरबों के विचारानुसार इसराएलियों ने अपने शरणार्थियों की व्यवस्था के लिए अरबी देशवासियों को निष्कासित किया था। इस प्रकार उपर्युक्त प्रश्न को त्यागकर आंशिक रूप से तो दोनों ही मतों की प्रामाणिकता उपलब्ध है, तथापि संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा निष्कासित अरबों को अपनी जन्म-भूमि वापस दिलाने के सारे प्रयास असफल सिद्ध हुए। अतः इन शरणार्थियों की यथा सम्भव सहायता संयुक्त राष्ट्रसंघ ने की। मिस्र ने शरणार्थियों को आश्रय देने में सहयोग नहीं दिया था क्योंकि वहाँ की जनसंख्या स्वयं अधिक थी। सीरिया एवं लेबनान में इन शरणार्थियों ने अपने लिए नौकरियों की व्यवस्था करके वहाँ की नागरिकता प्राप्त कर ली। बहुत से अरब निवासी अध्यापक होकर कुवैत एवं सऊदी अरब भी चले गये। केवल जॉर्डन ने ही शरणार्थियों को पूर्ण आश्रय एवं उन्हें पूर्ण नागरिकता प्रदान की।

युद्ध के परिणाम

इस युद्ध के फलस्वरूप एक उच्च श्रेणी के सैन्यीकीकरण का जन्म इसराएल में हुआ। अप्रैल 3, 1949 के **'द येरुसलम पोस्ट'** ने लिखा कि तल अवीव के सरकारी प्रवक्ता के अनुसार वास्तव में इसराएल की महत्ता विश्व में उसकी सैनिक शक्ति की सफलताओं पर आधारित थी। वर्तमान इसराएल एक सैनिक शिविर के समान था क्योंकि अरब-इसराएल युद्ध ने देशव्यापी सैन्य-जागरुकता उत्पन्न कर दी थी। 15 मई, 1948 के युद्ध ने द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् मध्य-पूर्व एशिया को सैन्य प्रभाव क्षेत्र बनाये रखने के इच्छुक विरोधी दलों अमरीका एवं ब्रिटेन में शक्ति-सन्तुलन को लगभग अमरीका के पक्ष में कर

दिया क्योंकि इसराएल की विजय ने इस बात का स्पष्टीकरण कर दिया था। इसका दूसरा पक्ष यह भी था कि अरब यह समाचार छुपाने में असमर्थ रहे कि उन्होंने ब्रिटेन से शस्त्र प्राप्त किये हैं। जनवरी 1949 के 'द नेशंस रिव्यू ने उद्धृत किया कि अरव पत्रकारों के अनुसार ब्रिटेन एवं अरब में एक सन्धि दोनों देशों के सम्बन्धों को भविष्य में तुलनात्मक दृष्टि से अधिक सफल बनाने हेतु की गई थी। मई 1948 के करेन्ट हिस्ट्री में व्यक्त एक विचारानुसार दूसरा पक्ष यह भी था कि अमरीका ने भी यथासम्भव प्रत्येक प्रकार की सहायता इसराएल को दी क्योंकि "ट्रूमन इसराएल को युद्ध सामग्री से सम्पन्न बनाने को तैयार हैं," इस प्रकार की राजनैतिक जनश्रुतियाँ अप्रैल 1948 में प्रकाशित की गईं थीं। लैन्जोविस्की के अनुसार अमरीकी युद्ध-पारगंत स्वयं-सेवकों के रूप में इसराएल की सेना में भरती हुए थे।

फैज ए० सियाग ने अपनी पुस्त दि अरब-इजराएल कॉन्फ्लिक्ट में लिखा है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ ने युद्ध-विराम इसलिए कराये क्योंकि युद्ध का परिणाम अरबों के विरुद्ध चला गया था। इस युद्ध-विराम ने आपसी मतभेदों को कम करने के स्थान पर उसकी वृद्धि ही की थी। अरबों के प्रतिकूल अपने पक्ष में पश्चिमी शक्तियों को लगाने के लिए ही इसराएल पश्चिमी राष्ट्रों के साथ अर्ध सैनिक सन्धि का इच्छुक था।

15 मई, 1950 को त्रिपक्षीय सन्धि के अन्तर्गत ब्रिटेन, फ्रांस एवं संयुक्त राज्य अमरीका अबाध रूप से अरब एवं इसराएल को हथियार देने को तैयार हो गये। जून 5, 1950 के डिपार्टमेन्ट ऑफ स्टेट बुलेटन के कथनानुसार यह पग मध्य एशिया में साम्यवादी एवं समाजवादी रूप के विस्तार को रोकने के लिए उठाया गया था।

धीरे-धीरे अरब-इसराएल संघर्ष जटिल एवं गम्भीर होता गया। 1954 में इसराएल ने संघर्षों के राजनैतिक स्वरूप के साथ-साथ आर्थिक स्वरूप भी अपना लिया। 1955 के प्रारम्भ तक अरब-इसराएल सीमा सम्बन्धी विवाद धीरे-धीरे सैनिक संघर्षों में परिवर्तित होता गया।

1956 का युद्ध

जुलाई 26, 1956 को मिस्र ने स्वेज नहर कम्पनी का राष्ट्रीयकरण कर दिया। उपर्युक्त राष्ट्रीयकरण पश्चिमी शक्तियों के लिए उनकी राजनैतिक तथा कूटनीतिक असफलता के समान था, अतः पश्चिमी राष्ट्रों ने स्वेज नहर कम्पनी के राष्ट्रीयकरण का प्रयोग अरब राज्यों के विरुद्ध आक्र-

मण करने के लिए आवश्यक कारण के रूप में लिया। 29, अक्टूबर, 1956 को आंग्ल-फ्रांसीसी-इसराएली सेनाओं ने मिस्र के विरुद्ध आक्रमण कर दिया। मार्च 1958 के **मिडिल ईस्टर्न अफ़ेयर्स** के अनुसार 29 अक्टूबर को केवल इसराएल ने आक्रमण किया था तथा ब्रिटेन एवं फ्रांस ने युद्ध रोकने की चेतावनी दी थी। जब इसराएल तथा मिस्र पर उपर्युक्त चेतावनी का कोई प्रभाव नहीं हुआ तब ब्रिटिश एवं फ्रांसीसी सेनाओं ने 1 नवम्बर को साइनाई पर हवाई आक्रमण किया। प्रत्यक्ष रूप में अमरीका इस युद्ध में शामिल नहीं था, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप में अमरीका के शासकों को मिस्र के विरुद्ध युद्ध का सम्पूर्ण ज्ञान था एवं वह अरब राष्ट्रों को अशक्त कर पश्चिमी एशिया में अपनी स्थिति सुदृढ़ करना चाहता था। **एन्थनी ईडन** ने अपने संस्मरण में लिखा है कि अमरीका को यह भली-भांति ज्ञात था कि मिस्र पर आक्रमण होगा। **एन्ड्र्यू ग्योरगी** तथा **हरबर्ट गिब्स** ने लिखा है कि 1956 में इसराएल तथा मिस्र एक दूसरे के विरुद्ध आक्रमण एवं प्रत्याक्रमण कर रहे थे, परन्तु मुख्य रूप से उपर्युक्त आक्रमणों का उत्तरदायी मिस्र ही था। इस प्रकार अरब राष्ट्रों द्वारा इसराएली अर्थ-व्यवस्था पर बार-बार आघात किया जा रहा था। अन्त में इसराएल के आक्रमण के दो दिन पश्चात् अंग्रेजी एवं फ्रांसीसी सेनाओं ने मिस्र पर आक्रमण कर विश्व को आश्चर्यचकित कर दिया। इस समस्या ने शीघ्रतापूर्वक बृहत् रूप धारण कर लिया एवं इसराएल की स्थलसेना तथा वायुसेना ने 29 अक्टूबर को गाज़ा पट्टी पर अधिकार कर लिया तथा साइनाई (सिनाई) क्षेत्र को पार कर स्वेज एवं अक़ाबा की खाड़ी की दिशा में बढ़ने लगी। अगले दिन फ्रांस एवं ब्रिटेन ने इसराएल तथा मिस्र दानों को यह धमकी दी कि युद्ध बन्द कर दिया जाय एवं स्वेज नहर से दोनों राष्ट्रों की सेनाएँ 10-10 मील दूर रहें। इसके अतिरिक्त मिस्र पर दबाव डाला कि वह पोर्ट सईद, इस्माइलिया एवं स्वेज क्षेत्र में अस्थायी रूप से आंग्ल-फ्रांसीसी सेनाओं को प्रवेश करने का अधिकार प्रदान करे। इस चेतावनी की अवधि केवल 12 घण्टे थी अन्यथा उसके पश्चात् आंग्ल-फ्रांसीसी सेनाएँ हस्तक्षेप करने पर बाध्य होंगी। जब मिस्र पर धमकी का कोई प्रभाव नहीं पड़ा तो 31 अक्टूबर को आंग्ल-फ्रांसीसी सेनाओं ने आक्रमण कर दिया। 5 नवम्बर को मिस्र की सीमा के अन्दर आक्रमणकारी सेनाएँ स्वेज नहर की दिशा में अग्रसर होने लगीं।

इसराएली आक्रमण के साथ ही संयुक्त राष्ट्रसंघ युद्ध-शान्ति का प्रयास करने लगा था। सोवियत संघ एवं अमरीका ने सुरक्षा परिषद् में इसराएल

की सेनाओं को पीछे हटने का प्रस्ताव रखा, परन्तु ब्रिटेन एवं फ्रांस ने इसके विरुद्ध वीटो का प्रयोग किया। तत्पश्चात् युगोस्लाबिया द्वारा शान्ति प्रस्ताव के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक विशेष आपातकालीन बैठक बुलाने का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। 2 नवम्बर से 5 नवम्बर तक समस्या पर विचार होता रहा। संयुक्त राष्ट्रसंघ के मुख्य सचिव ने एक आपातकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सेना के निर्माण की योजना बनायी। 6 नवम्बर को ब्रिटेन एवं फ्रांस ने अन्तराष्ट्रीय सेना की उपस्थिति में यह क्षेत्र छोड़ना तथा युद्ध रोकना स्वीकार कर लिया। नवम्बर 12, को मिस्र भी अन्तराष्ट्रीय सेनाओं के प्रवेश पर तैयार हो गया। 16 दिसम्बर से आपातकालीन अन्तरराष्ट्रीय सेनाएँ मिस्र में प्रवेश कर गयीं तथा आंग्ल-फ्रांसीसी सेनाओं ने यह क्षेत्र छोड़ दिया। तथापि मिस्र के विजित क्षेत्र में निष्क्रमण करने के सम्बन्ध में सुरक्षा परिषद् के निर्णय को इसराएल ने पाँच महीनों तक मान्यता नहीं प्रदान की। विजित क्षेत्रों पर से अपना अधिकार त्याग देने से पूर्व इसराएल अक़ावा की खाड़ी द्वारा अपने यातायात का अधिकार एवं गाज़ा पट्टी पर आपातकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सेनाओं का अधिकार अपनी सुरक्षा हेतु चाहता था। इसराएल स्वेज़ नहर में भी यातायात के अधिकार का इच्छुक था परन्तु नासिर ने इसके विपरीत स्वेज़ नहर को पुनः खोलने के लिए आवश्यक सफ़ाई कराने से तब तक इनकार कर दिया जब तक इसराएल मिस्र के विजित क्षेत्रों को छोड़ नहीं देगा। **ग्योरगी** तथा **गिब्स** के अनुसार इस समस्या के समाधान हेतु अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति आइज़नहावर ने फरवरी 2, 1957 को इसराएल को यह विश्वास दिलाया कि (1) अक़ावा की खाड़ी एवं तीरान के जलडमरुमध्य (स्ट्रेटस) को अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्ग की मान्यता प्रदान की जाएगी तथा इसमें यातायात बिना किसी भेदभाव के होगा, (2) गाज़ा पट्टी एवं शरम अल-शेख़ में अन्तर्राष्ट्रीय सेनाएँ रखी जायेंगी तथा इन क्षेत्रों से किसी प्रकार इसराएल पर आक्रमण नहीं होगा, (3) इसराएल द्वारा यह क्षेत्र छोड़ने के पश्चात् गाज़ा पट्टी का प्रशासन भी अन्तर्राष्ट्रीय सेनाओं द्वारा होगा। उपर्युक्त घोषणा के पश्चात् इसराएल ने मार्च 8, 1957 को मिस्र के विजित क्षेत्र से निष्क्रमण कर लिया।

अरब-इसराएल मतभेद (1963)

जीरीस साबरी ने अपनी पुस्तक **'द अरब्ज़ इन इसराएल'** में लिखा है अरब-इसराएल मतभेदों का मूलभूत कारण स्वयं इसराएल में अरबों के प्रति प्रति-स्पर्धा की भावना थी। इसराएल में अरबों को यहूदियों के बराबर ही समा-

नता का अधिकार प्राप्त था, ऐसी जनुश्रुतियां इसराएल में थीं परन्तु वहाँ की राजनैतिक स्थिति स्वयं ही उपर्युक्त जनश्रुतियों का खण्डन कर देती है। अरबों का जीवन 1945 में ब्रिटिश अधिकारियों के सिद्धान्तों पर आधारित आपातकालीन सैनिक प्रशासन द्वारा संचालित था। इसी तथ्य की व्याख्या करते हुये **हैनरी कैटन** ने अपनी पुस्तक **द सर्च फ़ार जस्टिस** में उद्धृत किया है कि अरब-इसराएल सम्बन्धों में वैमनस्य का मुख्य कारण उनकी दो विरोधी शक्तियाँ थीं—राजनैतिक सियोनवाद एवं अरब राष्ट्रीयता। अन्य मतों के अनुसार यह मतभेद साम्राज्यवाद के कारण था, न कि राष्ट्रीय विरोधी भावना के कारण। उनके वैमनस्य में और अधिक कटुता उत्पन्न करने का मुख्य कारण तीन समस्याएँ थीं—प्रथम, सीमा सम्बन्धी मतभेद, द्वितीय, फिलिस्तीन शरणार्थी; एवं तृतीय, जॉर्डन नदी के पानी का प्रयोग।

मई 12, 1949 को लोज़ान सन्धि के अन्तर्गत दोनों विरोधी राष्ट्र संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा सीमा-निर्धारण को मान्यता प्रदान करने पर सहमत हो गये थे। परन्तु **फ़ैज सियाद** के अनुसार अरब इसराएली युद्ध-विराम को अस्थायी, सैनिकी एवं अराजनैतिक मानते थे।

मार्च 1961 को पाँच अरब राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में अरब शरणार्थियों को अपना निवास-स्थान वापस दिलाने का प्रस्ताव रखा। नवम्बर 1962 में इसराएल ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। फिलिस्तीन शरणार्थियों की समस्या पर 1963 में संयुक्त राष्ट्रसंघ की जनसभा में विचार विमर्श हुआ। इसी वर्ष जॉर्डन नदी के पानी के विभाएवं प्रयोग पर भी अरब-इसराएलियों में मतभेद पैदा हो गया।

सितम्बर 5, से सितम्बर 11, 1964 के एलेग्जान्ड्रिया में आयोजित तेरह अरब राष्ट्रों की सभा ने यह निर्णय लिया कि जॉर्डन के पानी का एक पक्षीय प्रयोग करने के लिए अरब सैनिक शक्तियों को एकत्रित होकर इसराएल पर आक्रमण करना चाहिए। इस सभा ने नासिर के उस मत को मान्यता प्रदान की जिसके अनुसार फिलिस्तीन की स्वतन्त्रता ही अरब राष्ट्रों का अन्तिम एवं एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए। इसराएल की प्रधान मन्त्री गोल्डा-मायर ने विश्व के शान्ति प्रिय देशों से अरब सभा के निर्णयों को निष्क्रिय करने की याचना की। पुनः काहिरा में अरब राष्ट्रों के सम्मिलित प्रधान मन्त्रियों की सभा में जनवरी 1965 में जार्डन नदी के पानी के विभाजन की योजना को उसी संघ में कार्यान्वित करने का निर्णय लिया गया। 1964 में सीमाओं पर सैनिक संघर्ष प्रारम्भ हो गये थे। इस वर्ष के अन्त एवं 1965

से प्रारम्भ तक डैड सी, जॉर्डन सीमा, लेबनानी एवं मिस्र की सीमाओं पर सैनिक कार्यवाहियों ने तेजी प्राप्त कर ली। शान्ति की व्यवस्था बनाये रखने के सारे प्रयास विफल हो चुके थे एवं युद्ध की आशंका प्रतिदिन बलवती होती जा रही थी। मई 27, को इसराएल ने प्रतिशोधात्मक आक्रमण प्रारम्भ कर दिये।

न्यू आउटलुक में एक लेख में ए० कापलिक ने लिखा है कि मई-जून, 1965 में काहिरा, सितम्बर 1965 में कासा ब्लांका में अरब राष्ट्रों की सभाओं ने यह निश्चय किया कि यहूदियों के आक्रमण से पूर्व ही सुरक्षात्मक तैयारियाँ पूरी हो जानी चाहिए एवं अरब राष्ट्रों में एकता बनाये रखने का हर सम्भव प्रयास होना चाहिए। उपर्युक्त सम्भावनाओं के पश्चात् 1966 के मध्य तक अरब एवं इसराएल की सीमाओं पर विभिन्न संघर्ष हुए।

छह दिवसीय युद्ध (जून 5, 1967 से जून 10, 1967 तक)

अरबों पर जून 5, 1967 को इसराएल का आक्रमण तार्किक रूप से यहूदियों की विस्तारवादी नीति एवं अमरीका की साम्राज्यवादी नीति पर आधारित था। इससे पूर्व मार्च 1963 के द नेशंस रिव्यू में एक संवाददाता सम्मेलन में नासिर ने "मध्य-पूर्व एशिया" के पारस्परिक संघर्षों की विवेचना करते हुए यह कहा : "इसका मुख्य कारण इसराएल की स्थापना है जिसके द्वारा अरब वतन का मुख्य क्षेत्र इसराएल को घेर कर और वहाँ के निवासियों को बलपूर्वक निष्कासित कर दिया है। उन्होंने कहा इसरायल इससे भी सन्तुष्ट नहीं है एवं नील से यूफ्रेटस तक के क्षेत्र में अपना सीमा-विस्तार करने को इच्छुक हैं। इसके अतिरिक्त इसरायल शान्ति की स्थापना भी युद्ध के द्वारा ही चाहता है। इस स्थिति में हमें इसराएल के विरुद्ध युद्ध के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए। यह युद्ध केवल इसराएल के विरुद्ध ही नहीं परन्तु साम्राज्यवादी एवं प्रतिक्रियावादी देशों के विरुद्ध भी होगा"। पिछले छः मास से इसराएली नेता युद्ध के लिए अनुकूल वातावरण का निरीक्षण कर रहे थे। युद्ध की प्रारम्भिक तैयारियों के मध्य इसराएल ने अरब सीमाओं पर संघर्ष प्रारम्भ कर दिया था। यह संघर्ष वास्तव में आने वाले युद्ध के अन्तर्गत थे। उसी मध्य तल अवीव की सरकार निरन्तर अमरीका, ब्रिटेन एवं पश्चिमी जर्मनी से राजनैतिक सम्बन्ध बनाये हुए थी। इन संघर्षों का प्रारम्भ नवम्बर 13, 1965 को जॉर्डन के अससामु नगर पर आक्रमण के उपरान्त ही प्रारम्भ हो गया था। वैसे यह युद्ध भी जुलाई 14, 1966 को सीरिया के विरुद्ध इसराएल के प्रतिशोधात्मक संघर्षों के घटनाक्रम के अन्तर्गत

ही था । संयुक्त राष्ट्रसंघ की जाँच के अनुसार इसराएल ने जॉर्डन के विरुद्ध 80 टैंकों, 12 मिराज विमानों एवं दो स्थल सेना की टुकड़ियों का प्रयोग 13 नवम्बर को किया । इस आक्रमण में जॉर्डन के दो ग्राम नष्ट कर दिये गये । परिणामस्वरूप जार्डन ने युद्ध विराम की प्रार्थना संयुक्त राष्ट्रसंघ से की । जॉर्डन के विरुद्ध उपर्युक्त आक्रमण को संयुक्त राष्ट्रसंघ की घोषणा के उल्लंघन के रूप में स्वीकार किया गया । उक्त घोषणा फरवरी 1957 में युद्ध के विरोध में की गई थी । अमरीका एवं ब्रिटेन ने भी इस आक्रमण की तीव्र भर्त्सना की । सुरक्षा परिषद् के हस्तक्षेप के कारण फरवरी 1967 तक इसराएल ने इस प्रकार की कोई भी घटना नहीं दोहरायी ।

मुख्यतया इसी मध्य दिसम्बर, 1966 के बाद छोटे छोटे संघर्ष सीरिया के असैनिक क्षेत्रों में हुए । इसको साधारणतया "मशीनगन संघर्ष" का नाम दिया गया । 1951 के पश्चात् पुनः सीरिया-इसराएल युद्ध विराम आयोग की बैठक जनवरी 25, जनवरी 27 एवं फरवरी 2, 1966 को हुई । इस आयोग का परिणाम किसी प्रकार भी सन्तोषजनक नहीं था । विभिन्न जाँचों के परिणामस्वरूप यहूदियों ने इन घटनाओं को सुरक्षात्मक कदम का नाम देने में सफलता प्राप्त कर ली । जनवरी 12, 1967 के **येरुसलम पोस्ट** ने इसराएली प्रधान मन्त्री के पत्रकार सम्मेलन की व्याख्या करते हुये लिखा कि प्रधान मन्त्री ने बताया । कि "इसराएल शक्ति का उत्तर शक्ति से देगा एवं स्थान तथा युद्ध सामग्री का चुनाव वह स्वयं करेगा ।"

जनवरी 17, 1967 को संसद (नेसेट) को प्रधान मंत्री ने यह सूचित किया कि सीरियाई आक्रमणों के उत्तर में इसराएल परिस्थितियों के अनुकूल कदम उठायेगा । तत्कालीन निष्क्रियता का उत्तर संसद् के दो वर्गों के विवादों एवं मतभेदों से स्पष्ट है । सरकारी वर्ग जहाँ कूटनीतिक हथियारों के प्रयोग पर बल दे रहा था, वहीं विरोधी दल सेनाओं का प्रयोग चाहता था । अमरीका भी स्वयं सीरिया के आक्रमणों के विरुद्ध प्रतिक्रिया का अनुयायी नहीं था ।

"सीरिया-इसराएल युद्ध-विराम आयोग" के कार्यों पर विचार के लिए आयोजित फरवरी 14, 1967 की संसद् की बैठकों में शक्ति परीक्षण के लिये एक दूसरे छोटे आक्रमण की तैयारी पर बल दिया गया । अप्रैल 7, को सीरिया के विरुद्ध तीबरीयास झील के पास इसराएल ने गम्भीर आक्रमण कर दिया । इस आक्रमण में इसराएली सेना 70 किलोमीटर अन्दर तक सीरिया की सीमा में प्रवेश कर गई । इसराएल के अनुसार उसकी सेनाओं

ने दमिश्क पर भी गोले बरसाये, परन्तु इसरायल सीरिया की प्रतिष्ठा एवं उत्तर-जीविता के विरुद्ध अपने राजनैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये इस आक्रमण के परिणामों से सन्तुष्ट नहीं था। तत्पश्चात् युद्ध की तैयारी के तृतीय भाग का समय मध्य अप्रैल से 5 जून तक का था।

इसराएल के विरुद्ध अक्टूबर एवं नवम्बर 1966 में अरब आतंकवादियों का कार्य अल फतेह के नाम से जाना जाता है। नवम्बर 4, 1966 को सीरिया एवं मिस्र में एक सुरक्षात्मक सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। अरब आतंकवादियों के विरुद्ध इसराएली प्रतिक्रिया के प्रति राष्ट्रपति नासिर अत्यधिक व्याकुल थे। मिस्र में संयुक्त राष्ट्रसंघ की आपातकालीन सेना की उपस्थिति से राष्ट्रपति नासिर वैसे भी अपमानित थे। यह सेना 1956 में स्वेज़ नहर सकट के सम्बन्ध में भेजी गई थी। इसकी उपस्थिति के कारण मिस्र-इसराएल विरोधी प्रतिक्रियाओं में भाग नहीं ले पा रहा था जिसके कारण अरब संघ में राष्ट्रपति की स्थिति बहुत कमज़ोर हो गई थी। मई 15, 1967 को नासिर की सेनाओं ने काहिरा से स्वेज़ नहर की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाये रखने के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ के मुख्य सचिव ऊ थाँट ने संयुक्त राष्ट्र सेनाओं को मिस्र से हटाने का आदेश दे दिया। लालसागर के तिरान एवं अक़ाबा की खाड़ियों को नासिर ने युद्धपोतों के लिए बन्द घोषित कर दिया। नासिर की उपर्युक्त घोषणा के विरुद्ध इसराएल ने युद्ध की धमकी दी। **समी हदावी** के मत में धीरे-धीरे सोवियत संघ ने मिस्र एवं ब्रिटेन तथा अमरीका ने इसराएल के पक्ष में होकर अन्तर्राष्ट्रीय संकट को जन्म दे दिया। निम्नलिखित दो सम्भावनाओं के प्रति इसराएली सरकार चिन्तित नहीं थी : प्रथम यह कि तीरान की खाड़ी को खुलवाने के प्रयास में इसराएली प्रतिक्रिया का 1956 की भाँति अमरीका विरोध नहीं करेगा तथा द्वितीय सोवियत संघ इसमें हस्तक्षेप नहीं करेगा।

मोशे दयान के मत में पश्चिमी एशिया में प्रचारित धारणाओं के अनुसार साइ-नाई में उपस्थित शक्तिशाली मिस्री सेना के कारण इसराएली अपनी सैनिक तैयारियों के प्रति पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं थे। "इसराएल इन विपरीत परिस्थितियों में आक्रमण करने की स्थिति में नहीं है" जैसी अरब धारणाओं के विरुद्ध इसराएल ने अचानक विस्मयजनक आक्रमण करने का निश्चय किया। 5 जून को प्रात:काल इसराएल ने मिस्र पर हवाई आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण में लगभग सारी मिस्री हवाई सेना समाप्त कर दी गई। समान रूप से इसराएल को लेबनान एवं सीरिया में भी सफलता

प्राप्त हुई। संयुक्त राष्ट्रसंघ के बार बार युद्ध बन्द करने की घोषणा के पश्चात् 10 जून की शाम को युद्ध-विराम सम्भव हो सका। इस युद्ध ने इस-राएल को पश्चिमी एशिया में शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में प्रकट किया तथा इसके विपरीत अरबों की एकता छिन्न-भिन्न हो गयी। इसराएल ने इस युद्ध में गाजापट्टी, शरम अल शेख, साइ-नाई प्रायद्वीप से स्वेज नहर तक, येरुसलम के प्राच्य नगर जार्डन के पश्चिमी तट एवं गोलन की पहाड़ियों पर अधिकार कर लिया।

जे० एम० रॉबर्टस के मतानुसार वास्तव में छह: दिवसीय युद्ध ने किसी भी समस्या का कोई समाधान नहीं किया क्योंकि समय एवं तेल (पेट्रोलियम) की शक्ति ने अरबों की भावनाओं को उत्प्रेरित किया तथा शरणार्थियों की समस्या को और अधिक जटिल कर दिया। इसके साथ ही साथ इस युद्ध ने इसराएल की सैनिक शक्ति के लिए नया आयाम प्रस्तुत किया। इस युद्ध के कारण अरबों में द्वेष एवं शत्रुता की भावना में वृद्धि हुई। इस युद्ध के पश्चात् ब्रिटेन अदन से अपना अधिकार समाप्त कर पशिया से अपने सम्बन्धों के नवीनीकरण पर पुन: विचार करने लगा क्योंकि ब्रिटेन तेल के लिए पश्चिमी एशिया पर पूर्णरुपेण आधारित था। यही कारण था कि ब्रिटेन संयुक्त राष्ट्रों में अरब-इसराएल शान्ति प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के लिये सर्वाधिक उत्सुक था। इसराएल को मान्यता प्रदान करने के लिए ब्रिटेन ने इसराएली सेनाओं को पीछे हटने की शर्त रख दी एवं 1971 में पशिया की खाड़ी क्षेत्र से अपनी सेनाओं को हटाकर अरबों से सम्बन्ध बनाने का प्रयास करने लगा।

इस युद्ध के पश्चात् जार्डन, सीरिया एवं मिस्र से लगातार गुरिल्ला आक्रमण प्रारम्भ हो गये। 1963 तक मिस्र की सेना अपेक्षाकृत अधिक आधु-निक युद्ध-सामग्री से सुसज्जित हो गयी। 1970 में अरब गुरिल्लाओं ने इस-राएल से वह अरब भूमि छीन ली एवं इस प्रकार एक बार पुन: युद्ध की आशंका प्रारम्भ हो गयी।

रॉजर्स योजना

दिसम्बर 9, 1969 को अमरीका के विदेश सचिव पी० रॉजर्स ने पश्चिमी एशिया की समस्या के समाधान के लिये एक योजना प्रस्तुत की। इस योजना में अधोलिखित प्रस्ताव थे :

(1) नवम्बर 22, 1967 के सुरक्षा-परिषद् प्रस्ताव की पूर्ण मान्यता के अनुसार शान्तिपूर्ण वार्तालाप द्वारा ही निर्णायक सन्धि होनी चाहिये।

(2) "युद्ध सन्धि तटस्थता" की स्थिति को समाप्त होना चाहिये ।

(3) सीमाओं की सुरक्षा के लिये विस्तृत शर्तें होनी चाहिये ।

(4) अरब विजित क्षेत्रों से सेनाओं का निष्क्रमण होना चाहिये ।

(5) येरुसलम को संयुक्त नगर घोषित कर प्रत्येक राष्ट्र को व्यापारिक सुविधा मिलनी चाहिये तथा प्रत्येक धर्म एवं राष्ट्रीयता के व्यक्तियों को नगर में प्रवेश का अधिकार मिलना चाहिये । येरुसलम में जॉर्डन एवं इसराएल दोनों राष्ट्रों के सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन को मान्यता मिलनी चाहिये ।

परन्तु यहूदियों ने इस योजना का वहिष्कार इस आधार पर कर दिया कि इसमें प्रत्यक्ष वार्तालाप उद्धृत नहीं था । संयुक्त अरब गणराज्य तथा अन्य अरब राष्ट्रों ने इस योजना को इसराएल के पक्ष में बताया । इसके पश्चात् संयुक्त राज्य अमरीका ने जून 25, 1970 को द्वितीय रॉजर्स योजना प्रस्तावित की । इस नवीन योजना में दो मुख्य प्रस्ताव थे :

(1) कम से कम 90 दिन के लिये युद्ध-विराम ।

(2) गुन्नार यारिंग की मध्यस्थता में दोनों राष्ट्रों की ओर से शान्ति वार्तालाप का पुनराम्भ हो । जुलाई 20, 1970 को संयुक्त अरब गणराज्य, जॉर्डन, लेबनान, कुवैत, मोरक्को, ट्यूनीशिया यथा सूडान ने एवं 4 अगस्त को इसराएल ने उपर्युक्त योजना को स्वीकृति प्रदान कर दी अतएव 7 अगस्त को युद्ध-विराम-सन्धि कार्यान्वित हो गयी ।

यहूदियों एवं अरबों का संघर्ष लगभग 50 वर्षों तक राजनैतिक रूप से चलकर युद्ध में परिणत हो गया । जून, 1967 के युद्ध के समय अरबों के विचारानुसार इसराएल का अन्त निकट था । परन्तु युद्ध के परिणामस्वरूप यहूदियों ने सोचा कि शान्ति का समय प्रारम्भ हो चुका है, जब कि युद्ध के तीन वर्षों पश्चात् परिस्थितियों ने यह सिद्ध कर दिया कि वह युद्ध निरन्तर वृहत् संघर्षों के रंगमंच का अधिनायक था ।

1973 का युद्ध एवं साइनाई सन्धि

1970–71 में नवीन फिलिस्तीन संस्थाओं को जॉर्डन, इसरायल तथा अमरीका के संयुक्त प्रयासों के कारण अत्यधिक हानि उठानी पड़ी । अगस्त, 1973 में सीमाओं के निर्धारण के लिये नयी योजनायें बनायी गयीं, नये नगर निर्मित किये गये, अरब भूमि का सम्पत्तिहरण किया गया, यहूदी राष्ट्रीय कोष द्वारा विजित क्षेत्रों में भूमि क्रय की गई, येरुसलम के नगर अधिकारी

को अपना अधिकार क्षेत्र द्विगुणित करने का निर्देश दिया गया. अतएव अरब भूमि को अधिकृत करने की आवश्यकता पड़ी। विशेषतया अधिकारिक मजदूर दल द्वारा एक चुनाव योजना प्रस्तावित की गई जिसके अन्तर्गत संयोजन की नीति शामिल थी। गोलन की पहाड़ियों पर एक व्यावसायिक नगर निर्मित करने की योजना बनायी गयी। उपर्युक्त योजनाओं ने इसराएल द्वारा 1967 से ही अस्थायी अरब क्षेत्रों के समामेलन की नीति को सत्य सिद्ध कर दिया। इसराएल को अपनी सैन्य शक्ति पर पूर्ण विश्वास था। इसराएल की उपर्युक्त योजनायें ही अन्ततोगत्वा 1973 के युद्ध का कारण बनीं। इसराएल का अपनी समामेलन की नीति के कारण ही राजनैतिक पृथक्करण हो गया एवं "तेल-हथियार" के विरुद्ध जो भी राष्ट्र इसराएल की सहायता चाहते थे उन्होंने अपनी नीतियाँ परिवर्तित कर दी। सितम्बर 1973 की समामेलन की नीति एक आंशिक सफलता थी। यह विश्वास किया जा रहा था कि शीघ्र ही इसराएल युद्ध-अस्त्रों के सम्बन्ध में आत्मनिर्भर हो जायेगा एवं उसकी सेनायें उच्चस्तरीय हो जायेंगी। जून 1973 में जनरल **मोशे दयान** ने कहा "जब तक हमारे पास यहूदी सैनिक है, अमरीका हमारा सहयोगी है, स्वेज़ नहर हमारी सैन्य सीमा है तथा शत्रु के रूप में अरब है, हमें भय नहीं है।" **नॉम चौम्सकी** ने एक सरकारी प्रवक्ता **किम्शे** को उद्धृत करते हुये लिखा है कि इसराएली सैन्य उच्चता के ही कारण मई 1972 में ब्रेजनेव ने निक्सन को सूचित किया कि सोवियत रूस "मिस्र-इजरायल संघर्ष" में कोई भाग नहीं लेगा। जुलाई 1972 में इसी कारण सोवियत परमर्शदाता वापस बुला लिये गये।

इसी नये वातावरण में अक्टूबर 6, 1973 को मिस्र एवं सीरिया की सेनाओं ने इसराएल द्वारा विजित क्षेत्रों पर आक्रमण कर दिया। आक्रमण के लिये अरबों ने इसराएल के वार्षिक धार्मिक दिवस यॉम किपर को चुना। उस दिन इसराएल में उत्सव के कारण सहस्त्रों सैनिक अपने घरों में जब अवकाश मना रहे थे, तभी अस्कमात् अरबों ने आक्रमण कर दिया। इस आकस्मिक आक्रमण का आरम्भ मिस्र की सेना ने स्वेज नहर को पार कर किया जब कि सीरिया की सेना ने उत्तर में गोलन पहाड़ियों पर बमबारी प्रारम्भ कर दी। प्रारम्भ में 103 मील लम्बे स्वेज़ नहर के सम्पूर्ण पूर्वी तट पर मिस्र ने अधिकार कर लिया तथा सीरिया इसराएल में गोलन पहाड़ियों के केन्द्र तक पहुँच गया। परन्तु 24 घन्टे के अन्दर ही इसराएल ने अरब दबाव को निष्क्रिय कर प्रतिक्रियात्मक आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। इस आक्रमण की प्रतिक्रिया में इस-

राएल की प्रधानमन्त्री **गोल्डा मायर** ने कहा कि मिस्र तथा सीरिया का यह आक्रमण विक्षिप्त, उन्मत्त सैनिक उन्माद का द्योतक था। यह सत्य है कि इस आक्रमण के द्वारा अरबों ने विश्व-राजनीति में इसराएल की ह्रास होती प्रतिष्ठा को पुनः प्रतिस्थापित कर दिया। तीन दिन के ही भीतर इसराएल ने मिस्र तथा सीरिया की सेनाओं को पुनः पीछे हटा दिया।

मिस्र के राष्ट्रपति सादात अपनी जनता को दिये वचनों के अनुसार 1967 में पराजित क्षेत्रों को वापस लेना चाहते थे, परन्तु इसरायल की प्रधानमन्त्री गोल्डा मायर ने कहा कि इसरायल के विरुद्ध आक्रमण सम्भव नहीं है। **नॉम चौम्सकी** अपनी पुस्तक **पीस इन द मिडिल ईस्ट** में कहते हैं। कि दक्षिणी सीमा के सेनाधिकारी 'एरिक शेरान' ने कहा कि इसरायल किसी भी यूरोपीय शक्ति से अधिक शक्तिशाली है एवं आवश्यकता पड़ने पर ख़ारतूम, बगदाद तथा अल्जीरिया तक का क्षेत्र एक सप्ताह में विजय कर सकता है। यद्यपि इस युद्ध में इसरायल को अत्यधिक हानि उठानी पड़ी तथापि पूर्व-विजित क्षेत्रों की अधिकता के कारण इसरायल ने युद्ध-विराम तक अपना प्रभाव बनाये रखा। इसके पश्चात् एक तनावपूर्ण शीत युद्ध का वातावरण जनवरी 1974 तक बना रहा। इस शीत युद्ध के मध्य तेल की कूटनीति ने विश्व की राजनीति को इस समस्या पर पुनर्विचार करने के लिये बाध्य कर दिया। यूरोप, जापान एवं संयुक्त राष्ट्र को तेल का निर्यात बन्द करके अरबों ने इसरायल को प्राप्त बाह्य सहयोग से वंचित करने का सफल प्रयास किया। जनवरी 18, 1974 को संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों द्वारा सन्धि समन्वय सम्भव हो सका। इसरायल इस सन्धि के अन्तर्गत स्वेज नहर से अपनी सेनाओं को 32 किलोमीटर दूर रखने पर तैयार हो गया एवं मिस्र ने अपने क्षेप्यास्त्रों को स्वेज से 13 किलोमीटर दूर रखना स्वीकार कर लिया।

इस सन्धि की निम्नलिखित धाराएँ थीं

(1) इसराएली सेना स्वेज नहर के पूर्वी तट से 32 कि० मी० दूर रहेगी।

(2) स्वेज नहर क्षेत्र में मिस्र 7,000 सैनिक एवं 30 टैंक रखने का अधिकारी होगा।

(3) मिस्र अपने क्षेप्यास्त्रों को 13 कि० मी० दूर रखेगा।

(4) संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेनायें मिस्र एवं इसरायल के मध्य नियुक्त

की जायेंगी। यह क्षेत्र उत्तर से साइ-नाई सहारा, पश्चिम में गिड्डी मिल्टा, दक्षिण में उन मूसा तथा पूर्व में स्वेज़ तक होगा आदि।

इसरायल की माँग पर सीरिया अपनी आतंकवादी आक्रमणों पर रोक लगाने को तैयार हो गया। मई 31, 1974 को कीसिंजर के प्रयास द्वारा पूर्ण शान्ति के लिये एक सन्धि का आयोजन हुआ। अमरीका तथा सोवियत संघ दोनों ने इस सन्धि पर हस्ताक्षर किये। परन्तु अब भी गोलान पहाड़ियों पर पूर्ण शान्ति सम्भव नहीं हो सकी है। पश्चिमी एशिया में पुनः युद्ध की सम्भावनायें बढ़ने लगी हैं क्योंकि अरब राष्ट्र सोवियत संघ तथा अमरीका से पुनः युद्ध सामग्री क्रय करने का प्रयास करने लगे हैं। इसके साथ ही अमरीका के दबाव के पश्चात् भी इसरायल 1967 के विजित क्षेत्रों को छोड़ने पर तैयार नहीं है। सितम्बर 1974 को इसरायली प्रधान मन्त्री ने एक घोषणा की जिसके अनुसार इसरायल विजित क्षेत्रों से तब तक निष्क्रमण नहीं करेगा जब तक इसके फलस्वरूप पश्चिमी एशिया में पूर्ण शान्ति हो जाने की सम्भावना नहीं हो जाती। प्रधान मंत्री के अनुसार इस क्षेत्र में फ़िलिस्तीन राज्य की स्थापना का अर्थ यहूदी राज्य का अन्त होगा। उपर्युक्त अरब-इसरायली समस्या ने विभिन्न समस्याओं को जन्म दिया और इसरायल में उत्पन्न समस्याओं के मूल्यांकन के लिए अरब नीति, महाशक्तियों की भूमिका इसरायली सैन्य शक्ति, गुरिल्ला समस्या तथा शरणार्थी समस्या की व्याख्या आवश्यक है।

अरब-नीति

पश्चिमी एशिया में अरब लोगों ने अपना विशिष्ट राजनैतिक स्थान प्राप्त करने की चेष्टा में तीन बार यहूदियों से पराजय प्राप्त की। इस सामरिक एवं राजनैतिक पराजय ने अरबों को "कूटनीतिक लज्जा" से परिपूर्ण कर दिया जिसके फलस्वरूप उन्होंने किसी भी सन्धि वार्तालाप में भाग नहीं लिया और सदा एक स्वर से इसराएल के अस्तित्व को मिटाने की बात करते रहे। अरबों के मतानुसार इसराएल की सुदृढ़ स्थिति के पीछे पश्चिमी शक्तियों का हाथ था। **चार्ल्स डी क्रेमन** ने अपनी पुस्तक **दि अरब एण्ड द वर्ल्ड** में लिखा है कि मई, 1960 में राष्ट्रपति नासिर ने अमरीका के प्रति आक्षेप लगाते हुये कहा : "मैं अपने अमरीकन भाईयों तथा वहाँ के संसद् को स्पष्ट कह देना चाहता हूं कि यदि इसराएल और सियोनवाद दोनों अमरीकी ससद् एवं अमरीकी जनता पर हावी है तो इसका एकमात्र कारण सियोनवाद का

विशिष्ट अमरीकी लोगों को भ्रष्टाचार एवं घूसखोरी के द्वारा प्रभावित करना है।" नासिर के अनुसार इसराएल के प्रत्येक दृष्टिकोण को अमरीका के पत्रकार पूर्ण रूप से सहयोग देते हैं परन्तु अरबों के प्रति विचार भी नहीं करते। इसी सन्दर्भ में और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए मिस्र के राष्ट्रपति नासिर ने कहा कि अमरीकी पत्रों पर सियोनी नियन्त्रण, सरकार पर सियोनी प्रभाव, अमरीकी बुद्धजीवियों पर सुविधायें आदि बातें इस दृष्टिकोण की पुष्टि करती हैं कि अमरीका अरबों के प्रति सहानुभूति नहीं रखता।

1954 के पश्चात् इसरायल के अनुसार मिस्र की विदेश नीति दो आवश्यक लक्ष्यों-प्रथम, काहिरा के अन्तर्गत अरब राज्यों का एकीकरण एवं द्वितीय अरबों के पक्ष में फ़िलिस्तीन समस्या के समाधान के प्रति आकर्षित थी। यद्यपि छह दिवसीय युद्ध में इसराएल को विजय मिली थी तथापि यह निश्चित है कि इस युद्ध के पश्चात् अरबों में राजनैतिक, आर्थिक एवं सैन्य सहयोग की भावना की वृद्धि हुई। इसराएलियों के अनुसार नासिर की नीति "इसराएल के साथ कोई शान्ति समझौता नहीं, इसराएल राज्य को कोई मान्यता नहीं एवं फ़िलिस्तीन सीमाओं एवं जनता का कोई उत्पीड़न नहीं" में निहित थी।

महाशक्तियों की भूमिका

इसरायल राज्य की स्थापना के पीछे संयुक्त राज्य अमरीका एवं सोवियत संघ के पारस्परिक मतभेदों का पूर्ण हाथ था। 1948 में सोवियत संघ ने इसरायल का पक्ष लिया जबकि अमरीका ने साइनाई के अल अरिस क्षेत्र से इसरायली सेनाओं के हटाये जाने की मांग की थी। 1949 में रोड्स युद्ध-विराम के पश्चात् विश्व की कोई भी शक्ति शान्ति स्थापना कराने में सफल न हो सकी। 1955 की अमरीकी-प्रभावित बगदाद सन्धि ने 1955 में इसरायल-अरब संघर्षों को तीव्र किया एवं 1956 में, जिसके कारण मिस्र को साम्यवादी देशों से अस्त्रों की सहायता प्रारम्भ हो गई, एक अमरीकी राजनैतिक भूल के कारण स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण हो गया जिससे इसरायल के साथ ग्रेट ब्रिटेन एवं फ्रांस का सहयोग अरबों के विरुद्ध सम्भव हो गया। अमरीका ने अपनी स्थिति जार्डन एवं लेबनान में सशक्त बनाये रखी एवं इसरायल को शस्त्र-सहायता जारी रखी।

सोवियत-नीति

रूस अथवा सोवियत संघ की रुचि मुख्य रूप से रूस के दक्षिण तटीय

क्षेत्र में, पश्चिमी एशिया की प्राकृतिक सम्पत्ति में तथा यूरोप एवं हिन्द-महासागर के मध्य सैनिक मार्गों के नियन्त्रण में निहित थी। बॉल्शेविक क्रांति से स्टालिन की मृत्यु तक सोवियत नीति सदैव संयत एवं सुरक्षात्मक रही। यह सोवियत संघ के पड़ोसी राज्यों तुर्की एवं ईरान पर केन्द्रित थी। सोवियत नीति अमरीका द्वारा प्रभावित बगदाद सन्धि के विरुद्ध अत्यन्त प्रतिक्रियात्मक थी। इसरायल के अनुसार सोवियत संघ इस क्षेत्र के संघर्षों के प्रति सदैव जागरुक था एवं प्रयास में अभिरुचि रखता था। रूस की इस रुचि का कारण कुछ अमरीकी इतिहासकारों के अनुसार रूस-अमरीका की कूटनीति के विरोधाभास में निहित था। यदि इस क्षेत्र में स्थायी शान्ति का वातावरण बना रहता तो दोनों देश समान रूप से आर्थिक प्रगति हेतु अपना सहयोग एवं योगदान देते परन्तु युद्ध की स्थिति में रूस को अरबों के प्रति युद्ध सामग्री आपूर्ति का अवसर प्राप्त होता। इस उपर्युक्त उल्लिखित कूटनीति ही के कारण साम्यवादी देश अरबों को युद्ध सामग्री देने का आश्वासन बारम्बार देते रहे।

इसके विपरीत सोवियत मतानुसार सोवियत संघ प्रभावित इसराएली संसद् के साम्यवादी दल ने सदैव युद्ध का बहिष्कार किया तथा रूस अरब-इसराएल समस्या का केवल शान्तिपूर्ण रूप से समाधान करने का इच्छुक था। इसके लिए इसराएल को साम्राज्यवादी देशों से नीतियों का आयात बन्द करना होगा। साम्यवादी नेता मोर विलमर के अनुसार साम्यवादी इसराएल की सुरक्षा एवं शान्ति के इच्छुक थे तथा इसके साथ ये साम्राज्यवादी देश ब्रिटेन एवं अमरीका की सैन्य नीतियों के समर्थक नही थे। जून 23, 1967 के **द येरुसलम पोस्ट** के अनुसार मोर विलमर का कहना था कि इसराएल सोवियत संघ के विरुद्ध कैसे जा सकता है जिसने लाखों यहूदियों को नाज़ियों से बचाया एवं इसराएल राज्य की स्थापना में सहयोग प्रदान किया। मोर विलमर ने एक समाचार पत्र एतयूनिश को बताया कि साम्यवादी अरब अथवा इसराएल के विरुद्ध नहीं थे अपितु वे साम्राज्यवादी नीतियों के पूर्ण विरोध में थे।

शान्ति एवं व्यवस्था के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् में सोवियत सघ ने जून 5, 1967 को यह कहा कि इसराएल इस युद्ध का वैसा परिहार कर सकता था जैसा शान्ति प्रिय देशों ने आग्रह किया था, परन्तु उसने इसकी अवहेलना की। जून 1, 1967 को इसराएली नेताओं को सोवियत संघ ने सुरक्षा परिषद् के आदेशों की अवहेलना के प्रति चेतावनी दी एवं 20 जून को यह घोषित

किया कि सोवियत संघ का कूटनीतिक सम्बन्ध इसराएल से था ।

अमरीका के मतानुसार, विशेषतया जून 1967 से अब तक, सोवियत सैन्य सहायता से सीरिया, मिस्र, यमन, अल्जीरिया, सूडान एवं लीबिया में सोवियत संघ का प्रभाव बढ़ता रहा । पूर्वी भूमध्यसागरीय क्षेत्रों (लेवान्त) में रूसी युद्धपोतों को मिस्र एवं सीरिया के बन्दरगाहों में एकत्रित होने दिया गया था । इस सैनिक जमाव के पीछे तीन मुख्य लक्ष्य थे :

(1) पश्चिमी शक्तियों को मिस्र एवं सीरिया को पुन: प्रभावित करने से रोकना ।

(2) अमरीकी छठे समुद्री बेड़े को निष्क्रिय करना तथा सम्पूर्ण नाटो सुरक्षा व्यवस्था को समाप्त करना ।

(3) अमरीका द्वारा मध्य-पूर्व एशिया को प्रभावित भागों में बाँटने पर विवश करना ।

अमेरिकन नीति

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अमरीका ने मध्य-पूर्व एशिया के पूर्वी भूमध्यसागरीय क्षेत्रों में ब्रिटेन के प्रभाव को हस्तान्तरित करना प्रारम्भ किया । एक ओर अमरीका आर्थिक, कूटनीतिक तथा सैन्य रुचियों में अरबों के प्रति आकर्षित था, दूसरी ओर वह इसराएल में पाश्चात्य मूल्यों से प्रभावित जनतांत्रिक सरकार तथा अमरीकी जनता की यहूदियों के प्रति सहानुभूति के कारण इसराएल का समर्थक था । 1970 में सोवियत संघ की मिस्र में नयी सैनिक कार्यवाहियों ने अमरीकन नीतियों को इसराएल की तरफ़ आकर्षित किया । इस स्थिति में इसराएल ने यह सोचा कि अमरीकी नीति तीन दिशाओं में प्रगति कर सकती है :

(1) सोवियत संघ के साथ मिलकर विश्व-शान्ति के लिये शान्तिपूर्ण समाधान का प्रयास ।

(2) इसरायल की सुरक्षा के लिये भविष्य में शान्ति समझौतों की सम्भावना के कम होने पर हथियारों का निर्यात करते रहना ।

(3) इसरायल के निर्धारित हथियारों के प्रभाव को अरब विश्व पर कम करने के लिये इसरायल से छूट की माँग करना । इसरायलियों को विश्वास था कि अमरीकी जनता अन्तिम शर्त पर कभी भी तैयार नहीं होगी ।

रफ़ीक जकारिया ने व्यक्त किया है हिब्रू विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर मोशे मोट्ज़ के अनुसार अरब में इसरायल को साम्राज्यवादियों का आधार

हुंने एवं मिस्र तथा जॉर्डन अरब राज्यों की एकता के प्रति भयानक भय था।

इसराएल

1973 के अरब-इसरायल युद्ध ने इस तथ्य को स्पष्ट किया कि अरबों की स्थिति भूतपूर्व तुलनात्मक दृष्टि से ज्यादा श्रेष्ठ है : प्रथम बार अरब देशों ने सऊदी अरब के नेतृत्व में तेल प्रतिबन्ध लगाकर तेल उपभोक्ता देशों के लिये संकट उत्पन्न कर दिया। इसके कारण पूरे विश्व में पेट्रोलियम की दर में वृद्धि हो गयी। 1973 के युद्ध ने अरब राष्ट्रों में एकता का भाव प्रवाहित किया और इसरायल को भी इसका अनुभव हुआ कि अरब देश इतने निःसहाय तथा अशक्त नहीं है।

इसरायल ने तत्कालीन अनुभवों के आधार पर किसिंजर योजना तथा तत्पश्चात् राष्ट्रपति कार्टर के द्वारा कैम्प डेविड समझौते में पूर्ण रुचि प्रदर्शित की। इस समझौते के द्वारा इसरायल ने अपने शक्तिशाली शत्रु मिस्र (इजिप्ट) से मुक्ति पा ली। मिस्र ने इसको इसलिये भी स्वीकार कर लिया कि अपनी शक्ति का प्रयोग अरब देशों के हितों हेतु संचित कर सकें।

कैम्प डेविड समझौते के अनुसार इसराएल को मिस्र साइनाई क्षेत्र को पाँच वर्षों के अन्दर खाली कर देना था। अप्रैल 25, 1982 को इसराएल ने पूर्ण रूप से साइनाई क्षेत्र को रिक्त कर दिया और अस्थाई रूप से संयुक्त राष्ट्र की शान्ति सेना इस क्षेत्र की सुरक्षा कर रही थी।

इसराएल में वह उत्साह शक्ति और आक्रामक प्रतिभा नहीं रही जो इससे पूर्व थी। इसराएल के कुछ कार्यों की विश्व जनमत ने भर्त्सना की जिसके फलस्वरूप अरब देशों को समर्थन प्राप्त हुआ। उदाहरणस्वरूप ईराक के 'न्यूकलिअर रिऐक्टर' पर इसराएली आक्रमण की विश्व के देशों में और विशेष कर 'तृतीय विश्व' देशों में कटु आलोचना की गयी।

इसराएल की तत्कालीन स्थिति यदि संत्रास का रूप धारण नहीं किये हुये हैं, किन्तु गम्भीर अवश्य है। आर्थिक स्थिति में मुद्रा स्फीति के आधिक्य ने आर्थिक असमानता उत्पन्न कर दी है और अधिक से अधिक यहूदी अपना देश छोड़कर अमरीका और फ्रांस में अप्रवास हेतु जा रहे हैं। यह भी विडम्बना है कि द्वितीय विश्वयुद्ध पूर्व अधिक से अधिक अप्रवास फिलीस्तीन में हो रहा था।

इसराएल साइनाई क्षेत्र को सरलता से त्यागना नहीं चाहता है क्योंकि

इस क्षेत्र में तेल पुंज पाये जाने की आशा की जाती है। फलस्वरूप इसराएल किसी ऐसे सुअवसर की तलाश में है जिसके द्वारा वह साइ-नाई को वापस ले ले।

अरब क्षेत्र में शान्ति बनाये रखने का उत्तरदायित्व बहुत सीमा तक इसराएल पर है। यदि इसराएल अपनी विस्तारवादी नीति व महत्वकांक्षाओं को सीमित कर लेता है तो कतिपय शान्ति का स्थायित्व बना रह सकता है। इसका एक मूल कारण 'फ़िलीस्तीन स्वाधीनता संघ (पी० एल० ओ०) के अध्यक्ष यासर अराफ़ात की यह घोषणा है कि संघ शक्ति और भय की नीति स्थगित कर राजनैतिक रूप से विश्व से सहानुभूतिक मत प्राप्त करने की चेष्टा करेगा।

अभी हाल में ही मई 21, 1982 को यासर अराफ़ात ने अपनी भारत यात्रा के मध्य पश्चिमी देशों की युयुत्सुक नीति तथा पश्चिमी एशिया में युद्ध सामग्री अनुदान की भर्त्सना की है। उन्होंने अमरीका द्वारा हिन्द-महासागर भूमध्य सागर तथा लाल सागर की घेराबन्दी को साम्राज्यवादी षडयन्त्र बताया है। यासर अराफ़ात की भारत यात्रा के समय तक पश्चिमी एशिया की स्थिति के प्रति यह धारणा निर्धारित नहीं की जा सकती थी कि इस-राएल लेबनान के प्रति आक्रामक नीति का परिपोषण कर फिलिस्तीन संघ को निर्मूल कर देगा। इसराएल के लेबनान के प्रति उपरोक्त नीति ने पश्चिमी एशिया की राजनैतिक स्थिति में कटु विषमता उत्पन्न कर अनेक नवीन दृष्टिकोण प्रदत्त कर दिये हैं। यद्यपि रूस इस समय कतिपय मौन, द्रष्टा बना रहा है परन्तु अमरीका की नीति को आघात पहुँचा है। राष्ट्रपति रेगन के किसी भी समझौते एवं शर्त को मूलतः मान्यता नहीं दी गई है।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध पश्चात् मध्य-पूर्व एशिया व पश्चिमी एशिया में क्षेत्रों ने विदेशी शासन अथवा प्रभाव को समाप्त कर स्वयं में स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीयता की अनुभूति की। शीघ्र ही इसरायल के उदय ने अरबी भाषी क्षेत्रों के प्रति संकट अंकुश लगा दिया। यह भी एक विडम्बना थी कि पश्चिमी एशिया के देश विशेष कर अरब क्षेत्र एक भाषा एवं धर्म के हो कर भी एक सूत्र में न बँध सके। इसराएल के विरुद्ध यदि स्वार्थ सिद्धि हेतु एकजुट हुये भी तो इसराएल उन भर भारी पड़ा। अतः स्वतन्त्रता संघर्ष, सामाजिक परिवर्तन एवं इसराएल का भय भी अरब क्षेत्रों में एकता की भावना को प्रेरित नहीं कर सका। पश्चिमी एशिया की स पारस्पारिक विषमता ने पुनः विदेशी शक्तियों को इस क्षेत्र में प्रभाव

स्थापित कर 'नव उपनिवेशवाद' का अवसर प्रदान किया। इसमें संशय नहीं कि पश्चिमी एशियाई देशों ने समाजिक एवं आर्थिक वृद्धि की परन्तु राजनैतिक विवधता ने प्रत्येक क्षेत्र को एक पृथक 'थल द्वीप' का रूप प्रदान कर दिया। उदाहरणस्वरूप किसी देश में अधिनायक तन्त्र, किसी में गणतन्त्र, कोई शुद्ध इस्लामिक राज्य, कुछ एक शैख़ाधीन और कुछ आये दिवस शासन परिवर्तन में लगे हैं। ऐसी स्थिति में उस क्षेत्र में राजनैतिक स्थिरता एवं परिपक्वता आ ही नहीं सकती और जब राजनैतिक रूप से क्षेत्र शिथिल रहता है तो रिक्तता पूर्ण करने हेतु सहायता प्राप्त करता है जो आधुनिक युग में 'शक्ति कूटनीति' व 'नव उपनिवेशवाद' का रूप धारण कर विदेशी प्रभाव को लाभान्वित करती है।

इसके अतिरिक्त पश्चिमी एशिया के पारस्परिक संघर्षों ने अन्य पश्चिमी देशों को स्वर्ण अवसर प्रदान किया है। सीरिया, ईरान-इराक़, जॉर्डन, इसरायल और मिस्र के आपसी मतभेद ने पश्चिमी एशिया को विश्व का 'तनावग्रस्त' क्षेत्र बना दिया है।

•

इसराएल

1. Malik Charles : The Near East, Foreign Affairs, January, 1952.
2. Armajani, yahya : P. cit.
3. Fisher, S. N. : P. cit.
4. Shokolov, N. : The History of Zionism, London, 1919.
5. Hurawitz, J. C. : The Strugle for Palestine, New york, 1950.
6. Dugdale, Edgar : The Balfour Declaration : Origin and Background, London, 1940.
7. Herzl, Theodore : The Jewish State, New York, 1945.
8. David, Lloyd George : War Memoirs of Lloyd George, 2vols, London, 1915–16.
9. Lenin, V. I : Collected works, vol. 24,
10. Fredrick, J : Amertican Policy towards Palestine, Washington, 1944.

11. Burns, E. L. M : Between Arab and Israeli, London, 1962.

12. O, Ballance, E. : The Arab–Israeli war 1948, London, 1956.

13. Sykes, C : Crossroads to Israel, London, 1965.

14. Ben–Gurion, David : Rebirth and Destiny of Israel, New york, 1953.

15. Campbell, John C : Defense of the Middle East, New york, 1960.

16. Bar–Zohar, M : The Armed Prophet : a Biography of Ben-Gurion, London, 1967.

17. Weizmann, C. : Trial and Error, London 1949.

18. Sayegh, Fayez A : The Arab–Israeli Conflict, New York, 1964.

19. Gyorgy, Andrew and Gibbs, S. Herbert : Problems in International Relations, New York, 1964.

20. Jiryis, Sabri : The Arabs in Israel, New York, 1976.

21. Cattan, Henry : Palestine, the Arabs and Israel : The Search For Justice, London, 1969.

22. Kaplik, A : Arab Meeting in Casablanca, New outlook, October 1965.

23. Hadawi, Sami : The Arab-Israeli Conflict : Cause and Effect, Beirut, 1967.

24. Dayan, Moshe : Story of my Life, London 1976.

25. Roberts, J. m : History of the World, New York, 1976.

26. Chomsky, Noam : Peace in the Middle East, Fontana, 1975.

27. Kimche, John : There Could Have Been Peace, New York, 1973.

28. Meir, Golda : My Life, London, 1971.

29, Cramen, Charles D : The Arab and the world : Nasser's Arab Nationalist Policy, New Jersey, 1971

30. Zakaria, Rafiq : The Illustrated Weekly of India, April 7, 1974.

31. Harkabi, Y : Basic Patterns of the Arab Collapse During the Six Days War, Vol ix, 1967.

32. A Frame Work for Peace in the Middle East : Camp David, September 17, 1978 U. S, Publication 1978,

33. **Peace in Middle East** : **Questions and Answers in Press Conferenes, Intervies and Briefings on Camp David, U. S. Publication, 1978.**



पश्चिमी एशिया तिथि पत्र

1808 : मुहम्मद अली का आगमन ।
1814 : आँग्ल-पर्शिया निर्णायक सन्धि ।
1828 : तुर्कमनचई की सन्धि ।
1831 : मिस्र की सीरिया विजय ।
1839 : तुर्की में ख़त-ए-शरीफ़ ।
1844 : पर्शिया में बाबवाद ।
1856 : पर्शिया में बाहावाद ।
: तुर्की में ख़त-ए-हुमायूं ।
1869 : स्वेज़ नहर निर्माण ।
1876 : जर्मनी का पांचवीं युरोपीय शक्ति के रूप में ऑटोमन साम्राज्य में प्रवेश ।
1882 : मिस्र पर ब्रिटिश अधिपत्य ।
1889 : इब्राहीम टीमों द्वारा 'एकता एवं प्रगति' की संस्था की स्थापना
1890 : पर्शिया में आर्थिक साम्राज्यवाद की प्रगति ।
1897 : प्रथम विश्व सियोनी सम्मेलन स्विटज़रलैण्ड में बेसल नामक स्थान पर हुआ ।
1898 : पर्शिया के शाह नसीरुद्दीन की हत्या ।
1906 : पर्शिया का संविधान ।
1907 : आंग्ल-रूस सन्धि जिसमें पर्शिया को अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों में विभाजित किया गया ।
1908 : युवा तुर्क क्रांति ।
1911 : अमरीकी वित्त परामर्श दाता मार्गन शुस्तर का पर्शिया से निष्कासन ।
1915 : हुसेन-मैक्मोहन पत्र व्यवहार ।

1916 : साईक्स-पीको समझौता ।

1917 : बालफ़ूर घोषणा ।

1918 : दम्शिक (डेमस्कस) में शाह फैजल की सेना का प्रवेश ।

1919 : आंग्ल-पर्शिया गुप्त समझौता ।

: सेक्सन में अतातुर्क का आगमन ।

1920 : सेन रेमो समझौता ।

: सीरिया से फैजल का निष्कासन ।

: सेव्र की सन्धि ।

1921 : पर्शिया में रज़ा खां द्वारा विपलव ।

: रदाक में फैजल का शाह होना ।

: ट्रांसजार्डन का जन्म ।

: फ़िलिस्तीन में प्रथम सियोनी विरोधी उपद्रव ।

1922 : यूनान पर तुर्की विजय ।

: अमरीकी वित्त परामर्शदाता मिलसपाओ के शिष्टमण्डल का पर्शिया में आगमन ।

1923 : लोज़ान की सन्धि ।

: रजा खां का पर्शिया का प्रधानमन्त्री होना ।

: टर्की गणतन्त्र की घोषणा ।

: मुस्तफ़ा कमाल पाशा का टर्की का राष्ट्रपति बनना ।

1924 : अरब के इबन साऊद का उदय ।

: ख़लीफ़ा पद्धति की सामाप्ति ।

1925 : रज़ा खां का इरान का शाह होना और पहलवी वंश का आरम्भ

1923-39: ईरान और टर्की में सुधार युग ।

1933 : नवीन आंग्ल-पर्शिया तेल समझौता ।

1935 : पर्शिया का नामकरण रज़ा शाह ने ईरान किया ।

1936 : जलडमरूमध्य (स्ट्रेट्स) के प्रति मान्त्रोय सम्मेलन ।

1937 : अफगानिस्तान, ईरान, ईराक तथा टर्की के मध्य सादाबाद समझौता ।

1938 : अतातुर्क का निधन ।

: ट्रांस-ईरान रेलवे योजना का परिपूर्ण होना ।

1939 : फिलिस्तीन में ब्रिटिश श्वेत-पत्र ।

1941 : ईरान में मित्रराष्ट्रों की सेना का आगमन ।

: रज़ा शाह का अधित्याग ।
: ईराक में गेलानी विप्लव ।
: ईराक सीरिया तथा लेबनान पर ब्रिटिश आधिपत्य ।
1942 : सियोनी बिल्टमोर होटल योजना ।
1944 : अरब लीग की स्थापना ।
1945 : अज़रबाईजान का पृथक्तावादी आंदोलन ।
1946 : ईरान से रूसी सेना का निष्क्रमण ।
: फिलिस्तीन पर आंग्ल-अमरीकी आयोग ।
1947 : ब्रिटेन द्वारा संयुक्त राष्ट्र को फिलिस्तीन का उत्तरदायित्व
: सम्भालने का आग्रह ।
1948 : इसरायल का उदय । अरब-इसरायल युद्ध ।
: ट्रूमन सिद्धान्त ।
1949 : संयुक्त राष्ट्र संघ के राल्फ़ बुल्के को 1949 के अरब इज़रायल समझौते के लिये शान्ति का नोबुल पुरस्कार ।
1950 : टर्की में एक दलीय सत्ता की समाप्ति ।
1951 : टर्की का उत्तरी एटलांटिक सन्धि-संघ का सदस्यता ग्रहण करना ।
: ईरान द्वारा तेल का राष्ट्रीयकरण ।
1952 : नजीब-नासिर विप्लव द्वारा शाह फ़ारूक़ का अधित्याग ।
1953 : ईरान में डॉ॰ मुसद्दिक़ का पतन ।
1954 : मिस्र से ब्रिटेन का निष्क्रमण ।
1956 : स्वेज़ नहर कम्पनी का राष्ट्रीयकरण ।
1957 : आइजनहावर सिद्धांत ।
1958 : मिस्र सीरिया संगठन ।
: ईराक़ में हैरामाईट शासन का अन्त ।
1960 : टर्की में सैनिक विप्लव ।
1961 : टर्की का द्वितीय गणतन्त्र ।
: सीरिया-मिस्र संगठन का समापन ।
1962 : यमन में विप्लव ।
1963 : ईरान में श्वेत क्रांति का आरम्भ ।
1967 : अरब-इसरायल युद्ध ।
: शाह ईरान का राज्याभिषेक ।
1968 : अरब-इसराएली सीमा समझौता प्रयास ।

1969 : स्वेज़ नहर पर गोलाबारी ।

1970 : वाशिंगटन द्वारा शान्ति समझौते का प्रयत्न ।

: अमरीकी राज्य सचिव विलियम रोजर्स की इज़रायल अरब-यात्रा ।

: रोजर्स द्वारा इज़रायल, इजिप्ट और जार्डन में विचार-विमर्श की भूमिका निर्माण ।

1971 : सीरिया-मिस्री-लीविया संघ ।

1973 : अरब-इज़रायल युद्ध ।

1974 : गोलन क्षेत्र का समझौता ।

: इज़रायल और सीरिया की सेनाओं का निष्क्रमण ।

1975 : डॉ० किसिंजर की आसवान, इजिप्ट और येरूसलम की यात्रा

: इजिप्ट (मिस्र) और इसराएल का दूसरा साइनाई समझौता ।

1977 : पश्चिमी एशिया में शान्ति की नई युक्तियां ।

: राष्ट्रपति असद तथा सादात में वार्ता ।

: काहिरा सम्मेलन ।

1978 : कैम्प डेविड समझौता ।

1979 : शाह-ईरान का निष्कासन ।

: ईरान का इस्लामिक गणतन्त्र ।

1981 : सादात की हत्या ।

1982 : इसरायल द्वारा सिनाई से निष्क्रमण ।

: ईरान-ईराक युद्ध की तीव्र वृद्धि ।

o



उपसंहार

एशिया सदैव से ही योरोपीय शक्तियों का आकर्षण केन्द्र रहा है। मार्कोपोलो, वास्कोडिगामा तथा मैग्गैलन के साहसिक अभियानों ने योरोपीय आकर्षण को प्रोत्साहन दिया। शनै: शनै: योरोपीय देशों ने एशिया में अपना उपनिवेशवाद स्थापित किया। योरोपीय आधुनिक दासता ने जहाँ एक ओर आर्थिक शोषण आरम्भ किया। वहाँ दूसरी ओर अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव ने राष्ट्रवाद का बीजारोपण किया।

सम्भवत: डॉ० सुनयात सेन ने एशियाई राष्ट्रवाद की व्याख्या करते हुये ठीक ही कहा, कि एशियाई लोग रेत के कागज के समान पृथक-पृथक कणों में विभक्त थे। उपरोक्त कथन में पूर्ण सार्थकता है क्योंकि पश्चिमी शिक्षा से पूर्व एशियाई देश परिवारवाद, वर्गवाद व समुदायवाद से ग्रस्त थे। अत: उनमें राष्ट्रवादी भावना का सम्यक अभाव था। पश्चिमी शिक्षा ने द्विमार्गीय स्वरूप ग्रहण कर एशिया में एक नये युग का सूत्रपात किया। प्रथम पश्चिमी शिक्षा ने योरोप एवं अमेरिका के साहित्य, क्रान्तियों संवैधानिक आन्दोलनों से परिचय कराया। नि:सन्देह 1776 की अमरीका की क्रान्ति और 1789 की फ्रांस की क्रान्ति 1830 एवं 1848 की योरोप की क्रान्ति 1911 की चीन की क्रान्ति और 1917 की रूस की क्रान्तियों ने एशियाई राष्ट्रवाद को प्रस्फुटित और विकसित होने में अपना असीम सहयोग प्रदान किया। यहाँ यह बताना उचित होगा कि 1904-5 के रूस-जापान युद्ध ने भी एशियाई देशों में राष्ट्रीयता की भावना को त्वरित किया।

शिक्षा के द्वितीय मार्ग के द्वारा एशियाई युवकों को पश्चिमी साहित्य अध्ययन ने राष्ट्रीय प्रेरणा से अविभूत कराया। एशियाई छात्रों ने टॉमसपेन, जैफरसन, मॉन्तेस्क्यू, रूसो, वॉल्तेयर, अल्फ़ीरी, गेटे, अनातोले फ्रांस, शेक्सपियर इत्यादि के साहित्य का अध्ययन कर स्वयं में एक नव विधा का समन्वय किया। अपने देशों में लौट कर इन छात्रों ने देशवासियों को पुर्नजाग्रत किया।

इस प्रकार एशियाई देश उपनिवेशिक दासता से राष्ट्रवाद की ओर अग्रसर होकर अपने अपने स्वाधीनता संघर्ष में लीन हो गये। प्रत्येक क्षेत्र में समयानुकूल स्वाधीनता संघर्ष की विधा में क्रमशः विकास के चरण दर्शित होते रहे। द्वितीय विश्वयुद्धोपरान्त क्रमशः एशिया के देशों में स्वतन्त्रता की सुखद अनुभूति को स्पर्श किया।

स्वतन्त्रता उपरांन्त एक ओर जहाँ सभी एशियाई देश राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक समस्त स्तरों पर विकास की ओर अग्रसरित थे, वहाँ दूसरी ओर एक 'नव-साम्राज्यवाद' व 'नव उपनिवेशवाद' ने 'नव सन्धि संगठनवाद' (पैक्टाइटिस) एवं 'आर्थिक साम्राज्यवाद' के रूप ने जन्म लिया। पश्चिमी देशों ने नव सन्धि संगठनवाद को एशिया में सहानुभूति के रूप में प्रेषित कर अपने प्रभाव क्षेत्र को बनाये रखने की स्वार्थं सिद्धि की भावना को सार्थक किया। संक्षेपतः इन सन्धि-संगठनों पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है।

ट्रूमन का सिद्धान्त

ट्रूमन सिद्धान्त सर्वप्रथम 1947 में यूनान-टर्की की सकट व्यवस्था के कारण घोषित हुआ। यूनान में वाम पन्थियों और दक्षिण पन्थियों के कारण राजनैतिक अव्यवस्था थी। स्टालिन यूनान में हस्तक्षेप कर टर्की को अपना प्रभाव क्षेत्र बनाना चाहता था, क्योंकि डार्डेनल्स क्षेत्र में रूस सदैव अपने प्रभुत्व-स्थापन का इच्छुक था। यूनान में गृहयुद्ध के कारण वहाँ की सरकार ने ब्रिटेन से सहायता माँगी परन्तु ब्रिटेन स्वयं आर्थिक संकटग्रस्त होने के कारण सहायता प्रदान करने में असमर्थ था। जे० एम० रॉबर्ट्स के अनुसार ऐसी स्थिति में रूस के प्रभाव को रोकने के लिए तथा उस क्षेत्र में राजनैतिक रिक्तता की पूर्ति हेतु अमरीका के राष्ट्रपति ट्रूमन ने मार्च 12, 1947 को एक घोषणा की जिसमें राष्ट्रपति ने स्पष्टतया उल्लेख किया कि अमरीका सदैव स्वतन्त्र देशों का हितैषी रहा और वह हर प्रकार के बाह्य प्रभाव के द्वारा अधीनीकरण का विरोधी रहा है। यह अमरीका की हस्तक्षेप विरोधक नीति थी। अतएव अमरीका की इस नीति को ट्रूमन सिद्धान्त कहा गया। येलमर 'कन्डक्ट ऑफ अमेरिकन डिप्लोमेसी में कहते हैं अमरीका की इस नीति ने यूनान और टर्की को नवीन उत्साह प्रदान किया तथा रूस की 'हस्तक्षेप प्रभाव' की नीति को असफल किया। इस सिद्धान्त की नीति की व्याख्या में राष्ट्रपति ने कहा कि यदि अमरीका स्वतन्त्र देश की जनता की सहायता

नहीं करेगा तो विश्व शान्ति के लिए संकट उत्पन्न हो जायेगा। राष्ट्रपति ने इसके अतिरिक्त विश्व-राजनीति का उल्लेख करते हुए कहा कि घटनाओं की तीव्रता के कारण अमरीका अपना निर्णय लेने पर बाध्य है तथा यूनान और टर्की में सहायता पहुँचाना उसका कर्तव्य है। राष्ट्रपति ट्रूमन ने कहा कि सर्वसत्तात्मक शासन ने, जो स्वतन्त्र जनता पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष आक्रमणों के द्वारा सौंप दी गयी है, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की बुनियाद को दुर्बल कर दिया है जिससे अमेरिका की सुरक्षा को भी खतरा उत्पन्न हो गया है। इसी उद्देश्य से प्रभावित होकर ससद् (कांग्रेस) को यूनान एवं टर्की को अनुदान देने के लिए कहा यह भी सुझाव रखा गया कि अमेरिकी सैन्य एवं प्रशासकीय अधिकारी एवं टर्की के अधिकारियों को प्रशिक्षण प्रदान करें। वास्तव में पश्चिमी यूरोप का आर्थिक पुनर्निवेशन अमरीकी अनुदान का प्रथम कार्यक्रम था; तथापि सोवियत रूस एवं कुछ अन्य पूर्वीय यूरोप के देशों को इस कार्यक्रम में शामिल कर लिया गया। यद्यपि प्रतिग्राहक देशों के पुर्ननिवेशन के इस कार्य में कुछ असुविधा अवश्य हुई क्योंकि रूस की सीमित आर्थिक नीति को अमेरिका की उदार आर्थिक नीति के साथ समाविष्ट करने में कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लगीं। **जाफ़र इमाम** के आधार पर तदुपरान्त अमरीकी राष्ट्रपति ट्रूमन के विदेश मन्त्री जनरल जार्ज मार्शल की योजना (जून 1948) का मुख्य आधार पश्चिमी यूरोपीय देशों की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने में निहित था जिससे यूरोपीय देश अपनी आर्थिक कठिनाइयों के परिणामस्वरूप साम्यवाद को अंगीकार न करें। इस प्रकार ट्रूमन के सिद्धान्त तथा मार्शल की योजना ने अमरीका में एक नयी विदेशी नीति का मार्गदर्शन किया जो सन्तुष्टि के सिद्धान्त की आधार-शिला पर स्थित थी। सोवियत रूस की साम्यवादी नीति का आशय ही विस्तार से सम्बन्धित था। इस विस्तारात्मक नीति को रोकने के हेतु अन्य राष्ट्रों की सहायता आवश्यक हो गयी थी, तथापि सीमा के चारों ओर सैन्य तैयारियाँ नहीं की जा सकती थीं अतः सोवियत रूस ने अपने समस्त सामरिक स्थलों की सुरक्षा हेतु कार्य प्रारम्भ कर दिये। हेज़ के मतानुसार इसके साथ रूस एवं अमेरिका में आपसी वैमनस्य बढ़ता गया। रूसी नीति के परिणामस्वरूप सितम्बर के अन्त तक इसके निर्देश पर नौ (9) साम्यवादी (कम्युनिस्ट) देशों का पोलैण्ड में सम्मेलन हुआ तथा 'केन्द्रीय सूचना केन्द्र' अर्थात् कम्यून फार्म की स्थापना पर विचार किया गया। रूस के प्रतिनिधि जडन्येव ने कहा कि पश्चिमी देशों की विदेशी नीति का आधार रूस को प्रत्येक क्षेत्र से पृथक् करने में निहित है।

अतः कम्यून फार्म की स्थापना का मुख्य उद्देश्य साम्राज्यवादी नीतियों की अवहेलना करना ही था। ट्रूमन के सिद्धान्त ने यूनान एवं टर्की को सोवियत रूस के प्रभाव से अलग रखा तथा भूमध्यसागर एवं मध्य एशिया में रूस के प्रभाव का अन्त किया और इसी नीति के फलस्वरूप सैन्य सुदृढ़ीकरण हेतु पश्चिमी यूरोप के समस्त देशों (कनाडा, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, नारवे, आइसलैण्ड, डेनमार्क, नीदरलैण्ड, वेल्जियम, लक्जमबर्ग तथा पुर्तगाल) ने मिल कर अप्रैल 4, 1949 को वाशिंगटन में रक्षात्मक सन्धि अर्थात् 'नार्थ ऐटलांटिक ट्रीटी आरगनाइजेशन' की स्थापना की।

मध्य-पूर्व एशिया सुरक्षा संगठन एवं मिस्र (मीडो)

इसराएल देश की स्थापना ने अरब में पश्चिमी देशों के विरुद्ध राष्ट्रवादी आन्दोलनों को तीव्र कर दिया। जनवरी 1950 में मिस्र में वफ्द दल के शासनारूढ़ होने के साथ ही, मिस्र में अंग्रेजी आधिपत्य की समाप्ति के लिये कार्य प्रारम्भ हो गये। मध्य-पूर्व एशिया में रूस के प्रभाव का अन्त करने हेतु पश्चिमी सैन्य तैयारियाँ होने लगीं, साथ ही पश्चिमी देशों के मध्य एशिया में बढ़ते हुए प्रभाव के विरुद्ध सुरक्षा हेतु नये नये तरीकों एवं संगठनों का निर्माण आवश्यक हो गया।

इस नये संगठन के निर्माण के लिए अमरीका प्रत्यक्ष रूप से कार्यरत हो गया। इसके अतिरिक्त 'नार्थ ऐटिलान्टिक ट्रीटी आरगेनाईजेशन' को अन्य यूरोपीय देशों में अप्रत्यक्ष रूप से सहायता प्राप्त करना अनिवार्य हो गया। मई 19, 1950 को श्री बेविन एवं अमेरिका के विदेश मन्त्री श्री एचिसन ने अपने विचारों द्वारा व्यक्त किया कि उनका देश टर्की, ईरान एवं यूनान की स्वतन्त्रता के लिए अत्यधिक प्रयत्नशील है। अतः मई 25 में फ्रांस, इंगलैण्ड एवं अमेरिका ने मध्य पूर्व एशिया में शान्ति एवं स्थिरता बनाये रखने हेतु अपनी अपनी रुचि प्रदर्शित की एवं इन शक्तियों ने यह भी घोषित किया कि वे इस कार्य के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी इसकी स्थिरता को बनाये रखने हेतु कार्य करेंगे। **जूलियस प्रैट** के अनुसार इन्हीं त्रिराष्ट्र समझौते ने मध्य एशिया के देशों को अपनी सुरक्षा हेतु सचेत भी किया।

इसी उद्देश्य के परिणामस्वरूप नवम्बर 1950 में मिस्र की सरकार ने 1936 की आंग्ल-मिस्र सन्धि की पुनरावृत्ति की माँग की, जिसके आधार पर ब्रिटेन को शान्ति काल में मिस्र पर से अपनी सैनिक शक्ति को हटा लेना था। अतः ब्रिटिश सरकार ने मिस्र की सरकार को उसकी सुरक्षा हेतु नये प्रस्ताव

प्रस्तुत किये परन्तु मिस्र की सरकार ने इसके विरुद्ध 1936 में आंग्ल-मिस्र सन्धि की समाप्ति का ही प्रस्ताव रखा। अक्टूबर 13 को सैन्य कार्यवाही की अपेक्षा ब्रिटेन ने स्वेज़ नहर पर आंग्ल-मिस्र वैमनस्य की समाप्ति हेतु नये पाश्चात्य प्रस्ताव रखे। ये प्रस्ताव मिस्र के सम्मुख फ्रान्स, टर्की, इंग्लैण्ड एवं अमेरिका ने मध्य-पूर्व एशिया में सुरक्षा संगठन हेतु रखा। रिचर्ड पी० स्टी, **स्टैबन्स 'द यूनाइटेड स्टेट्स इन वर्ल्ड अफ़ेयर्स** में लिखते हैं कि इन समस्त चार शक्तियों ने मिस्र को एक समान शक्ति के रूप में सम्मिलित किया। बाद में इस सुरक्षा संगठन में कामनवेल्थ की अन्य तीन शक्तियाँ अर्थात् आॅस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड तथा दक्षिण अफ्रीका भी सम्मिलित हो गयीं। परन्तु 1954 में 'सीएटो' की स्थापना के साथ ही 'नाटो' एवं 'सीटो' को सम्बन्धित कर, 'मीडो' का निर्माण तर्कसंगत प्रतीत हुआ। इससे पूर्व 1951 तक मीडो असफल रहा।

दक्षिण-पूर्व एशिया सन्धि संगठन (सीएटो)

फिलिप के० हिट्टी के अनुसार प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में भारत, वर्मा एवं इन्डोनेशिया की तटस्थता की नीति के कारण शक्ति-सन्तुलन को बनाये रखने हेतु, अन्य शक्तियों ने सुरक्षा एवं सामरिक दृष्टि के फलस्वरूप नयी सुरक्षा एवं सामरिक दृष्टि से सम्बन्धित योजनाओं का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु इस योजना का निष्पादन सुचारु रूप से न हो सका क्योंकि अमेरिका ने फ़ारमोसा, जापान, दक्षिण कोरिया, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड के साथ मिलकर एक पृथक् सुरक्षा की व्यवस्था कर रखी थी। साथ ही सिंगापुर का महत्वपूर्ण समुद्री तट ब्रिटेन के आधिपत्य में था तथा मलाया पर भी ब्रिटिश सेना का आधिपत्य था। अत: इन उपर्युक्त कारणों के फलस्वरूप प्रशान्त सागर के क्षेत्र में एक सुव्यवस्थित संगठन, 'उत्तरी अटलांटिक सन्धि संगठन' की भांति निर्मित हो पाना कुछ कठिन अवश्य था। इस कारण एक सुरक्षा समिति के अन्तर्गत, मित्र एशियायी देश, प्रशान्त के अधिकृत देशों एवं पश्चिमी सम्मिलित देशों के नेताओं को संगठित करना था जो सुरक्षा के लिए कार्य कर सकते थे। यद्यपि पश्चिमी शक्तियों एवं प्रशान्त सागर शक्तियों के संघ की सहायता के बिना इस प्रकार का सुरक्षा संगठन सम्भव नहीं था, परन्तु एशियायी मित्र देशों की अनुपस्थिति ने अमेरिका के इस क्षेत्र में प्रभाव को और भी प्रबल कर दिया। **नारमन डी० पामर** के अनुसार सितम्बर 8, 1954 को आॅस्ट्रेलिया, फ्रान्स, न्यूज़ीलैण्ड,

ब्रिटेन, अमरीका, फिलीपाइन्स, थाईलैण्ड तथा पाकिस्तान से मिलकर, मनीला नामक स्थान पर चिरस्थायी एवं स्वत: सुरक्षा हेतु समझौता किया, गया जो 'दक्षिण-पूर्व एशिया सन्धि संगठन' के नाम से विख्यात है। यह संगठन उत्तरी ऐटिलांटिक सन्धि संगठन एवं अन्य सुरक्षा संगठनों का पूरक है और प्रशान्त महासागर की शक्तियों में मध्य-पूर्व सुरक्षा संगठन का प्रतिरूप है। दक्षिण वियतनाम, लाओस तथा कम्ब्रोडिया के साम्यवादी हस्तक्षेपों के कारण ये देश इस सुरक्षा संगठन में सम्मिलित नहीं किये गये यद्यपि इन देशों को अप्रत्यक्ष रूप से साम्यवाद से बचाने हेतु इस संगठन में सम्मिलित कर लिया गया था। इसके विपरीत फ़िलीपाइन्स, थाईलैण्ड और पाकिस्तान ने इस क्षेत्र में सुरक्षा हेतु कोई वास्तविक कार्य नहीं किया था, जबकि पाकिस्तान तथा फ़िलीपाइन्स सैन्य सूत्रों में पश्चिमी देशों से सम्बन्धित थे। ये समस्त सुरक्षा संगठन साम्यवादी सिद्धान्तों को रोकने हेतु किये गये थे।

बगदाद समझौता

1955 तक अमरीका के साथ पाकिस्तान-तुर्की समझौता एवं पाकिस्तानी पारस्परिक सुरक्षा सहायता समझौता सम्पन्न हुआ। गिब्स के अनुसार तत्पश्चात् फरवरी 24, 1955 को तुर्की एवं इराक के मध्य भी एक पारस्परिक सहयोग समझौता सम्पन्न हुआ। वास्तव में यही बगदाद समझौता था, जिसमें ब्रिटेन, पाकिस्तान तथा ईरान उसी वर्ष क्रमश: मार्च, सितम्बर एवं नवम्बर में इस बगदाद समझौते में सम्मिलित हो गये। इस बगदाद सुरक्षा संगठन (फरवरी 24, 1955) के अनुच्छेद 1 के अनुसार यह निश्चित हुआ कि संगठन के प्रत्येक सदस्य सुरक्षा एवं प्रतिरक्षा के लिये एक दूसरे सदस्य की सहायता करेंगे। इस संगठन के इस रक्षात्मक रूप ने अमेरिका को भी सदस्यता ग्रहण करने के लिये विवश कर दिया और इस प्रकार अमरीका ने भी विश्व-शान्ति हेतु इन सम्मेलनों में सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु इस बगदाद समझौते का मुख्य लक्षण बाद में दृष्टिगोचर होने लगा जब अमेरिका ने, जो संगठन के प्रत्येक सदस्य को सैन्य एवं अनुदान प्रदान करता था, अपनी सदस्यता समाप्त कर दी। इस प्रकार अमेरिका के इस दृढ़तापूर्ण निश्चय से ब्रिटेन की स्थिति मध्य एशियायी क्षेत्रों में सुदृढ़ एवं महत्वपूर्ण हो गयी।

बगदाद समझौते की तटस्थ की एशियायी देशों में कटु आलोचना हुई तथा रूस ने इसे अपनी सुरक्षा हेतु एक भय का कारण बताया। साथ ही रूसी सरकार ने अरब के उन देशों के प्रति अपने सम्बन्ध और अधिक सुदृढ़ करने

का प्रयास किया, जो बगदाद समझौते के आलोचक थे। रूस ने इन क्षेत्रों में पश्चिमी प्रभाव को समाप्त करने के उद्देश्य से लीबिया, सऊदी अरेबिया तथा यमन आदि राष्ट्रों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिये। रूस ने इस-राएल पर भी आक्षेप किया क्योंकि उसका विश्वास था कि यह अरब राष्ट्र के विरुद्ध पश्चिमी देशों के हाथों का खिलौना है। रूस ने अपनी स्थिति अरब राष्ट्र में सुदृढ़ करने हेतु, उसे असीमित आर्थिक सहायता प्रदान की। साथ ही मिस्र की ओर भी रूस ने अपनी रुचि प्रदर्शित की। जाफ़र इमाम के मत से रूस ने मिस्र को यह आश्वासन दिया कि वह अपनी सुरक्षा हेतु किसी भी साम्यवादी राष्ट्र से आयुध सम्बन्धी वस्तुयें क्रय कर सकता है तथा उसने राष्ट्रपति नासिर को सोवियत रूस के अवलोकन हेतु आमंत्रित भी किया।

आइज़नहावर सिद्धान्त

वाशिंगटन के राजनीतिज्ञों को मध्य-पूर्व एशिया में आंग्ल-फ्रांसीसी प्रभाव के समापन के कारण यह शंका होने लगी कि यदि मध्य एशिया के इन क्षेत्रों पर से पश्चिमी देशों का प्रभाव समाप्त हो जायेगा, तो ये क्षेत्र अवश्य ही सोवियत रूस के प्रभाव में आ जायेंगे। परिणामस्वरूप अमेरिका ने एक ऐसी नीति का परिपालन किया जिसके आधार पर उसने अरब देशों को रूसी प्रभाव की समाप्ति हेतु सैन्य अनुदान देने का वचन दिया क्योंकि अमेरिका को पूर्ण विश्वास था कि अरब राष्ट्रवाद साम्यवाद के विरुद्ध है। अतः इस के अनुसार अमरीका पश्चिमी एशिया के प्रत्येक ऐसे राष्ट्र को, जो साम्यवाद से आतंकित थे, सैन्य एवं आर्थिक सहायता प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया। इस नीति के द्वारा अमरीका का उद्देश्य मध्य एशिया में रूस के प्रभाव का विरोधात्मक कार्य करने में निहित था। एच० एस० गिब्स के अनुसार इस सिद्धान्त के अन्तर्गत मध्य-पूर्व एशिया के राज्यों की स्वतन्त्रता की अखण्डता को बनाये रखने का अमरीका को स्वयंसिद्ध अधिकार था और यदि आव-श्यकता प्रतीत हुई तो अमरीकी राष्ट्रपति किसी भी देश के अनुरोध पर सैनिक प्रयोग करने के लिये प्राधिकृत थे। अमरीका की यही नीति 'आइज़नहावर सिद्धान्त' के नाम से विख्यात है। इस प्रकार आइज़नहावर सिद्धान्त ने मध्य एशिया में अत्यधिक तनाव एवं रुग्णता उत्पन्न कर दी तथा नवम्बर 29, 1956 को स्वेज़ युद्ध के पश्चात् अमेरिका के विदेश मन्त्रालय ने यह घोषणा कर दी थी कि यदि बगदाद समझौते के राष्ट्रों अर्थात् इराक, ईरान, टर्की एवं

पाकिस्तान की सुरक्षा एवं क्षेत्रीय अखण्डता के लिये भय उत्पन्न हुआ तो अमेरिका, इसके विरुद्ध कड़ी कार्यंवाही करेगा।

आईजनहावर सिद्धान्त का मुख्य ध्येय अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रभाव को मध्य-पूर्व एशियायी क्षेत्रों में से समाप्त करना था। राष्ट्रपति नासिर ने इस सिद्धान्त का अध्ययन करने के पश्चात् कहा कि रूस ने मिस्र को सैन्य सहायता प्रदान की जबकि पश्चिमी देशों ने मिस्र के उत्थान हेतु कुछ कार्य नहीं किया, अपितु अपनी असमर्थता ही व्यक्त की। उन्होंने यह भी लिखा कि पश्चिमी देशों ने आयुध सहायता हेतु असमर्थता व्यक्त की जबकि रूस ने सहायता प्रदान की; रूस ने स्वेज नहर की अन्तर्राष्ट्रीयता में समर्थन प्रदान किया जबकि पाश्चात्य देशों ने अपनी व्यग्रता ही प्रकट की; साथ ही जब पाश्चात्य देशों ने मिस्र पर आक्रमण किया तो रूस ने आक्रमणकारी देशों को धमकी दी तथा जब अन्य देशों ने अनाज सम्बन्धी सहायता प्रदान करने से इनकार कर दिया तो रूस ने न केवल अनाज का अनुदान दिया अपितु तेल का भी अनुदान दिया, द टाइम्स जनवरी 18, 1957 के अनुसार रूस के राजनीतिज्ञों ने 'उत्तरी अटलान्टिक सन्धि संगठन,'-'दक्षिण-पूर्व एशिया सन्धि संगठन तथा 'बगदाद समझौतों' आदि की कटु आलोचना की क्योंकि इन संगठनों ने शान्ति के सूत्रों को भंग कर दिया तथा इन समझौतों ने मध्य-एशिया में शान्ति की अपेक्षा युद्ध की सम्भावना अधिक उत्पन्न कर दी थी।

अत: पश्चिमी देशों की विशेषतया महाशक्तियों की इस नव नीति को सन्तुलित करने हेतु 'गुट निरपेक्ष नीति' का समावेश किया गया। नेहरू, नासिर तथा सुकार्णो ने अविकसित देशों को प्रत्येक रूप से सजग करने हेतु पारस्परिक सहयोग की भावना को जाग्रत किया। यद्यपि भारतीय प्रायद्वीप के चार संघर्षों* और पश्चिमी एशियाई संघर्षों** तथा दक्षिण पूर्व एशियाई राजनीति ने महाशक्तियों को सुनियोजित अवसर प्रदान किया। रूस-अमरीका की नीति के मध्य स्वयं की सुरक्षित रखने हेतु तृतीय विश्व आन्दोलन (थर्ड-वर्ल्ड मूवमेन्ट) स्वयं में एशियाई देशों को संगठित कर शान्ति एवं विकास

---

* 1948 का कश्मीर युद्ध, 1962 का भारत-चीन युद्ध, 1965 का भारत पाक युद्ध तथा 1971 बंगला देश स्वाधीनता युद्ध।

**अरब-इसराएल संघर्ष, लेबनानी संघर्ष, ईरान-इराक संघर्ष,

की ओर अग्रसरित होने के प्रयास में है। निःसन्देह बेलग्रेड से हरारे* तक गुट निरपेक्ष आन्दोलन ने अपनी असफलताओं के साथ एक लम्बा मार्ग तय किया है। आशा की जा सकती है कि तृतीय विश्व भविष्य में किसी एक सार्थक नीति का परिपालन कर पश्चिमी 'नव उपनिवेशवाद' को निरुत्तर करने की चेष्टा में रहेगा।



* सर्वप्रथम गुट-निरपेक्ष सम्मेलन 1961 में युगोस्लाविया में बेलग्रेड में हुआ, 1964 में मिस्र में काहिरा में, 1970 में जाम्बिया में लूसाका में, 1973 में अल्बीरिया में अलजीरियंस में, 1976 में श्री लंका में कोलम्बो में, 1979 में क्यूबा में हवॉना में, 1983 में भारत में न्यू दिल्ली में तथा 1986 में जिम्बाववे में हरारे में हुआ।